श्रीरामचरितमानस

विजया टीका

मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी

।। श्रीः ।।
विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१४७

श्रीरामचरितमानस

विजया हिन्दी टीका

(प्रथम भाग)

प्रथमसोपान : बालकाण्ड

टीकाकार
मानसराजहंस पं. श्री विजयानन्दजी त्रिपाठी

सम्पादक
डॉ. श्रीनाथ मिश्र 'रामायणी'
डॉ. सहजानन्द त्रिपाठी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
पुनर्मुद्रित संस्करण 2004 ई.
मूल्य : 1500.00 (1-3 भाग सम्पूर्ण)

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263, 2333431

श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी की सम्मति

श्रीहरिः

वेदवेद्य परब्रह्म के दशरथात्मज रामरूप से प्रकट होने पर वेदों का भी श्रीमहामुनि प्राचेतस वाल्मीकि से रामायण के रूप में आविर्भाव हुआ। उसी रामायण का गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी से रामचरितमानस के रूप में प्राकट्य हुआ है। सामान्यतया वेदार्थ ही रामायणार्थ है। उसमें निर्गुण सगुण राम और उनकी मङ्गलमयी लीलाकथा का ही प्राधान्येन वर्णन है। प्रसङ्गानुसार सामाजिक नैतिक धार्मिक अनेक आवश्यक वस्तुओं का भी वर्णन है। भक्ति भुक्ति मुक्ति और अभीष्टसिद्धि सब कुछ मानस सेवन से प्राप्त होता है। अतएव विमुक्त विरत और विषयी सभी लोगों को अभीष्टसिद्धि का साधन रामायण है। आजकल के प्राणियों को हिन्दू सभ्यता संस्कृति की रक्षा तथा चतुर्वर्गप्राप्ति का सुलभ साधन मानस से ही प्राप्त हो सकता है।

मानस की व्याख्याएँ अनेक हैं। उनमें व्याख्याता महानुभाव अनेक रूप से प्रभु का गुणगान करते हैं। परन्तु श्री पण्डित विजयानन्दजी त्रिपाठी की यह व्याख्या ा असाधारण महत्त्व रखती है। कारण पण्डितजी वेदादि शास्त्रों, पुराणों, इतिहासों, धर्मशास्त्रों, तन्त्रों और संस्कृत प्राकृत भाषाओं एवं उनके व्याकरणों से परिचित हैं। अतएव इस व्याख्या में पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुसार विषयप्रदर्शन किया गया है। इतने पर भी विस्तार न कर सिद्धान्त एवं सूत्ररूप से ही प्रत्येक चतुष्पदी की व्याख्या की गयी है, जिसका अधिकाधिक विस्तार किया जा सकता है। त्रिपाठी के व्याख्यान में पाण्डित्य के अतिरिक्त सदाचार धर्माचरण तथा भक्ति ज्ञान निष्ठा का भी प्रभाव स्थान-स्थान पर स्पष्ट झलकता है। लोगों को इससे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए।

—हरिहरानन्दसरस्वती करपात्रोपाह्वः

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कवितार्किकचक्रवर्ती

पण्डित श्रीमहादेव शास्त्री

अध्यक्ष : संस्कृत महाविद्यालय

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी की सम्मति

श्रीशितिकण्ठः शरणम्

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम् ।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचल ॥—मुरारिः

दूसरे मानस के ऊपर ही तैरते रहे । उसके अन्तस्तल का अवगाहनकर निगूढ़ रत्नों का वहिर्नयन प्रकृत महानुभाव का ही कौशल है । राजहंस के अतिरिक्त मानस के अनुपम रहस्य की पारमार्थिक अभिज्ञान-पारगामिता कहाँ प्राप्त की जा सकती है । सम्मानभाजन श्रीत्रिपाठीजी ने मानस की सुकठिन ग्रन्थियों का अद्भुत भेदन, गुप्त रहस्यों का प्रसृमर प्रकाश, रसों का लावण्यपूर्ण अभिव्यञ्जन, भक्ति सुरझरिणी का अखण्ड पीयूष प्रवाह जिस अदूष्य वैदुष्य और कमनीय कौशल से निर्माणकर्मत्व में ला दिया है वह उन्हीं महापुरुष का स्तुत्य कृत्य है । ऐसा प्रत्यय होता है कि इस निर्मल, ललित, सरल, गम्भीर, विशद तथा सुश्लिष्ट भाष्य निर्माण की प्रवृत्ति संपत्ति भगवत्प्रेरणावश विजृम्भित हुई है ।

श्रीभगवान् के चरणारविन्द में मेरा विनीत निवेदन है कि :

यावन्मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलभृति श्रीजाह्नवीधूर्जटे-
र्लक्ष्मीर्वक्षसि कौस्तुभस्तवकिते यावन्मुरद्वेषिणः ।
यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रौढं धनुः कौसुमं
भूयात्तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम् ॥— भोजराजः

—महादेव पाण्डेयः

१९—अस्सी, बनारस
दिनाङ्क श्रा. शु. ६. बु.
२०११ वि.

अनन्तश्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य

गोवर्द्धन पीठाधीश्वर

श्रीनिरञ्जन देव तीर्थ जी महाराज

की

शुभ सम्मति

श्री हरिः

मानसराजहंस श्री विजयानन्द त्रिपाठी काशीवासी श्री रामचरितमानस के मर्मज्ञ इने-गिने विद्वानों में भी अद्वितीय थे। सबसे बड़ी विशेषता उनमें यह थी कि वे मानस प्रवचन अथवा तत्सम्बन्धी लेखों में कभी भी शास्त्रीय मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं होने देते थे। आज कल के मानसव्यास प्रायः इसके अपवाद देखे जाते हैं। पर श्री राजहंसजी के प्रवचन के समय ऐसा लगता था कि नाना पुराणनिगमागम सम्मत का साक्षात् अवतार हो रहा है।

सौभाग्य की बात है कि उनके अन्यतम प्रिय पट्टशिष्य श्री श्रीनाथजी व्यास के प्रयास से उनकी मानस टीका का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। मेरी हार्दिक कामना है कि श्री श्रीनाथजी इस कार्य में पूर्ण सफल हों जिससे मानस की वास्तविक विशेषताएँ विद्वानों और मानस रस रसिकों को आप्यायित करने में समर्थ हों।

—निरञ्जन

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

का

आशीर्वचन

श्रीरामचरितमानस पर विद्वान् भक्त एवं महात्माओं के द्वारा अनेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं। उनके बड़े-बड़े संग्रह भी हुए हैं। वे सब अपने-अपने सम्प्रदाय एवं शैली के अनुसार ठीक हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण से सब सुसंगत हैं। मैंने अब तक जितनी टीकाएँ देखी हैं उनमें श्री विजयानन्द त्रिपाठीजी की विजया टीका सर्वोत्तम है। यह मैं निस्सन्देह कह सकता हूँ। इसका कारण यह है कि यह टीका सर्वथा वैदिक पद्धति के अनुसार सनातन धर्म के अनुरूप लिखी गयी है। जो वेद शास्त्र के अनुकूल होता है वही धर्म होता है। मनमानी पद्धति से धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। गोस्वामीजी ने जिस भक्ति का निरूपण किया है वह वेद-वेदान्त के अनुकूल शास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्पन्न है। त्रिपाठीजी ने इतनी उत्तम टीका लिखकर बहुत बड़ा लोककल्याण किया है। भगवान् करें इस टीका का जन-जन में प्रचार-प्रसार हो और जनता गोस्वामीजी के शास्त्रीय भक्ति भावना से सदाचार, अध्यात्म विद्या एवं भगवत्प्रसाद को प्राप्त करे।

टीका का पुन: प्रकाशन डॉ० श्रीनाथ मिश्र रामायणी के प्रयास से हो रहा है। यह कार्य प्रशंसनीय और लोककल्याण में सहायक है।

—अखण्डानन्द सरस्वती

अनुप्रवेश

भगवान् वेदव्यास ने कहा है :

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषां स्त्रीन्पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृँस्तत्पादसलिलं यथा ॥
—श्रीमद्भागवत

लीला से अवतार धारण किये हुए भगवान् की कथा के विषय में जो प्रश्न किया जाता है वह प्रश्नकर्त्ता, वक्ता तथा श्रोताओं तीनों को पवित्र करता है। जैसे भगवान् पूर्णतम पुरुषोत्तम के चरणारविन्दों से निःसृत जलधारा श्री गङ्गाजी /: मन्दाकिनी रूप में स्वर्गलोक, भागीरथी रूप में मर्त्यलोक तथा भोगावती रूप में पाताललोक को पवित्र करती हैं।

श्री भगवान् के अवतार के नानाविध प्रयोजन शास्त्रों में निर्दिष्ट है। सबसे प्रसिद्ध प्रयोजन श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीमुख से बताया गया है। जब जब सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब सनातन धर्म मार्गस्थ सज्जनों के परित्राणार्थ तथा दुष्टों के विनाशार्थ युग युग में भगवान् स्वयं अज अव्ययात्मा सर्वभूतों के ईश्वर होते हुए भी स्वीया प्रकृति का अधिष्ठानकर आत्ममाया से मानो जन्म सा लेते हैं।

कुछ भावुक भक्तों का कथन है कि जिनके भृकुटी विलास से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का उत्पादन, पालन, प्रलय होता है उसका अपनी ही सृष्टि के अन्तर्गत स्वयं द्वारा ही उत्पादित हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्ण आदि के विनाशार्थ स्वयं को अवतार लेना पड़े—यह बात जँचती नहीं। जो प्रभु संकल्पमात्र से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमण्डलों का सर्जन, पालन, संहार कर सकते हैं वे संकल्पमात्र से ही हिरण्यकशिपु आदि का विनाश तथा प्रह्लाद आदि का परित्राण कर सकते हैं। इसलिए यह प्रयोजन अवतार के लिए बहुत ही छोटा लगता है। यह तो वही बात हो गयी जैसे चींटी को मारने के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग। इन भक्तों की दृष्टि में भगवान् के अवतार का अधिक उपयुक्त प्रयोजन वह है जिसे माता कुन्ती ने बताया है :

तथा च परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

पूज्यचरण श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परमहंसों को श्री परमहंस बनाने के लिए प्रभु अवतार धारण करते हैं। श्री गोस्वामीजी ने भी कहा :

राम प्रेम विनु सोह न ग्यानू । करनधार विनु जिमि जल जानू ॥
जोग कुजोग ग्यान अग्यानू । जहँ नहि राम प्रेम परधानू ॥

सद्-असत्, शाश्वत-नश्वर, तत्त्व-अतत्त्व का पूर्ण विवेक करनेवाले महापुरुष क्षीर-नीर-विवेकी हंस हैं। उसमें असत् अतत्त्व का पूर्ण परित्यागकर केवल मात्र सन्निष्ट तत्त्वनिष्ठ मनीषी परमहंस हैं। वे भी अन्तःकरण में निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प, ब्रह्मानन्द की पुञ्जीभूत राशि के रूप में भगवान् श्री राघवेन्द्र रामचन्द्र, श्री यादवेन्द्र कृष्णचन्द्र आदि की उपासना पारमार्थिक अद्वैत होते हुए भी भक्त्यर्थ द्वैत कल्पनाकर भजन करने से मुक्ति शताधिक भक्ति आने पर, श्री परमहंस कहलाते हैं।

ब्रह्मलोकपर्यन्त को तृणवत् समझ चुके हुए ब्रह्मनिष्ठों का चित्ताकर्षण करने के लिए श्री भगवान् को ऐसा कोई रस बनाना ही पड़ेगा जिसके अवलोकन से श्री भरद्वाज जैसे महर्षि को लगे कि 'ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई।' सार्थक नामवाले विदेहराज को लगे : 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मनु त्यागा।' श्री कागभुशुण्डिजी जैसों का मन हो : 'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।' स्वयं भगवान् अपने दिव्य स्वरूप का प्रतिविम्ब निहारकर नाच उठते हैं : नाचहि निज प्रतिबिम्ब निहारी।

परन्तु यह भी अत्यन्त उच्चकोटि के महापुरुषों के काम की बात है। भगवान् राम कृष्ण आदि की भक्ति में रत होनेवाले दुर्लभ हैं। अतः आज कलियुग के दम्भ, पाखण्ड-प्रधान काल में ऐसों की आशा कदाचित् मृगमरीचिकावत् ही हो।

परन्तु श्री भगवान् के अवतार का एक और बड़े महत्त्व का प्रयोजन शास्त्रों ने बताया है और वह आज भी सबके बड़े काम का है। परब्रह्मतत्त्व का शास्त्रीय तथा स्वानुभूति रूप विज्ञान विरले ही महापुरुषों के भाग्य में होता है। परन्तु भगवान् ने अवतार धारणकर जो लोकोत्तर लोकवत् लीलाएँ की हैं उनके कथन, श्रवण, गान, चिन्तन से आत्मकल्याण का मार्ग सामान्य जन भी प्रशस्त कर सकते हैं। गीताजी में श्री भगवान् ने स्वयं कहा है :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म, कर्म दोनों दिव्य हैं। इस बात को जो तत्त्वतः जान लेता है वह जन्म, कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। सांसारिक लोगों के जन्म, कर्म का वर्णन करने से बार-बार संसार में आना पड़ता है।

श्रीमद्भागवत में माता कुन्ती ने ही प्रभु के अवतार के अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए अन्त में इसी कारण का निर्देश किया है :

भवेस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥ १.८.३५॥

अविद्या : आत्मा के परमानन्दस्वरूप के अज्ञान, काम : उस अज्ञान से उत्पन्न देहाभिमान तथा : तज्जन्य कर्मों से इस संसार में क्लेश पा रहे जीवों को श्रवण स्मरण करने योग्य कर्म करने की इच्छा से ही आप शरीर धारण करते हैं।

श्रीरामचरितमानस में भी भगवान् के अवतार का प्रयोजन निर्दिष्ट किया है। जाम्बवानजी ने हनुमान्जी से कहा है :

कपिसेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।।
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई।।

इतना ही नहीं; जिनसे अनुपम मानव सृष्टि हुई उन श्री स्वायम्भुव मनु को वरदान देते हुए स्वयं प्रभु ने कहा :

इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें।।
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता।।
जो सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मदत्यागी।।

आगे रावणवध तथा विभीषण के राज्याभिषेक के पश्चात् श्री भगवान् ने अपनी ही नहीं अपने साथ बानर भालुओं की शुभ कीर्ति का भी परम प्रीति से गान करनेवाले अपार संसार सिन्धु का पार अनायास पायेंगे ऐसा बताया है :

मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं।
संसार सिन्धु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं।।

कहने को आज संसार में नास्तिकों का बोलबाला है। पर विचार करने से विदित होगा कि 'जुग कलिजुग मलमूल' के प्रभाव से नर नारी सब वेद प्रतिकूल अधर्मरत भले ही हों परन्तु नास्तिक कोई नहीं हो सकता। सच्चा नास्तिक तो वही है जो अपने आपसे, स्वयं से, आत्मा से द्वेष करे जो कोई नहीं करता। यदि प्राणी ठीक जान ले कि वही आत्मा ही अनादि अवधपति श्रीराम हैं तो भला उनसे विरोध कौन कर सकता है? गोस्वामीजी ने स्वयं बताया है कि विषय, इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठाता देवगण, जीव ये सब एक से अधिक सचेत हैं और इन सबका परम प्रकाशक जो भी तत्त्व है : आत्मा : वही राम अनादि अवधपति हैं। इसलिए श्रीभरतजी कहते हैं :

अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुबीर प्रान प्रिय नाहीं।।

और तभी आदिकवि महर्षि श्री वाल्मीकिजी कहते हैं :

लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।

तभी महर्षि विश्वामित्रजी राजर्षि जनकजी से प्रभु का परिचय देते हुए कहते हैं :

ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।

तभी माता कौशल्या कहती हैं :

पूत परम प्रिय तुम सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के।।

और माता सुमित्रा कहती हैं :

गुरु पितु मातु बन्धु सुर साँई। सेइअहि सकल प्रान की नाँई।।
रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।।
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहि राम के नाते।।

अधिक कहाँतक कहा जाय, शास्त्र कहते हैं :

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

वेदों में, रामायण में, पुराणों में, महाभारत में आदि, अन्त, मध्य में सर्वत्र भगवान् श्री हरि का ही गान हो रहा है। श्री रामचरितमानस भी यही कह रहा है :

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥

सो प्राण के भी प्राण, जीवन के भी जीवन का प्रतिपादन जिस ग्रन्थरत्न में हो उससे विरोध किस समझदार प्राणी को हो सकता है ?

यद्यपि हित अनहित पशु पक्षी भी जानता है और जीव के परम कल्याण का साधन कम से कम इस कलियुग में तो इस भगवद्गुणानुवाद से अधिक कुछ नहीं है ; तथापि जन्म जन्मान्तरों के पुण्यपुञ्जों के बिना श्री हरिकृपा नहीं प्राप्त हो सकती और अति हरिकृपा जिस पर हो वही इस मार्ग पर पाँव दे सकता है। साथ ही स्वयं भगवान् का यह भी कथन है :

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥

अतएव :

अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा ॥

तथापि अकारण करुणा के वशीभूत होकर महात्माओं ने ऐसे लोगों को भी भगवान् की ओर अभिमुख करने के प्रयास में अपनी ओर से कोई कसर नहीं उठा रखी। इस नदी में अनेक पटु प्रश्न नाव है और विवेकयुक्त उत्तर कुशल केवट है। यदि जिज्ञासा के सद्भाव से कुछ प्रश्न या शंकाएँ मन में आयें तो उनका उत्तर अवश्य ही स्वयं ग्रन्थ में ही प्राप्त हो जायेगा। जो हरि विमुख हैं तथा श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त सनातन वर्णाश्रम धर्म में जिनकी रति नहीं है, ऐसे विमूढ़ अवश्य मोह प्राप्त करते हैं। अन्यथा यह रस कभी विरस नहीं होता। इसका श्रवण जीवन्मुक्त महामुनि भी करते हैं और वे परमहंस से श्री परमहंस बनते हैं। भवसागर से पार पाने की इच्छावाले विरक्त जनों के लिए तो यह दृढ़ नाव ही है। यहाँ तक कि विषयी जनों को भी यह श्रवण सुखद और मनोभिराम लगता है। क्योंकि कथा है ही ऐसी। जिसके श्रवणेन्द्रिय हैं और शब्दों का अर्थ जो समझ सकता है वह सामान्य नाटक, उपन्यास, काव्यकी दृष्टि से भी इसमें रम जाता है। इससे जो ऊबे, उसने रस विशेष जाना ही नहीं। मानना पड़ता है कि श्री रघुपति कथा जिसे नहीं सुहाती वे जड़ जीव निजात्मघाती आत्महत्यारे ही हैं।

हमारे गुरुवर्य पूज्यपाद साहित्यरञ्जन मानसराजहंस पण्डितप्रवर श्री विजयानन्द त्रिपाठी जी महाराज ने संस्कृत, हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं तथा उनके साहित्यों का सुचारु अध्ययनकर फिर अपना समग्र जीवन इसी ग्रन्थरत्न में समर्पित कर दिया था। करीब ३५ वर्ष तक निरन्तर अपने ही निवास-स्थान : भदैनी, काशी : पर इसका नियमित प्रवचनकर न जाने कितने ही जिज्ञासु जनों की ज्ञान-पिपासा आपने शान्त की थी। काशी के साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् पं० श्री महादेव शास्त्री भी अनेक वर्षों तक गुरुदेव की कथा में निरन्तर आते थे। काशी के संस्कृत के विद्वानों में श्रीरामचरितमानस का प्रचार गुरुदेव के ही ओजस्वी एवं विद्वत्तापूर्ण प्रवचन के द्वारा हुआ। मानस

मूल, मानसप्रसङ्ग, मानस पंचरत्न, सत पंच चौपाई, समुझाई, मानस-व्याकरण आदि कई पुस्तकें भी आपकी मानससंघ : सतना, गीताप्रेस : गोरखपुर आदि से प्रकाशित हुईं। आपके ही सम्पादकत्व में प्रकाशित मासिक 'सन्मार्ग' में भी आपकी कई लेखमालाएँ छपीं। सम्वत् १९९३ विक्रम में लीडर प्रेस : प्रयाग से आपके द्वारा सम्पादित मानस के शुद्धतम पाठ का संस्करण भी प्रकाशित हुआ। मानस-पीयूष में भी आपके भाव यत्र-तत्र सङ्कलित हुए। परन्तु इस संग्रह से भी मर्मज्ञ मानस-प्रेमियों को सन्तोष न हुआ। उनके सतत आग्रह के फलस्वरूप आपने सम्पूर्ण मानस की संक्षिप्त टीका भी लिखी जो शास्त्रमर्मविद् मनीषियों की दृष्टि में मानस की सर्वाधिक प्रामाणिक टीका समझी गयी। संक्षिप्त परन्तु सकल ग्रन्थि-विमोचिका तथा विशद होने से तथा मूलग्रन्थकार के ही मतानुसार : नानापुराणनिगमागम-सम्मत कर्मकाण्ड : वर्णाश्रम धर्म उपासनाकाण्ड : भक्तिशास्त्र तथा ज्ञानकाण्ड : वेदान्त पर्यवसित आस्तिक षड्दर्शन मत का निचोड़ होने के कारण इस टीका का विद्वानों के बीच में वही स्थान माना गया जो स्थान श्रीमद्भागवत की श्रीधरी टीका का है।

इसका प्रथम संस्करण उनके जीवनकाल में ही छपना प्रारम्भ हो गया था। अयोध्याकाण्ड छप रहा था, उसी समय ३-४ दिनों के साधारण अस्वास्थ्य से ही ता० १६ मार्च १९५५ को प्रातःकाल ३ बजकर २० मिनट पर, मङ्गलवार को ७५ वर्ष की पार्थिव आयु भोगकर, आपने शिव सायुज्य प्राप्त किया। उसके बाद उनका एक स्वरचित पद्य भी प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने शरीर शान्त होने के एक सप्ताह पूर्व ही लिखकर रख दिया :

बनेगी क्या ऐसी भी बात ?
भोलेनाथ स्वयं आवेंगे अन्नपूर्णा साथ॥
तारक मन्त्र सुनाकर सिर पर फेरेंगे निज हाथ।
विजयानन्द महामंगल को दिन अब केवल सात॥

इससे मालूम पड़ता है कि वे भगवान् शंकर के कितने बड़े कृपापात्र थे। उनका शरीर मङ्गलवार को ही शान्त हुआ था।

टीकाकार के शिव-सायुज्य प्राप्ति के साथ ही कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुईं। परन्तु भूतभावन भगवान् शंकर की कृपा से सब बाधाएं शनैः शनैः हटती चली गयीं। पुस्तक ज्यों-ज्यों विद्वानों, मानस-प्रेमियों तथा साहित्य-रसिकों के हाथों में पहुँचती गयी त्यों-त्यों उसकी माँग बढ़ती गयी। इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह रही : कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई। इस परिभाषा पर खरी उतरी।

सो थोड़े ही समय में प्रथम संस्करण की तीन सहस्र प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और पिछले अनेक वर्षों में यह टीका अलभ्य हो गयी थी। इस बीच कागज, छपाई आदि उत्तरोत्तर इतने महँगे होते गये कि द्वितीय संस्करण का अवसर अनेक वर्षों तक नहीं आ सका। श्रीराघवेन्द्र सरकार की कृपा से गतवर्ष जुलाई में कलकत्ता के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री के. पी. गोयनका के यहाँ कथा कहने का अवसर मिला। कथा से गोयनका-परिवार बहुत ही प्रभावित हुआ। गोयनकाजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री आर. पी. गोयनका ने मुझसे आग्रह किया कि आप कोई ग्रन्थ लिखें तो हम उसे छपवा दें। मैंने उनसे कहा कि हमारे गुरुदेव की टीका का

दूसरा संस्करण आप करवा दें। इस बात पर उन्होंने पिताजी से परामर्शकर सहर्ष स्वीकार किया। इस कार्य के द्वारा गोयनकाजी ने आस्तिक जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया। गोयनकाजी को आशीर्वाद के सहित हम धन्यवाद देते हैं।

इस कार्य में गोस्वामी तुलसीदासजी के अखाड़े के वर्तमान महन्त पं. वीरभद्रजी का हमें पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। अतः उनके भी हम आभारी हैं। महन्तजी काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में इंजनियरिंग कालेज में प्रोफेसर होते हुए भी अपनी आस्तिक परम्परा का पूर्ण निर्वाह कर रहे हैं। यह बड़े ही सन्तोष का विषय है।, हमारे चिकित्सा क्षेत्र के गुरु काशी के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. गंगा सहायजी पाण्डेय का भी आशीर्वाद हमें इस कार्य में प्राप्त हुआ। अतः उनके चरणों में भी हमारा शत शत नमन है। बम्बई के प्रसिद्ध चिकित्सक स्वर्गीय गुरुदेव के प्रिय शिष्य पं. वासुदेवजी वि. व्यास वैद्य का सहयोग हमें प्रथम संस्करण में भी प्राप्त हुआ था और इस संस्करण में तो उनकी बड़ी प्रेरणा रही। हम उनके भी आभारी हैं। गुरुदेव के पुत्र डॉ. सहजानन्दजी त्रिपाठी ने बड़े ही उदारतापूर्वक ग्रन्थ के प्रकाशन की स्वीकृति हमें दी। अतः हम उनके भी हृदय से आभारी हैं। श्रीराम प्रसादजी पोद्दार : अध्यक्ष सेंचुरी मिल बम्बई ने भी इस कार्य में हमारा उत्साहवर्द्धन किया। अतः हम उन्हें भी आशीर्वाद के साथ-साथ धन्यवाद देते हैं। हमारे प्रधान शिष्य पं. रामनारायणजी शुक्ल शास्त्री व्यास का इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत बड़ा सहयोग रहा। अतः उन्हें भी हम आशीर्वाद सहित धन्यवाद देते हैं। हमारे गुरु भाई पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री व्यास एवं पं. श्यामनारायणजी शास्त्री व्यास का भी हमें पूर्ण सहयोग मिला। उनके भी हम आभारी हैं। इस अवसर पर एक मित्र का नामोल्लेख परमावश्यक जान पड़ता है वह हैं हमारे गुरुभाई पं. मनोरञ्जनजी ज्योतिषी आयुर्वेदाचार्य (ए. बी. एम. एस.) एम ए. जिनका प्रथम संस्करण में बहुत बड़ा सहयोग रहा। द्वितीय संस्करण में भी ज्योतिषीजी ने वैसा ही सहयोग किया। उन्हें भी हम धन्यवाद देते हैं। हमारे शिष्य पं. लक्ष्मीकान्त मिश्र ने भी टीका के प्रकाशन में बहुत परिश्रम किया। अतः उन्हें भी धन्यवाद के साथ-साथ आशीर्वाद देते हैं।

अन्त में आनन्द कानन प्रेस के स्वामी श्री विश्वम्भरनाथजी द्विवेदी का हम आभार स्वीकार करते हैं जिन्होंने अपने व्यक्तिगत देखरेख में इस ग्रन्थ की शुद्ध तथा स्वच्छ छपाई करवाकर इसे इतने अल्प समय में पाठकों को सुलभ किया है। द्विवेदीजी की व्यक्तिगत योग्यता का भी हमें इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत बड़ा लाभ मिला है।

—डॉ. श्रीनाथ मिश्र रामायणी

ता. १९-१०-८० ई०

३/१८, शिवाला
वाराणसी (उ. प्र.)

समर्पण

प्रिय बाँकेराम !

मै जानता हूँ कि कितनी प्रसन्नता तुम्हें इस टीका के पूरी होने और
प्रकाशित होने में होती । श्रीगोस्वामी जी के अखाड़े के महन्त
होने से तुम शिष्य होने पर भी पूज्य थे और आज तो
तुम मुक्त होकर साक्षात् विश्वनाथ हो गये हो !

अतः इस टीका को मैं तुम्हें ही समर्पण करता हूँ ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

—विजयानन्द

वेदन उधार्यो हिन्दू जगत सँभार्यो
धर्म डूबत उबार्यो फार्यो उदर कली को है।
भाषा कविताई की बड़ाई तिहुँ लोक छाई
गई कुटिलाई वामपंथ पर्यो फीको है॥
दूरि भए दुरित दया की पैज पूरी भई
प्रगट जवाल भयो जवनन के जी को है।
दशो अवतारन महँ कीह्यो करतार जीन
तौन करिबे को अवतार तुलसी को है॥

—विजयानन्द त्रिपाठी

श्रीगुरवे नमः

प्रस्तावना

कविकुलचूड़ामणि भक्ताग्रगण्य महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस से जो उपकार जनता का हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि एक बच्चा भी उसे आनन्द से गान करता है और उसे समझने में अच्छे बुद्धिमान् की भी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। एक से एक महात्माओं ने, विद्वानों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं। फिर भी अन्य महानुभावों को उस पर नयी टीका लिखने की आवश्यकता मालूम पड़ी। कविवर केशवदास की यह उक्ति कि वानी जगरानी की उदारता बखानौं कहा। कहि कहि हार्‍यौ नहि कहि काहू पै गई। पति बरन्यौ चारमुख पूत बरन्यौ पाँच मुख नाती बरन्यौ षट्मुख तदपि नई नई। मुझे तो श्रीगोस्वामीजी की ही वाणी पर पूर्णतः घटती-सी दिखायी पड़ती है।

मुझे बचपन से श्रीरामचरितमानस से प्रेम है। ढलती अवस्था मे जब अपने जीवन को सफल बनाने का विचार मन में उठा तो सिवा श्रीगोस्वामीजी के शरण ग्रहण करने के दूसरा उपाय दिखायी नहीं पड़ा। कोई तीस वर्ष से मैं अपने निवासस्थान पर ही मानस का प्रवचन करता हूँ। रिटायर्ड जज बाबू बैजनाथ प्रसादजी तथा कविकञ्जजी आदि श्रोताओं की ओर से बड़ा आग्रह हुआ कि मैं भी मानस पर टीका लिखूँ। मेरे प्रिय शिष्य महन्त बाँकेराम मिश्र : अखाड़ा गोस्वामी तुलसीदासजी काशी : तो इस तरह पीछे पड़े कि मुझे लिखना आरम्भ कर देना ही पड़ा।

अन्तर्यामी की कृपा से टीका पूरी हुई। परन्तु पाठक इसमें किसी चमत्कारिक अर्थ, अद्भुत-अद्भुत भाव या विचित्र कथानकों की आशा न करें। इसमें विशेषता इतनी ही है कि ग्रन्थ से ग्रन्थ के लगाने की चेष्टा की गयी है। जहाँ आवश्यकता जान पड़ी वहाँ अन्य ग्रन्थों से भी प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक हो सका पूज्यपाद ग्रन्थकार के आशय के अनुसरण का प्रयत्न किया गया है। अर्थ करने में वाक्यों की संगति पर विशेष ध्यान रक्खा गया है। इसमें भूल मुझसे चाहे जैसी हो गयी हो पर जानबूझकर पक्षपात तथा लोकरञ्जनादि कारणों से मैंने अर्थ का अनर्थ नहीं होने दिया है। जो जो विचार गुरुजनों और महात्माओं से मुझे प्राप्त हुए हैं या ग्रन्थ के मनन करने में जो नये-नये विचार मेरे मन में उठे हैं उन सबों को निर्भीकता से यथासाध्य प्रकट कर देना मैंने अपना कर्तव्य समझा है।

अपने गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर मुझे इस ग्रन्थ के पूरे होने की कोई आशा न थी। इसलिए बीच में मैंने कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखकर अपने विचारों और भावों को सर्वसाधारण के सामने रक्खा और कहना नहीं होगा कि जनता ने उसका स्वागत किया जिससे मेरा उत्साह बढ़ता गया। वस्तुतः कृपालु मित्रों और हितचिन्तकों के प्रोत्साहन से ही इस कार्य का सम्पादन हो सका। लौकिक दृष्टि से तो यही बात है। परन्तु मेरा हृदय

जानता है कि उस-अन्तर्यामी से मुझे किस भाँति प्रेरणा मिलती गयी है और कैसी परिस्थिति सम्पन्न होती गयी है, जिससे इसकी पूर्ति का कठिन कार्य सम्पन्न हुआ और छपना भी आरम्भ हो गया ।

जब गोद में खेलता था तभी पिताजी ने : नमामि भक्तवत्सलम् । कृपालशीलकोमलम् कण्ठ कराया था । वे नित्य रामचरितमानस का पाठ करते थे । सुनते-सुनते मुझे बहुत कुछ कण्ठ हो गया । पं० अयोध्याधर द्विवेदी उपनाम पाठपण्डित पिताजी के यहाँ प्रायः आया-जाया करते थे । उनकी कथा मैं बड़े मनोयोग से सुनता था । बड़े होने पर मानस के अद्वितीय वक्ता पं० रामकुमारजी से मुझे सुन्दरकाण्ड और किष्किन्धाकाण्ड के विधिपूर्वक अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उन्हीं को मैं इस विषय का गुरु मानता हूँ । क्योंकि ग्रन्थ लगाने की पद्धति मुझे उन्ही से प्राप्त हुई । वैसे तो कई प्रसङ्ग मैंने उनके पट्टशिष्य पं० देवीपलटजी से भी सुने । प्रख्यात रामायणी पं श्रीभूषणजी मेरे मित्र ही थे । उनसे भावों का आदान-प्रदान हुआ करता था और अयोध्याकाण्ड में मेरा प्रवेश तो उन्हीं की कृपा से हुआ । फिर भी इस टीका के लिखने में मुझे अनेक ऐसे स्थल मिले जिनकी संगति लगाने में मुझे महीनों रुकना पड़ा । कितनी बातें ऐसी मिलीं जिनका पता लगाने में बहुत कुछ खोज करनी पड़ी । कुछ बातें अकस्मात् श्रोताओं से भी मिलीं । अतः मैं इन सभी महापुरुषों का आभारी हूँ । ऐसे अवसर पर इनका सादर स्मरण करना मेरा परम कर्तव्य है ।

श्रीगुरुदेव भगवान् शिवराम किङ्कर योगत्रयानन्दजी तथा विद्यागुरु श्री स्वामीजी घनश्यामानन्दजी महाराज : मुमुक्षु भवन को क्या धन्यवाद दूँ । मुझमें जो कुछ भलाई है वह इन्हीं चरणों के कृपालेश से है और जो बुराइयाँ हैं वे सब मेरी हैं ।

जिस ग्रन्थ रत्न : श्रीरामचरितमानस की यह टीका लिखी गयी है वह वस्तुतः मनुष्य जाति के मूलपुरुष स्वायम्भूमनु की बड़े परिश्रम से कमायी हुई सम्पत्ति : मीरास है जिसे वे अपनी भावी सन्तान : मनुष्य जाति : के लिए छोड़ गये हैं । यह प्रकट रहने पर भी सर्वसाधारण के लिए गुप्त ही थी । पर श्री गोस्वामीजी ने उसे सबके लिए सुलभ कर दिया । फिर भी इसे बपौती सम्पत्ति की दृष्टि से देखनेवाले थोड़े ही हैं । अब भी कोई इससे यदि लाभ न उठाये तो उसका अभाग्य ही समझना चाहिए ।

जो ब्रह्म अगुण अनन्त और अनादि है जिसका परमार्थवादी चिन्तन करते हैं, जिसका निरूपण वेद नेतिनेति कहकर करता है, जो निजानन्द निरुपाधि और अनूप है, जिसके अंश से अनेक शम्भु, विरंचि और विष्णु भगवान् उत्पन्न होते हैं वह प्रभु मन और वाणी से परे है और उसकी प्राप्ति ही मनुष्य जाति का परमध्येय है ।

पर वेद कहता है कि ऐसा प्रभु भी सेवक के वश है और भक्त के लिए लीलाशरीर ग्रहण करता है । इसी वचन के बल पर भगवान् मनु ने सस्त्रीक अत्युग्र तपस्या करके उनको प्रत्यक्ष किया और विश्व के कल्याण के लिए उन्हें पुत्ररूप से प्राप्त होने का वर माँग लिया । जिससे उनका दर्शन संसार को सुलभ हो जाय और उनके रूप के ध्यान चरित्र के गान तथा नाम के स्मरण से उनकी सन्तति सदा लाभ उठाती रहे । उनके चरित्रगान से धर्ममार्ग की प्राप्ति हो । उनके नामस्मरण से ज्ञान की प्राप्ति हो । उनके ध्यान से वैराग्य की प्राप्ति हो और उनके पूजन से ऐश्वर्य की प्राप्ति हो ।

इस भाँति श्री रामोपासना मनुष्यजाति की बपौती सम्पत्ति है। सो पूज्यपाद गोस्वामीजी ने मानस द्वारा उसे सबकी पहुँच के भीतर ला दिया। उनके समकालीन महात्मा नाभाजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना : भक्तमाल में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है :

त्रेता काव्य प्रवन्ध कियो सतकोटि रमायन।
एक अक्षर उद्धरैं ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन के हेतु बहुरि लीलावपुधारी।
रामभक्तिरसमरा रहत निसिदिन व्रतधारी॥
संसार अपार के तरनहित सुगमरूप नौका लयो।
कलिकुटिल जीव निस्तारहित बालमीक तुलसी भयो॥

भाव यह कि जिस महर्षि वालमीकि ने त्रेता में रामायण रचकर उस काल के लोगों का उद्धार किया उसी ने कलियुग के कुटिलजीवों के निस्तार के लिए तुलसीदास रूप से अवतार धारण किया। वालमीकीय रामायण माधुर्यप्रधान ग्रन्थ है। उसमें श्रीरामचन्द्र के ईश्वरावतार होने का अति सूक्ष्मरूप से कहीं-कहीं वर्णन है; पर अब उसके कलियुग के कुटिलजीवों का कल्याण होना कठिन है। उनमें इतनी शक्ति नहीं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ को उस दृष्टि से देख सकें। अतः उसी भगवान् वालमीकि ने तुलसीदास रूप में अवतीर्ण होकर श्रीरामचरितमानस नाम का ऐश्वर्यप्रधान ग्रन्थ प्रणयन करके पदे-पदे श्रीरामचन्द्र के ऐश्वर्य का ख्यापन कलि कुटिल जीव के गले उतारने के लिए किया जिसमें मानसपाठ काव्य के आनन्द के अतिरिक्त भजन रूप में परिणत हो सके।

सम्भव है वालमीकि महर्षि के अवतीर्ण होनेवाली बात कुछ लोगों के मन में न बैठे। फिर भी विचारशील महात्माओं ने इसे प्रमाण माना है और इसके लिए वे समुचित युक्ति देते हैं। अतः इसे उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

श्री गोस्वामीजी वैदिक मत प्रतिष्ठापनाचार्य थे। उनके रचित मानस की परिधि के भीतर नाना पुराण निगमागम तथा जितने वैदिक सम्प्रदाय द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैतादि हैं सभी आ जाते हैं और सबको उचित स्थान मिलता है। उन्होंने सर्वसाधारण के बोधगम्य होने के लिए प्राकृत भाषा को अपनाया, जिसका बहुत बड़ा अधिकार है। तत्सम रूप से उसमें शुद्ध संस्कृत प्रयोगों का तद्भव रूप से विकृत प्रयोगों का तथा देशोद्भव रूप से अनेक प्रचलित भाषाओं का समावेश है। मानस के मङ्गलाचरण के श्लोकों में भी प्राकृत के नियमों की छाप है। इस टीका में प्राकृतानभिज्ञ महाशयों के लिए जहाँ-तहाँ इन बातों के दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है जिसमें किसी को अपने भ्रम का आरोप श्रीगोस्वामीजी पर करने का अवसर न मिले। वे स्वयं कहते हैं कि मेरी ग्राम्यगिरा कृष्णा गौ है। संस्कृत कपिला गौ है। परन्तु कृष्णा गौ का दूध अधिक विशद : सफेद होता है। उसका पाक भी लघु होता है और उसे पान करने का सबको अधिकार है। इसी भाँति ग्राम्यगिरा में भी कहा हुआ रामयश अधिक स्पष्ट है। सुख बोध्य है और उसे कथन श्रवण का सबको शास्त्रतः अधिकार है, यथा :

श्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सिय रामजस गावहिं सुनहिं सुजान ।।

उन्होंने सब शास्त्रों का मन्थन करके उनका सार निकालकर ग्राम्यगिरा में ऐसा समन्वय किया है कि वह शैव वैष्णव शाक्त आदि सभी धर्मप्रेमियों के गले का हार हो रहा है। अतः इसकी टीका में यह प्रयत्न किया गया है कि श्री गोस्वामीजी का अभिप्राय कहीं से दबने न पावे। मुझे इस बात के लिखते हुए हर्ष होता है कि इस टीका को साक्षात् शङ्करस्वरूप श्री १०८ करपात्रीजी महाराज का आशीर्वाद प्राप्त है और पण्डिताग्रगण्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कवितार्किकचक्रवर्ती श्री महादेव शास्त्रीजी प्रिन्सपल : अध्यक्ष : संस्कृत महाविद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने इसका अनुमोदन किया है। अतः कम से कम मैं इतनी आशा अवश्य कर सकता हूँ कि यह टीका मानसप्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और इतने से ही मेरे जीवन का साफल्य है।

एक बात और कहनी है : आज से सत्तर वर्ष पहिले तक लोग हिन्दी की वर्णमाला को संस्कृत की वर्णमाला से कुछ भिन्न सी मानते थे और लिखने में उन्हीं अक्षरों का प्रयोग करते थे जो हिन्दी के सुखोच्चार्य शब्द के लिखने के लिए पर्याप्त थे। श्री गोस्वामीजी ने भी उसी परिपाटी को अङ्गीकार किया था। पर अब प्रवाह दूसरा बह उठा है। संस्कृत शब्दों का शुद्ध रूप भाषा में लिखा तथा बोला जाता है। परन्तु प्राचीन भाषा की रक्षा के लिए मूल में शब्दों के वे ही रूप रक्खे गये हैं जिनमें ग्रन्थकार ने उनका प्रयोग किया है। केवल षकार को उन स्थलों से हटा दिया गया है जहाँ वह खकार का भी बोधक बन बैठा था। शब्द के रूप में भी कहीं-कहीं विकल्प से काम लिया गया है। उच्चारण सादृश्य से औ अऊ ऐ अइ ये ए में कोई भेद नहीं माना गया है। मैंने किसी एक का बहिष्कार न करके यथासाध्य प्राचीन प्रतियों के प्रयोग का ही अनुसरण किया है। समस्त पदों में बार-बार योजिका : हाइफन : का प्रयोग करके उन्हें गूँथने की चेष्टा मैंने नहीं की है। सामासिक संज्ञाओं के समस्यमान पद तो सटाकर रक्खे हैं और शेष समासों के पद स्वतन्त्र ही छोड़ दिये हैं। जैसे वे प्राचीन प्रतियों में मिलते हैं। ऐसे शब्द सटाकर लिखे बिना भी अविभक्तिक पदों के समान अपना अर्थ स्पष्ट ही प्रकट कर देते हैं। अर्थात् मूलपाठ मैंने अपने उस संस्करण के अनुसार रक्खा है जो संवत् १९९३ वि० में लीडर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है।

इस टीका के छपने का पूरा श्रेय पं० श्रीनाथ मिश्रजी को है जिनके उत्साह और परिश्रम से ही यह टीका छप सकी। पं० मनोरञ्जन जोशीजी ने भी बहुत परिश्रम किया है। बाबू महेशनारारायण सिंह रिटायर्ड ओवरसियर : गया निवासी ने इसके सम्पादन में उत्साह के साथ बड़ी सहायता की है तथा श्रीमान् सेठ लक्ष्मीनारायण पोद्दारजी के उत्साह से यह कार्य अग्रसर हुआ है। अतः उपर्युक्त महाशयों को मैं धन्यवाद ही नहीं आशीर्वाद भी देता हूँ। अन्ततः मोतीलाल बनारसीदास फर्म को भी धन्यवाद है जिसने बड़े उत्साह से इसके मुद्रण के कार्य को अपने समर्थ हाथों में लिया है।

—**विजयानन्द त्रिपाठी**

॥ श्रीः ॥

रामचरितमानस के भाष्यकार की जीवनी

शाण्डिल्य गोत्र सरयूपारी ब्राह्मण। पूज्यपाद पिताजी का नाम पं० रघुवीर त्रिपाठी। संवत् १९३८ विजयादशमी के दिन मुहल्ला भदैनी : भद्रवनी : काशी में हुआ। विजयादशमी को जन्म होने से माता-पिता ने विजयानन्द नाम रक्खा। जन्मस्थान ही स्थायी पता है।

पिताजी के गोद में ही : नमामि भक्तवत्सलं, कृपालु शील कोमलं। की ही सर्वप्रथम मौखिक शिक्षा मिली। एफ. ए. तक अंग्रेजी पढ़ा। सामान्यज्ञान संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी और बँगला का भी है। श्रीरामचरितमानस का व्यसन बाल्यकाल से ही है। इतने महान् प्राचीनतम तथा युतिसम्मत धर्म पर पत्र-पत्रिकाओं द्वारा किये हुए आक्षेपों को सहन न कर सकने के कारण लेख लिखना आरम्भ किया। उस समय प्रयागराज से अभ्युदय निकलता था। वह कृपा करके लेख छाप देता था। अन्य समाचारपत्रों की पालिसी के विरुद्ध मेरे लेख पड़ जाते थे। अतः वे नहीं छापते थे। पिछले दिनों में सूर्य तथा कल्याण में मेरे लेख छपते थे।

धर्मविरोधी प्रचार से दुःखी होकर श्रीस्वामी करपात्रीजी ने मासिक सन्मार्ग निकालने की आज्ञा सेठ मूलचन्द चोपड़ा को दी और मुझे सम्पादन का भार दिया गया। कार्तिक शुक्ल १५ सं० १९९६ में उसका प्रथम अङ्क निकला। तब से ६ वर्ष तक मैंने उसका सम्पादन किया। अब परमेश्वर की कृपा से उसने साप्ताहिक तथा दैनिक का रूप धारण किया है। अस्वस्थता के कारण सम्पादन का कार्य बन्द करना पड़ा।

१. संवत् १९६५ में मैंने पंक्तिपावन परिचय : सरयूपारी ब्राह्मणों का संक्षिप्त इतिवृत्त : लिखा जो पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी द्वारा गौरीश प्रेस में छपा।
२. इसके बाद कल्किविजय नाटक लिखा जो हितचिन्तक प्रेस में छपा। पुस्तक अप्राप्य है इसलिए सम्वत् नहीं दे सकता।
३ तत्पश्चात् प्रबोधचन्द्रोदय का गद्य पद्यमय अनुवाद महाराज प्रभुनारायण सिंह काशी नरेश की आज्ञा से किया जो हितचिन्तक प्रेस में छपा।
४. मन्दिर प्रवेशमीमांसा लिखा जो सूर्य प्रेस में छपा।
५. शतपञ्चचौपाई लिखी जो सं० १९९३ में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई।
६ काशीकेदारमाहात्म्य का भाषानुवाद किया जो सं० १ ८८ में अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ।

सौभाग्य से मानसराजहंसजी की जीवनी स्वयं उनके हाथ की लिखी हुई उनके प्रधान शिष्य मानसरत्न पं० श्रीनाथमिश्र वैद्य से हमें प्राप्त हुई जिसे हम अक्षरशः छाप रहे हैं।

प्रकाशक : प्रथम संस्करण

७. श्रीरामचरितमानस का सम्पादन किया जो सं० १९९३ में अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ।

८. मानसप्रसंग लिखा जो मानससंघ सतना द्वारा सं० १९९८ में प्रकाशित हुआ।

९. समुझाई नामक पुस्तिका लिखी जो मानससंघ सतना द्वारा सं० १९९२ में प्रकाशित हुआ।

१०. मानसमूल लिखा जो सं० २००० में मानससंघ सतना द्वारा प्रकाशित हुआ।

११. मानसव्याकरण लिखा। वह भी मानससंघ द्वारा प्रकाशित हुआ।

१२. श्रीरामचरितमानस की टीका लिख रहा हूँ। जिसे देखकर श्री श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उसका विजयाटीका नामकरण कर दिया।

१३.१४. वीरसिंह नाटक और शतशत्रुञ्जय हनुमत्स्तोत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

१५. त्रिपुरारहस्य के ज्ञानकाण्ड का हिन्दी अनुवाद।

१६. भक्तिमुक्तावली। १७. अन्य लेख।

इस भाँति थोड़ी सी सेवा हिन्दी की भी मुझसे बन पड़ी। मेरी सेवाओं से प्रसन्न होकर श्रीभारतधर्म महामण्डल ने मुझे महोपदेशक, साहित्यभूषण तथा धर्मरत्न की पदवी प्रदान की।

ब्रह्मचारी सच्चिदानन्दजी : गीतानन्द ने मानसराजहंस की पदवी दी। अ० भा० धर्मसंघ का मैं आज तक प्रधान मन्त्री हूँ। यद्यपि अब मेरी कोई सेवा वार्धक्य के कारण नहीं हो सकती।

शान्ति

राजा साहिब भिनगा के यहाँ एक कारबारी थे। नाम उनका बाबू रामशरण दास था। दिल्ली के रहने वाले अग्रवाल वैश्य थे। उन्हें राजा साहिब ने श्री गो० तुलसीदासजी की रामलीला के इन्तजाम के लिए भेजा। इसी सिलसिले में उनसे मेरी मुलाकात हुई। बड़े ही सज्जन पुरुष थे। धीरे-धीरे उनसे प्रेम बढ़ गया।

एक दिन उन्होंने एकान्त में मुझे समझाया कि तुम अच्छे आदमी हो। परमेश्वर ने तुम्हें बुद्धि दी है। पढ़े-लिखे भी हो। तुमने इतना वैर क्यों कर रक्खा है? तुम्हें क्रोध आता है तो मालूम होता है कि तुम्हें भूतावेश हो गया है। तुम ब्राह्मण के बालक हो। क्षमा तुम्हारा धर्म है। तुम इतना क्रोध क्यों करते हो?

मैंने सब कच्चा चिट्ठा कह सुनाया कि मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं। नाहक लोग मुझसे वैर रखते हैं। बाप का कुछ न कर सके इसलिए मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं। मैंने प्रण कर लिया है कि दब कर न रहूँगा।

कहने लगे कि वह प्रण तो पूरा हो गया। इतने दिन बीत गये। तुम नहीं दबे। अब वैर को धो बहाओ। मैंने कहा कि तब मैं क्या करूँ? कहने लगे कि सबसे प्रेम करो। सबके काम में आवो। सबका भला चाहो, बल से दबाना न चाहो, प्रेम से दबाओ, वैर से वैर शान्त नहीं होता, आप से आप वैर मिट जायगा।

पिता की भाँति उन्होंने मुझे समझाया और पिता की भाँति ही मेरे ऊपर दृष्टि रखने लगे। मैंने उनके आज्ञानुसार चलना आरम्भ किया। साल के भीतर ही सब लोग मुझसे प्रेम करने लगे।

मैंने मुहल्ले के बच्चों की शिक्षा के लिए बाल-पाठशाला स्थापित की, पुस्तकालय खोला। मैं स्वयं अध्यापक का काम करने लगा। पं० यागेश्वर झा की सहायता ली। मेरे बालसखा बाबू बलदेवदासजी ने कोषाध्यक्ष का पद स्वीकार किया। मध्यमा तक की पढ़ाई होने लगी। मुहल्ले के बहुत से बच्चों ने शिक्षा पायी, कितने बाल-पाठशाला के विद्यार्थी आज प्रतिष्ठित पदों पर हैं। लगभग अठारह वर्ष तक यह पाठशाला चलती रही।

उसके बाद विद्यापीठ मुहल्ले में आ गया। तब पाठशाला चलाने की कोई आवश्यकता न प्रतीत हुई। अतः बाल-पाठशाला विद्यापीठ में मिला दी गयी।

उक्त बाबूसाहब के सत्सङ्ग से मुझे बड़ा लाभ हुआ। मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक कार्यों में हुई। परलोक के सुधारने की चिन्ता हुई। जो कोई भली बात मेरे में है वह सब उन्हीं के प्रसाद से है। अब उनका शरीर नहीं है। पर उनके गुण गान करने में मेरा मन अघाता नहीं।

श्रीभारतधर्म महामण्डल

मेरे मित्रों में कई एक आर्यसमाजी थे। धार्मिक चर्चा हुआ करती थी। उनके सिद्धान्तों पर विचार करने से मालूम हुआ कि वे हिन्दू धर्म को प्राटेस्टेण्टी ढाँचा में ढालना चाहते हैं और इस भाँति हिन्दू धर्म की विशेषता ही मिटा देना चाहते है। वे मूर्तिपूजा श्रद्धादि के आध्यात्मिक स्तर तक न पहुँचकर, विधर्मियों की भाँति उसका खण्डन करते हैं और उसे अवैदिक बतलाते हैं।

नई रोशनी वालों को ये सब बातें पसन्द थीं। उनके बूढ़े माँ-बाप को उनसे पिण्ड पाने की आशा टूट गयी और वे उनके विचारों से दुःखी होकर आँसू बहाते थे। उस समय आर्यसमाज का बड़े जोरों से प्रचार चलता था। जहाँ-तहाँ सनातनियों से शास्त्रार्थ भी होता था। उस समय भारतधर्म महामण्डल ही एक ऐसी संस्था थी जिसने आर्यसमाज के प्रचार के रोकने में बड़ा काम किया।

अतः आर्यसमाजी उसे बदनाम करते थे और उसके संस्थापक श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी को बुरा-भला कहते थे। उनकी बातें सुनते-सुनते मेरे चित्त में भी उस ओर से अश्रद्धा हो गयी। पर वही एक संस्था ऐसी थी जो आर्यसमाजियों की कटूक्ति से सन्तप्त हृदयों को शीतलता पहुँचाती थी।

दैवयोग से वह सस्था मेरे मकान के निकट गुरुधाम में आ गयी थी। अश्रद्धा होते हुए भी मैं स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज जिन्हें श्रीजी कहते थे मिला। उनके दर्शन से ही चित्त प्रभावित हुआ। प्रवचन सुनने पर तो श्रद्धा और बढ़ गयी। मैं नित्य जाने लगा और सत्सङ्ग से लाभ उठाने लगा। श्रीजी महाराज ने भी मुझ पर बड़ी कृपा की। सेवा करने के लिए आज्ञा भी होने लगी और मैं शिरोधार्य करके बड़े उत्साह से काम करने लगा। उस समय श्रीजी के शिष्य स्वामी दयानन्दजी की अवस्था थोड़ी थी। लज्जालु स्वभाव था, बहुत कम बोलते थे। श्रीजी के शिष्य विवेकानन्द और प्रेमानन्द सेवा में रहते थे।

मेरी सेवाओं से प्रसन्न होकर श्रीजी ने श्रीभारतधर्म महामण्डल की ओर से महोपदेशक की पदवी दी। कुछ दिनों बाद भारतधर्म महामण्डल का कार्यालय चेतगंज चला गया। स्वामीजी भी वहीं चले गये। दूर होने से मेरा आना-जाना बहुत कम हो गया।

इसी बीच में मैंने 'कल्किविजय' नाम का नाटक लिखा। स्वामीजी उसे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और मुझे साहित्य भूषण की पदवी प्रदान की। कुछ प्रपञ्च ऐसे आ पड़े कि भारतधर्म महामण्डल में मेरा आना-जाना बहुत कम हो गया। फिर भी स्वामीजी ने मेरा सम्बन्ध महामण्डल से टूटने नहीं दिया और वह आज भी चला आ रहा है। मेरा आना-जाना कम होने पर भी श्रीजी महाराज की कृपा में कोई कमी न हुई और वे बराबर ध्यान रखते थे कि मैं कैसी परिस्थिति में हूँ और क्या करता हूँ।

मैंने अ० भा० धर्मसंघ की सेवा स्वीकार की और छः वर्ष तक मासिक सन्मार्ग का सम्पादन किया। इससे श्रीजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए: उन्हें धार्मिक कार्य को देखकर प्रसन्नता होती थी चाहे वह कार्य किसी संस्था द्वारा किया जाय। और मुझे श्रीभारतधर्म महामण्डल से धर्मरत्न की पदवी मिली।

ब्रह्मचारी श्रीसच्चिदानन्दजी

यद्यपि मैंने पितृ-चरण के गोद में ही नमामि भक्तवत्सलं, कृपालुसीलकोमलं इस अत्रिकृत स्तुति को अति अबोधावस्था में कण्ठ की पर बहुत थोड़ी सी हिन्दी पढ़ाकर ही पितृ चरणों ने मुझे फारसी और अंग्रेजी पढ़ने में लगा दिया। वे वृद्ध हो गये थे। रुग्ण रहते थे। समझते थे कि जमींदारी का काम बिना फारसी, अंग्रेजी के न चलेगा। अतः जितनी जल्दी मेरा प्रवेश इन भाषाओं में हो जाय उतना ही अच्छा। अतः एफ. ए. तक मेरी शिक्षा अँग्रेजी, फारसी में ही हुई।

उनके देहावसान के बाद मुझे ग्लानि हुई कि मैंने परलोक सुधारनेवाली विद्या संस्कृत नहीं पढ़ी। उस समय ब्रह्मचारी सच्चिदानन्दजी नगवा में रहते थे। अद्भुत विरक्त पुरुष थे। उनकी अपरिग्रहवृत्ति देखकर मैं चकित रह गया। तीखी तलवार की धार सी पैनी बुद्धि थी। संस्कृत और अंग्रेजी के प्रगाढ़ विद्वान् थे। महाराष्ट्र होने पर भी बँगला और हिन्दी मातृभाषा की भाँति बोलते थे।

मैंने उनसे प्रार्थना की कि गीता के श्लोकों की सङ्गति मुझे नहीं लगती। कहने लगे कि उसका पाठ किया करो। सङ्गति आप से आप लग जायगी।

महात्माओं के चरणों में प्रीति मुझे लड़कपन से थी और सौभाग्य मेरा ऐसा था कि जिसके पास मैं गया उसने मुझ पर कृपा की। परन्तु उस कृपा से लाभ उठाने में मैं सदा विफलमनोरथ ही रहा। कुछ दिन आने-जाने के बाद मुझे मालूम हुआ कि गीता के मनन करने वालों में ये महात्मा बेजोड़ हैं। लोकमान्य तिलक उनकी धाक मानते थे। मैंने प्रार्थना की कि कुछ मुझे बतलाइये। आज्ञा हुई कि पञ्चदशी पढ़ो। मैं पञ्चदशी लेकर उपस्थित हुआ। उनमें से केवल पहला प्रकरण पढ़ाया और कहा कि बस इतना बहुत है। इसी का मनन करो।

मनन तो मैं कुछ नहीं कर पाया पर उन महात्मा के प्रवचन का यह प्रभाव पड़ा कि मालूम हुआ कि आँखें खुल गयीं। आज तक मुझे उसी पहिले प्रकरण का विस्तार ही अन्य ग्रन्थों में दिखायी पड़ता है।

मेरा प्रेम बचपन से श्री रामचरितमानस में रहा। कभी-कभी उसकी चर्चा मैं ब्रह्मचारीजी से करता। एकदम अपरिचित ग्रन्थ में उनकी बुद्धि ऐसा चमत्कार कर देती कि मैं अवाक् रह जाता। कहना अत्युक्ति न होगा कि ग्रन्थ लगाने की कला मैंने उनसे ही सीखी। मानस में उनके प्रसाद से ऐसी-ऐसी बातें दृष्टिगोचर हुईं जो टीकाओं में नहीं पायी जातीं।

उन्हीं के प्रसाद से मुझे दृष्टि मिली, और वे ही मेरी सूझ पर प्रसन्न होकर मुझे मानसराजहंस कहने लगे। जब से उनका निवास ढुण्ढिराज गणेश पर हुआ तब से मेरा आना-जाना कम हो गया। पर उनकी कृपा सदा एक सी रही। एक साल हुआ उस महात्मा का काशीवास हो गया।

वाक्सिद्ध महात्मा

काशी सिद्धों की सराय कहलाती है। यहाँ एक से एक महात्मा आया-जाया करते हैं। अतः काशीवासियों की किसी महात्मा पर श्रद्धा बड़ी कठिनता से होती है। मैंने भी अनेक विरक्त, ज्ञानी और उपासक देखे। परन्तु वाक्सिद्ध महात्मा के दर्शन नहीं हुए।

अपने जीवन भर में मैंने केवल दो वाक्सिद्ध महात्मा देखे और दोनों अघोरपन्थ साधु थे। एक मेरे बचपन में थे। उनका नाम बाबा खराबदास था। गङ्गा उस पार रहते थे। उनका बाँस का किला बनता था। उसमें मुर्दे की खोपड़ियाँ लटकायी जाती थीं। किसी का नाम कलक्टर, किसी का नाम जण्ट, निदान वे सब बड़े-बड़े अफसरों का प्रातिनिध्य करती थीं। बाबाजी चले जा रहे हैं। सिर पर एक पत्थर रक्खे हुए हैं। उसके ऊपर चूल्हे पर खिचड़ी पक रही है। जहाँ वह पक के तैयार हुई वहीं बैठकर खा लिया। एक बार मेरे पड़ोस में बाबाजी की खिचड़ी पकने लगी। कोई सुरती लेकर आया। बाबाजी सुरती खाइयेगा। हुकुम हुआ छोड़ दो खिचड़ी में। कोई तेल लेकर आया, कोई गुड़ लेकर आया। सब उसी खिचड़ी में छोड़ा चला जा रहा है। खिचड़ी तैयार होने तक उसमें पचासों चीजें पड़ीं। बाबाजी सब खा गये। मेरी आँखों देखी बात है।

एक रईस से बाबाजी पाँच सौ रुपया लेने के लिए अड़ गये। रईस देना नहीं चाहता था। उसने एक पण्डितजी के हाथ सौ रुपये भेजे। पण्डितजी ने कहा कि आप महात्मा हैं जो देता है ले लीजिए। किसी को कष्ट देकर लेना आपको उचित नहीं।

कहने लगे उसका बड़ा अनिष्ट होने वाला है। मैं चाहता था कि उसे हटा दूँ। पर मालूम होता है कि वह होकर रहेगा। तुम रुपया ले जाओ। मुझे रुपया लेकर क्या करना है, जो मुझसे मोल-भाव करता है। वह तो उसी के कल्याण में व्यय होता। साल के भीतर उसके एकलौते बेटे की मृत्यु हो गयी। सुनी तो बहुत बातें जाती हैं पर यह तो स्वयं मेरी जानी हुई बात है।

दूसरे कुत्ता बाबा थे। वे रामनगर में किला के पिछवाड़े रहते थे। उन्होंने एक गूँगे को वाक्‌शक्ति दी और उसने इन्ट्रेन्स पास किया। राणा जगत्प्रकाश वीरजङ्ग जेनरल मिनिस्टर टेहरीराज मृत्युशय्या पर पड़े थे। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था। उनकी माता की करुणा पर द्रवीभूत होकर कुत्ता बाबा ने उनके घर आकर राणा साहिब को चङ्गा कर दिया। परमेश्वर की कृपा से इस बात की सचाई के प्रमाण में राणा साहिब मौजूद हैं।

मैं कभी-कभी उनके दर्शनों को जाता। बड़ा मान करते थे। मेरा नाम पण्डित रख छोड़ा था। एक बार मैं बैठा था। एक बंगालिन एक बोतल मद्य ले आयी। उनके एक भक्त ने मेरी आँख बचाकर उसे छिपा देना चाहा। बाबा जी बोले : चोरी किस बात की। जो बात है वह तो हुई है। बोतल मँगवाकर अपने सामने रखवा लिया।

मेरे मन में आया कि मैं इनका कैसे सत्कार करूँ। सो भाँग बनाकर उसमें केवड़ा जल आदि छोड़कर ले गया। बड़े नाराज हुए। तुम यह लेकर क्यों आये। हाथ जोड़ा कि बड़ा अपराध हुआ। तब आप उसे गरम करके पी गये।

बाबाजी रघुवंशी क्षत्रिय थे। अघोरपन्थी होने पर भी वर्णमर्यादा का इतना ख्याल करते थे कि ब्राह्मण को चरण छूने नहीं देते थे।

गङ्गाजी पर बड़ी प्रीति थी। गङ्गा-गङ्गा किया करते थे। नहाते नहीं थे। कहते थे कि गङ्गा के नाम से काम है। गङ्गा से काम क्या है। सब लोग जय गङ्गा कहकर उन्हें प्रणाम करते थे।

योग में अभिरुचि

पं० षडानन जी ब्रह्मचारी मेरे मकान में रहते थे। बड़े तपस्वी और ब्रह्मनिष्ठ थे। वे दो बार चारो धाम की यात्रा पैदल कर चुके थे। उनके सत्सङ्ग से मुझे योग में रुचि हुई। उनसे मैंने नेती-धोती सीखी। उस समय उसी को बड़ा योग समझता था। कुछ दिनों तक नेती-धोती करता रहा। पर उससे सिवा कफ शुद्धि के और कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। पण्डितजी ने मुझे कई आसन सिखाये। षण्मुखी प्राणायाम सिखाया। छायापुरुष का दर्शन कराया। अनाहतनाद सुनाया। इन सभी क्रियाओं में कुछ न कुछ चमत्कार था। परन्तु मेरा सन्तोष इनसे न हुआ।

खेचरी मुद्रा का बड़ा नाम सुना था। पर उसे सिखाने वाला कोई नहीं मिलता था। गुरुजी की कृपा से ब्रह्मचारी सदानन्दजी का दर्शन हुआ। इन्हें लोग पहाड़ी महात्मा कहते थे। ये प्रणवोपासना करते थे। इन्होंने मुझे खेचरी मुद्रा सिखायी। समाधि के लिए मेरी उत्कट इच्छा थी। पर इन महात्मा ने कहा कि जब आहार घटाकर नौ तोले दूध पर ला दो, तब समाधि हो सकेगी।

मुझसे यह कभी न हो सका। अतः खेचरी से सिवा ध्यान में सहायक होने के और कोई लाभ न हुआ। कालक्रम से मेरे पास एक मेरठ के जमींदार गृहस्थी से विरक्त होकर संन्यास लेने काशी आये। मुझसे पूछने लगे कि किससे संन्यास लूँ। मैंने कहा जल्दी न कीजिए। यहाँ बहुत से संन्यासी हैं। उनसे मिलिए जिस पर आपकी श्रद्धा हो और उनसे

दीक्षा ग्रहण कीजिये। एक सप्ताह मिलने-जुलने के बाद वे मुझसे कहने लगे कि काशी में तो कोई गुरु बनाने योग्य नहीं है। मुझे बुरा तो अवश्य लगा। पर मैं चुप हो गया।

कुरुक्षेत्र पर एक स्वामी नवीनानन्दजी उदासी रहते थे। लोग उन्हें लंगड़ा बाबा कहते थे। एक पैर से वे खञ्ज थे। उन्हें मैं प्रायः कचहरी में देखता था और मन ही मन कुढ़ता था कि ये ही लोग हिन्दू धर्म को बदनाम करते हैं।

एक दिन अकस्मात् वे मेरे यहाँ पधारे। कहने लगे कि तेरा बाप मेरा बड़ा ख्याल रखता था और तू कुछ ख्याल नहीं करता। मैंने बात टालने की नीयत से कहा कि मेरठ से एक व्यक्ति आये हैं। वे कहते हैं कि काशी में कोई साधु ऐसा नहीं है जो गुरु बनाया जा सके।

बोले कि बुलाओ उसको। मैंने उन्हें बुला दिया और कहा कि देखिये ये एक महात्मा हैं। वे कहने लगे कि महात्मा के खोज में ही मैं सब छोड़कर आया हूँ। स्वामीजी ने पूछा कि शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इनमें से क्या छोड़कर आया है? वे कोई उत्तर न दे सके। उन्होंने बात ही बात में उन्हें ऐसा लपेटा कि उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी और मैं भी चकित हो गया।

स्वामीजी इतना कह कर चले गये कि कल मेरे यहाँ आना। वे गये, बड़े प्रभावित होकर लौटे। वे नित्य जाते और लौटकर स्वामीजी के गुण वर्णन करते। अन्त में मुझे भी श्रद्धा हुई। उनके साथ जाने लगा। तब उनके माहात्म्य का ज्ञान हुआ। जिसे दुष्ट समझता था उसे महासाधु पाया। रामायण की यह चौपाई याद आयी कि सदा अपन पौ रहहिं दुराये। सब विधि कुसल कुवेष बनाये।

स्वामीजीने हम लोगों पर बड़ी कृपा की और हम दोनों को प्राणोपासना की विधि बतलायी। काम क्रोध को गुरुदक्षिणा में माँगा। हम लोगों को नित्य जाकर प्राणोपासना का अनुभव कहना पड़ता था और शिक्षा लेनी पड़ती थी। हम दोनों के अनुभव में कभी मेल न खाया। सिवा इसके कि दोनों को साधन में परम सुख मिलता था।

जैसा-जैसा अनुभव प्राणोपासना में हुआ वह वर्णनातीत था और यदि वर्णन भी किया जाय तो कोई विश्वास न करेगा। नित्य नवीन आनन्द और प्रायेण अद्भुत चमत्कार का अनुभव होता था। इस भाँति छः महीने बीते। बड़ी-बड़ी आशा बँधने लगी। एक दिन मुझसे चूक हो गयी। मैं ब्रह्मचर्य न सँभाल सका। सारा करा धरा मिट्टी हो गया। जैसे कोई आसमान से जमीन पर आ पड़े। वही क्रिया थी। वही मैं था। पर वह आनन्द और चमत्कार न जाने कहाँ चला गया। बड़ी ग्लानि हुई। आत्महत्या के लिए जी चाहने लगा। स्वामीजी के सामने जाने में लज्जा लगने लगी। मन में निश्चय हो गया कि मैं इस क्रिया का पात्र नहीं हूँ और मैंने साधन परित्याग कर दिया। साहस करके मैं फिर भी स्वामीजी के यहाँ गया। पर साधन की चर्चा नहीं की और न उन महात्मा ने पूछा कि तुम्हारा साधन कैसा चल रहा है।

श्री गुरुचरणों की प्राप्ति

श्रीराजेन्द्र बाबू नाम के एक बंगाल के जमीदार थे। उनसे मेरा परिचय हो गया था।

एक दिन प्रसङ्गात् मैंने श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी की प्रशंसा उनसे की। कहने लगे कि चलो तुम्हें गोस्वामीजी का दर्शन करावें। मैं भी चल पड़ा। वे मुझे सोनारपुरा के एक मकान में ले गये। भीतर जाने पर मैंने अपने को एक महात्मा के सम्मुख पाया। जैसे पुस्तकों के वन में कोई सिंह बैठा हो। बड़ी गम्भीर मुद्रा, करुणापूर्ण दृष्टि, उज्ज्वल तेजोमयमूर्ति का दर्शन करते ही मेरा सिर आप से आप चरणों में झुक गया और हृदय ने बोल दिया कि यही तेरे गुरु हैं।

उस पाणिपंकज का सिर से स्पर्श में जो सुख हुआ उससे पितृ चरणों के करकमल के स्पर्श का सुख याद आया। जो कि बीमारी की घोर वेदना के समय सर्वाबाधासु घोरासु मन्त्र का पाठ करते हुए सिर पर उनके हाथ फेरने से मुझे मिलता था।

तब से मैं बराबर श्रीचरणों के दर्शन के लिए जाने लगा। गुरुजी प्रायेण संस्कृत या बँगला में शास्त्रों का व्याख्यान भक्त मण्डली में करते थे। हिन्दी थोड़ी जानते थे। मैं भी बँगला और संस्कृत से अपरिचित नहीं था। फिर भी विषय की गहनता के कारण ठीक समझ नही पाता था।

पाँच-चार महीना बराबर सेवा में जाते मेरा प्रवेश कुछ उन उपदेशों में हो चला। सुनने की प्यास बढ़ती गयी। गुरुजी की कृपा को बढ़ते देखकर मैं फूला नहीं समाता था। मेरी सेवा भी स्वीकार होने लगी। एक दिन मुझे बुलाकर श्रीरामषडक्षर मंत्रराज की दीक्षा दी और ध्यान की विधि बतलायी। अपनी बनायी हुई पुस्तक आर्यशास्त्रप्रदीप तथा भूत और शक्ति पढ़ने को दिया।

मुझे भी श्रीचरणों के सामने संसार भूल सा जाता था। दर्शन से न तो नेत्र तृप्त होते थे। और न वचनों से श्रवण तृप्त होते थे।

कुछ दिनों के बाद श्रीचरणों ने मकान बदल दिया और राजघाट जाकर रहने लगे। दूर हो जाने से मेरा नित्य का जाना तो रुक गया पर प्रायेण आया-जाया करता था। उनके मध्यम पुत्र फणिभूषण सान्याल से मेरी मित्रता हो गयी। उनके बड़े लड़के विभूतिभूषण ठाकुरजी की पूजा और बाबा की सेवा में रहते थे। छोटे लड़के इन्दुभूषण उस समय पढ़ते थे। सतीश नाम के एक सेवक थे। उन्हें बाबा की सेवा से तृप्ति ही नहीं होती थी। बड़े रईस और प्रोफेसर सतीश की खुशामद करते थे कि जिसमें उन्हें बाबा का दर्शन मिल सके।

वैसा धर्म पर वज्र विश्वास, वैसा ज्ञान, वैसी उपासना, वैसी चतुरस्त्र विद्या, वैसी व्याख्यान शक्ति, वैसा चिकित्सा नैपुण्य, वैसी साधना कहीं दिखायी नहीं पड़ती और न वैसी उदारता या वैसी दया ही कहीं दृष्टिगोचर होती है जैसा कि मैंने श्रीचरणों में देखा। वह आनन्द और वह समाज अब देखने को कहाँ मिलनेवाला है। कई वर्ष मेरे बड़े सुख से बीते। अपने जीवन का सुखमय समय मैं तभी तक मानता हूँ जब तक गुरुजी काशी में आसीन थे। मैं तो यही कहूँगा कि मेरे दुर्भाग्य से उनका जाना कलकत्ते हुआ और फिर मैं दर्शन नहीं पा सका।

श्रीमुमुक्षभवन

मेरे मुहल्ले में एक प्रसिद्ध संत बाबा अमरदासजी रहते थे। एक दिन उन्होंने बुलवा भेजा और कहा कि तेरा नाम विजयी है, तू विजय कर।

राजा साहिब नागौद की श्रद्धा

श्रीमान् राजा यादवेन्द्र सिंह उचेहरा नागौद के राजा थे। परिहारों में यह प्रधान गद्दी है। राजा साहिब बड़े सच्चरित्र और सच्चे सनातनधर्मी थे। नयी सभ्यता उन्हें नहीं रुचती थी। वे कहा करते थे कि उसने अपने देश के पहिरावा का परित्याग किया। उसने अपने देश से इनकार कर दिया। और जिसने अपने देश से इनकार किया वह अपने बाप से इनकार कर चुका। अंगरेज के छू जाने पर गोमय लगाकर स्नान करते थे।

भला ऐसे विचार के नरेश से रेजिडण्ट की क्यों पटने लगी। बृटिश गवर्नमेंट ने मान लिया कि राजा साहिब का दिमाग सही नहीं है और उन्हें मासिक मिलने लगा। राज्य से अलग रहने लगे।

काशी में ठहरे हुए थे। बड़े आग्रह से भदैनी के ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया। उसमें मैं भी गया था। देखा कि वहाँ पक्की की व्यवस्था थी अतः मैंने स्पष्ट कह दिया मैं भोजन नहीं करूँगा।

बात राजा साहिब तक पहुँची। बोले किसने ऐसी बात कही? लोगों ने कहा तिवारीजी ने। कहा कि जाकर उनसे कहो कि वे ब्राह्मण हैं। मैं क्षत्रिय हूँ। मेरे यहाँ क्यों न खावेंगे? मेरे में दोष बतला दें तब भले ही न खावें।

मैंने कहा कि रानी तो रसोई बनावेंगी नहीं और राजा साहिब तो परोसेंगे नहीं। इन रसोइयों के गुण कर्म स्वभाव का मुझे पता नहीं इसलिए मैं नहीं खा सकता। महाराज के यहाँ से जवाब आया कि रानी रसोई बनावेंगी और मैं परोसूँगा। वही बात हुई, रानी ने रसोई बनाई और स्वयं बूढ़े महाराज अपने छोटे-छोटे बच्चों के साथ परोसने उठे। उन्हें मेरे कहने का मलाल नहीं हुआ। उन्हें इस उत्तर से बड़ी खुशी हुई। थाल में ब्राह्मणों के पैर स्वयं धोये और भोजन परोसा। भोजन के समय उपनिषद् के उपाख्यान सुनाते रहे। मैं राजा साहिब की श्रद्धा देखकर अवाक् रह गया।

उनकी रानी साहिबा आज भी जब काशी आती हैं भदैनी के ब्राह्मणों को अपने हाथ से रसोई बनाकर खिलाती हैं। राजा साहिब को कोई संतान नहीं थी। एक लड़का गोद ले रक्खा था। वे लाल साहिब कहलाते थे। उनका विवाह शिवगढ़ में ठीक हुआ। राजा साहिब की ओर से निमंत्रण आया। उसी समय प्रयागराज में किसी बड़े नेता के भाषण का समाचार मिला। मित्रमण्डली में यही निर्णय हुआ कि व्याख्यान सुनकर राजा साहिब की बारात करनी चाहिए। हमलोग चल पड़े। प्रयागराज पहुँचने पर समाचार गलत सिद्ध हुआ।

बड़ी निराशा हुई। अब यह निश्चय हुआ कि बारात करते हुए चित्रकूट की यात्रा कर लेनी चाहिये। शङ्करगढ़ पहुँचे। अभी बारात नहीं आयी थी। दूकानें बंद थीं। सौदा बेचने की आज्ञा नहीं थी। दरबार से चिट्ठी लेकर आते तब सामान मिले। दरबार जाकर

चिट्ठी लेने से उसी की खुशामद करना उचित मालूम पड़ा। अंत में उसने मुँह माँगे दाम पर सौदा दिया। छिपकर रसोई बनायी। अपराह्न में बारात आयी।

पहली हाथी पर पुरोहितजी ठाकुरजी के साथ आसीन थे। दूसरी पर राजा साहिब थे। तीसरी पर लालसाहिब दूल्हा थे। राजा साहिब की श्रद्धा देखकर चित्त प्रसन्न हुआ।

जनवासे में बारात के पहुँचने पर राजा साहिब तक पहुँचने का यत्न करने लगा। जो कारबारी काशी में मेरे यहाँ आते-जाते थे उन्होंने पहिचाना तक नहीं। खैर जब रसद बँटने लगी तब अवसर मिला। राजा साहिब के पास गया पर उन्होंने भी नहीं पहिचाना। बड़ा अपमान बोध हुआ। मेरे साथ महन्त सीतारामदास संस्थापक पाठशाला—थे। उन्हें सूझ गयी। मेरा नाम बोल दिया। राजा साहिब उठकर खड़े हो गये। पूछने लगे कि आपने सर्वमुण्डन क्यों कराया है ? इसी से भ्रम हुआ। मैंने कहा प्रयागराज से होता आ रहा हूँ।

हम लोगों को चित्रकूट के लिए जल्दी थी। बिना विदा हुए ही सवेरे चित्रकूट को प्रयाण किया।

एक बार श्री गो० तुलसीदासजी के लीला में भरत मिलाप का दिन था। भेलूपुर के थानेदार बड़े कट्टर मुसलमान थे। कहला दिया कि तुम लोगों ने सुपरिण्टेण्डेण्ट साहिब से हुकुम नहीं लिया है। इसलिए लीला नहीं हो सकती। लीला का समय बहुत सन्निकट था। उस समय कुछ हो नहीं सकता था। थानेदार साहिब को राजी करना असाध्य व्यापार था।

जाकर राजा साहिब से सब बात कही। कहने लगे कि हम अपना धार्मिक कार्य करेंगे। सुपरिण्टेण्डेण्ट कौन होते हैं। आप लीला आरम्भ कराइये मैं आया।

लीला आरम्भ हुई। और इधर तहकीकात आरम्भ हुई कि कौन लीला कराता है। राजा साहिब ने कहा मेरी आज्ञा से लीला हो रही है। इसकी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। पुलिस सलाम करके चली गयी।

ज्ञानवापी का मुकदमा

मुसलमानों ने डिक्लेरेशन सूट गवर्नमेण्ट के ऊपर दाखिल किया कि अदालत घोषणा कर दे कि ज्ञानवापी के अहाते की सब जमीन मुसलमानों की है और उस पर हिन्दू लोग उनकी आज्ञा से पूजा-पाठ करते हैं। जो मसजिद उस अहाते के बीच में है वह विश्वनाथ मन्दिर को तोड़कर नहीं बनी है। बल्कि बादशाह अकबर के चलाये हुए दीनइलाही मजहब के मन्दिर को तोड़कर बनायी गयी है। उस स्थान पर विश्वनाथ का मन्दिर कभी था ही नहीं। वह कहीं पर विश्वेश्वरगंज में था। काशीखण्ड नाम की एक पुस्तक हिन्दुओं ने मुसलमानों से लड़ने के लिए पचास वर्ष से बना ली है।

सरकार की ओर से पैरवी के लिए तहसीलदार मुकर्रर हुए। वे बिचारे बहुत जगह घूमे, मुसलमानों से वैर हो जाने के भय से कोई यह कहने को तैयार नहीं होता था कि ज्ञानवापी हिन्दुओं की है।

लाचार होकर बेचारे तहसीलदार धर्मप्राण सेठ गौरीशङ्करजी के यहाँ आये। उस समय मैं भी वहाँ था। कहने लगे कि मैं कितने हिन्दुओं के यहाँ गया। कोई यह कहने को तैयार नहीं है कि ज्ञानवापी हिन्दुओं की है। सेठजी बड़े असमञ्जस में पड़े, मुझसे रहा न

गया। बोल बैठा कि आप किसी हिन्दू के पास गये नहीं, तहसीलदार साहिब घूम पड़े, कहने लगे कि क्या आप बयान देवेंगे ? मैंने कहा बड़ी खुशी से और दस इष्ट मित्रों के साथ।

तब तो तहसीलदार साहिब ने रङ्ग बदला। कहने लगे कि आपके बयान से तो पूरा काम नहीं चलेगा। मुझे बड़े-बड़े आदमियों की आवश्यकता है।

मैंने कहा कि बड़ा-बड़ा आदमी दूँगा। कहने लगे कि नाम बतलाइये, और जेब से पेंसिल और डायरी निकाला। मैंने कहा कि नाम लिखिये। महाराजा बनारस और महामना मालवीयजी।

बोले कि इनके पास चलिये। मैंने कहा कि मैं कहीं न जाऊँगा। आप इन्हें तलब कराइये; न आवें तो वारण्ट से बोलाइये। ये लोग आकर कह देवेंगे कि ज्ञानवापी मुसलमानों की है तो हम लोग मान जायेंगे।

तहसीलदार साहिब कहने लगे कि ऐसी बात तो किसी ने न कही। मैंने कहा कि इतना ही नहीं मैं प्राचीन पुस्तक काशीखण्ड की भी दूँगा।

मुकदमा पेश हुआ। मेरा बयान हुआ, मैंने सवा सौ वर्ष पुरानी लिखी हुई काशीखण्ड की टीका पेश की और अपनी की हुई केदारमाहात्म्य की हिन्दी टीका पेश की। जिसमें ज्ञानवापी के अहाते के देवमूर्तियों का उल्लेख था। बयान समाप्त होने पर मौलवीसाहिब वकील जिरह करने उठे। कहने लगे कि काशीखण्ड मे तो लिखा है कि आसमान धूएँ से बना है। मैं कहा ऐसा नहीं हो सकता।

उन्होंने काशीखण्ड खोलकर सामने रक्खा। उसमें एक राजा की कथा थी कि उन्होंने ऐसा यज्ञ किया कि उसके धुएँ से आसमान भर गया, और आज तक काला है।

मैंने कहा कि इसका यह अर्थ तो नहीं है कि आसमान धुएँ से बना है। मौलवी साहिब बोले कि आज तक काला है का क्या अभिप्राय है ?

मैंने कहा कि हजरत इब्राहीम ने जब अपने लड़के को हलाल किया तो छुरी को ऊपर फेंका, उससे टिड्डी की कमर कट गयी और वह छुरी जब नीचे गिरी तो मछली की कमर कट गयी और आजतक कटी है। ऐसा ही अभिप्राय आजतक काला है का भी समझ लीजिए। अदालत ने वकील साहिबा को रोका कि ऐसा सवाल न किया कीजिये। और बहुत सी बातें पूछने के बाद वकील साहिब ने पूछा कि आप दीनइलाही के बारे में जानते हैं। उस मजहब के मन्दिर जहाँ-तहाँ बने थे की नहीं ?

मैंने जवाब दिया कि मैं जानता हूँ। उसके मन्दिर क्या बनते, उसका तो बिस्मिल्ला ही गलत हो गया। वकील साहिब और अदालत दोनों साकांक्ष हुए। पूछने लगे कैसे ?

मैंने कहा बादशाह अकबर को पैगम्बर बनने का शौक था और पैगम्बर होने के लिए चिह्न विशेष की आवश्यकता होती है। बादशाह दीनइलाही के पैगम्बर बने। बिना नुक्ता की किताब बनी। वह डिठोरी के पेड़ में उसे चीरकर रक्खी गयी। डिठोरी के पेड़ का चीरा शीघ्र ही जुट जाता है। जुट जाने पर मालिन को सपना हुआ कि बादशाह पैगम्बर है। उन पर किताब नाजिल हुई है। वह डिठोरी के पेड़ में है, उसमें नुकते नहीं हैं।

सो प्रजाओं की बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई। पेड़ चीरा गया, किताब निकली। सब लोग आश्चर्य से देखने लगे कि किताब भर में कोई नुकता नहीं है। किसी मसखरे ने कहा बिस्मिला ही गलत है। बे : के नीचे आरम्भ में ही नुकता है। सो दीनइलाही हँसी खेल ही में समाप्त हो गया। उसका कोई रूप बनने ही नही पाया।

वकील साहिब ने फरमाया कि यह तो आपने नयी बात कही। आपको कैसे मालूम हुआ। मैंने कहा कि मैंने मोलवी अताहुसेन साहिब मौलवी नासिरअली साहिब तथा मौलवी बाकरहुसेन साहिब से पढ़ा है। उन लोगों से ये बातें मालूम हुईं।

इस भाँति ८ दिन तक मेरा बयान होता रहा। अदालत में यथेष्ट चहल-पहल थी। इसके बाद हिन्दू युनिवर्सिटी के प्रोफेसरों तथा महाराज बनारस के यहाँ के अफसरों के बयान हुए। कहना नहीं होगा कि उस मुकदमें में मुसलमान लोग हाईकोर्ट तक लड़े, पर हारते ही गये।

पुलिस-प्रकोप

मैं अपने पिछवारे के बगीचे में बैठा था। गली में से चिल्लाने की आवाज आयी। मैं किवाड़ खोलकर बाहर निकला। देखा कि मेरे पड़ोसी दुर्गादत्त वैद्य को चार दरयायी पुलिस बलपूर्वक घर से बाहर खैंच रहे हैं और वे चिल्ला रहे हैं। मैंने पूछा कि इन्होंने क्या किया है जो इन्हें इतनी निर्दयता से खैंचे लिये जाते हो? कहने लगे कि इन्होंने रण्डी रख ली है। मैंने कहा रण्डी रखना कब से जुर्म हुआ? उत्तर मिला कि मैं तो इन्हें ले जाता हूँ। देखें क्या कर लेते हो।

उस समय मिस्टर श्रामली सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। उन्होंने दरयायी पुलिस का मुहकमा खोला था। दरयायी पुलिसों को बड़ा प्यार करते थे। इसलिए उन सबों का मिजाज बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

मैंने उन लोगों से और कुछ कहना बेकार समझा। पर एक आदमी को थाने में इत्तला के लिए भेज दिया। तब से दरयायी पुलिस भी वैद्यजी को पकड़े हुए पहुँच गयी। उसने भी रिपोर्ट लिखायी। इन्सपेक्टर इंचार्ज ने वैद्यजी को छोड़ दिया।

मैंने उनसे मिलकर कहा कि क्या इण्डियन पेनलकोड पुलिस के लिए नहीं है। उन्होंने अपनी लाचारी जाहिर की। कहने लगे कि सुपरिण्टेण्डेण्ट इनके सामने किसी की नहीं सुनता। तब मैंने वैद्यजी को शहर कोतवाल के पास भेजा, पर उन्होंने भी टालमटोल बतला दिया।

मुझमें वैद्यजी से सहन शक्ति बहुत कम थी। अत: अपने पास से रुपया खर्च करके वैद्यजी द्वारा उन पुलिसों पर दावा दायर करा दिया। तहकीकात के लिए पुलिस को हुकुम हुआ। कोतवाल साहिब तहकीकात के लिए आये। लेकिन क्रोध से भरे हुए। इंसपेक्टर इनचार्ज अलग जामे के बाहर थे। सारा पुलिस का मुहकमा खिलाफ हो गया लेकिन दस बारह गवाह पुलिस के खिलाफ गुजर ही गये।

अब क्या था। गवाहों को धमकाने में पुलिस ने कुछ उठा न रक्खा। स्वयं वैद्यजी का आसन डोल उठा। पैसा मेरा खर्च होता था, फिर भी वैद्यजी की यह दशा हुई कि मुकदमे

में जो इजहार देते थे मानो मुझ पर एहसान करते थे। मुझे भी जिद्द हो गयी थी, सब कुछ सहता था, पर मुकद्दमे में ढिलाई नहीं पड़ने देता था। अब तो मेरे ऊपर चारो ओर से दबाव आने लगा। हितैषियों ने भी समझाया कि पुलिस से बैर लेना अच्छा नहीं, पर मैं न माना। अन्ततोगत्वा उन चारों की सजा हो गयी। एक की छः महीने की, और शेष की शायद चार-चार महीने की।

तब से मैं पुलिस के कोप का भाजन हो गया। पुलिस-विभाग में कितनी बड़ी सहानुभूति आपस में है इस बात का पता मुझे उसी समय लगा। कोतवाल से लेकर साधारण पुलिस तक दरयायी पुलिसों से जलते थे। पर चूँकि वे पुलिस थे अतः उनका सजा पा जाना किसी को सह्य न हुआ।

पुलिस मुझसे और मेरे साथियों से बदला लेने के ताक में थी। पुलिस जिससे बुरा मानती है, उसका चार्ज अपने स्थानापन्न को दे जाती है, और वे उसका ख्याल रखते हैं।

पं० जगमोहन शरण अवस्थी नाम के कोई आदमी बाबू गयाप्रसाद के क्षेत्र में नौकर थे। उनको किसी ने रात को मार डाला। प्रातःकाल वे मरे पाये गये। खूनी का पता पुलिस न लगा सकी। उसने यही अवसर मुझसे बदला लेने का उपयुक्त समझा, अब उसने मेरे विरुद्ध गवाह खड़ा करने के प्रयत्न में लगी। परन्तु इतने बड़े अनर्थ को अपने सिर लेने को कोई तैयार नहीं होता था।

धीरे-धीरे बात मेरे कानों तक पहुँची, मैं भी सावधान हुआ। पता लगने लगा कि आज अमुक पुरुष पर पुलिस जोर डाल रही थी तो कल दूसरे को बहका रही थी। खोज-खोजकर मेरे शत्रुओं से मिली, पर वे भी इतने बड़े अनर्थ में सहायक होने पर राजी नहीं था।

तब उसने एक विचित्र माया गढ़ी। पं० मथुराप्रसाद पांडे उर्फ बबुआ पाण्डे मेरे पिता के प्रेमियों में से थे। मेरे ऊपर पुत्र सा स्नेह करते थे और मैं भी उन्हें बहुत मानता था। एक दिन उन्होंने मुझे बुलवा भेजा। रात का समय था। मैं उनके पास गया। देखा कि बड़ी गम्भीर मुद्रा में बैठे हुए हैं। मुझे देखकर कहने लगे कि अवस्थी के खून के मामले में पुलिस ने तुम्हारे खिलाफ गवाह पैदा कर लिये। अब कल सबेरे तुम लोगों की चालान होगी। थानेदार मेरा प्रेमी है। तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध जानकर मेरे पास आया था और कहता था कि तुम यदि सरकारी गवाह हो जाओ तो वह तुम्हें छोड़ सकता है।

मैंने कहा कि सरकारी गवाह होकर मुझे कहना क्या होगा? कहने लगे कि अपने साथियों पर इजहार देना होगा कि इन लोगों ने खून किया और मैं भी साथ-साथ देखता रहा।

मैंने कहा कि यह सरासर झूठ है। मैं ऐसा नहीं कह सकता। उनसे कहिये कि इसी समय मुझे ले जाकर फाँसी लटका दें। सुनकर पांडेजी एकदम चुप हो गये। मैंने पूछा कि अब मैं जाऊँ। कहा कि बहुत अच्छा। मैं घर लौट आया।

लौट तो आया पर मुझे यह होश नहीं कि मैं कौन हूँ। कहाँ जा रहा हूँ। विचारधारा एकदम रुक गयी। घर आकर सो रहा। कह नहीं सकता कि नींद लगी या बेहोशी हुई।

बड़े सबेरे उठा। अपना चित्त स्वस्थ पाया। पांडेजी के मुख से सुनने से सब बातें मेरे गले उतर गयी थीं। मन में आया कि स्नान करके अन्तिम पूजा तो ठाकुरजी का कर लूं। स्नान करके पूजा किया। चित्त प्रसन्न हो गया। आकर दरवाजे पर बैठ गया और गिरफ्तारी का आसरा देखने लगा।

सात बजा, आठ बजा, नौ बजा, दस बजा, कोई गिरफ्तार करने नहीं आया। ग्यारह बजा। घर से कड़ा खटखटाने की आवाज आई अर्थात् रसोई तैयार है। मैं सीढ़ी चढ़ने लगा कि एकाएक आँख खुल गयी। बात समझ में आ गयी कि यह सब पुलिस की माया थी। कोई गवाह कहीं नहीं मिला। सब बातें झूठी थीं। पांडेजी भी धोखा खा गये। पांडेजी के द्वारा पुलिस ने माया रची थी।

पांडेजी के साथियों से भेंट हुई जो उस समय वहाँ थे। कहने लगे कि उस समय तुम्हारी बात हम लोगों को नहीं रुची पर तुमने मर्द की सी बात कही।

उसके बाद भी पुलिस का प्रयत्न चलता था पर ढीला पड़ गया। मैंने वकीलों से राय ली। उन्होंने कहा कि पुलिस के इस प्राइवेट प्रयत्न की कोई दवा नहीं है। जब तक कोई बात सामने नहीं आती तब तक हम लोग क्या कह सकते हैं।

इस भाँति बहुत दिनों तक मैं पुलिस का कोपभाजन बना रहा। पर जब उन लोगों ने देख लिया कि वस्तुतः मैं उन लोगों का बुरा नहीं चाहता। केवल अन्याय न सहन कर सकने से ही मैंने विरोध किया था तो उन लोगों ने भी मेरा पीछा छोड़ दिया बल्कि प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगे।

◆

सोचि सोचि भावगत भेद को मिलान करि,
मानस के सही अर्थ को न बतलावते।
तो कम पढ़े लिखे श्रेणीवाले श्रद्धालु जीव,
तुलसी के आशय को नहीं जान पावते ।।
वंचक विपन्नमति दुराग्रही पक्षपाती,
आपस में तर्क करि रार ही बढ़ावते।
पावते न संशय की साँकल छुड़ाइ काटि
जौ पै यह टीका श्री विजयानन्द न बनावते ।।

—लक्ष्मीकान्त मिश्र
मानसरत्न डॉ० श्रीनाथ जी मिश्र के शिष्य

विषयानुक्रमणिका

मङ्गलाचरण : तत्सम : वाणी-विनायक, भवानी-शङ्कर, गुरु, कवीश्वर, कपीश्वर, सीता और राम की वन्दना, भाषाबद्ध-चिकीर्षा, पहिली : पृ० १ से

सुरवन्दना : गणनायक, दयालु, क्षीरशायी, उमारमण विनय, गुरुपद कञ्ज वन्दन, गुरुपद पद्म पराग वन्दन, उसके गुण तथा नख के गुणों का वर्णन, रज से विवेक विलोचन विमलीकरण । रामचरित वर्णन चिकीर्षा, दूसरी : अर्धाली २ तक : पृ० ८ से ।

समष्टिवन्दना : महीसुर चरण वन्दन, सुजन समाज वन्दन, तद्गुण कथन, सन्त वन्दन, तद्गुण कथन, रामचरण रति याचना । खलगण वन्दन, तद्दोष कथन, खलवन्दन, तद्दोष कथन, अपनी ओर से निहोरा । सन्त, असज्जन चरण वन्दन । संग्रह-त्यागार्थ भेद कथन : यही वैदिक रीति । गुणदोषमय विधि प्रपञ्च । सन्त की गुण-ग्राहकता । भले से भी चूक बुरे से भी चूक । वेष का अकिञ्चित्करत्व । कुसङ्ग सुसङ्ग से हानि-लाभ । तीन बार समष्टि वन्दना और तीन बार सुनने के लिए प्रार्थना । ग्राम्यगिरा में रामयश की उपादेयता । कवित्व की अन्यत्र उत्पत्ति और अन्यत्र शोभा । रामचरित्र गान से सरस्वती का श्रमापनोदन उनकी कृपा से सज्जन के पहिनने योग्य काव्य मुक्ताहार निर्माण । कवि की आर्ति विनय और दीनता । चरित का अपार होना । कवियों द्वारा निजगिरापावनकरण यश कथन । इसी बल पर रघुपति गुण गाथाचिकीर्षा, तीसरी : आर्षमार्गावलम्बनपूर्वक रघुपति कथा चिकीर्षा, चौथी : अन्य युग के कवि व्यासादि का वन्दन । मनोरथ पूर्ति के लिए प्रार्थना : दो० १३ अ० १ तक । पृ० १६ से ।

कविसमाज वन्दना : कलि के कवियों की वन्दना, सयाने प्राकृत कवियों की वन्दना, वरदान प्रार्थना, तीन बार कृपा भिक्षा, उसी आशा से हरियश चिकीर्षा, पाँचवीं । वाल्मीकि वेद ब्रह्मदेव वन्दन । बिबुध विप्र बुध ग्रह चरण वन्दन, मनोरथ पूर्ति के लिए प्रार्थना । सारद सुरसरिता वन्दन । राम के सर्वार्थकारी तथा शाबर मन्त्र जाल के रचयिता महेश भवानी वन्दन । तत्प्रसादप्राप्तिपूर्वक रामचरित वर्णन चिकीर्षा, छठी : फलश्रुति । दो० १५ पृ० ५८ से ।

अवध समाज वन्दना : अवधपुरी, सरयू, पुर नर नारि, कौसल्या, सब रानियों सहित दशरथ राउवन्दन, कृपा के लिए प्रार्थना । अवध भुआल वन्दन । परिजनसहित विदेह वन्दन, भरत वन्दन । लक्ष्मण वन्दन सानुकूलता के लिए प्रार्थना । रिपुसूदन, हनुमान्, कपिपति, रीछराज, निशाचरराज, अङ्गदादि कीश समाज चरण वन्दन । राम के निष्काम भक्तों की वन्दना । शुक सनकादि नारद, विज्ञानविशारद मुनि वन्दन, कृपा के लिए प्रार्थना । जनकसुता वन्दन, निर्मल मति के लिए प्रार्थना । रघुनायक चरणकमल वन्दन, सीताराम पद वन्दन । रामनाम वन्दन । प्रणवरूप नाम महामन्त्र । नाम की महिमा, प्रताप, प्रभाव, गुण-वर्णन । नाम और रूप दोनों ईश्वर की उपाधि ।

उनमें नाम की श्रेष्ठता । निर्गुण सगुण का साक्षी नाम । नाम मणिदीप । चारों प्रकार के भक्त तथा पुष्टिभक्त को भी नाम ही का आधार । निर्गुण से नाम की श्रेष्ठता । सगुण से नाम की श्रेष्ठता कहते हुए अध्यात्म रामायण कथन । भक्तों का उदाहरण । नाम कल्पतरु, सब काल और सब देशों में नाम की कार्यकारिता । कलि में एकमात्र अवलम्ब । भाव कुभाव अनख और आलस्य से भी नाम के जप से मङ्गल । उस नाम तथा नामी रघुनाथ को प्रणाम करके राम गुण गाथा चिकीर्षा, सातवीं : दो० २७.१ पृ० ६६ ।

निज गुण दोष : कवि की रघुनाथजी से आर्त्ति विनय और दीनता । पुनः समष्टि वन्दना । रघुवर यश वर्णन चिकीर्षा, आठवीं : अथ पूर्व घाट प्रारम्भ । दो० २९ पृ० १०७ से

कथा परिचय : भरद्वाज याज्ञवल्क्य संवाद-कथन चिकीर्षा, नवीं : सज्जनों से सुनने की प्रार्थना । १. गुरुपरम्परा । गुरुमुख से कथित को भाषा में बाँधने की चिकीर्षा, दसवीं : बुद्धिविवेकानुसार हरिप्रेरणा से चिकीर्षा, ग्यारहवीं : स्वसन्देह भ्रमनिवारणार्थ रामकथा चिकीर्षा, बारहवीं : दैन्य, ज्ञान और भक्ति साध्य फलदायिनी रामकथा । राम-कथा-माहात्म्य । रामचरित पेटक का निचला ढकना चिन्तामणि और ऊपर का राकेशकर, उसीमें नक्षत्रों की भाँति २८ गुण-ग्राम अर्थात् स्तुतियाँ जो यथास्थान ग्रन्थ में दी गयी हैं । हेतुसहित भवानीशङ्कर संवाद विधि की विचित्र कथा के निर्माण की चिकीर्षा, तेरहवीं : कल्पभेद से कथा में भेद अतः संशय न करके सुनने की प्रार्थना । २. कथा का अमित विस्तार । गुरुपद धूलि शिरोधार्य करके दोष न देने के लिए पुनः समष्टि-वन्दना । शङ्कर को प्रणाम करके रामगुण-गाथा-चिकीर्षा, चौदहवीं : हरिपद शीश धर की कथा चिकीर्षा, पन्द्रहवीं : ग्रन्थारम्भ का देश और काल । ग्रन्थ का नाम । महेश की रचना का भी यही नाम । उसी कथा की चिकीर्षा, सोलहवीं : सज्जनों से सुनने के लिए प्रार्थना । ३.···· दो० : ३४.७ पृ० ११४ से ।

मानससर प्रसङ्ग : मानसस्वरूप, विधि, प्रचार प्रसङ्ग-वर्णन-चिकीर्षा, सत्रहवीं : शम्भु-प्रसाद से सुमति का उल्लास । मनोहर निर्माण के लिए कवि चिकीर्षा, अठारहवीं : साधुघनकी राम सुयश वर्षा, उससे मानस का भर जाना : श्रवण, चार घाट, सात सोपान, सर का रूपक । अमराई, बाग, वन : मनन रखवारे, अधिकारी, यात्रा में कठिनाई, स्नान दुर्घट, सर निन्दा राम-कृपा से मज्जन । उससे बुद्धिनैर्मल्य । प्रेम प्रमोद प्रवाह का उमङ्ग : निदिध्यासन, सरयू का उद्गम, सरयू का रूपक, हिन्दी भाषी देश का विस्तार । ग्रन्थ प्रचार । षट् ऋतु-वर्णन । स्नान । भवानीशङ्कर स्मरणपूर्वक कथा चिकीर्षा, उन्नीसवीं : रघुपति पदपङ्करुह हृदय में रखकर और प्रसाद पाकर भरद्वाज याज्ञवल्क्य मिलन तथा संवाद कथन चिकीर्षा, बीसवीं : २ दो० ४३, क : पृ० १३९ ।

भरद्वाज याज्ञवल्क्यसंवाद : भरद्वाज का प्रयाग निवास, माघ मकर संक्रान्ति में सब का प्रतिवर्ष आगमन, भरद्वाज के आश्रम में ऋषि मुनियों का सत्सङ्ग । कल्पवास विधि । अथ दक्षिण घाट प्रारम्भ । एक बार याज्ञवल्क्य को रोकने के लिए भरद्वाज का आग्रह । शिष्य की शुश्रूषा

१. मोहहरण के लिए प्रार्थना २. रामविषयक प्रश्न ३. दशरथकुमार राम या दूसरे ४. मोह भ्रमहारी कथा के लिए प्रार्थना। शिष्य की प्रशंसा। कथा की स्तुति। भवानी का भी इसी प्रकार का संशय। उमा-शम्भु-संवाद के समय और हेतु-कथन की प्रतिज्ञा : दो० ४६ : पृ० १६९।

क. उमा चरित : (२८ दोहों में) किसी त्रेता में सती के साथ शम्भु का अगस्त्यजी के आश्रम पर जाना। वहाँ सत्सङ्ग। लौटते समय सीता को खोजते हुए विरह-विकल रामचन्द्र का दर्शन। जय सच्चिदानन्द जगपावन कहकर शङ्कर का प्रणाम। सती का संशय। शङ्कर के उपदेश पर भी भ्रम की अनिवृत्ति। अतः परीक्षा के लिए अनुमति। परीक्षार्थ सती का सीतारूप धारण। रामजी की प्रणामपूर्वक वृषकेतु समाचार जिज्ञासा। सती का पश्चात्ताप। शङ्कर कथित प्रभाव का राम द्वारा दिग्दर्शन। सती का शङ्कर से बहाना। सती का त्याग। शङ्करजी की १०८७ वर्ष की समाधि। सती का शोक। देवताओं का विमानारूढ़ होकर दक्ष यज्ञ में जाना। शिवजी के समझाने पर भी सती का न रुकना। सती को विदाई। सती का अपमान। यज्ञ में शिवजी का भाग न देखकर सती का क्रोध। सती का योगाग्नि से देह त्याग। दक्षयज्ञ विध्वंस। सती का हिमगिरगृह जन्म। नारद का आगमन। उमा के तप के लिए हिमगिरि को उपदेश। तप के लिए उमा का प्रस्थान। वेदशिरामुनि के उपदेश से माता-पिता का शोकापनयन। उमा का ४४११ वर्ष : पाँच रुद्री तप। आकाशवाणी। उमा का हर्ष। दो० : ७४.३ : पृ० १७५ से।

ख. शम्भु-चरित : २८ दोहों में : सती-मरण से शिवजी को दुःख। शङ्कर का नेम-प्रेम। रामजी का प्रादुर्भाव। पार्वती-परिणय के लिए विनय। शिवजी की स्वीकृति। प्रेम-परीक्षा के लिए शङ्कर द्वारा सप्तऋषि का भेजा जाना। सप्तऋषि उमा संवाद। प्रेम देखकर प्रणाम। सप्त ऋषि प्रेरित हिमगिरि का पार्वती को घर लिवा जाना। सप्तऋषि द्वारा स्नेह कथा सुनकर शिवजी का मग्न होना। फिर समाधि में बैठना। तारकासुर से देवों का पराभव। ब्रह्मदेव के यहाँ पुकार। ब्रह्मदेव की सम्मति। देवताओं का कामदेव से अपना दुखड़ा रोना। काम की शिवजी पर चढ़ाई। क्रोधपूर्वक धनुष हाथ में लेने से ही जगत् में मर्यादाभङ्ग। विवेक राजा की हार। देव-लोक से कैलाश तक पहुँचने में दो घड़ी का समय। शिवजी का दर्शन। काम का सशङ्क होना और संसार का स्वास्थ्य लाभ। काम सेना का पराभव। काम दाह। रति को वरदान। देवताओं की स्तुति। ब्याह के लिए विनय। शिवजी की स्वीकृति। विधि की आज्ञा से सप्तऋषि का जाकर हिमगिरि के यहाँ से लग्नपत्री ले आना। शिवजी का शृङ्गार। बरात का प्रस्थान। तीनों प्रकार के इष्टदेवों का सम्मिलित होना। हिमगिरि के यहाँ तैयारी। बरात का आगमन। बालकों में भय। द्वार पूजा। मैना का विलाप। नारद का उपदेश। विषाद का त्याग। जेवनार। विवाह। विदाई। हिमगिरि का पहुँचाकर लौटना। सब की विदाई। शिवजी का कैलाश आना। विविध विधि भोग बिलास। षडानन जन्म। तारकासुर संहार। उमा

शम्भु विवाह की फल श्रुति....दो० १०३ पृ० २३५ से ।

संगति वाक्य : गिरिजारमण के चरित की अपारता । कथा सुनकर शिष्य की कृतकृत्यता । गुरु द्वारा शिष्य की प्रशंसा । रामभक्त का लक्षण । विश्वनाथ पद प्रेम । योग्य शिष्य की प्राप्ति से गुरु को अकथनीय सुख । राम की कृपा से कवि के हृदय में सरस्वती का नृत्य । ऐसे गिरापति प्रभु को प्रणाम । अथ पश्चिम घाट प्रारम्भ : कैलाश वर्णन । वट विटप के नीचे शिवजी का बैठना । शिवजी का ध्यान । पार्वतीजी : प्रथम प्रकार के भक्त का आना । शिवजी का अति आदर से वाम भाग में आसन देना । पार्वतीजी को पूर्व जन्म की स्मृति....दो० १·६.३.४ पृ० २९८ से

अथ शिव गीता : ३०५ से

उमा के प्रश्न : १. नानाविधि रघुनाथ कथा कहकर अज्ञान : आवरण हरण के लिए प्रार्थना २. मति भ्रम : विक्षेप हरण के लिए प्रार्थना । ३. राम नृपतनय हैं कि ब्रह्म हैं; इस बात को समझाकर कहने के लिए प्रार्थना । ४. जिस विधि से मोह मिटे वैसा ही करने के लिए प्रार्थना ५. अत्र भी संशय है; अतः कृपा करने के लिए प्रार्थना ६. राम गुण गाथा कहने के लिए प्रार्थना ७. रघुवर विशद यश वर्णन के लिए प्रार्थना ८. रघुपति कथा दयापूर्वक कहने के लिए प्रार्थना । १. निर्गुण ब्रह्म के सगुणरूप धारण करने का कारण कहने के लिए प्रश्न २. रामावतार कहने के लिए प्रश्न ३. उदार बालचरित कहने के लिए प्रश्न ४. जानकी विवाह कथा के लिए प्रश्न ५. किस दूषण से राज्य छोड़ा ? ६. वन गये और रावण को कैसे मारा ? ७. राज पर बैठकर कौन कौन सी लीला की ? ८. प्रजा सहित निजधाम कैसे गये ? ९. मुनि ज्ञानी किस तत्त्व में मग्न रहते हैं ? १०. विभागसहित ज्ञान वैराग्य कथन के लिए प्रश्न ११. राम के अनेक रहस्य कथन के लिए प्रश्न और १२. जो कुछ पूछने से रह गया हो उन सबके लिए प्रश्न । शिवजी की प्रसन्नता । मानस में राम चरित और रामरूप का प्रादुर्भाव । ध्यान में दो दण्ड मग्न । तत्पश्चात् उत्तर " दो० १११ : पृ० ३०८ से ।

शम्भु के उत्तर : जगत् के अधिष्ठान बालरूप राम को प्रणाम । गिरिराजकुमारी की प्रशंसा । ३१६ से

प्रथम विनय का उत्तर : हरिकथा न सुननेवाले कान, सन्त के दर्शन न करनेवाली आँख, हरि गुरु चरणों में न झुकनेवाले सिर, हरि भक्ति रहित हृदय, रामगुणगान वर्जित जिह्वा और हरिचरित से न हर्षित होनेवाले हृदय की निन्दा । और पहिली प्रार्थना की स्वीकृति । ३२१ से

दूसरी का उत्तर : रामकथा कामधेनु । रामकथा संशय दूर करनेवाली । रामकथा कलि विटप कुठारी दूसरी प्रार्थना की स्वीकृति । पृ० ३२१

: उमा की पहिली और दूसरी विनय का भरद्वाज की प्रथम प्रार्थना में अन्तर्भाव । भरद्वाज के दूसरे और तीसरे प्रश्न का उमा के तीसरे विनय में अन्तर्भाव । उमा के शेष प्रश्नों का भरद्वाज के चौथे प्रश्न में अन्तर्भाव ।

तीसरी का उत्तर: राम के नाम गुण चरित जन्म और कर्म अगणित और वेदविहित। यथा राम अनन्त तथा कथा और कीर्ति अनन्त, यथाश्रुति यथामति कथन तथा कथा और कीर्ति अनन्त यथाश्रुति यथामति कथन की प्रतिज्ञा। वेदप्रतिपाद्य मुनिगण ध्येय चरण रामजी में ब्रह्मबुद्धि न होना शिवजी को अप्रिय। ऐसी बुद्धिवाले की निन्दा। लाभ हानि न देखनेवाले की वेद विरुद्ध वाणी। निर्गुण सगुग विवेक रहितों के कल्पित वचन। माया से मूढ़ पुरुषों की बात सुनने योग्य नहीं। विचारपूर्वक संशय त्याग तथा रामभजन का उपदेश। दो० ११५ पृ० ३२२

चौथी का उत्तर: निर्गुण सगुण में अभेद। निर्गुण का सगुण होना। निर्गुण सगुण में केवल स्थूल सूक्ष्म अवस्था कृत भेद। रामनाम से अज्ञान का नाश। राम सच्चिदानन्द। वहाँ मोह: निशा के लेश का भी अभाव। सहज प्रकाशरूप में विज्ञान प्रभात का भी अभाव। हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, जीवधर्म अस्मिता का भी अभाव। राम ब्रह्म, व्यापक, प्रसिद्ध, स्थूल, सूक्ष्म के नाथ को नमस्कार। अपने अज्ञान का राम पर आरोप। विषय, करण, सुर और जीव के प्रकाशक। उन्हीं की सत्यता से माया का सत्य सा भासना। सीप में रजत और मरु मरीचिका में जल की भाँति राम में माया का भासना। राम की कृपा से भ्रम का मिटना। जिसमें सर्वेन्द्रियगुणाभास है और जो सर्वेन्द्रियविवर्जित है वही दाशरथि राम है उसी के नाम के बल से काशी में मुक्ति। विवश होकर भी उसके नाम ग्रहण से पापों का नाश। सादर स्मरण करने से भव सन्तरण। राम परमात्मा। इसमें सन्देह करनेवाली वाणी अति अविहित। सन्देह को मन में स्थान देने ही से ज्ञान विरागादि का नाश। इस उत्तर से गिरिजा के मोह और संशय की निवृत्ति, सुख की प्राप्ति। फिर भी पहिले पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर की प्रार्थना। राम ब्रह्म के नरदेह धारण का कारण समझा कर कहने की प्रार्थना शङ्कर का प्रसन्न होकर उमा की प्रशंसा करना। दो० १२० : पृ० ३२८ से

पाँचवा[1] का उत्तर: रामचरित मानस गरुड़ भुशुण्डि संवाद सुनने के लिए आज्ञा। पृ० ३३९

छठी का उत्तर: रामावतार सुनने के लिए आज्ञा: अथ उत्तर घाट प्रारम्भ। पृ० ३३९

सातवा का उत्तर :- कथा कहने की प्रतिज्ञा। सुनने की आज्ञा। पृ० ३४०

आठवीं का उत्तर: हरि अवतार हेतु का निश्चित रूप से निरूपण न हो सकना। साधु का परित्राण तथा दुष्टों का नाश ही शास्त्रानुमोदित कारण। उसी के यश गान से भव सन्तरण। रामजन्म के अनेक हेतु। तीन जन्मों के वर्णन की प्रतिज्ञा: दो० १२१-२ पृ० ३४० से

प्रथम[2] प्रश्न का उत्तर अधिदैव

---

[1] रघुपति कथा कहहु करि दाया।

[2] प्रथम सो कारन कहहु बिचारी।
निर्गुन ब्रह्म सगुन वपुधारी।

रामायण : एक कल्प में जय और विजय का विप्र शाप से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु होना। वाराह और नृसिंह अवतार से उनका वध। उन्हीं का कुम्भकर्ण रावण होना। उनके वध के लिए एक बार विष्णु का रामावतार। उस अवतार में कश्यप अदिति का दशरथ कौसल्या होना। एक कल्प में जलन्धर का रावण होना। जलन्धर की स्त्री के शाप से रामावतार। एक कल्प में नारद के शाप से क्षीरशायी का रामावतार। गिरिजा का नारद मोह सुनकर चकित होना और कारण पूछना। दो० १२४ : क : पृ० ३४३ से।

नारद मोह प्रसङ्ग : नारद की समाधि। इन्द्र के भेजे हुए काम का विघ्नाचरण। हार मानकर मुनि का शरण ग्रहण। मुनि की क्षमा। इन्द्रसभा में काम द्वारा मुनि की प्रशंसा। शङ्कर के यहाँ जाकर नारद का मार चरित कहना। विष्णु से न कहने के लिए शङ्कर का उपदेश। नारद का विरुद्धाचरण। विष्णुमाया द्वारा मार्ग में नगर निर्माण और राजकुमारी का स्वयंवर। नारद मोह। नारद की स्तुति पर विष्णु का प्रादुर्भाव। परम हित करने की प्रतिज्ञा। नारद की कुरूप प्राप्ति। हरगण की काकूक्ति : मजाक उड़ाना। राजा के वेष में प्रभु का आगमन। राजकुमारी का वरण। प्रभु का उसे ले जाना। हरगण के कहने से नारद का जल में मुख देखना। नारद का क्रोध। हरगण को शाप। विष्णु से भेंट, उन्हें भी शाप। मायापनयन। अपराध क्षमापन। रुद्रगण का शापानुग्रह। उन्हीं को रावण कुम्भकर्ण होना। दो० १३९ : पृ० ३४८ से। प्रतिकल्प प्रभु का अवतार। चरित्र का मुनियों द्वारा गान। अतः विविध अनुपम प्रसङ्ग। आश्चर्य का अनवकाश। कथा की अपारता। ब्रह्म के रामावतार का कारण। उसी चरित्र से सती रूप में उमा को मोह। उमा का संकोच से मुसकराना। कथा प्रारम्भ। दो० १४१ तक : पृ० ३७९

स्वायम्भूव मनु का इतिहास : स्वायम्भूव मनु और शतरूपा से नर सृष्टि। उनकी सन्तति। चिरकाल राज्यशासन पर भी विराग नहीं। अतः पुत्र को राज्य देकर दम्पती का नैमिषारण्य आगमन। २३००० वर्ष का तप। विधि हरि हर के प्रलोभन से भी चलायमान न होना। आकाशवाणी। शङ्कर मन मानस मराल : राम के दर्शन का वरदान। भगवान् का प्रादुर्भाव। शिख-नख वर्णन। वरदान। दम्पती के दूसरे वरदान में भेद। अमरावती निवास के लिए अनुशासन। अभिलाष पूर्ति की प्रतिज्ञा। दो० १५२ : पृ० ३८३ से

भानु प्रताप की कथा : केकय देश के सत्यकेतु राजा के दो पुत्र : १. भानुप्रताप और २. अरिमर्दन। ज्येष्ठ को राज्य देकर सत्यकेतु का वनवास। भानुप्रताप का दिग्विजय। धर्मचर्या में वेदाज्ञानुसरण। मृगयार्थ विन्ध्याचल वन में जाना। एक वाराह का बहुत दूर तक पीछा करना। मार्ग भूलकर भटकते हुए एक आश्रम में पहुँचना। वहाँ राजा के शत्रु का मुनिवेष में रहना। कपटमुनि के अनुरोध से आश्रम में ठहरना। उसपर राजा की श्रद्धा। उससे वरदान माँगना। वरदान लाभ। ब्राह्मणों से भय। उपास्य में साल भर के लिए नित्य नये एक लक्ष

ब्राह्मणों का वरण। कपटी मुनि का पुरोहित रूप से नित्य जेवनार बनाने की प्रतिज्ञा। राजा को सोते हुए घर पहुँचाने की प्रतिज्ञा। राजा का शयन। शूकर बनकर मार्ग भुलवानेवाले कालकेतु निशाचर का आगमन। राजा को सोते हुए घर पहुँचाना। उठने पर राजा को आश्चर्य। चुपके से आखेटस्थल को प्रस्थान। दोपहर को घर लौटना। पुरोहित रूप में कालकेतु का आगमन। मायामय रसोई परोसने के समय कालकेतु द्वारा आकाशवाणी। कपटी मुनि को समाचार। उसकी लिखा पढ़ी। भानुप्रताप पर चढ़ाई। भानुप्रताप का सत्यानाश : दो० १७५ पृ० ४०७ से

रावणावतार प्रसङ्ग : काल पाकर उसी राजा का रावण अरिमर्दन का कुम्भकर्ण और धर्मरुचि मन्त्री का विभीषण होना। राजा के सुत सेवकों का भी घोर राक्षस होना। तीनों भाइयों का तप। शङ्कर और ब्रह्मदेव का वरदान। तीनों भाइयों का ब्याह। लंका पर धावा, विजय, यक्षों का पलायन। लङ्का को राजधानी बनाना। पुष्पक हरण। कैलाश उठाना। नित्य नयी अभिवृद्धि। कुम्भकर्ण, मेघनाद, कुमुख, अकम्पन, वज्रदंष्ट्र, धूम्रकेतु, अतिकाय का पौरुष वर्णन। रावण की सभा। द्विज भोजन, यज्ञ, होम, श्राद्ध में बाधा के लिए आज्ञा। इससे देवताओं में क्षीणता। मेघनाद को शिक्षा : वैर और बढ़ावा। समरधीर बलवान् देवताओं का बन्दी होना। रावण का अत्याचार। निशाचरों की अवर्णनीय अनीति। पृथ्वी की व्याकुलता। देवताओं की शरण लेना। सबका ब्रह्मलोक जाना। ब्रह्मदेव भी निरुपाय। अविनाशी के शरण ग्रहण का उपदेश। देवताओं की गोष्ठी। ब्रह्म स्तुति। आकाशवाणी। ब्रह्मदेव द्वारा देवताओं को वानर शरीर से हरिपद सेवन की शिक्षा। देवताओं की त्वरा : दो० १८०-३ पृ० ४५३ से

दूसरे[1] प्रश्न का उत्तर अधिभूत रामायण रामावतार प्रसङ्ग : अवधपुरी के राजा दशरथ रानी कौसल्यादि। राजा को पुत्रहीनता से ग्लानि। गुरु से विनय। पुत्रेष्टि याग। अग्नि का प्रकट होकर हवि देना। हवि विभाग। रानियों के गर्भ। जन्म समय। गर्भस्तुति। कृपालु का प्रादुर्भाव। माता की स्तुति। माता को समझाना। शिशु लीला के लिए माता की प्रार्थना। फलश्रुति। शिशु रुदन से पुत्रजन्म समाचार का प्रचार। गुरु वसिष्ठ के यहाँ बुलावा। नान्दी श्राद्ध। उत्सव। कैकयी सुमित्रा के भी पुत्र जन्म। अवधपुरी की शोभा। सूर्य भी स्थगित। महीने भर का दिन। भुशुण्डिसहित शिवजी का विचारना। राजा की उदारता : दो० १९५ पृ० ४५३ से

तीसरे[2] प्रश्न का उत्तर : शिशु चरित-प्रसङ्ग : नामकरण। राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न की प्रीति। राम में गुणाधिक्य। नख-शिख वर्णन। रघुनाथचरित रति का माहात्म्य। राम को गोद खिलाना : दो० २०० पृ० ५११ से

बालचरित प्रसङ्ग : माता का पाक बनाना। विश्वरूप दर्शन। माता को विस्मय।

---

[1] पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।

[2] बाल चरित पुनि कहहु उदारा।

प्रबोधन । फिर माया न व्यापने के लिए विनय । चूड़ाकरण । अजिर विहार । खेलने में प्रेम । उपनयन । गुरुकुल वास । विद्या प्राप्ति । वीथिओं में विहार । रामजी की लोकप्रियता । आखेट । भाइयों के साथ भोजन । पुरवासियों को सुखी करने का संयोजन । वेद पुराण श्रवण तथा भाइयों से अनुकथन । प्रातःकाल माता पिता गुरु को प्रणाम । आज्ञा लेकर पुरकार्य करना । राजा को हर्ष । नानाविध अनूप चरित्र । दो० २०५ पृ० ५२३ से

चौथे[1] **प्रश्न का उत्तर ऋषि आगमन प्रसङ्ग :** यज्ञ में निशाचरों द्वारा विघ्न । विश्वामित्रजी का अयोध्याप्रस्थान । चक्रवर्ती द्वारा सत्कार । मुनि का अनुजसहित रघुनाथ को माँगना । वसिष्ठजी के समझाने पर राजा का देना । ताड़का वध । विद्यादान । मख रखवारी । धनुषयज्ञ देखने के लिए प्रस्थान । अहल्योद्धार । स्तुति । गङ्गाजी की कथा । दो. २११-२ पृ. ५३७ से ।

सीय स्वयम्बर : जनकपुर वर्णन । अमराई में निवास । जनकजी का आगमन । साथ ले जाकर सुन्दर सदन में ठहराना । दोनों भाइयों का नगर देखने जाना । रूप वर्णन । अष्ट सखी सम्वाद । धनुषयज्ञ भूमि निरीक्षण । बालकों का प्रेम । लौटना । निशि कृत्य । प्रातः कृत्य । फूल लेने जाना । फुलवारी वर्णन । फूल चुनना । गौरी पूजन के लिए सखी सहित सीता का आगमन, स्नान, पूजा, राजकुँवर के आने का सन्देश । सब की उत्कण्ठा । देखने के लिए जाना । राम-सीता का प्रथम साक्षात्कार । सीताजी का गिरिजा मन्दिर में फिर जाना । स्तुति । मनोरथ-प्रार्थना । गौरी का आशीर्वाद । सबका प्रस्थान । दोनों भाइयों का लौटना । गुरुजी से सम्पूर्ण इतिवृत्त-निवेदन । गुरुजी का आशीर्वाद । भोजनोपरान्त कथा । सन्ध्या-वन्दन । चन्द्र के व्याज से सिय-मुख-छवि वर्णन । विश्राम । अरुणोदय के व्याज से लक्ष्मण द्वारा प्रभुप्रताप-वर्णन । नित्यकृत्य । गुरु को प्रणाम । शतानन्द द्वारा जनक का बुलावा । मुनिवृन्दसहित कृपालु का जाना । भीड़ । राजा की सुव्यवस्था । कुँवरों का रङ्गभूमि-प्रवेश । भावानुसार अनेक रूप से कौशलराज-किशोर का दर्शन । शिख-नख-वर्णन । उच्च मञ्च पर आसन । राजाओं की बातचीत । सीताजी का प्रवेश । छवि-वर्णन । नर-नारियों की लालसा । वन्दियों द्वारा राजा जनक के प्रण की घोषणा । राजाओं का धनुष-भङ्ग के लिए उद्योग । राजा जनक के क्रोधयुक्त वचन । लक्ष्मण का क्रोध । विश्वामित्र की आज्ञा से रामजी का उठना । मुनियों से आज्ञा माँगना । पुर-नरनारी । रानी और सीताजी की भावनाएँ । लक्ष्मण द्वारा उत्साह-वर्धन । सबके हृद्गत भावों का धनुष में केन्द्रीभूत होना । राम द्वारा सबके भावों की परख । धनुष-भङ्ग । उत्सव । सबको हर्ष । जयमाल पहिनाना । क्रूर कपूत मूढ़ राजाओं का क्रोध । साधु राजाओं का उत्तर । सीता का प्रस्थान । लक्ष्मण का क्रोध । पुर-नरनारी की विकलता : दो. २६७-पृ. ५५५ से ।

---

[1] कहहु जथा जानकी बिवाही ।

परशुराम आगमन प्रसङ्ग : परशुराम-आगमन। मुनि वेष में वीररस शान्तिरस की सन्धि। राजाओं में त्रास। वन्दना। राजाओं की भीड़ का कारण जनक से पूछना। धनुर्भङ्ग सुन और देखकर क्रोध। तोड़नेवाले के विषय में प्रश्न। राम का उत्तर। परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद। परशुराम द्वारा सात बार लक्ष्मण का तथा दो बार राम का कुल नव बार अपमान। राम के उत्तर से बुद्धि का परदा खुलना। नौ बार उत्कर्ष-सूचक जय-शब्द-उच्चारणपूर्वक स्तुति। परशुराम का प्रस्थान। राजाओं को भय। कायरों का पलायन : दो. २७५-८ तक पृ. ६८१ से।

विवाह प्रसङ्ग : मङ्गलाचरण। विश्वामित्रजी की आज्ञा से अवध दूत भेजना। जनकपुर में मण्डप-रचना। पुर-रचना। चक्रवर्ती के दरबार में जनक दूत। दूत के साथ महाराज का गुरुजी के पास जाना। बारात शीघ्र ले चलने की गुरुजी की आज्ञा। महाराज का महल में जाना। अयोध्या में उत्सव। बारात की तैयारी के बारह कार्य। बारह सगुन। मार्ग में बारात का सत्कार। अगवानी। जनवास। रामलखन का चक्रवर्तीजी से मिलन। अगवानी का सत्कार। नगर वासियों का मनोरथ। स्वयम्वर में आये हुए राजाओं का प्रस्थान। विवाह। दायज। जनक विनय। परस्पर-विनय। कोहबर। चारों जोड़ियों का जनवास को प्रस्थान। जेवनार। गवादि-दान। बिदाई। बारात को पहुँचाना। बारात का घर लौटना। अवध में उत्सव। परिछन। बरातियों की बिदाई। महाराज का रनिवास में जाना। वसिष्ठ-कौशिक की पूजा। विश्वामित्र की कथा। कङ्कन छूटना। विश्वामित्र की बिदाई। विश्वामित्र-कथा की पुनरावृत्ति। फल-स्तुति : दो. ३६१ तक : बालकाण्ड की समाप्ति। पृ. ७२३ से ९०७ तक।

दुर्गापुरस्थित श्रीराम जानकी मन्दिर

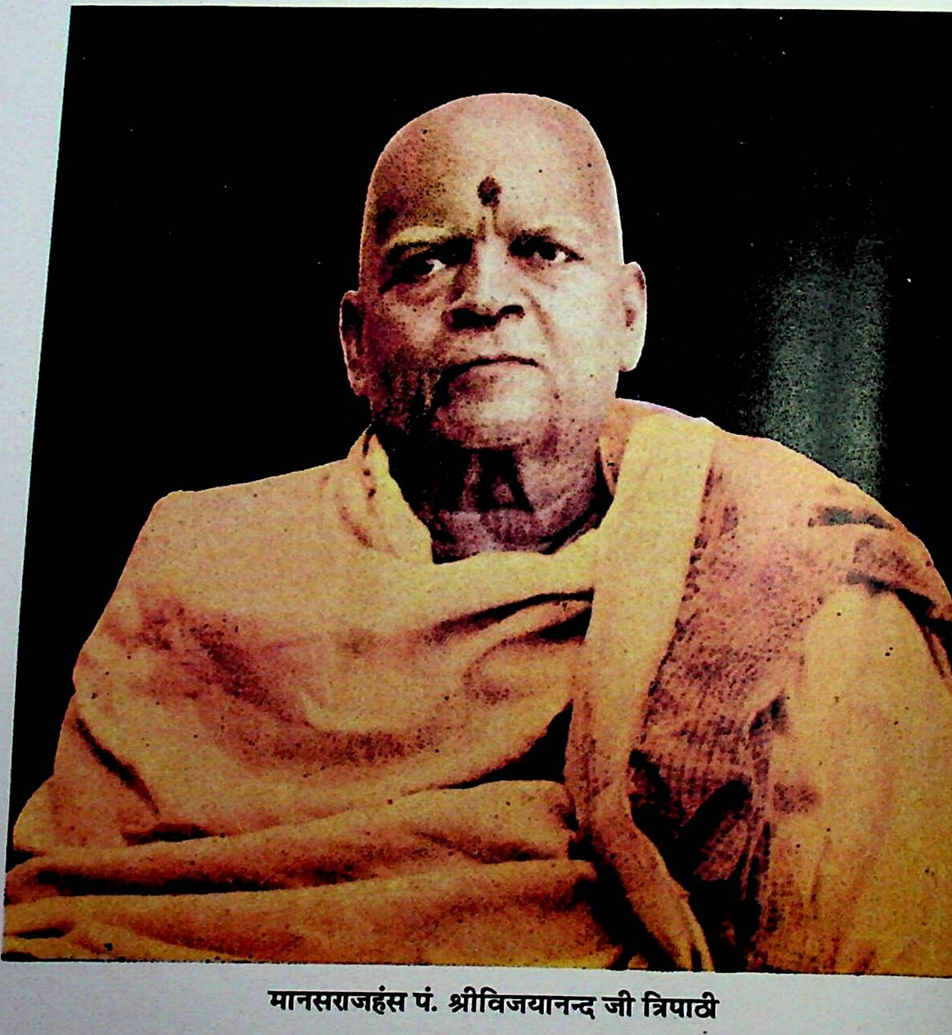

मानसराजहंस पं. श्रीविजयानन्द जी त्रिपाठी

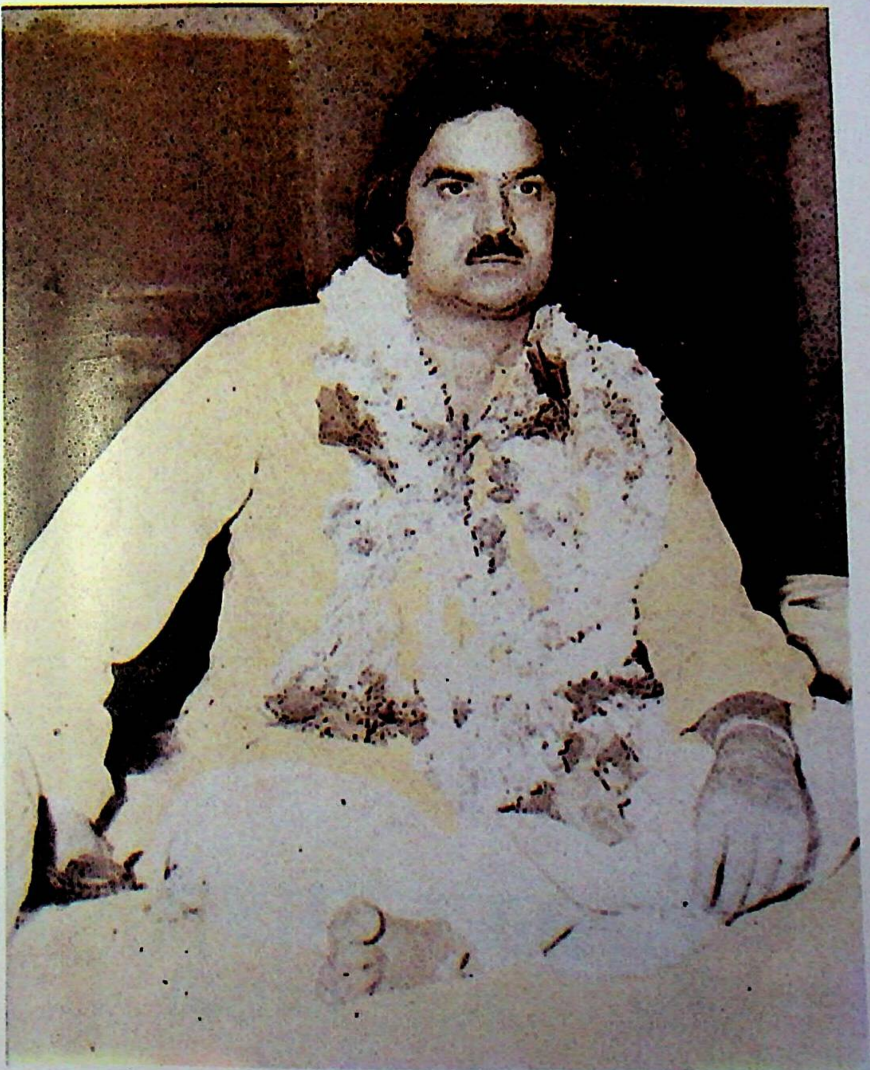

मानसराजहंस श्री विजयानन्द त्रिपाठी के प्रमुख शिष्य

डॉ. श्रीनाथ मिश्र रामायणी

श्री राम चरित मानस
विजया टीका

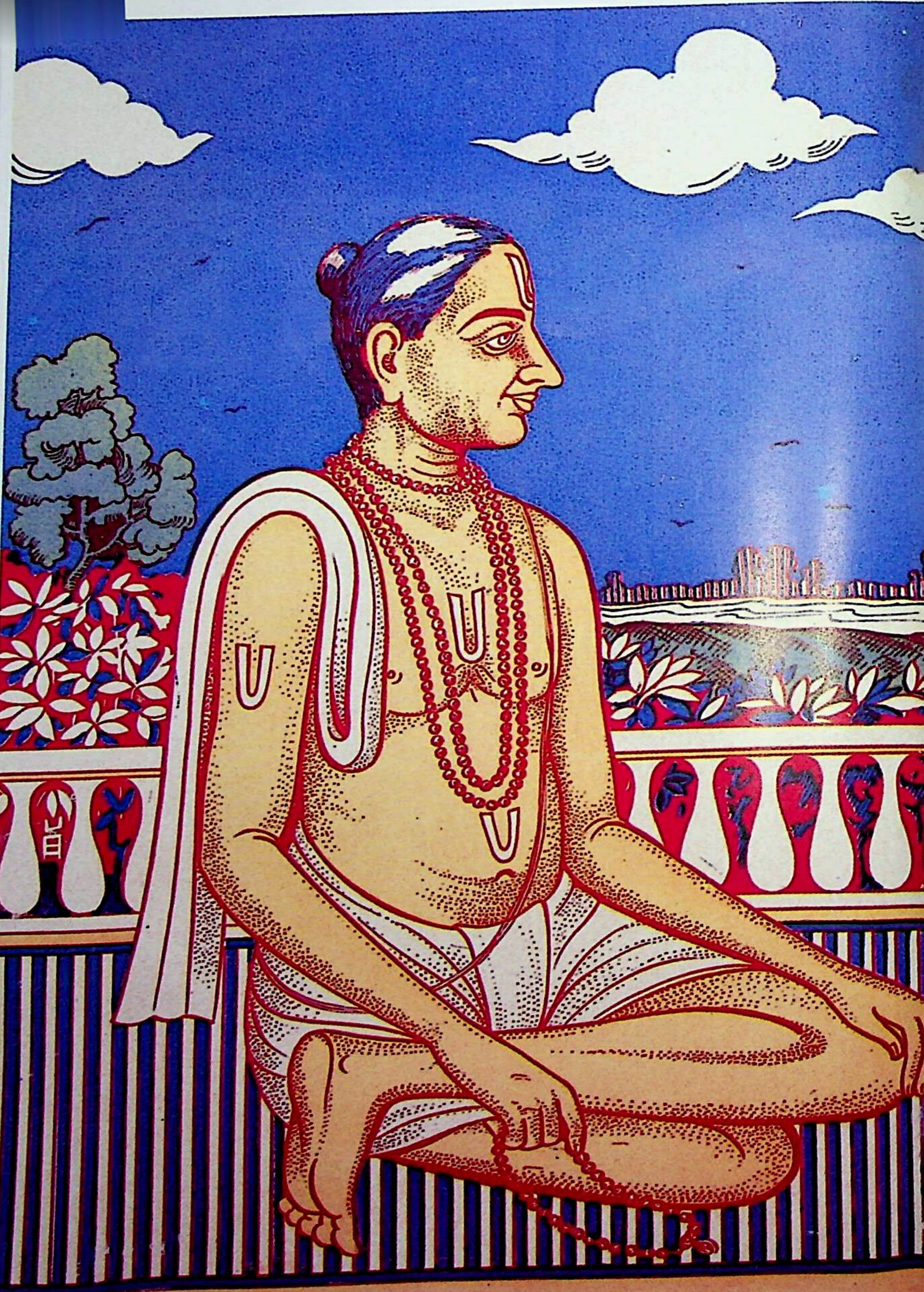

श्रीराम

श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरवे नमः

श्रीरामचरितमानस

बालकाण्ड : प्रथम सोपान

सटीक

मङ्गलाचरण

श्लो. वर्णानामर्थ[1] संघानां रसानां [1]छंदसामपि ।
[1]मंगलानां[1] च कर्तारौ [1]वंदे वाणीविनायकौ ॥१॥

जय गणेश गुरु गौरि हर, गिरा लखन श्रीराम ।
वन्दौं पद धरि धरणि शिर, पूरौ जनमनकाम ॥१॥
करत ग्रन्थ शुभ राखि उर, श्रीमारुति पदद्वंद ।
जाते जग नित होइ मुद, मंगल विजयानन्द ॥२॥
मातु तात श्री मङ्गला, सहित देव रघुवीर ।
वन्दि चरन मागौं हिये, जागौ भगति गँभीर ॥३॥
तुलसीदास के चरन युग, वंदौ बारंबार ।
जाते मानस-मरम में, होइ दृष्टि संचार ॥४॥
रामगुलाम आदि लै, पंडित रामकुमार ।
मानस के आचार्यगन, जेते टीकाकार ॥५॥
सब के पद वन्दन करौं, करम वचन अरु काय ।
करुनाकरि जन जानिमोहि, सब मिलि होउ सहाय ॥६॥
अवगाहत रघुपति चरित सरित मिटहि दुखद्वंद ।
मानस की टीका करत यह गुनि विजयानंद ॥७॥

अर्थ : अक्षरों के, अर्थसमूहों के, रसों के और छन्दों के भी : तथा : मङ्गलों के करनेवाली वाणी : सरस्वती : और : उनके आश्रय : विनायक : गणेश : की मैं वन्दना करता हूँ ।

---

[1] प्राकृत सूत्र है 'ङ, ञ, ण, नां व्यञ्जने' व्यञ्जन परे रहते 'ङ ञ ण और न' का अनुस्वार हो जाता है । इस नियम से सङ्घ, छन्द, मङ्गलानाञ्च और वन्दे का क्रम से संघ, छंद, मंगलानां च और वंदे रूप हो गया ।

व्याख्या : श्रीगोस्वामी जी ने मगण से ग्रन्थारम्भ किया। मगण में तीन गुरु होते हैं। यहाँ वर्, णा, नाम् ये तीनों गुरु हैं। इसका फल है श्री का विस्तार। यथा : मो भूमिः श्रियमातनोति।

ग्रन्थारम्भ 'व'कार से किया तथा ग्रन्थ की समाप्ति भी 'व' से की है। 'व' जलतत्त्व है। भाव यह कि यह रामचरित मानस प्रेमाम्बु से पूर्ण है।

विना चार कृपा के किसी का कल्याण नहीं होता। १. शास्त्रकृपा २. ईश्वरकृपा ३. गुरुकृपा और ४. आत्मकृपा। श्रीगोस्वामीजी क्रम से चारों श्लोकों में चारों कृपाओं कों लक्ष्य करके वन्दना करते हैं। पहिले ही शास्त्रकृपा के लिए वाणी विनायक की वन्दना की है।

पद, पदार्थ, रस और छन्द से काव्य में काम पड़ता है। यथा : आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबन्ध अनेक विधाना, भाव भेद रस भेद अपारा। और मङ्गल, काव्य का प्रयोजन है। अतः पहिले ही इनके कर्ताओं की वन्दना करते हैं। सरस्वती वाक् हैं और गणेश जी वाङ्मय हैं, यथा : 'त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः' इति श्रुतिः। अतः दोनों में स्वभावसाम्य[1] है। दोनों रामोपासक हैं। गणेशजी नाम-प्रभाव से प्रथम पूज्य हुए और वाणी : सरस्वती : रामचरित सर में स्नान करने के लिए भक्त के स्मरण करने पर ब्रह्मलोक से दौड़ती हुई आती हैं। अतः दोनों रामभक्त हैं। दोनों मङ्गल के कर्ता हैं। यथा : मङ्गलं दिशतु नो विनायको मङ्गलं दिशतु नः सरस्वती। इति श्रुतिः। अतः दोनों की साथ ही वन्दना ग्रन्थ के आरम्भ में की गई। इनकी कृपा से ही शास्त्रकृपा होगी। वर्णों की संख्या में अनेक मत हैं, कोई छत्तीस, कोई बयालीस और कोई पचास वर्ण मानते हैं परन्तु मौलिक भेद नहीं है। यहाँ वर्णों से पद का अभिप्राय है। पदार्थ सात हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। रस नौ हैं : शृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। भक्तलोग तीन रस और मानते हैं : सख्य, वात्सल्य और दास्य। छन्द प्रबन्ध के अनेक विधान हैं। काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, वे ही मङ्गल हैं, यथा :

> एक लहैं तपपुंजन को फल, ज्यौं तुलसी अरु सूर गोसाईं।
> एक लहैं सुख संपति केसव, भूषन ज्यौं बलवीर बड़ाईं॥
> एकन को जस ही से प्रयोजन, है रसखान रहीम की नाईं।
> दास कवित्तन की चरचा, बुधिवन्तन को सुख दै सबठाईं॥

काव्यनिर्णये

इस प्रथम श्लोक का अनुष्टुप् छन्द है। इसमें ८ अक्षरों का एक पाद होता है, चारों पादों में पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा गुरु होता है, दूसरे और चौथे पाद में सातवाँ अक्षर लघु होता है।

---

[1] गणपति सहस्रहोम पद्धति में गणपतिपरक निम्नलिखित मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं : पञ्चाशन्मात्रिकालयाय स्वाहा। सप्तछन्दोनिधये नमः स्वाहा। सरस्वत्याश्रयाय नमः स्वाहा। गद्यपद्यसुधार्णवाय नमः स्वाहा। अष्टादशलिपिव्यष्टिसमष्टिज्ञानकोविदाय नमः स्वाहा। इत्यादि।

[1]श्लो. भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरं[2] ॥२॥

अर्थ : भवानी और शङ्कर : दोनों : की वन्दना करता हूँ, जो श्रद्धा और विश्वास के रूप हैं जिनके विना सिद्ध लोग, अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देखते ।

व्याख्या : श्रद्धा और विश्वास में नाममात्र का भेद है, वस्तु एक ही है । इसी भाँति भवानी और शङ्कर में नाम का भेद है, तत्त्व एक ही है । वे वाक् और अर्थ की भाँति मिले हुए हैं । यथा : वागर्थाविव सम्पृक्तौ । सिद्ध लोगों ने दुष्प्राप्य अणिमादिक सिद्धि प्राप्त कर ली, पर वे अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर सके । इसका कारण श्रद्धा और विश्वास का अभाव है, श्रद्धारूपिणी भवानी है और विश्वासरूपी शङ्कर हैं । यथा : या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता । नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः । अर्थ : जो देवी सब प्राणियों में श्रद्धारूप से विराजमान हैं, उन्हें बार बार नमस्कार है । श्रद्धा विना धर्म नहि होई । विनु महि गंध कि पावै कोई । कवनिउ सिद्धि कि विनु विस्वासा । विनु विस्वास भगति नहि तेहि विनु द्रवहिं न राम । इस प्रकार से श्रद्धा-विश्वास की अनिवार्य उपयोगिता श्री गोस्वामीजीने दिखलाई है । ईश्वर अन्तर्यामी सबके हृदय में निवास करते हैं, परन्तु जीव उन्हें अपने हृदय में ढूँढने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि उसे इस विषय में श्रद्धा-विश्वास नहीं है । जब ढूँढता ही नहीं तब पावेगा कैसे ? सो कृपा करके जब भवानी और शङ्कर, जो कि हृत्कमल : अनाहत चक्र : के अधिष्ठाता हैं, श्रद्धा-विश्वास रूप में आविर्भूत हों तब ईश्वर का दर्शन सम्भव है । ईश्वर तभी दर्शन देंगे जब श्रद्धाविश्वासरूपी भवानीशङ्कर कृपा करें । अतः श्रीगोस्वामीजी उनकी वन्दना करते हैं, जिसमें उनकी कृपा से ईश्वरकृपा का लाभ हो सके । इस दूसरे श्लोक का भी अनुष्टुप् छन्द है ।

श्लो. वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं ।
यमाश्रितो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते ॥३॥

---

[1] यहाँ 'शङ्करौ, वन्दे, पश्यन्ति', का तद्भवरूप 'शंकरौ, वंदे और पश्यंति' क्रम से हुआ । इसका नियम प्रथम श्लोक की व्याख्या में दिया हुआ है । इसी भाँति और स्थलों में समझ लेना चाहिए । प्रत्येक स्थान पर सूत्र देकर साधना असम्भव है । अतः यही निश्चय किया कि जो बात एक स्थल में दिखला दी गई, उसे बार बार दिखाने के लिए हम वाध्य नहीं हैं, पाठकों से आशा की जाती है कि एक बात को एक स्थल में समझ लेने पर दूसरे वैसे स्थलों पर भी उसी तरह लगा लेंगे ।

[2] इस श्लोक में नई बात यह आई कि कोई व्यञ्जन परे नहीं है, फिर भी ईश्वरम् का ईश्वरं रूप हो गया । यहाँ सूत्र लगा 'मो विन्दुः' : प्रा. प्र. ४-१२ : अन्त्यस्य हलो मकारस्य विन्दुर्भवति । अन्त के हल् मकार का विन्दु हो जाता है ।

अर्थ : मैं ज्ञानमय, नित्य, शङ्कररूपी गुरुदेव की वन्दना करता हूँ, जिनका आश्रित होकर ही टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है।

व्याख्या : मङ्गलाचरण करने और श्रद्धा विश्वास का आश्रयण करने पर भी गुरु के आश्रयण की आवश्यकता है। विना गुरु का आश्रयण किये शिष्य पूजित नहीं होता और ग्रन्थकार को साधु समाज में भणित के सम्मान की अभिलाषा है। यथा : होइ प्रसन्न देहु वरदानू। साधु समाज भनित सनमानू। गुरु शङ्कररूप हैं, यथा : गुरुर्देवो महेश्वरः। उन्हीं के आश्रयण से अतिक्षीण और टेढ़े द्वितीया के चन्द्र की वन्दना जगत् करता है, अतः ग्रन्थकार श्रीशङ्कर : कल्याणकर : रूपी गुरुदेव की वन्दना करके, आश्रय ग्रहण करते हैं, जिसमें कुटिल और क्षीणसामर्थ्य होने पर भी, जगत् में सम्मानभाजन हो सकें। मनुष्य का गुरु मनुष्य नहीं हो सकता, नित्य वोधमय शङ्कर ही सबके गुरु हैं : पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् : यो. सू.। तुम त्रिभुवनगुरु वेद वखाना। फिर जिस शरीर द्वारा शङ्कर भगवान् जीव का कल्याण करते हैं, उस शरीर की, शङ्कर की मूर्ति की भाँति वह जीव, पूजा क्यों न करे? इस तीसरे श्लोक का भी अनुष्टुप् छन्द है। इससे श्रीगोस्वामीजी ने गुरुकृपा चाही। श्रीगोस्वामीजी को आत्मकृपा प्राप्त है। यथा :

श्लो. सीतारामगुणग्राम - पुण्यारण्यविहारिणौ।
वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥४॥

अर्थ : सीता और राम के गुणगणरूपी पुण्यवन में विहार करनेवाले और विशुद्ध विज्ञानवाले कवीश्वर : वाल्मीकि : और कपीश्वर : हनुमानजी : की वन्दना करता हूँ।

व्याख्या : सीता और राम के गुणगणों को दुर्गम और दुष्पार होने से अरण्य कहा, दिव्य होने से पुण्यारण्य कहा। अरण्य : वन : के मर्मज्ञ के विना वन्य पदार्थों के हेतु, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव का न पता चले और न यात्रा ही हो सके यथा : पुन्य जलाश्रय भूमि विभागा। खग मृग तरु तृन गिरि वन वागा। चारु विचित्र पवित्र विसेषी। बूझत भरत दिव्य सब देखी। सुनि मनमुदित कहत रिषि राऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ। सो इस पुण्यारण्य के दो बड़े जानकार हैं। एक तो माधुर्यप्रधान कवीश्वर : [1]वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः। शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम्। वंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ। सखर सकोमल मंजु दोषरहित दूषनसहित। और दूसरे ऐश्वर्यप्रधान कपीश्वर : [2]रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्। महा नाटक निपुन कोटि कविकुलतिलक। अतः श्रीसीताराम-गुणग्रामरूपी पुण्यारण्य की जानकारी के लिए दोनों की वन्दना करते हैं। कपि समाज को हनुमानजी प्राण के समान प्यारे हैं! यथा : मिले सकल अति भये सुखारी।

---

[1] कविता वन में विचरण करनेवाले मुनिसिंह के रामकथानाद को सुनकर कौन परागति को नहीं प्राप्त होता।

[2] रामायणमहामाला के रत्न हनुमानजी की मैं वन्दना करता हूँ।

तलफत मीन पाव जिमि वारी। इसलिए कपीश्वर कहा। सीताराम गुणग्राम के परिचय से ही सारा कल्याण सधता है। यथा : जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धर्म धाम के। सद्गुरु ग्यान विराग जोग के। विबुध वैद भव भीम रोग के।

श्लो. उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभां ॥५॥

अर्थ : उत्पत्ति, स्थिति, संहार करनेवाली, क्लेशों को हरण करनेवाली तथा सम्पूर्ण कल्याणों की करनेवाली, राम की प्यारी सीताजी की मैं वन्दना करता हूँ।

व्याख्या : जिनके गुणग्राम से परिचय प्राप्ति के लिए कवीश्वर कपीश्वर की वन्दना की, अब उन्हीं गुणी श्रीसीताराम की वन्दना करते हैं। सीताजी आद्या शक्ति हैं। अतः उत्पत्ति, स्थिति और लय इन्हींका कार्य है। यथा : आदि शक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोरि यह माया। क्लेश पाँच हैं : अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः, यो. सू.। [1]अविद्या, [2]अस्मिता, [3]राग, [4]द्वेष और [5]अभिनिवेश। श्रीसीताजी इन पाँचों क्लेशों की हरण करनेवाली हैं। लौकिक और पार लौकिक सब कल्याणों की करनेवाली हैं। रामजी की प्यारी हैं। इनके वचनसहाय से ही भवसन्तरण सम्भव है। यथा :

कबहुक अम्ब अवसर पाइ।
मेरिऊ सुधि द्याइबी कछु, करुन कथा चलाइ।
जानकी जग जननि जन की, किये बचन सहाइ।
तरइ तुलसीदास भव तव, नाथ गुन गन गाइ।। विनय

सीता नाम का उल्लेख करके हल की रेखा से उत्पन्न, अयोनिजा, वेदप्रतिपादित आह्लादिनी शक्ति कहा। बच्चे स्वभाव से ही पिता को अनुकूलता के लिए माँ को साधन बनाते हैं। इसलिए ग्रन्थकार सीताजी की वन्दना करते हैं।

श्लो. यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां
वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं ॥६॥

अर्थ : जिसकी माया के वश में समस्त संसार, ब्रह्मादिक देवता और असुर हैं, जिसकी सत्ता से रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति सम्पूर्ण जगत् सच्चा ही प्रतीत होता है और जिसका चरण ही संसार समुद्र का पार चाहनेवालों के लिए एकमात्र नौका है। उस समस्त कारणों से परे राम नामवाले ईश हरि की मैं वन्दना करता हूँ।

---

१. अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का भान होना अविद्या है। २. दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति की एकात्मता अस्मिता है। ३. सुख का अनुस्मरण करते हुए सुख के साधनों में तृष्णा राग कहलाती है। ४. दुःख का अनुस्मरण करते हुए दुःख के साधनों के प्रति क्रोध को द्वेष कहते हैं। ५. मरण के भय को अभिनिवेश कहते हैं।

व्याख्या : इस श्लोक में ग्रन्थकार ने हरि के १. माया का प्रभाव २. सत्ता का प्रभाव ३. चरण का प्रभाव और ४. स्वरूपवर्णन क्रम से चारों चरणों में किया है। पहिले माया का प्रभाव कहते हैं :

१. ब्रह्मादि सुर और असुर भी उसके वशवर्त्ती हैं। यथा : हरिमाया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी। नारद भव विरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमवादी। मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जगकाम नचाव न जेही। जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा। इस भाँति माया को अघटितघटनापटीयसी कहा। श्रीहरि के बल से वह सब कुछ करती है, उसे निज बल कुछ नहीं है। अतः माथा के बल के वर्णन द्वारा श्रीहरि का ही वर्णन है। यथा : एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके।

२. उस हरि की सत्ता ऐसी है कि सम्पूर्ण संसार उसकी सत्ता से सत्तावान है। जिस भाँति रस्सी की सत्ता से सर्प की सत्ता की प्रतीति होती है। मन्दान्धकार में पड़ी हुई रस्सी सर्प मालूम होती है। इसी भाँति श्रीहरि में संसार की प्रतीति हो रही है। श्रीहरि के स्वरूप में विकार नहीं आया और संसार की रचना हो गई। यथा : रजत सीप मह भास जिमि, यथा भानुकरबारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।

३. उस हरिका चरण ही संसार-सागर के पार जाना चाहनेवाले के लिए नौकारूप है, अन्य साधन फेन हैं। नौका की भाँति वे भी संसार-सागर के ऊपर दिखाई पड़ते हैं पर आश्रय योग्य नहीं हैं। यथा : महा मोह सरिता अपार मह संतत फिरत बह्यौ। श्रीरघुबीर चरन नौका तजि फिरि फिरि फेन गह्यौ।

४. अब उनका स्वरूप कहते हैं कि वे अशेष कारणों से परे हैं, अर्थात् कार्य-कारण की श्रृंखला वहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। अर्थात् वह प्रभु, माया और उसके घेरा के बाहर हैं। यथा : फिरत सदा माया कर प्रेरा। कालकर्म सुभाव गुन घेरा। जिस घेरे के कारण जीव बँधा हुआ फिरता है। यहाँ श्रीग्रन्थकार, श्रीहरि के रामावतार की वन्दना करते हैं। क्योंकि वे ही श्रीग्रन्थकार के इष्टदेव हैं और उन्हीं का चरित वर्णन करना है।

इस छठे श्लोक का शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इसमें १९ अक्षरों का एक पाद होता है। बारह अक्षर पर एक यति : विराम : होती है। इसमें एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण दो तगण और अन्त में एक गुरु होता है SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, SSI, S।

श्लो. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥७

अर्थ : जो नाना पुराण, वेद तथा तन्त्र : शास्त्र : से सम्मत है वही इस रामायण में कहा गया है और कहीं अन्यत्र से भी लिया गया है। अपने अन्तःकरण के सुख के लिए तुलसीदास श्रीरघुनाथ की कथा का भाषा में अति सुन्दर निबन्ध विस्तृत करता है।

व्याख्या : प्रायेण यही बात ग्रन्थकार ने 'रामायण' जो की आरती में कही है। यथा : गावत वेद पुराण अष्टदस। छवो शास्त्र सब ग्रंथन को रस। मुनिजन धन संतन को सर्वस। सार अंस सम्मत सबही की। 'क्वचिदन्यतोऽपि' से सब ग्रन्थ, काव्य, नाटकादि का रस तथा महात्माओं का अनुभव भी अभिप्रेत है। संस्कृत में मङ्गलाचरणपूर्वक संकल्प करते हैं, कि मैं भाषा में निबन्ध करता हूँ। भाषा से अभिप्राय प्राकृत भाषा का है। यथा : जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन हरि चरित वखाने। लौकिक : प्राकृत : भाषा में तत्समरूप से संस्कृत का भी ग्रहण है। यथा : तद्भवः[1] तत्समो देशीत्यनेकप्राकृतक्रमः। भाषा का लक्षण कहते हुए काव्य निर्णयकार लिखते हैं :

व्रजभाषा भाषारुचिर, कहै सुमति सव कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगटी होय।।
व्रजमागधी मिलै अमर, नागयमनभाषानि।
सहज पारिसीहू मिले षट्विधि कवित वखानि।।
तुलसी गंग दोऊ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।।

सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा गया है 'नाल्पवुद्धेपु संस्कृतम्' अर्थात् सस्कृत अल्प बोधवालों के लिए नहीं है। रसिकों का मत है कि 'संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंशभाषणम्' संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और उससे भी अपभ्रंश श्रेष्ठ है। अपभ्रंशस्तुयच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। देशोद्भव वाणी अपभ्रंश कहलाती है। उसकी भी वहुतायत इस भाषा निबन्ध में है। इसीलिए लिखते हैं कि 'अतिमंजुलमातनोति' तुलसीदास अति सुन्दर विस्तृत करता है। प्रयोजन कहते हैं 'स्वान्तः सुखाय' सो सिद्ध हुआ यथा : पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ। इन सातों श्लोकों में क्रमशः सातों काण्डों की कथाओं के वीज हैं। प्रथम श्लोक से वर्ण, रस, छन्द और मङ्गल का उल्लेख करके, प्रभु का अक्षर ग्रहण, विश्वविजय, रङ्गभूमि में अखिल रसामृतमूर्ति का प्रदर्शन, विवाहविधि आदि मङ्गलों का होना सूचित किया। दूसरे श्लोक से श्रद्धा विश्वास का उल्लेख करते हुए, प्रजा के साथ चक्रवर्तीजी का रामजी पर श्रद्धा विश्वास और रामजी का श्रीचक्रवर्तीजो, वशिष्ठजी और भरतलाल आदि पर श्रद्धाविश्वास तथा श्रीभरतजी, लक्ष्मणजी आदि का श्रीरामजी पर श्रद्धाविश्वास सूचित किया। तीसरे श्लोक से शङ्कररूप गुरु का उल्लेख करते

---

[1] तद्भव, तत्सम और देशी, इस भाँति अनेक प्राकृत क्रम हैं। तत्सम उसे कहते हैं जहाँ शुद्ध संस्कृत शब्द या वाक्य का प्रयोग हो। जो शब्द संस्कृत से निकला हो उसे तद्भव कहते हैं, यथा : सीता से सीया। अनेक देश की भाषा के शब्दों को देशोद्भव कहते हैं, यथा : नेव : लेव : तिरहुत की बोली है, धुवा : मृतक शरीर : बुंदेलखण्ड की बोली है, म्हाको : मेरा : जयपुर की बोली है, काठे : तीर : दक्षिणी भाषा है, राउर : मन्दिर : उदयपुर की बोली है, असा : ऐसा : दक्षिणी भाषा है, आउज : ताशा : अरब देश की भाषा है, इत्यादि।

हुए अगस्त्य जी से मन्त्रग्रहण तथा ब्रह्मकुल में निवास सूचित किया। चौथे श्लोक से कवीश्वर और कपीश्वर का उल्लेख करके कोटिकविकुलतिलक हनुमान जी और सुग्रीव जी से भेंट होना सूचित किया। पाँचवें श्लोक से सीता जी का उल्लेख करते हुए, उनकी सुधि का मिलना सूचित किया। छठें श्लोक से संसार सन्तरण का उल्लेख करते हुए विरोधी समाज : रावणादि : का संसार सन्तरण सूचित किया। सातवें श्लोक से नानापुराणनिगमागम का उल्लेख करते हुए, धर्म के चारों चरणों से युक्त रामराज्य तथा सिद्धान्त निरूपण सूचित किया।

इस सातवें श्लोक का वसन्ततिलका छन्द है। इसमें १४ अक्षरों का एक पाद होता है और उसमें एक तगण, एक भगण, दो जगण और अन्त में दो गुरु होते हैं। ऽऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽऽ

सुरवन्दना

सो. जेहि सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवरवदन।
करौ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभगुनसदन ॥१॥

अर्थ : जिनके स्मरण मात्र से सिद्धि होती है, जिनका मुख श्रेष्ठ हाथी का सा है, वे ही बुद्धि की राशि और शुभगुणों के घर गणनायक अनुग्रह करो।

व्याख्या : आगे चलकर वह रूपक मिलेगा, जिसमें रामचरित को सर माना है, छन्द सोरठा और दोहा को उस सरका कमल तथा चौपाइयों को पुरइन : कमल की लता : माना है। इस ग्रन्थ के लगाने का रहस्य इसी कमल और पुरइन की जानकारी में भरा पड़ा है। कौन सा कमल किस पुरइन से निकला है, इस बात के विना जाने किस छन्द, सोरठा और दोहा का किस चौपाई से सम्बन्ध है, इस बात का पता नहीं चलता और सम्बन्ध विना जाने अभ्रान्त अर्थ हो नहीं सकता। तालाव में की पुरइन कहीं तो वहीं पर फूल दे देती है और कहीं भीतर दूर जाकर फूल देती है, कहीं दूसरी-दूसरी पुरइनों से उलझती चली जाती है। अर्थ करनेवालों को इसकी जानकारी की बड़ी आवश्यकता है। स्थान स्थान पर यथाशक्ति इसे दिखाने का प्रयत्न किया जायगा।

यथा : इन चार सोरठों : कमलों : की पुरइन अयोध्या काण्ड से आई है। इसी बात को दिखलाने के लिए कवि ने इन सोरठाओं में 'वन्दौं' पद नहीं दिया, किसी में वन्द्य का नाम भी नहीं है। इन त्रुटियों की पूर्ति टीकाकारों को अन्दाज से करनी पड़ती है। इससे मतभेद भी होता है और अर्थ में संशय रह ही जाता है। अवधवासियों की उपासना का नियम है कि पञ्चदेव की उपासना करके उनसे रामभक्ति माँगते हैं। तदनुसार चित्रकूट प्रकरण में पुरवासी पञ्चदेव का पूजन करते हैं और विनय करते हैं। यथा : करि मज्जन पूजहिं नरनारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी। रमा रमन पद वंदि वहोरी। विनवहिं अंजुलि अंचल जोरी। श्रीगोस्वामीजी की भी अवध वासियोंवाली उपासना है। अतः ये भी पञ्चदेव की अञ्जलि जोड़कर वन्दना करते हैं। वन्दना यहाँ पर पुरइन से ली जायगी तथा जहाँ वन्द्य का नाम नहीं है, उनकी

पहिचान भी इसी पुरइन : चौपाई : से होगी। यह पुरइन अयोध्याकाण्ड से भीतर ही भीतर चली आई है और इसने चार फूल वालकाण्ड के आदि में दिये। उनमें से पहिला यह है।

गणनायक वहुत हैं, इसलिए करिवरवदन विशेषण देकर उनकी प्रधानता दिखलाई। ये ऐसे दयालु हैं कि विना करणी-करतूत के केवल स्मरणमात्र से कृपा करते हैं, इसीलिए 'अनुग्रह' पद दिया। श्रीग्रन्थकार को अपने वुद्धिवल का भरोसा नहीं है। यथा : निज वुधिवल भरोस मोहि नाहीं। सकल कला सब विद्या हीनू। इसलिए वुद्धिराशि शुभगुणसदन गणनायक के चरणों की वन्दना करके साञ्जलि होकर अनुग्रह के लिए विनय करते हैं, जिससे रघुपति की अथाह गुणगाथा के वर्णन की सिद्धि प्राप्त हो।

वुद्धिमान् को यदि शुभ गुण न हो तो वह वुद्धि अनर्थकारिणी होती है, अतः 'वुद्धि राशि शुभगुन सदन' कहकर 'मुद मंगल दाता' कहा, गणनायक कहकर प्रभुता द्योतित की और 'जेहि सुमिरत सिधि होय' कहकर 'वरदायक देव' वतलाया। सोरठा छन्द से ही बालकाण्ड प्रारम्भ करके सोरठा से ही समाप्ति की, क्योंकि इसमें मात्राओं का वृद्धिक्रम है।

यह सोरठा छन्द है। इसके प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। पहिले और तीसरे चरणों में ११ मात्राएँ और दूसरे तथा चौथे चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं। इसके सम चरणों में जगण ।ऽ। का निषेध है, और उनके आदि के त्रिकल के पश्चात् दो गुरु नहीं आते। 'णो नः' प्रा. प्र. १०.५। इस सूत्र से गणनायक के ण को न हो गया और गणनायक रूप सिद्ध हुआ।

सो. मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवरगहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमलदहन ॥२॥

अर्थ : जिनकी कृपा से गूंगा अच्छी तरह से वोलने लगता है और लंगड़ा दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है, वे कलियुग के सब पापों के जलानेवाले दयालु कृपा करें।

व्याख्या : यहाँ वन्द्य का नाम ही नहीं है। अतः गुणों से तथा पुरइन के बल से वन्द्य का ग्रहण करना है। मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लंघयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानंदमाधवम्। सो यहाँ : आदित्यानामहं विष्णुः विष्णु नामक आदित्य की वन्दना है। मनुष्य मूक और पङ्गु रूप ही उत्पन्न होता है। दिन-रात करनेवाले, छः ऋतु बनानेवाले, काल के नियामक सूर्य नारायण की कृपा से, समय पाकर मनुष्य वाचाल और गिरिलंघन में समर्थ होता है, परिशेष न्याय से भी आदित्य का हो होना प्राप्त है। विनय में इनका स्तवन 'दलन दोष दुख दुरितरुजाली' कहकर किया गया है। यह तमारि द्युलोक की अग्नि हैं, काल और कर्म के प्रवर्तक हैं, कलिमल के जलानेवाले हैं। ग्रन्थकार कलिमलग्रसित प्राणियों में अपनी प्रथम श्रेणी समझते हैं। यथा : जे जनमे कलिकाल कराला। करतब वायस वेष मराला। चलत कुपंथ वेद मग छाड़े। कपट कलेवर कलिमल माँड़े। तिनमह प्रथम रेख जग मोरी। अतः कलिमलदहन : आदित्य : की वन्दना करके कृपा चाहते हैं।

सो. नीलसरोरुहस्याम तरुन अरुन वारिजनयन ।
करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन ।।३।।

अर्थ : जो नील कमल के समान श्याम हैं, जिनके नेत्र खिले हुए लाल कमल के समान हैं, जो सदा क्षीरसागर में शयन करते हैं, वे मेरे हृदय में निवास करें ।

व्याख्या : यह रमारमण[1] की वन्दना है । इन्हें हृदय में धाम करने के लिए कर सम्पुटित करके वन्दना और प्रार्थना करते हैं । ये सदा योगनिद्रा में रहते हैं, यदि आजायँ तो सदा हृदय में बने रहें । ये रमारमण, द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, सहस्रभुज सब कुछ हैं । अतः द्विभुज, चतुर्भुज का झगड़ा छेड़ना व्यर्थ है । इनका रामरूप से सर्वात्मना अभेद है । यथा : पयपयोधि तजि अवध विहाई । जहँ सिय राम लखन रहे आई । जयराम रमारमनं समनं । इत्यादि : द्वि चत्वारिषडष्टाऽऽसां दश द्वादश षोडश । अष्टादशामी कथिता हस्ताः शंखादिभिर्युताः । सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना । रामतापनीये । दो, चार, छ, आठ, दश, बारह, सोलह तथा अठारह हाथ शंखादि से युक्त कहे गये हैं । सहस्र भुजाएँ भी मानी गई हैं । इसी भाँति वर्ण और वाहन की कल्पना है । श्यामस्वरूप स्वभाव से ही सोहावन, मङ्गलमय तथा अतिपावन-पावन हैं, अरुण वारिज नयन, प्रणत भय मोचन हैं, यथा :

स्याम सरूप सुभाय सोहावन । मंगलमय अति पावन पावन[2] ।।
भुजप्रलंब कंजारुनलोचन । स्यामलगात प्रनत भय मोचन ।।

इस रूप और रामरूप में एकदम अभेद है । इसलिए ग्रन्थकार हृदय में वसाना चाहते हैं । 'शषोः सः' प्रा. प्र. २.४३ से शकार का सकार आदेश हुआ । श्याम शब्द का रूप स्याम हो गया ।

सो. कुंद इंदु सम देह उमारमन करुनाअयन ।
जाहि दीनपर नेह करौ कृपा मर्दन मयन ।।४।।

अर्थ : कुन्द और चन्द्र के समान शरीरवाले, उमा के पति, करुणा के घर जिनकी दीनजनों पर प्रीति रहती है, सो काम के मर्दन करनेवाले कृपा करो ।

व्याख्या : यह अर्धनारीश्वर[3] शिवजी की वन्दना है, इसलिए कुंद इंदु सम देह कहा । कुंद की भाँति उज्ज्वल, मृदु और सुगन्धित उमा की देह और इन्दु की भाँति उज्ज्वल और अमृतस्रावी शङ्कर भगवान् की देह है । करुणा के तो मानो घर ही हैं, दीनजन को हाथ जोड़े देख नहीं सकते । यथा : औढरदानि द्रवत पुनि थोरे । सकत न देखि दीन कर जोरे । मदन के मर्दन करनेवाले हैं । इनकी कृपा होने से काम की वाधा न होगी । जगदम्बिका भी करुणाअयन तथा मर्दनमयन हैं, यथा :

---

[1] 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।' भागवत । ये ही नाना अवतारों के निधान अव्यय बीज हैं ।

[2] स्याम सरीर सुभायँ सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन । यह पाठ भी मिलता है । इसके अनुरूप अर्थ कर लेना चाहिए ।

[3] अजा अनादि शक्ति अविनाशिनि । सदा संभु अरधंग निवासिनि ।

करुणातरंगिनी कृपातरंगमालिके : क० रामा० ।
हमरे जान सदाशिव योगी । अज अनवद्य अकाम अभोगी ।।
जौ मैं शिव सेएउं अस जानी । प्रीति समेत करम मन बानी ।।
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा । करिहैं सत्य कृपा निधि ईसा ।।

इस भाँति गौरीत्रिपुरारि की वन्दना हुई । पञ्चदेव की वन्दना करके गुरुदेव को वन्दना करते हैं :

सो. वंदौं गुरपद कंज, कृपासिंधु नररूप हर ।
महामोह तमपुंज, जासु वचन रविकरनिकर ।।५।।

अर्थ : मैं गुरु जी के चरण कमलों की वन्दना करता हूँ, जो कृपा समुद्र और नर रूप में हर हैं । महा मोहरूपी अन्धकार के समूह के लिए जिनके वचन सूर्य की किरणों के समान हैं ।

व्याख्या : इस सोरठा में 'वन्दौं' स्पष्ट कहा, अतः उस पुरइन का यह सोरठा : कमल नहीं हैं । यहाँ पुरइन सन्निकट है 'वन्दौं गुरुपदपदुम परागा' । बहुत लोग यहाँ 'हरि' पाठ मानते हैं, हरि और हर में कोई भेद नहीं है । कहा है 'उभयोः प्रकृति एका प्रत्ययभेदात्पृथग्वत् भाति । कलयति कश्चिन्मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्' दोनों की प्रकृति एक है । प्रत्यय भेद से अलग की भाँति मालूम होते हैं । कोई मूढ ही हरिहर में भेद विनाशास्त्र की सम्मति के मानता है । अथवा हरिहर भेदरूपी विनाश के अस्त्र को स्वीकार करता है । यहाँ तुकान्त के ध्यान से तथा प्रसङ्गार्थ के विचार से 'हर' पाठ माना गया है । गुरुजी नररूप में साक्षात् कृपासिन्धु हर हैं । यथा : वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् । शंकर भगवान् ने स्वयं कहा है 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रमतम रविकर वचन मम' यहाँ भी ठीक वही बात कह रहे हैं 'महामोह तमपुंज जासु वचन रविकर निकर' । इस विशेषण से गुरु शब्द का अर्थ भी कह दिया । यथा : गुकारस्त्वन्धकारस्तु रुकारस्तु निरोधकः । 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' उसका रोकनेवाला है ।

यहाँ गुरु के लिए गुर शब्द आया है । यह अशुद्ध नहीं है । 'अन्मुकुटादिषु' प्राकृत प्रकाश का एक सूत्र है । इससे उकार का अकार हो गया ।

वंदौ गुर पद पदुम परागा । सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ।।
अमिअ मूरिमय चूरनु चारू । समन सकल भव रुज परिवारू ।।१।।

अर्थ : गुरु चरण कमल की धूलि की वन्दना करता हूँ, जो स्वाद से सुन्दर, गन्ध से सुन्दर और अनुराग से सरस है । अमृतमय जड़ी : सञ्जीवनी बूटी : का सुन्दर चूर्ण है, संसार के रोगों के परिवार को दूर करनेवाला है ।

व्याख्या : पराग : पुष्प की धूलि : में तीन गुण होते हैं । १. सुरुचि २. सुवास और ३. सरसता । रुचि स्वाद को कहते हैं । यथा : सुचि सुरसरि रुचि निदरि सुधाहू । और वास गन्ध को कहते हैं । मकरन्द के कारण पराग में स्वाद, गन्ध और रस का प्रवेश होता है । चरण कमल की मकरन्द अनुराग है । यथा : पदकमल

परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करैं पाना। इसी कारण गुरुपदरज में सुरुचि सुवास और सरसता है।

अमिअ मूरि : अमृतमय बूटी : कहकर 'स्वाद' कहा। अमिअ मूरि चूर्ण से शारीरिक रोग के परिवार का नाश होता है और इस परागरूपी चूर्ण से भवरोग : मानस रोग : के परिवार का नाश कहते हैं। यह श्रीरामचरितमानस मानस चिकित्सा का अपूर्व ग्रन्थ है। यथा : भवभेषज रघुनाथ जस। इसलिए पहिले चूर्ण का ही निरूपण किया। निदान प्रकरण उत्तरकाण्ड में है। यथा : 'मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि ते पुनि उपजै बहु सूला।' से लेकर 'एक व्याधि वस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि। पीडहिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि।' तक। समाधि अवस्था ही स्वस्थावस्था है। इस अमिअ मूरिमय चूर्णरूपी गुरुपद पद्मपराग के सेवन से स्वास्थ्य लाभ होता है। मानसरोग की शान्ति के लिए औषधि भी मानसिक ही होनी चाहिए। अतः यह पराग भी मानसिक ही है। इससे सम्पूर्ण भवरोग नष्ट होते हैं।

यह चौपाई छन्द है, इसी को पुरइन कहा है, छन्द, सोरठा, दोहा इसीके कमल हैं। इस चौपाई छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं और अन्त में जगण ISI या तगण SSI नहीं आते। जैसे 'वंदौं गुरुपद पदुम परागा' में SSIIIIIIIISS सोलह मात्राएँ आईं। यहाँ चूर्ण के लिए 'चूरनु' शब्द आया है। विप्रकर्षः प्रा० प्र० ३.५९ इस सूत्र से चूर्ण का चूरन रूप हुआ। 'उच्च स्वमोः' इस सूत्र से प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में अन्त्य अकार को 'उ' आदेश होता है। सो चूर्ण का चूरनु हो गया। 'इदृष्यादिषु' प्रा० प्र० १.२८ तथा 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' प्रा० प्र० २.२ इन सूत्रों से अमृत का अमिअ रूप हुआ।

सुकृत संभुतन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलकु गुनगन वस करनी॥२॥

अर्थ : यह पुण्यरूपी शम्भु के शरीर के लिए निर्मल विभूति है और सुन्दर मङ्गल मोद की जननी है, जन के मन रूपी सुन्दर दर्पण के मल को हरण करनेवाली है और तिलक करने से गुणगण को वश करती है।

व्याख्या : सुकृत : पुण्य : को ईप्सित फलदाता होने से शम्भु कहा। यथा : वंदि पितर सुर सुकृत संभारे। जो कुछ पुन्य प्रभाव हमारे। तौ सिव धनुष मृनाल की नाईं। तोरहुँ राम गनेस गोसाईं। शम्भु का शृङ्गार विभूति है। यथा : सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौर संवारा। कुंडल कंकन पहिरे व्याला। तन विभूति पट केहरिछाला। इसी भाँति विना गुरुपदधूलि के सुकृत का शृङ्गार नहीं होता। या यों कहिए कि विना विभूतिलेप के शङ्कर नहीं तथा विना गुरुचरण रजलेप के सुकृत ही नहीं। विभूति से मङ्गल सुगन्धि निकलती है। यहाँ मोद शब्द श्लिष्ट है। इसका अर्थ आनन्द भी है, सुगन्ध भी है। भाव यह है कि गुरुपदरज से जब सुकृत शृंगारित होता है, तो सुगन्ध की भाँति चतुर्वर्ग का आनन्द दूर तक फैलता है। इस भाँति 'सुवास' कहकर अब 'सरस' कहेंगे।

प्राचीन काल में जब शीशे का प्रचार नहीं था तब लोहे का दर्पण बनता था। उसे ऐसा माँज देते थे कि उसमें मुँह दिखलाई पड़ता था। उसमें मुर्चा न लग जाय इसलिए सरस भस्म से उसे माँजा जाता था। यहाँ भक्त का मन सुन्दर दर्पण है। उसे अनुराग से सरस गुरुपदरज द्वारा निर्मल बनाया जाता है। सो मन मुकुर के निर्मल बनाने के लिए, गुरुचरण का सरस रज ही साधन है। वस्तु के रूप का दर्शन तो केवल नेत्रों से और उजेले में हो जाता है पर आत्मदर्शन के लिए निर्मल मुकुर की भी आवश्यकता पड़ती है। यथा : मुकुर मलिन अरु नैन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना। अतः आत्माराम के दर्शन के लिए श्री ग्रन्थकार मन मुकुर को निर्मल कर रहे हैं।

इस सरस रज में और भी गुण हैं। यह केवल दोषापनयन ही नहीं गुणाधान भी करता है। तान्त्रिक लोग वशीकरण तिलक बनाते हैं, जिसे लगाने से देखनेवाले मोहित हो जाते हैं, इसी भाँति इस सरस रज का तिलक लगाने से गुणगण वश में आजाते हैं अथवा जिस भाँति राजतिलक होने से सेना तथा प्रजागण वश हो जाते हैं। यथा : जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं। भाव यह कि सच्चे गुरुभक्त के लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। गुरुभक्ति से ही सब कुछ हो जाता है। गुरुभक्ति से अव नेत्र चिकित्सा भी कहते हैं।

श्रीगुरपद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। वड़े भाग उर आवइ जासू ॥३॥

अर्थ : श्रीगुरु के चरणनखरूपी मणिगण की ज्योति के स्मरण से हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है। वह सुन्दर प्रकाश : ज्योति : बड़े भाग्य से जिसके हृदय में आवे, उसके मोहान्धकार का नाश करनेवाला होता है।

व्याख्या : श्रीगुरुपदरज से मन मुकुर निर्मल हुआ, अव दर्शन के लिए नेत्र और प्रकाश की आवश्यकता है। गुरुभक्ति से यह आवश्यकता भी पूर्ण हो जायेगी। श्रीगुरु के पदनख ही मणिगण हैं। उनकी ज्योति : अर्थात् ठण्ढी रोशनी : के स्मरण से हृदय में दिव्य[1] दृष्टि होती है। मणिगण की ज्योति के देखने से नेत्र में ठण्ढक आती है और दृष्टि को लाभ पहुँचाता है, पर गुरुचरण नखरूपी मणिगण ऐसे हैं कि इनके स्मरण से दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है और मोहान्धकार का भी नाश हो जाता है। ठण्ढी रोशनी होने से ही सु-प्रकाश कहा, हृदय की दृष्टि होने से दिव्य दृष्टि कहा, उपाय की सरलता दिखाने के लिए 'सुमिरत' कहा। सूर्य, चन्द्र का प्रकाश तो अभागे को भी सुलभ है, पर मणिगण का प्रकाश तो किसी बड़े भाग्यवान् को ही प्राप्त

---

१. 'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा' यो० सू-१-४८। ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते सतंभरा प्रज्ञा। तस्मिन् सति भवति इत्यर्थः। तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत्पश्यन्योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति। ऋतं भरा प्रज्ञा में सत्य ज्ञान होता है विपर्यय से कभी नहीं ढकता। यह गुरु चरणों में समाधि होने पर होती है। उस प्रज्ञालोक दिव्य दृष्टि से सब कुछ ठीक ठीक देखता हुआ प्रकृष्ट योगी हो जाता है।

होता है। इसी भाँति गुरु चरणनख का प्रकाश सबके हृदय में नहीं आता, किसी भाग्यवान् के हृदय में आता है। अर्थात् श्रीगुरुपदनख मणिगण का स्मरण अभागा नहीं कर सकता, किसी भाग्यवान् को ही उनके स्मरण-ध्यान की बुद्धि मन में आती है। दृष्टि होने पर भी यदि आँख न खुले तो दिखाई न पड़े, इसलिए कहते हैं :

उघरहिं विमल विलोचन हीके। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक॥४॥

अर्थ : हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसाररूपिणी रात्रि के दोष और दुःख मिट जाते हैं। रामचरित्ररूपी मणिमाणिक्य, गुप्त और प्रकट जहाँ और जिस खानि के हैं, दिखलाई पड़ने लगते हैं।

व्याख्या : सभी के हृदय में आँखें होती हैं, पर वे बन्द रहती हैं, विना गुरु कृपा खुलती नहीं। 'श्रीगुरु पदनख मनिगन जोती' जिस भाग्यवान् के हृदय में आती हैं उसीकी आँखें खुल जाती हैं। और रात्रि के दोष दुःख भी मिट जाते हैं। भाव यह कि रात्रि नहीं जाती, वह तो विना ज्ञानरवि के उदय हुए नहीं जा सकती। यथा : जासु ज्ञानरवि भवनिसि नासा। पर उससे जो दोष हैं और उन दोषों के कारण जो दुःख है, वह मिट जाता है। रात्रि को रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, यह रात्रि का दोष है और उस भ्रम से भय उत्पन्न होता है, लोग गिर पड़ते हैं, चोट खा जाते हैं, यह दुःख है, सो गुरुपदनख मणिगण ज्योति के आजाने से दोनों मिट जाते हैं।

तब रामचरित्र मणिमाणिक्य सूझने लगते हैं। मणिमाणिक्य भी पहिले से ही हैं। मणि सर्पादि के शिर में हैं, माणिक्य पर्वत में हैं, दिखाई नहीं पड़ते। इसी भाँति रामचरित्र आचार्यों के पास हैं, वेद पुराणों में हैं, आवरण शक्ति से घिरे हुए हैं, दिव्य दृष्टि की अव्याहत गति होती है, हृदय की आँखें जब खुलें तब दिखाई पड़ें। रामचरित्र में कुछ चरित्र तो प्रकट हैं, कुछ गुप्त हैं। यथा : 'सोइ लरिकाई मोसन करन लगे पुनि राम' यह प्रकट चरित है और 'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू' यह गुप्त चरित है। उसे : दिव्य दृष्टिवाले को : सब दिखाई पड़ने लगते हैं। अतः ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि जिस मरम को अनुज और मातु पिता ने न जाना उसे तुलसीदास ने कैसे जाना? ग्रन्थकार का स्पष्ट उत्तर है कि गुरु के प्रसाद से जाना।

मणिमाणिक्य की खान होती हैं। सामान्य मनुष्य को तो काँच और मणि पहिचानना कठिन हो जाता है पर यह मणि या माणिक्य किस खानि का है? यह सर्पमणि है, या सूकरमणि है? यह पन्ना के खानि का हीरा है या दूसरे खानि का? इन सबकी पहिचान तो जौहरी की ही आँखें कर सकती हैं। श्रीगुरुपद नखमणिज्योति से इसकी भी पहिचान हो जाती है। यथा : पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना। मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी। श्रीरामचरित मानस में भी चार खानि की कथाएँ चार घाट से कही गई हैं। श्रीगुरुकृपा से ही उनकी पहिचान होती है, पर इसके लिए नेत्र के संस्कार की भी आवश्यकता पड़ती है। अतः कहते हैं :

दो. जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल वन, भूतल भूरि निधान ॥१॥

अर्थ : जिस प्रकार साधक और सुजान सिद्ध, उत्तम अञ्जन को नेत्रों में आँज कर पर्वत, वन और भूमि में वड़े वड़े खजानों का तमाशा देखते हैं।

व्याख्या : गुरुभक्ति से दिव्य दृष्टि मिली, मोहान्धकार दूर हुआ, हृदय की आँखें खुलीं, भव रजनी के दोष दुःख मिटे, गुप्त प्रकट रामचरित्र मणिमाणिक्य भी सूझने लगे। उनका हाल मालूम होने लगा। परन्तु उन चरित्रों के साक्षात्कार के लिए संस्कार विशेष की आवश्यकता पड़ती है। तान्त्रिक लोग सिद्धाञ्जन वनाते हैं, जिसके लगाने से व्यवधान दूर हो जाता है। निधानों का साक्षात् दर्शन होता है। सिद्धाञ्जन की आवश्यकता सिद्ध साधक दोनों को रहती है। इसी भाँति गुरु पद रज की भी दोनों को आवश्यकता है, इसके विना रामचरित का साक्षात्कार नहीं हो सकता। जिस भाँति निधान शैल, वन और भूतल में रहता है उसी भाँति रामचरित भी शैल, वन या भूतल से सम्बद्ध है। शैल, यथा : पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना। वन, यथा : सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ। भूतल, यथा : अति अपार जे सरित वर जौ नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पीपीलिकउ परम लघु विनु श्रम पारहि जाहिं। मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई। अथवा, धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा। शैल का चरित्र शैल का निधान है, वन का चरित्र वन का निधान है और भूतल का चरित्र भूतल का निधान है। भूतल पर वहुत चरित्र किया इसलिए 'भूतल भूरि निधान' कहा। यह शङ्का कोई न करे कि रामचरित्र तो भूतकाल का विषय है, उसका साक्षात्कार इस समय कैसे हो सकता है? योगियों[1] के लिए अतीत और अनागत सभी वर्तमान हैं। श्रीवाल्मीकि[2] जी ने समाधि में सव लीलाएँ स्वयं देखीं।

यह दोहा छन्द है। इसके प्रत्येक दल में २४ मात्राएँ होती हैं। यह सोरठा का उलटा है। प्रथम और तृतीय चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं, उनके आदि में जगण ।ऽ। न होना चाहिए, नहीं तो वह सुन्दर नहीं रह जाता, उसकी चाण्डालिनी संज्ञा हो जाती है। दूसरे और चौथे चरण में ११ मात्राएँ रहती हैं यह दोहा छन्द का अति संक्षेप वर्णन है।

गुर पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअँ दृग दोष विभंजन ॥
तेहि करि विमल विवेक विलोचन। वरनउँ रामचरित भव मोचन ॥१॥

---

[1] अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्। यो० सू० ४.१२। भूत-और भविष्य स्वरूप से वर्तमान हैं; धर्मों के अध्व : रास्ते : के भेद से।

[2] ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः। पुरा यत्तत्रनिर्वृतं पाणावामलकं यथा। जो जो पहिले हुआ था वह सब उस धर्मात्मा ने समाधि में स्थित होकर इस तरह देखा, जैसे हाथ में लिया हुआ आँवला।

अर्थ : गुरु के चरण की धूलि मृदु और सुन्दर अञ्जन है, आँखों के लिए अमृत और दृष्टि के दोषों को दूर करनेवाली है। उसी से विवेकरूपी नेत्रों को निर्मल करके, मैं संसार छुड़ानेवाले रामचरित का वर्णन करता हूँ।

व्याख्या : प्रायेण अञ्जन सुन्दर नहीं होता और आँखों में लगता है, पर गुरुपदरजरूपी अञ्जन सुन्दर भी है और आँखों में लगता नहीं, आँखों के लिए अमृत है, ठंढक पहुँचाता है, दृष्टि को सदा स्थिर रखता है, घटने नहीं देता। यदि दृष्टि में दोष हो तो उसे भी दूर करता है। दोषापनयन भी करता है, गुणाधान भी करता है।

जिसे हृदय की आँख कहा गया है, वह विवेक है। इस अञ्जन से विवेक रूपी नयन निर्मल होता है, अतः इसे लगाकर रामचरित का वर्णन करता हूँ। क्योंकि रामचरित भवमोचन है, संसार से छुड़ानेवाला है, इसे बहुत सँभालकर वर्णन करना चाहिए, थोड़ा सा भी अविवेक रह जाने से वर्णन करने में अर्थ का अनर्थ हो जायगा। यह अधिक अभेद रूपक है।

समष्टि वन्दना

वंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥
सुजन समाज सकल गुनखानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी॥२॥

अर्थ : पहिले ब्राह्मण के चरणों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न सब संशयों के हरण करनेवाले हैं। सज्जनों का समाज सब गुणों की खान है, मैं प्रेम सहित, सुन्दर वाणी में उसको प्रणाम करता हूँ।

व्याख्या : सुर वन्दना के पश्चात् प्रथम महीसुर की वन्दना करते हैं। गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। इसलिए गुरु की गणना देवताओं में है। गुरु के साथ ही ब्राह्मण की भी वन्दना होनी चाहिए। क्योंकि 'कवच अभेद विप्रगुरु पूजा' सो कवच में भेद करना उचित नहीं। मनुष्य कोटि में प्रथम महीसुर की वन्दना करते हैं, ऐसे ही भ्रातृवर्ग में प्रथम भरतलाल की वन्दना करेंगे। यथा : बंदौं प्रथम भरत के चरना। ब्राह्मण, रामभक्ति के प्रथम साधन हैं, इस भाँति भी प्रथम वन्दना करना प्राप्त है। यथा : प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती।

यहाँ यह संशय न करना चाहिए, कि 'महीसुर चरण' के साथ कमल का प्रयोग क्यों नहीं किया? क्योंकि अन्यत्र कमल का प्रयोग है। यथा : विप्रचरन पंकज अति प्रेमा। यहाँ न करने का कारण यह है कि प्रथम वन्दना से चरण की प्रधानता द्योतित हो चुकी और विशेषण के साथ कमल की सार्थकता भी नहीं है। विशेषण है 'मोह जनित संशय सर्व हरना' मोह हटने पर भी छाया रूप से कुछ संशय रह जाता है। यथा : अजहूँ कछु संशय मन मोरे। सो समग्रसंशय का हरण करना ब्राह्मणों का काम है। श्रुतिभगवती कहती है कि विद्या ब्राह्मणों के पास गई और कहा कि मेरी रक्षा करो मैं तुमलोगों की निधि हूँ। अतः ब्राह्मण अपनी

---

[1] विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।

विद्या द्वारा निःशेष संशय का हरण करेंगे। अब समष्टि की वन्दना करते हैं। इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है, एक दैवी और दूसरी आसुरी। दैवी सृष्टि सज्जनों की है और आसुरी सृष्टि खलों की है। सो पहिले सज्जन समाज की वन्दना करते हैं यही समाज सब गुणों की खान है। यथा : सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते। यहीं से गुणसमूह निकलकर संसार में फैले हुए हैं, जैसे संसार में जितनी धातुएँ हैं, वे सब खान से ही आई हुई हैं। यथा : मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेही जतन जहाँ जेहिं पाई। सो जानव सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ। अतः इस समाज को श्री ग्रन्थकार सप्रेम : मनसा : सुवाणी : वाचा : प्रणाम करते हैं : कर्मणा ।

साधु चरित सुभचरित कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥३॥

अर्थ : सज्जनों का शुभ चरित कपास के चरित के समान है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय होता है, जो दुःख सहकर दूसरे के दोषों को ढकता है और जो वन्दनीय है, जिससे संसार को यश मिला है।

व्याख्या : कपास का फल नीरस होता है, उज्ज्वल होता है और उसमें महीन महीन रेशों को छोड़कर और कुछ होता नहीं। मूल पाठ में 'गुण' शब्द श्लिष्ट दिया हुआ है, उसका अर्थ रेशा भी होता है। साधुचरित के पक्ष में उसका अर्थ गुण होगा और कपासचरित के पक्ष में उसका अर्थ रेशा : अंशु : लेना होगा। साधुचरित का फल : तात्पर्य : भी नीरस . विषय रस रूखा : उज्ज्वल और गुण मय होता है, उसमें सिवा गुण के और कुछ होता ही नहीं। इसी से कपास से उपमित किया।

इसी भाँति छिद्र शब्द भी श्लिष्ट है। छिद्र का अर्थ छेद भी है और दोष भी है। कपास पक्ष में उसका अर्थ : इन्द्रियों का : छिद्र होगा और साधु पक्ष में 'दोष' अर्थ होगा। भावार्थ यह कि कपास से रूई निकाली जाती है, उसे ओटा जाता है, धुना जाता है। उसका सूत बनाकर कपड़ा बुना जाता है, जिससे प्राणियों के छिद्र ढके जाते हैं। इसी भाँति साधु नाना यातनाएँ सहकर भी दूसरे के दोषों पर परदा डालते हैं। यही उपमा और उपमेय में समान धर्म हैं। अतः वन्दनीय हैं, इनके कारण मिथ्या संसार ने यश पाया। 'संसार' का अर्थ यह हुआ कि 'सम्यक् रूप से सार है जिसमें'। यथा : प्रमुदित हृदय सराहत भलभवसागर। जहँ उपजहिं अस मानिक विधिबड़ नागर। : जानकी मङ्गल :

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू ॥
राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ[1] ब्रह्म विचार प्रचारा ॥४॥

---

[1] कगचजतदपयवां प्रायो लोपः : प्रा. प्र. २-२ : और सर्वत्र लवराम् : प्रा. प्र. ३-३ : इन दोनों सूत्रों से सरस्वती के 'व' और 'त' का लोप हुआ और सरस्वती का 'सरसइ' रूप सिद्ध हुआ।

अर्थ : सन्तों का समाज आनन्द मङ्गलमय है, जो संसार में चलता-फिरता तीर्थराज : प्रयाग : है। जहाँ राम भक्ति गङ्गा की धारा है और ब्रह्म विचार का प्रचार सरस्वती है।

व्याख्या : सज्जन, साधु और सन्त समानार्थक शब्द हैं। कुछ महात्मा लोग इन शब्दों के अर्थों में कुछ बारीक : सूक्ष्म : भेद निकालते हैं, पर यहाँ उनका समानार्थक रूप में ही व्यवहार हुआ है। मुद मन के हर्ष को कहते हैं और मङ्गल उसी का बाहरी रूप है। सो सन्तसमाज में सदा मुद मङ्गल बना रहता है। शोक मोह का वहाँ काम नहीं। गंग अवनि थल तीन बडेरे। ते किये साधु समाज घनेरे। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि। साधु समाज ही तीर्थ को तीर्थ बनाता है, इसलिए उसे चलता फिरता : जंगम : तीर्थराज कहा।

रामभक्ति को गङ्गा की धारा कहकर भक्ति की प्रधानता कही। मेल तो यमुना और सरस्वती का भी हुआ, पर सब मिलकर गंगा ही हो गई। और ब्रह्म विचार की भाँति सरस्वती गुप्त हैं, अतः ब्रह्म विचार प्रचार की उपमा सरस्वती से दी।

विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रवि नंदिनि बरनी ॥
हरिहर[1] कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥५॥

अर्थ : करने योग्य : विधि : और न करने योग्य : निषेध : कर्मों की कथा, जो कलिमल की हरण करनेवाली है, उसे यमुना : सूर्यपुत्री : रूप से वर्णन किया गया है। हरि : विष्णु : और हर : शिव : की कथा वेणी रूप से शोभित है, जो सुनते ही आनन्द मङ्गल की देनेवाली है।

व्याख्या : विधि, निषेध में ही समस्त कर्मकाण्ड का पर्यवसान है। इसी से मनुष्य की शास्त्रीया प्रवृत्ति हो जाती है, स्वाभाविकी प्रवृत्ति रुक जाती है। कलिमल हरणी कहने का यही कारण है। सूर्य से ही सब कर्मों का आरम्भ होता है। उनकी पुत्री यमुनाजी हैं, अतः उन्हें कर्मकथा से उपमित किया। प्रयागराज में तीनों पृथक पृथक् भी हैं फिर मिली भी हैं, इसी भाँति सन्तसमाज में तीनों काण्ड ज्ञान, कर्म और भक्ति पृथक् पृथक् भी शोभित हैं और मिलकर भी शोभित होते हैं।

तीनों नदियाँ मिलकर त्रिवेणी होती है। हरिहरकथा में कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों चलते हैं, अतः हरिहर कथा को 'वेणी' कहा। गङ्गा श्वेत और यमुना श्यामा हैं दोनों की मिलकर सौभाग्यवती स्त्री के काले केश : मोतियों की लर से युक्त : की सी शोभा हुई। सूत में मोती पिरोए हुए हैं, वह नहीं दिखलाई पड़ता, इसी भाँति सरस्वती गुप्त हैं। वेणी मुद मङ्गल देनी है, इसी भाँति हरिहर कथा भी श्रवण मात्र से मुद मङ्गल देनी है।

बट बिस्वासु अचल निज धरमा। तीरथ राज समाज सुकरमा ॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा ॥६॥

अर्थ : अपने धर्म में अचल विश्वास ही अक्षयवट है और सुकर्म तीर्थराज

---

[1] यहाँ अधिक तद्रूप रूपक है।

का समाज है। यह सब दिन सब देशों में सबको सुलभ है, आदर सहित सेवन करने से दुःखों का नाश करनेवाला है।

व्याख्या : जिस भाँति प्रयागराज में अक्षयवट है, उसी भाँति जङ्गम प्रयागराज में अचल स्वधर्म विश्वास है। जिस भाँति दिव्य अक्षयवट का नाश प्रलय में नहीं होता, उसी भाँति प्रलय उपस्थित होने पर भी स्वधर्म से साधु समाज का विश्वास नहीं उठता। जिस भाँति वट पत्र पर बाल मुकुन्द का निवास है, उसी भाँति स्वधर्म में भगवान् का निवास है। उस प्रयागराज का बड़ा समाज है। त्रिवेणीं माधवं सोमं भारद्वाजञ्च वासुकीम्। वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्। माधव, सोमेश्वर, महादेव और शेष प्रधान देव हैं तथा भारद्वाज, वासुकी आदि गौण देव हैं। इसी भाँति जङ्गम प्रयाग के समाज में प्रधान कर्म और गौण कर्म दोनों हैं।

तीर्थराज तो केवल अधिकारियों[1] को सुलभ हैं, फिर सब दिन सुलभ भी नहीं हैं, जब संयोग हो तब यात्रा होवे, पर जङ्गम तीर्थराज तो सबको सुलभ हैं और सब दिन सुलभ हैं। वह प्रयागराज देश परित्याग नहीं कर सकते, केवल अपने प्रान्त में सुलभ हैं। यथा : जिमि सिंघल वासिन्ह भयउ विधि बस सुलभ प्रयाग। पर यह तो जङ्गम होने के कारण सब देशों में आते जाते रहते हैं। जङ्गम तीर्थराज का यदि आदर के साथ सेवन किया जाय तो सद्यः क्लेशों का हरण करते हैं।

अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ ॥७॥

अर्थ : यह तीर्थराज अकथनीय और अलौकिक है, तत्काल फल देता है। इसका प्रभाव प्रकट है।

व्याख्या : उस तीर्थराज का माहात्म्य शेषजी ने कहा है, जिसे प्रयाग-माहात्म्य कहते हैं, पर इसका माहात्म्य तो वे भी नहीं कह सकते। यथा : कहि सक न सारद शेष नारद सुनत पदपंकज गहे। अस दीनबन्धु कृपाल अपने भगत गुन निजमुख कहे। यह तीर्थराज अलौकिक है, क्योंकि इसका प्रभाव प्रकट है, तत्काल फल देता है, वह प्रयागराज तो मरने के बाद फल देता है। यथा : काशी विधि वसि तनु तजै हठि तनु तजे प्रयाग।

दो. सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारिफल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग ॥२॥

अर्थ : जो मनुष्य प्रसन्न चित्त से सुनकर समझते हैं, वे ही अति अनुराग से मानो मज्जन करते हैं और उन्हीं को इसी शरीर से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों की प्राप्ति होती है।

व्याख्या : इस जङ्गम तीर्थराज में प्रसन्न चित्त होकर सुनना और समझना ही आदर पूर्वक मज्जन करना है। इसी से अविवेक का नाश होता है और अविवेक ही आपत्तियों का घर है। अविवेकः परमापदां पदः, 'चारि पदारथ भरा भंडारू'

---

[1] जिनके दोउ कर दोउ चरण मनहु सुसंयत होय। विद्या तप अरु इन्द्रियहु लहैं तीर्थ फल सोय। : प्र० चं :

भण्डार तो भरा हुआ है, पर जीते जी नहीं मिलेगा, मिलता है मरने के बाद, सो यहाँ तो चार फल की प्राप्ति शरीर रहते ही हो जाती है।

मज्जन फलु पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥
सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहि गोई॥१॥

अर्थ : स्नान करने का फल तत्काल देखने में आता है कि कौवा तो कोयल, और बगले हंस हो जाते हैं। यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे। सत्सङ्गति की महिमा छिपी नहीं है।

व्याख्या : 'मुद मंगलमय संत समाजू' कहा था, सो 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग' इस दोहे तक मुदमय कहा, अब मङ्गलमय कहते हैं। काक और बक अमङ्गल हैं, सो क्रमशः पिक और हंस होकर मङ्गलमय हो जाते हैं। काक की वाणी करकस होती है और पिक की वाणी मधुर होती है, रूप दोनों का एक सा होता है। इसी भाँति वक अविवेकी दाम्भिक होता है और हंस विवेकी होता है, क्षीर नीर का विवरण करता है, पर रूप दोनों का एक सा होता है। भाव यह कि मज्जन से भीतरी परिवर्तन बड़ा भारी होता है, बाहर का स्वरूप तो वैसा ही बना रहता है। भुसुण्डिजी काक से पिक हो गये यथा : मधुर वचन बोलेउ तब कागा और वक से हंस स्वयं ग्रन्थकार हो गये, यथा : हंस कियो बक ते बलिजाउँ। पहिले कहा था 'देइ सद्य फल प्रकट प्रभाऊ' सो उसी की सार्थकता 'पेखिअ तत्काला' कहकर दिखलाते हैं। भाव यह कि इतना बड़ा परिवर्तन होता है और समय नहीं लगता। यहाँ अनुगुणालङ्कार है।

सद्यः कायापलट बड़े आश्चर्य की बात है, परन्तु सत्संग के लिए आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो उसमें होता है, जो जानी हुई बात नहीं है और सत्सङ्ग की महिमा तो सब जानते हैं कि यह सद्यः फलद होता है। अब इसी का उदाहरण देते हैं।

वालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥
जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥२॥

अर्थ : वाल्मीकि, नारद और अगस्त्यमुनि ने अपना अपना इतिवृत्त, अपने ही मुँह से कहा। जल में रहनेवाले, भूमि पर रहनेवाले और आकाश में विचरनेंवाले, जो नाना प्रकार के जड़ चेतन जीव संसार में हैं।

व्याख्या : वाल्मीकि, नारद और अगस्त्य ने अपने मुख से अपनी कथा कही। इसलिए अविश्वास को स्थान नहीं है। वाल्मीकिजी व्याध की जीविका करते थे और ऐसे अपढ़ थे कि राम-राम जप करने में असमर्थ थे। महात्मा को उन्हें मरा मरा का उपदेश देना पड़ा, सो वेद के समान हो गये। नारद जी ब्राह्मण की एक वृद्धा सेविका के पुत्र थे। उन्हें उसी जन्म में ध्यान में भगवद्दर्शन हुआ और दूसरे जन्म में साक्षात् ब्रह्मदेव के पुत्र हुए। अगस्त्य जी घट से उत्पन्न थे, इनका इतना प्रभाव बढ़ा कि रुष्ट होकर समुद्र का पान कर गये। इनसे ही मन्त्र लाभ कर

राम जी ने रावण को मारा। सो इन महात्माओं का इतना प्रभाव सत्सङ्ग के माहात्म्य से ही हुआ। वाल्मीकि का कर्म खोटा था, अगस्त्य जी का जन्म खोटा था और नारद जी नितान्त असहाय थे। इनकी इतनी महिमा सत्सङ्ग के प्रताप से हुई। अतः तीन उदाहरण दिये गये।

भाव यह कि जलचर, थलचर, नभचर के कथन से जीवमात्र का ग्रहण हुआ। उसमें भी केवल चेतन नहीं, जड़जीव का भी कल्याण सत्सङ्ग से हुआ। ऊपर के उदाहरणों से प्रादेश मात्र दिखलाया गया है।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानव सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥३॥

अर्थ : उनमें से बुद्धि, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और कल्याण को जब कभी, जिस किसी उपाय से, जहाँ कहीं, जिस किसी ने पाया है, उसे सत्सङ्ग का ही प्रभाव जानो। लोक में और वेद में दूसरा उपाय ही नहीं है।

व्याख्या : मति, कीर्ति, गति, भूति और भलाई कहने से श्रेय और प्रेय दोनों ही आगये। श्रेय मोक्ष का साधन है और प्रेय अभ्युदय का साधन है। अर्थात् श्रेय और प्रेय की प्राप्तिका सिवा सत्सङ्ग के दूसरा उपाय ही नहीं है। 'जब' से काल, 'जेहि जतन' से उपाय, 'जहाँ' से 'देश' और 'जेहिं' से अधिकारी कहा। भावार्थ यह कि सभी देश, सभी काल में, सभी के लिए, सभी उपायों से सत्संग द्वारा ही सिद्धि की प्राप्ति सम्भव है। लोक में तो सत्सङ्ग प्रसिद्ध ही है, अज्ञातार्थज्ञापक शास्त्र भी कोई दूसरा उपाय नहीं बतलाता।

जलचर, थलचरादि के साथ यथाक्रम मति, कीरति, गति आदि को लगाकर भी कुछ लोग अर्थ करते हैं। यथा : जलचर को मति की प्राप्ति, यथा : प्रभुहि विलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरखित सब भये सुखारे। थलचर को कीर्तिकी प्राप्ति यथा : मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं। इत्यादि।

नभचर को गति की प्राप्ति यथा : अविरल भगति माँगि वर गीध गयउ हरिधाम।

जड़जीव को भूति की प्राप्ति यथा : परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी।

चेतन को भलाई की प्राप्ति, यथा : ते सब भये परमपद जोगू। भरत दरस मेटेउ भवरोगू।

विनु सतसंग विवेक न होई। रामकृपा विनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥४॥

अर्थ : विना सत्सङ्ग के विवेक नहीं होता और वह विना हरिकृपा के प्राप्त नहीं होता। सत्संगति मुद मङ्गल का मूल है, वही फल सिद्धि है और सब साधन फूल हैं।

व्याख्या : विवेक नेत्र है। यथा : तेहि करि विमल विवेक विलोचन। विना विवेक का प्राणी अन्धा है। सो विवेक विना सत्सङ्ग के होता ही नहीं। यद्यपि सत्सङ्ग सबको सुलभ सब दिन सब देशों में है, सन्त सन्निकट ही रहते हैं पहिचान में नहीं आते। सदा अपन पौ रहहिं दुराये। सब विधि कुसक कुवेष बनाये। राम कृपा हो तो सत्सङ्ग हो सकता है। इस भाँति रामकृपा को साधन और सत्सङ्ग को साध्य कहा। अर्थात् सत्सङ्ग का अमोघ फल है। फल सिद्धि कहने के कारण, मूल शब्द का अर्थ लक्षणा से बीज करना होगा। बीज से अङ्कुर, डार, पात, फूल, फल होता है और फल में फिर बीज होता है। भावार्थ यह कि बीज भी सत्सङ्ग और फल भी सत्सङ्ग, अन्य साधन डार, पात, फूल हैं। यथा : सात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग। ऊपर कह भी आये हैं कि 'मुद मंगलमय संत समाजू'। सो इससे उपक्रम करके 'सतसंगति मुद मंगल मूला' से उपसंहार कर रहे हैं।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सोहाई॥
विधि[1] वस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥५॥

अर्थ : शठ भी सत्सङ्गति पाकर सुधर जाते हैं, पारस के छू जाने से लोहा सुन्दर धातु हो जाता है। यदि दैवयोग से सज्जन कुसङ्गति में पड़ जाते हैं, तो वे साँप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं।

व्याख्या : साधारण पुरुषों का लाभ कहकर शठ का भी लाभ कहते हैं। शठ कपटी होता है, हठी होता है, किसी की सुनता नहीं। यथा : कपट सार सूची सहस, बाँधि वचन पर वास। करि दुराव चहचातुरी, सो सठ तुलसीदास। सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। शठ लोहा है, पर सन्त पारस हैं, उनके स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है, शठ का कायापलट हो जाता है, वह कुधातु से सुधातु हो जाता है, पर पारस नहीं हो सकता, क्योंकि सन्त पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते। यथा : पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। भावार्थ यह कि सत्संग के लेश से शठ का व्यवहार ही दूसरा हो जाता है।

सुजन कुसंगति चाहते नहीं, उससे दूर भागते हैं, पर दैवयोग से कुसङ्ग में पड़ जाते हैं, पर उन पर कुसंग का प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ता। मणि सर्प के सिर में रहती है, पर उसके अघ अवगुण का ग्रहण नहीं करती, वह विष हरण करती है और दुःख दरिद्र को दूर करती है। यथा : अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई।

सत्संग के गुण कथन के बाद शठ के सुसंग में पड़ने और साधु के कुसंग में पड़ने की व्यवस्था कही। अब सन्त समाज के सरदार स्वयं सन्त की महिमा कहते हैं। सन्त समाज की महिमा तो कुछ कही, पर स्वयं सन्त की महिमा कहने में ग्रन्थकार अपने को सर्वथा असमर्थ पा रहे हैं। यथा :

---

[1] यहाँ अवज्ञा अलङ्कार है।

विधि हरिहर कवि कोविद[1] बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मोसन कहि जात न कैसें । साक वनिक मनि गुन गन जैसें ।।६।।

अर्थ : ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, कवि, पण्डित की वाणी साधुओं की महिमा कहने में सकुचाती हैं, वह मुझसे कैसे नहीं कही जाती, जैसे साग भाँजी बेचनेवाला मणियों के गुणगण नहीं कह सकता ।

व्याख्या : इतने बड़े लोगों की वाणी जब साधु महिमा कहने में सङ्कुचित होती हैं, तब ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरी क्या गिनती है ? स्वयं रामजी कहते हैं, कि 'सुनु मुनि साधुन के गुन जेते । कहि न सकहि सारद श्रुति तेते' । नहीं कह सकते, इसलिए कहने में सङ्कोच है । जयन्त ब्रह्मधाम, शिवपुर आदि सभी लोकों में व्याकुल होकर घूमा, पर किसी ने उसे बैठने को नहीं कहा, पिता ने भी नहीं रखा, पर नारद साधु हैं, उनसे नहीं देखा गया । यथा : धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं । राम विमुख राखा तेहि नाहीं ......नारद देखा विकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता । पठवा तुरत राम पहिं ताहीं । कहेसि पुकारि प्रणत हित पाही । रामविमुख पर भी दया करना सन्त का ही काम है ।

साग भाँजीवाला शाक का ही गुण नहीं कह सकता, वह मणिगण के गुणों को क्या जाने, जिसे जानने में बड़े-बड़े जौहरी चक्कर में पड़ जाते हैं, सो ग्रन्थकार कहते हैं कि विधि हरिहर कवि कोविद जौहरी हैं, जब वे सन्त की महिमा नहीं कह सकते तो मैं तो ग्राम्य कवि हूँ, मैं कैसे कह सकता हूँ । यथा : बरनै तुलसीदास किमि अति मति मंद गँवार ।

दो. वंदौ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ ।।३।।

अर्थ : मैं सन्त की वन्दना करता हूँ, जिसका चित्त समान है, न कोई उनका मित्र है न शत्रु हैं, जैसे अञ्जलि में आये हुए अच्छे फूल दोनों हाथों को बराबर सुगन्धित कर देते हैं ।

व्याख्या : अब सन्त की स्तुति करके वन्दना करते हैं । चेतन जीव में उपमा नहीं मिलती, अतः जड़ की उपमा देते हैं । ऐसी सम दृष्टि अच्छे फूलों में ही सम्भव है । वह यह नहीं विचारता कि दक्षिण हाथ ने ही उसे तोड़ा है । अतः वह अनुग्रह का पात्र नहीं है और वायें हाथ ने उसे आश्रय प्रदान किया है । अतः विशेषरूप से उस पर अनुग्रह करना चाहिए । वह दोनों पर समान रूप से अनुग्रह करता है । दोनों को सुगन्धित कर देता है । इसी भाँति सन्त अपने अपकारी और उपकारी के ऊपर समान रूप से अनुग्रह करते हैं । यह सन्त का विशेष गुण है, इसकी नकल नहीं की जा सकती । यथा : उमा संत कइ इहै बड़ाई । मंद करत जो करै भलाई । ऐसे उपकारी सन्त की ग्रन्थकार वन्दना करते हैं ।

---

१. कोर्वेदस्य विदो वेत्ता कोविदः कथितो बुधैः । श. चि. वेदवेत्ता को कोविद कहते हैं ।

दो. संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु ।। ३क ।।

अर्थ : सरल चित्त और जगत् के हितकारी सन्त जन, अच्छे भाव और स्नेह को जानकर और मुझ बालक के विनय को सुनकर कृपा करके श्रीराम जी के चरणों में प्रीति दीजिये ।

व्याख्या : सन्त का चित्त सरल होता है, जो बात उनके मन में होती है, वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं । यथा : मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् । और विश्व का कल्याण चाहना उनका सहज स्वभाव है । यथा : पर उपकार वचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया । अत: जिस बात में जगत् का अनहित हो, उसे माँगने पर भी नहीं देंगे । ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरा भाव सुन्दर है, जगत् हित के अनुकूल है और अपने लिए भी लाभप्रद है इसलिए मुझे सुरुचि है । मैं कोई ऐसी बात नहीं माँग रहा हूँ जिससे जगत् की या अपनी ही कोई हानि हो । अपने को बालक कहकर सन्त का, माँ बाप होना द्योतित किया । बालक किससे माँगे ? इसलिए कृपा करो । अथवा मैं बालक हूँ, यदि स्तुति करते न बने, तो भी कृपा करो और रामभक्ति दो ।

भाव यह कि भक्ति के आप भण्डारी हो । यथा : राम भगति अनुपम सुख मूला । मिलइ जो संत होहिं अनुकूला । यहाँ भक्ति से सिद्धा भक्ति अभिप्रेत है । साधन भक्ति तो शङ्कर भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त हो जाती है । यथा : पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे । राम भगत उपजिहि उर तोरे ।

बहुरि वंदि खल गन सति भायें । जे बिनु काज दाहिने (हु) बायें ।।
पर हित हानि लाभ जिन केरें । उजरें हरख विषाद बसेरें ।।१।।

अर्थ : अब मैं सच्चे भाव से खलगण की वन्दना करके, जो अकारण ही अनुकूल के प्रतिकूल रहते हैं, दूसरों के हित की हानि ही जिनका लाभ है और जिनको दूसरों के उजड़ने पर आनन्द और बसने पर शोक होता है ।

व्याख्या : पहिले सन्तसमाज की वन्दना करके तब सन्त-वन्दना की, इसी भाँति यहाँ भी पहिले खलगण की वन्दना करके तब खल की वन्दना करेंगे । इसीलिए पूर्वकालिकी क्रिया 'वंदि' दे रहे हैं, मुख्य क्रिया आठवीं अर्धाली में आवेगी; वंदौ खल जस सेष सरोषा । सच्चे भाव से वन्दना करना इसलिए कहते हैं कि किसी को आक्षेप की शंका न हो । 'दाहिने वायें' कहकर खलगण का स्वभाव कहते हैं कि अकारण बैर करने का उनका स्वभाव है । वे अपने हित का अनहित करते हैं । यथा : वैर अकारन सब काहू सो । जो कर हित अनहित ताहू सों । इनका स्वभाव साधु से ठीक उलटा है । वे 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा' और ये 'परहित हानि लाभ जिन केरे' लाभ के लिए लोग दु:ख उठाते ही हैं । साधु और खल दोनों अपने लाभ को लाभ नहीं मानते । दोनों के हर्ष, विषाद के कारण एकदम विपरीत हैं ।

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाँखी। पर हित घृत जिनके मनमाखी ॥२॥

अर्थ : हरिहर यशरूपी पूर्णचन्द्र के लिए जो राहु से हैं, दूसरे का काम बिगाड़ने के लिए सहस्रबाहु के समान योद्धा हैं। दूसरे के दोषों को सहस्र आँखों से देखते हैं और दूसरे की भलाई रूपी घी के बिगाड़ने के लिए जिनका मन मक्खी के समान है।

व्याख्या : साधु समाज हरिहर कथा के लिए त्रिवेणी है और खलगण हरिहर-यशरूपी चन्द्र के लिए राहु हैं। कुछ देर के लिए विषयकथा, व्याख्यान या उत्पात से हरिहर कथा को निस्तेज करते हैं। यदि कथा थोड़ी देर के लिए रुकी तो खण्डग्रास, यदि बन्द हो गई तो सर्वग्रास हुआ। साधुसमाज मुद मंगलमय है और खलगण दूसरे के अपकार के लिए सहस्राबाहु से योद्धा हैं। उनके दो हाथों में हजार हाथों का बल और फुरती आजाती है। जिस भाँति शत्रु से युद्ध में कार्तवीर्य को सहस्र भुजाएँ हो जाती थीं। यथा : तस्य बाहु सहस्रन्तु युध्यतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया : हरिवंशे :। सहस्रावाहु के पक्ष में पर का अर्थ शत्रु करना होगा।

उनकी आँखों में सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र की भाँति, दोषों को देखने के लिए मक्खियों के हजार आँखों की शक्ति आजाती है। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने से मालूम होता है कि मक्खियों को हाजारों आँखें हैं। उन्हें वे दोष, जो दूसरों को नहीं दिखाई पड़ते, दिख जाते हैं, क्योंकि उन्हें दोष हजारगुना वड़ा दिखता है; पर दूसरों का ही दोष दिखाई पड़ता है, अपना नहीं। और यह भी गुण है कि दूसरे के हितरूपी घृत के बिगाड़ने के लिए उनका मन भी मक्खी है। मक्खी घी में कूद कूदकर अपना प्राण दे देती हैं और उस घी को बिगाड़कर मानती हैं, इसी भाँति खल का जी चाहता है कि मैं अपना प्राण दे दूँ, पर दूसरों का हित किसी भाँति भी नष्ट हो जाय।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा ॥
उदय केत समहित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके ॥३॥

अर्थ : तेज में अग्नि और क्रोध में महिषासुर के समान हैं, पाप और दुर्गुण रूपी धन के तो कुबेर से धनी हैं। उनका उदय केतु के समान सभी के लिए है। वे कुम्भकर्ण के समान सोते रहें तभी अच्छे हैं।

व्याख्या : भाव या कुभाव से सन्निकट जानेवाले को जलाने का उनका स्वभाव है, इसलिए अग्नि कहा। महिषेश का अर्थ यमराज भी हो सकता है, परन्तु श्रीग्रन्थकार महिषासुर के अर्थ में प्रयोग करते हैं। यथा : महामोह महिषेस विसाला। राम कथा कालिका कराला। और यही अर्थ प्रसङ्गानुकूल है। यमराज तो धर्मात्माओं के लिए परम सौम्य मूर्ति हैं। महिषासुर का क्रोध प्रख्यात है, देवता लोग उसके भय से पृथ्वी पर मनुष्यों की भाँति घूमते थे। सो क्रोध में वे साक्षात् महिषासुर हैं और अघ, अवगुण के लिए तो अक्षय भण्डारवाले कुबेर हैं। संसार में जो अघ, अवगुण देखा जाता है, सो इन्हींकी कृपा का फल है। बिना कुबेरजी की कृपा के कोई धनी नहीं हो सकता।

केतु कालग्रह है, इसके उदय से देश का देश आपद्ग्रस्त हो उठता है। यथा : दुष्ट उदय जग आरति हेतू। यथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू। इसी भाँति खलगण के उदय से संसार पर विपत्ति आती है। जब जब संसार पर विपत्ति आई है, तब तव दुष्ट के उदय से ही आई है। खल के पक्ष में 'उदय' का अर्थ बढ़ोत्तरी है।

'मोह निसा सब सोवनिहारा' पर सबकी निद्रा और कुम्भकर्ण की निद्रा में बड़ा अन्तर है। उनकी निद्रा दीर्घकालीन थी और उन्हें जगाना असाधारण व्यापार था और उनके जागने पर त्रैलोक्य सन्त्रस्त हो उठता था। यथा : करइ पान सोवै षटमासा। जागत होइ तिहूपुर त्रासा। कुम्भकर्ण का जागना कोई नहीं चाहता था। इसलिए कहते हैं कि दुष्ट कुम्भकर्ण की भाँति यदि सोते रहें तभी अच्छा है।

'अन्मुकुटादिषु' इस सूत्र से केतु का केत रूप हो गया। हित शब्द 'लिए' के अर्थ में भी आता है, यथा : मोहि हित सहेउ बहुत संतापू।

पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिमि उपल कृषी दलि गरहीं॥
वंदौं खल जस सेष सरोषा। सहस वदन वरनहिं पर दोषा॥८॥

अर्थ : जो दूसरों का अकाज करने के लिए शरीर तक का त्याग कर देते हैं, जैसे ओले खेती का नाश करके स्वयं गल जाते हैं। मैं खलों की वन्दना करता हूँ, जो शेष की भाँति हजार मुख से परदोष का सरोष वर्णन करते हैं।

व्याख्या : दूसरे की हानि सा प्रिय उन्हें कोई पदार्थ नहीं है। 'देह प्रान सम प्रिय कछु नाहीं'। सो दूसरे की हानि के लिए वे उसका भी परित्याग कर सकते हैं। इनकी उपमा योग्य भी कोई चेतन पदार्थ नहीं है, अतः जड़ से ही उपमा दी है। ओला गल गलकर नष्ट हो जाता है, पर खेती का नाश तो पहिले ही कर डालता है।

पहिली चौपाई 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिमि उपल कृषी दलि गरहीं।' में खलगण की मति का वर्णन किया। दूसरी 'हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से।' से उनकी कीर्ति का वर्णन किया। तीसरी 'जे पर दोष लखहिं सहसाँखी। परहित घृत जिनके मन माखी।' से उनकी गति का वर्णन किया। चौथी 'तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।' तथा 'उदयकेतु सम हित सब ही के।' से उनकी भूति का वर्णन किया और पाँचवीं 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।' से उनकी भलाई का वर्णन किया। यहाँ तक खलगण का वर्णन है। चक्र का वर्णन पूरा होने पर स्वयं खल की वन्दना करते हैं।

प्रलय काल में शेष सरोष होते हैं, तब सहस्रों मुखों से ज्वालमाला वमन करते हैं। यथा : प्रलय पावक महा ज्वालमाला वमन। ये प्रलय की ज्वाला की भाँति परदोष वर्णन करते हैं। खलगण का क्रोध महिषेश सा था, पर स्वयं खल का शेष सा प्रलयकारी क्रोध है।

पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना॥
वहुरि सक्रसम विनवौं तेही। संतत सुरा नीक हित जेही॥५॥

अर्थ : फिर मैं पृथुराज[1] के समान उनको मानकर प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानों से पर अघ : दूसरों की बुराइयाँ : सुनते हैं। फिर इन्द्र के समान उनको मानकर विनय करता हूँ, जिन्हें सदा सुरानीक : देवसेना : या सुरा : मद्य : नीक हित है।

व्याख्या : खल को दूसरे की बुराई बड़ी प्रिय है। महाराज पृथु को भगवद्गुणानुवाद बड़ा प्रिय था, इसलिए भगवान् से वरदान माँगा कि आप का यश सुनने के लिए मेरे कानों को दश हजार कानों का बल हो जाय। सो उनके कानों की शक्ति दशसहस्रगुणित हो गई। इन : खलों : को स्वभाव से ही वह सामर्थ्य प्राप्त है, ये दूसरों का पाप दश हजार कानों से सुना करते हैं। भाव यह कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म पापचर्चा, इन्हें अनायास स्पष्ट दशसहस्रगुणित होकर प्रतिभात होती है। कितनी ही गुप्तचर्चा हो, ये सुन ही लेते हैं, और बड़े प्रेम से सुनते हैं।

यहाँ 'सुरानीक हित' शब्द श्लिष्ट है। इन्द्र के पक्ष में इसका अर्थ होगा 'देवताओं की सेना का हित होना' और खलपक्ष में अर्थ होगा 'मद्य : शराब : का नीकहित होना'। भावार्थ यह कि जिस भाँति देवसेना से इन्द्र के हृदय में उल्लास होता है, वैसा ही उल्लास खल को सुरा से होता है, जिस भाँति बिना देवसेना के इन्द्र निर्बल रहते हैं, उसी भाँति बिना सुरा के खल की तबीयत खराब हो जाती है।

वचन वज्र जेहि सदा पिआरा। सहसनयन परदोष निहारा ॥६॥

अर्थ : जिनको वचन रूपी वज्र सदा प्यारा लगता है और हजारों आँखों से पराया दोष देखते हैं।

व्याख्या : जैसा इन्द्र को अपने वज्र का भरोसा रहता है, उसी भाँति खल को अपने वाग्वज्र का भरोसा रहता है। इन्द्र को वज्र बड़ा प्यारा है, सदा धारण किए रहते हैं, उसी भाँति खल के होठों पर वाग्वज्र प्रतिक्षण बना रहता है। न इन्द्र का वज्र कोई सह सके और न खल के वचन सह सके। इन्द्र सहस्र नेत्रों से देवताओं का हित देखते हैं, खलगण परदोष को सहस्र नेत्रों से लखते हैं, पर स्वयं खल उसको प्रेम से निहारते हैं। तीनों लोक के बड़े इकट्ठे हुए तब खल की खलता तौली गई। १. स्वर्ग के बड़े, यथा : बहुरि सक्र सम बिनवौं तेहीं। २. पृथ्वी के बड़े, यथा : पुनि प्रणवौं पृथुराज समाना और ३. पाताल के बड़े, यथा : बंदौं खल जस सेष सरोसा।

दो. उदासीन अरिमीत हित, सुनत जरहि खलरीति।
जानु पानि जुग जोरि जनु, विनती करइ सप्रीति ॥४॥

अर्थ : खल की यह रीति है कि वे उदासीन, शत्रु और मित्र के हित को

---

[1] राजा पृथु, राजा वेन के पुत्र थे, वेन अधर्मी राजा था, ऋषियों ने उसे मन्त्र से मारा और उसके दाहिने हाथ को मथा, जिससे पृथु की उत्पत्ति हुई। ये बड़े भगवद्भक्त थे, इन्होंने भगवान् से वरदान माँगा था कि आपके चरित सुनने के लिए मेरे कानों में दस हजार कानों की शक्ति आ जाय।

सुनते ही जल उठते हैं। अतः दोनों हाथ पाँव जोड़कर यह सेवक प्रीति के साथ विनती करता है।

व्याख्या : जिस भाँति सन्त समानचित्त होते हैं, उनका न कोई हित है न शत्रु है, वे शत्रु मित्र दोनों का कल्याण चाहते हैं, उसी भाँति खल भो उदासीन, शत्रु और मित्र सब पर समान दृष्टि रखते हैं। वे किसी का कल्याण सहन नहीं कर सकते। किसी के कल्याण की बात सुनते ही उनके कलेजे में आग लग जाती है। वे सन्तों के जोड़ीदार हैं। दोष के भी अत्यधिक उत्कर्ष से उसमें अलौकिकता आ जाती है। यथा : देखि खलन अधिकार सुप्रभु मेरी भूरि भलाई भनिहैं। इसी से उनकी उपमा शेष, महाराज पृथु और देवराज इन्द्र से दी गई है।

यद्यपि जानु का अर्थ घुटना है, परन्तु यहाँ जानु उपलक्षण है, पाँव के अर्थ में आया है। अत्यन्त विनय प्रार्थना में हाथ पाँव दोनों जोड़ना कहा जाता है, यथा : 'बहुत हाथ पाँव जोड़ा पर सुनवाई न हुई।' इसलिए गोसाँई जी भी दोनों हाथ पैर जोड़कर प्रीति के साथ विनती करते हैं। अर्थात् विनती करने में ये कपट को स्थान नहीं देते। 'बहुरि वंदि खलगन सति भाएँ' से उपक्रम करके 'विनती करौं सप्रीति' से उपसंहार कर रहे हैं। 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत', इस सिद्धान्त के अनुसार अपने को सेवक भी मान रहे हैं।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउव भोरा ॥
वायस पलिअहिं अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥१॥

अर्थ : मैंने अपनी ओर से तो निहोरा कर दिया। वे अपनी ओर से चूक न करेंगे। वायस यदि अति अनुराग से पाले जाँय, तो भी क्या काग निरामिष हो सकता है।

व्याख्या : गोस्वामी जी कहते हैं कि निहोरा करना मेरा काम है, क्योंकि चराचर विश्व भगवान् का रूप है, खल भी कोई दूसरे नहीं हैं, अतः मैंने अपना कर्त्तव्य कर दिया, वे भी अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे, खलता करने में न चूकेंगे। यह मैं जानता हूँ। मैंने विनय प्रार्थना उन्हें अपने स्वभाव से च्युत करने के लिए नहीं की है। स्वभाव किसी का हटाये नहीं हटता। वायस : कौवे : स्वभाव से ही अशुचिभक्षी होते हैं। उन्हें चाहे कितने ही आदर से पाला जाय, पर वे 'काक' ठहरे अपने कुत्सित स्वभाव को नहीं छोड़ सकते। वे निरामिषभोजी हो नहीं सकते : उन्हें दूध में आमिष की भावना होगी और अण्डे उन्हें फल मालूम होंगे। श्वाकाक इति कुत्सायाम्। यहाँ काक शब्द उनके कुत्सित स्वभावद्योतन के लिए आया है।

वंदौं संत असज्जन चरना । दुख प्रद उभय वीच कछु वरना ॥
विछुरत एक प्रान हरिलेई । मिलत एक दुख दारुन देई ॥२॥

अर्थ : अब मैं : सज्जन और दुर्जन दोनों के चरणों को वन्दना करता हूँ। दोनों दुखदाई हैं, पर कुछ अन्तर कहा जाता है, एक विछुड़ते ही प्राण ले लेते हैं और एक मिलते ही दारुण दुःख देते हैं।

व्याख्या : सन्त और खल की पृथक् पृथक् वन्दना की, क्योंकि एक का गुण-कर्म स्वभाव दूसरे से विपरीत है। सन्त के जोड़ होने से खल की वन्दना की। अब दोनों की साथ वन्दना करते हैं, क्योंकि 'दुखदाई' होने का गुण दोनों में समान है, संयोग वियोग मात्र का बीच है।

सन्त विछुड़ते समय मरणाधिक कष्ट देते हैं। यथा : जौ पै प्रिय विधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा : असन्त मिलते ही दारुण दुःख देते हैं। उनसे मिलते ही अपयश लगता है और 'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू'। अतः इनसे भी प्राणान्त कष्ट होता है।

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥३॥

अर्थ : दोनों : एक साथ संसार में पैदा होते हैं, पर कमल और जोंक की भाँति उनके गुण अलग अलग होते हैं। साधु अमृत और असाधु मदिरा के समान हैं। दोनों का पैदा करनेवाला संसाररूपी अगाध समुद्र एक ही है।

व्याख्या : साधु और असाधु होने में जन्म कारण नहीं है, जैसे जल में कमल भी पैदा होता है, जोंक भी पैदा होती है, पर दोनों के गुणों में बड़ा अन्तर है। कमल रक्तवर्धक है और जोंक रक्तशोषक है। कमल जल में रहकर भी निर्लेप रहता है, जोंक जल में लिप्त आर्द्र रहती है। कमल स्थिर है, जोंक की वक्रगति है। यथा : चलै जोंक जल वक्रगति जद्यपि सलिल समान। इसी भाँति साधु असाधु दोनों संसार में उत्पन्न होते हैं, पर साधु द्वारा क्षमा-दयादि गुणों की वृद्धि होती है और खलों द्वारा उनका ह्रास होता है। यथा : संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ। संत, संसार में रहकर भी उससे निर्लेप रहते हैं और खल उसी में डूबा रहता है। साधु स्थिरबुद्धि होते हैं तथा खल की कुटिल बुद्धि होती है। पृथ्वी में उत्पत्ति कहकर माता की एकता कही।

समुद्रमन्थन से सुधा सुरा दोनों की उत्पत्ति हुई। अतः समुद्र को जनक : पिता कहा। जग और जलधि : समुद्र : में, अगाध होना साधारण धर्म है। इसी संसार में ही साधु, असाधु की उत्पत्ति हुई : द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। पर साधु अमृत के समान लाभकारी हैं और खल मदिरा के समान अपावन हैं।

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि व्याधू॥४॥

अर्थ : भले और बुरे अपनी-अपनी करनी से यश और अपयश का ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। अमृत, चन्द्र, गङ्गा और साधु भले हैं। विष, अग्नि, कलिमल की नदी और व्याधा अनभल हैं।

व्याख्या : भल और अनभल होने का कारण अपनी करतूति है, जन्म नहीं है। भले के लिए सुयश ऐश्वर्य है और बुरे के लिए अपयश ऐश्वर्य है। यथा : सोइ रावन जग विदित प्रतापी। सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी। साधु का वचन अमृत

सा, दर्शन चन्द्र सा और स्पर्श गङ्गा सा है। यथा : मुख देखत पातक हरैं परसत कर्म विलाहिं। वचन सुनत मन मोह गत पूरब भाग मिलाहिं। और खल ठीक इसके विपरीत है। 'व्याधा' के हिंसक होने से खल का उपलक्षण माना।

गुन अवगुस जानत सब कोई। जो जेहिं भाव नीक तेहि सोई ॥५॥

अर्थ : इनके : गुण और अवगुण को सब कोई जानते हैं, पर जिसे जो भाता है वही उसे अच्छा लगता है।

व्याख्या : यह बात नहीं है कि असत्यवादी न जानता हो कि झूठ बोलना बुरा है, चोर यह न जानता हो कि चोरी करनी बुरी बात है; यह सब खूब जानता हैं, फिर भी उसे प्रकृति-वश झूठ बोलना, चोरी करना ही अच्छा लगता है। अतः बुरे या भले होने में अज्ञान कारण नहीं है, अपनी रुचि कारण है।

दो. भलो भलाइहि पै लहै, लहै निचाइहि नीचु।
सुधा गराहिअ अमरता, गरल सराहिअ मीचु ॥५॥

अर्थ : भले भलाई से ही : शोभा को : प्राप्त होते हैं और नीच निचाई से : शोभा को : प्राप्त हैं, अमृत की अमरता सराही जाती है और विष की मारकता सराही जाती है।

व्याख्या : उत्कर्ष की ही शोभा है, अपकर्ष की नहीं। सन्तों में गुणोत्कर्ष है और खलों में दोषोत्कर्ष है। अतः सन्तों के गुणागार होने में शोभा है। यथा : गुनागार संसार दुःख रहित विगत संदेह। तजि मम चरन सरोज प्रिय जिनकह देह न गेह। और खलों के दोषागार होने में शोभा है। यथा : दिगपालन मैं नीर भरावा। भूप सुजस खल मोहि सुनावा। लोकप जाके वंदी खाना, तथा : वेद पढ़ैं विधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी नित दूरहिं ते सिर नावैं।

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥
तेहि ते कछु गुन दोष वखाने। संग्रह त्याग न विनु पहिचाने ॥१॥

अर्थ : खलों के पाप और अवगुण की एवं सज्जनों के गुणों की गाथाएँ अपार और अथाह समुद्र हैं, इसी से मैंने कुछ गुणों और दोषों का वर्णन किया है, क्योंकि विना पहिचान के संग्रह या त्याग हो नहीं सकता।

व्याख्या : न तो खलों के पाप और अवगुण की गहराई का अन्त है, न साधु के गुणों की गहराई और विस्तार का अन्त है। इसलिए उनकी गाथाओं का भी अन्त नहीं है। जो कुछ लिखा गया है, वह प्रादेश मात्र है। तीन असुरों, तीन राजाओं, तीन देवताओं का दृष्टान्त दिया गया है यह दिखाने के लिए कि तीनों लोक के पराक्रमी इनके सामने नगण्य हैं। लिखने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि साधुओं तथा उनके गुणों के सग्रह का एवं खलों के तथा उनके पाप और अवगुणों के त्याग

---

१. यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।

का विधान है और यह बिना उनके पहिचाने हो नहीं सकता। इसलिए थोड़ा-बहुत गुण-दोष कहना पड़ा। 'खघथधमांहः' प्रा. प्र. २.२७। इस सूत्र से 'थ का ह' हो गया, अतः गाथा का गाहा रूप हो गया।

भलेउ पोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये ॥
कहहिं वेद इतिहास पुराना। विधि प्रपंचु गुन अवगुन साना ॥२॥

अर्थ : विधाता ने भले बुरे सभी पैदा किये हैं, पर वेदों ने उनके गुण दोष गिनकर अलग कर दिये हैं। वेद, पुराण और इतिहास बतलाते हैं कि ब्रह्मा का प्रपञ्च गुण और अवगुण से सना हुआ है।

व्याख्या : भवसागर के कर्ता ब्रह्मा हैं। उस सागर में गुण दोष सब मिलकर एक हो गये हैं। किसी की सामर्थ्य नहीं कि उन्हें अलग कर सके। वेद का बड़ा भारी कार्य यह है कि उसने गुण दोष को गिनकर अलग कर दिया। अब उसी को लेकर चाहे जितने मत मतान्तर बनें, पर आरम्भ में इनको अलग अलग कर बतला देना वेद का ही काम था। यदि कहिये कि मनुष्य ने अपने पसन्द के अनुसार गुण दोष को अलग किया तो यह नहीं हो सकता। सबकी पसन्द अलग-अलग है। बुरे को बुराई पसन्द है इसलिए बुराई गुण नहीं हो सकती। हानि लाभ भी इसका ठीक मापक नहीं है। प्रायेण पुण्य से ही हानि और पाप से ही लाभ होते देखा जाता है, और न बहुमत ही ठीक मापक हो सकता है, क्योंकि बहुमत सदा मूर्खों का ही रहता है। अतः वेद के अतिरिक्त गुण दोष का विवेचक कोई हो नहीं सकता।

वेद से अङ्ग और उपाङ्ग के सहित ऋक्, यजु और साम का ग्रहण है। इतिहास और पुराण पाँचवाँ वेद है। गुण और दोष ऐसे सने हुए हैं, जैसे आटा और पानी। सने हुए आटे से आटा और पानी का शुद्ध स्वरूप पृथक् करना असाध्य व्यापार है। इसी भाँति गुण और दोष का शुद्ध स्वरूप, शास्त्रदृष्टि से दिखाई पड़ता है। गुण में सूक्ष्म रूप से अवगुण भी रहता है और अवगुण में भी सूक्ष्म रूप से गुण अवस्थान करता है। जैसे :

दुख सुख पाप पुन्य दिनराती। साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू ॥३॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥
कासी मग सुरसरि कविनासा। मरुमारव महिदेव गवासा ॥४॥
सरग नरक अनुराग विरागा। निगम अगम गुनदोष विभागा ॥५॥

अर्थ : दुःख और सुख, पाप और पुण्य, दिन और रात, साधु और असाधु, सुजाति और कुजाति, दानव और देवता, ऊँच और नीच, अमृत और विष तथा सुजीवन और मृत्यु, माया और ब्रह्म, जीव और जगदीश, लक्ष्मी और दरिद्रा, रङ्क और राजा, काशी और मगध, देवनदी और कर्मनाशा, मारवाड़ और मालवा

ब्राह्मण और गोभक्षक, स्वर्ग और नरक तथा प्रीति और वैराग्य : ये सने हुए हैं : परन्तु वेद और शास्त्र ने इनके गुणों और दोषों को विलगाया है।

व्याख्या : यहाँ सब कुछ सापेक्ष है, निरपेक्ष कुछ भी नहीं, दुःख में सुख सना है और सुख में दुःख सना है, दोनों में से एक का शुद्ध रूप दुर्घट है। इसी भाँति सभी द्वन्द्वों में समझ लेना चाहिए। दुःख सुख कहकर फल कहा, यथा : फल जुगल बिधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे। पाप[1] पुण्य कहकर बीज कहा, यथा : पाप पुन्य द्वै बीज हैं। वै. सं.। 'दिनराती' से काल कहा। दिन रात की व्यवस्था ब्रह्मदेव के दिन रात तक चली जाती है। यथा : सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ एक सहस्र युग का ब्रह्मदेव का दिन होता है और उतनी ही बड़ी रात होती है। जो इसे जानता है, वह रात्रि और दिन का जानने वाला है। इसी बात को 'निसि अरु दिवस निमेष अपारा' कहकर द्योतित किया। साधु, असाधु, सुजाति कुजाती, दानव देव और ऊँच नीच से कर्त्ता भोक्ता कहा; यथा : बवै सो लवै निदान। वै. सं.। अमिअ मृत्यु तथा माहुर सुजीवन से पथ्य कुपथ्य कहा। यथा : विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। संजम यह न विषय कर आसा। माया ब्रह्म से मिथ्या और सत्य कहा। यथा : समुझि न परै झूठ का साँचा। जीव और जगदीश से अंश और अंशी कहा। यथा : ईश्वर अंश जीव अविनासी। लच्छि अलच्छि और रंक अवनीस से ऐश्वर्य-अनैश्वर्य कहा। 'काशी मग[2], सुरसरि कविनासा[2]। मरु मारव' से देश भेद कहा। महिदेव गवासा से दैवासुर सर्ग कहा। सरग नरक से भोग की परकाष्ठा कही, अनुराग विराग से आकर्षण विप्रकर्षण कहा। इन द्वन्द्वों में से निरपेक्ष कोई नहीं, देखने में एक दूसरे के विरोधी मालूम पड़ते हैं, पर सूक्ष्मरूपेण एक का गुण दूसरे में वर्तता है।

'अधो मनयाम् प्रा. प्र. ३.२' से लक्ष्मी के 'म' का लोप होकर लक्षी रूप हुआ। तब सूत्र लगा 'अक्ष्यादिषु च्छः प्रा. प्र. ६.३०' इससे क्ष का च्छ हो गया। तब लच्छी रूप सिद्ध हुआ।

दो. जड़ चेतन गुन दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥६॥

अर्थ : विधाता ने जड़ और चेतन तथा गुण और दोषमय संसार को बनाया। हंसरूपी संत, दूधरूपी गुण को ग्रहण करते हैं और जलरूपी दुर्गुण को छोड़ देते हैं। संशयान् हिनस्ति इति हंसः। जो संशयों का नाश करे उसे हंस कहते हैं।

व्याख्या : जड़ चेतन मिलकर बीस जोड़े हुए। जोड़ों में से एक में गुण का

---

[1] तुलसी यह तन खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य द्वै-बीज हैं, बवै सो लवै निदान॥

[2] राजा त्रिशङ्कु जब स्वर्ग से गिराये जाने पर अधोमुख होकर अन्तरिक्ष में लटके, तो उनके मुख से जो लार गिरी। उससे कर्मनाशा नदी हुई और जहाँ तक उनके रथ का छाया पड़ी वह देश मगध कहलाया। वह २४ योजन लम्बा और १६ योजन चौड़ा है।

बाहुल्य है और दूसरे में दोष का बाहुल्य है। वेद ने तो गुण दोष का स्वरूप अलग-अलग दिखला दिया, पर गुण को अलग करके ग्रहण कर लेना विवेकी सन्तों का काम है। हंस मिले हुए नीर में से क्षीर को ग्रहण कर लेता है और जलांश को छोड़ देता है। ब्रह्म भी कहे सुने जाते हैं, इतने अंश में वे भी विधि प्रपञ्च के भीतर हैं। माया से परे कहकर ही उनका वर्णन होता है, बिना माया का उल्लेख किये ब्रह्म का वर्णन दुरूह व्यापार है। इसलिए प्रपञ्च की गणना में उन्हें भी गिना दिया, नहीं तो ब्रह्म सर्वथा निष्प्रपञ्च है।

अस विवेक जब देइ विधाता। तब तजि दोष गुनहि मनुराता॥
काल सुभाउ करम वरिआई। भलेउ प्रकृति वस चुकइ भलाई॥१॥

अर्थ : जब विधाता इस प्रकार का विवेक देते हैं, तब मन दोषों को छोड़कर गुणों में लग जाता है, काल स्वभाव और कर्मों की प्रबलता से, भले भी प्रकृति : स्वभाव : के वश होकर भलाई में चूक जाते हैं।

व्याख्या : गुण को पृथक् करके ग्रहण करने का विवेक क्रियासाध्य नहीं है, यह तो विधाता की देन है। ऐसे विवेकी का मन गुण में लग जाता है, दोष की ओर जाता ही नहीं। 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः'। अतः सन्त होना किसी के वश की बात नहीं है, पर उनके सङ्ग के लिए प्रयत्न मात्र किया जा सकता है। 'काल कर्म गुण स्वभाव सबके सीस तपत' इसलिए कहते हैं कि काल, स्वभाव और कर्म की यहाँ प्रबलता है। 'काल सदा दुरतिक्रम भारी।' 'स्वभावो दुरतिक्रमः।' 'कठिन कर्मगति जान विधाता।' अतः काल, स्वभाव और कर्म का अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है। जीव काल, कर्म, स्वभाव, गुण से घिरा माया से प्रेरित होकर नाचा करता है। यथा : फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा। साधु लोग इनसे सदा सावधान रहते हैं, फिर भी कभी चूक हो ही जाती है। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। प्राणिमात्र अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, निग्रह क्या करेगा। जान-बूझकर भले लोग चूक नहीं करते, पर चूक होने पर दोष दुःख होता है, कलङ्क लगता है।

सो सुधारि हरितन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष विमल जसु देहीं॥
खलउ[१] करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू॥२॥

अर्थ : उसे हरि इस भाँति सुधार लेते हैं, जैसे शरीर को सुधार लिया जाता है और दुख दोष को मिटाकर निर्मल यश देते हैं, वैसे ही खल भी सुसङ्ग पाकर भलाई कर बैठते हैं, पर उनका मलिन स्वभाव नहीं जाता, क्योंकि वह मिट नहीं सकता।

व्याख्या : जैसे किसी के शरीर में धूलि लग जाती है तो वह उसे झाड़ देता है, इसी भाँति भले की चूक को भगवान् सुधार लेते हैं क्योंकि साधु उन्हीं की मूर्ति हैं और दुःख दोष का नाश करके निर्मल यश देते हैं। यथा : सो मैं सब विधि कीन्ह

---

१. यहाँ अतद्गुणालङ्कार है।

ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई। कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस, सुजसु चारु चहुँ ओर। जहाँ 'हरिजन' पाठ है, वहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिए कि भगवान् के भक्त जिस भाँति उस चूक को सुधार लेते हैं इसी भाँति खल से भी चूक हो जाती है, सत्सङ्ग में पड़कर भलाई कर बैठते हैं, पर उनका स्वभाव नहीं मिटता। अतः कभी भलाई या बुराई कर बैठना साधु या खल का परिचायक नहीं है।

लखि सुवेष जग वंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजिअहि तेऊ॥
उघरहिं अंत न होहि निवाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥३॥

अर्थ : अच्छा वेष बनाये देखकर, वेष के प्रताप से, संसार के ठगनेवालों की भी पूजा होती है, परन्तु अन्त उनका खुल जाता है, वेष का निर्वाह उनका किया नहीं होता, जैसे कालनेमि, रावण और राहु का हुआ।

व्याख्या : तथैव साधु वेष साधुता का परिचायक नहीं है; न लिङ्गं धर्मकारणम्; न वेष द्वारा पूजित होना परिचायक है। खल भी साधु वेष धारण कर लेते हैं और उनकी पूजा भी होने लगती है। वेष तो वे बनाये रहते हैं पर तदनुकूल गुण, कर्म, स्वभाव का सँभार वे नहीं कर सकते। कालनेमि ऋषि बना, रावण संन्यासी बना, राहु देवता बना, क्रम से उनका सम्मान भी हनुमानजी, जानकीजी तथा देवताओं द्वारा हुआ, पर पीछे से भेद खुल गया।

यहाँ राहु की कथा मानस के बाहर की चिड़िया[1] है। यहाँ पूर्वरूपालङ्कार है।

कियेहु कुवेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ वेद विदित सब काहू॥४॥

अर्थ : कुवेष किये रहने पर भी साधु का सम्मान होता है, जैसे संसार में जाम्बवान् और हनुमान् का सम्मान होता है। कुसङ्ग से हानि और सुसङ्ग से लाभ होता है, यह लोक और वेद में प्रकट है और सब लोग जानते हैं।

व्याख्या : असाधु वेष में भी साधु का सम्मान होता है। कितने महात्मा अव्यक्तलिङ्ग घूमा करते हैं, जिसमें कोई उनका मान न करे। क्योंकि : लोक मान्यता अनल सम कर तप कानन दाह। पर वे भी छिप नहीं सकते। वन्दर वेष में हनुमान् और भालू वेष में जाम्बवान् का कौन सम्मान नहीं करता?

निचोड़ यह है कि कुसंग से हानि और सुसंग से लाभ होता है। १. मति, २. कीर्ति, ३. गति, ४. भूति और ५. भलाई, सुसङ्ग से मिलती है और कुसङ्ग से १. कुमति, २. अकीर्ति, ३. दुर्गति, ४. अनैश्वर्य और ५. बुराई मिलती है। इस

---

[1] १. समुद्र मन्थन से अमृत निकला और मोहिनी मूर्ति धारणकर भगवान् ने दैत्यों से अमृत घट ले लिया और देवताओं को अमृत परोसने लगे तो राहु भी देवता का रूप धारण कर देवपंक्ति में बैठ गया। सूर्य चन्द्र के लखाने पर भगवान् ने राहु का सिर काट दिया, पर वह अमृत पी चुका था। इसलिए सिर और धड़ दोनों जीते रह गये। ब्रह्मदेव की आज्ञा से वे दोनों ग्रह हो गये और राहुकेतु कहलाये।

विषय में सबका ऐकमत्य है। सुसङ्ग और कुसङ्ग से इन पाँचों की प्राप्ति को उदाहरण देकर दिखलावेंगे।

'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्तामतुप:' प्रा० प्र० ४.२५। आलु, इल्ल, उल्ल, वन्त, इन्त इत्येते आदेशा मतुप: स्थाने भवन्ति। इससे जाम्बवान् का जामवन्त रूप सिद्ध हुआ।

गगन चढइ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलइ नीच जल संगा ॥
साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारीं ॥५॥

अर्थ : वायु के सङ्ग से धूल आकाश में चढ़ जाती है और वही नीच जल के साथ कीचड़ में मिल जाती है। साधु के घर में तोता मैना राम स्मरण करते हैं और असाधु के घर में गिन-गिनकर गालियाँ देते हैं।

व्याख्या : सत्सङ्ग और कुसङ्ग से ३. सुगति दुर्गति का उदाहरण देते हैं। पवन की उच्चगति है अत: पवन को ऊँचा कहा। उसके सङ्ग से धूलि भी आकाश में चढ़ जाती है। जल की नीची गति है इसलिए उसे नीच कहा। उसी धूलि का जब जल से साथ होता है तो वह कीचड़ में मिल जाती है।

शुकसारी से १. सुमति कुमति का उदाहरण देते हैं। साधु के घर दिन रात भगवन्नामोच्चारण होता है, खल के घर गाली बकी जाती है, तो उसका प्रभाव शुक सारिका पर पड़ता है। नहीं तो पक्षी को भगवन्नामस्मरण या गालिप्रदान से ही क्या सम्बन्ध। गिनकर गाली देने का भाव यह कि जितनी गाली देने का अभ्यास उस खल को है, उतनी ही गालियों का उच्चारण उसी क्रम से उसके तोता-मैना किया करते हैं।

धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई ॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जगजीवन दाता ॥६॥

अर्थ : कुसङ्ग में पड़कर धूआँ कारिख हो जाता है, पर वही सुन्दर स्याही है, जिससे पुराण लिखा जाता है और वही धूआँ जल, अग्नि और वायु के संयोग से संसार को जीवन देनेवाला बादल होता है।

व्याख्या : सत्सङ्ग और कुसङ्ग से ४. ऐश्वर्य और अनैश्वर्य का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि धूम कारिख होकर दुर्दशा को प्राप्त होता है और वही स्याही होकर पुराणों को लिपिवद्ध करके पूजनीय होता है।

कवि मूर्धन्य कालिदास भी लिखते हैं 'धूमज्योति: सलिलमरुतां सन्निपात: क्व मेघ:' धूआँ अग्नि, जल और वायु के संयोग से होता है। उससे संसार को जीवन दान मिलता है। यहाँ जीवन शब्द में श्लेष है। जीवन का अर्थ जल भी है। मेघ से जल मिलता है और तद्द्वारा जीवन रक्षा होती है।

दो. ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहि सुलक्खन लोग ॥७॥

सम्प्रकास[1] तम पाख दुहुँ, नाम भेद विधि कीन्ह ।
ससि पोषक सोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह ॥७क॥
जड़ चेतन जग[2] जीवजत, सकल राममय जानि ।
वंदौं सबके पद कमल, सदा जोरि जुगपानि ॥७ख॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व ।
वंदौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ॥७ग॥

अर्थ : ग्रह, औषधि, जल, पवन और वस्त्र ये सब कुयोग और सुयोग पाकर बुरे और भले हो जाते हैं। इसे लखनेवाले ही लखते हैं। महीने के दो पखवारों में उजेला और अँधेरा समान ही होता है। नाम में भेद विधाता ने कर दिया। एक को चन्द्रमा का घटानेवाला और दूसरे को बढ़ानेवाला समझकर संसार में एक को २. सुयश और दूसरे को अपयश दिया : क :। जगत् में जितने जड़ चेतन जीव हैं सबको राममय जानकर, मैं उन सबके चरण कमलों को सदा हाथ जोड़कर वन्दना करता हूँ : ख :। देवता, दैत्य, मनुष्य, सर्प, प्रेत, पितर, गन्धर्व, किन्नर और निशाचर सबकी वन्दना करता हूँ। सब लोग कृपा करो : ग :।

व्याख्या : एक ही वस्तु देश, काल, और प्रकृति के भेद से सुख और दुःख को पैदा करती है, उसमें निश्चयात्मिका प्रतिष्ठा नहीं है। प्रकृति और मात्रा के भेद से भी सुख दुःख होता है। पापग्रह, तीसरे और ग्यारहवें स्थान के योग से, शुभ फल देते हैं। शुभ ग्रह आठवें और बारहवें स्थान के योग से मन्द फल देते हैं। चन्द्र शुभग्रह है, पर क्षीण हो या पाप ग्रह से युक्त हो, तो अशुभ फल देता है। इसी भाँति बुध यदि पाप ग्रह से युक्त हो, तो अशुभ फल देता है। चीनी कफकारक है, पर घृत, मधु, अर्द्रक से युक्त हो तो कफनाशक हो जाती है। कर्मनाशा का जल अपावन है, पर उसी का योग यदि गङ्गाजल से हो जाय तो पावन है। गङ्गा का जल पावन है, पर वह मद्य के घट में रख देने से अपावन है। पश्चिम की वायु रोगहर है, पर वही यदि अनूप देश से होकर आवे तो रोगकारक हो जाय। कपड़ा यदि देवता को चढ़े तो पवित्र और मृतक से संयोग हो जाय तो अपवित्र। इस भाँति कुयोग सुयोग पाने से सुवस्तु कुवस्तु होती है और कुवस्तु सुवस्तु होती है, पर सब कोई यह बात नहीं समझ सकते। अच्छे लखनेवाले ही इस बात को लखते हैं। यह भलाई बुराई का उदाहरण है।

अमावास्या और प्रतिपद की रात्रि को रात भर अंधेरा रहता है और पूर्णमासी तथा कृष्णपक्ष के प्रतिपद को पूर्ण प्रकाश रहता है। इसी भाँति दोनों

---

१. उन्मीलितालङ्कार है।

२. रामं सत्यं परं ब्रह्म रामात् किञ्चिन्न भिद्यते। तस्माद्रामस्य रूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्। सनत्कुमार संहिता। अर्थ : रामजी सत्य परं ब्रह्म हैं। राम से कुछ भी पृथक् नहीं। इसलिए यह जगत् रामरूप है यह सत्य है, सत्य है।

पक्षों में प्रकाश और अन्धकार बरावर ही रहता है, पर विधाता ने एक का नाम शुक्ल रक्खा और दूसरे का कृष्ण रक्खा। शुक्लपक्ष में चन्द्रमा बढ़ता है और। कृष्ण में घटता है। तदनुसार संसार में शुक्लपक्ष को पोषक शक्ति के योग से यश है, कृष्ण को शोषक शक्ति के योग से अपयश है। यह कीर्ति और अपकीर्ति का उदाहरण है।

'भल अनभल निज-निज करतूती। लहत सुजस अप लोक विभूती' का प्रसङ्ग समाप्त करके अब समष्टि की वन्दना करते हैं। समष्टि पर भगवत् दृष्टि रखते हुए, सेवक-सेव्य भाव बनाये रखना ही अनन्योपासना है। यथा : सो अनन्य अस जाकर मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। अतः श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जड़ चेतन जितने जीव हैं, सबको राममय जानकर, सबके चरण कमलों की वन्दना सदा दोनों हाथ जोड़कर करता हूँ :ख:। अतः इस समय मङ्गलाचरण के लिए देव, दनुज, नर, नाग, खग, प्रेत, गन्धर्व, किन्नर, रजनीचर आदि सबकी वन्दना करता हूँ कि सबलोग मुझपर कृपा करें :ग:।

'हानि कुसंग सुसंगति लाहू' इस पुरइन से यहाँ आकर दोहारूपी दो कमल निकले ७ और ७ क तथा 'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी' इस पुरइन ने भी यहाँ दो कमल दिये ७ ख और ७ ग। इस भाँति यहाँ चार कमलों का एक गुच्छा बन गया।

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल बासी॥
सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥१॥

अर्थ . चार खानि, चौरासी लाख योनि के जीव, धरती और आकाश में रहते हैं। सारे जगत् को सीताराम मय जानकर, मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

व्याख्या : शास्त्रकारों ने जीवों के प्रकारों की गणना की है। पहिले उनके चार बड़े-बड़े विभाग हैं १. स्वेदज २. उद्भिज्ज ३. अण्डज और ४. जरायुज। इनमें से, एक-एक में अनेक[1] लाख योनि जीव रहते हैं, उनमें से कितने जलमें रहते हैं, कितने धरती पर रहते हैं और कितने आकाश में विचरते हैं। 'जलचर थलचर नभचर नाना' कहकर जो बात कही थी, उसीका विस्तार यहाँ कहा।

पहिले 'राममय' कहा था; यथा : सकल राममय जानि। सो भगवती सीता को कोई पृथक् न समझ ले अतः तुरन्त 'सीयराममय' कहे देते हैं। तीन बार समष्टि-वन्दना से मनसा वाचा कर्मणा प्रणाम कहा। 'क ग च ज त द पवां प्रायेण लोपः' इस सूत्र से तकार का लोप होकर सीता का 'सीआ' रूप हो गया। 'दीर्घह्रस्वौ मिथौ

---

[1] स्थावर तृण-वृक्षादि वीस लक्ष, जलके जीव नवलक्ष, पृथ्वी खोदकर रहनेवाले कूर्म आदि ग्यारह लक्ष, नभचर दशलक्ष, चौपाये तीस लक्ष, वन्दर चार लक्ष। इस प्रकार चौरासी लक्ष योनियाँ हैं। यथा : स्थावरं विंशतेर्लक्षं, जलजं नवलक्षकम्। कूर्मादि रुद्रलक्षञ्च, दशलक्षं च पक्षिणः। त्रिंशल्लक्षं पशूनाञ्च चतुर्लक्षञ्च वानरः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्। शास्त्रसारे।

वृत्तौ' इस सूत्र से 'आ' का 'अ' हो गया और 'सीअ' रूप हुआ। 'अवर्णे यःश्रुतिः' इससे 'अ' का 'य' होकर 'सीय' रूप सिद्ध हुआ।

जानि कृपाकर किंकर मोहू। सबमिलि करहु छाँडि छल छोहू ॥
निज बुधिबल भरोस मोहि नाहीं। ताते विनय करौं सब पाहीं ॥२॥

अर्थ : मुझे भी कृपा की खानि राम जी का किंकर समझकर सब मिलकर छल छोड़कर छोह करो। मुझे अपनी वुद्धि बल का भरोसा नहीं है, इसलिए सबसे विनय कर रहा हूँ। जहाँ 'कृपा करि' पाठ है वहाँ यह अर्थ करना पड़ेगा कि मुझे भी कृपा करके किंकर जानकर सब कोई मिलकर छोह करो। कृपाकर सम्बोधन भी हो जायगा : हे कृपाकर !

व्याख्या : बड़े का छोटे पर प्रेम करने को छोह कहते हैं। यहाँ श्री गोस्वामीजी सम्पूर्ण जगत् से विनय करते हैं कि आप लोग साक्षात् भगवद्रूप हैं। मैं भी कृपा की खानि भगवान् का सेवक हूँ। ऐसा जानकर, स्वार्थ को मनमें स्थान न देकर, सब कोई मिलकर मुझपर छोह कीजिये अथवा मुझे भी अपना सेवक जानकर निश्छल रूप से सबलोग मिलकर छोह कीजिये। इसीलिए मैंने सबको मिलाकर वन्दना की है। इस वन्दना में खल का भी समावेश है। अतः छल छोड़कर छोह करने को कहते हैं। अथवा देव, पितर अपना-अपना भाग पाने के लिए राम-परायण नहीं होने देते। छल के सहित छोह करते हैं, ऐश्वर्यादि देते हैं। अतः श्रीग्रन्थकार छल छोड़कर छोह करने की प्रार्थना करते हैं। इन्द्रिय सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई। आवत देखहिं विषय बयारी। तब हठि देहि कपाट उघारी।

'आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारिनखोरी' यहाँ ग्रन्थकार अपनी आर्ति विनय और दीनता कहते हैं। जिसे अपने बुद्धि, बल का भरोसा होता है, वह शास्त्रमर्यादा निर्वाह के लिए मङ्गलाचरण कर देता है, मुझे भरोसा नहीं है, इसलिए सबसे विनय करता हूँ।

'निज वुधिवल भरोस मोहि नाहीं' यही दीनता है। 'ताते विनय करौं सब पाही' यह आर्ति है। आगे ७ दोहों में विनय है।

करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥३॥

अर्थ : मैं रघुपति के गुणों की गाथा की रचना करना चाहता हूँ, परन्तु मेरी वुद्धि छोटी है और चरित अथाह हैं। मुझे एक भी उपाय का अङ्ग नहीं सूझ रहा है, मेरे मन-वुद्धि कंगाल हैं और मनोरथ राजा : सा है।

व्याख्या : चरित सिन्धु में बिना डूबे गुणों का पता नहीं चलता। क्योंकि गुणरूपी मोती युक्तिरूपी सीपी के पेट में है। यथा : युक्ति मंजु मनि सीप सोहाई। मुक्ताहल गुनगन चुनइ, राम वसौ हिय तासु। सीप समुद्र के तल में रहती है, मेरी लघु वुद्धि ऊपर ही ऊपर रह जाती है, अथाह चरित के तल तक नहीं पहुँचती।

रघुपति गुन गाथा की रचना का कोई अङ्ग नहीं सूझता : का भाव यह कि

काव्य रचना के चार अङ्ग हैं १. शास्त्र ज्ञान २. व्यवहार ज्ञान, ३. शुभसंस्कार और ४. सत्कवियों की शिक्षा।

ग्रन्थकार कहते हैं कि इनमें मेरा प्रवेश नहीं। कंगाल का मनोरथ राजा सा है। उस मनोरथ की पूर्ति का उपाय जैसे उस कंगाल को नहीं सूझता, उसी भाँति मैं भी असमञ्जस में पड़ा हूँ। मेरे मन, बुद्धि और मनोरथ में सामञ्जस्य का कोई मार्ग ही नहीं है।

अथवा मोती निकालने के लिए लोग अनेक उपाय करते हैं, सिक्कड़ पकड़ कर समुद्र तल में प्रवेश करते हैं। श्वास लेने के लिए नाक में नली लगाते हैं। जल जन्तु से बचने के लिए कवच पहनते हैं। वहाँ उन्हें सीपियाँ मिलती हैं, जिनमें से मोतियाँ निकलती हैं, परन्तु 'गुणरूपी मोतियों के निकालने के लिए मैं क्या करूँ' यह उपाय मुझे नहीं सूझता, जिस भाँति राजाओं के करने योग्य मनोरथ के साधन का कोई अङ्ग कंगाल को नहीं सूझता।

मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिअँ जग जुरें न छाँछी॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल वचन मनलाई॥८॥

अर्थ : मेरी बुद्धि अति नीच है और रुचि ऊँची और अच्छी है। चाहिए अमृत और मट्ठा भी नहीं जुरता। अतः सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे और बालक के वचनों को मन लगाकर सुनेंगे।

व्याख्या : स्वार्थरत मति को नीच कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरी मति अति नीच है और रुचि अत्यन्त ऊँची है। राम गुणगान की अभिरुचि है, जिस गुणगान को समाधिविस्मरण पूर्वक परम अधिकारी सादर सुना करते हैं। मेरी वही गति है जैसे किसी अभागे को ग्राम्य भोग छाँछी दुर्लभ हो और वह देवभोग अमृत चाहे, जो बड़े-बड़े भाग्यवानों को नहीं मिलता। 'मति अतिरंक मनोरथ राऊ' का स्पष्टीकरण यहाँ किया। रघुपति गुणगाथा को अमृत और प्राकृत जन गुणगान की उपमा छाँछ से दी।

यदि कहिये कि रंक को राजा की इच्छा, अति नीच को उच्च बनने की इच्छा ढिठाई है। पौरुष की अपेक्षा न करके इच्छा करना तामस है। इसपर कहते हैं कि सज्जन : माता-पिता : तो इस ढिठाई को क्षमा ही करेंगे। असमर्थ बालक की ऊँची रुचि की वाणी को माँ-बाप परम प्रसन्न होकर सुनते हैं।

जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥
हँसिहहिं कूर[1] कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन भूषन धारी॥५॥

व्याख्या : श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि बच्चों की भाँति मुझसे कहते न बनेगा,

अर्थ : यदि बालक तोतली बातें कहता है तो उसके माँ बाप प्रसन्न मन से सुनते हैं और जो क्रूर हैं, खोटे हैं, बुरे विचारवाले हैं और जो दूसरों के दूषणो का ही भूषण धारण करते हैं वे हँसेंगे।

---

[1] 'सर्वत्र लवराम्' इस सूत्र से 'र' का लोप होकर क्रूर का कूर हो गया।

टूटे-फूटे शब्दों में हरियश कहूँगा। वह बच्चों की तोतली वाणी की भाँति, सज्जनों के लिए अत्यन्त मोदकारी होगी। वाक्पटुता से उतना मोद नहीं होता। बच्चों की तोतली वाणी सबको प्रिय लगती है। उसका उपहास, क्रूर, कुटिल और कुविचारी ही कर सकते हैं। उन्हें अपने में तो कोई गुण है नहीं, जो भूषण हो सके तो दूसरे के दूषण को अपना भूषण बनाते हैं। भाव यह कि दूसरों को बुरा कहकर आप अच्छे बनते हैं। दूषण का प्रिय होना उनकी क्रूरता है, उसे भूषण समझना कुटिलता है और उसे धारण करना कुविचार है। परन्तु संसार में क्रूर, कुटिल, कुविचारी की हो संख्या अधिक है। यथा : जहँ तहँ काक उलूक वक मानस सकृत मराल।

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥
जे पर भनित सुनत हरखाहीं। ते वरपुरुष बहुत जग नाहीं ॥६॥

अर्थ : चाहे रसीली हो चाहे अत्यन्त फीकी हो, अपनी कविता किसे अच्छी नहीं लगती। जो दूसरों की कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं।

व्याख्या : अपनी रचना सबको अच्छी लगती है तो क्या कूर, कुटिल, कुविचारी अच्छी कविता करते हैं जो तुम्हारी कविता पर हँसेगे। इसपर कहते हैं कि उन्हें अपनी बनाई हुई रसोई की भाँति अपनी बनाई कविता अच्छी लगेगी ही चाहे वह सरस बने चाहे फीकी बने। परन्तु जो दूसरे के परिश्रम के साफल्य के लिए तथा उत्साह वर्धन के लिए उसकी बनाई हुई कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं ऐसे पुरुष बहुत थोड़े हैं, इसीका उदाहरण देते हैं; यथा :

जग बहु नर सरि सर समभाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जलपाई ॥
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूरविधु बाढ़ै जोई ॥७॥

अर्थ : भाई; संसार में नदी और तालाब के समान मनुष्य बहुत हैं जो जल पाकर अपनी बढोत्तरी से बढ़ते हैं पर समुद्र के समान कोई विरला ही होता है जो चन्द्रमा को पूर्ण देखकर बढ़ता है।

व्याख्या : अपनी बढोत्तरी से बढ़नेवालों की उपमा नदी और तालाब से दे दी : नदी और तालाब असंख्य हैं : और समुद्र को दूसरे की बढोत्तरी से बढ़ने वाले के साथ उपमित किया, जिनकी संख्या चार कही जाती है। ओछे लोग ही संसार में अधिक हैं, उन्हें अपनी ही कामनाओं से छुट्टी नहीं; वे दूसरों की बढोत्तरी से नहीं बढ़ सकते। समुद्र पूर्णकाम है, वह दूसरे की बढोत्तरी से वढ़ सकता है। भावार्थ यह कि मेरी कविता से पूर्णकाम महात्माओं को प्रसन्नता होगी पर जिन्हें अपनी ही इच्छा की पूर्ति के लिए विकलता है, वे प्रसन्न नहीं हो सकते।

दो. भाग छोट अभिलाष बड़, करौं एक विश्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास ॥८॥

अर्थ : भाग्य छोटा और अभिलाष बड़ा है, परन्तु एक भरोसा करता हूँ कि इसे सुनकर सब सज्जन सुख पायेंगे और खल उपहास करेंगे : हँसी उड़ावेंगे।

व्याख्या : ऋषियों सा भाग्य नहीं, मन मति रंक है और गुण ग्राहक भी थोड़े हैं, इसलिए कहा कि भाग्य छोटा है और अभिलाषा बड़ी है कि ऐसी कविता बने जिससे सबका हित हो। यथा : कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई। यह असामञ्जस्य है, फिर भी एक विश्वास है, जिसके बल पर कविता करता हूँ। जितना विश्वास सज्जन के सुख पाने पर है, उतना ही विश्वास खल के परिहास करने पर है। भाव यह कि सुख सबको मिल जायगा। सज्जन मुदित मनसे सुनेंगे ही और खल भी उपहास करते हुए मुदित होंगे।

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥
हँसहिं वक गादर चातकहीं। हँसहिं मलिन खल विमल वतकहीं ॥१॥

अर्थ : खलों की हँसी से मेरी भलाई होगी। कौवे मधुरकण्ठ : कोयल : को कठोर : कण्ठ : कहा करते हैं। बगुले हंसों को और चमगादड़ पपीहों को हँसा करते हैं, इसी भाँति मलिन खल निर्मल वार्ता की हँसी उड़ाते हैं।

व्याख्या : जिसका खल परिहास करते हैं, वह बात अच्छी होती है। सो खल के परिहास से संसार समझेगा कि तुलसीदास ने अच्छा कहा होगा तब ही खल मजाक उड़ा रहे है। क्योंकि संसार कोयल के कूक पर मुग्ध है, कोयल के कण्ठ को कठोर कहने की सामर्थ्य काक में ही है : इससे कूर का हँसना कहा। खल के परिहास से पाप भी कटता है, अतः इसमें हित है।

हंस और बक एक ही रूप के होते हैं, पर हंस विवेकी हैं और वक अविवेकी दगाबाज है सो वक हंस को हँसता है कि यह सरस : आमिष को छोड़कर : मोती चुगता है। कहा गया है कि 'चरन चोंच लोचन रँग्यौ चलै मराली चाल। छीर नीर विवरन समय वक उघरत ततकाल।' इससे कुटिल का हँसना कहा।

भलो कहै विनु जाने ही विनु जाने अपवाद। तेनर गादुर जानि जिअ करिअ न हरख विषाद। और एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास। एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास। सो गादुर चातक को हँसता है कि यह तो स्वाती का बूँद पीते हैं और गादुर अपने मुख से अधः इन्द्रिय का कार्य करना अच्छा समझता है। हंस का विवेक और चातक का टेक श्लाघ्य है। यथा : चातक हंस सराहियत टेक विवेक विभूति। इन्हें : ऐसे टेक विवेकवाले को : मलिन खल हँसते हैं। इस भाँति कुविचारी का हँसना कहा।

कवित रसिक न राम पद नेहू। तिन कहँ सुखद हास रस एहू ॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिवे जोग हँसे नहि खोरी ॥२॥

अर्थ : जो कवित्व के रसिक नहीं हैं और जिन्हें श्रीरामजी के चरण से स्नेह नहीं है उनके लिए यह सुख देनेवाला हास्य रस है। भाषा की कविता है और मेरी बुद्धि भोरी है। अतः हँसने योग्य है, हँसने में कोई दोष नहीं।

व्याख्या : खल न कवित्व के रसिक हो सकते हैं और न उन्हें रामजी के चरणों में स्नेह ही हो सकता है। खल किसी का वखान नहीं करते क्योंकि उन्हें रस नहीं

मिलता। वे तो हरिहर यश राकेश के लिए राहु समान हैं। उन्हें रामपद में नेह नहीं है। मेरी रचना उन्हें अटपटी मालूम पड़ेगी, वे हँस पड़ेंगे। उनके हृदय में हास्यरस का प्रादुर्भाव होगा। यथा : हँसी भरयौ चित हँसि उठे जो रचना सुनि दास। कवि पंडित ताको कहैं यह पूरन रसहास। का. नि. : उन्हें भी सुख मिलेगा। इस भाँति कुविचारी का हँसना कहा।

भाषा में अक्षरार्थ के प्रकाश की यथार्थ शक्ति नहीं और मेरी बुद्धि में कवित्त रचना की यथार्थ शक्ति नहीं। अतः निश्चय कविता वेढङ्गी होगी। वेढङ्गी वस्तु के देखने सुनने से हँसी आना स्वाभाविक है, हँसने में दोष नहीं है। अतः उनके हँसने पर मुझे दुःख मानने के लिए स्थान नहीं है। 'खल परिहास होइ हित मोरा' से उपक्रम करके 'हँसे नहि खोरो' से परिहास प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरिहर पद रतिमति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की ॥३॥

अर्थ : जिन्हें न तो प्रभु के चरणों में प्रीति है और न अच्छी समझ ही है उन्हें यह कथा सुनने पर फीकी लगेगी। जिन्हें हरिहर के चरण में प्रीति है और जिनकी वुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं है। उनके लिए रघुवर की कथा मीठी है।

व्याख्या : इस कथा के मीठी लगने का कारण एकमात्र प्रभुपद प्रीति है सो जिसे है नहीं और न अच्छी समझ ही है : अच्छी समझ होती तो समझते कि गुण गण के ज्ञान से व्यक्ति के स्वरूप का ज्ञान होता है : तब वे राम गुणगान में मन लगाते, वक्ता के गुण दोष पर दृष्टि न देते। ऐसे पुरुष को यह कथा फीकी लगेगी।

हरि और हर में भेद नहीं है, इसीलिए दोनों को मिलाकर कहते हैं। दोनों पदों के और दोनों स्वरूपों के भूषण और आयुधों के भाव एक ही हैं। गदा और विभूति पृथ्वीतत्त्व, कमल और गङ्गा जलतत्त्व, सुदर्शन और भालनेत्र अग्नितत्त्व, पाञ्चजन्य और सर्प वायुतत्त्व, नन्दक और डमरू आकाशतत्त्व। इनके धारण करने वाले हरिहर हैं। अतः जिसको हरिहर चरण में भक्ति है, कुतर्क उठाकर इनके चरित्र में न्यूनाधिक भाव का आरोप जो नहीं करते, उन्हें रघुवर की कथा मीठी लगेगी क्योंकि कथा भक्ति का साधन है। यथा : समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। हरिहर पद के अर्थ में भी भेद नहीं। 'हरति दुःखानि इति हरिः' और 'हरति दुःखानि इति हरः।'

राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुवानी ॥
कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ॥४॥

अर्थ : सज्जन लोग अपने जी में श्रीरामजी की भक्ति से भूषित समझकर : इस कथाको : सुन्दर वाणी से बड़ाई करते हुए सुनेंगे। मैं न कवि हूँ और न बोलने में चतुर हूँ। मैं सब कलाओं और विद्या से हीन हूँ।

व्याख्या : सज्जन ऐसे रामभक्ति के रसिक हैं कि कविता पर ध्यान न देकर रामभक्ति से भूषित जानकर प्रशंसा करते हुए इसे सुनेंगे।

शक्ति कवित्त बनाइबे की, जेहि जन्म नछत्र में दीन्ह विधातैं।
काव्य की रीति सिखै सुकवीन ते, देखै सुनै बहु लोग की बातैं॥
दास जू जामें एकत्र ए तीन, बनै कविता मन रोचक तातैं।
एक विमान चलै रथ जैसे, धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं॥

'कवि न होउँ' से शक्ति को हीनता कही, 'नही वचन प्रवीनू' से लोक चातुरी का अभाव कहा 'सकल कला सब विद्या हीनू' से शिक्षा का अभाव कहा। [१]कलाएँ चौंसठ हैं। विद्या चौदह हैं। इन सबका ज्ञान होना कवि के लिए अनिवार्य है। सो मैं सबसे अनभिज्ञ हूँ।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोषगुन विविध प्रकारा॥५॥

अर्थ : शब्द और अर्थ के अनेक अलङ्कार हैं, छन्द और प्रबन्ध के अनेक विधान हैं, भावों और रसों के अपार भेद हैं तथा कविता के नाना प्रकार के गुण और दोष हैं।

व्याख्या : शब्द और अर्थ कविता का शरीर है। अलङ्कार गहने हैं। रस आत्मा है। गुण शोभा है। दोष शरीरविकृति अर्थात् खञ्जत्व, काणत्वादि है। छन्द नृत्य है। शब्दालङ्कार के अनेक भेद हैं। अर्थालङ्कार के भेद उससे भी अधिक हैं। छन्दों के भेद और उसके प्रस्तार का वहुत विस्तार है। यहाँ काव्यादि प्रबन्ध के अनेक विधान हैं कोई पारावार नहीं है। कवित्वके माधुर्यादि गुण हैं, अश्लील आदि अनेक दोष हैं।

कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागर कोरे॥६॥

---

१. कला तीन सौ से अधिक हैं। उनमें से ६४ के नाम शिवतन्त्र में पाये जाते हैं : १. गीतम् २. वाद्यम् ३. नृत्यम् ४. नाटचम् ५. आलेख्यम् ६. विंशेषकच्छेद्यम् ७. तण्डुलकुसुमवलिविकारा: ८. पुष्पशय्या ९. दशनवसनाङ्गरागा: १०. मणिभूमिकाकर्म ११. शयनरचनम् १२. उदकवाद्यम् १३. उदकघात: १४. माल्यग्रथनविकल्पा: १५. चित्रा योगा: १६. शेखरापीडयोजनम् १७. नेपथ्ययोगा: १८. कर्णपत्रभङ्गा: १९. गन्धयुक्ति: २०. भूषणयोजना २१. इन्द्रजाला २२. कौचुमारयोगा: २३. हस्तलाघवम् २४. चित्रशाकपूपविकारक्रिया २५. पानकरसरागासवयोजनम् २६. सूचीवायकर्माणि २७. सूत्रक्रीडा २८. पहेलिका २९. प्रतिमाला ३०. दुर्वचक्रयोगा: ३१. पुस्तकवाचनम् ३२. नाटिकाख्यायिकादर्शनम् ३३. काव्यसमस्यापूरणम् ३४. पट्टिकावेत्रवाणविकल्पा: ३५. तर्कुकर्माणि ३६. तक्षणम् ३७. वास्तुविद्या ३८. रूप्यरत्नरीपंक्षा ३९. धातुवाद: ४०. मणिरागज्ञानम् ४१. आकरज्ञानम् ४२. वृक्षायुर्योगा: ४३. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि: ४४ शुकसारिकाप्रलापनम् ४५. उत्सादनम् ४६. केशमार्जनकौशलम् ४७. अक्षरमुष्टिकाकथनम् ४८. म्लेच्छितविकल्पा: ४९ देशभाषाज्ञानम् ५०. पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम् ५१. यन्त्रमात्रिका ५२ धारणमात्रिका ५३. सम्पाठ्यम् ५४. मानसीकाव्यक्रिया ५५ क्रियाविकल्पा: ५६ छलितकयोगा: ५७. अभिधानकोषछन्दोज्ञानम् ५८. वस्त्रगोपनानि ५९. द्यूतविशेष: ६०. आकर्षक्रीडा ६१. बालक्रीडनकानि ६२. वैनायकीनां विद्यानां ज्ञानम् ६३. वैजयकीनां विद्यानां ज्ञानम् ६४. वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम्।

अर्थ : काव्य का एक भी विवेक मुझे नहीं है। मैं कोरे कागज पर लिखकर कहे देता हूँ।

व्याख्या : जिसे काव्य के स्वरूप का दर्शन हुआ है वही कह सकता है कि 'कवित विवेक एक नहि मोरे'। कोरे कागज पर लिखना प्रमाण है, लिखे हुए पर लिखना प्रमाण नहीं है, सम्भव है कि हाथ बैठाने के लिए लिखा गया हो। कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने अपना कार्पण्य दिखलाया हो यथा : तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानहुँ नहिं कछु भजन उपाई। परन्तु जब वस्तुस्थिति मानने से काम चल सकता है तो कार्पण्य का आड़ क्यों लिया जाय।

अर्थ : १. गाना २. बजाना ३. नाच ४ नाटक ५. लेख चित्र ६. हीरा मोती वेधना ७. चावल पुष्प का रंग निकालना ८. पुष्प शय्या विधान ९. दाँत, वस्त्र तथा अङ्ग का रँगना १०. मणि से भूमि रचना ११. सेज लगाना १२. जल का बजाना १३. जल का ताडन १४. माला गूँथने का विकल्प १५. चित्र योग १६. शिर परकी माला बनाना १७. नेपथ्य योग १८. कर्ण पत्र योग १९. इत्र आदि बनाना २०. गहना पहिनाना २१. इन्द्रजाल २२. वाना पटा आदि २३. हाथ की सफाई २४. अनेक प्रकार से भोजन बनाना २५. शर्वत, रस, राग और आसव बनाना २६. सीना, बुनना वगैरह २७. सूत का खेल २८. वुझौवल २९. प्रतिमाला ३०. दूर्वं वक्र योग ३१. पुस्तक बाँचना ३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन ३३. काव्य की समस्या की पूर्ति ३४. पट्टी, बेंत, वाण आदि बनाना ३५. तर्कु के कर्म ३६. बढ़ई के कर्म ३७. वास्तु विद्या ३८. रूपा रत्न की परीक्षा ३९. धातुवाद ४०. मणि राग का ज्ञान ४१. खान का ज्ञान ४२. वृक्ष के आयु का योग ४३. मेढ़ा, मुर्गा और बटेर के लड़ाने की विधि ४४. तोता मैना पढ़ाना ४५. निकालने की विधि ४६. बाल के मार्जन करने का कौशल ४७. अक्षरमुष्ठिका कथन ४८. म्लेच्छित विद्या ४९. देश भाषा ज्ञान ५०. पुष्प शकटिका निमित्तिक ज्ञान ५१. यन्त्र मात्रिका ५२. धारण मातृका ५३. सम्पाठ्यम् ५४. मानसी काव्य क्रिया ५५. क्रिया विकल्प ५६. छलितक योग ५७. अभिधान कोष और छन्द का ज्ञान ५८. वस्त्रकी रक्षा ५९. विशेष प्रकार का जूआ ६०. आकर्ष क्रीडा ६१. लड़कों के खिलौने ६२. वैनायकी के विद्या का ज्ञान ६३. वैजयकी विद्या का ज्ञान ६४. वैतालिकी के विद्या का ज्ञान।

ये सब विद्याएँ भारतवर्ष में थीं, धीरे धीरे लुप्त हो गईं। बहुतों के नाम मात्र ऊपर गिना दिये गये हैं, अब परिचय देनेवाला नहीं है। बहुत सी ऐसी हैं, जो सुनने में तुच्छ मालूम होती हैं पर वे कभी चामत्कारिक थीं; जैसे तोता मैना पढ़ाना। अभी थोड़े दिन की बात है कि पूज्यपाद प० रक्षपाल दूबे जीका तोता रामरक्षा का पाठ करता था। तोते को कैसे पढ़ाना जिसमें उसे रामरक्षा कण्ठ हो जाय, अब कोई नहीं जानता। इसी भाँति और विद्याओं के विषय में समझना चाहिए।

चौदह विद्या : ब्रह्मज्ञानं रसज्ञानं वेदाः स्वरधरन्तथा। व्याकृति ज्यौतिषश्चैव धनुर्विद्या तथा मता। जलोत्तरणकं न्यायः कोकाश्वारोहणन्तथा। नटविद्या कृषिर्वैद्यं विद्या ह्येताश्चतुर्दश।

अर्थ : ब्रह्मज्ञान, रसायन, वेद, स्वरज्ञान, व्याकरण, ज्यौतिष, धनुर्वेद, तैरना, न्याय, कोक, घोड़े की सवारी, नटविद्या, खेती और वैद्यक ये चौदह विद्याएँ हैं।

दो. भनिति मोरि सब गुन रहित, विश्व विदित गुन एक।
सो विचारि सुनिर्हहिं सुमति, जिन्ह के विमल विवेक ॥९॥

अर्थ : मेरी कविता सारे गुणों से रहित है, पर एक गुण : ऐसा है कि : संसार में विख्यात है, यह विचारकर इसे सुमति जिन्हें निर्मल विवेक है सुनेंगे।

व्याख्या : मुझे कविता का विवेक नहीं है, इसलिए मेरी कविता भी सब गुण रहित है, निर्मल विवेकी वे ही हैं जो दोषों पर दृष्टि न देकर गुण ग्रहण करते हैं और कविता में जो गुण है वह विश्वविदित है। अतः उस गुण के कारण वे अवश्य सुनेंगे। फलतः बुध समाज में मेरी कविता का आदर होगा।

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥१॥

अर्थ : इसमें रघुपति का उदार नाम है, जो अति पवित्र पुराण और श्रुतियों का सार है। यह कल्याण का घर और अमङ्गल को दूर करनेवाला है और जिसे उमा सहित पुरारि : शिवजी : जपा करते हैं।

व्याख्या : अब उस विश्व विदित गुण को स्पष्ट करते हैं कि उसमें रघुपति का नाम है और वह १. उदार २. अतिपावन ३. पुराण श्रुतिसार ४. मङ्गल भवन और ५. अमङ्गल हारी है और ६. उसकी महिमा ऐसी है कि उसे उमाके सहित पुरारि : शिवजी : जपते हैं।

१. उदार यथा : नाम राम को कल्पतरु कलि कल्यान निवास।
२. अति पावन यथा : आभीर जवन किरात खल स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम वारक तेऽपि पावन होहि राम नमामि ते ॥
३. पुराण श्रुतिसार यथा : विधि हर हर मय वेद प्रान सो।
अगुन अनूप सगुन निधान सो ॥
४. मंगल भवन यथा : नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।
५. अमंगल हारी यथा : जिन्हकर नाम लेत जग माहीं।
सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥
६. उमा सहित जेहि जपत पुरारी यथा : सहस नाम सम सुनि सिव वानी।
जपति सदा पिय संग भवानी ॥

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम विनु सोह न सोऊ ॥
विधुवदनी सब भाँति सँवारी। सोह न वसन विना वर नारी ॥२॥

अर्थ : कविता अनोखी हो और सुकवि की की हुई हो परन्तु राम नाम बिना उसकी भी शोभा नहीं है। स्त्री चन्द्रमुखी हो और सब प्रकार से शृङ्गारित हो तो भी उस श्रेष्ठ नारी की कपड़े बिना शोभा नहीं होती।

व्याख्या : 'जग ते अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त' अतः सुन्दर कविता को सुन्दर स्त्री कहा। यदि कविता सुकवि कृत हो अर्थात् शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार

से युक्त हो और उसमें कवितोचित सब गुण हों तब वह सब प्रकार से शृङ्गारित कही जायगी। पर यदि उस कविता में राम नाम न हो तो उसकी शोभा उसी भाँति नहीं है जिस भाँति सब प्रकार से शृङ्गारित नायिका की शोभा कपड़ा न होने से नहीं होती।

आज तक साहित्यकारों ने कविता बनिता के शरीर, आत्मा, अलंकार, गुण और दोषों की कल्पना तो की पर किसी ने साड़ी आदि की कल्पना न की। श्री ग्रन्थकार का मत है कि भगवन्नाम की साड़ी बिना कविता बनिता नग्न है, आदर्शनीया है, उसका देखना पाप है, उसकी शोभा भी नहीं, भयानक मालूम पड़ती है। यथा : न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन : कूर्म पुराणे।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी ॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥३॥

अर्थ : सब गुणों से रहित कुकवि की कविता को भी राम नाम के यश से अङ्कित जानकर पण्डित जन उसे आदर पूर्वक कहते सुनते हैं; क्योंकि सन्त जन भौरें की तरह गुणग्राही होते हैं।

व्याख्या : जो कविता बनिता सब गुण रहित महाकुरूपा है, कुकवि कृत होने से अलङ्कारादि से भी रहित है, पर रामनाम यश से अलङ्कृत है, साड़ी आदि पहिने हुए है, वही बुधजनों द्वारा दर्शनीया है। क्योंकि जिस भाँति भौंरा फूल में रस लेता है और किसी बात से उसका प्रयोजन नहीं उसी भाँति सन्त गुण ग्रहण कर लेते हैं, अन्य प्रपञ्च से प्रयोजन नहीं रखते। आदर के साथ राम यश युक्त बेढङ्गी कविता को भी कहा सुना करते हैं।

जदपि कवित रस एकौ नाहीं। नाम प्रताप प्रगट एहि माहीं ॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा ॥४॥

अर्थ : यद्यपि इसमें कविता का एक भी आनन्द नहीं है तथापि रामजी का प्रताप इसमें प्रकट है। यही भरोसा मेरे मन में आया कि किसने सत्संग से बड़प्पन : बड़ाई : नहीं पाया ?

व्याख्या : मेरी कविता में कवितोचित गुण नहीं सही पर रामनाम का प्रताप इसमें प्रकट है। जैसे शम्भु का प्रताप सावर मन्त्र में प्रकट है। यथा : अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू। वह संस्कृत के मन्त्रों की भाँति कीलित नहीं है। मैं जो कविता करने चला सो 'रामनाम के प्रताप' के भरोसे कि रामनाम के सम्पर्क से मेरी कविता में भी महिमा आजावेगी।

धूमौ तजै[1] सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई ॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम कथा जगमंगल करनी ॥५॥

अर्थ : धूआँ भी अगर के साथ से सुगन्धित हो जाता है और अपने स्वाभाविक

---

[1] यहाँ तद्गुणालङ्कार है।

कडुएपन को छोड़ देता है। मेरी कविता यद्यपि भद्दी है परन्तु इसमें अच्छी वस्तु का वर्णन किया गया है। क्योंकि : रामकथा जगत् का मङ्गल करनेवाली है।

व्याख्या : प्रश्न उठता है कि सुसङ्ग से बड़ाई भले ही मिल जाय पर कविता का दोष तो बना ही है। जो बात अच्छी है, उसीकी प्रशंसा प्राप्त है। पर जो अंश बुरा है वह अच्छा कैसे हो जायगा ? इसपर कहते हैं कि अगर के साथ से धूम में सुगन्ध आजाती है और धूम का कड़आपन मिट जाता है। इसी भाँति रामयशरूपी अगर के साथ होने सें सुभाषा रूपी सुवास आ जावेगी और भद्दापनरूपी कटुता मिट जावेगी।

वर्णनीय वस्तु के भली होने से ग्राम्य गिरा का दोष अकिञ्चित्कर हो जाता है। भदेस शब्द का अर्थ महात्माओंने किया है कि 'भ्रष्ट है अङ्ग जिसका' उसे भदेस कहते हैं अर्थात् अपभ्रंश भाषा, परन्तु भदेस शब्द का प्रयोग ऐसे देशों के प्रति होते देखा जाता है, जहाँ के निवासी अत्यन्त ही गँवार हों। अत्यन्त गँवार को 'भदेसिया' कहते हैं।

राम कथा को जगमङ्गलकरणी कहकर उदार कहा। छः गुण नाम के 'उदारादि' ऊपर कह आये हैं, वे ही छः गुण चरित के भी कहेंगे। यथा :

छं. मंगल[1] करनी कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यौं, सरित पावन पाथ की।।
प्रभु सुजस संगति भनिति भल, होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की, सुमिरत सुहावनि पावनी।।

अर्थ : तुलसीदासजी कहते हैं कि राम की कथा कल्याण करनेवाली और कलियुग के पापों को दूर करनेवाली है। कविता सरिता की टेढ़ी गति, पवित्र जल वाली गङ्गा की गति के समान है। प्रभु के सुयश के साथ यह कविता भली और सुजन मन भावनी होगी। महादेव जी के अङ्ग के साथ मसान की राख भी स्मरण करने में सुहावनी और पवित्र हैं।

व्याख्या : कविता सरिता की गति टेढ़ी है। पर रामयशरूपी जल से भरी है। गङ्गा की भाँति सब लोग पवित्रता पर ध्यान देते हैं। काशी की गङ्गा की भाँति टेढ़ी गति की अधिक शोभा है। मुझसे कविता करते नहीं बना, उसकी गति टेढी हो गई, पर रामयश से भरी है, अतः सुजन मन भावनी है। इससे गुण दोष कहा। अब कहते हैं कि रामयश शङ्कर का शरीर है। मेरी कविता मसान की राख है। भयावनी और अपावनी है, सो शिवजी के शरीर के सम्बन्ध से सुहावनी और पावनी हो गई इससे अलङ्कृता कहा, क्योंकि विभूति शिवजी का अलङ्कार है। भावार्थ यह कि रामयश के साथ होने से मेरे शब्दों में चित्ताकर्षकता, अर्थ में माधुर्य आजायगा। दोष तुच्छ हो जाँयगे और सुहावनी पावनी होकर कविता अलंकृत भी हो जायगी। 'क्रूर' का ही प्राकृतरूप कूर है। गति के साहचर्य से इसका अर्थ टेढा माना गया।

---

१. यह हरिगितिका छन्द है। इस छन्द में २८ मात्रा का एक पाद होता है। सोलह पर यति होती है अन्त में लघु और गुरु होता है। किसी चौकल में जगण न पड़ना चाहिए।

'मंगल करणि' से 'मंगल भवन' कहा। कलिमलहरणि से 'अमंगलहारी' कहा। 'कथा रघुनाथ की' कहकर 'पुराण श्रुतिसार' कहा। 'पावनपाथ की' कहकर 'अतिपावन' कहा। 'सुजन मनभावनी' से 'उमा महेश प्रिय' कहा। सो जो कुछ छः गुण नाम में कहे थे वे शब्दान्तर से मेरी कविता सरिता में आगये।

दो. प्रिय लागिहि अति सबहिं मम, भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग ॥१०॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम जस गावहिं सुनहिं सुजान ॥१०क॥

अर्थ : गाय काली है, पर दूध तो उसका अत्यन्त उज्ज्वल और अत्यन्त गुणकारी है। उसे सब लोग पीते हैं। इसी भाँति गँवारी बोली में भी सीताराम का यश, सज्जन गाते हैं और सुनते हैं।

व्याख्या : जो शब्द, अर्थ, गुण, दोष, अलङ्कारादि कुछ नहीं समझते, उन्हें भी छन्दोबद्ध कविता सुनने में प्रिय लगती है। रामयश के साहचर्य से मेरी कविता सबको अति प्रिय लगेगी 'प्रिय लागिहि अति सबहि'। रामयश मलय-मारुत है, इसके साथ से सभी लकड़ियाँ चन्दन होकर वन्द्य हो जाती हैं। क्या कोई लकड़ी का विचार करता है। मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः। इसी भाँति मेरी छन्दोबद्ध कविता भी जगवल्लभ हो जायगी। मेरी कविता के दोषों की ओर कोई दृष्टिपात न करेगा, रामयश के साथ होने से ही सब को अत्यन्त प्रिय हो जायगी।

कृष्णा गौ का दूध कपिला के दूधसे अधिक श्वेत और अधिक गुणद होता है। यथा : कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं बातहारिगुणाधिकम्। इति वैद्यरहस्ये। कपिला के दूध में कुछ पीलापन और पाक में गुरुता होती है और शूद्रों को उसके पीने का अधिकार नहीं है। कृष्णा गौ के दूध में सफेदी अधिक होती है और पाक में भी लघु होता है, उसके पीने के सभी अधिकारी हैं। संस्कृत, कपिला गौ सी श्रेष्ठ है और भाषा कृष्णा गौ सी कनिष्ठ है, सियराम यश उनका दूध है। सुजान कृष्णा गौ के दूध से ही काम लेते हैं जिसमें शूद्र को भी लाभ हो सके और समझने में भी आयास न हो। 'पान करना कहकर भाव का पान कहा। भाव ही, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव से पुष्ट होकर रस होता है। अतः भाव में रस का भी अन्तर्भाव है।' इस भाँति 'आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबंध अनेक विधाना। भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा। कवित विवेक एक नहिं मोरे।' इस बड़े दोष का मार्जन किया।

मनि[1] मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनुपाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥१॥

---

[1] यहाँ पर्यायालङ्कार है।

अर्थ : मणि, मानिक और मोती की जैसी शोभा होनी चाहिए, वैसी साँप, पर्वत और हाथी के मस्तक पर नहीं होती । राजा, मुकुट और नवयौवना स्त्री का शरीर पाकर वे अधिक शोभा को प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या : अब कहते हैं कि संस्कृत के महाकवियों की भणिति मेरे भाषा बन्ध में आकर अधिक शोभित होंगी । अहि के सिर में मणि, गिरि में माणिक और गज के सिर में मुक्ता होती है । ये सब शुचि अमोल और सुन्दर हैं । पर जैसी इनकी शोभा है, वैसी उत्पत्तिस्थल में नहीं होती । सर्प के सिर पर मणि की क्या शोभा है ? पर्वत में माणिक और हाथी के सिर में मुक्ता की क्या शोभा है ? राजा के धारण करने पर मणि की, मुकुट में जटित होने पर माणिक की और सुन्दरी के शृङ्गार में मुक्ता की, स्वाभाविक शोभा से भी अधिक शोभा हो जाती है ।

तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ।।
भगति हेतु विधि भवन विहाई । सुमिरत सारद आवति धाई ।।२।।

अर्थ : इसी तरह सुकवि की कविता के लिए भी पण्डित कहते हैं कि पैदा दूसरे जगह होती है और शोभा दूसरे जगह पाती है । भक्ति के कारण सरस्वती देवी ब्रह्मदेव के घर को छोड़कर स्मरण करते ही दौड़ी हुई आती हैं ।

व्याख्या : यहाँ तीन सुकवि हैं : १. शम्भु २. याज्ञवल्क्य और ३. भुसुण्डि । ये ही क्रमशः १. अहि २. गिरि और ३. गज से उपमित हैं । गरल कण्ठ होने से शम्भु को अहि से उपमित किया । वेद के सब तत्त्वों के धारण करने से याज्ञवल्क्य को गिरि से उपमित किया : यथा : करगत वेद तत्त्व सब तोरे । पावन पर्वत वेद पुराना । खाने के दाँत और, तथा दिखाने के दाँत और होने से भुसुण्डि जी को गज से उपमित किया । भुसुण्डि जी देखने में कटुभाषी : काग : हैं, पर हैं बड़े मधुर भाषी । यथा : मधुर वचन बोलेउ तब कागा । ये तीन सुकवि हैं । यथा : यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्री शम्भुना । इनकी कही हुई कथाएँ यथाक्रम मणि, माणिक और मुक्ता हैं ।

जहाँ ये कथाएँ हुईं, वहाँ इनकी जैसी चाहिए वैसी शोभा नहीं हुई । कैलास पर्वत पर एकान्त में शम्भु ने गिरिजा से, देववाणी में कथा कही । सब मुनियों के विदा हो जाने पर प्रयागराज में याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज से देववाणी में कथा कही । समाज में केवल भुसुण्डि की कथा हुई, सो भी पक्षीभाषा में और पक्षियों के मध्य में । इसलिए कहते हैं कि 'अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी ।' छविप्राप्ति के स्थान भी तीन हैं । १. नृप २. किरीट और ३. युवती । सो ज्ञान नृप है । यथा : सचिव विराग विवेक नरेसू । कर्म मुकुट है । यथा : मुकुट न मोहिं भूप गुन चारी । यहाँ अपन्हुति अलङ्कार द्वारा भूप के चारों गुण साम, दान भेद और दण्ड को मुकुट कहा । उपासना तरुणी है । यथा : भगति सुतिय कल करन विभूषन ।

अतः उमा शम्भु संवाद की शोभा मानस के ज्ञानघाट पर हुई । भारद्वाज याज्ञवल्क्य संवाद की शोभा मानस के कर्मघाट पर हुई और गरुड़ भुशुण्डि संवाद की शोभा मानस के उपासनाघाट पर हुई । यथा : सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचेउँ बुद्धि

विचारि। ते येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि। इस भाँति तीन घाट कह कर अब चौथा कहते हैं :

सबके स्वाधिष्ठान चक्र में ब्रह्मदेव का वास है, वही ब्रह्मभवन है। परावाणी वहीं पर मूलाधार में रहती है। वहाँ से जब यह नाभिदेश को प्राप्त होती है, तब इसका नाम पश्यन्ती होता है और जब यह हृदय देश में अवस्थान करती है, तब इसका नाम मध्यमा पड़ता है और जब कण्ठ, ताल्वादि स्थान में आकर वर्णरूप से अभिव्यक्त होती है तब इसका नाम वैखरी पड़ता है। वैखरी वाक् को ही अर्थबोधन का सामर्थ्य है। इसी के द्वारा अपना मनोगत भाव दूसरे को बतलाया जाता है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी यथाक्रम वाणी की सूक्ष्मतर, सूक्ष्म सूक्ष्मतम, और स्थूल अवस्थाएँ हैं। सूक्ष्मतम अवस्था से स्थूल अवस्था में आना ही वाणी का ब्रह्मभवन से यहाँ पधारना है।

यही वाणी भगवती कविकुल की इष्ट देवता है, भक्ति के कारण यह सूक्ष्मतम अवस्था से सूक्ष्मतर में और उससे फिर सूक्ष्म में तथा उसे भी पारकर स्थूल अवस्था में बड़े वेग से आती है। यह उसकी भक्तवत्सलता है। इसी बात को महाकवि ग्रन्थकार ने 'भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।' इस एक अर्धाली में कितनी पण्डिताई से कहा है।

रामचरित सर विनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें ॥
कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी ॥३॥

अर्थ : रामचरित्र सर में विना नहलाये, वह श्रम करोड़ उपाय करने पर भी नहीं जाता, पण्डित कवि ऐसा हृदय में विचार करके कलिमल के हरण करनेवाले हरियश का गान करते हैं।

व्याख्या : भाव यह कि इस भाँति पधारने पर सरस्वती के श्रमापनोदन का उपाय तथा पूजन होना चाहिए और वह रामयशगान से ही होता है। रामयशगान में ही सरस्वती का साफल्य है, अन्य कोई उपाय सरस्वती के श्रमापनोदन का नहीं है : यथा : मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ। रामचरित में स्नान कराने से सरस्वती का पंथ-श्रम जाता रहता है और उनके स्वामी का गुणानुवाद ही उनका पूजन है। यथा : सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। कवियों में जो पण्डित हैं, वे इस बात को समझते हैं। 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः। जो दूसरे की स्त्री को माता और दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का ढेला और समस्त प्राणियों को अपने जैसा समझता है, उसे पण्डित कहते हैं। ऐसा पण्डित कवि भगवान् का गुणानुवाद छोड़कर, प्राकृतजनका गुणगान क्यों करने लगा ? लोभी कवि ही प्राकृत जन का गुणगान करते हैं, उन्हें पण्डित नहीं कहा जा सकता। पण्डित कवि हरियश का गान करके सरस्वती का श्रमापनोदन तथा पूजन करता है और उसके द्वारा कलिमल का नाश करके, जगत् का उपकार करता है।

कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना । सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ॥
हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥४॥

अर्थ : सांसारिक पुरुषों का गुणगान करने से, सरस्वती सिर धुनकर पछताने लगती हैं। हृदय को सिन्धु और बुद्धि को सीप तथा सरस्वती को सुजान लोगों ने स्वाती नक्षत्र के समान बतलाया है।

व्याख्या : संसारी जीवों में ईश्वरत्व विना माने स्तुति बन नहीं सकता। अतः उनकी स्तुति मिथ्या है। इसलिए सरस्वती पछताती है कि इसके अधीन मैंने अपने को क्यों किया ? सरस्वती का पछताना स्पष्ट दिखाई देता है। स्तुतिकर्ता खिन्न हो जाता है और दीन हो जाता है, पर लोभवश रचना करता जाता है।

समुद्र की सीपी में मोती होती है। सरस्वती का आगमन स्वाती नक्षत्र का आगमन है। सो सब वर्षावाले नक्षत्रों के पीछे आती है, प्रायेण वरसती भी कम है। इसी भाँति रामसुयश की वर्षा होती है और सुकृती लोग उससे लाभ भी उठाते हैं।

जौ बरखै वर वारि विचारू । होहि कवित मुकुतामनि चारू ॥५॥

अर्थ : यदि विचाररूपी जल की वर्षा करें, तो कवितारूपी सुन्दर मुक्तामणि उत्पन्न हों।

व्याख्या : सरस्वतीरूपी स्वाती नक्षत्र यदि विचाररूपी जल की वर्षा करें और उसे बुद्धिरूपी सीपी ग्रहण कर सके तब कवितारूपी सुन्दर मोती उत्पन्न होती हैं। भाव यह कि सच्चिदानन्द रामके चिदंशका विवर्त ही वाणी है, उसीकी कृपा से कवि को प्रतिभा होती है जिसके द्वारा सुन्दर मोती कविता बनती है।

दो०. जुगुति वेधि पुनि पोहिअहि, रामचरित वर ताग ।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग ॥११॥

अर्थ : युक्ति से वेधकर उन्हें रामचरितरूपी सुन्दर तागे में पिरोना चाहिए। सज्जन लोग उसे अपने निर्मल हृदय में धारण करते हैं, अति अनुराग ही उसकी शोभा है।

व्याख्या : उन मोतियों को युक्तिरूपी सूक्ष्म वरमे से वेधे, जिसमें टूट न जाँय, अर्थ का अनर्थ न हो जाय और उसे क्रम से उतार चढ़ाव के साथ रामचरित के श्रेष्ठ तागे में पिरोए। यही तागा उन मोतियों के धारण में समर्थ है। तब वह माला सज्जनों के धाररण योग्य होती है और उनमें शोभारूपी अनुराग को बढ़ाती है। भावार्थ यह कि ग्रन्थकार की दीनघाट की कथा सीपीवाली मुक्ता है।

दैव, आर्ष और सिद्ध कविताएँ, मणि, माणिक और गजमुक्ताएँ हैं पर मानुष कविता तो सीपी की मोती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसका भी मैं ठीक पात्र नहीं। उसमें तो मोती उत्पन्न करने की शक्तिवाली तथा समुद्रतल से उठकर स्वाती विन्दु ग्रहण की सामर्थ्यवाली सीपी जैसी बुद्धि की आवश्यकता है जिसमें कविताकी शक्ति हो और प्रतिभा हो। अतः अपना परिचय देते हैं :

जे जनमे कलिकाल कराला । करतब वायस वेष मराला ॥
चलत कुपंथ वेद मग छाँड़े । कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥१॥

अर्थ : इस कराल कलियुग में जिन्होंने जन्म ग्रहण किया है जिनकी करनी कौए के समान और वेष हंस के समान है, वेद के मार्ग को छोड़े हुए कुमार्ग में चलते हैं, कपट की मूर्ति और कलियुग के दोषों के पात्र हैं ।

व्याख्या : इस कराल कलिकाल में सज्जन बहुत कम जन्म ग्रहण करते हैं, अधम खल ही अति अधिक उत्पन्न होते हैं । यह काल ही विपरीत है, इसीलिए इसे कराल कहा । यथा : यत्र कामगिरो वेदा यत्र धर्मोऽर्थसाधनम् । यत्र स्वप्रतिभा मानं तस्मै श्रीकलये नमः । जहाँ आराम की बातें ही श्रुति हैं, जहाँ धर्म अर्थ का साधन होता है, जहाँ अपनी ही वुद्धि प्रमाण है, उस कलि को नमस्कार है । भगवान् ने स्वयं कहा है, 'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं । द्वापर कछुक वृंद वहु, होइहहिं कलिजुग माहि ।' मैं उन 'वृन्द बहु' में से हूँ । 'करतव वायस' अर्थात् 'छली मलीन न कतहुँ प्रतीती' और वेष हंस का : साधु का : बनाए रहता हूँ । यथा : करि हंस को वेष बड़ो सब ते तजिदे वक वायस की करनी ।

वेद मार्ग नहीं छोड़ते हुए जो कुपंथ में पैर डाल देते हैं, उनकी वेद मार्ग पर लौट आने की आशा है । और जिन्होंने वेद मार्ग छोड़ दिया, वे रास्ता ही भूल जाते हैं, फिर लौट नहीं सकते । कपट कलेवर का भाव यह कि उनका तिलक, मुद्रा, पूजा-पाठ सव कपट मात्र है । वस्तुतः उनमें राग-द्वेषादि कलिमल भरा पड़ा है ।

वंचक भगत कहाइ रामके । किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिनमहँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धँधरच (धंधक) धोरी ॥२॥

अर्थ : ठग लोग राम के भक्त कहलाकर : भी : कञ्चन, क्रोध और काम के दास हैं, उन धींग, धर्मध्वज और पाखण्ड रचनेवालों के धुरियों में पहिली गिनती मेरी है ।

व्याख्या : हैं तो [1]ठग, पर ऐसा मायाजाल फैलाते हैं कि लोग उन्हें रामभक्त कहने लगें । वे राम के दास नहीं हैं, लोभ, क्रोध और काम के दास हैं । हैं कौवे[2] पर धीगाधींगी से हंस वने हुए हैं । इसलिए उन्हें धींग कहा । वैदिक मार्ग का परित्याग करके कुपन्थ[3] पर पाँव दिये हैं । कपट से साधु वेष बना रक्खा है, पर कलिमल से

---

१. अपनायो तुलसी सो धीग धम धूसरो, यथा : ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, करहिं न दूसरि वात । कौड़ी लागि लोभ वस करहिं बिप्र गुरु घात ।

२. यथा : वारविलासिनी के घर में अधरासव पान किये सुखसे ।
चाँदनी रात कटी मदनोत्सव में ललनागन संग बसे ॥
प्रातहिं दीक्षित हैं, सरवज्ञ हैं, पावक सेवक हैं मनसे ।
तज्ञ हैं, तापस हैं, मुनि हैं, इन धूर्तन ने सब लोग झंसे ॥

३. गंगा तीर तरंग शीतल शिलापै हैं जमा आसन ।
बैठे हैं कुश दंड हस्त वेणू के हैं धरे वासन ॥

पूर्ण हैं। अतः धर्मध्वज कहा। वस्तुतः काम, क्रोध, लोभ के गुलाम हैं, दुनिया को ठगने के लिए अपने को रामभक्त घोषित करते हैं। अतः धँधरच धोरी कहा।

ढंगरच : पाखण्डी : शब्द का धँधरच हो गया। 'धंधक' पाठ मानने से 'धर्म ध्वज के धन्धा' का धुरी अर्थ करना पड़ेगा।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे लोगों में भी दोषोत्कर्ष के कारण मेरी प्रथम गणना है। धींग, धर्मध्वज तथा पाखण्डियों की धुरी हूँ।

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढइ कथा पार नहिं लहऊँ।।
तातें मैं अति अलप वखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने।।३।।

अर्थ : जो अपने सब अवगुण कहने लगूँ तो कथा बढ़ जायगी। पार न पा सकूँगा। इसलिए मैंने वहुत कम वर्णन किया। वुद्धिमान् थोड़े में ही समझ लेंगे।

व्याख्या : वड़ा होने का कारण कहते हैं कि मेरे अवगुण असंख्य हैं। यथा :

तेऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जौं जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं।
चालहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिअ जनिहैं।।
देखि खलक अधिकार प्रभू सों, मेरी भूरि भलाई भनिहैं।
हँसि करिहैं परतीति भगत की, भगत सिरोमनि मनिहैं।।
ज्यौं त्यौं तुलसीदास कोसलपति, अपनाएहि पर वनिहैं।

विनय प. ९५

'धींग धरमध्वज धँधरच धोरी' कहना अत्यल्प वर्णन है। सयाने इतने में ही समझ लेंगे कि कविता मुक्ता उपजाने योग्य शक्ति मुझमें हो नहीं सकती फिर भी मैं कविता करता हूँ : किसी भाँति तुकवन्दी करता हूँ। जो दूसरे मेरे लिए कहते सो मैं स्वयं कह रहा हूँ।

समुझि विविध विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।।
एतेहु पर करिहहिं ते असंका। मोहिते अधिक जे जड़ मति रंका।।४।।

अर्थ : मेरी अनेक प्रकार की विनती को समझकर, कथा सुनकर कोई दोष न देगा। इतने पर भी वे ही आशङ्का करेंगे जो मुझसे भी अधिक मूर्ख और बुद्धिहीन हैं।

व्याख्या : 'करन चहौं रघुपति गुन गाहा' से 'सुनिहहिं बाल वचन मन लाई, तक एक विधि। 'पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास' तक दूसरी विधि। 'सुनिहहिं सुजन सराहि सुवानी' तक तीसरी विधि। 'सो विचारि सुनिहहिं

फेरै चंचल अंगुली पटु बढ़ी रुद्राक्ष माला महा।
दानों के संग खैंचते धगधनी के ढोंग वाले सदा।।
ठोढी मस्तक ओठ पीठ उरमें जानू गले गालमें।
जंघा कुक्षिक में किये तिलक हैं श्वेता खलीके घने।।
चोटी में तथा कमर में क्याही हिलैं कानमें।
दर्भों के अंखुए मनो तनु धरे हैं दम्भजी ध्यान में।। प्र. चं.

सुजन जिनके विमल विवेक' तक चौथी विधि। 'गिरा ग्राम्य सियराम जस गावहिं सुनहिं सुजान' तक पाँचवीं विधि। 'थोरेमहु जानिहैं सयाने' तक छठी विधि। इस भाँति मैंने विविध विधि से विनती की। उसे समझकर यह कोई न कहे कि तुलसीदास की मोतियाँ : कविता : अच्छी नहीं है।

अब दोष देने की कौन सी बात है? दोष वहाँ दिया जाता है, जहाँ गुणाभिमान हो। बाल वचन आशङ्का योग्य नहीं होता, वहाँ तो पदे-पदे त्रुटि रहती है।

कवि न[1] होउँ नहि चतुर कहावों। मति अनुरूप राम गुन गावों॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥५॥

अर्थ : न मैं कवि हूँ, न चतुर कहलाता हूँ, बुद्धि के अनुसार रामगुण गाता हूँ। कहाँ अपार अघुपति के चरित और कहाँ संसार के प्रपंच में सनी हुई मेरी बुद्धि।

व्याख्या : 'चतुर कहावों' से भाव यह कि न मेरा ऐसा आचरण है कि कोई चतुर कहे और न कोई मुझे चतुर कहता है। कवि होते तो दोष निकालना उचित था। चतुर कहलाते तो आशङ्का करना उचित था। फिर भी मैं राम गुण गाने चला हूँ जिसे कोई यथार्थ रूप में गा ही नहीं सकता।

'मति अनुरूप' को स्पष्ट करते हैं। कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा। यहाँ दो बार कहँ कहँ कहकर महान् अन्तर दिखला रहे हैं। यथा : द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। यथा : काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे भवकूप। स्वयं कूप में पड़ा हुआ अपार का पार क्या पायेगा?

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥
समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥६॥

अर्थ : जो हवा मेरु पर्वत को उड़ाती है, कहो : उसके सामने : रूई की क्या गिनती है। श्रीरामजी की अपार प्रभुता समझकर कथा रचने में मेरा मन अति कातर हो रहा है।

व्याख्या : राम गुण को अपार कहकर अब अवर्णनीय भी कहते हैं। मेरु सा भारी कुछ नहीं और तूल सा हलका कुछ नहीं। मरुत उनचास हैं। मेरु पर्वत के उड़ाने में समर्थ हैं। पुराणों में कथा आई है किसी समय मारुत मेरु को उड़ाने के लिए तैयार हो गये थे, सो गरुड़ द्वारा रक्षा हुई। राम कथा को मरुत से और बड़े भारी कवि कहनेवालों की उक्ति को मेरु से उपमित किया। सो उनका भी कहना उखड़ जाता है जमता नहीं। मैं तो तूल : रूई : हूँ, मेरी क्या गिनती है? मुझसे कहते न बनेगा, इसमें सन्देह ही क्या है।

दो. सारद सेष महेस विधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहि निरंतर गान॥१२॥

---

[1] यहाँ आक्षेप : द्वितीय : है।

अर्थ : सरस्वती, शेष, महादेव, ब्रह्मदेव, शास्त्र, वेद और पुराण। वे सब नेति नेति : यह नहीं यह नहीं : कहकर जिसका गुण सदा गाया करते हैं।

व्याख्या : ये सातों सारद शेषादि कुलाचल हैं। बड़े भारी हैं। इनके कहने का बड़ा वजन : गौरव : है। सो निरन्तर कहते हैं, परन्तु 'नेति-नेति' बोलकर कहते हैं। इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कहते। सो जहाँ नेति कहा, वहाँ पहिले का कहा हुआ उड़ गया। अतः नेति नेति पूर्वक कहने से कोई बात जमने नहीं पाती।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा ॥१॥

अर्थ : प्रभु की वही प्रभुता : सामर्थ्य : सब जानते हैं तो भी कोई कहे बिना न रहा। इससे वेद ने ऐसा कारण रक्खा कि भजन का प्रभाव अनेक प्रकार से कहा।

व्याख्या : सभी बड़ों की जानी बात है कि रामयश ऐसी हवा है जिसके सामने मेरु मन्दर से गौरवशाली भी नहीं टिकते, हम भी नहीं टिक सकेंगे। फिर भी यश वर्णन से कोई विरत नहीं हुआ। यथाशक्ति सबने वर्णन किया। इसका कारण है और वह यह है कि वे वेद के बल पर कहते हैं। वेद ने भजन का बड़ा प्रभाव कहा है। भाव यह है कि वे इसलिए गुण वर्णन नहीं करते कि रामजी के सब गुण कह डालें बल्कि वे गुण वर्णन करके भजन करते हैं।

एक[1] अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥
व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥२॥

अर्थ : जो एक है, कामना से रहित है, जिसका न रूप है, न नाम है, जिसका जन्म नहीं होता, सच्चिदानन्द परधाम है, व्यापक है, विश्व रूप है, भगवान् है उसी ने शरीर[2] धारण करके नाना प्रकार के चरित्र किये हैं।

व्याख्या : १. एक अर्थात् अद्वितीय। द्वितीय के द्वारा ही कथन होता है। २. क्रियारहित को कोई ज्ञान का विषयीभूत नहीं कर सकता। ३-४. अरूप अनामा। नाम और रूप, ये ही ईश्वर की उपाधियाँ हैं। यथा : नाम रूप दोउ ईस उपाधी। सो उपाधि रहित को कोई कैसे कहे। ५. अज अर्थात् अजन्मा हैं, प्रागभाव उनका

---

[1] द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं महामते। अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत्सदित्युच्यते बुधैः।
समस्ताः शक्तयश्चैता नृपमत्र प्रतिष्ठिताः। तद्विश्वरूप वैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥

[2] समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वरः। देवतिर्यङ्मनुष्यादि चेष्टावन्ति स्वलीलया।
जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा। चेष्टा यस्याप्रमेयस्य व्यापिन्या व्याहतात्मिकाः। वि. पु.।

अर्थ : हे महामते। विष्णु नामक ब्रह्म का दूसरा अमूर्त रूप है, जिसका योगिजन ध्यान करते हैं और जिसे बुधजन सत् कहकर पुकारते हैं। राजन्! जिसमें ये सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं वह विलक्षण विश्वरूप भगवान् का बड़ा भारी दूसरा रूप है। हे नरेश! भगवान् का वही रूप अपनी लीला से देव, तिर्यक् और मनुष्यादि की चेष्टा से युक्त सर्वशक्ति मय रूप धारण करता है। इन रूपों में अप्रमेय भगवान् की जो व्यापक एवं अव्याहत चेष्टा होती है, वह संसार के उपकार के लिए होती है, कर्म जन्य नहीं होती!

नहीं है। ६. सच्चिदानन्द कहकर सबका मूल कहा। ७. पर धाम। यथा : सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई। ८. व्यापक : जिसका ओर-छोर नहीं। ९. विश्वरूप रूप अर्थात् सर्वरूप और १०. भगवान्। यथा : प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षञ्च यो वेत्ति स वाच्यो भगवानिति। जो प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष को जाने उसे भगवान् कहते हैं। जो उपर्युक्त दश लक्षणवाला है उसी अशरीर ने शरीर धारण करके नाना प्रकार के चरित किये।

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥
जेहि जन पर ममता अतिछोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू ॥३॥

अर्थ : सो भी केवल भक्तों के लिए। वे बड़े कृपालु और प्रणत पर अनुराग करनेवाले हैं। जिसकी भक्तों पर वड़ी ममता और छोह है और जिसने करुणा करके फिर कभी क्रोध नहीं किया।

व्याख्या : देह धारण करने का कारण कहते हैं कि केवल भक्तों के लिए भगवान् देह धारण करते हैं। यथा : तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरहुँ देह नहीं आन निहोरे। देह धारण करने पर, जानने और वर्णन करने योग्य होते हैं। १. परम कृपाल २. प्रनत अनुरागी कहने का भाव यह है कि श्रीरामजी शरणागतवत्सल हैं। एक प्रणाम में प्रसन्न होते हैं। भक्त के लिए देह धारण करके सब कुछ करते हैं। यहाँ तक कि अपने यश की भी परवाह नहीं करते। यथा :

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति, तुम्हसन कौन दुराउ।
सबविधि हीन दीन अति जड़ मति, जाको कतहुँ न ठाँउ ॥
आयो सरन भजौं न तजौं तेहिं, यह जानत रिषि राउ।
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित, नाहिन और उपाउ ॥
तिनहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ ॥ गी. ५.४५

३. जन पर ऐसी ममता और छोह है कि उसके लिए सब कुछ देय है। यथा : जन कहँ कछु अदेय नहि मोरे। अस विस्वास तजहुँ जनि भोरे। और ४. सतत करुणा है। एक बार जिस पर कृपा कर दी, फिर उस पर क्रोध होता ही नहीं। यथा : जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली। सोइ करतूति विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू ॥
बुधवर नहि हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सकल निज बानी ॥४॥

अर्थ : गई हुई को पलटानेवाले, दीनवन्धु, सरल, बलवान्, स्वामी रघुराज हैं। यह समझकर पण्डित लोग उनका यश वर्णन करते हैं और अपनी वाणी को पवित्र और सफल करते हैं।

व्याख्या : श्रीरामजी गई वहोर हैं। यह नया नाम ग्रन्थकार ने श्रीराम जो

का रक्खा है। सब कुछ जाकर लौट सकता है, पर सतीत्व फिर नहीं लौटता, सो भी अहल्या को लौटा दिया। यथा : गौतम गये गृह गवनो सो लवाय के। ६. दीनवन्धु ७. सरल ८. सवल साहिव अर्थात् प्रभु और १०. रघुकुल के राजा हैं एवं जिस भाँति दश विशेषण निर्गुण रूप के दे चुके हैं उसी भाँति दश विशेषण सगुण के भी दे रहे हैं। बीसों विस्वे पूरे हुए।

पण्डित लोग यह जानकर कि 'ऐसउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई। हरियश वर्णन करते हैं, चाहे वर्णन किया हो सके चाहे न हो सके। आहार, निद्रा, भय और मैथुन तो पशु को भी सुलभ है। इसकी कथा से वाणी का साफल्य नहीं। वाणी का साफल्य हरियश वर्णन से है।

तेहिं बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ राम पद माथा ॥
मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ॥५॥

अर्थ : उसी वल से मैं श्रीराम जी के चरण कमलों में सिर नवाकर, रघुनाथ जी के गुणों की गाथा कहूँगा। हे भाई ! मुनियों ने पहिले हरि की कीर्ति का गान किया है। उसी मार्ग पर चलना मुझे सुगम है।

व्याख्या : उसी वेदवचन के बल से जिसने भजन का प्रभाव कहा है और 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।' इस न्याय से, मैं रघुनाथ के चरणों में सिर झुकाकर, अपराधक्षमापन पूर्वक रामगुण गाथा कहूँगा।

बाल्मीकि, व्यास आदि मुनियों ने हरि की कीर्ति का गान किया है। उसी मार्ग का अनुसरण करने में मुझे सुभोता है। उस मार्ग में जल भी है, थल भी है। जल, यथा : चरित सिंधु गिरिजा रमन, वेद न पावहिं पार। राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ। थल, यथा : लोक वेद मत मंजुल कूला। अतः थल में मुनियों के चरणपूत मार्ग का अनुसरण करूँगा।

दो. अति अपार जे सरित वर, जौ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, विनु श्रम पारहि जाहिं ॥१२॥

अर्थ : अति अपार जो नदियाँ हैं, यदि उन पर राजा पुल बँधवा देता है तो उसपर चढ़कर बहुत छोटी चींटी भी बिना परिश्रम के पार चली जाती है।

व्याख्या : जल में मुनियों के बँधाये पुलपर चढ़कर पार होंगे। लोक, वेद का सामञ्जस्य ही पुल है। पुल बाँधने से दोनों कूलों में सामञ्जस्य स्थापन हो जायगा। रामचरित्र में लोकविधि और वेदविधि दोनों हैं। मुनि लोगों ने रामचरित्र लिखकर इस भाँति सामञ्जस्य स्थापन कर दिया है।

पिपीलिका पानी की रेखा नहीं डाँक सकती सो पुल पर से होकर अपार नदी बिना श्रम पार करती है। ग्रन्थकार अपने को चींटी मानते हैं, रामचरित्र में कुछ भी गति नहीं। मुनियों को राजा कहा, वे चरित गान करके पुल वाँध गये। उसी के

अवलम्ब से मैं भी गान करके बिना श्रम पार पाऊँगा। यहाँ तक सात दोहों में समष्टि विनय है।

एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई॥
व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥१॥

अर्थ : इस प्रकार का बल मन को दिखाकर मैं रघुपति की सुहावनी कथा बनाऊँगा। व्यास आदि जो अनेक श्रेष्ठ कवि हो गये हैं जिन्होंने आदर से हरिसुयश वर्णन किये हैं।

व्याख्या : पहिले कहा था 'करत कथा मन अति कदराई' और मन के कादर होने पर फिर कार्य नहीं हो सकता। इसलिए मन को ढाँढस बँधाते हैं कि पुल बँधा हुआ है, उसी पर चले जाओ। पुल पर से जानेवाले को जल की गम्भीरता और विस्तार की क्या चिन्ता है ?

अब जिन के मार्ग का अनुसरण करना है, जिनके बँधाये पुलपर चढ़कर पार जाना है, उनकी वन्दना करते हैं। व्यासोच्छिष्टं जगत् त्रयम्, यह तीनों लोक व्यास का उच्छिष्ट है, इसलिए पहिले व्यास : द्वैपायन : को कहा। आदि से मार्कण्डेय, अग्निवेशादि का ग्रहण है, जिन्होंने आदर के सहित हरि के सुयश का बखान किया है। भाव यह है कि बौद्धों और जैनों में भी रामायण है, पर उन्होंने आदर के साथ बखान नहीं किया। अतः उनकी इसमें गिनती नहीं है।

चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे। पूरहुँ सकल मनोरथ मेरे॥
कलि के कविन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥२॥

अर्थ : मैं उन सबके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ। सब मेरे मनोरथ को पूरा करो। मैं कलियुग के उन कवियों को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने रघुपति के गुण समूहों का वर्णन किया है।

व्याख्या : इसलिए उनके चरण कमलों की वन्दना करते हैं क्योंकि मनोरथ एकाधिक है। यथा : १. हरि यश कहौं २. साधु समाज में भणिति का सम्मान हो ३. परम विश्राम की प्राप्ति हो ४. रामचरण में रति हो इत्यादि।

ऊपर जिनकी वन्दना की है, वे मुनि लोग हैं। उन्होंने त्रेता, द्वापरादि में रामयश को संस्कृत वाणी में कहा है। कलियुग में ऋषि नहीं हैं, फिर भी कालिदास, भवभूति, जयदेवादि महाकवियों ने संस्कृत का ही आश्रय लेकर काव्य, नाटक तथा गीतों में हरियश कहा है, अतः वे भी प्रणम्य हैं।

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवौं सबहि कपट सब त्यागे॥३॥

अर्थ : जो परम सयाने प्राकृत के कवि हैं, जिन्होंने भाषा में हरि चरित वर्णन किये हैं, जो पहिले हो चुके, जो आँखों के सामने मौजूद हैं और जो आगे भविष्य में होंगे उन सबको मैं कपट को छोड़कर प्रणाम करता हूँ।

व्याख्या : संस्कृत से देववाणी और प्राकृत से लोकभाषा का ग्रहण है। यथा :

संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः। संस्कृत दैवी वाणी है, जिसे महर्षियों ने कहा है। प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। हेम। प्रकृति संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न हो या आया हो उसे प्राकृत कहते हैं। उस प्राकृत के कवियों को परम सयाना कहा है। भाव यह कि संस्कृत के कवि सयाने, प्राकृत के कवि परम सयाने हैं, इनकी भणिति से विशेष लोकोपकार हुआ है। अधिकार का भी टण्टा नहीं रह गया। क्योंकि उन्होंने लोकभाषा में हरिचरित कहा है। यहाँ स्पष्ट है कि भाषा से प्राकृत भाषा अभिप्रेत है। प्राकृत में तत्सम रूप से शुद्ध संस्कृत प्रयोग, तद्भव रूपसे संस्कृत के अपभ्रंश रूप तथा देशोद्भव रूपसे देशी भाषा का ग्रहण है।

यहाँ 'आगे' शब्द का तीनों क्रियाओं के साथ सम्बन्ध है जो आगे : पहिले हुए, जो आगे : सामने : अहहिं और जो आगे : भविष्य में : होइहहिं। उन सबको सब कपट छोड़कर प्रणाम करता हूँ। संस्कृत के कवियों के साथ कपट की प्राप्ति ही नहीं थी। परन्तु भाषा के कवियों के साथ कपट की प्राप्ति है, क्योंकि सापत्न्यभाव की सम्भावना है इसलिए कहते हैं कि सब कपट छोड़कर प्रणाम करता हूँ। भूतकाल के प्राकृतकवि सेतुबन्धकार, चन्द वरदाई आदि, उस समय के कवि सूर, हितहरिवंश आदि और भविष्य के कवि वृजविलासीदास, काष्ठ जिह्व स्वामी : देव : आदि सभी को ग्रन्थकार प्रणाम करते हैं।

होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधुसमाज भनिति सनमानू ॥
जो प्रबंध बुध नहि आदरहीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं ॥४॥

अर्थ : मुझ पर प्रसन्न होकर वरदान दो कि मेरी कविता साधु समाज में आदर पावे क्योंकि जिस प्रबन्ध का पण्डित लोग आदर नहीं करते, उसके लिए व्यर्थ परिश्रम बाल कवि करते हैं।

व्याख्या : कवियों से वरदान माँगते हैं। वरदान और किसी से नहीं माँगा। क्योंकि ये 'रघुवर चरित मानस मंजु मराल' हैं। ये रामगुण-मुक्ताफल चुगते हैं। इनसे मुक्ता मिलेगी। उसे रामचरितरूपी तागे में गूँथेंगे। तब उसका सन्तसमाज में आदर होगा।

यदि सन्तसमाज में या पण्डितसमाज में आदर न हुआ तो परिश्रम ही व्यर्थ गया। जिसने शास्त्र न पढ़ा हो उसे 'बाल' कहते हैं। मूर्ख कवि कटु शब्द है, इसलिए बाल कवि कहा।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥५॥

अर्थ : कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही अच्छी है जो गङ्गाजी के समान सबका हित करे। रामजी की सुकीर्ति और कविता गँवारी : भद्दी : यह बड़ी ही अटपटी बात है, मुझे इसी का अन्देशा है।

व्याख्या : जिससे सबका हित न हो, न तो वह कीर्ति भली, न कविता भली और न भूति भली। इसीलिए श्रीग्रन्थकार ने प्रणव : तारक मन्त्र : का वर्णन न

करके रामतारक : रामनाम : का वर्णन किया। संस्कृत में ग्रन्थ न लिखकर भाषा में लिखा।

यही बड़ा भारी असामञ्जस्य है कि गुणसागर नागर श्रीरामजी की सुकीर्ति और गाई जाय ग्राम्य गिरा में, इसी बात का मुझे खटका है कि साधु समाज में मेरे भणित का सम्मान न होगा।

तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥६॥

अर्थ : तुम्हारी कृपा से मुझे वह : सामञ्जस्य : भी सुलभ है। टाट और रेशमी वस्त्र दोनों पर बेल बूटा होता है।

व्याख्या : संस्कृत कवियों ने रेशमी वस्त्र पर बेल बूटा काढ़ा है और प्राकृत कवियों ने टाटपर कारीगरी की है। आपकी कृपा से मैं भी बेल बूटे टाट पर बनाऊँगा। जिस भाँति रेशमी वस्त्रों में रेशमी बेल-बूटेवाले वस्त्रों का आदर होता है उसी भाँति टाटों में मेरे बेल-बूटेवाले टाट का आदर टाट के ग्राहक साधु लोग करेंगे। अत: आपकी कृपा से साधु समाज से कविता का सम्मान मेरे लिए सुलभ हो जायगा।

दो. सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज वयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान ॥१४॥
सो न होइ बिनु विमल मति, मोहिं मति बल अति थोर।
करहु कृपा हरि जस कहौं, पुनि पुनि करउँ निहोर ॥१४॥क
कवि कोविद रघुवर चरित, मानस मंजु मराल।
बाल विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल ॥१४॥ख

अर्थ : उसी सरल कविता और निर्मल कीर्ति का सुजान आदर करते हैं, जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रशंसा करने लगे।

यह बात बिना निर्मल वुद्धि हुए नहीं हो सकती और मुझे वुद्धि का बल बहुत ही थोड़ा है। मैं बार-बार निहोरा करता हूँ, आप लोग कृपा करो। मैं हरियश वर्णन करता हूँ।

पण्डित कवि लोग ही रामचरितमानस के सुन्दर हंस हैं, सो बालक की विनय सुनकर और सुरुचि देखकर मुझपर कृपा करो।

व्याख्या : जिस भाँति दोष कीर्ति को मलिन करता है, उसी भाँति क्लिष्टता कविता को मलिन करती है। कविता में जो अलौकिक आनन्द है उसे क्लिष्टता ढक देती है। अत: प्रसादगुणयुक्त कविता होनी चाहिए। ऐसी कविता और निर्मल यश में ही यह सामर्थ्य है कि सुनते ही शत्रु सहज वैर भूलकर बखान करने लग जाता है। नहीं तो सहज वैर प्राण रहते नहीं छूटता। कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक् कृत्रिमैर्गुणैः। प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम्। वैर अन्धा है, अपने वैरी

का गुण अपने को सूझता ही नहीं। यथा : वैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू। इस कमल[1] की पुरइन है : साधुसमाज भनिति सनमानू।

निर्मल मति हो तो प्रसाद गुणयुक्त कविता बने। प्रकृति के अनुकूल बेल-बूटे बन जाँय, इसलिए 'मति बल' माँगते हैं। 'हरियश कहउँ' कहकर अपने को सहायता का पात्र कहा। इस कमल की भी उपर्युक्त पुरइन है।

कवि कोविद रामचरितमानस के हंस हैं और उनकी जिह्वा हंसिनी है। यथा : जस तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु। मुक्ता हल गुन-गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु। इसलिए इनकी कृपासे, रामगुणगणरूपी मुक्ताफल चाहते हैं। 'होहु प्रसन्न देहु वरदानू' से उपक्रम करके, 'मोपर होहु कृपाल' से उपसंहार करते हैं। 'सुरुचि लखि' से आर्ति कही। 'बाल विनय सुनि' से विनय कहा। 'मोपर होउ कृपाल' से दीनता कही।

इस कमल की पुरइन है : कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी।

सो. वंदौं मुनि पद कंजु, रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित ।।ग।।
वंदौं चारिउ वेद, भव वारिधि वोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, वरनत रघुवर विसद जसु ।।घ।।
वंदौं विधिपद रेनु, भवसागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल विष वारुनी ।।ङ।।

अर्थ : मैं उन मुनि के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने रामायण बनाया, जो खर सहित होने पर भी सुकोमल है और दूषण सहित होने पर भी निर्दोष है।

मैं चारों वेदों की वन्दना करता हूँ, जो संसार-समुद्र के लिए जहाज हैं, जिन्हें रामजी का यश वर्णन करते हुए, सपने में भी खेद नहीं होता।

मैं ब्रह्मदेव की चरणधूलि को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने यह भवसागर बनाया। जहाँ सन्त, अमृत, चन्द्रमा और धेनु : दैवसर्ग : तथा खल, विष एवं मदिरा : आसुर-सर्ग : उत्पन्न हुई।

व्याख्या : इस कमल[2] की पुरइन है : व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन सादर हरि चरित वखाना। 'आदि कवि' शब्द पुरइन में आ चुका है। इसलिए यहाँ नहीं देते। ब्रह्म का रामावतार हुआ, उसी समय ब्रह्मयश वेद का भी रामायणावतार हुआ। रामावतार महाराज दशरथ के घर में हुआ और रामायणावतार श्रीवाल्मीकि

---

[1] कमल = दोहा। पुरइन = तत्सम्बन्धी चौपाई।

[2] कमल = दोहा। पुरइन तत्सम्बन्धी चौपाई।

जी के हृदय में हुआ। यथा : वेद[1] प्राचेतसादासीत् साक्षात् रामायणात्मना। अतः रामायण शब्द से मुख्यतः वाल्मीकीय रामायण का ग्रहण है। रामायण शब्द का अर्थ : रामस्य अयनम् रामायणम्। सो राम जी को वाल्मीकि ने चौदह प्रकार के भक्तों के हृदय को ही, उनके रहने योग्य स्थान बतलाया। यथा : सुनहु राम अब कहहुँ निकेता। जहाँ बसहुँ सिय लखन समेता। इन्हीं चौदह प्रकार के भक्तों की कथाएँ मिलकर ही सब रामायणें निर्मित हैं। रामायण मञ्जु है। श्रीराम जी के रहने लायक है। सुकोमल है। इसमें 'खर' नाम के राक्षस का नाम आगया है। बस, इतनी ही खरता : तीक्ष्णता : है। दोष रहित है। दूषण नाम के राक्षस का नाम आगया है, इसीसे दूषण सहित कही गई है; नहीं तो इसमें खरता और दोष कहाँ? नमस्तमैं कृता येन रम्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि[2] सुकोमला। यहाँ रामायण चम्पू के इस श्लोक से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शब्दों के तोड़-फोड़ को स्थान नहीं रह जाता।

वेदावतार का उल्लेख करके अब स्वयं वेदों की वन्दना करते हैं। इन्हें जहाज से उपमित किया। समुद्र चार हैं। उनके लिए वेदरूपी जहाज भी चार हैं। जहाज बराबर समुद्र का आरपार किया करते हैं, उन्हें खेद नहीं होता। जहाज स्वयं जल में रहते हैं, परन्तु यात्री को पानी से बचाकर पार कर देते हैं। इस भाँति वेद यद्यपि त्रैगुण्यविषयक हैं पर अपने भक्तों को निस्त्रैगुण्य पद पर पहुँचा देते हैं। जहाँ एक ही बात को वेद ने दोहराया है, वहाँ टीकाकार लिखते हैं 'मन्त्राणामालस्याभावात्' अर्थात् वेदों को आलस्य नहीं है। यही बात ग्रन्थकार भी कहते हैं : जिनहि न सपनेहु खेद, बरनत रघुवर विसद जस। इस कमल की पुरइन है : गनि गुन दोष वेद बिलगाये।

भवसागर के कर्ता ब्रह्मदेव की वन्दना करते हैं। दुष्पार और दुरवगाह्य होने से भव : संसार : को सागर कहा। जिस भाँति समुद्र से अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु उत्पन्न हुई और विष वारुणी : सुरा : भी उत्पन्न हुई। उसी भाँति संसार सागर में दैवसर्ग भी उत्पन्न हुआ और आसुरसर्ग भी उत्पन्न हुआ। सन्त कहकर दैवसर्ग को लक्षित किया और खल कहकर आसुरसर्ग को लक्षित किया। भवसागर के अन्तर्गत ही यह सागर : जलनिधि : है। अतः सबके उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मदेव हैं। ये ही विश्व के सविता : पिता : हैं। इसीलिए पितामह कहलाते हैं। ये सर्वथा वन्दनीय हैं।

दो. विबुध विप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहौं कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि॥ १४ च॥

अर्थ : देवता, ब्राह्मण, पण्डित तथा ग्रहों के चरणों की वन्दना करके, हाथ जोड़कर कहता हूँ कि प्रसन्न होकर सब लोग मेरे सुन्दर मनोरथ को पूरा करो।

---

[1] १. वेद वाल्मीकि जी से रामायण रूप में उत्पन्न हुआ।

[2] २. यहाँ परिसंख्या अलङ्कार है। यथा : परिसंख्या एक थल बरजि दूजे थल ठहराय।
स्नेह हानि मन में नहीं रही दीप महँ आय॥

व्याख्या : चार दिव्य साधन मनोरथ सिद्धि के हैं। १. देवता २. ब्राह्मण ३. पण्डित और ४. ग्रह। देवता सहाय करते हैं। यथा : होउ सहाय महेस भवानी। ब्राह्मण आशीर्वाद देते हैं। यथा : औरौ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी। पण्डित युक्ति बतलाते हैं। यथा : जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। ग्रह प्रभाव डालते हैं। यथा : जोग लगन ग्रह वार तिथि, सकल भये अनुकूल। ये चारों देवता हैं। दिव्य साधन हैं : विबुध देवता, ब्राह्मण देवता, पण्डित देवता। यथा : विद्वाँसो हि देवाः। और ग्रह देवता। विप्र वेद के पण्डित, बुध अन्य शास्त्र के पण्डित। मनोरथ शब्द पुँल्लिङ्ग है इसके विशेषण 'मोरि' का मुख्य रूप 'मोर' ही समझना चाहिए। 'जोरि' के जोड़ में 'मोरि' कर दिया।

इस कमल की पुरइन है : सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मनमति रंक मनोरथ राऊ। मनोरथ राऊ है, इसलिए दिव्य साधनों से काम लेते हैं। यहाँ 'मंजु मनोरथ मोरि' से 'मनोरथ राऊ' कहा। इस भाँति यहाँ कमलों का गुच्छा हुआ।

पुनि बंदौं सारद सुर सरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥
मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविवेका॥१॥

अर्थ : फिर सरस्वतीजी और गङ्गाजी की वन्दना करता हूँ। दोनों पवित्र और मनोहर चरित्रवाली हैं। एक स्नान करने और पान करने से पाप दूर करती है और एक कहने सुनने से अविवेक हर लेती है।

व्याख्या : सारद, सुरसरिता की साथ वन्दना गुणसाम्य के कारण करते हैं। सद्यः पातकसंहन्त्री सुरसरिता का पाप हरण करना पुनीतता है और केवल मज्जन, पान द्वारा पाप हरण करना चरित की मनोहरता है एवं जाड्यान्धकारापहा सारदा का अविवेक हरण करना पुनीतता है और केवल कहने सुनने से अविवेक हरण चरित की मनोहरता है। जो पाप हो चुके हैं उसे श्रीगङ्गा हरण करेंगी और आगे भी पाप का लेप विवेक द्वारा सरस्वती भगवती नहीं होने देंगी। 'सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा' कहकर द्रवीभूता सरस्वती का उल्लेख किया था। यहाँ अधिष्ठात्री देवी की वन्दना करते हैं।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं दीन बंधु दिन दानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय पीके। हित निरुपधि सब विध तुलसी के॥२॥

अर्थ : दीनवन्धु, सदा देनेवाले, महेश और भवानी गुरु, माता और पिता हैं वे सीतापति के सेवक, स्वामी और सखा हैं और तुलसी के सब प्रकार से सच्चे निश्छल हितकारी हैं।

व्याख्या : वेद की आज्ञा है : मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। श्री ग्रन्थकार कहते हैं : मेरो मातुपितु गुरु शंकर भवानियैं। गुरु, आचार्य या मन्त्रदाता को कहते हैं। शङ्कर भगवान् त्रिभुवन के गुरु हैं और माता पिता हैं। यथा : तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना। जगत मातु पितु संभुभवानी। अतः तीनों नाता इनसे जोड़ना प्राप्त है। दीनवन्धु हैं। यथा : सकत न देखि दीन करजोरे। दिनदानी। यथा : 'दीनदयाल दिवोइय भावै जाचक सदा सोहाहीं।

सीतापति के सेवक स्वामी और सखा हैं अर्थात् सर्वार्थकारी हैं। महात्माओं से सुना है कि जब भगवान् ने लिङ्गस्थापन किया और रामेश्वर नाम रक्खा तो मुनियों ने पूछा कि 'रामेश्वर' नाम का अर्थ क्या होगा ? तब रामजी ने कहा 'अर्थ' बड़ा सीधा है, यहाँ तत्पुरुष समास है : रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः।' राम के ईश्वर रामेश्वर हैं। तब लिङ्ग से शब्द हुआ, कि बहुव्रीहि समास है। अर्थात् राम ईश्वरो यस्य। जिसके ईश्वर राम हैं, वह रामेश्वर हैं। ऋषि लोग बड़े विचार में पड़े कि क्या मानें ? तब इस निर्णय पर पहुँचे कि यहाँ 'कर्मधारय' समास है। रामश्चासौ ईश्वरः रामेश्वरः। जो राम है वही ईश्वर हैं। अथवा हनुमान् रूप से सेवक, रामेश्वर रूप से स्वामी और समर-सागर में जहाज होने से सखा। यथा : ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे। और तुलसी के तो सब प्रकार से सच्चे हितकारी हैं। उपधि का अर्थ है छल या झूठ। अतः निरुपधि का अर्थ सच्चा या असली हुआ। यथा : मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा। सावर मंत्र जाल जिन सिरिजा ॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥३॥

अर्थ : जिन शिव पार्वती ने कलियुग को देखकर जगत् के हित के लिए शावर मन्त्र समूहों की रचना की। जिनके अक्षर बेमेल हैं, न कोई अर्थ है, न जप है पर महेश के प्रताप से उनका प्रभाव प्रत्यक्ष है।

व्याख्या : मन्त्रों की सिद्धि के लिए शास्त्रोक्त अधिकारी और साधन कलियुग में दुर्लभ हैं। अतः हितकर मनोरथों की सिद्धि के लिए शवर : भील : रूप से शावर मन्त्रों की जिन्होंने सृष्टि की। जिस देश में जो भापा प्रचलित है उसी भापा में शावर मन्त्र भी हैं। उन मन्त्रों के न शब्दों में मेल[1] है, न अर्थ ही कुछ होता है और न उन मन्त्रों के जप का ही कोई विधान है। 'हनङ् हनैया हनाङ् वचवा चुण्ड भया' इस शावर मन्त्र से भिड़ के काटे हुए को आराम होते देखा गया है। सम्भव है कि मेरे सुनने में कुछ चूक हुई हो, फिर भी वह मन्त्र कुछ ऐसा ही था। प्रत्यक्ष फल होता है। यह महेश का प्रताप है। मन्त्र दाता होने से गुरु[2] हैं।

सोउ महेस मोपर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला ॥
सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ राम चरित चित चाऊ ॥४॥

अर्थ : वे महेश भी मुझपर अनुकूल हैं। वे इस कथाको मुदमङ्गल का मूल कर देंगे। मैं शिव-पार्वती का स्मरण करके और प्रसाद पाकर आनन्दित चित्त से रामचरित वर्णन करूँगा।

व्याख्या : माता-पिता अनुकूल होकर बिगड़ी बात बनाया करते हैं। मुझ

---

[1] मेल से यहाँ अन्वय अभिप्रेत है और जप से जपविधि, मालासंस्कार, पञ्चशुद्धि आदि अभिप्रेत है।

[2] गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं 'दीनबंधु दिन दानी। आदि पदों से जो स्तुति की है, उन सबों का एक-एक करके साफल्य दिखावेंगे।

'धीग धरम ध्वज धँधरख धोरी' की वर्णित कथा को मुद मङ्गलमूल करेंगे। शावर मन्त्र को जिस भाँति उन्होंने शक्ति दी उसी भाँति मेरी भनिति को भी शक्ति देकर मुद मङ्गलमूल करेंगे। एवं 'पितुमातु' कहने का साफल्य दिखाया। शिवपार्वती स्मरण मात्र से कृपा करते हैं। मुझपर कृपा हुई। पहिले मेरा मन कथा करने में हिचकता था। अब रामचरित वर्णन में बड़ा उत्साह है। यह शिवाशिव की कृपा है। इस भाँति 'दीनबन्धु' कहने का साफल्य दिखाया।

भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहु सुराती॥

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥५॥

अर्थ : मेरी कविता शिवजी की कृपा से ऐसी प्रकाशित होगी जैसे चन्द्रमा के समाज से मिलकर रात्रि सुन्दर होती है। जो लोग इस कथा को प्रेम के साथ कहेंगे, सुनेंगे और सावधान होकर समझेंगे।

व्याख्या : मेरी कविता तो रात है, उसमें प्रकाश कहाँ? शिव की कृपा शशि-समाज है। सो उसमें जा मिली तो वह सदा के लिए सुराति हो गई। भक्तिमय होकर पूर्णिमा की रात हो गई। इस भाँति 'दिनदानी' कहने का साफल्य दिखाया।

रामजी के सर्वार्थकारी शङ्कर भगवान् हैं। अतः इस कथा के कहने सुनने और समझनेवाले :

होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥६॥

अर्थ : वे : रामचरण के अनुरागी होंगे कलिमल से रहित होकर सुमंगल के भागी होगें।

व्याख्या : कहनेवाले को श्रीराम चरणानुराग देंगे। सुननेवाले का कलिमल हरण करेंगे और ससझनेवाले को सुमङ्गलभागी करेंगे। अथवा प्रत्येक को तीनों गुणों से युक्त करेंगे। इस भाँति सर्वार्थकारित्व का साफल्य दिखाया।

दो. सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥१५॥

अर्थ : जो मुझपर हरगौरी का स्वप्न में भी सचमुच प्रसाद हो तो मैंने जो भाषा कविता का प्रभाव बतलाया है, वह सब सत्य हो।

व्याख्या : स्पष्ट है कि स्वप्न में हरगौरी ने प्रसन्न होकर रामयशगान की आज्ञा दी। जो बात स्वप्न की देखी है, उसे ग्रन्थकार 'स्वप्न' शब्द देकर स्पष्ट कह देते हैं। यथा : रूप सकहिं नहिं कहि स्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहु जेहि देखा। यहाँ सपने में दर्शन हुआ था। विशेष बातें इस अर्धाली के व्याख्यान में कही जायेंगी। 'फुर होइ' कहकर ग्रन्थकार दिखलाते हैं कि यह ग्रन्थ भी महेश के प्रताप से सिद्ध शावर मन्त्रजाल हो गया। अतः शावर मन्त्र की परिपाटी ग्रहण करते हैं। शावर मन्त्रों में प्रायेण 'फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच' रहता है, सो ग्रन्थकार ने भी 'सो फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ' कहा। यह भी दिखलाया कि संस्कृत भणिति इस युगमें

काम नहीं देती, भाषा भणिति का प्रभाव हरगौरी प्रसाद से काम देगा। इससे 'हित निरुपधि सब विधि तुलसी के' का साफल्य दिखलाया।

सन्तों से रामचरण रति माँगी। समष्टि से बुद्धिबल माँगा। कविसमाज से 'साधु समाज भनिति सम्मान' माँगा। अब कहते हैं कि मेरी सब गुण रहित कविता की फलश्रुति शङ्कर के प्रताप से शावर मन्त्र की भाँति सत्य होगी।

अवधसमाज वंदना

वंदौ अवध[1]पुरी अति पावनि। सरजू[2]सरि कलि कलुष नसावनि॥
प्रनवौं पुरनर नारि बहोरी। ममता जिनपर प्रभुहिं न थोरी॥१॥

अर्थ : मैं अति पवित्र अयोध्यापुरी और कलियुग के पापों की नाश करनेवाली सरयू नदी की वन्दना करता हूँ। फिर पुरी के नर-नारियों को प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु की थोड़ी ममता नहीं है।

व्याख्या : सातों मोक्षदा पुरी पावनी हैं। यथा : अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः। इनमें से प्रथम होने से अयोध्या अति पावनी है। न योध्या अयोध्या और न वधः अवधः। इस भाँति समानार्थक होने से अयोध्या का नाम अवधपुरी है। यह स्वयं प्रभुकी जन्म भूमि है। जब जब श्रीरामावतार हुआ है तब तब अवधपुरी में हुआ है और जब होगा तब अयोध्या में ही होगा। अवधपुरी और श्रीरामजी में वही सम्बन्ध है जो दिन और प्रभाकर में है। यथा : अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू। अवधपुरी के साथ श्रीसरयूजी को प्रणाम करते हैं। यह अवधपुरी की उत्तर ओर बहती हैं। इनमें मज्जन करने से बिना प्रयास सामीप्य मुक्ति होती है। कलिकलुष के रहते मुक्ति नहीं होती, अतः कहते हैं : कलि कलुष नसावनि। स्वयं श्रीरामजी ने भी एक साथ

---

[1] अवध की महिमा अपरंपार, गावत हैं श्रुति चार॥टेक॥
विस्मृत अवल समाधिन से जो ध्याई बारंबार॥
तातें नाम अयोध्या गायो यह रिग वेद प्रकार॥१॥
राजधानि पर बल कंचन नव आठ चक्र नव द्वार।
ताते नाम अयोध्या पावन अस यजु करत विचार॥२॥
अकार उकार धकार देवत्रय ध्याई जो लखिसार।
ताते नाम अयोध्या ऐसो साम करत निरधार॥३॥
जगमग कोस जहाँ अपराजित ब्रह्म देव आगार।
ताते नाम अयोध्या ऐसो कहत अथर्व उदार॥४॥

यह पुरी वाल्मीकि के मत से ४८ कोस लम्बी बारह कोस चौड़ी थी। : देवकृत रामसुधा।

[2] यह मानस सरसे निकलकर अयोध्या होते हुए श्रीगंगाजी में जा मिली है।
यथाः कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः।
तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामवगूहते॥
सरः प्रवृत्ता सरयूः पुण्यब्रह्मसरश्च्युता। बाल्मीकीये

ही वर्णन किया है। यथा : जनम भूमि मम पुरी सोहावनि। उत्तर दिसि वह सरयू पावनि।

संसार चाहता है कि मुझे रामजी 'अपना' समझें। यथा : राम कहै जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसी दास। अथवा हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहि राम जानत करि मोरे। इसलिए रामजी पर ममता करते हैं। यहाँ अवधवासियों पर स्वयं श्रीरामचन्द्र अधिक ममता करते हैं। अतः ग्रन्थकार इन्हें रामजी का प्रिय समझकर प्रणाम करते हैं। यथा : अतिप्रिय मोहि इहाँ के वासी।

सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए ॥
बंदौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जगमाची ॥२॥

सीताजी की निन्दा करनेवाले के पापों के समूहों को नाशकर और शोक रहित करके लोक में बसाया। मैं पूर्व दिशा के समान कौसल्या माता की वन्दना करता हूँ। जिसकी कीर्ति की संसार में धूम है।

व्याख्या : परनिन्दा सम अघ न गिरीसा। परनिन्दा के समान कोई पाप नहीं है। मनु भगवान् ने कहा है : परिवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। सच्चा दोष कहनेवाला गधा होता है और झूठा दोष कहनेवाला कुत्ता होता है। जितने बड़े की जो निन्दा करेगा उतना ही बड़ा उसे पाप होगा। अतः जगज्जननी सीता की निन्दा करनेवाले को नरक में भी स्थान नहीं है। यह अपराध एक अवधवासी से ही हो पड़ा। श्रीरामजी की इतनी बड़ी ममता अवधवासियों पर है कि ऐसे अधम प्रजाजन के भी पापसमूह का नाश किया और लोक में उसे विशोक करके बसाया। दण्ड भी नहीं दिया। सम्मान के साथ उसे बसाया कि यह मेरे मिथ्या अपवाद के दूरीकरण में सहायक हुआ।

प्राची : पूर्व : दिक् में ही पूर्णचन्द्र का उदय होता है। जब श्रीरामावतार हुआ या होगा तब कौसल्या से ही होगा। अतः कीर्ति प्राचीदिक् की ही है। जितने देवकार्य हैं पूर्वमुख होकर ही उनके करने का विधान है। इससे संसार में पूर्वदिक् की धूम है। इसी प्रकार संसार में कौसल्या की कीर्ति की धूम है। यथा : कौसल्या सुत सो गुन खानी। नाम राम धनुसायक पानी।

प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू ॥
दसरथ राउ सहित सब रानी। सकल सुमंगल मूरति मानी ॥३॥

अर्थ : जहाँ सुन्दर चन्द्रमा के समान रघुपति प्रकट हुए, जो संसार का सुख देनेवाले और खलरूपी कमल के लिए पालारूप हैं। रानियों सहित राजा दशरथ को पुण्य और मङ्गल की मूर्ति समझकर :

व्याख्या : 'ससिचारू' से पूर्णचन्द्र का ग्रहण करते हैं। अथवा यह चन्द्र सदोष है। यथा : जन्म सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंक। सिय मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक। घटै बढै बिरहिन दुख दाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई। कोक सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही। पर श्रीरामचन्द्र

निर्दोष हैं, इसलिए 'चारु' कहा। रघुपति कहकर श्रीरामावतार कहा जो रघुकुल में हुआ। जो रामावतार भृगुकुल में हुआ अथवा जो यदुकुल में हुआ उनका यहाँ ग्रहण नहीं है।

अवतार के दो प्रधान कारण शङ्करजीने कहे हैं : असुर मारि थापहिं सुरन्ह' दैवी सम्पत्वालों की रक्षा और आसुर सम्पत्वालों का संहार सो 'विश्व सुखद खल कमल तुमारू' कहकर दोनों बातें कहीं। खल की कमल से उपमा इसलिए दी कि कमल अपने जनक जल से ही विमुख रहता है। ऊपर की ओर मुख किये रहता है। जिस भाँति तुषार से कमलवन का संहार हो जाता है उसी भाँति श्रीरामावतार से पृथ्वी का निशिचर हीन होना द्योतित किया।

अब माता-पिता की वन्दना करते हैं। सुकृतमूर्ति महाराज दशरथ और सुमङ्गलमूर्ति सब रानियाँ यथा : सुकृती तुम समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होतेउ नाहीं। सब रानी से सात सौ रानियों का ग्रहण है। यथा : पागलपन दुलहिनन्हि सिखावत मुदित सासु सत साता। अमंगल पाप से होता है, पुण्य का मङ्गल से नित्य सम्बन्ध है, अतः रानियों को मङ्गलमूर्ति कहा।

करौं प्रनाम करम मन वानी। करहु कृपा सुत सेवक जानी॥
जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ विधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥४॥

अर्थ : मैं मन, वचन और कर्म से प्रणाम करता हूँ। पुत्र का सेवक जानकर कृपा करो, जिनको रचकर ब्रह्मदेव भी बड़े हुए। राम के माता-पिता महिमा की सीमा हैं।

व्याख्या : इष्टदेव के माता-पिता हैं, इसलिए बड़ी सावधानी से प्रणाम करते हैं। सुत का सेवक भी माता-पिता को प्रिय होता है। अतः प्रार्थना करते हैं कि सुत का सेवक जानकर कृपा करो।

रामजी तो 'आपु प्रकट भये विधि न बनाए' पर इनके माता-पिता तो ब्रह्मदेव की सृष्टि में हैं। इस नाते ब्रह्मदेव बड़े हुए क्योंकि राम के पिता-माता महिमा की अवधि हैं। यथा : सुनहु महीपति मुकुट मनि तुम सम धन्य न कोउ। राम लखन जिनके तनय विस्वविभूषन दोउ। और उनके बनानेवाले ब्रह्मदेव हैं।

दो. वंदौं अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रियतनु तृन इव परिहरेउ॥१६॥

अर्थ : मैं अवध के राजा की वन्दना करता हूँ; जिनको रामजी के चरणों में सच्चा प्रेम था, जिन्होंने दीनदयाल के बिछुड़ते ही अपने प्रिय शरीर को तिनके के समान छोड़ दिया।

व्याख्या : सच्चा प्रेम उसी को है जो प्रेमपात्र का विरह न सह सके। चक्रवर्ती जी के सामने सबका प्रेम कच्चा दिखाई पड़ता है क्योंकि रामविरह में ये ही शरीर छोड़ने में समर्थ हुए और सब लोग इस सच्चे प्रेम के लिए तरसते ही रह गये। स्वयं माँ कह रही हैं : असविचारि नहीं करउँ हठ झूठ सनेह बढाइ। मेरा प्रेम

झूठा है क्योंकि मैं तुम्हारे विरह में मर नहीं सकती। अतः इस झूठे प्रेम को न बढ़ाऊँगी। भरतजो कहते हैं : संकर साखि रहेउँ एहि घाएँ। सुमन्त जी कहते हैं : रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जस न लहइ बिछुरत रघुबीरू। इत्यादि।

केवल छः दिन सुमन्तजी के बन पहुँचाने और लौटने में लगे। वह चक्रवर्तीजो को अपार मालूम पड़ता है। लौटने की आशा से शरीर धारण किये हुए थे। यथा : हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम बिनु जिअत बहुत दिन बीते। अतः कहते हैं' प्रिय तन तृन इव परिहरेउ'। जैसे ममतारहित होकर कोई तृण तोड़ देते हैं, उसी भाँति शरीर छोड़ा। सत्य प्रेम में इनका साथी माताओं में भी कोई नहीं। इसलिए इनकी अलग वन्दना अकेले की।

प्रनवों परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ सनेहू ॥
जोग भोग महुँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥१॥

अर्थ : मैं कुटुम्ब सहित राजा विदेह को प्रणाम करता हूँ। जिनको रामजी के चरणों में छिपा प्रेम था। जिसे योग और भोग में छिपा रक्खा था, पर रामजी के देखते ही वह प्रकट हो गया।

व्याख्या : 'परिजन' शब्द से महारानी सुनयना आदि समस्त परिवार का ग्रहण हुआ। अवध भुआल के सत्यसनेह की प्रशंसा है और विदेहराज के गुप्त प्रेम की प्रशंसा है। कोई उन्हें योगी और कोई भोगी जानता था। सामान्य लोग तो भोगी ही जानते थे, परन्तु जानकार लोग जानते थे कि योगी हैं। इन्हें प्रेमी कोई नहीं जानता था। जिस भाँति डब्बे में रत्न छिपाकर रक्खा जाता है उसी भाँति महाराज जनक ने योग-भोग के डब्बे में प्रेमरत्न छिपा रक्खा था। यथा : रागऊ विराग भोग जोगवत मन, जोगी जागवलिक प्रसाद सिद्धि लही है : 'गीतावली'। सो रामजी के देखते ही प्रकट हो गया। अपने स्वरूप को छिपा न सके। यथा : इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा। श्रीरामजी के प्रेमी धन्य हैं और उनके परिजन भी धन्य हैं। अतः सबकी वन्दना करते हैं।

प्रनवों प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना ॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू ॥२॥

अर्थ : मैं पहिले भरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता। जिनका मन भौंरे के समान लुब्ध होकर रामचरणरूपी कमल के पास से नहीं हटता।

व्याख्या : भाइयों की वन्दना में ग्रन्थकार प्रथम वन्दना भरतलाल की करते हैं, क्योंकि तीनों भाइयों में बड़े हैं। विश्व के भरण पोषण करनेवाले हैं। शुचि सुबन्धु हैं। धर्म की मर्यादा हैं। कुलके दीपक हैं। शठको भी रामसम्मुख करनेवाले हैं। यथा : बिस्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई। लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना। समुझब कहब करब तुम जोई।

धर्म सार जग होइहिं सोई। जानेउ सदा भरत कुल दीशा। वार बार मोहि कहेउ महीपा। कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।

जिसके नेम प्रेम का वर्णन हो नहीं सकता। यथा : सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। ऐसा नेम प्रेम है, जैसा भौंरे का कमल के साथ होता है। यथा : सिसुपन ते परिहरेउ न संगू। वीते अवधि जाउँ जौ जिअत न पावौ वीर।

यह शङ्का उचित नहीं है कि ग्रन्थकार ने भरत के चरण को कमल क्यों नहीं कहा ? क्योंकि अन्य स्थान में कहा है : झलका झलकत पायन कैसे। पंकज कोष ओसकन जैसे। प्रथम वन्दना करके प्रधानता दे ही दी, तब चरण को कमल कहने की आवश्यकता न रही। यथा : वंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।

वंदौं लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता।
रघुपति कीरति विमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका ॥३॥

अर्थ : मैं लक्ष्मणजी के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जो शीतल, सुन्दर और भक्तों को सुख देनेवाले हैं और रघुपति की कीर्तिरूपी विमल पताका में जिनका यश दण्ड के समान हुआ।

व्याख्या : लक्ष्मणजी के चरणकमलों के गुण कहते हैं। वे चरण पाप, ताप, माया का हरण करते हैं : इसलिए शीतल हैं। ध्यान करनेवालों के चित्ताकर्षक होने से सुभग हैं। यथा : 'चारु चंपक वरन वसन भूषन धरन दिव्यतर भव्य लावण्य सिंधो' और कल्याण मङ्गल भवन होने से 'भक्त सुख दाता' हैं। यथा : उर्मिला रमन कल्यान मंगल भवन दास तुलसी दोष दवन हेतू।

रावणवधरूपी विमल कीर्ति की पताका जो श्रीरामचन्द्र की फहरा रही है, उसका आधार लक्ष्मणजी का यश है। मेघनाद वध होने पर लङ्का अजेय नहीं रह गई। मेघनाद वध लक्ष्मणजी ने किया। देवताओं को प्रत्यक्ष होकर स्तुति करने का साहस हुआ। यथा : जय अनंत जय जगदाधारा। तुम प्रभु सब देवन्हि निस्तारा। पताका दूर से ही दृष्टिगोचर होती है पर दण्ड तो निकट आने पर दिखाई पड़ता है। इसी भाँति श्रीरामजी की कीर्ति विख्यात है, परन्तु लङ्का के युद्ध के देखने पर लक्ष्मणजी की कीर्ति का पता चलता है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन॥
सदा सो सानुकूल रहु मोपर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥४॥

अर्थ : जो जग के कारण, हजार सिरवाले शेषजी हैं। उन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार धारण किया। वे कृपासिन्धु, गुणों की खानि सुमित्रा के पुत्र सदा मुझपर अनुकूल रहें।

व्याख्या : वाल्मीकिजी ने लक्ष्मणजी को साक्षात् शेषावतार बतलाया। यथा : जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। अतः 'सेष सहस्रसीस' कहकर ग्रन्थकार स्तुति करते हैं। जाग्रत् अवस्था के विभु होने से जगकारण कहते हैं। जाग्रत्

के आधार पर ही जगत् की स्थिति है। यथा : लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। इनका अवतार भूभार-हरण के लिए हुआ था। यथा : जयति संग्राम सागर भयङ्कर तरन रामहित करन वरबाहु सेतू।

रामभक्त के लिए लक्ष्मणजी की सानुकूलता परमावश्यक है। लक्ष्मणजी ने ही ग्रन्थकार की ओर प्रभु का ध्यान आकृष्ट कराया। यथा : मारुति मत रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलि कालहू नाथ नाम सो प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है : विनय प.। कृपासिन्धु और गुणाकर कहकर सेवनीय कहा और सौमित्र कहकर भगवती सुमित्रा के गुणों का इनमें होना जनाया। यथा : सिय रघुवर सेवा सुचि ह्वैहो तौ जानिहौं सही सुत मोरे। कीजहु इहै विचार निरन्तर राम समीप सुकृत नहीं थोरे।

रिपु सूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥
महावीर विनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥५॥

अर्थ : मैं शत्रुघ्न के चरणकमलों को प्रमाण करता हूँ। वे शूर, सुशील और भरत जी के पीछे चलनेवाले हैं। महावीर हनुमान् जी की विनती करता हूँ। उनके यश का राम जी ने स्वयं वखान किया है।

व्याख्या : शत्रुघ्नजी ऐसे शूर हैं कि इनके स्मरण से शत्रु का नाश होता। यथा : जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन वेद प्रकासा। जयति जय सत्रुकरि-केसरी सत्रुतम तुहिनहर किरनकेतू। 'रिपु' शब्द से लौकिक रिपु तथा षड् रिपु काम-क्रोधादि का भी ग्रहण है। शत्रुघ्न जी सुशील ऐसे हैं कि बड़े भाइयों के समाने कभी बोले ही नहीं और भरत जी के अनुगामी हैं। अर्थात् रामसेवक के सेवक हैं। यथा : जयति सर्वांगसुन्दर सुमित्रासुवन भुवनविख्यात भरतानुगामी : विनय.। अर्थात् रामजी के दासानुदास हैं। अब भ्रातृकोटि में परिगणित भक्तों की वन्दना करते हैं।

वीर बहुत हुए, पर महावीर शब्द रूढ हनुमान् जी के लिए है। बड़े बड़े वीरों ने त्रैलोक्य विजय किया पर काम के वशवर्ती कभी न हुए हों ऐसे तो एक हनुमान्जी ही हैं। सब कोई रामयश का बखान करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं पर हनुमान्जी के यश का तो स्वयं रामजी बखान करते हैं। यथा : सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहि कोउ सुर नर मुनि तनुधारी। सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाही। देखेउँ करि विचार मनमाही। ऐसे महावीरजी के विनय करने से कामादि शत्रु भी नष्ट होंगे और रामजी की कृपा भी होगी।

सो. प्रनवौं पवन कुमार, खल वन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर॥१७॥

अर्थ : मैं पवनकुमार हनुमान्जी को प्रणाम करता हूँ जो खलरूपी वन के लिए अग्नि हैं और जिन्हें घना ज्ञान है और जिनके हृदयरूपी घर में धनुष-बाण धारण किये श्रीरामजी निवास करते हैं।

व्याख्या : प्रनवौं से प्रणाम कहा। पवन से अग्नि की उत्पत्ति कही। यथा :

'वायोरग्निः।' सो पवनकुमार भी अग्निरूप ही हैं। भेद यह है कि अग्नि जड़ है। उसे विचार नहीं है। सभी को अवसर पड़ने पर जलाता है। पर हनुमान्‌जी तो 'खलबन-पावक' हैं। अग्नि जड़ प्रकाश है। हनुमान् जी में चित्प्रकाश है। इसलिए ज्ञानघन कहा। अग्नि भगवान् की विभूति हैं। यथा : वसूनां पावकश्चास्मि। और हनुमान्‌जी के हृदय में स्वयं भगवान् बसते हैं। 'सर चाप धर' कहने का भाव यह कि : तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना। जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि माथा।

'पवनकुमार' कहकर दिव्य जन्म बताया। 'खलवन पावक' कहकर दिव्य कर्म बताया। 'ज्ञानघन' कहकर दिव्य ज्ञान बताया और 'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर' कहकर साक्षात् रामायणरूप बतलाया। अथवा : 'पवनकुमार कहकर समुद्रोल्लंघन ध्वनित किया। 'खलवन पावक' कहकर लंकादहन ध्वनित किया। ज्ञानघन कहकर सीता प्रबोध, रावण प्रबोध ध्वनित किया। बसहिं राम सरचाप धर से 'राम प्राप्ति' ध्वनित की। इसी वन्दना में संक्षेप से हनुमतच्चरित कह डाला क्योंकि हनुमान्‌जी 'भानुकुलभानु कीरति पताका' हैं।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जें कीस समाजा॥
वंदौं सबके चरन सोहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥१॥

अर्थ : वानरों के पति रीछ तथा राक्षसों के राजा और अङ्गद आदि जो बानर समाज है उन सबके सुन्दर चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने अधम शरीर से रामजी को प्राप्त किया।

व्याख्या : कपिपति अर्थात् सुग्रीवजी, रीछ राजा जाम्बवानजी, निशाचरराज विभीषणजी, अङ्गदादि अर्थात् द्विविद मयन्द, नील, नल, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निशठ, शठ आदि वानरसमाज। इन सब महानुभावों के सुन्दर चरणों की वन्दना करते हैं, क्योंकि ये रामजी के सखा हैं। यथा : ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे। हनुमान्‌जी की प्रथम वन्दना का कारण यह है कि ये सर्वाधिक बड़भागी और रामानुरागी हैं। यथा : हनूमान सम नहि बड़भागी। नहि कोउ रामचरन अनुरागी। इन सबों में बड़ी विशेषता है। नर शरीर से भी रामजी की प्राप्ति दुर्लभ है, सो इन लोगों ने अधम शरीर से रामजी की प्राप्ति की है। यथा : प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा। अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुवीर। कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन भरे विलोचन नीर।

रघुपति चरन उपासक जेते। खगमृग सुर नर असुर समेते॥
वंदौं पद सरोज सब केरे। जे विनु काम राम के चेरे॥२॥

अर्थ : पशु, पक्षी, देवता, मनुष्य और असुर समेत जितने रघुनाथ के चरणों के उपासक हैं, जो बिना कामना के रामजी के दास हैं। मैं सबके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ।

व्याख्या : भाव यह कि नर से व्यतिरिक्त शरीरों में भी उपासक पाये जाते

हैं। सो वन्दना उपासकों की हैं, शरीरों की नहीं। खग से गरुड़, भुसुण्डि, जटायु आदि का ग्रहण हैं। मृग से बानरों तथा रीछों की सेना के सैनिक आदि, सुर से गणेश सुरेश आदि, नरों से अयोध्या, मिथिला निवासी आदि, असुर माल्यवान आदि। भाव यह कि चाहे जिस योनिके हों, निष्काम भक्त अन्तरङ्ग हैं। यथा : सकल कामना हीन जे राम भगति रसलीन। अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसहि धन जैसे।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिग्यान बिसारद॥
प्रनवौं सवहि धरणि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥३॥

अर्थ : शुकाचार्य, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, भक्तमुनि नारद तथा जितने विज्ञान-विशारद मुनि हैं, उन सबको मैं धरती पर मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरो! अपना जन जानकर कृपा करो।

व्याख्या : भाव यह है कि उपर्युक्त महानुभाव विज्ञान-विशारद अर्थात् ब्रह्मज्ञ होने पर भी भक्त हैं। यथा : अस विचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इनके चरणस्पर्श की भी मेरी योग्यता नहीं है। इससे धरती पर सिर रखकर प्रणाम करते हैं और अपने को इनका सेवक मानते हैं। अथवा बहुतों को युगपत् प्रणाम धरणी पर सिर रख करके ही किया जाता है, एक हो तो उसके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया जाय।

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावों। जासु कृपा निरमल मति पावों॥४॥

अर्थ : जनक की बेटी, जगत् की माता और करुणानिधान की अत्यन्त प्यारी श्रीजानकीजी के दोनों चरण कमलों को मनाता हूँ। ध्यान करता हूँ : जिनकी कृपा से निर्मल मति की प्राप्ति हो।

व्याख्या : जनक सुता और जानकी ये दोनों शब्द एक अर्थ के बोधक मालूम पड़ते हैं, पर यह बात नहीं है। गायत्रीसहस्रनाम में पठित जानकी नाम सदा से ही गायत्री माता का है। अतः जानकी कहकर ब्राह्मणों की इष्ट देवता गायत्री देवी कहा। जनक सुता कहकर उनका दिव्य जन्म कहा। जगजननि कहकर उनका सावित्री होना कहा। यथा : आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोरि यह माया। 'अतिसय प्रिय करुना निधान की' कहकर उनका जगत्पिता : सविता : से अनादि सम्बन्ध सूचित किया। यथा : प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चन्द तजि जाई। उस महामाया के दोनों चरणों का ध्यान ग्रन्थकार करते हैं। बोलने में तो केवल चरणकमल कहने से काम चल जाता है, पर ध्यान करने में तो बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अतः 'जुग पद कमल मनावों' कहते हैं। ये ही बुद्धि की प्रेरणा करनेवाली देवी हैं। अतः निर्मल मतिप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। अथवा श्रेय और प्रेय दोनों की प्राप्ति के लिए दोनों चरणों का ध्यान करते हैं। उपासना करने से यही देवी बुद्धिरूप में परिणत होकर मृत्युजाल से छुड़ा देती है। जब यह देवी प्रसन्न होती हैं तब सूर्य की भाँति चित्ताकाश में विचाररूपता को प्राप्त होती हैं।

सबके हृदय में निवास करनेवाली इस देवी की कृपा हो, यही सबसे अधिक परम साधन है।

पुनि मन वचन कर्म रघुनायक। चरन कमल वंदौं सब लायक ॥
राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत विपति भंजन सुख दायक ॥५॥

अर्थ : फिर मैं मन, वाणी और कर्म से सब लायक रघुनायक के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ। जो कमलनयन धनुष वाण धारण किये हुए भक्तों की विपत्ति को दूर करनेवाले तथा सुख के देनेवाले हैं।

व्याख्या : रघुनायक पद से रघुकुल में अवतार कहा। सबलायक पद से सर्वशक्तिमान् कहा तथा चक्रवर्तीजी की अत्यन्त प्रीति कही। यथा : भये राम सब विधि सब लायक। राजिव नयन से सुन्दरता तथा कृपालुता कही। धरे धनु सायक पद से काल का भी नियन्ता ब्रह्म कहा। यथा : लव निनेष परमान जुग वर्ष कल्प सर चंड। भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड। भगत विपति भंजन पदसे दुष्कृतों का विनाश कहा और सुखदायक पद से साधुपरित्राण तथा धर्मसंस्थापन कहा।

इसी चौपाई में सातों काण्डों की कथाओं का बीज निहित है। यथा रघुनायक पद से जन्म, नामकरण, मुण्डन, यज्ञोपवीत तक की कथा इङ्गित की। सबलायक पद से मखरखवारी, अहल्योद्धार, पिनाकभङ्ग, सीता-परिणय, पिताजी के यौवराज्य देने तक की कथा द्योतित की। राजिवनयन से बनवास।. यथा : राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं। तथा मुनियों पर कृपा कही। धरे धनु सायक पद से निसिचर हीय करौं महि ऐसी प्रतिज्ञा करना कहा। भगत विपति भंजन पद से सूर्पणखा-नासिकाछेदन से रावणवध तक द्योतित किया। सुख दायक पद से राज्य कहा अर्थात् राम राज बैठे त्रैलोका। हर्षित भये गये सब सोका। तक की कथा ध्वनित्त की।

इसी चौपाई में अवतार के सब कारण भी कहे। यथा : असुर मारि : भगत विपति भंजन : थापहि सुरन्ह : सुख दायक : राखहि निज स्रुति सेतु : रघुनायक। जग विस्तारहि विसद जस : सब लायक : राम जन्म कर हेतु।

दो. गिरा अरथ जल वीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
वंदौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥१८॥

अर्थ : वाणी और अर्थ, जल लहर जैसे अलग-अलग कहे जाते हैं पर अलग-अलग नहीं हैं, वैसे ही सीताराम पद है उनकी मैं वन्दना करता हूँ, जिनको दुःखी अत्यन्त प्यारे हैं।

व्याख्या : सीताजी की उपमा गिरा से, रामजी की अर्थ से, फिर सीता जी की उपमा वीचि से और रामजी की जल से है एवं एक वार सीता को पहिले कहा दूसरी वार राम को पहिले कहा। अभेदार्थ दृढ़ करने के लिए। सीता राम हैं और

राम ही सीता हैं। [1]गिरा अर्थ से मानसिक अभेद कहा और जल वीचि से तात्त्विक अभेद कहा। सीताराम पद कहकर यह दिखलाया कि वह ब्रह्म पद एक है। उसीका राम नाम से पुँलिङ्ग में व्यवहार होता है और सीता नाम से स्त्रीलिङ्ग में व्यवहार होता है। इसलिए कहने मात्र में भेद है, भेद कुछ भी नहीं। अथवा यह दिखलाया कि चरण में भी भेद नहीं। जो चिह्न रामजी के दक्षिण पद में हैं वे ही चिह्न सीताजी के वाम पद में हैं और जो चिह्न सीताजी के दक्षिण पद में हैं वे ही चिह्न रामजी के वाम पद में हैं। जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न कहकर रुचि में भी अभेद दिखलाया।

बंदौं नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
विधि हरिहरमय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥१॥

अर्थ : मैं रघुवर के नाम की वन्दना करता हूँ, जो कृशानु : अग्नि : भानु : सूर्य : और हिमकर : चन्द्र : का कारण है और ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवमय वेद के प्राण सा है तथा निर्गुण, निरुपम और गुणनिधान सा है।

व्याख्या : जैसे राजा की सवारी सेना सामन्तों के पीछे रहती है। उसी न्याय से कवि ने सबकी वन्दना करके अन्त में श्रीसीतारामपद की वन्दना की है और उसके भी बाद नौ दोहों में नाम की वन्दना की है। नाम का इतना आदर इसलिए है कि वह नामी को अत्यन्त प्रिय है। लोक में भी देखा जाता है कि नामी नाम के पीछे अपना प्राण दे देता है। दूसरी बात यह है कि नाम में रूप सूक्ष्मरूप से अवस्थान करता है। रघुवर राम का उत्कर्ष यदुवर और भृगुवर राम से अधिक है। क्योंकि जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगी लोग रमण करते हैं उसीको तापनीय श्रुति ने रघुवर राम कहा है। यथा : रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते। चिन्मयेऽस्मिन्[2] महाविष्णौ जाते दाशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः। स राम इति लोकेऽस्मिन् विद्वद्भिः प्रकटीकृतः। सो रघुवर के राम नाम में रघुवर का रूप से सूक्ष्मरूप अवस्थान करता है।

उसी राम नाम को यहाँ कृशानु, भानु और हिमकर का कारण बतलाया है,

---

[1] एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थवत्पृथक् स्थितौ। प्रकाशकः प्रकाश्यश्च कार्यकारणरूपता। वाक्यपदीये। अर्थ : परमार्थ दृष्टि से शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। आत्मा ही शब्द और आत्मा ही अर्थ है। ब्रह्म प्रकाशक है और ब्रह्म ही प्रकाश्य है। व्यावहारिक दृष्टि से शब्द और अर्थ प्रकाशक प्रकाश्य रूप से कार्यकारणभाव में उपलब्ध होते हैं। इसीलिए कहा है कि : दाम्पत्यं नैव लोकेऽस्मिन् विद्यते नैव लभ्यते। अलौकिकं हि दाम्पत्यं विद्यते रामसीतयोः।

अर्थ : न ऐसा स्त्री पुरुषभाव न लोक में है और न पाया जाता है, रामसीता का दाम्पत्य अलौकिक है।

[2] इस रघुकुल में चिन्मय, महाविष्णु हरि दशरथ के यहाँ जन्म लेकर भक्तों का सम्पूर्ण अभीष्ट प्रदान करते हुए पृथ्वी पर शोभायमान होते हैं। उन्हींको राम कहकर विद्वान् लोग अभिहित करते हैं।

परन्तु छान्दोग्यश्रुति[१] कहती है कि उनके कारण हैं, तेज, अप् और अग्नि। अग्नि का जो लाल रूप है वह तेज का रूप है। जो शुक्ल रूप है वह जल का है। जो काला रूप है वह पृथ्वी का है। अग्नि से अग्नित्व ही चला गया। तीन रूप ही सत्य हैं। इसी भाँति आदित्य का जो लाल रूप है वह तेज का है। जो शुक्ल है वह जल का है। जो काला है वह पृथ्वी का है। आदित्य से आदित्यत्व गया। तीन रूप ही सत्य ठहरे। चन्द्र का जो लाल रूप है वह तेज का है। जो शुक्ल है वह जल का है। जो काला है वह पृथ्वी का है। गया चन्द्र से चन्द्रत्व। तीन रूप ही सत्य हैं। अतः कहना पड़ेगा कि यहाँ कृशानु, भानु, हिमकर से लोक प्रसिद्ध तीनों ज्योतियाँ जिन्हें अग्नि, सूर्य और चन्द्र कहा जाता है, अभिप्रेत नहीं है।

मन्त्रशास्त्र कहता है कि चिन्मय ब्रह्म में जब सिसृक्षा होती है तो उसे परविन्दु कहते हैं। यही परविन्दु वैष्णवों का महाविष्णु, शैवों का पर शिव और शाक्तों का अनपायिनी परा वाक् है। यहीं पर विन्दु काल पाकर १. शोणविन्दु २. सितविन्दु तथा ३. मिश्रविन्दु रूप से प्रकट होता है। इन्हीं का पारिभाषिक नाम क्रम से १. कृशानु २. भानु और ३. हिमकर है। जब राम नाम महामन्त्र है तव उसकी व्याख्या में मन्त्रशास्त्र की परिभाषा न मानने का कोई कारण नहीं है।

राम शब्द के विश्लेषण से र, आ और म निकलते हैं और ये ही क्रम से रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु हैं। अतः राम से त्रिदेव की उत्पत्ति कही गई। यथा : स्कन्दयामले : [२]रुद्र उवाच। रेफोऽग्निरहमेवोक्तो विष्णुः सोमो म उच्यते। आवयोर्मध्यगो ब्रह्मा रविराकार उच्यते। अतः स्पष्ट है कि यहाँ कृशानु भानु हिमकर से क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु का ग्रहण है। इनका कारण रघुवर का राम नाम है। ऐसे महामहिम राम नाम की कवि वन्दना करते हैं।

अब राम नाम की व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार से कहते हैं। राम नाम ब्रह्मा, विष्णु और महादेवमय है। रामपूर्वतापनीय के द्वितीय उपनिषत् में कहा है कि 'रेफारूढाः मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च' इस पर टीकाकार लिखते हैं 'अकारद्वयं मकारश्चेति वर्णास्त्रयः समुदिताः रेफारूढा बीजं स्युः।·····प्रथमोऽकारो विराडात्मकब्रह्मारूपः, द्वितीयोऽकारो हिरण्यगर्भात्मकविष्णुरूपः, मकारस्तु अव्याकृतात्मकसदाशिवरूपः···। शक्तय इति सृष्ट्यादिशक्तय इत्यर्थः···तदा रेफेण स्वभूरित्यादिप्रतिपादितं स्वप्रकाशं ब्रह्मोपस्थाप्यते। अर्थात् रकार को रेफ कहते हैं, उसके साथ ही तीन मूर्तियाँ और तीन शक्तियाँ हैं। दो अकार और एक मकार र्+अ+अ+म=राम। इसमें पहिला

---

[१] यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारोनामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वाम् वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम्। यच्चन्द्रस्य रोहितं रूपं तेजसतद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद् चन्द्राच्चन्द्रत्वम् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम्।

[२] रुद्र ने कहा कि रेफरूप अग्नि मैं हूँ। विष्णुरूप सोममय कहा जाता है। हम दानों के वीच में ब्रह्मा सूर्य आकार कहलाते हैं।

अकार विराडात्मक ब्रह्मदेव रूप है। दूसरा अकार हिरण्यगर्भात्मक विष्णुरूप है। मकार अव्याकृतात्मक शिवरूप है। शक्तियों से यहाँ सृष्टि, स्थिति और संहार शक्ति से अभिप्राय है और रेफ से स्वप्रकाश ब्रह्म अभिप्रेत है। इस भाँति राम नाम विधि-हरिहरमय है। वेद के प्राण सा है।

वेद का प्राण प्रणव[1] है। क्योंकि भगवान् कहते हैं कि सब वेदों में प्रणव : ओंकार : मैं हूँ। प्रणव में अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा है। अकार विराडात्मक ब्रह्मदेव हैं। उकार हिरण्यगर्भात्मक विष्णुरूप है। मकार अव्याकृतात्मक शिवरूप है। अर्धमात्रा स्वप्रकाशात्मक ब्रह्मरूप है। अतः ऊपर से मिलान करने पर प्रणव और राम नाम एक ही वस्तु प्रमाणित[2] होती हैं। इसीलिए रामनाम को रामतारक कहते हैं। यथा : राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः। राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्। राम ही परब्रह्म है। राम ही परम तप हैं। राम ही परम तत्त्व हैं। श्रीराम ब्रह्म तारक : प्रणव हैं।

त्रिकालातीत स्वप्रकाश ब्रह्म के रेफरूप से अवस्थित होने से तथा दोनों अकार और मकार के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवरूप से अवस्थित होने से राम नाम निर्गुण भी है और गुणनिधान भी है। एक बात में राम नाम प्रणव से भी अधिक है, वह यह कि प्रणव में केवल अमलात्मा परमहंस का ही अधिकार है किन्तु राम नाम में सबका[3] अधिकार है। अतः राम नाम अनुपम है।

महा मंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥२॥

अर्थ : जिस महामन्त्र को महेश जपते हैं। जो : काशी में मुक्ति के लिए उपदेश्य है। जिसकी महिमा को गणेशजी जानते हैं। नाम के प्रभाव से उनकी प्रथम पूजा होती है।

व्याख्या : महामंत्र : यह रामनाम महामन्त्र है। मननात् त्रायते भयत इति मन्त्रः। मनन करने पर जो भय से रक्षा करे उसे मन्त्र कहते हैं। यह रामनाम

---

[1] वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्। पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि। चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु कथय त्वं महाबल। हनुमान् होवाच। भो योगीन्द्राश्च कवयो विष्णुभक्तास्तथैव च। शृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम्। एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्मतारकम्। सनकादिकों ने पूछा कि हे वायु पुत्र महाबाहो! अठारह पुराण, अठारह स्मृति, चारों वेद और शास्त्रों में ब्रह्मवादियों का कौन सा तत्त्व है, हे महाबल! यह बताओ। तब हनुमान् जी ने कहा कि हे योगीन्द्र ऋषियो विष्णुभक्तो! भवबन्धविनाशिनी मेरी बाणी सुनो। इन सबों में तत्त्व ब्रह्म तारक श्रीराम नाम है।

[2] प्रणवत्वात् सदा ध्येयो यतीनाञ्चविशेषतः। राम रहस्ये। प्रणव रूप होने से यतियों द्वारा विशेष रूप से ध्यान करने योग्य है।

[3] मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्तिदेहिनाम्। राम मन्त्र में सभी देहधारियों का अधिकार है।

मनन करने से, हेतु सहित संसार से उपासक की रक्षा करता है इसलिए महामन्त्र है। अथवा जिस किसी भाँति जपे जाने से जापक का मङ्गलविधान करता है। इसलिए महामन्त्र है। यथा : भावकुभाव अनख आलसहूँ। राम जपत मंगल दिसि दसहूँ।

जोइ जपत महेसू : महाईश महादेव जिसका रात दिन जप करते हैं, उसके महामन्त्र होने में सन्देह को स्थान कहाँ है। यथा : तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती।

कासी मुकुति हेतु उपदेसू : इसकी तापनीय में कथा है। श्री वृषभध्वज ने काशी में एक सहस्र मन्वन्तर तक जप, होम, अर्चनादि करते हुए राम मन्त्र का जप किया। तब प्रसन्न होकर भगवान् राम ने शङ्करजी से कहा कि हे परमेश्वर! जो तुम्हारा अभीष्ट हो, सो माँगो मैं दूँगा। तब ईश्वर ने सच्चिदानन्द आत्मा श्रीराम से कहा कि मणिकर्णिका में, मेरे क्षेत्र में या गङ्गा के तट पर जो शरीरधारी मरे उसकी मुक्ति हो यही वरदान माँगता हूँ दूसरा नहीं। तब श्रीरामजी बोले : हे देवेश! तुम्हारे इस क्षेत्र में जहाँ कहीं जो कोई मरेगा चाहे वह कृमि हो, कीट हो तुरन्त मुक्त हो जायगा। तुम्हारे अविमुक्त क्षेत्र में सबकी मुक्ति के लिए मैं पाषाणादि प्रतिमाओं में सन्निहित रहूँगा। हे शिवजी! जो इस क्षेत्र में इस मन्त्र से मेरी पूजा भक्ति के साथ करेगा उसके ब्रह्महत्यादि पापों को मैं छुड़ाऊँगा, तुम सोच न करो। तुमसे या ब्रह्मदेव से जो षडक्षर मन्त्र प्राप्त करेंगे वे जीते ही मन्त्रसिद्ध होंगे। जिस मरणशील प्राणी के दक्षिण कर्ण में तुम मेरे मन्त्र का उपदेश करोगे हे शिवजी! वह मुक्त हो जायगा। यथा :

श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।
मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥१॥
ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः प्राह शङ्करम्।
वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर ॥२॥

इति। स होवाच

मणिकर्ण्यां मम क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः।
म्रियते देही तज्जन्तोर्मुक्तिर्नातो वरान्तरम् ॥३॥

अथ स होवाच श्रीरामः।

क्षेत्रेऽस्मिन् तव देवेश यत्र कुत्रादि वा मृताः।
कृमिकीटादयोप्याशु मुक्तास्सन्तु न चान्यथा ॥४॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥५॥
क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥ रा. उ.

सो काशी में मरणशील को प्रतिक्षण मन्त्र देते हुए विश्वनाथ दिन रात घूमा करते हैं, इस भाँति उनका जप अब भी निरन्तर चलता जाता है।

महिमा जासु जान गनराऊ : गणेशजी मातृमान् हैं, पितृमान् हैं, अपने माता-पिता को दिन रात नाम जप करते देखते हैं। उसी की बदौलत काशी में मुक्ति का सदावर्त शिवजी ने खोल रक्खा है। यह भी जानते हैं और स्वयं उनका अनुभूत विषय है कि ऐसे नामजापक मातापिता की प्रदक्षिणा करके वे लोक में प्रथम पूज्य हुए। उनके प्रथम पूज्य होने के मूल में भी राम नाम की महिमा है। अतः राम नाम की महिमा के यथार्थ जानकार गणराउ : गणेशजी हैं। उनके नाम स्मरण से सिद्धि होती है। यथा : जेहि सुमिरत सिधि होइ, गन नायक करिवरबदन। करहु अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभगुनसदन।

जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥३॥

अर्थ : आदिकवि बाल्मीकि नाम का प्रताप जानते हैं। वे उलटा जप करके शुद्ध हो गये। सहस्र नामके बराबर : राम नाम है। ऐसी शिवजी की वाणी सुनकर भवानी सदा पतिके सङ्ग जप किया करती हैं।

व्याख्या : जान आदिकवि : पहले पहल संसार में छन्दोमयी वाक् की प्रवृत्ति इन्हीं[1] को हुई। इसी से आदिकवि कहलाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि नाम का प्रताप इन्हें मालूम है। महामंत्र जेहि जपत महेसू : कहकर रामनाम का गुण कहा। महिमा जासु जान गनराऊ : कहकर महिमा ज्ञान का प्रभाव कहा। अब प्रताप ज्ञान की महिमा कहते हैं। कवियों ने यशको उज्ज्वल और प्रताप को उष्ण माना है। यथा : जाके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे। सो नाम में ऐसी दाहिका शक्ति है कि पापों को रूई की भाँति भस्म कर देती है। यथा : जासु नाम पावक अघ तूला। इसके जानकार आदिकवि हैं क्योंकि उनका अनुभूत विषय है।

वे राम नाम का उलटा जप करके व्याध से महर्षि हो गये। पूर्व के कियें हुए सब पाप नष्ट होगये और ऐसे शुद्ध हो गये कि माया का लेश भी शेष नहीं रह गया। यथा : उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भए ब्रह्मसमाना। संसार राम राम जप करता है, उन्होंने मरा मरा जप किया। मरा मरा का धाराप्रवाह जप चलने से राम राम हो जाता है। फिर भी मरा मरा जपने का कोई कारण होना चाहिए।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं : तुलसी रा के कहत ही निसरत सकल विकार। पुनि आवन पावत नहीं देत मकार किवार। इस दोहे में राम नाम जप की विधि है। 'रा' कहते हुए श्वास को बाहर निकाले और 'म' कहते हुए भीतर खींच ले। इस भाँति प्रति श्वास निःश्वास में रामनाम का जप करे। मनुष्य का स्वभाव है

---

[1] श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा। मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती। वा. रा.। ब्रह्मदेव ने बाल्मीकि से कहा। यह तुम्हारा बनाया हुआ श्लोक यशरूप हो, यहाँ सन्देह न करो। हे ब्रह्मन् मेरे संकल्प से ही यह सरस्वती प्रवृत्त हुई है।

कि कार्यारम्भ के लिए सावधान होते ही श्वास को भीतर खींचता है। अतः स्वभाव से ही मनुष्य को मकार के प्रथम उच्चारण में सुभीता पड़ता है। इनकी मूढता विचार करके इन्हें उलटा जप का उपदेश दिया। यह प्रत्यक्ष फलदायिनी योग की बड़ी भारी क्रिया है।

तात्पर्य यह है कि इस नाम का इतना बड़ा प्रताप है कि मन्त्र के उलट जाने पर भी फल में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ।

शिवजी ने पार्वतीजी से रामनाम को सहस्रनाम[1] के तुल्य बतलाया। क्योंकि शिवपार्वतीसंवाद के पहिले ही नारदजी भगवान् से वर माँग चुके हैं कि : राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खगगन बधिका। राकारजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम। अपर नाम उडगन विमल, बसहु भगत उर व्योम। भक्तिरूपी पूर्णिमा की रात्रि में रामनाम चन्द्रमा हो और शेष नाम तारागण होकर भक्त से हृदयकाश में वसें। सो अन्धकार का नाश एक चन्द्र से होता है, हजार तारागण से तो नहीं होता। इसीलिए रामनाम को सहस्रनाम के तुल्य वतलाया। उस शिक्षा को शिरोधार्य करके पति के साथ पार्वतीजी भी दिन रात नाम जपने लगीं।

हरषे हेतु हेरि हरही को। किय भूषनु तिय भूषन तीको ॥
नाम[2] प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमीको ॥४॥

अर्थ : शिवजी हृदय का प्रेम देखकर हर्षित हुए और स्त्रियों में भूषण जो स्त्री : पार्वतीजी : थीं उन्हें अपना भूषण बना लिया। शिवजी भली भाँति नाम के प्रभाव को जानते हैं। उन्हें कालकूट ने अमृत का फल दिया। हेतु = प्रेम। यथा : चले संग हिमवंत पहुचावन अति हेतु।

व्याख्या : पार्वतीजी का राम नाम पर हार्दिक प्रेम देखकर शङ्कर भगवान् प्रसन्न हो गये। रामजी पर प्रेम न देखकर असन्तुष्ट भी हुए थे। नाम पर सच्चा प्रेम देखकर ऐसे प्रसन्न हुए कि उन्हें सदा के लिए अपना भूषण बनाकर अर्धनारीश्वर रूप हो गये और विछोह की शङ्का को ही निर्मूल कर दिया। भावार्थ यह कि रामनाम के प्रेमी के ऊपर शङ्कर भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है।

अब भली भाँति प्रभाव ज्ञान की महिमा कहते हैं कि इसके जानकार शिवजी हैं। दिन रात राम राम जपा करते हैं। जप करते करते करुणा के आवेश में कालकूट का ही पान कर डाला। श्री गोस्वामी जी कहते हैं : जरत सकल सुर वृंद, विषम गरल जेहि पान किय। तेहि न भजसि मन मंद, को कृपालु संकर सरिस।

समुद्रमन्थन के समय जो अच्छी वस्तुएँ निकलीं उन्हें देवताओं और असुरों ने बाँटा। जब कालकूट निकला तब सब जलने लगे। उसके झार से ही जले जाते थे

---

[1] राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥

अर्थ : हे मनोरमे ! हे वरानने ! राम राम राम जप करता हुआ मैं राम में रमण करता हूं। राम नाम उनके तथा सहस्र नाम के तुल्य है।

[2] यहाँ व्याघातालङ्कार है।

उसे कौन ग्रहण करता ? तब शङ्करजी ने करुणा करके उसे ग्रहण कर लिया । पर कालकूट उनके ऊपर कोई प्रतिक्रिया न कर सका बल्कि उससे उनका शरीर अजर अमर हो गया । यथा : पीयो कालकूट भयो अजर अमर तनु : विनय । अमृत पान करके देवताओं का अमरत्व सापेक्ष ही रह गया और नाम के प्रताप से विष पीने पर भी शङ्कर भगवान् का अमरत्व निरपेक्ष है । ये महाकल्पान्त करनेवाले हैं । इनका अन्तक कौन हो सकता है ? यथा :

तांडवित नृत्यपर डमरू डिर्मडिम प्रवर, असुभ इव भाति कल्यानरासी ।
महाकल्पांत ब्रह्माण्ड मण्डलदवन, भवन कैलास आसीन कासी ।। विनय.

यहाँ तक नाम का प्रभाव वर्णन किया । अब नाम के दोनों अक्षरों का वर्णन करेंगे ।

दो. वरषा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम वर बरन जुग, सावन भादव मास ।।१९।।

अर्थ : रघुपति की भक्ति वर्षा ऋतु है और तुलसी : कहते हैं कि : सुदास धान हैं और राम नाम के दोनों अक्षर श्रावण और भाद्रपद महीने हैं ।

व्याख्या : यद्यपि ऋतु छः होती हैं, पर स्थूल रूप से तीन ही ऋतु मानी जाती हैं । जाड़ा, गरमी और बरसात । बरसात के चार महीने, असाढ़, सावन, भादों और कुआर को चौमासा कहते हैं । यही चौमासा संसार का उपजीव्य है । पृथ्वी, जो शस्यश्यामला, सजला, सुफला है वह चौमासा की ही कृपा से है । इसी भाँति साधनों में जो सरसता है वह भक्ति की कृपा से है ।

इस चौमासे का भी सार श्रावण और भाद्रपद मास है । इसी भाँति भक्ति का भी सार 'रा' और 'म' ये ही दो अक्षर हैं । जिस भाँति श्रावण और भाद्रपद की वर्षा में ही धान उपजता है क्योंकि धान के पौदों को बड़ी प्यास होती है । इन्हें बरावर पानी चाहिए और पानी पाकर ये रात दिन बढ़ते हैं । इसी भाँति सुदास को भजन की प्यास होती है । जब राम नाम की रटन चले तो उसका सब भाँति से कल्याण हो ।

सुदास उसे कहते हैं जिसे केवल रामजी की ही आशा है । जिसे मनुष्य की भी आशा हो वह सुदास नहीं हो सकता । यथा : मोरदास कहाइ नर आसा । करै तो कहहुँ कहाँ विस्वासा ।

आखर मधुर मनोहर दोऊ । बरन विलोचन जन जियँ जोऊ ।।
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू । लोक लाहु पर लोक निवाहू ।।१।।

अर्थ : दोनों अक्षर मधुर और मनोहर हैं । अक्षरों के दो नेत्र हैं, भक्त के मन को देखनेवाले है । स्मरण करने में सुलभ हैं और सबको सुख देते हैं । लोक में लाभप्रद हैं और परलोक का निर्वाह करते हैं ।

व्याख्या : राम नाम के दोनों अक्षर मधुर हैं । कहने सुनने में अच्छे लगते

हैं। इनका उच्चारण वाल्मीकि रूपी कोकिल[१], कविता शाखा परसे किया करते हैं और देखने में अति सुन्दर हैं। यथा : राम नाम अंकित अति सुन्दर। ये दोनों अक्षर रेफ और मकार : अनुस्वार : अक्षरों की आँखें हैं। आँखें देखती हैं और ये दोनों अक्षर भक्तों के जी : मन : को देखा करते हैं कि भक्त का जी क्या चाहता है ?

रूप भी इनका नेत्र-सा है। रेफ भौंह की तरह टेढ़ा है और मकार : अनुस्वार : पुतली की भाँति गोल है। महात्माओं ने वर्णसमाम्नाय के आठों वर्गों को सरस्वती का अष्टाङ्ग माना है। चरणों के क्रम से रकार और मकार दोनों नेत्र स्थान पर पड़ता है। बीच में वायु बीज मकार नासिका है। इस भाँति भी इसे वर्ण विलोचन कहा जा सकता है।

ऐसा होने पर भी राम नाम का स्मरण सुलभ है। रूप के स्मरण की भाँति दुःसाध्य नहीं है। भगवान् की सुन्दर मनोहर मूर्ति के ध्यान के लिए जैसा सरस मन होना चाहिए वैसा मन होना दुर्लभ है और निर्गुण रूप तक मन की पहुँच नहीं है। यथा : सगुन ध्यान मन सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि।

सबको सुखद है, क्योंकि इसमें सबका अधिकार है। जिस वस्तु में जिसका अधिकार नहीं होता, वह वस्तु उसे सुखद नहीं होती। अतः कल्याण चाहनेवाले, वह वस्तु उसे नहीं देते। यथा : कुपथ भोग रुज व्याकुल रोगी। वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी। इस भाँति भगवान् के नामों में प्रणव सबसे उत्तम है, पर उसमें संन्यासियों का अधिकार है ब्राह्मणों का भी अधिकार नहीं। अकेले उसकी उपासना से लाभ की अपेक्षा हानि की ही सम्भावना अधिक है। अतः केवल प्रणव की उपासना गृहस्थों के लिए वर्जित है। परन्तु रामतारक : प्रणव : की उपासना में सबका[२] अधिकार है। अतः यह सबके लिए सुखद है। इसके अतिरिक्त राम नाम से लोक परलोक दोनों

---

[१] मधुर और मधुराक्षर राम नाम के उच्चारण से ही सिद्धि पानेवाले वालमीकि को कोकिल कहा। आह्लादकत्व माधुर्य है, राम शब्द की व्युत्पति ही यही है कि जिसमें योगी लोग रमण करें। यथा : रमन्ते योगिनो यस्मिन्। इस भाँति रामनाम मधुर है। 'र' अन्तःस्थ है। 'आ' अवर्ण है। 'म' अन्तिम वर्ण है। इनका उच्चारण मधुर है। इसलिए मधुराक्षर कहा। यथा : कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् : वाल्मीकि टीका। कोकिल की प्रशंसा, उसके मधुर मनोहर कूजने से है। इसी भाँति वाल्मीकि की प्रशंसा उनके राम राम उच्चारण से है, जो कि उच्चारण में मधुर और अर्थ में मनोहर है।

[२] मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम्।
मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम्॥
प्रणवत्वात् सदा ध्येयो यतीनाञ्च विशेषतः।
राममन्त्रार्थविज्ञानी जीवन्मुक्तो न संशयः॥ रामरहस्ये

आञ्जनेय महावल विप्राणां गृहस्थानां प्रणवाधिकारः कथं स्यादिति। स होवाचेति। येषामेव षडक्षराधिकारो वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम्। रामरहस्ये

सुधरता है। 'तत्त्वमसि'[1] आदि महावाक्यों का उपयोग केवल मुक्ति में है। भुक्ति भोग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। रामनाम भुक्ति मुक्ति दोनों देता है। लोक थोड़े दिन के लिए है, इसलिए 'लोक लाहु' कहा। परलोक तो अनन्त काल के लिए हैं। इसलिए 'परलोक निवाहू' कहा।

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती ॥२॥

अर्थ : कहने, सुनने और स्मरण करने में बहुत अच्छे हैं। तुलसी को तो राम लक्ष्मण के समान प्रिय हैं। वर्णों को पृथक् वर्णन करते हुए प्रीति अलग अलग हो जाती है। परन्तु : ये दोनों अक्षर : ब्रह्म जीव की भाँति स्वभाव से ही साथी हैं।

व्याख्या : कहते सुनते अर्थात् चरचा करते हुए सुठि नीके हैं। स्मरण करते हुए भी सुठि नीके अर्थात् अत्यन्त अच्छे हैं। यथा : काल कर्म गुन सुभाउ सबके सीस तपत। राम नाम महिमा की चरचा चले चपत। राम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। पावन किये राम नाम तुलसी हूँ से अपत। इसलिए कहा : कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके।

राम, लक्ष्मण दोनों भाइयों की जोड़ी ऐसी थी कि अमलात्मा परमहंसों का भी मन इनकी ओर खिंच जाता था। ज्ञानियों के शिरोमणि जनक जी इन दोनों भाइयों को देखकर मुग्ध हो गये। विश्वामित्रजी से पूछने लगे :

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि सोइ कि आवा ॥
सहज विराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इनहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥
कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका ॥
ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी ॥

इसी भाँति रा और म की जोड़ी श्रीतुलसीदासजी को प्रिय है।

सुष्ठु शब्द का तद्भव रूप सुठि है। 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' प्रा. प्र. ३.१। इस सूत्र से षकार का लोप हुआ। 'इत्पुरुषेरोः' प्रा. प्र. १.२३। इस सूत्र से उकार का इकार होकर सुठि शब्द सिद्ध हुआ।

अर्थ : राम मन्त्र में सभी देहधारियों का अधिकार है। मुमुक्षुओं का, विरक्तों का तथा आश्रमवासियों का। प्रणव होने से यह : राम नाम : विशेषतः संन्यासियों द्वारा ध्यान करने योग्य है। राम मन्त्र का अर्थ जाननेवाला जीवन्मुक्त है, इसमें संशय नहीं है।

उन लोगों ने पूछा : हे महाबल हनुमानजी ! गृहस्थ ब्राह्मणों का प्रणवाधिकार कैसे हो ? उन्होंने कहा कि श्रीरामजी ने कहा है कि जिनको षडक्षर का अधिकार है उन्हें ही प्रणव का अधिकार है।

[1] तत्त्वमस्यादि वाक्यन्तु केवलं मुक्तिदं यतः। भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ॥
अर्थ : तत्त्वमस्यादि महावाक्य केवल मुक्ति दायक हैं। राम मन्त्र भुक्ति और मुक्ति दोनों देता है। इसलिए बढ़कर है।

नाम के प्रत्येक अक्षरों का वर्णन कोई नहीं करता क्योंकि ऐसा करने से वे निरर्थक हो जाते हैं। पर राम नाम के दोनों अक्षरों का पृथक् वर्णन हो सकता है। क्योंकि स्वयं श्रुति प्रत्येक अक्षर का अर्थ बतलाती है। 'रा' तत्पदार्थ[1] का बोधक है और 'म' त्वम् पदार्थ है। जो तामसी माया को ग्रहण करके जगत् का उपादान कारण है और शुद्धसत्त्वा माया को ग्रहण करके निमित्त कारण है। उसी उभयरूपी ब्रह्म को[2] तत् कहते हैं। जब कामकर्मादिदूषित मलिनसत्त्वा माया को उपाधि रूप से ग्रहण करता है तब उसी परब्रह्म को 'त्वम्' पद से अभिहित करते हैं।

परन्तु स्वयं भगवती श्रुति इनके संयोजन का विधान करती है। यथा : तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः। रा और म को क्रम से तत् और त्वं पदार्थ कहकर उनके संयोजन को 'असि' बतलाया है। अतः रा और म के पृथक् वर्णन से वाक्य भेद हो जाता है। वह महावाक्य का अर्थ नहीं देता। इसलिए कहते हैं : बरनत बरन प्रीति बिलगाती।

कारण देते हैं कि इन दोनों अक्षरों का ब्रह्म-जीव की भाँति स्वाभाविक साथ है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। मोह से परे है। जीव भी : अविनासी चेतन सहज सुखरासी है। दोनों में भेद[3] माया ने कर रक्खा है। तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। अतः दोनों सहज साथी हैं। इनका साथ छूट नहीं सकता। क्योंकि 'रा' उच्चारण के बाद स्वभाव से ही 'म' उच्चरित होता है। विवृत प्रयत्न के बाद स्पृष्ट प्रयत्न स्वाभाविक है। अर्थात् 'रा' के उच्चारण में मुँह खुलता है उसके बाद मुख बन्द करने में स्वभाव से ही 'म' उच्चारित हो जाता है। इसीलिए 'सहज सँघाती' कहा।

नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥
भगति सुतिअ कल करन विभूषन। जगहित हेतु विमल विधु पूषन॥३॥

अर्थ : ये दोनों वर्ण : नर नारायण के सदृश सुबन्धु हैं। जगत् के पालक हैं। पर विशेषरूप से भक्तों के रक्षक हैं। भक्तिरूपी सुतिय के कान के गहने हैं और जगत् के हित के लिए तो निर्मल सूर्य और चन्द्र हैं।

व्याख्या : जिस भाँति नर-नारायण सुभ्राता हैं, उसी भाँति 'रा' और 'म' भी सुभ्राता हैं। नारायण का प्रादुर्भाव पहिले हुआ अतः वे बड़े हैं। नर का प्रादुर्भाव उनके पीछे हुआ इसलिए वे छोटे हैं। 'नर' शब्द में 'नारायण' की अपेक्षा कम अक्षर होने से समास के नियमानुसार नर का नाम पहिले आया नारायण का पीछे। यहाँ

---

[1] आद्यो रा तत्पदार्थः स्यात्.मकारस्त्वं पदार्थवान्।
तयोः संयोजनमसीत्यर्थं ब्रह्मविदो विदुः॥ रा ता

[2] जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद् गिरा॥
यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वं पदेन तदोच्यते॥ पं. द.

[3] मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।

प्रथम उच्चारित होने से 'रा' अग्रज है और पीछे से उच्चारित होने से 'म' अनुज है। परस्पर अत्यन्त प्रेम होने, साथ न छोड़ने, ध्येय के एक होने से जिस भाँति नर नारायण सुभ्राता हैं उसी भाँति 'रा' और 'म' में भी बड़ी प्रीति है। इनका सदा साथ बना रहता है। 'रा' के ठीक उच्चारण में रेचक[1] करना पड़ता है। तत्पश्चात् पूरक करने में 'म' का उच्चारण आप से आप होता है। ध्येय भी दोनों का एक है। जिस भाँति दोनों भाई अखिल संसार के कल्याण के लिए तप करते हैं और भक्तों की विशेषरूप से रक्षा करते हैं उसी भाँति ये दोनों अक्षर जप द्वारा प्रादुर्भूत होकर सम्पूर्ण संसार का कल्याण करते हैं और जापक की रक्षा तो विशेषरूप से करते हैं। यथा :

नौमि नारायनं नरं करुनायनं ध्यान पारायनं ज्ञानगम्यं ज्ञानमूलं।
अखिल संसार उपकार कारन सदय हृदय तपनिरत प्रनतानुकूलं॥ विनय.

तथा : हरन अमंगल अघ अखिल, करन सकल कल्यान।
राम नाम नित कहत हर, गावत वेद पुरान॥
यथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास।
राम नाम सबधर्ममय, जानत तुलसीदास॥
राम नाम कलि काम तरु, सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग-पग परमानंद॥ दोहावली.

पहिले 'जग पालक विसेषि जन त्राता' कहकर लौकिक लाभ कहा। अव पारलौकिक लाभ कहते हैं : ये दोनों अक्षर अव्यभिचारिणी भक्ति के कानों के कुण्डल हैं, अर्थात् सौभाग्य के चिह्न हैं। यथा : मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जवते श्रवन पूर महि खसेऊ। इनका गिरना वैधव्य सूचक माना जाता है। सुतिय पतिव्रता स्त्री को कहते हैं। यथा : पति देवता सुतीय मँह मातु प्रथम तव रेख। बिना नाम के अक्षरों के पता ही नहीं लगता कि किसकी भक्ति है? इनके बिना भक्ति अनाथा रहती है। रेफ और मकार : अनुस्वार : के ऊपर नीचे रखने से कुण्डल का आकार बन जाता है। इसलिए भी इसे कुण्डल से उपमित करना प्राप्त है।

संसार के कल्याण करनेवालों में प्राधान्य विधु और पूषण का है। जिस भाँति चन्द्रनाड़ी इड़ा और सूर्यनाड़ी पिङ्गला से पिण्ड की स्थिति है उसी भाँति चन्द्र और सूर्य के कारण ब्रह्माण्ड की स्थिति है। 'विधुपूषन' जगत् के प्रकाशक होकर हित हैं और 'रा' और 'म' परात्मतत्त्व के प्रकाशक होकर हित हैं। यथा : विस्व सुखद जनु इन्दु तमारी।

स्वाद तोषसम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर वसुधा के॥
जनमन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥४॥

अर्थ : सुगतिरूपी अमृत के स्वाद और तोष के समान हैं। पृथ्वी को धारण

---

[1] प्राणायाम करते समय श्वास को बाहर निकालने को रेचक कहते हैं। श्वास को भीतर खींचना पूरक कहलाता है।

करने के लिए कच्छप और शेष के समान हैं। भक्तों के मनरूपी सुन्दर कमल के लिए भौंरे के समान हैं। जिह्वारूपी यशोदा के लिए कृष्ण और बलराम जी के समान हैं।

व्याख्या : लौकिक और पारलौकिक लाभ कहकर, अब सुगति : मुक्ति : के विषय में कहते हैं। 'ज्ञानमार्गं तु नामतः' नाम से ज्ञानमार्ग की प्राप्ति होती है और ज्ञान से ही मुक्ति है। मुक्ति को अमृत माना है। बल्कि यह कहना चाहिए कि वास्तविक अमृत तो मुक्ति ही है। जिस भाँति अमृत में स्वाद और तोष होता है उसी भाँति मुक्तिरूपी अमृत में रा और म है। ऊपर कहा जा चुका है कि रा तत्पद है और म त्वं पद है, दोनों का संयोग असि है। इस भाँति राम पदार्थ महावाक्य है। इसीके ज्ञान से मुक्ति होती है। बिना पाप के नाश के ज्ञान नहीं होता। सो राम नाम पापरूपी रूई के लिए अग्नि है। यथा : जासु नाम पावक अघ तूला। पाप ही पृथ्वी का भार है। यथा : अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी। गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरूअ एक परद्रोही। अतः 'रा' और 'म' पाप का नाश करके पृथ्वी पर भार नहीं होने देते[1]। वे इस पृथ्वी को उसी भाँति ऊपर से धारण किये हुए हैं। जिस भाँति नीचे से शेष और कमठ धारण किये हुए हैं। रेफ और मकार : बिन्दु : को ऊपर नीचे रख देने से रेफ शेषाकार और बिन्दु कमठाकार हो जाता है।

अब साधन की सुकरता कहते हैं। भक्त के हृदयकमल में, 'रा' और 'म' रस के लोभ से भौंरे की भाँति पहुँचकर गुनगुनाया करते हैं और भक्त की जिह्वा को भी विना उनके कल नहीं पड़ता। जैसे यशोदाजी को बिना हरि : कृष्ण : और हलधर : वलदेव : के कल नहीं। भक्त का देह ही व्रज है। मुख ही नन्दगृह का आँगन है। जिह्वारूपी यशोदा वहाँ रा और म रूपी कृष्ण, वलदेव को सदा खेलाया करती है। इसी में उन्हें आनन्द है।

दो. एकु छत्र एकु मुकुट मनि, सब वरननि पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, बरन बिराजत दोउ ॥२०॥

अर्थ : तुलसीदासजी कहते हैं : एक छत्र के समान और दूसरा मुकुट मणि के समान है। सब अक्षरों के ऊपर देख लो। ये ही रघुवर नाम के दोनों अक्षर विराज रहे हैं।

व्याख्या : अब पहिचान बतलाते हैं कि पुस्तकों में अक्षर पंक्तियों को देखो तो 'रा' रेफ के रूप से और 'म' अनुस्वार के रूप से सब वर्णों के ऊपर दिखलाई पड़ेगा। रेफ का आकार छत्र सा और विन्दु का आकार मुकुट मणि सा है। सो 'रघुवर' नाम के दोनों अक्षर विराजमान दिखाई पड़ेंगे। अर्थात् अक्षर-समाम्नाय की शोभा भी इन्हीं दोनों वर्णों से है। ये नाद विन्दु की भाँति सबके ऊपर शोभायमान हैं।

---

[1] तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्यकालम् ॥ विनय.

इस भाँति दोनों अक्षरों के वर्णन का उपक्रम 'राम नाम वर बरन जुग सावन भादों मास' से करके 'तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ' से उपसंहार करते हैं।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥१॥

अर्थ : समझने में नाम और नामी एक से हैं। दोनों में परस्पर प्रभु और अनुगामी की भाँति प्रीति है। नाम और रूप ये दोनों परमेश्वर की उपाधियाँ है। अकथनीय हैं और अनादि हैं। ये बातें अच्छी समझ से ही साध्य हैं।

व्याख्या : 'सदृश'[1] शब्द का ही तद्भव रूप 'सरिस' है। 'समुझत सरिस' से नाम : शब्द : और नामी : अर्थ : में मानसिक अभेद कहा। नाम और नामी से नाम और रूप का ग्रहण है। नाम प्रभु है और रूप अनुगामी : सेवक : है। प्रभु की सेवक पर प्रीति और सेवक की प्रभु पर प्रीति है। नाम लेते ही रूप सम्मुख उपस्थित होता है और रूप के उपस्थित होने पर नाम की जिज्ञासा होती है। यही परस्पर प्रीति है। नाम स्वामी की भाँति सदा रूप पर दृष्टि रखता है और रूप सेवक की भाँति नाम के लिए प्राण देने को तैयार रहता है।

नाम और रूप दोनों ईश्वर की उपाधियाँ[2] हैं। 'उप' समीप को कहते हैं, आधान स्थापन को कहते हैं, अर्थात् जो समीप में स्थापन करने से अपने में माना जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे रक्खे हुए फूलों की छाया पड़ने से, वे रंग दर्पण में माने जाते हैं।

इसी भाँति कर्मों की छाया पड़ने से जीवों में नाम रूप माने गये। पर ईश्वर की बात दूसरी है। ईश्वर का कर्म से सम्बन्ध नहीं। उसमें केवल भक्तों के भाव की छाया पड़ती है और भाव सत्ता रूप अविनाशी है। अतः ईश्वर के नामरूपादि नित्य हैं। ऐसी समझ आवे तब ईश्वर के नामरूप में ईश्वर का भाव सध सकेगा। इस भाँति नाम और रूप दोनों अनादि हैं और अकथ है, क्योंकि उनकी उपमा नहीं है। सुकथ वे ही पदार्थ हैं जिनकी उपमा होती है, अनुपम को कोई कैसे कहे? पूर्व परिचित पदार्थ से सादृश्य बतलाकर ही किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। भगवान् तो अनुपम हैं ही, उनकी उपाधियाँ भी अनुपम हैं। यथा : इनके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा। निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।

---

[1] कगचजतदपवां प्रायेण लोपः : प्रा. प्र. : इस सूत्र से द का लोप होकर सऋश रूप हुआ। तब 'अयुक्तस्यरिः' इस सूत्र से ऋ का 'रि' हो गया। 'सदृश' का 'सरिश' रूप हुआ। 'शषोः सः' इस सूत्र से 'श' का 'स' हुआ। इस भाँति 'सदृश' का 'सरिस' रूप सिद्ध हुआ।

[2] उपाधिः कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्त्तमानश्च।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहँहि साधू ॥
देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम विहीना ॥२॥

अर्थ : कौन बड़ा है, कौन छोटा है ? इसके कहने में अपराध है। गुणों के भेद को सुनकर साधु समझ लेंगे। नाम के अधीन रूप देखा जाता है। नाम के बिना रूप का ज्ञान हो नहीं सकता।

व्याख्या : नाम और रूप जब दोनों ईश्वर की उपाधियाँ है, तब दोनों की कोटि समान है, किसे बड़ा कहें, किसे छोटा कहें ? किसी को छोटा बड़ा कहने में अपराध है, परगुण भेद देखकर साधन करनेवाले के समझने में रोक कैसे लगेगी ? वे तो जिसमें साधनसौकर्य हो, उसीका ग्रहण करेंगे।

नाम लेते ही रूप आँख के सामने खड़ा हो जाता है। इसलिए स्पष्ट देखा जाता है कि रूप नाम के अधीन है। रूप देखने पर भी नाम का पता नहीं चलता। अतः यह भी स्पष्ट है कि नाम रूप के अधीन नहीं है।

रूप विसेष नाम विनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने ॥
सुमिरिय नाम रूप विनु देखें। आवत हृदयँ सनेह विसेखें ॥३॥

अर्थ . रूप विशेष बिना नाम के जाने, हाथ में आने पर भी पहिचाना नहीं जा सकता। रूप के बिना देखे ही यदि नाम का स्मरण किया जाय तो हृदय में अधिक प्रीति उत्पन्न होती है।

व्याख्या : नाम की प्रधानता के विषय में दूसरी बात यह है कि कोई वस्तु यदि हाथ में भी आजाय तो भी यदि नाम नहीं मालूम तो पहिचान में नहीं आती। किसी फल का यदि नाम न मालूम हो तो हाथ में लेकर चखने पर भी पहिचाना नहीं जाता और उसीको जिसने कभी नहीं चखा हो और नाम जानता हो तो वह दूर से ही देखकर पहिचान लेगा।

बहुत से लोगों ने अपने पिता, पितामह को नहीं देखा है। कितनों को अपनी माता के रूप का स्मरण नहीं है। पर उनके नाम के स्मरण से हृदय में विशेष स्नेह होता है। देवताओं की आराधना करनेवाले बिना रूप देखे ही नाम स्मरण करते हैं और प्रेम में विभोर होकर अपने को भूल जाते हैं।

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥४॥

अर्थ : नाम और रूप की गति की कथा अकथनीय है। समझने से सुखदायक है। पर वर्णन नहीं की जा सकती। निर्गुण और सगुण के बीच में नाम सुन्दर साक्षी है। दोनों का ज्ञान कराने के लिए चतुर दुभाषिया है।

व्याख्या : कहाँ तक नाम काम करता है, कहाँ तक रूप काम करता है, कहाँ तक इनका सम्बन्ध है, कहाँ तक भेद है, ये सब बातें अकथनीय हैं, पर विचारणीय अवश्य हैं। ऐसा सूक्ष्म विषय है कि उसके प्रकाश के लिए शब्द नहीं हैं पर विचार में बड़ा आनन्द है।

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं : १. निर्गुण और २. सगुण। दोनों के बीच में साक्षी नाम है। नाम का अर्थ निर्गुण का बोध कराता है। यथा : रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि स रामः। और उसके अक्षर सगुण ब्रह्म का बोध कराते हैं। यथा : राजते यो मही स्थितः, राक्षसा येन मरणं यान्ति इत्यादि। जिस भाँति द्रविड़ बँगला नहीं समझते और बंगाली द्रविड़ भाषा नहीं समझते उसी भाँति निर्गुणवादी सगुणवादी की बोली नहीं समझते और न सगुणवादी निर्गुणवादी की बोली समझें। यदि चतुर दुभाषिया हो तो दोनों को समझा दे और स्वयं पृथक् रहे। इसी भाँति नाम दोनों : निर्गुणवादी और सगुणवादी को समझा देता है और स्वयं पृथक् रहता है। यथा : सगुन ध्यान मन सरस नहिं, निर्गुण मनते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि।

दो. राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहु, जौं चाहसि उजिआर ॥२१॥

अर्थ : तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि तू बाहर और भीतर उजाला चाहता है तो जीभरूपी द्वार की देहली पर राम नामरूपी मणि का दीप रख।

व्याख्या : निर्गुण से भीतर उजेला होता है बाहर नहीं, क्योंकि निर्गुण रूप सूक्ष्म बुद्धि से जाना जाना है और सगुण रूप से बाहर उजेला होता है क्योंकि वह नेत्रों से जाना जाता है। यथा : हिय निर्गुन नैननि सगुन रसना राम सुनाम। मनहु पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम। श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि यदि भीतर बाहर दोनों ओर उजेला चाहे तो राम नामरूपी मणिदीप देहली द्वार रूप जीभ पर रक्खे। द्वार की देहली पर दीप रखने से अर्थात् जीभ से राम नाम उच्चारण करने से भीतर बाहर दोनों ओर उजेला बना रहता है। बाहर हवा से न बुझे इसलिए मणिदीप कहा तथा नामोच्चारण भक्ति है। बरखा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास। राम नाम वर वरनजुग सावन भादों मास। इसलिए भी मणिदीप कहा। यथा : मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ वात नहि ताहि बुझावा।

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥१॥

अर्थ : वैराग्य से ब्रह्मा के प्रपञ्च के वियोगी योगीजन जीभ से नाम को जपकर जागते हैं। अनुपम ब्रह्म सुख का अनुभव करते हैं, जो अकथनीय, निर्दोष और बिना नाम रूप का है। 'ब्रह्म सुख' में कर्मधारय समास है, जो ब्रह्म है वही सुख है।

व्याख्या : परमार्थ की ओर से सब सो रहे हैं, यही मोहनिशा है और उसी में संसाररूपी स्वप्न देख रहे हैं : यथा : मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा। विषय विलास से विराग होना ही जागना है यथा : जानिय तबहिं जीवजग जागा। जब सब विषय विलास बिरागा। मोहनिशा में जागनेवाले योगी लोग हैं, जिन्हें ब्रह्मा के प्रपञ्च से वैराग्य के कारण दुःख संयोग से वियोग है यथा : तं

विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। ऐसे विराग की रक्षा जीभ से रामनाम जप करने से होती है।

विधिप्रपञ्च दुःख से सना है। संसारी पुरुष दुःखसंसर्गशून्य सुख से अपरिचित है। यथा : कविहिं अगम जिमि ब्रह्म सुख, अह मम मलिन जनेपु। परिछिन्न होने से सांसारिक सुखों के लिए नाम है। उनका स्वरूप है, उनमें दोष हैं, वे कथनीय हैं। परन्तु ब्रह्म सुख अनूप है, जगत् से विलक्षण है, अतः अकथ अनामय और अरूप है। इससे ज्ञानी[1] भक्त कहा।

जाना चहहिं गूढ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए॥२॥

अर्थ : जा लोग गूढ गति जानना चाहते हैं, वे भी नाम को जीभ से जपकर जानते हैं, साधक लौ लगाकर नाम जप करते हैं और अनिमा आदि सिद्धियाँ पाकर सिद्ध हो जाते हैं।

व्याख्या : जगत् कैसे हुआ? कहाँ से हुआ? इसका आधार क्या है? हम क्या हैं? ईश्वर क्या है? संसार से छुटकारा कैसे हो? इत्यादि प्रश्न बड़े गूढ हैं। इन्हें जो जानना चाहते हैं वे ही गूढ गति के जिज्ञासु हैं। इनके लिए भी साधन जिह्वा से राम नाम का जप है। राम नाम की रटन लगने से आप से आप हृदय में प्रकाश हो जाता है। यथा : जौ लौं नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं। तौ लौं कोटि उपाय करिअ संसय निर्मूल न जाहीं। स्वभाव से ही सबको ज्ञान रहता है, पर वह अज्ञान से ढँका रहता है। यथा : अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। गी. इस अज्ञान का नाश भी नाम जप से होता है। नाम जप बिना सारे वेदान्तग्रन्थ पढ़ने पर भी ज्ञान न होगा। इससे जिज्ञासु भक्त कहा।

खण्ड सिद्धियाँ बहुत हैं। उनकी प्राप्ति तो नाम जप से होती ही है, अणिमादिक[2] महासिद्धियों की भी प्राप्ति होती है। अणिमादिक आठ सिद्धियाँ हैं : १. अणिमा २. महिमा ३. गरिमा ४. लघिमा ५. प्राप्ति ६. प्राकाम्य ७. ईशित्व और ८. वशित्व। इन्हें चाहनेवाले भक्त साधक कहलाते हैं। इन्हीं को गीता में अर्थार्थी कहा। इनका साधन भी नाम का जप ही है। कोई सिद्धि भी बिना संयम के नहीं होती। धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का एकत्र होना संयम है। नाम जप में धारणा, ध्यान और समाधि होनी चाहिए। अर्थात् पूरी एकाग्रता होनी चाहिए तब सिद्धि होती है। इसीलिए 'लौ लाये' कहा।

जपहि नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥३॥

---

[1] चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गी.

[2] १. छोटा हो जाना २. बड़ा हो जाना ३. भारी हो जाना ४. हलका हो जाना ५. सब पदार्थों की प्राप्ति ६. इच्छा का अनभिघात ७. सामर्थ्य ८. भूत भौतिक वश्यता।

अर्थ : अत्यन्त आर्त भक्त नाम का जप करते हैं, बुरे संकट मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं। संसार में चार प्रकार के भक्त हैं। चारों पुण्यात्मा, पापहीन और उदार हैं।

व्याख्या : जो सङ्कट मिटने के लिए भजन करते हैं, वे आर्तभक्त हैं। इनका भी साधन नामोच्चारण है। नाम के जप से आर्त का कुसंकट दूर होता है। जैसे द्रौपदी को कुसंकट पड़ा था। यथा : नर नारि उघारि सभामहँ होत दियो पट सोच हरयौ मनको। इतना ही नहीं कि संकट दूर होकर रह जाय, उन्हें सुख भी मिलता है!

इस भाँति चार प्रकार के भक्त हुए। चारों रामनाम रूपी सुकृत से कार्यसिद्धि चाहते हैं। इसलिए सुकृती हैं। यथा : राम को सुमिरिबो सब विधिही को राज रे। राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे। लौकिक साधनों में पाप का अनुवेध रहता ही है। सो ये लोग जपयज्ञ से सिद्धि चाहते हैं। जिसमें किसी प्रकार का पापसम्पर्क न होने पावे। अतः 'अनघ' कहा। और अपनी सिद्धि के लिए किसी से याचना नहीं करते। न किसी के स्वार्थ में बाधा पहुँचाते हैं। इसलिए उदार कहा।

चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहिं बिसेष पियारा॥
चहुँजुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥४॥

अर्थ : चारों चतुरों को नाम ही आधार है पर ज्ञानी प्रभु को बहुत प्यारा है। चारों युगों, चारों वेदों में नाम का प्रभाव है, परन्तु कलियुग में विशेष करके है। क्योंकि अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

व्याख्या : यहाँ चारों को चतुर इसलिए कहा कि इन लोगों ने अन्य साधनों को छोड़कर नाम का आधार ग्रहण किया। श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि अन्य साधनों का भरोसा नहीं है। यथा :

नाहिन आवत आन भरोसो।
एहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम फरनि फरोसो।
तप तीरथ उपवास दानमख जो जेहि रुचै करोसो।
पाएहि पै जानिबो कर्म फल, भरि भरि वेद परोसो।
आगम विधि जप जाग करत नर, सरत न काज खरोसो।
सुख सपनेहु न योग सिधिसाधन रोगवियोग धरोसो॥
कामक्रोध मद लोभ मोहमिलि, ज्ञानविराग हरोसो।
बिगरत मन सन्यास लेत, जल नावत आम घरोसो॥
बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरोसो।
गुरु कह्यौ राम भजन नीको, मोहि लगत राज डगरोसो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति, फिरि-फिरि पचिमरै मरोसो।
राम नाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरोसो॥ विनय.

इन चारों का नाम ही आधार है। इनमें भी प्रभु को ज्ञानी अधिक प्यारा है। क्योंकि ज्ञानी उनकी आत्मा है। यथा : ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

चारों युगों में नाम का प्रभाव है। यथा : चहुँयुग तीन काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव विसोका। चारों श्रुतियों में है। यथा : इहै कह्यौ सुनु वेद चहूँ। श्रीरघुवीर चरन चिंतन तजि ताहिन ठौर कहूँ। कलि में विशेष है क्योंकि और उपाय नहीं है। यथा : एकहीं साधन सब रिधि सिधि साधि रे। ग्रसे कलिरोग जोग संजम समाधि रे। राम नाम छोड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगे कूर कौर रे।

दो. सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष हृद, तिन्हहु किये मन मीन ॥२२॥

अर्थ : जो सम्पूर्ण कामना से रहित रामभक्ति रस में लीन हैं उन्होंने भी नाम रूपी सुन्दर प्रेम के अमृतकुण्ड में अपने मनको मछली बना रक्खा है।

व्याख्या : जिन्हें उपर्युक्त कामनाओं में से एक भी नहीं है उन्हें भजन करने में ही आनन्द आता है। ऐसे पुष्ट भक्तिवाले तो नाम के विस्मरण से व्याकुल हो उठते हैं। नाम ही प्रेमामृत का कुण्ड है। उसी में उनका मन मछली की भाँति विश्राम मानता है। इन चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख करते हुए भगवद्गीता में कहा गया है : चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। श्रीमधुसूदन स्वामी का यह मत[१] है कि इस श्लोक में 'ज्ञानी च' पद है। सो 'चकार' से ऐसे ही निष्काम भक्तों का संग्रह है जिनका वर्णन इस दोहे में किया गया है।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नामु दुहूँते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते॥१॥

अर्थ : निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। दोनों : अकथ, अथाह, अनादि और अनुपम हैं। मेरी सम्मति में नाम दोनों से बड़ा है। जिसने अपने वल से दोनों को अपने वश में कर रक्खा है।

व्याख्या : पहिले राम शब्द की व्युत्पत्ति कही। फिर उसका महामन्त्र होना कहा। उसकी महिमा, प्रभाव और प्रताप कहा। गुण कहा, नामी से अधिक बतलाया। उसको एक मात्र सर्वसम्मत साधन बतलाया। अब निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों से भी बढ़कर कह रहे हैं।

निर्गुण स्वरूप, अकथ, अगाध, अनादि और अरूप है। यथा : अज अद्वैत अगुन हृदयेसा। अकल अनीह अनादि अरूपा। अनुभव गम्य अखंड अनूपा। मनगोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी। सो तैं तोह ताहि नहि भेदा। वारि वीचि इव गावहिं वेदा। इसी भाँति सगुण रूप भी अकथ, अगाध, अनादि और अनूप है। यथा : दिखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम

---

[१] चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः। जिस किसी निष्काम प्रेम भक्त का ज्ञानी में अन्तर्भाव के लिए चकार है।

प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड । यहाँ ग्रन्थकार अपनी सम्मति कहते हैं : नाम में इतना सामर्थ्य है कि नामी उसके वश में रहता है । नाम लेकर स्तुति करनेवाले के सम्मुख होता है । निन्दा करनेवाले के विमुख होता है । रात-दिन नामस्मरण करनेवाले के वशीभूत रहता है । नामी के दो स्वरूप हैं : निर्गुण और सगुण । और दोनों नाम के सामर्थ्य से उसके वश में हैं ।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहि जनकी । कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मनकी ॥
एकु दारु गत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू ॥२॥

अर्थ : सज्जन लोग इसे जन : तुलसी : की प्रौढि : जवरदस्ती न समझें । मैं अपने मनका विश्वास, प्रीति और रुचि कहता हूँ । दोनों प्रकार के ब्रह्म का विवेक अग्नि के समान है । एक अग्नि तो लकड़ी के भीतर है और दूसरी बाहर दिखाई पड़ती है ।

व्याख्या : ग्रन्थकार कहते हैं कि नाम को सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म से बढ़कर कहने में मैं हठ से नहीं काम ले रहा हूँ । श्रुति के बल से मुझे प्रतीति हुई । गुरुओं के उपदेश से प्रीति हुई और प्रारब्ध से रुचि हुई । उसी को मैं कहता हूँ ।

जिस भाँति व्यक्त अग्नि से ही हम लोग परिचित हैं और वही हमलोगों के काम आती है उसी भाँति सगुण ब्रह्म से ही जगत् परिचित है और उसी से सब काम चलता है । जिस भाँति लकड़ी में भी अग्नि अव्यक्त है पर लकड़ी को नहीं जलाती वल्कि लकड़ी की आधारभूत वही अग्नि है । उसी भाँति निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त है, निष्क्रिय है और सबका आधार है । जिस भाँति व्यक्त और अव्यक्त अग्नि तत्त्वतः एक ही है उसी भाँति निर्गुण और सगुण ब्रह्म भी तत्त्वतः एक ही है ।

उभय अगम जुग सुगम नामतें । कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें ॥
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनँद रासी ॥३॥

अर्थ : दोनों दुर्गम हैं, पर नाम से दोनों सुगम हैं । ब्रह्म और राम दोनों से मैं नाम को बड़ा कहता हूँ । ब्रह्म एक, अविनाशी सत्, चेतन और घन आनन्द की राशि है ।

व्याख्या : निर्गुण ब्रह्म अति सुलभ होने से अगम है । जिस प्रकार अति सन्निहित वस्तु इन्द्रिय गोचर न होने से अदृश्य होती है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म आत्मस्वरूप होने से ज्ञेय नहीं है । यथा : निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानै कोय । और सगुण ब्रह्म अपार होने से अगम है । अतः स्वरूपतः दोनों ही अगम हैं पर नामतः दोनों सुगम हैं । अतः ब्रह्म : निर्गुण और राम : सगुण दोनों से नाम बड़ा है ।

नाम के बल से निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनाकर काम लिया जा सकता है । उसी की प्रक्रिया बतलाते हुए निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करते हैं । पहिले उसे व्यापक कहा । पर व्यापक मानने से किसी दूसरे व्याप्यकी भावना उठती है, इसलिए एक कहा । माया का ग्रहण न हो जाय इसलिए अविनाशी ब्रह्म कहा । 'सत चेतन आनंद रासी' कहकर स्वरूप लक्षण बतलाया । घन कहकर द्वितीय का निषेध किया ।

अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।।
नाम निरूपन नाम जतनतें । सोउ प्रकटत जिमि मोल रतनतें ।।४।।

अर्थ : ऐसे निर्विकार प्रभु के हृदय में रहते हुए भी, जगत् के सब जीव दीन और दुखी हैं । नाम निरूपण और नाम-यत्न से वह वैसे ही प्रकट होता है जैसे रत्न से उसका मूल्य प्रकट होता है ।

व्याख्या : ऐसे निर्विकार सच्चिदानन्द घन प्रभु के हृदय में रहने पर **अमङ्गल** का नाश और परम मङ्गल होना चाहिए । यथा : सेवक सदन स्वामि **आगमनू ।** मंगलमूल अमंगल दमनू । सो वे घरमें भी नहीं, हृदय में मौजूद हैं : ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । गीता । फिर भी संसार के जितने जीव हैं, सबके सब दीन और दुखारी हैं, सुखी कोई भी नहीं । इसका कारण यही है कि वे व्यक्त रूप में आवें तो काम चले । अग्नि के अव्यक्त रूप में होने से काम नहीं चलता । व्यक्त रूप में अग्नि को लाकर ही संसार अपना काम चलाता है । जिस भाँति अग्नि को व्यक्त रूप में लाने का विधान है उसी भाँति प्रभु को भी व्यक्त रूप में लाने का विधान है । कल्याण चाहनेवाले जीव का यह काम है कि उसे व्यक्त रूप में लाने के लिए यत्नशील हो । यथा : सहेउ सुरन बहु काल विषादू । नरहरि प्रकट कीन्ह प्रहलादू ।

अब प्रकट करने का उपाय कहते हैं : नाम निरूपण अर्थात् नाम की अर्थभावना से और नामयत्न अर्थात् नाम के जप से वही स्वान्तःस्थ पुरुष प्रकट होता है । यथा : अगजगमय सबरहित विरागी । प्रेमते प्रभु प्रकटै जिमि आगी । प्रकट होने के लिए पहिले अग्नि का उदाहरण दिया था पर प्रकट होने में वह उदाहरण ठीक नहीं बैठता । लकड़ी की अग्नि अविकृत रहकर स्थूलाग्नि नहीं प्रकट कर सकती । अतः 'मोल रतनते' का उदाहरण दे रहे हैं । रत्न स्वयं अविकृत रहता हुआ मोल : मूल्य : को प्रकट किया करता है । निर्गुण रत्न है और सगुण उसका मूल्य है । तात्पर्य यह कि रत्न से काम नहीं चलता । उसके मूल्य से काम चलता है । अतः निर्गुण को सगुण रूप में लाने का प्रयत्न होना चाहिए और वह प्रयत्न नाम-निरूपण और नाम-यत्न है । यथा : तज्जपस्तदर्थभावनम् । यो. सू.

दो. निरगुन ते इहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार ।
कहउँ नामु बड़ रामतें, निज विचार अनुसार ।।२३।।

अर्थ : निर्गुण से इस भाँति नाम का अपार प्रभाव बड़ा है । अब अपने विचार के अनुसार नाम को राम : सगुण ब्रह्म से बड़ा कहता हूँ ।

व्याख्या : बड़े होने का प्रकार कहते हैं । 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ ही 'सबसे बड़ा' है । अतः निर्गुण ब्रह्म या सगुण ब्रह्म से बड़ा कुछ हो नहीं सकता । इसलिए जिस दृष्टि से बड़ा कहा उसे स्पष्ट कहते हैं । नाम के प्रभाव का कोई पारावार नहीं है, जिसके बल से निर्गुण ब्रह्म को सगुण होना पड़ता है । अतः निर्गुण से बड़ा है । अब

---

१. उसका जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिए ।

सगुण से बड़ा कहेंगे। यह कहे देते हैं कि निज विचार अनुसार मैं कहता हूँ। यहाँ ग्रन्थकार अपना अनुभव कह रहे हैं।

राम भगत हित नरतनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होंहि मुद मंगल वासा ॥१॥

अर्थ : रामजी ने भक्तों के लिए मनुष्य शरीर धारणकर और संकट सहकर, साधुओं को सुखी किया, किन्तु प्रेम से नाम का जप करने से भक्त सहज में ही मुद और मंगल के घर हो जाते हैं।

व्याख्या : रामजी : सगुण ब्रह्म को सौ कोटि काम सा सुन्दर कहना, सौ कोटि दुर्गा सा अरिमर्दन कहना, कोटि शत मरुत सा बलवान् कहना, कोटि शत सूर्य सा तेजस्वी कहना, कोटि शत चन्द्र सा शीतल कहना वैसा ही है, जैसे कोई सूर्य के लिए कहे कि वे कोटि शत जुगनू के बराबर हैं। ऐसे प्रभु का नर शरीर धारण करना उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध है और संकट सहना उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। सो साधुओं को सुखी करने के लिए श्रीरामजी को सब कुछ करना पड़ा। यथा : जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि रिसि पतनी तरी। नख निर्गता मुनि वंदिता त्रैलोक्य पावन सुर सरी। ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत वन फिरत कंटक किन लहे। पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।

नाम का सप्रेम जप नामावतार है। जिस भाँति ब्रह्माण्ड में रामावतार होता है, उसी भाँति पिण्ड में नामावतार होता है। सगुण ब्रह्म ने नर शरीर धारण पूर्वक सङ्कट सहन करके, साधुओं को सुखी किया, पर पिण्ड के नामावतार द्वारा अनायास ही जापक भक्त मुद मङ्गल का निवास स्थान हो जाता है परन्तु जप प्रेम के साथ होना चाहिए। अर्थात् वह स्वयं जङ्गम तीर्थराज हो जाता है, दूसरों का दुःख हटाने लगता है। यथा : मुद मंगलमय संत समाजू। ज्यौं जग जंगम तीरथ राजू।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
रिषिहित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीह्नि विवाकी ॥२॥

अर्थ : रामजी ने एक तापसपत्नी : अहल्या[1] का उद्धार किया, पर नाम ने करोड़ों खलों की कुमति को सुधारा। रामजी ने ऋषि के हित के लिए सुकेतु की बेटी : ताटका को उसके बेटे और सेना सहित निःशेष कर दिया।

व्याख्या : भक्त को मुद मङ्गल का आवास बनाने के लिए पहिले उसकी मति का ही सुधार करना पड़ता है। अतः ग्रन्थकार यहाँ अपने क्रम के अनुसार चले।

---

[1] अहल्या, गौतम ऋषि की स्त्री थी। इन्द्र, उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर, गौतमजी के स्नानार्थ जाने पर, उनका रूप धर के आये और अहल्या का धर्म नष्ट किया। गौतमजी ने जब यह वृत्तान्त जाना तो दोनों को शाप दिया। इन्द्र को सहस्र भग हो गये, अहल्या पत्थर हो गई। अनुनय विनय करने पर गौतमजी ने शापानुग्रह भी किया। इन्द्र को सहस्र नेत्र हो गये, और अहल्या भगवान् रामचन्द्र के चरण रज के स्पर्श से शापविनिर्मुक्त हुई।

श्रीरामावतार के घटना क्रम का अनुसरण नहीं किया। ताटका वध के पहिले ही अहल्योद्धार की कथा कहने लगे।

यहाँ तापसतिय से अहल्या अभिप्रेत है। जिस भाँति ब्रह्माण्ड में अहल्या पत्थर हो गई थी और उसका उद्धार रामचन्द्र ने किया। यथा : गौतम गये घर गौनो सो लिवाय के।.........इसी भाँति मति जडीभूत होकर कुमति हो गई है, उसका उद्धार नामावतार द्वारा होगा। इस भाँति नाम ने करोड़ों का उद्धार किया अतः नाम में कार्यकारिता करोड़ों गुना अधिक है।

खल की बुद्धि सत्सङ्ग से भी नहीं सुधरती। यथा : मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू। नाम को ही उसके उद्धार का सामर्थ्य है।

ब्रह्माण्ड में ताटका थी। यह यक्षिणी सुन्द से ब्याही थी। जब अगस्त्य ऋषि के शाप से सुन्द मारा गया तो यह और इसका बेटा मारीच ऋषिजी को खाने दौड़े। अतः अगस्त्यजी ने इन्हें भी शाप दिया और ये राक्षस हो गये। वे ही सुबाहु मारीच थे। उनके पास सेना थी। ये विश्वामित्र ऋषि के यज्ञ में विघ्नाचरण करते थे। यथा : तहँ जप जोग जग्य मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं। अतः ऋषि के लिए श्रीरामजी ने उन सबोंका संहार कर डाला।

सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रविनिसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव चापू। भवभय भंजन नाम प्रतापू॥३॥

अर्थ : दोष और दुःख के सहित दास की दुराशा का नाम इस भाँति विनाश करता है जैसे सूर्य रात का नाश करते हैं। स्वयं रामजी ने शिवजी के धनुष को तोड़ा, पर संसार के भय को नाम का प्रताप भञ्जन करता है।

व्याख्या : पिण्ड में ताटका स्थानीय दुराशा है। उसके दोष और दुःख ये ही दो पुत्र हैं। वे भक्त के शुभाचरण में बड़ी बाधा उपस्थित करते हैं। उनका नामावतार द्वारा अनायास ऐसा नाश होता है जैसे सूर्य रात का नाश करते हैं। सूर्य दूर ही रहते हैं और रात का नाश हो जाता है। यथा : उदय भानु विनुश्रम तम नासा। श्रीरामजी को ताड़का-सुबाहु-बध के लिए वन में जाकर युद्ध करना पड़ा था।

'भव' शब्द का अर्थ संसार भी है और शङ्करजी भी हैं। भवचाप को स्वय रामजी को जनकपूर जाकर तोड़ना पड़ा। इधर भवभय नाम के प्रताप से टूट जाता है। नाम स्वयं कुछ नहीं करता। भवभय शङ्कर के धनुष की भाँति भारी और कठोर है। किसी साधन से नहीं जाता पर नाम के प्रताप से दूर हो जाता है।

दंडक वनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जनमन अमित नाम किये पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥४॥

अर्थ : प्रभु राम ने [1]दण्डकवन को सुहावना बनाया। किन्तु नाम ने असंख्यात

---

[1] दण्डकवन पूर्व काल में राजा दण्ड का समृद्ध राज्य विन्ध्याचल और नीलगिरि के बीच में था। इस अन्यायी राजा ने अपने गुरु शुक्राचार्य की सुन्दरी पुत्री अरजा के साथ बलात्कार किया। उसने पिता से राजा का अन्याय कह सुनाया। उनके शाप से सौ योजन

भक्तों के मनों को पवित्र किया। श्रीराम ने राक्षसों के समूह को मारा और नाम कलियुग के सारे मलों को दूर करनेवाला है।

अर्थ : ब्रह्माण्ड में जैसे दण्डकवन अपवित्र और भयानक हो गया था और उसे श्रीरामजी ने सुहावन बनाया। यथा : जब ते राम कीह्न तँह वासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा। गिरिवन नदी ताल छविछाए। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए। सो वन वरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुवीर विराजा। उसी भाँति नाम के आगमन से असंख्यात भक्तों के मन पवित्र हो गये। उस दण्डक वन में खरदूषणादि ससैन्य रहते थे। उनका रामजी ने वध किया। उसी भाँति मन में कलिकलुष दम्भ, पाखण्डादि निवास करते हैं। नाम उनके मूल को उखाड़ फेंकता है।

दो. सवरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीह्न रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुन गाथ ॥२४॥

अर्थ : रामजी ने शवरी, गीध आदि सुसेवकों को मुक्ति दी परन्तु नाम ने अगनित खलों का उद्धार किया। गुणगाथा वेद में विदित है।

व्याख्या : शवरी, गीध, अधम योनि होने पर भी सुसेवक थे। इसलिए रामजी ने उन्हें मुक्ति दी। पर नाम ने तो ऐसे खलों को मुक्ति दी जो मरते दम तक खल ही रहे। साधु कभी हुए ही नहीं। यथा : सुरमुनि सभय प्रभु देखि माया नाथ अस कौतुक कर्‌यौ। देखत परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यौ। रामराम कहि तनु तजहिं पावहि पद निर्वान। करि उपाय रिपु मारेउ छन महँ कृपानिधान। नाम की गुणगाथा वेदों में कही गई है। अतः उसमें शङ्का को स्थान नहीं है।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥
नाम गरीव अनेक नेवाजे। लोक वेद वर विरद विराजे ॥१॥

अर्थ : रामजी ने सुग्रीव और विभीषण दोनों को अपने शरण में रखा। यह सब कोई जानते हैं। पर नाम ने अनेक दीनों पर कृपा की है, जिसका विरद, लोक और वेद में विराज रहा है।

व्याख्या : श्रीरामजी का सुग्रीव और विभीषण इन दो ही को शरण में रखना प्रसिद्ध है। पर नाम ने तो कितने गरीबों पर कृपा की है जिनकी गिनती नहीं है। भाव यह है कि जो गरीब ऐसे भाग्यवान् थे जिनका जन्म रामावतार के समय हुआ था, उन्हीं पर दया करने का अवसर रामजी को मिला। पर नाम को तो सदा काम गरीबों से पड़ा हो करता है और नाम की कृपा से उनकी गरीबी जाती रहती है और वे सुखी हो जाते हैं। उनका नाम भी कोई नहीं जानता। पर 'गरीब नेवाज' विरद लोक और वेद में प्रसिद्ध है। यथा : विरद गरीब नेवाज राम को। गावत वेद पुरान संभु सुक प्रकट प्रभाव नाम को। गनिका कोल किरात आदि कवि

तक धूलि की वृष्टि हुई और वह राज्य नष्ट हो गया। मुनि के शाप से, सभी ऋषियों ने उस स्थान को पहिले ही छोड़ दिया था और वहाँ नहीं जाते थे। यह दण्ड राजा इक्ष्वाकु का कनिष्ठ पुत्र था।

इनते अधिक बाम को। वाजिमेध कब कियो अजामिल, गज गायो कब साम को। छली मलीन हीन सवहीं अंग, तुलसी सो छीन छाम को। नाम नरेस प्रताप प्रवल जग, जुगजुग चलत चामको।

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मनमाहीं॥२॥

अर्थ : रामजी ने भालू और बन्दरों की सेना इकट्ठा की और पुल बाँधने में कम परिश्रम नहीं किया। पर नाम लेते ही संसार समुद्र सूख जाता है, हे सज्जनो! मन में विचार तो करो।

व्याख्या : श्रीराम जी वन में थे उस समय रावण ने सीता हरण किया। पास सेना नहीं और शत्रु राजा पर आक्रमण के लिए शास्त्रविधि के अनुसार सेना अवश्य चाहिए। अत: वन्दर भालुओं की सेना इकट्ठी की। यह असाधारण श्रम का कार्य था। सेना इकट्ठी होने पर भी समुद्र में सेतु बाँधना महा दुष्कर कार्य था। जिसे सिवा श्रीरामजी के संसार में कोई आज तक कर न सका। जिसे सुनकर रावण भी घबरा उठा। उस सेतु बाँधने के लिए श्रीरामजी को तीन दिन तक समुद्र के किनारे धरना देना पड़ा। यथा : विनय न मानत जलधि जड़ गये तीनि दिन बीति। इसलिए कहते हैं कि 'श्रमकीन्ह न थोरा।'

भवसिन्धु में लवणसिन्धु ऐसे न जाने कितने सिन्धु पड़े हैं, वह केवल नाम लेने से सूख जाता है। यहाँ ग्रन्थकार सुजन से कहते हैं कि आप विचार करके देखिये, सूख जाता है कि नहीं। बिना विचार किये यह बात समझ में न आवेगी कि भवसागर नाम लेने से कैसे सूख जाता है। पर विचार करने पर यह भावना दृढ़ हो जाती है कि निश्चय ही भवसागर सूख जाता है।

मिथ्या वस्तु के दूर करने के लिए सत्य वस्तु का नाम लेना ही यथेष्ट है। मिथ्या सर्प किसी अस्त्र शस्त्र से दूर नहीं किया जा सकता। पर केवल रज्जु के नाम से दूर हो जाता है। मृगजल का समुद्र किसी नौका या जहाज से पार नहीं किया जा सकता। परन्तु 'सूर्य की किरणों' के कथन से ही वह समुद्र कहीं रह नहीं जाता। इसी भाँति मिथ्या भवसागर में डूबता हुआ पुरुष, सत्य राम के नाम से ही वचाया जा सकता है। यथा : निजभ्रम ते रविकर संभव सागर अति भय उपजावै। अवगाहत वोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै। सुभग सेज सोवत सपने, वारिधि वूड़त भय लागै। कोटिहु नाव न पार पाव सो, जबलगि आपुन जागै।

राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगुधारा॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनिवर वानी॥३॥

अर्थ : रामजी ने युद्ध में कुटुम्ब सहित रावण को मारा और सीता सहित अपने नगर को लौटे। रामजी राजा हुए। अयोध्या उनकी राजधानी हुई। देवता मुनि श्रेष्ठ वाणी से उनके गुण गाते हैं।

व्याख्या : श्रीराम जी ने जटायु से कहा था। जौ मैं राम तो कुल सहित,

कहिहि दसानन जाय, सो सत्य किया। कुल सहित संग्राम में रावण को मारा। सीता हरण हुआ था सो सीता मिलीं। रामजी उनके साथ अयोध्याजी पधारे। पुरवासी लोग पञ्चदेव की उपासना करके माँगते थे : राजा राम जानकी रानी। आनंद अवधि अवध रजधानी। सुबस बसहु पुनि सहित समाजा। भरतहिं रामु करहिं ज़ुवराजा। उनका भी मनोरथ पूर्ण हुआ।

सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। विनुश्रम प्रबल मोह दल जीती ॥
फिरत सनेह मगनसुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहि सपनें ॥४॥

अर्थ : सेवक प्रेमपूर्वक नाम स्मरण करता हुआ मोह की सेना को बिना परिश्रम जीत लेता है और प्रेम में मग्न होकर आत्मानन्द में विचरता है। नाम के प्रसाद से उसे सपने में भी चिन्ता नहीं रहती।

व्याख्या : विनय पत्रिका में ग्रन्थकार ने अध्यात्म प्रकरण को बहुत स्पष्ट करके दिखलाया है। यथा :

वपुष ब्रह्माण्डसु प्रवृत्ति लंका दुर्गं, रचित मन दनुज मय रूप धारी।
विविध कोसौध अतिरुचिर मंदिर निकर, सत्वगुण प्रमुख त्रय कटक कारी ॥
कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर, विपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प वीची विकारं ॥
मोह दस मौलि तद् भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्राम हारी।
लोभ अतिकाय मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ट विवुधांतकारी ॥
द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद सूलपानी।
अमित वल परम दुर्जय निसाचर निकर, सहित षड्वर्ग सो यातुधानी ॥
जोव भवदंघ्रिसेवक विभीषन बसत, मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम यम सकल सुर लोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता ॥
ज्ञान अवधेस गृह गेहनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार हर्ता।
भक्त संकष्ट अवलोकि पितु वाक्य कृत, गमन किय गहन वैदेहि भर्ता ॥
कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट विपुल, ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रवल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय, विषय वन भवन-मिव धूमकेतू ॥
दुष्ट दनुजेस निर्वंस कृत दासहित विश्व दुखहरन बोधैक रासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल वासी ॥
विनय प. ५८

दास को जीतने में श्रम नहीं पड़ता, वह नाम द्वारा ज्ञान मार्ग में अग्रसर होता चला जाता है। नामावतार से मोहादिक सव नाश को प्राप्त हो जाते हैं और दास को स्वाराज्य की प्राप्ति हो जाती है।

दो. ब्रह्म राम ते नामु बड़, वरदायक वरदानि।
राम चरित सत कोटि महँ, लिये महेस जिय जानि ॥२५॥

अर्थ : वरदायक को भी वर देनेवाला नाम, ब्रह्म और राम दोनों से बड़ा है। सौ करोड़ रामचरित में से मन में जानकर महादेव जी ने इसी को ग्रहण किया।

व्याख्या : 'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामते' ऐसा उपक्रम करके अब 'ब्रह्म रामते नाम बड़' कहकर उपसंहार करते हैं। वरदायक शङ्कर, ब्रह्मादि को वर देनेवाला राम नाम है। महापुरुषों ने नाम जपकर के ही सिद्धि प्राप्त की है।

श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि रामचरित पूर्णचन्द्र की किरणें हैं। यथा : रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सबकाहु। तमाम संसार में फैली हुई हैं अतः असंख्यात हैं। सौ करोड़ से असंख्यात का ही तात्पर्य है। भक्ति रूपी पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्र 'रामनाम' है। यथा : राकारजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। इस बात को समझकर शङ्कर भगवान् ने रामनाम रूपी चन्द्र को ही ग्रहण कर लिया कि चन्द्रिका चन्द्र को छोड़कर कहाँ जायगी। यथा : कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई।

महात्मा लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं कि[१] ब्रह्मदेव ने पहिले शतकोटि संख्यक श्लोकों के रामायण की रचना की। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक निवासी उसपर अपना अपना स्वत्व जनाने लगे। झगड़ा बढ़ा तो शङ्कर जी के पास गये। उन्होंने तीनों के लिए विभाग कर दिया। पहिले तैंतीस, तैंतीस कोटि एक एक को दिया। बचा एक कोटि। उसमें तैंतीस तैंतीस लाख का भाग लगाया। बचा हजार। उसका भी तीन तीन सौ का भाग लगा। तब बचा सौ। उसमें भी तैंतीस तैंतीस का भाग लगा। बचा एक। एक अनुष्टुप में बत्तीस अक्षर होते हैं और अनुष्टुप में ही ग्रन्थ की संख्या की जाती है। सो उसमें से दस दस अक्षर तीनों को दे दिया। अब दो अक्षर बचे, वे थे रा और म और विभाग करना था तीन। अतः हो न सका। तब शङ्कर भगवान् ने उन दोनों अक्षरों रा और म को अपने पारिश्रमिक में ले लिया और ये ही दो अक्षर सम्पूर्ण रामायण के सार हैं।

नाम प्रसाद संभु अविनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥१॥

अर्थ : नाम के प्रसाद से शिवजी अविनाशी हैं और अमंगल साज रखने पर भी मङ्गल की राशि हैं। शुकाचार्य, सनकादिक सिद्ध, मुनि और योगी लोग नाम के प्रसाद से ही ब्रह्मानन्द के भोगनेवाले हैं।

व्याख्या : राम और नाम की तुलना में ग्रन्थकार ने रामजी की ओर से भक्तों का नाम लेकर उदाहरण दिया। यथा : राम एक तापस तियतारी। राम सुकंठ विभीषन दोऊ। राखेउ सरन जान सब कोऊ। सवरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ : इत्यादि। पर नाम की ओर से किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेकर

---

[१] बाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्। ब्रह्मणा चोदितं तच्च शतकोटि प्रविस्तरम्। आहृतं नारदेनैव बाल्मीकये निवेदितम्। ब्रह्मदेव से प्रेरित होकर बाल्मीकि ने जो रामोपाख्यान कहा उसका शतकोटि विस्तार था। ब्रह्मदेव से प्राप्त करके उसे नारद जी ने बाल्मीकि से कहा।

उदाहरण न दिया। केवल बहुवचन का प्रयोग करते गये। यथा : भक्त होहिं मुद मंगल वासा। नाम कोटि खल कुमति सुधारी : इत्यादि। अतः नाम से जिनका कल्याण हुआ है, उन महानुभातों में से प्रधान व्यक्तियों का नाम लेकर उदाहरण : नजीर : देते हैं।

शिवजी नाम के प्रभाव से अविनाशी हैं। नाम के प्रभाव से अमरत्व की प्राप्ति होती है। इसकी प्रक्रिया भी ग्रन्थकार ने बतलाई। यथा : हनुमत् वचन : नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि वाट। नाम के प्रसाद से ही मुण्डमाल, कपाल, चिताभस्मधारी होने पर भी शिवजी मङ्गलमय हैं। यथा : नाम सप्रेम जपत अनयासा। भक्त होहिं मुदमंगल वासा। 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। विनुश्रम प्रबल मोहदल जीती। फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहि सपने।' पहिले कह आये हैं। उसीका उदाहरण दे रहे हैं : 'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी।' योगियों के लिए यही निर्णय है कि भगवन्नामानुकीर्तन किया करें। यथा : योगिनां नृपनिर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् : भागवते।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जगप्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रह्लादू ॥२॥

अर्थ : नारदजी ने नाम का प्रताप जाना। संसार को हरि प्रिय हैं, हरि को हर प्रिय हैं और हर को आप : नारदजी : प्रिय हैं। नाम जपने से भगवान् प्रसन्न हुए। सो प्रह्लाद भक्तों के शिरोमणि हो गये।

व्याख्या : सम्पूर्ण संसार को हरि प्रिय हैं। यथा : ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। हरि को हर प्रिय हैं। यथा : कोउ नहिं सिवसमान प्रिय मोरे। अस परतीति तजिअ जनि भोरे और हर को नारदजी प्रिय हैं। यथा : अति प्रिय जानि महेस सिखाये। यह प्रियतम होने का पद जो नारदजी को प्राप्त हुआ है, सो नाम के प्रताप की जानकारी से हुआ है।

नाम के जपने से प्रभु प्रसन्न होते हैं और जापक को भक्त शिरोमणि बना लेते हैं। [1]प्रह्लाद ने सिवा नाम जप के और कौन साधन किया? प्रह्लाद को जब पिता : हिरण्यकश्यप ने अग्नि में डाला तव प्रह्लाद ने पिता से कहा कि नाम

---

[1] प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकश्यप के पुत्र थे। बचपन से ही भगवद्भक्त थे। इनका पिता विष्णु का बैरी था। प्रह्लाद पढ़ने में मन न लगाकर भगवन्नाम कीर्तन करते थे। इस पर उनका पिता बड़ा क्रुद्ध हुआ। बहुत कुछ समझाया। नहीं मानने पर पर्वत से गिराया, जल में डुबाया, हाथी से रौंदवाया, अग्नि में जलाया पर प्रह्लाद का कुछ न हुआ। तव स्वयं खड्ग लेकर मारने को प्रस्तुत हुआ। पूछा तेरे राम कहाँ हैं। प्रह्लाद ने कहा 'सर्वत्र'। पूछा कि खम्भे में भी हैं? कहा 'हाँ'। हिरण्यकश्यप के गर्जन पर भगवान् उसी खम्भे से नृसिंह रूप में प्रकट हुए और उसका वध करके प्रह्लाद की रक्षा की।

जप का प्रभाव देखो। मेरे शरीर के पास आकर अग्नि भी जल की भाँति शीतल हुई जाती है। यथा : रामनाम जपतां कुतोभयम् सर्वतापशमनैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना। भक्तों की गणना में प्रह्लाद का प्रथम नाम आता है। यथा : प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मकाद्याः। स्वयं भगवान् ने उन्हें भक्तशिरोमणि माना। यथा : भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् : भागवते।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखेउ रामू॥३॥

अर्थ : ध्रुव[1] ने ग्लानि के साथ नाम को जपा, सो अचल अनुपम स्थान पाया। हनुमान्‌जी ने पवित्र नाम स्मरण करके रामजी को अपने वश में कर रक्खा।

व्याख्या : पिता और सपत्नि माता से अनादृत होकर ध्रुव ने ग्लानि के साथ जप किया अर्थात् ध्रुवजी अर्थार्थी भक्त थे और वे बिल्कुल बच्चे थे, सो ऐसा पद पाया जैसा कभी किसी ने पाया नहीं और जो कभी चलायमान नहीं होता। यह 'नाम अनेक गरीब नेवाजे। लोक वेद वर विरद विराजे' का उदाहरण है।

हनुमान्‌जी का मन पावन नाम का जप करते करते ऐसा पवित्र हो गया कि रामजी उनके वशमें हो गये। श्रीरामजी को मलिन मन पसन्द नहीं है। यथा : मोहि कपट छल छिद्र न भावा। ग्रन्थकार विनय पत्रिका में लिखते हैं कि साहिब कहीं न राम सो तोसे न वसीले। अर्थात् न तो कहीं राम सा स्वामी है और न हनुमान्‌जी सा कोई साधन है। क्योंकि रामजी हनुमान् के वश में हैं, हनुमान्‌जी के चाहने से ही रामप्राप्ति सुलभ है। ऐसा दूसरा साधन कोई नहीं है। यह 'जनमन अमित नाम किये पावन' का उदाहरण है।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥४॥

---

[1] ध्रुव राजा उत्तानपाद का बेटा था। एक बार वह पिता की गोद में जा बैठा। उसकी विमाता सुरुचि ने यह कहकर कि तू जा भगवान् की आराधना करके मेरे पेट से उत्पन्न हो। तब राजा की गोद में बैठने का अधिकारी होगा। उसे गोद से उतार दिया। ध्रुव को बड़ी ग्लानि हुई। उसने जाकर यह कथा अपनी माता सुनीति को सुनाई। सुनीति ने कहा कि सुरुचि ने परुष वचन कहा। पर बात सत्य ही कही। ध्रुव उसी अवस्था में घर से निकले और नारदजी के उपदेश से। मथुरा में जाकर भगवन्नाम जप किया। उन्हें भगवद्दर्शन हुआ.और ध्रुव पद मिला। जिसकी सप्तर्षि सदा प्रदक्षिणा किया करते हैं।

अर्थ : पतित अजामिल[१], गज[२], गणिका[३] भी हरिनाम के प्रभाव से मुक्त हो गये। मैं नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, नाम के गुणों को : स्वयं : राम भी नहीं गान कर सकते।

व्याख्या : अजामिल, गज, गणिका सभी साधनों से रहित थे। इसीलिए इन्हें अपत : अपत्र : कहा। ये केवल नाम के प्रभाव से मुक्त हुए। यह 'नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुन गाथ' का उदाहरण है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि नाममहिमा की सीमा नहीं है और कथन करने का अर्थ ही सीमित करना है। चाहे कितना ही बड़ा वक्ता हो, स्वयं राम ही क्यों न हों, जब किसी वस्तु का कथन करेंगे तो उसे सीमित करना पड़ेगा और राम नाम की महिमा असीम है, वह राम : सगुण ब्रह्म से भी बड़ी है और ब्रह्म : निर्गुण ब्रह्म से भी बड़ी है। इनमें से एक एक के गुण नहीं गाये जा सकते। तब नाम के गुण कैसे गाये जा सकते हैं ?

दो. नाम राम को कलपतरु, कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी तुलसीदासु ॥२६॥

अर्थ : राम का नाम कल्पवृक्ष है। जो कलियुग में कल्याण का निवास स्थान है। जिसके स्मरण करने से तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गये।

व्याख्या : कलिनाम कामतरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन धाम को ॥१॥
नाम लेत दाहिनो होत मन, वाम विधाता वाम को।
कहत मुनीस महेस महातम उलटे सूधो नाम को ॥२॥

---

१. यह : अजामिल कन्नौज का रहनेवाला एक ब्राह्मण था। पहिले सद्वृत्त था, पीछे से एक व्यभिचारिणी पर आसक्त होकर उसे घर लाया। उसके लिए उसने अपनी पाणिगृहीता भार्या का परित्याग किया। मद्य मांसादि का सेवन करने लगा। चोरी डकैती करने लगा। महापतित हो गया। मरने के समय जब उसे लेने यमदूत आये तब बहुत डरा। अपने छोटे लड़के नारायण को पुकारा। मरने के समय नामोच्चारण के माहात्म्य से विष्णुदूत आगये और उसे छुड़ा लिया। उसकी आयु बढ़ गई और उसने शेष जीवन भगवद्भक्ति में बिताया।

२. क्षीरसागर में त्रिकूट नाम का एक पर्वत है। उसपर एक बहुत बड़ा सरोवर है। उसी में गज अपनी हथिनियों के साथ जलक्रीड़ा करता था, उसे ग्राह ने पकड़ लिया। दोनों में बड़ा युद्ध हुआ पर अन्त में गज थक गया। डूबने के समय भगवान् को पुकारा। भगवान् प्रकट हुए और ग्राह को मारकर गज का उद्धार किया। दोनों को मुक्ति दी। गज पूर्व जन्म में इन्द्रद्युम्न नाम का राजा था। ग्राह भी गन्धर्व था। शाप से इन योनियों को प्राप्त हुए थे।

३. इस गणिका का नाम जीवन्ती था। परशु नामी वैश्य की स्त्री थी। उसके मरने पर इसने वेश्या वृत्ति कर ली। उसने एक तोता पाल रक्खा था। उसे राम नाम पढ़ाती थी। सो नाम के प्रभाव से वह तर गई।

भलो लोक परलोक तासु, जाके बल ललित ललाम को।
तुलसी जग जानियत नामते सोचन कूच मुकाम को।।३।।

कलियुग में कोई दूसरा कल्पतरु नहीं है, कारण बताते हैं कि कलियुग में यही कल्याण का निवास है अथवा कल्याण का यही पता है। जिसे कल्याण की कामना हो, वह नामकल्पतरु की उपासना करे। उदाहरण में ग्रन्थकार अपने को देते हैं कि मैं भाँग की भाँति अग्राह्य था। सो आज नाम के प्रभाव से 'तुलसी माई' की भाँति मेरी पूजा होती है। भगवान् की प्रीति चाहनेवाले भी मेरी पूजा करके रामजी का अनुग्रह चाहते हैं।

चहुँजुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका।।
वेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू।।१।।

अर्थ : चारों युगों में, तीनों कालों में और तीनों लोकों में नाम जपकर जीव शोक रहित हुए हैं। वेदपुराण और सन्तों का यही मत है कि सारे पुण्य-कर्मों का फल रामजी में प्रेम का होना है।

व्याख्या : चहुँ युग से एक ही चौकड़ी : चतुर्युग का ग्रहण होगा। इसलिए तीन काल कहा। तिहुँलोक से सब देश कहा। अर्थात् सभी देश और सभी काल में नाम जप सार्वभौम धर्म है। इसके करने से मनुष्य अभय पद को प्राप्त होता है।

'यस्य नाम[1] महद्यशः' यह वेदमत है और 'यस्य स्मृत्या[2] च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्।' यह पुराणमत है। 'तीर्थटिन साधन समुदाई। जोग विराग ज्ञान निपुनाई। नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना। भूत दया द्विज गुरु सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई। जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।' यह शिवमत है। अथवा 'भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्। [3]यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते।' यह सन्त मधुसूदन स्वामी का मत है।

सब साधनों की त्रुटि भगवत्स्मरण तथा नाम कीर्तन से दूर होती है। भगवद्भक्ति ही सब साधनों का फल है। इस बात को दिखलाकर अब यह दिखलाते हैं कि अन्य युगों में और भी साधन हैं। यथा :

ध्यानु प्रथम जुग मख विधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें।।
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना।।२।।

अर्थ : प्रथम युग में ध्यान से, दूसरे में यज्ञ से, द्वापर में पूजन से भगवान्

---

[1] जिसके नाम का बड़ा यश है।

[2] जिसके स्मरण से, नाम लेने से, तप यज्ञादि क्रिया की न्यूनता तुरन्त पूरी हो जाती है, उस अच्युत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

[3] चित्त विगलित होने पर यदि विभु नित्य पूर्ण बोध सुखात्मक भगवान् का ग्रहण करे, तो शेष ही क्या रह जाता है?

प्रसन्न होते हैं, पर कलियुग केवल मल का मूल, मलिन और पाप का समुद्र है और जिसमें मनुष्य का मन मछली हो रहा है।

व्याख्या : प्रथम युग सत्ययुग में शुद्ध सत्त्वगुण वर्तता है। सबका मन प्रसन्न रहता है। निर्विकार चित्तैकसाध्य ध्यान सम्भव है। अतः सत्ययुग के लिए ध्यान से प्रभुका प्रसन्न होना बतलाया। त्रेता में सत्त्व बहुत रहता है, पर रजोगुण का अनुवेध आ जाता है। ध्यान की योग्यता नहीं रहती। सपत्नीक होकर यज्ञकर्म कर सकता है और भगवान् यज्ञ से प्रसन्न हो जाते हैं। द्वापर में सत्त्व बहुत थोड़ा रह जाता है। रजोगुण का बाहुल्य हो जाता है। कुछ तमोगुण का भी प्रवेश हो जाता है। इसलिए दीर्घकालिक यज्ञ असम्भव हो जाता है। इस युग में अल्पायास तथा अल्पकालसाध्य पूजन सम्भव है। अतः भगवान् पूजन से प्रसन्न होते हैं।

कलियुग में सत्त्व का नाम नहीं। तमोगुण का बाहुल्य रहता है। थोड़ा रजोगुण का अनुवेध रहता है। इसलिए कलियुग को मल का मूल और मलीन कहा। पापसमुद्र में मनुष्य का मन मछली की भाँति विहार करता है। पाप से बाहर निकाल दिया जाय तो छटपटाकर मर जाय। इसमें लोगों को अन्य धर्म में अधिकार ही नहीं है। यथा : रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा जपन् मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्रधर्मे खलु नाधिकारः। कलि से कलुषित मनवाले को नामस्मरण छोड़कर दूसरे धर्म में अधिकार नहीं है।

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥३॥

अर्थ : इस कराल काल में नाम कल्पवृक्ष है जो स्मरण करने से संसार के जाल का नाश कर देता है। राम का नाम कलियुग में मनचाहा देनेवाला है। परलोक में हित है और इस लोक में माता-पिता है।

व्याख्या : राम नाम को कल्पतरु कहकर जिस प्रसङ्ग को आरम्भ किया, 'नाम कामतरु काल कराला' कहकर उसका उपसंहार करते हैं। इस भयानक काल में ध्यान, यज्ञ, पूजा कुछ भी फलदायक नहीं हो सकता। केवल नाम ही कल्पवृक्ष है। विशेषता यह है कि इसके स्मरण से जगजाल कट जाता है जिसमें फँसकर पापपयोनिधि की मछली मारी जाती है। कल्पवृक्ष के जब निकट जाय, उसे पहिचाने; उसकी छाया में जाय तब शोकहरण करता है। माँगने पर अभिमत देता है। यथा : जाय निकट पहिचानि तरु, छाँह समति सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भलपोच।

सो कामतरु भी कलि में अभिमतदाता नहीं है। अभिमत दाता है रामनाम। कामतरु लोक परलोक दोनों नहीं सँभालता। नाम सँभालता है। यथा : रोटी लूगा नीके राखै, आगेहू कै वेद भाखै : विनय।

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥४॥

अर्थ : कलियुग में न कर्म है, न भक्ति है, न ज्ञान है एक रामनाम का अवलम्ब है। कपट के निधान कलियुगरूपी कालनेमि के लिए राम का नाम सुमति वाला समर्थ हनुमान् है।

व्याख्या : कलियुग में तीनों काण्डों में से किसी की कुछ नहीं चलती। अतः इसका भरोसा नहीं कर सकते। केवल रामनाम का भरोसा है।

लंका में बड़े बड़े मायावी थे। पर कालनेमि के नीचे सब थे। जहाँ किसी का बल नहीं चलता था वहाँ कालनेमि का कपट काम करता था। यहाँ कलियुग कालनेमि है। इसने ध्यान, यज्ञ, पूजन, कर्म, ज्ञान और उपासनादि सभी साधनों को पराभूत कर दिया। पर इसकी मौत नामरूपी हनुमान् के हाथ से है। सुमति और समर्थ के आगे कपट चलता नहीं। नामरूपी हनुमान् सुमति भी हैं और समर्थ भी हैं। अतः केवल नाम पर कलियुग का बल नहीं चलता। वहाँ कलियुग मारा जाता है। इससे यह दिखलाया कि नाम कलियुग से अपनी रक्षा में समर्थ है।

दो. राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकालु।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालिहि दलि सुरसालु ॥२७॥

अर्थ : राम नाम नृसिंह है। कलियुग हिरण्यकश्यप है। देवताओं को दुःख देने वाले को मारकर प्रह्लाद की भाँति जप करनेवालों की रक्षा करेगा।

व्याख्या : यहाँ यह दिखलाते हैं कि नाम अपनी रक्षा तो कर ही लेता है, अपने जापक की भी रक्षा करता है। इस रूपक में रामनाम तो नृसिंह है और कलिकाल हिरण्यकश्यप है, जापक जन प्रह्लाद हैं। परन्तु वे देवता कौन हैं जिन्हें कलिरूपी हिरण्यकश्यप दुःख देता था ? अतः बिना इस कमल की पुरइन खोजे काम चल नहीं सकता। इसकी पुरइन है 'सदगुन सुरगन अंब अदिति सी।' यहाँ सद्गुण ही सुरगण हैं जिन्हें कलिरूपी हिरण्यकश्यप दुःख देता है। पर 'सहेउ सुरन्ह बहु काल विषादू। नरहरि प्रकट कीन्ह प्रहलादू।' कलिकाल सद्गुणों का वैरी है, सद्गुण वाले महात्माओं को महादुःख देता है। यथा :

दीनदयाल दुरित दारिद दुख, दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देवदुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के वचन वेद वुध सम्मत, मम मूरति महिदेव भई है।
तिनकी मति रिसि राग मोह मद, लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज समाज कुसाज कोटि कटु, कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति, हेतु वाद हठि हेरि हई है ॥३॥
आश्रम वरन धरम विरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखण्ड पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥४॥
सांति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल विलसत हुलसत खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ साधन भए, अफल सकल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु धरनी कलि गोमर, विवस विकल जामति न वई है ॥६॥

कलि करनी वरनिये कहाँलौं, करत फिरत विनु टहल टई है।
तापर दांत पोसि कर मीजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यौं त्यौं नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यौं ज्यौं सील बस ढील दई है।
मूरुख वरजि तरजिए तरजनी, कुम्हिलैहै कोंहडेकी जई है ॥८॥
विनय प. १३९

पर जब रामनाम के जापक को दुःख देता है तो नाम द्वारा ही मारा जाता है।

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा ॥१॥

अर्थ : भाव से, कुभाव से क्रोध से या आलस्य से भी नाम जपने से दशों दिशाओं में मङ्गल होता है। उसी नाम का स्मरण करके रघुनायक जी को मस्तक नवाकर राम के गुणों की गाथा रचता हूँ।

व्याख्या : भाव से नाम जप : 'सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव वारिधि गोपद इव तरहीं।' कुभाव से नाम जप : 'विवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं।' अनख से नाम जप : 'उमा राम मृदु चित करुना कर। वैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परम गति अस जियजानी। को कृपाल अस अहै भवानी।' आलस से नाम जप : 'राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिनहि न पाप पुंज समुहाहीं।' ऐसे नाम का स्मरण और नामी को प्रणाम करके, ग्रन्थकार रामगुन गाथा की रचना का संकल्प करते हैं। 'वन्दौं नाम राम' से उपक्रम करके 'सुमिरि सो नाम राम' से प्रकरण का उपसंहार करते हैं। क्योंकि :

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थवत्पृथक् स्थितौ।
प्रकाशकः प्रकाश्यञ्च कार्यकारणरूपता ॥

अर्थ : परमार्थ दृष्टि से शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। आत्मा ही शब्द है और आत्मा ही अर्थ है। ब्रह्म ही प्रकाशक है और ब्रह्म ही प्रकाश्य रूप से, कार्यकारणभाव से उपलब्ध होते हैं। नव दोहों में नाम वन्दना की। नौ तक ही अङ्क हैं। इसी भाँति धर्म और लोक परलोक का सुख नाम तक ही है। इस बात को द्योतित किया। 'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ' तक नाम प्रकरण समाप्त हुआ। अब 'करौं नाइ रघुनाथहि माथा' यहाँ से रूप वर्णन आरम्भ हुआ।

रामस्य नाम रूपञ्च लीलाधाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ व. सं.

अर्थ : रामजी के नाम, रूप, लीला और परात्पर धाम ये चारों नित्य सच्चिदानन्द विग्रह हैं। सो नाम का वर्णन हो चुका। शेष तीनों का वर्णन भी क्रम से होगा।

निज गुण दोष

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निजदिसि देखि दयानिधि पोसो ॥२॥

अर्थ : जिनकी कृपा, कृपा : करने : से अघाती नहीं वे ही सब प्रकार से मेरी : बिगड़ी : सुधारेंगे। राम ऐसे अच्छे मालिक और सेवक मुझसा बुरा सो अपनी ओर देखकर दयानिधान ने पालन किया।

व्याख्या : सभी प्रभुओं में कृपा होती है, सेवक पर कृपा भी करते हैं, पर उनकी एक सीमा होती है, जहाँ पहुँचने पर उनकी कृपा समाप्त हो जाती है। आगे जाना नहीं चाहती। यथा : रावन कुंभकरन वर माँगत सिव विरंचि वाचा छल्यौ। परन्तु कृपानिधि की अपूर्व कृपा तो बिगड़ी हुई बात को बनाती है। यथा : बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई। बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आज। अघाती नहीं, कृपा करती ही चली जाती है। इसलिए अपूर्व कहा। भाव यह कि 'भनिति मोरि सबगुनरहित' है उसे कृपानिधि सुधार देंगे।

श्रीरामजी बड़े शीलनिधान हैं, इसलिए 'सुस्वामि' कहा। यथा : तुलसी कहूँ न राम ते साहिब सील निधान : और ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं शठ सेवक हूँ। शठ सेवक किसी प्रकार पोषण योग्य नहीं है क्योंकि वह मालिक को सदा शूल की भाँति कष्टदायक है। यथा : सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी : फिर भी कृपालु ने अपनी ओर देखकर मेरा पालन किया। यथा : तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहिं भाँति भल मानेउ मोरा।

लोकहुँ वेद सुसाहिब रीती। विनय सुनत पहिचानत प्रीती॥
गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ मलीन उजागर॥३॥

अर्थ : लोक और वेद में अच्छे स्वामी की यही रीति है कि विनय सुनते ही प्रीति को पहिचान लेते हैं। धनी और निर्धन, गँवार और नगर निवासी, पण्डित और मूढ़, मलीन और उज्ज्वल : उजागर।

व्याख्या : ऊपर सुस्वामी कह आये। अब उनकी रीति कहते हैं कि विनय सुनते ही प्रीति की पहिचान कर लेते हैं। यथा : प्रीति पहिचान, यह रीति दरवार की। सुस्वामी का यह लक्षण लोक और वेद में प्रसिद्ध है अर्थात् सर्वसम्मत है। विनय करनेवालों की पाँच जोड़ी हैं। १. अमीर-गरीब २. गँवार-चतुर ३. पण्डित-मूढ़ ४. मलीन और निर्मल

सुकवि कुकवि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥
साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस असंभव परम कृपाला॥४॥

अर्थ : सुकवि और कुकवि, सब स्त्री पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार राजा की प्रशंसा करते हैं। राजा, साधु, सुजान, सुशील, ईश्वर के अंश से उत्पन्न और परम कृपालु होता है।

व्याख्या : चार जोड़ी पहिले कह आये तथा ५. सुकवि और कुकवि, इन पाँचों जोड़ियों में स्त्री और पुरुष दोनों का ग्रहण है। इधर राजा में भी पाँच गुण होते हैं : १. साधु २. सुजान ३. सुशील ४. ईश-अंशभव और ५. परम कृपाल। यदि राजा में ये गुण न हों तो समझना चाहिए कि वह ईश-अंशभव नहीं है, असुर अंश से है।

सुनि सनमानहिं सबहिं सुवानी । भनिति भगति नति गति पहिचानी ॥
यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ । जानि सिरोमनि कोसलराऊ ॥५॥

अर्थ : प्रशंसा : सुनकर राजा, सुवाणी, भनिति, भक्ति, नति और गति को पहिचानकर सबका सम्मान करता है। यह तो साधारण राजाओं का स्वभाव है। कोसल के राजा तो जानकारों के शिरोमणि हैं।

व्याख्या : विनय के गुणों के भी पाँच भेद हैं : १. सुवाणी २. भनिति ३. भगति ४. नति और ५. गति। राजा अपने पाँचों गुणों को काम में लाकर पाँचों प्रकार के प्रशंसकों के विनयों में पाँचों गुणों पर क्रमशः विचार करता हुआ यथोचित सबका सम्मान करता है। राजा साधु है। अमीर गरीब की अमीरी गरीबो नहीं देखता उनकी सुवाणी[1] देखता है। राजा सुजान है, गँवार चतुर के गँवारपन और चतुरता पर ध्यान न करके, उनकी भणिति : उक्ति : परखता है। राजा सुशील है। पण्डित मूढ़ की पण्डिताई और मूढ़तापर नहीं जाता। उनकी भक्ति लखता है। राजा ईश अंशभव है। मलीन उजागर के स्थूल मालिन्य के तारतम्य पर विचार नहीं करता। उनकी नति देखता है। राजा परम कृपाल है। सुकवि कुकवि सबकी कविता सुनता है। पर उनकी गति देखता है कि इसकी पहुँच कहाँ तक है।

---

[1] : १. मधुर कोमल और मनोहर वाणो को सुवाणी कहते हैं। यथा : मृगविलोकि खग बोलि सुवानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी। सुवाणी का आदर करता है। यथा : ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय। औरन को शीतल करै, आपौ सीतल होयं। चाहे उसे धनी ने कहा हो चाहे कंगाल ने। २. ग्राम नर की भणिति ग्राम्य भाषा में होती है और नागर की भणिति सुसंस्कृत होती है, पर राजा सुजान है, वह भाषा की परीक्षा नहीं करता, वह देखता है कि लोकहितैषिता किस भणिति में है। यथा : कीरति भनिति भूत भलिसोई। सुरसरि सम सबकर हित सोई। ३. पण्डित जो कहना चाहता है, उसे बड़ी पण्डिताई से सामने रखता है। मूढ़ के कहने में बनी बात बिगड़ जाती है। पर राजा सुशील है दोनों की सुनता है और देखता है कि भक्ति किसमें है। ४. मलिन पुरुष की उपस्थिति अस्पृहणीय होती है। उज्ज्वल पुरुष की उपस्थिति सभी चाहते हैं। पर राजा ईश-अंश-भव है, वह उसकी नति नम्रता का आदर करता है। ५. सुकवि की रचना परम मनोहर होती है। कुकवि की रचना आकर्षक नहीं होती। पर राजा परम कृपाल है, दोनों की सुनता है और देखता है कि किसकी कितनी गति है। जिससे उपमा देते न बने वही कुकवि है। यथा : सीयवरनि जो उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई। किसी कवि ने ब्रह्म की उपमा अपनी पुरानी धोती से दे डाली। उसके कुकवि होने में क्या सन्देह है, पर उसकी गति देखिये। वह कहता है 'आदिमध्यान्तरहितं दशाहीनं पुरातनं। अद्वितीयमहं वन्दे मद्धौतसदृशं हरिम्। मैं उस हरि की वन्दना करता हूँ, जो मेरी धोती के से हैं। क्योंकि मेरी धोती भी आदि, मध्य, अन्त रहित दशाहीन : विना किनारे की : हरि पक्ष में जाग्रदादि अवस्थात्रय हीन : पुरातन और अद्वितीय हैं। पर राजा ने उस कवि का आदर किया।

ऐसा स्वभाव सामान्य राजाओं में भी पाया जाता है। कोसलाधिपति रामजी तो जानि शिरोमणि हैं। उनकी सारग्राहिता के लिए क्या कहा जाय ?

रीझत राम सनेह निसोतें । को जग मंद मलिन मति मोतें ॥६॥

अर्थ : रामजी तो शुद्ध स्नेह से रीझ जाते हैं, मुझ सा मन्द और मलिन वुद्धिवाला संसार में कौन है ?

व्याख्या : रामजी जानि शिरोमणि हैं। वे और कुछ नहीं देखते वे तो शुद्ध स्नेह पर रीझते हैं। यहाँ स्नेह शब्द श्लिष्ट है। स्नेह का अर्थ तेल भी है सो **तैलधारावत्** अविच्छिन्न प्रेम होना चाहिए। मैं मन्द और मलिन मतिवालों का सिरताज हूँ। मनुष्य शरीर पाकर भवसन्तरण का उपाय न किया। अवसर चूक गया इसलिए मन्दमति हूँ। यथा : अहह मन्द मन अवसर चूका। और मन में बोध नहीं आता। इसलिए मलिनमति हूँ। यथा : तदपि मलिन मन बोध न आवा। मुझमें पाँचों का अभाव है।

दो. सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु ।
उपल किये जलजान जेहिं, सचिव सुमति कपि भालु ॥२८॥ क
हौंहु कहावत सबु कहत, राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ सो, सेवक तुलसीदास ॥२८॥

अर्थ : कृपालु रामजी शठ सेवक की प्रीतिं और रुचि रक्खेंगे, जिन्होंने पत्थर को जहाज और बन्दर भालु को वुद्धिमान् मन्त्री बनाया। मैं भी कहलाता हूँ और सब लोग कहते हैं और रामजी उपहास सहते हैं कि सीतानाथजी से स्वामी को तुलसीदास जैसा सेवक मिला है।

व्याख्या : ग्रन्थकार की प्रीति 'रघुपति गुणगाथा की रचना' में है। यथा : करन चहौं रघुपति गुनगाहा : और रुचि है कि उसका 'साधु समाज में सम्मान हो।' यथा : साधु समाज भनिति सनमानू : और ग्रन्थकार अपने को शठ सेवक मानते हैं। शूलरूप शठ सेवक से सभी दूर रहना चाहते हैं, उसकी प्रीति और रुचि कौन रखने लगा ? पर राम कृपालु रक्खेंगे, क्योंकि वे ऐसी कृपा करते आये हैं। उन्होंने ही पत्थर को जहाज : सन्तरण की सामग्री और बन्दर भालु को सुमति सचिव बनाया है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरी वुद्धि पत्थर सी है। जो स्वयं डूबता है और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले को भी डुबाता है। मैं सेवक बनकर रघुनाथ की गुणगाथा करने चला, इससे मेरा उपहास तो होगा ही श्रीरामजी का भी उपहास होगा। मेरी मति कपिभालु सी है। यथा : प्रभु तरु तर कपि डार पर। मेरे भणित का सम्मान साधु समाज में कैसे होगा ? सो रामकृपाल मेरी प्रीति रक्खेंगे। उसे सच्ची भक्ति में परिणत कर देंगे और रचना को जहाज बना देंगे, जो स्वयं तरेगा और अपने आश्रित को भी तारेगा। मेरी रुचि को भी वे ही रक्खेंगे। मेरी रचना का साधुसमाज में सम्मान होगा। सुमति सचिव की भाँति मेरा मत ग्रहण किया जायगा।

मैंने कपट से ऐसा वेष बना रक्खा है। कण्ठी, छापा तिलक लगा रक्खा है कि मुझे लोग रामसेवक कहने लगें। मुझे ऐसा कहलाना प्रिय है, पर सेवक स्वामी के

स्वरूपानुकूल होता है। यथा : सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। सो मेरे जैसे के सेवक कहे जाने से स्वामी रामजी का उपहास है। रामजी उपहास सह लेते हैं, मुझ पर अप्रसन्न नहीं होते।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सँकोरी ॥
समुझि सहम मोहिं अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने ॥१॥

अर्थ : यह मेरी बहुत वड़ी ढिठाई और दोष है, इस पाप को सुनकर नरक ने भी नाक सिकोड़ा। यह समझकर मैं कल्पित डर से सहम गया था, पर रामजी ने इसका स्वप्न में भी ख्याल नहीं किया।

व्याख्या : १. प्रभु की स्वीकृति विना मैं अपने मन से सेवक बन वैठा। यह ढिठाई की परा सीमा है और २. इससे रामजी का उपहास होता है। यह बड़ा भारी दोष अर्थात् रामापराध है। दोनों ही बड़े भारी पाप हैं जिनको सुनकर नरक ने नाक सिकोड़ा कि क्या ऐसे पापी को भी मुझे स्थान देना होगा ? श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि मैं तो ऐसा समझकर अपने कल्पित भय से डर गया। यथा : अपडर डरयों न सोच समूले : पर रामजी ने मेरी प्रीति रक्खी, उन महापापों का भी ख्याल नहीं किया।

सुनि अवलोकि सुचित चख[1] चाही। भगति भोरि मति स्वामि सराही ॥
कहत नसाइ होइ हिअ नीकी। रीझत राम जानि जन जी-की ॥२॥

अर्थ : सुनकर और सुचित की आँखों से देखकर : मेरी : भक्ति से भोरीमति की स्वामी ने प्रशंसा की। जो कहने में बिगड़ जाय पर हृदय से अच्छी हो तो रामजी जन के जी की जानकर रीझ जाते हैं।

व्याख्या : सुना कि तुलसीदास सेवक वना फिरता है। समझा भी कि इसके सेवक बनने से मेरी हँसी होती है फिर भी प्रभु ने मेरी रुचि रक्खी। कहा कि भक्ति से उसकी बुद्धि भोरी हो गई है। बिना स्वीकृति के ही भक्त बना फिरता है। मेरी भक्ति की सराहना करने से मेरी भक्ति भी सच्ची हो गई। अब साधु समाज में भणित का सम्मान भी होगा। 'होइहि अतिनीकी' पाठ मानने से यह अर्थ करना होगा कि जो कहते न बने वह भी अत्यन्त अच्छी हो जायगी। क्योंकि रामजी तो जन के जी की वात जानकर रीझ जाते हैं। यथा : को जिय की रघुवर बिन बूझै।

ग्रन्थकार कहते हैं कि मेरे जी में है कि 'रघुपति गुनगान करूँ।' यथा : करन चहौं रघुपति गुनगाहा : इतने पर ही रामजी रीझेंगे। मुझसे कहते नहीं बनेगा। इस वात पर ध्यान न देंगे। क्योंकि उनका ऐसा स्वभाव है कि जन के जी की जानकर रीझ जाते हैं। मैंने शठता की। अयोग्य होकर रामदास बनना चाहा सो सरकार में चूक का लेखा न होगा। मेरी सच्ची लगन देखी जायगी।

रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सय वार हियेकी ॥
जेहि अघ वधेउ व्याध जिमि वाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥३॥

---

[1] १. चाही = से।

अर्थ : श्रीरामजी के चित्त में चूक किये की स्मृति नहीं रहती। हृदय की स्मृति सौ वार करते हैं। जिस पाप से वालि को व्याध की भाँति मारा वही कुचालि फिर सुग्रीव से हो पड़ी।

व्याख्या : जो पाप वालि से हुआ वही सुग्रीव से हुआ। अनुज अग्रज के भेद से पाप में भेद नहीं। अनुज वधू कन्या सम है; तो अग्रज वधू माता सम है। 'अनुज वधू भगिनी सुत नारी' में जो 'अनुज' शब्द का प्रयोग है सो प्रसङ्गानुकूल होने के कारण से है। यथा : वन्धु वधू रत कहि कियो वचन निरुत्तर वालि। तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि। जानबूझकर कि ऐसे कुचाल का प्रभु ऐसा दण्ड देते हैं। स्त्रीचरित्र में फँस गये। वालि की भाँति हृदय दूषित नहीं था, जिसने कि दण्ड रूप में सर्वस्व और स्त्री भी हरण की और सुग्रीव के वध के लिए सदा सचेष्ट रहता था।

सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥
ते भरतहि भेटत सनमाने। राजसभाँ रघुवीर बखाने ॥४॥

अर्थ : वही करतूति विभीषण की है। पर इसे रामजी ने स्वप्न में भी हृदय से नहीं देखा : मन में नहीं लाये। भरतजी से मिलने के समय रामजी ने उनका सम्मान किया और सभा में उनका बखान किया।

व्याख्या : बिभीषण भी इसी भाँति मायाजाल में जा पड़े। मन्दोदरी परम सुन्दरी नारि ललामा थी, सो उसकी माया में आ जाना चूक है। हृदय में अभिलाषा न थी कि लङ्का और मन्दोदरी प्राप्त करें। रामजी ने इसका ख्याल ही नहीं किया। क्योंकि उनकी कृपा अघाती कृपा नहीं है।

इतना ही नहीं, भरत ऐसे भाई से मिलने के समय, सुग्रीव और विभीषण का सम्मान किया। यथा : राम सराहे उठि, भरत मिले राम समजानि : और राजसभा में सप्तद्वीप के राजा प्रजा, श्रीवशिष्ठजी तथा सुमन्त आदि के सम्मुख, उनका बखान किया।

दो. प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किये आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान ॥२९॥ क
राम निकाई रावरी, है सबही को नीक।
जौ यह साँची है सदा, तौ नीको तुलसीक ॥२९॥ ख
एहि विधि निजगुन दोष कहि, सबहि बहुरि सिरनाइ।
वरनउँ रघुवर विसद जसु, सुनि कलि कलुष नसाइ ॥२९॥

अर्थ : प्रभु तो वृक्ष के नीचे और वन्दर डारपर, उन्हें अपने समान बना लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि राम के समान शीलनिधान स्वामी कहीं नहीं है। हे रामजी! आपकी भलाई सबको भली है। यदि यह वात सदा सत्य है तो तुलसीदास को भी भली है। इस प्रकार अपना गुण और दोष कहकर और

सबको सिर नवाकर रघुवर का निर्मल यश वर्णन करता हूँ। जिसके सुनने से कलि-मल नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या : सुग्रीव और विभीषण प्रसिद्ध थे अतः इनका नाम लेकर कहा, नहीं तो अपराध बहुतों से बन पड़ा, किसका किसका नाम लिया जाय। प्रभु पेड़ तले बैठे, बन्दर पूँछ लटकाकर प्रभु के ऊपरवाली डाली पर जाकर बैठे। अमर्याद की सीमा हो गई। रामापराध भी बन पड़ा। पर यह उनकी चूक थी। उन्होंने अपनी समझ में न ढिठाई की न अपराध किया। उन्हें अपने समान बनाया। यथा : मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी, पर प्रीति जे गाइहैं। संसार सिंधु अपार पार, प्रयास विनु नर पाइहैं।

यहाँ स्वरूप वर्णन[1] प्रकरण समाप्त होता है।

रामजी किसी के विरोधी नहीं हैं। यथा : अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। रामजी को सब प्रिय हैं। यथा : सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आपु समान। राम ही भले हैं। यथा : जग अनभल भल एक गोसाँई। कहहु होइ भल कासु भलाई। उनकी भलाई सबके लिए भली है। अतः तुलसी के लिए भी भली है। विनय में कहा है :

राम भलाई आपनी भल कियो न काको।
जुग जुग जानकीनाथ को जग जागत साको ।।१।।
ब्रह्मादिक विनती करी, कहि दुख वसुधा को।
रविकुल कैरव चन्द्रभो, आनन्द सुधा को ।।२।।
कौसिक गरत तुषार ज्यौ, लखि तेज तिया को।
प्रभु अनुदिन हित को दियो, फल कोप कृपा को ।।३।।
हरयौ पाप आप जाइके, संताप सिला को।
सोच मगन काढ्यौ सही साहिब मिथिला को ।।४।।
रोष रासि भृगुपति धनी, अहमिति ममता को।
चितवत भाजन करिलियो, उपशम समता को ।।५।।
मुदित मानि आयसु चले, वन मातु पिता को।
धरम धुरंधर धीर धुर, गुनसील जिता को ।।६।।
गुह गरीब गत ज्ञातिहू, जेहि जिउ न भखा को।
पायो पावन प्रेम ते, सनमान सखा को ।।७।।
सद्गति सवरी, गीध की, सादर करता को।
सोच सींव सुग्रीव के, संकट हरता को ।।८।।
राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को।
आज विराजत राज है दसकंठ जहाँ को ।।९।।

---

[1] पहिले नव दोहों में नाम वर्णन किया। फिर दो दोहों में स्वरूप वर्णन किया। इसके बाद क्रम से लीला और धाम वर्णन करेंगे।

वालिस वासी अवध को, बूझिये न खाको।
सो पाँवर पहुँचों तहाँ जहँ मुनि मन थाको ।।१०।।
गति न लहै रामनाम सों, विधिसो सिरिजा को।
सुमिरत कहत प्रचारि कै, वल्लभ गिरिजा को ।।११।।
अकनि अजामिल की कथा, सानंद न भाको।
नाम लेत कलि कालहू, हरि पुरहिं न गा को ।।१२।।
रामनाम महिमा करै काम भूरुह आको।
साखी वेद पुरान है, 'तुलसी तन ताको'।। २ : वि. प. १५२

इस विधि से अपना गुण दोष कहा। यह कवि की आर्ति है। सबको फिर से 'प्रणाम किया। यह दीनता और विनय है। इस भाँति तीसरी बार जल का हलकापन कहा : समष्टि और कवि समाज से पहिले कह आये हैं : आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारि न खोरी। भाव यह है कि हलकापन की सराहना जलके आचमन के बाद की बात है। इस भाँति मानससर में अवगाहन के पहिले, तीन बार आचमन करने की बात कही।

'काल सदा दुरति क्रम भारी' सो उसका मल भी रघुवर यश के सुनने से नष्ट हो जाता है। अब समष्टि को फिर से प्रणाम करके श्रीग्रन्थकार रघुवर-विशद-यश वर्णन करते हैं।

कथापरिचय

जाग[1]वलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई ।।
कहिहौं सोइ संवाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी ।।१।।
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ।।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा ।।२।।

अर्थ : याज्ञवल्क्य ने जो सुहावनी कथा मुनिवर भरद्वाज जी को सुनाई थी उसी संवाद को मैं बखानकर कहूँगा। सब सज्जन सुखपूर्वक सुनो। १. यह सुहावना चरित शिवजी ने रचा और फिर कृपा करके उमा को सुनाया। उसी को शिवजी ने रामभक्ति का अधिकारी पहिचानकर, कागभुसुण्डि को दिया।

व्याख्या : चारों घाटों के वक्ताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि योगी याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज जी को कथा सुनाई। योगी याज्ञवल्क्य से ही यजुर्वेद की कृष्ण और शुक्ल शाखाएँ चलीं। इनका आख्यान वेदों में पाया जाता है। इन्हीं की स्मृति उत्तर भारत में मान्य है। इन्होंने राम वनवास के पहिले ही श्रीरामचरित अपने शिष्य जनकजी को सुना रक्खा था। यथा : यह सब जागवलिक कहि राखा। देवि न मुधा होइ मुनिभाखा। भारद्वाज जी भी वैदिक ऋषि हैं। सप्तर्षियों में एक हैं। इन्होंने वेदप्राण प्रणव को इन्द्र से प्राप्त किया था। वक्ता भी ऐसे महान् और श्रोता भी ऐसे

---

[1] दाढादयो बहुलम् : प्रा. प्र. : इस सूत्र से याज्ञवल्क्य का जागवलिक रूप हुआ।

महान् । इन्हीं दोनों महात्माओं का संवाद तापनीय श्रुतियों[1] में है । वहीं रामकथा

---

[1] श्रीरामपूर्वतापिन्यां चतुर्थोपनिषदि वेदोक्तरामचरितम् । अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसावह्निनासमः ।
सत्वनुष्णुगुर्विश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत् । उत्पन्नं सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥
प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः । द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ॥
प्रसन्नवदनो जेता धृत्यष्टकविभूषितः । प्रकृत्या परमेश्वर्या जगद्योन्याऽङ्किताङ्कभृत् ॥
हेमाभया द्विभुजया सर्वालिलङ्कृतया चिता । श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः ॥
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः । हेमाभेनाऽनुजेनैव तदा कोणत्रयं भवेत् ॥
तथैव तस्य मन्त्रस्य शेषोऽणुश्चस्वङेन्तया । एवं त्रिकोणरूपं स्यात् तं देवा ये समाययुः ॥
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम् । कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥
नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमोनमः । रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥
जानकी देहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने । भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम । भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥
त्वमैश्वर्यं कुर्वन्ति सम्प्रत्याश्वरिमारणम् । कुर्वितिरतुत्यदेवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः ॥
स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः । रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्यर्थमाददे ॥
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः । तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम् । हत्वा कवन्धं शवरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥
पूजिता वीरपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम् । आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥
स तु रामे शङ्कितः सन् प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः । विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥
सप्ततालान् विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा । तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ सरामस्तस्य पत्तनम् ॥
जगामाऽगर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात् । वाली तदा निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥
निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत् ततः । हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥
आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत । ततस्ततार हनुमानब्धि लङ्कां समाययौ ॥
सीतांदृष्ट्वाऽसुरान् हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् । स्वयमागत्य रामाय न्यवेदयत तत्त्वतः ॥
तदारामः क्रोधरूपी तानाहूयाथ वानरान् । तैः सार्धमादायास्त्रांश्च पुरीं लङ्कां समाययौ ॥
तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् । घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे ॥
हत्वा बिभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् । आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम ह ॥
ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः । धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥
मुद्रां ज्ञानमयीं यामे वामे तेजः प्रकाशनम् । धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥
उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ धृतः । हनुमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यात्त्रिकोणगम् ॥
भरताधस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् । पश्चिमे लक्ष्मणं धृत्वा धृतच्छत्रं सचामरम् ॥
तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यस्रं पुनर्भवेत् । एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गै रेफसंयुतः ॥
द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतम् । तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥
बिभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् । जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥
विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च । अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रस्त्वेभिरावृतः ॥
ततः सहस्रदृग्वह्नि धर्मरक्षोवरुणानिलाः । इन्द्रीशधात्रनन्ताश्च दशभिस्त्वेभिरावृतः ॥
बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः । वशिष्टवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥

अति संक्षेप में वर्णित है। ग्रन्थकार अपने श्रोता सज्जन वृन्द से कह रहे हैं कि उसी संवाद को मैं बखानकर कहूँगा। आप लोग सुख मानकर सुनो। यथा : राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी। रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा। आर्त अधिकारी को सुनाया। इसलिए 'कृपाकरि' कहते हैं। उसी को शिवजी ने कागभुसुण्डि को दिया, सुनाया नहीं। सुनाया लोमश

अर्थ : इस जड़ात्मक प्रपञ्च में अनन्त रूप राम तेज से अग्नि रूप हैं। वही विश्वरूप शीतरश्मिरूप हैं। सीता के साथ चाँदनी से युक्त चन्द्रमा की भाँति सुशोभित हैं। उन्हीं से यह अग्निसोमात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। प्रकृति के सहित, श्यामवर्ण, पीतवस्त्र धारण किये हुए, जटा रक्खे हुए, द्विभुज कुण्डल पहिने, रत्नों की माला धारण किये, धीर, धनुर्धर, प्रसन्न वदन, जेता, धृति आदि आठ मन्त्रियों से युक्त, परमेश्वरी जगद्योनि प्रकृति सब आभूषणों को धारण किये, दो भुजावली हाथ में कमल लिये हुए, जिसके वामाङ्ग में वर्तमान हैं। इसी भाँति पुष्ट कोसल्यानन्द वर्धन विराजते हैं। उनके दक्षिण ओर हेमवर्ण, धनुष हाथ में लिये छोटे भाई लक्ष्मण विराजमान हैं। इस भाँति त्रिकोण होता है। इसी भाँति उनका मन्त्र है जो लक्ष्मण सम्बन्धी मन्त्र बीज और नाम में चतुर्थी एक बचन की विभक्ति लगाने से बनता है। इस भाँति त्रिकोण रूप होता है। उस त्रिकोण के अधिष्ठाता भगवान् के पास इन्द्रादिक देवता गये। कल्पवृक्ष के नीचे स्थित भगवान् जगत्पति की स्तुति की। अपनी इच्छा से रूप धारण करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे राम, हे माया के नाश करनेवाले! आपको नमस्कार है! हे वेदादिरूप! हे ॐ कार! आपको नमस्कार है। हे रमा के धारण करनेवाले राम! हे सीतारमण! हे आत्ममूर्ति! हे सीता रूप अलङ्कार के धारण करनेवाले! राक्षसों को नाश करनेवाले, शुभ अङ्गदाऊे, हे मङ्गलरूप, हे रघुवीर, हे दशकण्ठ के अन्तकरूप, हे रामभद्र, हे महा धनुर्धर, हे रघुवीर, हे नृपोत्तम, हे रावणान्तक, हमलोगों की रक्षा करो और ऐश्वर्य दो। ईश्वरी द्वारा रक्षा और श्री दिलाओ। इस समय शीघ्र शत्रु का वध करो। देवादिकों ने ऐसी स्तुति की और परमेश्वर के साथ ही सुख से स्थित हुए। वशिष्ठादिक ऋषियों ने इसी भाँति स्तुति की। तब असुर रावण वन में स्थित रामपत्नी को अपनी निवृत्ति के लिए हरण कर ले गया। इसी से उसका नाम रावण हुआ या संसार को रुलाता था इसलिए रावण कहलाया। उसी व्याज से सीता को खोजते हुए राम और लक्ष्मण पृथ्वी पर विचरने लगे। कवन्धासुर को देखा और वध किया। शवरी के पास गये और उसके कहने से जाकर भक्त हनुमान्‌जी से पूजित हुए। सुग्रीव को बुलाकर उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया। वह रामजी के विषय में शङ्कित हुआ और उसने अपने विश्वास के लिए दुन्दुभी की अस्थि दिखलाई। जिसे रामजी ने फेंक दिया और सात तालों का भेदन करके राघव प्रसन्न हुए। इससे सुग्रीव भी प्रसन्न हुए और रामजी के साथ किष्किन्धापुरी गये। सुग्रीव ने गर्जन किया तब बाली वेग से घर के बाहर निकला। उस बाली को राघव ने संग्राम में मारा और सुग्रीव को राजा बनाया। दिशाओं के जाननेवाले वानरों को बुलाकर सुग्रीव ने कहा : जल्दी जल्दी तुमलोग मैथिली को खोज लाओ। तब हनुमान् समुद्र पार करके लङ्का गये। सीता को देखकर, राक्षसों को मारकर लङ्का जलाई। और स्वयं आकर रामजी को सब वृत्तान्त सुनाया। तब रामचन्द्र ने क्रुद्ध

ऋषि ने। यथा : मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तव भाखा। शङ्कर भगवान् की प्रेरणा से लोमश ऋषि ने सुनाया। इसीलिए शिवजी का 'देना' कहते हैं। यथा : रामचरित सर गुप्त सोहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा। शम्भु ने जो ऐसी कृपा भुसुण्डिजी पर की। उसका कारण कहते हैं कि उसे रामभक्ति का अधिकारी चीन्हा, इससे उसे दिया।

तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥
ते श्रोता बक्ता सम सीला। सब्र दरसी जानहिं हरिलीला ॥३॥

अर्थ : उससे याज्ञवल्क्य ने पाया और फिर उन्होंने भरद्वाजजी से कहा। वे श्रोता और वक्ता समान स्वभाववाले थे, सर्वदर्शी थे और हरि की लीला को जानते थे।

व्याख्या : यहाँ पर यह स्पष्ट नहीं होता कि याज्ञवल्क्यजी ने शिवजी से सुना या भुसुण्डिजी से सुना। परन्तु 'पावा' शब्द से तो यही झलकता है कि देनेवाले निःसन्देह शिवजी हैं पर उन्होंने उसी भाँति दिया जिस भाँति भुसुण्डिजी को दिया था। अर्थात् : भुसुण्डिजी के गुरु : महर्षि लोमश द्वारा भुसुण्डिजी को दिया और याज्ञवल्क्यजी को उनके गुरु द्वारा दिया। सुनावा, दिया और पावा इन क्रियाओं पर ध्यान देने से तो यही अर्थ निकलता है। ये तीनों वक्ता और श्रोता समान कक्षा के थे। सर्वदर्शी थे। हरिलीला के साक्षात्कार करनेवाले थे। जगत् के कल्याणार्थ श्रोता, वक्ता बने थे।

जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना ॥
औरो जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना ॥४॥

होकर उन बानरों को अपने पास बुलाया और उनके साथ अस्त्रों को लेकर लङ्का गये। उसे देखकर उसके स्वामी के साथ युद्ध किया। कुम्भकर्ण और मेघनाद के साथ उसे लड़ाई में मारा। वहाँ का राजा बिभीषण को बनाया। सीताजी को गोद में लेकर उनके साथ अयोध्या गये। तब द्विभुज रघुनन्दन सिंहासन पर बैठे। द्विभुज रघुनन्दन धनुष धारण किये हुए, सब अलङ्कारों को धारण किये हुए, प्रसन्न वदन दक्षिण हाथ में ज्ञानमयी मुद्रा धारण किये हुए और बाएँ हाथ से वामजानु मण्डल को दबाए हुए, चिन्मय परमेश्वर व्याख्यान में निरत हुए। बाएँ और दक्षिण ओर शत्रुघ्न और भरत स्थित हुए। श्रोता रूप से हनुमान् भी सन्मुख स्थित हुए। इस भाँति फिर त्रिकोण हुआ। भरत के नीचे सुग्रीव और शत्रुघ्न के नीचे बिभीषण तालवृन्त धारण किये हुए और पीछे लक्ष्मणजी छत्र और चामर धारण किये हुए स्थित हुए। इस भाँति दो त्रिकोणों के मिलने से षट्कोण हुआ। इस भाँति स्वकीय बीज, दीर्घ अक्षरों से युक्त हृदयादिकों से श्रीरामजी का पूजन होना चाहिए। दूसरा आवरण वासुदेव आदि हैं। तीसरे आवरण में हनुमान्, सुग्रीव, भरत, बिभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद, शत्रुघ्न, जाम्बवान् हैं। इसके बाद विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल, और सुमन्त्र का आवरण है। इसके बाद इन्द्र, अग्नि, धर्म, निऋति, वायु, चन्द्र, धाता और शेष का आवरण है।

अर्थ : वे अपने ज्ञान से हाथ पर रक्खे हुए आँवले के समान तीनों कालों को जानते थे और भी जो सुजान हरिभक्त हैं, नाना विधान से कहते, सुनते और समझते हैं।

व्याख्या : जो आँवले का फल हाथ में होता है उसका ज्ञान निरावरण होता है। इसी भाँति उनके लिए भूत और भविष्य भी वर्तमान के तुल्य था। इसलिए 'निज ज्ञाना' कहते हैं, दूसरे को जानने की उन्हें आवश्यकता नहीं है। वे महात्मा भक्त हैं अत: 'आमलक समाना' कहा। ज्ञानी के लिए दूसरी उपमा देते हैं। उनके हाथ में विश्व को वेर के फल के समान कहते हैं। यथा : जिनहिं विस्व कर बदरि समाना : क्योंकि भक्त को विश्व पथ्य है और ज्ञानी को अपथ्य है : धात्री फलं सदापथ्यं अपथ्यं बदरी फलम्।

इनके बाद कहने सुनने और समझने पर ही निर्भर रहकर कथा की परम्पराएँ चलीं क्योंकि चरित के साक्षात्कार करने की सामर्थ्य तो पूर्वोक्त तीनों वक्ताओं और श्रोताओं में ही थी। अत: सुजान हरिभक्त होने पर भी बुद्धिभेद से कथा के विधानों में भेद पड़ने लगा। इसीलिए 'कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना' कहा।

दो. मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥३०॥ क
श्रोता बकता ग्यानर्निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़, कलि मल ग्रसित विमूढ़ ॥३०॥ ख

अर्थ : मैंने अपने गुरु से सूकर-क्षेत्र में यह कथा सुनी, परन्तु : जैसी कथा होती थी : वैसी अति बालकपन होने के कारण, समझ न पायो, तब बहुत अचेत था। श्रोता, वक्ता दोनों ज्ञाननिधि थे और राम की कथा गूढ है। मैं कलियुग के पापों से ग्रसा हुआ, महा मूढ़, जड़ जीव उसे कैसे समझ सकता था ?

व्याख्या : जो कथा ग्रन्थकार ने गुरुमुख से सुनी, वह सम्भवतः सोरों के घाट पर हुई थी, उस स्थल में वाराहावतार होने से उसे 'सूकर खेत' कहा जाता था। अति अचेत कहने का भाव ग्रन्थकार का यह है कि अचेत तो अब भी हूँ, पर उस समय अति अचेत था। जैसी कही गई वैसी नहीं समझा।

गुरुजी साधु समाज में कथा कहते थे। जिस भाँति वे ज्ञानी थे उसी भाँति श्रोता समाज भी महा ज्ञानी था। अत: उन लोगों के सुनने योग्य कथा हो रही थी। अन्य श्रोता लोग साधु थे। मैं कलिमल ग्रसित था। अन्य श्रोता लोग महा विद्वान् थे। मैं विमूढ़ था। अत: वे समझ पाते थे, मैं नहीं समझ पाता था।

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥
भाषा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ॥१॥

अर्थ : फिर भी गुरुजी ने बार-बार कही तो अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ समझ में आई। उसीको मैं भाषा में छन्दोबद्ध करूँगा जिससे मेरे मन में प्रबोध : तसल्ली हो।

व्याख्या : गुरुजी वड़े दयालु थे, मेरे समझने के लिए बार-बार कहा। यही समझाने का रास्ता है। वार-वार कहने से गूढ़ विषय भी मन में आजाता है। धीरे-धीरे संस्कार पड़ जाता है। यथा : अति दयालु गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा। तब कुछ कुछ बात समझ में आई।

जब तक अच्छी भाँति समझ में न आवे तब तक उसे छन्दोवद्ध नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार कहते हैं कि अपने प्रबोध के लिए मैं उसे भाषा में छन्दोवद्ध करूँगा। वहुत से गूढ़ विषय ऐसे हैं जिनके विषय में धारणा हो जाती है कि मैंने समझ लिया पर उसे जब छन्दोवद्ध करने लगे तो कितनी ही शङ्काएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन्हें समाधान करके अपनी भाषा में छन्दोवद्ध कर पावे तब उसके अभ्रान्त होने में सन्देह नहीं रह जाता। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं अपने जी की तसल्ली के लिए भाषाबद्ध करता हूँ।

जस कछु बुधि विवेक बल मोरे। तस कहिहौं हियँ हरिके प्रेरे ॥
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी ॥२॥

अर्थ : जैसा कुछ मुझमें वुद्धि और विवेक का वल है मैं हिय में हरि की प्रेरणा से वैसा ही कहूँगा। मैं अपने सन्देह, मोह और भ्रम को रहनेवाली कथा रचता हूँ। वह संसारनदी के लिए नाव के समान है।

व्याख्या : पहले तो समझा ही कम है। यथा : समुझि परी कछु मति अनुसारा। फिर अपने वुद्धि वल का भरोसा नहीं। यथा : निजवुद्धि वल भरोस मोहि नाहीं। अतः जो चूक हो वह मेरी और जो गुण हो वह गुरुजी का। मैं अपने कावू में नहीं हरि की प्रेरणा से कहता हूँ। हरि का अर्थ वन्दर भी होता है। अतः कुछ महात्माओं का मन है कि मङ्गल मूर्ति हनुमान्‌जी की प्रेरणा से कहते हैं। ऐसा अर्थ करना चाहिए। यहाँ से लीलावर्णन प्रारम्भ हुआ।

श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि अपने सन्देह, मोह, भ्रम के नाश के लिए मैं कथा की रचना करता हूँ। दूसरे के सन्देह, मोह, भ्रम के नाश करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

सन्देह, उभय कोटि अवलम्बी ज्ञान को कहते हैं। मोह अज्ञान को कहते हैं। भ्रम विपरीत ज्ञान को कहते हैं। यह कथा इन सबों को हरण करनेवाली है। यह कथा नौकारूप है। इसमें ऐसा दिव्य सामर्थ्य है कि इसके लिए भवसागर सरिता हो जाता है। रामनाम को राकेश कहकर आगे वर्णन करेंगे। अतः पहिले उसकी सोलह कलाओं का वर्णन करते हैं : निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी। रामनाम राकेश की पहिली कला है।

बुध विश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष विभंजनि ॥
राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी ॥३॥

अर्थ : राम कथा विद्वानों को विश्राम देनेवाली है। सब मनुष्यों के मन को प्रसन्न करनेवाली है। कलियुग के पाप को दूर करनेवाली है। राम कथा कलियुगरूपी

साँप के लिए भरणी : मन्त्र है। विवेक रूपी अग्नि : के मन्थन : के लिए अरणी : लकड़ी है।

व्याख्या : विद्वान् लोग अनेक शास्त्रों के अभ्यास से श्रमित रहते हैं। उनको रामकथा विश्राम देती है। सभी भक्तों को सुख देती है। विधि निषेध मय कलिमल हरणी। कर्म-कथा की भाँति कलियुग के मलों का हरण करती है। यह दूसरी कला है।

भरणी, सर्प के विष उतारनेवाले मन्त्र को कहते हैं। किसी के मत से भरणी नामक चूहे जैसा एक जन्तुविशेष है जो सर्प का नाश करता है। किसी के मत से भरणी नक्षत्र का जल विषनाशक है। कोई भरणी का अर्थ मयूरी करते हैं। परन्तु रामकथा कहने की वस्तु है अतः इसकी उपमा मन्त्र से देना ही अधिक उपयुक्त है। इस कलियुग का बल नहीं चलता। इसके मन्थन से उसी भाँति ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। जिस भाँति यज्ञ में अरणि मन्थन से अग्नि उत्पन्न होता है। यह तीसरी कला है।

राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥
सोइ वसुधा तल सुधा तरंगिनि। भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥४॥

अर्थ : रामकथा कलि में कामधेनु है और सज्जनों के लिए तो सुन्दर सजीवन मूरि है। यही पृथ्वी तल पर अमृत की नदी है। भय को दूर करनेवाली और भ्रम-रूपी मेढक के लिए तो सर्पिणी ही है।

व्याख्या : कलियुग में न कामधेनु है, न कल्पवृक्ष है और न चिन्तामणि है। मनोवाञ्छित देनेवाले तीनों में एक नहीं है पर रामकथारूपी कामधेनु है। रामनाम-रूपी कल्पवृक्ष है। यथा : नाम राम को कल्पतरु : और रामचरितरूपी चिन्तामणि है। यथा : रामचरित चिन्तामनिचारू। सुजन लोग काम किरात के प्रहार से मृत-प्राय हो रहे हैं। यथा : मनुजाद किरात निपात किये। मृगलोग कुभोग सरेन हिये। उनके लिए रामकथा संजीवनी बूटी है। इसीसे वे आराम हो सकते हैं। यह चौथी कला है।

वसुधा तल में सुधा : अमृत : नहीं है, किसी युग में भी नहीं रही पर वसुधा तल में अमृत की नदी रामकथा है। यह सदा यहाँ बहा करती है। रामावतार के पहिले भी रामकथा थी। उसे[१] रामजानकी ने श्रवण किया था। वह उस रामावतार के पहिले रामावतार की कथा थी। इस भाँति रामकथा से वसुधा शून्य कभी नहीं

---

[१] अन्यत्किञ्चित्प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा मां नय काननम्।
रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः।
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद। अध्यात्मरामायणे।

अर्थ : श्रीजानकी जी ने कहा कि मैं और कुछ कहती हूँ; उसे सुनकर मुझे बन ले चलो। बहुत से रामायण ब्राह्मणों द्वारा अनेक बार सुने गये हैं, कहो तो क्या किसी में बिना सीता के राम बन गये हैं?

रहती। यथा : कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं। तब तब कथा मुनीसन्हि गाई। परम पुनीत प्रबन्ध बनाई। यह रामकथा भय की नाश करनेवाली है। जन्ममरणादि प्रवाह ही यहाँ भय है उसे नाश करके अभय पद देती है। भ्रम विपरीत ज्ञान को कहते हैं, वह व्यर्थ मेढ़क की भाँति टर्र-टर्र करता है। उसके बकवाद में कोई सार नहीं। उस भ्रमरूपी मेढ़क को नाश करने के लिए यह सर्पिणी है। उसे निगल जाती है अर्थात् रामकथा का आहार ही भ्रमतम है। यह पाँचवी कला है।

असुर सेन सम नरक निकंदिनि। साधु विबुध कुल हित गिरि नंदिनि॥
संत समाज पयोधि रमासी। विस्व भारभर अचल छमासी॥५॥

अर्थ : यह रामकथा : असुर की सेना की भाँति नरक की नाश करनेवाली तथा साधुरूपी देवकुल के हित के लिए पार्वती है। सन्तसमाजरूपी क्षीरसिन्धु के लिए लक्ष्मी सी है और संसार का भार धारण करने के लिए तो अचल पृथ्वी सी है।

व्याख्या : जिस भाँति दुर्गा : पार्वती : असुरसेन नाश करनेवाली हैं उसी प्रकार रामकथा नरक का नाश करती है। यथा : महामोह महिषेस विसाला। रामकथा कालिका कराला और जिस भाँति देवताओं के कुल का दुर्गा हित विधान करती हैं उसी भाँति रामकथा साधु समाज का हित विधान करती है। भावार्थ यह कि दुर्गा ऐसी प्रबला हैं कि जो असुर किसी के मारे नहीं मरते, उन्हें दुर्गा मारती हैं। इसी भाँति जो दुर्गति किसी के हटाये नहीं हटती उसे रामकथा हटाती है। साधु समाज का सदा कल्याण करती है। कुछ महात्मा लोग असुरसेन का अर्थ गया तीर्थ करते हैं। वहाँ यह अर्थ करना होगा कि जिस भाँति गया तीर्थ से नरक में पड़े प्राणियों का उद्धार होता है उसी भाँति रामकथा से भी होता है। यह छठी कला है।

लक्ष्मी क्षीरसिन्धु में ही उत्पन्न हुई और क्षीरसिन्धु की शोभा बढ़ाती हुई वहीं नारायण के साथ विराजमान हैं। अर्थात् क्षीरसिन्धु में ऐसी रति है कि उसे छोड़ती ही नहीं। वही उनका मैका है और वही निवास स्थान है। इसी भाँति रामकथा की भी उत्पत्ति साधु समाज में है और वहीं साधु समाज की शोभा बढ़ाती हुई सदा विद्यमान रहती है। यह सातवीं कला है। जिस भाँति पृथ्वी सबका आधार है उस भाँति रामकथा भी सबकी आधारभूता है। रामकथा के प्रतिपादित गुणों से ही विश्व की स्थिति बनी हुई है। यह आठवीं कला है।

जमगन मुह मसि जग जमुनासी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥६॥

अर्थ : यमगण के मुख में कालिख लगाने के लिए यह : रामकथा यमुना के समान है। जीवन्मुक्ति के लिए मानो काशी है। रामजी को पवित्र तुलसी की भाँति प्रिय है। तुलसीदास के लिए हुलसी के हृदय के समान है।

व्याख्या : जहाँ तक यमुना का प्रचार है वह स्थान यमराज के अधिकार के बाहर है। वहाँ यमगण का किया कुछ होता नहीं। वहाँ वे मुँह नहीं दिखाते मानों

उनके मुख में कालिख लगा हुआ है यथा : जमुना ज्यौं ज्यौं लागि बाढ़न। ज्यौं ज्यौं जल मलीन त्यौं त्यौं जमगन मुख मलीन लहै आढन। उसी भाँति जहाँ जहाँ रामकथा का प्रचार है वहाँ वहाँ यमगण मुख नहीं दिखलाते क्योंकि वह स्थल यमराज के अधिकार के वाहर हो जाता है। यह नवीं कला है।

जिस भाँति विदेह मुक्ति का कारण काशी है : काशी के सेवन से शरीर त्यागने पर मुक्ति होती है : उसी भाँति रामकथा जीवन्मुक्ति का कारण है। रामकथा का सेवन करनेवाला जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। यह दसवीं कला है। जिस भाँति तुलसी रामजी की हृदयानन्दकारिणी है : उसके विना भगवान् को पारिजात पुष्प और अन्य दिव्य गन्धों से भी तृप्ति नहीं होती। सब कर्म ही निष्फल हो जाता है : उसी भाँति[1] रामकथा भी भगवान् की हृदयानन्दकारिणी है। इसके विना षोडशोपचार पूजन से भी उनकी तृप्ति नहीं होती। यह ग्यारहवीं कला है। तुलसीदास के लिए तो साक्षात् माता के हृदय सी है, सहस्रों अपराधों को क्षमा करते हुए पालन करती हैं। हुलसी श्रीगोस्वामीजी की माता का नाम था। यथा : गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय।

यद्यपि हुलसी का अर्थ 'उल्लसित हुई' है और इससे अर्थ भी ठीक बैठ जाता है पर बहुत से लोगों का यह मत है कि 'हुलसी' तुलसीदासजी की माता का नाम था। ऐसा मानने से अर्थ भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदासजी हुलसी माता के आँखों के तारे थे। वह सदा ही इनका हित चाहती थी। इसी भाँति राम कथा भी माता की भाँति सेवन करनेवालों के हित में निरत रहती है। उन्हें प्रकाश प्रदान करके उनका कल्याण करती है। यह बारहवीं कला है।

सिव प्रिय मेकल सैल सुतासी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी ॥
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुवर भगति प्रेम परमिति सी ॥७॥

अर्थ : शिवजी को नर्मदा के समान प्यारी है। सब सिद्धि, सुख और सम्पत्ति की राशि है। सद्गुण रूपी देवताओं के लिए यह माता अदिति के समान है। रघुवर की प्रेमभक्ति की तो मानों सीमा सी है।

व्याख्या : मेकल शैल से नर्मदाजी निकली हैं। इसीलिए उसकी सुता कहलाती

---

[1] मातस्तुलसि गोविन्दहृदयानन्दकारिणि।
नारायणस्य पूजार्थं चिनोमि त्वां नमोऽस्तुते ॥
कुसुमैः पारिजाताद्यैः सुगन्धैरपि केशवः।
त्वया विना नैव तृप्तिं चिनोमि त्वामतः शुभे ॥
त्वया विना महाभागे समस्तं कर्म निष्फलम्। इत्यादि

तुलसी दल लेने के समय स्तुति की जाती है। हे तुलसी माता तुम गोविन्द की हृदयानन्दकारिणी हो। तुम्हारे विना गोविन्द को पारिजात के पुष्प और सुगन्धादि से तृप्ति नहीं होती। तुम्हारे विना सब कर्म निष्फल हो जाता है। इसीलिए मैं तुम्हारे पत्रों को चुनता हूँ। नारायण की पूजा इसी से करूँगा।

हैं। इनका लोप कभी नहीं होता। यह शङ्करजी को इतनी प्यारी हैं कि शिवजी इनमें असंख्य रूप से नर्मदेश्वर बने लुढ़कते फिरते हैं। इसी भाँति रामकथा भी शङ्कर भगवान् को अत्यन्त प्यारी है। यथा : रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा। जैसी नर्मदाजी की शोभा है वैसी ही रामकथा की भी शोभा है। जितनी सिद्धियाँ हैं अणिमा, महिमा आदिक और जितनी सम्पत्ति और सुख है उनकी रामकथा राशि है। इसके सेवन से सम्पूर्ण लौकिक सुख की भी प्राप्ति होती है। अतः सब भाँति प्रीति की आस्पद है। यह तेरहवीं कला है। जिस भाँति सब देवों की उत्पत्ति अदिति देवी से हुई है, उसी भाँति सभी सद्गुणों की उत्पत्ति रामकथा से हुई है। कोई गुण ऐसा नहीं है जिसे रामकथा ने उत्पन्न न किया हो। अतः इसके आश्रयण से सद्गुणों की प्राप्ति होती है। यह चौदहवीं कला है। सवकर फल हरिभगति भवानी। रामकथा भगवान् की प्रेमाभक्ति की परा सीमा सी है। यथा : ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहि। कथा सुधा मथि काढ़हि भगति मधुरता जाहि। भक्तिरूपी माधुर्य कथा में हो है। अतः कृतकृत्यता रामकथा से ही होती है। यह पन्द्रहवीं कला है।

दो. राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुवीर विहारु ॥३१॥

अर्थ : रामकथा मन्दाकिनी है। सुन्दर चित्त चित्रकूट है। तुलसीदासजी कहते हैं सुन्दर स्नेह ही वन है। जिसमें सीताजी और रामजी विहार करते हैं।

व्याख्या : मन्दाकिनी पुण्या नदी है। यथा : सुरसरिधार नाउँ मंदाकिनि। जो सव पातक पोतक डाकिनि। उसीको यहाँ रामकथा से उपमित किया है। उसका योग जव चित्रकूट से हो अर्थात् निर्मल चित्त का योग रामकथा से हो तब साधक के मन में स्नेह का बन लग जाता है। वही सीतानाथ का विहारस्थल है। यह सोलहवीं कला है।

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिअ सुभग सिंगारू ॥
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥१॥

अर्थ : रामचरित सुन्दर चिन्तामणि है। सन्तों की सुमति रूपी स्त्री का सुन्दर शृङ्गार है। रामजी के गुणों के समूह जगत् के लिए मङ्गलरूपी है। मुक्ति, धन, धर्म और धाम देनेवाला है।

व्याख्या : रामचरित को चिन्तामणि कहते हैं। क्योंकि चिन्तामणि से चिन्ता मिटती है। रामचरित सुन्दर चिन्तामणि है। यह मणि शृङ्गार के काम में भी आती है परन्तु सब के भाग्य में चिन्तामणि नहीं है कि उससे वह अपनी मतिरूपी स्त्री का शृङ्गार करे। केवल महा भाग्यवान् सन्त अपनी सुमतिरूपी स्त्री का उससे शृङ्गार करते हैं। अर्थात् सन्तों की स्त्री उनकी सुमति है। सदा उसी में रमण करते हैं। वह सुमति जब रामचरित धारण करती है तब शृङ्गारित होती है। पहिले मुक्तामाल

से स्वयं सन्तों का शृङ्गार कर चुके हैं। यथा : पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग।

रामकथा के अन्तर्गत रामचरित है, उसके अन्तर्गत रामगुणग्राम हैं। इसलिए कथा का माहात्म्य कहकर चरित का माहात्म्य कहा। अब गुणग्राम का माहात्म्य कहते हैं। श्रीरामचरितमानस में स्तुति कही गई है। उन्हीं स्तुतियों में गुणग्राम हैं। गुणग्राम का कथन ही स्तुति है। स्तुति कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इस ग्रन्थ में स्तुतियों की संख्या अट्ठाईस हैं। यहाँ गुणग्राम के माहात्म्य के विभाग भी अट्ठाईस हैं। अत: स्पष्ट है कि क्रमशः ये माहात्म्य, अट्ठाइसों स्तुतियों के हैं। रामजी के अनन्त गुण हैं। उनमें से कुछ से कवि का परिचय है। किन गुणों के योग के कथन से क्या फल होता है, यही फलश्रुति है।

१. पहिली ब्रह्मदेवकृत स्तुति है। उसका माहात्म्य कहते हैं : 'जग मंगल गुन ग्राम राम के। ब्रह्मदेव की स्तुति पर ही श्रीरामअवतार हुआ। इससे संसार का मङ्गल हुआ। इसलिए ब्रह्मदेव की स्तुति को अथवा उसमें वर्णित गुणग्राम को जगमङ्गल कहना सर्वथा उचित है।

२. कोसल्या कृत स्तुति है। उसमें जो गुणग्राम है उसका माहात्म्य है : दानि मुकुति धन धरम धाम[1] के। श्रीकन्त के प्रकट होने से यह गुणग्राम धन धर्म का दानी है। यथा : सो ममहित लागी जन अनुरागी प्रकटभये श्रीकन्ता। मुक्ति तथा धाम का देना तो कण्ठरवसे कहा है। यथा : यह चरित जो गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा।

सद् गुरु ग्यान विराग जोग के। विबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सियराम प्रेम के। बीज सकल व्रत धरम नेम के॥२॥

अर्थ : ज्ञान, विराग और योग के सद्गुरु हैं और संसाररूपी भयङ्कर रोग के लिए देववैद्य : अश्विनीकुमार हैं। ये सीताराम के प्रेम के माता पिता हैं और सारे व्रत, धर्म और नियमों के बीज हैं।

व्याख्या : ३. अहल्याकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : 'सद्गुरु ज्ञान विराग जोग के।' 'धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा' से ज्ञान का, 'मुनि शाप जो दीन्हा अति भल कीन्हा' से वैराग्य का, और 'पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना' से योग का सद्गुरु कहा।

४. परशुरामकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : 'विबुध वैद्य भव भीम रोग के'। भगवत् और भागवत का अपराध ही भव भीम रोग है। उसी का क्षमापन इस स्तुति से हुआ है। इसी से इसे भव भीम रोग के लिए अश्विनीकुमार बतलाया है। अश्विनीकुमार दो भाई हैं। साथ ही रहते हैं। यहाँ भी दोनों भाई

---

[1] चारों फल में काम है धाम नहीं है। परन्तु यह माता कौसल्या की स्तुति हैं उनके लिए धाम ही काम है।

राम लक्ष्मण की स्तुति है। भवरोग सब रोगों से भयङ्कर है। इसलिए राम गुणग्राम रूपी देववैद्य की आवश्यकता पड़ी।

५. सुनयनाकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : जननि सियराम प्रेम के 'सनेहसानी मृदुवानी' है। इसलिए सियराम प्रेम की जननी कहा। ६. जनककृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : जनक सियराम प्रेम के। बोले वचन प्रेम जनु जाये : इसलिए सियराम प्रेम का जनक कहा। यहाँ जनक शब्द देकर स्पष्ट जनक की स्तुति दरसायी है।

७. भरद्वाजकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : बीज सकल व्रत धरम नेम के। इससे मुनिजी को तप, तीर्थ, त्याग, जप, योग, विराग का फल मिला। फल में बीज रहता है, इसलिए कहा : बीज सकल व्रत धर्म नेम के।

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥
सचिव सुभट भूपति बिचारि के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥३॥

अर्थ : पाप सन्ताप और शोक के नाश करनेवाले और इस लोक तथा परलोक के प्यारे पालक हैं। विचाररूपी राजा के मन्त्री और सुभट हैं और लोभरूपी अपार समुद्र के लिए कुम्भज : अगस्त्य ऋषि हैं।

व्याख्या : ८. वाल्मीकिकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : समन पाप संताप सोक के। अतः जानत तुमहि होइ जाई कहकर पाप, सन्ताप और शोक का नाश कहा। ९. अत्रिकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : प्रिय पालक परलोक लोक के। नरादरेण ते पदं। व्रजंति नात्र संसयं। त्वदीय भक्ति संयुता। कहकर लोक और परलोक का प्रिय पालक कहा। १०. सरभंगकृत स्तुति का माहात्म्य है : सचिव भूपति विचार के। अध्रुव साधनों को देकर ध्रुवपद लिया। यथा : जोग जग्य जप तप जत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति वर लीन्हा। इसलिए भूपति विचार का सचिव कहा। ११. सुतीक्ष्णकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सुभट भूपति विचार के। विचार में आगे बढ़ते चले जाते हैं। पहिले कहा : तदपि अनुजश्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन चारी। फिर विचार[1] करके आगे बढ़े बोले : सो कोसल पति राजिव नयना। करहु सो राम हृदय मम अयना। फिर विचारकर और आगे बढ़े कहा : अनुज जानकी सहित प्रभु चाप वान धर राम। मम हिय गगन इन्दु इव बसहु सदा यह काम। इस भाँति विचार में सुभट की भाँति आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। इसलिए इस गुणग्राम का माहात्म्य ग्रन्थकार ने 'विचार का सुभट' बतलाया। १२. अगस्त्यकृत स्तुति का माहात्म्य है : कुंभज लोभ उदधि अपार के। इसमें जगत् की अनित्यता कही। इसलिए

---

[1] विचार किया कि काननचारी तो थोड़े ही दिन रहेंगे। इसलिए कोसलपतिरूप से हृदय में वास माँगा। फिर विचार किया कि कोसलपतिरूप से भी दशसहस्र वर्ष तक ही रहेंगे। अतः सदा के लिए अपने हृदयाकाश में चन्द्र की भाँति विचरण करने के लिए वर माँगा। विचार में उत्तरोत्तर उत्कर्ष आता ही गया।

अपार लोभ उदधि के लिए इस गुणग्राम को कुम्भज : अगस्त्य बतलाया। इस भाँति स्पष्ट दिखला दिया कि यह अगस्त्यकृत स्तुति का फल है।

काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि[1] सावक जन मन बन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥४॥

अर्थ : भक्तों के मनरूपी वनमें, काम, क्रोध और कलियुग के पापरूपी हाथियों के. लिए सिंह के बच्चे हैं। त्रिपुरारि के अतिथि से पूज्य और प्रियतम हैं। दरिद्ररूपी वन की अग्नि के लिए कामना की वर्षा करनेवाले मेघ हैं।

व्याख्या : १३. जटायुकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन वन के। इस स्तुति में 'कामादि खल दल गंजनं' स्पष्ट ही लिखा है। 'केहरि सावक' कहने का भाव यह कि सिंह के बच्चों को हाथी पर चोट करने का बड़ा चोप होता है। यथा : यथा मत्तगजगन निरखि, सिंह किसोरहि चोप। १४. हनुमत्कृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : अतिथि[2] पूज्य प्रियतम पुरारि के। यहाँ हनुमान्‌रूपी रुद्र को अतिथिरूप में भगवत्प्राप्ति हुई। अतः 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के' कहा। १५. रावणसभा में विभीषणकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : कामद घन दारिद दवारि के। क्योंकि इस स्तुति की भावना से प्रसन्न होकर भगवान् ने लङ्का दे दी। इसलिए यह स्तुति 'कामद घन' है। 'ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता' से 'प्रनतारति भंजन रघुनाथा' तक विभीषणोक्त गुणग्राम हैं।

मंत्र महा मनि विषय व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
हरन मोह तम दिनकर कर से। सेवक सालिपाल जलधर से॥५॥

अर्थ : विषयरूपी सर्प के लिए महा मन्त्रमणि हैं। ललाट में लिखे बुरे लेखों के मेटनेवाले हैं। अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के किरणरूप हैं। सेवकरूपी धानों को पालनेवाले मेघ के समान हैं।

व्याख्या : १६. रावणवध के समय जो देवताओं ने स्तुति की उसी के गुणग्राम का माहात्म्य है : मंत्र महा मनि विषय व्याल के। विषय को सर्प कहा। उसे रुद्धवीर्य करने के लिए महा मन्त्र और महा मणि का प्रयोग होता है। मन्त्रजप और महामणि के स्पर्श से सर्प बेकार हो जाता है। कुछ लोगों की सम्मति है कि मन्त्र और मणि शब्द के बीच में महा शब्द के प्रयोग से महौषधि का ग्रहण है अथवा यह गुणग्राम महा मणिमन्त्र है। इसका जप सद्यः लाभकर है। संस्कारादि की आवश्यकता नहीं। अङ्गन्यास, करन्यास आदि का झमेला इसमें नहीं। इस

---

[1] १. रूपक तद्रूप सम है।

[2] २. अतिथि सभी भाँति पूज्य है। फिर यदि वह प्रियतम हो तो उसकी पूजा में बड़ा आनन्द मिलता है। किष्किन्धा काण्ड में हनुमत्कृत रामजी के जिन गुणगणों का उल्लेख है वे शिवजी को अतिथि की भाँति पूज्य और प्रिय हैं।

स्तुति के पाठमात्र से विषय व्याल के विष का नाश होता है। भक्ति के विसारने से देवता भी भव प्रवाह में पड़े हैं। इस उक्ति के कारण इसे विषयव्याल का महा मणिमन्त्र कहा।

१७. रावणविजय के समय की ब्रह्मदेव की स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : मेटत कठिन कुअंक भाल के। कुअङ्क का लिखना और मिटाना इन्हीं का काम है। यथा : जिनके भाग लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी। तिन रंकन को नाक सवारत हौं आयो नकवानी : विनय। इस उक्ति से, ब्रह्मकृत स्तुति का माहात्म्य होना ध्वनित है। स्तुति में कहा गया है : येहिते विपरीत क्रिया करिये। दुख को सुख मानि सुखी चरिये। जब दुःख को भी सुख मान लिया गया तब कुअङ्क करेगा ही क्या ? वह मिटा मिटाया ही है। इसलिए कहा : मेटत कठिन कुअंक भाल के।

१८. इन्द्रकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : हरन मोह तम दिनकर करसे। इसमें कहा गया है : गत मान प्रद दुख पुंज। इस उक्ति से 'हरन मोह तम दिनकर करसे' सिद्ध हुआ।

१९. शङ्करकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सेवक सालिपाल जलधर से। सम्पूर्ण स्तुति में सेवक की रक्षा के लिए ही प्रार्थना है। अतः 'सेवक सालिपाल जलधर से' कहना प्राप्त है।

अभिमत दानि देव तरु वर से। सेवत सुलभ सुखद हरि हर से ॥
सुकवि सरद नभ मन उडगन से। राम भगत जग जीवन धन से ॥६॥

अर्थ : वाञ्छित फल देने में कल्पवृक्ष से हैं। सेवा करने में हरिहर की भाँति सुलभ और सुख देनेवाले हैं। सुकवि के मनरूपी शरद् ऋतु के आकाश में तारागण के समान हैं। रामभक्तों के तो जीवनधन से हैं।

व्याख्या : २०. वेदस्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है। अभिमत दानि देव तरुवर से। इसमें प्रणतपाल कृपाल की शक्ति के साथ स्तुति है। इसलिए इसकी कल्पवृक्ष से उपमा दी है। कल्पवृक्ष कहने पर भी 'वर' शब्द के प्रयोग का यह अभिप्राय है कि कल्पवृक्ष मोक्ष नहीं दे सकता। परन्तु यह ऐसा कल्पवृक्ष है कि भुक्ति, मुक्ति दोनों देता है।

२१. राज्याभिषेक के समय की शङ्कर भगवान् की स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सेवक सुलभ सुखद हरिहर से। इस स्तुति में प्रार्थना की गई है : महिपाल विलोकय दीन जनं। इसलिए इस स्तुति को 'सेवक सुलभ सुखद' कहा। 'हरिहर से' कहकर हरकृत स्तुति का होना द्योतित किया।

२२. पुरजनकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सुकवि सरद नभ मन उडगन से। शरत् काल के आकाश में ही तारों का स्पष्ट दर्शन होता है। आकाश के निर्मल होने से जो तारक पुञ्ज अन्य ऋतुओं में नहीं दिखाई पड़ते वे भी दिखाई देने लगते हैं। इस स्तुति में 'तुलसीदास के प्रभुहि उदारहिं' कहा गया है। इसलिए 'सुकवि सरद नभ मन उडगन से' कहना प्राप्त है।

२३. सनकादिककृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : रामभगत जन जीवन धन से। इस स्तुति में 'सेवत सुलभ सकल सुख दायक' कहा है। इसलिए यह रामभक्तों के लिए जीवनधन है।

सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जगहित निरुपधि साधुलोग से ॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से ॥७॥

अर्थ : सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप भोग के समूह के समान है। जगत् के निश्छल हित के लिए साधुओं के समान है। सेवक के मनरूपी मानस सरोवर के लिए हंस के समान है। गङ्गाजी की तरंगों के समान पवित्र है।

व्याख्या : २४. नारदकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सकल सुकृत फल भूरि भोग से। सुकृत का फल सुख और दुष्कृत का फल दु:ख है। तब सब सुकृत का फल भूरि भोग होना ही प्राप्त है। अर्थात् जो सुख भूरि भोग में है वही सुख इस गुणग्राम के कथन, श्रवण में है। स्तुति में 'सुख रूप भूपवर' कहा है। इसलिए माहात्म्य में कहा। सकल सुकृत फल भूरिभोग।

२५. भुसुण्डिकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : जगहित निरुपधि[1] साधु लोग से। भाव यह कि सुर, नर, मुनि की यही रीति है कि स्वार्थ के लिए प्रेम करते हैं। हेतु रहित दोनों लोक के हितकारी या तो भगवान् हैं या भागवत हैं। इसलिए साधु लोग को निश्छल हित कहा। भुसुण्डिकृत स्तुति में शत कोटि दुर्गादि देवताओं से रामजी को उपमित किया है। दुर्गादि देवता सोपधि हित हैं पर रामजी निरुपधि हित हैं। इसीलिए स्तुति का माहात्म्य भी वैसा ही है।

२६. विप्रकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : सेवक मन मानस मराल से। मराल सदा मानस सरोवर में निवास करते हैं। यथा : जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल। सो 'नतोहं सदा सर्वदा संभु तुभ्यं' स्तुति में कहा। अत: माहात्म्य में 'सेवक मन मानस मराल' कहते हैं।

२७. भुसुण्डिकृत दूसरी स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है : पावन गंग तरंग माल से। इस स्तुति में दुस्तर तरने का प्रसङ्ग आया है। यथा : हरिं नरा भजंति येऽति दुस्तरं तरंति ते। इसलिए माहात्म्य में बतलाया : पावन गंग तरंग माल से।

दो. कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम गुनग्राम जिमि, इन्धन अनल प्रचंड ॥३२॥
रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु ॥३२॥ क

अर्थ : कुमार्ग, कुतर्क, कलि की कुचाल, कपट, दम्भ और पाखण्ड को जलाने के लिए श्रीरामजी के गुणों के समूह वैसे ही हैं जैसे इंधन के लिए प्रचण्ड अग्नि।

---

[1] उपधि = छल।

रामजी का चरित पूर्णचन्द्र की किरणों के समान सबको समानरूप से सुख देने वाला है, पर सज्जनरूपी कुमुद और चकोरों के चित्त को विशेष हित देनेवाला है। वड़ा लाभकारी है। किरण के स्पर्श से कुमुद खिल उठते हैं। इसलिए उनका हित है और चकोर उसका पान करते हैं। अतः उन्हें बड़ा लाभ है।

व्याख्या : २८. वेदविरुद्ध मार्ग को कुपथ कहते हैं। मनमानी तर्कना को कुतर्क कहते हैं। गर्हित चाल को कुचाल कहते हैं। ठगपन को कपट, धर्म के दिखावे को दम्भ और वेदों के न मानने को पाखण्ड कहते हैं। इन सबको जलाने के लिए राम गुणग्राम प्रचण्ड अग्नि है। अर्थात् ये सब अनायास भस्म हो जाते हैं। राम के सभी गुणग्राम सभी फल दे सकते हैं, फिर भी पृथक्-पृथक् गुणग्राम माहात्म्योक्त फल को विशेष रूप से देते हैं। यह तुलसीदासकृत स्तुति के गुणग्राम का माहात्म्य है। गणिका, अजामिल, गीध आदि का सन्तरण कहने से कुपथ, कुतर्क आदि का नाश कहा।

इस भाँति अट्ठाइसों गुणग्रामों का माहात्म्य कहा। यही उन स्तुतियों की फलश्रुति है। गुणग्राम कहकर फिर चरित्र की महिमा कहने लगे। पहिले कहा था 'रामचरित चिन्तामनि चारू' उसके बाद अट्ठाइसों गुणग्रामों की फलश्रुति कही। अब 'रामचरित राकेस कर' कहकर गुणग्रामों को चरित से सम्पुटित कर रहे हैं।

'रामचरित राकेस कर' कहने से बहुत सी बातों का प्रसङ्ग आ पड़ा। राकेश कर के लिए रात चाहिए। राकेश का समाज चाहिए। राकेश की सोलहों कलाएँ चाहिए। रामयशरूपी मानससरोवर के वर्णन में दिन का वर्णन स्पष्ट न करके रात के वर्णन का विशेष कारण चाहिए।

मानसरोवर के जिन यात्रियों ने अपनी यात्रा पर पुस्तकें लिखी हैं, उन सबों ने चाँदनी रात में मानसरोवर की महा शोभा वर्णन की है, जबकि उसके स्वच्छ जल में प्रकाशित आकाश, चन्द्र, ग्रहमण्डल, तारामण्डल के साथ प्रतिबिम्बित होता है। श्रीग्रन्थकार ने मानसरोवर यात्रा निसन्देह की है। उस मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन आगे करेंगे। यथा : ते अति दुर्गम सैल विसाला। बन बहु विषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना। इत्यादि। अब यहाँ चाँदनी के वर्णन का प्रसङ्ग आगया। इसी भाँति यथास्थान सम्पूर्ण समाज का वर्णन करते चले जायँगे। पाठकों के सुभीते के लिए यहाँ उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

जिस राकेश कर को यहाँ रामचरित कहा गया है वह राका : पूर्णमासी की रात : रामभक्ति है। राकेश स्वयं रामनाम है। रामजी के अन्य नाम तारागण हैं। ये सब भक्त के हृदयरूपी आकाश में बसते हैं। यथा : राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम। अपर नाम उडगन सरिस, बसहु भगत उर व्योम। राकेश : पूर्णमासी के चन्द्र : तभी होते हैं, जब सोलह कलाओं से पूर्ण हों।

जिस भाँति चन्द्र की प्रत्येक कला कुमुद और चकोर के लिए विशेष हितकारिणी और लाभदायिनी है उसी भाँति नामचन्द्र की कलाएँ अर्थात् रामचरित के कथानक सज्जनरूपी कुमुद और चकोर के लिए विशेष हितकारिणी और लाभ-

दायिनी हैं। अमृता मानदा पूषा पुष्टिस्तुष्टी रतिर्धृतिः। शशिनी चन्द्रिका कान्ति-ज्योत्स्ना श्री प्रीतिरङ्गदा। पूर्णा-पूर्णामृता चैव विज्ञेयाः शशिनः कला। ये ही चन्द्र की सोलह कलाओं के नाम हैं। इनका मिलान नामचन्द्र की सोलहों कलाओं से नीचे दिया जाता है।

चन्द्रकला	नाम चन्द्रकला
१. अमृता	निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी।।
२. मानदा	बुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलिकलुष विभंजनि।।
३. पूषा	राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहँ अरनी।।
४. पुष्टि	राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई।।
५. तुष्टि	सोइ वसुधा तल सुधा तरंगिनि। भव भेषज भ्रमभेक भुअंगिनि।।
६. रति	असुर सेन सम नरक निकंदनि। साधु विवुध कुल हित गिरिनंदिनि।।
७. धृति	संत समाज पयोधि रमासी।
८. शशिनि	विश्व भारभर अचल छमासी।
९. चन्द्रिका	जमगन मुह मसि जग जमुनासी।
१०. कान्ति	जीवन मुक्ति हेतु जिमि कासी।
११. ज्योत्स्ना	रामहि प्रिय पावन तुलसी सी।
१२. श्री	तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।
१३. प्रीति	सिव प्रिय मेकल सैल सुतासी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी।
१४. अङ्गदा	सदगुन सुरगन अंब अदिति सी।
१५. पूर्णा	रघुपति भगति प्रेम परमिति सी।
१६. पूर्णामृता	राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह वन, सिय रघुवीर विहारु।।

इस भाँति रामनाम राकेश की सोलहों कलाओं की फलश्रुति श्रीग्रन्थकार ने कही। अब रह गई रामजी के दूसरे नामों की बात जो तारागण से उपमित हैं। जिस भाँति तारागणों से आकाश भरा पड़ा है उसी भाँति रामजी के नामों से रामचरित मानस भरा पड़ा है। परमेश्वर के सभी नाम गौण हैं अर्थात् गुणसूचक हैं। उन सब नामों के अर्थ हैं। जिस भाँति आकाश में ताराओं के गुच्छे हैं जिन्हें नक्षत्र कहते हैं उनकी : अभिजित को मिलाकर : अट्ठाईस संख्या शास्त्रों में कही है। उसी भाँति रामचरितमानस में अट्ठाईस स्तुतियाँ अर्थात् गुणग्राम हैं जिनकी फलश्रुतियाँ ग्रन्थ में दी गई हैं। इतना ही नहीं उन नक्षत्रों में जितने तारे चमकते हैं जैसा उनका आकार है, इत्यादिक बातों का भी आभास उन स्तुतियों में पाया जाता है। यह उनकी व्याख्या के समय दिखाया जायगा। यहाँ पर इतना ही दिखाया जाता है कि किस स्तुति को कौनसा नक्षत्र माना गया है।

संख्या	स्तुति	नक्षत्र	फलश्रुति
१.	ब्रह्मकृत	अश्विनी	जग मंगल गुन ग्राम राम के।
२.	कौसल्याकृत	भरणी	दानि मुकुति धन धर्म धाम के।।

संख्या	स्तुति	नक्षत्र	फलश्रुति
३.	अहल्याकृत	कृत्तिका	सदगुरु ज्ञान विराग जोग के।
४.	परशुरामकृत	रोहिणी	विवुध वैद भव भीमरोग के ॥
५.	सुनयनाकृत	मृगशिरा	जननि : सियराम प्रेम के : ।
६.	जनककृत	आर्द्रा	जनक सियराम प्रेम के।
७.	भरद्वाजकृत	पुनर्वसु	बीज सकल व्रत धर्म नेम के ॥
८.	वाल्मीकिकृत	पुष्य	समन पाप संताप सोक के।
९.	अत्रिकृत	अश्लेषा	प्रियपालक परलोक लोक के ॥
१०.	शरभङ्गकृत	मघा	सचिव : भूपति विचार के : ।
११.	सुतीक्ष्णकृत	पूर्वा फाल्गुनी	सुभट भूपति विचार के ॥
१२.	अगस्त्यकृत	उत्तरा फाल्गुनी	कुंभज लोभ उदधि अपार के।
१३.	जटायुकृत	हस्त	काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जनमन वन के ॥
१४.	हनुमत्कृत	चित्रा	अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।
१५.	विभीषणकृत	स्वाती	कामद घन दारिद दवारि के ॥
१६.	वेदकृत	विशाखा	मंत्र महा मनि विषय व्याल के।
१७.	ब्रह्मदेवकृत	अनुराधा	मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥
१८.	इन्द्रकृत	ज्येष्ठा	हरन मोह तम दिनकर कर से।
१९.	शङ्करकृत	मूल	सेवक सालिपाल जलधर से ॥
२०.	देवकृत	पूर्वाषाढ़	अभिमत दानि देव तरुवर से।
२१.	शङ्करकृत	उत्तराषाढ़	सेवत सुलभ सुखद हरिहर से ॥
२२.	पुरवासीकृत	अभिजित	सुकवि सरद नभ मन उडगन से।
२३.	सनकादिकृत	श्रवण	रामभगत जन जीवन धन से ॥
२४.	नारदकृत	धनिष्ठा	सकल सुकृत फल भूरि भोग से।
२५.	भुसुण्डिकृत	शत तारक	जगहित निरुपधि साधु लोग से ॥
२६.	विप्रकृत	पूर्वा भाद्रपद	सेवक मन मानस मराल से।
२७.	भुसुण्डिकृत	उत्तराभाद्रपद	पावन गंग तरंग भाल से ॥
२८.	तुलसीदासकृत	रेवती	कपट कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड। दहन राम गुनग्राम जिमि इन्धन अनल प्रचंड ॥

निर्गलितार्थ यह है कि जिस भाँति मानसरोवर पूर्णमासी की रात्रि को सोलह कलायुक्त चन्द्र, नक्षत्र, तारामण्डल से युक्त होकर अपार शोभा को धारण करता है उसी भाँति यह रामचरित सर भी भक्तिरूपी पूर्णमासी की रात्रि में सोलह कलायुक्त रामनाम गुणग्रामों तथा अपार नामों के साथ अपार शोभा को प्राप्त होता है। जिसका अनुभव भक्त का हृदय ही कर सकता है। यहाँ लीला वर्णन समाप्त हुआ।

कीन्ह प्रस्न जेहिं भाँति भवानी। जेहिं विधि संकर कहा बखानी ॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा प्रबंध विचित्र बनाई ॥१॥

अर्थ : जिस भाँति भवानी ने प्रश्न किया और जिस विधि से शङ्करजी ने बखान किया वह सब कारण मैं विचित्र कथा प्रसङ्ग बनाकर विस्तार से कहूँगा।

व्याख्या : प्रश्न में भाँति है और उत्तर में विधि है और प्रश्न करने का कारण है। जिस भाँति सुश्रूषा, विनय और आर्तिपूर्वक भवानी ने प्रश्न किया और शङ्करजी ने जिस विधि से दो दण्ड तक ध्यान में रामचरित्र का साक्षात्कार करके इष्ट देवता के प्रणतिपूर्वक प्रस्ताव क्रम से उत्तर दिया और इस भाँति संवाद होने का जो कारण हुआ, इन सब बातों को विस्तार पूर्वक कहने का श्रीग्रन्थकार संकल्प करते हैं। साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि कथाप्रबन्ध को विचित्र बनाकर कहूँगा। वस्तुतः ग्रन्थ में प्रबन्ध की विचित्रता है। चार कल्प के रामावतार की कथा एक साथ कही जा रही है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस बात का पता चलता है। प्रधान कथा तो ब्रह्म के रामावतार की है, पर साथ ही साथ क्षीरशायी भगवान् और विष्णु भगवान् के रामावतार की कथाएँ हैं। जहाँ जहाँ भेद पड़ा है वहाँ कथा में भी भेद दिखला दिया है। ऐसी विचित्रता अन्य ग्रन्थों में नहीं पाई जाती।

जेहिं यह कथा सुनी नहि होई। जनि आचरज करैं सुनि सोई ॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहि आचरज करहिं अस जानी ॥२॥

अर्थ : जिसने यह कथा न सुनी हो वह इसे सुनकर आश्चर्य न करे। जो अलौकिक कथा ज्ञानी सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते।

व्याख्या : इस ग्रन्थ में रहस्यादि : अलौकिक ऐसी कथाएँ हैं जिनसे सर्व-साधारण के परिचित न होने की भी सम्भावना है। अतः वे आश्चर्य न करें, क्योंकि ज्ञानी आश्चर्य नहीं करते। वे जानते हैं कि 'नहि सर्वः सर्वं वेत्ति' सबलोग सब बात नहीं जानते। अतर्क्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। जो बातें तर्क की विषय नहीं उनमें तर्क करना उचित नहीं है : अज्ञानी ही, अभिमान से उन सब बातों को मानने से इनकार करते हैं जो उनकी समझ के बाहर हैं!

नई बात के सुनने से आश्चर्य होना स्वाभाविक है। पर रामकथा के लिए यह नियम नहीं है। जिस भाँति गूलर के फल के कीड़े उस फल के बाहर की बात नहीं जानते और न उसमें उनका तर्क चलता है। उसी भाँति मनुष्य भी मर्त्यलोक के बाहर की बात नहीं जानते और तद्विषयक उनका तर्क वास्तविकता से बहुत दूर चला जाता है। यथा : उमरि तरु विसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहि आना।

रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्हके मन माहीं ॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा ॥३॥

अर्थ : रामजी की कथा की सीमा जगत् में नहीं है। उनके मनमें ऐसा विश्वास

रहता है। रामजी के नाना अवतार हुए हैं तथा रामायण सौ करोड़ हैं और अपार हैं।

व्याख्या : रामजी के चरित्र का अन्त नहीं। कितने चरित्र ऐसे हुए जिनका पता न दशरथ, कौसल्या को लगा न भाइयों को लगा, दूसरों की कौन चलावे। अतः इनके चरित्र अपार हैं। यदि एक ही रामावतार हुआ होता तब तो यह भी प्रश्न उठ सकता था कि एक रामायण को कथा दूसरे से क्यों नहीं मिलती ? यहाँ तो प्रत्येक कल्प में रामावतार होता है और उन अवतारों के चरित सर्वथा समान नहीं होते। अनन्त कोटि कल्प बीत गये। सबमें रामावतार हुआ। सबमें कुछ न कुछ भिन्नता थी। सबका वर्णन ऋषियों ने रामायण बनाकर किया। इसलिए असंख्य रामायण हैं।

कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥४॥

अर्थ : रामजी के सुन्दर चरित कल्पभेद से अनेक भाँति मुनीश्वरों ने गान किया है। यह बात हृदय में लाकर संशय न कीजिये। कथा को आदरपूर्वक भक्ति से सुनिये।

व्याख्या : किसी कल्प की कथा वाल्मीकि ने कही, किसी को व्यास ने कही, किसी की मार्कण्डेय ने कही। अतः कथाओं में भेद पड़ना स्वाभाविक है। अठारह पुराण व्यासकृत हैं और सबमें श्रीरामकथाएँ हैं और सब भिन्न हैं। क्योंकि सब पुराणों में भिन्न कल्पों[1] की कथाएँ हैं। अतः कथाभेद के विषय में संशय करना बड़ी भारी भूल है। संशय करने से मूल प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कथा के प्रति आदर या प्रेम नहीं रह जाता। अतः श्रोता का अकल्याण होता है।

दो. राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिनके विमल विचार॥३३॥

अर्थ : रामजी अनन्त हैं। उनके गुण अनन्त हैं। उनकी कथा का विस्तार अपार है। जिनके निर्मल विचार हैं वे सुनकर आश्चर्य न मानेंगे।

व्याख्या : रामजी देशतः अनन्त हैं। यथा : कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।

---

[1] वराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः। श्वेतकल्पप्रङ्गेन धर्मान् वायुरथाब्रवीत्॥
यत्राह नारदो धर्मान् बृहत् कल्पाश्रयाणि च। इत्यादि।

विष्णु पुराण में वाराह कल्प की, वायुपुराण में श्वेत कल्पकी, नारद पुराण में बृहत् कल्प की कथाएँ हैं। इत्यादि। ब्रह्मदेव के एक दिन को कल्प कहते हैं। वह एक सहस्र चतुर्युगियों का होता है। उसके बाद प्रलय हो जाता है। उतने दिनों तक प्रलय रहता है। फिर सृष्टि होती है। दूसरा कल्प आरम्भ होता है। एक ब्रह्मदेव का काल ३६००० कल्प का होता है। सब कल्पों में रामावतार होता है। इस भाँति अगणित ब्रह्मदेव हुए और होंगे। अतः राम कथा की मिति नहीं है।

कालतः अनन्त हैं। यथा : काल व्याल कर भक्षक जोई। वस्तुतः अनन्त हैं। यथा : दिखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड। गुण अनन्त हैं। यथा : जल सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति गुन नहि बरनि सिराही। अमित कथा विस्तार है। यथा : श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जे गावहीं। सत सेष, सारद, निगम कवि तेउ तदपि पार न पावहीं।

अतः विचारशील आश्चर्य न करेंगे। नहि आचरज करहि अस जानी से उपक्रम और सुनि आचरज न मानिहैं जिनके विमल विचार से उपसंहार किया।

एहि विधि सब संसय करि दूरी। सिरधरि गुरपद पंकज धूरी॥
पुनि सबहीं विनवौं करजोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥१॥

अर्थ : इस भाँति सब सन्देहों को दूर करके और गुरुजी के चरण कमल की धूलि को सिर पर रखकर फिर हाथ जोड़कर सबकी विनती करता हूँ जिससे कथा की रचना में कोई दोष न लगे।

व्याख्या : करिय न संशय अस उरआनी से उपक्रम करके एहि विधि सब संसय करि दूरी से उपसंहार करते हैं। संशय दूर करने की विधि ऊपर लिख आये हैं। पदपंकजरज का बाह्य उपयोग तीन प्रकार से होता है। १. सिर पर रक्खा जाता है। २. हृदय में लगाया जाता है और ३. आँख में लगाया जाता है। यथा : रज सिर धरिहिय नयनन्हि लावहिं। रघुपति मिलन सरिस सुख पावहिं। सो ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ करते ही गुरुपदरज को नेत्रों में लगाकर विवेक विलोचन को निर्मल किया। यथा : तेहि करि विमल विवेक विलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन। तब समष्टि की वन्दना करने लगे। वन्दना समाप्त होने पर कथा आरम्भ करने के पहिले गुणगणों को वश में करने के लिए उस धूलि को सिर पर रक्खा : यथा सिर धरि गुर पद पंकज धूरी। अयोध्या काण्ड के आरम्भ में हृदय में लागावेंगे।

व्यष्टि जीव और समष्टि ईश्वर है। अतः तीसरी बार समष्टि की वन्दना करते हैं। एक बार कर चुके हैं : समुझि विविध-विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइय खोरी। अब फिर वैसी ही विनय कर रहे हैं। दूसरी बात यह कि ग्रन्थकार ने वुधिवल के लिए सबसे प्रार्थना की है। यथा : निज वुधिवल भरोस मोहि नाहीं। ताते विनय करौं सब पाहीं। अब यदि कथा में दोष रह जाय तो दोष देखनेवाला ही दोषी है। क्योंकि ग्रन्थकार ने तो कृपा के लिए विनय की थी। उन्होंने कृपा क्यों नहीं की ?

सादर सिवहि नाइ अब माथा। वरनौं विसद रामगुन गाथा॥
संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥२॥

अर्थ : अब मैं शिवजी को आदर सहित सिर नवाकर रामजी के विमल गुणों की गाथा का वर्णन करता हूँ। हरि के चरणों में सिर रखकर मैं संवत् १६३१ में कथा की रचना करता हूँ।

व्याख्या : व्यास में वन्दना करके अब समास में वन्दना करते हैं। समास में

चार की वन्दना है। यथा १. गुरु की २. समष्टि की ३. शिव की और ४. हरि की। कथा के प्रारम्भ में आचार्य की वन्दना आवश्यक है। अतः तीसरी बार शिवजी को प्रणाम किया। यहाँ से पूर्व घाट की कथा प्रारम्भ हुई।

पहिले चरणकमल की वन्दना की थी। अब प्रारम्भ करते समय हरिके चरणों पर सिर रक्खे देते हैं। रचना का काल कहते हैं कि विक्रमीय सम्वत् १६३१ में रचना प्रारम्भ की। जब उसके उल्लेख का अवसर आया तब लिख दिया। यहाँ से पूर्व दीन : घाट की रचना में हाथ लगाया। नाम, रूप और लीला का वर्णन पहिले कर आये। अब यहाँ से धामवर्णन आरम्भ करते हैं।

नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥३॥

अर्थ : चैत्रमास, नौमी, मङ्गलवार को अवधपुरी[1] में इस चरित्र का प्रकाश किया। जिस दिन रामजी का जन्म वेद कहते हैं सारे तीर्थ वहाँ चले आते हैं।

व्याख्या : तिथि, वार, मास कहकर देश कहते हैं। भाव यह कि रामजन्म का काल और देश तथा रामचरित मानस के जन्म का काल और देश एक ही है। 'जेहि दिन राम जन्म' कहकर शुक्ल पक्ष भी कह दिया। 'नौमी भौमवार' कहने का भाव यह कि ऐसा होने से सर्वसिद्धिप्रदयोग पड़ जाता है। यथा : शनिभौमगता रिक्ता सर्वसिद्धिप्रदायिनी। श्रीरामनवमी के दिन अयोध्या का माहात्म्य और भी अधिक हो जाता है क्योंकि उस दिन सभी काशी, प्रयागादि तीर्थ वहाँ आजाते हैं। देशकाल की उत्तमता कहकर, अब वातावरण कहते हैं।

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा ॥
जनम महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना ॥४॥

अर्थ : उस दिन : असुर, नाग, पक्षी, मुनि और देवता आकर रघुनायक की सेवा करते हैं। सुजान लोग रामजी के जन्म का महोत्सव करते हैं और उनकी सुन्दर कीर्ति का गान करते हैं।

व्याख्या : रामजी के सभी उपासक वहाँ रामनौमी को जुट जाते हैं। देवता असुर आदि अदृश्य रूप से आकर रामजी की सेवा करते हैं और सुजान : मनुष्य : तो जन्म महोत्सव मनाते हैं और सुन्दर-कीर्ति का गान करते हैं।

दो. मज्जहिं सज्जन वृन्द बहु, पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर ॥३४॥

अर्थ : सज्जनों के झुण्ड के झुण्ड पवित्र सरयू नदी के जल में स्नान करते हैं और सुन्दर श्याम शरीर का हृदय में ध्यान करके रामजी का जप करते हैं।

व्याख्या : खल कदाचित् ही कोई सज्जनसङ्ग में पड़कर चला जाता हो नहीं

---

[1] तिथिर्धन्या च नवमी यस्यां जातो हरिः स्वयम्। नवमी तिथि धन्य है, जिसमें स्वयं हरि का अवतार है। ऋतूनां कुसुमाकरः, ऋतुओं में वसन्त धन्य है।

तो प्रायेण नहीं जाते। सज्जन लोग पावन सरयू नीर में मज्जन करते हैं। जा मज्जन ते विनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं वासा। मनसा वाचा कर्मणा रामोपासना वहाँ होती है। 'मज्जन' से कर्मणा, 'जपहिं' से वाचा, 'धरिध्यान उर' से मनसा कहा। जानकीजी की चरचा नहीं की क्योंकि उसदिन 'बालभाव' की उपास्ना की प्रधानता है।

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह वेद पुराना ॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकै सारदा विमल मति ॥१॥

अर्थ : वेदपुराण कहते हैं कि दर्शन, स्पर्श, मज्जन और पान पाप हरण करता है। यह नदी पवित्र है। इसकी महिमा अत्यन्त असीम है। निर्मल बुद्धिवाली सरस्वती भी नहीं कह सकती।

व्याख्या : दूर से दर्शन करते ही पाप भागता है। निकट आने पर स्पर्श, प्रवेश करके मज्जन तत्पश्चात् आचमन। यही विधान है। इनमें से एक-एक पापनाशक हैं। यहाँ वेदपुराण का प्रमाण देते हैं क्योंकि वे ही अदृष्टार्थ ज्ञापक हैं।

नदी पुनीत और भी हैं। यथा : नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तपबल आनी। सुरसरि धार नाम मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि। पर अति अमित महिमा इसी की है। स्वर्ग लोक की वक्ता सारदा नहीं कह सकतीं। वाग्देवता ही नहीं कह सकतीं। अतः सर्वथा अकथनीय महिमा है।

राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त विदित अति पावनि ॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥२॥

अर्थ : यह सुहावनी पुरी रामजी के धाम को देनेवाली है। सभी लोकों में प्रसिद्ध अति पवित्र है। जगत् में चार प्रकार के जीव हैं। जिनका पारावार नहीं पर अवध में शरीर छोड़ने से संसार फिर नहीं होता है।

व्याख्या : राम वचन। यथा : मम धामदा पुरी सुखरासी। सुखराशि होने से 'सोहावनि' कहा। लोक समस्त विदित अति पावनि। यथा : जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेदपुरान विदित जग जाना। अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोऊ कोऊ। अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू।

मोक्षदायिनी सातों पुरियों में प्रथम है। अतः 'अवध तजे तनु नहिं संसारा' कहते हैं।

सबविधि पुरी[१] मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी ॥
विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥३॥

---

[१] रामस्य नाम रूपञ्च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥

अर्थ : रामजी का नाम, रूप, लीला और परात्पर धाम चारों नित्य हैं। सच्चिदानन्द की मूर्ति हैं।

अर्थ : सब भाँति से पुरी को मनोहर, सब सिद्धियों की देनेवाली और मङ्गल की खानि जानकर निर्मल कथा का मैंने आरम्भ किया है। जिसके सुनने से काम, मद और दम्भ दूर हो जाते हैं।

व्याख्या : पुरी के मनोहर होने की सब विधि कह चुके हैं। मोक्ष की विधि कही कि पुरी में शरीर छोड़ने से होता है। सिद्धि की विधि कहते हैं कि माँगने से मिलती है। मङ्गल की विधि कहते हैं कि अवध पुरी में उसकी खानि है। भक्ति की विधि कहते हैं : कवनेउ जनम अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई। यहाँ तक धाम का वर्णन किया।

श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम चारों सच्चिदानन्द रूप हैं। यहाँ धाम का वर्णन समाप्त करते हैं। शेष तीन का वर्णन पीछे हो चुका है।

अवधपुरी विमल है। यथा : लोक समस्त विदित अति पावनि। सरयू विमल हैं। यथा : नदी पुनीत अमित महिमा अति। समय विमल है। यथा : जेहि दिन रामजन्म श्रुति गावहिं। अतः ऐसे विमल संयोग में विमल कथा का प्रारम्भ किया। कथा की रचना पहिले ही करके उस दिन 'अथ' और 'इति' नहीं लिख दिया। कथा ऐसी निर्मल है कि तदनुसार आचरण तो दूर की बात है उसके श्रवण मात्र से काम, मद और दम्भ का नाश हो जाता है।

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा॥
मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ येहि सर परई॥४॥

अर्थ : इसका नाम रामचरितमानस है। जिसे कानों से सुनने से विश्राम मिलता है। मनरूपी हाथी विषयरूपी दावानल में जल रहा है। यदि इस सरोवर में आ पड़े तो सुखी हो जाता है।

व्याख्या : सुनत नसाहिं काम मद दंभा : कहकर दोषापनयन कहा। अब गुणाधान कहते हैं कि कानसे सुनते ही विश्राम मिल जाता है। उदाहरण देते हैं कि जैसे हाथी दावानल में फँस गया हो, महा विकल होकर इधर उधर दौड़ने पर भी शरण कहीं न मिलती हो, प्राणसंकट उपस्थित हो उस समय यदि सरोवर मिल जाय तो उसमें प्रवेश करके वह सुखी हो जाता है। इसी भाँति यह मन विषय वन के दावानल में जल रहा है। कहीं शरण नहीं है। वह यदि इस रामचरितमानस में जा पड़े तो सुखी हो जाता है। इसलिए इसका नाम 'रामचरितमानस' है।

रामचरितमानस मुनिभावन। विरचेउ संभु सुहावन पावन॥
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥५॥

अर्थ : मुनियों को प्रिय, पवित्र और सुहावने रामचरितमानस को शिवजी ने रचा। यह तीनों प्रकार के दोष, दुःख और दरिद्रता को नष्ट करनेवाला है। कलि के कुचाल और सब पापों का नाश करता है।

व्याख्या : यह रामचरित सर मुनियों को मनभावन है, खल को नहीं। उसे तो 'जातइ नीद जुड़ाई होई' और 'जौ बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि

ताहि बुझावा। सर में दोष नहीं, यह तो देवखात है। महादेवजी का बनाया है। अतः इसके सुहावन पावन होने में सन्देह को स्थान नहीं है।

दोष, दुःख और दारिद्रय को तीन प्रकार का माना। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। दोष होने से ही दुःख होता है। दोष कारण है, दुःख कार्य है। अभावरूप दारिद्रय सब दुःखों से बड़ा है। धनाभाव आधिभौतिक दारिद्रय है। पुण्याभाव आधिदैविक दारिद्रय है। ज्ञानाभाव आध्यात्मिक दारिद्रय है। यह रामचरितमानस वनाग्नि के समान इनका नाश करनेवाला है। यह 'सुहावन' पद की व्याख्या है।

कलि की कुचालि। यथा : भए लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म। और सब पापों का रामचरितमानस नाश करता है। यथा : करहिं पाप दुख पावहिं।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवासन भाखा॥
तातें रामचरितमानस वर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥६॥

अर्थ : इसे रचकर महादेवजी ने अपने मन में रक्खा और सुअवसर पाकर भवानी से कहा। इसीसे हर : शिवजी : ने सोच समझकर और प्रसन्न होकर इसका नाम श्रेष्ठ रामचरित्तमानस रक्खा।

व्याख्या : महादेवजी ने बनाया तो सही पर अपने मनमें ही रहने दिया। किसी से कहा नहीं। सुसमय पाकर अर्थात् जब उमा कथा सुनने के लिए आर्त हुईं, उन्हें कथा सुनने की उत्कट इच्छा हुई, तब उनसे कहा। सतीस्वरूप में नहीं कहा।

जब कथा कहनी पड़ी तो उसका कुछ नाम भी चाहिए। अतः विचारने पर यह बात मन में आई कि यह कथा मानससर सी सुहावन पावन है। मानससर में और इनमें गुणसाम्य भी यथेष्ट है। अतः नाम अच्छा मिल जाने से प्रसन्न होकर इसका नाम 'रामचरितमानस' रक्खा।

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥७॥

अर्थ : उसी सुहाई और सुख देनेवाली कथा को मैं कहता हूँ। सज्जनो! आदर पूर्वक मन लगाकर इसे सुनो।

व्याख्या : हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। हित भी हो और मनका हरण करनेवाला भी हो, ऐसा वचन दुर्लभ है। सो यह पूरी की पूरी कथा हित और मनोहारी है। इसलिए 'सुखद सुहाई' कहते हैं। श्रीग्रन्थकार के : दीन : घाट के श्रोता सुजन हैं। क्योंकि उनको इसे सुनकर सुख होता है। यथा : पइहहिं सुख मुनि सुजन जन, खल करिहहिं उपहास। यथार्थ फल प्राप्ति के लिए सावधान करते हैं कि आदर के साथ मन लगाकर सुनो। यह कथा बहुत बड़े महान् लोगों का प्रसाद है। अतः आदर के साथ ग्रहण करो और यह बड़ी हितकारिणी है, इससे मन लगाओ।

१. मानससर प्रसङ्ग

दो. जस मानस जेहि विधि भयेउ, जगप्रचार जेहि हेतु ।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब, सुमिरि उमा वृषकेतु ॥३५॥

अर्थ : यह मानस जैसा है जिस विधि से हुआ और जिस कारण से जगत् में इसका प्रचार हुआ अब वही सब प्रसङ्ग उमा वृषकेतु को स्मरण करके कहता हूँ ।

व्याख्या : १. मानस का मानचित्र खींचने, उसके बनने की विधि वर्णन करने और संसार में उसके प्रचार का कारण बतलाने का ग्रन्थकार संकल्प करते हैं। संकल्प भगवत्स्मरण पूर्वक होना चाहिए। इसलिए उमा वृषकेतु का स्मरण करते हैं। क्योंकि उमा प्रणवरूपा है। उमा का नाम प्रणव के अक्षरों से ही बना हुआ है : उ+म+अ=उमा। चतुष्पाद धर्म ही वृष है। ऐसा वृष है केतु : पताका जिसका, उस सत् रूप ब्रह्म को वृषकेतु कहते हैं। इस भाँति संकल्प के पहिले ॐतत्सत्[1] का 'उमा-वृषकेतु' के रूप में स्मरण करते हैं, जिसमें सबका अधिकार है। दूसरा कारण उमा-वृषकेतु के स्मरण का यह भी है कि उमा और वृषकेतु ही इस रामचरितमानस के प्रथम श्रोता और वक्ता हैं। उन्हीं से इसकी परम्परा चली है।

संभुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी ॥
करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहुँ सुधारी ॥१॥

अर्थ : शिवजी की कृपा से हृदय में सुमति उल्लसित हुई और तुलसी रामचरितमानस का कवि हुआ। बुद्धि के अनुसार मनोहर बनाता है। सुजन जन सुन्दर चित्त से सुनकर सुधार लें।

व्याख्या : पहिले सुमति का बड़ा घाटा था, मति संसार में निरत थी। यथा : कहँ मति मोरि निरत संसारा। मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी। निज बुधि बल भरोस नहि मोरे। इसलिए अपने को कवि नहीं मानते थे। यथा : कवि न होउँ नहि चतुर कहावों। कवित विवेक एक नहि मोरे। अब शङ्कर के प्रसाद से सुमति उल्लसित हुई है। अतः स्वयं अपने को कह रहे हैं : रामचरितमानस कवि तुलसी।

रामजी का नाम मनोहर है। यथा : आखर मधुर मनोहर दोऊ ॥
रामजी का रूप मनोहर है। यथा : राजकुँअर तेहि अवसर आए।
मनहु मनोहरता तन छाए ॥
रामजी की लीला मनोहर है। यथा : परम मनोहर चरित अपारा।
करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥

---

[1] ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।
ओम्, तत्, सत्, यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश है। पूर्व काल में इस तीन प्रकार के नाम से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ का विधान किया गया है।

रामजी का धाम मनोहर है। यथा : सब विधि पुरी मनोहर जानी।
सकल सिद्धि प्रद मंगलखानी ॥

अतः इनकी कथा भी मनोहर होनी चाहिए सो मैं मति अनुसार मनोहर कर रहा हूँ : इसे सुजन प्रसन्न मन होकर सुनें और मनोहरता में जहाँ त्रुटि हो वहाँ सुधार लें। यथा : सो सुधारि हरि तन जिमि लेही। दलि दुख दोष विमल जस देहीं।

सुमति[1] भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू ॥
वरषहिं राम सुजस वर वारी। मधुर मनोहर मंगल कारी ॥२॥

अर्थ : सुमति भूमिका है। हृदय गहरा स्थान है। वेद, पुराण समुद्र हैं। साधु बादल हैं। वे रामजी के सुयशरूपी मधुर मनोहर मङ्गलकारी जल की वर्षा करते हैं।

व्याख्या : तो सुमति भूमिका की प्राप्ति शम्भुप्रसाद से हो गई। उसी के कारण हृदय में भी गहराई आगई। अब वर्षा हो तो भरकर तालाब हो जाय। सो चार वेद बड़े बड़े चारों समुद्र हैं। अठारह पुराण छोटे समुद्र हैं। जल का परमेश्वरी भण्डार समुद्र है। पर वह खारा है, सबके लिए उपयोगी नहीं है। उसके अधिकारी मेघ हैं। उन्हीं में यह सामर्थ्य है कि उसमें से प्राणियों के उपयोगी अंश को ले लेवें। खारे जल को मीठा करके बरसें। इसी प्रकार वेद, पुराणों में सब कुछ भरा है। सो साधुओं में ही यह सामर्थ्य है कि उसमें से रामयश तथा भक्ति को पृथक् करके ले लेवें। और संसार में उसकी वर्षा कर दें। यथा : सुजस पुरान निगम आगमवद। जासु सुजस त्रैलोक उजागर : रामचरित अमृतवत् मीठा है। यथा : श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुवीर। श्रवन पुटनि मन पान करि नहि अघात मति धीर। भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम चारो मंगलमय हैं।

नाम मंगलमय है। यथा : भाव कुभाव अनख आलसहूँ।
राम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
रूप मंगलमय है। यथा : मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सो दसरथ अजिर विहारी ॥
लीला मंगलमय है। यथा : मंगल करनि कलिमल हरनि,
तुलसी कथा रघुनाथ की।
धाम मंगलमय है। यथा : सब विधि पुरी मनोहर जानी।
सकल सिद्धि प्रद मंगलखानी ॥

यहाँ सुयश वारि के तीन गुण कहे। १. मधुर २. मनोहर ३. मंगलकारी।

लीला सगुन जो कहहिं वखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी ॥
प्रेम भगति जो वरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतल ताई ॥३॥

---

[1] १. आठ दोहों में 'मानस प्रसङ्ग' कहा गया है, इस पर 'भाव प्रकाशिका' नाम की वृहत् टीका प्रकाशित हो चुकी है। अतः यहाँ संक्षेप से टीका की जाती है।

अर्थ : सगुण लीला जो बखान करते हैं वही स्वच्छता मल की हानि करती हैं। प्रेम और भक्ति जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही मिठास तथा सुन्दर तरावट है।

व्याख्या : तीनों गुणों में से पहिले मनोहरता कहते हैं। जल की स्वच्छता ही मनोहरता है। साधु लोग सगुण लीला को बखानकर कहते हैं, वही स्वच्छता है। रामजी की लीला दो प्रकार की होती है, एक निर्गुण लीला, दूसरी सगुण लीला। निर्गुण लीला यथा : लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया। सगुण लीला यथा : कपि सेन संग संहारि निसिचर रामसीतहि आनि हैं। त्रैलोक पावन सुजस सुरमुनि नारदादि बखानि हैं।

उस सगुण लीला से मल की हानि होती है। सबकी उपकारिण नहीं होने से निर्गुण लीला बखानकर नहीं कहते। इसीलिए वर्षा के जल में गहराई नहीं के बराबर रहती है। बूँद बूँद बरसता है। क्योंकि गहराई तो निर्गुण महिमा में है। यथा : रघुपति महिमा अगुन अवाधा। वरनव सोइ वर बारि अगाधा। मानस सरोवर का जल बाहर का मल दूर करता है। पर यह जल भीतर का मल दूर करता है।

इस जल में प्रेम मधुरता है और भक्ति शीतलता है। जल के चार गुण कहे गये हैं : निर्मलता इक जानिये पुनि शीतलता मान। मधुर सुवासित चारगुन जल के प्रकट बखान। सो वर्षा के जल में सुगन्ध नहीं होती, तीन ही गुण होते हैं। यहाँ मधुरता के साथ शीतलता भी कहा। अब मङ्गलकारित्व कहेंगे।

सो जल सुकृत सालि हित होई। रामभगत जन जीवन सोई ॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन ॥४॥

अर्थ : वह जल सुकृतरूपी धान के लिए हितकारी है। वही रामजी के भक्तों का जीवन है। वह पवित्र और सोहावन जल मेधा : धारण शक्ति : रूपी पृथ्वी पर पड़कर और सिमिटकर कानरूपी मार्ग से : भीतर : चला।

व्याख्या : वह वर्षा का जल पुण्यरूपी धान को बड़ा लाभ पहुँचाता है। दूसरे जल से धान वैसा सुख नहीं मानता। अर्थात् रामयश की वर्षा में ही पुण्य की रात दिन बढोत्तरी होती है। यदि साधु द्वारा रामयश का श्रवण न हुआ तो कितना ही सुकृत हो, वह सूख जाता है। क्योंकि सुकृतरूपी धान के पौधों को रामयश की बड़ी प्यास होती है। यदि प्यास न हुई तो समझना चाहिए कि वह पुण्य शालि नहीं है कोई दूसरी घास है। वही जल रामभक्तों का जीवन है। यथा : राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिनके कछु नाहीं। सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।

उसी वर्षा के जल से धान भी होता है और उसी से जलाशय भी भर जाते हैं। जो जल ढालुएँ स्थल पर पड़ता है वह सिमिटकर नाली द्वारा जलाशय में पहुँचता है। उसी भाँति यह रामसुयश जल मेधा : धारण शक्ति : रूपी ढालुएँ स्थल पर पड़कर श्रवण मार्ग से सिमिटकर भीतर जाता है।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥५॥

अर्थ : सुन्दर मानस भर उठा और सुन्दर स्थल पाकर थिराया। सुखद, शीत रुचिवाला सुन्दर और पुराना हुआ : पक गया।

व्याख्या : गुरुजी के उपदेश द्वारा पहिले ही से मानस सजल था। यथा : तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझपरी कछु मति अनुसारा। अब साधुओं की रामयश वर्षा से भर उठा। पहिले मेधामहिगत होने से ढावर हो गया था। यथा : भूमि परत भा ढावर पानी। अब सुथल पाकर थिराया। पहिले नया पानी दुःखद और गरम था। अब सुखद हुआ, शीतरुचि हुआ : आश्विन में पुराना और कार्तिक में चिराना हुआ। इसी भाँति सुयश, नागपाश वन्धन, सीता विरह, रावण वधादि चरित्रों से ढावर हो गया था। फिर शिव, भुसुण्डि, याज्ञवल्क्यादि के उत्तरों से निर्मल हुआ। विरहाभास के निश्चय से सुखद, क्रोधाभास के निश्चय से शीतरुचि और वन्धनाभास के निश्चय से चिराना : पक्का हुआ। अथवा मनन, निदिध्यासन से उपर्युक्त गुणयुक्त हुआ।

दो. सुठि सुंदर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ॥३६॥

अर्थ : बुद्धि से विचारकर अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठ संवादों की रचना की। वे ही इस सुन्दर और पवित्र सरोवर में चार मनोहर घाट हैं।

व्याख्या : मानस तो पूर्ववक्ताओं का भी वना, पर घाट न बाँधने से दुर्गम रहा। यथा : यत् पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्। अतः बुद्धि से विचारकर चार घाट बाँधा। जिसमें स्नान करनेवालों को सुभीता हो। सब प्रकार के अधिकारियों के लिए उपयोगी हो। पहिला पूर्व घाट स्वयं ग्रन्थकार का है, जिसके वे वक्ता हैं और उनका मन या सुजन श्रोता हैं। यह दीनघाट या गोघाट है। यथा : दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं वाजि गज ठाटा। यहाँ लँगड़े लूले सभी पानी पी सकते हैं। इसका दीनघाट होना स्पष्ट है। ग्रन्थकार अपने लिए कहते हैं : अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी। इत्यादि।

दूसरा घाट भारद्वाज और याज्ञवल्क्य संवाद दक्षिण ओर बँधा हैं। यह कर्म घाट है : मज्जहिं तहाँ वर्ण चारिउ नर। इसमें शङ्कर भवानी पूजन आदि कर्म कहकर तब कथा कहेंगे। तीसरा पश्चिम घाट भवानी शङ्कर सम्वाद है। इसे ज्ञान घाट कहते हैं। यहाँ 'झूठेहु सत्य जाहिं बिनु जाने' इत्यादि ज्ञान निरूपण करके तब कथा कही। इसे राजघाट भी कहते हैं। चौथा उत्तर घाट, पनिघट या उपासना घाट है। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना। यहाँ न कर्म कहा, न ज्ञान कहा, न दीनता कही, पहिले ही कथा कहना प्रारम्भ कर दिया। तीन संवाद वालकाण्ड में दिखलाये और चौथा उत्तर में दिखलाकर, इसे पनिघट की भाँति अलग होना सूचित किया।

पहिले कहा था : जस मानस जेहिं विधि भयउ। सो 'जेहिं विधि भयउ' का ही वर्णन पहिले किया। अब 'जस मानस' का वर्णन करेंगे।

घाट	समय	देश	वक्ता	श्रोता	भाषा
पूर्व	रामनौमी	अयोध्या	गोस्वामीजी	सुजन, मन	प्राकृत
दक्षिण	फाल्गुन	प्रयागराज	याज्ञवल्क्य	भरद्वाज	संस्कृत
पश्चिम	अनियत	कैलास	शिवजी	उमा	संस्कृत
उत्तर	अनियत	नीलगिरि	भुसुण्डि	गरुड़	पक्षी भाषा

कहीं वक्ता श्रोता के यहाँ और कहीं श्रोता वक्ता के यहाँ। इसका नियम नहीं है। मणि, माणिक्य मुक्तामय होने से ये घाट मनोहर हैं।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरषत मन माना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। वरनव सोइ वर वारि अगाधा॥१॥

अर्थ : सातों प्रबन्ध सात सीढ़ियाँ : फलकों की पक्तियाँ हैं। जिनको ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देखने से मन प्रसन्न हो जाता है। मैं रामजी की निर्गुण और अगाध महिमा वर्णन करूँगा। वही जल की गहराई है।

व्याख्या : ये सातों प्रबन्ध रामभक्ति की सात सीढ़ियाँ अर्थात् सात मार्ग हैं। यथा : एहि महँ सुभग सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना। भक्ति को छोड़कर मुक्ति कहीं रह नहीं सकती। यथा : जिमि थल जल विनु रह न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई। तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति विहाई। सो ये सातों प्रबन्ध सातों पुरियों की भाँति मोक्ष प्रापक हैं। इन्हें यदि ज्ञान की आँखों से देखें तो मन सन्तुष्ट हो जाता है।

छप्पय : वालकाण्ड है अवध, अवध मथुरा मन भावन।
हरद्वार आरण्य, काशिका किष्किन्धा भन॥
काञ्ची सुन्दर लसत लङ्क उज्जैन सुहावन।
उत्तर द्वारावती पुरी सातों मन भावन॥
लसत जहाँ सोपान प्रति ऐसो रामचरित्र सर।
विजयानँद सेवत सुलभ सव सुखकर सब पापहर॥

वालकाण्ड : अवध, अवधवासी, सरयू, रामनवमी आदि का माहात्म्य इसमें वर्णन है, इसलिए बालकाण्ड को अयोध्या कहा। अयोध्याकाण्ड : इसमें रामजी के वनवास का वर्णन है। श्रीकृष्णजी की विरह कथा की समता से इसे मथुरा कहा। आरण्यकाण्ड : माया के बाहुल्य से इसे मायापुरी : हरद्वार कहा। किष्किन्धाकाण्ड : राममन्त्र के जप से काशी में ही शिवजी को रामजी मिले, यहाँ हनुमान् जी को मिले, इसलिए किष्किन्धा को काशी कहा। सुन्दरकाण्ड : काञ्ची दो हैं : शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची। सुन्दरकाण्ड में भी दो भाग हैं, हनुमच्चरित और रामचरित, इसलिए इसे काञ्ची कहा। लंकाकाण्ड : लंका और उज्जैन दोनों के निरंश देश होने से तथा महाकालेश्वर : रुद्र की प्रधानता से लंका को उज्जैन : अवन्तिका कहा। उत्तरकाण्ड : इस काण्ड में रामजी ने राज्य किया। द्वारका में कृष्णजी ने किया। इसलिए उत्तर को द्वारका माना।

कुछ महात्माओं का यह मत है कि बालकाण्ड में श्रीसीताजी का रामजी से संयोग हुआ, यही सांख्यशास्त्र है। अयोध्याकाण्ड विराग है। आरण्यकाण्ड मीमांसा, किष्किन्धाकाण्ड योगशास्त्र, सुन्दरकाण्ड न्यायशास्त्र और उत्तरकाण्ड साम्राज्य शास्त्र हैं। ये बातें ज्ञाननयन से देखी जा सकती हैं, तब मन मान जाता है। बालकाण्ड में प्रकृति, पुरुष का संयोग वर्णन है, इसलिए इसे किसी भाँति सांख्यशास्त्र से सम्बद्ध कह सकते हैं। अयोध्या में वैराग्य का निरूपण स्पष्ट है। लङ्काकाण्ड को वेदान्त कहना भी अध्यात्मदृष्टि से बन जाता है। उत्तरकाण्ड को भी साम्राज्यशास्त्र कहने में आपत्ति नहीं है। परन्तु आरण्य को मीमांसा, किष्किन्धा को योग और सुन्दरकाण्ड को न्यायशास्त्र कहने का कोई आधार नहीं मिलता। अन्त और आदि का मिलना ही दबाव हैं। यथा : १. आए व्याहि राम घर जबते और जबते राम व्याहि घर आए। २. भरतचरित करि नेम जे सप्रेम गावहिं सुनहिं तथा पुरनर भरत प्रीति मैं गाई। ३. बैठे अनुज सहित रघुराया तथा आगे चले बहुरि रघुराया। ४. जामवन्त कह सुनु हनुमाना। जामवन्त के वचन सोहाए। ५. निज भवन गवनेउ सिंधु तथा सिंधु वचन सुनि राम। ६. प्रभु हनुमंतहि कहैउ बुझाइ। तथा विप्ररूप धरि पवनसुत आइगये जनु पोत। इन छवों को दबाव कहिये या फर्स कहिये। सब सीढ़ियाँ जल से पूरित हैं। मानसर का दर्शन नेत्र से होता है और रामचरितमानस का दर्शन ज्ञाननेत्र से होता है। रघुपति की गुणातीत महिमा का बाध नहीं होता। सत् का किसी अवस्था में बाध नहीं हो सकता। इस महिमा का थाह नहीं क्योंकि थाह तो गुणों से मिलता है। परन्तु इस महिमा में गुण नहीं। इसलिए अथाह है। यथा : अस रघुपति महिमा अवगाहा। तात कवहुँ कोउ पाव कि थाहा। गुणातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतर जामी। थाह तो सगुण महिमा का भी नहीं है पर, राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन। इत्यादि कहकर कुछ दिग्दर्शन कराया जा सकता है। पर निर्गुण महिमा में उतना भी अवकाश नहीं है। साधु मेघ ने जो राम सुयश वारि की वर्षा की थी उसमें गहराई बहुत कम थी। अब वह जल जब मानस में इकट्ठा हुआ तो बड़ी गहराई आगई। निर्गुण महिमा का आधिक्य बहुत बढ़ गया।

रामसीय जस सलिल सुधासम। उपमा वीचि विलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई॥२॥

अर्थ : रामजी और सीताजी का यश ही अमृत के समान जल है। उपमा सुन्दर तरंगों का विलास : कार्य वर्ग है। सुन्दर चौपाइयाँ सघन पुरइन : कमल का पत्ता है। युक्तियाँ सुन्दर मणिवाली मनोहर सीपियाँ हैं।

व्याख्या : रामजी और सीताजी के यश का मेल है। वही मिठास है जो अमृत तुल्य है। पहिले कह आये हैं कि रामचरित मधुर है। अब 'सीययश' के साथ योग होने से वह माधुर्य अमृत तुल्य हो गया। यथा : गावहिं छवि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम उर मेली। रामजी ने सीता का यश कहा। यथा : कंकन किंकिनि

नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन मन राम हृदय गुनि । इत्यादि । सीताजी ने राम यश कहा । यथा : सोभा सीव सुभग दोउ बीरा । इत्यादि । कहीं 'वीचि' पाठ न होकर 'वीच' पाठ है । वहाँ अर्थ करना पड़ेगा कि वीच वीच में जो उपमा है वही जल का विलास है । यहाँ उपमा अलङ्कार मात्र का उपलक्षण है ।

उस मानस में पुरइन सघन है । इसमें चारु चौपाइयाँ सघन हैं । वहाँ पुरइन के कारण जल नहीं दिखाई पड़ता, पुरइन हटाई जाय तो जल दिखाई पड़े । यथा : पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म । यहाँ चौपाई के शब्दों को अलग करे अर्थात् ध्यान दे तब राम सुयशरूपी जल दिखाई पड़े । युक्ति मणि सीप है । उसमें मुक्ता फल छिपा है । मुक्ता फल रामजी के गुणगण हैं । यथा : जस तुम्हार मानस विमल हंसिनि जीहा जासु । मुक्ता हल गुनगन चुनइ राम वसहु हिय तासु । युक्ति उपाय को कहते हैं । जो सिद्धि उपाय से होती है, वह पराक्रम से नहीं होती । श्रीरामचरितमानस में उपाय : युक्ति की उपमा मोतीवाली सीपी से दी गई है । जो उपाय काम में लाये गये हैं, उनसे जो गुणगण प्रकट होते हैं, वे ही मोती कहे गये हैं । यथा : रावणवध के लिए युक्ति सरस्वती जी ने की । नाम मंथरा मंदमती चेरी कैकै केरि । अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि । यह भी सरस्वतीजी ने रामजी का रुख पाकर किया । यथा : तब कछु कीन्ह रामरुख जानी । इससे महाराज दशरथ के पूर्वजन्म के वरदान की पूर्ति हुई । यथा : मम जीवनमिति तुमहि अधीना । साधुओं के लिए प्रेमामृत प्रकट हुआ । यथा : प्रेम अमिअ मंदर विरह भरत पयोधि गँभीर । मथि प्रकटेउ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुबीर । और जगत् का कल्याण हुआ । इस भाँति सभी युक्तियों में गुणगण निहित हैं । ये युक्तियाँ सुन्दर हैं । इसलिए 'सोहाई' कहा । इसी भाँति वालि वध, जानकी परित्यागादि युक्तियों में गुणगण छिपे हुए हैं ।

छंद सोरठा सुन्दर दोहा । सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा ॥
अरथ[1] अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥३॥

अर्थ : छन्द सोरठा और सुन्दर दोहे हैं, वे बहुरंग के शोभित कमल के फूल हैं अनुपम अर्थ, सुन्दर भाव । और सुन्दर भाषा ही : क्रम से : पराग : फूलों की धूलि, मकरन्द : पुष्परस और सुगन्ध हैं ।

व्याख्या : श्वेत, लाल, नील और पीत, चार रङ्ग के कमल होते हैं । सात्त्विक श्वेत, राजस लाल, तामस नील और गुणातीत : छन्द, सोरठा, दोहा : को पीत कहा है ।

सात्त्विक यथा : लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली ।
राजस यथा : हरित मनिन के पत्रफल पदुमराग के फूल ।
तामस यथा : कोपे समर श्रीराम । चले विसिख निसित निकाम ।
गुणातीत यथा : जयरामरूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही ।

---

[1] १. यहाँ यथासंख्यालङ्कार है ।

कमल के कुल का हिसाब दलों की संख्या से है। यथा अष्टदल : कमल : नमामि भक्तवत्सलं। वीसदल : नमामीसमीसान निर्वानरूपं। सोलह दल : जयराम रमारमनं समनं। वत्तीस दल : परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही। इत्यादि।

जैसे पुरइन से कमल निकलता है उसी भाँति चौपाई से छन्द, सोरठा, दोहा निकलते हैं। यथा : सो वर मिलिहि जाहि मनरांचा। यह पुरइन है। इससे कमल निकला 'मन जाहि रांच्यौ मिलिहि सो वरु सहज सुंदर सांवरो।

जैसे कमल में पराग स्पष्ट है। मकरन्द अन्तर्गत है। केवल भौंरे को ही प्राप्त होता है। सुवास दूर तक पहुँचता है। उसी भाँति अर्थ स्पष्ट रहता है। भाव अन्तर्गत रहता है। सुकृतपुंज को ही मिलता है। और सुभाषा का प्रसार दूर तक होता है। अर्थ और भाव दूर रहे, केवल पदावली के श्रवण मात्र से मन मोहित होता है। तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया। पादनिक्षेपमात्रेण यया न हरते मनः।

क्या कविता क्या कामिनी दोनों एक समान।
चरन धरत ही मन हरैं तौ कीजिये बखान॥

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अर्थों की उपस्थिति ही अनूपता है।

सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेव कवित गुनजाती। मीन मनोहर ते चहुभाँती॥४॥

अर्थ : पुण्य के समूह ही सुन्दर भौंरों के झुण्ड हैं। ज्ञान, विराग और विचार हंस हैं। ध्वनि, अवरेव तथा कविता के गुण और जाति, चार भाँति की मनोहर मछलियाँ हैं।

व्याख्या : उस कमल के रस की प्राप्ति तो सुकृतपुञ्ज भौंरों को ही होती है। पराग और सुगन्ध के तो अधिकारी अनेक हैं। इसी भाँति भाव का आस्वादन तो सुकृतपुञ्ज ही करते हैं, अर्थ और भाषा के अधिकारी तो वहुत लोग हैं। ज्ञान राजहंस, विराग कलहंस और विचार हंस है। यथा : सखी संग लै कुँअरि तव चलि जनु राज मराल। बोलहिं जलकुक्कुट कलहंसा। क्षीर नीर विवरन गति हंसी। धुनि : वर्ण अर्थ ते अधिक कछु उपजावै जौ बात। ध्वन्यात्मक सो कहत हैं, जिनकी मति अवदात। यथा : पुनि आउब एहि विरिआं काली। अर्थात् इस समय चलो।

अवरेव : अवर+इव=अवरेव। अवर के ऐसा होना अर्थात् उत्तम न होना। जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्तम नहीं होता उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। उसे ही यहाँ अवरेव कहा है। काव्य के दो ही भेद हैं १. ध्वनि और २. गुणीभूत व्यंग्य। अतः अवरेव से यहाँ गुणीभूत व्यंग्य ही अभिप्रेत है।

कुछ लोग अवरेव की परिभाषा इस भाँति करते हैं : अन्त को अच्छर आदि धरि, मध्य को अन्त लगाय। या क्रम से जो कीजिये, सो अवरेव कहाय। यथा : राम कथा कलिपन्नग भरनी। यह कथन अवरेव से हुआ। जव अन्त का 'भरनी' शव्द आदि में रख दिया : भरनी राम कथा कलिपन्नग : तव ऐसा रूप

हो जाने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वे इसी अवरेव को 'वामी' मछली कहते हैं। यह मुख और पूँछ मिलाकर चलती है। परन्तु इतने फटाटोप की क्या आवश्यकता है, यह तो सीधे-सीधे अन्वय है।

कोई इसे कपड़े के काट के आधार पर वक्रोक्ति कहते हैं। परन्तु ध्वनि के साहचर्य से इसे गुणीभूत व्यंग्य कहना ही अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है।

माधुर्य, ओज और प्रसाद ये कविता के तीन गुण हैं। केशव कवि ने कविता की चार जाति भी बतलाई हैं। १. कौशिकी २. भारती ३. आरभटी और ४. सात्तिकी। कहिये केसोदास जहँ करुना हाँस सिङ्गार। सरस करन सुभ भाव जहँ सो कौसिकी विचार। वरनिय जामहँ वीर रस भय अरु अद्भुत हास। कह केसव सुभ अर्थ जहँ सो भारती प्रकास। केसव जा कहँ वीररस अरु वीभत्सक जान। आरभटी प्रारंभ यह पद पद जमक बखान। अद्भुत रुद्र सुवीररस समरस करत बखान। सुनतहि समुझत भाव मन सो सात्तकी बखान। इन धुनि, अवरेव, गुण और जाति को चार भाँति की मछली बतलाया है। अन्यत्र भी मछली की चार जाति ही कही हैं। यथा : बुधि बल सील सत्य सब मीना। आचार्यों ने उन मछलियों का नाम गिनाया है : पहिना, वामी, सिधरी और चेल्हवा। इनमें ध्वनि स्थानीय पहिना है। यह मछली बड़ी होती है और शीघ्र पकड़ में नहीं आती। अवरेव वामी मछली है। मुख पूँछ का आकार एक सा होता है। व्यंग्य मुख्यार्थ से अधिक न होने से मेल खा जाता है : इसलिए अवरेव को वामी कहा। गुण सिधरी मछली है। छोटी होती है। गोल बाँधकर चलती है। इसी भाँति गुण में विशेष अक्षर के समूहों से काम लिया जाता है। जाति चेल्हवा मछली है। पृथक् रहती है और चमकती है। इसी भाँति जाति में रस की चमक है और धर्मविशेष के भिन्न होने से ही जाति संज्ञा है।

धुनि, अवरेव, गुण और जाति को मछली इसलिए कहा कि इनका सञ्चार सर से बाहर नहीं है और इनसे सर की शोभा है।

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान विग्यान विचारी॥
नवरस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥५॥

अर्थ : अर्थ, धर्म, कामादिक चारों को और ज्ञान विज्ञान को विचारकर कहेंगे : तथा : नवरस जप, योग और वैराग्य ये सब सुन्दर तड़ाग के जलचर हैं।

व्याख्या : नौ रस अथ शृङ्गार अरु हास्य करुण अरु वीर। अद्भुत रुद्र विभत्स भय शान्ति कहैं कवि धीर। यहाँ ज्ञान से परोक्षज्ञान, विज्ञान से अपरोक्षज्ञान और वैराग्य से परम वैराग्य कहा। क्योंकि इसी रूपक में ऊपर ज्ञान, विराग और विचार को मराल कह आये हैं। इन जलचरों के फेर में नहीं पड़ना। ये चोट कर बैठते हैं। भक्ति और आनन्द के बाधक हैं।

कामादिक से मोक्ष का भी ग्रहण है। काम के वर्ग में मोक्ष को रखने का यह अभिप्राय है कि काम और मोक्ष साध्य हैं। अर्थ और धर्म साधन हैं। यहाँ भक्तिशास्त्र में मोक्ष से भी सावधान रहना पड़ता है। यह तो मगर है, निगल ही जायगा,

आत्मसात् कर लेगा। यथा : सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहँ रामभगति निज देहीं। यहाँ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, ज्ञान, विज्ञान, नवरस, जप, तप, योग और विराग सभी का वर्णन है। परिचय सभी से रखना होगा, परन्तु इनके वश में आने से सदा सावधान रहना पड़ेगा। क्योंकि : रीझत राम सनेह निसोते[1]। यहाँ तो एक मात्र ध्येय राम को रिझाना है। वह भक्ति के अतिरिक्त दूसरे उपाय से सम्भव नहीं है।

सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते विचित्र जल विहग समाना॥
संत सभा चहुँदिसि अँवराई। श्रद्धा रितु वसंत सम गाई॥६॥

अर्थ : सुकृती का गुणगान, साधु गुणगान और नाम गुणगान ये चित्र विचित्र जलपक्षी हैं। और सन्त सभा ही सरोवर के चारों ओर लगी हुई आम की वाटिका है और श्रद्धा को बसन्तऋतु करके वर्णन किया गया है।

व्याख्या : सुकृती गुणगान। यथा : सुकृती तुम समान जगमाहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं। साधु गुणगान। यथा : सुजन समान सकल गुनखानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी। इत्यादि। नाम गुणगान। यथा : बंदौ नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को। इत्यादि। ये विचित्र जलपक्षी चक्रवाक, वक, जलकुक्कुट आदि हैं। इसी सरोवर में रहते हैं। कभी बाहर भी विचरण करते हैं। पर जल से दूर नहीं जाते।

तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है। १. तद्गत २. तल्लीन और ३. तदाश्रय। सो पुरइन का जलाशय से तद्गत सम्बन्ध है। मछलियों का तल्लीन सम्बन्ध है। वृक्षों का तदाश्रय सम्बन्ध है। सन्तसभा मानस के चारों ओर की आम की वारी है। मानस को कभी नहीं छोड़ती। उससे मानस की शोभा है और मानस उसका आश्रय है। श्रद्धारूपी वसन्त में अमराई : आम वारी फलती फूलती है। यहाँ सदा वसन्त रहता है। जहाँ मानस तैयार हुआ वहाँ यह साज आपसे आप जुट जाता है। मछली, कछुआ, पुरइन को कोई बुलाने नहीं जाता।

भगति निरूपन विविध विधाना। छमा दया द्रुमलता विताना॥
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रस वर वेद बखाना॥७॥

अर्थ : भक्ति निरूपण के अनेक विधान, क्षमा दया पेड़ के लतामण्डप हैं। शम, यम और नियम फूल हैं। ज्ञान फल है और हरि का चरण ही श्रेष्ठ रस है। ऐसा वेदने वर्णन किया है।

व्याख्या : १. रामजी द्वारा, वाल्मीकि द्वारा, भुसुण्डि द्वारा अनेक विधान से भक्ति निरूपण है। २. असह्य बातको सामर्थ्य रहते सह लेना क्षमा है। ३. अनुकम्पा को दया कहते हैं। ये लताओं के मण्डप हैं। इन लताओं ने सन्तविटप को परिवेष्ठित कर रक्खा है। ४. भीतर की वृत्तियों को रोकना शम है। ५. अहिंसा, सत्य, अस्तेय

---

[1] अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा। भक्तिरसामृतसिन्धु।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। ६. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान पाँच नियम हैं। ये फूल हैं, जिनसे लतामण्डप की शोभा है और ज्ञान फल है। यह सोपास्ति ज्ञान है, क्योंकि इसका श्रेष्ठ रस हरिपद है। यथा : रसो वै सः। 'पदरति रस' ऐसा पाठ मानने से अर्थ करना होगा कि हरिचरणों की प्रीति ही रस है।

औरो कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु वरन विहंगा ॥८॥

अर्थ : और भी अनेक प्रसङ्ग की कथाएँ हैं। वे ही तोते, कोकिल आदि अनेक रंग के पक्षी हैं।

व्याख्या : ये मानस रस के पक्षी नहीं हैं। वाहर से आते हैं। फलफूल खा पीकर चले जाते हैं। यथा : सुधि करि अंबरीष दुर्वासा। तनय ययातिहि यौवन दयऊ। इत्यादि। कुछ के वक्ता शुक : व्यासपुत्र हैं। कुछ के पिक वाल्मीकि हैं। यथा : वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्। कुछ के वहुरंग विहंग व्यासादि हैं। व्यास आदि कविवर्य वखानी। कागभुसुंडि गरुड़ के ही की।

दो. पुलक वाटिका वागवन, सुख सुविहंग विहारु।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु ॥३७॥

अर्थ : रोमाञ्च ही वाटिका, वाग और वन है। वहाँ सुखरूपी सुन्दर पक्षी बिहार करते हैं। सुन्दर मनरूपी माली स्नेहरूपी जल से सुन्दर नेत्रों द्वारा उसे सींचता है।

व्याख्या : भक्ति का पुलक वाटिका : फुलवारी है। जल की नित्य आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान का पुलक वाग : फलदार वृक्ष का समूह। यथा : चला नाइ सिर वैठेउ वागा है। आठवें सातवें दिन जल चाहिए। कर्म का पुलक वन है, जल का मिलना दैवाधीन है। इनसे जो सुख है सो सुविहंग हैं। ये यहीं बसते हैं। यहाँ कुविहंग नहीं बसते। वहाँ देवता की ओर से माली हैं। वे ही सींचते हैं। यहाँ वशीकृत मन माली हैं। वह स्नेहजल से नेत्ररूपी घट द्वारा सींचा करता है।

जे गावहिं[1] यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर वर मानस अधिकारी ॥१॥

अर्थ : जो लोग इस चरित्त को सँभालकर गाते हैं, वे ही इस तालाव के चतुर रखवाले हैं। जो नर नारी इसे सदा आदरपूर्वक सुनते हैं, वे ही मानस के अधिकारी श्रेष्ठ देवता हैं।

व्याख्या : इस चरित के गान करनेवाले व्यासों पर वड़ा भार : जिम्मेदारी है, क्योंकि वे ही रखवाले हैं। पनघट में पुरुष न जाने पावें और पुरुषों के घाटपर स्त्री स्नान न करें। कोई गन्दी वस्तु जल में न पड़ने पावे, यह काम रखवाले का है। इसी भाँती साधन भक्ति से ज्ञानप्राप्ति तथा साधन भक्ति से सिद्धि भक्ति प्राप्त करने के रास्ते भिन्न भिन्न हैं। अतः श्रोताओं को वरावर अपने अपने मार्ग से चलने

---

[1] मुद्रालङ्कार है।

के लिए सचेत करना, चरित्रगान करनेवाले : व्यासों का काम है। तथा जैसा प्राचीन पाठ है उसमें उलट पलट न होने पावे, अर्थ का अनर्थ न होने पावे, इस बात पर स्वयं ध्यान रखें, और दूसरों को ऐसा करने से रोकें। इन सब बातों का सँभाल रखना भी उन्हीं का काम है। इसीलिए 'चतुर रखवाले' कहा।

'आदर के साथ जो नर नारी नियमपूर्वक नित्य सुनते हैं, वे उसी भाँति रामचरित के अधिकारी हैं जिस भाँति देवगण मानससरोवर के अधिकारी हैं। भाव यह कि यहाँ श्रोता का पद वक्ता से बड़ा है। वक्ता रखवाला है और श्रोता अधिकारी हैं। श्रोताओं की कुरुचि से वक्ता बिगड़ जाते हैं और श्रोताओं की सुरुचि से वक्ताओं में सुधार होते देखा गया है।

अति[1] खल जे विषई वक कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय कथा रस नाना॥२॥

अर्थ : जो अत्यन्त खल और विषयी वक काग हैं, वे अभागे उस सर के निकट नहीं जाते। यहाँ घोंघे, मेढक और सेवार के समान विषय कथा तथा नाना रस नहीं हैं।

व्याख्या : दाम्भिक होने से वक अति खल हैं। वे ध्यान नाट्य करते हुए हिंसा करते हैं। काग विषयी हैं। यथा : वायस पलिअहि अति अनुरागा। कबहुँ निरामिष होहि कि कागा। इनसे विषय छूट नहीं सकता। वे इस सर : तालाब के निकट नहीं जाते। न जाने में अभाग कारण है। पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।

विषय कथा को घोंघा, मेढक कहा और नाना रस को सेवार कहा। सेवार में सूक्ष्म कीट होते हैं। वक, काग इनके भक्षक हैं। विषयियों को विषय कथा श्रवण में विषय का मानसिक आस्वादन होता है। इसलिए उन्हें विषयकथा प्रिय है। उसके सुनने के लिए वे लालायित रहते हैं। नाना रसनिरूपण में भी विषय रस का सूक्ष्म आस्वादन होता है, अतः वह भी प्रिय है। रामचरित में यदि नाना रस भी आये हैं, तो वे भी भक्ति से मिश्रित है। अतः विषयी जीवों के काम के नहीं। अतः वे रामकथा के निकट नहीं आते। उन्हें जंन्म-मरणरूपी संसार में वहुत भटकना है। इसलिए उन्हें अभागा कहा।

तेहि कारन आवत हिअँ हारे। कामी काक बलाक विचारे॥
आवत एहि सर अति कठिनाई। राम कृपा विनु आइ न जाई॥३॥

अर्थ : इस कारण से हृदय से हारे हुए, यहाँ कामी काक और बेचारे बगले आते हैं। इस सर पर आने में बड़ी कठिनता है। बिना राम की कृपा के आते नहीं बनता।

व्याख्या : काक और बगले हियहारे आवत, अर्थात् विना मन के आते हैं,

---

[1] रूपक अभेद न्यून।

क्योंकि वहाँ उनको चारा नहीं मिलता, अतः उन्हें 'बे चारे' कहा। इसी भाँति अति खल और विषयी जन रामचरित के निकट हिय हारे और बे चारे होकर आते हैं, यदि चारा चले तो न आवें।

आने में भी साधारण कठिनता नहीं है, बड़े-बड़े विघ्न हैं, जिनका आगे वर्णन करेंगे। राम कृपा से विघ्न की वाधाएँ हटती हैं, तभी मनुष्य आने में समर्थ होता है। यथा : सकल विघ्न व्यापै नहिं तेही। राम सुकृपा विलोकहिं जेही।

कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके वचन बाघ हरि व्याला॥
गृह कारज नाना जंजाला। तेइ अतिदुर्गम सैल विसाला॥८३॥

अर्थ : कठिन कुसंग ही भयानक बुरा रास्ता है, उनके वचन व्याघ्र, सिंह और सर्प हैं। घर के काम और अनेक प्रकार की उलझनें, ये ही अत्यन्त दुर्गम बड़े-बड़े पर्वत हैं।

व्याख्या : सुत, दार, अगार, सखा, परिवार विलोकु महा कुसमाजहिं रे। कवित्त रा०। इन्हीं का संग कुसंग है, छूटता नहीं, इसीसे कठिन कहा। इसी की उपमा कराल पन्थ से दी, प्राण लेकर ही छोड़ता है। व्याल का अर्थ सर्प और दुष्ट हाथी भी है। कराल पन्थ में व्याघ्र, हरि और व्याल की वाधा रहती है : यहाँ पिता का वचन सिंह, भाई का वचन व्याघ्र और स्त्री-पुत्र के वचन सर्प या दुष्ट हाथी है।

गृहकार्य अर्थात् शास्त्रोक्त, घर का काज और जंजाल अर्थात् संसारी झमेला बड़ा भारी दुर्गम पहाड़ है। पहाड़ पर पगडंडी का रास्ता ऐसा भयानक होता है कि पैर रखते ही सारा शरीर डगमगाने लगता है। किसी भाँति एक पर्वत पार भी करे तो पार करने के पहिले ही दूसरा पहाड़ उससे भी ऊँचा दिखाई पड़ने लगता है। इसी भाँति गृहस्थी का कार्य किसी भाँति पूरा भी करे तो उसकी पूर्ति के पहिले ही, उससे कहीं अधिक आवश्यकीय कार्य का सूत्रपात हो जाता है।

वन वहु विषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना॥५॥

अर्थ : मोह, मद, मान बड़े विषम : वीहड़ वन हैं और नाना कुतर्क भयंकर नदी है।

व्याख्या : पहाड़ पर जाने का रास्ता चक्करदार होता है। घूमता हुआ पहाड़ पर जाता है और कहीं जो नदी पहाड़ काटकर आयी है, उसका तीर पकड़ना पड़ता है। पहाड़ पर वन ही वन है। यहाँ मोह, मद और मान को वन कहा। इसमें पड़कर मनुष्य मार्गभ्रष्ट हो जाता है और अनेक प्रकार का भय, विषाद और सन्ताप सहता है। एक एक नदी ऐसी विकट मिलती है कि उसका पार होना असाध्य व्यापार मालूम होता है। कुतर्क को नदी कहा। एक कुतर्क का पार पाना कठिन है। यहाँ तो नाना कुतर्क हैं।

यहाँ ग्रन्थकार सम्भवतः निपनिया घाटी की चढ़ाई का उल्लेख कर रहे हैं। जिसे मानस के यात्री को पार करना ही पड़ता है। ऊपर दृष्टि दीजिये तो भयङ्कर पहाड़ों की चट्टानें साक्षात् यम की भाँति डराती हैं। और नीचे अन्धकूप की भाँति

हजारों फीट गहरी खाईं। यात्री के मुख से राम का नाम निकलना कठिन हो जाता है। सिर घूमने लगता है। दृष्टि, पाँव रास्ते पर ही जमे रहते हैं।

दो. जे श्रद्धा संवल रहित, नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्हकहँ मानस अगम अति, जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥३८॥

अर्थ : जिन्हें श्रद्धारूपी राहखर्च नहीं है, न सन्तों का साथ है और रघुनाथ प्रिय नहीं हैं उन्हें मानस अत्यन्त अगम है।

व्याख्या : यात्रा के लिए तीन बातें आवश्यकीय हैं। १. पहिले तो अपने पास राह खर्च होना चाहिए। २. रास्ता दिखानेवाला चाहिए। ३. यात्रा का लक्ष्य कोई प्रिय पदार्थ चाहिए। जब यह तीनों बात एकत्रित हों तभी यात्रा सम्भव है। मानस : मानसरोवर की यात्रा में कोई सामान रास्ते में नहीं मिलता। यहाँ तक कि कुछ दूर तक लकड़ी भी नहीं मिलती। इसलिए सामान साथ चाहिए। रास्ता किसी का देखा नहीं है। वहाँ की यात्रा साधु लोग ही करते हैं। उन्हीं को रास्ता मालूम हैं। उनका साथ मिले तभी यात्रा हो सकती है। पर, इतना संकट और खतरा तो वही उठा सकता है जिसे भगवान् प्रिय हों। उन्हीं की प्राप्ति के लिए यात्रा की जाती है।

इस भाँति रामचरितमानस की कथा तक पहुँचना बड़ा कठिन है। यहाँ श्रद्धा ही संवल है। जिसे श्रद्धा नहीं वह नहीं जा सकता। सन्त का साथ हो तो वे राम कथा तक पहुँचा दें, नहीं तो नहीं पहुँच सकता। जिसे रघुनाथ प्रिय नहीं हैं वह कथा में जाकर व्यर्थ समय का अपव्यय क्यों करेगा।

वस्तुतः बड़े ही अनुभव की बात ग्रन्थकार ने कही। भगवान् की अति उत्तम कथाएँ जहाँ तहाँ होती हैं, पर कुछ ही लोग वहाँ तक पहुँच पाते हैं। दूर दूर से लोग आ जाते हैं और सन्निकट के लोग नहीं पहुँच पाते हैं।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहि नींद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा ॥१॥

अर्थ : यदि कोई मनुष्य कष्ट उठाकर वहाँ तक पहुँच भी जाय तो वहाँ जाते ही उसे नींदरूप जूड़ी घेर लेती है। उसके हृदय में जड़तारूपी जाड़ा ऐसा लगता है कि पहुँचने पर भी अभागा स्नान नहीं कर पाता।

व्याख्या : विना श्रद्धा और सन्तों के साथ के और विना रघुनाथ की प्रीति के कोई ही पहुँचता है सो भी अतिकष्ट से पर, उसे कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि उसे नींदरूपी जूड़ी : जडैया बोखार : आ जाती है। जिस भाँति जूड़ी आजाने से मानस में स्नान, आचमन नहीं हो सकता उसी भाँति नींद आजाने से कुछ कह सुन नहीं सकता। 'उरलागा' कहने का भाव यह है कि जाड़ा कलेजे में पैठ जाता है। किसी प्रकार हटता नहीं। पुरुषार्थ करने पर भी फलसिद्धि नहीं हुई। इसलिए अभागा कहा। मानस के यात्री श्रीशिवनन्दन सहायजी कैलासदर्शनकार लिखते हैं : सर्दी की प्रबलता बढ़ गई। मुझे वेहोशी आने लगी। विना यात्रा किये कोई 'जड़ता

जाड़ विषम उरलागा' नहीं लिख सकता। इसी भाँति, अभागों को रामकथा में पहुँचने पर नींद आ जाती है। कितना भी पार्श्ववर्ती लोग सावधान करते हैं, पर वह नींद टूटती ही नहीं।

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना ॥
जौं वहोरि कोउ पूछन आवा। सरनिंदा करि ताहि बुझावा ॥२॥

अर्थ : उससे उस सर में न तो स्नान किया जाता है और न जल ही पीया जाता है। वह अभिमान के साथ लौट आता है। यदि फिर कोई उससे पूछने आता है तो सरोवर की निन्दा करके उसे समझा-बुझा लेता है।

व्याख्या : रामचरित कहना मज्जन है और सुनना पान है। यथा : मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविवेका। सो वह न तो रामचरित के विषय में कोई चरचा कर सकता है और न उसका श्रवण ही कर सकता है, जाना एकदम निष्फल हुआ। वह अभिमान लिये हुए लौट आता है। यदि कथाश्रवण किये होता तो अभिमान खोकर लौटता। यदि मज्जन पान किये होता तो उस सरोवर में निन्दाबुद्धि न होती। घरपर शोर हो जाता है कि अमुक व्यक्ति मानससर की यात्रा करके लौटा है। तीर्थ करके लौटे हुए लोगों के चरण स्पर्श करने आलिङ्गन करने में लोग पुण्य मानते हैं। लोग उत्कण्ठा से भी तीर्थ का वर्णन सुनने आते हैं, तो वह मानससर की निन्दा करके उन्हें इस भाँति समझा-बुझा देता है कि फिर वे मानससर का नाम न लें। यथा :

क. मानसर मानसर सोर चहुँओर सुन्यौ, पंडित वखानैं मानसर अतिनीको है।
देखो तो पखान सूनसान सो मसान जैसो, मारग अगम वेग विषम नदी को है ॥
मनमें उचाट, वाट श्रमते शिथिल गात, तीरथ नहि जुलुम जवाल यह जीको है।
लीजिये न नाम काम कीजिये आपनों जाय, ऊँची है दुकान पकवान तहँ फीको है ॥
पग पग मगवीच मीचही दिखाई देत, नाकदम आवै निशिदिन दुख झेलते।
गाजपरै ऐसे देश जहँ सुख लेश नहीं, जूड़ी चढै आँखिन तुषार गिरि देखते ॥
शूल उठै सिर में प्रचण्ड हिय हूल उठै, कूलते कराल उठै वात अंग वेधते।
मानस तलैया से तलैया भली गांवहीं की, कूदि कै कलैया छोटे छैया जहाँ खेलते ॥

सकल बिघ्न व्यापहि नहि तेही। राम सुकृपा विलोकहि जेही ॥
गोइ सादर सर मज्जनु करई। महा घोर त्रयताप न जरई ॥३॥

अर्थ : ये सम्पूर्ण विघ्न उसे नहीं व्यापते जिसे रामजी सुन्दर कृपा की दृष्टि से देखते हैं। वही आदरपूर्वक उस सरोवर में स्नान करता है और महा भयंकर तीनों प्रकार के तापों से नहीं जलता।

व्याख्या : अब अधिकारी कहते हैं। विघ्न तो होते ही हैं पर उसे नहीं व्यापते। आज भी मानससर की कठिनाई का वे ही सामना कर सकते हैं जिन पर रामजी की कृपा हो। 'पंछी पग ध्यान मुख राम राम' की कहावत मानस के मार्ग की कठिनाई की ही द्योतक है। इसी भाँति जिसपर रामजी की कृपा होती है वह

गृह कारज नाना जंजाल के रहते हुए भी रामकथा के श्रवण के लिए समय निकाल ही लेता है।

जिस पर रामकृपा होती है वही आदर के साथ मानससरोवर में स्नान करता है। अर्थात् आदरपूर्वक रामकथा का श्रवण करता है और महाघोर जो तीनों ताप हैं : १. आधिभौतिक २. आधिदैविक ३. आध्यात्मिक उनसे जलता नहीं। यथा : मनकरि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई। कैलासदर्शनकार लिखते हैं कि मैं दूर तक मानससरोवर के जल में चला गया। जो आनन्द मानससरोवर के स्नान से मिला वह लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। गोता लगाते ही मार्ग के सम्पूर्ण कष्ट विस्मृत हो गये। थकावट जाती रही।

सो जिस पर रामकृपा नहीं, उसका मन विषयरूपी दावानल में जला करेगा फिर भी वह मज्जन नहीं कर सकेगा। हरिकथा-श्रवण उसके भाग्य में नहीं है।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्हके रामचरन भल भाऊ॥
जो नहाइ चह एहिं सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥४॥

अर्थ : वे मनुष्य इस सरोवर को कभी नहीं छोड़ते, जिनके हृदय में रामजी के चरणों में भल : दृढ भाव है। जो इस सरोवर में स्नान करना चाहे वह जी लगाकर सत्सङ्ग करे।

व्याख्या : जितने सहृदय यात्री मानससरोवर के हैं वे सभी एक स्वर से वहाँ की अपार शोभा और अलौकिक छटा का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि वहाँ से लौटने की इच्छा नहीं होती। विरक्त महात्मा तो वहाँ रह ही जाते हैं। इसी भाँति जिन्हें रामजी के चरणों में दृढ़ अनुराग है वे रामचरित्र में ही मन को बसा देते हैं। यथा : संत सभा चहुँ दिसि अँवराई।

'कहत सुनत हरखहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। रामकथा कहने सुनने में हरखित और पुलकित होने की योग्यता विना सत् सङ्ग के नहीं होती और न विना सत्सङ्ग के रामचरित तक पहुँच ही हो सकती है। सो सत्सङ्ग भी जी लगाकर करे, बेगार टालने से काम नहीं चलेगा। सत्सङ्ग मानस सर तथा रामचरित सर दोनों के लिए उपयोगी है और सत्सङ्ग सबको सब देशमें सुलभ है।

अस मानस मानस चष चाहीं। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाहीं॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥५॥

अर्थ : ऐसे मानस को मानस के नेत्रों से देखकर और उसमें स्नान करके कवि की बुद्धि निर्मल हो गई। हृदयमें आनन्द उत्साह भर गया और प्रेम व प्रमोद का प्रवाह उमड़ आया।

व्याख्या : पहिले कहा था : जस मानस जेहि विधि भयउ, जगप्रचार जेहि हेतु। सो पहिले 'जेहि विधि भयउ' का वर्णन किया तब 'जस मानस' का निरूपण किया। अब उपसंहार करते हुए कहते हैं : अस मानस। इसके बाद 'जग प्रचार जेहि हेतु' का वर्णन करेंगे।

जव मानस वन गया तो उसे मानस नेत्र से कवि ने देखा। यही वस्तुतः रामचरित सर का मानचित्र था। बुद्धि ने उसमें प्रवेश किया, उसमें डूबाडूब हुई। बुद्धि का मल दूर हुआ। इसी वात को कवि ने कहा कि स्नान करके बुद्धि निर्मल हुई।

पहिले मानस में जो जल था, वर्षा हुई तो उमग चला। यहाँ भी गुरुजी से सुना था सो मन में था, सन्तों से सुना तो उमग चला। भीतर भीतर सव मसाला तैयार था, कलम चलने की देर थी। सो आनन्द का उछाह होते ही जो प्रेम प्रमोद का प्रवाह उमगा तो नदी की भाँति कविता वह चली। लिखना कठिन हो गया। नदी में जल भरा रहता है। कविता नदी में रामयश भरा था। नदी में प्रवाह उमगता है। यहाँ प्रेम प्रमोद उमगा। रोके न रुका।

चली सुभग कविता सरिता सो। राम विमल जस जल भरिता सो॥
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक वेद मत मंजुल कूला॥६॥

अर्थ : कविता सुन्दर नदी सी वह निकली। जिसमें रामजी का विमल यश रूपी जल भरा हुआ है। उसका नाम सरयू है जो सारे मङ्गलों का मूल है। लोकमत और वेदमत उसके दोनों सुन्दर किनारे हैं।

व्याख्या : मानस जो उमगा तो सरयू[1] नदी निकली और कवि के मानस के उमग में कवितारूपी सरयू निकली। दोनों सरयू सुमंगल मूल हैं। यथा : जा मज्जनते विनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं वासा। तथा, जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई। लोकमत दक्षिण कूल है और वेदमत वाम कूल है। दोनों सुन्दर हैं।

नदी पुनीत सुमानस नंदिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि॥७॥

अर्थ : यह पवित्र नदी मानसर की कन्या है। कलियुग के पापरूपी तृण और वृक्ष के मूल को खोद वहानेवाली है।

व्याख्या : सरयू मानस से उत्पन्न है, इसलिए मानस नन्दिनी : बेटी कहा। बेटी कुछ अंश में माँ के सदृश होती है और कुछ अंश में नहीं होती। मानस तो साठ मील के भीतर ही भीतर चारों घाटों से परिवेष्टित है। पर सरयू यद्यपि चारों घाटों के जल से ही भरी है तथापि वह और नदियों से जाकर मिली है। उसका प्रचार कई प्रान्तों में हो गया है। मानस की गहराई २६४ फीट तक हैं। पर सरयू

---

[1] कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः। ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः॥
तस्मात् सुस्राव सरसः सयोध्यामुपगूहते। सरःप्रवृता सरयू पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता॥
वा. रा.

अर्थ : हे रामजी कैलास पर्वत में ब्रह्मदेव के मन से निर्माण किया हुआ सर है। इसी से उसका नाम मानस सर है। उसी से सरयू निकली है जो अयोध्या से जा मिली है। यह पुण्यनदी है क्योंकि मानससरोवर से निकली है।

की गहराई कदाचित् ही कहीं तीस फुट हो। अतः कविता द्वारा जिस कथा का प्रचार प्रान्तों में हुआ उसमें मूल की अपेक्षा बहुत कम गहराई होना स्वाभाविक है।

क्षुद्रपाप तृण और महापाप वृक्ष हैं इन्हें कवितारूप सरयू जल से धो बहाती है। क्योंकि सरयू नदी मानसनन्दिनी है। जल से भरी है। कवितारूपी सरयू सुमानसनन्दिनी है। रामयश से भरी है।

दो. श्रोता त्रिविध समाज पुर, ग्राम नगर दुहु कूल।
संत सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल ॥३९॥

अर्थ : तीनों प्रकार के श्रोताओं का समूह ही दोनों किनारों के पुर, ग्राम और नगर हैं और सब मङ्गलों की मूलभूता सन्तों की सभा ही अनुपम अयोध्या है।

व्याख्या : तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। १. विमुक्त २. विरत और ३. विषयी। यथा : सुनहि विमुक्त, विरत अरु विषयी। लहहिं भगति, गति, संपति नई। विषयी जनों का समाज बड़ा भारी है। इसे नगर कहा। विरत बहुत कम हैं। यथा : धर्मसील कोटिन्ह महँ कोई। विषय विमुख विरागरत होई। अतः उनके समाज को ग्राम कहा। विमुक्त तो विरला ही कोई होता है। यथा : कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यग ज्ञान सकृत कोउ लहई। सो इनका समाज बहुत ही विरल है, इसलिए इसे पुर कहा। जिस भाँति सरयू के दायें बायें पुर, ग्राम, नगर बसे हैं और वे सब पावन हैं। उसी भाँति कविता सरयू के वेदप्रधान तट तथा लोकप्रधान तट पर विमुक्त, विरत और विषयी श्रोताजन का समाज है और वह सब पावन है। सरयू के तट पर अवधपुरी है। पुरी राजधानी को कहते हैं, अवधपुरी रामजी की राजधानी है। यथा : आनँद अवधि अवध रजधानी। यह पुर, ग्राम, नगर, सभी से अधिक पावनि और मङ्गलकरणि है। इसलिए इसे अनुपम कहा। इसी भाँति कवितासरयू के श्रोतावर्ग में साधुसमाज है। यह रामानुरागी समाज तीनों विमुक्त, विरत और विषयी समाज से अधिक पावन और मङ्गलमूल है। धर्म निरत पंडित विज्ञानी। जीवन्मुक्त ब्रह्म पर प्रानी। सबते सो दुर्लभ सुर राया। राम भगति रत गत मद माया। अतः रामानुरागी : साधु समाज अनुपम है। इसे पाकर रामकथा की महिमा अत्यन्त बढ़ जाती है।

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सोहावन ॥१॥

अर्थ : सुकीर्तिरूपी सरयू जाकर रामभक्तिरूपी गङ्गा से मिली। छोटे भाई के सहित रामजी का समरयश महानद सोन उसमें जा मिला।

व्याख्या : यहाँ स्वायम्भू मनु और शतरूपा का चरित्त रामभक्तिरूप है। आदि में भक्ति यथा : जनम गयउ हरि भगति विनु। मध्य में भक्ति यथा ·यान भक्ति जनु धरे सरीरा। अन्त में भक्ति यथा : दंपति उरधरि भगति कृपाला। इसलिए इसे भक्तिरूपी गंगा कहा। इसी में उत्तर से आकर सुकीर्तिरूपी सरयू मिली अर्थात् यह कविता सरित् भक्तानुग्रहयश से परिपूर्ण थी। परन्तु लक्ष्मणजी के सहित रामजी

का पावन समरयश दक्षिण से इधर आया। मारीच, सुबाहु आदि से युद्ध सिद्धाश्रम में हुआ। यह गङ्गाजी से दक्षिण पड़ता है। यह समर मुनि जी के यज्ञ की रक्षा के लिए हुआ। इसलिए पावन कहा।

शोन का अर्थ ही लाल है। लालरङ्ग सभी रंगों में उग्र है अतः शोन को समरयश कहा। यह महानद दक्षिण से आकर भक्ति गङ्गा में ही लीन हुआ।

जुगविच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुविरति विचारा ॥
त्रिविध ताप त्रासक त्रिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी ॥२॥

अर्थ : दोनों के बीच में भक्तिरूपी गङ्गा की धारा, सुन्दर विराग और विचार के सहित शोभित है। ऐसी त्रिविध ताप को भय देनेवाली त्रिमुहानी, रामस्वरूप सिन्धु के सम्मुख चली।

व्याख्या : उत्तर से भक्तानुग्रह यश से परिपूर्ण सरयू आई और दक्षिण से सानुज समरयश में पूर्ण शोन महानद आया। दोनों भक्ति गङ्गा से जो विरति विचार के साथ शोभित थीं, मिल गये। यहाँ 'होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन। हृदय वहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिन' यह विचार है, और 'वरवस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गमन वन कीन्हा।' यह विरति है। इसलिए 'सोभित सहित सुविरति विचारा।' कह रहे हैं। सरयू और सोन के गङ्गा में मिलने से तिमुहानी का रूप हो गया। यह तिमोहानी ऐसी है कि इसे देखकर तीनों ताप[1] डर जाते हैं। अब सबको लिये दिये गङ्गा समुद्र की ओर चलीं।

यहाँ रामस्वरूप ही सिन्धु है। भक्ति गङ्गा उपर्युक्त सरितों को अपने में मिलाये रामस्वरूप की ओर उन्मुख हुई। अर्थात् कवि की चित्तवृत्ति कल्याणवहा[2] हो गई।

गण्डकी नदी ही अवध की पूर्वी सीमा है। इसके बाद बोली बदल जाती है। इसलिए इस रूपक में उतने ही नदीनद परिगृहीत हैं। इनके निवासी उस भाषा को बोलते और समझते हैं जिसमें यह रामचरितमानस लिखा गया है। अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरयू और सोन तक हिन्दी भाषी संसार हैं।

मानसमूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करही ॥
विचविच कथा विचित्र विभागा। जनु सर तीर तीर वनु वागा ॥३॥

अर्थ : जिसका मूल मानस है वह सरयू, गङ्गाजी में जा मिलीं। यह सुनते ही सुजन के मन को पवित्र कर देती है। बीच बीच में जो कथाओं के विचित्र विभाग हैं वे ही नदी के तीर के वन और वाग हैं।

---

[1] आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक।

[2] चित्त नदी दोनों ओर बहती है। जब पाप की ओर बहती है तो उसे पापवहा कहते हैं। जब कल्याण की ओर उसका प्रवाह हो जाता है तो उसे कल्याणवहा कहते हैं।

व्याख्या : जिस मानससर से सरयू निकली हैं वह तो तिब्बत के पास है। परन्तु इस मानस का स्थान तो मन है। वहीं से कविता सरिता उद्भूत होकर भक्ति में जा मिली और भक्तिमय हो गई। इस बात के सुनने मात्र से सुजन का मन उसी भाँति पवित्र होता है जिस भाँति उस मानससर से निकली हुई सरयू और गङ्गा के सङ्गम पर स्नान करने से शरीर पवित्र हो जाता है।

सरयू नदी के मानससर से निकलने के बाद और गङ्गा में मिलने से पहिले तटों पर अनेक बाग और वन मिलते हैं। बाग सुखदायक होता है। यथा : बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु हरखे बन्धु समेत। और वन दुःखदायक होता है। यथा : डरपहिं धीर गहन सुधि आये।

इसी भाँति इस कवितारूपी सरयू के किनारे किनारे भी विचित्र कथा विभाग है। जो बाग और वन स्थानीय हैं। सती मोह, नारद मोह, भानु प्रताप की कथाएँ वन हैं। इनमें सती, नारद और भानुप्रताप सभी रास्ता भूल गये और कष्ट उठाया। पार्वती जन्मकथा, तपस्याकथा बाग हैं। इनमें ही सुख हुआ।

उमा महेस बिबाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती ॥
रघुबर जनम अनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई ॥४॥

अर्थ : शिव-पार्वती के विवाह के बराती ही अनेक प्रकार के असंख्य जलजीव हैं। रामचन्द्र के जन्म की आनन्द बधाई ही इस नदी के भँवर और तरंगों की मनोहरता है।

व्याख्या : जलचर बदल गये। मानस में : नरबस जपतप जोग बिरागा। ते सब जलचर : चारु तड़ागा थे। सरयूजी में उतनी गहराई नहीं है। इसलिए दूसरे प्रकार के जलचर वर्णन किये। यहाँ महादेवजी के बराती जलचर हैं। भाव यह कि महादेवजी की बरात इष्टदेवों की बारात है। 'यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान् भूतगणांश्चैव यजन्ते तामसा जनाः। सात्त्विक लोगों के इष्ट देवता हैं। वे देवताओं को पूजते हैं। राजस लोगों के इष्ट यक्षराक्षस हैं। वे इनकी पूजा करते हैं। तामस लोगों के इष्ट भूत, प्रेत हैं। वे इनकी उपासना करते हैं। इन्हें जलचर इसलिए कहा कि महादेव के बराती देव, राक्षस, यक्ष, भूत, पिशाच सभी थे। पर वे रामयश में विचरण करनेवाले थे। जलचर के वश में पड़ा हुआ पुरुष बड़ी विपत्ति में पड़ता है। अतः इनके वश में पड़ने से रामभक्ति नहीं मिल सकेगी। जन्म-मरणरूप संसार के चक्र में ही पड़े रह जायँगे। महादेवजी की बारात में देवता यथा : हिय हरखे सुरसेन निहारी। हरिहिं देखि अति भये सुखारी। राक्षस भूत प्रेत आदि यथा : संग भूत प्रेत पिशाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा : सभी थे। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्। भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और भगवान् के पूजनेवाले भगवान् को प्राप्त होते हैं।

रामजी के जन्म में जो आनन्द हुआ वह तो कवितासरिता का भँवर है और जो बधाई हुई वह तरंग है। तरंग ऊपर ले जाता है और भँवर नीचे डुबाता है।

तरंग, यथा : वृंद वृंद मिलि चलीं लोगाई । सहज सिंगार किये उठि धाई ।।
कनक कलस मंगल भरि थारा । गावत पैठहिं भूप दुआरा ।।
करि आरती नेछावरि करहीं । बारबार सिसु चरनन्हि परहीं ।।
भँवर यथा : सुमन वृष्टि आकास ते होई । ब्रह्मानंद मगन सब लोई ।।
कागभुसुंडि संग हम दोऊ । मनुज रूप जानहि नहि कोऊ ।।
परमानंद प्रेम सुख फूले । वीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ।।

दो. बालचरित चहुँ बंधु के, वनज विपुल बहु रंग ।
नृप रानी परिजन सुकृत, मधुकर वारि विहंग ।।४०।।

अर्थ : चारों भाइयों के जो बालचरित हैं वे ही रंग रंग के अनेक कमल हैं । राजा और रानी तथा कुटुम्बियों के पुण्य ही भ्रमर तथा जलपक्षी हैं ।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं कि कवियों ने सत्त्वगुण का श्वेत, रजोगुण का लाल, तमोगुण का नीला तथा गुणातीत का पीला रंग माना है । बाललीला में सभी प्रकार के चरित होते हैं, इसलिए 'वनज विपुल बहु रंग' कहा ।

राजसिक चरित : कबहूँ ससि लागत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
सात्त्विक : कबहूँ करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं ।।
तामसिक : कबहूँ रिसियाइ रहैं हठि के, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।
गुणातीत : अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मनमंदिर में विहरैं ।।

नृप और रानी के सुकृत को मधुकर कहा । मधुकर कमल का रस लेता है । उसे जूठा कर देता है । इसी भाँति राजा रानी बच्चों को चूमते चाटते है । कुटुम्बियों को जलपक्षी कहा । वे भी कमल के साथ कलोल करते हैं । परन्तु मधुकर की भाँति मकरन्द के अधिकारी नहीं हैं ।

सीय स्वयंवर कथा सुहाई । सरित सुहावनि सो छवि छाई ।।
नदी नाव पटु प्रश्न अनेका । केवट कुसल उतर सविवेका ।।१।।

अर्थ : सीताजी के स्वयंवर की जो सुन्दर कथा है, वही इस सुहावनी नदी में लाई हुई छवि है । अनेक प्रकार के उत्तम प्रश्न ही इस नदी में नाव हैं और उनके विवेकमय उत्तर ही चतुर केवट हैं ।

व्याख्या : सीयस्वयंवर कथा में राम-जानकी की छवि का वर्णन है । रामकथा सरिता में जो छवि वर्णन है वह प्रायेण इसी युगलमूर्ति का है । इसीलिए सरित सोहावनि सो छवि छाई : कहा ।

रामछवि यथा : सखि इन कोटि काम छवि जीती । यह छवि सखी पटतरिअ जाही । देखि राम छवि कोउ एक कहहीं । बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू । थके नयन रघुपति छवि देखें । मुख छवि कहि न जात मोहि पाहीं । निरखि निरखि रघुबीर छवि । नखसिख मंजु महा छवि छाए ।

सीताछवि यथा : छबि गृह दीप सिखा जनु बरई । सियमुख छवि विधु ब्याज

वखानी । जगत जननि अतुलित छवि भारी । जौं छवि सुधा पयोनिधि होई । छवि गन मध्य महाछवि जैसी ।

युगलमूर्ति छवि : भरिलोचन छवि लेहु निहारी । रामरूप अरु सिय छवि देखें । गावहि छवि अवलोकि सहेली । छवि सिंगार मनहु इकठौरी, आदि ।

पण्डित की भाँति प्रश्न करने से संक्षेप में उत्तर मिलता है और मूढ़ की भाँति प्रश्न करने से उत्तरदाता को एक एक बात अलग करके समझानी पड़ती है । अतः मूढ़ न होते हुए भी मूढ़ की भाँति प्रश्न करना । जिससे उत्तर लोकोपकारी हो । प्रश्न की पटुता है यथा : चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा । कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा । प्रश्नकर्ता के मर्म को समझकर यथार्थ उत्तर देना । यथा : प्रथमहि कहि मैं सिवचरित बूझा मर्म तुम्हार । सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार । मैं जाना तुम्हार गुनसीला । कहौं सुनहु अब रघुपति लीला : उत्तर की पटुता है ।

प्रश्न को नाव और केवट को उत्तर कहा । नाव का और केवट का साथ छूटने न पावे तभी पार मिलता है । सदा यह ध्यान रहे कि किस प्रश्न का उत्तर हो रहा है तभी बात समझ में आ सकती है नहीं तो पार न मिलेगा ।

सुनि अनुकथन परस्पर होई । पथिक समाज सोह सरि सोई ॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी । घाट सुबद्ध राम वरवानी ॥२॥

अर्थ : कथा सुन लेने पर श्रोताओं में जो परस्पर अनुकथन होता है वही मानो उस नदी का पथिक समाज शोभित है ! परशुरामजी का क्रोध घोर धारा है और रामजी की श्रेष्ठ वाणी सुदृढ़ पक्का घाट है ।

व्याख्या : अनुकथन करनेवाले ही यात्री हैं । उन्हें पार जाना है जो कथा सुनकर पुनर्विचार नहीं करते उन्हें पार जाना नहीं है । नदी की सैर करने आये हैं ।

सरयू की धारा ऐसी घोर है कि कोसों काटती चली जाती है । भृगुनाथ की रिसानी भी वैसी ही घोर है । कहते हैं : उलटौं महि जँह लहि तव राजू । रामजी की सुवाणी सुन्दर बँधा हुआ : पक्का घाट है । नव गोले गलाये गये हैं : नौ बार उत्तर दिया गया है । रिसानी की घोर धारा घूम गई । यथा : उघरे पटल परसुधर मति के ।

सानुज राम विवाह उछाहू । सो सुभ उमग सुखद सबकाहू ॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥३॥

अर्थ : भाइयों सहित रामजी के विवाहके उछाह ही इस नदी की शुभ उमंग है, जो सबको सुख देनेवाली है । कहते सुनते जो लोग पुलकित और हर्षित होते हैं वे ही पुण्यात्मा प्रसन्न मन से स्नान करनेवाले हैं ।

व्याख्या : जब नदी उमगती है, तो दूर के रहनेवालों के भी समीप पहुँच जाती है । इसी भाँति अनुजों के सहित रामजी के विवाह में जो उछाह हुआ । वह दूर दूर तक पहुँच गया । यथा : सकल भुवन भरि रहा उछाहू । जनक सुता रघुवीर विवाहू । बहुत उछाह भवन अतिथोरा । मानहु उमगि चला चहुँओरा ।

क. भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सो, लोक लखि बोलिए पुनीत रीति मारखी।
जगदम्बा जानकी जगत पितु राम भद्र, जानि जिय जोवो जोन लागै मुख कारखी॥
देखे हैं अनेक व्याह सुने हैं पुरान वेद, बूझे हैं सुजान साधु नर नारि पारखी।
ऐसे सम समधी समाज ना विराजमान, राम से न वर दुलही न सिय सारखी॥
वानी विधि गौरी हर शेषहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुण्डि बहु बारिखो।
चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद सों परदा न नारद सो पारिखो॥
तिन कही जगमें जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया को सुनैया चख चारिखो।
रमा रमारमन सुजान हनुमान कही, सीय-सी न तीय न पुरुष राम सारिखो॥

इससे सुखद सब काहू कहा।

कथा को कहते सुनते जो ऐसे आनन्द में आजाते हैं कि उन्हें रोमाञ्च हो उठता है, वे पुण्यात्मा लोग हैं। वे ही इस नदी में स्नान करनेवाले हैं। पापी को इसका स्नान दुर्लभ है। पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।

रामतिलक हित मंगल साजा। परव जोग जनु जुरे समाजा॥
काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल विपति घनेरी॥४॥

अर्थ : रामजी तिलक के लिए जो मंगल साज हुआ वही पर्व के दिन की भीड़भाड़ है। कैकेयीं की कुमति काई है। जिसके फलरूप में घोर विपत्ति पड़ी।

व्याख्या : रामतिलक पर्वयोग है। अयोध्या में पर्वयोग रामनवमी ही है। यथा : जेहि दिन राम जन्म श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं। सो उस दिन समाज जुटा। यथा : एक समय सब सहित समाजा। राजसभा रघुराज विराजा। रामजी की छब्बीसवीं वर्ष गांठ थी। दूसरे दिन पुष्य में तिलक होनेवाला था। यथा : सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु वीथिन्ह पुर चहुँ फेरा। रचहु मंजु मनि चौके चारू। कहहु बनावन वेगि बजारू। कैकेयी की कुबुद्धि काई हो गई। स्वयं चक्रवर्ती जी फिसल पड़े। रामजी को वनवास दे दिया। राजा की मृत्यु हुई। साज अमङ्गल में परिणत हो गया। यथा : भयउ कोलाहल अवध अति सुनि नृप राउरसोर। विपुल विहगवन परेउ निसि मानहु कुलिस कठोर।

दो. समन अमित उतपात सब, भरत चरित जपजाग।
कलि अघ खल अवगुन कथन, ते जलमल बक काग॥४१॥

अर्थ : असीम उत्पात की शान्ति के लिए, भरत का चरित्र ही जप यज्ञ है। कलियुग के पापों और दुष्टों के दोषों के जो वर्णन हैं, वे ही जलमल : काई के लिए बगले और कौवे हैं।

व्याख्या : अवसि चलिअ वन राम पहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह। सोक सिंधु बूडत सबहिं तुम अवलंबन दीन्ह। सब लोगों ने भरत जी को राज्य स्वीकार करने के लिए कहा। परन्तु भरत जी ने स्वीकार नहीं किया। रामजी को वन से लौटा लाने के लिए वन जाना निश्चित किया। रामजीके विरह से व्याकुल प्रजा के लिए भरत जी का मन्त्र मानों डूबते हुए को सहारा हो गया। यथा : मन्त्र सबीज सुनत

जनु जागे। रामजी के समझाने बुझाने पर लौटे भी तो रामजी से राज्य की स्वीकृति कराके उनके प्रतीक रूप से पादुका लेकर लौटे। चरन पीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के। इस भाँति भरतचरित से वे सब उत्पात उसी भाँति शान्त हुए जिस भाँति जपयज्ञ से सब आपत्तियाँ टल जाती हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है : यज्ञानां जपयज्ञोस्मि। यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ। बक काग जलमल : काई को खा जाते हैं। कुमति ही काई है। कलि के अघ और खल के अवगुण कहने से लोगों की कुमति दूर होती है। अतः कलिअघ, खल अवगुण कथन भी यहाँ उपयोगी है।

रामजी का प्रधान चरित्र अयोध्याकाण्ड तक ही है। निशाचरारि और रामराजसुख आदि का वर्णन चरित-सरित का ऋतुवर्णन मात्र है।

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥
हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू॥१॥

अर्थ : यह कीर्तिरूपिणी नदी छः ऋतुओं में सुन्दर है। समय समय पर सुहावनी और अत्यन्त पवित्र है। पार्वती और शिवजी का ब्याह हिम ऋतु है और प्रभु का जन्मोत्सव सुख देनेवाला शिशिर ऋतु है।

व्याख्या : नदियों की शोभा में ऋतुभेद से अन्तर पड़ता है परन्तु यह कीर्ति-सरित छः ऋतु में सुहावन है। दूसरी नदियाँ वर्षा काल में अपावन हो जाती हैं और यह सभी काल में अत्यन्त पवित्र है। जिस ऋतु में जैसी शोभा होनी चाहिए वैसी शोभा रहती है। ग्रन्थकार ने जिस प्रसङ्ग को जिस ऋतु से उपमित किया है उस ऋतु का धर्म भी कथा वर्णन में दरशाया है। ऋतुओं में पहले हिम ऋतु को ही माना क्योंकि वेदों में वर्ष का अन्त शरद में माना है। इसलिए शरद वर्ष का नामान्तर माना गया है और भगवान् ने मार्गशीर्ष मास को अपनी विभूति बतलाया है। हिम ऋतु में दो मास होते हैं। १. अगहन : मार्गशीर्ष और पूस : पौष। इसी भाँति इस प्रसङ्ग में दो चरित हैं। १. उमा चरित और २. शम्भु चरित। इसमें हिम : जाड़ा की प्रखरता रहती है। पार्वतीजी ने हिम की उपमा काम से, शिवजी की उपमा अग्नि से दी है। यथा : तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ। गए समीप सो अवसि नसाई। अस मन्मथ महेस की नाई। सो इस प्रसङ्गमें कामका प्रकोप दिखलाकर संसार को उसके वश में दिखलाया पर शिवजी का सामना पड़ने पर वह सशंक हो गया। यथा : सिवहिं बिलोकि ससंकेउ मारू। भयेउ यथा थिति सब संसारू। पूस के अन्त में अग्नि भी मन्द पड़े। यथा : करहिं विविध विध भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा। इत्यादि। अतः हिमशैल सुता-शिव ब्याह को हिमऋतु कहा।

प्रभु जन्म उछाह को ग्रन्थकार ने शिशिर ऋतु रूप वर्णन किया है। शिशिर ऋतु में दो मास हैं, १. माघ और २. फाल्गुन। सो प्रभु जन्म हुआ माघ और उछाह फाल्गुन हुआ।

वसन्त पञ्चमी से ही फगुआ का महोत्सव प्रारम्भ हो जाता है। उसे श्रीपञ्चमी

कहते हैं। सरस्वती का जन्मदिन माना जाता है। उसे प्रभुजन्म दिन से उममित किया। यथा : हरखित जहँ तहँ धाई दासी। आनंद मगन सकल पुरवासी। इत्यादि। प्रभु जन्मोत्सव में तो ग्रन्थकार ने पूरा फगुआ मना दिया है। गीले सूखे रङ्ग का भी वर्णन है। यथा : अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अवीर मनहु अरुनारी। मृग मद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल वीथिन्ह विचवीचा। सन्ध्या को अभिसारिका बनाकर प्रभु के पास भेजा। बूढ़े शङ्कर को भी स्वाँग बदले हुए दिखलाया। विविध ताप होली जलै खेलिअ असफाग। इस पद को सार्थक कर दिया।

बरनव राम विवाह समाजू। सो मुद मंगलमय [1]रितुराजू ॥
ग्रीषम दुसह राम वन गमनू। पंथकथा खर आतप पवनू ॥२॥

अर्थ : रामजी के विवाह के समाज का वर्णन आनन्दमङ्गलमय ऋतुराज है। रामजी का वनगमन असह्य ग्रीष्म ऋतु है और मार्ग की कथा कड़ी धूप और लू है।

व्याख्या : ऋतुराज वसन्त के दो महीने होते हैं। १. मधु चैत्र और २. माधव वैशाख। सो राजादशरथ और जनक को ही ग्रन्थकार ने मधु और माधव माना है। यथा : मधुमाधव दशरथजनक मिलव राज ऋतुराज। वारात और अगवानी के समाज को ही वसन्त की सेना माना है : डेरा कीन्ह्यौ मनहु तव कटक हटकि मनजात।

ग्रन्थकार ने वसन्त ऋतु के त्यौहारों को भी झलका दिया है। यथा : देवी पूजा, परशुराम जयन्ती, गङ्गा सप्तमी आदि।

श्रीराम वनगमन को ग्रन्थकार ने ग्रीष्म रूप से उपमित किया है। ग्रीष्म के दो मास होते हैं : १. ज्येष्ठ २. आषाढ़। जिस भाँति गरमी संसार को असह्य हो जाती है। उसी भाँति रामगमन प्रजा को असह्य हो गया। यथा : वागन विटप वेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं। सहि न सके रघुवर विरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी। इत्यादि। जो सरकार को इस अवस्था में देखता है वही दुःखी हो जाता है मानों उसे लू लग गई। आषाढ़ में पहिला पानी भी बरस जाता है, जिसे दँवगरा कहते हैं। सो पहिला संग्राम खरदूषण युद्ध भी हुआ। गुरुपूर्णिमा द्योतित करते हुए शङ्कर स्थापन भी करते हैं।

वरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥
राम राज सुख विनय बड़ाई। विसद सुखद सोइ सरद सुहाई ॥३॥

अर्थ : राक्षसों के साथ घोर लड़ाई वर्षा ऋतु है। जो देवताओं के समूह रूपी धान के लिए सुन्दर कल्याण करनेवाली है। रामजी के राज्य में सुख, विनय और बड़ाई है। वही सुख देनेवाली सुन्दर निर्मल शरद ऋतु है।

व्याख्या : निशाचररारि को ग्रन्थकार ने घोर वर्षा कहा है। वर्षा के दो महीने होते हैं। १. श्रावण और २. भाद्रपद। सो वाईस दोहों में चारों फाटक की लड़ाई

---

[1] अयुक्तस्य रिः इस सूत्र से ऋ का रि हुआ।

कुम्भकर्णवध और मेघनादवध दिखलाया गया। इस भाँति श्रावण की वर्षा समाप्त हुई। वाईस दोहों में रावण वध दिखलाया गया। यह भाद्रपद की वर्षा थी। इसमें वर्षा के नक्षत्र भी दिखलाये गये हैं। इन दृष्टियों को लेकर प्रसङ्गों के लगाने में बड़ा आनन्द आयेगा। मैंने प्रादेश मात्र दिखलाया है।

ग्रन्थकार ने रामराज्य को शरद माना है। शरद में दो मास होते हैं। १. आश्विन और कार्तिक। इस भाँति रामराज्य प्रकरण के भी दो विभाग हैं। एक राज्याभिषेक और दूसरा रामराज्य का सुख। इसमें भी व्याज से पितृपक्ष, देवपक्ष, दीपावली आदि का वर्णन किया गया है।

सती सिरोमनि सियगुन गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥
भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एक रस बरनि न जाई॥४॥

अर्थ : सतियों की शिरोमणि सीताजी के गुणों की गाथा ही उस निर्मल अनुपम जल का गुण है। भरतजी का स्वभाव ही सुन्दर शीतलता है। जो सदा एक रस रहती है। जिसका वर्णन नहीं हो सकता।

व्याख्या : सीताजी सती शिरोमणि हैं। इनके स्मरण से स्त्रियाँ पतिव्रत आचरण करती हैं। यथा : सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। इनके गुणों से दोनों कुल पवित्र हुए। इनकी उज्ज्वल कीर्ति से अनन्त ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। यथा : पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ। जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवन कीन्ह विधि अंड कडोरी। इनके गुणों की गाथा ही इस निर्मल अनुपम जल के गुण हैं। इस जल के रामयश रूप होने से निर्मल तथा निरुपम कहा।

भरत का स्वभाव सदा एक रस है और सर्वथा अवर्णनीय है। यथा : भरतहि होइ न राजमद विधि हरिहर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिन्धु बिनसाइ। सुनहु लखन भल भरत सरीखा। विनि प्रपंच महँ सुना न दीखा। सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधाससि सारू। इत्यादि। वही इस जल की शीतलता कही। जो सदा एकरस रहती है और जल को ऐसा सुस्वादु वनाए रहती है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता।

दो. अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परस्पर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की, जल माधुरी सुवास॥४२॥

अर्थ : देखना, बोलना, मिलना, प्रीति और परस्पर हँसी तथा चारों भाइयों का उत्तम भाईपन, जल की मिठास और सुगन्ध है।

व्याख्या : जल अमृत सा मीठा है। चारों भाइयों के देखने, वोलने, मिलने, प्यार करने और हँसने में अमृत सी मिठास है। इसलिए जल की मिठास से उपमा दी।

अवलोकन बोलनि, यथा : महूँ सनेह संकोच बस सनमुख कह्यौं न बैन।
दरसन तृपित न आज लगि प्रेम पियासे नैन॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती।
नाना भाँति सिखावहिं नीती॥

मिलनि प्रीति, यथा : मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कविकुल अगम करम मनवानी ।।

इस जल में स्वभाववश सुगन्ध है। इस भाँति भाइयों के हास में बड़ा ही माधुर्य है। यथा : हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा। सूचत किरिण मनोहर हासा।

जल में सुगन्ध स्वभाव से नहीं होता पर इसमें स्वाभाविक सुगन्ध है। जिससे दिगन्त व्याप्त है और वह सुगन्ध चारों भाइयों का भाईपन है। जिसे संसार जानता है। यथा : इनकै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाय मन भाव सुहावनि। इस भाँति जल के तीन गुण : निर्मलता, शीतलता और मावुर्य कहे। वस्तुतः जल में सोलह[1] गुण कहे गये हैं। शेष तेरह आगे कहे जावेंगे।

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारि न थोरी ।।
अदभुत सलिल सुनत गुनकारी। आस पियास मनोमलहारी ।।१।।

अर्थ : मेरी आर्ति विनय और दीनतारूपी सुन्दर हलकापन सुन्दर जल में कम नहीं है। बड़ा ही अद्भुत जल है, सुनते ही गुण करता है। और आशारूपी प्यास तथा मनोमल को दूर करता है।

व्याख्या : टिप्पणी में दिये हुए चौदहवें, बारहवें और सोलहवें गुणों को क्रम से ऊपर कह आये। प्रसङ्ग से सुगन्ध भी कहा जो रामयश सलिल के लिए स्वभाविक है। परन्तु लौकिक जल के लिए आगन्तुक है। अतः वैद्यक शास्त्र ने उसे जल के गुणों की गणना में स्वीकार नहीं किया है। अब तेरहवाँ गुण लघुता कहते हैं। रामयशरूपी सुवारि में लघुता कैसे कहें और जल में गुरुता : भारीपन बड़ा भारी दोष तथा लघुता बड़ा भारी गुण है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि रामयशरूपी जल में जो बड़ी लघुता है वह मेरे कारण है। लघुता का दोष उस यश में नहीं है। मेरी आर्ति, विनय और दीनता जो इस कविता सरिता में दिखलाई गई हैं बड़ी भारी लघुता है। अब नवाँ गुण 'गुप्त रसत्व[2]' कहते हैं कि इस जल का रसत्व भी गुप्त है। यह पीने से नहीं श्रवण मात्र से गुण करता है। अद्भुत जल है।

---

[1] पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासाहरम्।
तन्द्रार्च्छादिविवन्धहृद्बलकरं निद्राहरं तर्पणम् ।।
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलम्।
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम् ।।

अर्थ : जल १. श्रमनाशक है २. ग्लानिहर है ३. मूर्च्छा और प्यास हरण करता है ४. तन्द्रा, वमन, कब्जोयत हरण करता है ५. बल देता है ६. निद्रा हरण करता है ७. तृप्ति देता है ८. हृदय को हित है ९. रस उसका गुप्त है १०. अजीर्ण दूर करता है ११. नित्य हित है १२. शीतल है १३. लघु है १४. स्वच्छ है १५. रस का कारण है और १६. जीवन के लिए अमृत सा है।

[2] जल स्वाभाव से मधुर होता है पर मालूम नहीं होता। हरीतकी आदि भक्षण से माधुर्य का अनुभव होता है।

अब तीसरा गुण कहते हैं। लौकिक जल प्यास और मूर्च्छा दूर करता है। और यह अलौकिक जल आशारूपी प्यास और मनोमलरूपी मूर्च्छा को दूर करता है। प्यास तो बुझ जाती है। पर आशारूपी प्यास नहीं बुझती : हते भीष्मे हते द्रोणे हते कर्णे महाबले। आशा बलवती राजन् शल्यो जेत्स्यति पाण्डवान्। सञ्जय कहते हैं कि हे राजा धृतराष्ट्र! आशा बड़ी बलवान् है। भीष्म मारे गये। द्रोण मारे गये। महाबल कर्ण मारे गये : तुम्हारे पुत्रों ने : अब पाण्डवों को जीतने की आशा से शल्य को सेनापति बनाया है। सो यह अलौकिक जल उसे भी दूर करता है। मूर्च्छा तो दूर हो जाती है पर मनोमल नहीं दूर होता। वह भी इस जल से दूर हो जाता है।

राम सुपेमहि पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी॥
भौ श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा॥२॥

अर्थ : यह जल रामजी के सुन्दर प्रेम को पोषण करता है और कलियुग के पापों की ग्लानि को हरण करता है। संसार की थकावट को सोख लेता है। तोष को भी तुष्ट करता है। पाप, दुःख और दरिद्रतारूप दोषों को नष्ट करता है।

व्याख्या : जल रस का कारण है। रस बनने से ही रक्त आदि बनकर अनित्य शरीर का पोषण होता है, पर यह अलौकिक जल तो रामजी के सुन्दर प्रेम को पोषण करता है जो नित्य सुख का कारण है। इस भाँति जल के पन्द्रहवें गुण 'रसकारणत्व' का निरूपण करके दूसरे गुण 'क्लमहरत्व' का निरूपण करते हैं।

जल ग्लानि को दूर करता है। ऐसी ग्लानियाँ कितनी बार हुईं और दूर हुईं परन्तु कलिकलुषग्लानि तो कभी नहीं गई। अलौकिक जल उसे भी हरण करता है। अब पहिला गुण कहते हैं : जल श्रम का नाश करता है। शरीर से काम लेने से थकावट आती है। वह जल से दूर होती है। यथा : मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ। परन्तु भवश्रम के नाश का तो कोई लौकिक उपाय नहीं है। वह तो इस अलौकिक जल से ही जाता है। यथा : देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं। अब सातवाँ गुण 'तर्पण' कहते हैं जल से तोष होता है। यथा : स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। परन्तु वह तोष जल के भरोसे कितनी देर ठहरेगा। उस तोष का भी तोषण करनेवाला यह अलौकिक जल है। यथा : अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे। दीनदयाल अनुग्रह तोरे। अब दसवाँ गुण कहते हैं। जल अजीर्ण दोष को दूर करता है, पर दुःख-दरिद्र-दोषरूपी अजीर्ण का हटना तो कठिन है। वह भी इस अलौकिक जल से दूर होता है।

काम क्रोध मद मोह नसावन। बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन॥
सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥३॥

अर्थ : काम, क्रोध, मद और मोह को नष्ट करनेवाला है और निर्मल विवेक और वैराग्य को बढ़ानेवाला है। आदर सहित स्नान करने और पान करने से हृदय के सारे पाप और दुःख मिट जाते हैं।

व्याख्या : अब चौथा गुण कहते हैं। जल तन्द्रा, छर्दि : वमन विबन्ध कोष्ठ-

बद्धता का हरण करता है। तन्द्रा अज्ञानावस्था में ला देती है। छर्दि : वमन से बड़ा कष्ट होता है। अङ्ग अङ्ग में पीड़ा होती है। वायु की गति ऊर्ध्व हो जाती है। कोष्ठवद्धता अनेकानेक रोगों का कारण है। ये सब यत्किञ्चित् जल से दूर होते हैं। इनके लिए प्रभावशाली औषधियाँ दूसरी हैं, पर काम की भाँति अज्ञान लानेवाला, क्रोध की भाँति अनर्थ करनेवाला और मदमोह की भाँति सम्पूर्ण मानसिक व्याधियों का मूल तो दूसरा कुछ नहीं है। उनका भी निश्चित नाश इस अलौकिक जल से होता है।

अब पाचवाँ गुण कहते हैं। जल बल वढ़ाता है। भौतिक शरीर में शक्ति आती है। परन्तु बलकारिणी प्रभावशालिनी औषधियाँ दूसरी ही हैं। विवेक और विराग बल ही वास्तविक बल है। यथा : जब उर बल विराग अधिकाई। मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभाव कि योग बल। उसे तो यह अलौकिक जल बढ़ाता है।

अब आठवाँ गुण कहते हैं। जल हृदय के लिए हित है। कुछ शान्ति ला देता है। परन्तु पाप और परिताप को हृदय से हटाकर उसका सच्चा हित तो यह अलौकिक जल है। इस भाँति इस अलौकिक जल में जल के सोलहों गुण दिव्यातिदिव्य रूप में वर्तमान हैं।

जिन्ह येहिं वारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल विगोए॥
तृषित निरखि रविकर भव वारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥४॥

अर्थ : जिन्होंने इस जल से अपना मानस नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने ठग लिया है। जैसे प्यासा हिरन सूर्य की किरणों की चमक में : मृग जल में जलवुद्धि से उसके पास जाना चाहता है और दु:ख के सिवा उसे कुछ नहीं मिलता। इसी भाँति मनुष्य भी दु:खी होते फिरेंगे।

व्याख्या : अव तो विषम वन, दुर्लंघ्य पर्वत और भयानक नदियों को पार करके मानसरोवर नहीं जाना है। खुले मैदान मानसरोवर का जल सरयू में वह रहा है। अब तो ग्रन्थकार या किसी पण्डित के यहाँ भी नहीं जाना है। अपनी भापा में रामयश बह रहा है। अव भी जिसने इस जल से अपने मन को न धोया अर्थात् इससे लाभ नहीं उठाया वह कायर है। उसे इतना भी साहस नहीं कि खुले मैदान बहते हुए परम पुनीत लाभदायक अलौकिक जल से मन को पवित्र करे। उसे नि:सन्देह कलियुग ने ठग लिया। उसका जन्म व्यर्थ गया। मरकर न जाने किस योनि में जायगा। सिवा कलियुग के ठगने के अन्य कोई कारण उसके लाभ न उठाने का नहीं मालूम होता।

जिसने इस अलौकिक सुख से लाभ न उठाया वह सुख के लिए मृगतृष्णा के पीछे दौड़ेगा। विषय में सुख चाहेगा और विषय में सुख है नहीं। सुखाभास मात्र दिखाई पड़ता है। उसी के पीछे दौड़ेगा और अब मिला तब मिला इसी आशा में दौड़ते दौड़ते मर जायगा। मृग इसी भाँति मरीचिका के पीछे जलवुद्धि से दौड़ते दौड़ते मर जाता है।

दो. मति अनुहारि सुवारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहि, कह कवि कथा सुहाइ ॥४३॥
अब रघुपति पद पंकरुह, हियँ धरि पाइ प्रसाद।
कहौं जुगल मूनिवर्ज कर, मिलन सुभग संवाद ॥४३॥ क

अर्थ : अपनी बुद्धि के अनुसार सुन्दर जल के गुणों को गिनकर मन में स्नान कराकर और महादेव पार्वती को स्मरण करके कवि : श्रीगोस्वामीजी : सुहावनी कथा कहता है।

प्रसाद रूप में पाकर श्रीरामजी के चरण कमलों को हृदय में धरकर दोनों मुनिवरों का मिलन और सुन्दर संवाद वर्णन करता हूँ।

व्याख्या : अब सरयू जी का स्नान कहते हैं। यथा : मज्जहिं सज्जनवृंद बहु पावन सरयू नीर। राम सुयश जल के गुणों का गिनना ही स्नान है। यहाँ भवानी शङ्कर को फिर स्मरण करते हैं। तीन बार प्रणाम करके ही बात समाप्त नहीं होती। कथा करते समय भी शङ्कर विस्मरण न हो क्योंकि उन्हींके प्रसाद से ग्रन्थकार कवि हुए। यथा : संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी। वे सुकवि हैं कथा कर चुके हैं। यथा : यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्। ग्रन्थकार उन्हीं के प्रसाद से कविता कर रहे हैं। कह कवि कथा सोहाइ। उपक्रम उपसंहार का मिलान :

उपक्रम : करइ मनोहर मति अनुहारी	उपसंहार : मति अनुहारी सुवारिवर गुन गन गनि मन अन्हवाइ'' 'कहकवि कथा सोहाइ
... वरखहिं रामसुयस वरवारी	... सुवारि गुन
... भइ कवि वुद्धि विमल अवगाही	... गनि मन अन्हवाइ
... कहौं कथा सोइ सुखद	... कह कवि कथा सोहाइ

कवित्व तो प्रसाद में पहिले ही मिल चुका था। इस बार प्रसाद में भगवान् के चरण कमल मिले। शङ्कर भगवान् के मानस में चरण थे। यथा : जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव विराजहीं। भुसुण्डि के मानस में भी है। यथा : जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। याज्ञवल्क्य के मानस में भी चरणकमल हैं। यथा : मुनिमन मानस हंस निरंतर। पर ग्रन्थकार के मानस में नहीं थे, अतः इन्होंने मानस के रूपक में छन्द, सोरठा, दोहा को कमल का स्थान दिया। यह त्रुटि समझकर शङ्कर भवानी ने रघुपति पद पङ्करुह को प्रसाद रूप में दिये। ग्रन्थकार ने तुरन्त हृदय में रख लिया। जो प्रसाद सिर पर रक्खा जाता है उसका विसर्जन किया जाता है। इसका विसर्जन ग्रन्थकार को इष्ट नहीं है। इससे हृदय में धारण किया।

इसके वाद दो वस्तु का वर्णन आरम्भ करते हैं। १. याज्ञवल्क्य भरद्वाज मिलन और २. उनका संवाद। पहिले मिलन कहेंगे।

भरद्वाज याज्ञवल्क्य संवाद

भरद्वाज मुनि वसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा ॥
तापस सम दम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना ॥१॥

अर्थ : भरद्वाज मुनि प्रयागराज में बसते थे। उन्हें रामजी के चरणों में बड़ा अनुराग था। वे तपस्वी शम, दम, दया के निधान थे और परमार्थ मार्ग में बड़े निपुण थे।

व्याख्या : [1]प्रयागराज में रहना कहकर भरद्वाज ऋषि की तीर्थ सेवा कही। वाल्मीकि जी के शिष्य हैं अतः रामपद अति अनुराग कहा। अथवा रामपद अति अनुराग पद से भरद्वाज जी को तीर्थराज का भी पावन करनेवाला महातीर्थ कहा। यथा :

सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसील सिरोमनि स्वै।
सुर तीरथ ताही मनावत आवत, पावन होत है तात नछ्वै ॥
गुनगेह सनेह को भाजन सो, सबहीं सो उठाइ कहौं भुजद्वै।
सति भाय सदा छल छाड़ि सवै, तुलसी जो रहै रघुवीर को ह्वै ॥ क.

जिन्होंने तपस्या करके इन्द्र से तीन सौ वर्ष की आयु वेदाध्ययन के लिए पाई और अन्त में वेदों के सारभूत ॐकार को प्राप्त किया, इसलिए तापस कहा। शम से अन्तःकरण का नियमन तथा दम से वाह्येन्द्रियों का दमन और दया से परम धर्म में निष्ठा कही और 'परमारथ पथ परम सुजाना' कहकर ज्ञान निष्ठा कही। इस भाँति कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों काण्डों का नैपुण्य कहा।

माघ मकर गत रवि जब होई। तीरथ पतिहि आव सब[2] कोई ॥
देव दनुज किंनर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी ॥५॥

अर्थ : माघ के महीने में जब सूर्य मकर राशि में आते हैं, तब सब कोई तीर्थराज प्रयाग में आते हैं। देव दैत्य किन्नर और मनुष्यों के समूह सभी आदर पूर्वक त्रिवेणी[3] में स्नान करते हैं।

व्याख्या : प्रयागराज प्राजापत्य तीर्थ है और ब्रह्मनक्षत्र अभिजित् पर मकर में ही सूर्य आते हैं अतः मकर में प्रयागराज का अत्यधिक माहात्म्य है। सौर और चान्द्र दो प्रकार का मास प्रचलित है। संक्रान्ति से सौर और पूर्णिमा से चान्द्र मास

---

[1] 'क्षेत्रं प्रजापतेः पुण्यं सर्वेषामपि दुर्लभम्। लभ्यते पुण्यसम्भारैः नान्यथार्थस्य राशिभिः।'
सबसे दुर्लभ यह ब्रह्मदेव का तीर्थ प्रयागराज है, इनकी प्राप्ति पुण्य राशि से होती है। धन की राशियों से नहीं होती।

[2] भुवो लोकाच्च भूर्लोकान्नागलोकात् तथा लिखात्……स्नातुं माघे समायान्ति प्रयाग अरुणोदये : काशी खण्डे : ऊपर के सब लोकों से तथा पाताल तक से प्राणी प्रयाग में अरुणोदय स्नान के लिए चले आते हैं।

[3] इयं वेणीहि निःश्रेणी ब्रह्मणो वर्त्म यास्यतः। यह वेणी ब्रह्म के मार्ग की सीढ़ी है।

का हिसाव चलता है। मकर की संक्रान्ति और माघ मास में कुछ दिनों का ही हेर फेर पड़ता है। अतः माघ और मकर एक ही समझा जाता है। कल्पवास करनेवाले, कोई संक्रान्ति भर और कोई माघ की पूर्णिमा तक, एक मास प्रयागराज में रहते हैं। यथा : पूर्णिमायां समारभ्य पूर्णिमायां समापयेत्। मकरे वा समारभ्य कुम्भे वाऽथ समापयेत्। ग्रन्थकार का कथन है कि केवल मनुष्य ही एक मास नित्य त्रिवेणी में स्नान नहीं करते, बल्कि देवता और असुर भी आदर के साथ स्नान करते हैं। लौकिक दृष्टि से न देखे जाने पर भी शास्त्रदृष्टि से यह बात देखी गई है। जो भीड़ प्रयागराज में दिखाई पड़ती है वह वास्तविक भीड़ की चौथाई मात्र है क्योंकि देव-दनुज-किन्नरों की भीड़ तो मनुष्यों के लिए अदृश्य है।

पूजहिं माधव[1] पद जल जाता। परसि अषयवटु हरषहिं गाता॥
भरद्वाज आश्रम अतिपावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥३॥

अर्थ : माधव के चरणकमलों की पूजा करते हैं, और अक्षयवट का स्पर्श कर के पुलकित होते हैं। भरद्वाज का आश्रम अतिपावन, बड़ा ही रमणीय और मुनिवर मनभावन था।

व्याख्या : अब कल्पवास की विधि कहते हैं कि त्रिवेणी के स्नान के वाद वेणीमाधव का पूजन करते थे और अक्षयवट के स्पर्श से उनका शरीर पुलकित हो उठता था क्योंकि अक्षयवट का स्पर्श दुर्लभ है। उसका प्रलय में भी नाश नहीं होता और इसी के पत्ते पर बालमुकुन्द विराजमान होते हैं।

अतिपावन और मनभावन होने से ही भरद्वाज जी ने आश्रम बनाया था। रामकथा के चारों स्थान अतिपावन और मनभावन हैं। अथवा जंगम प्रयाग स्वरूप भरद्वाज मुनि के निवास से अतिपावन हुआ। अतः वही आश्रम अन्य मुनिवरों को भी मनभावन था। इसीलिए मुनिलोग वहीं एकत्रित होते थे। यथा :

तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथ राजा।
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा॥४॥

अर्थ : प्रयाग में जो स्नान करने जाते थे उन ऋषि मुनियों का जमाव वहीं होता था। प्रातःकाल सब उत्साह के साथ स्नान करते थे और एक दूसरे से भगवान् के गुणों की गाथा कहते थे।

व्याख्या : रामजी के चरणों में अति अनुराग होने के कारण भरद्वाज मुनि के प्रति सब ऋषि-मुनियों का बड़ा आदर था और उनका आश्रम भी अत्यन्त पावन और मनभावन था। अतः वहीं सबका जमाव होता था। जो स्नान करने जाते थे वे वहीं ठहरते थे। कल्पवास की संक्षेप विधि यही है कि माघ के विकट जाड़े में भी

---

[1] यत्र लक्ष्मीपतिः साक्षात् वैकुण्ठादेत्य मानवान्। श्रीमाधवस्वरूपेणानयद्विष्णोः परं पदम्॥
यहाँ रमापति साक्षात् वैकुण्ठ से आकर मनुष्यों को माधव स्वरूप से विष्णुपद प्राप्त कराते हैं।

अर्धोदय स्नान उत्साह के साथ करना और शेष समय भजन में व्यतीत करना। भगवान् के गुणों का कथन श्रवण भगवान् की वाङ्मयी पूजा है। उसी में लगे रहते थे।

दो. ब्रह्म निरूपन धर्म विधि, वरनहि तत्वविभाग।
कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ग्यान विराग ॥४४॥

अर्थ : ब्रह्मनिरूपण करते थे। धर्म की विधि और तत्त्व का विभाग वर्णन करते थे तथा ज्ञान और वैराग्य से संयुक्त ईश्वरभक्ति का कथन करते थे।

व्याख्या : ब्रह्मनिरूपण और तत्त्वविभाग के वर्णन से ज्ञानकाण्ड अथवा ब्रह्मविचार कहा। धर्मविधि के निरूपण से विधिनिषेधमय कर्मकथा कही और ज्ञानविराग युक्त भगवान् की भक्ति निरूपण से रामभक्ति कहा एवं स्थावर तीर्थराज में जंगम तीर्थराज की उपस्थिति कही। यथा : मुदमंगलमय संतसमाजू। जो जग जंगम तीरथराजू। राम भगति जहँ सुरसरिधारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा। विधिनिषेधमय कलिमलहरनी। कर्मकथा रविनंदिनि वरनी। आदि। तत्त्वविभाग का वर्णन पुरुष-प्रकृति के भेदज्ञान में बड़ा उपकारक होता है।

एहिं प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज निज आश्रम जाहीं॥
प्रति संवत अति होई अनंदा। मकर मज्जि गंवनहिं मुनिवृन्दा ॥१॥

अर्थ : इस प्रकार वे माघ भर स्नान करते और फिर सब अपने अपने आश्रमों को जाते थे। हर साल अत्यन्त आनन्द होता था। मुनि लोग मकरस्नान करके चले जाते थे।

व्याख्या : इस चौपाई से यह दिखलाया कि सौरमास और चान्द्रमास दोनों में प्रयाग का माहात्म्य है फिर भी यह झलकता है कि यद्यपि सब लोगों में चान्द्रमास प्रचलित है, सब लोग उपर्युक्त विधि से माघ भर स्नान करके अपने आश्रम को लौटते थे, पर मुनिवृन्द मकर भर स्नान करके तब जाते थे। कभी कभी मकर माघ की पूर्णिमा डाककर आगे तक चला जाता है, तब सब लोग तो पूर्णिमा स्नान कर चले जाते हैं परन्तु मुनिवृन्द मकर का स्नान पूरा करके तब जाते हैं।

एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए॥
जागबलिक मुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥२॥

अर्थ : एक बार मकर भर स्नान करके सब मुनीश्वर अपने अपने आश्रमों को चले गये। परन्तु परम विवेकी याज्ञवल्क्य मुनि को भरद्वाज जी ने चरण पकड़कर रोक रक्खा।

व्याख्या : समय निश्चित नहीं इसलिए एक बार कहा। माघ भी बीत गया और मकर भी बीत गया। भाव यह कि भरद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद फाल्गुन मास कुम्भ के सूर्य में हुआ। मुनि सभी विवेकी थे। पर याज्ञवल्क्य परम विवेकी थे। शुक्ल यजुर्वेद का प्रादुर्भाव इन्हीं से हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषत् इन्हींका कहा

हुआ है। इन्हींकी स्मृति को आज भी उत्तर भारत अवनत मस्तक होकर मानता है। ये भी जाने को तैयार हुए, पर चरण पकड़कर भरद्वाज जी ने रोक रक्खा।

सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी॥३॥

अर्थ : आदर सहित उनके चरण कमल धोये, अति पुनीत आसन पर उन्हें बिठाया। पूजा करके मुनि के सुयश की प्रशंसा की और अति पुनीत मृदुवाणी बोले।

व्याख्या : यह चरण प्रक्षालन पूजा का अङ्ग है। इसलिए सादर प्रक्षालन कहते हैं। आसनों में अति पुनीत आसन व्यासासन है जिस पर वेद शास्त्र के व्याख्याता बिठाये जाते हैं। अति पुनीत होने से इसका पद सिंहासन से ऊँचा है। राजा भी व्यासासन से नीचे बैठते हैं। ऐसे व्यासासन पर बिठाया, गन्धमाल्यादि से पूजा की, स्तुति की। सकल लोक हितकारिणी कथा पूछी। इसलिए उस वाणी को अति पुनीत कहा। श्रवण सुखद होने से मृदु कहा।

नाथ एक संसउ[1] बड़ मोरें। करगत वेद तत्व सब तोरें॥
कहत सो मोहि लागति भय लाजा। जौं न कहौं बड़ होई अकाजा॥४॥

अर्थ : हे नाथ ! मेरे हृदय में एक बड़ा सन्देह है और वेदों का सब तत्त्व आपके हाथों में है। उसे कहते हुए मुझे डर और लज्जा मालूम होती है और बिना कहे भी बड़ी हानि है।

व्याख्या : उभयकोटि अवलम्बी ज्ञान को संशय कहते हैं। ईश्वर सम्बन्धी होने से उस संशय को बड़ा कह रहे हैं क्योंकि वह लौकिक उपायों से जा नहीं सकता। उसका उच्छेद वेदादि शास्त्रों से ही सम्भव है। वेदादि शास्त्र ही अज्ञातार्थ ज्ञापक हैं। सो उनका जो कुछ तत्त्व है वह आपके करगत है अर्थात् करामलकवत् आपको सम्यक् प्रकार से ज्ञात है।

उसे कहते हुए लज्जा और भय दोनों मालूम होते हैं। लज्जा इस बात की कि स्वयं वाल्मीकिजी का शिष्य होकर भी मुझे रामविषयक शङ्का है और भय इस बात का कि वेद-असम्मत वाणी सुनकर आप अप्रसन्न न हो जायँ। यथा : कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। पाखंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साँच। और यदि मैं नहीं पूछता तो बड़ी हानि है, रामविषयक सन्देह हृदय में बना ही रहेगा।

दो. संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न विमल विवेक उर, गुर सन कियें दुराव॥४५॥

---

[1] उच्चस्वमोः। इस सूत्र से 'सु' विभक्ति को 'उ' हुआ। इस भाँति 'संशय' का संशयु रूप हुआ। 'कगचजतदपयवां प्रायेण लोपः' इस सूत्र से 'य' का लोप होकर 'संशउ' रूप हुआ। तब 'शषोः सः' सूत्र से 'श' का 'स' होकर 'संसउ' रूप सिद्ध हुआ।

अर्थ : हे प्रभो ! सन्तजन ऐसी नीति कहते हैं और श्रुति, पुराण और मुनि भी यह गान करते हैं कि गुरु से छिपाव रखने से हृदय में निर्मल विवेक नहीं होता।

व्याख्या : जिस प्रकार का सन्तों में व्यवहार चलता है वही सन्तों की नीति है। यह नीति स्वयं परम आदरणीय है किं पुनः श्रुति पुराण और मुनिगण से भी अनुमोदित होने पर। अतः अवश्य आचरणीय है। वह नीति यह है कि : गुरु से छिपाव करने से निर्मल विवेक नहीं होता। महामोह तमपुञ्ज के नाश के लिए जिसके वचन सूर्य की किरणें हैं उन्हींसे छिपाव करने से मोहान्धकार का नाश कैसे होगा ! उनसे छिपाव करना तो मानो अन्धकार को हृदय में स्थान देना है। मुनिसमाज एक महीने तक यहाँ था और नित्य ब्रह्मनिरूपण, धर्मविधि, तत्त्वविभाग, भगवान् की भक्ति का निरूपण होता था परन्तु भय और लज्जा के कारण उन लोगों से अपना संशय प्रकट नहीं किया। आप गुरु हैं, आपसे छिपाव नहीं कर सकता।

अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥१॥

अर्थ : ऐसा विचारकर मैं अपना मोह प्रकट करता हूँ। हे नाथ ! आप जन पर छोह करके हरण कीजिये। राम नाम का अपार प्रभाव है। सन्त, पुराण और उपनिषद् ने गान किया है।

व्याख्या : याज्ञवल्क्यजी को गुरु मानकर उनसे कहते हैं कि भय और सङ्कोचवाली बात ऋषिमुनि समाज में नहीं प्रकट की। आपसे प्रकट करता हूँ। शिष्य और पुत्र समान रूप से ही वात्सल्य भाजन हैं। अतः छोह करके मेरा मोह, अज्ञान हरण कीजिये। मैं आपका जन अर्थात् भक्त हूँ। तीनों लोकों की सम्पत्ति भी ज्ञान प्रदान के तुल्य नहीं है। अतः गुरु का वात्सल्य : चाह ही शिष्य के मोह हरण का कारण होता है। अब संशय प्रकट करते हैं :

राम नाम के प्रभाव की इयत्ता नहीं है : इस बात को सन्त, पुराण और उपनिषत् वेद के शिरोभाग ने कहा है। सन्त ! यथा : सो प्रभु सब में रमि रह्यौ सर्व रूप सब ओर। ताते नाम सँभारि गहु सब नामन को मौर। पुराण। यथा : नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहणे हरेः। तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः[१]। उपनिषत्। यथा : [२]यथा हि वटबीजस्थः प्राकृतो हि महान् द्रुमः। तथा हि रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।

संतत जपत संभु अविनासी। सिव भगवान ग्यान गुन रासी ॥
आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं ॥२॥

---

[१] नाम में पाप जलाने की जितनी शक्ति है, उतने पाप पापी कर ही नहीं सकता।

[२] जिस भाँति वट के बीज में इतना बड़ा वटवृक्ष सूक्ष्म भाव से अवस्थान करता है उसी भाँति राम बीज में चराचर विश्व अवस्थान करता है।

अर्थ : अविनाशी, ज्ञानगुणराशि भगवान् शिव सदा जपा करते हैं। संसार के जीवों की चार खानि हैं। सो सब काशी में मरकर परम पद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या : स्वयं षडैश्वर्यसम्पन्न, ज्ञानगुणसम्पन्न, अविनाशी, मङ्गलमय शिवजी जो कि सदा पूर्णकाम हैं नित्य जप किया करते हैं। यथा : तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती। यह नाममहिमा की परासीमा का उदाहरण है। सब प्रकार से आप्तकाम किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होते। फिर भी शिवजी रात दिन जपा करते हैं। ऐसा प्रभाव इस नाम का है।

स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और पिण्डिज ये ही जीवों की चार खानि हैं, इनमें से जो काशी में शरीर त्यागता है उसे परम पद की प्राप्ति होती है। यथा : जो गति अगम महामुनि दुर्लभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सोइ गति मरन काल अपने पुर देत सदासिव सबहिं समान।

सोपि राम महिमा मुनिराया। सिव उपदेस करत करि दाया॥
रामु कवन प्रभु पूछौं तोहीं। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोहीं॥३॥

अर्थ : हे मुनिराज ! सो यह भी रामजी की महिमा से होता है। शिवजी दया करके उपदेश देते हैं। हे प्रभो ! मैं आपसे पूछता हूँ कि वे राम कौन हैं ? हे कृपासागर मुझे समझाकर कहिये।

व्याख्या : सो काशी की यह महामहिमा राम नाम के प्रताप से है। यहाँ प्राणोत्क्रमण के समय करुणा करके भगवान् शङ्कर तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं। उस उपदेश के प्रभाव से उसे ज्ञान हो जाता है। ज्ञान होने से मुक्ति हो जाती है। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे। येनासौ अमृतीभूत्वा मोक्षी भवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेदिति।

जिसके नाम का ऐसा माहात्म्य है, वे राम कौन हैं ? यह बात मैं दूसरे से नहीं पूछ सकता था। इसलिए आपसे पूछता हूँ। केवल इङ्गित कर देने से काम न चलेगा। मुझे समझाकर कहिये। जिसके नाम की ऐसी महिमा है उस नामी को भी महामहिम होना चाहिए।

एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि विरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥४॥

अर्थ : एक राम अवधनरेश के पुत्र हैं। उनका चरित सारे जगत् में विख्यात है। उन्होंने स्त्री के विरह में अपार दुःख पाया। जब क्रोध हुआ तो रावण को युद्ध में मार डाला।

व्याख्या : यदि कहिये कि तुम बाल्मीकिजी के शिष्य होकर राम को नहीं जानते ? उन्हींके चरित निरूपण के लिए बाल्मीकीय रामायण बनी। सम्पूर्ण संसार उनके चरित को जानता है। इस पर कहते हैं कि उन राम को तो मैं भी जानता हूँ। संसार जानता है। उनका चरित तो ऐसा नहीं है जिससे नाम का ऐसा माहात्म्य कहा जा सके। स्त्री का विरह बहुतों को होता है पर कोई तो उनकी

भाँति लता और तरु से पूछता नहीं फिरता। वे ऐसे कामासक्त थे कि उनके स्त्री विरह दुःख का पारावार नहीं था। क्रोधी भी ऐसे थे कि रावण ऐसे वेदज्ञ को मार डाला। यथा : रहा न कुल कोउ रोवनिहारा। ब्राह्मणकुल के संहार पर ध्यान न दिया। ऐसे कामी क्रोधी के नाम का ऐसा माहात्म्य कैसे हुआ ? दूसरा कोई ऐसे नामवाला सुना नहीं जाता। यही भारी संशय है।

दो. प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वग्य तुम्ह, कहहु विवेक विचारि ।।४६।।

अर्थ : हे प्रभो ! वही राम हैं कि कोई दूसरे हैं जिनको त्रिपुरारि जपते हैं। आप सत्यधाम और सर्वज्ञ हैं। विचारकर कहिये।

व्याख्या : त्रिपुरारि पद से महा सामर्थ्यवान् तथा महाज्ञानी कहा। दानवों के तीनों पुरों का एक बाण से दाह करनेवाले अथवा तीनों पुर स्थूल सूक्ष्म और कारण का नाश करके मुक्ति देनेवाले शिवजी क्या इन्हीं सीताविरही रावणहन्ता राम के नाम का जप करते हैं या वे राम कोई और हैं। आप सत्य के आश्रय हैं। आपका कहा हुआ मिथ्या हो नहीं सकता। यथा : देवि न मुधा होइ मुनि भाषा। आपने जनक की सभा में शाकल्य ऋषि से कहा कि : मूर्धा ते व्यपतिष्यतीति। तं ह न मेने शाकल्यः तस्य ह मूर्धा निपतात। तेरा सिर गिरेगा, फिर शाकल्य ने न माना तो उसका सिर गिर गया। अतः मुझे विश्वास है आपके कहने से मेरा संशय जायगा। कोई सत्यवाक् भी हो और सर्वज्ञ न हो तब भी उसके कहने में भ्रम की शङ्का रहती है। आप तो सर्वज्ञ हैं। यथा : करगत वेदतत्व सब तोरे। अतः भ्रम को भी स्थान नहीं है। आप परम विवेकी हैं। विचारकर कहिये कि क्या ऐसे विषयासक्त पुरुष के नाम का ऐसा माहात्म्य सम्भव है ?

जैसे मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ विस्तारी ।।
जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई ।।१।।

अर्थ : जैसे मेरा भारी भ्रम मिट जाय हे नाथ ! आप वैसी ही कथा विस्तार के साथ कहिये। याज्ञवल्क्य जी मुसकराकर बोले : तुम्हें रघुपति की प्रभुता मालूम है।

व्याख्या : विपरीत ज्ञान को भ्रम कहते हैं। भरद्वाजजी का कहना है कि मुझे भारी भ्रम हो गया है। एक महीने तक रात दिन मेरे यहाँ ब्रह्मनिरूपण, धर्मविधि, तत्त्वविभाग का वर्णन और ज्ञानविराग युक्त भक्ति का निरूपण बड़े बड़े महात्माओं द्वारा होता रहा पर मेरा भ्रम नहीं गया। इससे जाना कि मेरा भ्रम भारी है। यह विस्तारपूर्वक कथाश्रवण से जायगा। सो जिस कथा से जाय उसे विस्तार से कहिये। भाव यह कि वाल्मीकीय रामायण माधुर्यप्रधान ग्रन्थ है। उसके पढ़ने से मूढ़जनों को भारी संशय उठ खड़ा होता है। आप राम कथा को विस्तार से कहिये : जिसमें ऐश्वर्य को भी यथेष्ट स्थान मिले। तब वह संशय दूर हो। इसी प्रश्न का उत्तर सम्पूर्ण रामायण है।

जो रोगी रोग का निदान भी जानता हो तथा उसकी अचूक औषध भी जानता हो उसे वैद्य की क्या आवश्यकता है ? और उसे रोगी भी कैसे कहें ? भरद्वाजजी ने अपने कथन को स्वयं मोहमूलक और भ्रान्त बतलाया। और उसके मिटने का उपाय विस्तारयुक्त रामकथा भी बतला दी। इस पर याज्ञवल्क्य जी हँस पड़े। कहा : तुम रामजी की प्रभुता जानते हो। तुम्हारा प्रश्न विनोद मात्र है। तुमने कहा : नाथ एक संशय बड़ मोरे। सो तुम्हें संशय नहीं है।

राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥
चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा ॥२॥

अर्थ : तुम मनसा वाचा कर्मणा रामभक्त हो। मैंने तुम्हारी चतुराई जान ली। तुम रामजी के छिपे हुए गुणों को सुनना चाहते हो। इसलिए तुमने अत्यन्त मूढ़ की भाँति प्रश्न किया है।

व्याख्या : 'सत्यधाम' और 'सर्वज्ञ' विशेषणों से स्तुति की। उसका साफल्य दिखाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि याज्ञवल्क्यजी सब जान गये। प्रोत्साहन के लिए कह भी दिया कि तुम मन, कर्म और वाणी से रामभक्त हो। यह पूछना तुम्हारी चतुराई है। अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम लोकमहेश्वरम्। भ. गी.। मुझ मानुष शरीर धारण करनेवाले की मूढ़ लोग अवज्ञा करते हैं क्योंकि वे मेरे माहेश्वर परं भाव को नहीं जानते। ऐसा भगवान् ने कहा है। सो भरद्वाजजी ने अत्यन्त अवज्ञा करके पूछा है। इसलिए कहते हैं : मनहु अति मूढ़ा। प्रकट गुण वाल्मीकिजी से सुन चुके हो। बिना मूढ़ की भाँति प्रश्न किये उत्तर में गूढ गुण सुनने में नहीं आता।

तात सुनहु सादर समुझाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई ॥
महा मोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला ॥३॥

अर्थ : हे तात ! तुम आदरपूर्वक जी लगाकर सुनो। मैं रामजी की सुहावनी कथा कहता हूँ। महामोह विशाल महिषासुर है। और राम की कथा भयङ्कर कालिका है।

व्याख्या : कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी का उत्तर दे रहे हैं। कथा सुनने के समय दूसरी बात मन में न सोचना ही आदर के साथ सुनना है। कोई बात मन में आने से छूट न जाय। इसलिए 'मन लाई' कहा। महिषासुर ने देवताओं को बड़ा कष्ट दिया। किसी के मारे नहीं मरता था। पर उसकी मौत काली के हाथ थी। महिषासुर बड़ा विशाल था। उसके सींग हिलाने से बादल फट पड़ते थे। पूँछ की फटकार से समुद्र उछलता था। खुर के प्रहार से पृथ्वी विदीर्ण होती थी। पर वह महामोह के सामने कुछ नहीं था। महामोह से तो त्रैलोक्य व्याप्त है। अतः उसके वध के लिए कराल कालिका की आवश्यकता है। महामोह की मौत रामकथा के हाथ है। यहाँ से दक्षिणघाट से भी कथा प्रारम्भ हुई।

राम कथा ससि किरन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥
ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी । महादेव तब कहा बखानी ॥४॥

अर्थ : रामजी की कथा चन्द्रमा की किरणों के समान है। इसे सन्तरूपी चकोर पान करते हैं। ऐसा ही सन्देह भवानी ने भी किया था। तब महादेव जी ने बखानकर कहा था।

व्याख्या : रामकथा दुष्ट के लिए कराल है। पर सज्जन के लिए सौम्य है। जैसे चन्द्रमा की किरण होती है। चन्द्रमा की किरण को तो चकोर पान करते हैं। रामकथा का पान सज्जनरूपी चकोर करते हैं। जिस चन्द्रमा की रामकथा किरण है.वह चन्द्र रामनाम है। यों तो यह चाँदनी सब को सुखद है पर चकोर के लिए विशेष लाभ है। यथा : रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित विशेष बड़ लाहु।

याज्ञवल्क्य जी अति संक्षेप में कथा माहात्म्य कहकर कहते हैं कि यही संशय तो नहीं पर ऐसा ही संशय उमा ने महादेव जी से किया था। यथा : जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। इत्यादि। यह भारतवर्ष की प्राचीन प्रणाली है कि प्रश्नकर्ता के उत्तर में किसी दूसरे बड़े के सम्वाद को दिखलाते हुए उत्तर देते हैं। सो याज्ञवल्क्य जी उमा-महेश्वर सम्वाद कहेंगे। साथ ही भरद्वाज जी को उत्साहित करते हैं कि इस शङ्का को सामने लाते हुए तुम लज्जा और भय को चित्त में स्थान न दो। स्वयं साक्षात् भवानी ने ऐसी ही शङ्का की थी तब महादेव जी ने बखानकर कहा था।

दो. कहौं सो मति अनुहारि अब, उमा संभु संवाद ।
भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि विषाद ॥४६॥

अर्थ : मैं अब अपनी बुद्धि के अनुसार उमा-शम्भु का संवाद जिस समय और जिस कारण से हुआ कहता हूँ। हे मुनि जी ! सुनने से विषाद मिट जायगा।

व्याख्या : उमा-शम्भु का संवाद है : इसलिए कहते हैं कि यथा बुद्धि कहूँगा। शिष्य के प्रोत्साहन के लिए प्ररोचन के वाक्य कहने चाहिए। अतः 'तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई। रामभगत तुम मन क्रम वानी। आदि वाक्य कहे। अब भरोसा देते हैं कि : सुनु मुनि मिटिहि विषाद। विस्तार से कथा पूछी है। इसलिए कथा का समय और हेतु दोनों का वर्णन पहिले करेंगे। भरद्वाज जी ने तीन बार 'कहहु' कहकर प्रश्न किया। यथा : १. कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही। २. सत्य धाम सर्वज्ञ तुम कहहु विवेक विचारि। तथा ३. कहहु सो कथा नाथ विस्तारी। उत्तर में याज्ञवल्क्य जी भी तीन बार सुनहु कह रहे हैं। यथा : १. तात सुनउ सादर मन लाई। २. कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संवाद। भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि विषाद और ३. कहहुँ सुनहु अब रघुपति लीला।

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥१॥

अर्थ : एक बार त्रेता युग में शिवजी अगस्त्य ऋषि के पास गये। उनके साथ जगजननी सतीजी भी थीं। ऋषि ने उन्हें सारे जगत् का ईश्वर जानकर पूजा।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं : भयउ समय जेहि हेतु जेहि। सो पहिले समय कहते हैं कि त्रेता युग की बात है। देवताओं का आना जाना अगस्त्यजी के यहाँ लगा ही रहता था। देवताओं के बैठने के लिए अगस्त्यजी के आश्रम में स्थान बने हुए थे। यथा : स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च। विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः। सोमस्थानं भवस्थानं स्थानं कौवेरमेव च। धातुर्विधातुः स्थानञ्च वायोः स्थानं तथैव च। स्थानञ्च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः। स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च। स्थानञ्च नागराजस्य गरुडस्थानमेत्र च। कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति। शिवजी भी जाया करते थे सो एक बार त्रेता युग में गये। भगवती सती भी साथ में थीं। भवानी कहकर उनका शिवजी से सम्बन्ध कहा और 'जग जननि' कहकर अनादि शक्ति कहा। अखिलेश्वर जानकर पूजा करने का भाव यह कि अन्य देवताओं के जाने पर जैसी पूजा होती थी उससे अधिक पूजा मुनिजी ने की। क्योंकि शिवजी विश्वनाथ हैं। ब्रह्मादि देवों के भी ईश्वर ठहरे। इसीलिए देवाधिदेव महादेव कहलाते हैं।

रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी॥
रिषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥२॥

अर्थ : मुनिवर ने रामकथा वर्णन की और महेश्वर ने परम सुख मानकर सुनी। फिर कवि ने सुहाई हरि भक्ति पूछी और शिवजी ने अधिकारी पाकर कही।

व्याख्या : पूजनोपरान्त रामकथा सुनाना शिवजी को प्रिय है। इसलिए मर्मज्ञ मुनिजी ने रामकथा का बखान किया। सम्भवतः मुनिजी के आश्रम में भगवान् पधारे थे। उसी वृत्तान्त का वर्णन किया। पूजनोपरान्त प्रिय समाचार सुनाया। महेश्वर ने बड़े प्रेम से सुना। सती को रुचि नहीं थी। अतः आदर से नहीं सुना। यथा : तब कर अस विमोह मोहि नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं। मोह के बीज का वपन यहीं हुआ।

फिर ऋषिजी ने सुहाई हरिभक्ति अर्थात् फलरूपा, सिद्धा हरिभक्ति पूछी। यथा : सब कर फल हरि भगति सुहाई। साधनरूपा भक्ति के तो सभी अधिकारी हैं। यथा : पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। परन्तु सिद्धा भक्ति के जिसे अविरल, निर्भर आदि अनेक नाम से पुकारते हैं अधिकारी विरले हैं। यथा : नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये। सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा। भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च। सो कामादि दोषों से रहित स्पृहान्तर रहित पुरुष ही सुहाई भक्ति के अधिकारी हैं। मुनिजी उस भक्ति के अधिकारी थे। इसलिए शिवजी ने उनसे कहा।

कहत सुनत रघुपति गुन गाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा ॥
मुनि सन बिदा मांगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी ॥३॥

अर्थ : रघुपति के गुणों की गाथा कहते और सुनते गिरिनाथ कुछ दिनों तक वहीं रहे। मुनिजी से विदा माँगकर त्रिपुरारि दक्ष की कन्या के साथ घर चले।

व्याख्या : यद्यपि कैलासनाथ हैं, फिर भी सत्सङ्ग के तथा हरिकथा के ऐसे रसिक हैं कि कुछ दिन वहाँ : दण्डकारण्य में ठहर गये। रघुपति के गुण ग्राम के कहनेवाले को अनिर्वाच्य विश्राम होता है और सुननेवाले को तृप्ति नहीं होती। यथा : एहि विधि कहत राम गुनग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा। रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विसेष जाना तिन्ह नाहीं। जिनका नयन पथ में आगमन क्षण भर के लिए दुर्लभ है वे कुछ दिन वहाँ रह गये।

अतिथि की भाँति आये थे। अतः अतिथि की भाँति ही विदा माँगी। देवता की भाँति प्रादुर्भाव-तिरोभाव नहीं हुआ। विदा माँगने में कारण दक्षकुमारी मालूम होती हैं। नहीं तो गिरिनाथ तो ऐसे रामकथा के रसिक हैं कि भुसुण्डि के यहाँ मराल बनकर पूरी कथा सुनी थी। दक्षकुमारी को घर जाने की जल्दी थी। दक्षकुमारी शब्द का प्रयोग दक्ष के स्वभाव की छाया सूचित करता है।

तेहि अवसर भंजन महि भारा। हरि रघुबंश लीन्ह अवतारा ॥
पिता बचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अविनासी ॥१४॥

अर्थ : इन्हीं दिनों पृथ्वी का भार उतारने के लिए हरि ने रघुकुल में अवतार लिया था। पिता के वचन से राजपाट छोड़कर उदासीन होकर दण्डक वन में विचरते थे।

व्याख्या : तेहि अवसर का अन्वय 'विचरत' के साथ है। हरि का अवतार पृथ्वी का भार उतारने के लिए होता है। यथा : जब जब नाथ सुरन्ह दुख पावा। नाना तनु धरि तुमहि नसावा। मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम वपुधरी। रघुवंश में अवतार कहकर रामावतार सूचित किया। यहाँ कथा का प्रतीक मात्र कहते हैं। रघुवंस लीन्ह अवतारा : बालकाण्ड का प्रतीक है। पिता वचन तजि राज उदासी : अयोध्याकाण्ड का प्रतीक है। दण्डक वन विचरत : अरण्यकाण्ड का प्रतीक है। पिता वचन तजि राज उदासी से धर्म संस्थापन कहा। दंडक वन विचरहि अविनासी से दुष्कृतों का विनाश कहा। अविनाशी हैं : इसीलिए दण्डक वन में विचरते हैं। नहीं तो शापित दण्डक वन राक्षसों से भरा था। उसमें प्रवेश उनके नाश के लिए ही किया।

दो. हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु, गएँ जान सबु कोइ ॥४८॥
संकर उर अति छोभु, सती न जानहिं मरमु सोइ।
तुलसी दरसन लोभु, मन डरु लोचन लालची ॥४८॥ क

अर्थ : महादेवजी अपने मन में विचारते जाते थे कि किस भाँति दर्शन हो : प्रभु गुप्त रूप से अवतीर्ण हुए हैं। जाने से सब कोई जान जायँगे।

महादेवजी के मन में बड़ा क्षोभ था : सती इस भेद को जानती न थी। तुलसीदासजी कहते हैं कि मन में तो डर है और आँखें दर्शन की लालची हैं।

व्याख्या : महादेवजी विचार कर रहे हैं कि मैं जा नहीं सकता। मेरे जाने से बात खुल जायगी। सब लोग जान जायँगे कि यह अवतार हैं। सरकार गुप्त रूप से प्रकट हुए हैं। यह जनाना नहीं चाहते कि मैं अवतार हूँ। इसीलिए रावणवध तक ऐश्वर्य गुप्त रक्खेंगे। तब दर्शन की कौन विधि है ? मैं उनके पास जा नहीं सकता और बिना गये दर्शन कैसे हो ?

जाने से स्वामी की इच्छा की प्रतिकूलता का डर था और न जाने से दर्शन कैसे होगा ? सो दर्शन का लालच बढ़ा हुआ था। मन की विभिन्न गति हो रही थी। इसीलिए 'क्षोभ' कहते हैं। सतीजी ने यदि मन लगाकर कथा सुनी होती तो कुछ मर्म समझतीं। उन्होंने मन दिया ही नहीं। अतः इस मर्म से अनभिज्ञ थीं।

रावन मरनु मनुज कर जाँचा । प्रभु विधि वचनु कीन्ह चह साँचा ॥
जौ नहि जाउँ रहै पछतावा । करत विचारु न बनत बनावा ॥१॥

अर्थ : रावण ने अपनी मौत मनुष्य के हाथ माँगी है। प्रभु ब्रह्मदेव की बात सच्ची करना चाहते हैं। यदि नहीं जाता हूँ तो जी में पछतावा रहेगा। विचार करते थे पर कोई बात ठीक बैठती नहीं थी।

व्याख्या : मनुष्यशक्ति की इयत्ता को रावण जानता था। ऐसा मनुष्य उत्पन्न करना जो रावण को मार सके ब्रह्मदेव की शक्ति के बाहर की बात थी। उसने अपनी समझ में मनुष्य के हाथ अपना वध माँगकर ब्रह्मदेव के वचन को मिथ्या करना चाहा था। यथा : नर के कर आपन वध बाँची। हँसेउ जानि विधिगिरा असाँची। पर प्रभु अपने भक्त : ब्रह्मदेव की वाणी सच्ची करना चाहते थे। इसीलिए नरावतार धारण किया। इस समय ध्वज, कुलिश, अङ्कुश और कञ्जादि चिह्नों से युक्त चरणों से वन के काँटों में घूम रहे हैं। यथा : ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत वन फिरत कंटक किन लहे। ऐसी भक्तानुग्रहकारिणी अवस्था यदि भक्तवत्सल प्रभु की अवस्था की झाँकी का दर्शन न किया तो पछतावा रह जायगा। इसी बात को मन में बैठाते थे पर कोई युक्ति ठीक नहीं बैठती थी।

एहि विधि भए सोच वस ईसा । तेहीं समय जाइ दससीसा ॥
लीन्ह नीच मारीचहि संगा । भयउ तुरत सोइ कपट कुरंगा ॥२॥

अर्थ : इस प्रकार महादेवजी सोचवश हुए। उसी समय नीच रावण ने जाकर नीच मारीच को साथ में लिया। वह तुरत कपट का मृग हो गया।

व्याख्या : तेहीं समय का अन्वय यथार्थ में 'खोजत विपिन फिरत' के साथ है। पर बीच के बिना कहे अर्थ न लगता। इसीलिए यहाँ पर 'तेहीं समय लिख दिया। इस भाँति महादेवजो सोच के वश हुए। अब 'राम सदा सेवक रुचि राखी'

इस बात को दिखाते हुए कहते हैं, दशशीश ने सीताहरण विचारा। दशशीश कहने से उसकी निर्भयता दिखलायी। यथा : है काके द्वै सीस ईसके जो हठि जन की सीम चरै। दशशीश भी नीच है, मारीच भी नीच है। दशशीश की नीचता। यथा : तब सो गयउ जहाँ मारीचा। नाई माथ स्वारथ रत नीचा। मारीच की नीचता। यथा : लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा। मारीच कपट मृग बना। रावण ने सीता हरण किया।

करि छल मूढ़ हरी वैदेही। प्रभु प्रभाउ तस विदित न तेही ॥
मृग[1] बधि वंधु सहित हरि आए। आश्रमु देखि नयन जलु छाए ॥३॥

अर्थ : उस मूढ ने छल करके वैदेही का हरण किया। प्रभु का प्रभाव जैसा था वैसा उसने न जाना। हिरन को मारकर भाई सहित हरि लौटे। आश्रम को देखकर[2] आँखों में आँसू आगये।

व्याख्या : वैदेही बदल गई। माया की सीता हरण करके चला : इसलिए रावण को मूढ़ कहा। अथवा निशिचर की कालरात्रि को इतने परिश्रम से हरण करके ले जाकर लङ्का में स्थापित करने चला : इसलिए मूढ कहते हैं। उसको प्रभु का प्रभाव यथार्थ रूप से नहीं मालूम था। उसका चित्त सन्देह में था। यथा : सुररंजन भंजन महि भारा। जौ भगवंत लीन्ह अवतारा। तउ मैं जाइ वयर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ। जौ नर रूप भूपसुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ। जब बल से जीतने का साहस नहीं हुआ तब मायापति को माया से जीतना चाहा।

मृगवध करके आ रहे हैं इसलिए 'हरि' कहना ही उपयुक्त है। आश्रम देखि जानकी हीना। भए विकल जस प्राकृत दीना। व्रजन्ति मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। मायावी के साथ जो माया नहीं करता वह मूढ़ पराभव को प्राप्त होता है। अतः प्राकृत दीन की भाँति विकल होना : यह रामजी की माया है। माया की जानकी को ही वह असली जानकी समझता है। वह सीता हरण करने में स्वयं ठगा गया। इस बात का उसे भान नहीं था।

विरह विकल नर इव रघुराई। खोजत विपिन फिरत दोउ भाई ॥
कबहूँ जोग वियोग न जाकें। देखा प्रगट विरह दुखु ताकें ॥४॥

अर्थ : रघुराई मनुष्यों की भाँति व्याकुल हैं। दोनों भाई वन में सीता को

---

[1] १. समासोक्ति।

[2] २. आश्रम निरखि भूले द्रुमन फले न फूले, अलि खग मृग मानो कबहुँ न हे।
मुनि न मुनि वधूटी उजरी परन कुटी पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेई रहे।
उठी न सलिल लिए प्रेम मुदित हिये, प्रिया न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लवसालन हेरी प्रानवल्लभा न टेरी विरह विथकि लखिलखन गहे। गो.

ढूँढ़ते हुए फिरने लगे। जिन्हें कभी संयोग वियोग नहीं होता उन्हें प्रत्यक्ष विरह के दु:ख में देखा।

व्याख्या : अद्वितीय को योग वियोग कहाँ ? योग वियोग तो जीव को होता है। इसी को भ्रम का फंद कहा गया है। यथा : जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा। रामजी को प्रत्यक्ष विरह के दु:ख में देखना माया है। माया अघटित घटना पटीयसी है। जो बात तीन काल में नहीं है : उसे प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। जस काछिय तस चाहिय नाचा। सो ठीक मनुष्य का अनुकरण करके नर की भाँति रामजी विकल दिखाई पड़ रहे हैं और तमाम जंगल दोनों भाई ढूँढ़ रहे हैं।

दो. अति विचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद विमोह बस, हृदय धरहिं कछु आन ॥४९॥

अर्थ : रघुपति का चरित्र बड़ा ही विचित्र है। इसे परम सुजान ही जानते हैं। जो मतिमन्द हैं वे विमोह बस मन में कुछ और बात समझते हैं।

व्याख्या : ब्रह्म का कौसलपुर भूप होना ही विचित्र बात है। यथा : कहहुँ विचित्र कथा विस्तारी। जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा। और उनका विरह-विकल होना तो अति विचित्र है। परम सुजान से अति उच्च अधिकारी कहा। परम सुजान शम्भु हैं। उन्हें देखकर अति हर्ष हुआ। आगे कहेंगे : उपजा हिअ अति हर्ष विसेखा। जो मतिमन्द हैं वे उन्हें सीधे मनुष्य समझेंगे। यथा : उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं विरति। पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्म रति। यथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोई। सोइ सोइ भाव दिखावै, आपुन होइ न सोइ। अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहन जन सुखकारी।

संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिअ अति हरषु विसेखा ॥
भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। कुसमउ जानि न कीन्हि चिन्हारी ॥१॥

अर्थ : शिवजी ने उस समय रामजी को देखा तो उनके मन में अति विशेष हर्ष हुआ। छवि के समुद्र को शिवजी ने आँख भर देखा पर अवसर ठीक न समझकर जान पहचान नहीं की।

व्याख्या : विचार करते थे दर्शन के लिए पर बात बैठती नहीं थी। एकाएक दर्शन हो गया। देखा कि विरह-विकल सीता को खोज रहे हैं। प्रेमास्पद को दु:खी देखकर दु:खी होना चाहिए सो न हुआ। परम सुजान हैं। जानते हैं कि 'राम सहज-आनन्द-निधान' हैं। बात बन गई। दर्शन हो गया। इसलिए हर्ष और अद्भुत भाव प्रदर्शन देखकर अति विशेष हर्ष हुआ। सो शम्भु राम को देख रहे हैं। रामजी नहीं देखते हैं। अत: दर्शन का सुअवसर है।

जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नाहि अघाय। सो अघायकर देखने का अवसर मिला। अन्य समय में वसन विभूषण से अङ्ग ढके रहते थे। पूरा सौन्दर्य देखने को नहीं मिलता था। इस समय वस्त्राभूषण से अनावृत शोभा देखने को

मिली। यथा : कागर कीर विभूषन चीर सरीर लस्यौं तजि नीर ज्यौं काई। प्रभु शोभा के सिन्धु हैं। नित्य शोभा की नई लहरें उठा करती हैं। सदा अपूर्व शोभा है। दर्शन तो कर लिया पर सामना न किया। ऐश्वर्य छिपाने का अभिनय हो रहा है। इस समय कुसमय है। सामना करना ठीक नहीं। जब रावण वध से ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा उस समय सुअवसर होगा। यथा : देखि सुअवसर प्रभु पहँ आये संभु सुजान।

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चले मनोजनसावन॥
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता॥२॥

अर्थ : जगत् के पवित्र करनेवाले सच्चिदानन्द की जय हो। ऐसा कहकर कामदेव के मारनेवाले कृपानिधान शिवजी चले। बार बार आनन्द से पुलकित होते हुए सती के साथ चले जाते थे।

व्याख्या : सच्चिदानन्द से ब्रह्म कहा। जगपावन से अवतार कहा। यथा : चरित पवित्र किये संसारा। 'जय' शब्द से अपनी प्रणति सूचित की। मनोजनसावन शिवजी हैं। यथा : तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा। हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी। इनका प्रणाम विरही के लिए नहीं हो सकता। यही सती के संशय का बीज है। 'चले' कहने से पता चलता है कि दर्शन के समय ठहर गये थे।

कृपानिकेत हैं। दक्षकुमारी का मन नहीं लगा। इसलिए भवन चले थे। यहाँ भी थोड़ा ही ठहरे। पर स्वामी के स्मरण से बार बार सात्त्विक भाव हो रहा है। त्रैलोक्यसुन्दरी सती साथ रहती हुई भी विस्मृत हो रही हैं।

सतीं[1] सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेखी॥
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥३॥

अर्थ : सती ने महादेवजी की वह दशा देखी। उनके मन में विशेष सन्देह हुआ कि सारा जगत् तो शिवजी की वन्दना करता है। वे सारे जगत् के स्वामी हैं। इनको देवता, मनुष्य, मुनि सब सिर नवाते हैं।

व्याख्या : सती ने ऐसी दशा शम्भु की देखी नहीं थी। प्रकट रूप से शिवजी से सन्देह का प्रकाश न किया पर हृदय में सन्देह विशेष उपजा। शिवजी के आनन्दविशेष से सती जी को सन्देहविशेष हुआ। जगत् के वन्द्य ने किसको वन्दना की? जगदीश ने किसको ईश माना? जिसको सुर नर मुनि सिर नवाते हैं उसने किसे सिर नवाया? ऐसे को तो शङ्कर से भी बड़ा होना चाहिए।

तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥४॥

---

[1] जिस भाँति आज कल भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्ता के पीछे 'ने' जोड़ते हैं वैसे ही पहिले अनुस्वार जोड़ते थे।

अर्थ : उन्होंने राजपुत्र को सच्चिदानन्द परधाम कहकर प्रणाम किया। उसकी छवि देखकर ऐसे मग्न हुए कि अब तक हृदय में प्रीति रोकने से नहीं रुक रही है।

व्याख्या : सती हैं, जिसकी छवि देखकर शिवजी मग्न हैं। उसकी छवि को किसी गिनती में नहीं ला रही हैं न उसकी महत्ता को गिन रही हैं। संशय को और स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि केवल शीश ही नहीं नवाया : सच्चिदानन्द परधाम भी कहा। जगपावन और परधाम एक ही बात है। जो परधाम है वही जग को पवित्र कर सकता है। इसी भाँति मनुष्य की ब्रह्मलक्षण से स्तुति की।

- अपरोक्ष में वन्दना और स्तुति की और उनके परोक्ष में ध्यान कर रहे हैं। प्रेम का प्रवाह उमड़ पड़ा है। उसके रोकने से बार बार सात्त्विक भाव हो रहा है।

दो. ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ॥५०॥

अर्थ : जो ब्रह्म सबमें व्याप्त मायारहित अजन्मा कलाहीन इच्छा और भेद रहित है और जिसे वेद नहीं जानते वह देह धारण करके क्या मनुष्य हो सकता है ?

व्याख्या : ब्रह्म व्यापक मायारहित अज अकल अनीह अभेद और अज्ञेय है। वह यदि शरीरधारी हो तो परिच्छिन्न मायावश जन्ममरणशील कलायुक्त सचेष्ट भेद-भिन्न और ज्ञेय हो जायगा। अर्थात् ब्रह्म ही न रह जायगा। जीवकोटि में आ पड़ेगा। यदि तुष्यतु दुर्जनन्यायेन मान भी लें कि वह शरीर धारण करता है तो उत्तम शरीर धारण न करके मरणशील मनुष्य का देह क्यों धारण करेगा ? भूलना नहीं चाहिए कि सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी शङ्का के उत्तर में कहा गया है।

बिस्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य यथा त्रिपुरारी ॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥१॥

अर्थ : विष्णु ने यदि देवताओं के लिए मनुष्य शरीर धारण किया है तो वे भी शिवजी के समान सर्वज्ञ हैं। वे ज्ञानधाम, श्रीपति, असुरारि क्या अज्ञानियों की भाँति स्त्री खोजेंगे ?

व्याख्या : विष्णु बराबर के हैं शिवजी को प्रिय भी हैं। वे मत्स्यकूर्मादि अवतार भी धारण करते हैं। उनके प्रति प्रणामादिक वन सकता है। परन्तु वे भी तो उसी भाँति सर्वज्ञ हैं जैसे त्रिपुरारि सर्वज्ञ हैं। वे ज्ञानधाम हैं। अज्ञ कैसे हो जायँगे ? वे श्रीपति हैं। मानुषी को क्यों खोजेंगे। वे असुरारि हैं। उनके निकट असुर स्त्रीहरण करने कैसे आवेगा ? अतः यह राजपुत्र विष्णु भी नहीं हैं।

संभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सबु कोई ॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥२॥

अर्थ : फिर शङ्कर भगवान् की वाणी भी झूठी नहीं हो सकती। सब कोई जानते हैं कि शिवजी सर्वज्ञ हैं। ऐसा अपार संशय मन में हुआ। किसी भाँति ज्ञान का प्रसार नहीं होता था।

व्याख्या : उभय कोटि अवलम्बी ज्ञान को संशय कहते हैं। एक कोटि ऊपर कह चुके कि विचार करने से न तो ब्रह्म ठहरते हैं, न विष्णु ठहरते हैं। परन्तु दूसरी कोटि यह है कि जगत् विख्यात सर्वज्ञ की बाणी झूठी कैसे हो सकती है। यथा : वचन अन्यथा होइ न मोरा। इस व्यवस्था में मन कहीं ठहरता नहीं। अतः संशय का पार नहीं मिल रहा है। पहिले 'संदेह विशेष' कहा था अब 'अपार संशय' कह रहे हैं। अर्थात् संशय वृद्धिक्रम पर है।

जद्यपि प्रगट न कहेउँ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ॥३॥

अर्थ : यद्यपि भवानी ने प्रगट नहीं कहा। पर अन्तर्यामी हर ने सब जान लिया। कहा कि सती! सुनो तुम्हारा स्वभाव स्त्री का है। ऐसा सन्देह मन में कभी नहीं लाना चाहिए। जहाँ 'तन काऊ' पाठ है वहाँ यह अर्थ करना चाहिए कि ऐसा तनिक भी संशय मन में नहीं धारण करना चाहिए।

व्याख्या : मन में तो सोचती ही थी, प्रकट न कहा। डर था कि अप्रसन्न हो जायेंगे कि मुझ पर इसे विश्वास नहीं है। जिसे मैं प्रणम्य समझता हूँ उसपर जीव होने का संशय करती है। पर हर अन्तर्यामी हैं, सब जान गये। समझा कि पूछने पर कहने से सामान्य बात हो जायगी। बिना पूछे कहेंगे तो विश्वास होगा कि जो मन की बात जान लेता है उसका कहना अन्यथा नहीं हो सकता और संशय जाता रहेगा।

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' यह नियम ऐसे अवसर के लिए नहीं। ऐसे संशय का इनके हृदय में क्षण भर के लिए होना भी इन्हें अपने पद से गिरा सकता है। उस महाप्रभु के पररूप के देखने में देवता भी असमर्थ हैं। जब वह कृपासिन्धु लोकमङ्गल के लिए शरीर धारण करते हैं तभी उनके पूजर्भ का मार्ग निरर्गल होता है। तो उनके अवतीर्ण होने पर संशय करना तो उस कृपाधारा से अपने को वञ्चित करना है जो लोकमङ्गल के लिए पृथ्वी पर बह रही है। 'यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः। अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने। वि० पु०। अतः बिना पूछे भी कहते हैं। 'नारिस्वभाव' से भाव यह कि तुममें जड़ता थी। यथा : राजकुमारि विनय हम करहीं। तिय सुभाव कछु पूछत डरहीं। विचार होता तो संशय उत्पन्न होते ही तुमको उसके निरसन का यत्न करना चाहिए था। सो मन में छिपाये बैठी हो। संशय छोड़ने से छूटता है, उसके बनाये रखने का प्रयत्न न होना चाहिए।

जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥४॥

अर्थ : जिनकी कथा का गान कुम्भज ऋषि ने किया और जिनकी भक्ति

मैंने मुनिजो को सुनाई वही रघुवीर मेरे इष्टदेव हैं जिनकी सेवा धीर मुनि सदा किया करते हैं।

व्याख्या : संकर जगत वंद्य जगदोसा। सुर नर मुनि सब नावति सीसा। का उत्तर देते हैं कि अभी-अभी उनकी कथा साक्षात् अगस्त्य जी ने गान की है और जिनकी भक्ति मैंने मुनिजी को सुनाई। यथा : रामकथा 'मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। रिषि पूछी हरि भगति सोहाई। कही संभु अधिकारी पाई। अतः उनके माहात्म्य से तुम परिचित हो। उनका दर्शन भी आज हो गया। उन्हें स्त्रीविरही न मानो। वे ही मेरे इष्टदेव हैं। राजपुत्र नहीं हैं। धीर मुनि उनकी सेवा करते हैं।

छं. मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

अर्थ : मुनि, धीर, योगी और सिद्ध निरन्तर शुद्ध चित्त से जिनका ध्यान करते हैं। वेद पुराण और शास्त्र नेति-नेति कहकर जिनकी कीर्ति का गान करते हैं। उन्हीं ब्रह्म व्यापक भुवनसमूह के पति, माया के स्वामी रामजी ने अपने भक्तों के लिए अवतार लिया है। क्योंकि रघुकुलमणि नित्य स्वतन्त्र हैं।

व्याख्या : भये मगन छवि तासु विलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहत न रोकी। के उत्तर में शिवजी कहते हैं : चारों मार्गवाले इन्हींका ध्यान करते हैं। १. मुनि से ज्ञानमार्गी कहा। २. धीर से उपासनामार्गी कहा। यथा : अस विचारि पंडित मोहि भजहीं। ३. योगी से योगमार्गी कहा। ४. सिद्ध से कर्ममार्गी कहा। 'ब्रह्म जो व्यापक' के उत्तर में कहते हैं : सोइ राम व्यापक ब्रह्म और विरज अज अकल अनीह अभेद के उत्तर में कहते हैं : भुवन निकाय पति मायाधनी तथा जाहि न जानत वेद के उत्तर में कहते हैं : कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं। यथा : वेदे रामायणे चैव हरिः सर्वत्र गीयते। अब 'सो कि देह धरि होइ नर' के उत्तर में कहते हैं 'अवतरेउ अपने भगतहित निज तंत्र नित रघुकुल मनी।

यह अट्ठाइस दल का कमल है। हरिगीतिका छन्द है। इस छन्द का वर्णन पहिले हो चुका है।

सो. लाग न उर उपदेसु, जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेसु, हरि माया बलु जानि जिय॥५१॥

अर्थ : यद्यपि शिवजी ने अनेक बार कहा तो भी सती जी के हृदय में उपदेश न लगा। महेश मन में हरिमाया का बल जानकर हँसकर बोले।

व्याख्या : शिवजी के वचन भ्रमतम के लिए सूर्य की किरणें हैं। सो हृदय में काम नहीं कर रहा है। बार बार प्रकाश डाल रहे हैं। भ्रमतम नहीं मिट रहा है।

समझ लिया कि इनके हृदय में हरिमाया काम कर रही है। तभी हमारे उपदेश का बल नहीं चल रहा है। हरिमाया के बल को पहचान लिया इसलिए हँसे। संशय[1] किसी तरह हटना ही चाहिए। अतः बोले :

जौ तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥
तब लगि बैठ अहौं बट छाहीं। जब लगि तुम ऐहहु मोहि पाहीं ॥१॥

अर्थ : यदि तुम्हारे मन में अति सन्देह है तो तुम जाकर परीक्षा क्यों नहीं लेती ? जब तक तुम मेरे पास आओ तब तक मैं इसी बरगद की छाया में बैठा हूँ।

व्याख्या : मेरे कहने पर भी यदि तुम्हारा सन्देह न जाता हो अति सन्देह हो तब तो दूसरा उपाय नहीं है। जाकर परीक्षा ले लो कि मेरे कहे हुए लक्षण रामजी में घटते हैं या नहीं। अति सन्देह बिना परीक्षा के जाता नहीं। सन्देह मिटाना ही चाहिए। परीक्षा लेने में मैं सहायक नहीं होऊँगा। तुम जाओ परीक्षा लो। मैं वट की छाया में बैठकर तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। परीक्षा लेकर यहीं चली आना। जल्दी न करना। विचारकर काम करना। तुम्हारे लौटने तक यहीं ठहरा रहूँगा।

जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी ॥
चलीं सती सिव आयसु पाई। करहिं बिचारु करौं का भाई ॥२॥

अर्थ : जिस प्रकार तुम्हारा यह भारी मोह भ्रम दूर हो वही यत्न विवेक से विचारकर करना। शिवजी की आज्ञा पाकर सती चलीं और मन में सोचने लगीं कि 'भाई ! क्या करूँ।'

व्याख्या : तुम्हें मोहान्धकार में भारी भ्रम हो गया है। उसे मिटाने के लिए परीक्षा करना। परन्तु मोहाविष्ट होने से परीक्षा लेने में अविवेक न हो जाय। बड़े की परीक्षा लेनी है। सो परीक्षा की ओर मत जाना। अपने भारी मोह भ्रम को मिटाने का यत्न करना

परीक्षा लेने की तो इच्छा थी ही। पर सती हैं बिना स्वामी की आज्ञा कैसे लें। सो आज्ञा पाते ही चल पड़ी। अब विचार करने लगीं कि क्या करूँ। 'भाई' सम्बोधन मन के लिए है। यथा : तरुपल्लव महँ रहा लुकाई। करै विचार करौं का भाई।

इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छ सुता कहुँ नहिं कल्याना ॥
मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥३॥

अर्थ : यहाँ शिवजी ने मन में यह अनुमान किया कि दक्ष की बेटी का कल्याण

---

[1] १. जिन भक्तों पर अनुग्रह करके भगवान् ने नर शरीर धारण किया वे ही यदि उनकी अवज्ञा करें तो इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या होगी। फिर भी शिवजी को परीक्षा के लिए सती को भेजना मंजूर है। पर उनके हृदय में एक क्षण के लिए ऐसा संशय रहने देना मंजूर नहीं है।

नहीं है। मेरे समझाने से भी सन्देह नहीं दूर होता। तो विधि विपरीत हैं। भलाई नहीं है।

व्याख्या : कथा में यह देखना आवश्यक होता है कि[1] ग्रन्थकार कहाँ हैं? बात स्पष्ट है कि ग्रन्थकार सती के साथ नहीं गये। महादेव जी के साथ रह गये। इसलिए कहते हैं कि यहाँ शङ्करजी ने मन में अनुमान किया कि जिसका मेरे उपदेश पर भी संशय नहीं जाता उसका कल्याण नहीं होता। दक्षसुता का भी मेरे कहने पर संशय नहीं जाता। अतः दक्षसुता का कल्याण नहीं। मेरे उपदेश से संशय जाने की विधि है। जिस भाँति सूर्य की किरणों से अन्धकार के हटने की विधि है। मेरे कहने पर संशय का न जाना और सूर्य के किरण पड़ने पर भी अन्धकार का न हटना एक बात है। इसलिए यह बात विधि विपरीत है। अतः निश्चय भलाई होनेवाली नहीं है। अथवा ब्रह्मा बाएँ हो गये हैं। तभी हमारे कहने पर भी संशय नहीं जाता। नहीं तो हमारे संकल्प से संशय चला जाता है। यथा : चित्रं बटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा। गुरोर्मौनेन व्याख्यानं शिष्याः संक्षीणसंशयाः। वट के पेड़ के नीचे विचित्र बात है कि शिष्य तो बूढ़े-बूढ़े हैं और गुरु जी युवा हैं। गुरुजी मौन होकर व्याख्यान दे रहे हैं और शिष्यों के सब संशय दूर हो जाते हैं। अतः 'भलाई नाहीं।'

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥
अस कहि लगे जपन हरि नामा। गई सती जहँ प्रभु सुखधामा ॥४॥

अर्थ : जो कुछ रामजी ने रच रक्खा है वही होगा। तर्क करके शाखा कौन बढ़ावे। ऐसा कहकर हरिनाम जप करने लगे। और सती वहाँ गईं जहाँ सुख के धाम प्रभु थे।

व्याख्या : पहिले सूक्ष्म जगत् में जो मानचित्र रामजी बना देते हैं वैसा ही इस जगत् में स्थूल रूप से होता है। उसे अन्यथा कोई नहीं कर सकता। अतः पुरुषार्थ परमार्थ सुधारने में करना चाहिए। यथा : मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि इन कौरवों को मैं पहिले ही मार चुका हूँ। हे अर्जुन तू निमित्तमात्र हो जा। तर्क करने से, उसमें शाखा पर शाखा निकलती ही जाती है। इसलिए कहा है कि तर्कोऽप्रतिष्ठः। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं। अतः सती जाकर क्या क्या करेगी और उसका क्या क्या फल होगा : यह सोचना व्यर्थ है। सोच से कोई उपकार नहीं होता। ऐसा कहकर 'हरि नाम' का जप करने लगे। क्योंकि यही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। यथा : उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना। चली सती सिव आयसु पाई से प्रसङ्ग छोड़ा था। अब फिर वहीं से उठाते हैं; गई सती जहँ प्रभु सुख धामा। प्रभु और सुखधाम कहकर सती का

---

[1] ग्रन्थकार सदा भगवान् के साथ रहते हैं और यदि भक्त और भगवान् दोनों की कथा आ पड़े तो अपने समाज के साथ अर्थात् भक्त के साथ रहते हैं। अतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में 'इहाँ' और 'उहाँ' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

भ्रम दिखलाया। जिसे उन्होंने स्त्रीविरह में दुःखी समझ रक्खा है वह सुखधाम हैं। यथा : सो सुखधाम राम अस नामा। जिसे 'नृपसुत' समझ रक्खा है वह प्रभु हैं।

दो. पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीताकर रूप ॥
आगे होइ चलि पंथ तेहिं, जेहिं आवत नरभूप ॥५२॥

अर्थ : बार बार मन में विचार करके और सीता का रूप धारण करके उस मार्ग में आगे होकर चलीं। जिस मार्ग से मनुष्यों के राजा आ रहे थे।

व्याख्या : जहाँ से चलीं वहीं से विचार प्रारम्भ हुआ। यथा : करौं का भाई। रास्ते भर विचार करती रहीं। स्वामी का आदेश है अतः बार बार विचार करके बात ठीक कर ली कि सच्ची परीक्षा तो तभी होगी जब मैं सीता का रूप धरूँ। यदि मनुष्य होंगे तो मेरी माया का पार न पा सकेंगे। अतः सीता का रूप धारण करके जिधर से रामजी आते रहे उधर ही चलीं। मानो सीता वन में भूलती भटकती चली आ रही हैं। अभी रामजी आश्रम से बहुत दूर नहीं हैं। खोजना प्रारम्भ हुआ है। अतः सीता के धोखे में आ जावेंगे। देखते ही खिल उठेंगे। तब मैं अन्तर्धान हो जाऊँगी। इस भाँति परीक्षा भी हो जायगी और उनकी कोई हानि भी न होगी।

लछिमन दीख उमा कृत वेषा। चकित भये भ्रम हृदयँ विसेषा ॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा ॥१॥

अर्थ : उमा के बनावटी रूप को लक्ष्मणजी ने देखा। चकित हो उठे। हृदय में विशेष भ्रम हुआ। अति गम्भीर थे। कुछ कह नहीं सकते थे। वे मतिधीर प्रभु का प्रभाव जानते थे।

व्याख्या : उमा कहने का भाव यह कि यह तो शिवजी की शक्ति हैं। ओर्मा उमा। उ जो शिव उनकी लक्ष्मी हैं। लक्ष्मणजी चकित हैं कि यह तो शिवजी की शक्ति हैं। इन्होंने जानकी जी का वेष क्यों बनाया है ? विशेष भ्रम हो रहा है कि मेरे समझने में कुछ चूक तो नहीं हो रही है। या कोई ऐसी माया हो रही है जो मैं समझ नहीं रहा हूँ।

श्रीराम जी के प्रभाव को मतिधीर लक्ष्मणजी जानते हैं कि इनसे कोइ बात छिप नहीं सकती। ये स्वयं जैसा उचित समझेंगे करेंगे। मेरे कुछ भी कहने का मतलब यह होगा कि मुझे सरकार की सर्वज्ञता में सन्देह है। अतः कुछ नहीं कह सकते। गम्भीर भाव से स्थित हैं।

सती कपटु जानेउ सुर स्वामी। सबदरसी सबअंतरजामी ॥
सुमिरत जाहि मिटै अग्याना। सोइ सरबग्य रामु भगवाना ॥२॥

अर्थ : सती के कपट को सुरस्वामी जान गये। क्योंकि सब कुछ देखनेवाले और सबके हृदय के प्रेरक हैं। जिनके स्मरण से अज्ञान मिट जाता है वही सर्वज्ञ भगवान् रामजी हैं।

व्याख्या : सती साक्षात् माया है। यथा : तुम्ह माया भगवान् सिव सकल

जगत् पितु मातु। इनके कपट को ब्रह्मादि नहीं जान सकते। परन्तु देवताओं के स्वामी रामजी जान गये कि सीता के वेष में सती हैं। वे सबदर्शी हैं। सब देख रहे हैं कि महादेव जी बरगद तले बैठे हैं और वहीं से ये आई हैं। वे अन्तर्यामी हैं। भली भाँति जानते हैं कि शङ्करजी का उपदेश इनके गले नहीं उतरा। इसलिए परीक्षा लेने के लिए सीता बनकर आई हैं।

ज्ञानमार्गं तु नामतः। जिनके नाम से ज्ञानमार्ग की प्राप्ति होती है। अज्ञान का हटना और ज्ञान का होना एक बात है। वही सर्वज्ञ भगवान् रामजी नामी हैं। उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति। उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियों की गति और अगति, विद्या और अविद्या को जानता हो उसे भगवान् कहते हैं। सो सर्वज्ञ भगवान् रामजी को क्या अज्ञात रह सकता है?

सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥
निजमायाबलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥३॥

अर्थ: सती ने वहाँ भी छिपाव करना चाहा। स्त्री के स्वभाव का प्रभाव देखो। अपनी माया के बल की प्रशंसा मनमें करके रामजी हँसकर कोमल वाणी बोले।

व्याख्या: भगवान् सर्वज्ञ से छिपाव चाहना चपलता है। यह स्त्रीस्वभाव है: जो बात छिप नहीं सकती उसे भी छिपाती रहती हैं। कवि कहते हैं कि यह स्वभाव का प्रभाव है। स्वभावो दुरतिक्रमः।

कथा के अनादर के समय से ही माया की प्रेरणा हुई। उसी के सामने शिवजी के उपदेश का बल न चला। बात यहाँ तक बढ़ी कि अब ये भी सीता बनकर आई हैं। अतः अघटितघटनापटीयसी की हृदय से प्रशंसा की। और मृदु वाणी हँसकर बोले। सती के सीता बनने पर हँसे हैं।

जोरि[1] पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥४॥

अर्थ: प्रभु ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पिता के सहित अपना नाम लिया। फिर कहा कि वृषकेतु कहाँ हैं। आप अकेली वन में क्यों फिर रही हैं?

व्याख्या: प्रभु ने सविधि प्रणाम किया मानों बहुत दिनों का परिचय है। फिर भी सन्देह न रहे: इसलिए पिता के समेत अपना नाम लिया। दाशरथी रामोऽहं त्वामभिवादये[2]। यथा: पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दण्ड प्रनामा। पिता के समेत अपना नाम लेकर बड़े को प्रणाम करना शास्त्रसम्मत है। जहाँ 'पिता समेत लीन्ह हरि नामू' पाठ है वहाँ यह अर्थ करना चाहिए कि सती को पिता समेत नाम लेकर प्रणाम किया। यथा सति! दाक्षायनि[3]! त्वामभि-

---

[1] पिहितालङ्कार है।

[2] मैं दशरथ का बेटा राम हूँ तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

[3] हे दक्ष की पुत्री सती मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

वादये। इस भाँति धर्मपत्नी को प्रणाम नहीं किया। भाव यह कि आप देवी हैं, सीता नहीं हैं; मैं पहिचानता हूँ। दूसरा यह कि मैं नृपसुत हूँ। अतः आप सर्वथा प्रणम्य हैं।

देवियों में भी सती हैं। वृषकेतु को छोड़कर आयी हैं। इसलिए पूछते हैं : कहाँ वृषकेतू। परीक्षा लेने के लिए अकेली आयी हैं। इसलिए कहते हैं : विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू। अकेले स्त्री को वन में घूमना निन्द्य है। अतः इसका कारण पूछा। जिस सेवा के लिए आज्ञा हो मैं प्रस्तुत हूँ। कम से कम विष्णु तो अवश्य हैं। यह प्रमाण तो सती को मिल गया।

दो. राम वचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं, चलीं हृदयँ बड़ सोचु ॥५३॥

अर्थ : रामजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर अति सङ्कोच उत्पन्न हुआ और सती डरती हुई महेश के पास चलीं और हृदय में बड़ा सोच उत्पन्न हुआ।

व्याख्या : रामजी के वचन मृदु थे परन्तु गूढ़ थे। उनमें छिपा हुआ अर्थ था। हाथ जोड़कर पितृनामोच्चारण पूर्वक प्रणाम। वृषकेतु के विषय में प्रश्न। जंगल में घूमने के विपय में प्रश्न, अत्यन्त स्वाभाविक थे। फिर भी सती के लिए उसमें बड़े बड़े अर्थ भरे थे। ऐसे वचन को सुनकर सती को अति सङ्कोच हुआ। उत्तर न दे सकीं। अपने रूप में हो गयीं। मुँह फेर लिया और शङ्कर भगवान् के पास चलीं। हृदय में बड़ा सोच हुआ उसे कहती हैं।

मैं संकर कर कहा न माना। निज अग्यानु राम पर आना ॥
जाइ उतर अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा ॥१॥

अर्थ : मैंने शङ्कर जी का कहा न माना और अपने अज्ञान को रामजी पर रक्खा। अब जाकर मैं क्या उत्तर दूँगी? हृदय में बड़ा दारुण दाह : जलन : उत्पन्न हुआ।

व्याख्या : मुझसे दो-दो चूकें हुईं और दोनों असाधारण। पहिले तो यह कि मैंने शङ्कर की आज्ञा नहीं मानी। यदि मानी होती तो इस दुर्गति में न फँसती। दूसरी यह कि अज्ञान मुझे था और मैंने रामजी को अज्ञानी माना। मेरी आँख बादल से ढकी थी और मैं समझती थी कि सूर्य बादल से ढक गये।

अब तो यही उत्तर देना शेष रहा कि मेरे सीता के रूप धारण करने पर भी उन्होंने पहिचान लिया। बड़ी भारी चूक से बड़ा भारी दाह हृदय में हुआ।

जाना राम सती दुखु पावा। निज प्रभाउ कुछ प्रगटि जनावा ॥
सतीं दीख कौतुक मग जाता। आगें राम सहित श्री भ्राता ॥२॥

अर्थ : रामजी ने जान लिया कि सती दुःखी हो गयीं। अतः अपना कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखलाया। सती ने मार्ग में जाते यह कौतुक : तमाशा देखा कि रामजी सीता और लक्ष्मण के सहित आगे हैं।

व्याख्या : दु:खी को और दु:खी कैसे करें और शिवजी के वचन को सत्य करके दिखलाना भी कर्त्तव्य है। अत: पहाड़ जैसे प्रभाव में से राई भर दिखला दिया। पहिले बातचीत में ही जना दिया था। अब प्रकट रूप में दिखावेंगे। यहाँ अल्प माया दिखलाते हैं। वहाँ कौतुक शब्द का प्रयोग होता है। यथा : माया नाथ अस कौतुक करयौ। देखत परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयौ। दिखलाया कि सीता का वियोग नहीं हुआ है। साथ में हैं परन्तु तापस वेष है।

फिर चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर वेषा ॥
जहँ[1] चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना ॥३॥

अर्थ : पीछे की ओर फिरकर देखा तो भाई और सीता जी के साथ प्रभु को सुन्दर वेष में पाया। जिधर देखती हैं उधर ही रामजी विराजमान हैं और प्रवीण सिद्ध और मुनीश उनकी सेवा कर रहे हैं।

व्याख्या : पीछे देखा तो उधर भी रामजी हैं। सोचा कि मैंने तो उनकी ओर से मुँह फेर लिया था। इधर कहाँ से आगये। इधर भी सीता-लक्ष्मण साथ हैं परन्तु तीनों मूर्ति नृप वेष में हैं। जिसमें यह न समझें कि जिधर मुँह फेरती हूँ उधर ही आ खड़े होते हैं। माया का वेग बढ़ा। अब जहाँ देखती हैं वहीं प्रभु विराजमान हैं। सिद्ध मुनि सेवा कर रहे हैं। सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनिधीरा। की सत्यता दिखला रहे हैं। भाव यह कि निर्गुण रूप से तो वे व्यापक हैं ही सगुण रूप से भी व्यापक हैं।

देखे सिव विधि बिस्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक ते एका ॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध वेष देखे सब देवा ॥४॥

अर्थ : अनेक शिव ब्रह्मा और विष्णु देखे जो एक से एक बढ़कर असीम प्रभाव वाले थे प्रभु के चरणों की वन्दना सेवा करते थे। देवताओं को अनेक वेषों में देखा।

व्याख्या : माया का वेग और बढ़ा। अब देखती हैं कि सिद्ध मुनियों के स्थान पर त्रिदेव सेवा कर रहे हैं। भाव यह कि ये विष्णु नहीं हैं। उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। ऐसे देव हैं। मुनि धीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं। कहि नेति निगम पुराण आगम जासु कीरति गावहीं। सो राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी। इस शिवजी के कहे हुए वाक्य की सत्यता दिखला रहे हैं। भुसुण्डि ने लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु, दिसि त्राता। देखा था। यहाँ लोक न दिखाकर संक्षेप में अनेक त्रिदेव दिखाया। 'मासानां मासोत्तमे मासे' की भाँति सब का प्रभाव विचित्र था इसलिए 'एक से एका' कहा।

दो. सती बिधात्री इंदिरा, देखी अमित अनूप।
जेहि जेहि वेष अजादि सुर, तेहि तेहि तन अनुरूप ॥५४॥

---

[1] यहाँ विशेष द्वितीय है।

अर्थ : असंख्य अनुपम सती ब्रह्माणी और लक्ष्मी देखी। जिस जिस वेष में ब्रह्मादि देवता थे उसी उसी के अनुरूप वेप में वे भी थीं।

व्याख्या : यहाँ वेष से अभिप्राय रूप भूषण और वाहन से है। यथा : यस्य देवस्य यद्रूपं यथाभूषणवाहनम्। तस्य देवस्य तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ। दु. स. श.। जिस देवता का जैसा रूप था जैसा भूषण और वाहन था उस देवता की वैसी ही शक्ति असुरों से युद्ध करने आई।

भुसुण्डिजी ने कोटिन्ह ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र और उडुगन देखे थे। सती ने भी वैसा ही देखा। सब शिव मूर्तियों के साथ उन्हीं के रूप वेष और वाहनवाली सती थीं। ब्रह्मदेव के साथ वैसी ही ब्रह्माणी थीं। विष्णु मूर्तियों के साथ लक्ष्मी थीं। असंख्य होने से अमित कहा। सभी देवता विविध वेष में थे। इसीलिए उनकी शक्तियाँ भी विविध वेष में थीं। एक की उपमा दूसरे से नहीं दी जा सकती थी। माया का वेग और बढ़ा।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥१॥

अर्थ : जहाँ तहाँ जितने रघुपति देखे, शक्तियों के सहित उतने ही सारे देवताओं को भी देखा। संसार में जितने चराचर जीव हैं उन सबको अनेक प्रकार का देखा।

व्याख्या : पहिले कह चुके हैं कि : जहँ देखहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना। सो वहाँ केवल सिद्ध मुनीश ही नहीं रहे, शक्तियों के साथ सारे देवता भी वहाँ वहाँ थे। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा विष्णु और शिव दूसरे ही दूसरे होते हैं और उन ब्रह्माण्डों के जीव भी भिन्न भिन्न आकार प्रकार के होते हैं। सो पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड के त्रिदेवों के साथ साथ उन उन ब्रह्माण्डों के सारे जीव भी दिखलाई पड़े।

पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेखा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न वेष घनेरे॥२॥

अर्थ : अनेक वेष धारण किये हुए देवता लोग रामजी की पूजा कर रहे हैं परन्तु रामजी का दूसरा वेष नहीं देखा। सीता सहित रामजी भी बहुत देखे पर उनके अनेक वेष नहीं थे।

व्याख्या : वे सारे ब्रह्मादि देवता जहाँ तहाँ रामजी की पूजा कर रहे हैं। उन उन ब्रह्माण्ड के देवताओं के रूप में तो भेद है। यथा : सब प्रपंच तहँ आनहि आना। पर राममूर्तियों के रूप में भेद नहीं है क्योंकि रामजी माया से परे हैं। सब राममूर्तियों के साथ सीता जी भी हैं। कहीं सीतारहित राम हैं ही नहीं। यहाँ सीताजी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के प्रधान प्रधान दृश्य ही देख रही हैं। सो भी उस वर्णन के अनुसार जो शिवजी ने पहिले किया था। यथा : सोइ मम इष्ट देव रघुवीरा। सेवत जाहि सदा मुनिधीरा।

सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता । देखि सती अति भई सभीता ॥
हृदयकंप तन सुधि कछु नाहीं । नयन मूँदि बैठीं मगमाहीं ॥३॥

अर्थ : उन्हीं रामजी, उन्हीं लक्ष्मणजी और उन्हीं सीताजी को देखकर सती जी बहुत डर गईं । हृदय काँपने लगा और तन की सारी सुधबुध जाती रही । आँख मींचकर रास्ते में ही बैठ गईं ।

व्याख्या : सती जी का ध्यान पहिले रामजी पर गया । सो जगद्व्यापी वैषम्य में एक ही साम्य दृष्टिगोचर हुआ । रामजी सर्वत्र एक ही देख पड़े । तब सीताजी पर दृष्टि डाली तो वे भी सर्वत्र एक सी ही देख पड़ीं अर्थात् मूल प्रकृति में भी कहीं भेद नहीं दिखाई पड़ा । तब लक्ष्मण जी पर ध्यान गया तो वे भी सर्वत्र एक से ही दिखाई पड़े । जाग्रत् के विभु में भी कहीं अन्तर नहीं प्रतिभात हुआ । अपनी माया उन्हें दिखाने चलीं थीं । उसने बिलकुल काम नहीं किया । अब जिसे माया दिखाने चली थीं उसकी ही माया का उन्हें स्वयं पार नहीं मिल रहा है । शिवजी की बातें आँख के सामने आ गईं । यह मैं क्या देख रही हूँ ? क्या हो रहा है ? अत्यन्त आश्चर्यमय दृश्य की बढ़ती हुई विषमता को देखकर अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ । गूढ़ वचन सुनकर ही डर गई थीं । अब उनकी माया आँखों देखकर तो अत्यन्त डर गईं । चेत नहीं कि मैं कहाँ हूँ । रास्ते में हीं बैठ गईं । अब माया के देखने में भी असमर्थ हैं । इसलिए आँखें मींच लीं ।

बहुरि विलोकेउ नयन उघारी । कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी ॥
पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा । चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा ॥४॥

अर्थ : फिर जब आँख खोलकर देखा तो दक्षकुमारी को कुछ भी दिखाई न पड़ा । बार बार रामजी के चरणों में सिर नवाकर जहाँ शङ्कर जी थे वहाँ चलीं ।

व्याख्या : परीक्षा हो गई । जितना शङ्कर जी ने संशयापनोदन के लिए कहा था उतनी बातें स्पष्ट दिखला दी गईं । अत्यन्त भयभीत सती जी को देखकर करुणाकर भगवान् ने अपनी माया हटा ली । तो वहाँ कुछ भी नहीं । यथा : जब हरि-माया दूरि निवारी । नहिं तहँ राम न राजकुमारी ।

'भगवान् स्वतन्त्र हैं, निश्चय उन्होंने ही अवतार धारण किया है ।' यह विश्वास हृदय में हो गया । मुझसे बड़ा अपराध बन पड़ा जो मैंने उनकी परीक्षा ली । उन्हें नृपतनय माना । अतः अपराध क्षमापन के लिए बार बार प्रणाम करती हैं । अब वहाँ ठहरने का काम न रह गया । और माया हटने से विकलता भी दूर हुई । इसलिए उस वट विटप के पास चलीं । जहाँ बैठे हुए शिवजी उनकी बाट जोह रहे थे ।

दो. गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात ।
लीन्हि परीछा कवन विधि, कहहु सत्य सब बात ॥५५॥

अर्थ : जब पास पहुँचीं तब शिवजी ने हँसकर कुशल पूछी कि तुमने किस तरह परीक्षा ली। सब बातें सत्य सत्य कहो।

व्याख्या : वहाँ रामजी ने हँसकर प्रणाम किया। यथा : बोले बिहँसि राम मृदुबानी। यहाँ शङ्करजी हँसकर कुशल पूछ रहे हैं। कैसा ही बड़ा कोई क्यों न हो चूक हो जाने से हँसी का पात्र हो जाता है। अकल्याण की आशंका से पहिले कुशल ही पूछी। यथा : दच्छसुता कर नहिं कल्याना। उसके बाद परीक्षा की विधि पूछी। परीक्षा की विधि से चूक होने का पहिले से ही भय था। यथा : जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी। करेउ सो जतन बिबेक बिचारी। उत्तर देते न देखकर कहते हैं। कहो सत्य सब बात, चूक छिपाने का प्रयत्न न करो।

सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥
कछु[1] न परीछा लीन्हि गुसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥१॥

अर्थ : सती ने रामजी के प्रभाव को समझकर डर के मारे शिवजी से छिपाव किया और कहा : हे स्वामिन्! मैंने कुछ परीक्षा नहीं ली। आप की ही भाँति प्रणाम कर दिया।

व्याख्या : सती ने रामजी के अचिन्त्य प्रभाव को जब समझा शिवजी के उपदेश पर जब ध्यान दिया कि 'जैसे मिटै मोह भ्रम भारी। करेउ सो जतन बिबेक बिचारी। और अपने अविवेक को देखा तब भय के वश में हो गईं। अपने वश में न रह गईं। यथा : मैं बन दीख राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहिं सुनाई। इसीलिए सर्वज्ञ शिवजी से छिपाव किया। कह दिया : कछु न परीछा लीन्ह गोसाईं। इस पर पूछेंगे। अन्ततोगत्वा तुमने उनके सामने जाकर किया क्या? इसलिए साथ ही यह भी कह दिया कि कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं : बात सत्य ही कही, पर कुछ बीच की बात छिपा ली।

जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥२॥

अर्थ : जो आपने कहा वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मन में इस बात का अत्यन्त विश्वास है। तब शिवजी ने ध्यान धरके देखा तो सती ने जो जो चरित किये थे सो सब जान गये।

व्याख्या : इतना कहने पर भी शङ्का समाप्त नहीं होती। फिर शङ्का उठेगी कि तुम तो यहाँ से परीक्षा लेने गई थी। पर परीक्षा ली क्यों नहीं। इसलिए यह भी कह डाला कि आपकी बात झूठी नहीं हो सकती। इस बात पर मेरा पूरा विश्वास है। उस विश्वास के सामने तुच्छ संशय ठहर न सका। पर शङ्करजी को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च। स्त्रियों का और राजकुल का विश्वास नहीं करना चाहिए। भरत

---

[1] १. छेकापन्हुति है।

जी कैकेयी से कहते हैं : भूप प्रतीति तोर किमि कीन्हीं। मरन काल विधि मति हरि लीन्हीं। सो शिवजी ने विश्वास नहीं किया। जो संशय मेरे इतने समझाने पर न मिटा वह एकाएक कैसे मिट गया। इसलिए ध्यान किया। शङ्करजी को सब बातों के जानने के लिए केवल वृत्ति के अन्तर्मुखीन करने की आवश्यकता थी। ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा सती के किये हुए सब चरित को जान लिया। सती ने यहाँ भी माया की। तुम जो कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई। यह बात उन्होंने बिलकुल ठीक कही। इस समय उनके मन में पूरी प्रतीति है कि शिवजी का कहा मिथ्या नहीं हो सकता। स्वयं आँख से देख चुकी हैं। पहले भी ऐसी ही प्रतीति थी। यथा : संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरवज्ञ जान सबु कोई। पर यहाँ ऐसे अवसर पर कहा गया कि वह : कछु न परीछा लीन्ह गोसाईं का पोषक हो गया। सती ने छिपाना चाहा। इसलिए शिवजी को ध्यान करना पड़ा नहीं तो बिना ध्यान किये ही सती के मन की बात जान ली थी। यथा : हर अन्तर्यामी सब जाना।

बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा॥
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय विचारत संभु सुजाना॥३॥

अर्थ : फिर उन्होंने रामजी की माया को प्रणाम किया। जिसने प्रेरणा करके सती से झूठ बोलवा दिया। सुजान महादेव जी मन में विचार करते हैं कि हरिइच्छा रूपिणी भवितव्यता बलवती है।

व्याख्या : शिवजी भलीभाँति जानते हैं कि सती झूठ बोलनेवाली नहीं चाहे जो हो। पर यह जानते हैं कि इस समय सती में हरिमाया काम कर रही है। यथा : लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहँसि महेस हरिमाया बल जानि जिय। उस समय भी हरिमाया को सिर नवाया था। अब फिर उसे सिर नवा रहे हैं। सती के प्रसङ्ग में हरिमाया को यत्न करना पड़ा था। नहीं तो सती किसी के वश में आनेवाली नहीं। श्रीरामजी सती को सीताजी के रूप में देखकर स्वयं अपनी माया के बल की प्रशंसा करने लगे। यथा : निज माया बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी। अब सती जी को झूठ बोलते जानकर शिवजी उसे नमस्कार कर रहे हैं। क्योंकि उस माहामाया के आगे किसी का वश नहीं चलता। यथा : सिव बिरंचि कहँ मोहइ को है बपुरा आन। अस जिअ जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान्। ज्ञानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन पति कर जान। ताहि मोह माया नर, पामर करहिं गुमान।

फिर भी सुजान शिवजी ने सती को दोष नहीं दिया। देखा कि यहाँ हरिइच्छा रूपिणी भवितव्यता काम कर रही है। इसके आगे हमारे उपदेश ने भी काम नहीं किया। मोह मिटाने के यत्न ने भी नहीं काम किया। सामान्य भावी होती तो कभी मिट गई होती। यथा : भाविहु मेटि सकै त्रिपुरारी। पर यह हरिइच्छा रूपी भावी मिटनेवाली नहीं है। यह कुछ करके रहेगी।

सती कीन्ह सीता कर वेषा । सिव उर भयउ विषाद विसेषा ॥
जौं अब करउँ सती सन प्रीती । मिटइ भगति पथु होइ अनीती ॥८॥

अर्थ : सती ने जो सीता का वेष किया । इस वात से शिवजी के हृदय में विशेष विषाद हुआ । यदि मैं सती से प्रीति करता हूँ तो भक्ति-मार्ग गिरता है और वड़ी अनीति होती है ।

व्याख्या : विषाद तो पहिले ही हुआ था । जब उनके उपदेश देने पर भी सती का संशय नहीं गया और उन्हें परीक्षा लेने की आज्ञा देनी पड़ी । यथा : दच्छसुता कर नहि कल्याना । मोरेउ कहे न संशय जाहीं । विधि विपरीत भलाई नाहीं । अब यह जानने पर कि सती ने सीता का वेष धारण किया विशेष विषाद हुआ । स्वामिनी का वेष धारण करनेवाली स्त्री पर पत्नीभाव नहीं रक्खा जा सकता । पत्नीभाव का त्याग ही वास्तविक त्याग है और स्वजन के लिए त्याग ही वध है । अतः विशेष विषाद हुआ ।

भक्ति के आचार्य होकर मर्यादा पालन न करने से भक्तिपथ ही मिट जायगा । ईश्वर हैं मर्यादापथ किसी प्रकार नष्ट न होने देंगे । यथा : जौं नहिं दंड करौं खल तोरा । भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा । यहाँ प्रीति शब्द से दाम्पत्यभाव अभिप्रेत है । नीतिविरोध रामजी को अच्छा नहीं लगता । यथा : नीति विरोध सोहाइ न मोहीं । पाषाण भी जब एक वार पूज्य के आकार से आकारित हो जाता है तो उस पर से पाषाण वुद्धि हटा ली जाती है । यह नीति है । अतः दाम्पत्यभाव न रखना ही प्राप्त हुआ ।

दो. परम पुनीत[1] न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पापु ।
प्रगटि न कहत महेसु कछु, हृदयँ अधिक संतापु ॥५६॥

अर्थ : वहुत ही पवित्र है इसलिए छोड़ा नहीं जा सकता और प्रेम करने में वड़ा पाप है । प्रकट रूप से महादेव जी कुछ नहीं कहते हैं । पर उनके हृदय में वड़ा दुःख है ।

व्याख्या : पापिनी स्त्री त्यागी जाती है । नहीं तो किसी अवस्था में स्त्री नहीं त्यागी जाती । भगवती श्रुति कहती है 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' भगवान् वशिष्ठदेव कहते हैं : आत्मा हि दारा सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् । वा. रा. । अर्थात् पत्नी

---

[1] परीक्षा लेने में छल से काम लिया ही जाता है । वह छल दोषावह नहीं है । यथा : प्रथम गये जहँ रही भवानी । बोले मधुर वचन छलसानी । क्योंकि उसमें भाव दुष्ट नहीं रहता । यहाँ परीक्षा लेने में थोड़ा सा अविवेक हो गया । रामजी का अपमान हो गया । वह भी हरिमाया के वश होने के कारण । यथा : वहुरि राम मायहि सिर नावा । प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा । अतः शिवजी सती का 'अघ' नहीं मानते । याज्ञवल्क्य ने भी नहीं माना । इसलिए परम पुनीत कहते हैं । शिवजी विचारते हैं कि सती को पाप नहीं है । पर इनसे प्रेम करने में मुझे पाप है ।

अपनी आधी देह है। श्रुतिः। सभी गृहस्थों की स्त्री अपनी देह होती है। फिर सती ऐसी पवित्र स्त्री का त्याग कैसे किया जाय। प्रेम का त्याग ही त्याग है और प्रेम करने से सनातन सेतुभङ्ग का : भक्तिपथ के मिटाने का पाप होता है। सती को कष्टकर होने से शिवजी प्रकट कुछ नहीं कहते हैं। परन्तु हृदय में इष्ट वियोग जनित सन्ताप अधिक हो रहा है। अथवा त्यागने से सती को महान् दुःख होगा। इस बात का सन्ताप है।

तब संकर प्रभुपद सिरु नावा। सुमिरत रामु हृदय अस आवा॥
एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥१॥

अर्थ : तब शिवजी ने रामजी के चरणों में सिर नवाया। और रामजी को स्मरण करते ही : यह बात : मन में आई कि इस शरीर से सती की मेरी भेंट नहीं होगी। ऐसा संकल्प शिवजी ने मन में किया।

व्याख्या : पहिले माया को सिर नवाया था। यथा : बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहिं झूठ कहावा। अब अधिक सन्ताप होने से उस मायी को सिर नवाते हैं। यथा : राम प्रनाम महा महिमाखनि। सकल सुमंगल मनिजनी। शिवजी का यह शिद्धान्त है कि तर्क कोटि बढ़ने नहीं देते। उसे रोककर नाम स्मरण में लग जाते हैं। यथा : होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा। अस कहि जपन लगे हरिनामा। इसी भाँति यहाँ भी तर्क करना वन्द करके प्रभु को प्रणाम किया और नाम जपने लगे। विचार करने में निश्चय पर नहीं पहुँच सके थे। सो नामस्मरण करते ही आप से आप निश्चयकारक बात मन में उठी।

जो शरीर एक बार परमाराध्य देवता के रूप में परिणत हो चुका उसे अङ्कारूढ तो नहीं करूँगा। ऐसा संकल्प मन में किया। 'शिव संकल्प' यहाँ श्लिष्टपद है। अर्थ होगा शिव ने संकल्प मन में किया। अथवा कल्याणकारी संकल्प मन में किया। यथा : तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। संकल्प को कल्याणकारी इसीलिए कहा कि सदा की सङ्गिनी सती का सर्वथा त्याग भी नहीं हुआ और नीति तथा भक्तिपक्ष की रक्षा हो गई।

अस विचारि संकरु मतिधीरा। चले भव सुमिरत रघुवीरा॥
चलत गगन भै गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई॥२॥

अर्थ : ऐसा विचारकर मतिधीर शिवजी रघुवीर को स्मरण करते हुए घर चले। चलते समय सुन्दर आकाशवाणी हुई : महेश की जय हो, आपने भक्ति की अच्छी दृढ़ता की।

व्याख्या : ऐसा विचार करके अर्थात् ऐसा मानसिक संकल्प करके घर चले। पहिले ही मुनि से विदा माँगकर घर चले थे। पर भवानी के कारण बीच में बरगद तले रुकना पड़ा। भवानी परीक्षा करके लौट आयीं। उनकी बातें सुनीं। ध्यान करके सब बात जान गये। विशेष विषाद हुआ। सती के त्याग का संकल्प करके

तब फिर घर चले। इतना बड़ा स्वार्थ त्याग किया। इसलिए मतिधीर कहते हैं। पहिले कहा था : चले भवन संग दच्छकुमारी। इस समय दक्षकुमारी का साथ नहीं कहते हैं। क्योंकि इस समय वे परित्यक्ता हैं। 'सुमिरत रघुवीरा' कहने का यह भाव है कि सतीविषयक विचार अव मन में नहीं है। इष्टदेव का स्मरण करते चले।

किसी भारी कार्य की उपस्थिति में अधिकारी देवता लोग आकाशवाणी द्वारा अपनी सम्मति व्यक्त करते हैं। यथा : भई वहोरि वरगिरा अकासा। विप्रहु साप विचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा। जग भय मगन गगन भइ वानी। लखन वाहुवल विपुल वखानी। मनभवानी होने से वाणी को सुहाई कहा। इस समय भक्ति पथ के मिटने का संयोग उपस्थित हो गया था। महामङ्गलमय मार्ग[1] का लोप हुआ चाहता था। महेश ने अपने सुख-दुःख का विचार न करके उस मार्ग को और भी दृढ़ बना दिया। इसलिए देवताओं ने जय जय कार किया।

अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। राम भगत समरथ भगवाना॥
सुनि नभ गिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहिं समेत सँकोचा॥३॥

अर्थ : तुम्हारे बिना ऐसी प्रतिज्ञा कौन कर सकता है। आप रामजी के भक्त समर्थ और भगवान् हैं। आकाशवाणी सुनकर सती के मन में सोच हुआ। शिवजी से संकोच के साथ पूछा।

व्याख्या : रामव्रतधारियों में शिवजी ही सर्वश्रेष्ठ हैं। दूसरे किसी में ऐसा सामर्थ्य नहीं कि निष्पाप सती ऐसी स्त्री का परित्याग कर सके। यथा : सिव सम को रघुपति व्रतधारी। विनु अघ तजी सती अस नारी। शिवजी भगवान् हैं। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य को भग कहते हैं। जिसमें ये छहों गुण हों वह भगवान् है। विना प्रवल वैराग्य और अप्रतिम ज्ञान के सर्वगुणसम्पन्ना निष्पापा प्रियतमा का त्याग अशक्य है। इसलिए 'रामभगत समरथ भगवाना' कहा।

सती से इसी समय बड़ी भारी चूक हुई है और इसी समय शङ्कर जी के प्रण करने का संवाद मिल रहा है। अतः सन्देह के लिए यथेष्ट स्थान है कि कोई प्रतिज्ञा सती के विरुद्ध हुई है। स्त्री को अधिकार है कि पति के किसी कार्य करने का कारण पूछे? क्योंकि विवाह के समय प्रतिज्ञा हो जाती है कि अर्थ, धर्म और काम में मैं इसका अतिक्रमण नहीं करूँगा। अतः पूछने में कोई संकोच की वात न थी परन्तु सापराध होने से संकोच हो रहा है।

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला॥
जदपि सतीं पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती॥४॥

अर्थ : हे कृपालु! कहिये आपने कौन सी प्रतिज्ञा की है? हे प्रभो! आप

---

[1] प्रतीकोपासना भक्तिपथ का प्राण है। मूर्तिपूजा ईश्वरोपासना की स्वाभाविकी वैज्ञानिक पद्धति है। सभ्यता प्रतीकोपासना के सिद्धान्त पर ही खड़ी है।

'प्रीति प्रतीत बढ़ी तुलसी तवते सब पाहन पूजन लागे।' कवि.

सत्यधाम और दीनदयाल हैं। यद्यपि सती ने बहुत भाँति पूछा पर त्रिपुरान्तक ने नहीं कहा।

व्याख्या : आकाशवाणी सुनकर सती जी उत्सुकता के अत्यन्त बढ़ जाने से दीन हो रही हैं। इसलिए दीनदयालु विशेषण दे रही हैं कि मैं दीन हूँ। आप दीनदयाल हैं। मैं कृपा की भिखारिणी हूँ। आप कृपालु हैं। कृपा करके कहिये। आप सत्यधाम हैं मैं ऐसी नहीं हूँ। आप प्रभु हैं मैं अबला हूँ। मुझे संशय में न रखिये। अपनी शपथ दिलाई। अपने प्रेम की शपथ दिलाई। सभी उपाय सामर्थ्य भर किये पर शिवजी त्रिपुरान्तक हैं। अपने लक्ष्य पर बड़े दृढ़ हैं। एक सहस्र वर्ष तक त्रिपुर पर लक्ष्य बाँधे ही रह गये। उन्होंने नहीं ही कहा। यहाँ बात को खोलना और लक्ष्य से विचलित होना एक बात थी। बात को खोलना अनुनय विनय को अवसर प्रदान करना था। इसलिए नहीं कहा।

दो. सतीं हृदय अनुमान किय, सबु जानेउ सरबग्य।
कीन्ह कपटु मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अग्य ॥५७॥ क
सो. जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाइ, कपटु खटाई परत पुनि ॥५७॥

अर्थ : सती ने अपने मन में अनुमान किया कि सर्वज्ञ ने सब जान लिया। मैंने शम्भु से कपट किया। स्त्री स्वभाव से ही जड़ और मूर्ख होती हैं।

प्रीति की अच्छी रीति देखिये कि पानी दूध के समान बिकता है। कपट खटाई के पड़ते ही दोनों अलग हो जाते हैं और रस नहीं रह जाता।

व्याख्या : शिवजी के कुछ उत्तर न देने से सती को मालूम हो गया कि सम्बन्ध नीरस हो गया। मेरे कपट को सर्वज्ञ शिवजी ने जान लिया। यह सती द्वारा अपने मन का अनुमान है।

कपट करौं अंतरजामिहु ते अघ व्यापकहि दुरावो : यह जड़ता और अज्ञता है। शिवजी धीर हैं मैं जड़ हूँ। यथा : सुख हरखहिं जड़ दुःख बिलखाहीं। दोउ समधीर धरहिं मन माहीं। मैंने भय से विकल होकर कपट किया। सर्वज्ञ से बात छिपानी चाही। यह अज्ञता है।

उदाहरण से स्पष्ट करती हैं। जल और दूध के मिलने से जल दूध के भाव बिकता है। यह दूध की भलाई है। आग पर चढ़ने से पहिले पानी जलता है। दूध को नहीं जलने देता। यह पानी की भलाई है। पानी के जलने के समय दूध उफन कर आग में कूदता है। यह दूध की भलाई है। यह प्रीति की रीति है। कपट खटाई पड़ते ही दूध पानी अलग हो जाता है। न दूध में रस रह जाय न पानी में और दूध के सार भाग घी : स्नेह का तो कहीं पता नहीं चलता कि क्या हुआ ?

हृदय सोचु समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी ॥
कृपासिन्धु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा ॥१॥

अर्थ : अपनी करणी को समझकर हृदय में सोच है और ऐसी चिन्ता है जिसका वर्णन नहीं हो सकता । शिवजो कृपासिन्धु हैं, बड़े गम्भीर हैं । मेरे अपराध को प्रकट रूप से नहीं कहा ।

व्याख्या ; सोच ही सोच चला । सती सभीत महेस पहँ चलीं हृदय बड़ सोच । सुनि नभगिरा सती उर सोचा । हृदय सोच समुझत निज करनी । परिणाम क्या होगा इसकी चिन्ता का वर्णन नहीं हो सकता । मानस से सरयू के मैदान में अवतीर्ण होते ही पहिले वन में मिला । वन में घनेरा भय, विषाद और परिताप होता है । भय : भयवस सिवसन कीन्ह दुराऊ । विपाद : सिव उर भयउ विपाद विसेखा । परिताप : पाछिल दुःख अस हृदय न व्यापा । जस यह भयउ महा परितापा ।

शिवजी कृपासिन्धु हैं । दुःख की बात नहीं कहेंगे । परम अगाध हैं : छिछले से बिना कहे नहीं रहा जाता : गम्भीर हैं । प्रकट करने का स्वभाव नहीं है । मेरे अपराध को प्रकट रूप से नहीं कहा पर उत्तर न देकर जना दिया ।

संकर रुख अवलोकि भवानी । प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी ॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई । तपै अवाँ इव उर अधिकाई ॥२॥

अर्थ : भवानी ने शङ्कर का रुख देखकर जान लिया कि प्रभु ने मुझे त्याग दिया । अतः मन में वहुत व्याकुल हुईं । अपना अपराध समझकर कुछ कहते नहीं बनता । आँवें की भाँति हृदय अधिक जलने लगा ।

व्याख्या : सती हैं पति के रुख देखने का अभ्यास है । ठीक मनोगति समझ लेती हैं । शिवजी प्रभु हैं । उन्हें त्यागने का अधिकार है । उन्होंने मेरा त्याग किया । यह समझकर मन आकुल हो उठा । यथा : तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति विहीन सब सोक समाजू । भोग रोग सम भूपन भारू । जम जातना सरिस संसारू । प्राननाथ तुम्ह बिनु जगमाहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं । परन्तु कहते कुछ बनता नहीं । अपने से ऐसा पाप[1] ही हो पड़ा है कि जिसका जो दण्ड दिया जाय थोड़ा है । किस मुँह से क्षमा प्रार्थना करें । चिन्ता ज्वाल[2] सरीरवन दावा लगि लगि जाय । प्रकट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुधुवाय । उर अंतर धुधुवाय जरे जिमि काँच की भट्ठी । जरि गये लोहू माँस रह गयी हाड़ की ठठ्ठी ।

सतिहि ससोच जानि वृषकेतू । कही कथा सुन्दर सुख हेतू ॥
वरनत पंथ विदिध इतिहासा । विस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥३॥

अर्थ : सती को शोकयुक्त जानकर वृषकेतु ने सुख के लिए सुन्दर कथाएँ कहीं । रास्ते में अनेक प्रकार के इतिहास कहते हुए विश्वनाथ कैलास पहुँच गये ।

व्याख्या : वृषकेतु हैं । धर्म ही उनकी ध्वजा है । शरणागतपालन धर्म को

---

[1] भगवती सती अपना ही पाप मानती हैं : १. रघुपति अपमान और २. पति के वचन पर असत्य का भ्रम ।

स्मरण करते हुए परित्यक्ता सती के सुख के लिए : मनोरञ्जन के लिए : शोक हटाने के लिए : सुन्दर सुन्दर कथाएँ सुनायीं। प्रेम विशेष का त्याग है। सहानुभूति का त्याग नहीं है। अतः रास्ता काटने के लिए अनेक इतिहास वर्णन करते-करते कैलास पहुँच गये। यहीं उनका भवन है। यथा : पंथ कहत निज भगति अनूपा। पुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा। भाव यह है कि मैंने बोलना नहीं बन्द किया है। केवल प्रतिज्ञा नहीं बतलावेंगे।

तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन ॥
संकर सहज सरूपु संभारा। लागि समाधि अखंड अपारा ॥४॥

अर्थ : वहाँ फिर अपने प्रण को समझ करके शिवजी वट के वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर बैठ गये। शङ्कर ने अपने सहज स्वरूप को सँभाला तो अखण्ड और अपार समाधि लग गई।

व्याख्या : एहि तन सतिहिं भेट अब नाहीं का अत्यन्त सरल उपाय समाधि लगा लेना है। यथा : सिव समाधि बैठे सब त्यागी। कैलास पर एक दिव्य वट वृक्ष है। वह सदा नवीन रहता है। यथा : तेहि गिरि पर वट विटप विसाला। नित नूतन सुंदर सब काला। त्रिविध समीर सुसीतल छाया। सिव विश्राम विटप श्रुति गाया। उसी के नीचे पद्मासन लगाकर बैठे। योग के चौरासी आसनों में पद्मासन और सिद्धासन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। रमणीय स्थान और आसन कहकर अब चित्तवृत्तिनिरोध पूर्वक द्रष्टृस्वरूपावस्थान कहते हैं। दूसरे की जो समाधि लगती है उसकी अवधि होती है। शङ्कर भगवान् की समाधि की अवधि नहीं। इसीलिए अखण्ड अपारा कहा। प्रकृति पुरुष के परस्पर अभ्यास के विच्छेद से ही सहज स्वरूप में समाधि होती है। यथा : तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। यहाँ प्रकृति : सती से पुरुष : शिव के प्रेम का विच्छेद ही समाधि का कारण हुआ।

दो. सती बसहिं कैलास तब, अधिक सोचु मन माहिं।
मरमु न कोऊ जान कछु, जुग सम दिवस सिराहिं ॥५८॥

अर्थ : सती कैलास में रहने लगीं। मन में अधिक सोच था। भेद किसी को कुछ मालूम नहीं एक दिन युग के समान बीतता था।

व्याख्या : शिवजी जब समाधि में नहीं थे तो कैलास शिवउमानिवास कहा जाता था। अब वे समाधि में हैं। सती जी अकेले कैलास में रह रही हैं। कोई बाल-बच्चे भी नहीं हैं। शिवजी के समाधि में बैठने से सती के मन में त्याग की भावना पुष्ट हुई। अतः अधिक सोच मन माहिं कहते हैं। यह घटना रास्ते में हुई। अतः गणों को कोई पता नहीं है। दुःख के दिन बड़ी कठिनता से कटते हैं। इसलिए कहते हैं : युग सम दिवस सिराहिं। अखण्ड अपार समाधि है न जाने कब खुलेगी। बिना खुले दुःख पार जाने का कोई रास्ता नहीं। कहने से भी दुःख घटता है पर कहें किससे ? उसका जानकार कोई नहीं। कैलास में बसकर भी सती महादुःखी हैं।

नित नव सोचु सती उर भारा। कब जैहौं दुःख सागर पारा॥
मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति वचन मृषा करि जाना॥१॥

अर्थ : सती के हृदय में नित्य नया और भारी सोच है कि कब दुःखसागर के पार जाऊँगी। मैंने जो रघुपति का अपमान किया और पति के वचन को झूठ समझा।

व्याख्या : सती भगवती दुःख के समुद्र में पड़ गईं। उसका वार-पार नहीं सूझ रहा है और नित्य नये सोच की भारी तरंगें उठ रही हैं। न शरीर छूटता है न पार मिलता है। न कोई ठिकाना है कि कब पार मिलेगा। बिना समाधि खुले दुःख का पार मिल नहीं सकता। असौ चिन्ताज्वरस्तीव्रः प्रत्यहं नवतां व्रजेत्। काशी-खण्डे। यह तीव्र चिन्ता ज्वर नित्य नया होता जाता है।

उनसे भगवान् और भागवत, ईश्वर और उनके प्रतिनिधि पतिदेव दोनों का अपराध बन पड़ा। १. परमेश्वर भगवान् का अपमान किया और २. पतिदेव के वाक्य को झूठा माना।

सो फलु मोहिं विधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥
अब विधि अस बूझिअ नहिं तोहीं। संकर विमुख जिआवसि मोहीं॥२॥

अर्थ : वह फल मुझे विधाता ने दिया और जो उचित था सो किया। पर हे विधाता अब तुझे यह उचित नहीं है कि शङ्कर से विमुख होकर मुझे जीवित रक्खे।

व्याख्या : सती कहती हैं कि कर्म शुभाशुभ का फल विधाता देते हैं। यथा : कर्म सुभासुभ देइ विधाता। सो ब्रह्मदेव ने मुझे फल दिया। उन्हें यही उचित जान पड़ा कि इन अपराधों का दण्ड पति-परित्याग है सो मैं फल पा चुकी। यहाँ तक तो विधि ठीक है। अब शङ्कर विमुख करके मुझे जिलाना विधि को उचित नहीं है। अर्थात् : हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ। जीवन मरण ब्रह्मदेव के हाथ में है। अपने हाथ में नहीं होता है। मरण स्वीकार है परन्तु शङ्करविमुख होकर जीना स्वीकार नहीं। अब कौन अपराध शेष है जिसके बदले ब्रह्मदेव मुझे शङ्कर से विमुख करके जिला रहे हैं।

कहि न जाय कछु हृदयँ गलानी। मन महुँ रामहि सुमिरि सयानी॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरति हरन वेद जसु गावा॥३॥

अर्थ : हृदय की ग्लानि कुछ कही नहीं जाती। सयानी ने मन में रामजी का स्मरण किया और कहा : हे प्रभो! यदि आप दीनदयाल कहलाते हैं और यदि आर्तिहरण कहकर वेद ने यशगान किया है।

व्याख्या : हृदय में जैसी ग्लानि हुई उसका एक अंश भी कथन में नहीं आ सकता। आगे जो करेंगी उसी से अनुमान हो सकता है। सती जी सयानी हैं उपाय सोचा कि जिसका अपराध बन पड़ा हो उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए। अतः मन से रामजी का स्मरण किया और प्रार्थना की।

रामजी का लोक में दीनदयाल विरद प्रसिद्ध है और वेद भी आर्तिहरण कहकर यशगान करता है और मैं दीन हूँ और आर्त हूँ। भाव यह कि लोक वेद के बल पर खड़ी हो गयीं जिस भाँति मनु-शतरूपा खड़े हो गये थे। यथा : जो अस वचन सत्य श्रुति भाखा। तौ हमार पूजिहि अभिलाखा।

तौ मैं विनय करउँ कर जोरी। छूटौ वेगि देह यह मोरी ॥
जौं मोरे सिव चरन सनेहू। मन क्रम वचन सत्य व्रतु एहू ॥४॥

अर्थ : तो मैं हाथ जोड़कर विनय करती हूँ कि यह मेरा शरीर जल्दी छूट जाय। यदि मेरा स्नेह शिवजी के चरण कमलों में हो और मन वचन कर्म से यह व्रत सच्चा हो।

व्याख्या : यदि विरद आपका सत्य है और मेरी दीनता तथा आर्ति सच्ची है तो शरीर न छूटने का कोई कारण नहीं है। आर्ति और दीनता के छूटने के दो ही उपाय हैं। या तो शिवजी अपनी प्रतिज्ञा छोड़ें या सतीजी का देह छूटे। तीसरा उपाय तो है नहीं। सतीजी कहती हैं कि शिवजी की प्रतिज्ञा न छूटे। मेरी देह छट जाय। दीनता और आर्ति का कारण शिवचरणस्नेह है। अतः कहती हैं कि यदि मेरा शिवजी के चरणों में सच्चा स्नेह हो तो आप अपने विरद को सत्य करिये।

दो. तौ सबदरसी सुनिअ प्रभु, करउ सो वेगि उपाइ।
होइ मरन जेहिं विनहिं श्रम, दुसह विपत्ति विहाइ ॥५९॥

अर्थ : तो हे सर्वदर्शी प्रभो ! सुनो, ऐसा उपाय करो कि मेरा मरण विना श्रम के ही सम्पन्न हो और न सहने योग्य विपत्ति छूटे।

व्याख्या : आप सर्वदर्शी हैं। मेरे हृदय को देख सकते हैं। प्रभु हैं। मनोरथ पूर्ण कर सकते हैं। ऐसा उपाय जल्द कीजिये जिसमें शीघ्रातिशीघ्र मरण हो। आत्मघात का दोष न हो। इसलिए उपाय से मरण चाहती हैं। मरण के समय दुःसह दुःख होता है। यथा : जन्मत मरत दुसह दुःख होई। इसलिए बिना श्रम मरण चाहती हैं। दुःसह विपत्ति से : शङ्कर के विमुख होने के कष्ट से घुल घुलकर मृत्यु तो हो ही जायगी। अतः अनायासेन मरणम् के लिए प्रार्थना है।

एहि विधि दुखित प्रजेस कुमारी। अकथनीय दारुन दुखु भारी ॥
बीते संबत[1] सहस सतासी। तजी समाधि संभु अविनासी ॥१॥

अर्थ : इस भाँति प्रजापति की पुत्री नहीं कहने योग्य भारी कठिन दुःख से दुःखी थी। एक हजार सत्तासी : १०८७ : संवत वीतने पर अविनाशी शम्भु ने समाधि परित्याग किया।

व्याख्या : यद्यपि प्रजापति की वेटी हैं, फिर भी पति के वचन को मृषा मानने और रामजी के अपमान से पति-परित्यक्ता होकर दुःखी हैं। सती हैं। अतः पति परित्याग का भारी दारुण दुःख हो रहा है। जो कि किसी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा

---

[1] संवत से मानुषी मान का वर्ष ही परिगृहीत है। यथा : संवत सोरह सै एकतीसा।

सकता है। पति ही स्त्री के लिए गति है। पिता की महिमा काम नहीं आती। अथवा ऐसा अपराध करने से प्रजेशकुमारी पर ऐसी आपत्ति आई, अन्यों की क्या गणना।

एक सहस्र सत्तासी वर्ष वियोग दुःख सहते सहते आर्त होकर रामजी से प्रार्थना की। अन्तर्यामी रामजी की प्रेरणा से उसी समय समाधि खुल गई। १०८७ वर्ष देवमान से लगभग तीन वर्ष के होते हैं।

राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥
जाइ संभु पद वंदनु कीन्हा। सनमुख संकर आसनु दीन्हा॥२॥

अर्थ : शिवजी रामनाम सुमिरने लगे। सतीने जाना कि विश्वनाथ जाग गये। जा करके शिवजी के चरणों को प्रणाम किया। शङ्कर ने : वैठने के लिए : सम्मुख आसन दिया।

व्याख्या : जबतक समाधि थी नामोच्चारण बन्द था। क्योंकि बिना चित्त की वृत्तियों के निरोध के समाधि होती नहीं। व्युत्थान होते ही नामस्मरण प्रारम्भ हुआ। यथा : तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती। सती दिन रात शङ्करजी में ही मनोयोग दिये रहती थीं। अतएव विश्वनाथ के जागने का पता पहिले उन्हीं को लगा।

उन्होंने जाकर चरण वन्दन किया। शिवजी ने वामभाग में आसन न देकर सन्मुख आसन वैठने के लिए दिया। भक्त की भाँति सत्कार किया, प्रिया की भाँति नहीं।

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला॥
देखा विधि विचारि सव लायक। दच्छहि कीन्ह प्रजापति नायक॥३॥

अर्थ : हरि की रसीली कथाएँ कहने लगे। उसी समय दक्षजी प्रजेश हुए। ब्रह्मदेव ने विचारकर देखा कि सब भाँति योग्य है तो दक्ष को प्रजापतियों का नायक बना दिया।

व्याख्या : भगवती के साथ परित्याग वाली बात न छिड़ने पाये अतः कथा छेड़ देते हैं। अथवा : शिवजी का स्वभाव है कि समय को व्यर्थ नहीं जाने देते। यथा : कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। कतहुँ रामगुन करहिं वखाना। भगवान् की रसीली कथा कहते हैं जिनमें सती का मन लगे। उन्हीं दिनों में सती जी के पिता दक्ष का वड़ा अभ्युदय हुआ। ब्रह्मदेव ने विचारकर देखा कि दक्ष सब कार्यों में दक्ष हैं तो उन्हें प्रजापतियों का नायक बना दिया।

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमानु हृदय तब आवा॥
नहि कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥४॥

अर्थ : दक्ष ने जब बड़ा अधिकार पाया तब उनके मन में बड़ा भारी घमण्ड हो गया। संसार में ऐसा कोई जन्मा ही नहीं जिसे प्रभुता पाकर मद न हुआ हो।

व्याख्या : प्रजापति का पद इन्द्र बृहस्पति आदि से बड़ा है। सो दक्ष प्रजा-

पतियों के नायक बना दिये गये। ब्रह्मदेव के बाद फिर यही पद है। इससे ऊँचा दूसरा कोई पद नहीं। पद पाने के साथ ही बड़ा भारी घमण्ड भी हुआ। अति अभिमान का भाव यह कि शिवजी को अपमानित करने की वासना उनके मन में उठने लगी।

यहाँ पर यह शङ्का न करनी चाहिए कि स्वयं प्रजापति को अभिमान कैसे हुआ। श्री गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस भाँति यह नियम है कि जो उत्पन्न होगा वह मरेगा। इसी भाँति यह भी नियम है कि प्रभुता पाने पर मद होता है। यथा : श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।

दो. दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर, जे पावत मख भाग ॥६०॥

अर्थ : दक्ष ने सब मुनियों को बुला भेजा और बड़ा यज्ञ करने लगे और जो देवता यज्ञ में भाग पाते थे उन सबको आदर सहित निमन्त्रित किया।

व्याख्या : यह यज्ञ सात्त्विक भाव से नहीं किया गया। इसके करने का कारण दम्भ, दर्प और अभिमान था। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः। मैं यज्ञ करूँगा दान करूँगा आनन्द मनाऊँगा। इस अभिमान से आसुरी प्रकृतिवाले मोहित होते हैं। इतना बड़ा यज्ञ था कि सब मुनि बुलवा लिये गये। सादर निमन्त्रण नहीं गया, निम्न कोटि के समझे गये। देवताओं में भी जो यज्ञ में भाग पानेवाले थे वे ही आदर सहित निमन्त्रित किये गये। उनके भी आदर सहित निमन्त्रित करने में कारण था। वह यह कि कहीं ऐसा न हो कि शिवजी के निमन्त्रित न होने से ये लोग निमन्त्रण अस्वीकार कर दें। फिर यज्ञ ही कैसे होगा? यही साङ्ग सायुध सशक्ति निमन्त्रित करना ही सादर निमन्त्रण है।

किन्नर[1] नाग सिद्ध गंधर्वा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्वा ॥
विष्णु विरंचि महेसु बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई ॥१॥

अर्थ : किन्नर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व आदि सब देवता अपनी अपनी बहुओं के साथ चले। विष्णु विरञ्चि महेश को छोड़कर शेष सब देवता अपना अपना विमान सजाकर चले।

व्याख्या : यज्ञों में देवताओं का आवाहन होता है। तब देवता अदृश्य रूप से आते हैं। यहाँ तो भाई विरादरी की भाँति नेवते में जा रहे हैं। किन्नर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व यह सब देवजाति के भेद हैं। दक्ष को सन्तुष्ट रखना सबको इष्ट है। अतः सस्त्रीक चले। शिवजी का यज्ञभाग बन्द करने के लिए ही यज्ञ हो रहा है। यह जानकर भी चले क्योंकि सब उनके अधीन थे। उनके अति अभिमान से चिढ़ते भी

---

[1] किन्नरा नरविग्रहा अश्वमुखा देवयोनयः। नागा वासुकिप्रभृतयो नराकाराः। सिद्धा विश्वावसुप्रभृतय हाहा-हूहूचित्ररथादयः। मनुष्य सा शरीर घोड़े सा मुख किन्नरों का होता है। वासुकी आदि सर्पों का भी मनुष्य का शरीर है। विश्वावसु आदि सिद्ध हैं। हाहा हूहू चित्ररथ आदि गन्धर्व हैं।

थे फिर भी महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए बड़े सज धज से चले। दक्ष की दुरभिसन्धि समझकर त्रिदेव नहीं गये।

सतीं बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुन्दर बिधि नाना॥
सुर सुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना॥२॥

अर्थ : सती ने देखा कि आकाश में अनेक प्रकार के सुन्दर विमान चले जा रहे हैं। देवताओं की स्त्रियाँ ऐसे मधुर गीत गा रही हैं जिनको सुनकर मुनियों का ध्यान छूट जाय।

व्याख्या : यद्यपि विमान बहुत ऊँचे से जा रहे हैं पर कैलासपर्वत इतना ऊँचा है कि वहाँ से विमानों पर गाये हुए गीत भी सुनाई पड़ते थे। वे गीत देवियों के गाये हुए इतने मधुर थे कि उनके सुनने से मुनियों के ध्यान भी छूट जाँय। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। जिसका दुःख में मन उद्विग्न न हो और जिसे सुख की इच्छा न हो जिसका राग, भय और क्रोध दूर हो गया हो ऐसे स्थितप्रज्ञको मुनि कहते हैं। ऐसे मुनि का भी ध्यान उस गान को सुनकर छूटता था। ऐसी चत्मकृत शक्ति देवियों के गान में थी। सतीजी का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ तो देखती हैं कि अनेक विधि के सुन्दर विमान चले जा रहे हैं। शङ्कर भगवान् का ध्यान आकृष्ट न हुआ। अतः उनका देखना नहीं कहते।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिता जग्य सुनि कछु हरषानी॥
जौं महेसु मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहौं मिसु एहीं॥३॥

अर्थ : पूछा तो शिवजी ने बखानकर कहा। पिता का यज्ञ सुनकर कुछ हर्ष हुआ। यदि महेश मुझे आज्ञा दें तो इसी बहाने से मैं कुछ दिन जाकर रहूँ।

व्याख्या : शिवजी सर्वज्ञ हैं। सब जानते हैं। यह समझकर कारण पूछा। स्त्रियाँ चाहे कितनी ही दुःखी हों पर पिता के घर महोत्सव सुनकर कुछ हर्ष होता ही है। कम से कम एक हजार सत्तासी वर्ष तक न पिता ने पूछा और न ये स्वयं मैके गईं। किस मिस : बहाने : से जायँ ? सो अब मिस मिल गया। पर यदि महेश आज्ञा दें तो वहाँ जाकर जी बहलावें; पर आज्ञा मिलनी कठिन है : कहेंगे कि वहाँ से कोई पूछता भी है ?

पति परित्याग हृदय दुखु भारी। कहै न निज अपराध बिचारी॥
बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेमरस सानी॥४॥

अर्थ : पति के परित्याग का मन में बड़ा भारी दुःख था। पर अपना अपराध समझकर कुछ नहीं कहती थीं। सती भय, सङ्कोच और प्रेम से सनी हुई मनोहर वाणी बोलीं।

व्याख्या : समाधि खुल गई। शङ्कर भगवान् के साथ हैं। अतः 'अकथनीय दारुण' न कहकर केवल 'दुखु भारी' कहते हैं। अपराध मैंने किया दुःख कौन सहेगा ? इसलिए शिवजी से कुछ कहती नहीं हैं। पर अब बोलीं। ऐसी मधुर वाणी बोलीं जो

भय सङ्कोच, प्रेमरस से सनी हुई थी। क्षमा मिलने के पहिले जाने की आज्ञा माँगने में भय। कोई बुलाने नहीं आया इस बात का संकोच। कुछ ही दिन के लिए आज्ञा चाहती हैं यह प्रेम।

दो. पिता भवन उत्सव परम, जौं प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन, सादर देखन सोइ ॥६१॥

अर्थ : पिता के घर बड़ा उत्सव है। हे प्रभो ! यदि आपकी आज्ञा हो तो हे कृपानिधान ! मैं आदर सहित उसे देखने जाऊँ।

व्याख्या : आज भी हिन्दू के घर यज्ञ से बड़ा कोई उत्सव नहीं माना जाता। यज्ञ में अनाहूत : बिना बुलाए जाने का विधान है। किं पुनः जब पिता के घर में हो। वहाँ जाना तो सभी तरह से प्राप्त है। यज्ञ दर्शन के लिए जाना सर्वथा उचित है। सो आदर के साथ अर्थात् तैयारी से जाना चाहती हैं। जाने का औचित्य वर्णन करके आज्ञा माँग रही हैं। हरिकथा फिर अधूरी ही रह गई। यथेष्ट आदर सती द्वारा न हो सका।

कहेहु नीक मोरेहुँ मन भावा। यह अनुचित नहि नेवत पठावा॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरे बयर तुम्हौ बिसराई ॥१॥

अर्थ : तुमने अच्छा कहा। मुझे भी पसन्द है। पर यह अनुचित है कि नेवता : नवेद नहीं भेजा। दक्ष ने अपनी सब पुत्रियाँ बुलाईं। पर मेरे बैर से तुम्हें भी भुला दिया।

व्याख्या : अर्ध स्वीकार है। पिता के यहाँ महोत्सव पड़ने पर जाना अवश्य चाहिए। पर तुम्हारे पिता का व्यवहार अनुचित हो रहा है। क्योंकि नेवता नहीं भेजा। जब 'नेवते सादर सकल सुर जे पावत मख भाग' तब मुझे नेवता क्यों नहीं आया ? मैं तो जा नहीं सकता। उनको कम से कम मखभाग पानेवाले देवता के नाते भेजना था। तुम्हें भी बुलावा नहीं आया। दक्ष ने अपनी सब बेटियों को बुलाया है। मैं तो उनसे बैर नहीं मानता पर वे मुझसे मानते हैं। उस बैर के कारण मुझे भुलाया। और मेरे कारण तुम्हें भी भुलाया। मुझे न बुलाते तुम्हीं को बुला लेते। मेरी स्त्री होने से तुम्हारा वहाँ जाना उन्हें पसन्द नहीं है।

ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। तेहि तें अजहु करहि अपमाना॥
जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहै न सीलु सनेहु न कानी ॥२॥

अर्थ : ब्रह्मदेव की सभा में हमसे अप्रसन्न हुए थे। इसीसे वे अब तक अपमान करते हैं। हे भवानी ! यदि बिना बुलाये जाओगी तो शील, स्नेह और प्रतिष्ठा न रहेगी।

व्याख्या : शिवजी कहते हैं : बहुत दिन हुए, ब्रह्मदेव की सभा में मैं बैठा था। दक्षजी आये। सब देवता उनकी प्रतिष्ठा के लिए खड़े हो गये। मैं नहीं उठा। इसी पर अप्रसन्न होकर भरी सभा में मेरा घोर अपमान किया। यज्ञ में भाग न मिलने

का शाप दिया। मैं चुपकर रह गया। पर नन्दिकेश्वर से नहीं सहा गया। उसने उनके यज्ञ के विध्वंस होने का शाप दिया। वहाँ सभा थी। उनका पद इतना ऊँचा नहीं है कि मैं उठ खड़ा होता। फिर भी उन्हें जितना अपमान करते बना उतना किया। मैंने सह लिया। बात वहीं समाप्त हो गई। पर वे हृदय से वैर मान गये हैं। मेरे इतने सहने पर और इतना दिन बीतने पर भी यज्ञ में मुझे न बुलाकर मेरा अपमान कर रहे हैं। बल्कि मेरे अपमान के लिए ही यह यज्ञ किया जा रहा है। यदि तुम भवानी होकर बिना बुलाये चलीं गईं तो तुम्हारा शील, स्नेह और प्रतिष्ठा जो कुछ बना हुआ है वह नष्ट हो जायगा।

जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइअ बिनु बोलेहु न संदेहा॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्यान न होई॥३॥

अर्थ : यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बोलाये भी जाना चाहिए। फिर भी जहाँ कोई विरोध मानता हो वहाँ जाने से भलाई नहीं होती।

व्याख्या : चार स्थानों में नेवते की आवश्यकता नहीं। मित्र, प्रभु, पिता और गुरु के घर। पर यहाँ केवल नेवता देने की बात नहीं है। दक्ष हमारे कारण तुमसे भी विरोध मानते हैं। मित्र, स्वामी, पिता और गुरु भी यदि विरोधी हो जायँ तो उनके यहाँ कल्याण चाहनेवाले को न जाना चाहिए। यही गृहस्थी का नियम है। पत्नी पति की आज्ञा माँगकर ही कोई काम करे। पति को यदि निषेध करना हो तो उसे समझावे। बलपूर्वक निषेध न करे।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावी बस न ग्यानु उर आवा॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहि बोलाएं। नहि भलि बात हमारे भाएं॥४॥

अर्थ : शिवजी ने अनेक भाँति से समझाया। पर होनहार के वश हृदय में ज्ञान न हुआ। प्रभु ने कहा कि यदि बिना बुलाये जाओगी तो हमारी समझ में बात ठीक न होगी।

व्याख्या : शिवजी का समझाना। यथा :

करि भरोस वात्सल्य को, करौं तहाँ जनि गौन।
दक्षघृणा करिहैं अधिक समुझि रहौ तुम मौन॥
तुम्हरे जैवे ते अधिक, बढि जैहै अभिमान।
ह्वै निशङ्क तब करहिगें, पग-पग पर अपमान॥
बिन बोले आगमन सुनि, जन करिहैं उपहास।
वैर और अधिकाइ है, नहीं प्रीति की आस॥
वहिष्कार मेरो चहत, सुरसमाज ते दक्ष।
औरन के अनुसरन हित, आप भये प्रत्यक्ष॥
करि नहि सकि हैं हानि कछु, किये कोटि अपकार।
संभव तव हिय हारि फिरि, चाहैं प्रीति उदार॥

हार हमारी समुझिहैं, देखि तुम्हैं निज जीत।
अभिमानी के हृदय नहिं, उपजत प्रीति पुनीत ।।
अन्तहु सहि सकि हौ सती, नहिं मेरो अपमान।
अति अनर्थ सम्भावना, ते जनि करहु पयान ।।

इतना समझाने पर बात समझ में आ जानी चाहिए थी, पर सतीजी भवितव्यता के वश में थीं फिर शिवजी का समझाना व्यर्थ गया। बात मन में न बैठी। युक्ति पर युक्ति देती ही गईं। तब शिवजी ने निचोड़ कह दिया कि तुम्हारी समझ में भले ही जाना उचित हो पर मेरी समझ में भलाई नहीं होगी।

दो. कहि देखा हर जतन बहु, रहै न दच्छकुमारि।
दिए मुख्यगन संग तब, बिदा कीन्हि त्रिपुरारि ॥६३॥

अर्थ : जब शिवजी ने बहुत यत्न से कहकर देखा कि दक्ष की बेटी नहीं रुकती तव मुख्य गणों को सङ्ग में देकर त्रिपुरारि ने विदा किया।

व्याख्या : समझाने की जहाँ तक सीमा है वहाँ तक समझाया। यहाँ तक कहा कि अब तुम्हें फिर मेरा दर्शन न होगा। तुम्हें पूर्व जाना है। आज शनिवार है। नवमी तिथि है। सभी योग बुरे हैं। न जाओ। देख लिया कि बात गले नहीं उतरती। समझाने से अधिक अपने अधिकार को काम में नहीं लाते। ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी : इस नीति को मन्थरा, सूर्पणखा, लङ्किनी और ताड़का को छोड़कर श्रीरामकथा में कहीं वर्तते नहीं देखा जाता। दक्ष कुमारी : कहने से तात्पर्य यह कि पिता का बड़ा पक्ष मन में है। क्रोध से भरी कहने लगीं कि यदि आपके चरणों में प्रेम है तो दूसरे जन्म में आपको पा जाऊँगी। यह कहकर अकेली चल पड़ीं। फिर भी अरक्षित नहीं भेजते। मुख्य गणों को साथ में कर दिया। प्रतिष्ठा के साथ विदा किया। त्रिपुरारि विदा कर रहे हैं, लौटेंगी नहीं।

पिता भवन जब गईं भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी ॥
सादर भलेहिं मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता ॥१॥

अर्थ : जब भवानी पिता के घर पहुँचीं तो दक्ष के डर से किसी ने उनका सम्मान नहीं किया। केवल एक माता आदर के साथ मिली। बहनें[१] भी मिलीं पर मुसुकराती हुई।

---

[१] प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमेह्यजात्मजः। तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ।।
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः। पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ।।
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता। आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ।।
श्रीमद्भागवत

स्वायम्भू मनुने अपनी तीसरी पुत्री प्रसूति ब्रह्मा के पुत्र दक्ष को दी। दक्ष से प्रसूती को सोलह लड़कियाँ हुईं। उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक पितरों को और एक शिवजी को दी। शिवजी की पत्नी का नाम 'सती' था। उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई।

व्याख्या : वहाँ जाने पर दाक्षायणी : दक्ष की बेटी की दृष्टि से नहीं भवानी भव की स्त्री भवानी : की दृष्टि से देखी गई। भवानी के सम्मान की इच्छा सब को है। पर कोई करता नहीं। सब जानते हैं कि इनका आना दक्ष को इष्ट नहीं। इनका सम्मान करके दक्ष के कोप का भाजन कौन बने ? अतः शिवजी ने जो कहा था कि रहै न सील सनेह न कानी। सो कानि : प्रतिष्ठा : तो गई। माँ किसी अवस्था में भी वात्सल्य नहीं छोड़ सकती। अतः सादर मिलीं। बहन भी सब मिलीं। पर बहुत मुसुकुराती हुई। भाव यह कि आगई बिना बुलाए। जिस गौरव से मेरे पिता का अपमान किया था वह कहाँ रहा ! नेगजोग लेने के लिए भेज दिया। गहना नहीं। कपड़ा नहीं। बड़ा भारी नाम महादेव। नाम बड़ेरा दर्शन थोरा। इस भाँति प्रतिष्ठा नहीं हुई।

दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता ॥
सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा ॥२॥

अर्थ : दक्ष ने कुछ कुशल भी नहीं पूछी। सती को देखकर सारा शरीर जल उठा। तब सती ने जाकर यज्ञ देखा तो वहाँ शिवजी का भाग कहीं दिखाई न पड़ा।

व्याख्या : दक्ष ने भद्रता का भी पालन नहीं किया। कुशल भी नहीं पूछी। शील भी गया। सती को देखने से वात्सल्य का उदय तो दूर की बात है। यह भावना उठी कि इसी के पति ने मेरा अपमान किया था सो सारा शरीर जल उठा। स्नेह भी गया।

सती को भरोसा था कि मुझे देखते ही पिता सारी बातें भूल जायेंगे और जो कुछ बिगड़ी बात है सब बन जायगी। तुरन्त शिवजी को नेवता भेजा जायगा और सब व्यवहार प्रेममय हो जायगा। जब देखा कि पिता के स्नेह का लेश नहीं है तो यज्ञ देखने गईं कि कहीं ऐसा न हो कि शिवजी को यज्ञ में भाग न दिया हो सो सचमुच वहाँ शम्भु का भाग था ही नहीं।

तब चित्त चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ ॥
पाछिल दुख न हृदय अस ब्यापा। जस यह भयउ महापरितापा ॥३॥

अर्थ : तब शिवजी ने जो कहा था वह बात याद आई। स्वामी का अपमान समझकर हृदय जल उठा। पहिला दुःख हृदय में वैसा नहीं व्यापा था जैसा कि यह महापरिताप हुआ।

व्याख्या : शिवजी के समझाने के समय कोई बात मन में नहीं बैठी। समझती थी कि मनोमालिन्य मिटाने का यही एक उपाय है कि मैं बिना बुलाये चली जाऊँ। अब यहाँ की व्यवस्था देखकर मोह का पर्दा हटा। शिवजी की बात प्रत्यक्ष ठीक दिखाई पड़ी। वस्तुतः यह यज्ञ ही शिवजी के अपमान के लिए रचा गया है। पति परित्याग का भारी दुःख था। परन्तु पति के अपमान का जो दुःख हुआ वह उससे कहीं बढ़ गया।

जद्यपि जग दारुन दुःख नाना । सब तें कठिन जाति अपमाना ॥
समुझि सो सतिहि भयउ अति क्रोधा । बहु विधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥४॥

अर्थ : यद्यपि जगत् में अनेक प्रकार के कठिन दुःख हैं पर स्वजाति से अपमानित होना सबसे कठिन है। यही सोचकर सती को अत्यन्त क्रोध हुआ। माता ने उन्हें बहुत तरह से समझाया बुझाया।

व्याख्या : महादेवजी को यज्ञ में भाग न देना इससे बढ़कर उनका क्या अपमान होगा ? इसका मतलब तो सीधे सीधे यही है कि देवजाति से महादेवजी का बहिष्कार हो गया। यह समझकर सती को अति क्रोध हुआ। अपने को सँभाल न सकीं। क्रोध के लक्षण व्यक्त हो चले। किसकी सामर्थ्य जो इस बीच में पड़े। पर माँ सती को दुःखी देखकर संग संग दौड़ी आई थीं सो आगे आईं। समझाने लगीं।

सवैया : पितुते अपमान बड़ो सनमान कह्यौ जिन वेद को भेद विचारयौ ।
तेहि को झझकारन में अधिकार जो अंक में लै बहुभाँति दुलारयौ ।
तुम नाहक ग्लानि सती उर आनि दुःखी अति होत न जात संभारयौ ।
करिहै मनुहारि गये दिन चारि सोई जिन रोषते दोष निहारयौ ।

दो. सिव अपमानु न जाइ सहि, हृदय न होइ प्रबोध ।
सकल सभहि हठि हठकि तब, बोलीं बचन सक्रोध ॥६३॥

अर्थ : शिवजी का अपमान सहा नहीं गया और न मन समझाए समझता है। तब सारी सभा को हठ से रोककर क्रोध से वचन बोलीं।

व्याख्या : सती के क्रोध करने पर दक्ष तथा अन्य ठकुरसोहाती बोलनेवाले शिवजी की निन्दा करने लगे। उन्हें रोककर बोलीं। अथवा यज्ञ में सभासद होते हैं। उन्हीं के निरीक्षणावेक्षण में यज्ञ होता है। शिवजी के भाग न दिये जाने में वे भी अपराधी थे। उन्हें अपने काम से रोककर क्रोध से बोली। सिव अपमान न जाइ सहि। मनसा क्रोध। सकल सभहिं हठि हटकि। कर्मणा क्रोध। और बोली वचन : वाचा क्रोध दिखलाया।

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा । कही सुनी जिन संकर निंदा ॥
सो फलु तुरत लहव सब काहू । भली भाँति पछिताव पिताहू ॥१॥

अर्थ : हे सभासदो और सब मुनीश्वरो ! सुनो जिन लोगों ने यहाँ शिवजी की निन्दा कही या सुनी है उन सबको उसका तुरन्त फल मिलेगा। और पिता जी भी भली भाँति पछतायेंगे।

व्याख्या : उस यज्ञ में सब मुनि तथा यज्ञभाग पानेवाले सब देवता इकट्ठे थे। इसलिए सबको सम्बोधन करती हैं। सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए और यदि जाय तो यथार्थ कहे। चुप रह जानेवाला या अन्याय कहनेवाला समान पापी होता है। यथा : सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वासमञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि

नरो भवति किल्विषी। अतः जिसने शङ्कर की निन्दा की वह पापी है और जिसने सुनकर प्रतिवाद न किया चुप रह गया वह भी समान पापी है।

अत्युग्र पुण्य पाप का फल यहीं मिल जाता है। चाहे तीन दिन भीतर मिले, तीन महीने भीतर मिले या तीन वर्ष के भीतर मिले। यथा : अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते। त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिर्दिनैः। अथवा मेरी आज्ञा से तुरन्त फल मिलेगा। इन सबके कारण पिताजी हैं। इनकी भारी दुर्गति होगी और इनका कोई पुरुषार्थ न चलेगा तब पछतायेंगे।

संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरिजादा।।
काटिअ तासु जीभ जो वसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई।।२।।

अर्थ : सन्त, शम्भु और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनी जाय वहाँ ऐसी मर्यादा है कि वश चले तो उसकी जीभ काट ले और नहीं तो कान बन्द करके वहाँ से भाग चले।

व्याख्या : क्योंकि यहाँ अन्याय की पराकाष्ठा हो गई। साक्षात् शङ्कर की निन्दा की जा रही है। और मर्यादा यह है कि सन्त, शम्भु और विष्णु के निन्दक का जिह्वाछेदन करना चाहिए। और यदि अपना वश न चले तो कान बन्द करके वहाँ से भाग जाना चाहिए। जिसमें और निन्दा के शब्द कान में न पड़ें। इसमें दोनों का हित होता है। 'होहिं उलूक संत निंदारत। मोहनिसाप्रिय ज्ञान भानुगत। हरगुरु निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई। निन्दक को दण्ड हो जाने से वह शुद्ध हो जाता है और दण्ड देनेवाला निन्दाश्रवण के पास से बच जाता है। यदि दण्ड देने में असमर्थ हो तो कान मूँदकर भाग जाने से इस महान् पातक से अपनी रक्षा कर ले। पर यहाँ इन लोगों में से न किसी ने निन्दक को दण्ड दिया और न कोई सभा छोड़कर बाहर गया। अतः यह सभा पापियों की हो गई।

जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी।।
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही।।३।।

अर्थ : जो जगत् की आत्मा है, जो महेश्वर है, त्रिपुरान्तक है, जगत् का पिता है और जगत् का हित करनेवाला है उसकी निन्दा मन्दमति पिता कर रहा है और इसी दक्ष के वीर्य से यह देह उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या : जो अपनी ही आत्मा, अपने ही स्वामी, अपने ही रक्षक, अपने ही पिता और अपने ही हितकारी की निन्दा करे वह मन्दमति है और जो जगदात्मा, जगत् स्वामी जगद्रक्षक जगत् पिता और जगत् के हितकारी की निन्दा करे उसे क्या कहा जाय। ऐसे अत्याचारी के शुक्र से मेरा स्थूल शरीर बना है। यह रखने योग्य नहीं है।

तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चन्द्रमौलि बृषकेतू।।
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा।।४।।

अर्थ : इसलिए चन्द्रमौलि वृषकेतु को हृदय में रखकर मैं देह का परित्याग करूँगी। ऐसा कहकर योगाग्नि से शरीर को भस्म कर दिया और सारी यज्ञशाला में हाहाकार मच गया।

व्याख्या : अपने आश्रित : चन्द्र : को शिर पर धारण करनेवाले धर्म के एक मात्र शरण को हृदय में धारण करके तुरन्त देह को त्यागूँगी। मेरे लिए यही एक मात्र उपाय शिव विरोधी से सम्पर्क त्याग का है। ऐसा कहकर दक्ष की यज्ञशाला में उत्तर मुख बैठ गईं। चुप हो गईं। आँखें बन्द कर लीं। प्राणापान को समान करके उदान के सहित नाभि चक्र से उठाया। फिर धीरे से हृदय में स्थापित किया। फिर वहाँ से उठाकर कण्ठ में फिर भ्रूमध्य में स्थापित किया। फिर अपने शरीर में वायु और अग्नि की धारणा की। इस भाँति शिव जी के चरणों का ध्यान करती हुई सती ने समाधिज अग्नि से अपने शरीर को भस्म कर दिया। सम्पूर्ण यज्ञशाला में हाहाकार मच गया। दक्ष का भय भी लोगों को हाहाकार करने से रोक न सका।

दो. सती मरनु सुनि संभु गन, लगे करन मख खीस।
जग्य बिधंस बिलोकि भृगु, रक्षा कीन्हि मुनीस ॥६४॥

अर्थ : सती का मरना सुनकर रुद्रगण यज्ञ विध्वंस करने लगे। यज्ञ का विध्वंस देखकर मुनीश्वर भृगुजी ने उसकी रक्षा की।

व्याख्या : हाहाकार सुना। स्पष्ट शब्दों में लोगों के मुख से दक्ष की निन्दा सुनी कि इसके अत्याचार से सती ने शरीर त्याग दिया। तब शिवजी के पार्षद हथियार उठाये हुए दक्ष को मारने तथा यज्ञ विध्वंस के लिए उद्यत हुए। उनके वेग को देखकर यज्ञविध्वंसकों के नाशक यजुमन्त्रों से भृगुजी ने दक्षिणाग्नि में आहुति दी। उससे ऋभु नाम के हजारों देवता उत्पन्न हुए। उन्होंने रुद्रगणों को मार भगाया।

समाचार सब संकर पाए। बीरभद्रु करि कोपु पठाए॥
जग्य बिधंस जाइ तिन कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फलु दीन्हा ॥१॥

अर्थ : सब समाचार शिवजी को मिला। तब उन्होंने क्रोध करके वीरभद्र को भेजा। उन्होंने जाकर यज्ञविध्वंस किया और सारे देवताओं को विधिवत् फल दिया।

व्याख्या : नारदजी ने सब समाचार अर्थात् शिवजी की निन्दा होने पर सती का शरीर त्याग और भृगुजी के उत्पन्न किये हुए देवगणों से रुद्रगणों के पराभव का समाचार शिवजी को सुनाया। तब उन्होंने अत्यन्त क्रोध किया। उनकी जटा से वीरभद्र उत्पन्न हुए। उन्हें अपने गणों का अग्रणी बनाकर भेजा।

वीरभद्र जी ने जाकर यज्ञविध्वंस किया। इनके ऊपर यज्ञविघ्ननाशकारी मन्त्रो का बल न चला। वीरभद्रजी अत्यन्त क्रुद्ध थे फिर भी फल देने में अविधि न होने पाई। जो दाँत निकालकर हँसे थे उनका दाँत तोड़ा गया। जिन्होंने आँख से इशारा किया था उनकी आँख फोड़ी गई। जिन्होंने दाढ़ी हिलाकर अनुमोदन किया था उनकी दाढ़ी नोची गई। भाव यह कि भगवान् वीरभद्र के सामने देवताओं का पराक्रम कुछ न ठहरा। यहाँ 'सुरन्ह' शब्द उपलक्षण है। ऋषि भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

भै जग विदित दच्छ गति सोई । जसि कछु संभु विमुख कै होई ॥
यह इतिहास सकल जग जानी । तातें मैं संक्षेप बखानी ॥२॥

अर्थ : दक्ष की जगत् प्रसिद्ध वही गति हुई जैसी कि शिव विमुख की होती है। यह इतिहास तमाम संसार जानता है । इसलिए मैंने संक्षेप में वर्णन किया ।

व्याख्या : आज भी लोग शङ्कर की पूजा के बाद बकरे का-सा शब्द गाल बजाकर उच्चारण करते हैं जिसमें शङ्कर प्रसन्न हों। कारण यह कि देवताओं को विधिवत् दण्ड देने के बाद दक्ष का शिर काटकर दक्षिणाग्नि में ही होमा गया। जिसमें आहुति देकर भृगु ऋषि ने यज्ञविघ्न नाशक ऋभु देवों को उत्पन्न किया था। तत्पश्चात् ब्रह्मादिक की स्तुति से प्रसन्न होकर शिवजी ने बकरे का शिर दक्ष के शरीर में जोड़ दिया । दक्ष ने जीकर बकरे-सा ही शब्द किया । इस पर भगवान् प्रसन्न हो गये। यही जानकर संसार बकरे का सा शब्द करता है। यह दक्ष की जगत् विदित गति है । उस समय सन्त्रस्त देवताओं ने जो स्तुति की है वही रुद्री कहलाती है । महाभारत द्रोणपर्व में पौराणिक शतरुद्री है ।

अतः यह इतिहास संसार जानता है। इस कारण से ग्रन्थकार ने संक्षेप में कहा । फिर भी दक्ष की दुर्दशा अपने मुख से स्पष्ट नहीं कही : जस कछु संभु विमुख कर होई । कहकर समाप्त कर दिया । यह ग्रन्थकार की सज्जनता है ।

सतीं मरत हरि सन वर माँगा । जनम जनम सिव पद अनुरागा ॥
तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई । जनमी पारवती तनु पाई ॥३॥

अर्थ : मरते समय सती ने हरि से वर माँगा कि जन्म-जन्म में शिवजी के चरणों में प्रेम हो। इस कारण हिमवान् के घर जाकर पार्वती शरीर धारणकर जन्म लिया ।

व्याख्या : योगाग्नि प्रकट करने के समय हरि वरद होकर प्रकट हुए। पहिले जो प्रार्थना[१] की थी। उसे पूरा करके अब क्या चाहती हो ऐसा बोले। भगवती ने जन्म-जन्म में शिवचरणानुराग माँगा । यह सती का सतीत्व है ।

शिवजी का ध्यान करते हुए योगाग्नि से शरीर छोड़नेवाले का पुनर्जन्म नहीं होता। यथा : तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे । परन्तु हरि से पुनर्जन्म के लिए वर माँगा था। इसलिए हिमगिरि गृह में जनमीं। हिम ऋतु का आरम्भ सूचित करते हैं। यथा : हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू । गृह कहकर सूचित किया कि हिमगिरि से कोई भौतिक पहाड़ न समझ लें। यहाँ पर्वत के अधिष्ठातृ देवता से तात्पर्य है। त्रेता के आदि में चैत्रसुदी नवमी अर्धरात्रि को भगवती का जन्म हुआ ।

---

[१] तौ सब दरसी सुनहु प्रभु करहु सो वेगि उपाय ।
होय मरन जेहि विनहि श्रम दुसह विपत्ति विहाय ॥

जब तें उमा सैल गृह जाइ। सकल सिद्धि संपत तहँ छाई ॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआस्रमु कीन्हें। उचित बास हिम भूधर दीन्हें ॥४॥

अर्थ : जब से उमा ने हिमवान् के घर जाकर जन्म लिया तब से वहाँ सारी सिद्धियाँ और सम्पत्ति छा गई। मुनियों ने जहाँ तहाँ अच्छे अच्छे आश्रम बना लिये। हिमवान् ने उन्हें यथोचित स्थान दिये।

व्याख्या : यद्यपि तप से विरत करने के लिए माँ का उमा उच्चारण करना उमा नाम पड़ने का हेतु बतलाया जाता है पर भगवती का सदा से उमा नाम है। उमा में भी वे ही अक्षर हैं जो प्रणव में हैं। इसलिए उमा को देवी प्रणव कहा गया है।

जगदम्बा के अवतार ग्रहण करते ही हिमालय पर सिद्धि और सम्पत्ति छा गई। सिद्धि सम्पत्ति का छा जाना अवतार का सूचक है। यथा : जा दिन ते हरि गर्भहिं आये। सकल लोक सुख संपति छाये। सिद्धि प्राप्ति के लिए मुनियों का आगमन प्रारम्भ हुआ। हिमगिरि की ओर से भी यथायोग्य सत्कार होने लगा।

दो. सदा सुमन फल सहित सब, द्रुम नव नाना जाति।
प्रकटीं सुन्दर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति ॥६५॥

अर्थ : पर्वत पर भाँति भाँति के नवीन वृक्ष सदा फल फूल सहित हुए और मणियों की अनेक प्रकार की खानें प्रकट हुईं।

व्याख्या : प्रकृति में परिवर्तन कहते हैं। अथवा मुनिगण आगये। उनके सत्कार के लिए : सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना भाँति : प्रकटे। ऐसा कहकर सिद्धि का आना द्योतित किया। अब : मनि आकर बहु भाँति : का प्रकटना कहकर सम्पत्ति का छा जाना कहते हैं।

जिस भाँति सती की कथा वन है उसी भाँति गिरिजा की कथा बाग है। सब सुख ही सुख हुआ।

सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥
सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥१॥

अर्थ : सारी नदियाँ पवित्र जल बहाने लगीं। पक्षी, पशु, भौंरे सब सुखी रहने लगे। जीवों ने स्वाभाविक वैर छोड़ दिया। पर्वत पर सब प्रेम करने लगे।

व्याख्या : नदी में निर्मल जल का प्रवाह महानुभाव की उपस्थिति का सूचक है। यथा : बह सरयू अति निर्मल नीरा। खग मृग एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। यथा : सहवासी काचो गिलहिं पुरजन पाक प्रवीन। कालछेप केहि मिलि करहिं तुलसी खगमृग मीन। मधुप मधु छीने जाने के भय से दुर्गम स्थानों में छत्ते लगाते हैं। वहाँ भी बन्दरों की बाधा रहती है। यहाँ सुखी रहने लगे।

कुछ जीवों में सहज वैर है। यथा : काक उलूक में, अश्व महिष में, मूषक विलाव में, गज सिंह में। जगजननी के आगमन से उन जीवों का सहज वैर उस

पर्वत पर नहीं रह गया। यथा : अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। अहिंसा की प्रतिष्ठा होने से उनके सन्निकट वैर छूट जाता है। वहाँ तो प्रेम करते थे। पर्वत के नीचे आने पर फिर वही हालत हो जाती थी। यथा : खगहा करि हर बाघ वराहा। देखि महिष वृष साज सराहा। वैर विहाइ चरैं इक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।

सोह सैल गिरिजा गृह आएं। जिमि जन राम भगति के पाएं ।।
नितनूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू ।।२।।

अर्थ : घर में गिरिजा के आने से पर्वत की ऐसी शोभा हुई जैसी रामभक्ति पाकर मनुष्य की होती है। जिसका यश ब्रह्मा आदिक गान करते हैं उसके घर नित्य नये मङ्गल[1] हैं।

व्याख्या : रामभक्ति की प्राप्ति से जन की शोभा हो जाती है। महाप्रभावा भगवती भक्ति के प्रभाव से उसके निकट काम क्रोध लोभ मोहादि नहीं आते। उसका अविद्यान्धकार मिट जाता है। उसके लिए विष अमृत और शत्रु मित्र हो जाता है। वही वास्तव में सुखी होता है। उसे मानस रोग नहीं होते। सपने में भी उसे दुःख का लेश नहीं होता। यथा : राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर। खल कामादि निकट नहि जाहीं। बसइ भगति जाके उरमाहीं। गरल सुधा सम अरिहित होई। तेहि मनि विनु सुख पाव न कोई। इत्यादि। जिस भाँति हृदय में भक्ति की प्राप्ति से पूर्ण रूपेण सुखी होकर प्राणी शोभा को प्राप्त होते हैं उसी भाँति पर्वतराज भी भगवती गिरिजा के पादार्पण से सब प्रकार की सुख समृद्धि से युक्त होकर शोभा को प्राप्त हुए।

गिरिजा के आने से गिरिराज की ऐसा महिमा बढ़ी कि ब्रह्मादिक देव पर्वतराज का यशोगान करने लगे। उनके भाग्य की सराहना करने लगे। और उनके घर नित्य नया मंगल होने लगा। नये मङ्गल के लिए सर्वमङ्गला, मङ्गलागौरी का लोग पूजन करते हैं। सो जहाँ वे स्वयं अवतीर्ण हैं वहाँ नित्य नया मङ्गल क्यों न हो।

नारद समाचार सब पाए। कौतुकहीं गिरि गेह सिधाए ।।
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि वर आसनु दीन्हा ।।३।।

अर्थ : नारद ने सब समाचार पाया तो कौतुक के लिए हिमवान् के घर आये। पर्वतराज ने बड़ा आदर किया और पाँव धोकर श्रेष्ठ आसन दिया।

व्याख्या : ब्रह्मदेव के मुख से बारबार यशोगान सुना। इसलिए कहते हैं कि : नारद समाचार सब पाये। कौतुकी मुनि हैं। यथा : मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ।

---

१. मङ्गलमभिप्रेतार्थसिद्धिः। मङ्गललक्षणम्।
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तस्य वर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
चाहे हुए अर्थ की सिद्धि को मङ्गल कहते हैं। नित्य अच्छे काम करना बुरा न करना, इसी को तत्त्वदर्शी ऋषियों ने मङ्गल वतलाया है।

ब्रह्मलोक से मृत्युलोक में कौतुक के लिए चले आये क्योंकि कौतुकियों को आलस्य नहीं होता। यथा : तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। पर इनके कौतुक का सदा कल्याण लक्ष्य रहता है।

पर्वतराज साधुसेवी हैं। मुनियों का आदर अपने यहाँ उचित स्थान देकर किया करते हैं। नारद जी तो देव ऋषि हैं। इसलिए इनका बड़ा आदर किया। इनके पैर धोये और उत्तम आसन पर बिठाया।

नारि सहित मुनि पद सिरु नावा। चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा ॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥४॥

अर्थ : हिमवान् ने स्त्री के सहित मुनि के चरणों में शिर नवाया और उनके चरणोदक को सारे घर में छिड़कवाया। अपने भाग्य की बड़ी सराहना की और बेटी को बुलाकर मुनिजी के चरणों में डाल दिया।

व्याख्या : सस्त्रीक होकर शिर नवाना तथा चरणोदक से सम्पूर्ण घर को सिञ्चित करना गुरु के समान आदर करना है। यथा : गहे चरन सिय सहित बहोरी। बड़े के आगमन पर ही अपने सौभाग्य के वर्णन की विधि है। क्योंकि उसका पर्यवसान बड़े की स्तुति में होता है। बेटी के कल्याण के लिए उसे लेकर मुनिजी के चरणों में डाल दिया। अथवा उसके भविष्य के विषय में प्रश्न करना है : इसलिए चरणों में डाल दिया।

दो. त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष गुन, मुनिवर हृदय विचारि ॥६६॥

अर्थ : हिमवान् ने कहा : आप त्रिकालज्ञ हैं। आप की सर्वत्र गति है। हे मुनिवर ! हृदय से विचारकर बेटी के दोष और गुण कहिये।

व्याख्या : योगी लोग प्रज्ञालोक के प्रभाव से वस्तु विशेष का भूत भविष्य जान लेते हैं। इस भाँति त्रिकालज्ञ होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं होते। नारद जी त्रिकालज्ञ भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं और इनकी सर्वत्र गति है। अव्याहत गति हैं, सभी विषयों में सभी लोकों में गति है। कहीं रोक नहीं है। यथा : नारद को परदा न नारद सो पारखी। इससे गिरजा के योग्य वर की ओर इङ्गित हैं। यथा : कुंअरि सयानि विलोकि मातु पितु सोचहिं। गिरिजा जोगु मिलिहिं वर अनुदिन लोचहिं। पा. मं। केवल गुण और केवल दोष की जगत् में स्थिति भी नहीं है। इसलिए दोष गुण दोनों पूछते हैं। दोष लक्षित नहीं होता है। अतः जिज्ञासा में प्रधानता दोष को है। इसलिए दोष को ही पहिले कहा।

कह मुनि विहँसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुनखानी ॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी ॥१॥

अर्थ : मुनिजी हँसकर गूढ़ और मृदुबानी वोले। तुम्हारी बेटी सब गुणों की

खानि है। स्वभाव से ही सुन्दर सुशील और सयानी है। इसके नाम उमा, आम्बिका और भवानी हैं।

व्याख्या : माता-पिता के वात्सल्य पर हँस[१] पड़े और मृदुबानी बोले १. कि तुम्हारी बेटी सब गुणों की खानि है। यही गूढ़ वाणी है। तीनों गुण सत्त्व, रज और तम की खानि तो साक्षात् मूल प्रकृति हैं २. सहज सुन्दर अर्थात् शृंगारादि की अपेक्षा नहीं है। स्त्री यदि सुशील न हुई तो सुन्दरता अकिञ्चित्कर है। इसलिए ३. सुशील कहते हैं। इतना होने पर भी यदि मतिमन्द हो तो सब गुण फीके पड़ जाते हैं। इसलिए ४. सयानी कहते हैं और फिर वाक्य की गूढ़ता यह है कि नाम बतलाने लगते हैं। इतनी बड़ी कन्या का नाम माता-पिता से पूछना चाहिए न कि माता-पिता को उसका नाम बतलाना चाहिए। सो ५. वेदोक्त नाम, उमा : प्रणव : अम्बिका और भवानी बतलाकर उनका अनादि शक्ति होना द्योतित करते हैं।

सब लच्छन सम्पन्न कुमारी। होइहि संतत प्रियहिं पियारी॥
सदा अचल एहि कर अहिवाता। इहि तें जसु पैहहिं पितुमाता॥२॥

अर्थ : लड़की सब लक्षणों से युक्त है। यह अपने पति की सदा प्यारी होगी। इसका सोहाग सदा अचल रहेगा। इसके माता-पिता यश पावेंगे।

व्याख्या : सदा अचल अहिवात कहकर वर और कन्या दोनों को अमर कहा। सब लक्षण सम्पन्न कहकर भी छः लक्षण गिनाते हैं। पाँच गुण पहिले गिना आए हैं। एवं अब ग्यारह विशेषण देकर इनका रुद्राणी होना सूचित करते हैं। १. सदा पति की प्रियतमा होना। यथा : वरंदायिनी त्रिपुरारिं पियारी। २. अहिवात का सदा अचल होना। ३. इनसे पिता माता को यश मिलना। पुत्र मेनाक से वैसा यश नहीं। यथा : ब्रह्मादि सुरनर नाग अति अनुराग भाग बखानहीं पा. मं.।

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिव्रत असिधारा॥३॥

अर्थ : यह सारे जगत् में पूज्य होगी। इसकी सेवा करने से कुछ भी दुर्लभ न होगा। संसार में इसका नाम स्मरण करके स्त्रियाँ पतिव्रत रूपी तलवार की धार पर चढ़ जायँगी।

व्याख्या : ४. बिना इनकी पूजा के कोई सुखी नहीं हो सकेगा। शैव वैष्णव आदि सभी इनकी पूजा करेंगे। यथा : देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे। ५. इनकी सेवा करने से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों में से कोई दुर्लभ नहीं। चारों सुलभ हैं। यथा : सेवत तोहि सुलभ फल चारी। ६. इनके नाम स्मरण से पतिव्रत रूपी खड्गधार पर चढ़ने की सामर्थ्य होती है। अतः यह अनादि

---

[१] जिसकी देह से उत्पन्न होकर भगवती कौशिकी ने अभी शुम्भ निशुम्भ का वध किया है, उसे ये सीधे-सीधे बेटी मान रहे हैं।

देवी हैं। पतिव्रताओं में प्रथम रेखा इन्हीं की है। यथा : पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।

सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी ॥
अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना ॥४॥

दो. जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल भेख।
अस स्वामी इह कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ॥४॥

अर्थ : हे गिरिराज! तुम्हारी बेटी सुलच्छनी है। अत्र दो चार दोष हैं उन्हें भी सुनो। अगुन, अमान, मातृ-पितृ हीन, उदासीन, क्षीणसंशय, योगी, जटिल, कामरहित मनवाला, नंगा, अशुभ वेषवाला। ऐसा स्वामी इसको मिलेगा। ऐसी रेखा इसके हाथ में पड़ गई है।

व्याख्या : शैलराज ने दोषगुण पूछा था। पर नारदजी गुण दोष कहते हैं। जो कहीं दोष पहिले कह देते तो गुण सुनाने का अवसर ही न मिलता। सकल गुनखानी से उपक्रम सब लच्छन सम्पन्न कुमारी से अभ्यास और सुलच्छिनी से उपसंहार करते हैं। गुण बहुत हैं। दोष दो ही चार हैं और वे भी पतिविषयक हैं। पति विषयक अवगुण भी पत्नी में समझे जाते हैं। इसलिए उमा का अवगुण कहते हैं। यही मुनिजी का कौतुक है। उमा को तप के लिए भेजना चाहते हैं जिसमें उनका परम कल्याण हो। दोष न दिखावें तो माता-पिता तप के लिए आज्ञा देंगे नहीं। अतः पतिविषयक ऐसे विशेषण देंगे जो महादेव में जाकर गुण हो जाते हैं। सामान्य जीव के लिए तो महा अवगुण हैं। उन्हीं विशेषणों को जो संख्या में दस हैं दोष कहकर गिनाने हैं। यह गूढ़ वाणी है। १. अगुन : गुण से परे या निर्गुणी। २. अमान अपरिच्छिन्न या उपेक्षित। ३. मातृपितृहीन : स्वयंभू या अनाथ। ४. उदासीन : रागद्वेष रहित या उदासी। ५. क्षीणसंशय : ज्ञानी या नरपशु। ६. योगी : योगेश्वर या भिक्षुक। ७. जटिल : लौकिक-संस्कार से परे या विरक्त! ८. नगन : मायावरण रहित या निर्लज्ज। ९. अकाममन : कामजयी या नपुंसक। १०. अमंगल वेष : शिवधाम या अघोरी : परी हस्त असरेख। अन्यथा हो ही नहीं सकता।

सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरखानी ॥
नारदहू यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना ॥१॥

अर्थ : मुनि की बात सुनकर और उसे हृदय से सत्य जानकर दोनों प्राणियों को दुःख हुआ और उमा हर्षित हुईं। नारद ने भी इस मर्म को न जाना क्योंकि सबकी दशा एक सी थी। केवल समझने में भेद था।

व्याख्या : मुनि में विश्वास है कि मुनि की वाणी मिथ्या हो ही नहीं सकती। ऐसी गुणवती मेरी कन्या और उसे ऐसा निर्गुणी वर मिलेगा। इस बात का हिमवान् और मेना को दुःख हुआ। शङ्कर भगवान् में ये सब लक्षण घटते हैं। अतः वर रूप में उनकी प्राप्ति की आशा से उमा हर्षित हुईं।

मेना-हिमवन्त शोक से विह्वल, उमा प्रेम में विह्वल अतः बाह्य दशा सबकी एक सी हुई। नारद सों परदा न नारद सो पारखी। सो ऐसे पारखी भी यह न परख सके कि किसे शोकाश्रु है और किसे आनन्दाश्रु है। शोक और हर्ष दोनों के अनुभाव अश्रु और पुलक हैं। अनुभाव एक से होने से भेद का पता न चला।

सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक ससीर भरे जल नैना ॥
होइ न मृषा देवरिषि भाखा। उमा सो वचनु हृदय धरि राखा ॥२॥

अर्थ : सारी सखियाँ, उमा हिमवान् और मेना के शरीर पुलकित हो गये। आँखों में आँसू भर आये। देवर्षि का कहा झूठ न होगा। यह बात उमा ने हृदय में रख ली।

व्याख्या : पिछली चौपाई में जो दो बातें कही थीं : १. दसा एक और २. समुझव बिलगाना। उनमें से दसा एक को स्पष्ट कर रहे हैं कि सभी सखियों के तथा गिरिजा, गिरि और मैना के शरीरों में पुलक हो उठा था और आँखों में आँसू छलछला उठे थे। अब 'समुझव बिलगाना' को स्पष्ट कर रहे हैं। उमा तो यह समझ रही हैं कि नारदजी समस्त देवताओं में ऋषि हैं। इनका कहा अन्यथा कैसे होगा। इसलिए उस वचन को गाँठ बाँध लिया।

उपजेउ सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू ॥
जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछंग[1] बैठि पुनि जाई ॥३॥

अर्थ : शिवजी के चरण कमलों में स्नेह उत्पन्न हुआ। पर मन में सन्देह हुआ कि मिलना कठिन है। कुअवसर जानकर प्रीति को छिपा लिया और जाकर सखी की गोद में बैठ गईं।

व्याख्या : नारद के वचन से शिवपद में प्रेम उपजा। इसीलिए नारद जी को गुरु माना! यथा : गुरु के वचन प्रतीत न जेही। सपनेहु सुलभ न सुख सिधि तेही। नारद वचन न मैं परिहारऊँ। इत्यादि। स्नेह तो बीज भाव से था ही। उसके उद्बोधन के कारण शिवजी का गूढ़ भाव से वर्णन हुआ। स्नेह बढ़ने से मिलने की इच्छा हुई। पर वह कठिन बात थी। क्योंकि त्याग कर चुके थे। नारदजी आशा दिलाते हैं कि : अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि। पर अभी निश्चय कुछ नहीं। इससे सन्देह हुआ।

पिता-माता की अनुज्ञा नहीं हुई है। अतः प्रीति के प्रकट करने का उपयुक्त अवसर न था। नारद वचन से उद्बोधित प्रीति को छिपाया। सखी के उछङ्ग गोद से लेकर नारदजी के पैरों में डाला था। जबतक हाथ देखकर फल कहते थे तबतक वहीं बैठी थीं। जब कह चुके तो फिर सखी की गोद में चली गईं।

झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी ॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ ऊपाऊ ॥४॥

---

[1] 'श्वत्सप्सां छः' इस सूत्र से 'त्स' का छ होकर 'उत्सङ्ग' का 'उछंग' रूप सिद्ध हुआ।

अर्थ : देव ऋषि की वाणी झूठी न होगी। यह बात दोनों प्राणी : मेना हिमवान् और चतुर सखियाँ सोचने लगीं। हृदय में धैर्य धारण कर हिमवान् ने कहा : हे नाथ ! कहिये, क्या उपाय किया जाय ?

व्याख्या : दम्पति और सखी सयानी भी यही समझती हैं कि देवऋषि का कथन अन्यथा नहीं हो सकता। पर उन्हें शोक है क्योंकि उनके समझने में उक्त विशेषणविशिष्ट वर के मिलने से उमा का जीवन ही नष्ट हो जायगा। शोक से धैर्य छूट गया है। कुछ कहते नहीं बनता। धैर्य धारणकर हिमवान् बोले : अब आप ही उपाय भी बतलावें जिससे यह कुयोग मिट जाय। हिमवान् के धैर्य की बड़ी प्रशंसा है। धैर्येण हिमावानिव।

दो. कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार ॥६८॥

अर्थ : मुनीश ने कहा : हे हिमवान् ! सुनो जो ब्रह्मदेव ने ललाट में लिख दिया है। उसे देव. दनुज, नर, नाग, मुनि कोई मिटाने वाला नहीं है।

व्याख्या : भाव यह कि ललाट का लेख और हाथ की रेखा एक ही बात है। ललाट का लेख छिपा रहता है पढ़ा नहीं जाता। अतः हस्तरेखा से ललाट के लेख का पता चलता है। त्वचा के हटने पर ललाट का लिखा पढ़ा जा सकता है। यथा : जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। विधि के लिखे अंक निज भाला। नर के कर आपन बध बाँची। हंसेउँ जानि विधि गिरा असाँची। देव, दनुज, नर, नाग, मुनि तो विधि की सृष्टि में हैं उनका सामर्थ्य नहीं कि स्रष्टा के लेख को मिटा सकें। प्रारब्ध कर्म का उल्लेख ललाट पटल में कर दिया जाता है जिस भाँति कैदियों के गले की तख्ती में उनके अपराधादि का उल्लेख रहता है।

तदपि एक मैं कहेउँ उपाई। होइ करइ जौ दैउ सहाई ॥
जस वरु मैं बरनेउं तुम्ह पाहीं। मिलहि उमहिं तस संसय नाहीं ॥१॥

अर्थ : फिर भी मैं एक उपाय कहता हूँ। यदि प्रारब्ध साथ दे तो हो सकता है। जैसा वर मैंने तुमसे वर्णन किया है वैसा ही उमा को मिलेगा इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या : यहाँ पर प्रारब्ध और पुरुषार्थ के बलाबल का बड़ा ही सुन्दर विचार किया गया है। जैसा प्रारब्ध है वैसा होकर रहेगा। इसमें सन्देह को स्थान नहीं है। फिर भी पुरुषार्थ को एक बारगी कोई स्थान न हो यह बात नहीं है। प्रारब्ध को हस्त रेखा ज्योतिष आदि शास्त्रों से निश्चय करके ऐसा उपाय : पुरुषार्थ करें जो प्रारब्ध के अनुकूल हो। प्रारब्ध उसका साथ दे सके। प्रारब्ध के प्रतिकूल पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। पुरुषार्थ ऐसा होना चाहिए कि प्रारब्ध की घटना ज्यौं की त्यौं घटने दें पर सुख दुःख के तारतम्य में भेद पड़ जाय। अतः एक उपाय नारदजी बतलाते हैं पर उसका सिद्ध होना प्रारब्ध के साथ देने पर निर्भर करता है। अतः नारदजी कहते हैं कि वर तो उमा को वैसा ही मिलेगा। यह प्रारब्ध है मिट नहीं सकता और वैसा वर मिलने से उमा के दुःख का पारावार नहीं। अब पुरुषार्थ यह

करना है कि ऐसा वर खोजा जाय जिसमें ये सब बातें हों फिर भी उमा को दुःख न होकर परम सुखकारी हो ।

जे जे वर के दोष बखाने । सब सिव पहिं मैं अनुमाने ॥
जौ विवाहु संकर सन होई । दोषौ गुन सम कह सबु कोई ॥२॥

अर्थ : मैंने वर के जो जो दोष कहे हैं मैं अनुमान करता हूँ कि वे सब शिवजी में हैं । यदि शिवजी से विवाह हो तो : उमा में जो दोष कहे जाते हैं उन्हें सब कोई गुण के समान कहेंगे ।

व्याख्या : सामान्य जीव : वर के लिए जो दश दोष मैंने बतलाये हैं उन दशों का शिवजी में होना मैं अनुमान करता हूँ । शिवजी में दोष कहाँ ? वे भी गुण ही हैं लौकिक दृष्टि से दोष से दिखाई पड़ते हैं । इसलिए वे दोष शिवजी में हैं ऐसा न कह कर : सिवपँह मैं अनुमाने : कह रहे हैं । शिवजी अगुण, अमान, मातु पितु हीन, संसयछीन, योगी, जटिल, अकाममन, दिगम्बर और अमंगल वेष हैं । उनसे यदि उमा का विवाह हो तो वर के दोष गुण हो जायेंगे । इन दशों विशेषणों के भाव ही पलट जायँगे और संसार उन्हें गुण कहेगा ।

जौं अहि सेज सयन हरि करहीं । बुध कछु तिन्ह कर दोषु न धरहीं ॥
भानु कृसानु सर्व रस खाहीं । तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं ॥३॥

अर्थ : यद्दि विष्णु सर्प की शैया पर शयन करते हैं तो भी पण्डित लोग उनमें दोप नहीं लगाते । सूर्य और अग्नि सभी रस का भक्षण करते हैं । उन्हें कोई बुरा नहीं कहता ।

व्याख्या : दोष के गुण हो जाने के चार उदाहरण देते हैं । सँपेरा पेटारी में साँप रखता है । उसे सब बुरा कहते हैं । नारायण सर्प पर ही सोते हैं । नारायण के सोने से वह भी गुण हो गया । लोग स्तुति करते हैं शान्ताकारं भुजगशयनम् । यह तो परोक्ष का उदाहरण है । अब अपरोक्ष की बात सुनिये । सूर्य और अग्नि कौन-सा रस नहीं खाते सो उन्हें मन्द कहने की बात दूर गई स्तुति होती है : भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः । ते नमः उक्ति विधेम । इत्यादि ।

सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई । सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई ॥
समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥४॥

अर्थ : पवित्र और अपवित्र सब प्रकार का जल बहता है पर कोई गंगा को अपवित्र नहीं कहता । समर्थ को दोष नहीं होता १. गोसाईं : हरि २. सूर्य ३. अग्नि और ४. गङ्गाजो की भाँति ।

व्याख्या : गङ्गाजी में यमुना और सरस्वती का जल भी बहता है और कर्मनासा का भी जल बहता है पर अपुनीत कहना तो दूर रहा । वही अशुभ जल गङ्गा में मिलकर पुनीत हो जाता है । यथा : कर्मनास जल सुरसरि परई । तेहि को कहौ सीस नहिं धरई ।

जहाँ दोष विकार उत्पन्न कर सकता है वहीं उसकी निन्दा है। जहाँ दोष अपनी क्रिया नहीं कर सकता वहाँ वह निन्दित भी नहीं है। समर्थ में दोष विकार उत्पन्न कर नहीं सकता। अतः वहाँ उसकी दोष में गणना भी नहीं होती।

गोसाईं अर्थात् विष्णु समर्थ हैं। सर्पशैया से उनका क्या बिगड़ा? सर्वभक्षक होने पर भी सूर्य और अग्नि के भास्वरतेज में क्या विकार हुआ? कर्मनाशा का जल पड़ने से गङ्गा में क्या अपवित्रता आई।

दो. जौं अस हिसिखा करहिं नर, जड़ विवेक अभिमान।
परहिं भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान ॥६९॥

अर्थ : जो जड़ मनुष्य ज्ञान के अभिमान से इनकी बराबरी : दाँज करते हैं वे कल्प भर के लिए नरक में पड़ते हैं : क्या जीव ईश्वर के समान है?

व्याख्या : मायावस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुनखानी। परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता। ईश्वर के वश में माया है और माया के वश में जीव है। ईश्वर बेजोड़ है और अभिमानी जीव अनेक हैं। अतः जीव को विवेक : ज्ञान के अभिमान से ईश्वर की बराबरी : दाँज नहीं करनी चाहिए। जो ऐसा करता है वह जड़ है। अपना सामर्थ्य नहीं देखता। सम्पूर्ण विद्या स्नात होकर एक तृण की रचना नहीं कर सकता। उसकी जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय करने वाले ईश्वर से कौन समता है? ईश्वर की समता की इच्छा होती है तो यह उसके बड़े भारी अकल्याण का कारण है। जगत् में जो दुर्दशा उसकी होती है सो तो होगी ही। मरने पर उसे पूरे कल्प भर नरक भोगना पड़ेगा। जो ज्ञानाभिमानी मूढ़ ईश्वर की बराबरी करके हलाहल विषपान करेगा वह अवश्य मरेगा। और आत्मघाती होकर घोरतर नरक में जायगा। अतः ईश्वर के लिए वह दोष नहीं है। जीव के लिए वह महादोष है।

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसें। ईस अनी सहि अंतरु तैसें॥१॥

अर्थ : मदिरा को गङ्गा जल से बनाई हुई जानकर भी सन्त जन कभी पान नहीं करते। फिर वही गङ्गा में मिलकर जैसे पवित्र हो जाती है। वैसा ही भेद ईश्वर और अनीश्वर में है।

व्याख्या : गङ्गा को मद्य में परिणत करने का सामर्थ्य किसी को नहीं है। इसी भाँति ईश्वर दोषी हो नहीं सकता। थोड़ा सा गङ्गा जल लेकर यदि मद्य बनाया जाय तो वह मद्य है गङ्गा जल नहीं है। कोई हठी भले ही कहे कि गङ्गा जल सदा गङ्गा जल ही रहेगा पर कोई सन्त उसे ग्रहण नहीं करेगा। इसी भाँति जीव ईश्वर अंश होने पर भी ईश्वर से पृथक् होने पर अनीश्वर हो जाता है। मायावश होकर दोषयुक्त हो जाता है। कोई विवेकाभिमानी भले ही कहें कि वह ईश्वर से व्यतिरिक्त और कुछ नहीं है। दोष से उसका संसर्ग हो नहीं सकता पर कोई सन्त इसे मानने को तैयार नहीं हो सकता। वही मद्य यदि गङ्गा में छोड़ दिया जाय तो वह गङ्गा

को दूषित नहीं कर सकेगा। गङ्गा में मिलकर स्वयं गङ्गा हो जायगा। वही जीव यदि मुक्त हो जाय या ईश्वर के शरण में चला जाय तो ईश्वर में लय होकर तारण तरण हो जाता है। भाव यह कि अंश में अल्पता के कारण दोष का प्रभाव पड़ जाता है। अंशी में महत्ता के कारण दोष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

संभु सहज समरथ भगवाना। एहि विवाह सब विधि कल्याना ॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू ॥२॥

अर्थ : शिवजी स्वभाव से ही समर्थ और भगवान् हैं। इसलिए इस विवाह में सब भाँति से कल्याण है। महादेवजी की आराधना बड़ी कठिन तो है पर कष्ट उठाने, पर प्रसन्न भी शीघ्र ही होते हैं।

व्याख्या : औरों में ऐश्वर्य और सामर्थ्य उपार्जित है। शिवजी में स्वभाव से ही है। अतः उनमें उपर्युक्त दोष भी गुण हैं। अकल्याण का भय न करो। इस विवाह में सभी विधियों से कल्याण ही कल्याण है। विवाह के लिए वर की स्वीकृति आवश्यक है और महेश दुराराध्य हैं पर क्लेश करने पर अवढर दानी भी हैं। शीघ्र प्रसन्न भी होते हैं। इसलिए उपाय बतलाते हैं।

जौं जपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥
जद्यपि वर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ॥१॥

अर्थ : यदि तुम्हारी बेटी तप करे तो शिवजी होनहार को भी मिटा सकते हैं। यद्यपि संसार में अनेक वर हैं पर इसे शिवजी को छोड़कर दूसरा वर नहीं है।

व्याख्या : प्रारब्ध और नियति भी महेश विमुख को होती है। नियति ईश्वर की शक्ति है। उसका रूप संकल्प है। ईश्वर सत्य संकल्प है पर नियति का स्वभाव है कि ईश्वरपरायण के सम्मुख कुण्ठिता हो जाती है। वह महेश अपनी नियति को भी हटाकर भक्त से साधन का सम्पादन कराके उसे फल से युक्त करता है। यही उसका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है।

अति सुकुमारि न तन जप जोगू। अत्यन्त सुकुमारी होने पर भी यदि तुम्हारी बेटी तप करे तो कार्य सिद्धि हो सकती है। त्रिपुरारि का सामर्थ्य कहते हैं कि वे भावी : विधि के अङ्क को जिसे देव-दनुज मुनि कोई मिटा नहीं सकता : भी मिटा सकते हैं। यथा : जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी। तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी : यह इसलिए कहा कि जिसमें यह शङ्का न उठे कि जब त्रिपुरारि में दोष भी गुण हो जाते हैं तब दोषयुक्त वर से विवाह होनेवाली भावी कैसे टलेगी ?

उपर्युक्त दोषवाले वर भी बहुत हैं पर इसके लिए शङ्कर ही हैं। क्योंकि इसमें ऐसे-ऐसे चमत्कृत गुण हैं कि दूसरा वर इसे मिल नहीं सकता।

वरदायक प्रनतारति भंजन। कृपासिंधु सेवक मन रंजन ॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें ॥४॥

अर्थ : शिवजी वरदायक हैं। प्रणत की आर्ति को हरण करनेवाले कृपा के समुद्र हैं। सेवक के मन को प्रसन्न करनेवाले हैं। बिना शिव की आराधना किये करोड़ों योग और जप के साधन से वाञ्छित फल नहीं मिलता।

व्याख्या : कारण कह रहे हैं। वरदायक, प्रणतार्तिभञ्जन, सेवक मनोरञ्जन तो शिव ही हैं और इस कन्या को रेखा पड़ी है : होइहि पूज्य सकल जगमाहीं : तो यदि इसका विवाह शिवजी से नहीं होता तो यह फल घटेगा कैसे ?

कन्या को रेखा पड़ी है कि : एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं। और बिना शिव की आराधना वाञ्छित की प्राप्ति नहीं होती तो यह सामञ्जस्य तभी बैठेगा जब इसका विवाह शिव से हो।

दो. अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहि दीन्हि असीस।
होइहि यह कल्यान अब संसय तजहु गिरीस ॥७०॥

अर्थ : ऐसा कहकर और हरि का स्मरण करके नारदजी ने पार्वतीजी को आशीर्वाद दिया कि हे गिरीश ! संशय छोड़ो। अब यह कल्याण होगा अर्थात् यह विवाह होगा अब सन्देह छोड़ दो।

व्याख्या : अपने इष्ट का स्मरण किया। यथा : मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ : दूसरा भाव हरि के स्मरण का यह कि आप पूर्व जन्म में इसे वर दे चुके हैं : जन्म-जन्म शिवपद अनुराग के लिए सो इसे शिवजी की दासी बनाइये। अब से भाव यह कि कल्याण के लिए प्रयत्न आरम्भ हो जायगा। और सिद्धि भी होगी क्योंकि प्रारब्ध अनुकूल है। शिवपद अनुराग का पूर्वजन्मार्जित वर है।

कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गयऊ। आगिल चरित सुनहु जस भयऊ ॥
पतिहि एकान्त पाइ कह मैना। नाथ न मैं समझे मुनि बैना ॥१॥

अर्थ : ऐसा कहकर मुनि तो ब्रह्मलोक चले गये। अब जो कुछ आगे हुआ उसे सुनो। पति को एकान्त में पाकर मेना ने कहा : नाथ ! मैंने मुनि की बातें नहीं समझीं।

व्याख्या : कौतुक करके मुनिजी तो जहाँ से आये थे वहाँ चले गये। नारद समाचार सब पाये से उपक्रम करके 'कहि अस ब्रह्म भवन मुनि गयऊ से नारद प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज से कहते हैं कि इस कौतुक से क्या क्या हुआ इसे सुनो।

एकान्त में पति को पाकर जहाँ निःसङ्कोच होकर कहा-सुना जा सके मेना ने कहा। व्याह करना तो अपने हाथ ठहरा। जोगी, जटिल, अकाममन, नग्न अमङ्गलवेष से यदि हम कन्या का व्याह न करेंगे तो आपसे आप कैसे हो जायगा ? इसलिए कहती हैं कि मुनि की बात मेरी समझ में नहीं आती।

जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ विवाह सुता अनुरूपा ॥
नत कन्या बरु रहउ कुआँरी। कंत उमा मम प्रानपिआरी ॥२॥

अर्थ : यदि घर, वर कुल अनुपम हो तो कन्या के अनुरूप विवाह करना चाहिए। नहीं तो चाहे कन्या बिना व्याही रह जाय : यह स्वीकार है : हे कान्त ! उमा मुझे प्राण समान प्यारी है।

व्याख्या : 'घर' से ऐश्वर्य, वर से गुण सम्पत्ति और कुल से मातृमान् पितृमान् होना अभिप्रेत है। यही तीनों बात कन्यापक्ष की ओर से देखी जाती हैं। सो मेरी कन्या के लिए ऐसा घर, वर कुल ठीक करना चाहिए जिसका जोड़ कहीं न हो। क्योंकि मेरी कन्या अनूप है। उसके अनुरूप व्याह होना चाहिए। धर्म शास्त्र की आज्ञा है कि चाहे बेटी कुँआरी रह जाय पर निर्गुणी वर को नहीं व्याहना चाहिए। निर्गुणी वर से उसे पदे पदे कष्ट होगा। आप सुख देनेवाले हो। इसे समझ लो कि उमा मुझे प्राणों से प्यारी है। उसे दुःखी मैं नहीं देख सकती। कन्या मुझे भार नहीं है। परमेश्वर ने सौ पुत्र दिये हैं। यही एक कन्या है इसलिए प्राणप्यारी है। जैसे सौ वैसे एक सौ एक मैं समझूँगी कि यह भी पुत्र ही है।

जौं न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहिहि सब लोगू ॥
सोइ विचार पति करेहु विवाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥३॥

अर्थ : यदि पार्वती के योग्य वर न मिलेगा तो लोग कहेंगे कि पर्वत स्वभाव से ही जड़ हैं। हे नाथ ! विचार करके वही विवाह कीजिये। जिससे फिर पीछे कलेजे में जलन न हो।

व्याख्या : अपयश भी बड़ा भारी होगा : संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू। लोग कहेंगे कि अन्ततोगत्वा पत्थर ही ठहरे। ऐसी कन्या को जोगी जटिल अमङ्गलवेष से व्याह दिया। नारद जी के वचन पर विचार करके अभी से ही 'जोगी जटिल अकाममन' वर ढूंढने चले, इससे यावज्जीवन कलेजा जलेगा। पछतावा होगा कि मैंने क्या किया ?

अस कहि परी चरन धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥
बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचनु अन्यथा नाहीं ॥४॥

अर्थ : ऐसा कहकर चरणों में सिर रखकर गिर पड़ी। तब पर्वतराज ने प्रेम से कहा : चाहे चन्द्रमा में अग्नि प्रकट हो। पर नारद का कथन अन्यथा हो नहीं सकता।

व्याख्या : मेना जानती थी कि पति का नारद के वचन पर कितना विश्वास है। ये शीघ्र नारदजी का वचन न छोड़ेंगे और 'जोगी जटिल अकाममन' वालों में कौन अच्छा है इस प्रयत्न में लगेंगे। वर खोजने का जो प्रशस्त मार्ग घर, वर, कुल की उत्तमता का अन्वेषण है वह बिल्कुल ही छूट जायगा। इसलिए चरणों पर गिरकर पति की कार्य पद्धति को बदलना चाहती है। हिमवान् ने कहा कि नारद की बात टल नहीं सकती। चाहे चाँद से आग निकल पड़े। यह असम्भव भी सम्भव हो पर नारदजी के बचन का अन्यथा होना असम्भव है। सोइ विचारि पति करेहु विवाहू का उत्तर है। सुनकर मैना सोच में पड़ गई। तब कहते हैं :

दो. प्रिया सोचु परिहरहु सबु, सुमिरहु श्रीभगवान ।
पारवतिहि निरमयउ जेहिं, सोइ करिहि कल्यान ॥७१॥

अर्थ : प्रिये ! तुम सब चिन्ता छोड़ दो। श्रीभगवान् का स्मरण करो जिन्होंने पार्वती को रचा है वे ही कल्याण करेंगे।

व्याख्या : चिन्ता कार्यविनाशिनी। सोच करने से सिद्धि नहीं होती चाहे कोई लाख बार सोचे। कल्याण का मार्ग श्रीभगवान् के स्मरण से खुलता है। जिसने पार्वती को रचा है वास्तविक माता-पिता वही है। वही कल्याण करेगा। जीव की गति सदा ईश्वर के अधीन है। पर्वतराज को नारदजी पर अटल विश्वास है। उन्होंने कह दिया है : होइहि यह कल्याण अब, संसय तजहु गिरीस। अतः गिरीश ने संशय छोड़ दिया है। गुरु के उपदेश पर अटल हैं।

अब जौ तुमहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू ॥
करै सो तपु जेहिं मिलिहिं महेसू। आन उपाय न मिटहि कलेसू ॥१॥

अर्थ : अब जो तुम्हें : अपनी बेटी पर स्नेह हो तो उसे जाकर उपदेश दो कि ऐसा तप करे जिससे महेश्वर मिलें। दूसरे उपाय से कष्ट दूर न होगा।

व्याख्या : तुमने कहा है कि : उमा मम प्रान पियारी। तो जो प्रिय हो उसका सच्चा हित देखना चाहिए। हित के साधन में कष्ट होता ही है। उस कष्ट को उठाने के लिए अपने प्रिय को उपदेश देना ही सच्चा हित चाहना है। अतः यदि सच्चा प्रेम हो तो सोच छोड़ो। तबीयत कड़ी करके सिखावन दो कि महेश्वर की प्राप्ति के लिए तप करे। पति के लिए तप करने को तुम कह सकती हो। मैं नहीं कह सकता। जो तुमने कहा कि : करिय विवाह सुता अनरूपा। सो हो नहीं सकता। नारदजी ने जो उपाय वतला दिया वही यथार्थ उपाय है। दूसरे उपाय से कष्ट मिटेगा नहीं।

नारद बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुननिधि वृषकेतू ॥
अस विचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहि भाँति संकरु अकलंका ॥२॥

अर्थ : नारदजी का वचन साभिप्राय है। युक्तियुक्त है। वृषकेतु सुन्दर और गुणों के निधान हैं। ऐसा विचार करके तुम आशङ्का न करो। शिवजी सभी भाँति से निष्कलङ्क हैं।

व्याख्या : नारदजी ने जो कहा कि : एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं : इसका अभिप्राय है। दोषयुक्त वर मिलने से यह सम्पूर्ण जगत् में पूज्य कैसे होगी ? इसकी सेवा से वाञ्छित फल कैसे मिलेगा ? पर यह भी ब्रह्मा का लेख है। यह भी टल नहीं सकता। शिवजी ही एक ऐसे हैं जिनमें उपर्युक्त दोष हैं वे उनकी महिमा को और भी बढ़ाते हैं। अतः इसका विवाह शिवजी से ही होगा। उमा को तप के लिए उनका उपदेश करना भी युक्तियुक्त है। यद्यपि यह विवाह बिना यत्न के भी होकर

रहेगा। पर बीच की विघ्नवाधाओं को दूर करने के लिए तप करना अत्यन्त उत्तम होगा।

कन्था वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। वान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्न-मितरे जनाः। कन्या रूप का वरण करती है : इसलिए कहते हैं कि वृषकेतु सुन्दर हैं। पिता श्रुत का वरण करता है : इसलिए कहते हैं : गुणनिधि वृषकेतू। माता वित्त का वरण करती है : इसलिए कहते हैं कि शङ्कर हैं। दूसरों का कल्याण किया करते हैं, उन्हें वित्त का क्या घाटा है। यथा : सिव की दई सम्पदा देखत श्रीसारदा सिहानी। वान्धव कुल की इच्छा करते हैं। इसलिए कहते हैं : सबहि भाँति संकर अकलंका। इस भाँति घर वर कुल का अनूपत्व कहा।

सुनि पति वचन हरखि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं॥
उमहि विलोकि नयन भरे बारी। सहित सनेह गोद बैठारी॥३॥

अर्थ : पति का वचन सुनकर मन में हर्ष हुआ। तुरन्त उठकर गिरिजा के पास गईं। उमा को देखकर आँखों में आँसू भरे हुए प्रेम सहित गोद में विठा लिया।

व्याख्या : पतिव्रता हैं। पति के वचन पर बड़ा विश्वास है। उनके कहते ही आशङ्का जाती रही : हर्षित हो उठीं। वहाँ से बड़ी मुस्तैदी से चलीं पर उमा को देखते ही वात्सल्य उमड़ आया। गोद में बिठा लिया। कठोर भूमि पर उनका बैठना सह्य नहीं। यथा : पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पद अवनि कठोरा।

बारहिं वार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछुँ कहि जाई॥
जगत मातु सर्वंग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु वानी॥४॥

अर्थ : बार बार हृदय से लगा लेती हैं। गला भर आने से कुछ कहते नहीं बनता। भवानी तो जगत् की माता हैं। सर्वज्ञ हैं। माता को सुख देनेवाली कोमल वाणी बोलीं।

व्याख्या : विरह का ध्यान करके बार बार हृदय से लगाती हैं। मन अलग करने को नहीं चाहता। तप के लिए कहना चाहती हैं : पर गला भर आता है। कैसे कहें ? भवानी जगत् की माता हैं। उनका वात्सल्य मेना पर भी है। सर्वज्ञ हैं। मेना का हृदय जानती हैं और स्वयं भवानी हैं। यथा : जनम कोटि लगि रगर हमारी। वरौं संभु न त रहौं कुमारी। सोचा कि माँ को कहने में कष्ट हो रहा है। इस समय जो मैं अपना सपना सुना दूँ तो माता को विश्वास भी बढ़ जाय और जो उसे कहना है सो मैं स्वयं करने के लिए सन्नद्ध हो जाऊँ।

दो. सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावौं तोहिं।
सुंदर गौर सुविप्रवर, अस उपदेसेउ मोहिं॥७२॥

अर्थ : माँ मैं तुमसे कहती हूँ। सुनो ! मैंने ऐसा स्वप्न देखा है कि एक सुन्दर गौर वर्ण के श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे उपदेश दिया है।

व्याख्या : स्वप्नाध्यायी के अनुसार सुन्दर और सुविप्रवर का कहा हुआ सत्य होता है। इसे : स्वप्न को किसी से नहीं कहा। तुमसे कहती हूँ क्योंकि उत्तम पुरुष से ही स्वप्न सुनाने का विधान है। इससे यह मालूम होता है कि प्रातःकाल उठकर मेना पार्वतीजी के पास गई थीं। हिमालय से बातचीत रात को हुई थी। यथा : पतिहि एकांत पाय कह मेना।

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य विचारी ॥
मातु पितहिं पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा ॥१॥

अर्थ : हे पार्वती ! नारदजी ने जो कहा है उसे सत्य समझकर जाकर तप करो। तेरे माता पिता को भी यही पसन्द है। तप सुख देनेवाला और दुःख को मिटानेवाला है।

व्याख्या : जाइ से वन जाना कहा। घर में तप नहीं होता। शैलकुमारी से तप की योग्यता कही। नारद कहा सो सत्य विचारी से हिमवान् की उक्ति : नारद वचन सगर्भ सहेतू की पुष्टि हुई। मातु पितहि पुनि यह मत भावा : इस उक्ति से : सुंदरगौर सुविप्रवर की सर्वज्ञता द्योतित हुई। अवगुण का परिहार : तप से होगा। तप सुखप्रद है। दुःख-दोषों का नाश करता है। अतः तप के लिए भेजने में आगा पीछा न होना चाहिए।

तप बल रचै प्रपंचु विधाता। तप बल बिस्नु सकल जग त्राता ॥
तप बल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरैं महि भारा ॥२॥

अर्थ : तप के बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं। तपोबल से विष्णु समस्त संसार के रक्षक हैं। तप के बल से शम्भु संहार करते हैं। और तप के बल से शेषजी पृथ्वी का भार वहन करते हैं।

व्याख्या : विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार भौतिक बल से नहीं हो सकता। यह सब तपोबल से ही होता है। ब्रह्मपद, विष्णुपद और रुद्रपद की प्राप्ति भी तपोबल से होती है। पृथ्वी का भारवहन भौतिक बल से असाध्य है। तपोबल से ही पृथ्वी शेष द्वारा धृत है।

तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी ॥
सुनत वचन विसमित महतारी। सपन सुनायउ गिरिहि हँकारी ॥३॥

अर्थ : हे भवानी ! सारी सृष्टि तप के ही सहारे है : ऐसा जी से जानकर तप करो। यह बात सुनकर माता को बड़ा आश्चर्य हुआ। हिमवान् को बुलाकर सपना सुनाया।

व्याख्या : जब सब सृष्टि ही तप के आधार पर है तब भवानी पद की प्राप्ति भी बिना तप कैसे सम्भव है, इसलिए तप करो। करहि जाइ तप सैलकुमारी से उपक्रम करके : करहि जाइ तप अस जिय जानी से उपसंहार दिखलाया।

जो बात हिमवान् से एकान्त में हुई उसकी सूचना स्वप्न दिखानेवाले देव ने

दी। यथा : मातु पितहिं पुनि यह मत भावा। इसलिए विस्मित हुईं। वाहर से स्वप्न सुनने के लिए हिमवान् बुलाये गये।

मातु पितहिं बहु विधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरखाई॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए विकल मुख आव न बाता॥४॥

अर्थ : माता पिता को वहुत भाँति से समझाकर उमा तप के लिए सानन्द चलीं। प्रिय परिवारवाले माता पिता सव विकल हो गए। मुख से वात न निकली।

व्याख्या : माता पिता को समझाना। यथा :

मेरे हित नहिं नेकहू, सोच करै तू माय।
मोहिं योग नीको लगै भोग न भूलि सोहाय॥
शिशुपन ते तापसन में मेरी प्रीति विशेखि।
जे तप में बाधा करैं, तिन्है सकौं नहिं देखि॥
षड्रिपुयुत प्रासाद ते, बन में बड़ो अनन्द।
जहाँ जाइ नर भजत हैं, ब्रह्म सच्चिदानन्द॥
भयो, होइहै, होत है, तपते ही कल्यान।
तब तप साधन में कहा मनको करत मलान॥
शैल छाड़ि कहुँ जात नहिं सखी हमारे संग।
अति उछाह तप हेतु मोहिं, व्यर्थ करौ जनि भंग॥
तुम्हरे दुःख कीन्हें सकल, तपबल जाइ नसाय।
सो साधन सब सिद्धिप्रद जो पितु मातु सोहाय॥
जानि बूझि कल्यान मग, तबहू विषम विषाद।
तात कबहुँ नहिं कीजिये यह प्रियप्रेम प्रमाद॥

उमा ने इस भाँति समझाया। फिर भी वात्सल्य के कारण कुटुम्बीजन तथा माता-पिता अत्यन्त विकल हुए। चलने में हर्ष कार्यसिद्धि द्योतक है।

दो. वेदसिरा मुनि आइ तब, सबहिं कहा समुझाइ।
पारवती महिमा सुनत, रहे प्रबोधहिं पाइ॥७३॥

अर्थ : वेदशिरा मुनि ने तब आकर सबको समझाकर कहा। पार्वतीजी की महिमा सुनकर सन्तुष्ट होकर रह गये।

व्याख्या : पार्वतीजी को पुत्री भाव से देखते रहे और उसी अज्ञान से दुःखी हो रहे थे। परहितैकव्रत मुनि ने उनका यथार्थ माहात्म्य समझाकर सबका अज्ञान दूर किया। मुनिजी ने कहा :

क. तनया तुम्हारी तुहिनाचल सँवारै विश्व,
धारै औ सँहारै, याकी महिमा कही ना जाय।
पूजि पद कंज मंजु याके सुर वृंद जग,
करत अनन्द विधि हरि सुरपद पाय॥

लीला तनु धारिनि सँघारिनि असुर संघ,
संतसुख कारिनी बिहारिनी सुछन्द माय।
करुना अपार गुनगन को न पारावार,
भारभूमि हरनि धरनि प्रकटी हैं आय।।
तनया तिहारी नहीं जननी जगत की सो,
कौन कांज अगम सुगम नहिं ताको जौन।
योगी मुनि बृन्दन को दुर्लभ दरस जासु,
सकति अनादि सोई प्रकटी तिहारे भौन।।
जाते त्रयलोक की भलाई भूरि होनहार,
अंब जगदंब विजय आनन्द करैंगी तौन।
व्यर्थ ही विषाद तव ताके हित मोहबस,
मन में विचारो नेक तोसों बड़ भागी कौन।।

तव सबको ढाढ़स बँधा। घर रह गये। नहीं तो साथ चलने को तैयार थें। वेदशिराजी भृगुवंशी थे। भृगु के विधाता, विधाता के प्राण और प्राण के पुत्र वेदशिरा थे।

उरधरि उमा प्रानपति चरना। जाइ विपिन लागीं तप करना।।
अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू ।।१।।

अर्थ : प्राण पति के चरणों को हृदय में धारण करके उमा वन में जाकर तप करने लगीं। अत्यन्त सुकुमार शरीर तप के योग्य नहीं था। फिर भी पति के चरणों का स्मरण करके सब भोगों का त्याग किया।

व्याख्या : उपजेउ सिव पद कमल सनेहू : पहिले कह आये हैं। अव वन में जाकर उन्हीं चरणों को हृदय में धारणकर तप करने लगीं। प्राणपति कहकर दुष्कर तप की सुकरता दिखलाई। प्राणपति के लिए दुष्कर कुछ भी नहीं है। इसी से एकाग्रता भी सूचित की। नारदजी ने कहा था कि : आसुतोष पुनि किये कलेसू। अत: सब भोगों का त्याग किया। प्राणपति के स्मरण में जो सुख है उसके सामने जितने भोग हैं सब तुच्छ हैं। अत: अति सुकुमारी होने पर भी तप के लिए सन्नद्ध हो गईं। यथा : जननि जनक उपदेस महेसहिं सेवहिं। अति उदार अनुराग भगति मन भेवहिं। पा. मं.।

नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मनु लागा।।
संवत् सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत वरष गँवाए ।।२।।

अर्थ : चरणों में नित्य नया प्रेम उत्पन्न होने लगा। देह की सारी सुधि विसर गई और तप में ही मन लग गया। एक हजार वर्ष तक उन्होंने मूल फल खाये और सौ वर्ष साग पात खाकर बिताये।

व्याख्या : प्राणपति के चरणों को हृदय में धारण करने से उसमें नित्य नया अनुराग उत्पन्न होने लगा। अब तप में ही मन ने सुख माना। देहाध्यास जाता रहा।

पहिले अन्न खाती थीं फिर अन्न छोड़ दिया। एक सहस्र वर्ष तक फलमूलाहार किया। क्रम से तप की तीव्रता बढ़ती गई। फल मूल भी छोड़ा। शाक खाने लगीं। सौ वर्ष तक शाकाहार चला।

कछु दिन भोजनु वारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा ॥
बेलबाती[1] महि परै सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई ॥३॥

अर्थ : कुछ दिनों तक जल और वायु भक्षण करके रहीं। फिर कुछ दिनों तक कठिन उपवास किया। वेल की पत्ती जो सूखकर पृथ्वी पर गिर जाती हैं उसे तीन हजार वर्ष तक खाया।

व्याख्या : यद्यपि वारि और वायुभक्षण का समय नहीं दिया फिर भी पूर्वक्रम से वोध होता है कि दस वर्ष तक वारि और वायु का आहार किया। कोई कोई वारि बतासा का अर्थ जल का बबूला करते हैं। यथा : जैसे वारि को बतासा तैसे तन को तमासा है। इसी भाँति एक वर्ष तक कठिन उपवास किया। कठिन उपवास में वारि बतासा का भी ग्रहण नहीं है। ग्यारह सौ वर्ष की एक रुद्री हुई। फिर ग्यारह वर्ष की दूसरी रुद्री हुई।

इतने पर भी कार्य सिद्धि नहीं हुई। अतः फिर से नया तप आरम्भ हुआ। तीन हजार वर्ष तक सूखी बेल की पत्तियाँ खाईं।

पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भयउ अपरना ॥
देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा ॥४॥

अर्थ : फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये। तब उमा का नाम अपर्णा हुआ। तप से उमा का शरीर क्षीण देखकर आकाश में गम्भीर ब्रह्म वाणी हुई।

व्याख्या : सूखी पत्तियों का खाना भी छोड़ दिया। समय नहीं देते। अतः पूर्वोक्त रीति से मालूम पड़ता है कि तीन सौ वर्ष तक सूखी पत्ती भी नहीं खायी। तव उमा का नाम 'अपर्णा' हुआ। पर्ण कहते हैं पत्ती को। जो पत्ती भी छोड़ दे उसे अपर्णा कहते हैं। नाम अपरना भयउ परन जब परिहरे। नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे। अतः यह दूसरा तप ३३०० वर्ष का हुआ। अर्थात् ग्यारह ग्यारह सौ वर्ष की तीन रुद्रियाँ हुईं। कुल पाँच हुईं। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। प्राणावशेष रह गया। तब ब्रह्मवाणी हुई। रुद्राणी पद देना है अतः इसके देनेवाले ब्रह्म ही हैं ब्रह्मा नहीं। यथा : विधिहि विधिता, हरिहिं हरिता, हरहि हरता जो दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।

दो. भयउ मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराजकुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥७४॥

अर्थ : हे गिरिराज की पुत्री ! तेरा मनोरथ सफल हुआ। तू अब सब दुःसह क्लेशों को छोड़ दे। अब तुझे त्रिपुरारि मिलेंगे।

---

१. 'पो वः' इस सूत्र से बेलपाती का रूप 'बेलबाती' हो गया।

व्याख्या : ब्रह्मवाणी ने पहिले मनोरथ की प्रशंसा की कि तेरा मनोरथ कल्पवृक्ष है। अब उसमें फल लग गया। क्षीण शरीर होने से उसमें फूल लगा था। अब इस वाणी द्वारा फल लगा। परिहरु दुसह कलेस सब : कहने से घोर तप करना रोकते हैं। त्रिपुरारि हैं : निश्चय से नहीं हटते। उन्होंने त्याग किया है : ग्रहण कैसे करेंगे? यथा : मिलन कठिन मन भा संदेहू। इसपर कहते हैं : अब मिलिहहिं त्रिपुरारि। यही मनोरथ का सफल होना है। ब्रह्मवाणी इतनी ही सूत्र रूप में हुई।

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ग्यानी ॥
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी ॥१॥

अर्थ : हे भवानी! अनेक धीर, मुनि और ज्ञानी हुए पर ऐसा तप किसी ने नहीं किया। अब तुम ब्रह्म की श्रेष्ठ वाणी को सदा सत्य और निरन्तर पवित्र समझकर अपने हृदय में रखो।

व्याख्या : ब्रह्मवाणी पर ब्रह्माजी की टीका हो रही है। कष्ट सहन, मनन और ज्ञान तीनों प्रकार का तप तुमने किया। ऐसा तप धीर, मुनि और ज्ञानी किसी ने नहीं किया। धैर्य। यथा : देखि उमहिं तपखीन सरीरा। मनन। यथा : नित नव चरन उपज अनुरागा। ज्ञान। यथा : मातु पितहिं बहु बिधि समुझाई। यह उमा की स्तुति है। ब्रह्मदेव ने कहा तप के लिए हठ न करो। सन्देह छोड़ो। ब्रह्मवाणी हो गई : अब मिलिहहिं त्रिपुरारि। सो सदा सत्य है वियोग भी नहीं होगा। तप छोड़ने को कहते हैं। इसमें अशुचि की आशङ्का न करो। ब्रह्मवाणी सन्तत शुचि है।

आवैं पिता बोलावन जबहीं। हठ परिहरि घर जाएहु तबहीं ॥
मिलहिं तुम्हहि जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा ॥२॥

अर्थ : जब तुम्हारे पिता बुलाने आयें तब हठ छोड़कर घर चली जाना। जब तुमको सप्तर्षि मिलें तब वाणी का प्रमाण जानना कि ब्रह्मगिरा कार्य में परिणत हो रही है।

व्याख्या : पहिले पिता तुम्हें बुलाने आये थे पर तुमने हठपूर्वक जाने से इनकार किया। अब ऐसा न करना। पिता के बुलाने पर घर चली जाना। तुमसे मिलने सप्तऋषि आवेंगे तब समझ लेना कि अब कार्य सिद्धि होना ही चाहती है। पिता के आने तक तप की अवधि है। अभी तो दुःसह क्लेश मात्र त्याग के लिए आदेश है।

वागीशा वाणी या सरस्वती को कहते हैं। यथा : वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। वाणी का प्रमाण कार्य में परिणत होना है। यथा : जौ फुर होय तों नाथ निज कीजै वचन प्रमान। अर्थात् सप्तर्षियों के आने पर वाणी कार्य में परिणत होगी। कश्यपोऽत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथगौतमः। जमदग्निर्भरद्वाज एते सप्तर्षयस्तथा। का. प्र.।

सुनत गिरा विधि गगन बखानी । पुलक गात गिरिजा हरषानी ॥
उमा चरित सुंदर मैं गावा । सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥३॥

अर्थ : आकाश से कही हुई ब्रह्माजी की वाणी सुनते ही उमा के रोम खड़े हो गये । वे वहुत प्रसन्न हुईं । याज्ञवल्क्य जी भरद्वाज मुनि से कहते हैं कि मैंने उमा का सुन्दर चरित्र वर्णन किया । अव शम्भु का सुहावना चरित सुनो ।

व्याख्या : ब्रह्मदेव की टीका का उपसंहार करते हैं । आकाश में प्रत्यक्ष होकर ब्रह्मदेव बोल रहे थे । ब्रह्मदेव की वाणी से हर्ष हुआ । ब्रह्मवाणी में बात स्पष्ट नहीं हुई थी । अब हमें क्या करना चाहिए ? त्रिपुरारि कब मिलेंगे ? इत्यादि बातें ब्रह्माजी की वाणी से स्पष्ट हुईं । अतएव हर्ष हुआ । इति उमाचरितम् । अथ शम्भुचरितम् । सती शरीर से जड़ता, दक्ष की महाजड़ता, रुद्र के कोप से त्रैलोक्य को कम्प, हिमालय में सती का जन्म । ये सब जाड़े के लक्षण हैं । क्योंकि जड़ता को ही जाड़ा माना गया है । यथा : जड़ता जाड़ विषम उर लागा । अतः यह हिम[1] ऋतु का प्रथम मास अगहन है । रोमाञ्च से समाप्त हो रहा है । यथा : पुलक गात गिरिजा हरखानी । शम्भु चरित्र पौषमास है । सो आरम्भ हो रहा है । दोनों मिलकर हिमऋतु हुंआ । यथा : हिम हिमसैलसुता सिव व्याहू । अट्ठाइस दोहा उमा[2]चरित और अट्ठाइस दोहा शम्भुचरित है ।

: ख : शम्भुचरित

जब तें सती जाइ तनु त्यागा । तब तें सिव मन भयउ विरागा ॥
जपहिं सदा रघुनायक नामा । जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा ॥४॥

अर्थ : जब से सती ने जाकर शरीर छोड़ा तब से शिवजी के मन में विराग हो गया । सदा रामनाम का जप करते हैं । जहाँ तहाँ रामजी का गुण ग्राम सुनते हैं ।

व्याख्या : सदा विरागरूप होने पर भी गृहस्थ को लोक संग्रह के लिए स्त्री रक्षा कर्त्तव्यरूप से प्राप्त रहती ही है । घर पर रहना ही पड़ता है । यदि बाहर जाय तो स्त्री को साथ रखना पड़ता है । रागाभास को स्वीकार करना पड़ता है । अव वह भी नहीं रह गया । अतः कहते हैं : तब ते सिव मन भयउ विरागा । पहिले सती से बातचीत करनी ही पड़ती थी । उतनी देर तक जप बन्द हो ही जाता था । अब सदा जप होता है । यथा : जपहिं सदा रघुनायक नामा । जहँ तहँ सुनहिं राम गुनग्रामा । तथा : तब कछु काल मराल तन धरि तहँ कीन्ह निवास । सादर सुनि रखुपति चरित पुनि आयों कैलास ।

---

[1] यथा : हिम हिमसैलसुता सिव व्याहू । श्रीगोस्वामी जी ने उमा महेश्वर के विवाह की उपमा हिमऋतु से दी है ।

[2] श्रीरामचरितमानस् में भगवान् के चरित के साथ साथ पाँच महाभागवत चरित हैं । १. उमा चरित २. शम्भु चरित ३. भरत चरित ४. हनुमान चरित और ५. भुसुण्डि चरित ।

दो. चिदानंद सुखधाम सिव, विगत मोह मद काम।
विचरहिं महि धरि हृदयँ हरि, सकल लोक अभिराम ॥७५॥

अर्थ : चिदानन्द, सुख के धाम, मोह मद और काम से रहित, सारे लोक को आनन्द देनेवाले शिवजी हरि को हृदय में धरकर पृथ्वी पर विचरने लगे।

व्याख्या : चिदानन्द से स्वरूप कहा। अखिल लोक विश्राम दायक कहकर सर्वाश्रय कहा। विगत मोह मद कहकर ईश्वर कहा। ऐसे प्रभु महादेव जी पृथ्वी पर बिचरण करते हैं। यथा : सुंदर गिरि वन सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरौं बिरागा। संसार से विराग है पर हरि से राग है। उन्हीं को हृदय में धारण करके पृथ्वी पर विचर रहे हैं। सकल लोक अभिराम : पद हरि का विशेषण भी हो सकता है।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ राम गुन करहिं वखाना ॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत विरह दुख दुखित सुजाना ॥१॥

अर्थ : कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश देते और कहीं रामजी के गुणों का वर्णन करते थे। यद्यपि अकाम हैं फिर भी सुजान हैं। भगवान् हैं, भक्त के विरह के दुःख से दुःखी हुए हैं।

व्याख्या : शिवजी ज्ञान और भक्ति दोनों के आचार्य हैं। निर्गुण और सगुण दोनों मत के उपदेष्टा हैं। जहाँ जैसा पात्र देखते हैं वहाँ वैसा उपदेश करते हैं। विचरहिं महि से शारीरक तप कहा। धरि हृदय हरि से मानस तप कहा। अब वाङ्मय तप कहते हैं कि योग्य पात्रों को यथोचित उपदेश घूम घूमकर दे रहे हैं। फिर भी दुःखी हैं स्त्री के विरह से नहीं क्योंकि अकाम हैं। कामी स्त्री के विरह से दुःखी होता है। भगवान् हैं अतः भक्त के विरह से दुःखी हैं। भगवान् का बड़ा प्यार भक्त पर होता है। यथा : यद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू। तदपि करहिं सम विषम विहारा। भक्त अभक्त हृदय अनुसारा। सुजान हैं, जन के जी की जाननेवाले हैं। अतः दुःखी हैं।

एहि विधि गयउ कालु बहु बीती। नित नै होइ राम पद प्रीती ॥
नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अविचल हृदयँ भगति कै रेखा ॥२॥

अर्थ : इस प्रकार बहुत समय बीत गया। रामजी के चरणों में नित्य नई प्रीति होने लगी। जव शिवजी के नेम और प्रेम को देखा कि भक्ति को रेखा : संस्कार हृदय में अविचल है।

व्याख्या : इस विधि से कई मन्वन्तर वीत गये। प्रीति तो वही है, जिसमें पुरानापन आने न पावे। रामजी ने शङ्कर का नेम देखा। यथा : जपहिं सदा रघुनायक नामा। इत्यादि। प्रेम देखा। यथा : विचरहिं महि धरि हृदय हरि। हृदय में ऐसी भक्ति की रेखा : छाप देखी जो भक्त विरह दुःख दुःखी होने पर भी

चलायमान नहीं होते बल्कि नित्य नई होती जाती है। इधर बहुत काल से शिवजी का व्रत चल रहा है। उधर ४४११ वर्ष से उमा का तप चल रहा है।

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला ॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा ॥३॥

अर्थ : तब कृतज्ञ कृपालु, रूपशील के भण्डार और महातेजस्वी रामजी प्रकट हुए। बहुत प्रकार से शिवजी की बड़ाई की कि तुम्हारे बिना ऐसा व्रत कौन निबाह सकता है।

व्याख्या : अविचल भक्ति देखकर प्रकटे : इसलिए कृतज्ञ कहा। भक्त विरह दुःख दुःखी देखकर प्रकटे : इसलिए कृपाल कहा। जैसा रूप हृदय में धारण करके विचर रहे थे वहीं रूप अक्षिगोचर हुआ। शङ्कर भगवान् रूपशीलनिधि महातेजस्वी रूप को हृदय में धारण करते हैं। अतः यहाँ वैसा ही वर्णन है।

इधर : नेम प्रेम संकर कर देखा : तब प्रकट हुए। उधर : देखि उमहि तप खीन सरीरा : तब : ब्रह्म गिरा भइ गगन गभीरा। इधर व्रत को प्रशंसा हो रही है कि : तुम विनु अस व्रत को निर्वाहा : उधर उमा के तप की प्रशंसा हो रही है : अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी। देवताओं ने शिवजी के प्रण की प्रशंसा की। रामजी उस प्रतिज्ञा के निर्वाह की प्रशंसा करते हैं।

बहुविधि राम सिवहिं समुझावा। पारवती कर जन्मु सुनावा ॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी ॥४॥

अथ : रामजी ने बहुत प्रकार से शिवजी को समझाया और पार्वती का ज़न्म सुनाया। कृपानिधि ने पार्वती की अति पवित्र करनी का विस्तार के सहित वर्णन किया।

व्याख्या : रामजी ने समझाया दूसरा जगद्गुरु को कौन समझाये। यथा :

क. जगत कुटुम्ब के कुटुम्बी आप ही हैं एक,
आपके सहारे सारे जीव वसुधा के हैं।
माय बिनु हाय को सुनैया कौन या जग में,
ताके बिनु तातहू के पौरुष विथा के हैं॥
पाय माय विश्व हरखाय सो उपाय कीजै,
तापित हृदय आज सकल प्रजा के हैं।
आप मन मोरैं, तौं निहोरैं केहि जाय,
माय बाप के भरोसे शिशु जीवत जहाँ के हैं ॥१॥

इत्यादि। तब हिमालय के घर पार्वती का जन्म कहा। कृपानिधि हैं : संक्षेप से कहने में सन्तोष नहीं। अतः विस्तार के सहित गिरिजा की अति पुनीत करनी का वर्णन किया। सती परम पुनीत थीं पर गिरिजा अति पुनीत हैं। इस भाँति दिव्य जन्म और दिव्य कर्म कहा।

दो. अब बिनती मम सुनहु सिव, जौं मो पर निज नेहु ।
जाइ बिबाहहु सैलजहिं, यह मोहि माँगे देहु ॥७६॥

अर्थ : हे शिव ! अब मेरी विनती सुनो। यदि तुम्हारा मुझ पर स्नेह हो तो मुझे यही माँगन दो कि जाकर पार्वती के साथ व्याह कर लो।

व्याख्या : भगवान् आविर्भूत होकर वर देते हैं पर यहाँ स्वयं माँग रहे हैं। कहते हैं कि सबकी विनती तुम सुनते हो। मेरी न सुनने का कोई कारण नहीं। अथवा मैं विनती सुनता हूँ करता नहीं। सो आज तुमसे करता हूँ इसलिए सुनो। यदि मुझ पर स्नेह हो तो स्वीकार करो। न हो तो मत स्वीकार करो। मैं माँगता हूँ। मुझे दो। भाव यह है कि भगवान् उमा से वाक्यवद्ध हो चुके हैं कि : अब मिलिहहिं त्रिपुरारि। अतः माँगते हैं : जाइ विवाहहु सैलजहिं।

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा ॥१॥

अर्थ : शिवजी ने कहा : यद्यपि ऐसा उचित नहीं है तो भी नाथ की बात टाली नहीं जा सकती। आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मानूँ हे नाथ ! यही मेरा परम धर्म है।

व्याख्या : यद्यपि स्वयं रामजी ने समझाया फिर भी शिवजी कहते हैं कि यह उचित नहीं है। यदि आपकी ओर से सम्मति ही दी गई होती तो मैं अस्वीकार करता। क्योंकि : वचन अन्यथा होइ न मोरा। परन्तु यहाँ सम्मति के साथ साथ आज्ञा भी दी जा रही है। उसे हटाने का मुझे सामर्थ्य नहीं। अपने प्रण पर स्थिर रहना धर्म है पर स्वामी की आज्ञा मानना परम धर्म है। धर्म के लिए परम धर्म नहीं मिटाया जा सकता। इसलिए मैं शिरोधार्य करता हूँ। दूसरे का वचन मेटा जा सकता है पर : प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई। अतः आपकी आज्ञा प्रमाण है।

मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी ॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी ॥२॥

अर्थ : माता-पिता, गुरु और स्वामी की बात को बिना किसी बिचार के शुभ जानकर करना चाहिए। आप तो सब तरह से मेरे परम हितकारी हैं। हे नाथ ! आपकी आज्ञा मेरे सिर पर है।

व्याख्या : गुरु पितु मातु स्वामिहित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी। उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू। गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले। इनमें से एक-एक की वाणी प्रत्याख्यान योग्य नहीं है। आप तो माता-पिता, गुरु, प्रभु, हित सब कुछ हैं। आप : यह मोहि माँगे देहु : क्यों कहते हैं। आपकी आज्ञा मेरे सिर माथों पर है।

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना। भगति विवेक धर्म जुत रचना ॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ ॥३॥

अर्थ : शिवजी की भक्ति, विवेक और धर्म युक्त वचनरचना सुनकर प्रभु संतुष्ट हुए। प्रभु ने कहा हे हर ! तुम्हारा प्रण रह गया। अब मैंने जो कहा है उसे हृदय में रखना।

व्याख्या : शंकरजी के वचन की रचना भक्ति, विवेक और धर्मयुक्त थी। इससे प्रभु सन्तुष्ट हुए। प्रभु की सन्तुष्टि के लिए तीन उपाय हैं : भक्ति, विवेक और धर्म। शङ्करजी के वाक्य में तीनों का सँभार था।

धर्म, यथा : सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परमधर्म यह नाथ हमारा॥
विवेक, यथा : मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥
भक्ति, यथा : तुम सब भाँति परम हितकारी। आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी॥

शिवजी ने जो कहा था कि : उचित अस नाहीं। उसका उत्तर देते हुए रामजी कहते हैं : तुम्हार पन रहेऊ। तुम्हारा यही प्रण था कि : एहि तन सतिहि भेंट अब नाहीं। सो वह तन भस्म हो गया। अब तो पार्वती तन है। अब उर राखेउ जो हम कहेऊ। भाव यह है कि विवाह के लिए तुम्हें कुछ उद्यम नहीं करना होगा। कारण कार्य आप ही उपस्थित होगा। तुम्हारा एतावन्मात्र कर्त्तव्य है कि मेरे कहने का ध्यान रखना। अवसर आने पर उसे कार्य में परिणत करना।

अंतरधान भए अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए। बोले प्रभु अति बचन सुहाए॥४॥

अर्थ : ऐसा कहकर : रामजी अन्तर्धान हो गये। शिवजी ने वही मूर्ति हृदय में रख ली। उसी समय सप्तर्षि शिवजी के पास आये। प्रभु ने उनसे अति सुन्दर वचन कहे।

व्याख्या : रामजी के प्रकरण का प्रकटे से उपक्रम और अन्तर्धान भए से उपसंहार किया। शिवजी ने वही रूपशीलनिधि तेज विसाला : मूर्ति को हृदय में रख लिया। क्षण भर का वियोग असह्य हैं। या तो इन आँखों के सामने रहें या मानसिक दृष्टि के सामने रहें। तभी सप्तर्षियों ने आकर प्रणाम किया। शिवजी ने ऐसा वचन कहा जो सबका मनभाया हो। इसलिए उस वचन को 'अति सुहाए' कहा।

दो. पारवती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम परीछा लेहु।
गिरिहिं प्रेरि पठएहु भवन, दूरि करेहु संदेहु॥७७॥

अर्थ : तुम पार्वती के पास जाकर प्रेम की परीक्षा लो। हिमाचल को प्रेरणा करके उनके घर भिजवाओ और उनके सन्देह को दूर कर देना।

व्याख्या : प्रभु लोग जन की प्रीति की परीक्षा करते हैं। यथा : सोइ प्रभु जनकर प्रीति परिच्छा। इससे प्रभु का अज्ञान नहीं समझना। उसका उद्देश्य नीति रक्षा है। यथा : यद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता। यदि कोई प्रेम के लिए तपस्या करता हो तो उसके प्रेम की परीक्षा लेनी नीति है। परीक्षोत्तीर्ण होने का यश उसे मिलेगा। परीक्षक का मान हुआ कि वे अमुक की परीक्षा लेने के योग्य समझे गये। यहाँ कितना बड़ा मान सप्तर्षि को मिला कि वे पार्वतीजी

के प्रेम के परीक्षक नियत हुए। सती शरीर से स्वामी की परीक्षा लेना उचित समझा था अतः स्वीकार के पहिले शिवजी ने इनकी भी परीक्षा लेना उचित समझा। परीक्षा में उत्तीर्ण होना निश्चत ही है। अतः कहते हैं : गिरिहिं प्रेरि पठयेउ भवन। जिसमें ब्रह्मदेव की वाणी का सामञ्जस्य बैठ जाय और पार्वती को अपने इष्ट से : त्रिपुरारि से मिलने की दृढ़ आशा हो जाय। हिमालय और मेना के सन्देह को दूर करना : इस कथन का यह भाव है कि वे भी जान लें कि शिवजी को विवाह स्वीकार है। शिवजी के ये वचन सबके लिए अति मनभावने थे इसलिए अतिसुहाए कहा।

रिषिन्ह गौरि देखि तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तपु भारी॥१॥

अर्थ : ऋषियों ने वहाँ पार्वती को कैसा देखा। मानो : स्वयं तपस्या मूर्ति धारण किये हुए हो। मुनि बोले : हे शैलकुमारी ! किसलिए भारी तप कर रही हो ?

व्याख्या : सप्त ऋषि हैं। अपने मन्वन्तर के अधिकारी हैं। बड़े भारी तपस्वी हैं। उन्हें गौरी स्वयं तपस्या की अधिष्ठात्री देवी सी प्रतीत हुईं। तप के तेज का विस्तार हो रहा है। इसलिए गौरी नाम दिया। दुःसह क्लेश छोड़ दिया है क्योंकि ब्रह्मवाणी की ऐसी आज्ञा हो चुकी है, फिर भी तप चल रहा है।

परीक्षा लेने में ही सती से चूक हुई थी। अतः ग्रन्थकार इनके परीक्षा लेने की विधि बतलाते हैं। सप्तर्षियों ने अपना स्वरूप नहीं पलटा। केवल मन्वन्तर के सप्तऋषि होने के नाते पूछते हैं कि किस कारण भारी तप करती हो ? जिसमें उत्तर पाने पर शङ्कर भगवान् में वरोचित गुणों का अभाव दिखलावें और विष्णु में सभी वरोचित गुणों की स्थिति निरूपण करें। इतने से ही परीक्षा हो जावेगी कि शुद्ध प्रेम है कि उसमें कुछ स्वार्थ भी है।

केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरमु किन कहहू॥
कहत वचन मनु अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई॥२॥

अर्थ : तुम किसकी आराधना करती हो और क्या चाहती हो ? तुम हमसे अपना सच्चा भेद क्यों नहीं कहती ? गौरी बोलीं : बात कहते मन बहुत सकुचाता है। हमारी मूर्खता सुनकर हँसोगे।

व्याख्या : तीन बातें क्रम से पूछीं। १. भारी तप का कारण क्या ? २. आराध्यदेव कौन है ? ३. ईप्सित क्या है ? चुप देखकर कहते हैं कि मन्वन्तर के हम सप्तर्षि हैं। तपस्वियों की देखभाल हमारे सुपुर्द है। हम वर भी दे सकते हैं। अतः हमसे मर्म कहना चाहिए।

ऋषियों का अभिप्राय समझते हुए गौरी बोलीं। हम सन सत्य मरम किन कहहू : पहिले इस तीसरे प्रश्न का उत्तर देती हैं कि : मनु अति सकुचाई : अपने विवाह की बात कहने में सङ्कोच और उस पर हँसने के भय से अति सङ्कोच। जड़ताई अर्थात् स्नेह : जाड्य है। यथा : सो सनेह जड़ता बस कहहू। मैं स्नेह से जड़ हूँ। मुझमें समझने की सामर्थ्य नहीं है।

मनुहठ परा न सुनै सिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा ॥
नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना ॥३॥

अर्थ : मन हठ कर बैठा है। सिखावन सुनता ही नहीं। पानी के ऊपर दीवार खड़ी करना चाहता है। नारदजी ने जो कहा है उसे हमने सत्य जाना है। मैं बिना पंख के उड़ना चाहती हूँ।

व्याख्या : मन मेरा हठी है। मेरी ही सीख नहीं सुनता, दूसरे की क्या सुनेगा। भाव यह कि यदि आप लोग मेरे सङ्कल्प में कुछ सुधार चाहते हों, कुछ शिक्षा देना चाहते हों तो न देने की कृपा करें। तृतीय प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ। दीवार को दृढ़ आधार की आवश्यकता होती है। जल एक ईंटे का भार नहीं सह सकता। उस पर दीवार नहीं उठ सकती। यह मैं स्वयं जानती हूँ। इस भाँति गृहिणी दीवार हैं। उसे पक्के गृहस्थ की आवश्यकता होती है। उदासीन को मित्रता बोझ है। उसे वह नहीं सह सकता। स्त्री को गले बाँधे फिरना उससे कथञ्चित् सम्भव नहीं। यह सब जानती हुई भी मैं असम्भव को सम्भव किया चाहती हूँ। यह प्रथम प्रश्न : करहु कवन कारन तप भारी। का उत्तर है।

अब दूसरे प्रश्न केहि अवराधहु का उत्तर देती हैं। आराधना में गुरु के वचन पर विश्वास चाहिए। अतः कहती हैं : नारद कहा सत्य सोइ जाना। आराधन के साधन विरति और विवेक हैं। जैसे उड़ने के साधन दोनों पंख होते हैं। यथा : श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजुत विरति विवेक। मुझमें दोनों नहीं : न विरति है, न विवेक है। आराधना करना चाहती हूँ। अथवा कार्यसिद्धि के दो साधन हैं। १. दैव २. पुरुषार्थ। सो दैव प्रतिकूल है। यथा : जस वर मैं वरन्यौ तुम पाहीं। मिलिहि उमहिं तस संसय नाहीं। और पुरुषार्थ मुझमें है नहीं। यही मेरा बिना पंख के उड़ना चाहना है।

देखहु मुनि अविवेक हमारा। चाहिअ सदासिवहि भरतारा ॥४॥

अर्थ : हे मुनियो ! हमारा अविवेक देखो : मैं सदाशिवजी को पति चाहती हूँ।

व्याख्या : तीसरे प्रश्न का तुम चहहू का उत्तर देती हैं। चाहिअ सदासिवहि भरतारा। अब अपनी चाह में भी बड़ा भारी अविवेक दिखलाती हैं कि लोग इष्टदेव से सुगति चाहते हैं। मैं उन्हीं को भर्तार रूप से चाहती हूँ। ऋषियों के तीनों प्रश्नों का उत्तर पूरा हुआ।

दो. सुनत वचन विहँसे ऋषय, गिरि संभव तव देह।
नारद कर उपदेसु सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह ॥७८॥

अर्थ : बात सुनते ही ऋषि लोग हँस पड़े और कहा : तुम्हारा देह ही पहाड़ से पैदा है। भला नारद का उपदेश सुनकर किसका घर बसा है ?

व्याख्या : पहिले ही कहा था : हँसिहहु मुनि हमार जड़ताई। सो ठीक उतरा। देवीजी हँसने से ही डरती थीं सो वे महात्मा विहँसे और बोले। 'मन हठ परा न सुनै

सिखावा। चहत वारि पर भीत उठावा। का उत्तर देते हैं : गिरि संभव तव देह। और : नारद कहा सत्य सोइ जाना : का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिसने नारद के उपदेश को सत्य करके जाना उसका घर उजड़ा। भाव यह कि आराधना के उपदेष्टा में दोष दिखाकर आराधना में विरुद्ध फलोत्पादकता दिखाते हैं। विवाह तो घर बसाने के लिए होता है। नारद के उपदेश से सदा बसा हुआ घर उजड़ा है। किसी घर के बसने का तो उदाहरण ही नहीं है।

दच्छ सुतन्ह उपदेसिन्हि जाई। तिनि फिरि भवनु न देखा आई॥
चित्रकेतु कर घरु उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला॥१॥

अर्थ : दक्ष के पुत्रों को जाकर उपदेश दिया। उन्होंने लौटकर फिर घर नहीं देखा। चित्रकेतु का घर उन्हीं ने नष्ट किया और हिरण्यकश्यप का फिर ऐसा हाल हुआ।

व्याख्या : दक्ष के बेटे उपदेश लेने नहीं गये थे। नारद ने स्वयं जाकर उपदेश दिया। तुमने भी बुलाया न होगा। वे आप ही उपदेश देने पहुँच गये होंगे। दक्ष ने हर्यश्व नाम के पाँच सौ पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें सृष्टि करने की आज्ञा दी। नारदजी ने उन्हें जाकर उपदेश किया कि पहिले तुम लोग जाकर भूमि के परिणाम का पता लगा लो तब सृष्टि करना। वे भूमि के परिमाण का पता लगाने चल पड़े। सो आज तक न लौटे। फिर दक्षजी ने एक सहस्र पुत्र उत्पन्न करके उन्हें भी सृष्टि करने की आज्ञा दी। नारदजी ने उन्हें भी वही उपदेश दिया और वे भी आज तक नहीं लौटे।

चित्रकेतु राजा को पुत्र न था। अंगिरा मुनि की कृपा से छोटी रानी को एक पुत्र हुआ। अन्य रानियों ने ईर्ष्यावश उसे विष देकर मार डाला। राजा व्याकुल हुआ। अंगिरा मुनि के समझाने पर भी व्याकुलता न गई। मुनिजी ने नारदजी का स्मरण किया। नारदजी ने भी आकर बहुत समझाया पर कोई फल न हुआ। तब नारदजी ने उस मृत पुत्र से कहा : उठ, तेरे पिता व्याकुल हैं। वह उठा और कहने लगा कि कौन किसकी माता और कौन पिता? यह सब भगवान् की माया का विलास है। अब मेरा वृत्तान्त सुनो। मैं पाञ्चाल देश का राजा हूँ। राज्य छोड़कर भजन करने गया। एक दिन भिक्षा माँग लाया। उसका पाक बनवाया। एक कण्डे में १६०० चीटियाँ थीं। वे जल मरी। मुझे पीछे पता लगा। वे ही राजा की १६०० रानियाँ हुईं। मुझे जिसने कण्डा दिया था वह छोटी रानी हुई। उस भिक्षा का शालग्राम को भोग लगाया था। इसीसे एक जन्म में सब बैर सध गया। ऐसा कहकर बालक मर गया। राजा रानी ने राजपाट छोड़ा और विरक्त हो गये। इस भाँति नारदजी के उपदेश से चित्रकेतु का घर गया।

हिरण्यकश्यप का हाल जगत् विख्यात है। इसलिए अस हाला कहते हैं। उसके पुत्र के लिए नृसिंहजी ने उसका पेट फाड़ डाला। बात यह हुई कि हिरण्यकश्यप तप करने गये। उसकी रानी को गर्भ था। नारदजी ने उसे राम तत्त्व का उपदेश दिया।

इससे रानी का तथा गर्भ का रामाकार मन हो गया। उसी रानी से जो लड़का जनमा, प्रह्लाद नाम हुआ। उसीके कारण हिरण्यकश्यप मारा गया।[१] यहाँ फिर शुक तथा बहु बरन विहंग बोल उठे।

नारद सिष जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी ॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा ॥२॥

अर्थ : जो स्त्री पुरुष नारद का सिखावन सुनते हैं वे घरबार छोड़ अवश्य भिखारी हो जाते हैं। उनका मन कपटी है। शरीर पर सज्जन के चिह्न हैं। अपने समान सभी को बनाना चाहते हैं।

व्याख्या : नर ही नहीं नारी भी जो नारद का उपदेश सुने तो उसकी भी गृहस्थी छूटे। हिरण्यकश्यपु की स्त्री ने नारद का उपदेश सुना था जिससे वैरागी लड़का पैदा हुआ और अपनी माँ के वैधव्य का कारण हुआ। नारद के उपदेश से घर उजड़ता है। तुम घर बसाना चाहती हो। अतः उनके उपदेश का परित्याग करो।

ऐसे उपदेश का कारण यह है कि उसका मन कपटी है। बाहर से साधु वेष बनाए रहता है। उसे धन, धाम, जाया कुछ नहीं है। चाहता है कि सारा संसार ऐसा ही हो जाय। कैसी सुन्दर व्याजस्तुति है। नारद अपने सा ही सारे संसार को सुखी बनाना चाहते हैं पर संसार स्वयं सुखी होना चाहता नहीं।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥३॥

अर्थ : उनके वचन का विश्वास करके तुम ऐसा पति चाहती हो। जो १. सहज उदासी २. गुणहीन ३. निर्लज्ज ४. कुवेष ५. कपाल धारण करनेवाला ६. कुलहीन ७. गृहहीन ८. नङ्गा और ९. साँप धारण करनेवाला है।

व्याख्या : नारद के वचन का कोई विश्वास नहीं करता। यदि करते होते तो सब विरक्त हो गये होते। तुम उसी के धोखे में आकर सहज उदासीन पति चाहती हो। वर के लिए उदासीन होना बड़ा भारी दुर्गुण है। उदासीन का अर्थ है रागद्वेष रहित। वह स्त्री से प्रेम कैसे करेगा? यहाँ जो नौ विशेषण शिवजी के लिए दिये हैं इन सबके दो दो अर्थ हैं। पहिला शिवजी की स्तुति में लगेगा। दूसरा अर्थ प्रसङ्गानुकूल निन्दा में है।

१. उदासीन : समदर्शी या उपेक्षक २. निर्गुण : गुणातीत या सद्गुण रहित ३. निलज : आत्मदर्शी या बेहया ४. कुवेष : वैराग्य से या दरिद्रता से ५. कपाली : ब्रह्मदेव का शिरश्छेत्ता महापराक्रमी या अघोरी। ६. अकुल : स्वयम्भू या निगोडा ७. अगेह : सर्वाश्रय या निराश्रय ८. दिगम्बर : चिदाकाश रूप या नङ्गा ९. व्याली : विश्वम्भर या सँपेरा।

---

[१] औरो कथा अनेक प्रसंगा। ते सुक पिक बहु बरन विहंगा।

कहहु कवन सुखु अस वरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ॥
पंच कहें सिवँ सती विवाही। पुनि अवडेरि मराइन्हि ताही॥४॥

अर्थ : कहो ऐसा वर मिलने से क्या सुख होगा? तुम ठग के बहकाने से खूब ही भूली। पञ्च के कहने से शिवने सती के साथ व्याह किया था। फिर उसे दुःख दे देकर मरवाही डाला।

व्याख्या : चाहिअ सदा सिवहिं भरतारा : का उत्तर देते हैं। पति का वरण तो सुख के लिए होता है। ऐसे नौ दोषों से युक्त वर से तो दुःख ही दुःख मिलेगा। नारद ठग हैं। सबका सांसारिक सुख छीनना चाहते हैं। इसके कहने में आकर तुम पागलपन कर रही हो। उनके पहले व्याह का हाल सुनो। पहिले तो वे व्याह ही नहीं करना चाहते थे। सबके कहने सुनने से किसी प्रकार व्याह भी किया। उसे ऐसा ऐसा दुःख दिया कि न उसे गहना न कपड़ा। भाँग धतूरा खिला खिलाकर : जो आप खाते हैं : पागल कर दिया। उसका त्याग भी किया। अन्त में वह पिता के यज्ञ में जाकर जल मरी।

दो. अब सुख सोवत सोचु नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिं॥७९॥

अर्थ : अब शिव सुख से सोते हैं। कोई चिन्ता नहीं है। भीख माँगकर खाते हैं। भला ऐसे जनम के निखट्टू के घर भी कभी स्त्री टिक सकती है।

व्याख्या : एक स्त्री का बोझा चलाये नहीं चलता था। जब से वह मर गई तब से सुख से सोते हैं। नहीं तो उनकी चिन्ता से नींद नहीं लगती थी। यदि कहो कि अब रोटी कौन बनाता है? इसपर कहते हैं : भीख माँगि भव खाहिं। जहाँ कोई सास ननद नहीं, जेठानी देवरानी नहीं, वहाँ तुम्हारा मन कैसे लगेगा। देखने में तो निन्दा है पर गूढ प्रशंसा के ही वाक्य सप्तर्षियों ने कहे। सुख सोवत सोचु नहिं : कहने का भाव यह कि दुःख के अनुवेध से रहित सुख शिवजी को ही है। वह सुख ही नहीं जिसमें दुःख का मेल हो। अर्थात् यथार्थ सुखी वे ही हैं।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ वर नीक बिचारा॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं वेद जासु जस लीला॥१॥

अर्थ : अब भी हमारा कहा मानो। हमने तुम्हारे लिए अच्छा वर विचारा है। अत्यन्त सुन्दर, पवित्र, सुखदाई और सुशील हैं। उनका यश और लीला वेद गान करते हैं।

व्याख्या : वरेषु ये गुणाः प्रोक्ता एकोऽपि न शिवे स्मृतः। वाहनञ्च बलीवर्दो वसनं चर्म एव च। शि. पु.। वर के जो गुण कहे गये हैं उनमें से एक भी शिवजी में नहीं है। वैल पर तो चढ़ते हैं और चमड़ा पहनते ओढ़ते हैं। एकउ हरहिं न वरगुन कोटिक दूषन। नर कपाल गज खाल व्याल विष भूषन। पा. मं.। नारद का कहना छोड़ो। जो हुआ सो हुआ। उन्होंने तुम्हारे लिए अच्छा वर नहीं विचारा था। हम

सातों ऋषियों ने मिलकर अच्छा वर विचारा है। वे अति सुन्दर हैं। पुरारि की भाँति पाँच मुँहवाले नहीं हैं। वड़े पवित्र हैं। श्मशान की राख नहीं लगाते। सुख देनेवाले हैं। पालन कर्ता हैं। संहार कर्ता नहीं हैं। सुशील हैं। सभा में बड़ों का अपमान नहीं करते। जैसा कि शिवजी ने अपने श्वसुर दक्ष का किया था। उनके यश और लीला का गान वेद करते हैं। उनके क्रूर कर्म की गाथा का वर्णन नहीं करते।

दूषन रहित सकल गुन रासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥
अस बर तुम्हहिं मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह वचन भवानी॥२॥

अर्थ : वे दोष रहित और सब गुणों की राशि हैं, श्रीपति हैं, वैकुण्ठ में बसते हैं। ऐसा वर तुम्हें लाकर मिलावेंगे। बात सुनते ही भवानी जोर से हँस पड़ी और बोलीं।

व्याख्या : उनमें कोई दोष नहीं है। शिवजी की भाँति सर्प विषादि धारण नहीं करते सब गुणों की राशि हैं। भाँग धतूरा नहीं खाते। श्रीपति हैं। भीख माँगि भव खाहिं वाली बात नहीं है। वैकुण्ठपुर निवासी हैं। मसानवासी नहीं। नव दोष शिवजी में कहे थे। अव नव गुण भगवान् में वतला रहे हैं। मिलान कीजिये : १. शिवजी कुवेष हैं। वे अति सुन्दर हैं। २. शिव कपाली हैं। वे शुचि हैं। ३. ये व्याली हैं। वे सुखद हैं। ४. ये दिगम्बर हैं। वे सुशील हैं। ५. ये निर्गुण हैं। उनकी यशलीला वेद गाते हैं। ६. ये अकुल हैं। वे दूषण रहित हैं। ७. ये अगेह हैं। वे वैकुण्ठ निवासी हैं। ८. ये उदासी हैं। वे श्रीपति हैं। ९. ये निर्लज्ज हैं। वे सकल गुणराशि हैं। सप्तर्षि कहते हैं कि हमारा कहना मानने का फल यह होगा कि ऐसा वर हम तुम्हें लाकर मिला देंगे। इतना दिन तुम्हें तप करते हुआ वे भागते फिरते हैं और इनके लिए तुम्हें कुछ करना नहीं। हम सव कर देंगे। यथा : मोरे जान कलेस करिय बिनु काजहिं। सुधा कि रोगिहि चाहहि रतन कि राजहिं। पा. मं.।

पहिले सप्तर्षि उमा की जड़ता पर हँसे थे। अब भवानी उनकी प्रतारणा पर हँस पड़ीं।

सत्य कहहु गिरि भव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥
कनकौ पुनि पषान ते होई। जारेउ सहजु न परिहर सोई॥३॥

अर्थ : आप लोगों ने सच कहा। मेरा शरीर पर्वत से उत्पन्न हुआ है। हठ नहीं छूटेगा। देह भले ही छूट जाय। सोना भी पत्थर से होता है। जलाने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता।

व्याख्या : गिरिसंभव तवदेह का उत्तर देती हैं। सत्य कहहु गिरिभव तनु एहा। आप ऐसा उत्तम वर खोज बैठे हैं। ला मिलाने को भी तैयार हैं। विचारशील के लिए तो वड़ी बात है। पर मेरे विचार कहाँ? मैं तो पहाड़ की बेटी हूँ। मुझमें जड़ता है। वे न मिलेंगे तो तप करते करते देह छोड़ दूँगी। पर वरूँगी उन्हीं को। अजहूँ मानहु कहा हमारा। का उत्तर देती हैं : हठ न छूट छूटै वरु देहा।

अब वंश स्वभाव कहती हैं। सोना भी पहाड़ से ही उत्पन्न होता है। उसे जला डालिये अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। कनकहिं बान चढ़ै जिमिदाहे। तिमि प्रियतम पद प्रीति निवाहे। जितना तपाइयेगा उतनो ही चमक सोने की बढ़ेगी। वह अपना रंग कभी नहीं छोड़ेगा। उसी भाँति प्रियतम पद प्रीति निर्वाह में मेरा सोना सा स्वभाव होना स्वाभाविक है। मैं अपना हठ कैसे छोड़ूँ ?

नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ ।।
गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ।।४।।

अर्थ : मैं नारदजी के वचन को नहीं छोड़ूँगी, चाहे घर बसे या उजड़े, मुझे डर नहीं हैं। गुरु के वचन का जिसे विश्वास नहीं उसे सुख की सिद्धि सपने में भी सुगम नहीं होती।

व्याख्या : नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहि तजि भवन भिखारी। नारद कर उपदेश सुनि कहहु बसेउ किसु गेह का उत्तर देती हैं कि नारद के वचन के सामने घर का उजड़ना क्या है ? तेहि के वचन मानि विस्वासा का उत्तर देती हैं : गुर के वचन प्रतीत न जेही। नारद को गुरु मानती हैं। उन्हीं के उपदेशानुसार तप आरम्भ किया है। उन्हीं से शिवपञ्चाक्षर की दीक्षा ली है। गुरु के वचन की प्रतीति सुख सिद्धि का असाधारण कारण है।

दो. महादेव अवगुन भवन, विस्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ।।८०।।

अर्थ : महादेव अवगुणों के घर हैं। विष्णु सारे गुणों के धाम हैं। पर जिसका मन जिससे रमता है उसको उसी से काम है।

व्याख्या : परम श्रद्धास्पद के गुण दोष विवेचन पर शास्त्रार्थ इष्ट नहीं है और न विष्णु के विरुद्ध एक शब्द मुख से निकालना इष्ट है। अत: वाद विवाद का मार्ग बन्द करने के लिए तुष्यतु दुर्जनन्यायेन मान लेती हैं कि उनका कहना ठीक है। महादेव अवगुण के और विष्णु गुणों के धाम हैं पर : मीठ कहा कवि कहैं। जाहि जो भावइ। पा. मं.। जिसे जो पसन्द हो वही उसके लिए मीठा है। मुझे विष्णु से काम नहीं है।

जौ तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनति सिख तुम्हार धरि सीसा ।।
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को दूषन करै बिचारा ।।१।।

अर्थ : हे मुनीश्वरो ! जो तुम पहले मिलते तो मैं तुम्हारा उपदेश सिर पर धरकर सुनती। अब तो मैंने अपना जन्म शम्भु के लिए हार दिया। अब गुण दोष का विचार कौन करे ?

व्याख्या : सम्मति देने या मानने का समय निकल गया। विचार का समय मन से वरण करने के पहिले था। अब तो शम्भु के लिए जन्म हार चुकी। आपके प्रति मेरा अनादर नहीं है पर अब मैं गुरु कर चुकी। गुरु के वचन के सामने और

सव वचन अमान्य हैं। यदि पहले आप आये होते तो मैं आप को ही गुरु वनाए होती आपकी ही आज्ञा मानती दूसरे की न मानती।

इष्टदेव का भी वरण हो चुका। अव गुण दोष विचार अनुचित है। बात बहुत आगे वढ़ गई।

जौ तुम्हरें हठ हृदय विसेषी। रहि न जाय बिनु किए वरेषी॥
तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। वरकन्या अनेक जग माहीं॥२॥

अर्थ : यदि तुम्हारे मन में बहुत हठ हो वर खोजे : वरईक्षण : बिना रहा न जाता हो तो कौतुकी लोगों को आलस्य तो होता ही नहीं और संसार में वर कन्या की कमी भी नहीं है।

व्याख्या : बात समाप्त हो गई। ऋषियों को चला जाना चाहता था पर वे ठहरे हुए हैं। कुछ कहना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति देखकर भगवती कहती हैं : मुझे तो आप लोगों की आवश्यकता नहीं है पर यदि आप लोगों को ही विशेष हठ हो वरदिखौआ किये बिना जी न मानता हो : भाव यह कि इस विषय में विशेष बात सुनना नहीं चाहतीं : तो आप लोग कौतुकी जान पड़ते हैं : बिना प्रार्थना किये वर भी विचार लिया। हठात् आकर वरण किये हुए वर की निन्दा करने लगे ! यहाँ आप के कौतुक की सामग्री नहीं है। जहाँ कौतुक चल सके वहाँ जाइये।

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। वरौं संभु न त रहौं कुमारी॥
तजौं न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥३॥

अर्थ : करोड़ों जन्म तक हमारी यही रगड़ है कि या शम्भु को वरूँगी या कुँआरी रहूँगी। शिवजी स्वयं सौ बार कहें तो भी नारदजी के उपदेश को न छोड़ूँगी।

व्याख्या : अस वर तुम्हहि मिलाउव आनी का उत्तर देती हैं। इस जन्म की क्या कथा करोड़ों जन्म के लिए यही हठ है। शिवजी को वरूँ या क्वाँरी रहूँ। भाव यह कि उपदेश के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। भली भूलिउ ठग के वौराएँ का उत्तर देती हैं कि भले तुम ठग समझो पर मेरा विश्वास अटल है। स्वयं महेश जो महा कल्याण के अधिकारी हैं सौवार आकर कहें तो भी मैं नारदजी का उपदेश नहीं छोड़ सकती। आप लोग तो केवल एक मन्वन्तर के अधिकारी ठहरे।

मैं पा परौं कहै जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भयउ विलंबा॥
देखि प्रेमु बोले मुनि ग्यानी। जय जय जगदंबिके भवानी॥४॥

अर्थ : जगदम्बा ने कहा : मैं आपके पाँव पड़ती हूँ आप जाँय बहुत देर हुई। प्रेम देखकर ज्ञानी मुनि बोले : जगदम्ब ! तेरी जय हो। भवानी तेरी जय हो।

व्याख्या : महेश के विरुद्ध एक वात भी सुनना नहीं चाहती। उन्हें न जाते देखकर वोलीं। देर हुई घर जाइये। भाव यह कि : आपको घर उजड़ने वसने की वड़ी चिन्ता रहती है सो आपका घर स्वयं सूना पड़ा है। उसे शीघ्र अशून्य कीजिये।

प्रेम की परीक्षा हो चुकी। दो बार प्रश्नोत्तर हुआ। अतः दो बार जय जयकार किया। शिवजी ने कहा था : दूर करेउ संदेहु। अतः जगदम्बिके भवानी कहते हैं। इसके पहिले शैलकुमारी कहकर सम्बोधन किया था।

दो. तुम माया भगवान सिव, सकल जगत पितु मातु ॥
नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषत गातु ॥८१॥

अर्थ : तुम माया हो, शिवजी भगवान् हैं। समस्त जगत् के माता पिता हो। चरण में सिर नवाकर मुनि बार बार पुलकित होते चले।

व्याख्या : माया होने से तुम जगन्माता, भगवान् होने से शिवजी जगत्पिता हैं। दोनों का सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। अर्थात् विवाह हुआ हवाया है। निश्चित है। आने के समय प्रणाम नहीं किया क्योंकि वरद वनकर आये थे। परीक्षा हो चुकने पर प्रणाम किया शिवजी की योग्या समझकर। जगदम्बा का निर्मल अचल प्रेम देखकर बार बार रोमाञ्च हो रहा है।

जाइ मुनिन्ह हिमवंतु पठाए। करि बिनती गिरिजहिं गृह ल्याये ॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई ॥१॥

अर्थ : मुनियों ने जाकर हिमवान् को भेजा। विनती करके पार्वती को घर ले आये। फिर सप्तर्षियों ने शिवजी के पास जाकर उमा की सब कथा सुनाई।

व्याख्या : शिवजी की आज्ञा थी कि : गिरिहि प्रेरि पठएउ भवन। इसलिए सप्तर्षियों ने जाकर हिमवान् को प्रेरणा की कि अपनी बेटी को घर ले आओ। उसका तप पूरा हुआ। महादेवजी ने विवाह स्वीकार कर लिया। तदनुसार हिमवान् गये और विनय करके घर ले आये। हिमवान् शिव पार्वती की महिमा के जानकार थे। अतः बेटी होने पर भी उनसे विनय की, घर चलने की आज्ञा नहीं दी। अथवा अति प्रेम होने से विनय किया कि किसी तरह से यह घर तो चलें। पार्वती जी ब्रह्मवाणी के अनुसार : यथा, आवै पिता बुलावन जबहीं। हठ परिहरि गृह जायेहु तबहीं : घर चली गईं। फिर सप्तर्षियों ने जाकर शिवजी से उमा का तप तेज तथा अपना और उनका संवाद सब सुनाया।

भए मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥
मनु थिरु करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना ॥२॥

अर्थ : प्रीति सुनकर शिवजी मगन हो गये। सातों मुनि हर्षित होकर घर गये। तब सुजान शिवजी मन को स्थिर करके रघुनायक का ध्यान करने लगे।

व्याख्या : शिवजी बड़े स्नेही हैं। स्नेह सुनकर बड़े मग्न हो गये। इस बात का आनन्द हुआ कि अब उमा को विश्वास हो गया होगा कि मैं स्वीकार करूँगा। उनकी विरह व्यथा कम हुई होगी अथवा प्राण पड़ जाने से आनन्दित हुए। भगवती 'इ' हैं, बिना उनके शिव शव हैं। अतः पुनः शिवत्व प्राप्ति के निश्चय से आनन्दित हैं।

शिवजी की यह दशा देखकर सप्तर्षि भी प्रसन्न हो गये। इस आनन्द का हेतु अपने को जानकर कृत्यकृत्य हुए। तव घर गये। भगवती की आज्ञा भी पालन करनी थी। तुम गृह गवनउ भयेउ विलंबा।

स्नेह में डूबे हुए चित्तको शिव जी ने शान्त किया और रघुनायक का ध्यान करने लगे। आनन्द की घटना उपस्थित होने पर महात्मा लोग भगवान् का ध्यान करते हैं। अथवा भक्त विरह दुःख से दुःखी थे। इसलिए ध्यान नहीं करते थे। पृथ्वी में इधर उधर उपदेश करते फिरते थे। अब वह दुःख मिट गया। अतः ध्यान करने लगे।

तारकु असुर भयउ तेहि काला। भुज प्रताप बल तेज विसाला॥
तेहि सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख संपति रीते॥३॥

अर्थ : उन्हीं दिनों तारकासुर हुआ। जिसकी भुजाओं का प्रताप वल और तेज वहुत बड़ा था। उसने सव लोक और लोकपालों को जीत लिया और देवता सुखसम्पत्ति से रहित हो गये।

व्याख्या : कालिकापुराण में कहा है कि विद्राव्य सकलान् देवान् दैत्यान् स्वान् तत्पदेपु च। स्वयं नियोजयामास देवयोनिषु चाप्यसौ। सव देवताओं को युद्ध में भगाकर अपने दैत्यों को उनके पदों पर देवयोनियों में भी उसने : तारकासुर ने नियुक्त किया। अर्थात् देवताओं पर भी उसके नियुक्त किये हुए दैत्य शासन करते थे। शङ्कर भगवान् उस समय ध्यान में वैठे थे। वल शव्द के पहिले प्रताप शव्द के प्रयोग का भाव यह कि उसकी भुजाओं के प्रताप के वल से उसके अनुचर लोकपालों को बाँधकर पशुओं की भाँति खींच लाये। इस भाँति प्रताप कहा।

अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि विविध लराई॥
तब विरंचि सन जाइ पुकारे। देखे विधि सब देव दुखारे॥४॥

अर्थ : वह अजर अमर था। जीता नहीं जाता था। अनेक प्रकार की लड़ाई करके देवता लोग हार गये। तव ब्रह्मदेव के यहाँ पुकार मचाई। ब्रह्मदेव ने देखा कि देवता दुःखी हैं।

व्याख्या : अव वल कहते हैं कि वह अजेय था और साथ ही न उसे बुढ़ापा आता था न मौत आती थी! तेज कहते हैं कि देवता अनेक प्रकार से लड़कर उस तेजस्वी से हार गये। लोकपालों के स्वामी ब्रह्मदेव हैं। निरुपाय होकर उनके शरण गये। ब्रह्मदेव ने उनकी पुकार सुनी और प्रत्यक्ष देखा कि देवता लोग श्रीहीन होकर दुःखी हैं।

दो. सब सन कहा बुझाय विधि, दनुज निधन तब होइ।
संभु शुक्र संभूत सुत, एहि जीतै रन सोइ॥८२॥

अर्थ : सबको समझाकर[1] विधि ने कहा कि दैत्य का मरना तो तब होगा जब शिवजी के शुक्र से पुत्र उत्पन्न हो। वही इसे रण में जीत सकेगा।

व्याख्या : दुःख दूर वे भी नहीं कर सके। पर उपाय बतलाया जिससे दुःख दूर हो सके। उपाय यह था कि शिवजी के वीर्य से यदि पुत्र उत्पन्न हो तो वह इसे जीत सकेगा! तारकासुर ने छः दिन के उत्पन्न हुए बालक से अपनी मृत्यु माँगी थी। शिवजी के सिवा दूसरे के वीर्य में इतना सामर्थ्य नहीं कि उससे उत्पन्न बालक छठी के भीतर तारकासुर का वध कर सके। शरीर सम्भूत पुत्र से काम न चलेगा। शुक्र सम्भूत होना चाहिए। नहीं तो शरीर सम्भूत तो वीरभद्रादिक थे ही।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईस्वर करिहि सहाई॥
सती जो तजी दच्छ मख देहा। जनमी जाइ हिमाचल गेहा॥१॥

अर्थ : मेरी बात सुनकर उपाय करो। काम बन जायगा। ईश्वर सहायता करेगा। सती ने : जिसने दक्ष के यज्ञ में शरीर छोड़ा है हिमाचल के घर में जाकर जन्म लिया है।

व्याख्या : बात पीछे बतलायेंगे। अभी प्रोत्साहन देते हैं कि मेरे कथनानुसार उद्योग करने से कार्य सिद्धि होगी। आशीर्वाद भी देते हैं कि ईश्वर सहायता करेगा। क्योंकि मनुष्य का कर्म में अधिकार है। फल में नहीं। फल ईश्वर के हाथ है। यथा : सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी। सो ईश्वर सहाय करेगा। तुम्हारा उद्यम सफल होगा।

दक्षमख भूलने की वस्तु नहीं है। उसी में सती ने शरीर त्याग किया था। वही जाकर हिमाचल के घर जनमी हैं। तमूर्ध्वरेतसं शम्भुं सैव प्रच्युतरेतसम्। कर्तुं समर्था नान्यास्ति काचिदप्यबलापरा। का. पु.। उन ऊर्ध्वरेता शम्भु के वीर्य को स्थान से प्रचलित करने में वही समर्थ हैं और किसी स्त्री में ऐसा सामर्थ्य नहीं है।

तेइ तपु कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी॥
जदपि अहै असमंजस भारी। तदपि बात येक सुनहु हमारी॥२॥

अर्थ : उसने शिवजी को पतिरूप से प्राप्त करने के लिए तप किया है। पर

---

[1] षट दिन के सिसु हाथ वध तारक को वर दीन्ह
तेहि बल ते अति प्रबल ह्वै सकल सुरन्ह बस कीन्ह॥१॥
वीर्यवन्त अस को जगत जाको अस सुत होय
जनमत ही जाके सदृश जग में होय न कोय॥२॥
ऐसे तो प्रभु संभु ही समरथ परैं लखाय
सती तासु बनिता तजी देह दक्ष मख जाय॥३॥
सबसन कहा बुझाइ विधि दनुज निधन तब होय
संभु शुक्र संभूत सुत एहि जीते रन सोय॥४॥

शिवजी सब त्यागकर समाधि में बैठे हैं। यद्यपि असमञ्जस तो बड़ा भारी है। फिर भी हमारी एक बात सुनो

व्याख्या : पिछले जन्म में भी शम्भु को पति पाया। इस जन्म में भी उन्हीं के लिए तप किया। तप कीन्ह कहकर तप की सिद्धि भी बतलाई। विवाह होगा। अतः शुक्र सम्भूत सुत का योग है। पर कठिनाई यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था त्यागकर अथवा पहिले सती को त्यागा अब सब त्यागकर शिवजी इस समय तुरीय में स्थिर हैं। स्वरूप का विमर्श ही समाधि है। न जाने कब समाधि खुलेगी और विवाह समाधि खुलने पर ही सम्भव है। शिवजी की समाधि भङ्ग करना साधारण व्यापार नहीं है और इधर तुम लोगों को वेदना भी असह्य है। अतः भारी असमञ्जस है फिर भी उपाय कहते हैं।

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करै छोभु संकर मनमाहीं ॥
तब हम जाइ सिवहि सिर नाई। करवाउब बिबाह बरिआई ॥३॥

अर्थ : काम को भेजो शिवजी के पास जाय। शङ्करजी के मन में क्षोभ, हलचल पैदा करे। तब हम जाकर शिवजी को प्रणाम करके बलपूर्वक उनका व्याह करावेंगे।

व्याख्या : तप में तथा समाधि में निष्कारण विघ्न करना कामदेव का काम है; परन्तु वह शिवजी के सन्निकट नहीं जाता। उसे शिवजी के पास तुम लोग भेजो। वहाँ जाकर वह अपना सामर्थ्य दिखलावे। शङ्करजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करे। क्योंकि समाधि निर्विकारचित्तैकसाध्य है। जहाँ मन क्षुब्ध हुआ तहाँ समाधि छूटी। समाधि से जागने पर विवाह करवाना कुछ कठिन नहीं है। मैं तुम लोगों के साथ चलकर सिर नवाकर बलपूर्वक विवाह करवाऊँगा। सप्तर्षि को भेजकर हिमाचल से कहला चुके हैं न क्यों करेंगे ? विनय के बल से करवायेंगे।

इहिं बिधि भलेहि देवहित होई। मति अति नीक कहै सबु कोई ॥
प्रस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू ॥४॥

अर्थ : इस विधि से भले ही देवताओं का कल्याण होगा। सब कोई कहने लगे कि यह राय बहुत अच्छी है। देवताओं ने बड़े प्रेम से प्रकर्ष करके स्तुति की तो पञ्चबाण[1] मीनकेतु प्रकट हुए।

व्याख्या : काम की उत्पत्ति ही मनःक्षोभ के लिए है। अतः उसके समाधिभङ्ग करने पर कारण की खोज न होगी। समाधिभङ्ग के अन्य उपाय भी हैं। पर उनके करने से समाधिभङ्ग होने पर शिवजी कारण की खोज करेंगे। देवताओं पर बिना

---

[1] बसी करन मोहन कहत, आकर्षण कवि लोग।
उच्चाटन मारन समुझि पंच बान ये योग ॥
पुनः करना केतकि केवरा कदम आम के बौर।
ए पाँचों शर काम के केशवदास न और ॥

विपत्ति आये न रहेगी। अतः भली प्रकार से हित न होगा। सबने इस उपाय का एक मत से अनुमोदन किया। देवता लोग आर्त थे। इसलिए प्रकर्ष रूप से कामदेव की स्तुति की। नहीं तो कामदेव बुलवा लिये जाते थे। यथा : कामहि बोलि कीन्ह सनमाना। प्रस्तुति से प्रसन्न होकर कामदेव प्रकट हुए। कामदेव, मनोज हैं। अतः उनका निवास मन में रहता है वहाँ प्रकट होंते हैं। इसलिए स्तुति के लिए कहीं जाना न पड़ा। 'विषमबान झखकेतु' कहने का भाव यह है कि युद्ध के लिए तैयार होकर आये। यह स्तुति देवलोक में हुई। क्योंकि काम से वार्तालाप में ब्रह्मदेव सम्मिलित नहीं हैं।

दो. सुरन्ह कही निज विपति सब, सुनि मन कीन्ह विचार।
संभु विरोध न कुसल मोहिं, विहँसि कहेउ अस मार ॥८३॥

अर्थ : देवताओं ने अपनी सब विपत्ति कह सुनाई। सुनकर मन में विचार किया। और हँसकर कहा कि शम्भु के विरोध से मेरा कुशल नहीं है।

व्याख्या : कामदेव को देवताओं के पराभव पर भी विपत्ति नहीं आती। क्योंकि काम का मान तो असुरों में और भी अधिक है। अतः देवताओं ने अपनी विपत्ति कही। मोहदल के प्रथम वीर हैं अतः मृत्यु पर हँसते हैं। शूराणां मरणं तृणम्। अथवा देवताओं के विनय पर हँसे कि तुम्हारा कुशल तो है। मेरा नहीं है। मन में विचार करने पर यही बात निश्चय हुई कि शम्भु की समाधि भङ्ग करने पर उनके क्रोध से मेरी रक्षा हो नहीं सकती।

तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धर्म उपकारा॥
परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥१॥

अर्थ : फिर भी मैं तुम्हारा काम करूँगा। क्योंकि वेदों में परोपकार को ही परम धर्म बतलाया है। परउपकार के लिए जो देह छोड़ता है सन्त सदा उसकी प्रशंसा करते हैं।

व्याख्या : भले ही मेरा कुशल न हो पर सम्पूर्ण संसार का तो कुशल होगा। धर्म में वेद ही प्रमाण हैं। सो वेद परोपकार को परम धर्म बतलाते हैं। आत्म रक्षा धर्म है और परोपकार परम धर्म है। अतः तुम्हारा काम मैं करूँगा। आज तक मेरी गिनती षड्रिपु में रही। सन्त मेरी निन्दा करते रहे। अब परोपकार के लिए जब मैं देह छोड़ूँगा तो सन्त समाज में मेरी प्रशंसा सदा होगी। देह है तो एक दिन छूटे ही गा। तब ऐसे सुअवसर को मैं हाथ से क्यों जाने दूँ। कीर्तिर्यस्य स जीवति : जिसकी कीर्ति है वही जीता है।

अस कहि चलेउ सबहिं सिरु नाई। सुमन धनुक कर सहित सहाई॥
चलत मार अस हृदय विचारा। सिव विरोध ध्रुव मरन हमारा ॥२॥

अर्थ : ऐसा कहकर और सबको सिर नवाकर पुष्प का धनुष हाथ में ले,

सेना सहित चला। चलते समय कामदेव ने यह विचार कर लिया कि शिव के विरोध में मेरी मृत्यु निश्चित है।

व्याख्या : पञ्च परमेश्वर को प्रणाम किया। यथा : अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा : उन्मादन नामका धनुप हाथ में लिया। यथा : ततः कामोपि कोदण्डमादाय कुसुमोद्भवम्। उन्मादनेतिविख्यातं कान्ताभ्रूतुल्यवल्लितम्। का. पु.। फूलों का वना हुआ धनुष जिसका नाम उन्मादन प्रसिद्ध है और जो स्त्री के भौहों के तुल्य चलनेवाला था ले लिया। और अपनी सेना भी साथ ले ली।

चलते समय विचार किया कि सबके विरोध से तो बचे; शिव विरोध से न वचेंगे। उनका तेज मेरे विपरीत है। अतः मैं उनके निकट नहीं गया। यथा : तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ। गये समीप सो अवसि नसाई। अस मनमथ महेस की नाई। तिस पर मुझे ब्रह्मशाप भी है। यथा : प्राप्तकालश्च सस्मार शापं ब्रह्मकृतं पुरा। शम्भुनेत्राग्निदग्धस्त्वं भविष्यसि न संशयः। का. पु.। अवसर आने पर जो शाप पहिले ब्रह्मा ने दिया था। उसे उसने स्मरण किया कि तू शम्भु की नेत्राग्नि से निःसंशय जल जायगा। अतः मेरे मरने में कोई सन्देह नहीं है।

तब आपन प्रभाव विस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥
कोपेउ जबहिं वारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥३॥

अर्थ : तब उसने अपना प्रभाव फैलाया। सारे संसार को अपने वश में कर लिया। जिस समय मकरध्वज ने कोप किया तो एक क्षण में वेद के सारे सेतु[1] मिट गये। सेतु=पुल।

व्याख्या : कामदेव ने निश्चय किया कि पूरा बल लगाना चाहिए। मरना तो है ही। संसार को अपनी प्रभुता दिखा दें। अथवा विश्वनाथ पर प्रहार करने के पहिले विश्व को वश्य करना चाहिए। राजा पर वार करने से पहिले उसके राज्य पर आक्रमण करना चाहिए। सो पहिले उसने विश्व को वश में किया।

काम का ऐसा प्रवल प्रभाव है कि उसके कोप मात्र से वेद की मर्यादाएँ टूट गईं। चढ़ाई में जिन पुलों से सहायता मिलती है वे पहले तोड़े जाते हैं। अतः पहिला काम यह किया कि श्रुतिसेतु को तोड़ डाला।

ब्रह्मचर्य व्रत संजम नाना। धीरज धर्म ग्यान विज्ञाना॥
सदाचार जप जोग विरागा। सभय विवेक कटकु सब भागा॥४॥

---

[1] धर्म : सामान्य : वेद के सेतु हैं। भगवान् रामचन्द्र ने कहा है कि यह धर्मरूपी सेतु सबके लिए है। यथा : भूयो भूयो भाविनो भूमिपालाः नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां काले काले पालनीयो भवद्भिः।

इन सेतुओं की संख्या तैंतीस है, जो सबके लिए सामान्य हैं। यथा : सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा आदि। श्रीमद्भा. ७.११।

अर्थ : ब्रह्मचर्य, व्रत, नाना प्रकार के संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, जोग और विरागादि विवेक की सारी सेना भाग खड़ी हुई।

व्याख्या : संसार को वश्य करने में काम की बाधक विवेक की सेना है। सो लड़ भी न सकी। डरकर भाग गई। सेना के प्रधान अधिकारियों के नाम गिनाते हैं। १. ब्रह्मचर्य अर्थात् अष्टविध मैथुन त्याग २. व्रत अर्थात् उपवासादि ३. संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का एकत्र होना। धारणा में भेद होने से संयम में भेद होता है। ४. धैर्य अर्थात् विषय के सन्निधान में भी इन्द्रिय निग्रह ५. धर्म अर्थात् वेद की आज्ञा ६. ज्ञान अर्थात् समदर्शन ७. विज्ञान अर्थात् ब्रह्मलीनता ८. सदाचार अर्थात् जातिधर्म, कुलधर्म ९. जप अर्थात् मन्त्र का अभ्यास १०. योग अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध और ११. वैराग्य अर्थात् देखे हुए और सुने हुए पदार्थों में तृष्णा न होना। इन ग्यारहों का नाम गिनाया। पर पूरी सेना भाग गई।

छं. भागेउ विवेक सहाइ सहित, सो सुभट संजुगमहि मुरे।
सद्ग्रन्थ पर्वत कंदरन्हि महुँ, जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को, रखवार जग खरभर परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ, जेहि कहुँ कोपिकर धनु सरु गहा॥

अर्थ : विवेक सेना सहित भाग गये। सुभट लोगों ने लड़ाई के मैदान में पीठ दिखाई और सद्ग्रन्थरूपी पर्वत कन्दरों में जा-जाकर छिपे। हे कर्तार ! क्या होनेवाला है ? कौन रक्षा करेगा ? जगत् में खलबली मच गई। ऐसा दो सिरवाला कौन है ? जिसके लिए कामदेव ने क्रोधपूर्वक हाथ में धनुष वाण उठाया है।

व्याख्या : सेना भी भाग गई। राजा विवेक भी भाग गये। प्रवल शत्रु से भागकर सैनिक पर्वत के कन्दरों में छिपते हैं। यथा : रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन तकेउ मेरु गिरि खोहा। सो राजा विवेक और उनकी सेना भागकर सद्ग्रन्थरूपी पर्वत के कन्दरों में जा छिपी। अर्थात् विवेक ब्रह्मचर्यादि केवल पोथी में रह गये। व्यवहारभूमि में उनका पता नहीं रह गया। विश्वनाथ समाधि में हैं। रक्षा कौन करे ? संसार भर में खलबली मची।

एक सिर तो काम काट ही लेंगे। अतः जिसे दो सिर हों वह काम को क्रोधित करे। यथा : केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा। ध्वनि यह कि आज पाँच सिरवाले से काम पड़ गया है।

धर्म सकल सरसीरुह वृंदा। होइ हिम तिनहि दहै सुखमंदा। धर्मकमल के लिए स्त्री हिम है और वही काम का परम वल है। यथा : तेहि के एक परम वल नारी। इस समय जगत् स्त्रीमय दिखाई पड़ रहा है। हिम की भारी वर्षा हुई। संसार हिममय हो गया। अतः धर्म सरसीरुह की दुर्दशा कहते हैं। भागेउ विवेक सहाय सहित। हिमसैलसुता-सिव व्याह प्रकरण हिमऋतु हो गया।

सभय विवेक कटकु सब भागा। इस पुरइन से भागेउ विवेक सहाय सहित। इत्यादि। अट्ठाईस दल का कमल निकला। यह भी हरिगीतिका छन्द है।

दो. जे सजीव जग अचर चर, नारि पुरुषु अस नाम ।
ते निज निज मरजाद तजि, भए सकल बस काम ॥८४॥

अर्थ : संसार में जितने चर अचर जीव थे[१] और जिनकी स्त्री पुरुष संज्ञा थी वे सब अपनी अपनी मर्यादा छोड़कर काम के वश हो गये ।

व्याख्या : प्रभाव विस्तार का साफल्य दिखाते हैं । पुंशक्ति और स्त्रीशक्ति से ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति है । सभी पदार्थों में ये दोनों शक्तियाँ हैं । अतः स्थूल या सूक्ष्मरूप से काम सब में वर्तता है पर उस वर्तने की मर्यादा बँधी हुई है । उसका भङ्ग नहीं होता । यहाँ वेदमर्यादा तो भङ्ग हुई ही थी प्रकृति की मर्यादा भी भङ्ग हुई । जो न नारि हैं न पुरुष हैं । केवल उनके नाम के साथ स्त्रीलिङ्ग और पुँलिङ्ग के प्रत्यय लगे हुए हैं वे कामवश नहीं होते । आज वह मर्यादा भी टूट गई । वे भी कामवश हुए । उनमें भी मानो जीवन आगया क्योंकि काम जीवनी शक्ति है ।

सबके हृदय मदन अभिलाखा । लता निहारि नवहिं तरु साखा ॥
नदीं उमुगि अंबुधि कहुँ धाईं । संगम करहिं तलाव तलाईं ॥१॥

अर्थ : सबके हृदय में काम की चाह हुई । लता को देखकर वृक्षों की डालियाँ झुकने लगीं । नदियाँ उमड़कर समुद्र की ओर दौड़ीं और ताल तलैया आपस में मिलने लगीं ।

व्याख्या : जे सजीव जग के विषय में कहते हैं कि सबके हृदय में काम की चाह उत्पन्न हुई । अचर : नारि पुरुष अस नाम के विषय में कहते हैं कि लता में कुच केशादि कोई लक्षण नारी के नहीं हैं और न वृक्ष में कोई लक्षण पुरुष के हैं । केवल लता शब्द स्त्रीलिङ्ग है और तरु : वृक्ष शब्द पुँलिङ्ग है । इसी भाँति नदी तलाई आदि में स्त्रीलिङ्ग का व्यवहार है और समुद्र, ताल आदि में पुँलिङ्ग का व्यवहार है । सो इस व्यवहार के नाते ये मर्यादा त्यागकर एक दूसरे से मिलना चाहते हैं ।

वृक्षों का देखना शास्त्र से सिद्ध है । यथा : तस्मात्पश्यन्ति पादपाः । नियम यह है कि लता शाखा की ओर बढ़ती है । यथा : बढ़त बौंड़ लिमि लही सुसाखा । यहाँ मर्यादा त्यागकर शाख लता को ओर झुकने लगा । यहाँ अचर नर नामधारी का कामवश होना दिखाया ।

मर्यादा यही है कि वर्षा में उमगकर नदी समुद्र की ओर दौड़ती है । यहाँ विना वर्षा ही समुद्र की ओर दौड़ी । यहाँ नारी नामधारी अचर का कामवश होना दिखाया । तालाब और तलाई का जल उमगकर एक दूसरे में जाना दिखलाकर नारी नामधारी अचर और नर नामधारी अचर का परस्पर कामवश होना दिखाया । अचर से अभिप्राय निर्जीव पदार्थ से है । सो प्रकृति में काम की उमङ्ग आगयी ।

---

[१] यहाँ से चार हरिगीतिका छन्दों में कामदहन प्रसङ्ग कहा गया है ।

जहँ असि दसा जड़न्ह कै वरनि । को कहि सकै सचेतन्ह करनी ।।
पसु पच्छी नभ जल थल चारी । भए काम वस समय विसारी ।।२।।

अर्थ : जब जड़ की यह दशा कही गई तब चेतन जीवों की करणी कौन वर्णन कर सकता है । आकाश और थल के रहनेवाले पशु और पक्षी समय भुलाकर कामवश हो गये ।

व्याख्या : जड़ की दशा वर्णन करके दिग्दर्शन करा देते हैं । जड़ में काम देखा नहीं जाता । सो जब उनकी यह दशा है तो चेतन की क्या गति हुई होगी ? मनुष्य कामवश हो प्रकृति के नियम को भङ्ग करता है । पशु पक्षी नियम भङ्ग नहीं करते । वे समय के नियम से बँधे रहते हैं । सबके जोड़ा खाने का पृथक् पृथक् समय है । वह नियम टूट गया ।

मदन अंध व्याकुल सब लोगा । निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका ।।
देव दनुज नर किंनर व्याला । प्रेत पिसाच भूत वेताला ।।३।।

अर्थ : सब लोग कामान्ध होकर व्याकुल हो गये । चकवा चकई को रात दिन का ज्ञान नहीं रहा । देव, दनुज, नर, किन्नर, सर्प, प्रेत, पिशाच, भूत और बेताल ।

व्याख्या : देश, काल, पात्र कुछ नहीं देखते । इसलिए अन्ध कहा । दिवा पश्यति नोलूक: कामान्धो नैव पश्यति । उल्लू तो दिन में नहीं देखता कामान्ध देखता ही नहीं । इन्द्रिय निग्रह में नितान्त असमर्थ हो गये । इसलिए व्याकुल सब लोगा कहते हैं । चकवा चकई के रात दिन का विचार प्रसिद्ध है । यथा : संपत चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार । तेहि निसि आस्रमु पींजरा राखे भा भिनुसार । सो उन्हें यह ज्ञान नहीं रह गया कि यह दिन है या रात । यह दशा वे सम्पूर्ण जगत् की कह रहे हैं और पृथ्वी में सर्वत्र केवल दिन नहीं होता, कहीं रात्रि रहती है, कहीं दिन रहता है । जहाँ रात्रि थी वहाँ के चकवा चकई ने रात्रि नहीं देखी और जहाँ दिन था वहाँ के चकवा चकई दिन क्यों देखने लगे । दिन का निषेध तो केवल मनुष्य के लिए है ।

१. देव अर्थात् अदिति के सन्तान स्वर्ग के निवासी २. दनुज अर्थात् दनु या दिति के सन्तान, पाताल निवासी ३. नर अर्थात् मनु के सन्तान, मर्त्यलोक निवासी ४. किन्नर अर्थात् गानवाद्य करनेवाले उपदेव ५. व्याल अर्थात् सुरसा तथा कद्रू के सन्तान सर्प, पाताल निवासो ६. प्रेत, पिशाच, भूत, बेताल अर्थात् वे मृतजीव जिनकी ऊर्ध्वगति नहीं हुई और अन्तरिक्ष में रहते हैं ।

इन्हकै दसा न कहेउँ वखानी । सदा काम के चेरे जानी ।।
सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी । तेपि काम वस भए वियोगी ।।४।।

अर्थ : मैंने इनकी दशा तो : यह जानकर : वर्णन नहीं की कि ये तो सदा कामदेव के दास हैं । जो सिद्ध, विरागी, महामुनि और योगी थे वे भी काम के वश होकर वियोगी हो गये ।

व्याख्या : ये नव जाति काम के गुलाम हैं। पशु पक्षी ऐसे नहीं हैं। समय से नियन्त्रित हैं। अतः इन नवों की दशा भी कहते हैं पर बखान के नहीं। सिद्ध विरक्त महामुनि और योगी। ये चार इन्द्रियजयी हैं। स्त्री नहीं रखते। सो योगी ने अष्टाङ्ग योग छोड़ा, अष्टाङ्ग मैथुन में प्रवृत्त हुए। इसलिए वियोगी हो गये। स्त्री ढूँढ़ने लगे उसके लिए विलाप करने लगे।

छं. भये कामबस जोगीस तापस पामरन की को कहै।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे ॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मंड भीतर कामकृत कौतुक अयं ॥

अर्थ : जब योगी और तपस्वी भी काम के वश हो गये तब अधमों की कौन कहे ? जो सब चराचर को ब्रह्ममय देखते थे वे सब स्त्रीमय देख रहे हैं। स्त्रियाँ पुरुषमय संसार को देखने लगीं और पुरुष स्त्रीमय देखने लगे। कामदेव ने दो घड़ी के लिए संसार में यह तमाशा कर दिया।

व्याख्या : पामर तो कामवश हैं ही। योगेश्वरों और तपस्वियों की तो सारी सिद्धि ही ब्रह्मचर्य पर खड़ी है। वे भी कामवश हो गये। ब्रह्ममय देखनेवाले ज्ञानियों को समदर्शन का अभ्यास है। उन्हें जब नारी का ध्यान आया तो ब्रह्म की भाँति चराचर में नारी ही देखने लगे। यह नहीं कि पुरुष ही नारीमय देखें। नारी भी संसार को पुरुषमय देखने लगीं। दो दण्ड ४८ मिनट का होता था। सो ४८ मिनट तक ब्रह्माण्ड में यह तमाशा रहा। काम के लिए त्रिश्वविजय खेल है।

सो. धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महुँ ॥८५॥

अर्थ : सबके मन कामदेव ने हर लिये। किसी के भी हृदय में धैर्य नहीं रहने दिया। जिनकी रघुवीर ने रक्षा की वे ही उस समय बच सके।

व्याख्या : सब पर काम का बल चल गया परन्तु जिनकी रघुवीर ने रक्षा की उन पर बल न चला। यथा : सीमकि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमा पति जासू : वे बच गये। यथा : जिन्हहि मोर बल निज बल ताही। दोउ कहँ काम क्रोध रिपु आही। गहसिसु वच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई। अस विचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेउ ज्ञान भगति नहिं तजहीं।

तेपि कामबस भए वियोगी। इस पुरइन का भए कामवस जोगीस तापस इत्यादि अट्ठाइस दलवाला कमल हरिगीतिका छन्द में है। लक्षण वा वर्णन पहिले हो चुका है।

उभय घरी अस कौतुक भयऊ। जौ लगि कामु संभु पहँ गयऊ ॥
सिवहिं बिलोकि ससंकेउ मारू। भयउ जथाथिति सब संसारू ॥१॥

अर्थ : दो घड़ी तक यह खेला हुआ। जब तक कामदेव शिवजी के पास गया। शिवजी को देखकर कामदेव डर गया और सारा संसार जैसा का तैसा हो गया।

व्याख्या : देवलोक से शिवजी के पास आने में कामदेव को ४८ मिनट लगे। घड़ी और दण्ड का मान एक ही है। इतनी देर तक पुरुष स्त्रीमय और स्त्री पुरुषमय संसार को देखती रहीं। शिवजी को देखकर काम डर गये। डर से सङ्कोच होता है सो फैला हुआ प्रभाव सिकुड़ गया। संसार यथास्थिति को प्राप्त हुआ। यहाँ शिवजी का प्रभाव दिखाते हैं कि जिस कामदेव के धनुष हाथ में उठाने से संसार में उथल पुथल मच गई वह मोह की सेना का सर्व प्रथम वीर शिवजी के दर्शन मात्र से भयभीत हो गया। उनसे युद्ध क्या करेगा ?

भए तुरत जग जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गये मतवारे ॥
रुद्रहि देखि मदन भय माना। दुराधरष दुर्गम भगवाना ॥२॥

अर्थ : तुरन्त जग के सब जीव ऐसे सुखी हो गये जैसे मतवाला मद उतरने पर सुखी होता है। रुद्र को देखकर कामदेव डर गया। क्योंकि भगवान् दुराधर्ष और दुर्गम हैं।

व्याख्या : सब लोग काम से अन्धे होकर व्याकुल हो रहे थे सो सुखी हो गये। शराब के नशे की भाँति काम सबके सिर पर सवार हो गया था। उसके उतर जाने से लोग होश में आगये। रौद्ररूप के अधिष्ठाता के सामने काम की गति नहीं। सो सामना पड़ते ही डर गया। क्योंकि दुराधर्ष हैं। काम का तल उन पर चल नहीं सकता और न वह उनमें प्रवेश कर सकता था। भगवान् में ज्ञान वैराग्य की स्थिति सर्वदा बनी रहती है।

फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरनु ठानि मन रचेसि उपाई ॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसमित नव तरु राज बिराजा ॥३॥

अर्थ : लौट चलने में लज्जा है। कुछ कहा नहीं जाता। मन में मरना निश्चय करके उसने उपाय रचा। तुरन्त सुन्दर वसन्त ऋतु को प्रकट किया। नये आम के वृक्षों में बौर लग गये। बड़ी शोभा हुई।

व्याख्या : मरकर भी कार्य साधने की प्रतिज्ञा करके चले हैं और देखते ही डर गये। मन में हुआ कि भाग जाँय पर लब्धप्रतिष्ठ वीर हैं। भागने में बड़ी लज्जा है। पुरुषार्थ चलता नहीं। क्या कहें, क्या न कहें। निश्चय किया कि कार्य न कर सकेंगे तो क्या हुआ मर तो जावेंगे। यशरूपी शरीर की रक्षा होगी। विरद बाँधि वर वीरु कहाई। चलेउ समर जिमि सुभट पराई। यह दशा तो नहीं होगी। अतः उपाय रचा। जहाँ : करि नहिं जाई : पाठ है वहाँ यह अर्थ करना चाहिए कि किये कुछ होता नहीं और लौट जाने से लज्जा है।

ब्रह्मदेव ने काम के मित्र रूप में ऋतुराज की सृष्टि की। अतः वसन्त का समय न होने पर भी कामदेव की प्रेरणा से वह प्रकट हो गया। तरुराज से यहाँ

आम के वृक्ष या पारिजात का तात्पर्य है। आगे चलकर कहेंगे भी : देखि रसाल विटपवर साखा। आम फूलते ही वायुमण्डल सुवासित हो जाता है।

वन उपवन वापिका तड़ागा। परम सुभग दस दिसा विभागा ॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा ॥४॥

अर्थ : परम सुन्दर वन, उपवन, वावली, सरोवर और दिशाओं के विभाग प्रकट हुए। जहाँ तहाँ मानो प्रेम उमगा पड़ता है जिसे देखकर मरे हुए मन में भी काम जाग जाय।

व्याख्या : सुन्दर वन उपवन विहार के योग्य, वापिका तड़ाग जल क्रीड़ा के योग्य प्रकट हुए। दशदिसा विभाग को परम सुभग कहकर यावत् दृष्टिगोचर वस्तु की मनोहरता कही।

उद्दीपन का वर्णन हो रहा है। उद्दीपन ऐसा तीव्र है कि तनु भाव को प्राप्त हुआ भी काम जाग उठे मानो प्रसुप्त मात्र था। सब ओर से मानो प्रेम उमग पड़ता है। यहाँ मुएहुँमन कली है। इसका विकास आगे के छन्द में होगा।

छं. जागै मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही ॥
विकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा ॥

अर्थ : मरे हुए मन में भी काम जाग आवे। ऐसी वन की शोभा कही नहीं जा सकती। कामरूपी अग्नि का सच्चा मित्र, शीतल मन्द सुगन्ध युक्त पवन चलने लगा। सरोवर में अनेक भाँति के कमल खिल गये। जिनपर सुन्दर भौरों के झुण्ड गुंजार करने लगे। कलहंस कोकिल और तोते रसीली बोली बोलने लगे और अप्सराएँ गाकर नाचने लगीं।

व्याख्या : मन का बीज वासना है। निर्वासन मन मरा हुआ है। क्योंकि उसका बीज नष्ट हो चुका है। पर सुन्दरता में वह प्राणदा शक्ति है कि मरा हुआ मन भी थोड़ी देर के लिए जाग उठा। अग्नि का सखा वायु प्रख्यात है। पर वह सच्चा मित्र नहीं है। दीप को वह बुझा देता है। यथा : सबइ सहायक सबल के कोउ न अबल सहाय। बात बढ़ावत अगिन को दीपहिं देत बुझाय। परन्तु शीतल मन्द सुगन्धित वायु कामाग्नि का सच्चा सखा है। कैसी ही दुर्बल कामाग्नि हो, पर मलयमारुत उसे बढ़ा ही देगा। कभी बुझावेगा नहीं। इसीलिए कहते हैं : मदन अनल सखा सही। तालाबों में कमल का खिलना, भौरों का गूँजना, कलहंस, कोकिल और शुक का बोलना। यह सब उद्दीपन है। अव आलम्बन कहते हैं। करि गान नाचहिं अपछरा।

दो. सकल कला करि कोटि विधि, हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदयनिकेत ॥८६॥

अर्थ : अपनी सेना के साथ करोड़ों तरह से सब कला करके हार गया। पर शिवजी की अचल समाधि न डिगी। तब कामदेव कुपित हुआ।

व्याख्या : काम का सेनापति शृङ्गार है और हावभावादि सैनिक हैं। यथा : सेनाधिपो मे शृङ्गारो हावाभावाश्च सैनिकाः। भाव चार हैं : १. स्थायी २. सञ्चारी ३. अनुभाव और ४. विभाव। स्थायी के नव, सञ्चारी के तैंतीस, विभाव के दो और अनुभाव के अन्तर्गत हाव के ग्यारह भेद हैं। कलाएँ चौसठ हैं। यथा : बिब्वोकाद्यास्तथा हावाश्चतुःषष्ठि कलास्तथा। का. पु.। सो सब कलाएँ और सब हाव भाव अप्सराओं के नृत्य में दिखाए गये। काम के सैनिक मारगण जिनका काम धर्माचरण में विघ्न करना है। वे भी समाधि में विघ्न करके हार गये। पर समाधि चलायी न चली। क्रोध तो पहिले ही किया था। सो रुद्र के देखने में भय का सञ्चार हुआ। क्रोध अभिभूत हो गया। मरण ठानकर उपाय किया सो भी खाली गया। अतः काम पुनः कुपित हुआ।

देखि रसाल विटप बर साखा। तेहि पर चढेउ मदन मन माखा ॥
सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिषि ताकि स्रवन लगि ताने ॥१॥

अर्थ : एक आम के वृक्ष की सुन्दर डाली देखकर कामदेव क्रोध करके उस पर चढ़ गया। उसने फूलों के धनुष पर अपने वाण चढ़ाये और क्रोध से ताककर उन्हें कान तक तान लिया।

व्याख्या : ऊँचे पर से निशाना भी खूब बैठता है और मारनेवाला भी सुरक्षित रहता है। इसलिए आम की शाखा पर चढ़ गया। वह शाखा भी बौर से सुशोभित थी। काम के मन में बड़ा आमर्ष हुआ। दूसरे का अहङ्कार न सहकर उसके नष्ट करने की इच्छा को आमर्ष कहते हैं।

संधाने कहकर पाँचों वाणों का चलाना द्योतित किया। यथा : हर्षणं रोचनाख्यञ्च मोहनं शोषणं तथा। मारणञ्चेति संज्ञाभिर्मुनिमोहकराण्यपि। का. पु.। हर्षण, रोचन, मोहन, शोषण और मारण। ये पाँचों वाण, उन्मादन नाम धनुष पर चढ़ाकर कान तक ताना जिसमें गहरी चोट हो।

छाँडे विषम बान उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे ॥
भयउ ईस मन छोभु बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी ॥२॥

अर्थ : पाँच वाण मारे। वे शिवजी के हृदय में लगे। तब समाधि भङ्ग हुई और शिवजी जाग पड़े। शिवजी के मन में विशेष क्षोभ हुआ। तो आँख खोलकर सब ओर देखा।

व्याख्या : विषम वाण कहने से स्पष्ट पाँचों वाणों का प्रहार कहा। विषम का अर्थ भयङ्कर भी होता है सो भी ठीक है। काम के पाँचों वाण बड़े भयङ्कर हैं। यथा : त्वदाशुगानां यद्वीर्यं तद्वीर्यं न भविष्यति। वैष्णवानाञ्च रौद्राणां ब्रह्मास्त्राणाञ्च तादृशम्। इनका वीर्य वैष्णवास्त्र, रौद्रास्त्र और ब्रह्मासे भी अधिक है। ये पाँचों

शिवजी के हृदय में लगे। समाधि छूट गई। ब्रह्मदेव का वरदान काम को था कि विष्णु, शिव और मैं भी तुम्हारे अस्त्र के वशवर्ती रहूँगा। यथा : अहं विष्णुर्हरश्चापि तवास्त्रवशवर्त्तिनः। का. पु.। अतः शिवजी की समाधि भी खुली और विशेष क्षोभ भी हुआ। समाधि के समय आँखें वन्द थीं। अतः खोलकर सब ओर देखा कि किधर से वाण आया।

सौरभ पल्लव मदन विलोका। भयउ कोपु कंपेउ त्रयलोका ॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरिछारा ॥३॥

अर्थ : आम के पत्तों में : छिपे हुए : काम को देखा। जो क्रोध हुआ ता तीनों लोक काँप उठे। तब शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला। देखते ही काम जलकर भस्म हो गया।

व्याख्या : काम शिकारियों की भाँति पेड़ पर चढ़ा हुआ पत्तों में छिपा था। पर शिवजी ने देख लिया। चोट करनेवाले का पता चल गया। काम धर्माचरण में प्रख्यात विघ्नकारी है। समाधि इसी ने भङ्ग की। अतः उस पर क्रोध हुआ। रुद्र के कोप से ही प्रलय होता है। अतः उस प्रलयकारी कोप से तीनों लोक काँप उठे। तीसरा नेत्र शिवजी कृपा के कारण बन्द रखते हैं। यथा : देखन ते जरि जाहिं न लोक खोलत नैन कृपा उरधारे। मुद्राराक्षस। सो क्रोध होने से तीसरी आँख खुल गई। काम जल कर भस्म हो गया। शिव विरोध से काम की मृत्यु हुई।

हाहाकार भयउ जगभारी। डरपे सुर भए असुर सुखारी ॥
समुझि कामसुख सोचहि भोगी। भए अकंटक साधक जोगी ॥४॥

अर्थ : सारे जगत् में बड़ा हाहाकार मच गया। देव डर गए और दैत्य सुखी हुए। भोगी लोग कामसुख का स्मरण करके सोच करने लगे और साधक योगियों का कण्टक जाता रहा।

व्याख्या : सनातनी सृष्टि के लोप के भय से हाहाकार मच गया। क्योंकि ब्रह्मदेव ने काम को आज्ञा दी थी कि तुम इस सुन्दर फूल के पाँच वाणों से, पुरुष और स्त्रियों को मोहित करते हुए सनातनी सृष्टि करो। यथा : अनेन चारुरूपेण पुष्पवाणैश्च पञ्चभिः। मोहयन् पुरुषान् स्त्रींश्च कुरु सृष्टिं सनातनीम्। का. पु.। सो काम मारा गया। अब सृष्टि कैसे चलेगी? काम के मारे जाने से देवताओं का भी काम बिगड़ा। शंभुशुक्र सम्भूत सुत का योग ही नहीं रह गया। अब तारकासुर से कैसे रक्षा होगी? अतः देवता डरे और इसी कारण से असुर सुखी हुए कि अव तारकासुर का राज्य अचल हो गया। भोगियों को परिचित सुखों में से सर्वश्रेष्ठ सुख के नाश से सोच हुआ और योगियों को बड़े भारी योगविघ्नकारी के नाश से निर्भयता की प्राप्ति हुई।

छं. जोगी अकंटक भए पति गति सुनति रति मुरछित भई।
रोदति वदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई॥
अति प्रेम करि बिनती विविध विधि जोरि कर सनमुख रही।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही॥

अर्थ : योगी अकंटक हुए। पति की गति सुनते ही रति मूर्च्छित हो गई। वह रोती कलपती अनेक प्रकार करुणा करती शङ्कर के पास गई। बड़े ही प्रेम से अनेक प्रकार से विनती करके हाथ जोड़ सामने खड़ी हो गई। शीघ्र प्रसन्न होने वाले प्रभु कृपाल शिवजी स्त्री को देखकर अमोघ वचन बोले।

व्याख्या : कामदेव ने विभाव प्रस्तुत कर दिया था। पर वहाँ अनुभाव ही नहीं हुआ। स्थायी भाव पुष्ट कैसे हो? अतः रति का आगमन न हो सका था। उसने पति की गति सुनी। पहिले तो मूर्च्छित हो गई। पर संज्ञा प्राप्त करने पर रोती विलपती शिवजी के पास गई। रति उनके सामर्थ्य को जानती है। वे मार भी सकते हैं जिला भी सकते हैं। रति की असहायावस्था देखकर वे अमोघ वचन बोले। शिवजी प्रबल पर कोप करते हैं। अबल पर कृपा करते हैं।

दो. अब तें रति तव नाथ कर, होइहि नामु अनंगु।
बिनु वपु व्यापिहिं सबहिं पुनि, सुनु निज मिलन प्रसंगु॥८७॥

अर्थ : हे रति! अब से तेरे पति का नाम अनंग होगा। यह बिना शरीर के ही सबको व्यापेगा। अब तू अपने मिलने का प्रसङ्ग सुन।

व्याख्या : वैधव्य दोष से मुक्त किया। यद्यपि शरीर नहीं रहेगा। पर क्रियाकारिता रहेगी। तेरा पति काम जैसा पहिले सबको व्यापता था, वैसे ही व्यापेगा। क्रिया से कर्ता अनुमित होता है। बिना शरीर का होकर रहेगा। अतः अनङ्ग नाम होगा अर्थात् स्थूल शरीर का अभाव होगा। परन्तु अशरीरी से मिलन नहीं होता सो भी होगा। वह प्रसङ्ग अब सुनो।

जब जदुबंस कृस्न अवतारा। होइहि हरन महा महि भारा॥
कृस्न तनय होइहि पति तोरा। वचन अन्यथा होइ न मोरा॥१॥

अर्थ : जब यदुवंश में कृष्णावतार पृथ्वी के बड़े भारी भार के हरण के लिए होगा तब तुम्हारा पति कृष्णजी का बेटा होगा। मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता।

व्याख्या : कृषि शब्द का अर्थ है भूलोक और 'ण' का अर्थ है निर्वृत्ति अर्थात् आनन्द या मोक्ष। इन दोनों भावों के योग से सनातन विष्णु ही सात्वत कृष्ण हैं। यथा : कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः। विष्णु का ही अपर नाम कृष्ण है। उनके दश अवतार प्रसिद्ध हैं। सो जब उनका यदुवंश में पृथ्वी का भार हरण के लिए अवतार होगा तब तेरा

पति कृष्णजी का पुत्र होकर प्रद्युम्न नाम से जन्म ग्रहण करेगा। 'जब' कहने का भाव यह कि वह अवतार द्वापर के अन्त में होगा और इस समय त्रेता का आदि है। अतः तुम्हें दो युग का वियोग सहना पड़ेगा। उसके बाद प्रद्युम्न रूप से तुम्हें पति की प्राप्ति होगी। अब इस वाक्य में कोई घटती बढ़ती नहीं हो सकती। तुम्हें पति की प्राप्ति अवश्य होगी। पर दो युगों के बाद। जो मैंने कह दिया वही होकर रहेगा। क्योंकि मेरा वचन अन्यथा होता नहीं। अमोघ है इसीलिए कवि ने भी कहा : अबला निरखि बोले सही।

रति गवनी सुनि संकर बानी। कथा अपर अब कहौं बखानी ॥
देवन्ह समाचार सब पाए। ब्रह्मादिक वैकुंठ सिधाए ॥२॥

अर्थ : शिवजी की बात सुनकर रति चली गई। अब दूसरी कथा वर्णन करता हूँ। जब समाचार देवताओं को मिला तब ब्रह्मा आदि देव वैकुण्ठ गये।

व्याख्या : रति ने समझ लिया कि अब अधिक कहना सुनना व्यर्थ है। जो कृपा होनी थी सो हो गई। सद्यः पति की प्राप्ति न होने से रति को हर्ष नहीं है और मिलने की ध्रुव आशा है। इसलिए विषाद भी नहीं। रोती गाती आई थी। शान्त होकर चली गई। रति की कथा समाप्त हुई। सुरन्ह कही निज विपति सब से प्रसङ्ग छोड़ा था। अब वहीं से फिर प्रसङ्ग उठाते हैं कि यह सब समाचार अर्थात् कामदाह और रति के वरदान का समाचार पाया। तो सब देव मिलकर ब्रह्मदेव के पास गये। वे सबको लिये दिये विष्णु के पास गये। बरियाई व्याह कराना है। विष्णु पर शिवजी की प्रीति है। विष्णु वल्लभ कहलाते हैं। इनको ले चलने से शिवजी पर अधिक दबाव पड़ेगा। इसलिए सब लोग वैकुण्ठ गये।

सब सुर बिस्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ सिव कृपा निकेता ॥
पृथक पृथक तिन्ह कीन्ह प्रसंसा। भए प्रसन्न चन्द्र अवतंसा ॥३॥

अर्थ : विष्णु और ब्रह्मा सहित सब देवगण वहाँ गये जहाँ कृपा के घर शिवजी थे। उन लोगों ने अलग-अलग स्तुति की तो चन्द्रभूषण प्रसन्न हो गये।

व्याख्या : वहाँ से सब लोगों ने विष्णु को साथ लिया और अब ब्रह्मदेव और विष्णु को साथ लेकर जहाँ शिवजी थे वहाँ गये। कृपानिकेत : विशेषण देकर कार्य-सिद्धि दिखलायी : कृपानिकेत हैं। अवश्य देवताओं पर कृपा करेंगे। उन देवताओं ने आदरातिशय से अलग अलग स्तुति की। बड़ी भारी स्तुति करके भगवान् चन्द्रावतंस शिवजी को प्रसन्न कर लिया। चन्द्रावतंस हैं। अवश्य देवताओं का तापहरण करेंगे।

बोले कृपासिंधु वृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू ॥
कह विधि तुम प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति बस विनवौं स्वामी ॥४॥

अर्थ : कृपासागर शिवजी कहने लगे : हे अमरगण ! कहो किसलिए आये। ब्रह्मदेव ने कहा : हे प्रभो ! आप अन्तर्यामी हैं फिर भी हे स्वामिन् ! मैं भक्तिवश विनती करता हूँ।

व्याख्या : वृषो हि भगवान् धर्मः। भगवान् धर्म ही वृष हैं। वह हैं केतु : ध्वजा जिसके ऐसे शिवजी को वृषकेतु कहते हैं, अर्थात् जिधर धर्म रहता है उधर ही शिवजी रहते हैं और कृपासिन्धु भी हैं। नित्य नईं नईं तरङ्गें कृपा की उठा करती हैं। देवताओं की स्तुति सुनकर बोले। अमर : सम्बोधन से अभयदान दे रहे हैं। जिस भाँति रघुनाथजी ने विभीषण को आते ही लङ्केश कहकर सम्बोधन किया था फिर आने का कारण पूछते हैं।

ब्रह्मदेव के कहने से ही सब कुछ हो रहा है। अतः वे ही प्रमुख वक्ता हैं, वोले कि आप प्रभु हैं, सब कुछ करने में समर्थ हैं और सबके अन्तर के प्रेरक भी हैं। आप ही की प्रेरणा से आया भी हूँ। फिर भी विनय करना भक्त का कर्तव्य है।

दो. सकल सुरन्ह के हृदय अस, संकर परम उछाह।
निज नयनन्हि देखा चहैं, नाथ तुम्हार विवाह ॥८८॥

अर्थ : हे कल्याण करनेवाले, हे नाथ! सब देवताओं के मन में इस बात का बड़ा उत्साह है। सब चाहते हैं कि तुम्हारा विवाह अपनी आँखों से देखें।

व्याख्या : मैंने तो पहिला व्याह जो सती के साथ हुआ था सो देखा है। उस मन्वन्तर के देवता अब रहे नहीं। ये इस मन्वन्तर के देवता हैं। इन्होंने नहीं देखा है। केवल तुम्हारे व्याह की कथा सुनते आये हैं। अतः ये लोग आपका व्याह अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। यह विनय की रीति है कि अन्य कारणों के रहते हुए भी अपनी प्रीति को ही आगे रक्खा।

यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन मद मोचन ॥
काम जारि रति कहुँ वर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥१॥

अर्थ : हे कामदेव का मद भङ्ग करनेवाले! आप ऐसा कुछ कीजिये जिसमें हम लोग उस उत्सव को आँख भरकर देखें। हे कृपासिन्धु! आपने कामदेव को भस्मकर रति को जो वर दिया सो वहुत अच्छा किया।

व्याख्या : आप काम का मद भङ्ग करनेवाले हैं। आपको विवाह से कोई प्रयोजन नहीं है पर भक्तों की रुचि रखने के लिए विवाह की ओर अपनी प्रवृत्ति कीजिये और इसमें शीघ्रता हो, जिसमें देवता लोग आँख भरकर देख लें और अपने जन्म को सफल करें। नहीं तो कौन जाने तारकासुर द्वारा किस समय कौन गति इनकी हो। फिर ये उस उत्सव को न देख सकेंगे।

अपराधी को दण्ड देना भली बात है। यथा : जगजय मद निदरेसि हर, पायेसि फर तेउ। काम ने जैसा किया वैसा पाया पर रति को जो वरदान आपने दिया यह और भी अच्छा हुआ। सनातनी सृष्टि का लोप भी न हुआ और काम भस्म भी हो गया।

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥
पारवती तपु कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥२॥

अर्थ : हे नाथ ! यह प्रभुओं का सहज स्वभाव है कि पहिले दण्ड देते हैं और पीछे से कृपा करते हैं। पारवती ने अपार तप किया है। अब उसे अङ्गीकार कीजिये।

व्याख्या : यह कार्य आपके सदृश हुआ। बड़े लोग पहिले दण्ड देते हैं पीछे से कृपा करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव होता है। वेदमार्ग की रक्षा के लिए दण्ड देते हैं। यथा : जौ नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा। पर जिसे दण्ड मिला उसे दुःख हुआ यह समझकर पीछे से कृपा करते हैं। वस्तुतस्तु उनका कोप किसी पर नहीं होता। कोप भी उनकी कृपा ही है। काम को भस्म किया यह सासत करने का उदाहरण है। उसकी स्त्री रति को वर दिया यह पुनि कीन्ह पसाऊ का उदाहरण है। इसी भाँति सती की साधारण ताड़ना नहीं हुई। अब उन्होंने पार्वती होकर अपार तप किया है। यथा : अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी। अब उन पर कृपा होनी चाहिए। उन्हें अङ्गीकार करना चाहिए। रुद्राणीपद के योग्य तपस्या हो चुकी।

सुनि विधि विनय समुझि प्रभु बानी । ऐसइ होउ कहा सुखमानी ॥
तव देवन्ह दुंदुभी बजाई । वरखि सुमन जयजय सुरसाई ॥३॥

अर्थ : ब्रह्मा की विनती सुनकर और प्रभु की वाणी समझकर शिवजी ने सुख मानकर कहा : एवमस्तु। तब देवताओं ने नगाड़े बजाए। फूलों की वर्षा की और कहने लगे : हे देवताओं के स्वामी ! तुम्हारी जय हो जय हो।

व्याख्या : ब्रह्मा विश्व के कर्ता हैं। उनके विनय का मूल्य है। तिस पर प्रभु ने जाते समय जो कहा था कि : हर ! तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखहु जो हम कहेऊ। उसे समझा कि इसी अवसर के लिए ऐसा आदेश हुआ था। वह परिस्थिति सामने आगई। अतः शिवजी ने स्वीकार कर लिया। एवमस्तु कहने की देर थी कि देवताओं ने जीत का नगाड़ा बजा दिया। कामदाह से डर गये थे। असुर लोग सुखी हो गये थे सो पासा पलट गया। जीत के मार्ग का भारी असमञ्जस दूर हुआ। अथवा व्याह की स्वीकृति का उत्सव मनाया जा रहा है, इसलिए पुष्प वर्षा हो रही है।

अवसर जानि सप्तरिषि आए । तुरतहि विधि गिरि भवन पठाए ॥
प्रथम गए जहँ रहीं भवानी । बोले मधुर वचन छलसानी ॥४॥

अर्थ : अवसर जानकर सप्तर्षि आये। ब्रह्मदेव ने उन्हें तुरन्त हिमवन्त के घर भेज दिया। वे पहले वहाँ गए जहाँ भवानी थीं और छल से भरे हुए मीठे वचन बोले।

व्याख्या : सप्तर्षि भी अवसर देखते रहे। जगदम्बा ने कहा है : रहि न जाइ बिनु किए बरेखो। सो हम लोग ही बरेखी करेंगे। बड़ी अभिलाषा है कि इस महामङ्गल में हम भी किसी प्रकार से निमित्त बनें। अब अवसर आया है कि ब्राह्मण लग्नपत्री लिखाने के लिए भेजा जाय तो सप्तर्षि पहुँच गये। ब्रह्मदेव को स्वयं जल्दी

पड़ो थी परन्तु हिमवान् के यहाँ भेजा। क्या कहकर भेजा ? यह बात यहाँ नहीं लिखते। कार्य देखकर आपही पता लग जायगा।

भगवती के मुख से प्रेममय उत्तर सुनने के लिए उत्साह से भरे हुए पहले भवानी के पास पहुँचे। छल से सना हुआ मीठा वचन बोले। भावोपहत न होने से यहाँ छलयुक्त वचन भी प्रशस्त है। जगदम्बा के मुख से प्रीति और विश्वासयुक्त वचन सुनना चाहते हैं। अतएव अतिमूढ़ की भाँति बात बोलते हैं।

दो. कहा हमार न सुनेउ तब, नारद कें उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पनु, जारेउ काम महेस ॥८९॥

अर्थ : नारद के उपदेश से तब तुमने हमारा कहना नहीं सुना। अब तुम्हारा प्रण झूठा हो गया। क्योंकि महेश ने काम को जला दिया।

व्याख्या : उस समय हमारी बात सुनने से. विवाह सार्थक होता। नारद के उपदेश से तुमने सहज उदासी पति चाहा। उस उदासी ने काम को ही भस्म कर दिया। विवाह ही निष्प्रयोजन हो गया। ब्राह्म विवाह में भी कन्यादान अथवा प्रतिग्रह में काम की ही प्रधानता है। मन्त्र पढ़ा जाता है। को दात् कस्मा अदात्, कामोदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते। किसने दिया किसको दिया, काम को दिया। हे काम ! यह सब तेरे लिए है। जव काम ही नहीं तब विवाह क्या ? पुत्रप्रयोजना भार्या। पुत्र के लिए ही स्त्री है। अतः जो तुमने प्रण किया था कि वरौं संभु न त रहौं कुमारी। वह प्रण झूठ पड़ गया। क्योंकि अब तो विवाह होना ही बन्द हो जाने का लक्षण है।

सुनि बोली मुसुकाइ भवानी। उचित कहेउ मुनिवर बिग्यानी ॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा ॥१॥

अर्थ : यह सुनकर भवानी मुसकरा कर बोली : हे विज्ञानी मुनिश्वरो ! तुमने ठीक कहा। तुम्हारी समझ में शिवजी ने अब काम को जलाया है। अब तक शिवजी सविकार रहे।

व्याख्या : मुसकराहट मुनियों की अज्ञान भरी उक्ति पर अथवा इस बात पर कि पहिली परीक्षा से सन्तुष्ट न हुए अब फिर परीक्षा लेने आये। 'उचित कहेउ' का भाव यह कि मननशील और ब्रह्मलीन महात्माओं के ऐसे विचार ! व्यङ्गोक्ति से कहती हैं कि तुम लोग अनुचित बोल रहे हो। तुम लोग विज्ञानी मुनि होकर भी आज तक शिवजी को कामवश समझते थे ? शिवजी का स्वरूपज्ञान तुम लोगों को हुआ ही नहीं। मुनि विज्ञानी कैसे हुए ?

हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥
जौं मैं सिव सेयेउँ असजानी। प्रीति समेत करम मन बानी ॥२॥

अर्थ : हमारी समझ में तो सदा शिव सदा योगी हैं। जन्म रहित, निन्दा

रहित, काम रहित और भोग रहित हैं। जो मैंने यह समझकर मन वचन और कम से शिव जी की सेवा प्रीति से की हो।

व्याख्या : 'हमरे जान' का भाव यह है कि तुम्हें मेरे स्वरूप का भी ज्ञान नहीं है। विवाह की इच्छा में यहाँ काम का प्रश्न हो नहीं है। लौकिक प्रीति में काम का प्रश्न उठता है। मैंने तो शिवजी को सदा योगी, अकाम और अभोगी समझकर उनके लिए तप किया है। काम के जलने से विवाह में क्या वाधा हुई? मेरे लिए तो काम सदा हो दग्ध है। रागद्वेषयुक्त पुरुष का ही जन्म होता है। उसी की निन्दा होती है। वह सकाम होता है। भोगलिप्त होता है। शिवजी द्वन्द्व से परे हैं। अज, अनवद्य, अकाम और अभोगी हैं। यही जानकर मैंने उनकी सेवा प्रीति के साथ मनसा वाचा कर्मणा की है।

तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥
तुम्ह जो कहेउ हर जारेउ मारा। सो अति बड़ अविवेक तुम्हारा॥३॥

अर्थ : तो हे मुनीश्वरो ! सुनो, कृपासागर शिवजी मेरी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे और तुमने जो यह कहा कि शिवजी ने काम को भस्म कर दिया। सो यह तुम्हारा बड़ा भारी अविवेक है।

व्याख्या : तुमने क्या समझा कि मैंने शिवजी को सकाम और भागा समझ कर सेवा की थी ? मैं जिन गुणों पर लुब्ध थी वे ये हैं कि शिवजी, अजन्मा, निर्दोष, अकाम और अभोगी हैं। अब अपने प्रण को प्रमाण देती हैं कि यदि वह वात सत्य हैं तो मेरे प्रण को कृपानिधान शङ्कर पूरा करेंगे। तुम्हारे झूठ कह देने से झूठ न हो जायगा। यदि नारद के मुख से निकला हुआ षडक्षर मन्त्र मनन करनेवाले का त्राण करनेवाला हो और यदि भक्तिपूर्वक मैंने जप किया हो तो हर कृपा करें। यथा : यदि नारदवक्त्रोत्थो मन्त्रोऽयं स्यात्षडक्षरः। यदि भक्त्या मया जप्तं हरस्तेन प्रसीदतु।

मैंने कामवासना से शङ्कर की उपासना की है : ऐसी धारणा तुम लोगों का बड़ा अविवेक है। पर शङ्कर में अभिमान का आरोप करना कि उन्होंने काम को जलाया : यह तुम्हारा और बड़ा अविवेक है। दीपक पतङ्गों को जलाने नहीं जाता : वे स्वयं दीपक में जा जाकर जलते हैं।

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाय नहि काऊ॥
गए समीप सो अवसि नसाई। अस मनमथ महेस की नाई॥४॥

अर्थ : अग्नि का सहज स्वभाव ही गरम है। पाला उसके निकट कभी नहीं जाता। और यदि पास जाय तो अवश्य नष्ट होगा। यही गति काम और महादेव जी की है।

व्याख्या : अग्नि का स्वभाव ही पाला के एकदम विपरीत है अर्थात् उष्ण है। पाला सबके निकट जाता है। आग के निकट नहीं जाता। जहाँ आग जलती

रहती है उसके दो चार हाथ दूर तक पाला नहीं गिरता। इसी भाँति शिवजी का स्वभाव ही निर्वासन : कामनाशन है। काम सबके निकट जाता है शिवजी के समीप नहीं फटकता। निकट जायगा तो जलेगा ही इसमें शिवजी का क्या अपराध है ?

दो. हिय हरषे मुनिवचन सुनि, देखि प्रीति विस्वास।
चले भवानी नाइ सिर, गये हिमाचल पास ॥९०॥

अर्थ : बात सुनकर और प्रीति विश्वास देखकर मुनि लोग हर्षित हुए। भवानी को सिर नवाकर हिमाचल के पास गये।

व्याख्या : मुनिजी भवानी के मुख से प्रीति और विश्वास के उद्गार सुनने के लिए ही आये थे। प्रीति देखी कि शिवजी ने काम को जलाया : यह दोषारोपण नहीं सह सकीं। तुरन्त बोलीं : यह अति बड़ अविवेक तुम्हारा। विश्वास देखा कि गुरु रूप से नारद पर और इष्टदेव रूप में शिवजी पर कैसा अटल विश्वास है। कहती हैं : तौ हमार प्रण सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा। प्रथम गये जहँ रही भवानी। से उपक्रम और : चले भवानी नाइ सिर। से उपसंहार किया। तुरतहि विधि गिरि भवन पठाए : का साफल्य है। गये हिमाचल पास।

सबु प्रसंगु गिरिपतिहि सुनावा। मदन दहन सुनि अति दुख पावा ॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुखु माना ॥१॥

अर्थ : हिमाचल को सारी बातें कह सुनाई। काम के भस्म होने की बात सुनकर बड़े दुःखी हुए। फिर रति के वरदान की बात कही। उसे सुनकर हिमवान् ने बहुत सुख माना।

व्याख्या : इस व्याह में ये ही अगुआ हैं। इन्होंने ही आकर शिवजी की स्वीकृति कही और गिरिजा को घर लाने के लिए कहा था। अब फिर इतने दिन के बाद आये हैं। अतः उसके बाद की वरपक्ष की सब घटनाएँ सुनाईं। काम के जलने का समाचार सुनकर हिमाचल बड़े दुःखी हुए। इतने दिन की बड़ी तपस्या लड़की की व्यर्थ गई। फिर रति का वरदान सुनकर बड़े प्रसन्न हुए कि कन्या की तपस्या सफल हुई। माता पिता की अब भी वही लौकिकी दृष्टि है।

हृदय बिचारि संभु प्रभुताई। सादर मुनिवर लिए बोलाई ॥
सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। वेगि वेदविधि लगन धराई ॥२॥

अर्थ : शिवजी की प्रभुता को मन में सोचकर हिमाचल ने मुनियों को आदर सहित बुलवाया और शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी सोधवायी। जल्दी वेद की विधि से लग्न निश्चय कराया।

व्याख्या : पहिले यही भाव मन में आया कि वर वस्तुतः उदासीन हैं। पर जब उनकी प्रभुताई का विचार किया कि काम को मार भी सकते हैं, जिला भी सकते हैं तो सब शङ्का जाती रही। ऐसे समर्थ से जिसकी प्रभुता काम पर भी चले अवश्य व्याह करना चाहिए। अतः सादर ज्योतिर्विद् मुनि बुलाये गये। वैशाख

सुदी पञ्चमी गुरुवार, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र, मेष लग्न, भरणी के आदि में सूर्य : यही लग्न मुनियों ने स्थिर किया । यथा : माधवे मासि पञ्चम्यां सिते पक्षे गुरोर्दिने । चन्द्रे चोत्तरफाल्गुन्यां भरण्यादौ स्थिते रवौ । का. पु. । चौथे दिन व्याह का निश्चय हुआ । दूर का लग्न ठीक नहीं ।

पत्री सप्तरिषिन्ह सो दीन्ही । गहिपद विनय हिमाचल कीन्ही ।।
जाइ विधिहि तिन्ह दीन्ही पाती । बाँचत प्रीति न हृदय समाती ।।३।।

अर्थ : लग्नपत्रिका ऋषियों को दी और हिमाचल ने पाँव पकड़कर विनती की । वह पत्री उन्होंने जाकर ब्रह्मदेव को दी । पढ़ते समय हृदय में प्रेम समाता नहीं ।

व्याख्या : वह लग्नपत्री सप्तर्षि को दी गई । उन्हीं के हाथ भेजना है । सप्तर्षि को आज्ञा कैसे दें । इसलिए चरण पकड़कर विनय की । विधि ने ही हिमालय के घर भेजा था । उन्हें छोड़कर समधी कौन बने ? सो लग्नपत्री लाकर ब्रह्मदेव को सप्तर्षियों ने दी । शङ्कर के चरणों में अतिप्रेम है । अतः लग्नपत्री बाँचने में प्रेम का उद्गार हो आया ।

लगन बाँचि अज सबहि सुनाई । हरषे मुनि सब सुर समुदाई ।।
सुमन वृष्टि नभ बाजन बाजे । मंगल कलस दसहुँ दिसि साजे ।।४।।

अर्थ : लग्न पढ़कर ब्रह्मा जी ने सबको सुनाया । सब मुनि और देवगण हर्षित हुए । आकाश से फूलों की वर्षा हुई । बाजे बजने लगे और दशों दिशाओं में मङ्गल कलश सजाये गये ।

व्याख्या : सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाह । निज नयनन्ह देखा चहहिं नाथ तुम्हार विवाह । सब देवताओं के हृदय में शिवजी का विवाह देखने का बड़ा उत्साह था । इसलिए सबको लग्नपत्री बाँचकर सुनाई । लग्न निश्चित सुनकर देवसमाज में बड़ा हर्ष हुआ । शिवजी की विवाह के लिए स्वीकृति देते ही देवताओं ने दुन्दुभी बजायी थी । पुष्पवृष्टि की थी । यथा : तब देवन्ह दुंदुभी बजाई । बरखि सुमन जय जय सुरसाई । अब लग्नपत्री सुनकर फिर पुष्पवृष्टि हो रही है, बाजे बज रहे हैं । व्याह को चार ही दिन हैं । इसलिए दशों दिशाओं में दिक्पालों ने मङ्गलकलश स्थापित किए । दशों दिशाओं में परम उत्साह है ।

दो. लगे सँवारन सकल सुर, बाहन विविध विमान ।
होहिं सगुन मंगल सुभद, करहिं अपछरा गान ।।९१।।

अर्थ : सब देवता अपने भाँति भाँति के वाहन और विमान साजने लगे और शुभ देनेवाले सगुन मंगल होने लगे, अप्सराएँ गाने लगीं ।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ने सब देवताओं के पास रुद्रगणों द्वारा नेवता भेजा । देवताओं ने अपना अपना वाहन और विमान साजा । अपना साज समाज ठीक किया । ठाट बाट से बारात करनी है, हृदय में उत्साह है । अप्सराएँ मङ्गल गान गाने लगीं । जो बरात के लिए बाहर निकलता है, उसे भले भले सगुन होते हैं ।

यथा : विधि पठाए जहँ तहँ सब सिवगन धावन। सुनि हरखहिं सुर कहहिं निसान बजावन। रचहिं विमान बनाइ सगुन पावहिं भले। निजनिज साज समाज साजि सुरगन चले।

सिवहिं[1] संभु गन करहिं सिंगारा। जटा मुकुट अहि मौर सँवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे व्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला॥१॥

अर्थ : शिवजी का शृङ्गार उनके गण कर रहे हैं। जटा के मुकुट में साँपों का मौर सँवारा गया। साँप के ही कुण्डल और कंकन पहने। शरीर पर विभूति और कपड़े के स्थान पर व्याघ्राम्बर था।

व्याख्या : बारातियों का साज बाज कहकर दुलहे का शृङ्गार कहते हैं। शम्भुगण शिवजी का शृङ्गार करने लगे। दूसरे को उनके शृङ्गार की विधि का पता नहीं और न गणों को सांसारिक शृङ्गार की विधि का पता है। सो जटा मुकुटाकार लपेटी गई और सब शृङ्गारों के पहिले ही रङ्ग विरङ्गी साँपों का मौर पहना दिया गया। माला का भी काम साँपों से ही लिया गया। सँपेले कान में कुण्डल और हाथ में कंगन की जगह पहानाये गये क्योंकि गणों ने कान में कुण्डल हाथ में कंगन पहिने तथा मौर बाँधे दुलहों को देखा था। अङ्गराग की जगह विभूति लगाई गई। और जामा जोड़ा की जगह व्याघ्राम्बर से काम लिया गया। व्याह करने जा रहे हैं अतः नग्न रहना ठीक नहीं। यह शृङ्गार का कौतुक हो रहा है।

ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीन उपवीत भुजंगा॥
गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव वेष ,सिवधाम कृपाला॥२॥

अर्थ : मस्तक पर चन्द्रमा। सिर में सुन्दर गङ्गाजी। तीन नेत्र और साँपों का जनेऊ। कण्ठ में विष और गले में नरमुण्डों की माला। वेष तो अमङ्गल है पर कृपाल कल्याण के धाम हैं।

व्याख्या : दो वस्तुएँ अनूठी भी थीं। एक ललाट पर चन्द्रमा और दूसरी शिरा पर गङ्गाजी। सो ये भी चण्डपुरुषार्थ के द्योतक हैं। दुलहे के शृङ्गार योग्य नहीं। इधर तीन आँखें और साँपों के यज्ञोपवीत से करालता बढ़ गई। गरल कण्ठ में था ही। जब शृङ्गार की पूर्ति के लिए मुण्डमाल पहना दिया गया तो भयानक अमङ्गल वेष हो गया और वड़े क्रूर जँचने लगे। पर अलौकिकता यह कि जिसका वेष ऐसा अमङ्गल, वे स्वयं मङ्गलमय हैं। जिसका शृङ्गार ऐसा कराल है वे स्वयं कृपाल हैं। लोक में ठीक इसके विपरीत है। सौम्य को सौम्य वेष और कराल को कराल वेष प्रिय लगता है। पर, यद्यप्यमङ्गलानीह सेवते शङ्करः सदा। तथापि मङ्गलन्तस्य

---

[1] शिवजी तमोगुण के अधिष्ठाता होने पर भी त्रिगुणातीत हैं इसीलिए अशुभ भेष शिवधाम हैं। भस्म, गङ्गाजी, तृतीय नयन, सर्प और डमरू के व्याज से पाँचों तत्त्वों को धारण किए हुए हैं। चन्द्र और गरल के व्याज से सञ्जीवनी और मारण शक्ति जो सब शक्तियों की सार हैं : धारण किये हुए हैं।

स्मरणादेव जायते । शिव. पु० । यद्यपि शङ्कर अमङ्गलों का ही सेवन करते हैं परन्तु उनके स्मरण से मङ्गल होता है ।

कर त्रिसूल[1] अरु डमरु बिराजा । चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा ॥
देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं । वर लायक दुलहिनि जग नाहीं ॥३॥

अर्थ : हाथ में त्रिशूल और डमरू शोभायमान हुआ । बैल पर चढ़कर चले । बाजे बजने लगे । शिवजी को देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुसकराईं कि वर के योग्य संसार में दुलहिन नहीं है ।

व्याख्या : भयानकता में यदि कोई कमी रह गई तो वह त्रिशूल से पूरी कर दी गई और आनन्द का समय है कदाचित् ताण्डव की आवश्यता पड़ जाय । अत: हाथ में डमरू भी दे दिया गया । यथा : तांडवित नृत्य पर डमरू डिमि डिमि प्रवर अशुभ इव भाँति कल्यान रासी । सवारी के लिए बैल खड़ा ही था उसी पर सवार हो गये । दुलहे की सवारी पहिले ही चली । बाजा पीछे बज रहा है । शची सारदा आदिमुसकराईं कि वाह रे वर का शृङ्गार ! इनके अनुरूप दुलहिन संसार में कहाँ मिलेगी ? अनुपयुक्त रूप रचना से आह्लाद युक्त मनोविकार हुआ । 'मुसुकाहीं' से उत्तम हास कहा ।

विस्नु विरंचि आदि सुरव्राता । चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता ॥
सुर समाज सब भाँति अनूपा । नहिं बरात दूलह अनुरूपा ॥४॥

अर्थ : विष्णु और ब्रह्मा आदि देवसमूह वाहनों पर चढ़ चढ़कर वारात में चले । समाज सब प्रकार से अनुपम था । फिर भी बारात दुलहे के अनुरूप नहीं थी ।

व्याख्या : पहिले दुलहा, उसके पीछे बाजा और उसके भी पीछे विष्णु, ब्रह्मादि बराती चले । अनुरूप दुलहिन तो मिलने की नहीं, बारात भी अनुरूप नहीं । देवताओं का समाज अति सुन्दर था । बारात का नियम पालन के लिए देवताओं ने चारों ओर से शिवजी को घेर लिया । यह समाज सात्त्विकों के इष्टदेवों का है । यथा : यजन्ते सात्त्विका देवान् ।

दो. विस्नु कहा अस विहँसि तब, वोलि सकल दिसिराज ।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज ॥९२॥

अर्थ : तब विष्णु ने सब दिक्पालों को बुलाया और हँसकर कहा कि सब लोग अलग अलग अपने अपने समाज के साथ चलो ।

व्याख्या : विकृत वेषभूषा और वाक्य ही हास्यरस का आलम्बन है । सो दूल्हे के वेष-भूषा पर विष्णु विहँसे । विहँसना मध्यम हास है । दस दिक्पालों के

---

[1] त्रिशूल : आध्यात्मिक, आभिदैविक और आधिभौतिक शूलों का प्रतीक है । वृष धर्म का प्रतीक है । भुजङ्ग आनन्त्य का प्रतीक है । नरशिरमाल मनुष्य मात्र का प्रतीक है ।

अधिकार में ही सब देवता हैं। विष्णु ने सब दिक्पालों को बुलाकर कहा कि अपना-अपना समाज लेकर अलग-अलग होकर चलो। जिसमें स्पष्ट प्रतीत हो कि यह अमुक दिक्पाल का समाज है। अपनी अपनी तैयारी और त्रुटि का अपने को ही जिम्मेदार रहना चाहिए। एक की त्रुटि के सब जिम्मेदार न समझे जायँ। आपलोग अपना-अपना वाहन विमानादि साजकर आये हैं। अतः सबकी अलग-अलग शोभा दिखाई पड़े। शिवजी स्वयं ईशान कोण के दिक्पाल हैं। इनकी शोभा अलग रहे।

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई ॥
बिस्नु बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने ॥१॥

अर्थ : यह बारात वर के मेल की नहीं हैं। पराए गाँव में चलकर हँसी कराओगे। विष्णु की बात सुनकर सब देवता मुस्कुराए और अपनी सेना लेकर अलग हो गये।

व्याख्या : बारात के अननुरूप वर को देखकर यहीं हँसी हो रही है। कन्या पक्ष के लोग हँसी के लिए वर पक्ष का छिद्रान्वेषण करते हैं। सो हमलोगों के बीच वर के चलने से सबकी हँसी होगी। विवाह के समय भी ये इसी रूप से चले तो इनकी हँसी कराने की इच्छा है। अतः इन्हें अलग चलने दो। परन्तु वर को छोड़कर वारात चल भी नहीं सकती। अतः सब कोई अपना अपना समाज अलग करके चलो जिसमें स्पष्ट प्रतीत हो कि कौन समाज किसका है। यथा : विबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आएउ। आपन आपन साज सबहिं बिलगाएउ।

यह वचन भी समयानुरूप ही है। जब सब लोग विलग विलग हो जायँगे तो शिवजी को अपना समाज बुलाना पड़ेगा। तब हँसी में जो कुछ कसर है सो भी पूरी कर देने की विष्णु भगवान् की इच्छा है। अतः देवता लोग मुस्कराए फिर विष्णु की आज्ञानुसार वारात सजी।

मनहीं मन महेसु मुसुकाहीं। हरि के बिंग बचन नहिं जाहीं ॥
अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे ॥२॥

अर्थ : शिवजी मन ही मन मुस्कराते हैं कि हरि का व्यङ्ग बोलना नहीं छूटता। प्रिय के अति प्यारे वचन सुनकर भृङ्गी को भेजकर सब गणों को बुलवा लिया।

व्याख्या : देवियाँ मुस्कराईं। विष्णु विहँसे। फिर सब देवता मुस्कराए। अब हास्यरस की पूर्ति में केवल वर के हँसने की देर थी। सो वह भी मन ही मन मुस्करा रहे हैं। हरि के वचन में व्यङ्ग रहता है। सो यहाँ भी इनके वचन में व्यञ्जना है। इनकी इच्छा है कि हमारे गण भी बारात में सम्मिलित हों। इस उत्साह से वञ्चित न रहें और बारात भी मेरे जैसी विचित्र दिखाई पड़े। शिवजी की आज्ञा भृङ्गीगण को हुई कि सब गणों को बुलाओ। अर्थात् पहिले केवल मुख्य गण साथ रहे। अब सबके लिए आज्ञा हुई।

सिव अनुसासनु सुनि सब आए । प्रभुपद जलज सीस तिन्ह नाए ॥
नाना बाहन नाना वेषा । बिहँसे सिव समाज निज देखा ॥३॥

अर्थ : शिवजी की आज्ञा सुनकर सब आये । और उन्होंने प्रभु के चरण कमलों में सिर झुकाया । उनके नाना प्रकार के वाहन थे और नाना प्रकार का वेष था । शिवजी अपना समाज देखकर हँसे ।

व्याख्या : ये दूसरे का अनुशासन सुननेवाले नहीं । शिवजी का अनुशासन टालनेवाले भी नहीं । भृङ्गी द्वारा सब बुलाये गये । इसलिए सब आये । प्रभु के चरणों में प्रणाम करते हैं और किसी को नहीं । सेना का नियम है कि एक सा वाहन और एक सा वेष प्रयत्नपूर्वक रक्खा जाता है । परन्तु शङ्कर की सेना विलक्षण है । न एक सा वाहन और न एक सा वेष है । यहाँ सेना और समाज समानार्थक शब्द हैं । यथा : बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज तथा : निज निज सेन सहित बिलगाने । व्यङ्ग वचन सुनकर शिवजी तो मन हीं मन मुसकराए थे । अब अपना समाज देखा तो हँस पड़े ।

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू । बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना । रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनखीना ॥४॥

अर्थ : कोई बिना मुख का है और किसी को कई मुख हैं । कोई बिना हाथ पाँव का है और किसी को बहुत से हाथ पाँव हैं । किसी को बहुत सी आँखें हैं किसी को एक भी नहीं । कोई बड़ा मोटा है और कोई अत्यन्त दुबला पतला है ।

व्याख्या : अति आश्चर्यमय दृश्य है । कोई तो रुण्डरूप ही है और किसी को मुण्ड ही मुण्ड है । कोई बिना हाथ पैर के वर्तुलाकार है । कोई केंकड़े की भाँति बहुत हाथ पैरवाला है । इत्यादि । निदान शङ्कर के गण सब एक से एक विचित्र हैं । किसी के रूप और वाहन से दूसरे का मेल नहीं और वे असंख्यात हैं । इन्हीं में राजस के इष्टदेव यक्ष राक्षसों का अन्तर्भाव है । यक्ष राक्षस राजसिक लोगों के पूज्य हैं । यथा : यक्षरक्षांसि राजसाः ।

छं. तन[1] खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरें ।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरें ॥
खर स्वान सुअर सृगाल मुख गन वेष अगनित को गनै ।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै ॥

---

[1] यहाँ से बराबर रुद्रसंज्ञक छन्दों में भगवान् का विवाह वर्णित है । ये सब छन्द हरिगीतिका हैं । इसी भाँति आदित्य संख्यक छन्दों में श्रीआदित्यकुलतिलक श्रीरामचन्द्र का विवाह वर्णित है ।

सो. नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन विचित्र विधि ॥९३॥

अर्थ : कोई बिल्कुल दुबला कोई खूब मोटा कोई पवित्र कोई अपवित्र दशा धारण किये हुए हैं। भयङ्कर गहना पहने हाथ में कपाल लिये और सब शरीर में टटका : ताजा : खून लपेटे हुए हैं। किसी का मुँह गधे का सा किसी का कुत्ते का सा किसी का सुअर का सा और किसी का गीदड़ का सा था। गणों के असंख्य वेष को कौन गिने। बहुत प्रकार के प्रेत पिशाच और जोगियों[1] की जमात है। जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता!

सब भूत प्रेत बड़े मौजी हैं। वे नाचते हैं और गीत गाते हैं। देखने में अत्यन्त बेढङ्गे हैं और उनके बोलने की विधि भी विचित्र है।

व्याख्या : तावदन्ये सामायाता भूतप्रेतपिशाचकाः। वक्रतुण्डास्तथाकेचित् विरूपाश्च तथा परे। विरुद्धवाहनाः केचित् दुरालापकरास्तथा। डमरूवादयन्तो वै गल्लनादास्तथापरे। शिवपुराणे। कमठ खपर मढ़ि खाल निसान बजावहिं। नर कपाल भरि सोनित पियहिं पियावहिं। पा. मं.।

प्रेत और भूत तामस लोगों के इष्ट देवता हैं। यथा : प्रेतान् भूतगणांश्चैव यजन्ते तामसा जनाः। अतः इस बारात में सात्त्विक राजस तामस तीनों प्रकृति के लोगों के इष्टदेव हैं। निदान यह बारात ही इष्टदेवों की है। इसीलिए कहा कि : उमा महेस विवाह बराती। ते जलचर अगनित बहुभाँती। ये रामयशसरित् : सरयू : के जलचर हैं। रामभक्तों को इनसे बचकर रहना चाहिए! जलचर मनुष्यों को निगल जाते हैं। इसी भाँति इष्टदेव भी उपासक को अपने में मिला लेते हैं। प्रेत भूत के उपासक प्रेत भूत हो जाते हैं। यक्ष राक्षस के उपासक यक्षराक्षस हो जाते हैं और देवताओं के उपासक देवता हो जाते हैं। और प्रभु कहते हैं कि मेरे उपासक मुझे प्राप्त होते हैं। यथा : देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि। अतः रामभक्तों को अन्य की उपासना में तन्मय न हो जाना चाहिए।

नाचहिं नाना रंग तरंग बढ़ावहिं। अज उलूक बृकनाद गीत गनगावहिं। पा. मं

देखत अति विपरीत का भाव यह है कि वस्तुतः विपरीत नहीं हैं शङ्कर के गण भी मङ्गलमय हैं।

जस[2] दूलहु तसि बनी बराता। कौतुक विविध होंहि मग जाता॥
इहाँ हिमाचल रचेउ विताना। अति विचित्र नहिं जाइ बखाना ॥१॥

अर्थ : जैसा दूल्हा था वैसी बरात बन गई। रास्ते में जाते-जाते अनेक भाँति के कौतुक होते जा रहे हैं। यहाँ हिमाचल ने ऐसी विचित्र मण्डप की रचना की कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता।

---

[1] एक विशेष प्रकार के रुद्र गण जिनकी गणना भूत वेताल के समकक्षों में है।

[2] यहाँ समालङ्कार है।

व्याख्या : वर अनुहार बरात बनी ·हरि हंस कहा : पा. मं. । अब प्रधान बरात गणों की सेना हो गई । मार्ग में नाच गाना भी हो रहा है अतः कौतुक की क्या कमी है । श्रीग्रन्थकार इस समय हिमाचल की ओर हैं । अतः इहाँ हिमाचल रचेउ विताना कह रहे हैं । माँ का साथ अत्यन्त सुखद समझकर ग्रन्थकार उसी समाज में हैं । वितान वर्णन अशक्य समझकर उसे अति विचित्र कह रहे हैं । विचित्र वस्तु का वर्णन नहीं हो सकता । अति विचित्र तो सर्वथा वर्णनातीत है । यथा : रचना देखि विचित्र अति मन विरंचि कर भूल : जैसा मण्डप जनकपुर में बना था वैसा ही समझना चाहिए ।

सैल सकल जहँ लगि जग माहीं । लघु विसाल नहिं वरनि सिराहीं ॥
बन सागर सब नदी तलाबा । हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा ॥२॥

अर्थ : जगत् में जितने पहाड़ थे । क्या बड़े क्या छोटे, जिनका वर्णन नहीं हो सकता : बन, समुद्र, नदियाँ और तालाव, सबको हिमाचल ने न्यौता : नवेद : भेजा ।

व्याख्या : शैलराज का वरताव सब शैल, सागर, बन, नदी और तालाबों से है । शैल, सागर, नदी आदि के दो रूप होते हैं । स्थूल रूप तो वही है जैसा हम लोग देखते हैं । पर इसी के अन्तर्गत उनका दूसरा रूप है । जिस भाँति शंख घोंघा आदि के दो रूप होते हैं । एक तो ऊपरवाली खोपड़ी जड़रूप दूसरा भीतर का जन्तु चेतनरूप । यथा : कालिका पुराणे । नद्यश्च पर्वताः सर्वे द्विरूपास्तु स्वभावतः । तोयं नदीनां रूपन्तु शरीरमपरन्तथा । स्थावरं पर्वतानान्तु रूपं कायं तथा परम् । शुक्तीनामथ कम्बूनां यथैवान्तर्गता तनुः । वहिरस्थिस्वरूपन्तु सर्वदैव प्रवर्त्तते । एवं जलं स्थावरन्तु नदीपर्वतयोस्तदा । अन्तर्वसति कायस्तु सततं नोपपद्यते । नदीनां कामरूपित्वं पर्वतानान्तथैव च । जगत् स्थित्यै पुरा विष्णुः कल्पयामास यत्नतः । अतः नदी पर्वतादि का कामरूपत्व सिद्ध है । अतः उनके यहाँ नेवता जाना और उनके नर नारी रूप से आगमन में शङ्का को स्थान नहीं है ।

कामरूप सुंदर तन धारी । सहित समाज सहित वर नारी ॥
गए सकल तुहिनाचल गेहा । गावहि मंगल सहित सनेहा ॥३॥

अर्थ : अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करनेवाले सुन्दर शरीर धारण किये हुए समाज के सहित तथा श्रेष्ठ स्त्री के सहित हिमाचल के घर गये । स्नेह के साथ मङ्गल गान भी करते थे ।

व्याख्या : कामरूप हैं । अतः सुन्दर तन धारण किया । विवाह में जा रहे हैं । और विरादरी हैं । इसलिए सस्त्रीक और सबन्धु बान्धव गये । जिनके जिनके पास न्यौता : नवेद : गया वे सब आये । बड़ा प्रेम है । इसलिए स्त्रियाँ मङ्गलगान कर रही हैं ।

प्रथमहि गिरि बहु गृह सँवराए । जथा जोगु जहँ तहँ सब छाए ॥
पुर सोभा अवलोकि सुहाई । लागइ लघु विरंचि निपुनाई.॥४॥

अर्थ : हिमालय ने पहिले ही बहुत से घरों को सजा रखा था। सब यथायोग्य जहाँ तहाँ ठहर गये। उस पुर की सुन्दर शोभा देखकर ब्रह्मदेव की चतुराई भी थोड़ी मालूम हुई।

व्याख्या : शैलराज की सुव्यवस्था का वर्णन करते हैं। इकट्ठा ठहरने से कष्ट होगा। अतः सबको जहाँ तहाँ ठहराया। अनुकरण की वस्तु : नकली : असली से अच्छी बनी हुई हैं। नकली कमल असली कमल से सुन्दर बने हैं। इसलिए विरञ्चि की निपुणता थोड़ी मालूम होती है।

छं. लघु लागि बिधि की निपुनता अवलोकि पुर सोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं॥
दो. जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाइ॥९४॥

अर्थ : पुर की सुन्दर सच्ची शोभा देखकर ब्रह्मा की रचना हलकी लगी। बन, बाग, कूएँ तालाब, नदियाँ सब सुन्दर हैं। उनका वर्णन कौन कर सकता है। घर घर बहुत से शुभ बन्दनवार और अनेक पताका ध्वजा शोभित हैं। सुन्दर और चतुर स्त्री पुरुषों की छबि देखकर मुनियों के मन मोहित होते हैं।

जिस पुर में जगदम्बा ने जन्म लिया क्या उस पुर की शोभा कही जा सकती है? वहाँ नई नई ऋद्धि सिद्धि सम्पदा और सुख बढ़ता ही जाता है।

व्याख्या : जगदम्बा के अवतार से पुर की शोभा सही है। पुर की शोभा सुन्दर जलाशय, मङ्गलमयगृह और लोकद्वय साधन में चतुर निवासियों से होती है। यहाँ यह सब इस भाँति सम्पन्न है कि छबि देखकर मुनियों का मन मोहित हो गया जिनका मन विरञ्चि की निपुणता से विरक्त रहा।

जगदम्बा के अवतार योग्य जो देश है उसका वर्णन अशक्य है। ऋद्धि-सिद्धि संपत्ति होने पर भी सुख दुर्लभ होता है। अतः उसको पृथक् गणना की। सब कुछ होने पर भी जैसा का तैसा बना रहने से साधारण बात हो जाती है। अतः कहते हैं : नित नूतन अधिकाइ।

नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई॥
करि बनाव सब बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥१॥

अर्थ : बारात नगर के पास आई सुनकर सारे नगर में कोलाहल मच गया और बड़ी शोभा हुई। स्वयं सज धजकर और अनेक सवारियों को सजाकर आदर सहित अगवान : बारात को लेने चले।

व्याख्या : जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता से

बारात का प्रसङ्ग छूटा था। अब फिर वहीं से उठाते हैं। बारात चली आ रही थी। इस बीच ग्रन्थकार हिमाचल के यहाँ का वर्णन करने लगे थे। अब बारात नगर के निकट आ पहुँची। लोग कहते हैं कि नेपाल में शिवजी का विवाह हुआ है। काष्ठ मण्डप जहाँ बना था उसी का नाम काठमाण्डू है। बारात आने के पहिले ही समाचार मिल जाता है। अतः सुनि आई कहते हैं। बारात के लिए अगवानी में भी बारात ही की सी तैयारी की जाती है। सो नेवता में आये हुए गिरि, सागर, तालावादि जितने बड़े लोग थे और नगर के लोग अगवानी के लिए चले।

हिय हरखे सुर सेन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी ॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले वाहन सब भागे ॥२॥

अर्थ : देवसेना देखकर सब लोग प्रसन्न हुए। और विष्णु भगवान् को देखकर बहुत खुशी हुए। जब शिवजी का समाज देखने लगे तब हाथी घोड़े भड़के और भाग चले।

व्याख्या : विष्णु भगवान् के बताये हुए क्रम से बारात सजी थी। आगे आगे देवताओं की सेना चल रही थी। लोकपाल लोग अपनी अपनी सेना के साथ क्रम से चले आ रहे थे। अतः पहिले वे ही दिखाई पड़े। अगवान को हर्ष हुआ कि ऐसे ऐसे महान् लोग बारात में आये हैं। बारात में प्रधान उत्तरोत्तर पीछे रहते हैं। अतः लोकपालों के समाज के पीछे विष्णु का समाज था। उन्हें देखकर अत्यन्त सुखी हुए। सबके पीछे अपने समाज सहित स्वयं वर की सवारी थी। जो उस समाज को देखकर हाथी, घोड़े ऐसे भड़के कि सवारों के रोकने पर भी नहीं रुके। भाग निकले। अतः सवार का भागना न कहकर वाहन का भागना कहते हैं।

धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने ॥
गए भवन पूछहि पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता ॥३॥

अर्थ : धैर्य धारण करके सयाने लोग रह गये। लड़के तो अपना प्राण लेकर भागे, घर पहुँचे तो माता पिता पूछने लगे। वे भय से काँपते हुए बोले।

व्याख्या : पैदल भी भागे। केवल सयाने लोग जिन्हें शिवजी के समाज की व्यवस्था मालूम थी धैर्य धारण करके रह गये। भाव यह कि डर तो वे भी गये परन्तु उन्होंने धैर्य से काम लिया। बालक भागने में सबसे बढ़कर निकले। अतः लै जीव पराने कहते हैं। अर्थात् वस्त्राभूषण के गिर जाने की भी उन्हें सुध बुध न रह गई। यथा : चलें भागि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत। बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत। पा. मं.। फिर जड़ता की जाड़ा आई। अतः कंपित गात कहते हैं। माँ बाप बच्चों की विकलता देखकर पूछते हैं कि इसे क्या हुआ? बारात देखने गया था। कोई दुर्घटना तो नहीं हुई?

कहिअ कहा कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं वरिआता ॥
वरु बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा ॥४॥

अर्थ : क्या कहें ! कोई बात कही नहीं जाती। यह यमराज की सेना है कि बारात है। पगला वर बैल पर बैठा हुआ है। साँप, खोपड़ी और राख ही उसके गहने हैं।

व्याख्या : लड़के अपने माँ बाप के पूछने पर कहते हैं : भय के मारे हमारे मुख से बात नहीं निकल रही है। क्या कहें ? वह बारात नहीं है। यमराज की सेना है। यद्यपि यम की सेना देखी नहीं है। फिर भी भयङ्करता से अनुमान करते हैं कि ऐसी ही होगी जिसे देखकर लोग मर जाँय। लड़के वर को पागल बतलाते हैं। क्योंकि वह बैल पर सवार है। जिसे घोड़ा नहीं होता वह भी व्याह में घोड़ा मँगनी ले लेता है। जिसकी बारात में लक्ष्मीपति आवें उसे घोड़ा न मिले यह हो नहीं सकता। समर्थ रहते भी बैल पर चढ़कर व्याहने आया है। अतः निश्चय ही पागल है। और भी पागल के लक्षण हैं। यदि गहना मँगनी न मिला तो बिना गहने ही आता। साँप, खोपड़ी और राख कौन सा गहना है।

छं. तन छार व्याल कपाल भूषन, नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि, बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जिअत रहिहि बरात देखन, पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखहि सो उमा विवाह घरघर, बात असि लरिकन्ह कही॥
दो. समुझि महेस समाज सब, जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाए बिविध विधि, निडर होहु डरु नाहिं॥९५॥

अर्थ : वर देह में राख लपेटे, साँप और खोपड़ी का गहना पहने, नंगा धडंगा, जटा बढ़ाए, भयङ्कर रूप है। उसके संग भूत, प्रेत, पिशाच और विकट मुखवाले[1] राक्षस हैं। जो बारात को देखते हुए जीता रहेगा उसका सचमुच बड़ा पुण्य होगा और वही उमा का विवाह देखेगा। यह बात लड़कों ने घर कह डाली।

महादेवजी के सब समाज को समझकर माँ बाप मुस्कराए और लड़कों को अनेक प्रकार से समझाया कि डरो मत, कोई डर की बात नहीं है।

व्याख्या : वर ने जोड़ा जामा नहीं पहन रक्खा है इसलिए नग्न बतला रहे हैं। विवाह के समय तो क्षौर करा लेना था। सो भी नहीं कराया, जटा रखाये हुए हैं। संक्षेपतः वर भी भयङ्कर है। उसका समाज भूत प्रेत पिशाच जोगिनी और विकराल मुँह के राक्षसों का है। बारात देखकर नगरवासी सब मर जायँगे। नहीं देख सके इसलिए हम लोग भाग आये हैं। जो विवाह देखेगा उसके सच्चे और बड़े पुण्यात्मा होने में सन्देह नहीं है। क्योंकि इस यम की सेना के बीच में पड़कर सकुशल रहना थोड़े पुण्य से साध्य नहीं है। यथा : कुशल करइ करतार कहहिं हम साँचिय। देखब कोटि विवाह जिअत जो बाँचिअ। पा. मं। जननी जनक सयाने हैं।

---

[1] खर स्वान सुअर सृगाल मुख गन वेष अगनित को गनै।

शिव समाज का रहस्य जानते हैं। उनके झूठे भय पर मुसकराते हैं। समझाने पर भी वच्चों का भय दूर नहीं होता। अतः विविध भाँति समुझाए। यथा :

एहि विवाह मंगल परम मंगल उमा विवाह।
दृगपथ पाए भूतपति होइहि अधिक उछाह॥
भस्म गंग पावक उरग-श्वास डमरु के व्याज।
पंच भूत धर भूत पति अति अभूत सब साज॥
विष पियूषकर मिस धरत सकल शक्ति को सार।
व्याल विभूषन विश्व को विजयानन्द भरतार॥
मुंडमालधर जगत के जीवन को आधार।
वनि वृष सेवत धर्म ह्व जाके चरन उदार॥
व्यसनी निसिदिन आपने रूपहिं रहे सँवार।
विकट रूप धर एकहीं काम जरावनि हार॥
गन सब मङ्गलरूप अति सरल गलित अभिमान।
रहत दुराए अपनपौ ये विज्ञान निधान॥
याते निर्भय होइ तुम विचरौ करौं अनंद।
उमा शंभु के व्याह में नितनव बिजया नंद॥

लै अगवान बरातहिं आए। दिए सबहि जनवास सुहाए॥
मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी॥१॥

अर्थ : अगवान बारात को लिवा आये। सबको सुन्दर जनवास दिये। मैना ने मंगल आरती साजी और साथ में स्त्रियाँ सुन्दर मङ्गल गान करती थीं।

व्याख्या : सयाने जो धैर्य धरकर वहाँ रह गये थे वे बारात को साथ लिवाकर आये। उन भूत प्रेत पिशाच निशिचरों से किसी का कोई अनिष्ट नहीं हुआ। दृश्यमात्र भयावना था। भय की कोई बात न थी। वे लोग आदर के साथ वारात को लाए और सुन्दर जनवासे में ठहराया।

कंचन थार सोह वर पानी। परिछन चली हरहिं हरषानी॥
विकट वेष रुद्रहिं जब देखा। अवलहु उर भय भयउ विसेषा॥२॥

अर्थ : सुन्दर हाथों में सोने का थाल शोभायमान था। प्रसन्नता से वे हर को परछने चलीं। जब रुद्र का भयङ्कर वेष देखा तब स्त्रियों के भी हृदय में विशेष भय हुआ।

व्याख्या : सोने के थाल में आरती साजी गई। दुःखों के हरनेवाले को हर कहते हैं ऐसा सुना है। उनका परिछन करने चल रही हूँ। बड़ा उत्साह मन में है। बराती ऐसे हैं न जाने वर कैसा होगा। वरुण कुवेर धर्मराज इन्द्र एक एक को देखकर भ्रम होता है कि यही वर है। पीछे जब मालूम होता है कि ये तो उसके सेवक हैं। तव वर के देखने की उत्कण्ठा और भी वढ़ जाती है। ऐसे अवसर पर

सर्वत्र ही मङ्गलगान करती हुई स्त्रियाँ, परिछन करनेवाली के साथ चलती हैं। ऐसा नियम है।

विकट वेष तो नारदजी से सुना था। यथा : नगन अमङ्गल वेष। पर देखना दूसरी बात है। रुद्र हैं, रौद्ररस के अधिष्ठाता हैं। उसपर विकट वेष धारण किया है। उनके द्वार पर आते ही सब डर गये। पर अबला ठहरीं, ये विशेष डर गईं। लड़के तो पहिले से ही डरे थे।

भागि भवन पैठी अति त्रासा। गए महेसु जहाँ जनवासा॥
मैना हृदयँ भयउ दुखु भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी॥३॥

अर्थ : भागकर डर से घर में घुस गई। शिवजी जनवासे गये। मैना के हृदय में बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पार्वतीजी को बुलाया।

व्याख्या : परिछन के लिए द्वार पर आगई थीं। सो भीतर भाग गईं। परिछन नहीं हुआ। बिना परिछन के ही वर जनवासे गया। इसपर दुःख तो सबको हुआ। ऐसा भयानक वर देखने में नहीं आया था। सुना भी नहीं गया था। माँ होने से मैना को बड़ा भारी दुःख हुआ।

अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरे बारी॥
जेहि बिधि तुम्हहि रूपु अस दीन्हा। तेहि जड़ बरु बाउर कस कीन्हा॥४॥

अर्थ : अधिक स्नेह से गोद में बिठाया और नीलकमल के समान नेत्रों में आँसू भरकर : बोलीं : जिस ब्रह्मा ने तुम्हें ऐसा रूप दिया। उस जड़ ने वर को पागल कैसे बनाया ?

व्याख्या : लड़की पर इतना दुःख आ पड़ा। इससे प्रेम अधिक हो गया, आँखों में आँसू भर आया। लड़की को गोद में लेकर प्रेम प्रलाप प्रारम्भ किया। जो प्रश्न ब्रह्मदेव से करना चाहिए वह अपनी कन्या से करने लगीं। विधि को उपालम्भ देती हैं। अथवा इस व्याज से कन्या की अस्वीकृति चाह रही हैं।

छं. कस कीन्ह[1] बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहि लागई॥
तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥
दो. भईं बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलापु रोदति बदति, सुता सनेहु सँभारि॥९६॥

अर्थ : जिसने तुम्हें सुन्दरता दी उस ब्रह्मा ने पगला वर कैसे बनाया ? जो फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिए वह जबरदस्ती से बबूल में लग रहा है। मैं

---

[1] विषमालङ्कार।

तुम्हारे साथ पहाड़ पर से कूद पड़ूँगी । आग में जल जाऊँगी । समुद्र में डूब मरूँगी । घर जाय । अपयश हो । पर मैं जीते जी विवाह न होने दूँगी ।

हिमाचल की स्त्री को दुःखी देखकर सारी स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं । और बेटी के प्रेम का संभाल करते हुए विलाप करके रो-गा रही हैं ।

व्याख्या : एक नया अवगुण दिखाई पड़ा जिसकी चरचा भी नारदजी ने नहीं की थी कि वर पागल है । विधि के लिलार में लिखने से सब होता है । अतः कहती हैं कि नाम उसका विधि है । वह अविधि क्यों करते हैं ? अपनी बेटी को अमृत फल, विष्णु को कल्पवृक्ष और शिवजी को बबूल कहती हैं । बबूल में काँटा ही काँटा होता है । इस वर में भी सर्प, विभूति, मुण्डमाल, व्याघ्राम्बर, जटा सब कण्टक ही कण्टक हैं । कल्पवृक्ष से सबका मनोरथ पूर्ण होता है । बबूल से मनोरथ भङ्ग होता है । यथा : आप नहीं कछु काम के डार पात फल फूल । औरन को रोकत फिरै रहिमन पेड़ बबूल ।

मेना कहती है कि तुझे साथ लेकर प्राण दूँगी । पर जीते जी ऐसे वर से व्याह न होने दूँगी । भाव यह कि यदि लोग बल पूर्वक व्याह कर देना चाहेंगे तो कन्या भी मरेगी मैं भी मरूँगी । ऐसे के साथ व्याह होने से मरना अच्छा । इस पर यदि कोई कहे कि घर नष्ट हो जायगा । और तुम्हें अपयश होगा । लोक, परलोक दोनों बिगड़ेगा । तो दोनों का बिगड़ना मंजूर, पर व्याह मंजूर नहीं ।

कोई-कोई महात्मा ऐसा अर्थ करते हैं कि बारात 'घर जाउ' लौट जावे । इससे अपयश हो तो होने दो व्याह मंजूर नहीं । कोई ऐसा अर्थ करते हैं : देवदानव, यक्षराक्षस बराती घर लूट लेंगे । और अपयश होगा कि मेना के हठ से घर लुट गया । सो लूट मंजूर है पर व्याह मंजूर नहीं ।

पहिले से ही स्त्रियाँ दुःखी थीं । अब मैना का दुःख देखकर विकल हो गईं । स्त्रियाँ रोने के साथ कुछ कहती भी जाती हैं । अतः 'रोदति वदति' कहते हैं । यथा : रोदति वदति बहु भाँति करुना करत संकर पहँ गई । 'सुता सनेह सँभारि' बेटी के स्नेह को सँभाले हुए हैं । कोई त्रुटि नहीं होने पावे । यदि ऐसे वर से व्याह हो गया तो माँ के प्रेम : वात्सल्य में त्रुटि समझी जायगी ।

नारद कर मैं काह बिगारा । भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा ॥
अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा । बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा ॥१॥

अर्थ : मैंने नारद का क्या बिगाड़ा था ? जिसने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ दिया । जिन्होंने उमा को ऐसा उपदेश दिया कि उसने पगले वर के लिए तप किया ।

व्याख्या : ऊपर जो रोदति वदति कहा है उसी का स्पष्टीकरण करते हैं । मैना कहती हैं कि नारद के उपदेश से मेरा सर्वनाश हो रहा है । जो किसी का कोई कुछ बिगाड़ता है तो उसके बदले में वह उसके उजाड़ने की चिन्ता करता है । मैंने तो नारद का कुछ बिगाड़ा नहीं । मेरा घर बस रहा था । सप्तर्षियों ने विष्णु से व्याह लगाया था । पर इन्हीं के उपदेश से मेरी बेटी दृढ़ रह गई । यथा : नारद

वचन न मैं परिहरऊँ। बसै भवन उजरै नहिं डरऊँ। नारद का कहा हुआ तप जहर हो गया। फल यह हुआ कि पागल वर मिला। नारद वर के दोष से परिचित थे। इन्होंने जानबूझकर ऐसा उलटा उपदेश दिया। भला तप ऐसा वर न मिलने के लिए होना चाहिए था न कि ऐसे वर के मिलने के लिए।

साँचेहु उनकें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया ॥
पर घर घालक लाज न भीरा। बाँझकि जान प्रसव कै पीरा ॥२॥

अर्थ : सचमुच उन्हें न मोह है और न माया है। वे उदासीन ठहरे। उन्हें न धन है, न घर है, न स्त्री है। दूसरे का घर बिगाड़नेवाले हैं। न उन्हें लज्जा है न डर है। भला वन्ध्या प्रसव की पीड़ा क्या जानें।

व्याख्या : नारदजी का माहात्म्य सुन रक्खा था : काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा। मोह का अर्थ अज्ञान भी है। प्रीति भी है। इसी भाँति माया का अर्थ प्रपञ्च भी है। दया भी है। यहाँ दूसरे अर्थ को लक्ष्य करके कहती हैं कि यह बात तो सच्ची है कि न इन्हें प्रेम है, न दया है। अज्ञान और प्रपञ्च न होने की वात जो जाने सो जाने। मैं तो नहीं देखती। जिसे धन, धाम और कुटुम्ब होता है उसे सब वेदना भी होती हैं। इन्हें कुछ नहीं उदासीन हैं। कोई शत्रु मित्र नहीं। हम लोग इतनी पूजा करते थे : इतना मान करते थे उसका कोई ख्याल नहीं किया।

सप्तर्षियों ने इन्हें ठीक पहिचाना था। उन महात्माओं ने स्पष्ट कह दिया था कि : नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह। सत्य केतु कर घर इन घाला। कनक कसिपु कर पुनि अस हाला। ये स्वभाव से ही परघरघालक हैं। हमारा घर भी ये ले बढ़े। लाज नहीं है कि ऐसा खोटा उपदेश मैं दे रहा हूँ। संसार मुझे क्या कहेगा। न डर है। हत्या के भरोसे खेत खाते हैं। इन्हें कोई कुटुम्व नहीं। ये कुटुम्वी के दुःख को नहीं समझ पाते। वन्ध्या भले ही और सव पीड़ा जानती हो पर प्रसव की पीड़ा कभी उसे हुई ही नहीं। उसे वह नहीं जान सकती। निगोड़े क्या जानें कि वाल बच्चों का दुःख किस भाँति मर्म को काटता है।

जननिहि विकल विलोकि भवानी। बोली जुत विवेक मृदुवानी ॥
अस विचारि सोचहि मति माता। सो न टरै जो रचै विधाता ॥३॥

अर्थ : माता को विकल देखकर भवानी विवेक से युक्त कोमल वाणी बोलीं : हे माता ! जो विधाता ने रच रक्खा है वह नहीं टल सकता। ऐसा सोचकर तुम सोच न करो।

व्याख्या : भवानी हैं भव की स्त्री। इनका शिवजी का नित्य सम्बन्ध है। सबको वर नापसन्द है पर इन्हें पसन्द है। देखा कि माँ विकल है तभी ऐसी वाणी का प्रयोग नारदजी के प्रति कर रही है। तप के लिए जाने के समय माँ को गद्गद कण्ठ देखकर सुखद मृदुवाणी बोली थीं। आज विकल देखकर : युत विवेक

मृदुवानी कह रही हैं। क्योंकि शोक का नाश ज्ञान ही से होता है। यथा : सोक निवारेउ सवहि कर निज विज्ञान प्रकास। इस समय महेश की प्रशंसा अपने मुख से अनुपयुक्त समझकर कहती हैं : सो न टरै जो रचै विधाता। अतः शोक करना व्यर्थ है। नारदजी ने पहिले ही कह दिया था। यह कोई नई वात नहीं है। नारदजी गुरु हैं। उन पर दोषारोपण नहीं सुन सकती। अतः कहती हैं।

करम लिखा जौं वाउर नाहू। तौ कत दोसु लगाइअ काहू ॥
तुम्ह सन मिटहिं कि विधि के अंका। मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥४॥

अर्थ : जो मेरे प्रारब्ध में बावला ही पति लिखा है तो क़िसी को दोष क्यों लगाथा जाय। क्या विधाता के अङ्क तुम्हारे मिटाये मिटेंगे? हे माता वृथा कलंक न लो।

व्याख्या : नारदजी ने कहा था : अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त अस रेख। तव नारदजी को दोष क्यों लगाती हो। उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि : कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार। अव वह विधि का लिखा जिसे देव दनुज नर नाग मुनि कोई नहीं मिटा सकता वह तुम्हारे मिटाए कैसे मिटेगा? तुम उसके लिए अपयश लेने को प्रस्तुत हो। यह तुम्हारी वृथा चेष्टा है।

छं. जनि लेहु मातु कलंकु करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुःखु सुखु जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं ॥
सुनि उमा वचन विनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
वहु भाँति विधिहि लगाइ दूषन नयन वारि विमोचहीं ॥
दो. तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषि सप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि, गवनें तुरत निकेत ॥९७॥

अर्थ : माँ! तुम अपयश मत लो। विवाद को छोड़ो। मौका नहीं है। जो दुःख सुख मेरे कर्म में लिखा है उसे मैं जहाँ जाऊँगी वहीं पाऊँगी। उमा के विनीत और कोमल वचनों को सुनकर सव स्त्रियाँ सोचने लगीं। और बहुत भाँति से ब्रह्मा को दोष लगाकर आँसू गिराने लगीं।

उसी समय इस समाचार को सुनकर हिमाचल, नारद ऋषि और सप्तर्षि के सहित तुरन्त घर गये।

व्याख्या : उमा ने माँ को समझाया कि यह अवसर करुणा का नहीं है। करुणा का अवसर तो तभी था जव कि नारद से पहिले पहल समाचार सुना। अब बारात आने पर करुणा करना अनवसर की करुणा है। इसे छोड़ो। अपयश लेना भी व्यर्थ है। होनहार होकर रहेगा। जब भाग्य में पागल वर लिखा है तो अच्छा चंगा आदमी भी व्याह के बाद पागल हो सकता है। नहीं तो पागल भी अच्छा

हो सकता है। अपने प्रारब्धानुसार सुखी घर में भी दुःख मिलता है। और दुःखी घर में भी सुख मिलता है। अतः प्रारब्ध प्रधान है। अशोच्य का सोच नहीं करना चाहिए। उमा के कोमल वचनं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि विचारधारा पलट गई। अब सब मिलकर ब्रह्मा को ही दोष दे रही हैं। और सोचती हैं कि ऐसी विनीत मृदुभाषिणी का व्याह पागल से होगा। अतः आँसू भी जारी है।

यह समाचार हिमाचल को मिला। बड़ा बेढङ्गा समाचार था। अतः तुरन्त घर गये। नारदजी को साथ लिया। बारात से सप्तर्षियों को बुलाकर साथ लिया। सप्तर्षियों ने बरेखी की है। और इस समय सप्तर्षियों पर श्रद्धा अधिक है। नारद शब्द का अर्थ ही अज्ञान नाशक है। अतः ये लोग सब मिलकर समझावें।

श्रीपति सुरपति विबुध बात यह सुनि सुनि।
हँसहिं कमल कर जोरि मोरिमुख पुनि पुनि॥ पा. मं.

तब नारद सबही समुझावा। पूरब कथाप्रसंगु सुनावा॥
मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥१॥

अर्थ : तब नारदजी ने सबको समझाया और पूर्व कथा का प्रसङ्ग सुनाया। उन्होंने कहा : मैना! मेरी सत्य वाणी सुनो : तुम्हारी बेटी जगत् की माँ भवानी है।

व्याख्या : नारदजी ने सब स्त्रियों को समझाया[1]। भगवती के स्वरूप का ज्ञान कराया और पूर्व जन्म की कथा कही। नारदजी बोले : मैना मेरी सत्य वाणी सुनो। सत्य वाणी का भाव यह कि पहिले मैंने इन बातों को गुप्त रक्खा था। पहिले की कही हुई वाणी में कौतुक का पुट था। सत्य बात तो यह है जिसे तुम बेटी समझे बैठी हो वह संसार की माँ है और भव : शिवजी की स्त्री है। इसलिए इसका नाम भवानी है।

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥२॥

अर्थ : यह कभी जन्म नहीं लेती। यह अनादि शक्ति है। इसका नाश नहीं होता यह सदा शम्भु के अर्द्धाङ्ग में निवास करती है। यह संसार की उत्पत्ति, पालन और लय करनेवाली है। और अपनी इच्छा से लीला के लिए शरीर धारण करती है।

---

[1] कवित्त : बावरी तू बावरो बतावे शिव शङ्कर को किङ्कर ह्वै जाके देव सेवत सुरेश हैं।
महिमा बखानै नेति नेति करि मानै भेद वेदहू न जानै गुन गावत रमेश हैं॥
तनया तिहारी ताको जानती प्रताप पति भाव तिनही में ताते धरत हमेश हैं।
सबके सुपासी आपु रहत उदासी भुक्ति मुक्ति जँह दासी ऐसे मालिक महेश हैं॥
सवैया : भूति विभूषन देइ विभूति कियो तिहुँलोक विभूषन दीनों,
आपु हलाहल पान कियो तब पाइ पियूष भये सुर पीनो।
व्याल कपाल धरे गजखाल कंगालन देत पटंबर झीनो,
बैल चढ़ो गजराज चढ़ावत जांचक को सजिसाज नवीनो।

व्याख्या : अजा हैं। इसलिए अनादि शक्ति हैं। अनादि होकर भी शान्त नहीं है। अविनाशिनि है। इस भाँति चिच्छक्ति रूपा कहा। तुमलोग इन्हें पृथक् देख रहे हो पर इस समय भी यह शिवजी के अर्धाङ्ग में निवास करती हैं। इन्हीं के कारण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होती है। यथा :

रचत विरंचि हरि पालत हरत हर तेरे ही प्रसाद जग अगजगपालिके।
तोहि में विकास विश्व, तोहि में विलास सब, तोहि में समात मातु भूमिधरबालिके ॥
कवितावली उत्तरकाण्ड १७३

यह स्ववश विहारिणि हैं। इसलिए अपनी इच्छा से लीला के लिए शरीर धारण किया है। कर्मपरतन्त्र होकर इनका जन्म जीवों की भाँति नहीं हुआ है। जो हो रहा हैं यह भी इनकी लीला है। इनपर बेटी की बुद्धि करना महा अज्ञान है। इस भाँति स्वरूपज्ञान कराके तब पूर्वजन्म की कथा कहते हैं।

जनमी प्रथम दच्छ गृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई ॥
तहँउ सती संकरहि बिवाही। कथा प्रसिद्ध सकल जगमाहीं ॥३॥

अर्थ : पहिले यह दक्ष के घर जाकर पैदा हुई थीं। तब इनका नाम सती था और इन्होंने सुन्दर शरीर पाया था। वहाँ भी सती शङ्करजी को ही व्याही थीं। यह कथा सारे जगत् में प्रसिद्ध है।

व्याख्या : तुम्हारे यहाँ जन्म के पहिले दक्ष के घर जन्म लिया था। तब सती नाम था। उस समय भी सुन्दर शरीर था। शङ्कर पूर्व जन्म के भर्ता हैं। सब संसार में यह कथा प्रसिद्ध है। तुम्हारा तो सती का बहुत साथ था। तुम बेटी की भाँति उस समय भी प्रेम करती थी। अतः तुम सब कथा जानती हो।

एक बार आवति सिव संगा। देखेउ रघुकुल कमल पतंगा ॥
भयउ मोहु सिव कहा न कीन्हा। भ्रम बस बेषु सीय कर लीन्हा ॥४॥

अर्थ : एक बार शिवजी के साथ आते हुए इन्होंने रघुकुलकमल के सूर्य को देखा। इन्हें मोह हो गया। शिवजी का कहना न माना और भ्रम में पड़कर सीताजी का रूप बना लिया।

व्याख्या : उमा चरित वर्णन में यह कथा आठ दोहों में : अड़तालिस सै पचपन : विस्तार से कही गई है। यहाँ एक अर्धाली में अति संक्षेप से दिखलाते हैं। पूर्व जन्म का अत्यन्त प्रेम दिखलाने के लिए तथा यह दिखलाने के लिए कि इनके जन्म का साफल्य ही शङ्कर से विवाह है। नारदजी यह कथा सुना रहे हैं :

छं. सिय बेष सतीं जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।
हर बिरहँ जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरीं ॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकरप्रिया ॥

दो. सुनि नारद के बचन तब, सब कर मिटा विषाद।
छन महुँ व्यापेउ सकल पुर, घर घर यह संवाद ॥९८॥

अर्थ : सती ने जो सीता का रूप धारण किया। इसी अपराध से शिवजी ने उन्हें त्याग दिया। शिवजी के वियोग से पिता के यज्ञ में जाकर योगाग्नि से भस्म हो गईं। अब तुम्हारे घर में जन्म लेकर अपने पति के लिए कठिन तप किया है। ऐसा जानकर सन्देह दूर करो। पार्वती सदा शङ्कर की प्यारी हैं।

नारद की बात सुनकर सबका विषाद मिट गया और क्षणभर में यह संवाद सारे नगर में घर घर फैल गया।

व्याख्या : छन्द के प्रथम दो चरणों में नव दोहों : पचपन से चौंसठ : का अति संक्षेप में वर्णन किया। यहाँ वह प्रसङ्ग देखने योग्य है। वही इसकी व्याख्या है।

भाव यह कि शिवजी तो इसके पति हैं ही। जिसके लिए इन्होंने इतना भारी तप किया। वे तुम्हें पागल समझ पड़ रहे हैं। यह तुम्हारा अज्ञान है। गिरिजा को ही सदा शङ्कर प्यारे नहीं हैं। शिवजी को भी गिरिजा सदा प्यारी हैं।

जिस रहस्य के खोलने में भगवती को सङ्कोच था उसे नारदजी ने खोल दिया। सप्तर्षि और स्वयं गिरिजा नारदजी की सत्योक्ति के साक्षी हैं। अतः सबका विषाद मिट गया। क्योंकि गिरिजा के दुःखी होने के भय से सब दुःखी हो रहे थे। उनको ही यह विवाह जब परम इष्ट है तब किसी को विषण्ण होने का कारण नहीं रह गया। गिरिजा के पहिले समझाने से विकलता घटी थी। अब विषाद मिटा। इस संवाद को नारदगीता भी कह सकते हैं।

तमाम नगर में आतङ्क फैल गया था। अतः इस संवाद के फैलने में देर न लगी।

तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि पुनि पारवती पद वंदे ॥
नारि पुरुष सिसु युवा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने ॥१॥

अर्थ : तब मैना और हिमवान् आनन्दित हुए। बार बार पार्वती के चरणों की वन्दना की। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध नगर के सभी लोग प्रसन्न हुए।

व्याख्या : मैना अत्यन्त दुःखी हो गई थी। अतः आनन्दित होने में पहिले उन्हीं का उल्लेख किया। हिमवान् ने यद्यपि धैर्य नहीं छोड़ा था पर वर को देखकर वे भी विषण्ण थे। अब नारदजी का व्याख्यान और सप्तर्षि तथा स्वयं उमा की मौनरूपेण स्वीकृति देखकर समझ गये कि उमा साक्षात् जगदम्बा है। शिवजी जगत् पिता हैं। अतः अपना सौभाग्य मानकर आनन्दित हुए और बार बार पार्वती के चरणों की वन्दना जगदम्बा दृष्टि से की। जगदम्बा की ओर से वन्दना का निषेध भी नहीं हुआ। नगर में कोई ऐसा न रहा जो यह सुनकर अति हर्षित न हुआ हो। इससे हिमवान् की प्रजापालकता कही। हिमवान् को आनन्द और प्रजा को हर्ष कहकर आनन्द और हर्ष का सूक्ष्म भेद दिखलाया। हर्ष की परिपक्वावस्था ही आनन्द है।

लगे होन पुर मंगलगाना । सजे सबहिं हाटक घट नाना ॥
भाँति अनेक भई जेवनारा । सूपशास्त्र जस कछु व्यवहारा ॥२॥

अर्थ : नगर में मङ्गलगान होने लगा और सबने अनेक प्रकार के सुवर्ण घट सजाये । पाक शास्त्रानुसार जैसा व्यवहार है अनेक भाँति की ज्यौनार हुई ।

व्याख्या : जब से बारात आई मङ्गलगान बन्द हो गया था । सुवर्ण के घट उठाकर लोगों ने घर के भीतर रख लिये थे । अब मङ्गलगान भी नगर में होने लगा । सुवर्ण के घट भी द्वार पर सजाये गये ।

बारात के सत्कार के लिए ज्यौनार हुई । देवता लोग बारात में आये हैं । अतः पाकशास्त्र के अनुसार भोजन की तैयारी हुई । चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय ये ही चार भाँति के भोजन हैं । यथा : चार भाँति भोजन विधिगाई । एक एक विधि बरनि न जाई । छरस रुचिर बिंजन बहु जाती । एक एक रस अगनित भाँती ।

सो जेवनार कि जाइ बखानी । बसहिं भवन जेहिं मातु भवानी ॥
सादर बोले सकल बराती । बिस्नु बिरंचि देव सब जाती ॥३॥

अर्थ : जिस घर में माता भवानी रहती हों वहाँ की ज्यौनार का क्या वर्णन किया जाय । आदर के साथ विष्णु, ब्रह्मा आदि सब जाति के देवता तथा सब बाराती बुलाये गये ।

व्याख्या : माँ अन्नपूर्णा जहाँ निवास करती हैं वहाँ की जेवनार का वर्णन नहीं हो सकता । वस्तुतस्तु माँ का दिया हुआ ही भोजन भोजन है । वह अमृत से भी मधुर है । शैलराज के यहाँ न ज्यौनार की कमी है न स्थान का सङ्कोच है । अतः सब बराती एक साथ बुला लिये गये । संसार में सर्वत्र और सब वस्तुओं में प्रकृति के अनुसार चार जातियाँ हैं । इसी भाँति देवताओं में भी चार जातियाँ हैं । अतः विष्णु, विरञ्चि आदि सब जाति के देवता बुलाये गये । सकल बराती से तात्पर्य यह कि भूत, प्रेत, पिशाच, निशिचर आदि भी बुला लिये गये ।

बिबिध पाँति बैठी जेवनारा । लगे परोसन निपुन सुआरा ॥
नारिबृंद सुर जेंवत जानी । लगी देन गारी मृदु बानी ॥४॥

अर्थ : अनेक पंगतें : पंक्तियाँ : बैठीं । चतुर सूपकार ज्यौनार परोसने लगे । स्त्रियाँ देवताओं को भोजन करते हुए जानकर कोमल स्वर से गाली गान करने लगीं ।

व्याख्या : भोजन करनेवालों की जाति के अनुसार अलग अलग पंक्तियाँ लगीं । ऐसे ऐसे स्थलों में ही परोसनेवालों की निपुणता देखी जाती है । अतः निपुण सूपकार : रसोइये : परोसने लगे । परोस जाने पर भोजन आरम्भ हुआ । तब स्त्रियों का सत्कार आरम्भ हुआ । मृदु स्वर में गाली गाने लगीं । यह देश की चाल है । उत्तर भारत में मङ्गल के समय में गालीगान होता है । अति आनन्द में मर्यादा भङ्ग को किसी सीमा तक स्थान दिया जाता है । श्रीगोस्वामीजी ने कहा है कि

अमिअ गारि गारयौ गरल गारि कीन्ह करतार। प्रेम वैर की जननि जुग जानहिं बुध न गँवार। जब क्रोध की गाली का बहिष्कार करने में सभ्य समाज नितान्त असमर्थ है तब प्रेम की गाली की ओर अधिक क्रूर दृष्टि रखने का कोई कारण नहीं है।

छं. गारीं मधुर स्वर देहिं सुंदरि बिंग्य बचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं॥
जेवँत जो बढ़ेउ अनंद सो मुख कोटिहूँ न परै कह्यो।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यो॥
दो. बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहुँ, लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिबाह कर, पठए देव बोलाइ॥९९॥

अर्थ: सुन्दरियाँ मधुर स्वर से गालियाँ देने लगीं। देव लोग भोजन में अत्यन्त देर लगा रहे हैं। और विनोद: मज़ाक: सुनकर सुख पा रहे हैं। जेवनार के समय जो आनन्द बढ़ा वह करोड़ों मुखों से नहीं कहा जा सकता। सबको हाथ मुँह धुलाकर पान दिया गया। जहाँ जिसका डेरा था वहाँ सब लोग चले गये।

फिर मुनियों ने आकर हिमाचल को लगन सुनाई। विवाह का समय जानकर देवताओं को बुलवा भेजा।

व्याख्या: व्यङ्ग वचन ही गाली है। प्रेम का व्यङ्ग अत्यन्त प्रिय होता है। अतः देवता लोग भोजन में जान बूझकर देर कर रहे हैं। यज्ञभुक् देवता लोग आज भोजन करने बैठे हैं। स्तुति के स्थान पर गाली हो रही है। उनके लिए गाली नई वस्तु है। सो प्रेम की गाली सुन सुनकर आनन्द बढ़ रहा है। यथा: समय सुहावन गारि विराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा। यह दृश्य देखकर लोग फूले नहीं समाते थे। अतः कहते हैं कि वर्णन नहीं हो सकता। भोजन के बाद हाथ मुँह धोना, और उसके बाद पान देना यही बारात का मुख्य सत्कार है।

व्याह मेष लग्न में सूर्योदय के समय होनेवाला था। अतः रात को बारात व्याह के पहिले ही जिमाई गई। रामजी का व्याह रात्रि के समय था। अतः बारात का अपने घर जिमाना दूसरे दिन हुआ।

प्रातःकाल के समय सप्तर्षि लोग लग्न सुनाने फिर आये। अर्थात् वर पक्ष से कहलाया गया कि बुलावा जल्दी भेजें। नहीं तो हिमवान् ने ही ऋषियों को बुलाकर लग्न स्थिर कराया था। उन्हें फिर से सुनाने की आवश्यकता क्या थी?

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहि जथोचित आसन दीन्हे॥
बेदी बेद बिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी॥१॥

अर्थ: सब देवताओं को आदर के सहित बुलवा लिया। और सबको यथायोग्य आसन दिये। वेदी वेद के विधान से बनाई गई। और स्त्रियाँ सुन्दर सुमङ्गल गान करने लगीं।

व्याख्या : यज्ञ में वेद मन्त्र से जिन देवताओं का आवाहन होता है वे आज आदमी भेजकर बुलवाए जाते हैं। कन्या पक्ष का इतना मान हैं क्योंकि दान दाता के अधीन है। अतः कन्यादान : विवाह में कन्या पक्ष का प्राधान्य है। और सब वस्तुओं में लौकिक कारीगरी दिखलाई गई। पर वेदी वेदविधान से बनाई गई : जिससे अशुद्ध न होने पावे। विवाह के प्रत्येक कर्म के लिए वैदिक मन्त्र हैं। और साथ ही सबके लिए मङ्गल गान हैं। जो समय समय पर स्त्रियाँ गातीं हैं।

सिंहासनु अति दिव्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥२॥

अर्थ : बड़े दिव्य सिंहासन पर जो ऐसा विचित्र बना था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ब्राह्मणों को प्रणाम करके, और हृदय में अपने प्रभु रघुनाथजी का स्मरण करके शिवजी बैठ गये।

व्याख्या : विष्टर के स्थान पर अति दिव्य सिंहासन दिया गया। जब मण्डप अति विचित्र बना है। यथा : अति विचित्र नहि जाइ बखाना : तब सिंहासन के लिए 'अति दिव्य सुहावा' 'जाइ न वरनि' कहना प्राप्त ही है। शिवजी ने पहिले विप्रों को प्रणाम किया। शिवजी भक्तिपथ के मुख्य आचार्य हैं और भक्तिपथ का प्रथम पाद विन्यास है। प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीति। तत्पश्चात् निज प्रभु रघुनाथजी का स्मरण करते हैं। जिनकी आज्ञा से इस विवाह में प्रवृत्त हुए हैं। अथवा यह विवाह कृत्य है अतः मङ्गल के लिए रघुनाथजी का स्मरण करते हैं। अथवा बार बार रघुनाथजी को सँभारने का स्वभाव है। यथा : मनमाधव को नेकु निहारिहि। सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों पुनि पुनि प्रभुहिं सँभारिहि।

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाईं। करि सिंगार सखीं लेइ आईं॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कवि को है॥३॥

अर्थ : फिर मुनियों ने उमा को बुलाया। शृङ्गार करके सखियाँ लिवा आईं। रूप को देखकर सब देवता मोह गये। संसार में ऐसा कवि कौन है। जो उस छवि का वर्णन कर सके।

व्याख्या : पद्धति के अनुसार समय पर उमा बुलाई गईं। अलङ्कृत कन्या के दान का विधान है। अतः शृङ्गार करके सखी ले आईं। अलौकिक सौन्दर्य है, लौकिक कवि की गति नहीं। वर्णन करने में समर्थ देवता लोग तो मोहित ही हो गये। शोभा के तरङ्ग के गहने की शक्ति किसी में नहीं थी। सांसारिक कवि किस आधार पर वर्णन करे। यथा : केहि छाया कवि मति अनुसरई।

जगदम्बिका जानि भव भामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा॥
सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु वदन वखानी॥४॥

अर्थ : जगदम्बिका को भव : शिवजी : की स्त्री समझकर देवताओं ने मन

ही मन प्रणाम किया। भवानी सुन्दरता की सीमा हैं। करोड़ों मुखों से भी वखानी नहीं जा सकती।

व्याख्या : रूप देखने पर मोह हुआ। प्रवोध होने पर प्रणाम किया। कर्मणा वाचा प्रणाम का उपयुक्त अवसर नहीं है। फिर भी जगदम्बा हैं, भवानी हैं, इसलिए मानसिक प्रणाम कहा। इन्हीं तक सुन्दरता की इतिश्री है। अब इससे उत्कृष्ट सुन्दरता नहीं है अतः अवर्णनीया हैं। 'कोटि मुख से वर्णन' कहने का भाव यह कि दस सहस्र शेष भी नहीं कह सकते। समानता के पदार्थ रहें तभी वर्णन सम्भव होता है।

छं. कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जग जननि सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंद मति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकहिं न सकुचि पतिपद कमल मन मधुकर तहाँ॥

दो. मुनि अनुसासन गनपतिहि, पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि, सुर अनादि जिअ जानि॥१००॥

अर्थ : जगजननी की महाशोभा का वर्णन करोड़ों मुँखों से भी नहीं किया जा सकता। वेद, शेष, सरस्वती भी कहने में सङ्कोच करती हैं। मन्दमति तुलसी की गणना ही क्या है। छवि की खानि भवानी शिव के पास मण्डप में गईं। सङ्कोच के कारण देख नहीं सकतीं। पर मनरूपी भौंरा तो पतिपदकमल में ही था।

मुनियों की आज्ञा से शम्भु और भवानी ने गणपति का पूजन किया। उनको अनादि देव समझकर कोई इस बात को सुनकर संशय न करे।

व्याख्या : औरों की शोभा है पर जगजननी की महाशोभा है। अन्य शोभाएँ उस महाशोभा की अंश कलाएँ हैं। वेद इस लोक के वक्ता, शेष पाताल लोक के वक्ता, सारद स्वर्गलोक की वक्ता हैं। उन्हें भी वर्णन करने में सङ्कोच है। क्योंकि तीनों लोकों में ऐसी शोभा है नहीं। फिर तुलसी किस गणना में हैं। किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः। जहाँ मन्दर डूबे जाते हैं वहाँ परमाणु की क्या गिनती हो सकती है। वरनै छवि से उपक्रम करके छविखानि से वर्णन का उपसंहार करते हैं। मन मधुकर चरणों में कब से लगा है प्राप्त होने पर देखने में सङ्कोच बाधक हो रहा है। भाव यह है कि शिवजी का सौन्दर्य कैसा था जिस पर त्रैलोक्यसुन्दरी उमा मुग्ध थीं। अंग-अंग पर उदितरूपमय पूषन। पा. मं.।

कर्मकाण्ड प्रारम्भ हुआ। शास्त्रमर्यादा पालन के लिए गणपतिपूजन हुआ। यथा : प्रथम पूजिअंत नाम प्रभाऊ। अतः मुनियों का अनुशासन शम्भु भवानी को मान्य है। गणपति पूजन किया। ये 'सुर' अनादि हैं। गणपति जन्म के पहिले भी गणपति पूजा होती थी। अथवा मन्त्रमयी मूर्ति तो सनातन है। इसलिए गणपति अनादि देव हैं। संशय करने से अकल्याण होगा। इसलिए निषेध करते हैं।

जसि विवाह कै विधि श्रुति गाई । महामुनिन्ह सो सब करवाई ।।
गहि गिरीस कुस कन्या पानी । भवहि समरपीं जानि भवानी ।।१।।

अर्थ : वेद ने विवाह की जैसी रीति वताई है वह सब महामुनियों ने करवाई। हिमाचल ने अपने हाथ में कुश लेकर कन्या के हाथ को : उसे : भवानी जानकर शिवजी को अर्पण किया।

व्याख्या : विवाह की जैसी वेदोक्त विधि है उसे ठीक ठीक वैसा ही महामुनियों ने सम्पन्न कराया। श्रीरामजी के विवाह में शाखोच्चार का उल्लेख किया। यथा : साखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं। यहाँ नहीं करते। क्योंकि यहाँ शाखोच्चार हुआ ही नहीं। यथा : साखोच्चार समय सब सुर मुनि विहँसहिं। शङ्कर ब्रह्मा से उत्पन्न, ब्रह्मा विष्णु से उत्पन्न, विष्णु शङ्कर से उत्पन्न। जो पुत्र वही प्रपितामह। इसलिए मुनि लोग हँस रहे हैं। अथवा स्वयम्भू हैं इसलिए शाखोच्चार की आवश्यकता ही नहीं है।

कन्यादान में हिमालय ने अपने को निमित्तमात्र माना। नारदजी से सुन चुके हैं कि गिरिजा सर्वदा संकर प्रिया। अतः त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। इस बुद्धि से दान किया। लक्ष्मीरूपां कन्यां विष्णुरूपाय वराय ऐसा संकल्प न होकर भवानीं भवाय इस रूप से संकल्प हुआ।

पानि ग्रहन जब कीन्ह महेसा । हिय हरखे तब सकल सुरेसा ।।
वेद मंत्र मुनिवर उच्चरहीं । जय जय जय संकर सुर करहीं ।।२।।

अर्थ : जब शिवजी ने पाणिग्रहण किया तब सब लोकपाल हृदय से हर्षित हुए। मुनिवर्यों ने वेदघोष किया। देवताओं ने जय जय जय शङ्कर का जयकारा लगाया।

व्याख्या : पाणिग्रहण के पहिले तक डर रहा कि बात बिगड़ने न पावे। परम विरक्त का व्याह है। इन्हें राजी करने में क्या क्या नहीं करना पड़ा। सब कुछ ठीक होने पर मैना ही मचल पड़ीं कि चाहे प्राण जाय व्याह न होने दूँगी। लोकपाल लोगों को आर्तिवश विश्वास नहीं हो रहा है। अंधरे को आँख मिले तब जानें : वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। अतः पाणिग्रहण होने पर ही विश्वास हुआ और तब हृदय से हर्षित हुए। अब डर नहीं रह गया।

पाणिग्रहण के समय उत्साह से भरकर मुनियों ने वेदध्वनि और देवताओं ने जयध्वनि की। आदि, मध्य, अन्त, सर्वकाल में शिवजी की जय हैं। अतः देवता लोग तीन बार जय शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

बाजहिं बाजा विविध विधाना । सुमन वृष्टि नभ भै विधि नाना ।।
हर गिरिजा कर भयउ बिवाहू । सकल भुवन भरि रहा उछाहू ।।३।।

अर्थ : अनेक प्रकार से बाजे बजने लगे। आकाश से नाना भाँति के फूलों की वर्षा हुई। शिव-पार्वती का व्याह हो गया। सारा संसार उछाह से भर गया।

व्याख्या : बाहर वाद्यध्वनि हो रही है। आकाश से सुमनवृष्टि हो रही है। वह भी नानाविधि से। फूलों की पंखुरियों की वृष्टि हुई। पूरे फूलों की वृष्टि हुई। कल्पवृक्ष के फूल बरसाये गये। मालाओं की वर्षा हुई। रंग-विरंगी फूलों की मालाएँ गिरीं। इत्यादि। शिव पार्वती के व्याह का प्रभाव देवलोक पर विशेषरूपेण पड़ा। अतः बार-बार पुष्पवर्षा हो रही है।

यह उत्साह इतना अधिक हुआ कि हिमालय संकीर्ण स्थल हो गया। उसमें उछाह समा नहीं सका, उमगकर सारे भुवन में भर गया। यथा : बहुत उछाह भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँओरा।

दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु वसन मनि वस्तु विभागा ॥
अन्न कनक भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥४॥

अर्थ : दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गौ, वस्त्र, मणि आदि वस्तुओं का विभाग, अन्न और सोने के बरतन गाड़ियों में भरकर दायज दिया जिसका वखान नहीं हो सकता।

व्याख्या : चतुरङ्गिणी सेना और वस्तु विभाग दिये। दासी-दास से पदाति कहा। तुरग रथ नाग से शेष तीनों अङ्ग कहे और भी तीन विभाग दिये : धेनु विभाग, वसन विभाग और मणि विभाग। अन्न सोने के बर्तनों में भरे हुए सो भी गाड़ियों में भर-भर कर दिये। हिमगिरि की सभी करणी अवर्णनीय है। ब्राह्म विवाह में धर्म, अर्थ, काम तीनों की सिद्धि होती है। पुत्रादि की उत्पत्ति से कुलधर्म की रक्षा होती है। अतः शिव पार्वती का ब्राह्म विवाह सम्पन्न हुआ।

छं. दाइज दियो बहुभाँति पुनि करजोरि हिम भूधर कह्यो।
का देउँ पूरन काम संकर चरन पंकज गहि रह्यो ॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोषु सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पद पाथोज मैना प्रेम परिपूरन हियो ॥

दो. नाथ उमा मम प्रानप्रिय, गृह किंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब, ह्वै प्रसन्न वर देहु ॥१०१॥

अर्थ : बहुत प्रकार के दहेज देकर फिर हाथ जोड़कर हिमाचल ने कहा। हे शङ्कर! आप पूर्णकाम हैं। मैं आपको क्या दे सकता हूँ : यह कहकर पाँव पकड़ लिये। कृपासागर शिवजी ने ससुर को सभी प्रकार से सन्तुष्ट किया। फिर प्रेमपूर्ण हृदय से मैना ने चरणकमल पकड़ लिये और बोलीं : हे नाथ! उमा मुझे प्राणों के समान प्यारी है। इसे घर की दासी बनाना। इसके समस्त अपराधों को अब क्षमा करते रहना। यही वर प्रसन्न होकर मुझे दो।

व्याख्या : इतना देने पर भी चित्त में दीनता है कि मैंने कुछ दिया नहीं। पूर्ण काम को कोई क्या दे सकता है। कुछ न देनेवाला श्रद्धालु जिस भाँति चरण पकड़

लेता है कि मैं किसी लायक नहीं उसी भाँति चरण पकड़ लिये कि हम क्या दे सकते हैं ? हमारे यहाँ तो आपकी पूजा के लिए विल्वपत्र भी नहीं है। हिमालयपर बिल्व वृक्ष नहीं होता।, शिवजी का स्वभाव है : सकत न देखि दीन कर ज़ोरे : क्योंकि कृपासागर हैं। इस समय हिमवान् और मैना का भाव श्वसुर और सास का सा देखकर ठीक दामाद की भाँति बरताव करते हैं। इसीलिए : ससुर कर सन्तोष सब भाँतिहिं कियो कहा। फिर मैना ने प्रेम परिपूर्ण हृदय से चरण पकड़ा। भाव यह कि मैना को भी पूर्ण श्रद्धा विश्वास और प्रेम श्रीचरणों में हो गया है।

गृहकिंकरी। कहने का भाव यह कि उमा सब गृहपरिचर्या करेगी। आपकी आज्ञा मानेगी। यथा : निजकर गृह परिचर्या करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई। नारदजी के मुख से सुन चुकी हैं कि : सिय वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी। इसलिए वर माँगती हैं :

छमेहु सकल अपराध अब : पहिले की भाँति परित्याग न करना।

बहु विधि संभु सास समुझाई। गवनीं भवन चरन सिरुनाई ॥
जननीं उमा बोलि तब लीन्हीं। लै उछंग सुन्दर सिख दीन्हीं ॥१॥

अर्थ : शिवजी ने बहुत भाँति से सास को समझाया। तब चरणों में प्रणाम करके घर गईं। फिर माँ ने उमा को बुलाया और गोद में बिठाकर सुन्दर शिक्षा दी।

व्याख्या : बहुत प्रकार से शिवजी ने सास को समझाया। ससुर का सन्तोष किया था क्योंकि उन्हें चिन्ता थी कि मैंने कुछ दिया नहीं। परन्तु सास को चिन्ता है कि एक बार त्याग कर चुके हैं। अपराध हो ही जाता है, कहीं फिर न त्यागें। अतः बहुत प्रकार से समझाना पड़ा। यथा :

दो. : मैं रिसात नहिं जो करै कोउ मेरो अपराध।
पै प्रिय विजयानद भगति पथमें परै न बाध॥
दुखित हृदय निरुपाय ह्वै कियो सती को त्याग।
पै मो मन ते घटेउ नहिं कबहुँ नेक अनुराग॥
सती अनादर ते कियों दक्ष महामख नाश।
तासु विरह दुःखदुःखित ह्वै तज्यौ वास कैलास॥
अब मोहिं हित करि कठिन तप लियो उमा मोहि मोल।
तापै आयसु स्वामिकी जाको मोल न तोल॥
प्रभु अनुशासन ते भयौ यह सम्बन्ध उदार।
होइहि नित कल्यान अब अभिमत फल दातार॥

इस भाँति समझाकर सास को भी सन्तुष्ट किया। वे भी प्रणाम करके गईं।

अब बिदाई की तैयारी है। अधिक स्नेह के कारण उमा को लेकर गोद में बिठाया। तप के लिए विदा करते समय भी इसी भाँति गोद में भी बिठाया था। यथा : उमहि बिलोकि नयन भरे वारी। सहित सनेह गोद बैठारी। बहुमान पुरःसर शिक्षा देती हैं जिसमें विस्मरण न हो और ससुराल जाकर वैसा ही बरताव

करें। माँ बाप का नाम न धरा जाय। यह चाल बराबर आज तक चली आती है।

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरम पति देव न दूजा ॥
वचन कहत भरे लोचन वारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥२॥

अर्थ : सदा शिवजी के चरणों की पूजा करना। नारियों का यही धर्म है। उनके लिए पति के सिवा दूसरा देवता नहीं है। बातें कहते कहते आँखों में आँसू भरकर कन्या को फिर छाती से लगा लिया।

व्याख्या : एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा। उसी स्त्रीधर्म की शिक्षा देती हैं। पति के दक्षिण अङ्गुष्ठ में सब तीर्थों का निवास है। पति ही एक मात्र देवता हैं। उन्हीं की पूजा से लोक परलोक दोनों बनता है। दूसरे धर्म, नियम, व्रत, उपवास का स्त्री को अधिकार नहीं। पति की आज्ञा से उसके कल्याण के लिए स्त्री नियम, व्रत, उपवास भी कर सकती है। सीताजी की विदाई के समय उन्हें शिक्षा दी गई थी कि : सास ससुर गुर पूजा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेऊ। पर यहाँ ऐसी शिक्षा नहीं दी जा रही है क्योंकि यहाँ तो सास, ससुर और गुरु तीनों का अभाव है।

उमा प्राणों से प्यारी है। अतः बार बार हृदय में लगा रही हैं। आँखों में आँसू भरा हुआ है। पहिले गोद में लिया। अब हृदय से लगाती हैं।

कत विधि सृजीं नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥
भै अति प्रेम विकल महतारी। धीरजु कीन्ह कुसमँ विचारी ॥३॥

अर्थ : कहने लगीं : ब्रह्मा ने संसार में स्त्रियों को क्यों बनाया ? पराधीन को स्वप्न में भी सुख नहीं है। माता प्रेम में अत्यन्त विकल हो गईं पर कुसमय जानकर धैर्य धारण किया।

व्याख्या : विधि प्रपञ्च, गुण और दोष मिलाकर बना है। इसमें सुख भी है और दुःख भी है पर स्त्रियों को तो स्वप्न में भी सुख नहीं है। मैना कहती हैं कि ब्रह्मा ने स्त्री को बनाया क्यों ? सपने में भी सुख न होने का कारण यह है कि उन्हें सदा पराधीन रहना पड़ता है। पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रास्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। कुमारावस्था में पिता रक्षा करता है। युवावस्था में भर्त्ता रक्षा करता है। बेटे वृद्धावस्था में रक्षा करते हैं। स्त्री में स्वतन्त्रता की योग्यता नहीं है। उनके शरीर का संगठन ऐसा है कि उन्हें सदा रक्षा की आवश्यकता रहती है। स्वतन्त्र रहने से वे बिगड़ जाती हैं। यथा : जिमि स्वतन्त्र ह्वै बिगरहिं नारी। उमा को विदा कर रही हैं। अतः स्त्रीजाति की परवशता पर आक्षेप करती हैं। माँ हैं : बेटी के विरह से अति विकल हो उठीं। मङ्गल के समय अति विकलता समयानुकूल नहीं है। इसलिए धैर्य धारण किया।

पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेमु कछु जाइ न बरना ॥
सब नारिन मिलि भेंटि भवानी। जाइ जननि उर पुनि लपटानी ॥४॥

अर्थ : बार बार भेंटने और उनके चरणों में पड़ने लगीं। परम प्रेम का कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। भवानी सब स्त्रियों से मिल भेंटकर फिर जाकर माँ को छाती से लिपट गईं।

व्याख्या : पुत्रीभाव से तो भेंटती हैं और जगदम्बा भाव से चरणों में गिरती हैं। अथवा परम प्रेम में कोई सुध बुध नहीं है। गले भी लगती हैं। पैर भी गिरती हैं। मिलि भेंटि शब्द का साथ ही प्रयोग होता है। अर्थ केवल आलिङ्गन करना है! अन्तिम विदा माता से लेनी है। अत: तीसरी बार जाकर माँ से फिर लिपट गईं।

छं. जननिहि बहुरि मिलि चलीं उचित असीस सब काहू दई।
फिरि फिरि बिलोकत मातु तन तब सखीलै सिव पहँ गई ॥
जाचक सकल संतोषि संकरु उमा सहित भवने चले।
सब अमर हरखे सुमन बरषि निसाननभ बाजे भले ॥

दो. चले संग हिमवंतु तब, पहुँचावन अति हेतु।
बिबिध भाँति परितोषु करि, बिदा कीन्ह बृषकेतु ॥१०२॥

अर्थ : फिर माता से मिलकर चलीं तब सबने उचित आशीर्वाद दिया। फिर फिरकर माता को देखती थीं। तब सखियाँ उन्हें शिवजी के पास ले गईं। महादेवजी सब मँगनों को सन्तुष्ट करके उमा के साथ घर चले। सब देवगण प्रसन्न होकर फूलों की वर्षा करने लगे और आकाश में खूब डंके बजे।

तब हिमाचल अत्यन्त प्रीति से पहुँचाने चले। शिवजी ने उन्हें बहुत भाँति से समझा बुझाकर विदा किया।

व्याख्या : सौभाग्यवती भव : पुत्रवती भव। यही समयोचित आशीर्वाद है। सो सब लोगों ने दिया। माता पर बड़ा प्रेम है अत: घूम घूमकर देखती हैं। माँ बाप और मैके का इतना प्रेम होता है कि पतिपदकमल में मन मधुकर के रहने पर भी उनका विरह दु:खदायक हो रहा है। बिछोह की व्यथा का बढ़ना ठीक नहीं। अत: सखी शिवजी के पास लिवा ले गईं।

शिवजी : उमा सहित भवने चले। दायज की कोई वस्तु साथ नहीं है। सब याचकों को दे दी गई। विदाई के समय फिर डंका बजा। तीसरी बार फिर पुष्पवृष्टि हुई। देवताओं का मनोरथ पूर्ण हुआ। अत: बड़ा उत्साह हुआ है।

सीमान्त तक पहुँचाने की विधि है। अत: हिमाचल शिवजी को पहुँचाने चले। शैलराज को अत्यन्त प्रेम है। अत: शिवजी ने बहुत परितोष दिया तब फिरे : प्रेम के कारण फिरते ही न थे।

तुरत भवन आए गिरि राई। सकल सैल सर लिये बोलाई ॥
आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह भगवाना ॥१॥

अर्थ : तब हिमाचल तुरन्त घर आये। सब पर्वतों और सरोवरों को बुलाया। आदर, दान, विनय और बहुत सम्मानपूर्वक हिमवान् ने सबको विदा किया।

व्याख्या : लड़की की विदाई के बाद पहिला काम नेवतहरियों : मेहमानों को विदा करना है। सो सब बन, सागर, नदी और तालाब को जो नेवते में आये थे हिमवान् ने बुलाया और सबकी आदर, दान, विनय और सम्मान से विदाई की। कोई ऐसे भी होते हैं जो दान या विनय के पात्र नहीं हैं। पर आदर और सम्मान के सभी पात्र हैं। सम्मान दान सब दानों से बड़ा है। यथा : तुलसी कहत पुकारि के सुनहु सकल दै कान। हेमदान गजदान ते बड़ो दान सनमान। अथवा आने पर आदर, विदाई के समय दान और विनय फिर सम्मान से ग्रामसीमान्त तक पहुँचाना।

जबहिं संभु कैलासहि आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए ॥
जगत मातु पितु संभुभवानी। तेहिं सिंगारु न कहा बखानी ॥२॥

अर्थ : जब शिवजी कैलास आये तब सब देवगण अपने अपने लोक को चले गये। शम्भु भवानी जगत् के माता पिता हैं। इसलिए उनके शृङ्गार का वर्णन मैं नहीं करता।

व्याख्या : देवगण महादेव के आज्ञाकारी हैं। आज्ञा माँग माँगकर अपने अपने लोकों को गये। अतः इधर : आदरदान विनय बहु माना नहीं करते। विवाह के बाद शृङ्गाररस प्राप्त ही है। शम्भुशुक्रसम्भूत सुत की इस समय जगत् को बड़ी आवश्यकता थी। अतः शृङ्गार रस का विधान बड़े विस्तार से हुआ। जिसे देखकर भगवान् नन्दिकेश्वर ने कामशास्त्र की रचना की। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि उसके वर्णन का मुझे अधिकार नहीं है। क्योंकि शम्भु भवानी जगत् के माता पिता हैं।

करहिं विविध विधि भोग विलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥
हर गिरिजा विहार नित नयऊ। एहि विधि विपुल काल चलि गयऊ ॥३॥

अर्थ : विविध विधि से भोग-विलास करते हुए, अपने गणों के साथ कैलास में रहने लगे। हरगिरिजा का विहार नित्य नया हुआ और इस भाँति बहुत समय चला गया।

व्याख्या : प्रवृत्ति सदा शास्त्रीया होनी चाहिए। कामशास्त्र के अनुसार काम में प्रवृत्ति होने से यथार्थ सुख की उपलब्धि होती है और काम से चित्त भी समय पाकर उपरत हो जाता है। भोग-विलास की विधि जिसने कामशास्त्र नहीं देखा उसे क्या मालूम ? पशु की भाँति सन्तति उत्पन्न कर लेना दूसरी बात है। भोग-विलास की विस्तृत विधि है : कामशास्त्र में उसका उल्लेख है। गृहस्थ हो गये इसलिए कहते हैं : बसैं कैलासा।

नितनवविहार पर महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' काव्य लिख डाला परन्तु ग्रन्थकार ने इसे अनुचित समझकर दिग्दर्शन मात्र करा दिया। 'नित नयऊ' से भाव यह कि : सेवत विषय विवर्ध जिमि नित नित नूतन मार। इस प्रकार क्षण की भाँति बत्तीस वर्ष बीत गये।

तब जनमेउ षट वदन कुमारा । तारकु असुर समर जेहि मारा ॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । षन्मुख जन्मु सकल जग जाना ॥४॥

अर्थ : तब छः मुँहवाले पुत्र का जन्म हुआ । जिसने लड़ाई में तारकासुर को मारा । यह वात वेद शास्त्र और पुराण में प्रसिद्ध है । सारा संसार षडानन के जन्म का वृतान्त जानता है ।

व्याख्या : तब शम्भुशुक्रसम्भूत सुत का जन्म हुआ । रजोमिश्रण से देवासुरों का संहारकर्ता पुत्र उपजा । जन्म के वाद ही तारकासुर का वध कहा अर्थात् छठी के पहिले ही मारा । अति प्रसिद्ध होने से जन्म को विस्तार से न कहा । पण्डित, मूर्ख सभी यह कथा जानते हैं । पाँच मुखवाले पिता और एक मुखवाली माता से छः मुँहवाला पुत्र उत्पन्न हुआ ।

छं. जगु जान षन्मुख जन्मु कर्मु प्रताप पुरुषारथु महा ।
तेहिं हेतु मैं वृषकेतु सुन कर चरित संछेपहिं कहा ॥
यह उमा संभु विवाहु जे नर नारि कहहिं जे गावहीं ।
कल्यान काज विवाह मंगल सर्वदा सुखु पावहीं ॥

दो. चरित सिंधु गिरिजा रमन, वेद न पावहिं पारु ।
बरनै तुलसीदासु किमि, अति मतिमंद गवाँरु ॥१०३॥

अर्थ : षडानन : स्वामिकार्तिक के जन्म, कर्म, प्रताप और महापुरुषार्थ को सारा जगत् जानता है । इसलिए मैंने वृषकेतु के पुत्र का चरित्र संक्षेप में कहा है । इस उमाशम्भु विवाह को जो नर-नारी कहेंगे या गायेंगे वे कल्याण के कामों और विवाहोत्सवों में सदा सुख पायेंगे ।

गिरिजारमण शिवजी का चरित समुद्र है । उसका पार वेद नहीं पा सकते । अति मतिमन्द और गँवार तुलसीदास कैसे वर्णन कर सकता है ?

व्याख्या : केवल शम्भुशुक्रसम्भूत होना : जन्म । तारकासुरवध : कर्म । जन्म ग्रहण करते ही सुरसेनापति पद पर अभिषेक : प्रताप और उनकी शक्ति का किसी देवता से न उठना : महापुरुषार्थ है । वृषकेतु सुत कहकर पिता का सा महापराक्रम द्योतित किया । जिस वात को संसार जानता है उसे विस्तार से कहने में आनन्द नहीं होता । इसलिए संक्षेप में कहा । इस उमाशम्भु विवाह प्रसङ्ग में ग्यारह रुद्र संज्ञक छन्द इकट्ठे आये हैं । चार चौपाई समाप्त होते ही एक छन्द एक दोहा । यह क्रम पूरे प्रसङ्ग में हैं । फलश्रुति कहते हैं कि जो कल्याणकार्य विवाह मङ्गल में यह उमाशम्भु विवाह प्रसङ्ग गायेंगे या सुनेंगे वे सुख पायेंगे और जो सर्वदा सुनेंगे गायेंगे वे सर्वदा सुख पायेंगे । यह भवानीशङ्कर की वाङ्मयी पूजा का फल है । अतः वाङ्मयी पूजा भवानी शङ्कर की करके तव रामकथा आरम्भ होगी ।

सीतारमण के चरित्र की भाँति गिरिजारमण का भी चरित्र अपार है । तुलसीदास जी कहते हैं जिसकी बुद्धि मन्द और असंस्कृत है उसके लिए तो विशेष-

रूपेण अपार है। अतः वर्णन करते न बना, इसमें सन्देह नहीं। जीवों के लिए वेद ही सब कुछ है। जब उसी को पार नहीं मिलता तो तुलसीदास की गिनती ही क्या है ?

संगति वाक्य

संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुखु पावा ॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीरु रोमावली ठाढ़ी ॥१॥

अर्थ : शम्भु के रसयुक्त और सुहावने चरित्र को सुनकर भरद्वाज जी ने बहुत सुख पाया। कथा पर लालसा बढ़ी। आँखों में जल भर आया। रोमावली खड़ी हो गई।

व्याख्या : शम्भुचरित को सरस कहा क्योंकि वह रसयुक्त है। रस नौ होते हैं। सो सभी शम्भुचरित में हैं। १. शृङ्गार, यथा : करि शृंगार सखी लै आई। सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा। करहिं विविध विधि भोग विलासा। २. हास्य, यथा : देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। वरलायक दुलहिन जग नाहीं। विहँसे सिव समाज निज देखा। इत्यादि। ३. करुण, यथा : रोदति वदति वहु भाँति करुना करत संकर पहँ गई। ४. वीर, यथा : दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपकरि धनु सर गहा। ५. अद्भुत, यथा : इहाँ हिमाचल रचेउ विताना। अति विचित्र नहिं जाइ वखाना। इत्यादि। ६. रुद्र, यथा : विकट वेष जब रुद्रहिं देखा। ७. भयानक, यथा : अबलन्ह उर भय भयउ विसेखा। भागि भवन पैठी अति त्रासा। ८. वीभत्स, यथा : सब सद्य सोनित तन भरे। ९. निर्वेद, यथा : संकर सहज सरूप संभारा। लागि समाधि अखंड अपारा। 'सुहावा' से उपक्रम। यथा : सुनहु संभुकर चरित सुहावा। और 'सुहावा' से ही उपसंहार। यथा : संभुचरित सुनि सरस सुहावा। उमाचरित से सुख पावा और शम्भुचरित से अति सुख पावा।

कथा पर लालसा तो पहिले से ही थी। अव शम्भुचरित के श्रवण से बहुत बढ़ी। नयननीर रोमावलि ठाढ़ी से सात्त्विक भावोदय दिखलाया।

प्रेम विवस मुख आव न वानी। दसा देखि हरषे मुनि ग्यानी ॥
अहो धन्य तव जन्मु मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा ॥२॥

अर्थ : प्रेम विवस होने से मुख से वोली तक न निकली। दशा देखकर ज्ञानी, मुनि वहुत प्रसन्न हुए। कहने लगे : हे मुनीश ! तुम्हारा जन्म धन्य है। तुमको शिवजी प्राण के समान प्यारे हैं।

व्याख्या : वहु लालसा कथा पर बाढ़ी : से मानसिक दशा कही। नयननीर रोमावलि ठाढ़ी : से शारीरिक दशा कही। अब बचन की दशा कहते हैं कि प्रेम के वश होने से मुख से वाणी नहीं निकल रही है। ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्य को शिष्य का अत्यन्त प्रेम शङ्कर के चरणों में देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि मुझे रामचरित का परम अधिकारी श्रोता मिला।

भगवान् याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज जी को पहिले मुनि करके सम्बोधन किया था। यथा : सुनु मुनि मिटिहि विषाद। अब प्रेम में विभोर देखकर मुनीश कहते हैं। जिसे गौरीश प्राणसम प्रिय हों, उसी का जन्म धन्य है। क्योंकि :

सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न [1]सोहाहीं ॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन [2]एहू ॥३॥

अर्थ : शिवजी के चरणकमलों में जिन्हें प्रीति नहीं है वे रामजी को स्वप्न में भी अच्छे नहीं लगते। रामभक्त का लक्षण ही यही है कि शिवजी के चरणों में छलरहित प्रीति हो।

व्याख्या : व्यतिरेक मुख से शङ्कर के प्रेमी का ही रामप्रिय होना कहते हैं। 'सपनेहु' कहने का भाव यह कि किसी अवस्था में भी रामजी को प्रिय नहीं है। क्योंकि : प्रिय सम प्रिय सनेह भाजन सखि, प्रीतिरीति जगजानी। भूषन भूति गरल परिहरि कैं हर मूरति उर आनी। मज्जन पान कियो के सुरसरि कर्मनास जल छानी। पूंछ सो प्रेम विरोध सींग सो, एहि विचार हित हानी। कृष्ण गीतावली।

असाधारण धर्म का लक्षण कहते हैं। यहाँ भरद्वाजजी की परीक्षा ली गई कि लक्षित में लक्षण घटता है या नहीं। सो लक्षण घटा। विश्वनाथ के प्रेम में विभोर देखकर जान लिया कि रामभक्त हैं अतः कथा सुनने के अधिकारी हैं।

सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥
पनु करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई ॥४॥

अर्थ : शिवजी के समान रघुपति[3]व्रतधारी कौन है? जिन्होंने निष्पाप सती ऐसी स्त्री का त्याग किया। प्रण करके रघुपतिभक्ति दिखलायी। हे भाई! रामजी को शिवजी के समान कौन प्यारा है?

व्याख्या : प्रण करना और उसका निर्वाह करना ही व्रत है। यथा : अस व्रत

---

१. रामभक्तों के आदर्श शिवजी हैं। जिस भक्त को शिवजी प्रिय नहीं हैं वह अपने आदर्श से गिर गया। उसे भक्ति नहीं हो सकती। इसलिए आदर्शभ्रष्ट पुरुष रामजी को प्रिय नहीं हो सकता।

२. जिसे सच्चा प्रेम विश्वनाथ के चरण में नहीं है वह रामभक्त नहीं है। क्योंकि रामभक्त का लक्षण उसमें नहीं घटता।

३. रघुपति के चरणों में मनसा वाचा कर्मणा प्रेम करना और उसके सामने स्त्री, शरीर, पुत्र, धाम और धरणी को तृण समझना : यही रघुपति व्रत है, इसी व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शिवजी ने प्रण किया कि : एहि तन सती भेंट अब नाहीं। जैसे सत्यव्रत सत्य के ऊपर सब कुछ निछावर कर देते हैं। यथा : तनु तिय तनय धाम धनु धरनी। सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी। इसी भाँति रघुपति व्रतधारी शिवजी ने सती-सी स्त्री का रघुपति भक्ति के लिए परित्याग किया और जगत् को दिखला दिया कि रामभक्ति इसे कहते हैं।

तुम बिनु करै को आना। तुम बिनु अस व्रत को निर्वाहा। यहाँ आक्षेपार्थ प्रश्न है अर्थात् शिव सम रघुपति व्रतधारी कोई नहीं। किसी पाप के लिए नहीं भक्ति की मर्यादा स्थापन के लिए जिसने सती-सी पवित्र स्त्री का त्याग किया। यथा : जौ अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथ होइ अनीती। यदि कोई कहे कि सती ने मिथ्या कहा था अतः वे निष्पाप कैसे हुईं? सो भी ठीक नहीं क्योंकि उस समय सती अपने काबू में नहीं थीं। यथा : बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा। स्वयं शिवजी उन्हें परम पवित्र समझते थे। यथा : परम पुनीत न जाइ तजि।

रामजी की भक्ति दिखाने के लिए भक्ति पथ को अक्षुण्ण रखने के लिए सती के त्याग का प्रण किया। त्रैलोक्यसुन्दरी सती प्रिय नहीं भक्ति पथ को बनाये रखना जिसे प्रिय है उसके ऐसा रामजी को कोई प्रिय नहीं हो सकता। अतः शिव के प्रेम से ही जीव रामजी को प्रिय हो सकता है। दूसरा उपाय नहीं।

दो. प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित, बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त विकार ॥१०४

अर्थ : मैंने पहिले शिवजी का ही चरित्र वर्णन करके तुम्हारा भेद[1] समझ लिया, तुम सब दोषों से रहित रामजी के पवित्र सेवक हो।

व्याख्या : याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि शिवचरित कहकर देख लिया कि तुम में प्रेम उपजता है कि नहीं। तुम प्रेम में विभोर हो गये। रामभक्ति का असाधारण धर्म तुममें मिल गया। जैसा सोचा था कि : राम भक्त तुम मन क्रम बानी। सो परीक्षा करके देख लिया। तुम रामजी के शुचि सेवक हो। सपने में भी अपने सेवाधर्म से डिग नहीं सकते। और तुम्हारा प्रेम निश्छल है, किसी स्वार्थ से नहीं है।

मैं जाना तुम्हार गुन सीला। कहौं सुनहु अब रघुपति लीला ॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुखु मन मोरे ॥१॥

अर्थ : मैंने तुम्हारा गुण और शील जान लिया, अब रघुपति की लीला कहता हूँ, हे मुनि सुनो। आज तुम्हारे मिलने से जो सुख मेरे मन में हुआ सो कहा नहीं जा सकता।

व्याख्या : श्रोता सुमति सुसील सुचि कथा रसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। ये ही श्रोता के गुणशील हैं सो तुम्हारे में हैं। सुमति, यथा : संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा। सुसील, यथा : प्रेम विवस मुख आव न बानी। शुचि, यथा : दसा देखि हरखे मुनि ग्यानी। कथा रसिक, यथा : बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। हरिदास, यथा सुचि

---

[1] जिसकी अपने आदर्श पर प्रीति है, वही सच्चा अधिकारी है। राम भक्तों के आदर्श शिवजी हैं, उस आदर्श के चरित्र में जब इतनी प्रीति भरद्वाज जी को है, तब यह निश्चित है कि वे रामभक्ति के सच्चे अधिकारी हैं।

सेवक तुम राम के रहित समस्त विकार। अब रघुपति लीला कहूँगा सुनो। आसुरी सम्पत्तिवालों को सुनाने से उनका अकल्याण होता है। यथा : अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहनि जन सुखकारी। अतः कथा कहने के पहिले यह समझ लेना चाहिए कि इससे सुननेवाले की हानि तो नहीं होगी तब कथा कहनी चाहिए। सती पर बड़ी विपत्ति, कथा के अनादर से आई। यथा : रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। सती ने ध्यान नहीं दिया। कैलास पर भी कथा सुनने के समय विमान देखने लगीं।

उत्तम वक्ता मिलने से श्रोता को सुख तो होता ही है। पर योग्य श्रोता मिलने से वक्ता को भी बड़ा सुख मिलता है। किं पुनः रामभक्त के मिलने से। यथा : तुमहि न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्ह तुम दाया। अतः कहते हैं : कहि न जाइ जस सुखु मन मोरे।

राम चरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा ॥
तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥२॥

अर्थ : हे मुनीश ! रामचरित अत्यन्त असीम है। उसे सौ करोड़ शेष भी नहीं कह सकते तो भी जैसा मैंने सुन रक्खा है वैसा वाणी के पत्ति धनुष्पाणि प्रभु को स्मरण करके कहता हूँ।

व्याख्या : दीनघाट के वक्ता श्री गोस्वामीजी कह चुके हैं : कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा। मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई। अव कर्मघाट के वक्ता याज्ञवल्क्यजी भी प्रायः वही वात कह रहे हैं। उन्होंने कहा था : सारद शेष महेस विधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। और यहाँ कहते हैं : कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा। बात एक ही है नेतिनेति करके कहना भी सीधे-सीधे नहीं कह सकना ही है। भेद यही है कि भगवान् याज्ञवल्क्य यथाश्रुत कहने में समर्थ हैं। यथा : ते श्रोता वक्ता समसीला। सबदरसी जानहिं हरि लीला। दीनघाट के वक्ता यथाश्रुत कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं। यथा : किमि समझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ। तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परीं कछु मति अनुसारा। भाषावद्ध करव मैं सोई। भगवान् याज्ञवल्क्य गिरापति धनुष्पाणि प्रभु को स्मरण करके कथा आरम्भ करते हैं। रामसच्चिदानन्द की तीन शक्तियाँ हैं। सत् शक्ति : महालक्ष्मी। चित् शक्ति : महासरस्वती और आनन्द शक्ति : महाकाली। इस भाँति रामजी गिरापति हैं। अखण्डदण्डायमान कालरूपधनुष उनके हाथ में है अर्थात् जो बुद्धि और बल की परम सीमा हैं यथा : काल जासु कोदंड। वे ही कृपा करके वाणी का नृत्य हृदय में करा देंगे। धनुष्पाणि हैं विघ्नसमूह को दूर कर देंगे। अब रामजी का गिरापतित्व कहते हैं। यथा :

सारद दारु नारिसम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥३॥

अर्थ : सरस्वती कठपुतली के समान हैं। स्वामी अन्तर्यामी रामजी सूत्रधार हैं। जिस पर वे भक्त जानकर कृपा करते हैं उस कवि के हृदयरूपी आँगन में सरस्वती का नृत्य करा देते हैं।

व्याख्या : उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं। सो सबहिं में सरस्वती का भी अन्तर्भाव है। ये भी उस अन्तर्यामी प्रभु के हाथ की कठपुतली हैं। जिस भाँति सूत्रधार आड़ में रहकर पुतली नचाया करता है उसी भाँति रामगुसाईं दिखाई नहीं पड़ते और सरस्वती को भक्त कवि के हृदयरूपी आँगन में नचाया करते हैं। साधारण पुरुष केवल सरस्वती की क्रिया देखते हैं। याज्ञवल्क्य ऐसे जानकार जानते हैं कि सूत्रधार दूसरा ही है। जिसकी यह करामत है।

कवि होना अपने हाथ की बात नहीं है। यथा : शक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्म नक्षत्र में देइ विधातो। देह भर में हृदय ही नाचघर है। वहीं सरस्वती का नाच होता है। प्रभु सबके उर के अन्तर वसते हैं। अतः वाणी भी वहीं सरकार के सामने नृत्य करती है। और वे ही सूत्रधार की भाँति उसे नचाते हैं।

प्रनवौं सोइ कृपालु रघुनाथा। बरनौं विसद तासु गुन गाथा॥
परम रम्य गिरिवरु कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥४॥

अर्थ : उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को मैं प्रणाम करता हूँ। उन्हीं के निर्मल गुणों की गाथा वर्णन करता हूँ। गिरिश्रेष्ठ कैलास परमरमणीय है। वहाँ शिव-पार्वती सदा निवास करते हैं।

पहिले प्रभु का स्मरण किया। यथा : सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी। अब उन्हीं रघुनाथजी का वन्दन करते हैं। जिससे वे सरस्वती को प्रेरित करें। और मेरे हृदय में उनका नृत्य हो। तव निर्मल यश कहा जा सकता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कर्म : दक्षिण घाट के वक्ता हैं। अतः नचानेवाले की वन्दना करते हैं। अब पश्चिम घाट अर्थात् ज्ञानघाट की कथा प्रारम्भ होती है।

पहिले कथा के स्थान का वर्णन करते हैं। कैलास पर्वतों में श्रेष्ठ है और परमरम्य है। वहाँ शिव उमा का सदा निवास रहता है। यथा : जहँ वस संभु भवानि सो कासी सेइअत कस न। परन्तु राजा दिवोदास के समय में शिवजी के काशी छोड़ने की कथा सुनी जाती है। परन्तु कैलास में सदा निवास रहता है। अव उसका माहात्म्य कहते हैं।

दो. सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किंनर मुनिवृंद।
वसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥१०५॥

अर्थ : वहाँ सिद्ध, तपस्वी, योगी, देव, किन्नर, मुनिजन और सव पुण्यात्मा रहते हैं। और सुख के मेघरूप शिवजी की सेवा करते हैं।

व्याख्या : नर को वहाँ पहुँच नहीं है। नरयोनि पुण्य पाप दोनों के होने से

होती है, अतः वहाँ केवल पुण्यात्मा लोग शिवजी की सेवा के लिए बसते हैं। सांसारिकों का वहाँ जाना दुर्लभ है। बसने की तो कोई बात ही नहीं है।

हरिहर विमुख धर्मरत नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं ॥
तेहि गिरि पर वट विटप विसाला। नित नूतन सुंदर सब काला ॥१॥

अर्थ : जो हरि और हर के विमुख हैं और जिन्हें धर्म में प्रीति नहीं है वे मनुष्य स्वप्न में भी वहाँ नहीं जा सकते। उस पर्वत पर वट का बड़ा भारी पेड़ है। जो नित्य नया और सब काल में सुन्दर रहता है।

व्याख्या : कैलास का मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। और वहाँ सांसारिक प्रलोभन की कोई वस्तु भी नहीं है। अतः धर्म के चाहनेवाले अथवा हरिहर के चरण में प्रीति रखनेवाले ही प्राण की बाजी लगाकर वहाँ जा सकते हैं। दूसरे के मन में वहाँ जाने का संकल्प ही नहीं उठेगा। कैलास जाने का कोई स्वप्न भी नहीं देखता। यह बात स्पष्ट ही है। आसुरी प्रवृत्ति के लोगों को वहाँ जाने में अधिक सुविधा है। क्योंकि वे मद्यमांसादि के प्रयोग से उस भयानक शीत का सामना कर सकते हैं। पर उनका जाना न जाने के बराबर है। यही ठीक है कि वे नहीं जाते। क्योंकि उन्हें वहाँ सिवा हिम और पाषाण के कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। दिव्यप्रदेश के लिए दिव्यदृष्टि की आवश्यकता होती है। बिना सूर्य में संयम द्वारा दृष्टि प्राप्त किये कैलाश के दिव्यांश का, जिसका यहाँ वर्णन है दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता।

यह पर्वत इतना ऊँचा है कि बादल भी इसके कटि भाग तक नहीं पहुँचते। उससे ऊपर उनकी गति नहीं है। ऐसे उच्च पर्वत के ऊपर एक वटवृक्ष है। वह सब समय में सुन्दर रहता है और कभी पुराना नहीं होता। इससे उस वृक्ष का दिव्य होना कहा। क्योंकि पाञ्चभौतिक वस्तु सदा षडूर्मि : अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति के वशीभूत रहते हैं।

त्रिविध समीर सुसीतलि छाया। सिव विस्राम विटप श्रुतिगाया ॥
एक बार तेहि तर प्रभु गएऊ। तरु विलोकि उर अति सुख भएऊ ॥२॥

अर्थ : वहाँ शीतल मन्द सुगन्ध पवन चला करता है और उसकी छाया सुन्दर शीतल है। वेद उस पेड़ को शिवजी के विश्राम का विटप बतलाते हैं। एक बार प्रभु उस वृक्ष के नीचे गये। उसे देखकर उनके हृदय में बहुत सुख हुआ।

व्याख्या : उस हिममण्डित देश में त्रिविध समीर कहाँ ? शिव विश्राम विटप का यह प्रभाव है कि उसके तले त्रिविध समीर भी बहता है और छाया में भी उत्कृष्ट शीत या उष्णता नहीं रहती। महल से बाहर आकर, वटविटप के तले शिवजी गये। वृक्ष की रमणीयता देखिये कि उसे देखकर शिवजी को अत्यन्त सुख हुआ। उसके नीचे बैठने से शिवजी को विश्राम मिलता है। भाव यह कि ज्ञानघाट की कथा कैलास के ऊपर वटवृक्षतले हुई।

निज कर डासि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला ॥
कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा ॥३॥

अर्थ : अपने हाथ से व्याघ्राम्बर बिछाकर कृपालु शिवजी स्वाभाविक रीति से बैठ गये। शरीर कुंद के फूल, चन्द्रमा और शंख-सा गौर है। भुजाएँ लम्बी हैं, मुनिवस्त्र धारण किये हुए हैं।

व्याख्या : उस समय एकदम एकान्त था। कोई गण भी निकट नहीं था। स्वयं दासास्तपस्विनः। अतः अपने हाथ से ही व्याघ्राम्बर बिछाया। पहिले की भाँति पद्मासन लगाकर नहीं बैठे। यथा : बैठे बट तर करि कमलासन। बल्कि स्वाभाविक रीति से यथा सुख आसन से बैठे।

कुन्द से सुन्दरता, कोमलता, गन्ध और वर्ण कहा। इन्दु से प्रकाश तथा आह्लादकता कही। दर से दृढ़ता कही। प्रलम्बबाहु से विक्रम कहा। परिधन मुनीचीर से मुनिव्रत कहा।

तरुन[1] अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना ॥
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबिहारी ॥४॥

दो. जटा मुकुट सुरसरित सिर, लोचन नलिन बिसाल।
नीलकण्ठ लावन्यनिधि, सोह बालबिधु भाल ॥१०६॥

अर्थ : चरण लाल कमल के समान था और नखों की ज्योति भक्तों के हृदय का अन्धकार दूर करनेवाली थीं। साँप और भस्म के भूषणधारी, त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी का मुख शरत्काल के चन्द्रमा की छवि का हरण करनेवाला था।

शिर पर जटाओं का मुकुट और गङ्गाजी थीं। उनके बड़े-बड़े नेत्र कमल के समान थे। नीलकण्ठ लावण्य के भण्डार शिर पर द्वितीया का चन्द्र धारण किये हुए थे।

व्याख्या : तरुन अरुन अंबुज से मुनिमन मधुप का आश्रय कहा, अथवा ध्यान में सुखद कहा। उस कमलदल पर रत्नों की भाँति नखों की शोभा है। ध्याता के हृदयतम की निवृत्ति इन्हीं नखमणि की ज्योतियों से होती है।

भुजग भूति भूषन से वैराग्य कहा। त्रिपुरारी से सत्यसन्ध कहा। चन्द छविहारी से सौन्दर्य कहा। उनका चरित ही रसमय नहीं है मूर्ति भी रसमयी है। लावण्य निधि कहकर शृङ्गार, जटामुकुट कहकर हास्य, कृपालु कहकर करुणा, भुज प्रलंब कहकर वीर, नखद्युति भक्त हृदयतम हरना कहकर अद्भुत, त्रिपुरारि कहकर रौद्र, भूतिभूषण कहकर वीभत्स, भुजगभूषण कहकर भयानक, निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहि संभु कृपाला कहकर शान्तरस द्योतित किया।

---

[1] पूर्णोपमा।

अथवा जटामुकुट से तपस्वियों का राजा कहा । सुरसरित सिर से भक्तवत्सल, लोचन नलिन विशाल से सर्वद्रष्टा, नीलकण्ठ से आर्तिहर, लावण्यनिधि से छविधाम और बालविधु भाल से महिमाप्रद कहा ।

अथ शिवगीता

श्रीरामचरितमानस भरद्वाज जी के इस प्रश्न पर खड़ा है कि : रामु कवन प्रभु पूछहुँ तोहीं । कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोहीं । ऐसा ही प्रश्न भगवती हिमगिरिनन्दिनी ने शिवजी से किया था और शिवजी ने उसका समाधान किया था । उसी प्रसङ्ग को याज्ञवल्क्यजी ने उक्त प्रश्न के उत्तर में कह डाला । यही रामचरिमानस है । अपने संशय के उन्मूलन के लिए गिरिजा ने आठ प्रश्न किये । तत्पश्चात् बारह प्रश्न श्रीरामावतार के चरित्रवर्णन तथा भक्ति, ज्ञानादि विषयक किये एवं गिरिजा के बीसों प्रश्नों का उत्तर ही श्रीरामचरितमानस है । अन्त में भगवती ने यह भी विनय किया कि जो कुछ मुझसे पूछने में रह गया हो उसे भी छिपा नहीं रखिये । अर्थात् जानने योग्य जितनी बातें हैं वे सब गिरिजा ने पूछीं और शिवजी ने उत्तर दिया । परन्तु प्रथम चार प्रश्नों के उत्तर में ही गिरिजा का सब संशय जाता रहा और वे कृतकृत्य हो गईं । अतः मैं उतने ही अंश को शिवगीता कहता हूँ । अवतारवाद में जो कुछ कहना है उतने में सब कुछ कहा गया ।

श्रीगोस्वामीजी ने कहा है कि : नदी नाव पटु प्रस्न अनेका । केवट कुसल उतर सविवेका । अतः यह ज़ानना परमावश्यक है कि किस प्रश्न का कौन सा उत्तर है । गिरिजा बीस प्रश्न बराबर करती गईं और शिवजी ने भी सबका उत्तर क्रम से इकट्ठा ही दिया । उनमें से पहिले आठ के पृथक्करण में बड़ी कठिनता पड़ती है । यद्यपि श्रीग्रन्थकार ने प्रश्नों को पृथक् करने के लिए हरहु मोर अज्ञाना, कहहु इत्यादि प्रार्थनासूचक लोट् लकार का आठ बार बराबर प्रयोग किया । तथैव उत्तर में सुनहु, तजु आदि क्रियाओं का भी आठ बार प्रयोग किया है फिर भी हम जैसे अल्पज्ञों को प्रश्न उत्तर के मिलान में बड़ी कठिनता पड़ती है । अतः उनका मिलान नीचे दिया जा रहा है ।

प्रश्न	उत्तर
१. जौ मोपर प्रसन्न सुखरासी ।	१. धन्य धन्य गिरि राजकुमारी
जानिय सत्य मोहि निज दासी ।	गिरिजा सुनहु राम कै लीला ।
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना ।	सुर हित दनुज विमोहन सीला
कहि रघुनाथ कथा विधि नाना । १०७.२	१११. ५ से ११३ तक
२. जासु भवन सुर तरु तर होई ।	राम कथा सुन्दर करतारी
सहकि दरिद्र जनित दुखु सोई ।	सादर सुनु गिरिराजकुमारी
ससि भूपन अस हृदय विचारी ।	
हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी । १०७. ३.४	११२. १.२

प्रश्न	उत्तर
३. प्रभु जे मुनि परमारथ वादी। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ। १०७. ५ से १०८. १ तक	रामनाम गुन चरित सुहाए अस निज हृदय विचारि तजु संशय ११३. ३ से ११५
४. अज्ञजानि रिसि उर जनि धरहू। जेहि विधि मोह मिटै सो करहू। १०८. २	भजु रामपद से बोले कृपा निधान ११५ से १२० क तक
५. मैं वन दीख राम प्रभुताई। हरहु कृपा विनवौं कर जोरे। १०८. ३ से ५ तक	सुनु सुभकथा भवानि, रामचरितमानस विमल कहा भुसुंडि बखानि सुना विहग नायक गरुड़ १२० क
६. प्रभु मोहि तव बहुभाँति प्रबोधा। कहहु पुनीत रामगुन गाथा। १०८. ६ से ८ तक	सो संवाद उदार, जेहि विधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुन्दर सुखद॥ १२० ख
७. वंदौं पद धरि धरनि सिरु, विनय करौं कर जोरि। वरनहुँ रघुबर विसद जस, श्रुति सिद्धांत निचोरि॥ १०९	हरिगुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार, कहौं उमा सादर सुनहु॥ १२०
८. जदपि जोषिता नहि अधिकारी। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥ १०९. : १.३	सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए। विपुल विसद निगमागम गाए॥ १२०. १

यदि पाठक मिलान के अनुसार प्रश्न और उत्तर को मिला मिलाकर पढ़ेंगे तो उनको ग्रन्थ के समझने में बड़ा सुभीता होगा। और ग्रन्थकार की पण्डिताई पर चकित होना पड़ेगा कि जितनी बार कहहु कहकर प्रश्न है ठीक उतनी ही बार सुनहु कहकर उत्तर है। शिवजी ने पाँचों मुख से सुनहु सुनहु नहीं कहा है। प्रत्येक कहहु के उत्तर में सुनहु कहा गया है।

ग्रन्थकार में बीस बार ग्रन्थचिकीर्षा का कारण भी ये ही बीस प्रश्न मालूम पड़ते हैं।[1]

---

[1] १. भाषाबद्धमिदश्चंकार २. भाषाबद्ध करब मैं सोई ३. करिहौं नाइ रामपद माथा ४. करिहौं रघुपति कथा सुहाई ५. करहु कृपा हरि जस कहउँ ६. बरनउँ रामचरित चित चारू ७. सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा करउँ ८. बरनउ रघुबर विमल जसु ९. कहिहौं सोइ संवाद बखानी ०. भाषाबद्ध करवि मैं सोई ११. तस कहिहौ हिय हरि के प्रेरे १२. कहउँ कथा भवसरिता तरनो १३. कहब मै गाई। कथा प्रसंग विचित्र बनाई १४. वरनौं विसद रामगुन गाथा १५. करौं कथा हरिपद धरि सीसा १६ कहौं कथा सोई सुखद सोहाई १७. अब सोइ कहौं प्रसंग सब १८. करइ मनोहर मति अनुहारी १९. कह कवि कथा सुहाइ २०. कहउँ जुगल मुनिवर्यं कर मिलन सुभग संवाद।

बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरे सरीरु सांत रसु जैसें॥
पारवती भलि अवसरु जानी। गई संभु पहिं मातु भवानी॥१॥

अर्थ : काम के शत्रु बैठे हुए कैसे शोभित हैं जैसे शान्तरस शरीर धारण किये हुए हों। माता भवानी पार्वती अच्छा अवसर जानकर शम्भु के पास गईं।

व्याख्या : शिवजी काम के शत्रु हैं। उन्हें कामना नहीं है। उनका भोग विलास भी कामाभास है। सो भी देवताओं के कल्याण के लिए है। काम के रहते शान्ति नहीं मिलती। यथा : काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं। काम का शत्रु ही वस्तुतः शान्त हो सकता है। अतः धरे सरीर संतरस कहा। जिस समय गुरु एकान्त में अव्यग्र भाव से बैठे रहें वही प्रश्न के लिए अच्छा अवसर है। यही देखकर भवानी शम्भु के पास गईं। भवानी पर्वत की बेटी हैं। पर्वत परोपकारी होते हैं। यथा : संत विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन की करनी। अतः ये भी परोपकारी हैं। दूसरी बात यह कि लोक की माँ अपने बच्चों के कल्याण के लिए प्रश्न करेंगी। इसलिए पास गईं।

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। वामभाग आसनु हर दीन्हा॥
बैठीं सिव समीप हरखाई। पूरुब जनम कथा चित आई॥२॥

अर्थ : शिवजी ने प्रिया जानकर अत्यन्त आदर किया और वाम भाग में आसन दिया। शिवजी के पास हर्षित होकर बैठ गईं। पूर्वजन्म की कथा याद पड़ी।

व्याख्या : अभ्युत्थान देकर अत्यन्त आदर किया और अपने वाम भाग में बिठाया। नहीं तो परित्यक्त होने से जब सतीरूप में शिवजी के पास गई थीं तब न आदर ही हुआ था और न वाम भाग में आसन ही मिला था। यथा : जाइ सम्भु पद वन्दन कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा। अत्यन्त आदर से पति प्रसन्नता जानकर हर्षित हुईं। शिवजी के पास बैठ गईं। याद पड़ा कि पूर्वजन्म में इसी वटवृक्ष के नीचे मुझे सम्मुख आसन मिला था। अभ्युत्थान और वामभाग में आसन की प्राप्ति ही पूर्व जन्म की कथा के स्मृतिपथारूढ़ होने के कारण हुए।

पूर्व जन्म में भी लोकशिक्षा के लिए लीला की थी और इस जन्म में लोकहित के लिए रघुनाथकथा विषयक प्रश्न करेंगी।

पति हिय हेतु अधिक अनुमानी। विहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥
कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥३॥

अर्थ : पति के हृदय में अधिक प्रेम का अनुमान करके उमा हँसकर प्रियवाणी बोलीं। जो कथा सकल लोकहित करनेवाली है उसे हो शैलकुमारी पूछना चाहती हैं।

व्याख्या : अति आदर से पति के हृद्गत प्रेम के आधिक्य का अनुमान हुआ।

पूर्वजन्म की कथा की स्मृति से हँस पड़ीं। प्रियवाणी बोलीं। प्रियवाणी वही है जो सुननेवालों को अच्छी लगे।

लोक माता हैं। इसलिए सकल लोक हितकारिणी कथा पूछना चाहती हैं। अपना मोह, संशय और भ्रम प्रकट करना उनकी लीला है। मुख्य प्रयोजन श्री रघुनाथ कथा श्रवण से है।

उमा के प्रश्न

विस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद पंकज सेवा॥४॥

अर्थ : हे विश्वनाथ! हे मेरे नाथ! हे पुरारे! तीनों भुवनों में तुम्हारी महिमा विदित है। चर, अचर नाग, नर और देवता सब तुम्हारे चरण कमलों की सेवा करते हैं।

व्याख्या : सामान्यतः शिवजी सभी के नाथ हैं। पर विशेषतः उमा कहती हैं कि मेरे नाथ हैं। तीनों पुर जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति स्थान हैं उनका नाश करके आप तुरीय पद के देनेवाले हैं। अतः पुरारि हैं। इस भाँति सम्बोधन करके मनोरथ सिद्धि की प्रबल आशा द्योतित की। अब शुश्रूषा के लिए स्तुति करती हैं। आप तीनों लोकों के कल्याणकारक हैं। इसीलिए सर्वत्र आपकी महिमा प्रसिद्ध है। इस बात को स्पष्ट करती हैं। आप विश्वात्मा हैं। अतः स्थावर जङ्गम सब आपकी सेवा करते हैं। आप विश्वनाथ हैं। इसलिए पाताल निवासी नाग, मर्त्यलोक निवासी मनुष्य और स्वर्गलोक निवासी देवता सब आपके चरणों की सेवा करते हैं। यथा : सेइय सिवचरन सरोज रेनु। कल्यान अखिल प्रद कामधेनु।

दो. प्रभु समरथ सर्बग्य सिव, सकल कला गुन धाम।
जोग ग्यान वैराग्य निधि, प्रनतकल्पतरु धाम॥१०७॥

अर्थ : हे शिव! आप प्रभु हैं, समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं। सभी कलाओं और गुणों के धाम हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य के भण्डार हैं। आप का नाम प्रणतकल्पतरु है।

व्याख्या : प्रभु कहकर प्रभाव द्योतित किया। यथा : प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी। समर्थ से सर्वशक्तिमत्ता कही। सर्वज्ञ कहकर ज्ञान की निरतिशयता कही। सकल कला गुणधाम से विद्यापति होना और योग ग्यान वैराग्य निधि से जगद्गुरु होना द्योतित किया। प्रणतकल्पतरु नाम कहकर शिवजी को प्रणत के लिए कल्पवृक्ष कहा।

जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा विधि नाना॥१॥

अर्थ : हे सुखराशि! जो मुझ पर आप प्रसन्न हों और मुझे सचमुच निज दासी समझते हों तो हे प्रभो! रघुनाथजी की नाना विधि की कथा कहकर मेरे अज्ञान का हरण कीजिये।

व्याख्या : राशि से ही अन्न जाकर संसार में फैलता है। आप सुख की राशि हैं। आनन्द के एक मात्र स्रोत हैं। अज्ञान ही दुःख का मूल है। इसी से ज्ञान आवृत ढका रहता है। इसके नाश से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः इसके हरण में सुखराशिरूप आप ही समर्थ हैं। सो यदि आप मुझे सचमुच निज दासी जानते हों : मेरी माँ ने आपसे मेरे लिए कहा था : 'गृह किंकरी करेहुँ।' यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो मेरे अज्ञान को हरण करिये। महात्माओं की प्रसन्नता अमोघ होती है, व्यर्थ नहीं जाती। अज्ञानहरण का उपाय भी यही कहती हैं कि नानाविधि से श्रीरघुनाथजी की कथा कहकर अज्ञान हरण कीजिये।

जासु भवनु सुर तरु तर होई। सहिकि दरिद्र जनित दुखु सोई ॥
ससिभूषन अस हृदय विचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी ॥२॥

अर्थ : जिसका घर कल्पवृक्ष के नीचे हो क्या वही दरिद्र से उत्पन्न दुःख को सहे। हे चन्द्रभूषण ! हे नाथ ! ऐसा हृदय में विचारकर मेरे भारी मतिभ्रम को हरण कीजिये।

व्याख्या : आप अमितदानी कल्पवृक्ष हैं। यथा : प्रनत कल्पतरु नाम। आप जगद्गुरु हैं, संसार का अज्ञानं नष्ट करनेवाले हैं। और मैं आपकी छाया में रहनेवाली हूँ। मुझे मोहदरिद्र कैसे सताता है ? आप विचार करिये। इससे तो कल्पवृक्ष का अपयश होगा। आप शशिभूषण हैं : यमाश्रित्तो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते। आश्रित को जगत्वन्द्य बनानेवाले हैं। मेरे मतिभ्रम को दूर कीजिये। गुरु से पूछने पर ही ज्ञान होता है। अतः पहिले अज्ञान के दूर करने की प्रार्थना माया की आवरण शक्ति दूर करने के लिए की थी। और अब दूसरी प्रार्थना माया की विक्षेप-शक्ति भ्रम को दूर करने के लिए हो रही है। पहिले वस्तु का अज्ञान होता है। उसके बाद अन्यथा ज्ञान होता है। ये ही दोनों क्रमशः माया की आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति कहलाते हैं।

प्रभु जे मुनि परमारथ वादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥
सेष सारदा वेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुनगाना ॥३॥

अर्थ : हे प्रभो ! जो परमार्थवादी मुनि हैं वे रामजी को अनादि ब्रह्म बतलाते हैं। शेष, सारदा, वेद और पुराण सभी रघुपति का गुणगान करते हैं।

व्याख्या : जितने १. परमार्थवादी अर्थात् ब्रह्मवादी मुनि हैं उन सबका इस विषय में ऐकमत्य है कि रामजी अनादि ब्रह्म हैं। यथा : रामब्रह्म परमारथ रूपा। सुनहु राम तुम कहँ मुनि कहहीं। राम चराचर नायक अहहीं। भावार्थ यह कि अन्य विषयों में मतभेद रहता है। वह मुनि ही नहीं जिसका मत भिन्न न हो। नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। परन्तु राम के विषय में मतभेद नहीं है। २. शेष पाताल के वक्ता, ३. शारदा स्वर्गलोक की वक्ता हैं। ४. वेद और ५. पुराण मर्त्यलोक के वक्ता एवं तीनों लोक के वक्ता भी रघुपति के गुणों का गान करते हैं। इनमें भी ऐक्यमत है।

तुम पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग अराती ॥
रामु सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ॥४॥
दो. जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥१०८॥

अर्थ : हे काम के शत्रु ! आप भी दिन रात आदर पूर्वक राम राम जपा करते हैं। आपकी तत्परता इतनी बढ़ी हुई है कि विस्मृत होती ही नहीं। क्या अयोध्या के राजा के पुत्र ही राम हैं ? या कोई अज : जन्मरहित : निर्गुण और अलक्ष्यगतिके हैं ?

जो राजा के पुत्र हैं सो ब्रह्म कैसे हैं। जिनकी मति स्त्री के विरह में भोरी हो गई थी। उनके चरित्र को देख और महिमा को सुनकर मेरी बुद्धि बड़े चक्कर : भ्रम : में पड़ गई है।

व्याख्या : भवानी कहती हैं कि ६. आप विश्व के नाथ होकर काम के दाहक होकर सब भाँति भीति रहित होकर भी अनवरत रामधुन लगाये रहते हैं। आपको उसी में विश्राम मिलता है। ऐसे राम वही राजकुमार हैं या कोई दूसरे हैं। जिन्हें लोग अजन्मा निर्गुण और अलख कहा करते हैं। देखि चरित यथा : विरह विकल नर इव रघुराई। खोजत विपिन फिरत दोउ भाई।''मैंने चरित भी देखा कि स्त्री के विरह में विकल हैं। प्रभाव भी देखा। उनकी महिमा भी आप से सुनी कि वे ही ब्रह्म हैं। अपने भक्तों के लिए अवतार लिया है। फिर भी इन सब बातों का सामञ्जस्य नहीं बैठता। इस भाँति १. परमार्थवादी २. शेष ३. शारदा ४. वेद ५. पुराण ६. स्वयं शिवजी के सिद्धान्त पर भगवती उमा ने सन्देह किया।

जौ अनीह व्यापक बिभु कोऊ । कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥
अग्य जानि रिस उर जनि धरहू । जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ॥१॥

अर्थ : यदि कोई इच्छा रहित व्यापक ब्रह्म हों तो हे नाथ ! मुझे समझाकर कहिये। अनजान समझकर जी में क्रोध न कीजिये। जिस भाँति मेरा मोह मिटे वही कीजिये।

व्याख्या : 'कोई' अर्थात् इदम् रूप से अवर्णनीय, अनीह अर्थात् इच्छारहित वा निष्क्रिय, व्यापक अर्थात् सर्वत्र विद्यमान, विभु अर्थात् प्रभु। यहाँ ब्रह्म के तीन विशेषण देकर राम और ब्रह्म में भेद दिखलाती हैं। १. राम तो अवधनृपति के तनय हैं। २. स्त्री की इच्छा वाले हैं और ३. परिच्छिन्न हैं। वे ब्रह्म कैसे हो सकते हैं। यदि कहिये कि वे अवतीर्ण हुए हैं तो ब्रह्म में स्त्रीविरह से वैकल्य नहीं बन सकता। ये सब बातें मुझे समझाकर कहिये।

राम विषयिणी शङ्का करते हुए भगवती डर रही हैं कि शिवजी अप्रसन्न न हो जाँय, कि इसने इतना भोगा अब भी शङ्का नहीं गई, फिर वही बात पूछती है। इस पर कहती हैं कि मैं अज्ञ हूँ, मुझपर क्रोध न कीजिये। मैं बहुत दण्ड पा

चुकी। मैं वह विधि नहीं जानती, जिससे मोह मिट जाय। यदि कथा कहने के अतिरिक्त कोई विधि हो तो उसे ही काम में लाइये।

मैं वन दीख राम प्रभुताई। अति भय विकल न तुम्हहिं सुनाई ॥
तदपि मलिन मन बोधु न आवा। सो फलु भली भाँति हम पावा ॥२॥

अर्थ : मैंने वन में रामजी की प्रभुताई देखी। मैं अत्यन्त डर से व्याकुल थी, इसलिए आपसे नहीं सुनाया। फिर भी मेरे मलिन मन में ज्ञान न हुआ। उसका फल भी मैंने भली भाँति पाया।

व्याख्या : जो प्रभुता श्री रामजी की सती शरीर से देखी थी उसे अब स्पष्ट रूप से शिवजी से कह रही हैं। उस समय अतिभय से नहीं सुनाया था। इतना देखने पर तो बोध हो जाना ही चाहता था, फिर भी नहीं हुआ। इसका कारण मन का मालिन्य है। पहिले आवरण और विक्षेप कह चुकीं। अब मनोमल कहती हैं। अर्थात् अपने में माया की तीनों शक्तियाँ आवरण, विक्षेप और मल दिखलाया। अज्ञान का फल ही दुःख है। सो भली भाँति मैं पा चुकी। फिर भी दण्ड से अज्ञान पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ।

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा विनवौं कर जोरें ॥
प्रभु तब मोहि बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥३॥

अर्थ : हे नाथ ! मेरे मन में अब भी कुछ संशय है। आप कृपा करिये। मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ। हे प्रभो ! उस समय आपने मुझे बहुत तरह से समझाया था। उसे समझकर क्रोध न कीजिये।

व्याख्या : सती शरीर से जो दुःख उठाना पड़ा उससे कुछ फल न हुआ हो। यह बात नहीं है। बहुत कुछ अज्ञान और भ्रम दूर हुआ। पर उसका लेश यत्किञ्चित् संशयरूप में वर्तमान है। आपकी कृपा से वह भी मिटे। तब सीताजी के विरह में विकल रामजी को देखने पर मुझे आपने बहुत समझाया था। यथा : लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिव बार बहु। अतः क्रोध करने के लिए यथेष्ट कारण है।

तब कर अस विमोह मोहिं नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माँहीं ॥
कहहु पुनीत राम गुन गाथा। भुजगराज भूषन सुरनाथा ॥४॥

अर्थ : अब पहिले जैसा विमोह नहीं है। रामकथा पर मन में रुचि है। हे भुजगराजभूषण ! हे सुरनाथ ! रामजी के गुणों की पवित्र गाथा कहिये।

व्याख्या : परन्तु उस समय मुझे विमोह था। रामकथा पर रुचि नहीं थी। अगस्त्यजी ने रामकथा कही पर मैंने ध्यान नहीं दिया। यथा : रामकथा मुनिवर्य बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी। अब भीतर से कथा सुनने को रुचि है। अतः शङ्का कर रही हूँ। आप भुजगराजभूषण हैं। भुजगराज स्वयं रामकथा के वक्ता हैं। यथा : सुकसनकादि सेष अरु सारद। बरनि पवनसुत कीरति नीकी। आप

सुरनाथ हैं। आपने अपने आश्रितों की रक्षा के लिए कृपा करके विषपान कर लिया था। यथा : जरत सकल सुर बृंद, विषम गरल जेहि पान किय। आप मुझपर कृपा करिये और पवित्र रामगुणगाथा कहिये।

दो. बंदौ पद धरि धरनि सिरु, विनय करौं कर जोरि।
बरनहु रघुबर बिसद जसु, श्रुति सिद्धांत निचोरि ॥१०९॥

अर्थ : मैं पृथ्वी पर सिर रखकर आपके चरणों को प्रणाम करती हूँ। और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि आप वेदों के सिद्धान्त को निचोड़कर रघुवर का निर्मल यश वर्णन कीजिये।

व्याख्या : अति लालसा कथा सुनने की है। अतः धरणी पर सिर रखकर वन्दन करती हैं और हाथ जोड़कर रघुवर विमलयश सुनने के लिए विनय करती हैं। सो रघुवर विमलयश तो वेद वर्णन करते हैं। यथा : जिनहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुवर विसद जस। और वेद का अन्त नहीं है। यथा : 'अनन्ता वै वेदाः' भरद्वाज। अतः कहती हैं कि वेद में से उसके सिद्धान्त को निचोड़कर कहिये। अर्थात् उसका सार : भजनोपयोगी अंश रघुवरयश कहिये। यथा : श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिअ राम सब काम बिसारी।

जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥
गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥१॥

अर्थ : यद्यपि स्त्री अधिकारिणी नहीं हैं। पर मैं तो मन, कर्म, वचन से आपकी दासी हूँ। साधु लोग जब आर्त अधिकारी पाते हैं तो गूढ़ तत्त्व को नहीं छिपाते।

व्याख्या : स्त्रियों का वेद के सिद्धान्तों में अधिकार नहीं है। अर्थित्व तथा सामर्थ्य न होने पर अधिकार नहीं होता। केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकार का कारण नहीं होता। शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की अपेक्षा होती है। अतः शास्त्रीय सामर्थ्य न होने से वेद में स्त्री का अधिकार नहीं है। पर भगवती कहती हैं कि मैं तो वेदस्वरूप आपकी मनसा वाचा कर्मणा दासी हूँ। अर्थात् सदा आपके अर्धाङ्ग में निवास करनेवाली हूँ। औरों को न हो पर मुझे शास्त्रीय सामर्थ्य कैसे नहीं है ? दूसरी बात यह है कि आर्त होने से भी मैं अधिकारिणी हूँ। नियम यह है कि जिस पर जिसका सत्य स्नेह हो वह उसको मिलना चाहिए। यथा : यत् यत्कामयते तत्तल्लभते ! अतः साधु लोग आर्त अधिकारी से गूढ़ तत्त्व को भी नहीं छिपाते हैं और मैं आर्त हूँ।

अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया ॥
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ॥२॥

अर्थ : हे देवताओं के राजा ! मैं अत्यन्त आर्त होकर पूछती हूँ। रघुवर की

कथा दया करके कहिये। पहिले उस कारण को विचारकर कहिये जिससे निर्गुण ब्रह्म ने सगुण शरीर धारण किया।

व्याख्या : मैं आर्त हूँ और आप सुरराय हैं। दैवसर्ग के प्रभु हैं। और 'दया में बसत देव सकल धरम' : वि. प.। अतः दया करके रघुपतिकथा कहिये।

पहिले यह विचारकर कहिये कि निर्गुण ब्रह्म को सगुण शरीर धारण करने का कौन सा कारण आ पड़ा? पूर्णकाम को प्रयोजन नहीं हो सकता। सत्यसंकल्प को शरीरधारण की आवश्यकता नहीं हो सकती। इसलिए इसका कारण कहिये।

पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बाल चरित पुनि कहहु उदारा॥
कहहु जथा जानकी बिवाही। राज तजा सो दूषन काही॥३॥

अर्थ : हे प्रभो! फिर आप राम का अवतार कहिये। फिर उदार बालचरित कहिये। फिर जैसे जानकी से व्याह किया सो कहिये। किस दोष से राम का त्याग किया?

व्याख्या : प्रयोजन कहने के बाद, रामजी कैसे अवतीर्ण हुए? भाव यह कि सभी अवतारों के अवतीर्ण होने की विधि पृथक् पृथक् है। नृसिंह भगवान् खम्भे से अवतीर्ण हुए। वाराह ब्रह्मदेव की नासिका से उत्पन्न हुए। सो रामजी कैसे अवतीर्ण हुए और क्या क्या हुआ?

बालचरित को उदार कहा। क्योंकि इस चरित में दासों को अधिक आनन्द मिलता है। यथा : बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा। भुसुण्डीजी पाँच ही वर्ष तक प्रभु के साथ रहते हैं। सो बालचरित कहिये।

'जानकी बिवाही' से भाव यह कि माता-पिता ने कन्या देखकर विवाह नहीं किया। अपने पुरुषार्थ से श्रीरामचन्द्र ने जानकी व्याही। सो वह कथा कहिये। राज्य के लिए संसार में लोग क्या नहीं करते। सो राज्य में क्या दूषण था। जो उसे छोड़कर वन में घूमते फिरे।

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुख लीला॥४॥

अर्थ : हे नाथ! फिर उन्होंने वन में बसकर जो अपार चरित किये तथा जिस भाँति रावण को मारा सो कहिये। हे सुखशील शङ्कर! आप सो सब कहिये जो जो उन्होंने राज्य पर बैठकर बहुत सी लीलाएँ कीं।

व्याख्या : यहाँ वनवास का चरित और रावणवध दोनों एक साथ पूछती हैं। क्योंकि दोनों में एक ही क्रिया 'कहहु' प्रयुक्त है। अतः प्रश्न का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भाग हुआ। वनवास के चरित को अपार कहती हैं। क्योंकि वे स्वयं उस चरित का पार न पा सकीं। अतः पूछती हैं। 'जिमि रावन मारा' का भाव यह कि रावन के मारने की विधि पूछती हैं इसका मारना बड़ा कठिन था। दुर्गम स्थान में निवास, मेघनाद कुम्भकर्ण प्रभृति से रक्षित, स्वयं तपस्या वरदानादि से अजेय। सिर कटने पर भी न मरना आदि ऐसी अनेक अनेक बातें थीं। बिधि बिपरीत चरित सब करई।

जनकनन्दिनी भी त्रिजटा से इसके मरने की विधि पूछने लगीं : कि केहि विधि मरिहि विस्वदु:खदाता । सो उसके मरने की विधि बताइये ।

राजगद्दी पर बैठकर जितनी लीलाएँ कीं । सो सब कहिये । 'सुखशील' कहने का भाव यह कि रामराज्य से ऐसा सुख हुआ कि आजतक भारत उसे भूलता नहीं । जब बहुत सुख मिलता है तब लोग कहते हैं कि रामराज्य है । आप सुखशील हैं । ऐसे सुख की सब कथा कहिये ।

दो. बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम ।
प्रजा सहित रघुवंसमनि, किमि गवने निज धाम ॥११०॥

अर्थ : हे कृपायतन ! रामजी ने जो आश्चर्य का काम किया : रघुवंशमणि प्रजा सहित अपने धाम को गये । सो कैसे ? यह भी कहिये ।

व्याख्या : प्रजा प्रेम की परकाष्ठा हो गई । सम्पूर्ण प्रजा को कैसे अपने साथ निज धाम ले गये ? 'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ।' कर्म की विचित्रता से ही सृष्टि में वैचित्र्य है । सबका कर्म एक साथ ही कैसे समाप्त हुआ ? जो सबके सब मुक्त हो गये । जहाँ जाकर नहीं लौटते वही प्रभु का धाम है । यथा : यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी । जेहि बिग्यान मगन मुनिज्ञानी ॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा । पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ॥१॥

अर्थ : हे प्रभो ! फिर आप उस तत्त्व का वर्णन कीजिये जिस विज्ञान में ज्ञानी मुनि लोग मग्न रहते हैं । फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य सभी को विभागों के साथ कहिये ।

व्याख्या : उस तत्त्व के विषय में भवानी प्रश्न करती हैं जिसका नाम नहीं है और जिसके अनुभव में ज्ञानी मुनि मग्न रहते हैं । सगुण विषयक प्रश्न करके अब शुद्ध निर्गुणरूप पूछती हैं । सिद्धि विषयक बातें पूछकर अब साधन के विषय में पूछती हैं कि भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य को विभाग के सहित वर्णन कीजिये । भाव यह कि चारों साधन पृथक् होने पर भी परस्पर उपकारी हैं । एक की प्रधानता में दूसरे गौण होकर रहते हैं । अतः विभाग के सहित सुनने के लिए प्रश्न किया ।

औरौ राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई । सोउ दयाल राखहु जनि गोई ॥२॥

अर्थ : हे अति निर्मल ज्ञानवाले नाथ ! रामजी के और जो रहस्य हैं उन्हें वर्णन कीजिये । हे दयालु ! जो बात मैंने न पूछी हो उसे भी गोप्य न रखिये ।

व्याख्या : जितनी भाँति की माया हैं उन सबमें रहस्य होता है । उस रहस्य के जानने से वह माया समझ में आजाती है । सो सबसे प्रबल राम की माया है । यथा : सुनु खग प्रबल राम की माया । उस माया का रहस्य ही राम का रहस्य

है। उसके जानने से राम माया का पता चलता है। अतः उसके जानने की बड़ी आवश्यकता है जिसके सामने महेश के उपदेश का बल नहीं चलता। यथा : लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले विहँसि महेस हरिमाया बल जानि जिय। वह माया भी एक प्रकार की नहीं है। उमा का स्वयं अनुभूत विषय है। एक माया ने उन्हें मोहित किया था। और दूसरी ने अनेक ब्रह्माण्ड ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित पलभर में रचे। यह दो प्रकार की माया तो उनकी स्वयं अनुभूत थी। अतः रहस्य भी कम से कम दो होने चाहिए। इसलिए रहस्य अनेका कहती हैं।

भवानी कहती हैं कि इतनी बातें तो मैं जानना चाहती हूँ। इनके अतिरिक्त जो जो बातें मेरे लिए उपकारी हों और मैं उन्हें पूछ न सकी हूँ उन्हें भी आप कहिये। इसीलिए 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' पर ध्यान न देकर उन्हें गोप्य न रहने दीजिये। यह प्रश्न है।

तुम त्रिभुवन गुरु वेद वखाना। आन जीव पावँर का जाना ॥
प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल विहीन सुनि सिव मन भाई ॥३॥

अर्थ : वेद ने बतलाया है कि आप तीनों लोकों के गुरु हैं। दूसरे पामर जीव क्या जानते हैं। उमा के स्वाभाविक सुन्दर और छलरहित प्रश्नों को सुनकर शिवजी प्रसन्न हुए।

व्याख्या : भवानी कहती हैं कि आप सब उत्तरों के देने में समर्थ हैं क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। वेद आपको त्रिभुवनगुरु कहता है। अन्य लोग तो जीव हैं। अल्पज्ञ हैं। स्वयं अज्ञान में पड़े हैं। दूसरे का अज्ञान क्या हटा सकते हैं।

इन प्रश्नों में बनावट का नाम नहीं है। स्वभाव से ही सुन्दर हैं। बात को स्पष्ट करने के लिए हैं। अतः छल विहीन कहा। क्योंकि बनावट ही छल है और छलयुक्त प्रश्न के उत्तर देने का विधान नहीं है।

हरहिय राम चरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए ॥
श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा ॥४॥

अर्थ : महादेवजी के हृदय में सब रामचरित्र आगये। प्रेम से रोमाञ्च हुआ। आँखें डबडबा आईं। श्रीरघुनाथ का रूप हृदय में आगया। अतः परम आनन्द और असीम सुख पाया।

व्याख्या : प्रश्न अच्छे लगे। अतः उत्तर रूप में सम्पूर्ण रामचरित हृदय में उदय हो उठा। सात्त्विक भाव हुआ। पहिले चरित्र का उदय हुआ। तब रूप का उदय हुआ। अर्थात् पहिले सात्त्विक भाव हुआ था। अब रूप के उदय से परमानन्द हुआ। परमानन्द में सुख की इयत्ता ही नहीं रह जाती। यही स्थायी भाव है।

दो. मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन वाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तव, हरखित वरनै लीन्ह ॥१११॥

अर्थ : शिवजी दो घड़ी तक ध्यान के रस में मग्न रहे। फिर मन को बाहर किया। तब प्रसन्न होकर महेश रघुपतिचरित वर्णन करने लगे।

व्याख्या : ध्यानजनित सुख में दो दण्ड तक मग्न रहे। यथा : जाग न ध्यान जनित सुख पावा। मन अन्तर्मुख होकर सुख ले रहा था। बहिर्मुख होना नहीं चाहता था। पर महेश ने उसे दो दण्ड के बाद बहिर्मुख किया। ढाई दण्ड का एक घण्टा होता है। अतः अड़तालिस मिनट का दो दण्ड हुआ और तब रामचरित हर्षित होकर वर्णन करने लगे। समाधि के आनन्द से भी रामचरित कथन के आनन्द को अधिक माना। यथा : सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी।

भावार्थ यह कि कथा कहने के पहिले ध्यानस्थ होकर कथा पर विचार करे। प्रभु का ध्यान करे तभी कथा कहने सुनने का आनन्द है।

शम्भु के उत्तर

झूठेउ सत्य जाहिं बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥१॥

अर्थ : जिसके बिना जाने झूठ भी सच मालूम होता है। जैसे बिना पहिचाने रस्सी साँप जान पड़ती है। जिसके नाम से संसार खो जाता है। जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है।

व्याख्या : झूठ और सत्य का विभाग बुद्धि के अधीन है। जिस पदार्थ को विषय करनेवाली बुद्धि का नाश नहीं होता वह पदार्थ सत्य है। और जिसको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह झूठ है। झूठविषयक बुद्धि तभी तक बनी रहती है जब तक सत्य का ज्ञान न हो। सत्य का ज्ञान होते ही झूठ विषयक बुद्धि का नाश हो जाता है। जैसे जब तक रज्जु का ज्ञान नहीं होता तब तक साँपविषयक बुद्धि बनी रहती है। रज्जु का ज्ञान होते ही साँपविषयक बुद्धि का नाश हो जाता है। अतः रज्जु सत्य है और उसमें भासित होनेवाला साँप झूठ है।

इसी न्याय से संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म के ज्ञान से संसार खो जाता है। अर्थात् संसार को विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे जागने से स्वप्न को विषय करनेवाली बुद्धि का नाश हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। यहाँ हेराई[1] पद ध्यान देने योग्य

---

[1] किमस्तं किं ध्वस्तं किमु विलुलितं किन्नु गलितम्,
विशीर्णं चाजीर्णं ननु सपदि गीर्णं किमथवा।
अमन्दे स्वच्छदे निरुपमनिजानन्दजलधौ,
मयि स्वान्ते शान्ते जगदिदमशेषं न कलये॥

अर्थ : क्या अस्त हो गया, क्या नष्ट हो गया, क्या मसल दिया गया या गल गया या छितरा गया या सड़ गल गया या किसी ने इसे निगल लिया ? अत्यन्त स्वच्छन्द निरुपम निजानन्द के समुद्र में मेरे अन्तःकरण के शान्त होने पर इस पूरे संसार का पता नहीं चलता।

है। जिसकी जो वस्तु खो जाती है उसके लिए उस वस्तु का अभाव हो जाता है। दूसरे के लिए भले ही उसका अस्तित्व बना रहे। जागनेवाले के लिए स्वप्न झूठा हो जाता है। सोनेवाले तो परिदृश्यमान दृश्य को उस समय सच्चा ही जानते हैं।

वंदौ बाल रूप सोई रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥
मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥२॥

अर्थ : मैं उन्हीं वालरूप रामजी की वन्दना करता हूँ जिनका नाम जपने से सव सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। मङ्गल के घर अमङ्गल के हरनेवाले वे दशरथ के आँगन में खेलनेवाले कृपा करें।

व्याख्या : बालरूप राम और किशोररूप राम एकही हैं। फिर भी बालरूप के उपासक बालरूप को ही इष्ट मानते हैं। यथा : इष्ट देव मम वालक रामू। प्रसङ्ग यहाँ निर्गुण ब्रह्म का है। निर्गुण ब्रह्म में ही जगत् का भ्रम होता है। अतः बालक राम की उपासना से निर्गुण ब्रह्म की उपासना कही। निर्गुण सगुण में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यथा : जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे। अवस्था भेद मात्र है। सगुण को किशोरावस्था मानिये तो निर्गुण बाल्यावस्था है। जगत् में रहते हुए भी प्रपञ्च से पृथक् होने से वालरूप में निर्गुण उपासना ही कही। बालरूप की वन्दना और नामजप से सब सिद्धि सुलभ हो जाती है। कहा भी है : विनाप्यर्थैः समर्थं हि दातुमर्थचतुष्टयम्। मङ्गलायतनं तन्मे वाल्ये यद्रामभाषितम्। बिना अर्थ के भी जो धर्मार्थ काम मोक्ष देने में समर्थ है। ऐसा रामजी का वाल्यावस्था का भाषण मेरे लिए मङ्गल का आयतन हो। दशरथ अजिर बिहारी कहने से आँगन में खेलना द्योतित किया। अभी वाहर जाने लायक नहीं हैं। अभी शक्ति और गुणों का विकास नहीं हुआ है। अतः प्रौढापेक्षाकृत यह अवस्था निर्गुण ही है। यद्यपि भगवद्विग्रह नित्य ही मंगल भवन अमंगल हारी है। तथापि भक्तों को बाल्यावस्था के चरित में अधिक आनन्द मिलता है। यथा : बाल चरित हरि बहुविधि कीन्हा। अति आनन्द दासन्ह कहँ दीन्हा।

करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी ॥
धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहि कोउ उपकारी ॥३॥

अर्थ : रामजी को प्रणाम करके और हर्षित होकर, त्रिपुरारि ने अमृत सी वाणी कही। हे गिरिराजकुमारी ! तुम धन्य हो, तुम्हारे समान कोई उपकारी नहीं है।

व्याख्या : त्रिपुरारि के प्रणाम से वालरूप की महामहिमा सूचित की। अति रुचिकर वाणी होने से सुधासम कहा। यहाँ से तीनों घाटों की कथा चली।

प्रथम विनय : तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा विधिनाना। की पूर्ति में यहाँ से हाथ लगा। इस विनय में दो अभिलाषाएँ हैं : १. राम कथा सुनने की और २. अज्ञानहरण की। अतः दोनों अभिलाषाओं के लिए दो बार धन्य

धन्य कहा। ये दोनों अभिलाषाएँ लोक के परमोपकार के लिए हैं। यह समझकर शिवजी कहते हैं कि : तुम समान नहि कोउ उपकारी।

ूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा ॥
ुम्ह रघुवीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत नित लागी ॥४॥

अर्थ : तुमने रामजी की कथा का प्रसङ्ग पूछा। जो सब लोक के पवित्र करने के लिए गङ्गा है। तुम तो रघुवीर के चरणों में अनुराग करनेवाली हो, जगत् के हित के लिए तुमने प्रश्न पूछे हैं।

व्याख्या : कहि रघुनाथ कथा विधि नाना। कहने से रघुपति कथा प्रसङ्ग पूछा। इसके उत्तर में संसार के लोगों को पवित्र करनेवाली गङ्गा बहेगी। गङ्गा को भगीरथ लाये थे। इसे उमा ला रही हैं। यह पुरारिरूपी पर्वत से निकलकर श्रीरामस्वरूपसिन्धु में जा मिलेगी। यह तीनों लोकों को पवित्र करनेवाली गङ्गा हैं। [1]यथा : पुरारिगिरिसम्भूता श्रीरामार्णवसङ्गता। अध्यात्मरामगङ्गेयं पुनाति भुवनत्रयम्।

जो हरहु मोर अज्ञाना कहा था। उस पर शंकर जी कहते हैं कि तुम रामचरण-अनुरागिणी हो। तुम्हें अज्ञान कहाँ? जिसको जिसका ज्ञान नहीं वह उसका अनुरागी कैसे हो सकता है। अतः तुम्हारा प्रश्न अपने लिए नहीं जगत् के हित के लिए है। निरूपण का बीज प्रश्न है। तुम्हारा प्रश्न ऐसा है कि इसके निरूपण में जो बातें कही जायँगी उनके जानने से जगत् का हित होगा।

दो. राम कृपा तें पारवति, सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम, मम बिचार कछु नाहिं ॥११२॥

अर्थ : हे पार्वती! मेरे विचार से स्वप्न में भी तुम्हारे हृदय में रामकृपा से शोक, मोह, सन्देह भ्रम कुछ नहीं है।

व्याख्या : पार्वती जी पर रामजी की कृपा देख चुके हैं कि रामजी ने स्वयं प्रकट होकर माँगा कि : जाइ बिवाहहु सैलजहिं यह मोहि माँगे देहु। उस पार्वती को शोक मोह, सन्देह, भ्रम क्या कभी हो सकता है? क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटै सकल राम की दाया। अतः कहते हैं : शोक मोह संदेह भ्रम मम विचार कछु नाहिं।

तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होई ॥
जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। स्रवन रंध्र अहि भवन समाना ॥१॥

अर्थ : फिर भी तुमने ऐसी आशङ्का की जिसके कहने-सुनने से सबका भला हो। जिन्होंने हरिकथा कान से नहीं सुनी, उनके कान के छिद्र साँप के बिल के समान हैं।

---

१. पुरारिरूपी पर्वत से निकलकर श्रीरामरूपी समुद्र में मिलनेवाली यह रामगङ्गा अध्यात्म है। यह तीनों लोकों को पवित्र करती है।

व्याख्या : तुम्हारी आशङ्का का अभिप्राय यह है कि चरित्र देखकर जब मुझे मोह हो गया तो वही चरित्र सुनकर जीवों को मोह होना कौन बड़ी बात है। अतः शङ्का के व्याज से वे बातें मुझसे कहलाना चाहती हो जिनसे संसार मोह से छूटकर कल्याण प्राप्त करे। जो विकलेन्द्रिय या विकृतमस्तिष्क हैं उन्हें सम्यक् ज्ञान किसी वस्तु का हो नहीं सकता। उनका कथन सर्वथा उपेक्षणीय है। ऐसे लोग छः प्रकार के होते हैं : इनसे शिवजी श्रोता को सावधान किये देते हैं।

प्रथम विनय : जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी। तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा विधि नाना। का उत्तर हरिविमुख[1] निन्दा तथा प्रार्थना की स्वीकृति द्वारा शिवजी दे रहे हैं। यथा : कान के छिद्र का स्वरूप बिल-सा ही है। यदि उसमें सचमुच साँप रहने लगे तो उसके बिल होने में सन्देह क्या है। जो रामकथा नहीं सुनता वह कामकथा सुनेगा। कान है तो सुनना ही पड़ेगा। चाहे रामकथा सुने, चाहे कामकथा सुने। काम सर्प है। यथा : काम भुजंग डसत जब जाहीं। विषय निम्ब कटु लगत न ताहीं। साँप बिल नहीं बनाता। जिस बिल में वह घुस जाता है वही उसकी हो जाती है। इसी भाँति कामकथा भी कानों द्वारा हृदय में घुस जाती है। अतः उसे सर्पबिल से उपमित किया। श्रवण का फल रामयश का श्रवण है। सो तो हुआ ही नहीं। अतः काम कथारूपी सर्प के निवास से उसके श्रवणरन्ध्र सर्प के बिल के समान भयङ्कर हो गये। उसके कलेजे पर साँप लोट रहा है। उसके कहने का कौन प्रमाण : यह पहिला हरिविमुख है।

नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥२॥

अर्थ : जिन्होंने अपनी आँखों से सन्तों के दर्शन नहीं किये, उनकी आँखें मोरपंख की आँखों की गिनती में हैं। वे सिर कड़वी तुम्बी के समान और तुल्य हैं। जो हरि और गुरु के चरणों में नमित नहीं होते।

व्याख्या : सन्त का लक्षण है कि उनको भगवान् के चरणों को छोड़कर न शरीर प्यारा है और न घर प्यारा है। यथा : तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन कहँ देह न गेह। सो राम प्रेम से ही सन्त का आदर है। जिसने रामकथा सुनी ही नहीं वह सन्त के दर्शन के लिए क्यों जायगा ? नेत्रों का फल भगवद्दर्शन है। यथा : होइहैं सुफल आज मम लोचन। देखि वदन पंकज भव मोचन। सो भगवद्दर्शन दुर्लभ है। परन्तु भगवान् की चलमूर्ति सन्तजन का दर्शन तो सुलभ है। यदि इसे भी न देखा तो वे आँखें मोरपंख की भाँति व्यर्थ हैं। केवल उनकी आकृति आँखों सी है। सुझाई कुछ नहीं पड़ता। सन्त के दर्शन से पाप दूर होता है। यथा : संत दरस

---

[1] न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता किन्तु विधेयं स्तोतुम्। निन्दा विधेय की स्तुति के लिए की जाती है। निन्दायोग्य की निन्दा के लिए नहीं। यहाँ पर छः प्रकार की निन्दा हरिकथाश्रवण की स्तुति के लिए की गई।

जिमि पातक टरई। सो उसे हुआ नहीं। वह पापी है जो चाहेगा बकेगा। ये दूसरे हरि विमुख हैं।

जिसने हरिकथा नहीं सुनी वह हरि को क्या जाने और जिसने हरि को न जाना वह गुरु को क्यों माने ? अतः हरिकथा श्रवण का ही यह फल है कि सम्राट् का सिर भी हरि और गुरु के चरणों पर झुकता है। सिर का फल यह है कि वह हरि और गुरु के चरणों पर झुके और यदि ऐसा न हुआ तो वह सिर कडुई तूंबी के समान आकार में है और गुण में भी उसी के तुल्य है। जैसे कडुई तूँबी लोकसाधन या परलोकसाधन में से किसी काम नहीं आती उसी भाँति उस सिर से भी लोक-परलोक कुछ नहीं सधता। यथा : खारी वेलि की खारी तुमड़िया सब तीरथ करि आई। पुण्य तीर्थ को जल भरि लीन्हीं तजत नहीं करुआई। ऐसा अविनीत जो चाहे कह सकता है। यह तीसरा हरिविमुख है।

जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी ॥
जो नहिं करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना ॥३॥

अर्थ : जो अपने हृदय में हरिभक्ति नहीं ले आये वे प्राणी मुर्दे के समान जीते हैं। जो रामगुणगान नहीं करती वह जिह्वा मेंढक की जिह्वा के समान है।

व्याख्या : मुर्दे के समान जीने का भाव यह है कि शरीर की बनावट ज्यों की त्यों बनी है। पर अमङ्गलरूप है। निष्प्रयोजन है। हरिकथा श्रवण ही हरिभक्ति का कारण है। कथा श्रवण बिना हरिभक्ति हो नहीं सकती और हरिभक्ति बिना जीवन ही व्यर्थ है। वह जीवित ही मुर्दा है। पृथ्वी का भार मात्र है। नर शरीर भवसागर के सन्तरण का साधन है। इससे संसारसागर के पार जाने का यत्न होना चाहता था, सो इसने भक्ति को हृदय में स्थान ही नहीं दिया। माया में ही पड़ा रह गया। अतः नर शरीर निष्फल गया। ऐसा पुरुष सब कुछ कह सकता है। यह चौथा हरिविमुख है।

भगवान् के गुणानुवाद के गान से भवसागर की अगाधता चली जाती है। वह थाह हो जाता है। अतः जिह्वा का साफल्य रामगुणगान में है। यदि यह न हुआ तो वह व्यर्थ मेढक की जिह्वा[1] की भाँति टरटर किया करेगी। व्यर्थ का बकवाद करेगी। वाणी मनुष्य के लिए परमेश्वर की एक विशेष देन है। वही व्यर्थ चली गई तो वह मनुष्य नहीं रह गया। विचारपूर्वक कैसे बोलेगा ? यह पाँचवाँ हरिविमुख है।

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरखाती ॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज विमोहनसीला ॥४॥

---

[1] मेंढकों को जिह्वा नहीं होती फिर भी वे टरटर किया करते हैं। इसी भाँति जो रामगुणगान नहीं करते उन्हें वाणी का वस्तुतः अभाव है। केवल टरटर करने से जिह्वा का साफल्य नहीं है।

दो. रामकथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुखदानि ।
सत समाज सुरलोक सब, को न सुनैं असजानि ॥११३॥

अर्थ : वह छाती वज्र के समान कठोर और निर्दय है जो हरिचरित को सुनकर प्रसन्न नहीं होती । हे गिरजे ! रामजी की लीला सुनो जो देवताओं का कल्याण करनेवाली और राक्षसों को मोहित करनेवाली है ।

रामजी की कथा कामधेनु के समान है । सेवा करते ही सब सुखों को देनेवाली है । और सत्पुरुषों के सभी समाज देवताओं के लोक हैं जहाँ कामधेनु रहती है ऐसा जानकर कौन इसे न सुनेगा ?

व्याख्या : द्रवीभूत न होने से छाती को कुलिसकठोर कहा । निष्करुण होने से निठुर कहा । इसे हरिचरित सुनने में आनन्द नहीं आया । यह सद्गुणों से पराङ्मुख है । इसकी बातें सुनने योग्य नहीं हैं । यथा : हिय फाटहु फूटहु नयन जरहु सो तन केहि काम । द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम । यह छठा हरि-विमुख है ।

'गिरिजा सुनहु' कहकर शिवजी प्रथम विनय का उत्तर देते है । सुर से दैवी प्रकृति और असुर से आसुरी प्रकृति के लोग अभिप्रेत हैं । यथा : उमा रामगुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं विरति । पावहिं मोह विमूढ जे हरि विमुख न धर्म रति । 'हरहु मोर अज्ञाना' कहकर विनय किया था । 'सुनहु राम कै लीला' कहकर उत्तर हो रहा है ।

विनय[1] करते हुए गिरिजा ने कहा कि : जासु भवन सुरतरु तर होई । सहकि दरिद्र जनित दुःख सोई । इसी के उत्तर में शिवजी कहते हैं कि दरिद्रजनित दुःख सहने का कोई कारण नहीं । रामकथा रूपी सब सुखदानी कामधेनु का सेवन करो । रामकथारूपी कामधेनु : ग्यान विराग सकल सुखदेनी है । कामधेनु तो ज्ञान विराग का सुख नहीं दे सकती और दुर्लभ भी है क्योंकि स्वर्ग में रहती है पर रामकथा यहीं सन्त समाज में रहती है और सब सुख देती है । अज्ञान से ही लोग दुःख सह रहे हैं । नहीं तो रामकथारूपी कामधेनु के रहते दुःख की कौन सी बात है ?

रामकथा सुंदर कर तारी । संसय विहग उड़ावनहारी ॥
रामकथा कलि विटप कुठारी । सादर सुनु गिरिराजकुमारी ॥१॥

अर्थ : रामजी की कथा संशयरूपी पक्षी को उड़ानेवाली सुन्दर करतारी है । रामकथा कलिरूपी पेड़ के लिए कुल्हाड़ी है । हे गिरिराजसुते ! उसे आदर के साथ सुनो ।

व्याख्या : दूसरे प्रश्न : ससिभूषन अस हृदय विचारी । हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी । के उत्तर में कहते हैं : संसय विहग उड़ावनिहारी । चिड़िया उड़ाने का सबसे सुगम उपाय यही है कि बैठे बैठे ताली बजा दे । चिड़िया स्वयं उड़ जायँगी ।

---

[1] तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना । कहि रघुनाथ कथा विधि नाना ॥

इसी भाँति कथा आरम्भ कर दे। संशय आप ही भाग जायगा। ताली दोनों हाथों के बजाने से बजती है। इसी भाँति रामकथा भी वक्ता श्रोता दोनों के उन्मुख होने से होती है।

वह संशयरूपी पक्षी जो कलिविटप पर बैठा रहता है करतारी सुनकर उड़ गया। पर पेड़ बना है तो फिर आकर बैठेगा। अतः कहते हैं कि कथा कुल्हाड़ी का भी काम देती है। कुछ दिनों तक चलती रहने से वह कलिविटप भी कट जायगा जिस पर संशय ने डेरा जमा रक्खा है। सादर सुनु से दूसरे विनय के उत्तर का उपसंहार किया।

राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥२॥

अर्थ : राम जी के नाम गुण और चरित सब सुन्दर हैं। जन्म कर्म अगणित हैं। जिन्हें वेद ने गान किया है। जिस भाँति भगवान् रामजी अनन्त हैं उसी तरह उनकी कथा उनकी कीर्ति तथा उनके गुण अनन्त हैं।

व्याख्या : अब तीसरे विनय का : अर्थात् 'प्रभु जे मुनि परमारथ वादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ। का उत्तर देते हैं। १. परमार्थवादी २. शेष ३. सारदा ४. वेद ५. पुराण के और ६. अपने गुणगान करने का कारण कहते हैं। राम के सोहाए नाम और गुण अगणित हैं। यदि कोई भी पूरा कह पाता तो दूसरे न कहते। अतः सबको कहने का अवसर है। और वे यथासामर्थ्य कहते हैं। जन्म कर्म अगनित श्रुति गाये से दिव्य जन्म और दिव्य कर्म कहा। यथा : जन्म कर्म च मे दिव्यम् और उन जन्मकर्मों की गिनती नहीं है। यथा : अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। भागवते।

'अनन्त राम भगवाना' कहकर उनके स्वरूप और ऐश्वर्य सबको अनन्त कहा। दिव्य जन्म कर्म को अगणित पहिले ही कह आये हैं। अतः उनकी कीर्ति अनन्त है। फलतः गुणगान भी अनन्त है। इसीलिए सब सतत गान किया करते हैं। अन्त नहीं मिलता।

तदपि जथाश्रुत जसिमति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥
उमा प्रस्न[1] तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥३॥

अर्थ : फिर भी जैसा मैंने सुना है और जैसी मेरी बुद्धि है तुम्हारी अति प्रीति देखकर कहूँगा। हे उमा! तुम्हारा प्रश्न स्वभाव से ही सोहावना है। सुखदायक और सन्तों से अनुमोदित है और मुझे भी अच्छा लगा।

व्याख्या : अनन्त वस्तु के कथन में यही होता है कि वह यथाश्रुत और

---

[1] श्री रामचरितमानस में सर्वत्र प्रश्न शब्द को स्त्री लिङ्ग माना है। सम्भव है कि उस समय देश विदेश में उसका स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता रहा हो। प्राकृत व्याकरण में तो 'लिङ्गमतन्त्रम्' यह सूत्र है। अतः शब्द के लिङ्ग के प्रयोग में स्वतन्त्रता है।

यथामति कहा जाता है। अतः मैं भी वैसा ही कहूँगा। मैंने तो रचना करके मन में ही रख छोड़ा था। तुम्हें अति प्रीति है। इससे कहता हूँ। यथा : यह न कहिअ सठहीं हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिं।

प्रश्न की प्रशंसा करते हैं। 'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि' यह बहुत सुन्दर प्रश्न है और इसमें स्वाभाविकता है। ऐसे मार्मिक प्रश्न के उत्तर में वक्ता को भी सुख होता है। सन्तों की भी यही सम्मति है कि प्रकृत जिज्ञासु की यथार्थ जिज्ञासा का उत्तर देना चाहिए। शुष्क तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। वलवान् तार्किक निर्बल को दबा लेता है। और जो उससे भी बड़ा तार्किक है वह उसके तर्क का भी खण्डन कर देता है। अतः शास्त्र की मर्यादा के भीतर भीतर तर्क होना चाहिए। तुम्हारा तर्क शास्त्र के भीतर है। शास्त्र के समझने के लिए है। अतः 'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि' यह तर्क मुझे अच्छा लगा।

एक बात नहि मोहि सुहानी। जदपि मोह वस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि [1]श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥४॥

अर्थ : हे भवानी ! एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी। यद्यपि तुमने मोह के वश होकर कही है। तुमने जो कहा कि वे राम कोई और हैं। जिन्हें वेद गाते हैं और जिनका मुनि लोग ध्यान करते हैं।

व्याख्या : आँखें तो बहुतों को हैं। पर सभी रत्न को पहिचान नहीं सकते। उन्हें शीशे में और रत्न में भेद नहीं मालूम पड़ता। उस भेद को तो केवल रात्निक : जौहरी की आँखें देखती हैं। अतः रत्न का ग्रहण, दो-एक रात्निकों को दिखाकर सत् तर्क द्वारा श्रद्धा करके ही संसार करता है। जो अभागा रात्निकों पर कुतर्क के वल से श्रद्धा नहीं करता वह सदा रत्न से वञ्चित रहता है। इसी भाँति राम ब्रह्म हैं या नहीं इसका निर्णय सामान्य पुरुष नहीं कर सकता। इस बात के जौहरी परमार्थवादी मुनि शेष शारदादि हैं। उनके वचन पर सत् तर्क द्वारा श्रद्धा करना ही प्राप्त है।

शिवजी का कहना है कि जब तुम स्वयं कहती हो कि 'प्रभु जे १. मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी। २. शेष ३. सारदा ४. वेद ५. पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना। ६. तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती।' तब तुमने कुतर्क का आश्रयण करके इनके वचनों में अश्रद्धा क्यों की ? ये लोग जब कहते हैं कि ये वही राम हैं जिनका वेद गान करता है और मुनि ध्यान धरते हैं तब तुम्हारे मन में 'राम कोउ आना' की भावना क्यों उठी ? यही मोह की छाया है कि जिसे विशेषज्ञ महानुभाव एक स्वर से कहें उस

---

[1] वेद के तीन भाग हैं : १. मन्त्र २. ब्राह्मण और ३. उपनिषत्। उपनिषदों में १०८ प्रधान हैं उनमें से कई एक उपनिषत् श्रीरामपरक हैं। रामतापनीय में पूरी रामकथा सूत्र रूप से दी हुई है। जिसे पहिले उद्धृत कर दिया गया है।

विषय में भी संशय को बनाये रखना। यही बात मुझे भी अच्छी नहीं लगी। इस प्रकार की धारणा तो हरिविमुखों को होती है। जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब उन्हीं छः हरिविमुखों की भर्त्सना पार्वती जी का भ्रम मिटाने के लिए शिवजी क्रम से करते हैं।

दो. कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥११४॥

अर्थ : जिनके ऊपर मोह पिशाच सवार है जो पाखण्डी है जो भगवच्चरणों से पराङ्मुख हैं जो झूठ-सच को नहीं जानते ऐसे ही अधम पुरुष ऐसी बातें कहते और सुनते हैं।

व्याख्या : पहिले प्रकार के हरिमुख के लिए कहते हैं कि ऐसे ही अधम लोग ऐसी बातें कहते हैं और सुनते हैं। वे अपने वश में नहीं। जैसा मोह पिशाच कराता है वैसा ही करते हैं। वे झूठी झूठी कल्पनाएँ किया करते हैं। हरिकथा तो कभी सुनी नहीं। वे मिथ्या संसार को ही सत्य माने बैठे हैं। ब्रह्म : सत्य उनके लिए कोई वस्तु ही नहीं है।

अब दूसरे प्रकार के हरिविमुख के विषय में कहते हैं जिसने आँखों से सन्त कभी देखे ही नहीं।

अग्य अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल विसेखी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी ॥१॥

अर्थ : जो अज्ञानी, मूर्ख, अन्धे, भाग्यहीन हैं और जिनके मनरूपी दर्पण पर विषयरूपी काई : मल लगी हुई है। जो लम्पट, कपटी और विशेष रूप से कुटिल हैं और जिन्होंने स्वप्न में भी सन्त सभा नहीं देखी है।

व्याख्या : वेद असम्मत वाणी बोलनेवाले यदि विज्ञ भी हों तो उन्हें अज्ञ ही समझना चाहिए। जिसे इतना अभिमान है कि अपनी समझ के सामने ईश्वरीय वाणी को नहीं गिनता। अथवा ऐसा अविश्वासी है कि सनातन वेद पर विश्वास नहीं करता। अथवा मन से भी अचिन्त्य रचनावाले संसार को देखने पर भी उसके रचयिता की ओर जिसका ध्यान नहीं जाता। वह विज्ञ होने पर भी अज्ञ है। पण्डित होने पर भी मूर्ख है। आँख रहते अन्धा है। यह मन दर्पण है इसी में परमात्मा की छाया पड़ती है। जो दर्पण मलिन है उसमें नहीं पड़ती है। वह परमात्मा में विश्वास नहीं कर सकता। यदि ईश्वर में विश्वास हो तो यह बात भी समझ में आवे कि इस विश्व का रचनेवाला विश्व के कल्याण के लिए विना कुछ उपदेश दिये उसे उपेक्षित नहीं छोड़ सकता। अतः उसे वेदशास्त्र की आवश्यकता मालूम पड़ेगी। और जिसे ईश्वर पर विश्वास नहीं, वह वेद क्यों मानेगा ?

तब वह अभागी है। भवभञ्जनपदविमुख है। मुनिजन धनसर्वस्व शिवप्राण उसके भाग्य में नहीं हैं। वह सदा जन्म मरणरूपी संसार में पड़ा हुआ अधम

गति को प्राप्त होता चला जायगा। उसके मनरूपी दर्पण पर विषयरूपी काई : मल लगी हुई है। उसमें ईश्वर की छाया नहीं पड़ती। ऐसे विषय के गीध, कपटी और विशेषरूप से कुटिल होते हैं। उन्हें विषय : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध : छोड़कर कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यथा : नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे। हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे। पर निंदा सुनि श्रवण मलिन भे वचन दोष पर गाये। सब प्रकार मल भारलाग निज नाथ चरन बिसराये। कपटी अपनी अन्तरात्मा से कपट करता है। उसे सत्य ज्ञान हो ही नहीं सकता। यथा : कपट करौं अन्तर्जामिहु ते, अघ व्यापकहिं दुरावों। कुटिल परम सरल वचन में भी पेंच देखता है। यथा : चलइ जोंक जल वक्रगति, यद्यपि सलिल समान! ऐसे लोगों को वेद पर विश्वास नहीं हो सकता। वे सन्तसभा का स्वप्न क्यों देखने जाँय ? जिस विषय का संस्कार होता है उसी का स्वप्न दिखाई पड़ता है। उन्हें सन्तसभा का संस्कार ही नहीं होता। इसलिए वे स्वप्न में भी नहीं देखते। उन्हें जगत् खलमय दिखाई पड़ता है। और जबतक यह विश्वास न हो कि परहितैकव्रत, दिव्यदर्शी महापुरुषों का होना सम्भव है तब तक वह आप्तवाक्य पर विश्वास नहीं कर सकता। सन्तसभा में प्रवेश करने का सामर्थ्य ही पापी को नहीं हो सकता। सन्त का दर्शन ही नहीं तो कल्याण कैसे हो। उसे लाभ-हानि का यथार्थ रूप कैसे दृष्टिगोचर हो।

कहहिं ते वेद असंमत वानी। जिन्हके सूझ लाभ नहि हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥२॥

अर्थ : जिसे अपना लाभ और हानि नहीं सूझता। वे ही वेदों के विरुद्ध वाणी बोला करते हैं। एक तो मैला दर्पण दूसरे आँख का अभाव। भला वे विचारे राम का रूप कैसे देख सकते हैं ?

व्याख्या : हानि कि कछु एहिसम जग भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई। और : लाभ कि कछु हरि भगति समाना। अर्थ और काम का लाभ वास्तविक लाभ नहीं है। सो जिन्हें लाभ और हानि नहीं सूझती, जो पारस : स्पर्शमणि, को काँच के टुकड़े के बदले में बेचते हैं, जो मनुष्यशरीर को उस विषयसुख के बदले में खोते हैं, जो श्वान शूकर योनि में भी सुलभ है वे ही वेद-असम्मत वाणी बोलते हैं। वेद तो कहता है कि [1]चिन्मय महाविष्णु हरि रघुकुल में दशरथ के यहाँ उत्पन्न हुए। देखिये राम तापनीय[2]। रामरहस्योपनिषत् कहता है कि राम ही परब्रह्म हैं। मुक्तिकोपनिषत्[3] में कहा है कि राम! तुम परमात्मा सच्चिदानन्द-

---

[1] चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।

[2] राम एवं परं ब्रह्म राम एव परं तपः। राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म नापरम्।

[3] रात त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः। इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः।

विग्रह हो। हे रघुश्रेष्ठ! तुमको बार बार प्रणाम। सामवेद[१] के उत्तरार्चिक अ. १५ खं २ सू. १ मं. ३ में संक्षेप से रामकथा भी वर्णित है। मन्त्ररामायण प्रसिद्ध ही है। पर वे कहेंगे कि राम कोई दूसरे हैं। अब तीसरे हरिविमुख के विषय में कहते हैं कि जिसने हरि और गुरु का समाश्रय नहीं किया उसे विवेक हो नहीं सकता। यथा : बिनु गुरु होइ कि ज्ञान। और विवेक ही नेत्र है जगदात्मा प्राणपतिराम हैं। सो आत्माराम के देखने के लिए दो सामग्रियों की आवश्यकता रहती है। १. मनमुकुर और २. विवेकनेत्र की। दोनों में से एक के भी न होने में राम सुझाई नहीं पड़ते। सो जिसे विवेक नहीं है और मन भी मलिन है उसे राम की छाया भी दिखाई नहीं पड़ती। उस अभागे को ईश्वर पर विश्वास नहीं हो सकता। न भक्ति हो सकती है। अतः वह वेदों की उपेक्षा अवश्य करेगा।

जिन्ह कें अगुन न सगुन विवेका। जल्पहिं कल्पित वचन अनेका॥
हरिमाया वस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं॥३॥

अर्थ : जिन्हें न निर्गुण का ज्ञान है और न सगुण का वे मनगढ़न्त बातें बका करते हैं। जो हरि की माया के वश में होकर जगत् में चक्कर खाया करते हैं उनके लिए कुछ भी कहना असम्भव नहीं है।

व्याख्या : जिन्हें निर्गुण और सगुण का विवेक है वे समझते हैं कि निर्गुण और सगुण में वास्तविक भेद नहीं है। निर्गुण रूप से कोई लीला नहीं होती। अतः उसका ज्ञान सुगम है; सगुण रूप से लीला होती है। उसमें नाना प्रकार के चरित्र होते हैं जिसमें मुनि के मन में भी भ्रम हो जाता है। यथा : निर्गुण रूप सुगम अति, सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ। सगुण होने पर भी उनकी निर्गुणता वनी रहती है। यथा : अनेक वेष धरि, नृत्य करै नट कोइ। जोइ जोइ भाव दिखावै, आपुह होइ न सोइ। जिन्हें निर्गुण सगुण

---

[१] भद्रोभद्रया सह सचमान आगात्, स्वसारं जारोऽभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्।

भद्रः कल्याणकरो रामचन्द्रः भद्रया सीतया सचमानः सहितः यदा वनमागात् तदा जारः धर्मविरुद्धाचरणेन स्वायुषो जरयिता रावणः पश्चाद् रामासान्निध्ये स्वसारं स्वपित्रादिऋषिरक्तोत्पन्नत्वेन भगिनीतुल्यां सीताम् अभ्येति हरणार्थमायात् तदनन्तरं सु प्रकेतैः शोभनध्वजैः द्युभिः अलौकिकैरुशद्भिः कमनीयैर्वर्णैं रथैः कुम्भकर्णादिभिश्च सह अग्निः क्रोधाग्निप्रज्वलितहृदयो रावणः वितिष्ठन् युद्धाय सन्नद्धः सन् रामम् अभिस्थात् रामस्य सान्निध्यं गतवान्।

अर्थ : कल्याणकर श्रीरामचन्द्र जब कल्याणकरी सीता के साथ बन गये तब धर्मविरुद्धाचरण से अपने आप को नष्ट करनेवाले रावण ने रामजी की अनुपस्थिति में स्वपित्रादि ऋषियों के रक्त से उत्पन्न भगिनी के समान सीता के समीप जाकर उन्हें हरण किया। तदन्तर क्रोधाग्नि से जलता हुआ वह विचित्र वर्णवाले रथों से सज्जित होकर कुम्भक ादिकों से युक्त रामजी के साथ युद्ध करने गया।

का विवेक नहीं है वे तथ्य को न जानकर बिना समझे अपने मन की कल्पना को ही सत्य समझकर पागल की तरह बका करते हैं।

अब चौथे प्रकार के हरिविमुख के विषय में कहते हैं। जिसने हरिभक्ति को हृदय में स्थान नहीं दिया।

हरि की माया बड़ी प्रबल है। जो ज्ञानी के भी चित्त का अपहरण करके बलपूर्वक मोहगर्त में डाल देती है। यथा : सुनु खग प्रबल राम की माया। जो ज्ञानिहु कर चित्त अपहरई। बरिआई विमोह बस करई। जो हरिमाया के वश में पड़ गये जैसा नाच वह नचाती है, वैसा नाचते हैं। अब पाँचवें हरिविमुख के विषय में कहते हैं : जो राम गुणगान नहीं करता।

वातुल भूत विवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं वचन विचारे ॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥४॥

अर्थ : जिन्हें वायु का रोग हो गया हो : पागल हो गये हों, या सन्निपात हो गया हो : भूत लगा हो या नशे में हों। ऐसे लोग विचारकर वचन नहीं बोलते। जिसने महामोह रूपी मदिरा पी रक्खी हो। ऐसों के वचनों पर ध्यान न देना चाहिए।

व्याख्या : बिना विचारे बोलनेवाले तीन हैं : १. वातुल २. भूतविवश ३. मतवारे। जो विषयासक्त हो रामगुणगान नहीं करता उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है। वह वातुल, भूतविवश या मतवाले की भाँति विचारहीन बातें बोलता है। अब छठे प्रकार के हरिविमुख के विषय में कहते हैं : जो हरिचरित सुनकर हर्षित नहीं होता उसने महामोहरूपी मद्य का पान किया है। मद्य पीनेवाले प्रत्यक्ष देखते हैं कि मद्यप की बुद्धि का लोप हो जाता है। स्वयं भी बुद्धिलोप का अनुभव करते हैं। उन्हें बुद्धिलोप की अवस्था अच्छी लगती है। वे उसी पर आसक्त हैं। इसलिए वे मद्य पीते हैं। इसी भाँति कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा ईश्वर के विरुद्ध बोलना अच्छा लगता है। जानते हैं कि यह बात बुरी है पर उन्हें व्यसन हो गया है। उसका त्याग नहीं कर सकते। जिस भाँति मद्यप मद्य के दोषों को जानता हुआ भी उसको त्याग नहीं सकता। बल्कि उसकी प्रशंसा करता है। मद्यप के कहने का कोई ख्याल नहीं करता। न कोई उसका कहना मानता है। मोहमयी मदिरा तो बड़ी प्रबल है, उसे पान करनेवाले की बात तो कभी सुननी नहीं चाहिए। उसका क्या ठिकना। वह सब कुछ कह सकता है। तुम तो परीक्षा तक ले चुकी हो। तुम्हें रामकथा पर रुचि है, तुमने ऐसी बात मुँह से निकाली कैसे? कहहिं सुनहिं अस अधम नर। से उपक्रम करके : तिन कर कहा करिअ नहिं काना। से उपसंहार करते हैं अर्थात् इन छहों की बातें उपेक्षणीय हैं। उनमें तुम्हारी गिनती नहीं होनी चाहिए।

सो. अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रम तम रबिकर वचन मम ॥११५॥

अर्थ : ऐसा अपने मन में विचारकर सन्देह को छोड़ो। और रामजी के चरणों को भजो। हे पार्वती ! सुनो मेरे वचन भ्रमरूपी अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य की किरणों के समान हैं।

व्याख्या : अधम नर वातुल, भूतविवश और मतवारे की भाँति श्रुतिसिद्ध विषयों पर शङ्का उठाते हैं। शास्त्रविरुद्ध बातें बोलते हैं। संसारसागर के पार जाना चाहने वाले को वेद पर विश्वास करना ही होगा। संशय और विपर्यय ये दोनों तत्परत्व के मुख्य प्रतिबन्धक हैं। इनका नाश विपरीत निश्चय से होता है। अतः इस विषय की शङ्का छोड़ो। रामजी को ब्रह्म समझकर भजो। मेरे वचन सुनने पर भ्रम नहीं रह सकता। मनन निदिध्यासन भी श्रवण के अन्तर्गत हैं। जिसने सुनकर मनन निदिध्यासन नहीं किया उसने वस्तुतः श्रवण ही नहीं किया। क्योंकि उसका सुनना न सुनने के बराबर है। अतः कहते हैं कि मेरे वचन को हृदय में स्थान देने से भ्रम रह नहीं सकता। जिस भाँति सूर्य की किरण के प्रवेश से अन्धकार नहीं रह जाता। यहाँ सुनु कहकर तीसरी विनती के उत्तर की समाप्ति कही गई। कहहु कहकर प्रश्न किया गया। अतः सुनहु कहकर उत्तर दिया जा रहा है।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥१॥

अर्थ : सगुण और निर्गुण में कुछ भेद नहीं है। मुनि, पुराण, वेद और पण्डित गाते हैं। जो निर्गुण, अरूप, अलख और अजन्मा है वही भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है।

व्याख्या : अग्य जानि रिसि जनि उर धरहू। जेहि विधि मोह मिटै सो करहू। इस चौथे विनय के उत्तर में कहते हैं कि मोह तो यही है कि : जौ नृपतनय त ब्रह्म-किमि। सो सगुन और निर्गुण में वास्तविक भेद कुछ नहीं, अवस्थाभेदमात्र है। इस बात को वेद और शास्त्र तथा शास्त्रज्ञ मुनि और पण्डित सभी कहते हैं। शास्त्र का अनुवाद बाँच लेने से कोई शास्त्र के मर्म को नहीं जान सकता। उसे तो गुरुपरम्परा से मननशील महात्मा लोग जानते हैं। अतः वेद-पुराण के साथ ही मुनि और बुध को भी प्रमाण दे रहे हैं।

अगुण, अरूप, अव्यक्त और अज जिस ब्रह्म को कहते हैं वह भक्त के प्रेम के वश हो जाता है। जैसा भक्त चाहता है वैसा ही वह बन जाता है। साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना इति। यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। भगवती श्रुति कहती है कि साधकों के हित के लिए ब्रह्म की रूपकल्पना है। भगवद्गीता कहती है कि जो भक्त जिस-जिस तनु की श्रद्धा से अर्चना करना चाहता है, उसकी उस श्रद्धा को मैं अचल कर देता हूँ। वह निर्गुण से सगुण, अरूप से रूपवान्, अव्यक्त से व्यक्त और अज से जन्मवाला हो जाता है।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल विलग नहिं जैसें ॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ विमोह प्रसंगा ॥२॥

अर्थ : जो गुण से रहित है वह सगुण कैसे है ? जैसे जल और ओला भिन्न नहीं हैं । जिसका नाम भ्रमरूपी अन्धकार के लिए सूर्य के समान है । उसके लिए मोह का प्रसङ्ग भी कैसे कहा जा सकता है ?

व्याख्या : शास्त्र की मर्यादा कहकर अब उसी मर्यादा के भीतर तर्क भी दे देते हैं । प्रश्न यह है कि निर्गुण और सगुण दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं । एक में ही विरुद्धधर्माश्रयत्व कैसे सम्भव है ? उत्तर देते हैं कि दो पदार्थ नहीं हैं । अवस्थाभेद से स्वरूप में भेद मालूम पड़ता है । वास्तव में भेद कुछ नहीं । जैसे जल का स्वाभाविक गुण द्रवत्व है । परन्तु शीत के वश होकर द्रवत्व अभिभूत होकर उसमें दृढ़ता आ जाती है और वह पत्थर सा दृढ़ हो जाता है । जो बात उसमें नहीं थी वह आ जाती है । इस भाँति : जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि । इस मोहांश को मिटाया ।

नाम और रूप माया के अंश हैं । इसलिए उन्हें उपाधि कहा यथा : नामरूप दुइ ईस उपाधी । स्वरूप तो उनका सच्चिदानन्द है । पर इस नाम उपाधि में जिसके सम्बन्ध से ऐसा सामर्थ्य आजाता है कि सूर्यकान्त मणि की भाँति पापरूपी रूई की राशि को भस्म करके ज्ञान का कारण होता है । यथा : जासु नाम पावक अघ तूला । नाम निरूपन नाम जतन ते । सोउ प्रकटत जिमि मोल रतन ते । वह विरह विकल नहीं हो सकता । उसे विरहविकल समझनेवाले को ही मोह है । वह उसके स्वरूप को नहीं जान पाया । इस भाँति : नारि विरह मति भोरि । इस मोहांश को मिटाया । अब शिवजी उन छहों आप्तों रात्निकों की ओर से उत्तर देंगे जिनके सिद्धान्त का उमा ने अनादर किया था । पहिले परमार्थवादी की ओर से कहते हैं ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि विग्यान बिहाना ॥३॥

अर्थ : रामजी सच्चिदानन्द सूर्य हैं । वहाँ अज्ञान रात्रि के लव का लेश भी नहीं है । भगवान् स्वभाव ही से प्रकाश स्वरूप हैं । वहाँ विज्ञानरूपी प्रातःकाल भी नहीं होता ।

व्याख्या : अब रामजी का स्वरूप कहते हैं कि वे सच्चिदानन्द रूप हैं । उनमें षडैश्वर्य स्वभाव से सिद्ध हैं । वे मोहनिशानाशक हैं । अतः उन्हें सूर्य कहा । यथा : उदय भानु बिनु श्रम तम नासा । जहाँ उक्त सूर्य नहीं रहते वहाँ मोहनिशा रहती है ।

रामजी तो सहज प्रकाश रूप अर्थात् स्वयं प्रकाश हैं । अब जीवधर्म का उनमें अभाव दिखलाते हैं । यद्यपि विज्ञान मोक्षप्रद है । पर वह जीव को ही होता है । पहिले मोह रहा पीछे से विज्ञान हुआ । जहाँ रात पहिले रह चुकी है वहीं प्रातः

काल भी होता है। अतः विज्ञान भी जीवधर्म है। ब्रह्म में १. विज्ञानरूपी प्रातः काल भी सम्भव नहीं।

हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥४॥

अर्थ : २. हर्ष ३. शोक ४. ज्ञान ५. अज्ञान ६. अस्मिता और ७. गर्व जीवधर्म हैं। ये सात ब्रह्म में नहीं हैं। रामजी तो व्यापक ब्रह्म हैं। परमानन्द स्वरूप हैं, सबके स्वामी और पुराण पुरुष हैं। यह संसार जानता है।

व्याख्या : बन्ध से लेकर मोक्ष तक द्वैत जीव कल्पित है। इससे उन्हें जीवधर्म कहा। रामजी जीव नहीं हैं। वे ब्रह्म हैं। उनमें जीवधर्म कहाँ? अब सात धर्म ब्रह्म के कहते हैं। १. संसार जानता है कि व्यापक हैं। यथा : राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। २. परमानन्द। यथा : जो आनंद सिंधु सुख रासी। ३. परेश। यथा : तुम ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ४. पुराना। यथा : उपजहिं जासु अंस बिधिनाना। संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना।

दो. पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिवँ नायउ माथ॥११६॥

अर्थ : जो प्रसिद्ध पुरुष हैं स्पष्ट प्रकाश के निधि हैं। सूक्ष्म स्थूल के स्वामी हैं। वे ही रघुकुल मणि मेरे स्वामी हैं। ऐसा कहकर शिवजी ने उन्हें मस्तक झुकाया।

व्याख्या : ५. पुरुष प्रसिद्ध। यथा : जगदात्मा प्रानपति रामा। ६. प्रकाश निधि। यथा : जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं। ७. प्रकट परावर नाथ : राम रजाय मेटि जग माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं। उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं। वही राम रघुकुलमनि ब्रह्म हैं। वे ही मेरे स्वामी हैं। अतः उन्हीं को रात दिन सादर जपता हूँ। यथा : तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहुँ अनंग अराती। ऐसा कहकर सिर नवाया। अब शेषजी की ओर से कहते हैं :

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥१॥

अर्थ : अपने भ्रम को अज्ञानी नहीं समझते। अविवेकी प्राणी प्रभु पर मोह का आरोप करते हैं। जैसे आकाश में बादलों का पर्दा देखकर बुरे विचारवाले कहते हैं कि सूर्य ढक गया।

व्याख्या : अपने भ्रम को न समझनेवाले ही अज्ञानी हैं जो अपने भ्रम को समझता है वह ज्ञानी है। दर्पण के प्रतिविम्ब का ज्ञान जानकार के लिए प्रमा और अनजान के लिए भ्रमात्मक है। मन्दान्धकार में रज्जु का सर्प दिखाई पड़ना अज्ञान है। वह तो सभी को सर्परूप में ही दिखाई पड़ेगी। परन्तु जानकार को वहाँ

भ्रमप्रयुक्त क्रिया का अभाव है। अविवेकी प्राणी अपने भ्रम को न समझेंगे। वे रज्जु को ही दोष देंगे कि वह सर्परूप में क्यों परिणत हो गई।

जिसे सूर्य के परिमाण का ज्ञान है वह समझ सकता है कि बादल विचारा सूर्य को क्या ढक सकता है। वह हमारी आँखों को निःसन्देह ढक सकता है। उसी को अविवेकी पुरुष सूर्य का ढका जाना समझते हैं। इसी भाँति अज्ञान अपने को होता है। अविवेकी पुरुष उसका आरोप रामजी पर करते हैं। इससे आवरण-शक्ति कहा।

चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ ॥
उमा राम विषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥२॥

अर्थ : जो अपनी आँखों में उँगली लगाकर देखता है उसके मत से दो चन्द्रमा स्पष्ट हैं। उमा! रामजी के विषय में ऐसा ही मोह है। जैसे आकाश में अन्धकार, धूम और धूलि शोभित होती है।

व्याख्या : अब विक्षेप कहते हैं। आवरण से आत्मा का अज्ञान होता है। विक्षेप से द्वैत की प्रतीति होती है। अपनी आँख में उँगली द्वारा विक्षेप हुआ। चन्द्रमा के कोई विक्षेप नहीं हुआ। अच्छी तरह मालूम है कि एक है। पर चन्द्रमा दो दिखलाई पड़ने लगते हैं। जगत् का आभास कर्म दोषों से उत्पन्न है। उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्र से नहीं हो सकती। चूक अपनी है चन्द्रमा की नहीं। इसी भाँति अपना द्वैत भाव राम में दिखाई पड़ता है। जबतक कार्य का लय नहीं होगा व्यवहार लय नहीं हो सकता। इसी भाँति स्वयं मलावृत होने से रामजी में मलिनता दिखाई पड़ने लगती है। हमें जब अन्धकार, धूम और धूलिका अनुभव होता है तब कहते हैं कि आकाश अन्धकार, धूम और धूलि से भर गया। तम से सूक्ष्म, धूम से स्थूल और धूलि से स्थूलतर मल कहा। यहाँ ब्रह्म की उपमा आकाश से दी गई। क्योंकि आकाश और चिदात्मा विलक्षण नहीं हैं। दोनों ही सूक्ष्म, निर्मल, अज, अनन्त, निराकार, असङ्ग और सबके भीतर बाहर व्याप्त है। चैतन्य-पूर्ण आत्मा ही आकाश है। उसमें किसी वस्तु का लेप नहीं हो सकता। जीव समझता है कि जैसी हमें सच्ची विकलता है वैसी ही रामजी को भी सच्ची विकलता है। यह निर्गुण निराकार में अध्यास का उदाहरण हैं। वह सबका प्रकाशक है। उसमें अज्ञानान्धकार कहाँ?

विषय[1] करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥३॥

अर्थ : विषय से इन्द्रियाँ, उनसे देवता और उनसे भी बढ़कर जीवात्मा सचेत है। इन सबका जो परम प्रकाशक है वही अनादि राम अयोध्याधिपति हैं।

व्याख्या : विषय। यथा : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। करण : पाँच

---

[1] एकावली अलङ्कार है।

कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और चार अन्तःकरण हैं। यथा : १. वाक् २. पाणि ३. पाद ४. पायु ५. उपस्थ : ये कर्मेन्द्रियाँ है। ६. श्रोत्र ७. त्वक् ८. चक्षु ९. जिह्वा १०. घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ११. मन १२. बुद्धि १३. चित्त और १४. अहंकार ये चार अन्तःकरण हैं। इनके देवता क्रम से १. अग्नि २. इन्द्र ३. उपेन्द्र ४. प्रजापति ५. मृत्यु ६. दिशा ७. वायु ८. सूर्य ९. वरुण १०. अश्विनी कुमार ११. चन्द्र १२. ब्रह्मा १३. वासुदेव और १४. रुद्र हैं। इनमें विषय से अधिक सचेत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों से अधिक चेतन देवता हैं। इन्हीं के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अपने विषय के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। देवताओं से भी अधिक सचेतन जीव है। जिसके होने से देवता भी अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं।

परन्तु इन सबका परम प्रकाशक अन्तर्यामी है। जैसे राजा, सभासद, नर्तकी और तालधारी सभी को दीप प्रकाशित करता है। इसी भाँति अनादि अन्तर्यामी राम सबको प्रकाशित करता है। वही अयोध्याधिपति राम हैं। अत्र शारदा की ओर से कहते हैं :

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥४॥

अर्थ : जगत् प्रकाश्य है और रामजी प्रकाशक हैं। वे माया के स्वामी और ज्ञान तथा गुणों के धाम हैं। जिनकी सचाई से जड़ माया मोह की सहायता से सत्य की भाँति भासित होती है।

व्याख्या : इस भाँति जगत् और रामजी के प्रकाश्य प्रकाशक का सम्बन्ध है। वे ज्ञान गुणधाम मायाधीश हैं। माया अघटितघटनापटीयसी है। उसके अधीश बनकर सगुण हुए। मिथ्या माया जड़ है। उसमें प्रकाशन शक्ति नहीं है। परिच्छेद के अवभास को अनात्माभास कहते हैं। वही अविद्या, जड़शक्ति, शून्य या प्रकृति कहलाता है। ब्रह्म चेतन हैं। उसकी सत्यता से जड़ माया : संसार : मोह : अज्ञान की सहायता से सत्य भी मालूम होती है। भाव यह कि रामजी में जो विरह, विकलतादि तुमने देखा वह माया थी। सत्य नहीं था। जब रामजी में सारा संसार बिना हुए दिखाई पड़ता है तो उतना विरह विकलतादि का बिना हुए दिखाई पड़ना कौन सी बड़ी बात थी। तुम्हारे अज्ञान की सहायता से वह सब सत्य दिखाई पड़ा।

दो. रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥११७॥

अर्थ : जैसे सीप में चाँदी और सूर्य की किरणों में जल भासित होता है। यद्यपि ये बातें तीनों काल में झूठी हैं पर उस भ्रम को कोई टाल नहीं सकता।

व्याख्या : सीप में रजत तीन काल में असत्य है। सीपों की सत्यता से उसमें सत्यता की प्रतीति होती है। सीपी का इदमंश रजत में प्रतीत होता है और सीपी का नील पृष्ठ त्रिकोणादि रूप तिरोहित रहता है। इसी भाँति परमात्मा में इस

मिथ्या जगत् की प्रतीति होती है। असंग आनन्दादि गुण तिरोहित हो जाते हैं और रजत की भाँति जगत् भासित होने लगता है। यह हुआ मन्द अन्धकार का भ्रम। अब प्रकाश का भ्रम कहते हैं। जेठ की दुपहरिया में जल का भ्रम होता है। वह जल तीन काल में असत्य है पर दिखलाई पड़ता है। ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति मात्र होती है। संसार दर्शन की निवृत्ति नहीं होती, वह तो उसी भाँति भासित होता रहता है। भ्रम न सकै कोउ टारि का यही अभिप्राय है कि असत्थ प्रतीति के बाद भी उसका दिखाई देना नहीं बन्द होता। उसी भ्रम को कोई टाल नहीं सकता। संसारभ्रम क्या टलेगा ?

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥१॥

अर्थ : इस भाँति जगत् हरि के सहारे रहता है। यद्यपि असत्य है पर दुःख दे रहा है। जैसे कोई सपने में सिर काटता हो तो बिना जागे दुःख नहीं दूर होता।

व्याख्या : ऊपर सीप में रजत और भानुकर में वारि के रहने की विधि कह आये कि उनकी भ्रान्तिमात्र होती है। इसी भाँति हरि में जगत् के होने की भ्रान्ति मात्रा है। वस्तुतः जगत् कुछ हुआ नहीं। भ्रान्तिमात्र है, मिथ्या है। फिर भी यह दुःख देता रहता है। उदाहरण देते हैं कि जैसे सपने में कोई सिर काटता हो। सिर तो वस्तुतः सुरक्षित है सिर का कटना बिल्कुल झूठ है। सपना देखनेवाला सिर के कटने की पीड़ा और मरने का दुःख ठीक ठीक अनुभव करता है। उसे उस दुःख से कोई छुटा नहीं सकता। बड़े बड़े वीर शस्त्रधारी कुटुम्वी : या मित्र उस दुःख से उसे वचा नहीं सकते। उसको दुःख से बचा देने का एकमात्र उपाय उसका जगाना है। जागने से ही उसका भ्रम मिट सकता है। स्वप्न के विकल्प में केवल मन ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप होकर विचित्रता से भासता है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकार से भासती है।

जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा ॥२॥

अर्थ : हे पार्वती ! जिसकी कृपा से ऐसा भ्रम मिट जाता है वही कृपाल रघुराई हैं। जिसका आदि और अन्त किसी को नहीं मिला। वेदों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रकार गान किया है।

व्याख्या : अर्थात् भगवत् कृपा सुजान जीवों को जगाती है कि तू जाग अर्थात् हरिपद में अनुराग कर यथा : ज़ानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागु त्यागु मूढ़तानुरागु श्री हरे। यहाँ मूढ़ता का त्याग और हरिपद में अनुराग करना ही जागना है। इसीसे भ्रम मिट जाता है। और फिर संसार के दुःख से छूट जाता है। उनके चरणों में अनुराग भी उनकी कृपा से ही होता है। अतः भगवत्कृपा प्राप्ति के लिए ही सारे शास्त्रीय प्रयत्न हैं।

जिसकी कृपा से संसारभ्रम की निवृत्ति होती है और जिसकी सत्ता से ही मिथ्या जगत् सत्तावान् है वही कृपाल रघुराई हैं। इसके बाद वेद की ओर से कहते हैं : जो अनादि और अनन्त है। मनुष्य की बुद्धि में सादि और सान्त पदार्थ ही आ सकते हैं। अनादि और अनन्त की मनुष्य भावना नहीं कर सकता। जिसका आदि और अन्त हो उसी का वर्णन सम्भव है। अनादि और अनन्त का कोई वर्णन भी नहीं कर सकता। वेद भी उसका वर्णन यावद्बुद्धिबलोदय ही करता है। अब उस श्रुति का अनुवाद श्री गोस्वामी जी करते हैं :

बिनु[1] पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥३॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥४॥

अर्थ : वह बिना पैर के चलता है। बिना कान के सुनता है। बिना हाथ के नाना प्रकार के कर्म करता है। बिना मुँह के वह सारे रसों का भोग करता है। वह महायोगी बिना वाणी के बड़ा भारी वक्ता है। वह शरीर के बिना छूता है। और बिना आँख के देखता और नाक के बिना सब गन्ध सूँघ लेता है। जिसकी करणी इस भाँति सब प्रकार से अलौकिक है उसकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती।

व्याख्या : अब निगम देखिये : श्वेताश्वतर उपनिषत् में कहा है। 'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। परमात्मा अपाणिपाद होने पर भी सब कुछ ग्रहण करते हैं। सर्वत्र गमन करते हैं। भौतिक चक्षु न होने पर भी वे सब देखते हैं। भौतिक कर्ण न होने पर भी वे सब सुनते हैं। अमनस्क होने पर भी वे सर्वज्ञ हैं। उनका कोई द्रष्टा या ज्ञाता नहीं है। वे सबके कारण हैं। इसलिए उन्हें प्रथम पूर्ण महापुरुष कहा जाता है।

योगी लोग आज भी ऐसे बहुत से कार्य कर दिखलाते हैं जिन्हें साधारण पुरुष विश्वास नहीं कर सकते। जिसकी प्रकृति जिस वस्तु के विश्वास करने की नहीं होती वह उस वस्तु का विश्वास नहीं कर सकता। आँख में पट्टी बाँधकर पीठ के द्वारा पुस्तक पढ़ने का कौतुक जिसने देखा है वह बिना हाथ के ग्रहण करने पर, बिना पैर के चलने पर, बिना आँख के देखने पर, बिना कान के सुनने पर अविश्वास

---

१. एक स्थान से पैर उठाकर दूसरे स्थान में रखना ही चलना है। जहाँ पहिले पैर था वहाँ भी वह है; जहाँ रक्खा जायगा वहाँ भी वह है, अतः वह बैठे ही बैठे दौड़नेवाले के आगे निकल जाता है। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्। वह श्रोत्र का भी श्रोत्र है, अतः बिना कान के सुनता है। उसके पाणि पाद सर्वत्र हैं। सर्वत्र शिर, मुख हैं। सर्वत्र कान हैं। सबको ढके हुए ठहरा है। यथा : सर्वतः पाणिपादं यत्सर्वतोक्षि शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वत्र पाणिपाद है, इसीलिए उसे अपाणिपाद कहते हैं।

नहीं कर सकता। फिर जिन कामों को योगिवर्य कर सकते हैं उन्हें परमेश्वर जो नित्य योगी हैं जो सर्वदा ऐश्वर्यशाली हैं अवश्य कर सकते हैं। वे बिना पैर के चल सकते हैं। बिना हाथ के ग्रहण कर सकते हैं। बिना कान के सुन सकते हैं। बिना आँख के देख सकते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इसी से बड़योगी अर्थात् महायोगी कहा है। लौकिक करणी के वर्णन के लिए शब्द हैं। अलौकिक पदार्थ के वर्णन के लिए शब्द नहीं मिलते। इसलिए जिस महाप्रभु की करणी सब भाँति से अलौकिक है उसकी महिमा नहीं वर्णन की जा सकती। यहाँ विभावना प्रथम है।

दो. जेहि इमि गावहि वेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसल पति भगवान ॥११८॥

अर्थ : जिसको वेद और पण्डित इस भाँति गाते हैं और मुनि जिसका ध्यान करते हैं वही दशरथ के पुत्र, भक्तों के हितकारी कोशलपति भगवान् हैं।

व्याख्या : जब शास्त्र और शास्त्रज्ञ दोनों जिनका इस प्रकार से गान करते हैं। मुनि लोग ध्यान में ऐसा ही अनुभव करते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि ऐसे के शरीर धारण करने की क्या आवश्यकता पड़ी। सब कुछ तो वे बिना इन्द्रियों के ही कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि वे भक्तों के हित करनेवाले हैं। भक्त के हित के लिए दशरथसुत कोशलपति हुए। स्वयम्भू मनु ने वर माँगा : चाहहुँ तुमहि समान सुत प्रभुसन कौन दुराव। आपने कहा : आप सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होव हम आई। अब पुराण की ओर से शिवजी कहते हैं :

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अंतरजामी ॥१॥

अर्थ : काशी में मरते हुए प्राणी को देखकर जिसके नाम के बल से मैं उसे शोकरहित कर देता हूँ वही रघुवर अन्तर्यामी जड़चेतन के और मेरे स्वामी सबके हृदय में हैं।

व्याख्या : उसी दशरथसुत कोसलपति की महिमा कहते हैं। काशी में उन्हीं के नाम के प्रताप से शिवजी मोक्ष का सदावर्त्त चलाते हैं। यहाँ आये हुए प्राणियों को मरते हुए देखकर शिवजी उसे रामनाम का उपदेश करते हैं। यथा : सिव उपदेस करत करि दाया। और उसी नामोपदेश के प्रभाव से वह शोक से पार होकर मुक्त हो जाता है। शिवजी कहते हैं कि वही मेरा स्वामी है और चराचर का स्वामी है। उसका निवास हृद्देश में है। भाव यह है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से सबके अन्तर में विराजमान हैं। अब अपनी ओर से कहते हैं :

विवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव वारिधि गोपद इव तरहीं ॥२॥

अर्थ : विवश होकर भी जिसका नाम यदि मनुष्य उच्चारण करते हैं तो

अनेक जन्मों के किये हुए पापों को जला डालते हैं। जो मनुष्य आदर के साथ स्मरण करते हैं वे संसार सागर को गोपद की भाँति तर जाते हैं।

व्याख्या : नाम में ऐसी पापदाहिका शक्ति है कि उसके उच्चारण होते ही पापराशि : अनेक जन्मकृत : रूई की भाँति जल जाती है। यथा : जासु नाम पावक अघ तूला : परन्तु पुण्य बच जाते हैं। जिनके भोगने में फिर पाप-पुण्य होते हैं। जिससे जन्म-मरण रूपी संसार बना रहता है। परन्तु सादर स्मरण करनेवाले के कर्ममात्र का दाह हो जाता है और ज्ञान उदय होता है। जिससे वे अनायास संसार-सागर से पार चले जाते हैं। कीचड़ में गौ के पैर पड़ने से जो गढ्ढा हो जाता है, उसमें कुछ जल रहता है। उसे ही यहाँ गोपद कहा है।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अवहित तव बानी ॥
अस संसय आवत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं ॥३॥

अर्थ : हे भवानी ! वही परमात्मा राम हैं। उनमें भ्रम है, यह कहना तुम्हारा अत्यन्त अनुचित है। ऐसा संशय मन में लाने से ज्ञान वैराग्य सब गुण चले जाते हैं।

व्याख्या : जिसके नाम का ऐसा प्रभाव है वह नामी परमात्मा है। यह सिद्ध हो चुका। तब वहाँ भ्रम का संशय करना अति अनुचित है। वहाँ यदि भ्रम दिखाई पड़े तो उसे अपना भ्रम समझना चाहिए। जिसे सूर्य तमोमय दिखाई पड़ें, उसे समझना चाहिए कि यह अपना भ्रम है। कुछ दोष मुझमें ऐसा आगया है जिससे ऐसा दिखाई पड़ रहा है। इस भाँति 'राम सो अवध नृपति सुत सोई' को छः बार दोहराया।

परमात्मा में भ्रम का संशय करना, ज्ञान विरागादि गुणों को निराश्रय करना है। जो उस परमात्मा में भ्रम होने का संशय करेगा जिसने कृपा करके हमारे लिए शरीर धारण किया तो इस दोषारोपण से उसी का अकल्याण होगा। भगवान् ने गीता में कहा है कि पापी मूढ़ मेरे शरण नहीं आते उन अधमों का ज्ञान माया से अपहृत हुआ है। वे आसुरभाव को प्राप्त हुए हैं। न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमास्थिताः।

सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटिगै सब कुतरक कै रचना ॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥४॥

अर्थ : शिवजी के भ्रमनाशक वचनों को सुनकर सब कुतर्क की रचना मिट गई। रघुपति के चरणों में प्रीति हुई, विश्वास हुआ और कठिन अविश्वास जाता रहा।

व्याख्या : 'सुनि' से चतुर्थ विनय[1] के उत्तर की समाप्ति दिखलाते हैं। और शिवजी के इस कथन का कि 'भ्रमतम रविकर वचन मम' का साफल्य भी दिखलाते हैं। इसीलिए उनके वचन का भ्रमभञ्जन विशेषण देते हैं। वेद विरुद्ध तर्क को

---

[1] अज्ञ जनि रिसि जनि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू ॥

कुतर्क कहा। वही प्रतीति का बाधक होता है। और जो दारुण असम्भावना रही 'जो नृप-तनय त ब्रह्म किमि' वह भी समाप्त हो गई।

दो. पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि, जोरि पंकरुह पानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११९॥

अर्थ : बार बार प्रभु के चरण कमलों को पकड़कर गिरिजा मानो प्रेम रस से सानी हुई श्रेष्ठ वाणी बोलीं।

व्याख्या : बार बार चरणस्पर्श से शिष्या की शुश्रूषा दिखलाई। अथवा चरणग्रहण से कर्मणा प्रेम, 'बचन बर' बोलने से वाचा और 'प्रेमरस सानि' से मनसा प्रेम दिखलाया।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ ॥१॥

अर्थ : चन्द्र की किरणों के समान आपके वचन सुनकर शरद-ऋतु की धूप के समान मेरे मोह का भारी ताप मिट गया। हे कृपालु! आपने सारे सन्देह हर लिये। मुझे रामजी का स्वरूप जान पड़ा।

व्याख्या : शिवजी ने स्वयं कहा था : सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रमतम रविकर बचन मम। परन्तु भगवती ने शीतलता का अनुभव किया। इसलिए कहती हैं कि : ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। शशिकर में मृगतृष्णा का भ्रम भी नहीं होता। अन्धकार भी मिटता है और शरद् काल की : चित्रा[1] की : कड़ी धूप का ताप भी मिटता है। यथा : सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई। सो उमा कहती हैं कि चन्द्र के किरण सी आपकी वाणी सुनकर मोहरूपी शरद् काल की कड़ी धूप का ताप मिट गया। विनती की थी कि : जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू। सो अब कह रही हैं कि : मिटा मोह। चौथी विनती के उत्तर में ही सब संशय मिट गया। अतः पाँचवें विनय : अजहूँ कछु संसउ मन मोरे। के उत्तर की आवश्यकता नहीं रह गई। चन्द्र के किरण सी वाणी से मोहरूपी शरदातप का मिटना कह आई हैं। अब उससे संशयरूपी अन्धकार का नाश भी कहती हैं। और उसके प्रकाश में रामजी के स्वरूप की जानकारी का होना भी कहती हैं। शिवजी ने कहा था : कि मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना। सो कहती हैं कि : तुम्ह कृपालु सब संसउ हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ। राम सच्चिदानंद दिनेसा। से राम सो परमातमा भवानी तक रामजी के स्वरूप का निरूपण शिवजी ने किया है। उसी पर कहा : राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ।

नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु चरन प्रसादा॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥२॥

---

[1] जब सूर्य चित्रा नक्षत्र पर जाते हैं उस समय की धूप कड़ी कही जाती है।

अर्थ : हे नाथ ! आपकी कृपा से मेरा विषाद जाता रहा। आपके चरणों के प्रसाद से मैं सुखी हो गई। यद्यपि मैं स्वभाव से ही जड़ तथा अनजान स्त्री हूँ। फिर भी आप मुझे अपनी दासी जानकर :

व्याख्या : पहिले संशय के रहने से विषाद था। यथा : संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु व्राता। शिवजी के वचनों से संशय जाता रहा। उसी के साथ विषाद भी मिट गया। अतः कहती हैं : नाथ कृपा अब गयउ विषादा। और रामजी के स्वरूप का ज्ञान हुआ। अतः कहती हैं : सुखी भइउँ प्रभु चरन प्रसादा।

सती से शिवजी ने कहा था : सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिअ उर काऊ। सो सती का शरीर छूटकर पार्वती देह मिलने पर भी वही संशय उठा। इसलिए अपना जड़त्व तथा अज्ञान स्वीकार करती हैं। अथवा पार्वती शरीर होने से अपने में जड़त्व और अज्ञान मान रही हैं। यथा : सत्य कहहु गिरि भव तनु एहा। हठ न छूट छूटै वरु देहा। फिर भी अपने को शिवजी की दासी मानती हैं। अपना निवास शङ्कर रूप कल्पवृक्ष के नीचे बतलाती हैं। इस भाँति श्रवण में अपना अधिकार द्योतित करती हैं।

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मोपर प्रसन्न प्रभु अहहू ॥
राम ब्रह्म चिनमय अविनासी। सर्ब रहित सब उर पुरवासी ॥३॥

अर्थ : हे प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो जो बात मैंने आपसे पहिले पूछी थी उसे कहिये। रामजी ब्रह्म, चिन्मय और अविनाशी हैं। सबसे रहित और सबके उररूपी पुर में निवास करते हैं।

व्याख्या : अब शेष तीन विनयों के उत्तर की भी आवश्यकता नहीं रह गई। अतः पहिले प्रश्न की ओर ध्यान दिलाती हैं। यथा : प्रथम सो कारन कहहु विचारी। निगुन ब्रह्म सगुन वपुधारी। और उसी बात को स्पष्ट करती हैं। ब्रह्म, चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित, सब उरपुर वासी। ये पाँचों विशेषण ऐसे हैं जिससे रामजी के नर तन धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। और प्रयोजन के बिना कार्य में प्रवृत्ति होती नहीं। केवल इसी बात का उत्तर चाहती हैं।

नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू ॥
उमा वचन सुनि परम विनीता। राम कथा पर प्रीति पुनीता ॥४॥

अर्थ : हे नाथ ! हे वृषकेतु ! यह समझाकर कहिये कि उन्होंने मनुष्य का शरीर किस कारण से धारण किया ? उमा के अत्यन्त विनीत वचन सुनकर और राम कथा पर पवित्र प्रेम देखकर :

व्याख्या : ब्रह्म, चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित और सर्वान्तर्यामी का नर शरीर धारण करना किसी भाँति उपयुक्त नहीं है। यदि शरीर धारण करना ही था तो देव शरीर धारण करते। नर देह तो भवपार उतरने के लिए है। यथा : नरतन

भववारिधि कहुँ बेरो। परमेश्वर तो नित्य मुक्त हैं। उन्हें तो भवपार उतरना नहीं है कि नर शरीर धारण करें। अतः समझाकर कहने के लिए प्रार्थना करती हैं।

उमा के वचन परम विनीत हैं। यथा : सुखी भइउँ प्रभुचरन प्रसादा। अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी। तथा रामकथा पर पुनीत प्रेम है। यथा : नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहिं समुझाइ कहहु वृषकेतु। वृषकेतु सम्बोधन का भाव यह है कि आप वृषकेतु हैं। वृषो हि भगवान् धर्मः। भगवान् धर्म ही वृष है। अतः आप धर्म की सूक्ष्म गति जानते हैं। नरतन धारण करने में भी धर्म ही कारण होगा। सो आप बतला सकते हैं। प्रीति पुनीत स्वार्थरहित प्रीति का ग्रहण है। यथा : प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ विसेखी।

दो. हिय हरखे कामारि तब, संकर सहज सुजान।
बहु विधि उमहि प्रसंसि पुनि, बोले कृपा निधान ॥१२०॥

अर्थ : कामदेव के शत्रु, सुजान, कृपानिधान शिवजी मन में प्रसन्न हुए और उमा की अनेक विधि से प्रशंसा करके फिर बोले।

व्याख्या : शिवजी कामारि हैं। भक्ति देखकर ही हर्षित होते है। सहज सुजान हैं। अतः विनीत वचन से सुखी होते हैं। रामकथा पर प्रीति देखकर उन्होंने बहु विधि से प्रशंसा की। पहले कृपा करके संशय हरण कर लिया। फिर भी कृपा करके शेष विनयों का उत्तर देते हैं। किसी विनय की उपेक्षा नहीं होने देते अतः कृपानिधान कहा।

सो. सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरितमानस विमल।
कहा भुसुंडि वखानि, सुना बिहग नायक गरुड़ ॥१२०॥क
सो संवाद उदार, जेहिं विधि भा आगें कहब।
सुनहु राम अवतार, चरित परम सुंदर अनघ ॥१२०॥ख
हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार, कहौं उमा सादर सुनहु ॥१२०॥ग

अर्थ : हे भवानि ! रामचरितमानस की शुभ कथा सुनो : जिसे कागभुसुण्डि ने वखानकर कहा था और पक्षिराज गरुड़जी ने सुना था।

वह उदार संवाद जिस भाँति हुआ इसे मैं आगे कहूँगा। अभी तुम रामचन्द्रजी के अवतार का परम सुन्दर और पापरहित चरित सुनो।

हरि के गुण और नाम अपार हैं। कथा के रूप भी अगणित और असीम हैं। हे उमा ! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूँ। आदर पूर्वक सुनो।

व्याख्या : अजहूँ कछु संसउ मन मोरे। इस पाँचनें विषय का उत्तर पाँचवें सुनु शब्द से सूचित करते हैं। भाव यह कि प्रसङ्ग प्राप्त बचे वचाये संशय के

निरसन के लिए गरुड़ भुसुण्डि संवाद अन्त में कहेंगे। यहाँ से चारों घाट की कथाएँ प्रारम्भ हुईं।

कहहु पुनीत रामगुन गाथा। इस छठे विनय का उत्तर देते हैं। कहते हैं कि वह संवाद उदार है। अर्थात् सुन्दर है। यथा : उदार अंग विभूषणम्। भाव यह कि इस कथा का ऐमा माहात्म्य है कि यदि काक प्रेम से कथा कहने बैठे तो विहङ्ग-नायक साक्षात् प्रभु की विभूति गरुड़ सुनने के लिए आजावें। इस समय रामकथा कहेंगे। भुसुण्डि गरुड़ संवाद होने की विधि आगे चलकर कहेंगे। क्योंकि उक्त संवाद में ही उमा के चार प्रश्न नवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें का उत्तर है। इस समय उन्हें कहने से उत्तर का क्रम भङ्ग हो जायगा।

बरनहु रघुबर बिमल जस। इस सातवें विनय का उत्तर देते हैं कि हरि के असीम होने से उनके नाम और गुण भी अपार हैं। कल्प भेद हरि चरित सोहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं। अतः कथारूप अगणित हैं। और उनमें से एक एक का रूप अमित है। ऐसी अवस्था में मति अनुसार ही कहा जा सकता है। अब सादर सुनने के लिए आज्ञा देते हैं। सादर न सुनने से कथन का प्रभाव नहीं पड़ता। यथा : एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ। और कथा का अनादर होता है।

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥१॥

अर्थ : हे पार्वती सुनो! वेद और शास्त्रों ने भगवान् के सुन्दर, विस्तृत और निर्मल चरित का गान किया है। हरि का अवतार जिस कारण होता है वह कारण यह है और ऐसा ही है। इस रूप से नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या : रघुपति कथा कहहु करि दाया। इस आठवें विनय का उत्तर देते हैं। सुहावा न कहकर बहुवचन सुहाए का प्रयोग करते हैं। अर्थात् एक कल्प की कथा कहेंगे। यह दिखलाने के लिए कि लीलाएँ सामान्यतः एक रूप की होती हुई भी विस्तार में प्रत्येक की विशेषता है।

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी। अथवा सर्व रूप सब रहित उदासी। नाथ धरेहु नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू। ये दोनों प्रश्न एक ही हैं और एक ही मानकर उमा ने पूछा है। यथा : प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। उसी प्रथम प्रश्न का उत्तर आरम्भ होता है। इदमित्थम् का अभिप्राय यह है कि निश्चय करके एक कारण का नाम नहीं लिया जा सकता।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥२॥

अर्थ : हे भवानी! सुनो मेरा मत तो यह है कि रामजी में बुद्धि मन और

वाणी से तर्क चल नहीं सकता। फिर भी सन्त, मुनि, वेद और पुराण जैसा कुछ अपनी बुद्धि की गति के अनुसार कहते हैं :

व्याख्या : राम में तर्क की गति नहीं है। यदि तर्क की गति होती तो उनके अवतार के विषय में इदमित्थम् कुछ कहा जा सकता था। बुद्धि, मन और वाणी द्वारा ही तर्क की प्रक्रिया होती है। सो बुद्धि, मन और वाणी की गति समीप : परिच्छिन्न पदार्थों में होती है। अनादि अनन्त पदार्थ बुद्धि में आही नहीं सकता। किं पुनः राम सर्वाश्चर्यमय देव में। यथा : सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्। वहाँ न चक्षु की पहुँच है न वाणी की पहुँच है न मन की पहुँच है। हमलोग नहीं जानते कि उसे कैसे बतलावें। वह जाने हुए और न जाने हुए से पृथक् हैं। यथा : न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। श्रुतिः। इसलिए शिवजी कहते हैं कि रामजी बुद्धि मन वाणी से अतर्क्य हैं। अतः उनके अवतार के विषय में भी तर्क नहीं चल सकता। यहाँ पर मुनि, वेद, पुराण तथा सन्तों का कथन भी उनकी बुद्धि की गति के अनुसार ही माना जायगा। इदमित्थं कहने की उन्हें भी योग्यता नहीं है। उमा ने अपने को जदपि सहज जड़ नारि अयानी कहा था। अतः शिवजी उनका प्रोत्साहन करते हुए सयानी कहकर सम्बोधन करते हैं।

तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही ॥
जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी ॥३॥

अर्थ : हे सुमुखि ! जैसा कारण मेरी समझ में आता है वैसा मैं तुम्हें सुनाता हूँ। जब जब धर्म की हानि होती है और अधम अभिमानी असुर बढ़ते हैं।

व्याख्या : इदमित्थं तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु वेद, पुराण, मुनि और सन्तों की इस विषय में जो सम्मति है वही मेरी भी सम्मति है। बहुत काल से धर्मानुष्ठान चलता रहता है। फिर काल पाकर धर्मानुष्ठान करनेवालों के अन्तःकरण में कामनाओं का विकास होने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। ऐसे अधर्म से जब धर्म दबने लगता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब अधम अभिमानी असुर बढ़ते हैं। अधम अभिमानी कहने का भाव यह कि प्रभु के आश्रितों को पीड़ा देनेवालों यथा : मम भुजबल आश्रित तेही जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी : का अभ्युदय होता है। सुमुखि सम्बोधन से उमा पर अपनी प्रीति दिखलाई।

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥४॥

अर्थ : ऐसी अनीति करते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण, गाय, और पृथ्वी पीड़ित होती हैं, तब तब प्रभु विविध शरीर धारण करके कृपानिधि सज्जन की पीड़ा हरण करते हैं।

व्याख्या : यज्ञ यागादि ही मुख्य धर्म हैं। यथा : यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि

धर्माणि प्रथमान्यासन् । उनके मुख्य साधन हैं ब्राह्मण और गाय । ब्राह्मण में मन्त्र प्रतिष्ठित हैं और गाय में हवि प्रतिष्ठित है । सो अधम अभिमानी असुर इन्हीं को पीड़ा पहुँचाते हैं । और ऐसे अधर्मों का भार पृथ्वी सह नहीं सकती । अतः वह भी पीड़ित होती है । तब तब जगत् की स्थिति सुरक्षित रखने की इच्छावाले आदि कर्त्ता श्रीरामजी : संभु विरञ्चि विष्णु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना । भूलोक के ब्रह्म की अर्थात् ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए : क्योंकि ब्राह्मणत्व की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित होगा । कारण यह है कि वर्णाश्रम के भेद उसी के अधीन हैं । ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि गुणों से सदा सम्पन्न भगवान् त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दिखाई पड़ते हैं । यथा : मीन कमठ सूकर नरहरी । वामन परसुराम वपुधरी । जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो ।

दो. असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु ॥१२१॥

अर्थ : असुरों को मारकर देवताओं को स्थापन करते हैं । अपने वेदरूपी पुल की रक्षा करते हैं । निर्मल यश का जगत् में विस्तार करते हैं । यही रामजन्म के कारण हैं ।

व्याख्या : रामजी ही नाना अवतारों के निधान अव्यय बीज हैं । ये ही अवतीर्ण होकर असुरों को मारकर सुरों की थापना करते हैं । भाव यह कि असुर लोग देवताओं को बलपूर्वक उनके पद से हटा देते हैं । यथा : करजोरे सुर दिसिप विनीता । भ्रुकुटि विलोकत सकल सभीता । भगवान् ही उन्हें अपने स्थान पर पुनः स्थापन में समर्थ हैं अपने श्रुतिसेतु की रक्षा करते हैं । और इस भाँति निर्मल यश का विस्तार करते हैं । जिसे गा गाकर लोग भवसागर को पार करते हैं । यही रामजन्म का कारण है । गीता में भी भगवान् ने कहा है : यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ॥
राम जनम के हेतु अनेका । परम विचित्र एक तें एका ॥१॥

अर्थ : उसी यश का गान करके भक्त संसार को तर जाते हैं । कृपासिन्धु भक्तों के लिए शरीर धारण करते हैं । रामजन्म के अनेक कारण हैं और वे एक से एक विचित्र हैं !

व्याख्या : उस यश का गान भवसन्तरण का उपाय है । निष्कर्ष यह निकला कि भक्तों के लिए शरीर धारण करते हैं क्योंकि कृपासिन्धु हैं । करुणा की तरङ्गें उठा करती हैं । यथा : सहे सुरन्ह बहुकाल विषादा । नरहरि किये प्रगट प्रहलादा ।

सभी अवतारों का साधारण कारण कहकर अब रामावतार के कारण कहते हैं। रामावतार के कारण एक से नहीं होते। प्रति अवतार के लिए भिन्न कारण होते हैं। इसीलिए उन्हें एक से एक परम विचित्र कहा।

जनम एक दुइ कहौं बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी ॥
द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु विजय जान सब कोऊ ॥२॥

अर्थ : हे सुमति ! भवानि ! सावधान होकर सुनो, मैं एक दो जन्म का वर्णन करता हूँ। हरि के प्रिय दो[1] द्वारपाल हैं। जिनका नाम जय और विजय परम प्रसिद्ध है।

व्याख्या : भगवती ने अपने को 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' कहकर अत्यन्त कार्पण्य दिखलाया है। अतः सुमति भवानी कहकर उनके दैन्य का मार्जन शिवजी करते हैं। तीन जन्म न कहकर एक दुइ कहने का यह भाव है कि एक बार तो अपने सेवकों के हित के लिए शरीर धारण किया और दो बार शाप के कारण जन्म ग्रहण किया था। सर्व रूप सब रहित उदासी। नाथ धरेउ नरतन केहि हेतू। सो समुझाइ कहौं वृषकेतू : का उत्तर : सावधान सुनु सुमति भवानी : कहकर दे रहे हैं। सावधान का भाव : चञ्चल मन ही सब दुःखों का आदि कारण है। अतः श्रवण करने में मन स्थिर रखना चाहिए। अनादर से सुना हुआ नहीं सुनने के बराबर है। द्वारपाल बहुत हैं। पर हरि के प्रिय होने से जय और विजय को सभी जानते हैं।

विप्र साप तें दूनौं भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥
कनक कसिपु अरु हाटकलोचन। जगत विदित सुरपति मद मोचन ॥३॥

अर्थ : ब्राह्मण के शाप से उन दोनों भाइयों ने तमाम असुर का देह पाया। वे ही हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष हुए। वे इन्द्र के मद को दूर करनेवाले सारे विश्व में प्रसिद्ध हुए।

व्याख्या : सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार की उपमा मूर्तिमान् चारों वेदों से दी गई है। यथा : रूप धरे जनु चारिउ वेदा। इसलिए उन्हें विप्र कहा गया। उनका शाप विप्रशाप है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता। यथा : किये अन्यथा होइ नहि विप्रशाप अतिघोर। सनकादिक को जय और विजय ने वैकुण्ठ में प्रवेश करने से रोका था। इसी पर रुष्ट होकर उन लोगों ने शाप दिया था। वैकुण्ठ के द्वारपाल होने से उनका सात्त्विक शरीर था। सनकादिक के शाप से उनका वैकुण्ठ से पतन हुआ। उन्हें तामस शरीर असुर का मिला।

वे ही हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष नामी आदि दैत्य दिलि के गर्भ से उत्पन्न हुए। देवराज इन्द्र वीर रस के अधिष्ठाता हैं। उन्हें युद्ध का अभिमान है। यथा : जे सुर समर धीर बलवाना। जिनके लरिबे कर अभिमाना। तो इन दोनों ने उनका युद्धाभिमान छुड़ा दिया। यह कथा लोक में प्रसिद्ध है :

---

[1] वैकुण्ठ के पश्चिम द्वार पर इन्हीं का पहरा रहता है।

विजई समर वीर विख्याता । धरि वराह वपु एक निपाता ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा । जन प्रहलाद सुजस विस्तारा ॥४॥

अर्थ : वे विजय करनेवाले युद्ध में विख्यात वीर थे। वाराहावतार धारण करके भगवान् ने एक को मारा। नृसिंहावतार धारण करके दूसरे को मारा और भक्त प्रह्लाद का सुयश फैलाया।

व्याख्या : ये दोनों दैत्य समर में विख्यात वीर थे। इनकी हार कभी हुई ही नहीं, जीतते ही गये। सो भगवान् ने वाराहावतार धारण करके हिरण्याक्ष को मारा।

हिरण्यकश्यप के पुत्र प्रह्लाद भगवान् के भक्त थे। अतः हिरण्यकश्यप ने क्रुद्ध होकर प्रह्लाद को बड़ी बड़ी यन्त्रणाएँ दीं। पर प्रह्लाद ने हरिभजन नहीं छोड़ा। कवितावली में कहा है :

तानि कृपान कृपा न कहूँ, पितुकाल कराल विलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाँउ हैं खम्भ में? हाँ सुनि हाँक नृकेहरि जागे॥
वैरि विदारि भये विकराल कहें प्रहलादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तबते सब पाहन पूजन लागे॥

नरहरि कहने से हिरण्यकश्यप का ब्रह्मसृष्ट प्राणी से अवध्य होना सूचित किया। उसने भक्त प्रह्लाद को रामनाम ग्रहण से रोकना चाहा। प्रह्लाद के लिए खम्भ में से नृसिंह भगवान् का प्रकट होना संसार जानता है। प्रह्लाद पुण्यश्लोक हो गये। प्रातःस्मरणीय हो गये। सभी प्रातःकाल उठकर 'प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक' इत्यादि पाठ करते हैं।

दो. भए निसाचर जाइ तेइ, महावीर वलवान।
कुंभकरन रावन सुभट, सुर विजई जग जान ॥१२२॥

अर्थ : वे ही दोनों जाकर वलवान् और महावीर राक्षस हुए, उनका नाम कुम्भकर्ण और रावण हुआ। संसार जानता है कि ये सुरविजयी सुभट थे।

व्याख्या : असुर से निशाचर हुए। निशाचर की सङ्करी सृष्टि होती है। ये दोनों दैत्यकन्या[1] में विश्रवा मुनि से उत्पन्न हुए थे। पहिले जन्म में भी जगविदित हुए थे और इस जन्म में भी परम प्रसिद्ध हुए। इसी कल्प की कथा में सेतु बन्ध के बाद मन्दोदरी का समझाना कहा। यथा : महावीर दिति सुत संहारे।

मुकुत न भए हते भगवाना । तीनि जनम द्विज वचन प्रवाना ॥
एक बार तिन्ह के हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥१॥

अर्थ : भगवान् ने मारा पर मुक्त न हुए। ब्राह्मण के वचन का प्रमाण तीन जन्म के लिए था। एक बार उनके लिए भक्तानुरागी ने शरीर धारण किया।

व्याख्या : भगवान् के हाथों वध होने से मुक्ति होती है। पर जय और विजय

---

[1] देखिये अध्यात्म उत्तर काण्ड प्रथम सर्ग। वाल्मी० काण्ड ७ सर्ग ९।

की मुक्ति न हुई। क्योंकि उनकी मुक्ति में सनकादिक का शाप बाधक था। सनकादिक ने शाप दिया था कि तीन वार युद्ध करके मरेंगे। तब वैकुण्ठ में गति होगी। पहिली बार हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप होकर क्रम से वाराह और नृसिंह के हाथ मारे गये। दूसरी बार वे ही कुम्भकर्ण और रावण हुए। तब रामजी के हाथ मारे गये। फिर वे ही वक्रदंष्ट्र और शिशुपाल हुए। तब क्रम से बलराम और कृष्ण भगवान् के हाथ से मारे गये तब मुक्ति हुई। सो एक बार उनके लिए भगवान् ने भक्तानुरागी शरीर धारण किया। अर्थात् रामावतार हुआ। रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। यथा : ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत वन फिरत कंटक किन लहे। भगवान् के चरण के चार चिह्नों का वर्णन बार बार रामचरिमानस में आता है। सो इन चार चिह्नों : ध्वज कुलिश अंकुश और कञ्ज : से युक्त जो चरण हैं उनके वन में फिरते हुए कण्टकविद्ध होने का योग किसे हुआ ? अर्थात् सिवा रामावतार के और किसी अवतार में ऐसा योग नहीं हुआ। क्योंकि रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। ये भक्त पर इतना अनुराग करते हैं कि उनके लिए वन वन में फिरे। चरणों में काँटे लगे। यह देखकर ज्योतिषी चकित हुए। यथा : राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे। मारग चलहु पयादेहिं पाएँ। ज्योतिषु झूठ हमारेहि भाएँ।

कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या विख्याता ॥
एक कलप एहि विधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा ॥२॥

अर्थ : वहाँ कश्यप और अदिति पिता माता हुए। दशरथ कौसल्या के नाम से प्रसिद्धि हुई। एक कल्प में इस प्रकार अवतार हुआ। और चरित्र से संसार को पवित्र किया।

व्याख्या : जय और विजय जिस कल्प में कुम्भकर्ण और रावण हुए थे उस कल्प में कश्यप और अदिति दशरथ कौसल्या हुए। भाव यह कि तीन काल में जब रामावतार होगा तब दशरथ और कौसल्या नामधारी ही पिता माता होंगे। अतः श्रीरामजी के पिता माता का नाम दशरथ कौसल्या विख्यात है।

श्रीरामावतार प्रत्येक कल्प में एक ही बार होता है। यथा : कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। सो एक ही कल्प में इस विधि से अवतार हुआ और चरित्र से संसार को पवित्र किया। यथा : जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा ॥३॥
परम सती असुराधिप नारी। तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥४॥

अर्थ : एक कल्प में जलन्धर से सब देवता युद्ध में हार गये। उन्हें दुःखी देखकर शिवजी ने अपार युद्ध किया। पर वह महाबली दैत्य मारे नहीं मरता था।

उस असुरराज की स्त्री बड़ी पतिव्रता थी। उस बल से शिवजी उसे जीत नहीं सकते थे।

व्याख्या : दूसरे कल्प की कथा कहते हैं। प्रत्येक जन्म के कारण भिन्न हैं। अतः कथा अमित है। जलन्धर से सब देवता लड़े और हार गये। जलन्धर असुरों का राजा था। बिना उसके मारे देवताओं का दुःख दूर नहीं हो सकता था। उन्हें दुःखी देखकर शिवजी स्वयं युद्ध के लिए खड़े हुए। जलन्धर उन्हें जीत तो न सका पर मारा भी नहीं गया। न मारे जाने का कारण कहते हैं कि परम सती के पति को शङ्कर भी नहीं मार सकते। और उसकी स्त्री वृन्दा परम सती थी। इसलिए वह मरता नहीं था। संग्राम जारी रहा। अतएव उस संग्राम को अपार कहा। जलन्धर भी पार पाने में असमर्थ था। अब बात वृन्दा के सतीत्व पर आ गई। उसका सतीत्व-टले तो जलन्धर मरे।

दो. छल करि टारेउ तासु व्रत, प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब, स्राप कोप करि दीन्ह ॥१२३॥

अर्थ : छल से उसका व्रत टाला और प्रभु ने देवताओं का काम किया। जब उसने यह मर्म जाना तब क्रोध करके शाप दिया।

व्याख्या : उस वृन्दा का व्रत टालना विष्णु के लिए भी साध्य नहीं था। अतः जलन्धर के रूप से उसका व्रत भङ्ग किया। जलन्धर भी उसी उद्योग में शङ्कर का रूप धारण करके उमा के पास गया था। तब तक वृन्दा का व्रत भङ्ग हो गया। समाचार पाकर क्रोध से युद्ध के लिए शिवजी के सम्मुख गया और मारा गया। यश के नाश को न डरे। भक्तों का कार्य किया। जब वृन्दा को अपने सतीत्व भङ्ग और जलन्धरवध का पता चला तो उसने क्रोध करके शाप दिया।

तासु स्राप हरि दीन्ह प्रवाना। कौतुक निधि कृपाल भगवाना ॥
तहाँ जलंधर रावन भएउ। रन हति राम परम पद दएऊ ॥१॥

अर्थ : भगवान् बड़े कौतुकी और कृपाल हैं। उसके शाप को स्वीकार किया। उस कल्प में जलन्धर रावण हुआ। जिसे युद्ध में मारकर रामजी ने परमपद दिया।

व्याख्या : भगवान् को शुभाशुभ कर्म का लेप नहीं है। यथा : कर्म सुभासुभ तुमहि न बाधा। उनके लिए शाप अप्रमाण था। पर स्वयं उसे प्रामाण्य प्रदान किया। इसके लिए दो कारण कहते हैं : १. एक तो भगवान् कौतुकनिधि हैं। शाप मान लेने से कौतुक के लिए अवसर मिलेगा और जलन्धर भी मुक्त हो जायगा। २. दूसरे कृपाल हैं। वृन्दा छली गई हैं। उस पर बड़ी कृपा है। उसका कोप व्यर्थ जाने से उसे और भी दुःख होगा। अतः उसके शाप का प्रमाण दिया।

उस कल्प में जलन्धर रावण हुआ। प्रति कल्प में रामावतार होता है, पर उसके पहिले रावणावतार भी होता है। यह बात दूसरी है कि रावण दूसरे ही दूसरे होते हैं। उस कल्प में कुम्भकर्ण और विभीषण के होने का पता नहीं चलता।

जलन्धर की रावणरूप में मुक्ति हुई। इसलिए परमपद दयऊ कहते हैं। जलन्धर रावन भयऊ : कहने से ही जलन्धर का वध द्योतित किया। रावन भयऊ कहकर यह दिखलाया कि जलन्धर जन्म में तो दुःख देता ही था। रावण जन्म में तो देवताओं को रुलाने लगा। रावण का अर्थ ही रुलानेवाला है।

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा ॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कविन घनेरी ॥२॥

अर्थ : एक जन्म का यह कारण था जिससे रामजी ने नर देह धारण किया। हे मुनि ! प्रभु के प्रत्येक अवतार की बहुत सी कथाएँ मुनियों ने वर्णन की हैं।

व्याख्या : एक जन्म का कारण तो वृन्दा का शाप हुआ। उसके व्रत भङ्ग के समय दो बन्दर जलन्धर की कटी शरीर लेकर आये। जिसे जोड़कर महात्मा-वेषधारी विष्णु ने जिला दिया। उसे विश्वास हो गया कि यही मेरा पति है। युद्ध में मारा गया था। सो महात्मा के प्रसाद से जी उठा है। अतः उसी जिलाये हुए जलन्धर द्वारा उसका व्रत भङ्ग हुआ। पीछे से उसे मालूम हुआ कि यह सब विष्णु की माया थी। अतः उसने उन्हें मनुष्य हो जाने का और बन्दरों द्वारा सहायता प्राप्त करने का शाप दिया। इसी भाँति प्रति अवतार की विचित्र कथाएँ हैं। उन्हें मुनियों ने वर्णन किया है। यहाँ भरद्वाज को मुनि कहकर सम्बोधन किया। इससे पता चलता है कि इस कल्प की कथा कर्मघाट पर हुई।

नारद स्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥
गिरिजा चकित भईं सुनि वानी। नारद बिस्नु भगत पुनि ग्यानी ॥३॥

अर्थ : एक बार नारद मुनि ने शाप दिया। एक कल्प उसी के लिए अवतार हुआ। यह बात सुनकर गिरिजा बड़ी चकित हुईं। और बोलीं कि नारद तो विष्णु-भक्त और ज्ञानी हैं।

व्याख्या : जय विजय वाले कल्प में उनके उद्धार के लिए विष्णु ने अवतार ग्रहण किया था। पर दो अवतारों में शाप के कारण नर देह ग्रहण किया। इसीलिए सीधे-सीधे तीन कल्प न कहकर : जनम एक दुई कहौं बखानी : कहा। नारदजी का शाप देना सुनकर भवानी एकदम चकित हो गईं। शाप तो क्रोधी देते हैं। सो भगवान् को शाप भक्त कैसे देगा ? नारद[1] का अर्थ ही अज्ञान हरण करनेवाला है। उन्हें क्रोध कैसे हुआ ? वे भक्त हैं। उन्होंने अपने स्वामी को शाप कैसे दिया ?

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा ॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी ॥४॥

अर्थ : मुनि ने किस कारण से शाप दिया ? रमापति ने उनका क्या अपराध

---

[1] नारं अज्ञानम् द्यति खण्डयतीति नारदः।

किया ? हे पुरारि ! यह प्रसंग मुझसे कहो। मुनि के मन में मोह हुआ यह भारी आश्चर्य की बात है।

व्याख्या : मुनि के शाप का कोई कारण हो नहीं सकता। रमापति का अपराध पूछती हैं। नारद में अपराध की कल्पना भी नहीं करतीं। इतनी श्रद्धा गुरु पर है। दो कल्पों की कथा सुनी, प्रसङ्ग नहीं पूछा। नारद को मोह सुनकर चकित हैं। मोह विना क्रोध कैसे हुआ ? बिना क्रोध श्राप कैसे दिया ? संक्षेप में कथा समाप्त करते देखकर पूरा प्रसङ्ग सुनने के लिए प्रार्थना करती हैं।

दो. बोले बिहँसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥१२४॥
सो. कहौं रामगुन गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥१२४॥ क

अर्थ : शिवजी ने तब विहँसकर कहा : न कोई ज्ञानी है, न मूढ़ है। जब रघुपति जिसको जैसा कर देते हैं वह उस समय वैसा ही हो जाता है।

हे भरद्वाज ! मैं रामजी की गुणगाथा कहता हूँ। तुम आदर से सुनो। रघुनाथ भवभञ्जन हैं। तुलसीदासजी अपने को कहते हैं कि तू मान मद छोड़कर उनका भजन कर।

व्याख्या : उमा की इतनी आस्था ज्ञान और ज्ञानी पर देखकर शिवजी हँसे और कहा कि ज्ञान और मोह दोनों के प्रेरक रघुपति हैं। इसमें जीव का कोई चारा नहीं। यथा : नट मर्कट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत। मर्कट की ज्ञान चेष्टा या अज्ञान चेष्टा, उसकी की हुई नहीं है। वह सब नट को करामात है। यथा : पसु नाचत सुक पाठ प्रवीना। गुन गति नट पाठक आधीना।

याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज को सावधान करते हैं कि सादर सुनहु। गोसाईं जी अपने मन को सावधान करते हैं कि तू मान मद छोड़कर भजन कर। भजन करने में भी तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है। उसकी कृपा से ही तुम भजन करते हो। अतः भजन का श्रेय तुम्हें कुछ नहीं। इसलिए मान मद छोड़ने को कहते हैं। भरद्वाज जी प्रेम में डूबाडूब हैं। यथा : प्रेम विवस मुख आव न बानी। अतः याज्ञवल्क्यजी बारम्बार उन्हें सावधान करते हैं कि कथा सुनने से ही भक्ति उपजती है। अतः कथा के प्रति अनवधानता न होने पावे।

२. नारद मोह प्रसङ्ग

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥
आश्रमु परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥१॥

अर्थ : हिमालय में एक बड़ी पवित्र गुफा थी। उसके पास ही सुन्दर गङ्गाजी बहती थीं। उस परम पवित्र और सुन्दर आश्रम को देखकर नारदजी के मन को अत्यन्त अच्छा लगा।

व्याख्या : हिमालय में बहुत सी पवित्र गुफाएँ हैं। उनमें से एक अत्यन्त पवित्र थी। पर्वत में गुफा, सामने सुन्दर गङ्गा का प्रवाह, उस पार वन। यह दृश्य इतना मनोहर था कि ब्रह्मलोक निवासी नारदजी को बहुत प्रिय लगा। यह आश्रम परम पवित्र और रमणीय है। समाधि योग्य स्थान है।

निरखि सैल सरि विपिन विभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥
सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी॥२॥

अर्थ : पर्वत नदी और वन के विभाग को देखकर रमापति के चरणों में अनुराग हुआ। हरि को स्मरण करते ही शाप की गति रुक गई और स्वभाव से ही निर्मल मन था। समाधि लग गई।

व्याख्या : प्रकृति की शोभा देखकर उसके रचयिता के चरणों में अनुराग हुआ। शैल का विभाग जहाँ से समाप्त होता है वहाँ से सरिता का विभाग आरम्भ हो जाता है। उसे समाप्त होते न होते वनविभाग आरम्भ हो जाता है और फिर भी सब में सामञ्जस्य रहता है। प्रकृति की शान्त शोभा देखकर मन भी शान्त हो जाता है। वन की श्री देखकर श्रीपति के चरणों में अनुराग होता है। नारदजी वहीं ठहर कर हरि का स्मरण करने लगे अर्थात् भगवन्नाम जप और उसके अर्थ की भावना आरम्भ हुई। इसके प्रत्यक् चेतन का अधिगम हुआ और अन्तराय का अभाव हुआ। ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च। यो. सू.। शाप की गति रुक गई। नारदजी को दक्ष का शाप था कि वे कहीं स्थिर न रहें सो स्थिर हो गये। मन स्वभाव से ही निर्मल था। भगवच्चरणों में अनुराग उठा ही था। समाधि लग गई। यथा : ईश्वरप्रणिधानाद्वा। यो. सू.।

मुनि गति देखि सुरेस डराना। कामहिं बोलि कीन्ह सनमाना॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरखि हिय जलचरकेतू॥३॥

अर्थ : मुनि की गति देखकर इन्द्र डरे। कामदेव को बुलाकर सम्मान किया और कहा कि मेरे लिए तुम सेना के सहित जाओ। कामदेव हृदय में हर्षित होकर चले।

व्याख्या : भारी तपस्वियों से इन्द्र को भय रहता है। इतनी बड़ी समाधि लगी कि इन्द्र भयभीत हो उठे। विघ्नाचरण के लिए काम को बुलाया। कार्य लेना है इसलिए सम्मान किया। जहाँ प्राण लेना था वहाँ बड़ी स्तुति की। यथा : प्रस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू। यहाँ उतना बड़ा काम नहीं है इसलिए केवल बुलाकर सम्मानित किया। देवराज हैं। कामदेव को आज्ञा देते हैं कि मेरी प्रीति के लिए जाओ और अपनी सेना : मारगण को साथ ले लो। अकेले काम न चलेगा। कामदेव भी बड़े वीर हैं। पराक्रम करने का अवसर मिलने से प्रसन्न हैं। सेना सहित चले। अतः पताका का वर्णन करते हैं।

सुनासीर मन महुँ असि त्रासा । चहत देवरिषि मम पुर वासा ॥
जे कामी लोलुप जग माहीं । कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं ॥४॥

अर्थ : इन्द्र के मन में यह डर था कि देव ऋषि मेरे पुर में अपना वास चाहते हैं। जो लोग संसार में कामी और लोलुप हैं वे कुटिल कौवे की भाँति सबसे डरा करते हैं।

व्याख्या : प्रकट नहीं करते पर भीतर से बड़ा डर है कि देवऋषि मेरा आसन छीनना चाहते हैं। अमरावती में उनका वसना ही मेरे प्रभुत्व के लोप का कारण होगा। देवताओं के ऋषि हैं अतः उनका वैसा ही सन्मान करना पड़ेगा। उनकी आज्ञा के वशवर्ती होना पड़ेगा। जब दूसरे के आज्ञावशवर्ती हुए तब इन्द्र किस बात के रह जायँगे ? सुनासीर हैं। देवताओं के स्वामी हैं। फिर भी उन्हें तपस्वी से भय रहता है। यथा : तुम सम अधन भिखारि अगेहा। होत विरंचि सिवहिं संदेहा।

इन्द्रपद वैषयिक सुख की पराकाष्ठा है। इसलिए कामी लोलुप और कुटिल कहा। काक की उपमा देते हैं। यथा : काक समान पाक रिपु रीती। छली मलीन न कतहुँ प्रतीती। छली यथा : सहित सहाय जाहु मम हेतू। मलीन। यथा : चहत देव ऋषि मम पुर वासा। न कतहुँ प्रतीती। यथा : मुनि गति देखि सुरेस डेराना।

दो. सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज ॥१२५॥

अर्थ : जैसे सिंह को देखकर शठ कुत्ता सूखा हड्डी लेकर भागे और यह समझे कि कहीं उस सूखे हाड़ को सिंह छीन न ले। वैसे ही इन्द्र को लज्जा नहीं है।

व्याख्या : नारदजी को मृगराज कहा। वे काम कोह कलिमल करिगन के कुम्भ को विदारण करके ब्रह्मानन्दरसास्वाद करनेवाले हैं। इन्द्रासन का सुख कितना भी हो तो ब्रह्मानन्द के सामने सूखी हड्डी है। रज और तम के संघर्षण पूर्वक अभिभूत होने से जब क्षणिक सत्त्व का उदय होता है तब उसी में ब्रह्मानन्द की झलक प्रतिफलित होती है। यही विषयानन्द है। उसकी ओर भला नारदजी आँख उठाकर क्यों देखने लगे। इन्द्र को श्वान से उपमित किया। उन्हें ब्रह्मानन्द दुर्लभ है। उनका सिंहासन सूखा हाड़ है। उसमें कुछ नहीं है। उसके द्वारा इन्द्र अपने ही पुण्य का फल भोगते हैं और अज्ञान से समझते हैं कि इन्द्रासन में सुख है। उसे कहीं नारद छीन न लें। यथा : अस्थि पुरान छुधित स्वान अति ज्यौं भरि मुख पकरै। निज तालूगत रुधिर पान करि मन सन्तोष धरै।

तेहि आश्रमहिं मदन जब गयऊ। निज माया वसंत निरमयऊ ॥
कुसुमित विविध विटप बहु रंगा। कूजहिं[1] कोकिल गुंजहिं भृंगा ॥१॥

अर्थ : जब उस आश्रम में कामदेव गये तब उन्होंने अपनी माया से वसन्त

---

[1] दीपकावृत्ति : द्वितीय ।

का निर्माण किया। अनेक प्रकार के पेड़ों में रंग बिरंग के फूल खिल गये। उनपर कोयल कूजने और भौंरे गूँजने लगे।

व्याख्या : चलेउ हरखि हिय जलचरकेतू से कामदेव का प्रसङ्ग उठाया था। बीच में इन्द्र की लोलुपता कहने लगे। अब कामदेव के उस आश्रम में पहुँचने पर फिर वही कथा प्रारम्भ कर दी। वसन्त कामदेव के मित्र हैं। उद्दीपन में बड़े सिद्धहस्त हैं। काम उन्हें समय पड़ने पर माया से अपने पास बुला लेते हैं। भाव यह कि उस समय वसन्त ऋतु नहीं था। माया से हो गया।

वसन्त ऋतु के आजाने से प्रकृति में कामशक्ति बढ़ जाती है। पेड़ों में नये पत्ते आ जाते हैं। अच्छे अच्छे फूल खिलने लगते हैं। कोयल कूकने लगते हैं। फूलों की सरसता के कारण भौंरे गूँजने लगते हैं। ये सब उद्दीपन हैं।

चली सुहावनि त्रिविध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी॥
रंभादिक सुर नारि नवीना। सकल असमसर कला प्रवीना॥२॥

अर्थ : काम की आग बढ़ानेवाली त्रिविध शीतल मन्द और सुगन्ध हवा चलने लगी। रम्भा आदिक नवयुवती स्वर्ग की अप्सराएँ जो काम की सब कलाओं में चतुर थीं।

व्याख्या : सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही। त्रिविध समीर को कामाग्नि का सच्चा मित्र कहा है। क्योंकि वह कामाग्नि को बढ़ाता है। अब आलम्बन कहते हैं कि अप्सराएँ प्रकट हुईं। सामान्य अप्सराएँ नहीं। ख्यातनामा रम्भादिक जो कामकला में बड़ी प्रवीण हैं और जिन्हें जरा आती ही नहीं। नित्य नवयौवना बनी रहती हैं।

करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु विधि क्रीड़हिं पानि पतंगा॥
देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच विधि नाना॥३॥

अर्थ : अनेक प्रकार की तानों के तरङ्ग उठाती हुईं गान कर रही हैं। जलपक्षी अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ कर रहे हैं। सेना को देखकर कामदेव हर्षित हुए। फिर उन्होंने अनेक प्रकार का प्रपञ्च किया।

व्याख्या : अब ध्यानभङ्ग के लिए उन लोगों ने संगीत आरम्भ किया। अनेक प्रकार की तानें लेने लगीं। यथा : कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं, काम कोकिल लाजहीं। जलपक्षियों का कलोल भी उद्दीपन है। कुछ लोगों ने पानि पतंगा का अर्थ पतङ्ग उड़ाना, हाथ नचाना अथवा गेंद खेलना भी किया है। फिर काम ने अनेक प्रपञ्च किया। जिन्हें कवि लिखना नहीं चाहते। वायु के झोंके से अप्सराओं के अञ्चल आदि का हट जाना इत्यादि प्रकार के प्रपञ्च काम ने किये।

काम कला कछु मुनिहिं न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥
सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥४॥

अर्थ : कामदेव की किसी कला ने मुनि पर काम न किया तब पापी कामदेव अपने ही डर से डरा। क्या कोई उसकी सीमा दबा सकता है जिसके बड़े भारी रक्षक रमापति हैं।

व्याख्या : जब काम की कल्पना का कोई प्रभाव मुनि पर नहीं पड़ा तब शाप के डर से भीत हुआ। बड़े हर्षित होकर चले थे कि देवऋषि को आज जीतना है सो कुछ भी किया न हुआ। जिसपर प्रभाव न चले उसी से काम को भय रहता है। जिस पर प्रभाव चल गया वह तो उसका चेरा हो हो जाता है। उससे डर क्या ?

रमापति के पद में अनुराग था। इसलिए रमापति रक्षा कर रहे थे। ऐसे समय किसका सामर्थ्य है कि उनकी मर्यादा को ठेस पहुँचा सके। अतः ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैष्णवास्त्र से भी विशेष कराल कामास्त्र निष्फल हुआ।

दो. सहित सहाय सभीत अति, मानि हारि मन मयन।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब, कहि सुठि आरत वयन ॥१२६॥

अर्थ : फिर अपने सहाय समेत कामदेव ने वहुत डरकर और मन से हार मानकर अत्यन्त आर्त वचन कहते हुए जाकर मुनिजी का चरण पकड़ लिया।

व्याख्या : काम भी डरे, अप्सराएँ भी डरीं, वसन्त भी डरे। नारदजी का बड़ा अपराध जहाँ तक हो सका किया। अब अधिक नहीं कर सकते। तब डरे कि अभी तक तो हमारी ओर से चोट होती थी मुनिजी सह रहे थे। अब उनकी पारी है। उनकी चोट हम नहीं सह सकेंगे। तब त्राहि त्राहि करता हुआ सेना के सहित मुनिजी के चरणों में गिरा। हारि मानि से मनसा भय। गहेसि जाइ मुनिवर चरन से कर्मणा और कहि आरत सुठि वयन से वाचा भय द्योतित किया।

भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय वचन काम परितोषा॥
नाइ चरन सिरु आयसु पाई। गयउ मदन तब सहित सहाई ॥१॥

अर्थ : नारदजी के मन में कुछ भी क्रोध न हुआ। उन्होंने प्रिय वचन कहकर काम को सन्तुष्ट किया। चरण में सिर झुकाकर और आज्ञा पाकर कामदेव सेना लेकर चले गये।

व्याख्या : जानते हुए भी कि विघ्नाचरण में काम ने कुछ उठा न रक्खा नारदजी को क्रोध नहीं हुआ। उमा संत कइ इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई। प्रिय वचन कहकर उसका सन्तोष किया कि ब्रह्माजी ने इसीलिए तुम्हारी सृष्टि की है। सनातन सृष्टि तुम्हारे आधार से चल रही है। तुमने अपना कर्त्तव्य पालन किया। मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। इत्यादि। उसे अपने अपराध की गुरुता विचारकर शीघ्र सन्तोष नहीं होता था। सन्तुष्ट होने पर प्रणाम किया। और जाने की आज्ञा पाकर सेना के सहित चला गया।

मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभा जाइ सब बरनी॥
सुनि सब कें मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा ॥२॥

अर्थ : मुनि की सुशीलता और अपनी करणी सब जाकर इन्द्र की सभा में वर्णन की। सुनकर सबके मन में आश्चर्य हुआ। मन में मुनि की प्रशंसा करके हरि को प्रणाम किया।

व्याख्या : कामदेव के ऊपर मुनिजी की सज्जनता का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह देवसभा में जाकर मुनि की सुशीलता का वर्णन करने लगा कि मेरे इतने अपराध करने पर भी उन्हें क्रोध न आया। मैंने कुछ उठा न रक्खा। नाना प्रकार का प्रपञ्च किया। पर मुनिजी बड़े क्षमाशील हैं। सव क्षमा कर दिया। मुनि की सुशीलता का वर्णन पहिले और अपनी करणी का वर्णन पीछे किया।

सुनकर सबने आश्चर्य किया। को जग काम नचाव न जेही। अर्थात् ऐसा कोई संसार में है नहीं जिसे काम न नचावे। मुनि पर उसका बल क्यों नहीं चला ? अपकारी पर क्रोध होना स्वाभाविक है। क्रोध काम से भी बलवान् है। मुनिजी ने उसे भी जीत लिया। अन्त में हरि को सिर नवाया जो इस प्रकार भक्तों की रक्षा करता है।

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं ॥
मार चरित संकरहि सुनाए। अतिप्रिय जानि महेस सिखाए ॥३॥

अर्थ : तब नारद शिवजी के पास गये। मन में अहंकार हुआ कि मैंने काम को जीत लिया। उन्होंने कामदेव का चरित शिवजी को सुनाया। अत्यन्त प्रिय जानकर शिवजी ने सिखाया।

व्याख्या : शत्रु को मरना स्वीकार होता है। प्रणत होना नहीं। काम सभी का शत्रु है और विशेषतः तपस्वियों का। नारद जी सोचते हैं कि सब कला करके काम मुझसे हार गया। अन्त में मेरे सामने प्रणत हुआ। शिवजी की सदा से कामारि नाम से ख्याति है। उन्होंने काम को भस्म कर दिया। पर प्रणत न कर सके। मेरा प्रभाव शिवजी से अधिक हो गया। यह अहङ्कार तो मन में है। बाहर में प्रिय कामजयका समाचार सुनाने चले।

संसार को हरि प्रिय हैं। हरि को हर प्रिय हैं। और हर को नारद प्रिय हैं। यथा : जगप्रिय हरि हर हरप्रिय आपू। भगवान् के अनन्य भक्त होने से शिवजी को अतिप्रिय हैं। सो शिवजी के पास जाकर कामदेव का सब चरित सुनाया। शिवजी ने नारद में अभिमान देखा। अतिप्रिय में यदि दोष देखे तो उसे सिखावन देना उचित है। यथा : कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। जिसमें वह किसी दुःख में न आ पड़े। अतः शिवजी ने नारदजी को सिखाया।

बार बार विनवौं मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायहु मोही ॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ ॥४॥

अर्थ : हे मुने ! मैं तुमसे बारबार विनती करता हूँ कि जिस भाँति यह कथा मुझे सुनाई है उसी भाँति कहीं हरि को न सुनाना। यदि चरचा भी चले तो इस बात को छिपा ले जाना।

व्याख्या : सत्य कथा सुनाने में कोई रोक नहीं। परन्तु सुनाने का ढङ्ग ठीक नहीं है। इससे अभिमान टपकता है। नारदजी हरि के पास जावेंगे हो और यह कथा भी सुनावेंगे। यदि इन्होंने वहाँ भी इसी ढङ्ग से कहा तो इनकी कुशल नहीं। भगवान् गर्वप्रहारी हैं। अतः नारदजी को सिखाते हैं कि इस ढङ्ग से यह कथा हरि को कभी न सुनाना। अच्छा तो यह है कि इस कथा को सुनाना ही नहीं। क्या जाने वहाँ भी तुमसे कहने में बिगड़ जाय। यह भी सम्भव है कि वे स्वयं इस प्रसङ्ग को छेड़ें। फिर भी तुम इस बात को छिपा ही ले जाना।

दो.. संभु दीन्ह उपदेस हित, नहिं नारदहिं सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि इच्छा बलवान ॥१२७॥

अर्थ : शिवजी ने तो भले के लिए उपदेश दिया। पर नारद को अच्छा न लगा। हे भरद्वाज ! कौतुक सुनो, हरि की इच्छा बलवती है।

व्याख्या : जिसके ऊपर आपत्ति आनेवाली होती है उसे हितोपदेश अच्छा नहीं लगता। शिवजी ने भले के लिए कहा पर नारद ने समझां कि इन्हें मेरी ख्याति अच्छी नहीं लगती। अकेले आप ही 'कामारि' बने रहना चाहते हैं। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज जी को सावधान करते हैं कि यह कौतुक सुनने योग्य है। शिवजी का वचन भ्रमतम के मिटाने के लिए सूर्य की किरण के सदृश है। सो उसी से नारदजी को भ्रम हो गया। इसी को हरि इच्छा कहते हैं। इसके सामने किसी का बल नहीं लगता। इसी भाँति सती को समझाया था पर उनके भी समझ में बात न आयी तब शिवजी ने विचार किया कि यहाँ हरि इच्छा रूपी बलवती भावी काम कर रही है। सामान्य भावी होती तो मैं मेट देता। यंथा : हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय विचारत संभु सुजाना। सो यहाँ तो शिवजी के हितोपदेश से ही भ्रम हो रहा है। इसलिए योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हरिइच्छा बलवान।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहि कोई॥
संभु वचन मुनि मन नहिं भाए। तब विरंचि के लोक सिधाए ॥१॥

अर्थ : जो राम किया चाहते हैं वही होता है। उसे ऐसा कोई नहीं है जो अन्यथा कर सके। शिवजी के वचन मुनि के मन में अच्छे न लगे। तब ब्रह्मलोक चले गये।

व्याख्या : जब से नारदजी के मन में यह बात आई कि मैंने काम को जीता है। यह मेरी विजय है, यह मेरी महिमा है। तब से विजय देनेवाले भक्तवत्सल की कुछ दूसरी इच्छा हो गई। नारदजी अपनी जीत के ख्यापन के फेर में पड़ गये। शिवजी ने देखा कि यह किसी आपत्ति में पड़ा चाहते हैं, इसलिए हितोपदेश दिया। उसका नारदजी को उलटा अर्थ लगा। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हरि इच्छा को शिवजी भी अन्यथा नहीं कर सकते। जिसे बात अच्छी नहीं लगती वह उठकर वहाँ से चला जाता है। सो नारदजी ब्रह्मलोक को चले गये। यह भी नहीं पूछा कि आप क्यों मुझे चरचा करने से रोकते हैं?

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रवीना ॥
छीर सिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुति माथा ॥३॥

अर्थ : एक बार संगीत कला में निपुण मुनीश्वर नारदजी हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए हरिगुण गाते-गाते क्षीरसागर गये। जहाँ वेदमस्तक श्रीनिवास बसते हैं।

व्याख्या : पहिले शिवजी के पास गये। वहाँ से ब्रह्मदेव के पास गये। अब विष्णु के पास जाते हैं। गान में ऐसे प्रवीण हैं कि वीणा पर गान करते हैं। इस समय जगत् में कोई ऐसा गायक नहीं है जो वीणा पर गान कर सके। तानपूरा पर ही गानेवाले कम हैं। नारदजी रास्ते-रास्ते हरिगुनगान करते चलते हैं।

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति। भागवते। उस सहस्रशीर्षा पुरुष का शिर वेद है इसलिए उन्हें श्रुतिमाथ कहा। उनका नित्य निवास क्षीरसागर में रहता है। नारदजी मुनिनाथ हैं। उनकी अव्याहत गति है। अतएव वहाँ गये नहीं तो क्षीरसागर महा अगम्य है।

हरखि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहि समेता ॥
बोले बिहँसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह कीन्ह मुनि दाया ॥४॥

अर्थ : रमानिकेत उठकर उनसे हर्षित होकर मिले और ऋषिजी के साथ आसन पर बैठे। चराचर के स्वामी भी विहँसे और कहा कि मुनिजी ! बहुत दिनों पर आपने दया की।

व्याख्या : हर्षित होकर अभ्युत्थान देना और रमापति का आलिङ्गन करना तथा आधा आसन देना बड़ा भारी सत्कार है। कहा है कि उचित से अधिक सत्कार अनादर के तुल्य है। भाव यह है कि अब आप त्रिदेव के समकक्ष हो गये। काम को जीत लिया। अब ऐसा ही सत्कार होना उचित है।

स्मितपूर्वाभिभाषी हैं सो आज विहँसकर बोल रहे हैं। समझ रहे हैं कि अपनी महिमा सुनाने आगये। माया उनकी हँसी है। यथा : माया हास बाहु दिगपाला। भाव यह कि माया द्वारा भी अगवानी हो रही है। शिवजी का कहना सामने आया। वही प्रसङ्ग चलाया। पूछते हैं कि आपने बहुत दिनों पर दर्शन दिया ? कितना स्वाभाविक प्रश्न है। परन्तु इसके गर्भ में यह बात है कि नारदजी को अपने समाधि की कथा तथा कामविजय के वर्णन के लिए अवसर मिले।

काम चरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥४॥

अर्थ : यद्यपि शिवजी ने पहिले ही मना कर रक्खा था। फिर भी नारदजी ने सब कह डाला। रघुपति की माया अति प्रचण्ड है। ऐसा कौन जगत् में पैदा हुआ जिसे उसने न मोहित किया हो।

व्याख्या : शिवजी का सिखावन नारदजी के मन में अच्छा नहीं लगा था। यद्यपि वहाँ उसका स्पष्ट विरोध नहीं किया। पर अवसर आने पर उसके विरुद्ध कार्य

कर ही डाला। कह चले कि मैं समाधि में था। सो इन्द्र भयभीत हो गये। उनका भेजा हुआ कामदेव अप्सरादि के साथ आया। बड़ी बड़ी माया की। जब एक न चली तो शाप के भय से त्राहि त्राहि करके मेरे शरण आया। मुझपर काम का कोई प्रभाव न हुआ। न क्रोध ही आया। काम आश्चर्य में आगया। मेरी बड़ी विनती की। मैंने क्षमा कर दिया।

नारदजी के इस मोह पर उन्हें कोई कम न समझे। संसार में जो पैदा हुआ वह रामजी की माया से मोहित होता ही है। वह बड़ी प्रचण्ड है। उसके आगे किसी का बल नहीं चलता। यथा : सुनु खग प्रबल राम कै माया। जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई।

दो. रूख वदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

अर्थ : श्रीभगवान् रूखा चेहरा करके कोमल वचन बोले कि तुम्हारे स्मरण से ही मोह काम और मान का नाश होता है।

व्याख्या : नारदजी को जिन गुणों का अभिमान था उन्हीं को लेकर प्रशंसा करते हैं। जिसकी कृपा से समाधि लगी, जिसकी रक्षा से कामास्त्र निष्फल हुआ, काम पर विजय पाया, उसकी चरचा तक नारदजी नहीं करते। अतः रूखा चेहरा करके बोले : आपका दर्जा वहुत ऊँचा है। काम का विजय आपके लिए बड़ी बात नहीं है। आपका स्मरण करके लोग मोह, काम और अभिमान को जीत लिया करते हैं। वीतराग में चित्त की धारणा करने से समाधि सिद्ध होती है।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें॥
ब्रह्मचरज व्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा ॥१॥

अर्थ : हे मुनिजी ! सुनिये, जिसके हृदय में ज्ञान विराग नहीं होता उनके मन में मोह होता है। आप तो ब्रह्मचर्य व्रत में रत स्थितप्रज्ञ हैं। क्या आपको काम पीड़ा पहुँचा सकता है ?

व्याख्या : हमलोग तो गृहस्थ हैं। मुझे रमा हैं, शिवजी को उमा हैं, ब्रह्मदेव को सारदा हैं। अतः हमलोग राग और अज्ञान की सीमा के भीतर हैं। आप परिव्राजक हैं, ब्रह्मचर्य व्रत में रत हैं। मतिधीर हैं। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेपु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। दुःख में जिनका मन उद्विग्न न हो, सुख की जिसे इच्छा न हो, जिसे राग, भय और क्रोध न हो ऐसे स्थितप्रज्ञ को मुनि कहते हैं। आपके हृदय में ज्ञान वैराग्य है। आपको क्या काम पीड़ा पहुँचावेगा ?

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी ॥२॥

अर्थ : नारदजी ने अभिमान के साथ कहा : भगवन् ! यह सब आपकी कृपा

है। करुनानिधान ने मन में विचार कर देखा कि : इनके हृदय में भारी अभिमानवृक्ष का अङ्कुर तो हो आया।

व्याख्या : अभिमान के साथ कहने के कारण सच्ची बात भी विनयप्रदर्शन मात्र हो गई। यदि अभिमान के साथ न कहते तो उत्तर बिल्कुल ठीक था : सब कुछ भगवान् की कृपा से हुआ था। करुणानिधि हैं, अभिमान की बात सुनकर उनके कल्याण का विचार करने लगे कि इनकी छाती पर पीपल जम रहा है। यथा : अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्। यह संसार ही बड़े दृढ़मूल वाला पीपल है। सो अभी अङ्कुर मात्र है।

वेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥३॥

अर्थ : मैं उसे तुरन्त उखाड़ डालूँगा। हमारा प्रण सेवक हितकारी है। मुनि की भलाई हो और मेरे लिए एक खेल मिल जाय। ऐसा ही उपाय मैं अवश्य करूँगा।

व्याख्या : उस अभिमान वृक्ष के उखाड़ने में जल्दी की आवश्यकता है। शतपत्र न होने पावे नहीं तो बड़ी बड़ी अड़चनें पैदा होंगी। मुझे अपना प्रण सच्चा करना है। सेवक हितकारी मेरा प्रण है, सेवक प्रियवादी प्रण नहीं है।

उपाय ऐसा हो जिसमें मुनि का कल्याण हो और मेरा कौतुक : खेल भी हो। एका क्रिया द्व्यर्थकरी हो। मैं ऐसा उपाय अवश्य करूँगा।

तब नारद हरिपद सिरु नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि करी॥४॥

अर्थ : तब नारदजी हरि के चरणों में सिर नवाकर चले। हृदय में अभिमान और बढ़ गया। श्रीपति ने अपनी माया को प्रेरित किया। अब उसकी कठिन करणी सुनो।

व्याख्या : केवल काम पर अपना विजय सुनाने आये थे। वह कार्य हो गया। अतः यथापूर्व हरिपद में सिर नवाकर चले। पर अभिमान और बढ़ गया। सोचने लगे : हरि ने ठीक कहा। त्रिदेव गृहस्थ हैं। ये काम को क्या जीतेंगे? अभिमान को और भी बढ़ता देखकर श्रीपति ने अपनी माया को प्रेरणा की। वह अघटित-घटनापटीयसी है। जो काम तीन काल में सम्भव न हो उसे कर दिलानेवाली है। यथा : लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया। चित् के : ब्रह्म के अति दुर्घटस्वातन्त्र्य को माया कहते हैं। लोक में योगी, मन्त्रशास्त्री और ऐन्द्रजालिक थोड़ा सा आच्छादित स्वातन्त्र्य पाकर के युक्ति से दुर्घट घटना घटा देते हैं। तब श्रीपति की माया के लिए क्या कहना है। भासनकाल में भी स्वरूप से अतिवर्त्तन उसकी दुर्घटना है।

दो. बिरचेउ मग महुं नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार।
श्रीनिवास पुर तें अधिक, रचना विविध प्रकार॥१२९॥

अर्थ : उसने मार्ग में सौ योजन विस्तृत एक नगर की रचना की जिसमें भाँति भाँति की रचनाएँ वैकुण्ठ से भी अधिक थीं।

व्याख्या : जिस रास्ते को पकड़कर नारदजी जा रहे थे उसी रास्ते पर पलक मारते चार सौ कोस का नगर रच दिया। लोकों में सबसे अधिक शोभा वैकुण्ठ की है। सो वहाँ से भी अधिक कारीगरी इस नगर के बनाने में दिखाई गई। जिसमें नारद का मन आकृष्ट हो और नगर देखने आवें। संसार में जितनी अद्भुत वस्तुएँ हैं सब नारदजी की देखी हुई हैं। सबसे सुन्दर वैकुण्ठ है। वह भी नारदजी का देखा हुआ है। अतः वैकुण्ठ से भी अधिक सुन्दर नगर माया ने क्षण भर में बनाया।

बसहिं नगर सुन्दर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनुधारी॥
तेहि पुर वसइ सील निधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥१॥

अर्थ : उस नगर में सुन्दर नर नारी बसते थे। मानो काम और रति ने ही बहुत से शरीर धारण कर रक्खे हों। उस नगर में शीलनिधि नामी राजा रहता था। घोड़े हाथी और सेना की गिनती न थी।

व्याख्या : वैकुण्ठ सा सुन्दर नगर था। इतना ही नहीं वहाँ के निवासी भी वैकुण्ठवासियों की भाँति सुन्दर थे। नर काम से सुन्दर और नारियाँ रति सी सुन्दर थीं।

नगर अभी बना है। परन्तु शीलनिधि राजा उसमें कई पीढ़ी से बसते थे। घोड़े हाथी सेना सब अनेक देश के भिन्न कालों में आये हैं तथा भर्ती हुए हैं इत्यादि। टेहरी राज्य में एक शहर है। जिसका नाम श्रीनगर है। उसे लोग शीलनिधि राजा की राजधानी कहते हैं। प्राचीन श्रीनगर को तो गङ्गाजो बहा ले गईं। अब वहाँ सिवा रमापति के मन्दिर के और कुछ नहीं है। उसी के सन्निकट अब दूसरा श्रीनगर वसा है।

सत सुरेस सम विभव विलासा। रूप तेज बल नीति नेवासा॥
विस्व मोहिनी तासु कुमारी। श्री विमोह जिसु रूप निहारी॥२॥

अर्थ : उसके वैभव का विलास सौ इन्द्र के समान था। रूप, तेज, बल और नीति का वह निवास स्थान है। उसको विश्वमोहिनी नाम्नी कन्या थी। जिसका रूप[1] देखकर लक्ष्मी भी मोहित हो जाँय।

व्याख्या : विलास ऐसा कि उसके सामने इन्द्र का विलास कुछ नहीं। शीलनिधि राजा वस्तुतः शीलनिधि थे। रूप मोहक होता है। पर बिना तेज के उसकी महत्ता नहीं। दोनों होने पर भी बिना बल के सुभट समाज में आदर नहीं होता। यह सब होने पर भी बिना नीति के राज्य नहीं टिकता। यथा : राजकि रहै नीति बिनु जाने। राजा में सब था।

---

[1] यह रूप की अलौकिकता है। नहीं तो लोकरीति यह है कि मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।

शीलनिधि का व्याह हुए बहुत दिन हो गये थे। उन्हें उस व्याह से एक बेटी भी थी जो व्याहने योग्य हो गई थी। नगर ऐसा सुन्दर बना, निवासी ऐसे सुन्दर, विभव ऐसा, राजा ऐसे फिर कुमारी अलौकिक क्यों न हो? उसे अलौकिक सुन्दरता थी। उसे देखकर लक्ष्मी भी मोहतीं थी। लक्ष्मी को देखकर तो अभी नारदजी चले आ रहे हैं। यदि उनसे अधिक सुन्दरता न हो तो नारदजी मोहेंगे कैसे?

सोइ हरि माया सब गुनखानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥
करै स्वयम्बर सो नृप वाला। आए तहँ अगनित महिपाला॥३॥

अर्थ : वही सब गुणों की खानि हरि की माया थी। क्या उसकी शोभा वर्णन की जा सकती थी? वह राजकन्या स्वयम्बर करती थी। वहाँ असंख्य राजा लोग आये थे।

व्याख्या : यह सब रचना रचकर वह हरि की माया स्वयं राजा की बेटी बनी। उसकी शोभा कौन कह सकता है। इतना ही नहीं नगर तो अभी बना है। पर उस कन्या का सौन्दर्य तथा स्वयम्बर का समाचार सुनकर देश देश के राजाओं के आये कई दिन हो गये थे। यह हरिमाया की कठिन करणी है। किसी भाँति बुद्धि नहीं काम करती। देश काल का कोई ही नियम ही नहीं रह गया। छोटे से सङ्कीर्ण स्थान में चार सौ कोस का नगर कैसे बना? सम्पूर्ण राजसमाज प्रजामण्डल सहित कहाँ से आगये? स्वयम्बर का समाचार सब देश देश में कब फैला? सब देशों के राजा कहाँ से चले आये? अघटितघटनापटीयसी माया की ऐसी करामात है कि सब असम्भव सम्भव हुआ।

मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ। पुरवासिन्ह सब पूछत भयऊ॥
सुनि सब चरित भूप गृह आए। करि पूजा नृप पुनि बैठाए॥४॥

अर्थ : कौतुकी मुनि उस नगर में गये। नगर वासियों से सब पूछा। अब चरित सुनकर राजमन्दिर में गये। राजा ने पूजा करके मुनिजी को बिठाया।

व्याख्या : नारद जी के रास्ते में ही नगर पड़ा। बड़ा सुन्दर था। नारदजी ने इसे कभी नहीं देखा था। देश देश के राजा लोग भी नगर के बाहर उतरे हुए थे। जाने का काम कोई न था। पर यह सब समारोह देखकर कौतुकियों से नहीं रहा जाता। सो मुनिजी नगर में चले गये। पता लगाया कि इतना समारोह क्यों है?

स्वयम्बर की कथा सुनकर कौतुक और बढ़ा। राजा के यहाँ चले गये। राजा ने पहचान लिया कि नारदजी हैं। सो उसने पूजा सत्कार करके मुनिजी को बिठलाया।

दो. आनि देखाई नारदहिं, भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब, एहिके हृदय विचारि॥१३०॥

अर्थ : राजा ने राजकुमारी को लाकर दिखाया। और कहा हे नाथ! आप मन में विचार करके इसके गुणदोष कहिये।

व्याख्या : सामुद्रिक शास्त्र द्वारा केवल अवयव संगठन, हस्तरेखा आदि देखकर फल कहा जाता है। स्वयम्बर सन्निकट है। अतः कन्या के विषय में चिन्ता है कि कैसे घर पड़ेगी इत्यादि।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदय हरख नहिं प्रगट बखाने॥१॥

अर्थ : रूप देखकर तो मुनिजी वैराग्य भूल गये। बड़ी देर तक देखते रह गये। उसके लक्षण देखकर तो अपने को भूल गये। हृदय में हर्ष हुआ। प्रकट कुछ न कहा।

व्याख्या : मोह न नारि नारि के रूपा। सो उसकी अलौकिक सुन्दरता देखकर लक्ष्मी मोहती थीं। नारदजी तो वैराग्य भूल गये। कभी उन्हें वैराग्य था। यह भी स्मरण न रहा : मोहित हो गये : आँखें उस अलौकिक शोभा में बँध गईं। राजा समझते हैं कि सामुद्रिक से लक्षण मिलान कर रहे हैं।

लक्षण देखकर अपने को ही भूल गये : ज्ञान भी गया : यह भी स्मरण न रहा कि मैं ब्रह्मचर्यरत मुनि हूँ : ऋजुता भी गई : प्रकट बखान नहीं करते। हृदय में हर्ष है कि लोग इसके गुणों से अपरिचित हैं, सो अपरिचित बने रहें : तभी ठीक है। यह तो त्रिदेव की योग्या है। इसके गुण जान जायेंगे तो त्रिदेव में से ही किसी को देंगे। इसलिए प्रकट नहीं कहा।

जो एहि बरै अमर सो होई। समर भूमि तेहि जीत न कोई॥
सेवहि सकल चराचर ताही। बरै सीलनिधि कन्या जाही॥२॥

अर्थ : जो इसे व्याहेगा वह अमर होगा। और संग्रामभूमि में कोई उसे जीत न सकेगा। शीलनिधि की कन्या जिसे वरेगी उसकी सेवा चराचर जगत् करेगा।

व्याख्या : इसका सीधा सीधा अर्थ है कि शीलनिधि की कन्या को अमर, अजेय और चराचर से सेव्य वर मिलेगा। जैसे उमा के लिए अगुण, अमान, उदासीनादि गुणयुक्त वर मिलना लिखा था। उसका यह अर्थ नहीं था कि उमा जिसे व्याहेंगी वह अगुण, अमान और उदासीन हो जायगा। पर मुनिजी इस समय माया के बस में हैं। यह अर्थ लगा रहे हैं कि यदि मेरा व्याह इससे हो जाय तो मैं अमर, अजेय और चराचर से सेव्य हो जाऊँगा। पर कठिनता यह है कि शीलनिधि की कन्या सुन्दर युवा राजकुमार छोड़कर मुझे क्यों वरने लगी। चराचर तो त्रिदेव की सेवा करते हैं अतः इससे व्याह करना और त्रिदेव के समान हो जाना एक बात है।

लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥
सुता सुलच्छन कहि नृपपाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥३॥

अर्थ : सब लक्षणों को विचारकर मन में रख लिया। कुछ बातें बनाकर राजा से कह दीं। राजा से कहकर कि कन्या सुलक्षण है नारदजी चले गये। मन में सोचते हैं।

व्याख्या : कहने से बात बिगड़ती है। जब असली बात छिपायी तो कुछ कहने के लिए बात बनानी ही पड़ी। स्त्रीसंग्रह की इच्छा होते ही प्रपञ्च में फँसे। सुलक्षण कन्या के जो गुण हैं वे ही बतला दिये। अलौकिक बातें छिपा रक्खीं। जल्दी है इसलिए चल पड़े। नारदजी प्रभु की विमल कीर्तिगान करते चलते थे। यथा : गावत हरिगुन गान प्रवीना। सो आज वह गान भी बन्द हो गया। क्योंकि मन में सोच है। अब उसे कहते हैं।

करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ॥
जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला ॥४॥

अर्थ : जाकर ऐसा यत्न विचारकर करें जिस प्रकार कुमारी मुझे वरे। जप तप उस समय हो नहीं सकता। हे विधाता ! कुमारी किस भाँति हाथ लगेगी।

व्याख्या : सोचते हैं कि मैं तो उसे वरने को तैयार हूँ। यत्न यह करना है कि वह कुमारी मुझे वरे। यत्न में तनिक सी चूक हो जाने से मामला हाथ से निकल जायगा। अतः विचार करके जिसमें निश्चय कार्य सिद्ध हो : ऐसा यत्न करना चाहिए।

यज्ञ कामधेनु है। और यज्ञों में जपयज्ञ उत्तम है। और तप के लिए संसार में कुछ अगम्य नहीं है। ये ही दोनों कार्यसिद्धि के महान् साधन हैं। पहिले मालूम होता तो जप तप करते। पर समय इतना कम है कि दोनों उपायों में से कोई भी सम्भव नहीं है : मुनि हैं, इसलिए जप तप पर ध्यान गया। ये ही तो उपाय उनके जाने हुए थे। अतः कहते हैं कि हे विधि ! हाय रे बाप : तब उसके मिलने की कौन विधि है ? पहिला 'विधि' शब्द उनके पिता ब्रह्मदेव का बोधक है। दूसरा उपाय का बोधक है।

दो. एहि अवसर चाहिअ परम, सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझै कुअँरि, तब मेलै जयमाल ॥१३१॥

अर्थ : इस अवसर पर परम शोभा और विशाल रूप चाहिए। जिसे देखकर कुमारी मोहित हो जाय तब जयमाल पहिनावेगी।

व्याख्या : कन्या वरयते रूपम्। कन्या तो कुछ नहीं देखती केवल रूप ही देखती है। सो स्वयंवर है। वरण करना कन्या के हाथ में है। वह रूपवान् को वरेगी। सो यहाँ बड़ी चमक दमक और बड़े सौन्दर्य की आवश्यकता है जिसे देखकर यह रीझ जाय। इसके जोड़ की या इससे अधिक शोभा और रूप की आवश्यकता है। वह मुझमें कहाँ से आवे ? पर आना ही चाहिए। नहीं तो वह जयमाल न पहनावेगी।

हरि सन माँगौं सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति भाई ॥
मोरें हित हरि सम नहि कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥१॥

अर्थ : हरि से सुन्दरता माँगू। पर जाने में बहुत देर लग जायगी। मुझे तो हरि के समान दूसरा कोई हित नहीं है। इस अवसर पर वे ही मेरे सहायक हों।

व्याख्या : इस कन्या के जोड़ की सुन्दरता केवल हरि में है और रूप देने का सामर्थ्य भी है। जप तप नहीं हो सकता तो मँगनी माँगकर ही काम चलालें। पर वे ठहरे क्षीरसागर में। जब से वहाँ जावेंगे तब तक यहाँ स्वयम्बर समाप्त हो जायगा। दूसरा कोई हित उनके समान मेरा है नहीं। जो संकट के समय में काम आवे उसी को हित कहते हैं ! यथा : तोहि सम हितु न मोर संसारा। बहे जात कह भइसि अधारा। सो इस समय वे ही सहाय हों। अर्थात् मैं तो उन तक पहुँच नहीं सकता। पर वे तो आ सकते हैं। आकर सहायता करें।

बहुविधि विनय कीन्ह तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥
प्रभु विलोकि मुनि नयन जुड़ाने। होइहि काजु हिएँ हरषाने ॥२॥

अर्थ : उस समय बहुत विधि से बिनती की। कौतुकी और कृपाल प्रभु प्रकट हुए। प्रभु को देखकर मुनिजी के नेत्र शीतल हो गये। और वे मन में बड़े प्रसन्न हुए कि अब काम बन जायगा।

व्याख्या : आर्त पुरुष ही जानता है कि किन किन विधियों से विनय किया जाता है। भक्त भी कौतुकी। यथा : मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ। भगवान् भी कौतुकी। यथा : प्रगटे प्रभु कौतुकी कृपाला। यहाँ 'कृपाला' कहने का भाव यह कि भगवान् को कौतुक के साथ साथ मुनि का हित भी इष्ट है। यथा : मुनि कर हित मम कौतुक होई।

प्रभु की शोभा और रूप कहते हैं। जो आँखें रूप और शोभा के लिए सन्तप्त थीं वे इस रूप और शोभा को देख ठण्ढी हो गईं। भगवान् का वचन है कि : 'मोर दरस अमोघ जग माहीं। अतः कार्य सिद्धि की आशा दृढ़ हो गई।

अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई ॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही ॥३॥

अर्थ : अत्यन्त आर्त होकर कथा कह सुनायी। हे प्रभो ! कृपा करो और कृपा करके सहाय हो। हे प्रभो ! अपना रूप मुझे दो। और किसी भाँति मैं उसे नहीं पा सकता।

व्याख्या : जानते हैं कि दीनदयाल हैं, अतः अत्यन्त आर्त होकर सब वृत्तान्त सुनाया। मनमें अभिलाषा थी कि : एहि अवसर सहाय सो होऊ। अतः कहते हैं कि केवल कृपा से काम न चलेगा। कृपा करके : होहु सहाई।

प्रभु का दिव्य रूप है। अतः दिया जा सकता है। जिस भाँति एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जा सकता है। यथा : गीध देह तजि धरि हरिरूपा। उपाय का निर्णय स्वयं कर लिया। कहते हैं : आन भाँति नहि पावौं ओही। नाम नहीं लेते, मानो व्याह हो गया है।

जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा । करहु सो वेगि दास मैं तोरा ।।
निज माया बल देखि विसाला । हिय हँसि बोले दीनदयाला ।।४।।

अर्थ : हे नाथ ! जिस विधि से मेरा हित हो वही जल्दी से कीजिये । मैं आप का दास हूँ । अपनी माया का विशाल बल देखकर दीनदयाल हँसकर बोले ।

व्याख्या : मैंने तो यही विधि निश्चय की है कि बिना आपका रूप पाये मुझे वह मिल नहीं सकती । परन्तु आप नाथ हैं । यदि किसी दूसरे उपाय से मेरा हित हो सकता हो तो उसे ही शीघ्र कर डालिये । सम्बन्ध की भी याद दिलाते हैं कि मैं आपका दास हूँ ।

प्रभु ने अपनी माया का विशाल बल देखा जिसने स्थितव्रत मुनि को आतुर कर दिया । तव प्रभु हृदय में हँसे कि इतने में ही ब्रह्मचर्य व्रत वे भूल गये । अथवा माया की करामात पर हँसे जिसके दर्शन मात्र से इतने बड़े महर्षि अपने स्वरूप को भूल गये हैं । मन में हँसे । प्रकट हँसने से मुनिजी को कष्ट होता । दीनदयाल हैं । नारदजी को दीन देखकर बड़ी दया हुई ।

दो. जेहि विधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार ।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ।।१३२।।

अर्थ : हे नारद ! सुनो जिस विधि से तुम्हारा परम हित होगा वही हम करेंगे, दूसरा नहीं । हमारा वचन असत्य नहीं होता ।

व्याख्या : भगवान् कहते हैं कि मैं तुम्हारा परम हित करूँगा । क्योंकि तुम मुझे परम हित मानते हो । यथा : मोरे हित हरिसम नहि कोऊ । तुम्हारी प्रार्थना हित के लिए है । अतः मेरा कर्त्तव्य है कि तुम्हारा परम हित करूँ । नारद ! सुनहु का भाव यह है कि मेरे शब्दों पर ध्यान दो । मैं क्या कह रहा हूँ । जो परम हित न होगा वह मैं नहीं करूँगा । मेरे वचन में उलट फेर नहीं होगा । इसलिए कहते हैं कि : वचन न मृषा हमार ।

कुपथ[1] माँग रुज व्याकुल रोगी । वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ।।
एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ । कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ ।।१।।

अर्थ : रोग से व्याकुल होकर रोगी कुपथ्य माँगता है । हे योगी मुनि ! सुनो : वैद्य उसे नहीं देता । इसी विधि से मैंने तुम्हारा हित निश्चय किया है । ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये ।

व्याख्या : बात को और भी स्पष्ट करते हैं । शरीर के रोग और मानसिक रोग की एक सी गति है । जिस भाँति जितने शूल हैं वे सब वातप्रधान हैं । उसी भाँति विषय मनोरथ सभी कामप्रधान हैं । यथा : विषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना । सो इस समय शूल उठा है । रोगी एकदम अस्वस्थ है ।

---

[1] १. अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

कुपथ्य माँगता है। विषय की आशा करता है। यथा : संयम यह न विषय कौ आसा। भोगी होने की योगी की इच्छा अस्वस्थता है। चिकित्सक उसको कुपथ्य नहीं दे सकता। वह उसका परम हित है। उसके आर्तनाद पर यह कभी ध्यान नहीं देगा।

रोगी विषय को ही हित मानता है। पर चिकित्सक निश्चय किये हुए हैं कि इसे कुपथ्य कभी नहीं देंगे। और इस प्रकार इसका परम हित करेंगे। वह कहता है घबराओ मत। मैं तुम्हारा परम हित करता हूँ। इसी भाँति कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। जिसमें अधिक वार्तालाप का अवसर न रहे।

माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ॥
गवने तुरत तहाँ रिषि राई। जहाँ स्वयंबर भूमि बनाई ॥२॥

अर्थ : माया विवश मुनि मूढ़ हो गये। हरि की स्पष्ट उक्ति को नहीं समझे। ऋषिराज तुरन्त वहाँ गये जहाँ कि स्वयम्बर भूमि रची हुई थी।

व्याख्या : स्पष्ट कहने पर भी जिसकी समझ में बात न आवे वह मूढ़ है। बड़े मनन करनेवाले आज मायावश मूढ़ हो गये हैं। गूढ़ मर्मों के समझानेवाले नारद आज हरि की स्पष्टोक्ति समझने में असमर्थ हैं। विरागियों के शिरोमणि बड़ी त्वरा में हैं कि कैसे स्वयम्बर भूमि में पहुँचूँ, कहीं ऐसा न हो कि मेरी अनुपस्थिति में ही जयमाल किसी दूसरे के गले में पड़ जाय। मुनिजी समझे हुए हैं कि मुझे हरि का रूप मिल गया।

निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा ॥
मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें ॥३॥

अर्थ : सज-धजकर राजा लोग अपने समाज के साथ अपने अपने आसन[1] पर बैठे थे। मुनि के मन में बड़ा हर्ष था कि मुझमें बड़ी सुन्दरता है। मुझे छोड़कर दूसरे को भूलकर भी न वरेगी।

व्याख्या : यहाँ कार्यारम्भ हो गया था। राजा लोग सज-धजकर बैठे थे। शोभा के लिए अथवा रक्षा के लिए समाज भी साथ में था। मुनिजी को दो में एक भी नहीं। फिर भी बड़ा हर्ष मन में है कि मुझे बनाव और समाज नहीं है तो क्या? अत्यन्त रूप तो मुझ में ही है। थोड़ा बहुत रूप में उत्कर्षापकर्ष हो तो कन्या से चूक हो सकती है। मुझे तो हरि का रूप मिला हुआ है। उसके सामने ये राजा क्या हैं? वह मुझे छोड़कर अन्य को भूलकर भी वर नहीं सकती।

मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहिं सिरु नावा ॥४॥

---

[1] रङ्गभूमि में राजाओं के लिए पहिले से ही आसन निश्चित था। कौन किसके दाहिने बैठेगा। कौन बाएँ बैठेगा। इस विषय की व्यवस्था साधारण व्यापार नहीं है। सो वहाँ सब व्यवस्था ठीक थी। राजा लोग अपने अपने आसन पर बैठ गये थे।

अर्थ : मुनि के हित के लिए कृपानिधान ने ऐसी कुरूपता दी कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। परन्तु वह चरित्र किसी ने न जान पाया। सबने नारद जानकर प्रणाम किया।

व्याख्या : कन्या के देखने के लिए जो स्वरूप उन्हें मिला था उसका दर्शन किसी को न हुआ। वह स्वरूप तो उनके हित के लिए मिला था। यदि उसे दूसरे देखते तो उनकी बड़ी अप्रतिष्ठा होती। अत: उसे कोई न देख पाया। न किसी ने यह बात लख पाई कि नारदजी अपने को विष्णुरूप देख रहे हैं। हमलोग नारद रूप देख रहे हैं। और कन्या कुरूप देख रही है। सबने उन्हें नारद जानकर प्रणाम किया। नारदजी समझते हैं कि सब मुझे विष्णु समझकर प्रणाम कर रहे हैं।

दो. रहे तहाँ दुइ रुद्रगण, ते जानहिं सब भेउ।
विप्र वेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेउ ॥१३३॥

अर्थ : वहाँ दो रुद्रगण थे। वे सब भेद जानते थे। विप्ररूप से सब कुछ देखते फिरते थे। वे बड़े कौतुकी थे।

व्याख्या : नारदजी तो कौतुकी थे ही ! पर रुद्रगण परम कौतुकी थे। उनको सब भेद मालूम था। वे भी अपने रूप में नहीं थे। अपने रूप में होते तो 'बिडरि चले बाहन सब भागे' वाली कहावत सार्थक होती। किसी का ध्यान आकर्षित न हो, और न कहीं रोक हो, इसलिए विप्रभेष में थे। वे उनके पीछे कैलाश से ही लगे हुए थे कि देखें इनकी क्या दशा होती है। परम कौतुकी होने से उन्हें आलस्य का नाम नहीं था। उस समाज भर में इस मर्म के जानकार केवल वे दोनों रुद्रगण ही थे।

जेहि समाज बैंठे मुनि जाई। हृदयरूप अहमिति अधिकाई ॥
तहँ बैंठे महेसगन दोऊ। विप्रवेष गति लखै न कोऊ ॥१॥

अर्थ : जिस समाज में मुनिजी जाकर बैठे मन में रूप का अहंकार अधिक हो रहा था। वहीं दोनों रुद्रगण भी बैठे थे। वे दोनों ब्राह्मण के वेष में थे। उनकी गति कोई लखता न था।

व्याख्या : पहिले जिसे काम के जीतने का अभिमान था आज उसी को अपने रूप के अधिक होने का अभिमान हो रहा है। मुनिजी किसी समाज में जाकर बैठ सकते हैं। नारद जानि सबहिं सिरु नावा। नारदजी अपने में विष्णुरूप की धारणा से सर्वत्र अपने को सम्मानार्ह समझते थे। जहाँ नारदजी बैठे वहीं जाकर दोनों रुद्रगण भी बैठे। वे दोनों ब्राह्मण वेष में थे। लोगों ने समझा कि नारदजी के शिष्य हैं। नारदजी ने समझा कि दर्शक हैं। ये कौन हैं ? और किस प्रयोजन से यहाँ आये हैं ? इस बात का पता किसी को नहीं।

करहिं कूटि नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥
रीझिहिं राज कुँअरि छवि देखी। इन्हहिं बरिहिं हरि जानि बिसेखी ॥२॥

अर्थ : नारदजी को सुना सुनाकर वे व्यङ्ग्य बोलते थे। हरि ने इन्हें अच्छी सुन्दरता दी है। यह छवि देखकर राजकुमारी लट्टू हो जायगी। और इन्हें विशेष हरि समझकर वरेगी।

व्याख्या : नारदजी को सुनाकर बोली कस रहे हैं। समझते हैं कि इनकी बुद्धि मारी गई है। ये समझ न सकेंगे। वे अपनी बड़ाई ही समझेंगे। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई। इत्यादि की ध्वनि यह है कि : हरि ने इन्हें अच्छा उल्लू बनाया। ये अपने को बड़ा सुन्दर मान रहे हैं। राजकुमारी इन्हें देखकर जल उठेगी समझेगी कि कोई विशेष बन्दर है। 'वरिहि' का अर्थ जल उठेगी और 'हरि' का अर्थ बन्दर भी है। इन शब्दों के प्रयोग से इस बचन को कूट कहा।

मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ। हँसहिं संभुगन अति सचुपाएँ ॥
जदपि सुनहिं मुनि अटपट बानी। समुझि न परइ बुद्धिभ्रम सानी ॥३॥

अर्थ : मुनिजी को मोह हो गया। उनका मन दूसरों के हाथ में है और रुद्रगण को आनन्द हो रहा है। वे हँस रहे हैं। यद्यपि मुनिजी उनकी अटपटी वाणी सुनते हैं। पर वुद्धि भ्रम से सनी हुई है। समझ नहीं पड़ रहा है।

व्याख्या : मन के पराये हाथ में पड़ जाने से फिर उसे कुछ सुधि नहीं रहती। यथा : विनु मन तन दुख सुख सुधि केही। उनके बात समझने पर रुद्रगण हँसी उड़ा रहे हैं कि ये मुनि हैं। इनकी मननशीलता देखो।

मुनिजी की मननशीलता में त्रुटि नहीं है। पर बुद्धि में भ्रम हो गया है। बुद्धि विषयासक्ति और अभिमान से दूषित हो गई है। अत: ध्वनि व्यंजना समझ नहीं रहे हैं। समझते हैं कि ये कोई जानकार हैं। प्रशंसा कर रहे है।

काहु न लखा सो चरित विसेखा। सो स्वरूप नृपकन्या देखा ॥
मरकट वदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥४॥

अर्थ : उस विशेष चरित्र को किसी ने नहीं लखा। उस स्वरूप को केवल राजकन्या ने देखा। बन्दर सा मुख और भयङ्कर देह। देखते ही उसके हृदय में क्रोध हुआ।

व्याख्या : एक नारद मुनि के आज तीन रूप दिखाई पड़ रहे हैं। सब लोग तो इन्हें नारद देख रहे हैं। पर वे अपने को विष्णुरूप देख रहे हैं। नृपकन्या मर्कटरूप देख रही है। इस वात को किसी ने न लखा। राजकन्या देखती है कि यह वन्दर सा मुख और भयङ्कर देहवाला कौन है ? इसे मुझे वरण करने की धृष्टता हुई। इस बात से उसके हृदय में क्रोध हुआ। क्रोध करने का समय नहीं था। इससे चुप रह गई।

दो. सखी संग लै कुँअरि तब, चलि जनु राज मराल।
देखत फिरै महीप सब, कर सरोज जयमाल ॥१३४॥

अर्थ : तव सखियों को लेकर राजकुमारी राजहंस की भाँति चली। सब राजाओं को देखती फिरती थी। उसके करकमल में कमल की जयमाला थी।

व्याख्या : स्वयम्बर में सखियों के साथ कन्या के आने की चाल है। यथा : संग सखी सुन्दर सकल सादर चलीं लवाइ। राजमराल से उपमा देकर उसकी शोभा और सुन्दर गति की प्रशंसा की। जयमाल हाथ में लिये हुए राजाओं को देखती फिरती है, कोई आँख तले आता नहीं। किसे पहिनावे ? अथवा किसी व्यक्ति विशेष को देख रही हैं। पर वह दिखाई नहीं पड़ रहा है। इसलिए किसी को पहिनाती नहीं। जयमाल हाथ की ही शोभा बढ़ा रही है।

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न विलोकी भूली ॥
पुनि पुनि मुनि उकसहि अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥१॥

अर्थ : जिस ओर नारद फूलकर बैठे थे। उस ओर उसने भूलकर भी नहीं देखा। बार बार मुनिजी उसकते और आकुल होते हैं। यह दशा देखकर हरगण मुसकरा रहे हैं।

व्याख्या : रङ्गभूमि में आते ही मुनिजी के अद्भुत रूप पर जो दृष्टि पड़ी तो उनकी धृष्टता पर राजकुमारी रुष्ट हो गई है। जानबूझकर उधर नहीं देखती। देखने में अपना अनादर समझती है। और मुनिजी फूले बैठे हैं कि मुझे छोड़कर वरती किसे है ? जब उसने उस ओर हो न देखा तब घबड़ाए। कहीं इधर देखना ही भूल गई तो अवश्य किसी दूसरे को वर लेगी। अतः आगे खिसकने लगे कि किसी भाँति उसकी दृष्टि पड़ जाय। फिर भी उसने नहीं ध्यान दिया तो अकुलाने लगे कि अब क्या करें।

धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला। कुँअरि हरखि मेलेउ जयमाला ॥
दुलहिन लैगे लच्छि निवासा। नृप समाज सब भएउ निरासा ॥२॥

अर्थ : कृपालु : हरि : वहाँ राजा का शरीर धारण करके गये। राजकुमारी ने प्रसन्न होकर जयमाल पिन्हाई। लक्ष्मीनिवास दुलहिन लेकर चले गये। सारा राज समाज निराश हो गया।

व्याख्या : कृपालु हैं, कृपा करके ठीक समय पर पहुँच गये। द्विभुजमूर्त्ति होकर गये। जिसमें किसी को देवबुद्धि न हो और नारद भी पहिचान न पावें। कुँअरि इन्हीं को ढूँढ़ती थी। इसलिए प्रसन्न हो उठी और जयमाला पहिना दी। लक्ष्मीनिवास हैं। दुलहिन लेकर चले भी गये। और किसी का किया कुछ न हुआ। उनके प्रभाव से सब दब गये। इससे राजसमाज निराश हो गया। न जाने वह कौन था जो वर ले गया। राजा तो सब जाने हुए हैं। सबके लिए पहिले से आसन निश्चित है। इसके लिए कोई आसन भी नहीं था। खड़े खड़े आया और काम करके चला गया। युद्ध का भी अवसर नहीं है। अतः पूरी निराशा हुई।

मुनि अति विकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥
तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर विलोकहु जाई ॥३॥

अर्थ : मुनिजी अति विकल थे। मोह ने उनकी बुद्धि नष्ट कर दी थी। मानों

गाँठ से छूटकर मणि कहीं गिर गई। तब महादेव के गणों ने मुसकराकर कहा कि दर्पण में जाकर अपना मुख देख लो।

व्याख्या : पूरा राजसमाज विकल हो उठा। पर मुनिजी अत्यन्त विकल हो उठे। क्योंकि उन्हें अपनी सफलता पर पूरी आस्था थी। गाँठ से छूटकर मणि के गिर जाने से अकिंचन को जैसी विकलता होती है वैसी विकलता हुई। हरगणों से अब रहा न गया। बोल बैठे 'दर्पण में अपना मुँह देख लो।' भाव यह कि तुम्हारा मुँह क्या राजकन्या के वरने योग्य है ?

अस कहि दोउ भागे भय भारी। वदन दीख मुनि वारि निहारी ॥
वेष विलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहि सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥४॥

अर्थ : ऐसा कहकर दोनों अत्यन्त डरकर भागे। मुनि ने पानी में झाँककर मुँह देखा। वेष देखकर अत्यन्त क्रोध बढ़ा। उनको बड़ा कठोर शाप दिया।

व्याख्या : कह तो दिया। पर पीछे से रुद्रगण अत्यन्त डरे। सोचने लगे कि हमारा सामना पड़ते ही उन्हें हमलोगों का दिल्लगी उड़ाना याद पड़ जायगा। तब शाप देंगे। सामना न पड़ने पर कदाचित् बच जायँ। जल में मुख देखना मना है। फिर भी आतुर होकर जल में ही देखा। भगवान् की लीला अत्यन्त अद्भुत है। जल में उन्हें वह रूप दिखाई पड़ा जो नृप कन्या ने देखा था। तब तो मुनिजी को बड़ा क्रोध हुआ। और पहिले उन रुद्रगणों को बड़ा कठोर शाप दिया।

दो. होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसे मुनि कोउ ॥१३५॥

अर्थ : तुम दोनों कपटी और पापी राक्षस होओ। मेरी हँसी की, उसका फल ले लो। अब फिर किसी मुनि की हँसी न करना।

व्याख्या : ब्राह्मण के पद से इतना घोर पतन हो कि निशाचर हो जाओ। तुम ब्राह्मण होने के योग्य नहीं हो। तुम निशाचर होने योग्य हो। तुमको मेरी दुर्दशा पर तनिक दया न आई। उलटा हँसते थे। अतः कर्म का फल मैं दूँगा जिसमें मुनियों पर हँसने की आदत छूट जाय।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा ॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं ॥१॥

अर्थ : फिर जल में देखा, तो अपना रूप मिल गया था। फिर भी हृदय में सन्तोष न हुआ, ओठ फड़क रहे थे और मन में क्रोध था। जल्दी जल्दी रमापति के पास चले।

व्याख्या : मैंने हरि से उनका रूप माँगा था। सो उन्होंने हमारा रूप भी बिगाड़कर बन्दर का रूप कर दिया। अब मुझे इस रूप में जीना होगा। यह समझ क्रोध बहुत बढ़ा। उसी क्रोध में रुद्रगण को शाप भी दे डाला। मन में चिन्ता उठी

क्या मेरा सदा के लिए यह रूप हो गया ? क्या मुझे अपना रूप वापस मिलेगा ? अब तो जो बात हमारी बिगड़नी थी वह हरि बिगाड़ ही चुके। अब तो हमारा रूप वापस दे देना चाहता था। अतः फिर जल में देखा तो मालूम हुआ कि उनका रूप वापस मिल गया। सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः। इस न्याय से मुनिजी को सन्तोष होना चाहता था कि किसी भाँति बन्दर के मुख से तो प्राण बचा पर सन्तोष हुआ नहीं। राजकुमारी के न मिलने की चोट किसी तरह जाती नहीं। अतः शीघ्रता से कमलापति के पास चले। क्रोध की मात्रा में कमी भी नहीं हुई। अधर का फड़कना क्रोध का अनुभाव है।

देहौं साप कि मरिहौं जाई। जगत मोरि उपहास कराई ॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी ॥२॥

जाकर शाप दूँगा या प्राण दे दूँगा। जगत् में मेरी हँसी इन्होंने करायी। मार्ग में ही असुरों के शत्रु मिले और साथ में लक्ष्मी तथा वही राजकुमारी थी।

व्याख्या : कहा सुनी करके शाप दूँगा। यदि शाप न लगा तो प्राण दे दूँगा। संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।

दनुजारी कहने का भाव यह कि रुद्रगण के निशाचर होने का शाप हो चुका है। अतः उनके उद्धार के लिए अवतार ग्रहण करना है। रुद्रगण के मारने में समर्थ कौन है ? अतः मुनिजी की पहिली इच्छा को सार्थक करने के लिए बीच रास्ते में ही मिले। क्रोध बढ़ाने के लिए रमा और वही राजकुमारी साथ लिये हैं। दोनों को साथ लेने का यह भाव कि नारदजी जान जायँ कि उनका स्वरूप ही नहीं बिगाड़ा, बल्कि वेष बदलकर राजकन्या को भी वही ले गये। यह भी नहीं कि इन्हें स्त्री का घाटा हो, लक्ष्मीजी साथ हैं ही।

बोले मधुर वचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥
सुनत वचन उपजा अति क्रोधा। माया बस न रहा मन बोधा ॥३॥

अर्थ : देवताओं के स्वामी ने मीठे वचन से कहा : मुनिजी ! व्याकुल पुरुषों की भाँति कहाँ चले ? वचन सुनते ही बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। मायावश होने से ज्ञान नहीं रह गया।

व्याख्या : मुनि अपनी धुन में चले जा रहे थे तो आपने स्वयं बात छेड़ दी। सुरसाईं हैं : जानते हैं कि रुद्रगण निसाचर होकर सुरों को दुःख देंगे। उनकी रक्षा के लिए स्वामी स्वयं शाप पाने का उपाय कर रहे हैं। बिकल की नाईं : कहने का यह भाव है कि आप मुनि हैं विकल तो हो नहीं सकते। यथा : ब्रह्मचर्यव्रत रत मति धीरा। तुम्हहिं कि करै मनो भव पीरा। यह विकलता का आभास होगा। अतः विकल की नाईं कहते हैं। पहिले कोप मन में था। अब उमड़ पड़ा। इसके पहिले ज्ञान विराग मन में रहा। यथा : सुनि मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान विराग हृदय नहिं जाके। अब मायावश हो जाने से ज्ञान नहीं रह गया। परम हितकारी, परम गुरु, परमेश्वर पर आक्षेप करते हैं।

पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरषा कपट विसेखी ॥
मथत सिंधु रुद्रहिं बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि विषपान कराएहु ॥४॥

अर्थ : तुम दूसरों की सम्पदा नहीं देख सकते। तुम्हें डाह और कपट अधिक है। सिन्धु मथने के समय महादेव को पागल तुमने बनाया। देवताओं को प्रेरणा करके उन्हें विष तुमने पिलवा दिया।

व्याख्या : तुम्हें सुन्दर स्त्री भी है। तुम अमर भी हो। अजेय भी हो। चराचर तुम्हारी सेवा भी करते हैं। यह सब सम्पदा तुम्हें प्राप्त है। पर ऐसी ही सम्पदा हमें भी प्राप्त हो जाय। यह तुम नहीं देख सकते। डाह से तुमने मेरे साथ कपट किया। डाह तो अन्य देवताओं में भी है। पर तुममें अधिक है।

तुम्हें रुद्र से डर रहा कि ये मुझे अपने मन का नहीं करने देंगे तो उन्हें विष दिलवा दिया। प्राण नहीं गया, पर पागल तो हो गये। यह सब तुम्हारी प्रेरणा से हुआ।

दो. असुर[१] सुरा विष[२] संकरहिं, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह, सदा कपट व्यवहारु ॥१३६॥

अर्थ : असुरों के लिए शराब, शङ्कर के लिए विष और अपने लिए लक्ष्मी और कौस्तुभ। तुम बड़े स्वार्थसाधक और कुटिल हो। तुम्हारा सदा कुटिल व्यवहार चलता है।

व्याख्या : दूसरा भय असुरों से था। उन्हें सुरा दे दी। जब दोनों पागल हो गये तब रमा और कौस्तुभ मणि को स्वयं ले लिया। स्त्री और धन के पीछे तुम्हें विष दिलवाना, मद्य पिलवाना कोई बड़ी बात नहीं है! तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए। स्वभाव से ही कुटिल हो। अतः सदा कपट व्यवहार करते हो। मुझसे भी कपट करके स्त्री तथा तदनुगामिनी सम्पदा हरण कर ली।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई ॥
भलेहि मंद मंदहि भल करहू। विसमउ हरख न हिअँ कछु धरहू ॥१॥

अर्थ : परम स्वतन्त्र हो। सिर पर कोई है नहीं। जो जी चाहता है वही करते हो। भले का बुरा और बुरे का भला करते हो। तुम्हारे हृदय में न विस्मय होता है न हर्ष होता है।

---

[१] अथासीत् वारुणी देवी कन्या कमललोचना। असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते।
तब कमल लोचना कन्यावारुणी उत्पन्न हुई। उसे हरि की अनुमति से असुरों ने ग्रहण किया। भागवत ॥

[२] प्रीते हरौ भगवति प्रीयेहं सचराचरः। तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे।
भगवान् हरि के प्रसन्न होने से मैं चराचर को प्रसन्न करता हूँ। इसलिए मैं यह विष खाता हूँ। मेरी प्रजाओं का कल्याण हो। भागवत।

व्याख्या : परवस जीव स्ववस भगवंता। तुम्हारे सिर पर यदि कोई होता तो तुम इस तरह अन्याय न कर सकते। तुम्हें उचित अनुचित का विचार करना पड़ता। स्वतन्त्र हो। उचित अच्छा लगा तो वही किया। अनुचित अच्छा लगा तो वही कर डाला।

मैं गुण गाता फिरता हूँ तो मुझे बन्दर का रूप दे दिया। और वे राक्षसी वृत्तिवाले जो मेरी दुर्दशा पर आनन्द मनाते थे उन्हें ब्राह्मण का शरीर दे दिया। मन्द करने का तुम्हें विस्मय नहीं। भला करने का हर्ष नहीं।

डहकि डहकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू॥
कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। अब लगि तुम्हहि न काहू साधा॥२॥

अर्थ : सबको ठग ठगकर ढीठ हो गये हो। अति अशङ्क होने से तुम्हारे मन में सदा उत्साह रहता है। शुभाशुभ कर्म तुम्हें बाधा नहीं करता। अबतक तुमको किसी ने ठीक नहीं किया।

व्याख्या : कोई ठगाई से नहीं बचा। धर्म करते वलि को ठग लिया। ठग को तो दण्ड का डर रहता है। अतः वह सशङ्क रहता है। तुम सदा अशङ्क हो। क्योंकि तुम्हें दण्ड देनेवाला कोई नहीं। इसलिए सदा उछाह रहता है।

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥३॥

अर्थ : अब अच्छे घर बयना दिया है। अपने किये का फल पाओगे। जिस शरीर को धारण करके तुमने मुझे ठगा है वही शरीर धारण करो। यह मेरा शाप है।

व्याख्या : अच्छे घर बायन देने से उससे भी अच्छा बायन बदले में मिलता है। आज तक तुमने दरिद्रों के घर बायन दिया था। इससे बदले में बायन नहीं मिला। इसबार मुझे बायन दिया है। इसके बदले में बायन मिलेगा। अपने कर्म का फल पाओगे।

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम भारी। नारि विरह तुम होय दुखारी॥४॥

अर्थ : तुमने मेरी आकृति बन्दर की कर दी। तो बन्दर ही तुम्हारी सहायता करेंगे। तुमने मेरा बड़ा अपकार किया। तुम भी स्त्री के विरह में दुःखी होओगे।

व्याख्या : तुम्हारी ऐसी असहायावस्था हो जायगी कि बन्दरों के पास जाकर सहायता चाहोगे। बन्दर तुम्हें सहायता देंगे। तब तुम्हारा संकट से उद्धार होगा। यथा :

एष दत्वा च वित्तानि प्राप्य चानुतमं यशः।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति॥

सीता यस्य स्नुषाचासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥
यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकांक्षते ॥
येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै ॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥
शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं सह यूथपैः ॥

सीतहरण के बाद जब रामजी शवरी के आश्रम से पंपासर होते ऋष्यमूक पहुँचे वहाँ हनुमानजी से भेंट हुई । उस समय लक्ष्मणजी हनुमान् जी से कहते हैं इन्होंने धन दान देकर अनुत्तम यश प्राप्त किया है । पहिले लोकनाथ रह चुके हैं। सुग्रीव को नाथ बनाना चाहते हैं । जिसकी पुत्रवधू सीता थीं, जो शरण्य और धर्मवत्सल थे । उस शरण्य के पुत्र सुग्रीव की शरण में आये हैं । जिसके प्रसाद से सदा प्रजा सुखी रहती थी वह रामचन्द्र वानरेन्द्र की कृपा चाहते हैं । जिस महाराज दशरथ ने सर्वगुणोपेत पृथ्वी के सब राजाओं को मान दिया था उनके ज्येष्ठपुत्र, जिनकी ख्याति तीनों लोकों में है वही राम वानरेन्द्र सुगीव की शरण में आये हैं। ऐसे शोकाभिभूत और शोकार्त राम के शरण आने पर सुग्रीव को चाहिए कि सेनापतियों के साथ उनपर कृपा करें । वा. रा. कि. । इस भाँति शाप का साफल्य दिखाया । तुम्हारे कारण मुझे स्त्रीविरह हुआ । तुम भी स्त्रीविरह में ऐसे ही दुःखी होगे ।

दो. श्राप सीस धरि हरखि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्हि ।
निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्हि ॥१३७॥

अर्थ : प्रभु ने शाप को सिरपर धारण करके हृदय में हर्षित होकर बहुत विनती की और कृपानिधि ने अपनी माया की प्रबलता खींच ली ।

व्याख्या : शाप को सिरपर चढ़ाया । कहा कि इस शाप से मैं प्रसन्न हूँ । पर आप अप्रसन्न न रहें । इसलिएं बहुत विनती की । दिखला दिया कि वस्तुतः विस्मय हर्ष नहीं है । दण्ड क्रिया नहीं करता प्रत्युत हर्ष का कारण होता है । माया नहीं खींची उसकी प्रबलता खींच ली । पूरी माया खींचं लेने से मोक्ष हो जाता । लीला ही समाप्त हो जाती ।

श्रीकृष्णावतार में जैसी स्तुति नारद की भगवान् ने की है । उससे इस विनती का भी कुछ आभास मिल जायगा । अतः उस स्तुति का भी यहाँ उल्लेख किया जाता है :

यह स्तुति स्कन्द पुराण में इस प्रकार है :

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम् ।
महेन्द्रगदितेनैव स्तोत्रेण शृणु तन्नृप ॥१॥
उत्सङ्गाद् ब्रह्मणो जातो यस्याहन्ता न विद्यते ।
अगुप्तश्रुतिचारित्रं नारदं तं नमाम्यहम् ॥२॥
अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि यस्य च ।
अदीर्घसूत्रं तं धीरं नारदं प्रणमाम्यहम् ॥३॥
कामाद्वा यदि वा लोभाद् वाचं यो नान्यथा वदेत् ।
उपास्यं सर्वजन्तूनां नारदं तं नमाम्यहम् ॥४॥
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञं ज्ञानशक्तिं जितेन्द्रियम् ।
ऋजुं यथार्थवक्तारं नारदं तं नमाम्यहम् ॥५॥
तेजसा यशसा बुद्ध्या नयेन विनयेन च ।
जन्मना तपसा वृद्धं नारदं प्रणमाम्यहम् ॥६॥
सुखशीलं सुसंवेषं सुभोजं भास्वरं शुचिम् ।
सुचक्षुषं सुवाक्यं च नारदं प्रणमाम्यहम् ॥७॥
कल्याणं कुरुते वाढं पापं यस्मिन्न विद्यते ।
न प्रीयते परार्थेन योऽसौ तं नौमि नारदम् ॥८॥
वेदस्मृतिपुराणोक्तं धर्मं यो नित्यमास्थितः ।
प्रियाप्रियविमुक्तं तं नारदं प्रणमाम्यहम् ॥९॥
अशनादिष्वलिप्तं च पण्डितं नालसं द्विजम् ।
वहुश्रुतं चित्रकथं नारदं प्रणमाम्यहम् ॥१०॥
नार्थे क्रोधे च कामे च भूतपूर्वोऽस्य विभ्रमः ।
येनैते नाशिता दोषा नारदं तं नमाम्यहम् ॥११॥
वीतसम्मोहदोषो यो दृढभक्तिश्च श्रेयसि ।
सुनयं सत्रपं तं च नारदं प्रणमाम्यहम् ॥१२॥
असक्तः सर्वसङ्गेषु यः सक्तात्मेव लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी नारदं प्रणमाम्यहम् ॥१३॥
नासूयत्यागमं किञ्चित् तपः कृत्येन जीवति ।
अवध्यकालो वश्यात्मा तमहं नौमि नारदम् ॥१४॥
कृतश्रमं कृतप्रज्ञं न च तृप्तं समाधितः ।
नित्ययत्नाप्रमत्तं च नारदं तं नमाम्यहम् ॥१५॥
न हृष्यत्यर्थलाभेन योऽलाभेन व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तमहं नौमि नारदम् ॥१६॥
तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमकातरम् ।
कालज्ञं च नयज्ञं च शरणं यामि नारदम् ॥१७॥

इमं स्तवं नारदस्य नित्यं राजन् जपाम्यहम् ।
तेन मे परमां प्रीतिं करोति मुनिसत्तमः ।।१८।।
अन्योऽपि यः शुचिर्भूत्वा नित्यमेतां स्तुतिं जपेत् ।
अचिरात्तस्य देवर्षिः प्रसादं कुरुते परम् ।।१९।।
एतान् गुणान्नारदस्य त्वमप्याकर्ण्य पार्थिव ।
जप नित्यं स्तवं पुण्यं प्रीतस्ते भविता मुनिः ।।२०।।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज उग्रसेन से कह रहे हैं। मैं देवराज इन्द्र द्वारा किये गये स्तोत्र से दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजी की सदा स्तुति करता हूँ। वह स्तोत्र श्रवण कीजिये। जो ब्रह्माजी की गोद से प्रकट हुए हैं। जिनके मन में अहङ्कार नहीं है। जिनका शास्त्रज्ञान और चरित्र किसी से छिपा नहीं है। उन देवर्षि नारद को मैं नमस्कार करता हूँ। जिनमें उद्वेग, क्रोध, चपलता और भय का सर्वथा अभाव है। जो धीर होते हुए भी दीर्घसूत्री : किसी काम में अधिक विलम्ब करनेवाले : नहीं हैं। उन नारदजी को मैं प्रणाम करता हूँ। जो कामना वश अथवा लोभ से झूठी बात मुँह से नहीं निकालते और समस्त प्राणी जिनकी उपासना करते हैं। उन नारदजी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो अध्यात्मगति के तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानशक्ति सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय हैं। जिनमें सरलता भरी है तथा जो यथार्थ बात कहनेवाले हैं। उन नारदजी को मैं प्रणाम करता हूँ। जो तेज, यश, बुद्धि, नय, विनय, जन्म तथा तपस्या सभी दृष्टियों से बढ़े हुए हैं उन नारदजी को मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वभाव सुखमय, वेष सुन्दर तथा भोजन उत्तम है। जो प्रकाशमान, पवित्र, शुभदृष्टिसम्पन्न तथा सुन्दर वचन बोलनेवाले हैं। उन नारदजी को मैं प्रणाम करता हूँ। जो उत्साहपूर्वक सबका कल्याण करते हैं। जिनमें पाप का लेश भी नहीं है तथा जो परोपकार करने से कभी अघाते नहीं हैं। उन नारदजी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो सदा वेद, स्मृति और पुराणों में बताये हुए धर्म का आश्रय लेते हैं तथा प्रिय और अप्रिय से रहित हैं। उन नारदजी को मैं प्रणाम करता हूँ। जो खानपान आदि भोगों में कभी लिप्त नहीं होते हैं। जो पण्डित, आलस्य रहित तथा बहुश्रुत ब्राह्मण हैं। जिनके मुख से अद्भुत बातें, विचित्र कथाएँ सुनने को मिलती हैं। उन नारदजी को मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्हें अर्थ : धन : के लोभ, काम अथवा क्रोध के कारण भी पहले कभी भ्रम नहीं हुआ है। जिन्होंने इन : काम क्रोध लोभ : तीनों दोषों का नाश कर दिया है। उन नारद जी को मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके अन्तःकरण से सम्मोह रूप दोष दूर हो गया है। जो कल्याणमय भगवान् और भागवत धर्म में दृढ़भक्ति रखते हैं। जिनकी नीति बहुत उत्तम है तथा जो सङ्कोची स्वभाव के हैं। उन नारद जी को मैं प्रणाम करता हूँ। जो समस्त सङ्गों से अनासक्त हैं तथापि सबमें आसक्त हुए से दिखाई देते हैं। मन में किसी संशय के लिए स्थान नहीं है। जो बड़े अच्छे वक्ता हैं। उन नारदजी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो किसी भी शास्त्र में दोषदृष्टि नहीं करते। तपस्या का अनुष्ठान ही जिनका जीवन है। जिनका समय कभी भगवच्चिन्तन

विना व्यर्थ नहीं जाता और जो अपने मन को सदा वश में रखते हैं उन श्री नारद जी को मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने तप के लिए श्रम किया है। जिनकी बुद्धि पवित्र एवं वश में है। जो समाधि से कभी तृप्त नहीं होते। अपने प्रयत्न में सदा सावधान रहनेवाले उन नारद जी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो अर्थलाभ होने से हर्ष नहीं मानते और लाभ न होने पर मन में क्लेश का अनुभव नहीं करते। जिनकी बुद्धि स्थिर तथा आत्मा अनासक्त है। उन नारद जी को मैं नमस्कार करता हूँ। जो सर्वगुण सम्पन्न, दक्ष, पवित्र, कातरतारहित कालज्ञ हैं उन देवर्षि नारद को मैं भजता हूँ। नारद जी के इस स्तोत्र का मैं नित्य जप करता हूँ। इससे वे मुनिश्रेष्ठ मुझ पर अधिक प्रेम रखते हैं। दूसरा कोई भी यदि पवित्र होकर प्रतिदिन इस स्तुति का पाठ करता है तो देवर्षि नारद वहुत शीघ्र उसपर अपना अतिशय कृपाप्रसाद प्रकट करते हैं। राजन्! आप भी नारद जी के इन गुणों को सुनकर प्रतिदिन इस स्तोत्र का जप करें। इससे वे मुनि आप पर बहुत प्रसन्न होंगे।

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥
तब मुनि अति सभीत हरि चरना। गहे पाहि प्रनतारति हरना ॥१॥

अर्थ : जब हरि ने माया दूर हटा दी तव वहाँ न लक्ष्मी रह गई न राजकुमारी रह गई। फिर तो मुनि ने अत्यन्त भयभीत होकर प्रभु का चरण पकड़ लिया। और कहा कि हे प्रणत के दुःख हरनेवाले! मेरी रक्षा करो।

व्याख्या : वहाँ रमा और राजकुमारी पहिले भी नहीं थी। पर माया के बल से मुनिजी उनको प्रभु के साथ देखते थे। अब मुनिजी के समझ में आया कि यह सब माया थी। मैंने क्या किया? भगवान् को दुर्वचन कहा : शाप दिया। अतः अति डर गये। चरण पकड़ लिया। 'पाहि पाहि' चिल्लाने लगे।

मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीन दयाला ॥
मैं दुर्वचन कहे बहु तेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे ॥२॥

अर्थ : हे कृपाल मेरा शाप झूठा पड़ जाय। दीनदयाल ने कहा : यह मेरी इच्छा है। मुनि ने कहा कि मैंने वहुत से दुर्वचन आपको कहे। मेरे पाप कैसे मिटेंगे?

व्याख्या : मुनिजी चरण पकड़कर यही विनती करते हैं कि कृपा करके मेरे शाप को मिथ्या कर दीजिये। दीनदयाल कहते हैं कि वह शाप नहीं था मेरी इच्छा थी। सत्य संकल्प मिथ्या कैसे होगा? भला शाप तो आपकी इच्छा थी; पर मैंने दुर्वचन भी तो बहुत से कहे हैं। इस पाप से मेरी रक्षा कैसे होगी?

जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहिं हृदय तुरत विश्रामा ॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥३॥

अर्थ : जाकर शङ्कर के शत नाम का जप करो। तुरन्त ही हृदय में शान्ति होगी। शिव के समान मुझे कोई प्रिय नहीं है। ऐसा विश्वास भूलकर भी नहीं छोड़ना।

व्याख्या : मुनिजी की शान्ति नष्ट हो गई। माया गई तो दुर्वचन का पश्चात्ताप रह गया। अतः विश्राम का उपाय कहते हैं। अशान्ति शङ्करशतनाम जप से दूर होगी। शङ्कर शतनाम स्तोत्र निम्नलिखित है :

अथ श्रीशिवाष्टोत्तरशतनाममहामन्त्रस्य आदिनारायणऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीसदाशिवो देवता श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं कालकण्ठमरिन्दमम्।
सहस्रकरमत्युग्रं वन्दे देवमुमापतिम्॥
ॐ शिवो महेश्वरः शम्भुः पिनाकी शशिशेखरः।
वामदेवो विरूपाक्षः कपर्दी नीललोहितः॥
शङ्करः शूलपाणिश्च खट्वाङ्गी विष्णुबल्लभः।
शिपिविष्टोऽम्बिकानाथः श्रीकण्ठो भक्तवत्सलः॥
भवः शर्वस्त्रिलोकेशः शितिकण्ठः शिवाप्रियः।
उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः॥
गङ्गाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः।
भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः॥
कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः।
वृषाङ्को वृषभारूढो भस्मोद्धूलितविग्रहः॥
सामप्रियः स्वरमयस्त्रयीमूर्तिरनीश्वरः।
सर्वज्ञः परमात्मा च सोमसूर्याग्निलोचनः॥
हविर्यज्ञमयः सोमः पंचवक्त्रः सदाशिवः।
विश्वेश्वरो वीरभद्रो गणनाथः प्रजापतिः॥
हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशो गिरिशोऽनघः।
भुजङ्गभूषणो भर्गो गिरिधन्वा गिरिप्रियः॥
अष्टमूर्तिरनेकात्मा सात्त्विकः शुद्धविग्रहः।
शाश्वतः खण्डपरशुरजः पाशविमोचकः॥
कृत्तिवासा पुरारातिर्भगवान् प्रमथाधिपः।
मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः॥
व्योमकेशो महासेनो जनकश्चारुविक्रमः।
रुद्रो भूतपतिः स्थाणुरहिर्बुध्न्यो दिगम्बरः॥
मृडः पशुपतिर्देवो महादेवोऽव्ययः प्रभुः।
पूषदन्तभिदव्यग्रो दक्षाध्वरहरो हरः॥
भगनेत्रभिदव्यक्तः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
अपवर्गप्रदोऽनन्तस्तारकः परमेश्वरः॥
इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया।
नामकल्पलतेयं मे सर्वाभीष्टप्रदायिनी॥

नामान्येतानि सुभगे शिवदानि न संशयः ।
वेद सर्वस्वभूतात्ति नामान्येतानि वस्तुतः ॥
एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः ।
जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम् ॥
वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च ।
सन्त्यनन्तानि सुभगे वेदेषु विविधेष्वपि ॥
तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः ।
अष्टोत्तरसहस्रन्तु नाम्नानुपदिशत्पुरा ॥

इति श्री गौरीनारायणसम्वादे शिवाष्टोत्तरशतनाम सम्पूर्णम् ।

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ। जो अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई। तुमने शिवजी के हितोपदेश का अनादर किया, उनकी स्पर्धा की, उसका फल यह हुआ है। यदि तुम्हें प्रतीति होती कि शिव के समान मुझे कोई प्यारा नहीं तो उनके हितोपदेश का अवहेलन न करते। और तुम्हारा मन भक्ति छोड़कर स्त्री का दास न बनता।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
अस उर धरि महि विचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई ॥४॥

अर्थ : जिसपर पुरारि कृपा नहीं करते वह हे मुनि! मेरी भक्ति नहीं पाता। ऐसा मनमें धारण करके पृथ्वी पर विचरो। अब तुम्हारे निकट माया नहीं आवेगी।

व्याख्या : मेरी भक्ति शिवजी की कृपा पर अवलम्बित है। ऐसा मन में रखकर पृथ्वी पर विचारो। डरो न कि कहीं फिर माया में फँस जायेंगे। शिक्षा यथेष्ट दे दी गई। तब वर दिया कि अब तुम्हारे निकट माया नहीं आयेगी। परन्तु यह न भूलना कि शिवजी से अधिक प्रिय मुझे कोई नहीं है।

दो. बहु विधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु, तब भये अंतरध्यान ।
सत्य लोक नारद चले, करत राम गुनगान ॥१३८॥

अर्थ : प्रभु बहुत प्रकार से मुनि को समझा बुझाकर तब अन्तर्धान हो गये। नारदजी रामगुण का गान करते सत्यलोक चले।

व्याख्या : प्रभु हैं, सेवक पर ममता है और प्रीति है इसलिए अनेक विधि से समझाया। यथा :

मेरे ही बलते विजय सदा भक्त को होय ।
पै शिवकृपाकटाक्ष बिनु भक्त होय नहिं कोय ॥
पाइ मोर बल जो करै संकर ते अभिमान ।
अवसि तासु छीजै भगति होय महाहित हान ॥
याते तव अभिमान को दीन्ह्यौं मूल उखारि ।
निज कौतुक के हेतु ही शाप लीन्ह सिरधारि ॥

हानि ग्लानि जिय जनि करौ मानि मोर उपदेस ।
प्रीति किये शिवपदकमल नहि कलेस को लेस ।।

इस भाँति समझाकर अन्तर्धान हो गये । गुणगान बन्द था फिर आरम्भ हो गया । गुणगान करते सत्यलोक को चले । सत्यलोक ब्रह्मलोक के हीं अन्तर्गत है । परन्तु सबसे ऊँचा है जहाँ ब्रह्मदेव रहते हैं । पिताजी को सब समाचार सुनाने नारदजी वहाँ चले ।

हरगन मुनिहि जात पथ देखी । विगत मोह मन हरष विसेखी ।।
अति सभीत नारद पहँ आये । गहि पद आरत वचन सुनाये ।।१।।

अर्थ : हरगणों ने मुनिजी को रास्ते में जाते देखा । लख लिया कि वे विगत-मोह हैं और बहुत हर्षित हैं । बहुत डरे हुए नारदजी के पास आये और उनके चरण पकड़कर आर्त वचन कहे ।

व्याख्या : हरगण वहाँ से तो भागे । परन्तु शाप का प्रभाव उनपर पड़ने लगा । हरगण हैं : जान गये कि नारदजी ने शाप दे दिया । अतः अनुग्रह कराने का समय देख रहे हैं । नारदजी ने मोहवश क्रुद्ध होकर शाप दिया था । हरगणों ने देखा कि इस समय विगतमोह भी हैं और हर्षित भी हैं । वरदान पाया है कि : अब न तुम्हहिं माया नियराई । अतः अपराधक्षमापन का यही उपयुक्त समय है ।

'अति सभीत' मनसा । 'गहि पद' कर्मणा । 'आरत वचन सुनाये' वाचा । अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा नारदजी के शरण गये ।

हरगन हम न विप्र मुनिराया । बड़ अपराध कीन्ह फल पाया ।।
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला । बोले नारद दीन दयाला ।।२।।

अर्थ : हे मुनिराज ! हम हरगण हैं, विप्र नहीं हैं । बड़ा अपराध किया है, फल भी पाया । हे कृपालु अब शापानुग्रह करिये । दीनदयाल नारदजी बोले :

व्याख्या : शरण आये हैं । अतः रुद्रगण छल कपट का त्याग करते हैं । कहे देते हैं कि हम हरगण हैं, ब्राह्मण नहीं हैं । अर्थात् हमने कपट से ब्राह्मण वेष धारण किया था । बड़ा अपराध किया । आप महात्मा हैं, साधु हैं । आपकी हमलोगों ने हँसी उड़ाई । उसका फल पाया । रोने की बारी आगई । हरगण पद प्राप्त करके राक्षस हुआ चाहते हैं । पतन के लक्षणों का अनुभव हो रहा है ।

हम जानते हैं कि शाप नहीं हट सकता । जिसके शाप को भगवान् सिरपर धारण करते हैं उसका शाप हटाने के लिए सोचा भी नहीं जा सकता । परन्तु शापानुग्रह हो सकता है । अतः जो सम्भव हो वही हमारे लिए कीजिये । नारदजी दीनदयाल हैं । उन्हें उनकी दीनता पर दया आगई ।

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ । वैभव विपुल तेज बल होऊ ।।
भुजबल विस्व जितब तुम जहिआ । धरिहहिं विस्नु मनुज तनु तहिआ ।।३।।

तुम दोनों जाकर राक्षस होओ । तुमको बड़ा ऐश्वर्य, तेज और बल हो । तुम

जिस दिन अपनी भुजाओं के बल से संसार को जीत लोगे उसी दिन विष्णु मनुष्य का शरीर धारण करेंगे।

व्याख्या : शापानुसार राक्षस तुम लोगों को होना होगा। अब अनुग्रह यह है कि राक्षसयोनि से ही तुम्हारे दोनों लोक बनेंगे। इस लोक में तुम्हें बड़ा ऐश्वर्य, तेज और बल होगा। तुम लोग अपनी भुजा के बल से संसार को जीतोगे। यथा : भुजबल विस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र। मंडलीक मनि रावन राज्य करै निज मंत्र। परलोक भी बनेगा। जिस दिन संसार जीत लोगे उसी दिन विष्णु नर रूप में अवतीर्ण होंगे। इस कल्प में रावण ने बहुत दिन तक राज्य नहीं किया।

समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा॥
चले जुगुल मुनिपद सिरु नाई। भये निसाचर कालहि पाई॥४॥

अर्थ : तुम्हारी मृत्यु विष्णु के हाथ से युद्ध में होगी। मुक्त हो जाओगे। फिर संसार में आना न होगा। दोनों मुनि के चरणों पर सिर नवाकर चले और काल पाकर राक्षस हुए।

व्याख्या : रणाङ्गण में सन्मुखमरण का बड़ा माहात्म्य है। यथा : द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः। अर्थ : ये दो पुरुष इस लोक में सूर्यमण्डल भेदनेवाले हैं : एक तो योगी परिव्राजक और दूसरा रण में सन्मुख मरनेवाला। उसमें भी हरि के हाथ से मरण होगा। तुम लोगों की निर्वाण मुक्ति होगी। जय विजय की भाँति तीन जन्म में नहीं।

दोनों कृतार्थ होकर चले, राक्षस होकर शापानुग्रह के अनुकूल ग्रहस्थिति में उनका जन्म हुआ।

दो. एक कलप एहिं हेतु प्रभु, लीन्ह मनुज अवतार।
सुर रंजन सज्जन सुखद, हरि भंजन भुवि भार॥१३९॥

अर्थ : एक कल्प में इस कारण प्रभु ने मनुष्य का अवतार धारण किया। हरि देवताओं को प्रसन्न करनेवाले सज्जनों को सुख देनेवाले तथा पृथ्वी का भार हरण करनेवाले हैं।

व्याख्या : तीसरे कल्प की कथा है। जिसमें भगवान् क्षीरशायी का रामावतार हुआ। यह नारदजी के शाप के कारण हुआ था। अतः मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुःख भारा। यह विचार करके नारदजी के अरण्य काण्ड के अन्त में मिलन की कथा इसी अवतार की है।

अवतार के तीन कारण देते हैं : १. सुररञ्जन २. सज्जन सुखद ३. और भंजन भुविभार भी हरि हैं।

एहि विधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद विचित्र घनेरे॥
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नानाविध करहीं॥१॥

अर्थ : इस विधि से हरि के जन्म और कर्म सुन्दर सुख देनेवाले और बहुत विचित्र हैं। प्रत्येक कल्प में प्रभु अवतार लेते हैं। और अनेक प्रकार की सुन्दर लीलाएँ करते हैं।

व्याख्या : शापादि यद्यपि देखने में अवतार के कारण हैं। पर वस्तुतः उनकी इच्छा ही कारण है। शापादि भी उनकी इच्छा से ही होते हैं। यथा : मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला। तथा : निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। इसीलिए प्रभु के जन्म कर्म दिव्य कहे जाते हैं। वे सुन्दर, सुखद और बड़े विचित्र होते हैं।

प्रतिकल्पं भवेद्रामो रावणश्चापि राक्षसः। एवं रामसहस्राणि रावणानां सहस्रशः। भवितव्यानि भूतानि तथा देवी प्रवर्त्तते। अ. ६१-३९-४१। कालिकापुराण में कहा है कि प्रत्येक कल्प में राम होते हैं और रावण होता है। इस भाँति हजारों राम और हजारों रावण हो गये और होनेवाले है। उसी भाँति देवी भी प्रवृत्त होती हैं। दूसरे अवतार तो कल्प में कई वार होते हैं। पर रामावतार एक कल्प में एक ही वार होता है और प्रत्येक कल्प के चरित्रों में विधिभेद रहता है। चरित्र का ढाँचा प्रायः एक सा होता है।

तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥
विविध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरजु सयाने॥२॥

अर्थ : तव तव मुनीश्वरों ने बहुत प्रबन्ध वनाकर कथा का गान किया है। अनेक प्रकार के अनोखे प्रसङ्गों का वर्णन किया है। जिसको सुनकर चतुर लोग आश्चर्य नहीं करते।

व्याख्या : कल्पभेद से चरित्र में भेद पड़ता है। प्रत्येक कल्प के चरित्र को मुनीश्वर गान करते हैं। अतः एक रामायण की कथा दूसरे से सर्वत्र मेल नहीं खाती। प्रसङ्गों में भेद पड़ता है। वाल्मीकीय में एक प्रकार की कथा है, अध्यात्म में दूसरे प्रकार की है। अद्भुत में तीसरे प्रकार की और आनन्दरामायण में चौथे प्रकार की। इससे समझदार लोग आश्चर्य नहीं करते।

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥
रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाये॥३॥

अर्थ : हरि अनन्त हैं। हरि की कथा अनन्त है। सन्त लोग उसे बहुत प्रकार से कहा सुना करते हैं। श्रीरामचन्द्र के सुन्दर चरित्र करोड़ कल्पों में भी गाये नहीं जा सकते।

व्याख्या : उनकी स्थिति सदा सर्वत्र है। इसलिए अनन्त हैं। उनके अवतारों की संख्या नहीं हैं इसलिए भी अनन्त हैं एवं उनकी कथाएँ : रामायण : भी अनन्त हैं। अतः सव सन्त उसे अनेक प्रकार से कहते सुनते हैं।

एक एक अवतार के चरित्रों का पारावार नहीं है। यथा : श्रीराम रावन

समर चरित अनेक कल्प जे गावहीं। सत सेष सारद निगम कवितेउ तदपि पार न पावहीं। अतः कहते हैं कि कोटि कल्प तक गाये नहीं जा सकते।

यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहिं मुनि ग्यानी ॥
प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी। सेवत सुलभ सकल दुख हारी ॥४॥

अर्थ : हे भवानी ! मैंने यह प्रसङ्ग कहा कि ज्ञानी मुनि भी हरि की माया से मोहित होते हैं। प्रभु कौतुकी हैं। प्रणत का हित करनेवाले हैं। सेवा करने में सुलभ और सब दुखों के हरण करनेवाले हैं।

व्याख्या : शिवजी उमा से कहते हैं कि तुमने सन्देह किया था। यथा : गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद विष्णु भक्त पुनि ज्ञानी। कारन कौन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा। कि नारदजी को मोह हुआ। यह बड़ा आश्चर्य है। इसलिए मैंने यह प्रसङ्ग कहा कि : ज्ञानी मूढ न कोय : जेहि छन जस रघुवर करहिं। ज्ञानी मुनि भी हरिमाया से मोहित होते हैं। प्रसङ्ग में जो बातें दिखलाई गई हैं उन्हीं को संक्षेप से प्रभु के विशेषण में दिखलाते हैं : १. कौतुकी। यथा : मुनि कर हित मम कौतुक होई। २. प्रनत हितकारी। यथा : जेहि विधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार। ३. सेवत सुलभ। यथा : बहु विधि विनय कीन्ह तेहि काला। प्रकटे प्रभु कौतुकी कृपाला। ४. सकल दुःखहारी। यथा : विगत मोह मन हरख विसेखी।

सो. सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस विचारि मन माहिं, भजिअ महामाया पतिहि ॥१४०॥

अर्थ : देवता, मनुष्य और मुनि ऐसा कोई नहीं है जिसे प्रबल माया न मोह ले। ऐसा मन में विचार करके महामाया के पति को भजना चाहिए।

व्याख्या : सुनु खग प्रबल राम की माया। जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआई विमोह बस करई। उस महामाया पर केवल उसके पति की आज्ञा चल सकती है : यथा : भृकुटि विलास नचावै जाही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही। क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की माया।

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं विचित्र कथा विस्तारी ॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा ॥१॥

अर्थ : हे पार्वती ! भगवान् के अवतार का अन्य हेतु सुनो। मैं उनकी विचित्र कथा को विस्तार करके कहता हूँ जिस कारण से अज, अगुण, अरूप ब्रह्म कोसलपुर के भूप हुए।

व्याख्या : अब चौथे कल्प की कथा कहते हैं। तीन कल्पों में विष्णु का रामावतार कहकर अब ब्रह्म का रामावतार कहते हैं। इस अवतार को बल्लभ मत में भी षोडशकल अर्थात् पूर्णावताररूपेण स्वीकार किया है। विष्णु के अवतार का व्याज

प्रायेण कोई न कोई ब्रह्मशाप है, उसकी पूर्ति के लिए हरि का अवतार होता है और ब्रह्म के अवतार में केवल भक्तानुग्रह कारण है। इसी अवतार की कथा विस्तार से कहने को श्रीगोस्वामी जो का संकल्प है। भावार्थ यह कि तीन कल्पों के अवतारों का कारण संक्षेप से कह आये हैं। ब्रह्म के अवतार की कथा विस्तार से कहने का संकल्प है। शेष तीन कल्पों की कथाएँ भी वैसी ही हुई थीं। जहाँ कोई विशेषता आ पड़ी है उसका भी विस्तृत कथा में समावेश कर दिया गया है। वह स्पष्ट मालूम पड़ता है। इस ब्रह्मावतार की विशेषता यह है कि इसमें रघुवीर ने सब चरित्रों को अतिशय रूप में किया है। यथा : एक बार अतिशय सब चरित किये रघुवीर। इसी अवतार में उमा को मोह हुआ था।

अजन्मा, त्रिगुणातीत, स्थूल सूक्ष्म से परे जो ब्रह्म है सो कोसलाधीश हुआ, विष्णु भी उसी निर्गुण ब्रह्म के सगुण स्वरूप हैं। इनके रामावतार में तथा साक्षात् राम ब्रह्म के अवतार में कोई भेद नहीं है। फिर भी परत्वापरत्व का तारतम्य स्वीकार किया जाता है।

जो प्रभु विपिन फिरत तुम देखा। बंधु समेत धरे मुनि वेखा ॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सती सरीर रहिहु बौरानी ॥२॥

अर्थ : जिस प्रभु को तुमने भाई के साथ मुनि के वेष में बन में फिरते हुए देखा है। जिसका चरित देखकर हे भवानि! तुम सती शरीर में बावली बन गयी थी।

व्याख्या : सती जन्म की याद दिलाते हैं कि उस जन्म में जो तुमने विरहावस्था में रामजी को देखा था वह साक्षात् ब्रह्म का अवतार का चरित बड़ा गहन था। इसी अवतार के चरित ने तुम्हें पागल कर दिया था। इससे उस अवतार का अधिक परत्व कहते हैं।

अजहु न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम रुजहारी ॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा ॥३॥

अर्थ : आज भी तुम्हारे ऊपर से वह छाया हटती नहीं है। उसी का चरित्र सुनो। जो भ्रम रूपी रोग को हरण करनेवाला है। उन्होंने अवतार ग्रहण करके जो लीलाएँ कीं मैं अपनी वुद्धि के अनुसार सब कहूँगा।

व्याख्या : यद्यपि सती शरीर : दक्षशुक्रसम्भव : अव नहीं रह गया। अब तुम्हारा पार्वतीतनु है। फिर भी उस जन्म के पागलपन की छाया : भ्रम : अब भी वना हुआ है। वह भ्रम उनके चरित्र सुनने से ही जायगा। अतः उस अवतार की तो सब लीला मति अनुसार कहेंगे। अर्थात् विष्णु के तीन अवतार की सब कथा नहीं कहेंगे। प्रसङ्गात् कहीं कहीं कहेंगे। लीला से पता चल जायगा कि किस कल्प की कथा हो रही है। यथा : आरण्यकाण्ड में नारद मिलन की कथा ब्रह्म के अवतार वाली नहीं है। स्पष्ट ही वह नारदकल्प की कथा है।

भरद्वाज सुनि संकर बानी । सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानीं ॥
लगे बहुरि बरनै वृषकेतू । सो अवतार भयेउ जेहि हेतू ॥४॥

अर्थ : हे भारद्वाज ! शङ्कर की वाणी सुनकर उमा सङ्कुचित हुईं और मुसुकराईं । फिर वृषकेतु, जिस कारण से वह अवतार हुआ उसे वर्णन करने लगे ।

व्याख्या : सती सरीर रहिहु बौरानी सुनने से सङ्कोच; सो सब कहिहौं मति अनुसारा सुनने से प्रेम । और अजहुँ न छाया मिटत तुम्हारी सुनने से मुसकराहट । एक जन्म के कर्मफल भोग पूरा हो जाने पर भी कर्मलेश रह जाता है जो दूसरे जन्म का कारण होता है । यह कर्मघाट की बात है । अतः इसे कर्मघाट के वक्ता के मुख से ही कहलाया ।

इतना कहकर कर्मघाट के वक्ता योगी याज्ञवल्क्य फिर उमाशङ्कर संवाद आरम्भ करते हैं कि वृषकेतु ब्रह्म के रामावतार का कारण वर्णन करने लगे ।

दो. सो मैं तुम सन कहौं सबु, सुनु मुनीस मनलाइ ।
रामकथा कलि मल हरनि, मंगल करनि सुहाइ ॥१४१॥

अर्थ : वह सब मैं तुमसे कहता हूँ । हे मुनीश ! मन लगाकर सुनो । रामकथा कलि के मल की हरण करनेवाली, मङ्गल करनेवाली और सुन्दर है ।

व्याख्या : वह सब कारण मैं तुमसे कहूँगा क्योंकि तुम मुनीश हो । अर्थात् दूसरे से नहीं कहता । इस कथा में मनको वहुत सावधान रखना । रामकथा में तनिक सी असावधानी करने से पार्वती आज आपत्ति में फँस गई । इसका अनादर नहीं होना चाहिए । क्योंकि इससे महाफलोदय होता है । कलिमल का नाश होकर मङ्गल की प्राप्ति होती है और यह कथा सुन्दर भी है ।

स्वायम्भू मनु का इतिहास

स्वायम्भू मनु अरु सतरूपा । जिन्हते भै नर सृष्टि अनूपा ॥
दंपति धरम आचरण नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका ॥१॥

अर्थ : स्वायम्भू मनु और शतरूपा जिनसे अनूप नर सृष्टि हुई दोनों प्राणियों का आचरण बहुत अच्छा था ।आज भी वेद उनके प्रामाण्य का गान करता है ।

व्याख्या : ब्रह्मदेव को स्वयम्भू कहते हैं । उनसे उत्पन्न होने के कारण आदि मन्वन्तर के मनु स्वायम्भू कहलाये । ब्रह्मदेव के ही अर्धभाग से स्वायम्भू मनु और दूसरे अर्धभाग से शतरूपा हुईं । अनेक रूप धारण करने से उनका नाम शतरूपा हुआ । इनके पहिले मानसी सृष्टि का प्रचार था । इन्होंने पहिले पहल मनुष्य की सृष्टि की । जिसकी उपमा नहीं है । यथा : नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत जेही । नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान बिराग भगति सुभ देनी ।

इनका धर्माचरण इतना उत्तम था कि महर्षियों ने इनसे धर्म पूछा । इनके बतलाये हुए धर्म का ही धर्मशास्त्र बना जिसे मनुस्मृति कहते हैं । इनके बाद पाँच

मन्वन्तर में पाँच मनु हुए। यह सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। परन्तु स्वायम्भू मनु की ही मनुस्मृति आजतक परम प्रमाण मानी जाती है। वेद भी 'यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्' जो मनु कहते हैं वही भवरोग के लिए औषध है कहकर मनु के प्रामाण्य का ख्यापन करता है। वेद अपौरुषेय है। उसमें व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। उसमें जो व्यक्तिविशेष के नाम आते भी हैं वे पदों के नाम हैं। प्रत्येक कल्प जो पहिले मनु होते हैं वे स्वायम्भू कहलाते हैं। और ऐसे ही ज्ञानी महात्मा होते हैं। उनमें से किस स्वायम्भू की चरचा की जाती है। इसे बतलाते हुए कहते हैं कि जिनके बेटे उत्तानपाद और प्रियव्रत हैं।

नृप उत्तानपाद सुत जासू। ध्रुव हरि भगत भयेउ सुत जासू॥
लघुसुत नाम प्रियव्रत ताही। वेद पुरान प्रसंसहिं जाही॥२॥

अर्थ : जिसके बेटे राजा उत्तानपाद थे जिसके पुत्र ध्रुव हरिभक्त हुए। उनके : मनु के छोटे बेटे का नाम प्रियव्रत था। जिसकी प्रशंसा वेद पुराण करते हैं।

व्याख्या : स्वायम्भू मनु के सन्तानों की योग्यता कहते हैं। राजा उत्तानपाद उनके पुत्र हुए। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव हुए। जिन्होंने बचपन में ही तप से नारायण को प्रसन्न किया। यथा : ध्रुव सगलानि जप्यौ हरि नाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ। मनुजी के दूसरे बेटे प्रियव्रत थे। ये आत्माराम तथा महाभागवत थे। इनकी पुराणों में बड़ी प्रशंसा है। उत्तानपाद और प्रियव्रत दोनों भगवान् के अंश से उत्पन्न थे।

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदिदेव प्रभु दीन दयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥३॥

अर्थ : उनकी बेटी का नाम देवहूति था। जो कर्दम मुनि की प्रिय स्त्री थी। आदिदेव, दीनदयाल कृपाल प्रभु कपिल को जिसने गर्भ में धारण किया था।

व्याख्या : कर्दम प्रजापति ने बहुत बड़ी तपस्या करके भगवान् से अपने अनुरूप पत्नी माँगी। तब उन्हें देवहूति तपश्चर्या के फलरूप में प्राप्त हुईं। अतः 'प्रियनारी' कहा। इन्हीं देवहूति के उदर से कपिलावतार हुआ। भावार्थ यह कि पुण्यशील के वंश में ही अवतार होता है।

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व विचार निपुन भगवाना॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब विधि प्रतिपाला॥४॥

अर्थ : जिन्होंने सांख्य शास्त्र को प्रकट करके वर्णन किया। भगवान् तत्त्व के विचार में बड़े निपुण थे। उस मनु ने बहुत समय तक राज किया। और प्रभु की आज्ञा का सब प्रकार से पालन किया :

व्याख्या : भगवान् कपिलदेव ने लुप्त हुए सांख्यशास्त्र का उपदेश अपनी माता देवहूति को दिया। यह सेश्वर सांख्य था। इसका वर्णन भागवत में है। कपिलदेवजी के शिष्य आसुरि हुए।

वहत्तर चतुर्युगी के लगभग एक मनु और उनके पुत्रों का राज्य रहता है। इसलिए कहते हैं कि स्वायम्भू मनु ने बहुत काल तक राज्य किया। प्रभु की आज्ञा ही धर्म है। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। वेद में जो वाक्य आज्ञारूप से कहे गये हैं। यथा : सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव। इत्यादि। सत्य बोलो। धर्म करो। माँ को देवता मानो। ये ही धर्म हैं। वेद ईश्वर का वाक्य है। अतः उसकी आज्ञा ईश्वर की आज्ञा है। सो उन आज्ञाओं का मनुजी ने सब भाँति से पालन किया। और आज्ञा पालन से बड़ी दूसरी सेवा नहीं है। यथा : आज्ञा समान सुसाहिब सेवा। अतः उनका राज्य करना भी भगवत्सेवा रूप था। 'सब विधि' कहकर मनुजी का श्रद्धातिरेक दिखलाया।

सो. होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपनु।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु ॥१४२॥

अर्थ : घर में बसते चौथापन आगया। और विषय से विराग होता नहीं। अतः हृदय में बड़ा दुःख हुआ कि बिना हरिभक्ति के जन्म बीत गया।

व्याख्या : वृद्धावस्था आगई। अर्थात् विषय भोग का सामर्थ्य घट चला फिर भी विषय से विराग नहीं हुआ। स्वयं मनुजी ने कहा है : न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। कभी भी विषयोपभोग से काम की तृप्ति नहीं होती। हवि पाकर अग्नि की भाँति वह अधिक बढ़ता है। विषयविराग, बिना विषय में विरसता का ज्ञान हुए नहीं होता। कामी पुरुष को अत्यन्त घृणित अङ्ग में सुन्दरता का बोध होता है। उसमें और विष्ठा के कृमि में कौन अन्तर है? इस प्रकार का विचार करने से विषय विरसता का ज्ञान होता है। विषय वासना का चिरसंस्कार होने से, विरसता का ज्ञान होने पर भी एकाएक विषय नहीं छूटता। जबतक विषयों से हटकर मन हरिचरणों में न लगे तबतक भक्ति का उदय नहीं कहा जा सकता। इतना कर्मकाण्ड करते रहने पर भी बिना भक्ति के मनुजी ने कृतार्थता नहीं मानी। कहते हैं कि : जन्म गएउ हरि भक्ति बिनु। अर्थात् भक्ति से ही जन्म का साफल्य है।

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥
तीरथवर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधि दाता ॥१॥

अर्थ : राजा ने पुत्र को राज्य आग्रह पूर्वक दिया और स्त्री सहित आप बन को गये। तीर्थों में श्रेष्ठ नैमिष प्रसिद्ध है। वह अत्यन्त पवित्र और साधकों को सिद्धि देनेवाला है।

व्याख्या : पुत्र भी ऐसे विषयविमुख कि राज्य लेने को तैयार नहीं। राजा के आग्रह से उन लोगों ने राज्य स्वीकार किया। महाराज मनु ने गृहस्थाश्रम त्याग करके वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया। यथा : चौथेपन जाइय नृप कानन।

ब्रह्मदेव से ऋषियों ने तपस्या के लिए पवित्र भूमि पूछी। उन्होंने एक चक्र

दिया कि इसके साथ साथ चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि विशीर्ण हो जाय वही स्थल योगयज्ञादि के लिए उपयुक्त है। सो जहाँ पर उसकी नेमि विशीर्ण हुई उसे नैमिष कहते हैं। शौनकादि ऋषियों ने यहीं एक सहस्र वर्ष का दीर्घ यज्ञ किया और यहीं सूतजी ने अठारह पुराण और महाभारत ऋषियों को सुनाया। सत्ययुग का तीर्थ पुष्कर है और त्रेता में नैमिष का अधिक माहात्म्य सुना जाता है। जहाँ चक्र की नेमि विशीर्ण हुई है उसे चक्रतीर्थ कहते हैं। वहीं पर समाधियाँ बनी हुई हैं। जिनमें से एक को लोग मनु-शतरूपा की और दूसरी को कश्यप-अदिति की बतलाते हैं। नैमिषारण्य आजकल नीमसार कहलाता है।

बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा। तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा ॥
पंथ जात सोहहि मतिधीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा ॥२॥

अर्थ : वहाँ मुनि और सिद्धों का समाज बसता था। वहीं मनुराजा हर्षित-हृदय से चले। धीरमतिवाले राजा और रानी मार्ग में चलते हुए ऐसे शोभित हुए, जैसे ज्ञान और भक्ति शरीर धारण किये हों।

व्याख्या : सत्सङ्ग की सुलभता अथवा जङ्गम प्रयागराज की उपस्थिति भी दिखलाते हैं। जहाँ साधक को सिद्धि सुलभ हो वहीं मुनिसिद्धसमाज बसता था। महाराज मनु जन्म को सफल करने चले हैं। अतः बड़े हर्षित हैं। यात्रा में हर्ष कार्य-सिद्धि का द्योतक है। ममता का बन्धन तोड़ने में समर्थ हुए हैं। इसलिए भी हर्ष है। ज्ञान और भक्ति दोनों में ममतात्याग का विधान है। राजा-रानी में गृह कुटुम्ब की ममता नहीं है। इसलिए ज्ञान और भक्ति से उपमित किया।

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरखि नहाने निरमल नीरा ॥
आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी। धरम धुरंधर नृपरिषि जानी ॥३॥

अर्थ : गोमती के किनारे पहुँच गये और निर्मल जल में हर्षित होकर स्नान किया। ज्ञानी मुनि और सिद्ध लोग राजा को धर्मधुरन्धर और राजर्षि जानकर मिलने आये।

व्याख्या : नैमिषारण्य में गोमती नदी बहती हैं। ये आदिगङ्गा कहलाती हैं। महाराज ने हर्षपूर्वक यात्रा भी आरम्भ की और तीर्थ में पहुँचकर स्नान भी किया।

मुनिसमाज में राजा का आदर है। उनके आने पर सब लोग मिलने आये। यहाँ ऐश्वर्य का मान नहीं है; धर्म, भक्ति और ज्ञान का मान है।

जहँ तहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए ॥
कृस सरीर मुनिपट परिधाना। सत समाज नित सुनहिं पुराना ॥४॥

अर्थ : जहाँ जहाँ सुन्दर तीर्थ हैं मुनियों ने आदरपूर्वक सबकी यात्रा राजा-रानी को करवायी। शरीर दुर्बल हो गया है। वल्कल पहिने हुए सत् समाज में पुराणश्रवण करते हैं।

व्याख्या : नैमिषारण्य की प्रदक्षिणा चौरासी कोस की सुनी जाती है। वहाँ सभी तीर्थों का निवास है और श्रद्धालु यात्री सबकी यात्रा करते हैं। मुनि लोग उनके जानकार हैं। अतः राजा-रानी को सब तीर्थों में लिवा ले गये और आदर के साथ सब धर्मकृत्य पूरा करवाया।

मुनिधर्म का आचरण करने से शरीर कृश हो गया है। मुनिपटपरिधान से भूषण भोग और वस्त्र का त्याग कहा। हरिभक्ति का मूल कारण सत्सङ्ग और कथा-श्रवण द्योतित किया।

दो. द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग ॥१४३॥

अर्थ : मन्त्रों में श्रेष्ठ द्वादशाक्षर का जप अनुराग के साथ करते थे। वासुदेव के चरणकमलों में राजा-रानी का मन अत्यन्त लग गया।

व्याख्या : ॐ नमो भगवते वासुदेवाय यही द्वादशाक्षर मन्त्र है। इसी का जप मनुशतरूपा करते थे। यद्यपि द्वादशाक्षर अनेक मन्त्र हैं। परन्तु वासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग। इस उक्ति से उपर्युक्त मन्त्र की ही पुष्टि होती है। यहाँ वासुदेव से वासुदेवस्य अपत्यं पुमान् वसुदेव का पुत्र अर्थ नहीं करना होगा। क्योंकि पुराणों में वासुदेव शब्द का अति उदार अर्थ पाया जाता। श्री विष्णुपुराण में कहा है :
सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि। भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥
खाण्डिक्यजनकायाह पृष्टः केशिध्वजः पुरा। नामव्याख्यामनन्तस्य वासुदेवस्य तत्त्वतः ॥
भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥

उस परमात्मा में ही सब भूत बसते हैं और वे भी सबके आत्मा रूप से सकल भूतों में विराजमान हैं। इसलिए उन्हें वासुदेव कहते हैं। पूर्व काल में खाण्डिक्य जनक के पूछने पर केशिध्वज ने उनसे भगवान् अनन्त के वासुदेव नाम की यथार्थ व्याख्या इस प्रकार की थी। प्रभु समस्त भूतों में व्याप्त हैं और समस्त भूत भी उन्हीं में रहते हैं। तथा वे ही संसार के रचयिता और रक्षक हैं। इसलिए वे वासुदेव कहलाते हैं। अतः यही द्वादशाक्षर मन्त्र है। श्रीरामतापनीय में तो इसका इतना माहात्म्य कहा है कि इसे साक्षात् रामरूप ही बतलाया है। यथा : ॐ यो हवै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् अद्वैतपरमानन्दात्मा य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय भूर्भुवः स्वः तस्मै वै नमो नमः। अतः दूसरे द्वादशाक्षर की कल्पना में मैं कोई कारण नहीं देखता। स्वायम्भू मनु की तपस्या की कथा कालिकापुराण में मिलती है और उसमें भी वासुदेव के जाप का ही उल्लेख है। यथा : ओं नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे। इति जप्यं प्रजपतो मनोः स्वायम्भुवस्य च। प्रससाद जगन्नाथः केशवो नचिरादथ। अर्थ : ओं नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे इसे जपते हुए स्वयम्भू मनु पर जगन्नाथ केशव ने शीघ्र ही कृपा की। यहाँ शुद्धज्ञानस्वरूपिणे पद भगवते का अनुवाद है। यथा : ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यं वीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणा-

दिभिः । अर्थ : त्याग करने योग्य गुण आदि को छोड़कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्‌गुण भगवत् शब्द के वाच्य हैं।

करहिं अहार साक फल कंदा । सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिादानंदा ॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे । वारि अहार मूल फल त्यागे ॥१॥

अर्थ : शाक फल कन्द का आहार करते हैं और सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्मरण करते हैं। फिर हरि के लिए तप करने लगे, फूल-फल छोड़कर केवल जल आहार रह गया।

व्याख्या : अन्नाहार छोड़ दिया। वन्य शाक फल कन्द का आहार करने लगे। जिसका मन्त्र जपा जाता है उसी का ध्यान किया जाता है। उसी का स्मरण किया जाता है। उसी के लिए तपस्या होती है। यहाँ वासुदेव शब्द का अर्थ स्पष्ट हो गया : ब्रह्मसच्चिदानन्द को वासुदेव कहते हैं। वही राम हैं। यथा : राम सच्चिदानंद दिनेसा। यह मनुजी की दिनचर्या है। द्वादशाक्षर मन्त्र जप करते-करते वासुदेव के चरणों में मन अत्यन्त लग गया। अतः जप से विरत होने पर भी उन्हीं ब्रह्म सच्चिदानन्द का सुमिरन करते हैं। क्षुधा शान्त करने के लिए वन्य शाक फल कन्द खा लेते हैं।

यहाँ तक तो जप होता रहा। अब तप भी आरम्भ हुआ। अनशन परम तप है। सो कन्द फल शाक भी छोड़ दिया। केवल जल का आधार रह गया। असाध्य साधन तो तप से ही होता है।

उर अभिलाष निरंतर होई । देखिअ नयन परम प्रभु सोई ॥
अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथवादी ॥२॥

अर्थ : बराबर मन में यही अभिलाषा होती थी कि उस प्रभु को आँख से देखें। जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि हैं। परमार्थवादी जिनकी चिन्ता करते हैं।

व्याख्या : प्रेम बढ़ने से भगवद्दर्शन के लिए प्राण समाकुल हो उठे। ध्यान में दर्शन से सन्तोष न हुआ। आँखों से देखना चाहते हैं। यथा : भरिलोचन विलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र प्रभु हैं। श्रीरामजी महाप्रभु हैं। महाप्रभु का स्वरूप कहते हैं।

जो प्रकृतिपार होने से निर्गुण है। निरवयव होने से अखण्ड है। नाशरहित होने से अनन्त है। अज होने से अनादि है। ब्रह्मवादी जिसका चिन्तन करते हैं। एक क्षण भी बिना चिन्तन के व्यतीत नहीं होने देते।

नेति नेति जेहि वेद निरूपा । निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥
संभु विरंचि विष्णु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥३॥

अर्थ : जिसे वेद नेति-नेति कहकर निरूपण करता है। जो निजानन्द,

उपाधिरहित और उपमारहित है। जिसके अंश से अनेक ब्रह्मा, शम्भु और विष्णु भगवान् उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या : नेति-नेति अर्थात् 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' कहकर वेद भी निरूपण करता है। भावार्थ यह कि वेद कहता है कि स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है। दोनों अवस्थाओं के निषेध से कोई अभावात्मक न समझ ले। इसलिए निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्द रूप कहा। उसे निजानन्द इसलिए कहते हैं कि उसमें अहंकार नहीं है। जितना-जितना अभ्यासयोग से अहंकार की विस्मृति होती है उतना ही सूक्ष्मदृष्टि से निजानन्द का अनुमान होता है। यथा : यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः। तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते। जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा, यही चार प्रकार की उपाधियाँ हैं। उसमें ये चारों नहीं हैं। इसलिए वह निरुपाधि कहलाता है। उसके सदृश कुछ नहीं है। इसलिए वह अनूप है। ऐसा महाप्रभु नयन का विषय कैसे होगा?

त्रिगुण के अधिष्ठाता त्रिदेव भगवान् हैं। उत्पत्ति-स्थिति-नाश में समर्थ हैं। ऐसे-ऐसे अनेक त्रिदेव उसके अंश : प्रतिविम्ब : से उत्पन्न होते हैं। ऊपर अखण्ड कह आये हैं। अतः वह निरंश है फिर भी अंश कहने से 'अंश इव अंश' ग्रहण करना पड़ेगा। जिस भाँति प्रतिविम्ब विम्ब का 'अंश इव अंश' है। यथा : लोक लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्णु सिव मनु दिसित्राता। इत्यादि। विधिहि विधिता हरिहिं हरिता, हरहिं हरता जिन्ह दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई। वि. प.।

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥
जौं यह वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥४॥

अर्थ : ऐसे प्रभु भी सेवक के वश में हैं और भक्त के लिए लीला से शरीर धारण करते हैं। यदि यह वचन वेद ने सत्य कहा हो तो मेरी अभिलाषा भी पूरी होगी।

व्याख्या : सभी सेवा के वशीभूत हैं। पर वे प्रभु लौकिक नियमों के अधीन नहीं हैं। क्योंकि वे जगत् से विलक्षण हैं। अतः समझा जा सकता है कि वे सेवा के वशीभूत न होंगे। पर ऐसी बात नहीं है। सेवा के वश्य वे भी हैं। स्वयं प्रयोजन न होने पर भी निर्विकार और असङ्ग होते हुए भी भक्तों के लिए लीलाशरीर धारण करते हैं।

मनुजी वेदमय हैं। अतः वेद के बल पर तप ठान दिया कि यदि वेद ने सत्य कहा है तो मेरी अभिलाषा की पूर्ति न होने का कारण नहीं है। इस भाँति सत्तर्क का आश्रयण करके सीधे-सीधे साधन में लग जाना चाहिए। सत्तर्क से उत्पन्न हुई श्रद्धा को पाकर मनुष्य फल का भागी होता है। श्रद्धा से पौरुष में लगा हुआ पुरुष सर्वथा मारा नहीं पड़ता। दृढ़ पौरुष से अवश्य फल होता है। वेदवचन यथा :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश ।

ऋ. मं. ६. अ. ४. सू ४७ मं. १८

सकल ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर माया से : राम कृष्णादि : अनेक रूप धारण करता है। परमेश्वर का वह रूप भक्तों के दर्शन के लिए है। रावणादि को दण्ड देने के लिए जैसा-जैसा रूप आवश्यक था वैसा-वैसा धारण किया। क्योंकि भगवान् के रूप अनन्त हैं : मुख्यतः दश हैं। भक्तियुक्त होकर जिसने उसका जैसा ध्यान किया वैसा ही उस भक्तचिन्तामणि ने रूप धारण किया उसके देह की इच्छामात्र से परिकल्पित होने से उसकी देह भी पराचिति चेतन है। वह पराचिति ही अभिन्न होकर भिन्न सी भासती है।

दो. एहि विधि बीते बरष षट, सहस बारि अहार।
संवत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार ॥१४४॥

अर्थ : इस प्रकार जल का आहार करते हुए छः हजार वर्ष बीत गये। फिर सात हजार वर्ष हवा के आधार पर रहे।

व्याख्या : पहिला तप छः हजार वर्ष का किया। क्रम से तपस्या बढ़ाते गये। पहिले कुछ दिन शाक फल कन्द खाते रहे। फिर उसे कम करते-करते अपने को केवल जल पर उतार दिया। केवल जल पीकर रहना जब से आरम्भ किया तब से पहिला तप चला। धीरे-धीरे जल कम करने लगे। और अपने को वायु पर उतारने लगे। छः सहस्र वर्ष में एकदम जल छोड़ने में समर्थ हो गये। अतः पहिला तप पूरा हुआ। फिर धीरे-धीरे वायुपान भी कम करने लगे। सो एकदम निराधार हो जाने में सात सहस्र वर्ष लगे। तब दूसरा तप समाप्त हुआ।

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहुबारा ॥१॥

अर्थ : दश हजार वर्षों तक उसे भी छोड़ दिया। दोनों एक पैर से खड़े रहे। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनका अपार तप देखकर उनके पास बहुत बार आए।

व्याख्या : फिर निराधार एक पग से खड़े हो गये। भाव यह कि इसके पहिले दोनों पग से खड़े थे। जैसी तपस्या मनुजी के लिए कही गई है वही शतरूपा के लिए भी समझनी चाहिए। दशसहस्र वर्ष तक निराधार रहना तीसरी तपस्या है। पहिले तपस्या पर ब्रह्मदेव आये। दूसरी में ब्रह्मा और विष्णु दोनों देव आये। तीसरी में ब्रह्मा विष्णु और शिव तीनों आये। अव्यक्त के अभिमान से आविष्ट होकर ईश्वर ही रुद्र, हरि और ब्रह्मदेव के रूप से तीन प्रकार के होकर दृश्यादृश्य के अवभासक हुए।

माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए ॥
अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा ॥२॥

अर्थ : बहुत भाँति से ललचाया कि वर माँगो। परमधीर हिलाये नहीं

हिले। शरीर में केवल हड्डी रह गई। फिर भी उनके मन में तनिक भी पीड़ा नहीं थी।

व्याख्या : 'इन्द्र पद लो, ब्रह्मलोक लो, वैकुण्ठ लो, कैलास लो। गुण रहित ब्रह्म इन्द्रिय का विषय नहीं है। वह तो अनुभवगम्य है। यदि मिश्र ब्रह्म का दर्शन भी हो गया तो क्षण भर के लिए हो जायगा। हम लोग भी तो वही हैं। कुछ भी कामना यदि तुम्हें नहीं तो मोक्ष माँगो। हम तुम्हें देंगे। ऐसा त्रिदेवों ने कहा परन्तु मनुजी के निश्चय में परिवर्तन नहीं हुआ। यथा : लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे। निदरहिं सरित सिंधु सरवारी। रूपविन्दु जल होहिं सुखारी। साधक को यही उचित है कि सर्वथा साध्य की ही मुख्य करके साधना करे।

तेईस सहस्र वर्ष की कठिन तपस्या से रक्तमांसादि सब सूख गये। सत्ययुग में अस्थिगत प्राण रहा। सब धातुओं के सूख जाने पर हड्डी-हड्डी रह गई। फिर भी प्राण नहीं गया। भक्ति के प्रभाव से मन भावना में लग गया। देह की ओर था ही नहीं। अत: तनिक भी दु:ख का अनुभव नहीं हुआ। यथा : मन तहँ जहँ रघुवर वैदेही। विनु मन तन दु:ख सुख सुधि केही।

प्रभु सर्वग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृपरानी ॥
माँगु माँगु वर भै नभ बानी। परम गँभीर कृपामृतसानी ॥३॥

अर्थ : सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया कि निज्ञ दास हैं। और मुझे छोड़कर इन्हें दूसरे की गति भी नहीं है। तव अत्यन्त गम्भीर कृपामृत से सनी हुई आकाशवाणी हुई : वर माँगो क्या चाहते हो।

व्याख्या : प्रभु ने जान लिया कि स्वार्थ का दास नहीं है। मेरा निजदास है। यथा : जे पामर भये दास आस के ते सबही चेरे। रघुपति कृपा आस जोती जिन ते सेवक हरिकेरे। अनन्यगतिक हैं त्रिदेव की भी अपेक्षा नहीं रखते। तब परम गम्भीर आकाशवाणी हुई। जिसके आधार का पता नहीं कि कहाँ से उठ रही है। यह वाणी वागिन्द्रिय से उच्चरित नहीं है। 'सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जित' की वाणी है। उनकी कृपा ही अमृत है। उसी से सनी है। आकाश से शब्द आ रहा है : माँगो, माँगो।

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई ॥
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अवहिं भवन ते आए ॥४॥

अर्थ : वह मरे हुए को जिलानेवाली वाणी जव कर्णछिद्र से होकर हृदय में आई तब शरीर ऐसा हृष्ट पुष्ट हो गया मानो घर से चले आ रहे हैं।

व्याख्या : अमृत से सनी वाणी है। इसलिए मृतक जिआवनि कहते हैं। इनकी श्रवणेन्द्रियों ने बाहर जाकर उन शब्दों को नहीं ग्रहण किया। वे शब्द ही कर्णमार्ग से हृदय में प्रविष्ट हुए। अमृत हृदय में पहुँचा। सूखे हुए धातु हरे हो गये। ऐसे हरे हुए और वृद्धि को प्राप्त हुए कि शरीर पुन: जैसा का तैसा हो गया।

दो. श्रवन सुधा सम वचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दण्डवत, प्रेम न हृदय समात ॥१५४॥

अर्थ : कानों से अमृत सी वाणी सुनकर पुलक से शरीर प्रफुल्लित हो उठा। मनु दण्डवत करके बोले। प्रेम हृदय में समा नहीं रहा है।

व्याख्या : अभिलाष की पूर्ति से परम हर्ष है। अतः रोमाञ्च हो रहा है। कोई मूर्ति सामने न होने पर भी दण्डवत करते हैं। आकाश से वाणी आ रही है। और पृथ्वी पर दण्डवत हो रहा है। मनो रौ वा : इस सूत्र से ङीप् विकल्प से होता है। अतः शतरूपा भी मनु हैं। यहाँ पर मनु शतरूपा दोनों का दण्डवत और बोलना कहा गया।

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। विधि हरि हर वंदित पदरेनू ॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक ॥१॥

अर्थ : सेवक के कल्पवृक्ष और कामधेनु सुनो। आपका पदरज विधि हरिहर द्वारा वन्दित है। आप सेवा करने में सुलभ तथा सब सुखों के देनेवाले हैं। प्रणतपाल हैं और चर अचर के स्वामी हैं।

व्याख्या : सुरतरु और सुरधेनु से पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों कहा। यथा : त्वं स्त्री त्वं पुमान्। सुरतरु से अभिमतदानी कहा। यथा : अभिमत दानि देव तरुवर से : और सुरधेनु से सुखखानि कहा। यथा : रामकथा सुरधेनु सम, सेवत सब सुख खानि। विधि हरि हर उनके बल से ही अपना अपना कार्य सम्पादन कर सकते हैं। यथा : जाके बल विरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा। अतः प्रभु के चरणरज की सदा वन्दना करते हैं।

सुरतरु हैं। इसलिए सेवत सुलभ कहा। यथा : जाइ निकट पहिचान तरु, छाँह समन सब सोच। माँगे अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच। और कामधेनु हैं। इसलिए सकल सुखदायक कहा। प्रणतपाल से करुणा और सचराचरनायक से प्रभुता कही।

जौ अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह वर देहू ॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥२॥

अर्थ : हे अनाथहित ! यदि हम लोगों पर स्नेह हो तो प्रसन्न होकर यह वर दो कि जो स्वरूप शिवजी के मन में वसता है और जिसके कारण मुनि लोग यत्न करते हैं।

व्याख्या : सनाथ के तो सभी हित होते हैं। अनाथ के हित केवल आप ही हैं। बड़ा तप किया इस कारण से नेह नहीं। बल्कि हम अनाथ हैं और आप अनाथ नाथ हैं। इसलिए नेह का नाता है। यदि यह बात सत्य है तो यह वर दो। भाव यह कि विकल्प स्वीकार नहीं है।

शिवजी उस रूप को अपने मन के भीतर छिपाये हुए हैं। यथा : जो हर

हृदय कमल महु गोए। और मुनि यत्न करते हैं। जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। कभी ध्यान में एक झलक आजाती है।

जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहि हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥३॥

अर्थ : जो भुसुण्डि के मनरूपी मानसरोवर के हंस हैं। जिनकी प्रशंसा वेद सगुण निर्गुण रूप कहकर करते हैं। हम उस रूप को आँख भरकर देखें। हे प्रणत की आर्ति के हरण करनेवाले कृपा करो।

व्याख्या : जिस रूप की प्रशंसा सगुण अगुण कहकर वेद करते हैं जिस रूप से भुसुण्डिजी के मनरूपी मानस में हंस की भाँति आप विचरते है। नयनविषय होकर नहीं विचरते। उस रूप को मैं जवतक इच्छा हो तवतक अपने नयन का विषय करना चाहता हूँ। अतः 'कृपा करहु' अर्थात् दर्शन दो। दर्शन के लिए यह तप यथेष्ट नहीं। अतः विनिमय में नहीं माँग सकते। कृपा का भरोसा है। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्। जिसके ऊपर वह अनुग्रह करता है उसीको प्राप्त होता है। उसी को परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन देता है : काठके।

दंपति वचन परम प्रिय लागे। मृदुल विनीत प्रेम रस पागे ॥
भगत वछल प्रभु कृपा निधाना। विस्ववास प्रगटे भगवाना ॥४॥

अर्थ : कोमल विनययुक्त प्रेमरस से पगे हुए दोनों प्राणियों के वचन वड़े प्रिय लगे। भक्तवत्सल प्रभु, कृपानिधान और विश्वास, भगवान् प्रगट हुए।

व्याख्या : परम प्रिय लगनेवाले वचनों का लक्षण कहते हैं। मृदु विनीत और प्रेम में पगे वचन ही परम प्रिय लगते हैं। बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात से उपक्रम करके दम्पति वचन परम प्रिय लागे से उपसंहार करते हैं। मनुजी के साथ ही साथ शतरूपाजी भी बोलती जाती हैं। दम्पति का हृदय इतना अभिन्न है कि वे ही शब्द दोनों मुखों से एक साथ निकल रहे हैं।

तीन विशेषण वचन के : मृदुल विनीत प्रेमरस पागे : और तीन ही विशेषण भगवान् के दिये गये हैं : भगतवछल प्रभु कृपानिधाना। १. भक्तवत्सल हैं प्रेमरस पागे वचन प्रिय लगे। प्रभु हैं। विनीत वचन पर प्रसन्न हुए। कृपानिधान हैं। मृदु वचन पर कृपा की। विश्ववास हैं। कहीं से आना जाना नहीं है : वहीं प्रकट हो गये। यथा : कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।

दो. नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम ॥१४६॥

अर्थ : नीलकमल, नीलमणि और नीले वादल के समान श्यामवर्ण हैं। शरीर की शोभा देखकर सौ करोड़ कामदेव भी लज्जित होते हैं : स्याम सुभग सरीर जनु मन काम पूरनि हारु।

अद्भुत श्यामता है। जिसकी उपमा के लिए कोई वस्तु नहीं है। नील सरोरुह से स्निग्धता कोमलता तथा सुगन्ध कही। नीलमणि से दृढता तथा चमक कही। नीरधर से दर्शक के नेत्रों में तरावट कही अथवा जल में सर्वोत्तम नीलिमा नीलकमल की, थल में नीलमणि की और नभ में नीरधर की है। सो इन तीनों नीलिमाओं की शोभा सलोने श्यामसुन्दर में कही गई। श्यामता 'न तत्र[1] चक्षुर्गच्छति' का प्रतीक है। यथा : श्याम रंग शुचि प्रगट लखावत दृगते पार रहैया। सुन्दरता में काम की ही ख्याति है। सो प्रभु के सौन्दर्य सूर्य के सामने काम जुगनू भी नहीं है। अतः कोटि कोटि सत काम का लज्जित होना कहा। पहिले पूरे स्वरूप की शोभा कहकर शिखनख वर्णन करते हैं। साकार के रूप देखने की उत्कट अभिलाषा है। अतः मुख पर ही पहिले दृष्टि पड़ी। अतः कवि भी पहिले मुख का वर्णन करते हैं।

सरद मयंक बदन छबि सीवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। विधु कर निकर विनिंदक हासा॥१॥

अर्थ : छवि की परमावधि मुख शरद् के चन्द्रमा के समान था। गाल और ठुड्डी सुन्दर, कण्ठ शंख सा, लाल होंठ, दाँत और नाक सुन्दर और हँसी चन्द्रमा की किरणों का तिरस्कार करनेवाली थी।

व्याख्या : शरद्मयङ्क को मुख मण्डल से उपमित करने पर भी कवि को सन्तोष न हुआ। तब उसे छवि की परमावधि बतलाया। चारु शब्द का सम्बन्ध कपोल और चिबुक दोनों के साथ है। दोनों सुन्दर हैं। होठों के लाल होने की शोभा है। सो होठ लाल हैं। नासिका सुन्दर है। इन सब अवयवों की सुन्दरता से ही मुख की सुन्दरता है। अतः प्रत्येक का विशेष वर्णन नहीं किया। इतना ही कहकर समाप्त किया कि इससे अधिक सुन्दरता है ही नहीं। जब मुख चन्द्रमा हुआ तो चन्द्रिका भी चाहिए। अतः कहते हैं कि हँसी चाँदनी को भी मात करनेवाली है! यहाँ हँसी मनुशतरूपा के ऊपर अनुग्रह की सूचक है। यथा : हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हाँसा।

नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥२॥

अर्थ : नये कमल के समान आँखों की अच्छी शोभा थी। मनोहर चितवन जी को बहुत प्यारी लगती थी। भौंहें कामदेव के कमान की शोभा को हरण करनेवाली थीं और मस्तक पर चमकीला तिलक था।

व्याख्या : आँखें बड़ी ही सुन्दर थीं इससे नये कमल की उपमा दी। यथा : नयन सुखमा निरखि नागरि सफल जीवन लेखु। मनहु विधु जुग जलज विरचे ससि सुपूरन मेखु : गीतावली। पर कमल में चितवन नहीं अतः उसका अलग वर्णन करते हैं

---

[1] 'वहाँ नेत्रों की पहुँच नहीं। ऐसा श्रुत कहती है।

कि वह कही नहीं जा सकती। जी को अच्छी लगती है। ऐसी चमत्कृत शोभा है कि कहीं पर निगाह ठहरती नहीं। इसलिए क्रम से वर्णन नहीं कर सकते।

टेढ़ी भौंह की उपमा काम के धनुष से दी। काम का धनुष इतना सुन्दर है कि उसका नाम उन्मादन है। उन्माद उत्पन्न कर देता है। इस भौंह के सामने उन्मादन कुछ भी नहीं। ललाटपटल पर होने से तिलक भी द्युतिकारी है। यथा : भृकुटि भाल विसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रवि किरनि ल्याये क़रन जनु उन्मेखु। गी०। यहाँ तक केवल मुख की शोभा कही। शोभा का निर्णय मुख से ही होता है।

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥
उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला ॥३॥

अर्थ : मकराकृति कुण्डल : कानों में और सिर पर मुकुट शोभायमान था। घुँघराले बाल मानो भौंरो का समूह, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स, वनमाला, मोहनमाला, भूषण और मणिजाल विराजमान था।

व्याख्या : अब मकराकृत कुण्डल की शोभा कहते हैं। मनहु संबरारि मारि ललित मकर जुग विचारि दीन्हें ससि कहँ पुरारि भ्राजत दुहुँ ओरी। मकराकृति कुण्डल से कान छिपा हुआ है और मुकुट से सिर छिपा हुआ है। अतः कान और सिर का पृथक् वर्णन नहीं है। घुँघराली लटों की उपमा मधुपसमाज से दी गयी है। उसके बीच में मकराकृति कुण्डल और उसके ऊपर मुकुट की अलौकिक छटा है।

हृदय में श्रीवत्सलाञ्छन : रोम की भँवरी विशेष है। पैरतक लटकी हुई माला पहिने हैं। पादावलम्बिनी माला वनमालेति कथ्यते। मोहनमाला की शोभा अलग ही है और मणिभूषणों का तो जाल फैला हुआ है।

केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥४॥

अर्थ : सिंह सा कन्धा है। सुन्दर यज्ञोपवीत है और बाहु में विभूषण हैं। वे भी सुन्दर हैं। हाथी के शुण्ड सी सुन्दर भुजाएँ हैं। कटि में तरकस और हाथों में बाण और धनुष है।

व्याख्या : वीरों में कन्धे और भुजदण्ड की प्रशंसा है। इसलिए कहते हैं कि सिंह सा कन्धा है। परशुरामजी का 'वृषभकन्ध उर बाहु विसाला' कहकर वर्णन है। अतः उनसे भी विशेषता दिखलाते हुए केहरि कन्धर और करिकर सरिस सुभग भुजदंडा कहते हैं। कटि निषङ्ग कर सर कोदंडा। प्रभु की द्विभुजमूर्ति का वर्णन करते हैं। श्रुति भी अयमात्मा पुरुषविधः कहती है। अर्थात् परमात्मा की मूर्ति पुरुष सी है। उस अनाम और अरूप के दिव्य नाम और दिव्य मूर्तियाँ भी हैं। सो यहाँ द्विभुज मूर्ति का प्रकट होना दिखलाते हैं।

दो. तड़ित विनिंदक पीत पट, उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन भँवर छवि छीनि ॥१४७॥

अर्थ : बिजली की निन्दा करनेवाला पीताम्बर पहने उदर में तीन रेखाएँ शोभित हैं और मनोहर नाभि मानो यमुनाजी के भँवर की छवि को छीन लेती है।

व्याख्या : पीतपट में अलौकिक चमक कही। यथा : पीत निर्मल चैल, मनहुँ मरकत सैल पृथुल दामिनि रही छाइतजि सहजहीं। उदर रेख वर तीन से उदर की क्षीणता कही। नाभि की यमुनाजलभँवर से उपमा देकर उसकी सुन्दरता, श्यामता और गम्भीरता कही। यही द्विभुज मूर्ति शम्भु उरवासी है। इसी के लिए मुनि लोग यत्न करते हैं। और यही भुशुण्डिमनमानसहंस है। इसी की सगुण-निर्गुण कहकर वेदों ने प्रशंसा की है। यथा : सगुणनिर्गुणस्वरूपं ब्रह्म त्रिपादवि। इसी के उदर में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं। इसी के भीतर ही सब कुछ है। यह[1] परिच्छिन्न दिखाई पड़ती हुई भी अपरिच्छिन्न है। सर्वाश्चर्यमय है। यही परमेश्वरी मूर्ति विश्व ब्रह्माण्ड की प्रतीक है। इसीलिए इसे सगुणनिर्गुण रूप अनूप रूप कहा जाता है।

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
वाम भाग सोभति अनुकूला। आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला ॥१॥

अर्थ : कमल ऐसे चरणों का वर्णन नहीं किया जा सकता जिसमें मुनियों के मनरूपी भौंरे बसते हैं। उनके बाएँ भाग में सदा अनुकूल शोभा की निधि और जगत् की मूलभूता आदि शक्ति शोभित हैं।

---

[1] स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वरम्॥
विर्भति सांख्यं योगश्च देवो मकरकुण्डले।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम्॥ श्री मद्भा.
कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाजया। गो.
कूटस्थं सत्स्वरूपञ्च किरीटं प्रवदन्ति माम्।
क्षरोत्तमं प्रस्फुरन्तं कुण्डलं युगलं स्मृतम्॥
ध्यायेन्मम प्रियो नित्यं स मोक्षमधिगच्छति।
लवनिमेष परमान जुग वर्ष कल्पसरचंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड॥

अर्थ : वनमाला के व्याज से नानागुणमयी माया को धारण करते हैं। पीताम्बर छन्दोमय है और यज्ञोपवीत प्रणवरूप है। मकरकुण्डल के व्याज से सांख्ययोग को धारण करते हैं। सिर सब लोकों को अभय करनेवाला ब्रह्मपद है। कण्ठ निर्गुण है जो आदि शक्तिरूपा माला से घिरा हुआ है। किरीट सत्स्वरूप कूटस्थ है। क्षर और अक्षर दोनों कुण्डल हैं। धनुष अखण्ड दण्डायमान कालरूप है और वाण परिच्छिन्न कालरूप है। इत्यादि।

व्याख्या : चरण की उपमा कमल से देकर भी उसे अवर्णनीय कहते हैं। क्योंकि जैसी लालिमा चरण में है वैसी कमल में नहीं होती। यथा : वसी मानहु चरन कमलनि अरुनता तजि तरनि : गी०। कमल में भौंरे लुब्ध होकर बसते हैं। यथा : कमलनि बसे निसि मधुकरा। पर ये पदकमल ऐसे हैं जिनके लिए मुनियों के मन भौंरे हो गये हैं। संसार छोड़ दिया पर इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। जिस भाँति कमल के मकरन्द का पान भौंरे करते हैं उसी भाँति इन चरणकमलों का आनन्द मुनिलोग लेते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनके वामभाग में आदिशक्ति योगमाया हैं। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद है। मनुशतरूपा ने पुंरूप और स्त्रीरूप, दोनों रूपों से सम्बोधन किया था। यथा : सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू : अतः भगवान् भी दो रूप से प्रकट हुए। पुंरूप से छविसमुद्र हैं और स्त्रीरूप से छविनिधि हैं। स्त्रीरूप से पुंरूप के अनुकूल हैं और जगमूल भी हैं। यथा : पति अनुकूल सदा रह सीता। लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया : पुंरूप से ब्रह्म है तो स्त्रीरूप से मूलप्रकृति हैं।

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम वाम दिसि सीता सोई ॥२॥

अर्थ : जिसके अंश से गुणों की खानि अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं। जिसके भृकुटिविलास से संसार हो पड़ता है वही सीता रामजी के बाईं ओर हैं।

व्याख्या : प्रभु के अंश से त्रिदेव उपजते हैं। यथा : जासु अंस उपजै निधि नाना। संभु विरंचि विस्नु भगवाना। और भगवती के अंश से शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। छविनिधि से गुणखानियों की उत्पत्ति वतलायी। राम और सीता में ऐसा अभेद और अनुकूलता है कि युगलमूर्ति के भृकुटिविलास में भी अन्तर नहीं है। यथा : भृकुटिविलास जासु जग होई। राम वाम दिसि सीता सोई। और उमा राम की भृकुटि विलासा। होइ विस्व पुनि पावइ नासा। उसी सीताशक्ति द्वारा ही रामावतार होता है और भगवान् नयनविषय होते हैं। यथा : प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया : इसलिए कहा कि राम वाम दिसि सीता सोई।

छवि समुद्र हरि रूप विलोकी। एक टक रहे नयन पट रोकी ॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥३॥

अर्थ : छवि के समुद्र हरिरूप को देखकर पलक गिराना वन्द करके एकटक रह गये। मनु और शतरूपा अनुपम रूप को आदर के साथ देख रहे हैं और अघाते नहीं।

व्याख्या : समुद्र में नित्य नयी तरङ्गें उठा करती हैं। समुद्र को देखते जी नहीं ऊवता। सो हरि का रूप छविसमुद्र है। उसका पारावार नहीं है। उसमें भी रूप की तरङ्गें उठा करती हैं। देखनेवाला तृप्त नहीं होता। प्रभु को छविसमुद्र और अम्बा को छविनिधि कहकर तात्त्विक अभेद द्योतित किया। आँख भर देखने

में पलक का गिरना बाधक है। अतः उसका गिरना बन्द करके देखते हैं। फिर भी तृप्ति नहीं हो रही है।

हर्ष बिबस तन दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी ॥
सिर परसे प्रभु निज करकंजा। तुरत उठाए करुना पुंजा ॥४॥

अर्थ : हर्ष के विवश हो जाने से शरीर की दशा भूल गई। चरण को हाथों से पकड़कर दण्डवत् किया। प्रभु ने अपने करकमल से उनके सिर का स्पर्श किया। और तुरन्त उठा लिया।

व्याख्या : हर्षातिरेक में शरीर की सुधि न रही। दण्ड की भाँति पृथ्वी पर गिरे; चरणों को पकड़ लिया। छोड़ते नहीं कि कहीं अन्तर्धान न हो जाँय। हृष्ट पुष्ट हैं, इसलिए दण्ड से उपमा दी। दुर्बल होते तो लकुट : छड़ी से उपमा दी जाती। यथा : परे लकुट इव चरनन लागी। सीतल सुभग छाँह जेहि करकी मेटति पाप ताप माया। निसिवासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया। वह अभय वरद हस्त जिसकी छाँह, पाप, ताप और माया को मिटाती है। करुणाकर प्रभु ने मनु शतरूपा के सिरपर रक्खा और उन्हें तुरन्त उठा लिया। वरदान देना चाहते हैं।

दो. बोले कृपा निधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु वर जोइ भाव मन, महादानि अनुमानि ॥१४८॥

अर्थ : कृपानिधान फिर बोले : मुझे बहुत प्रसन्न जानकर और महादानी अनुमानकर जो जी चाहे सो वर माँगो।

व्याख्या : कृपानिधान हैं। इनकी कृपा अघाती नहीं। पहिले आकाशवाणी द्वारा बोले थे। अब फिर बोले : मुझे अनुमान से जानो कि मैं महादानी हूँ। विधि हरि हर दानी हैं। तब अनुमान से सिद्ध है कि जिसके अंश दानी हैं तो वह अंशी महादानी क्यों न होगा ? तिसपर कहते हैं कि मुझे अति प्रसन्न जानो। महादानी अति प्रसन्न हो तो क्या न दे डाले। यह सब कहने का कारण यह कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव के वरदान देने के लिए प्रस्तुत होने पर भी इन्होंने नहीं माँगा था। इससे सिद्ध है कि मनु शतरूपा जो चाहते थे उसके मिलने की उनसे आशा न थी। इसीलिए उन्हें प्रोत्साहन देते हुए कहते हैं : जो चाहो वर माँगो। तुम्हारी आशा पूर्ण होगी।

सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी। धरि धीरजु बोलीं[1] मृदुबानी ॥
नाथ देखि पद कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे ॥१॥

अर्थ : प्रभु के वचन सुनकर, दोनों हाथ जोड़कर और धैर्य धारण करके

---

[1] १. बोली क्रिया के कर्त्ता मनु अरु सतरूपा हैं। तृषित न मानहिं मनु सतरूपा। क्रिया का सम्बन्ध शतरूपा के साथ है। इसलिए क्रिया का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में हुआ।

कोमल वाणी : मनु और शतरूपा : बोलीं। हे नाथ ! तुम्हारे चरणकमल के दर्शन से मेरी सब कामनाएँ पूरी हो गईं।

व्याख्या : प्रभु की वाणी ही ऐसी हुई कि सेवक के हर्ष और प्रेमोद्गार का पारावार न रह गया। अतः धैर्य धरना पड़ा। जोरि जुग पानी कर्मणा, धरि धीरज मनसा, बोले मृदुबानी वचसा प्रार्थना की।

प्रकृत भक्त बिना स्वामी का दर्शन पाये सदा अधिकारीवर्ग के दर्शन से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। भक्त की सब कामनाएँ भगवान् के दर्शन से ही पूर्ण होती हैं। अतः मनु शतरूपा को दर्शन की बड़ी अभिलाषा थी। और आकाशवाणी होनेपर यही वरदान भी माँगा था। सो दर्शन मिला। अतः कहते हैं कि सब कामनाएँ पूर्ण हुईं।

एक लालसा बडि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥
तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहिं निज कृपनाईं॥२॥

अर्थ : मन में एक बड़ी लालसा है। वह सुगम भी है, अगम भी है। पर कहते नहीं बनता। हे गोसाईं ! आपके लिए देने में बड़ा सुगम है। पर अपनी कृपणता से मुझे अगम मालूम हो रहा है।

व्याख्या : गृहस्थों की लालसा देखिये। जिसे भगवदंश उत्तानपाद और प्रियव्रत ऐसे पुत्र हुए। किसी से न प्राप्त होनेवाले पद को प्राप्त करनेवाले ध्रुव जैसे पौत्र हुए। साक्षात् भगवदवतार कपिलदेव जैसे जिसे नाती हुए। उसे अब प्रभु सा पुत्र प्राप्त करने की लालसा हुई। अतः इस लालसा को बड़ी बतलाया। रूप देखकर लालसा हुई। परन्तु भय और सङ्कोच से कहते नहीं बनता। यथा : सभय सकोच जात कहि नाहीं। अतः कहते हैं :

सर्वशक्तिमान् और महादानी होने से आपको सब कुछ सुगम है। मैं कृपण हूँ। फल की इच्छा रखनेवाला हूँ। मुझे अगम मालूम होता है। मैंने क्या किया है कि जिसके पुरस्कार में ऐसी आशा करूँ। यथा : मन ग्यान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप क्या किये। इतना बड़ा वरदान किस मुख से माँगूँ। तपस्या के फल में दर्शन हो चुका।

जथा दरिद्र बिबुध तरु पाई। बहु संपति माँगत सँकुचाई॥
तासु प्रभाउ जान नहि सोई। तथा हृदय मम संसय होई॥३॥

अर्थ : जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्ष पाकर भी बहुत सम्पत्ति माँगने से सङ्कोच करता है। क्योंकि कल्पवृक्ष के प्रभाव को वह नहीं जानता। उसी प्रकार मेरे हृदय में संशय हो रहा है।

व्याख्या : दरिद्र ने कभी सम्पत्ति आँख से देखी नहीं। उसे कौड़ी दुर्लभ है। बहुत सम्पत्ति माँगने में सङ्कोच होना उसके लिए स्वाभाविक है। यहाँ अज्ञान दरिद्र है। अहंता ममता से मूढ पुरुष को ब्रह्मसुख अगम है। यथा : कबिहि अगम जिमि

ब्रह्म सुख अहमम मलिन जनेसु। वह समझे बैठा है कि ब्रह्मानन्द सुख नहीं मिल सकता। इसलिए वह उसके लिए यत्न भी नहीं करता। और न देवीदेवता की आराधना उसके लिए करता है। प्रभु कल्पवृक्ष हैं। उन्हें पाकर भी परमानन्द नहीं माँगता।

यदि दरिद्र को दैवात् कल्पवृक्ष मिल जाय तो उससे अधिक सम्पत्ति माँगने में सङ्कोच करता है कि कदाचित् कल्पवृक्ष न दे सके। दरिद्र का मन ऐसा छोटा हो जाता है कि वह वड़ा लालच भी नहीं कर सकता। यथा : लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत।

सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
सकुच विहाइ मांगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही॥४॥

अर्थ : हे अन्तर्यामी! आप उसे जानते हो। हे स्वामी! मेरे मनोरथ को पूरा करो। राजा! तू सङ्कोच छोड़कर मुझसे माँग। तेरे लिए मुझे कुछ अदेय नहीं है।

व्याख्या : अतः भाँगने में सङ्कोच है। कहते हैं कि आप अन्तर्यामी भी हैं। सव जानते हैं, मेरे मनोरथ को पूरा करिये। बिना अन्तर्यामी की प्रेरणा के यह वात मेरे मन में आई कैसे? इसके बाद भगवान् का कथन है। वर माँगने पर भी ऐसा होता है कि वरदाता कह देते हैं : कि यह वर अदेय है दूसरा माँगो। पर तेरे ऐसे भक्तों के लिए यह बात नहीं है। यथा : कौन वस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिवर न सकहु तुम माँगी। तू दरिद्र नहीं है राजा है। तू बहुत सम्पत्ति माँग सकता है। मुझसे माँग। सङ्कोच न कर। जन कहँ कछु अदेय नहि मोरे। अस विस्वास तजहु नहिं भोरे। अथवा यदि इच्छा है तो मुझे ही माँग ले।

दो. दानि सिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहौं सति भाउ।
चाहौं तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ॥१४९॥

अर्थ : हे दानियों के शिरोमणि! हे कृपानिधान! हे नाथ! सत्य भाव से कहता हूँ। आप जैसा पुत्र चाहता हूँ। प्रभु से कौन सा छिपाव है।

व्याख्या : मोरे नहिं अदेय कछु तोही कहा : इसलिए दानी शिरोमणि कहते हैं। सकुच विहाइ माँगु कहा : इसलिए कृपानिधि कहते हैं। यह सन्देह उठ सकता है कि जिसके सन्तान से सृष्टि भरी पड़ी है वह सुत क्यों माँगता है? अतः कहते हैं सतिभाउ। मुझे प्रभु को देखकर लालसा हुई कि मुझे ऐसा पुत्र हो और आपसा दूसरा है नहीं। अतः आपसा पुत्र माँगना आपको ही पुत्ररूप से चाहना एक बात है। इसलिए माँगने में सङ्कोच था। वास्तविक इच्छा आप सा पुत्र पाने की है। चाहे जैसे सम्भव हो।

देखि प्रीति सुनि वचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होव मैं आई॥१॥

अर्थ : प्रीति देखकर और अनमोल वचन सुनकर करुणानिधि ने कहा : ऐसा ही हो। मैं अपने समान दूसरा जाकर कहाँ खोजूँ। राजा ! मैं ही आकर तुम्हारा बेटा होऊँगा।

व्याख्या : प्रीति देखी। यथा : चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा : और अनमोल वचन सुना। यथा : चाहौं तुम्हहि समान सुत। जिसकी कोई कीमत ही नहीं। अतः उस वचन के पीछे स्वयं बिक गये। कह दिया 'एवमस्तु'। कोई भुक्ति चाहता है, कोई मुक्ति चाहता है और कोई भक्ति चाहता है। मनुजी ने कुछ न चाहा। बालरूप से रामजी को गोद खिलाने और लालन-पालन का सुअवसर चाहा। ऐसी बात चाही जिससे जगत् का कल्याण हो। अपने परलोक का भार प्रभु पर छोड़ दिया। पुंनामनरकात् त्रायतीति पुत्रः। नरक से पिता की रक्षा करता है इसलिए पुत्र कहलाता है। जैसी दृढ़ प्रीति पुत्र में होती है वैसी दृढ़ प्रीति चाही। प्रभु से अपना सम्बन्ध सुरक्षित किया और साथ ही साथ अपनी भावी सन्तान मनुष्य जाति के लिए अमूल्य निधि सुलभ कर गये ! इत्यादि। सभी भाँति से मङ्गलमयी कामनाओं से युक्त वचन था। इसलिए उसे अनमोल कहा है।

प्रभु करुणानिधि हैं। जगत्पिता होकर भी पुत्रत्व की स्वीकृति में न हिचके। एवमस्तु कह ही दिया। अब उसी बात को स्पष्ट करते हैं।

न तो प्रभु के समान कोई है और न कोई उनसे बढ़कर है और न कोई स्थल ऐसा है जहाँ वे न हों। यथा : जेहि समान अतिसय नहिं कोई। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं। इसलिए कहते हैं कि अपने समान कहाँ जाकर खोजें। जिसके समान चाहते हो, यदि उसी की प्राप्ति हो जाय तो मनोरथ की विशेषरूप से सिद्धि समझनी चाहिए। इसलिए हे राजन् ! मैं ही तुम्हारा पुत्र आकर होऊँगा अर्थात् इस समय जाता हूँ। भविष्य में आकर मनोरथ पूर्ण करूँगा।

सतरूपहिं बिलोकि कर जोरें। देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें॥
जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपालु मोहिं अति प्रिय लागा॥२॥

अर्थ : शतरूपा को हाथ जोड़े हुए देखकर कहा : हे देवी ! जो वर तू चाहती है सो माँग। शतरूपा ने कहा हे कृपालु ! चतुर राजा ने जो वर माँगा वही मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगा।

व्याख्या : राजा ने ऐसा वर माँगा जिससे शतरूपा का भी कल्याण हो। और दूसरे जन्म में भी शतरूपा से अपना सम्बन्ध बना रहे। भगवान् ने एवमस्तु कह भी दिया। फिर भी देखा शतरूपा हाथ जोड़े खड़ी है। अतः प्रभु ने कहा : तू भी माँग जो तेरी रुचि हो। भाव यह कि रुचि में सबके भेद होता ही है। अतः यदि तेरी इच्छा हो तो तू दूसरा जीचाहा वर माँग ले।

इस पर शतरूपा कहती है कि राजा चतुर हैं। उन्होंने ऐसा वर माँगा जो मुझे भी अतिप्रिय है।

प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुम्हहि सुहाई॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरयामी॥३॥

अर्थ : परन्तु हे प्रभो! बड़ी ढिठाई हो रही है। यद्यपि हे भक्तवत्सल! आपको अच्छा मालूम होता है। तुम ब्रह्मादि के भी पिता हो, जगत् के स्वामी हो। सबके हृदय में अन्तर्यामी : रूप से स्थित : ब्रह्म हो।

व्याख्या : शतरूपा के लिए राजा के साथ ही साथ न बोलने का कारण था। उसे कहती हैं कि वह तो मुझे बहुत ही प्रिय है और प्रभु को भी स्वीकार है। एवमस्तु बोल चुके। फिर भी इसमें साधारण ढिठाई नहीं है क्योंकि आप पिता के भी पिता हैं। ब्रह्मा आदि के उत्पन्न करनेवाले हैं। जगन्नाथ हैं। सबके अन्तर्यामी ब्रह्म हैं और आप पुत्र होंगे।

अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥४॥

दो. सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहिनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥१५०॥

अर्थ : ऐसा समझने पर मनमें संशय हो रहा है। किन्तु प्रभु ने जो कहा वही प्रमाण है। हे नाथ! जो आपके निज भक्त हैं वे जो सुख पाते हैं, जिस गति को प्राप्त होते हैं वही सुख, वही गति, वही भक्ति वही अपने चरणों का स्नेह, वही विवेक और वही रहन सहन मुझे कृपा करके दो।

व्याख्या : जगत् के पिता जगत् के स्वामी अन्तर्यामी पुत्र कैसे होंगे! यही संशय है। परन्तु मेरा संशय प्रमाण नहीं आपका वचन प्रमाण है। जब आपने एवमस्तु कहा है तो आप पुत्र होंगे। परन्तु पुत्र होने पर वात्सल्य भाव होगा। सेवक-सेव्य भाव जाता रहेगा। पुत्र स्नेह से विवेक जाता रहेगा। भक्तों का सा रहनसहन न रह जायगा। अतः ये सब बातें न होने पावें। इसलिए जो सुख पावहिं इत्यादि शतरूपाजी माँगती हैं।

१. जो सुख पावहिं यथा : सोई सुख लवलेस, जिन बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति।

२. जो गति लहहीं यथा : जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी।
तिन्हकी यह गति प्रगट भवानी॥

३. सोइ भगति यथा : सबते सो दुर्लभ सुरराया।
राम भगति रत गत मद माया॥

४. सोइ निज चरन सनेहु यथा : जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सो
राम को होइ सबेरो।

५. सोइ विवेक यथा : राम मातु दुख सुख सम जानी।
कहि गुन राम प्रबोधी रानी॥

६. सोइ रहनि यथा : कबहुँक हौं येहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपाते संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
पर हित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन पर गुन नहि दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिंता दुःख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु येहि पथ रहि अविचल हरि भगति लहौंगो ॥

यह गुन साधन ते नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई। अतः कृपा करके देने को कहती हैं।

सुनि मृदु गूढ रुचिर वच रचना। कृपा सिंधु बोले मृदु वचना ॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥१॥

अर्थ : कोमल, गूढ और मनोहर वचन की रचना सुनकर कृपासिन्धु कोमल वचन बोले। तुम्हारे मनमें जो कुछ रुचि है मैंने सब दिया इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या : शतरूपाजी की वचनरचना विनीत होने से मृदु गम्भीरार्थक होने से गूढ और श्रवणसुखद होने से रुचिर थी। गम्भीरार्थक इसलिए कहा कि पुत्र रूप से प्रभु की प्राप्ति से छः बातों में कमी पड़ने का भय है। सम्भव है कि १. भक्ति का दिव्य सुख पुत्र सम्बन्धी लौकिक सुख से ढक जाय। २. प्रभु को पुत्ररूप मानने की ढिठाई से परलोक बिगड़े। ३. पुत्र प्रेम में पड़कर सेवक सेव्यभाव जाता रहे ४. पुत्र के चरण में स्नेह नहीं होता। सो कहीं चरण-स्नेह से हाथ न धोना पड़े। ५. जगत् पिता को पुत्र मानने में विवेक भी जाता रहे और ६. पुत्र के गौरव से अभिमान होने के कारण भक्तों के रहन सहन में भेद न पड़े। इसलिए छः बातें माँगती हैं।

प्रभु कृपासिन्धु हैं। शतरूपा वर माँगती चली जाती हैं। बस नहीं कहते, कोमल शब्दों से तोष देते हैं। कहते हैं कि यदि बोलने में कोई त्रुटि हो तो भी उसका विचार न करके तुम्हारे मनमें जो रुचि है मैं वह सब देता हूँ। तुम संशय न करो।

मातु विवेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥
वंदि चरन ममु कहेउ बहोरी। अवर एक विनती प्रभु मोरी ॥२॥

अर्थ : माँ ! तुम्हारा अलौकिक विवेक मेरे अनुग्रह से कभी नहीं मिटेगा। तब फिर मनु ने चरण वन्दन करके कहा : हे प्रभु मेरी एक और विनती है।

व्याख्या : माँ का नाता अभी से मान लिया। माँ कहकर सम्बोधन करते हैं और अलौकिक विवेक के लिए वर देते हैं। उसी से शेष पाँच भी सध जायगा। लौकिक विवेक शास्त्रजन्य ज्ञानविषयक है। पर अलौकिक की बात दूसरी है। ये ही

मनु शतरूपा दशरथ कौसल्या हुए। महाराज दशरथ ने लौकिक विवेक से काम लिया। यथा : तुलसी जान्यौ दसरथहिं धर्म न सत्य समान। राम तज्यौं जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान। परन्तु माता कौसल्या का अलौकिक विवेक सुनिये। यथा :

वारौं सत्यवचन श्रुतिसम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तुम्हारे।
बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पायो सो तो नाहि सँभारे।
हरि तजि धरम सील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे।
रुचिर काँच मनि देखि मूढ ज्यौं करतल ते चिन्तामनि डारे।
मुनि लोचन चकोर ससि राघव सिव जीवन धन सोउ न विचारे।

मनु महाराज ने देखा कि वहाँ वर माँगने में रोक नहीं है। सो कहीं यह वर मुझे मिल न जाय। इसलिए मनु ने फिर से चरणवन्दना अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए की।

सुत विषैक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहौं किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जलबिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहि अधीना॥३॥

अर्थ : चाहे मुझे कोई बड़ा मूढ़ भले ही कहे पर मुझे आपके चरणों में प्रेम पुत्रविषयक ही हो। जैसे मणि बिना सर्प की और जल बिना मछली की गति होती है। वैसे ही मेरे जीवन की अवधि आपके दर्शन के अधीन रहे।

व्याख्या : इस बात की सम्भावना है कि जब आप स्वयं पुत्ररूप से अवतीर्ण होंगे और मुझे आपके चरणों में प्रीति पुत्र की ही भाँति होगी तो कोई यह कह सकता है कि यह कितना बड़ा अविवेकी है कि भगवान् को पहिचान नहीं सकता। बेटा ही मानता है। सो यह प्रवाद मुझे स्वीकार है। पर मुझे पुत्र की ही भावना रहे। यथा : कीजिअ सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा।

मणि विना सर्प जीता है। परन्तु व्याकुल और बेहाल रहता है। यथा : मनि विनु फनि जियै व्याकुल बेहाल रे। परन्तु जल बिना मछली तो जी नहीं सकती। मनुजी दोनों की अवस्थाएँ अपने लिए माँग रहे हैं। अतः दशरथ शरीर से विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के समय मणि विना सर्प की स्थिति का अनुभव करेंगे। यथा : सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेटे। तथा : राम विरह करि मरन संवारा। मनुजी को न मोक्ष की कामना है, न यश की कामना है। वात्सल्य भाव से भजन करना चाहते हैं। विवेक से वात्सल्य विगड़ जायगा। इसलिए विवेक नहीं चाहा।

अस वरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥४॥

सो. तहँ करि भोग बिसाल, तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥१५१॥

अर्थ : ऐसा वर माँगकर चरण पकड़े रह गये। करुणानिधि ने एवमस्तु कह दिया। और बोले कि अब तुम हमारी आज्ञा मानकर इन्द्र की राजधानी अमरावती में जाकर बसो। वहाँ विशाल भोग करके हे तात! कुछ दिन बाद तुम अवध के राजा होगे। और तब मैं तुम्हारा बेटा होऊँगा।

व्याख्या : वर माँगने के बाद चरण पकड़े हुए रह जाने का भाव यह है कि इस वर को लेकर मानेंगे। सरकार करुणानिधि हैं। यह बात भी मान गये। यद्यपि यह बात उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध थी। जिनके वे पुत्र हों वह पिता उनके विरह में प्राण दे। यह बात कथमपि उनके स्वरूप के अनुकूल न थी। पर भक्त इसी बात पर हठ कर बैठा है। उसे प्रेम के अत्यन्तोत्कर्ष में शरीर छोड़ने की अभिलाषा है। अतः उसकी ही बात रक्खी एवमस्तु कह दिया। यथा : तुलसी मंगल मरन तरु राम प्रेम पय सींचु।

ईश्वर हैं : कहते हैं कि अब तुम मेरा अनुशासन मानकर अमरावती में बसो। तुम ब्रह्मलोक वैकुण्ठ कैलास में बसने से इनकार कर चुके हो। अमरावती में बसना तुम्हारे लिए छोटी बात होगी। पर मेरे अनुशासन से बसो और भोगविमुख न रहकर भोगविलास करो। तुमने बड़ी तपस्या भी की है। कुछ काल वहीं रहो। अर्थात् पाँच मन्वन्तरों तक वहीं रहो। इन्द्र और देवता तब तक पाँच बार बदलेंगे। पर तुम वहीं रहोगे। सातवें वैवस्वत मन्वन्तर में तुम अवध के राजा होओगे। तब मैं तुम्हारा बेटा होऊँगा। सब बातें स्पष्ट किये देते हैं :

इच्छामय नर वेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुख दाता॥१॥

अर्थ : संकल्पमय मनुष्य का शरीर धारण किये हुए मैं तुम्हारे घर में प्रगट होऊँगा। हे तात! मैं अपने अंशों के साथ देह धारण करके भक्तों को सुख देनेवाला चरित्र करूँगा।

व्याख्या : बेटा होने में नर होना पड़ेगा। सो मेरा शरीर पाञ्चभौतिक न होगा। संकल्पमय शरीर को नर की आकृति में सँवारूँगा और तुम्हारे घर प्रकट हो जाऊँगा। उसे दिव्य जन्म कहा। मैं अंशों विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर के साथ भक्तों को सुख देने के लिए देह धारण करूँगा। इससे कर्म का दिव्य होना कहा। न तो कर्मवश जन्म होगा न अहंकार के साथ कर्म अनुष्ठित होगा। जिस प्रकार भक्तों को सुख होगा वही चरित प्रभु करने को कह रहे हैं।

जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥
आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥२॥

अर्थ : जिसे आदर के साथ सुनकर बड़भागी लोग ममता मद त्याग करके भवसागर के पार हो जायँगे। आदिशक्ति जिसने संसार को उत्पन्न किया है वह भी अवतार धारण करेगी। मेरी यह माया है।

व्याख्या : अवतार के तिरोहित होने पर भी वह चरित जगत् के लिए बड़ा उपयोगी होगा। उसे जो आदर के साथ सुनेंगे वे बड़े भाग्यवान् हैं। केवल सुनने से भवसागर पार हो जावेंगे[१]। अब मनु का ध्यान आदि शक्ति की ओर आकर्षित करते हैं। अङ्गुल्या निर्देश करके कहते हैं कि यह मेरी माया आदि शक्ति है। यह भी अवतार धारण करेगी। भाव यह कि मैं अज हूँ। अव्ययात्मा हूँ। भूतों का ईश्वर हूँ। फिर भी अपनी प्रकृति का आश्रयण करके अपनी माया से मैं उत्पन्न होऊँगा। यथा : अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया। बिना इनके अवतरण हो नहीं सकता। सब शक्तियों की मूलभूता आदिशक्ति है। वही मेरी माया है। यही संसार को उत्पन्न करती है। यह भी अवतीर्ण होगी। अर्थात् पुत्र के लिए वर माँगा है तो पतोहू : पुत्रबधू भी देख लो।

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना॥३॥

अर्थ : मैं तुम्हारा अभिलाष पूरा करूँगा। मेरा प्रण सत्य है, सत्य है, सत्य है। कृपानिधान बारबार ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये।

व्याख्या : विनती की गई थी : पुरवहु मोर मनोरथं स्वामी। वरदान मिल रहा है : पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। भाव यह है कि एक गुना अभिलाष की चौगुनी पूर्ति की जायगी। प्रभु के समान पुत्र माँगा था। सो स्वयं आप और अपने समान तीन और लेकर पुत्र होंगे। केवल जन्मोत्सव चाहा था। सो जन्मोत्सव कर्णवेध, उपवीत और विवाह द्वारा अभिलाषा की पूर्ति करेंगे। त्रिसत्यम् के अनुसार तीन बार सत्य कहा। अथवा तीन बार सत्य कहकर अपने प्रण का तीन काल में सत्य होना दिखलाया। अथवा वरदान देने के अतिरिक्त तीन प्रतिज्ञा की है : १. इच्छामय नरवेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। २. अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता। और ३. आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरहिं मोर यह माया। सो मनु शतरूपा के आश्वासन के लिए कहते हैं कि तीनों प्रण मेरे सत्य होंगे।

कृपानिधान हैं। शतरूपा ने सन्देह किया था। यथा : अस समुझत मन संसय होई। अतः बारबार निश्चय कराते हैं। सब बातें समाप्त हो गयीं तो अन्तर्धान हो गये। न कहीं से आये थे न कहीं गये। विश्ववास भगवान् हैं। वहीं प्रकट हुए और वहीं लुप्त हो गये।

दंपति उर धरि भगत कृपाला। तेहिं आश्रम निवसे कछु काला॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति बासा॥४॥

---

[१] मनुष्य जाति के आदिम पुरुष अपनी भावी सन्तान के लिए यही अक्षय निधि छोड़ गये। अतः श्रीरामावतार मनुष्यमात्र की बपौती सम्पत्ति है।

अर्थ : वे दोनों प्राणी भक्त के ऊपर कृपा करनेवाले को हृदय में धारण करके उस आश्रम में कुछ काल रहे। समय पाकर अनायास शरीर त्यागकर जाकर अमरावती में बास किया।

व्याख्या : तप बन्द है। हृदय में प्रभु की मधुर मूर्ति है। नैमिषारण्य में ही वानप्रस्थ धर्म में बसने लगे। प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने पर ही आयु समाप्त होती है। सो दोनों का शरीर साथ ही पूरा हुआ। हरिकृपा से अनायास मृत्यु हो गई। अनायास का मरण अल्पतप का फल नहीं है। प्रभु का अनुशासन था कि बसहु जाइ सुरपति रजधानी सो जाइ कीन्ह अमरावति वासा। इससे यह भी मालूम हुआ कि सुरपति रजधानी का नाम अमरावती है।

दो. यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कही वृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि, राम जनम कर हेतु ॥१५२॥

अर्थ : इस अति पवित्र इतिहास को वृषकेतु ने उमा से कहा था। हे भरद्वाज अब रामजन्म का दूसरा कारण सुनो।

व्याख्या : ब्रह्म के साक्षात्कार का विवरण होने से तथा वैराग्य विवेक संयुक्त भक्तिगङ्गा की धारारूप होने से अति पवित्र कहा। इस इतिहास का उपक्रम अभ्यास और उपसंहार भक्ति से है। और भक्ति को गङ्गारूप कह आये हैं। यथा : रामभगति जहँ सुरसरि धारा : इसलिए यह भक्ति गङ्गारूप है। उपक्रम यथा : हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु। अभ्यास यथा : पंथ जात सोहत मतिधीरा। ग्यानभक्ति जनु धरे सरीरा। उपसंहार यथा : दंपति धरिउ भगति कृपाला। गङ्गा जिस भाँति यमुना और सरस्वती के साथ शोभित हैं उसी भाँति यह भक्तिगङ्गा विरति और विचार के साथ शोभित हैं। विचार यथा : होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुखलाग। विरति यथा : बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा। इस इतिहास को समाप्त करके याज्ञवल्क्य भरद्वाज से कहते हैं : अब रामजन्म का दूसरा कारण सुनो :

[1]भानुप्रताप की कथा

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी ॥
विस्व विदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसै नरेसू ॥१॥

---

१. अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दुत्व में गौडजी ने निम्नलिखित रामायणों का उल्लेख किया है। जिनमें भानु प्रताप की कथा मिलती है। पर मुझे इन रामायणों के दर्शन का सौभाग्य नहीं हुआ है।

१. अगस्त्य रामायण। इसमें २४००० श्लोक हैं। इसका समय रैवतमन्वन्तर का पाँचवाँ सत्ययुग है।

२. मञ्जुलरामायण। इसको सुतीक्ष्ण कवि ने स्वारोचिषमन्वन्तर के १४ वें त्रेता में बनाया है।

अर्थ : हे मुनि पुरानी पवित्र कथा सुनो जिसे गिरिजा से शम्भु ने कहा था। कैकय देश संसार में प्रसिद्ध है। वहाँ सत्यकेतु नाम का राजा रहता था।

व्याख्या : स्वायम्भू मनु की कथा अति पुनीत थी और यह कथा पुनीत है। वह कथा अति पुरानी है और यह पुरानी है। यद्यपि सभी कथाएँ गिरिजा के प्रति शम्भु की बखानी हुई हैं। पर याज्ञवल्क्य जी इन दोनों कथाओं के लिए गिरिजाशम्भु की कही हुई बतलाते हैं। इसका यह आशय मालूम होता है कि इन दोनों कथाओं को भुसुण्डिजी ने नहीं कहा। और भुसुण्डिजी की कही हुई कथा की सूचि : मूल रामचरित जो उत्तरकाण्ड में वर्णित है : में इन कथाओं का उल्लेख भी नहीं है। यथा : पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा। अतः भुसुण्डिजी ने प्रधानतः उसी कल्प की कथा कही जिसमें नारदजी को मोह हुआ था। भगवान् क्षीरशायी राम हुए थे और रुद्रगण रावण और कुम्भकर्ण हुए थे और शम्भु ने प्रधानतः उस कल्प की कथा कही जिससे ब्रह्म कोसलपुर भूप हुए थे। कैकय देश कश्मीर के दक्षिणी प्रान्त में हैं। जिसे गकर कहते हैं।

धरम धुरंधर नीति निधाना। तेज प्रताप सील बलवाना ॥
तेहि कें भये जुगल सुत बीरा। सब गुन धाम महा रनधीरा ॥२॥

अर्थ : वह धर्म की धुरी का धारण करनेवाला, नीतिनिधान, तेजस्वी, प्रतापी और बलवान् था। उसे दो वीर पुत्र हुए। जो सब गुणों के आश्रय और वड़े रणधीर थे।

व्याख्या : धर्मात्मा राजा सत्यकेतु में सभी राजोचित गुण थे। उसे दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए। भावार्थ यह कि वीर उत्पन्न होते हैं बनाये नहीं जाते। 'सकल गुणधाम' महारणधीर कहने से तात्पर्य यह कि वे पिता से भी गुणों में श्रेष्ठ थे और रणधीर भी अधिक थे। वीर से उनकी वीरगति की प्राप्ति तथा रणधीर कहने से उनका विश्वविजय करना सूचित किया।

राज धनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही ॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा ॥३॥

अर्थ : राज्य का उत्तराधिकारी जो जेठा बेटा था उसका नाम भानुप्रताप था। दूसरे का नाम अरिमर्दन था। उसकी भुजाओं में अपरिमित : बेतोल बल था। और संग्राम में अटल था।

व्याख्या : भानुप्रताप के राजधनी होने का कारण उसका ज्येष्ठ होना था नहीं तो गुण में दोनों भाई समान थे। वल्कि अरिमर्दन अधिक बलवान् और योद्धा था। जेठ स्वामि सेवक लघु भाई का सिद्धान्त बहुत पुराना है। और राजाओं में इसका अधिक आदर है। क्योंकि राज्य बिना इस सिद्धान्त के माने चल नहीं सकता। राज्य यदि भाइयों में विभक्त कर दिया जाय ती खण्ड खण्ड होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

भाइहि भाइहि परम समीती । सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥
जेठें सुतहि राज नृप दीन्हा । हरिहित आपु गवन बन कीन्हा ॥४॥

अर्थ : भाई-भाई में बड़ी बनती थी और सब दोष और छल से रहित प्रीति थी । राजा जेठे पुत्र को राज्य देकर भगवान् के लिए बन चले गये ।

व्याख्या : दोनों भाइयों में बड़ा मेल था । जिससे मैत्री हो उसके दु:ख में दु:खी न होना बड़ा भारी दोष है । और उसके सामने मीठी-मीठी बातें बनाना और उसके पीछे उसका बुरा ताकना, मन में कुटिलता रखना आदि छल है । इन भाइयों की प्रीति में न दोष था न कोई छल था । राजा नीतिनिधान था और धर्मधुरन्धर था इसलिए भगवान् के भजन के लिए स्वयं बन चला गया । यथा : संत कहहिं अस नीति दसानन । चौथे बन जाइय नृप कानन । तासु भजन कीजिय तहँ भर्त्ता । जो कर्त्ता पालक संहर्त्ता ।

दो. जब प्रताप रवि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस ।
प्रजापाल अति बेद बिधि, कतहुँ नहीं अघलेस ॥१५३॥

अर्थ : जब भानुप्रताप राजा हुआ देश में दोहाई[1] फिरी । वह वेद की विधि से प्रजा का अत्यन्त पालन करनेवाला था । कहीं पाप का लेश नहीं रह गया ।

व्याख्या : कहावत है कि जिसका राज्य उसकी दोहाई । सो भानुप्रताप के राजा होने पर उसकी दोहाई कैकय देश में फिरी । राज्य परिवर्तन में दोहाई फिरने का नियम है । यथा : नगर फिरी रघुबीर दोहाई । बिना वेदविधि से प्रजापालन किये राज्य में पापाचार बना ही रहता है । वर्णाश्रम के अनुसार राज्य चलाना राजा का कर्त्तव्य है तभी देश सुखी हो सकता है । अन्य उपाय नहीं है । यथा : बर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग । चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भयसोक न रोग ।

नृप हित कारक सचिव सयाना । नाम धरम रुचि सुक्र समाना ॥
सचिव समान बंधु बलबीरा । आतु प्रताप पुंज रनधीरा ॥१॥

अर्थ : राजा का हित करनेवाला सयाना मन्त्री था । उसका नाम था धर्मरुचि । नीति जानने में : शुक्र के समान था । मन्त्री सयाना, भाई बली और वीर, आप स्वयं मानो प्रताप का समूह और समर में धीर था ।

व्याख्या : सभी समाज अनोखा जुट गया था । मन्त्री बुद्धिमान् होना चाहिए । सो शुक्राचार्य के समान मन्त्री चतुर मिल गया था । भाई सहायक होना चाहिए ।

---

[1] दोहाई का प्राकृत रूप 'दोहाइअं' है । संस्कृत रूप द्विधाकृतम् है । इसका वाच्यार्थं है 'दो टूक किया हुआ' । बात दो टूक तभी होती है जब स्पष्ट और नि:सन्देह हो जाती है । अतः इसका लक्ष्यार्थं घोषणा है । राज्य परिवर्तन होने पर जिसका राज्य होता है उसकी ओर से राज्य में घोषणा की जाती है : उसी को दोहाई फिरना कहते हैं ।

यथा : होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए : सो भाई बली और वीर मिला था। राजा को प्रतापी होना चाहिए सो भानुप्रताप तो मानो प्रताप का पुञ्ज ही था। और रण में तो बड़ा धीर था।

सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥
सेन विलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥२॥

अर्थ : साथ में अपार चतुरङ्गिणी सेना थी। युद्ध में जूझनेवाले असंख्य योद्धा थे। इस प्रकार अपनी सेना को देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और गहगहे डङ्के बजे।

व्याख्या : मन्त्री सहायक और राजा का हाल कहकर अब सेना की व्यवस्था कहते हैं। सेना संख्या में भी बहुत बड़ी और सैनिकों में उत्कृष्ट गुण थे अर्थात् वे योद्धा थे। सेना के चार अंग होते हैं : हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल। सो चारों अंगों का कोई पारावार न था।

राजा ने सेना का निरीक्षण किया तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि इस सेना का पार कोई शत्रु नहीं पा सकता। डङ्का बजने से उत्साहवर्धन हुआ। राजा की सलामी में डङ्के बजे। डङ्कों की तुमुल ध्वनि के लिए गहगह शब्द का प्रयोग होता है। यथा : गहगह गगन दुंदुभी बाजी।

विजय हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥
जहँ तहँ परीं अनेक लराई। जीते सकल भूप बरिआई ॥३॥

अर्थ : दिग्विजय के लिए छोटी सी सेना बनाकर अच्छा दिन ठीक करके राजा डङ्का देकर चला। जहाँ तहाँ अनेक लड़ाइयाँ पड़ीं। पर राजा ने सबको बल से जीत लिया।

व्याख्या : सारी सेना में से कुछ नगररक्षा के लिए छोड़ और कुछ की पृथक् सेना दिग्विजय के लिए सजाई। विजयमुहूर्त देखकर बाजे बजाकर चले। अधीनता स्वीकार न करने पर जहाँ तहाँ लड़ाइयाँ हुईं। सो सबको बल से जीता। सब राजाओं ने हार स्वीकार की। दिग्विजय पूरी हुई।

सप्त दीप भुज बल बस कीन्हें। लेइ लेइ दंड छाँडि नृप दीन्हें ॥
सकल अवनिमंडल तेहि काला। एक प्रताप भानु महिपाला ॥४॥

अर्थ : अपनी भुजाओं के बल से सातों द्वीपों को वश कर लिया। राजाओं से दण्ड ले लेकर छोड़ दिया। सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल में उस समय एक मात्र राजा भानुप्रताप थे।

व्याख्या : केवल जम्बूद्वीप के विजय से ही दिग्विजय माना जाता है। सो प्लक्ष आदि शेष द्वीपों पर भी विजय पाई। यथा : जम्बू और पलक्ष कुस क्रौंच कहत पुनि साक। शाल्मलि पुष्कर द्वीप ये भाखैं वेद सुवाक। तुलसी शब्दावली। भुजा

के बल से सबको विजय किया। सेना शोभा के लिए साथ थी। जीतने पर राज्य नहीं छीना। युद्ध में बन्दी कर लिया। दण्ड लेकर छोड़[1] दिया।

दो. स्ववस बिस्व करि बाहु बल, निज पुर कीन्ह प्रवेसु।
अरथ धरम कामादि सुख, सेवै समय नरेसु ॥१५४॥

अर्थ : अपने बाहु के बल से संसार को वश करके अपने पुर में प्रवेश किया। राजा अर्थ धर्म और कामादि सुख का समय से सभी का सेवन किया करता था।

व्याख्या : एक बार बाहर निकला तो सातों द्वीपों को वश करके लौटा। यद्यपि काम से सुखमात्र का ग्रहण होता है। पर यहाँ कामादि पाठ होने से स्त्रीसुख अभिप्रेत है और आदि से इतर सुखों का ग्रहण है। राजा को धर्म, अर्थ और काम तीनों के पूजन की आज्ञा है। सम्पूर्ण जगत् के लिए कर्म का प्राधान्य है। पर राजा और वेश्या के लिए अर्थ का प्राधान्य है। अतः अर्थ पहिले कहा। तत्पश्चात् धर्म और अन्त में काम कहा। समयानुकूल ही इनके सेवन की मर्यादा है। राजा तदनुसार ही कार्य करता था।

भूप प्रताप भानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सोहाई॥
सब दुःख बरजित प्रजा सुखारी। धरम सील सुन्दर नर नारी॥१॥

अर्थ : राजा भानुप्रताप का बल पाकर पृथ्वी सुन्दर कामधेनु हो गई। प्रजा सब दुःखों से रहित होकर सुखी हो गई। स्त्री और पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे।

व्याख्या : कालस्य कारणं राजा कालो वा राजकारणम्। इति ते संशयो माभूत राजा कालस्य कारणम्। भगवान् मनु कहते हैं कि काल का कारण राजा है या राजा का कारण काल है ? इस विषय में तुम्हें संशय नहीं होंना चाहिए। राजा ही काल का कारण होता है। इसी बात को यहाँ दिखलाते हैं कि राजा भानुप्रताप का बल पाकर पृथ्वी सुन्दर कामधेनु हो गई। अर्थात् पृथ्वी को राजा से बल मिलता है। समय पलट जाता है। सो पृथ्वी कामधेनु होकर जो प्रजा चाहे वही देने लगी। यथा : लता बिटप माँगे मधु च्यवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं। ससि संपन्न सदा रह धरनी। इत्यादि। सोहाई कामधेनु कहने का यह भाव है कि कामधेनु तो विष माँगने से विष देती है पर सोहाई कामधेनु अनर्थ की याचना को नहीं पूरा करती।

पाप से ही दुःख होता है। जब राज्य में पाप का लेश नहीं रह गया तब सब दुःखों से रहित सुख की प्राप्ति प्रजा को हुई। नहीं तो सुख में कुछ न कुछ दुःख का अनुवेध अवश्य ही रहता। क्योंकि विधि प्रपञ्च ही द्वन्द्व से बना हुआ है। यथा राजा तथा प्रजा। राजा प्रजापाल अति वेदविधि था। तो नर नारी भी धर्मशील

---

[1] राज्य छीनकर अपने राज्य में मिला लेना अच्छी नीति नहीं है। राज्य उतना ही बड़ा होना चाहिए जिसकी देख रेख स्वयं राजा कर सके।

और सुन्दर हो गये। कुरूपता भी पाप का ही परिणाम है। सो प्रजा के रूप में भी अन्तर पड़ा।

सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती। नृप हिय हेतु सिखव नित नीती ॥
गुरु सुर संत पितर महि देवा। करै सदा नृप सबकै सेवा ॥२॥

अर्थ : धर्मरुचि मन्त्री की हरि के चरणों में प्रीति थी। वह राजा के कल्याण के लिए नित्य नीति का उपदेश देता था। गुरु, देवता, सन्त, पितर और ब्राह्मणों की सेवा राजा सदा किया करता था।

व्याख्या : राजा का हाल कहकर मन्त्री का हाल कहते हैं। राजा कर्मयोगी था। मन्त्री भगवद्भक्त था। नीति में उसकी शुक्र भगवान् की सी गति थी। अतः राजा को सदा नीति की शिक्षा दिया करता था। जिससे राजा नीतिमार्ग से विचलित न हो। धर्माविरोधी अर्थ और धर्मार्थाविरोधी काम का सेवन नीति है। जिससे धर्म, अर्थ और काम किसी को पीड़ा न हो। गुरु, सुर, सन्त, पितर और ब्राह्मण की सेवा से ही सब कुछ मिलता है। इन पाँचों की सेवा राजा स्वयं करे। यही नीति है। मन्त्री की शिक्षा से राजा ने क्या क्या किया सो कहते हैं :

भूप धरम जे वेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें ॥
दिन प्रति देइ विविध विधि नाना। सुनै सास्त्र बर वेद पुराना ॥३॥

अर्थ : वेद ने राजा के लिए जो धर्म बतलाया है, वह सब राजा सुख मानकर करता था। नित्य अनेक प्रकार का दान देता था। सत् शास्त्र और वेद पुराण श्रवण करता था।

व्याख्या : स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। अपने धर्म में मरना अच्छा है। क्योंकि परधर्म भय का देनेवाला है। राजा यदि संन्यास धर्म का पालन करने चले तो वह उसके लिए परधर्म है। उसका फल अत्यन्त बुरा है। भगवद्गीता में प्रधान्येन यही शिक्षा है। धर्माचरण प्रारम्भ में विष सा मालूम होता है। पर परिणाम में अमृततुल्य है। सो राजा बड़ी श्रद्धा भक्ति से स्वधर्माचरण करने में ही सुख मानता है।

अनेक प्रकार के दान हैं। सबके लिए विधि है, समय है, फल है। राजा को नित्य दान करना चाहिए। जिस देश जिस काल में जिस दान का विधान है तदनुसार दान देता था। राजा का कृपण होना बड़ा भारी दोष है। शास्त्र, पुराण और वेद के श्रवण का बड़ा फल है। यही सब प्रकार के कल्याणों का मूल है। इसलिए राजा नित्य इनका श्रवण करता था। यथा : वेद पुराण वसिष्ठ बखानहिं। सुनहि राम यद्यपि सब जानहिं। राजा की श्रद्धा धर्म पर देखकर प्रजा भी धर्मात्मा हो जाती है।

नाना वापी कूप तड़ागा। सुमन वाटिका सुंदर बागा ॥
विप्र भवन सुर भवन सुहाए। सब तीरथन्ह विचित्र बनाए ॥४॥

अर्थ : उसने बहुत सी बावली, कुएँ, तालाब, फुलवारी, सुन्दर फलवाले बाग बनवाये। ब्राह्मणों के लिए घर देवताओं के लिए सुन्दर मन्दिर तथा सब तीर्थों को विचित्र बनाया।

व्याख्या : पुण्य के दो विभाग हैं : १. इष्ट और २. पूर्त। सो पहिले पूर्त कहते हैं। सर्वसाधारण के जल के सुभीते के लिए वापी, कूप और तड़ाग फूल के लिए वाटिका फल के लिए बाग। वेद की रक्षा के लिए विप्रभवन, उपासना के लिए सुरभवन और तरने के लिए तीर्थों को ही बहुत ही सुन्दर बनाया। वापी-कूपतड़ागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते। अर्थ : बावली, कुवाँ, तालाब, देवमन्दिर, अन्न का सदाव्रत, बाग, इन सबों को पूर्त्त कहा जाता है।

दो. जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किए सहित अनुराग ॥१५५॥

अर्थ : वेद और पुराणों ने जहाँ तक एक एक बार यज्ञ करने को कहा है। उन्हें सहस्र-सहस्र बार राजा ने अनुराग के साथ किया।

व्याख्या : पूर्त्त कहकर इष्ट कहते हैं। श्रौत और स्मार्त यज्ञों का विधान है। वे अनेक प्रकार के हैं। उनमें से कोई यज्ञ ऐसे हैं जिन्हें एक ही बार करने की आज्ञा है। जैसे राजसूय को कुल भर में एक ही पुरुष एक ही बार कर सकता है। उसे भी राजा ने अनुराग के साथ सहस्रों बार कर डाला। अन्य यज्ञ कितने किये कौन कह सकता है। एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते। अर्थ : एकाग्नि कर्म हवन और त्रेताग्नि में जो हवन किया जाता है तथा अन्तर्वेदी में जो दान किया जाता है उसे इष्ट कहते हैं।

हृदय न कछु फल अनुसंधाना। भूप विवेकी परम सुजाना॥
करै जे धरम करम मन बानी। वासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥१॥

अर्थ : हृदय में फल की कोई भावना भी नहीं थी। राजा बड़ा विवेकी और जानकार था। ज्ञानी राजा कर्म, मन और वाणी से जो धर्म करता था सब वासुदेवार्पण करके ही करता था।

व्याख्या : फल की कामना से कर्म करनेवालों को शास्त्रों ने कृपण बतलाया है। यथा : कृपणाः फलहेतवः। गी.। राजा भानुप्रताप फल की कोई कामना नहीं रखता था क्योंकि विवेकी था। समझता था कि मेरा कर्म में ही अधिकार है फल में नहीं है। यथा : कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन। गी.। परम सुजान था। उस फल को वासुदेवार्पण करता था। वासुदेवार्पण करने से कोटि गुण अधिक फल होता है और न करने से श्रममात्र ही फल होता है। यथा : हरिहिं समर्पे बिनु सत्कर्मा।

चढि वर वाजि बार एक राजा। मृगया कर सब साजि समाजा॥
विंध्याचल गभीर वन गएऊ। मृग पुनीत बहु मारत भएऊ॥२॥

अर्थ : एकबार वह राजा एक अच्छे घोड़े पर सवार होकर शिकार की सब तैयारी करके विन्ध्याचल के गम्भीर वन में गया। और उसने बहुत से मेध्य मृगों को मारा।

व्याख्या : राजा को मृगया का व्यसन था। शिकार के लिए तेज घोड़ा चाहिए। इसलिए शीघ्रगामी घोड़े पर सवार हुआ। शिकारी कुत्ते, बाजपक्षी आदि जो कुछ वस्तु मृगयोपयोगी थे उन्हें साथ लिया। व्यसन इतना चढ़ा बढ़ा था कि कैकेय देश से शिकार के लिए विन्ध्याचल चला आया। सो भी घोड़े पर। उसने वृथा हिंसा न की। केवल मेध्य पशुओं को मारा। मेध्य : पवित्र पशु उसे कहते हैं जिसके मांसचर्मादि ग्राह्य हों। यथा : पावन मृग मारहिं जिय जानी।

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥
बड विधु नहिं समात मुख माहीं। मनहु क्रोध बस उगिलत नाहीं॥३॥

अर्थ : वन में घूमते हुए राजा ने एक सुअर देखा। मानो वन में छिपने पर भी चन्द्रमा को राहु ग्रसे हो। चन्द्रमा बड़ा होने से उसके मुख में न समाता हो। और वह क्रोध के वश होकर उसे उगलता न हो।

व्याख्या : वन में घूमते घूमते उसे एक सूअर दिखाई पड़ा। अद्भुत सूअर था। मालूम होता था कि यह राहुग्रह है। इसके डर से चन्द्रमा आकाश छोड़कर वन में छिपे। पर यहाँ भी उसने पहुँच कर ग्रस लिया। परन्तु चन्द्रमा बड़े थे : और वह एक ही ग्रास करना चाहता था : उसके मुख में समाते नहीं थे। पर वह भी मारे क्रोध के उगलता नहीं था।

कोल कराल दसन छवि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥
घुरुघुरात हय आरौं पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ॥४॥

अर्थ : सूअर के कराल दाँतों की छवि कही गई। शरीर भी उसका चरबी की अधिकता से बड़ा भारी था। घोड़े की आहट पाकर वह घुरघुराता हुआ कान उठाकर आश्चर्य से देखता था।

व्याख्या : सूअर का मुख राहु के वर्ण सा काला था। उसके दोनों दाँत दोनों ओर चन्द्रमा की कला की भाँति उज्वल थे। मालूम होता था कि चन्द्रमा का मध्य भाग तों राहु के मुख में है। पर चन्द्रमा के बड़े होने से उनके दोनों किनारे बाहर निकले हुए हैं। उसके कराल दाँतों की बड़ी शोभा हो रही थी। उसका शरीर राहु की भाँति विशाल मालूम होता था। राजा घोड़े पर सवार चले आ रहे थे। ऐसी स्थिति में घोड़े की आहट पाकर सूअर कान उठाकर जिस भाँति चकित होकर देखते हैं उसी भाँति वह भी देखता था।

दो. नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हांकि न होइ निबाहु॥१५६॥

अर्थ : नीलपर्वत शिखर के समान भारी वाराह : सुअर को देखकर राजा ने घोड़े को सिटुककर चलाया। क्योंकि हांकने से निर्वाह नहीं होता था।

व्याख्या : सिटुकने का अर्थ धीरे से कोड़ा लगाना है। ऐसा वाराह राजा ने देखा नहीं था। इसलिए उसके शिकार का अधिक चोप हुआ। यह जल्दी हाथ न आवेगा। हाँकने से जैसा घोड़ा चल रहा है इस वेग से काम न चलेगा। इसलिए घोड़े को धीरे से कोड़ा लगाया। घोड़ा बड़ी जातिवाला था। उसके लिए सिटुकना ही बहुत था।

आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ वराह मरुत गति भाजी ॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गएउ विलोकत वाना ॥१॥

अर्थ : अधिक : वेग से घोड़े को आते देखकर वह सूअर वायुवेग से भाग चला। राजा ने तुरन्त बाण सन्धान किया। सूअर बाण देखते ही पृथ्वी में चिपक गया।

व्याख्या : राजा ने देखा कि घोड़ा इतने वेग से नहीं चल सकता। भाले से इसका शिकार करना असम्भव है। तीर में ही इतनी शक्ति है कि इसके वेग का उल्लंघन कर सके। अतः उन्होंने बाण का सन्धान किया। वाराह ने देखा कि वाण से अधिक वेग मेरा नहीं हो सकता। इसलिए ऐसा जमीन में चिपका कि नील महीधरशिखरं सा उसका शरीर महीतल के समतल मालूम होने लगा। रव धातुगत्यर्थक है। अतः रव शब्द यहाँ गति का बोधक है।

तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा ॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिस बस भूप चलेउ संग लागा ॥२॥

अर्थ : राजा ने ताक ताक कर तीर चलाया। पर सुअर चालाकी से शरीर बचाता ही गया। इस भाँति प्रकट होते और छिपते शिकार भागा जाता था। राजा भी क्रोध के वश उसका पीछा करता चला।

व्याख्या : पहिली चोट खाली गयी। अब राजा खूब निशाना बाँधकर तीर चलाने लगा। पर सूअर भी चालाकी से शरीर बचाता ही गया। सभी वार खाली गये। इतने बड़े रणपण्डित के सभी वारों का खाली जाना भी असाधारण बात थी।

वह शिकार कभी दिखाई पड़ता था। कभी दृष्टि से ओझल हो जाता था। एकदम ओझल हो जाय तो भी राजा निराश होकर लौट जाता। पर वह दिखाई भी पड़ता जाता था। सभी वारों के खाली जाने पर राजा को नैराश्य के स्थान पर क्रोध हुआ और उसने हठ करके पीछा किया। विचार से काम न लिया।

गएउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू ॥
अति अकेल वन विपुल कलेसू। तदपि न मृग मग तजइ नरेसू ॥३॥

अर्थ : सूअर दूर जाकर घने जंगल में घुसा जहाँ हाथी घोड़े का निर्वाह

नहीं था। राजा बिल्कुल अकेला था और बन में बड़ा कष्ट था। फिर भी उसने शिकार का पीछा न छोड़ा।

व्याख्या : दो एक आदमी के साथ रहते भी राजा अकेला ही समझा जाता है। यहाँ तो उसके साथ कोई भी नहीं था। इसलिए अति अकेल कहते हैं। बन में पानी तक का ठिकाना नहीं। घने जंगल में सूअर का पीछा करना महा कष्टकर कार्य था : डरपहि धीर गहन सुधि आये : इसलिए कहते हैं कि वनबिपुल कलेसू। फिर भी राजा उसका पीछा करने से विरत न हुआ।

कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गभीरा॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई॥४॥

अर्थ : सूअर ने देखा कि राजा बड़ा धीर है। वह भागकर पर्वत की गहिरी गुफा में घुस गया। उसमें राजा का घुसना असम्भव था। सो अत्यन्त पछताकर लौटा। बड़ा भारी वन था। उसमें रास्ता भूल गया।

व्याख्या : सूअर ने देखा कि राजा बड़ा धीर है। यह प्राण न छोड़ेगा तो भागकर पर्वत के गहरे खोह में घुस गया। राजा ने देखा कि इस गहरी गुफा में मनुष्य की गति ही नहीं है। इसलिए पीछा करने से विरत होना पड़ा। बहुत पछताया कि सम्पूर्ण परिश्रम ही व्यर्थ पड़ गया। परन्तु लौटते समय उस महावन में मार्ग भूल गया। शिकारी राजा साधारण वन में रास्ता भूलनेवाला नहीं था। परन्तु महावन में बड़ी दूर चला गया था इसलिए राह भूला।

दो. खेद खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजि समेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयउ अचेत॥१५७॥

अर्थ : राजा खेद से खिन्न, भूखा, प्यासा घोड़े के साथ व्याकुल होकर नदी तालाब ढूँढ़ता था। और पानी बिना अचेत हो रहा था।

व्याख्या : खेदखिन्न से मन की गति कही। क्षुधित तृषित से प्राण की गति कही। घोड़े के भूखे प्यासे होने से स्वस्थ सवार भी बेकार हो जाता है। किं पुनः दोनों भूखे प्यासे हो गये थे। भूख तो सह्य है, परन्तु प्यास से तो प्राण आकुल हो उठता है। व्याकुल होकर खोजने से जानी हुई वस्तु नहीं मिलती। यहाँ तो महावन में सरित सर खोजना ठहरा। राजा की दयनीय अवस्था हो रही थी।

फिरत बिपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट मुनिबेषा॥
जासु देस नृप लीन्ह छुड़ाई। समर सेन तजि गयउ पराई॥१॥

अर्थ : वन में फिरते हुए एक आश्रम देखा। वहाँ एक राजा कपट से मुनिवेष में रहता था। उसके देश को राजा भानुप्रताप ने छीन लिया था। क्योंकि वह समर में सेना को छोड़कर भाग गया था।

व्याख्या : उस बड़े और घने जंगल में एक आश्रम दिखाई पड़ा। उसमें कपट से मुनि वेष में एक राजा रहता था। अर्थात् इस अवस्था में भीतर से वह राजा

ही था। कपट से मुनिवेष बनाए था। वह भानुप्रताप का शत्रु था। क्योंकि इन्होंने उसका राज्य छीन लिया था। और वह प्राणभय से लड़ाई के मैदान में फौज छोड़कर भाग गया था। कुछ लोगों का मत है कि उसका नाम समरसेन था। वह सेना को छोड़कर भाग गया था। सेन शब्द देहलीदीपकन्याय से दोनों ओर लगेगा। इस भाँति अन्वय होगा कि समर सेन तजि गयउ पराई। राजा भानुप्रताप ने किसी का राज्य नहीं लिया था। लै लै दण्ड छाड़ि नृप दीन्हें। पर इसके देशत्याग से इसका राज्य छीन लिया। यह इस भय से कि राजा बड़ा नीतिज्ञ है। मेरा पता लगाये बिना न छोड़ेगा। इतने घने वन में मुनि के वेष से छिपा बैठा था।

समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी॥
गयउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी॥२॥

अर्थ : भानुप्रतापका अनुकूल समय जानकर और अपना अत्यन्त प्रतिकूल समय अनुमान करके वह भागा था। घर भी नहीं गया। और वह अभिमानी राजा भानुप्रताप से मिला भी नहीं।

व्याख्या : एक ही समय किसी के लिए अच्छा और किसी के लिए बुरा होता है। दिग्विजय के समय जब राजा भानुप्रताप अपनी सेना के साथ इसके राज्य में गया तो यह सेना लेकर उसका सामना करने को आया। पर समराङ्गण में भानुप्रताप की सेना देखकर साहस छूट गया। जान लिया कि शत्रु के दिन अच्छे हैं। शत्रु के अच्छे दिन आने से ही अपने बुरे दिन का अनुमान होता है। सो सेना को समराङ्गण में छोड़कर भाग गया। इसी से उसका पता न चला। यदि न भागता और भानुप्रताप से जा मिलता तो इससे दण्ड लेकर राजा भानुप्रताप छोड़ देता। पर यह अभिमानी था। भानुप्रताप से नहीं मिला और ग्लानि के कारण घर भी नहीं गया।

रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसइ तापस कें साजा॥
तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरबि तेहिं तब चीन्हा॥३॥

अर्थ : मन में क्रोध मारकर वह राजा दरिद्र की भाँति तपस्वी का वेष बनाकर वन में बसता था। राजा भानुप्रताप उसी के पास गया। उसने पहिचान लिया कि यह भानुप्रताप है।

व्याख्या : तपस्वी के कोई गुण उसमें नहीं थे। भीतर राजस क्रोध भरा था। राजा होकर दरिद्र की भाँति रहता है। भानुप्रताप के भय से वन में तपस्वी का स्वाँग बनाये हुए काल की प्रतिज्ञा कर रहा था। भानुप्रताप उस आश्रम में पहुँचा। उसके पास गया। वह बूढ़ा हो गया था। दृष्टि घट गई थी। जब भानुप्रताप निकट गया तब उसने पहिचान लिया कि यह भानुप्रताप है। दूर से पहिचान पाता तो सम्भवत: वहाँ से भी भाग खड़ा होता। पर अब भागने का समय नहीं रह गया।

राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना॥
उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा॥४॥

अर्थ : राजा प्यासा था। उसे पहिचान न सका। सुन्दर वेष देखकर जाना कि यह कोई महामुनि है। घोड़े से उतरकर प्रणाम किया। फिर भी परम चतुर राजा ने अपना नाम न बतलाया।

व्याख्या : राजाओं के पास शत्रु, मित्र तथा मध्यस्थ सभी राजाओं के चित्र रहते हैं। अतः एक राजा दूसरे को बिना मुलाकात के ही पहिचान लेते हैं। भानुप्रताप यदि भूख प्यास से विकल न होता तो उसे पहिचान लेता। वह व्याकुल था समझा कि उतने घने जंगल में सिवा मुनि के और कौन रह सकता है। और वेष भी महामुनि का सा देखा।

घोड़े पर से ही प्रणाम करना अविनय है। नियम है कि अपना गोत्र कहकर बड़े को प्रणाम करना चाहिए। सो घोड़े से उतरकर प्रणाम तो किया पर धर्मरुचि की शिक्षा के प्रताप से नीति में बड़ा चतुर था। प्रणाम करते समय अपना नाम न लिया।

दो. भूपति तृषित विलोकि तेहिं, सरवरु दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत हय, कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ : राजा को प्यासा देखकर उसने उसे तालाब दिखला दिया। राजा ने घोड़े सहित उसमें हर्षित होकर मज्जन और पान किया।

व्याख्या : भानुप्रताप को देखते ही वह समझ गया कि यह प्यासा है। अतः उनके कुछ कहने के पहिले ही उसने तालाब दिखला दिया। पीने का पानी दुर्लभ था। सो तालाब मिल गया। इससे हर्षित होकर राजा ने उसमें मज्जन किया और पानी भी पीया। तथा घोड़े को पानी पिलाया और नहलाया। कोई साथ नहीं हैं। अतः घोड़े की सेवा स्वयं करनी पड़ी।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ। निज आश्रम तापस लै गयऊ॥
आसन दीन्ह अस्त रवि जानी। पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥१॥

अर्थ : सब थकावट मिट गई। राजा सुखी हुआ। तसस्वी अपने आश्रम में उसे ले गया। सूर्यास्त जानकर आसन दिया फिर तपस्वी जी कोमल वाणी बोले।

व्याख्या : राजा बिना जल के अचेत था। सो तालाब मिलने से मज्जन किया। पान किया। इसलिए कहते हैं कि थकावट मिटी और राजा सुखी हुआ। यथा : मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ। जबतक राजा स्नानादि करते थे तबतक तपस्वी जी वहीं थे। निश्चिन्त होने पर अपने आश्रम पर ले गये। यह राजा का सत्कार है। सूर्यास्त होने पर जब अंधेरा हो चला तब आसन दिया और कोमल बाणी बोले। तपस्वी जी को भय हुआ कि राजा चैतन्य हुआ है। कहीं मुझे पहिचान न ले। इसलिए सूर्यास्त के पहिले दूर ही दूर थे। बोले तक नहीं। राजा आसन पर बैठा नहीं। अभी घोड़े की रास पकड़े खड़ा है।

को तुम्ह कस वन फिरहु अकेलें। सुंदर जुवा जीव पर हेलें[1] ॥
चक्रवर्ति के लच्छन तोरें। देखत दया लागि अति मोरें ॥२॥

अर्थ : तुम कौन हो ? सुन्दर युवा होकर जानपर खेले हुए अकेले वन में क्यों घूम रहे हो। तुम में चक्रवर्ती के लक्षण हैं। तुम्हें देखकर मुझे बड़ी दया आई।

व्याख्या : जब राजा आ ही गया तो उससे बातचीत करनी ही चाहिए। न करना भी ठीक नहीं। अतः पूर्व परिचय छिपाता हुआ नाम पूछता है। इतने बड़े राजा का अकेले वन में घूमने के लिए कोई विशेष कारण होना चाहिए। वानप्रस्थ की अवस्था नहीं है। इसलिए पूछता है कि अभी तो तुम युवा हो। किस संकट में फँस गये हो कि अकेले जानपर खेलकर इस वन में आये। जिसके भय से इतना भयभीत था सो स्वयं आ पहुँचा। अतः उनके आने का अभिप्राय जानने के लिए तथा उनकी परिस्थिति जानने के लिए प्रश्न करता है।

यदि राजा को सन्देह उठे कि इसने कैसे जाना कि मैं बड़ा राजा हूँ तो उसके निराकरण के लिए कहता है कि तुममें तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं मैंने सामुद्रिक विद्या से जाना। ऐसे वन में तो जिसे प्राण देना होता है वही आता है। अतः तुम्हारे किसी भारी संकट में फँसने की आशङ्का से मुझे अति दया लगी।

नाम प्रताप भानु अवनीसा। तासु[2] सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥
फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई ॥३॥

अर्थ : हे मुनीश ! सुनो। भानुप्रताप नाम का जो राजा है उसका मैं मन्त्री हूँ। शिकार के लिए घूमते हुए मैं राह भूल गया। मेरा बड़ा भाग्य था कि आकर चरणों के दर्शन किये।

व्याख्या : राजनीति के अनुसार राजा अपने को छिपाना चाहते हैं। पर लक्षण देखकर तपस्वी चक्रवर्ती कह रहा है। अब भेद कैसे छिपे ? इसलिए राजा ने अपने को भानुप्रताप का मन्त्री बतलाया। क्योंकि मन्त्री के भी लक्षण राजा से ही होते हैं। कदाचित् किसी मन्त्री से इनका परिचय हो। इसलिए नाम नहीं बतलाया। कहने लगा कि कोई विपत्ति कारण नहीं है। मृगया के लिए आया था। भाग्य यहाँ खींच लाया।

हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा ॥
कह मुनि तात भएउ अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ॥४॥

अर्थ : हमको तो आपका दर्शन दुर्लभ है। जान पड़ता है कि होनहार कुछ अच्छा हैं। मुनि ने कहा कि बेटा ! अँधेरा हो गया। और तुम्हारा नगर यहाँ से सत्तर योजन है।

---

[1] १. खघथधभां हः इस सूत्र से खेलें का हेलें हुआ :

[2] २. यहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार है।

व्याख्या : बड़े भाग्यशाली बात को स्पष्ट करता है कि नगरवासियों को ऐसे विरक्त का दर्शन कहाँ से हो ? और साधु का दर्शन अमोघ है। कभी व्यर्थ जाता नहीं।

कपटमुनि ने समझ लिया कि यह नहीं पहिचान सका। और मुझसे कुछ लाभ को भी आशा इसे बँध गई है। हो सके तो फन्दे में लाकर इससे पलटा चुकाना चाहिए। अतः ठहरने के लिए आग्रह करता है। कहता है कि तुम अपने नगर से बहुत दूर निकल आये। कैकय देश यहाँ से ७० योजन पर है।

दो. निसा घोर गंभीर बन, पंथ न सुनहु सुजान।
वसहु आज अस जानि तुम्ह, जाएहु होत विहान ॥१५९॥

अर्थ : घोर रात्रि है। जंगल घना है। रास्ता कोई नहीं। हे सुजान ! ऐसा जान के आज तुम यहीं ठहर जाओ। प्रातःकाल होते ही चले जाना।

व्याख्या : कपटमुनि ने देखा कि अभी यह विश्वास नहीं करता है। यहाँ से जाना चाहता है। अपना प्रयोजन कोई बतला नहीं सकते। अतः इसी के कल्याण का ओट पकड़ना चाहिए। अतः राजा को समझाता है कि घोर वन में दिन को चलना कठिन है। अँधेरी रात में कोई कैसे चलेगा। पगडंडी पकड़कर किसी भाँति चलना हो सकता है। पर यहाँ वह भी नहीं। कोई आता जाता नहीं। अतः रात को वन पार करना अशक्य है। अतः रात यहीं विताओ।

दो. तुलसी जसि भवितव्यता, तैसइ मिलै सहाइ।
आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लैजाइ ॥१५९॥ क

अर्थ : तुलसीदासजी कहते हैं जैसा होनहार होता है वैसा सहाय मिल जाता है। वह स्वयं उसके पास आजाता है। और उसे : भवित्तव्यतावाले को : वहाँ : भवितव्यता के पास : पहुँचा देता है।

व्याख्या : भानुप्रताप का नाश होना है। यही भवितव्यता है। और वह कपटीमुनि के आश्रम पर राजा के पहुँचने पर ही सिद्ध होगी। और वह कैकय देश से सत्तर योजन पर घोर वन में है। राजा के वहाँ जाने की कोई सम्भावना नहीं है। राजा सदा की भाँति मृगया : शिकार : के लिए जाता है। वहाँ कालकेतु असुर राजा का परम वैरी सूअर बनकर : भवितव्यता का सहाय होकर : आता है। और राजा को ले जाकर कपटी मुनि तक पहुँचा देता है। जहाँ राजा स्वयं कपटी मुनि के कपट का शिकार हो जाता है।

भलेंहि नाथ आयसु धरि सीसा। बांधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन वंदि निज भाग्य सराही ॥१॥

अर्थ : आज्ञा सिर पर धारण करके राजा ने कहा : स्वामिन् ! बहुत अच्छा। और घोड़े को पेड़ से वाँधकर वैठ गया। राजा ने बहुत भाँति से उसकी प्रशंसा की। और उसके चरणों की वन्दना करके अपने भाग्य को सराहा।

व्याख्या : अभी तक राजा जाने को तैयार था। अपरिचित स्थान में ठहरना नहीं चाहता था। अतः घोड़े को कहीं बाँधा नहीं था। अब मुनिजी की आज्ञा ठहरने की हुई। तो उसे मानकर घोड़े को पेड़ में बाँध दिया। और स्वयं मुनिजी के दिये हुए आसन पर बैठ गया।

राजा ने देखा कि इस सूनसान जंगल में एकाकी रहनेवाला यह निश्चय ही कोई महात्मा है। केवल लक्षण देखकर मुझे चक्रवर्ती जान लिया। और अपरिचित होने पर भी मुझपर इतनी कृपा करता है। अतः उनकी बड़ी स्तुति की। प्रणाम किया। उनके दर्शन से अपने को भाग्यवान् माना। समझा कि इस रास्ता भूलने से मेरा हित ही हुआ।

पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी॥२॥

अर्थ : फिर सुन्दर और कोमल वाणी बोला कि प्रभो! पिता जानकर मैं ढिठाई करता हूँ। हे मुनीश मुझे बेटा और सेवक जानकर हे नाथ! अपने नाम को बखानकर कहिये।

व्याख्या : राजा ऐसी वाणी बोला जो कोमल और सोहाई हो। किसी विरक्त से नाम ग्राम पूछना ढिठाई है। संसार से सम्बन्ध तोड़कर जो जंगल में बैठा है उससे व्यवहारस्थापन के लिए नाम ग्राम पूछने का किसी को क्या अधिकार है? और राजा पूछना चाहता है। अतः ऐसी कोमल वाणी से पूछता है कि अरुन्तुद न मालूम हो। पहिले सम्बन्ध कायम करता है कि मुनि होने से आप प्रभु हैं। राजा होने से मैं सेवक हूँ। आपने 'बेटा' कहा है। मैं आपको पिता मानता हूँ। यद्यपि आप मुनीश हैं। फिर भी मुझे सुत और सेवक होने से अधिकार है कि नाम : पता पूछूँ। क्योंकि अपने स्वामी और पिता के परिचय की किसे जिज्ञासा नहीं होती। ऐसी अवस्था में ढिठाई क्षम्य है।

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा॥३॥

अर्थ : राजा ने उसे नहीं जाना। पर वह राजा को जान गया। राजा सुहृद था। पर वह कपट में सयाना था। एक तो वैरी तिस पर क्षत्रिय और उसमें भी राजा। छल के बल से अपना काम किया चाहता है।

व्याख्या : राजा भी सयाना था। परन्तु शुद्धहृदय था। और यह मुनि कपट में सयाना था। दूसरी बात यह थी कि राजा उसे पहिचान न सका। और उसने राजा को पहिचान लिया था। इस कारण से राजा उसकी माया में जा फँसा। एक तो वैरी बुरे होते ही हैं। उसमें भी क्षत्रिय बिना बदला लिये नहीं रह सकता। उसमें भी यदि राजा हो तो निश्चय बल से काम लेगा।

समुझि राज सुख दुखित अराती । अवाँ अनल इव सुलगै छाती ॥
सरल वचन नृप के सुनि काना । बयर सँभारि हृदय हरषाना ॥४॥

अर्थ : वह शत्रु राजसुख का स्मरण करके दुःखित था। उसकी छाती आवें की आग की भाँति सुलगती थी। राजा के सरल वचन कान से सुनकर वैर को सँभालकर हृदय में हर्षित हुआ।

व्याख्या : राजा के वैरी होने में विशेषता यह है कि उसे पदे पदे राजसुख याद पड़ेगा। कलेजे में आग धधका करेगी। वह बदला लेने में किसी पुण्य-पाप का विचार न करेगा।

राजा सुहृद था इसलिए सरल वचन बोला। यह कपट में सयाना था। इसलिए वैर को संभालकर हर्षित हुआ। वैर संभालने का भाव यह है कि उसका हर्ष राजा की सरलता के कारण नहीं है। बल्कि राजा का अपने प्रति विश्वास देखकर है। वैर संभाला बदला लेने के लिए। यह देखकर कि राजा बड़ा सरल मालूम पड़ता है, इसके सरल वचनों में चित्त न पिघले अतः वैर को संभाला कि इसी ने मेरा सर्वस्व हरण करके मुझे वनचारी वना रक्खा है। कान से सुनने का भाव यह है कि उसे हृदय में स्थान नहीं दिया।

दो. कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ जुगुति समेत।
नाम हमार भिखारि अब, निर्धन रहित निकेत ॥१६०॥

अर्थ : वह युक्ति से कोमल वाणी कपट से पगी हुई बोला : मेरा नाम तो अब भिखारी, निर्धन और गृहहीन है।

व्याख्या : वह कपटमुनि भी मृदु वाणी बोला। पर सोहाई नहीं थी। क्योंकि कपट से डूबाडूब थी और ऐसी युक्ति से बोला कि उससे स्पष्ट हृदय का उद्गार भी प्रकट हो। और राजा यह समझे कि मुनिजी अपने प्रभाव को छिपा रहे हैं। बड़े गलित अभिमान हैं। अब का भाव यह कि किसी समय राज्य था। कोष था, दुर्ग था। आज मैं भिखारी निर्धन और गृहहीन हूँ। पर राजा यह समझें कि अपने त्याग को गरीबी के रूप में छिपा रहे हैं।

कह नृप जे विग्यान निधाना । तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ । सब विधि कुसल कुवेष बनाएँ ॥१॥

अर्थ : राजा ने कहा कि जो विज्ञान के निधान हैं और आपके सदृश गलित अभिमान हैं वे अपने को सदा छिपाये रहते हैं। यद्यपि सब प्रकार से कुशल : निपुण हैं पर कुवेष बनाये रहते हैं।

व्याख्या : किएहु कुवेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत[1] हनुमानू।

---

[1] आल्विल्लोल्लालवनोन्तामतुपः। आलु इल्ल, उल्ल, आल, वन्त, इन्त इत्येत आदेशा मतुपः स्थाने भवन्ति। मतुप् के स्थान में वन्त आदेश होता है। इससे जाम्बवन्त ऐसा रूप हुआ। सर्वत्र लवराम् इस सूत्र से वकार का लोप होकर जामवंत रूप सिद्ध हुआ।

जामवन्त और हनुमान् विज्ञान के निधान साक्षात् ब्रह्मदेव और शिव हैं। उन्हें अभिमान नहीं है। भालू बन्दर बने फिरते हैं। इसी भाँति आप भी विज्ञान के निधान और गलित अभिमान हैं। लोकमान्यता के भय से भिखारी, निर्धन और निकेतरहित बने हुए हैं।

तेहि ते कहहि संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत विरंचि सिवहि संदेहा ॥२॥

अर्थ : इसी से वेद और सन्त पुकारकर कहते हैं कि परम अकिंचन बड़े गरीब हरि को प्रिय हैं। तुम्हारे ऐसे निर्धन, भिखारी और गृहहीन से ब्रह्मा और विष्णु को सन्देह होता है।

व्याख्या : सन्त और श्रुति प्रमाण हैं। सो पुकारकर कहते हैं : जिनसे सब कोई सुनलें कि परम अकिंचन हरि को प्रिय हैं। परम अकिंचन वे ही हैं जिन्हें अपना कुछ नहीं है। इस जगत् में सब मानने की बात है। जिसे एक लँगोटी और तूंबा है और उसमें उसकी अहं और मम बुद्धि है तो वह अकिञ्चन नहीं है। और जिसे सब कुछ है पर किसी पर अहं मम बुद्धि नहीं है वही अकिञ्चन है। यथा : राम गरीब नेवाज हैं तै गही न गरीबी। गरीब होने से गरीबी नहीं होती। गरीबी ग्रहण की जाती है। गरीबी साधु का एक लक्षण है। विज्ञाननिधान होकर गलितअभिमान होना यही सच्ची गरीबो है। नहीं तो अति गरीब के पास भी कुछ न कुछ रहता ही है।

राजा कहते हैं कि आप ऐसे अधन, भिखारी और गृहहीन ही ब्रह्म रुद्र पद पाते हैं। अतः आप ऐसे महापुरुषों से उन्हें सन्देह रहता है। ज्ञानी देवता हैं। अतः उन्हें त्रास नहीं होता। सन्देह मात्र होता है। इन्द्र भोगी है। अतः उन्हें तो त्रास हो जाता है। यथा : सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिसि मम पुरवासा।

जोसि सोसि तव चरन नमामी। मोपर कृपा करिअ अब स्वामी ॥
सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु विषय विस्वास विसेखी ॥३॥

अर्थ : आप जो हों सो हों मैं आपके चरणों को नमस्कार करता हूँ। हे स्वामिन्! मुझपर अब कृपा करिये। कपट मुनि राजा की स्वाभाविक प्रीति और अपने ऊपर विश्वास देखकर :

व्याख्या : भाव यह है कि मुनिजी नाम नहीं बतलाना चाहते तो हर्ज ही क्या है। मुझे तो इनको प्रणाम करने से मतलब है। अतः कहते हैं कि आप चाहे जो हों मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। राजा समझता है कि ये कोई बड़े ऊँचे दर्जे के महात्मा हैं। तभी तो ऐसे घोर वन में रहते हैं। भाग्य से मेरी पहुँच इन तक हो गई है। नहीं तो इन तक कौन पहुँचता है? मैं भी फिर इन तक पहुँच पाऊँगा इसकी आशा ही क्या है? ये अपना नाम नहीं बतलाना चाहते तो ये मिलना कब चाहेंगे। अतः अवसर न चूकना चाहिए। अलभ्य लाभ तो इनसे ही

होगा। अतः राजा कृपा करने की प्रार्थना करते हैं। राजा ने स्वयं उनके पूछने पर अपना नाम नहीं बतलाया था। अतः मुनिजी के अपने नाम न बतलाने पर असन्तुष्ट होने का कोई कारण नहीं था। मुनिजी ने देखा कि यह स्वाभाविक साधुसेवी है। यथा : गुर सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकर सेवा। मुझपर विशेष विश्वास कर रहा है। ईश्वरकोटि में मान रहा है। अतः :

सब प्रकार राजहि अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई॥
सुनु सति भाउ कहौं महि पाला। इहां बसत बीते बहु काला॥४॥

अर्थ : सब प्रकार से राजा को अपना बनाकर अधिक स्नेह प्रकट करता हुआ बोला : राजन् मैं सत्यभाव से कहता हूँ सुनो। यहाँ रहते मुझे बहुत दिन बीत गये।

व्याख्या : धूर्तों का पहिला काम यह होता है कि अपने ऊपर विश्वास दृढ़ करा लेते हैं। तब अपने कपटजाल के प्रसार में हाथ लगाते हैं। मन्थरा ने पहिले कैकेयी का विश्वास अपने ऊपर दृढ़ कर लिया। तब अपनी माया फैलायी। यथा : सजि़ प्रतीति बहु विधि गढि छोली। अवध साढ साती तब बोली। इसी भाँति कपटमुनि ने जब सब प्रकार से उसे अपना बना लिया। वह उसको ब्रह्मा रुद्र की कोटि में समझने लगा। बिना परिचय जाने अत्यन्त विश्वास करने लगा। तब अधिक स्नेह जनाता हुआ बोला। स्नेह तो उसने पहिले ही जनाया था। यथा : चक्रवर्ति के लच्छन तोरे। देखत दया लागि अति मोरे। पर अब अधिक जनाया। अपना परिचय देना प्रारम्भ किया।

बोला कि अब तुमसे न छिपाऊँगा। पुत्र या सेवक से छिपाना ठीक नहीं। सत्य भाव से कहता हूँ कि यहाँ रहते बहुत काल बीत गया। भाव यह कि तप से मेरा मन विरत होता ही नहीं। अब भी तप की ही इच्छा है। बहुत दिन एक स्थान में रहने से ख्याति हो ही जाती है। अतः कहता है :

दो. अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ, मैं न जनावौं काहु॥
लोक मान्यता अनल सम, कर तप कानन दाहु॥१६१॥क
सो. तुलसी देखि सुवेखु, भूलहि मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु, वचनसुधा सम असन अहि॥१६१॥

अर्थ : अबतक मुझे कोई मिला नहीं और मैं किसी को जनाता नहीं। क्योंकि लोकप्रतिष्ठा आग के समान तपस्या के वन को जला डालती है।

तुलसीदास जी कहते हैं कि सुन्दर वेष देखकर मूढ़ लट्टू होते हैं। चतुर लोग नहीं। सुन्दर मोर को देखो अमृत सी वाणी है पर साँप को खा जाता है।

व्याख्या : इतने दिन मुझे यहाँ रहते हुए पर पहिले मनुष्य तुम ही हो जो यहाँ तक आये। यह स्थान ही ऐसा मैंने चुना है कि यहाँ किसी की गति ही नहीं है। और मैं स्वयं लोगों से मिलना नहीं चाहता। अतः मुझको कोई जानता ही नहीं है। इसी से तप का सञ्चय मुझमें है। लोकप्रसिद्धि तपस्वी के लिए विष है।

वह तपस्या के वन को आग की भाँति जला देती है। यदि किसी तपस्वी की प्रसिद्धि हो तो समझना चाहिए कि उसके तपस्या के वन में आग लगी हुई है। लोकप्रसिद्धि उसी का उजेला है।

मुनि का वेष है। ऐसे घने जंगल में रहता है जहाँ मनुष्य की गन्ध नहीं। ऐसी वैराग्य युक्त वाणी बोलता है। ऐसे पुरुष के महामुनि न मानने का कोई कारण नहीं है। फिर भी श्रीग्रन्थकार सावधान करते हैं। ऐसी अवस्था में भी लट्टू हो जाना मूढ़ का काम है। ये सब साधु के लक्षण नहीं हैं। न लिङ्गं धर्मकारणम्। क्योंकि खल लोग इन सब बातों की नकल कर लेते हैं। मोर को देखो कैसा सम्पूर्ण शरीर में तिलक छापा लगाये है। कितना मनोहर है। अमृत सी वाणी बोलता है। उसे देखकर कौन समझेगा कि यह साँप खाता होगा। अतः वेषवाणी आदि बाहरी चिन्हों का कोई मूल्य नहीं है। सन्त में एक लक्षण ऐसा है कि उसकी नकल किसी के किये हो नहीं सकती। ग्रन्थकार ने स्वयं उसे लिख दिया है। यथा : उमा संत क इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई।

तातें गुपुत रहौं जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाए। कहहु कवन सिधि लोक रिझाए॥१॥

अर्थ : इसी कारण मैं संसार में छिपा रहता हूँ। मुझे हरि को छोड़कर कोई प्रयोजन ही नहीं है। और प्रभु बिना जनाये ही सब जानते हैं। लोगों के रिझाने में भला बताओ क्या फलसिद्धि है ?

व्याख्या : तपोवृद्धि के लिए गुप्त रहता हूँ। बिना प्रयोजन किसी कार्य को कोई नहीं करता। मुझे तो केवल हरि से प्रयोजन है। लोगों से कोई प्रयोजन नहीं। तो फिर मैं उनसे क्यों मिलूँ : प्रयोजनमनिर्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। तप आदिक जो किया जाता है सो सब हरि के लिए और वे बेजनाए ही सब जानते हैं। अतः उनको भी जनाने की आवश्यकता नहीं। सब विधि से गुप्त रहना ही ठीक है। इसीसे मैं नाम भी नहीं बतलाता था। अपना परिचय छिपाता था। परन्तु अब देखता हूँ कि :

तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें। प्रीति प्रतीत मोहि पर तोरें॥
अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही॥२॥

अर्थ : तुम शुचि हो, सुमति हो : अतः मुझे परम प्रिय हो। और मुझपर तुम्हारी प्रीति प्रतीति है। अब यदि तुमसे छिपाव करूँ तो मुझे दारुण : कठिन दोष लगेगा।

व्याख्या : तुम शुचि हो, निष्कल्मष हो, तुम्हें वेदविदित मार्ग में सात्त्विकी श्रद्धा है। इसलिए तुम सुमति हो। यथा : मतिर्नाम वेदविहितमार्गेषु श्रद्धा। शाण्डिल्योपनिषदि। अतः मुझे अत्यन्त प्रिय हो। तिस पर तुम्हें मुझपर प्रेम है और विश्वास है। और तुम मुझसे आर्त होकर पूछते हो। नीति यह है कि गूढौ तत्त्व

न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं। क्योंकि अधिकारी से छिपाने में दारुण दोष है। अतः अब मैं तुमसे नहीं छिपा सकता।

जिमि जिमि तापसु कथै उदासा। तिमि तिमि नृपहि उपज विस्वासा॥
देखा स्ववस कर्म मन बानी। तब बोला तापस वक ध्यानी॥३॥

अर्थ : जैसे जैसे : वह : तपस्वी उदासीनता कथन करता चला जाता है वैसे ही वैसे राजा को विश्वास उपजता चला जाता है। जब मनसा वाचा कर्मणा उसे : अपने वश में देख लिया तब वह वकध्यानी तपस्वी बोला।

व्याख्या : सद्गृहस्थ रहते तो हैं प्रवृत्तिमार्ग में पर निवृत्तिमार्ग की बड़ी प्रतिष्ठा उनके हृदय में रहती है। अतः वह तपस्वी जितनी उदासीनता अपनी जगत् से दिखलाता है उतना ही राजा का विश्वास जमता चला जाता है। तपस्वी बोलता जाता था और देखता जाता था कि राजा पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है। जब देख लिया कि मनसा वाचा कर्मणा राजा वश में आगया तब वकध्यानी तपस्वी बोला। बगला नदी के किनारे एक पैर से खड़ा रहता है। इधर उधर कहीं नहीं देखता। उसका ध्यान केवल मछली पर रहता है। इसी भाँति विषय का ध्यान करता हुआ कर्मेन्द्रियों का संयम किये जो स्थित है ऐसे मिथ्याचारी को वकध्यानी कहते हैं। यथा : कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

नाम हमार एकतनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी॥४॥

अर्थ : हे भाई! मेरा नाम एकतनु है। सुनकर राजा फिर प्रणाम कर बोले : मुझे अपना अत्यन्त सेवक जानकर नाम का अर्थ वर्णन करके कहिये।

व्याख्या : इतनी बड़ी भूमिका के बाद तो अपना नाम बताया। और चुप हो गया। नाम ऐसा बतलाया जिसमें जिज्ञासा के लिए कौतुक बढ़े। जो बातें कहना चाहता है उसे यदि बिना पूछे कहे तो जमेगी नहीं। इसलिए प्रश्न का बीज रखकर नाम बतला दिया। एकतनु सुनते ही राजा को जिज्ञासा हुई। फिर कुछ कहना चाहते हैं। इसलिए प्रणाम किया और प्रार्थना की कि मुझे आप अपना अत्यन्त सेवक जानिये और नाम का अर्थ वखानकर कहिये। भाविनी वृत्ति से अत्यन्त सेवक कहा। राजा अर्थ जानने के लिए आतुर है। समझता है कि अर्थ करने में ही बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा। इसलिए कहता है कि मैं अति सेवक हूँ। आप को छोड़कर दूसरा स्वामी नहीं जानता।

दो. आदि सृष्टि उपजी जबहिं, तब उतपति भइ मोरि।
नामु एकतनु हेतु तेहिं, देह न धरी बहोरि॥१६२॥

अर्थ : जब आदि सृष्टि हुई उसी समय मेरी उत्पत्ति हुई। मेरा नाम एकतनु इसलिए पड़ा कि फिर मैंने देह धारण नहीं किया।

व्याख्या : मेरी उत्पत्ति कल्प के आरम्भ में हुई। इन्द्र की, देवताओं की, सप्तऋषियों की सृष्टि तो पीछे से मन्वन्तर के आदि में होती हैं। तब से कितने अवतार भगवान् के हुए। कितनी बार उन्होंने अनेक शरीर धारण किये। पर मेरा वही शरीर चला आता है। मैंने दूसरा शरीर नहीं धारण किया। इसी से मेरा नाम एकतनु है।

जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं ॥
तप बल तें जगसृजै विधाता। तप बल बिस्नु भए परित्राता ॥१॥

अर्थ : बेटा ! मनमें आश्चर्य न करो। तप से कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तपबल से ब्रह्मदेव संसार की सृष्टि करते हैं। तप बल से विष्णु पालनेवाले हुए।

व्याख्या : राजा कुछ नहीं बोला। पर उसके मनमें बड़ा आश्चर्य हुआ। मानव शरीर इतना स्थायी नहीं हो सकता। कपट मुनि बराबर राजा के मनोगत भावों को उसके चेहरे से लक्ष्य करता जाता था। तुरन्त बोल उठा। मैं तुम्हारे मन की बात को समझ रहा हूँ। आश्चर्य न करो। तपबल से क्या नहीं हो सकता ? मेरे शरीर को स्थायी[1] तप ने बना रक्खा है। यह सब सृष्टि तप के आधार से है। यथा : तप अधार सब सृष्टि भवानी। प्रारम्भ में ब्रह्मदेव सृष्टि करने में असमर्थ थे। आकाशवाणी हुई : तप तप। तब उन्होंने बहुत बड़ा तप किया। तप द्वारा शक्तिसञ्चय करके यह सृष्टि कर डाली। सृष्टि करने से भी बड़ा काम उसका पालन करना है। सब जगह से सब कुछ अतन्द्रित होकर सँभाले रहना। मन से भी नहीं सोचा जा सकता। यथा : यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यन्द्रितः। सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः। यदि एक क्षण भी आलस्य करें तो सृष्टि में गड़बड़ मच जाय और यह सब प्रजा नष्ट हो जाँय। सो भगवान् तपबल से ही सृष्टि का पालन करते हैं।

तप बल संभु करहिं संसारा। तपतें अगम न कछु संसारा ॥
भयउ नृपहिं सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहै सो लागा ॥२॥

अर्थ : तपबल से शम्भु संहार करते हैं। इस संसार में तप से कुछ भी अगम नहीं है। सुनकर राजा को अत्यन्त अनुराग हुआ। तब तो वह पुरानी कथाएँ कहने लगा।

व्याख्या : संहार का कार्य भी बड़ी जिम्मेदारी का है। पालन और संहार दोनों साथ साथ चलता है। बिना संहार के पालन और बिना पालन के संहार नहीं होता। सृष्टिक्रम से विपरीत संहारक्रम है। अतः अन्त में क्रमशः लय करते हुए सब कुछ ब्रह्म में लय कर देना संहार है। यह कार्य शम्भु सम्पादन करते हैं। न

---

[1] अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति। मनुः

अर्थ : वेदों का अभ्यास न करने से, आचार का पालन न करने से, आलस्य से और अन्नदोष से मृत्यु ब्राह्मण को मारती है।

तो ब्रह्मा कुलाल की भाँति सब वस्तुओं की रचना करते हैं न विष्णु माँ की भाँति सबका पालन करते हैं और न शम्भु व्याघ्र की भाँति संहार करते हैं। यह सब कार्य उनके तपोबल से आप से आप होता रहता है। जितनी शक्तियाँ हैं, उन सबका समावेश, उत्पादन, पालन और संहार में हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि तप से इस संसार में अगम कुछ भी नहीं है। तप करनेवाला होना चाहिए। इस संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। मैं भी उसी तप के बल से शरीर को स्थायी बनाये बैठा हूँ।

राजा को मुनिजी की इन बातों को सुनकर और भी श्रद्धा भक्ति बढ़ी। कपटी मुनि ने देख लिया कि उसकी यह बात भी बैठ गई। तब अपने दीर्घजीवी होने के प्रमाण में अपनी आँखों देखी की भाँति पुरानी पुरानी घटनाओं का वर्णन करने लगा।

करम धरम इतिहास अनेका। करै निरूपन बिरति बिबेका॥
उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी॥३॥

अर्थ : कर्म, धर्म के अनेक इतिहास वैराग्य और विवेक का निरूपण करने लगा। उत्पत्ति पालन और प्रलय की कहानियों को बड़े बड़े आश्चर्य की बातों के साथ वर्णन किया।

व्याख्या : पुण्य श्रवण कीर्त्तन की कथा धर्म-इतिहास है। अन्य जीवों की कथा कर्म-इतिहास है। पुराणेतिहास के व्याज से कर्म, धर्म, वैराग्य और ज्ञान का निरूपण ही महात्माओं को इष्ट होता है। ठीक उसी भाँति वह भी निरूपण करने लगा। धार्मिक होना, वैराग्यवान् होना और ज्ञानी होना दूसरी बात है। और इनका निरूपण करना दूसरी बात है। अतः निरूपण करना पण्डिताई है। धर्मात्मा विरागी या ज्ञानी होने का लक्षण नहीं है। देखिये आज कपटी मुनि ने सदा शास्त्र वेद पुराण के श्रवण करनेवाले राजा भानुप्रताप को अपनी धूर्त्तता के चक्कर में डाल दिया।

उसने देख लिया कि राजा की श्रद्धा इतनी बढ़ी हुई है कि उसको सब बातें बैठती जायँगी। तब उसने कहानी प्रारम्भ की। झूठी झूठी बातें गढ़कर सृष्टि स्थिति प्रलय के समय की अत्यन्त आश्चर्यमय घटनाएँ सुनाने लगा।

सुनि महीप तापस बस भयऊ। आनन नाम कहन तब लयऊ॥
कह तापस नृप जानौं तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही॥४॥

अर्थ : यह सब सुनकर तो राजा उस तपस्वी के वश में हो गया। तब वह अपना नाम बतलाने लगा। तपस्वी बोला कि राजा! मैं तुम्हें जानता हूँ। किया तो तुमने कपट पर मुझे अच्छा लगा।

व्याख्या : कपटी मुनि ने जब देखा कि राजा मनसा वाचा कर्मणा उसके वश हो गया। तब अपना नाम एकतनु बतलाया। राजा उस समय तक उसके वश

में नहीं था। अपना नाम छिपाये ही रहा। पर कथा सुनने पर वश में आया। विचार ही निश्चय करके सब श्रेय का मूल है। और अविचार ही बड़ी भारी मृत्यु है। राजा ने इस समय विचार को तिलाञ्जलि दे रक्खी है। वह अपनी सिद्धि दिखलाता है कि बिना बतलाये ही मैं सब जानता हूँ। तुमने कपट किया सो भी जानता हूँ। पर वह कपट मुझे बुरा नहीं लगा। क्योंकि नीति शास्त्रानुमोदित था। यथा :

सो. सुनु महीस असि नीति, जँह तँह नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता विचारि तव ॥१६३॥

अर्थ : राजा। सुन यह नीति है कि राजा अपना नाम जहाँ तहाँ न बतलावें। इसी तुम्हारी नीति निपुणता का विचार करके मुझे तेरे ऊपर बड़ी प्रीति हुई।

व्याख्या : राजाओं के लिए नीतिशास्त्र की विशेष आज्ञा है। राजाओं को प्रजा के दुःख सुख को अपनी आँखों देखने के लिए वेष बदल कर अकेले रात्रि में घूमना पड़ता है। और भी अवसर ऐसे आते हैं जब कि राजा अकेले पड़ जाते हैं। उनके गुप्त शत्रु बहुत होते हैं। अतः उन्हें अपरिचित स्थानादि में नाम छिपाने की आज्ञा है। राजा को नीतिज्ञ होना चाहिए। तुम्हारे नाम छिपाने से मुझे तुम्हारे नीतिनैपुण्य का परिचय मिला। इसीसे तुम पर मेरी अति प्रीति है।

नाम तुम्हार प्रताप दिनेसा। सत्यकेतु तव पिता नरेसा॥
गुरु प्रसाद सब जानिअ राजा। कहिय न आपन जानि अकाजा॥१॥

अर्थ : तुम्हारा नाम भानुप्रताप है। तुम्हारे बाप का नाम राजा सत्यकेतु.... है। राजन् गुरु के प्रसाद से सब कुछ जाना जाता है। पर अपनी सर्वज्ञता को बतलाता नहीं। क्योंकि इससे अपनी ही हानि है।

व्याख्या : जब राजा अपना नाम बतलाने लगा। तभी कपट मुनि ने यह कहकर रोक दिया कि मैं तुमको जानता हूँ। क्योंकि राजा के बतलाने से उसको अपनी सिद्धि दिखाने का अवसर न मिलता। अब अपनी सिद्धि दिखलाते हुए बतलाता है कि तुम्हारा नाम भानुप्रताप है। तुम्हारे बाप का नाम राजा सत्यकेतु है। राजा को आश्चर्य में देखकर कहता है कि यह ज्ञान गुरुप्रसाद से होता है। भावार्थ यह कि जब तुम्हें गुरु मिलेगा तब तुम भी इसी भाँति जान जाया करोगे। परन्तु ये बातें कही नहीं जाती। कहने से प्रसिद्धि होती है और उससे तपःक्षय होता है।

देखि तात तव सहज सुधाई। प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई॥
उपजि परी ममता मन मोरें। कहौं कथा निज पूँछे तोरें॥२॥

अर्थ : बेटा ! तुम्हारी स्वाभाविकी सिधाई, प्रीति, विश्वास, नीतिनैपुण्य देखकर मेरे मन में ममता हो आई। तुम्हारे पूछने पर अपनी कथा कह रहा हूँ।

व्याख्या : इतने सद्‌गुणों का योग कहीं नहीं देखा गया। एक ओर सहज सुधाई, प्रीति और प्रतीति और दूसरी ओर नीति निपुणता। सुधाई, प्रीति, प्रतीति से नीति का एक प्रकार से बैर ही है। सो विरोधी गुण तुम्हारे में सहज वैर छोड़कर निवास करते हैं।

सहज सुधाई। यथा : सरल वचन नृप के सुनि काना।
प्रीति। यथा : सहज प्रीति भूपति कै देखी।
प्रतीति। यथा : आपु विषय विश्वास विसेषी।
नीति निपुनाई। यथा : नाम प्रताप भानु अवनीसा।
तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा।

इस बात को देखकर मेरे मन में जो स्वभाव से ही विरागरूप है। ममता उत्पन्न हो पड़ी। गुणों में सामर्थ्य ही ऐसा है कि आत्माराम मुनियों के मन को खींच लेता है। फल यह हुआ कि तुम्हारे पूछने पर मैं अपनी कथा सुनाने लगा। स्वमाहात्म्यगोपन के सिद्धान्त से हटना पड़ा।

अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। मांगु जो भूपभाव मनमाहीं॥
सुनि सुवचन भूपति हरषाना। गहि पद विनय कीन्ह विधि नाना॥३॥

अर्थ : अब मैं प्रसन्न हूँ। इसमें संशय नहीं है। राजा जो तेरे मन को भाता हो सो माँग लो। सुन्दर वचन सुनके राजा प्रसन्न हुआ। चरण पकड़कर अनेक भाँति से विनय किया।

व्याख्या : किसी को भी सब विषय की प्राप्ति नहीं होती। तुम चक्रवर्ती राजा हो। फिर भी तुम्हें कोई अभाव अवश्य होगा। तुमने कहा भी था कि मोपर कृपा करिअ अब स्वामी। सो अब मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। इसमें संशय नहीं है। भाव यह कि दिल खोलकर माँगो। इस भाँति भीतरी इच्छा जानना चाहता है। भीतरी इच्छा ही कमजोरी है। उसी की पूर्ति के लिए आदमी अन्धा हो जाता है। धूर्त लोग सदा उसके जानने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि उसे जान लेने पर ठगने में बड़ा सुभीता होता है।

राजा ने कहा था : जानत हौं कछु भल होनिहारा। सो बात हुआ चाहती है। अतः मुनिजी के वरद होने पर हर्षित हुआ। मनोरथ सिद्धि के लिए आर्त है। चरण पकड़कर नाना विधि से विनय करने लगा। क्रमशः दोनों हर्षित हुए। राजा का हर्षित होना तो प्रसक्त ही है। यथा : सुनि सुवचन भूपति हरषाना। और मुनि जी तो पहिले से ही हर्षित हैं। यथा : सरल वचन नृपके सुनि काना। वैर संभारि हृदय हरषाना।

कृपा सिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें॥
प्रभुहिं तथापि प्रसन्न विलोकी। मांगि अगम वरु होउ असोकी॥४॥

अर्थ : हे कृपासिन्धु मुनि आपके दर्शन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों

पदार्थ मेरे हाथ में हैं। फिर भी प्रभु को प्रसन्न देखकर अगम : पहुँच के बाहर : वर माँगकर अशोक हुआ चाहता हूँ।

व्याख्या : राजा ने सोचा बिना सेवा शुश्रूषा के बिना जप तप के चन्द मिनटों के समागम में इतनी बड़ी कृपा कि मुँह माँगा वर देने को तैयार हो गये। अतः मुनिजी कृपासिन्धु हैं। कृपासिन्धु सुनते रहे। पर आँख से नहीं देखा था। इसलिए कृपासिन्धु के दर्शन से धर्मार्थ काम मोक्ष मानों अपने हाथ में आगया। अतः बोला :

आप प्रभु हैं, समर्थ हैं और प्रसन्न हैं। इसलिए ऐसा वर मागूंगा जहाँ तक किसी की गति आजतक न हुई हो। और शोक रहित हो जाऊँगा।

दो. जरा मरन दुख रहित तनु, समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपु हीन महि, राज कलप सत होउ ॥१६४॥

अर्थ : मैं अजर अमर हो जाऊँ शरीर में कोई दुःख न हो। युद्ध में कोई न जीते। शत्रुहीन पृथ्वी पर सौ कल्प तक एकछत्र राज्य हो।

व्याख्या : शीर्यते इति शरीरम्। सो शरीर जरामरण रहित हो। यह महा दुर्गम वर है। जो आज तक किसी को न मिला। शरीर का नाम ही रोगायतन है सो दुःखरहित हो। प्राणीमात्र से अजेय हो जाऊँ। इस भाँति अलौकिक पराक्रम माँगा। राजकल्पशत से अखण्ड ऐश्वर्य माँगा। मालूम हो गया कि भीतर प्रौढ़ देहाभिमान है। और राज्य की उत्कट वासना है। चाह ही दुःख वृक्ष का दृढ़शक्तिक बीज है। चाह शेष रह जाने पर जो सुख है वह भी दुःख रूप है। ज्ञानी राजा चाह के शेष रह जाने से बड़ी भारी विपत्ति में पड़ना चाहता है।

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥
कालौ तुअ पद नाइहि सीसा। एक विप्र कुल छाड़ि महीसा॥१॥

अर्थ : तपस्वी ने कहा : एवमस्तु : ऐसा ही होगा परन्तु : एक कठिन कारण है। उसे भी सुन लो। एक ब्राह्मणकुल को छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणों में सिर झुकावेगा।

व्याख्या : तपस्वी ने वर तो दिया। पर साथ ही उसकी सिद्धि में एक कारण भी बतलाया। जिसे करना सहल नहीं था। कहने लगा कि मेरे वरदान से इतना होगा कि काल भी तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगा। औरों की गिनती ही क्या है। पर ब्राह्मणों पर वरदान का बल न चलेगा। अजर-अमर रोगरहित शरीर अजेयत्व शत्रु का अभाव सौ कल्प राज्य और कालविजय एक ही बात है। सबका अन्तर्भाव कालविजय में हो जाता है। सो उसके लिए तुम्हें यत्न नहीं करना है। मेरे तपबल से काल भी तुम्हें नमस्कार करेगा। परन्तु भय तुमको ब्राह्मण-कुल से है। कपटी मुनि ने देख लिया कि भानुप्रताप का राज्य बिना ब्रह्म शाप के जा नहीं सकता। अतः ब्राह्मणों से भय बतलाकर उसने ब्रह्मद्रोह का बीज बो दिया।

तप बल विप्र सदा बरिआरा । तिन्हके कोप न कोउ रखवारा ।।
जौ विप्रन वस करहु नरेसा । तौ तुव वस विधि विस्नु महेसा ।।२।।

अर्थ : तप के बल से विप्र सदा प्रबल रहते हैं। उनके क्रोध से कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। राजन् ! यदि ब्राह्मणों को वश में कर लो तो तुम्हारे वश में ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हो जावेंगे।

व्याख्या : मैं जो वर दे रहा हूँ। सो तप-बल से दे रहा हूँ। अतः मेरा वर भी तपोधन से ही कट सकता है। तप के बल से ब्राह्मण सदा बलवान् हैं। उनके कोप से मैं रक्षा नहीं कर सकता। तुमने जो अजेयत्व माँगा है सो तो तभी सम्भव है जब तुम ब्राह्मणों को वश कर लो। तब दूसरे का कौन कहे त्रिदेव तुम्हारे वश हो जायँगे। और सब मेरे वरदान से हो जायगा। तुम्हें अब केवल ब्राह्मणों से भय रह गया है। जैसे हो सके उन्हें वश में लाना तुम्हारा काम है।

चल न ब्रह्मकुल सुनु बरिआई । सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई ।।
विप्र श्राप बिनु सुनु महिपाला । तोर नास नहिं कवनेउ काला ।।३।।

अर्थ : मैं दोनों भुजा उठाकर सत्य कहता हूं कि ब्राह्मणकुल से जबरदस्ती नहीं चल सकती। राजा ! सुनले। ब्राह्मण के शाप के बिना तेरा नाश किसी काल में हो नहीं सकता।

व्याख्या : शस्त्रबल से संसार वश में हो जाता है। परन्तु ब्राह्मण शस्त्रबल से वश नहीं हो सकते। विश्वामित्र और वसिष्ठ के विरोध से यह सिद्ध हो गया है कि क्षात्रबल से ब्रह्मबल बहुत अधिक है। अतः ब्रह्मकुल पर बल काम नहीं देता। बात शीघ्र मन में नहीं आनेवाली है। अतः कहता है कि मैं दोनों भुजा उठाकर सत्य कहता हूँ। दोनों भुजा उठाकर कहना घोषणा करना है। यथा : भुजा उठाइ साखि संकर दै, कसम खाइ तुलसी भनी। विनय.। दोनों भुजा उठाकर कहना, सबको सवधान करने और अपने ऊपर दोष न आने देने के लिए है। इस बात पर इतना बल इसलिए देता है कि कहीं राजा समझ न ले कि यह मुझे ब्रह्मद्रोह के लिए उत्तेजित करता है। क्योंकि ब्रह्म द्रोह से वंश का ही नाश हो जाता है। यथा : वंश कि रह द्विज अनहित कीन्हें।

हरखेउ राउ वचन सुनि तासू । नाथ न होइ मोर अब नासू ।।
तव प्रसाद प्रभु कृपा निधाना । मो कहुँ सर्वकाल कल्याना ।।४।।

अर्थ : राजा उसका वचन सुनकर प्रसन्न हुआ : बोला : नाथ ! अब मेरा नाश न हो। आपकी कृपा से हे कृपानिधान प्रभु ! मेरा सदा कल्याण हो।

व्याख्या : बहुत से भय के कारण दूर हो गये। अब एक ब्रह्मकुल का कोप ही शेष रह गया। इसलिए राजा प्रसन्न हुआ। लाभात् लोभोपजायते। सौ कल्प से पेट नहीं भरा। अतः अब यह प्रार्थना कर रहा है कि मेरा कभी नाश न हो।

आप कृपानिधान भी हैं, समर्थ भी हैं और मुझपर आपकी कृपा भी है। तब मेरा सर्वकाल में कल्याण होना चाहिए।

दो. एवमस्तु कहि कपटमुनि, बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाव निज, कहहु त हमहिं न खोरि ॥१६५॥

अर्थ : उस कुटिल कपटमुनि ने एवमस्तु कहकर फिर कहा कि मेरा मिलना और अपना रास्ता भूलना यदि कहोगे तो मुझे दोष न देना।

व्याख्या : धर्मरुचि[1] से कपट मुनि डर रहा है कि कहीं राजा लौटकर उससे न कह दे या पुरोहित को न बता दे। नहीं तो सब बनी बनाई बात ही बिगड़ जायगी। और फिर वन में भी छिपकर न बच पायेंगे। इसलिए वह कुटिल मुनि राजा को सावधान किये देता है कि यदि तुमने मेरा मिलना या अपना भूलना किसी से कहा तो तुम्हारी खैर : भला : नहीं है। राजा को साकांक्ष देखकर कहता है :

ताते मैं तोहि बरजौं राजा। कहें कथा तव परम अकाजा ॥
छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी ॥१॥

अर्थ : इसी से राजन् मैं तुम्हें रोकता हूँ कि यह कथा कह देने से तुम्हारी बड़ी हानि होगी। इस कथा के छठें कान में पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा। मेरी वाणी सत्य है।

व्याख्या : कपट मुनि ने ऊपर कहा है कि मेरा मिलना और अपना भुलाना कहोगे तो फिर मेरा दोष नहीं। उसी बात को स्पष्ट करता है कि मैंने जो इस कथा के कहने से रोका है वह इसलिए कि इससे तुम्हारी बड़ी हानि होगी। तुमने वरदान माँगा है अपने लाभ के लिए और इस कथा की चरचा करने से जब तुम्हारी हानि होगी तो हमें दोष दोगे कि मुनिजी ने कैसा वरदान दिया कि मेरी ऐसी हानि हो गई। अतः सावधान किये देता हूँ। इस विषय की बात मुख से निकालना नहीं।

तीसरे पुरुष की जानकारी ही बात का छठे कान में पड़ना है। यहाँ छठा कान इसलिए कह रहा है कि जिससे राजा समझे कि मुनिजी मन्त्रभेद का दोष कह रहे हैं। मन्त्र बड़े महत्व का है अतः इस मन्त्रभेद का दोष भी बड़ा भारी होना प्राप्त है। यथा : षट्कर्णो भिधते मन्त्रः। किस प्रकार की होनि होगी उसे भी बतलाये देता है कि नाश ही हो जायगा। सत्य मम बानी कहने का भाव यह है कि अनुनय विनय से इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

यह प्रकटें अथवा द्विज सापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा ॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरिहर कोपहिं मनमाहीं ॥२॥

---

[1] राजा का मन्त्री।

अर्थ : इस बात के प्रकट होने पर अथवा ब्राह्मण के शाप से तुम्हारा नाश होगा। दूसरे उपाय से तुम्हारी मृत्यु नहीं हो सकती। चाहे शिव विष्णु मन में कुपित हो जाँय।

व्याख्या : अब दोनों बातों को समेटकर भली भाँति सावधान करता है। मेरा तुमसे मिलना न प्रकट होने पावे पहिली बात, ब्राह्मण का शाप न होने पावे दूसरी बात। विप्रशाप तो काल पाकर फलेगा। पर इस कथा के तो प्रकट होते ही नाश हो जायगा। मेरे वरदान के प्रभाव से शङ्कर और विष्णु भी तेरा कुछ बिगाड़ न सकेंगे। मन ही मन भले ही जला करें।

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा। द्विज गुर कोप कहहु को राखा ॥
राखै गुर जौ कोप विधाता। गुर विरोध नहिं कोउ जग त्राता ॥३॥

अर्थ : चरण पकड़कर राजा ने कहा कि सत्य है नाथ ! भला ब्राह्मण और गुरु के कोप से कौन रक्षा कर सकता है। विधाता के कोप से तो गुरु रक्षा करता है। गुरु के कोप से संसार में कोई रक्षा करनेवाला नहीं है।

व्याख्या : राजा ने कपटी मुनि को गुरु मान लिया। अर्थात् शिक्षा के लिए उसके शरण में गया। यथा : शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। गुरुकोप का अर्थ कपटी मुनि का कोप है। सत्य नाथ कहने का यह भाव है कि वाजिब बात है। सभी वर्णों के गुरु ब्राह्मण हैं और आप तो विशेषतः हमारे गुरु हैं। गुरु ही प्रधान रक्षक हैं। भगवान् की साक्षात् अनुग्रह शक्ति गुरु हैं। यदि वे ही कुपित हो जायँ तो रक्षा फिर कौन करेगा ? ब्रह्मदेव के कोप करने पर तो गुरु रक्षा करते हैं। यथा : जन्म हेतु सब कहँ पितु माता। कर्म सुभासुभ देइ बिधाता। दलि दुःख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना। सो गोसाइँ जेहि बिधि गति छेकी। सकै को टारि टेक जो टेकी।

जौं न चलब हम कहें तुम्हारें। होउ नास नहिं सोच हमारें ॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा ॥४॥

अर्थ : यदि मैं आपके आदेशानुसार वर्ताव न करूँ तो भले ही नाश हो जाय मुझे इसका सोच नहीं है। एक ही डर से मैं बहुत डर रहा हूँ कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा घोर होता है।

व्याख्या : राजा कहता है कि आपके कोप का मुझे डर नहीं है। क्योंकि मैं आपका आज्ञावशवर्ती हूँ। आपकी आज्ञा का उल्लंघनं करूँगा ही नहीं। यदि करूँ तो भले ही नाश हो। इसका सोच मुझे नहीं है। आप मेरे स्वामी मेरे पिता मेरे गुरु हैं। आपकी आज्ञा उल्लंघन करूँ तो नाश होना ही चाहिए।

डर दूसरी बात का है। ब्राह्मणों का शाप अति घोर होता है। रुष्ट होते ही नाश का शाप देते हैं। और वह अप्रतिक्रिय होता है। यथा : इन्द्रकुलिस मम सूल बिसाला। कालदण्ड हरिचक्र कराला। जो इन कर मारा नहिं मरई। विप्र रोष पावक सो जरई।

दो. होहिं विप्र बस कवन विधि, कहहु कृपा करि सोउ ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज, हितू न देखौं कोउ ॥१६६॥

अर्थ : अब कृपा करके यह बताइये कि किस विधि से ब्राह्मण वश हों। हे दीनदयाल ! तुम्हें छोड़कर संसार में अपना कोई हितू नहीं दिखाई पड़ता ।

व्याख्या : द्विज द्रोह का वीज उग गया। गुर सुर संत पितर महि देवा। करइ सदा नृप सबकर सेवा। वही राजा जो इससे पूर्व ब्राह्मणों का सेवक था आज स्वामी को अपना वश्य करने की विधि पूछता है। पहिले के हितू लोग तुच्छ दिखाई पड़ने लगे। केवल बातों के बल से कपटी मुनि बड़ा भारी हितू बन बैठा। यथा : तोहि सम हित न मोर संसारा। भाव यह कि जब आप कहते हैं कि ब्राह्मणों को वश करना तुम्हारा काम है तो मैं करने को तैयार हूँ। आप गुरु हैं। उपाय बतावें।

सुनु नृप विविध जतन जगमाहीं। कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं ॥
अहै एक अति सुगम उपाई। तहाँ परंतु एक कठिनाई ॥१॥

अर्थ : राजन् ! सुनो, संसार में अनेक प्रकार के उपाय हैं। पर वे कष्टसाध्य हैं और फिर भी फल का निश्चय नहीं। हो या न हो एक उपाय अत्यन्त सुगम है। वहाँ भी एक कठिनाई है।

व्याख्या : विधि यत्न उपाय ये सब समानार्थक शब्द हैं। संसार में यत्नों का घाटा नहीं है। पर उनके करने में बड़ी कठिनता है। फिर भी सफलता निश्चित नहीं। भाव यह कि मैं जो उपाय बतलानेवाला हूँ वह सुसाध्य भी है और निश्चित फलप्रसू है।

सरल पुरुष का तबतक पतन नहीं होता जबतक वह कुटिल न हो जाय। अतः पतन चाहनेवाले, हानि लाभ दिखलाकर उसे कुटिलता की ओर अग्रसर करते हैं। अतः इसने पहिले राजा को मन्त्री से भी बात छिपाना सिखाया। अब छल : माया : को स्थान देने के लिए विवश कर रहा है। बड़े भारी असाध्य लक्ष्य का लोभ दिखलाकर। और उसमें एकमात्र बाधक के लिए सरल उपाय बतलाकर। उसमें ऐसी कठिनता बतलाता है जो माया से ही साध्य हो।

मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई ॥
आजु लगें अरु जबतें भएऊं। काहू के गृह ग्राम न गएऊं ॥२॥

अर्थ : वह युक्ति मेरे ही वश की है। और मेरा जाना तुम्हारे नगर से हो नहीं सकता। जब से मैं उत्पन्न हुआ तब से लेकर आज तक मैं किसी के गाँव या घर कभी गया नहीं।

व्याख्या : वह युक्ति मेरे लिए तो सुगम है। पर दूसरे के बूते की नहीं है। मैं ही उसे कर सकता हूँ। पर मैं तुम्हारे नगर में जा नहीं सकता। तुरन्त जाने के लिए तैयार होने से वह श्रद्धा राजा के हृदय में नहीं होती जो इनकार करने से हुई। क्योंकि श्रद्धा सदा दुर्लभ वस्तु में होती है।

किसी के नगर या गृह में जाना मेरे नियम के विरुद्ध है। सकाम पुरुष ही नगर या दूसरे के घर में जाया करते हैं। मुझे लोकरञ्जन में कोई सिद्धि दृष्टि नहीं आती। यथा : कहहु कवन सिधि लोक रिझाये। कपटी मुनि नगर या दूसरे के घर जाने में कोई ऐसी वाधा नहीं बतलाते जो दुरुल्लंघ्य हो। केवल लोकमान्यता और ख्याति से बचने के लिए अपने ही नियत किये हुए कुछ नियमों में से एक इसे बतला रहे हैं।

जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू॥
सुनि महीस बोलेउ मृदुबानी। नाथ निगम अस नीति बखानी॥३॥

अर्थ : यदि मैं नहीं जाता हूँ तो तुम्हारा काम बिगड़ता है। आज बड़ा असमंजस आ पड़ा। यह सुनकर राजा कोमल वाणी बोला कि नाथ! ऐसी नीति श्रुतिसम्मत है।

व्याख्या : आज भक्तवत्सलता के कारण प्रयोजन आ पड़ा। जाता हूँ तो नियम भङ्ग होता है। नहीं जाता हूँ तो भक्त का काम बिगड़ता है। मेरा नियम भङ्ग न हो। और भक्त का काम भी बन जाय। इन दोनों बातों का सामञ्जस्य नहीं बैठता। इतने दिनों में आज ही मैं असामञ्जस्य में फँसा। भाव यह कि अब राजा के विनयमात्र की देर है। नियम भङ्ग होते देर न लगेगी। सो राजा विनय भी करने लगे। और श्रुतिसम्मत नीति की दोहाई देने लगे।

लोभ से अन्धा करके ही धूर्त्त संसार को ठगते हैं। आँख खोलकर यदि देखा जाय तो जनता को वही धूर्त्त वश करने में समर्थ होता है जो अपने दिये हुए प्रलोभन का विश्वास जनता को करा देने में समर्थ होता है। बड़े बड़े बुद्धिमान् ऐसे ही प्रलोभन से अन्धे होकर महाधूर्त्त को महात्मा मानकर मारे जाते हैं। स्वार्थ में अन्धा होकर राजा ने यह समझा कि केवल नीतिमत्ता तथा सरलतादि गुण को देखकर घण्टे भर में एक महाविरक्त को ऐसी प्रीति कैसे उत्पन्न हो सकती है कि वह महा दुर्लभ वर देकर अपने तप को क्षीण करे। और अपने जन्म भर के नियम को तोड़ दे।

बड़े[1] सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥४॥

अर्थ : बड़े लोग छोटों पर स्नेह करते हैं। पर्वत अपने सिर पर सदा तृण धारण किये रहता है। अगाध समुद्र के सिर पर फेन बहता है। पृथ्वी सदा सिर पर धूलि धारण करती है।

व्याख्या : सिर पर तृण धारण दासत्व स्वीकार के लिए किया जाता है। पूर्व काल में जब दासप्रथा थी तो लोग अपने को बेचते थे वे सिर पर तृण धारण करते थे। सो पर्वत ऐसा अशुभ वेष स्वीकार करते हैं। पर अपने आश्रित को सिर

---

[1] यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है।

चढ़ाये रहते हैं। भाव यह कि पर्वत की गणना परहितैकव्रत सन्तों में है। यथा : सन्त विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह की करनी। सो अपने आश्रितों के लिए दासता का चिह्न धारण करने में सङ्कोच नहीं करना चाहिए।

समुद्र अगाध है। अपार है। बड़े बड़े पुरुषार्थियों का पुरुषार्थ उसमें नहीं चलता। पर आश्रित होने के कारण फेन अवस्तु होने पर भी उसके सिर पर विचरण करता है। आप भी तपोनिधि हैं। आप की महिमा अगाध और अपार है। मैं आपका आश्रित हूँ। अवस्तु हूँ! मेरे हित को अपनी तपस्या के ऊपर स्थान दीजिये। मेरे कल्याण की ओर देखिये। अपनी महिमा पर दृष्टिपात न कीजिये। समुद्र सदा फेन को नहीं धारण करता। इसलिए सदा या सन्तत शब्द नहीं दिया।

पृथ्वी जैसा गुरु कौन होगा और रेणु सा लघु कौन है ? आश्रित होने के कारण से ही पृथ्वी उसे सदा सिर पर धारण करती है। इसी भाँति आप गुरु हैं। आप ही मुझ जैसे लघु की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हैं। दोनों ओर से केवल बातों का जमा खर्च हो रहा है। कपटी मुनि केवल बातों के भरोसे भानुप्रताप का नाश करके अपना राज्य पुनः प्राप्त करना चाहता है। और राजा भानुप्रताप भी बातों के भरोसे उससे एक कल्प तक शत्रुहीन पृथ्वी को भोगना चाहता है। कहीं मुनिजी को यह ख्याल न हो कि इस युक्ति के बल पर मेरे सिर पर चढ़ना चाहता है। इसलिए चरण पकड़ता है।

दो. अस कहि गहे नरेस पद, स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु, सज्जन दीनदयाल ॥१६७॥

अर्थ : ऐसा कहकर राजा ने पैर पकड़ लिया। और कहा स्वामिन् कृपा कीजिए। आप सज्जन हैं, दीनदयाल हैं, मेरे लिए दुःख सहिए।

व्याख्या : आशा के दासों को गति दिखलाते हैं। सम्राट् होकर आशा की डोरी में पशुओं की भाँति बँधा हुआ दीन हो रहा है। यही स्वार्थान्धता उसके नाश का कारण होगी। उसने कपटी मुनि का चरण पकड़ लिया। सन्त सहहिं दुःख परहित लागी : यह सन्त का स्वभाव है। अतः आप मेरे लिए दुःख सहिये। आप दीनदयाल हैं, मैं दीन हूँ, मेरे ऊपर दया करिये।

जानि नृपहिं आपन आधीना। बोला तापस कपट प्रवीना ॥
सत्य कहौं भूपति सुनु तोहीं। जग नाहिन दुर्लभ कछु मोहीं ॥१॥

अर्थ : राजा को अपने अधीन जानकर कपटचतुर तपस्वी बोला राजन्! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ। संसार में मुझे कुछ भी दुर्लभ नहीं है ?

व्यांख्या : कपटमुनि जब राजा में अत्यन्त श्रद्धा देखता है तब अपनी महिमा सूचक एक बात कहता है। फिर उसके परिपाक के लिए समय देता है। यथा : सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई। सुनु सति भाउ कहौं महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला। जब राजा में फिर श्रद्धा का उद्रेक

उठता है तब उससे अधिक महिमा सूचक बात कहता है। यथा : देखा स्ववस कर्म मन बानी। तब बोला तापस बकध्यानी। नाम हमार एकतनु भाई। अब उसी बात को जमाने के लिए बातें करता जाता है। फिर जब देखता है कि राजा की श्रद्धा बढ़ती ही जाती है। अब तो मेरे अधीन हो गया। जो चाहूँगा कराऊँगा। तब कपट में प्रवीण तपस्वी बतलाता है कि मुझे संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह बात मैं तुमसे कहता हूँ। दूसरे से अपना भेद नहीं खोलता। सत्य कहौं कहने का भाव यह है कि यह शङ्का छोड़ दो कि कदाचित् मेरा उपाय भी निष्फल हो। वह निष्फल हो नहीं सकता। मेरे लिए सब कुछ सुलभ है।

अवसि काज मैं करिहौं तोरा। मन तन वचन भगत तें मोरा॥
जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ॥२॥

अर्थ : मैं तुम्हारा काम अवश्य करूँगा। क्योंकि तुम मेरे मनसा, वाचा, कर्मणा भक्त हो। योग युक्ति, तप और मन्त्र का प्रभाव गुप्त रखने से ही फलता है।

व्याख्या : मेरी किसी से भेंट नहीं हुई। इससे मैंने किसी का काम किया नहीं। परन्तु तुम्हारा काम अवश्य करूँगा। जो मनसा वाचा कर्मणा भक्त होता है उसके वश में ईश्वर भी रहते हैं। अतः मेरा वश होना अनुचित भी नहीं है। अपने भक्त पर सभी कृपा करते हैं।

छिपाने पर बड़ा जोर देता है। जितने कपटी हैं वे बात छिपाने पर बल देते हैं। क्योंकि प्रकट होने पर उनकी माया चल नहीं सकती। अतः कहता है कि काम तो मैं करूँगा। पर बात को छिपाना तुम्हारा काम है। शास्त्र का प्रमाण देता है कि इस प्रकार छिपाना शास्त्रानुमोदित है। छः कानों में पड़ने से मन्त्रभेद हो जाता है। अपने मुख से पुण्यकर्म के कहने से वह नष्ट हो जाता है। यथा : छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती। इसलिए योग, युक्ति, तप और मन्त्र के प्रभाव को छिपाने का शास्त्र आदेश देता है।

जो नरेस मैं करौं रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई॥३॥

अर्थ : राजन् यदि मैं रसोई करूँ और तुम परोसो मुझे कोई न जाने तो उस अन्न को जो भोजन करेगा सो तुम्हारी आज्ञा मानेगा।

व्याख्या : इसी युक्ति में कपट भरा है। पर अन्धभक्त राजा का उस ओर ध्यान नहीं हैं। राजा के भोजन में यदि कोई चूक हो जाय तो रसोईदार और परोसनेवाले की चूक समझी जाती है। उसके लिए राजा को कोई दोषी नहीं बतलाता। अतः कहता है कि तुम परोसो और मुझ रसोईदार को कोई न जाने। अर्थात् ऐसी अवस्था में जो चूक होगी उसका जिम्मेदार राजा को छोड़कर और कोई हो नहीं सकता। सभी समझेंगे कि यदि राजा की सम्मति न थी तो रसोईदार गुप्त क्यों रक्खा गया? इसलिए कहता है कि तुम परोसो मुझे कोई न जाने। तब फल यह होगा कि जो अन्न खाय वही वश हो जाय।

पुनि तिनके गृह जेवैं जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ।।
जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संवत भरि संकलप करेहू ।।४।।

अर्थ : फिर उनके घर जो भोजन करेगा राजन् ! वह भी तेरे वश हो जायगा। अतः जाकर यही उपाय करो और वर्ष भर के लिए संकल्प छोड़ दो।

व्याख्या : उस अन्न में ऐसा वशीकरण रहेगा कि खानेवाले के घर पर जो कभी खावे वह भी तेरे वश हो जायगा। मेरे पता न लगने का जाकर उपाय करो। क्योंकि नियमानुसार कार्य होते न देखकर रसोईदार आदि को जानने का लोग यत्न करेंगे कि यह कौन नया रसोईदार आया है जिसके सामने हमारी पूछ नहीं है। मन्त्री आदि कर्मचारी भी चौंकेंगे। संवत् भर का संकल्प पहिले ही करा देता है। जिसमें राजा संकल्पभ्रष्ट भी हो और ब्राह्मण समझें कि यह संवत् भर ब्राह्मण भोजन की प्रतिज्ञा करके ब्राह्मणमात्र को पतित करना चाहता था।

दो. नित नूतन द्विज सहस सत, वरेहु सहित परिवार।
मैं तुम्हरे संकलप लगि, दिनहि करवि जेवनार ।।१६८।।

अर्थ : एक लाख नये ब्राह्मणों को परिवारसहित नित्य वरण करना और मैं तुम्हारे संकल्प के लिए नित्य जेवनार बनाऊँगा।

व्याख्या : एक लक्ष ब्राह्मणपरिवार एक दिन भोजन करें। दूसरे दिन नये लक्ष ब्राह्मणों का परिवार भोजन करे। इस भाँति सालभर में पृथ्वीमण्डल के सब ब्राह्मणपरिवार भोजन कर लेंगे। और मैं बराबर साल भर रसोई बनऊँगा। मैं रसोई बनाने का कष्ट उठाऊँ, तुम परोसने का कष्ट उठाओ। राजकर्मचारी नये नये ब्राह्मण परिवार को नित्य यहाँ पहुँचाने का प्रबन्ध करें। यहाँ दिन का अर्थ नित्य है। यथा : प्रनवौं दीनबन्धु दिन दानी। अथवा यह अर्थ है कि इतने लोगों का जेवनार मैं दिन में ही बना डालूँगा। रात न होने पावेगी।

एहि विधि भूप कष्ट अति थोरें। होइहहिं सकल विप्र बस तोरें ।।
करिहहिं विप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सह जेहिं बस देवा ।।१।।

अर्थ : राजन् ! इस विधि से अत्यन्त थोड़े कष्ट में सब ब्राह्मण तुम्हारे वश हो जावेंगे। ब्राह्मण होम, यज्ञ और पूजा करेंगे। उस प्रसङ्ग से देवगण सहज में ही वश हो जावेंगे।

व्याख्या : इस असाध्य कार्य के लिए एक साल कोई चीज नहीं है। आज़तक ब्राह्मणों को कोई वश न कर सका। राजाओं का नाम इसीलिए विशाम्पति है। वे वैश्यों के मालिक हैं ब्राह्मणों के नहीं। अब तुम ब्राह्मणों के मालिक हुआ चाहते हो। रसोई बनाने का कष्ट तो मुझे है। तुम्हें तो केवल परोसना है।

ब्राह्मणों की दी हुई आहुति, हवि और नैवेद्य देवता स्वीकार करते ही हैं। सो स्वीकार करते ही वे तुम्हारे वश हो जावेंगे। उनके लिए तुम्हें कुछ करना नहीं पड़ेगा। क्योंकि ब्राह्मण स्वयं देवता हैं। उनके अधीन मन्त्रनिकाय है और

देवताओं के अधीन संसार है। यथा : देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः। ते देवा ब्रह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः। विना देवलोक को जय किये ही सब देवता तुम्हारे वश में हो जावेंगे। तुमने आजतक सप्तद्वीप को ही वश किया है। देवलोक में तुम्हारा कुछ भी प्रभुत्व नहीं है। सो वहाँ भी तुम्हारा प्रभुत्व हो जायगा।

और एक तोहिं कहौं लखाऊ। मैं एहि वेष न आउब काऊ॥
तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनव मैं करि निज माया॥३॥

अर्थ : और मैं तुम्हें एक पहिचान भी बताये देता हूँ कि मैं इस वेष से कभी न आऊँगा। राजा मैं तुम्हारे उपरोहित को अपनी माया द्वारा हर लाऊँगा।

व्याख्या : पहिचान बताने की आवश्यकता यह पड़ी है कि युक्ति के सफल करने के लिए मैं इस वेष से नहीं आऊँगा। अपने स्थान पर असुर को भेजने का मार्ग परिष्कृत करता है।

माया सबकी अलग अलग होती है। सबसे बड़ी राम की माया है। यथा : सुनु खग प्रबल राम की माया। उसके बाद त्रिदेव की माया है। यथा : विधि हरिहर माया बड़ि भारी। फिर देवकी माया यथा : कछुक देव माया मति सोई। ऋषि की माया यथा : विधि विस्मय दायक विभव मुनिवर तप बल कीन्ह। फिर असुर की माया यथा : जब कीन्ह तेहि पाखंड। भए प्रकट जंतु प्रचंड। फिर मनुष्य की माया। इहाँ न लागहिं राउरि माया। सो यहाँ आसुरी और मानुषी दोनों माया काम कर रही हैं। पुरोहित का हरण करना आदि स्पष्ट आसुरी माया है। उसे वह अपनी माया बतलाता है। जिसमें राजा समझे कि यह सब तपोबल से हो रहा है।

तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहौं इहाँ बरष परवाना[1]॥
मैं धरि तासु वेष सुनु राजा। सब विधि तोर संवारब काजा॥३॥

अर्थ : तप के बल से उसे अपने समान बनाकर यहाँ एक वर्ष तक रक्खूँगा। राजन् सुनो ! मैं उसका वेष बनाकर, सब भाँति से तुम्हारे काम को सँवारूँगा।

व्याख्या : उपरोहित से भय है : क्योंकि उपरोहित ऐसे होते थे जिनका दबाव राजा पर होता था। राज्य की तथा राजा की रक्षा का भार पुरोहित पर होता था। पुरोहित का पद मन्त्री से भी बड़ा है। इसीलिए अथर्ववेदी[2] पुरोहित बनाने का आदेश है जो मन्त्रादि से भली भाँति रक्षा कर सकता हो। वही धर्माध्यक्ष है।

---

[1] १. मोनुनासिको वो वा : इस सूत्र से परिमाण का परवान रूप हुआ। 'इ का अ' और ण के न होने के नियम पहले दिये जा चुके हैं।

[2] २. शुक्रनीति में पुरोहित के कार्य और अधिकार का विशद वर्णन है। गीतावली में वसिष्टजी को अथर्वणी कहा है। यथा : आपु वसिष्ठ अथर्वणी महिमा जग जानी।

नियमानुसार वह ब्राह्मणभोजन की देखरेख करेगा। उसे रसोई देखने से तो राजा भी नहीं रोक सकता तब विना भेद खुले न रहेगा।

उपरोहित बनकर रहने से धर्मविभाग अपने हाथ में रहेगा। दूसरा कोई निरीक्षक न रह जायगा। एक दिन बात तो फूटेगी तब धरपकड़ होगी। तब अपने ऊपर विपत्ति न आवे पकड़े जाने पर भी राजा अपना पुरोहित समझकर मुझे छोड़ दे। इसलिए कहता है कि तुम्हारे पुरोहित को मैं अपने ऐसा बनाकर यहाँ साल भर रक्खूँगा। राजा के समझाने के लिए यह बात है कि जब मैं सालभर तुम्हारे नगर में रहूँगा तो इस बीच में देवता मुनि मेरे दर्शन को आवेंगे। वे मुझे यहाँ न पाकर निराश होकर लौटेंगे। इसलिए यहाँ मेरा प्रतिनिधित्व तुम्हारा पुरोहित करेगा।

मैं तुम्हारे पुरोहित के वेष से तुम्हारे नगर में रहूँगा। जिसमें किसी को विशेषतः धर्मरुचि मन्त्री को नवागत पुरुष समझकर सन्देह न हो।

गै निसि बहुत सयन अब कीजे। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे॥
मैं तप बल तोहि तुरंग समेता। पहुँचैहौं सोवतहि निकेता॥४॥

अर्थ : रात बहुत गई अब सोओ। मेरी भेंट तुमसे राजन्! तीसरे दिन होगी। मैं तप बल से तुम्हें घोड़े समेत सोते हुए ही घर पहुँचा दूँगा।

व्याख्या : कालकेतु के आने का समय जानकर कहता है कि बातचीत में रात अधिक बीत गई। अब सो जाओ। अपना मिलन राजा से तीसरे दिन बतलाता है। समय मिलने से कार्य में विघ्न होने का भय रहता है। यथा : अदानस्य प्रदानस्य कर्त्तव्यस्य च कर्मणः। क्षिप्रमेव प्रकर्त्तव्यं कालः पिबति तद्रसम्। लेना देना या जो काम करना हो उसमें जल्दी करनी चाहिए। नहीं तो उसके रस : आनन्द को काल पी जाता है। इसी नीति के बल पर उसे त्वरा है। दूसरे दिन राजा राजधानी में पहुँचेगा। एक लक्ष ब्राह्मणों के वरण की व्यवस्था करेगा। तब तक तीसरे दिन मिलने के लिए यह कह ही रहा है। राजा को सन्देह हो सकता है कि क्या कल प्रातःकाल भेंट न होगी। इसलिए स्वयं कहे देता है कि सोए ही सोए तुम अपने घर पहुँच जाओगे। घोड़ा भी पहुँच जायेगा। पश्य मे तपसो बलम्। देखो मेरे तप का बल।

दो. मैं आउब सोइ वेष धरि, पहिचानेहु तब मोंहि।
जब एकांत बुलाइ सब, कथा सुनावौं तोहि॥१६९॥

अर्थ : मैं वही वेष धरकर आऊँगा। तब मुझे पहिचान लेना जब मैं एकान्त में बुलाकर यह सब कथा तुम्हें सुनाऊँ।

व्याख्या : उपरोहित कब बदल गये। इसका अन्दाज लगना तुम्हें कठिन होगा। धोखे में कहीं तुम पुरोहित से भेद न खोल दो। इसलिए सावधान किये देता हूँ कि जब मैं पुरोहित का वेष धारण कर लूँगा तो तुम्हें एकान्त में बुलाकर यह

सब कथा सुनाऊँगा। तब तुम समझना कि मैं आगया। और मेरी सम्मति से काम करना।

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल ग्यानी॥
श्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई॥१॥

अर्थ : राजा ने आज्ञा मानकर शयन किया। कपटी मुनि जाकर अपने आसन पर बैठा। राजा थका था घोर नींद में सो गया। वह: कपट मुनि कैसे सोए। उसे तो चिन्ता बढ़ गई।

व्याख्या : राजा सोना नहीं चाहता था। स्वामी के पहिले सेवक कैसे सोए। पर आज्ञा सोने के लिए हुई। वह भी टाली नहीं जा सकती। इसलिए सोए। मुनि जी सोते नहीं रात को समाधि लगाते हैं। इसलिए जाकर आसन पर बैठे। राजा के शीघ्र निद्रा आने का कारण था। मुनि की कृपा से बीतचिन्त हो गये थे। और थके भी खूब थे। कपटी मुनि के निद्रा न आने का भी यथेष्ट कारण था। जिसके बल पर राजा को सोते हुए ही घर पहुँचाने की प्रतिज्ञा की है। वह यदि न आया तो क्या होगा? महा सर्प अपनी कुटी में सो रहा है। यदि किसी भाँति सावधान हो गया तो फिर रक्षा का कोई उपाय नहीं।

परिपक्व कर्म का भोग से क्षय हो जाने पर जब दूसरे कर्मों का परिपाक नहीं हुआ रहता तो इसी बीच में मन बुद्धि की गोद में सो जाता है। शरीर में प्राण का प्रचार बना रहता है। मोहात्मिका अविद्या आवृत कर लेती है तब जीव चिति परिच्छेदक उपाधि के लय से परिपूर्णता की सम्प्राप्ति से आनन्दित होती है। इसी को सोना कहते हैं।

कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहि सूकर होइ नृपहिं भुलावा॥
परम मित्र तापस नृप केरा। जानै सों अति कपट घनेरा॥२॥

अर्थ : कालकेतु नाम का राक्षस वहाँ आया। जिसने सूकर बनकर राजा को भुलवाया था। वह तपस्वी राजा का बड़ा मित्र था। अत्यन्त घनी माया जानता था।

व्याख्या : जिसकी प्रतीक्षा में कपट मुनि बैठे थे वह आ गया। सूकर बनकर राजा को मार्गभ्रष्ट इसी ने किया था। राजा के सामने कोई पुरुषार्थ चलता नहीं था। तो इतना ही किया कि रास्ता भुलवा दिया।

यह कपटी मुनि का बड़ा मित्र था। समानशीलव्यसनेषु मैत्री : समान शील और समान व्यसनवालों में मैत्री होती है। शत्रु के शत्रु से मैत्री होना स्वाभाविक है। मुनि कपटी और राक्षस मायावी दोनों राजा के शत्रु हैं अतः परम मित्रता होना प्राप्त ही था। यह कालकेतु बड़ी माया जानता था। इसी के माया के बल पर कपटी मुनि की सब सिद्धाई अवलम्बित थी। उपरोहित को हरण करके उसे अपने आश्रम में रखना। और पुरोहित का वेष धर के राजा से मिलना। नित्य एक लाख ब्राह्मण-

परिवारों के भोजन योग्य रसोई बनाना। सोते हुए राजा को घर पहुँचाना आदि जितनी बातें कपटी मुनि ने अपने तपबल से करने को कहा था वह सब कालकेतु की माया बल के भरोसे कहा था।

तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव दुखदाई॥
प्रथमहिं भूप समर सब मारे। विप्र संत सुर देखि दुखारे॥३॥

अर्थ : उसके सौ बेटे और दस भाई थे। सबके सब बड़े खल थे। युद्ध में अत्यन्त अजेय थे। और देवताओं को दुःख देते थे। सो विप्र सन्त और देवों को दुःखी देखकर पहिले ही राजा ने उन सबों को लड़ाई में मार डाला था।

व्याख्या : मित्रता का कारण सुस्पष्ट करते हैं। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। राजा भानुप्रताप दोनों का शत्रु था! कपटी मुनि का राज्य ले लिया था। और कालकेतु का निर्वंश कर दिया था। दोनों भानुप्रताप के भय से घोर वन में छिपे हुए दिन काटते थे। कपटी मुनि तपस्वी बने रहते थे। और कालकेतु सूकरादि अनेक रूप धारण करके किसी भाँति दिन काटता था। भानुप्रताप ने संग्राम में देवों से भी दुर्जेय कालकेतु के भाई और बेटों को मार डाला था। रिपु रिन रंचन राखब काऊ। सो ये दोनों शत्रु बचे हुए थे।

तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र विचारा॥
जेहि रिपुछय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जान कछु राऊ॥४॥

अर्थ : उस खल ने पिछला वैर सँभाला। तापस-नृप : कपटी मुनि : से मिलकर मन्त्र विचार किया। जैसे शत्रु का नाश हो वही उपाय रचा। होनहार के वश राजा को कुछ पता नहीं चला।

व्याख्या : अकेले होने से वैर ढीला पड़ गया था। एक साथी और मिल जाने से वैर को सँभाला। कपटी मुनि और कालकेतु दोनों ने मिलकर मन्त्रणा की। और उपाय रचा कि भानुप्रताप को मृगया का व्यसन है। दूर-दूर तक मृगया के लिए जाता है। कभी न कभी इस वन में भी आवेगा ही। तब कालकेतु सूकर बनकर उसको वन में भुलवाए। इस वन में यही जलाशय है और केवल कपटी मुनि का ही आश्रम है। अतः उसे यहाँ छोड़कर दूसरी जगह त्राण मिलनेवाला नहीं है। तब कपटी मुनि अपनी माया फैलाये और उसे ईप्सित वरदान देने के व्याज से उपर्युक्त कार्यवाही के लिए तैयार करे। तब कालकेतु आकाशवाणी करके ब्राह्मणों से शाप दिलावे। तब कपटी मुनि सब राजाओं के यहाँ पत्र भेजकर उन्हें उत्साहित करें कि शापित राजा के जीतने में सुभीता है। और वे सेना लेकर राजा पर धावा करें। जिसमें राजा का सर्वनाश हो और इस भाँति बदला चुका लें।

राजा बड़ा सावधान था! पर भावीवश उसे कुछ पता न लगा। भाव यह कि उसने कालकेतु और तपस्वी वेषधारी राजा के खोजवाने का यत्न बहुत किया था। परन्तु पता न लग सका। कालक्रम से बात पुरानी हो गई। और अब कोई उस ओर ध्यान नहीं देता था।

दो. रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिअ न ताहु ।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहिं, सिर अविसेषित राहु ॥१७०॥

अर्थ : तेजस्वी शत्रु यदि अकेला भी हो तो उसे छोटा नहीं समझना चाहिए। राहु का शिरमात्र बचा हुआ है। फिर भी आजतक सूर्य और चन्द्रमा को दुःख देता है।

व्याख्या : तेजवंत लघु गनिअ न रानी : अकेला राजा सोया पड़ा है। फिर भी कपटी मुनि और कालकेतु उसके वध का साहस नहीं करते। राजा के छः अङ्ग हैं। उनमें से पाँच मन्त्री आदि से हीन राजा यहाँ अकेला है। इसीसे 'सिर अवसेषित राहु से' उपमा दी। सूर्य-चन्द्र स्थानीय कालकेतु और कपटीमुनि के ग्रास करने में अर्थात् निस्तेज करने में अकेले समर्थ हैं।

तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयउ सुखारी ॥
मित्रहि कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥१॥

अर्थ : तपस्वी राजा अपने सखा को देखकर हर्षित होकर उठ के मिला और सुखी हुआ। तब मित्र ने सब कथा सुनायी। राक्षस सुख पाकर बोला।

व्याख्या : तपस्वीराजा शब्द का प्रयोग कपटी मुनि के लिए ही किया गया है। जहाँ मुनि बनकर कपट करता है वहाँ कपटी मुनि कहते हैं। और जहाँ राजा-सा व्यवहार करता है वहाँ तपस्वी राजा लिखते हैं। यह बैठा हुआ अपने मित्र कालकेतु की बाट जोह रहा था, लेटा तक नहीं। उसे देखकर आदर से उठा और प्रेम से आलिङ्गन करके सुखी हुआ कि अब काम बन जायगा।

भानुप्रताप का आना और जो जो बातें उससे हुईं सो सब कह सुनाया। क्योंकि आगे का काम सब उसी को करना है। एक बात कहने में छूट जाने से बात बिगड़ जाती है। कालकेतु के आने से कपटी मुनि सुखी हुए। और सब कथा सुनकर कालकेतु सुखी हुआ।

अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥
परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिधु औषध बिआधि बिधि खोई ॥२॥

अर्थ : सुनो राजा यदि तुम मेरे कहने के अनुसार चले तो अब शत्रु को मैं ठीक कर लूँगा। सोच छोड़कर अब तुम जाकर सोओ। बिना दवा के ही ब्रह्मा ने रोग नष्ट कर दिया।

व्याख्या : कपटी मुनि को बड़ा सोच था। निद्रा नहीं आती थी। यथा : सो किमि सोच सोच अधिकाई। इसलिए कहता है : परिहरि सोच रहहु तुम सोई। यह राजा नहीं है व्याधि है। हम लोगों को बड़ा कष्ट दिया। कहीं हम लोगों का प्रचार ही नहीं होने देता था। यथा : प्रजापाल अति वेदविधि कतहुँ नहीं अघलेस। जब इससे अधिक वीर्यवान् औषध मिले तब यह मारा जा सके। उसी औषध की खोज में हमलोग थे। सो विधि ने ऐसी विधि बैठा दी कि यह निश्चय ब्रह्मशाप से

नष्ट हो जायगा। तुमने मेरा कहना किया। अब शत्रु नहीं बच सकता : कालकेतु ने ही कपटी मुनि को उस विधि से बात करने की सलाह दी थी। जिस विधि से उसने राजा से बातें कीं।

कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथें दिवस मिलब मैं आई॥
तापस नृपहिं बहुत परितोषी। चला महाकपटी अतिरोषी॥३॥

अर्थ : कुल के सहित शत्रु की जड़ को धो बहाकर चौथे दिन मैं आकर मिलूँगा। तपस्वी राजा को बहुत कुछ ढाढ़स बँधाकर महाकपटी और क्रोधी चला।

व्याख्या : कालकेतु अपने मित्र से बिदा होता है। जड़ के बह जाने पर मकान गिरते देर नहीं लगती। सो चौथे दिन ब्राह्मण शाप के द्वारा इसकी जड़ धो बहाऊँगा। फिर इसके राज्य की इमारत के गिरते देर न लगेगी। कोई भी निमित्त पाकर नष्ट हो जायगा। विप्र-गुरु-पूजा ही इसकी जड़ है। उसी को नष्ट कराकर चौथे दिन मैं आकर तुमसे मिलूँगा।

तपस्वी राजा को बड़ी चिन्ता थी कि क्या जाने काम किसी विघ्न के उपस्थित होने से न बने तो हमारी क्या दशा होगी? इसलिए कालकेतु ने बहुत ढाढ़स बँधाया कि यह दाँव खाली नहीं जा सकता। और यदि खाली भी जाय तो भी तुमपर आँच न आवेगी राजा तुम्हें अपना पुरोहित समझेगा।

भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचाएसि छन माँझ निकेता॥
नृपहि नारि पहिं सैन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई॥४॥

अर्थ : भानुप्रताप को घोड़े के समेत एक क्षण में घर पहुँचाया। राजा को रानी के पास सुलाकर अश्वशाला में घोड़े को साजकर बाँध दिया।

व्याख्या : पहिला काम यही किया कि राजा को घर पहुँचाया। जिसमें राजा का विश्वास और दृढ़ हो। सत्तर योजन राजा को घोड़े के सहित क्षणभर में पहुँचाया और राजा की नींद नहीं खुली। यह आसुरी माया है। इतना कर सका परन्तु राजा को मार न सका। भारतवर्ष में एक विद्या थी बला-अतिबला, उसके जानकार को कोई सोते में मार नहीं सकता था। अथवा उस समय के असुर भी सोते हुए शत्रु को मारना अनुचित समझते थे।

भीतर महल में राजा को ले जाकर जहाँ सोते थे सुला दिया। पहरेदारों को या रानी को पता नहीं। घोड़े को घोड़सार में जाकर बाँधा जिससे राजा जब आवे घोड़े को कसा कसाया पावे।

दो. राजा के उपरोहितहि, हरि लै गयउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि खोह महँ, माया करि मति भोरि॥१७१॥

अर्थ : तब राजा के उपरोहित को हरण करके ले गया। उसे पहाड़ की कन्दरा में माया से उसकी बुद्धि भोरी करके रख दिया।

व्याख्या : दूसरा काम यह किया कि पुरोहित को हटाया। उसकी बुद्धि माया

द्वारा भोरी करके उसे पहाड़ की कन्दरा में रख दिया। मति भोरी कर दी कि कन्दरा में ही घूमा करे बाहर न निकल सके। उसे यही न मालूम हो कि मैं कौन हूँ और कहाँ पर हूँ। बुद्धि ठीक रहती तो सम्भव है कि पुरोहित कोई ऐसा उपाय करता जिससे शत्रु की कार्यसिद्धि में विघ्न उपस्थित हो।

आपु बिरचि उपरोहित रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा॥
जागे नृप अनभएँ बिहाना। देखि भवन अति अचरजु माना॥१॥

अर्थ : अपना रूप उपरोहित सा बनाकर उसकी अनुपम शय्या पर जाकर लेट गया। प्रातः काल का अनुभव करके राजा जगे। सो घर देखकर अत्यन्त आश्चर्य माना।

व्याख्या : कपटी मुनि अपने आश्रम में ही रहे। पुरोहित के स्थान को कालकेतु ने दखल किया। उपरोहित की जैसी शय्या थी वैसी राजा की नहीं थी। इसलिए अनूप कहा। इससे राजा का नीतिनैपुण्य और धर्मबुद्धि सूचित हुई। राजा के यहाँ पुरोहित का बड़ा सम्मान था। यह सब कार्य उसी रात में हुआ। अभी रात बाकी है। इसलिए पुरोहित की शय्या पर जा लेटा।

प्रातःकाल जागने का राजा को अभ्यास था। पहर भर रात रहते ही प्रातः-काल माना जाता है। यथा : पछिले पहर भूप नित जागा। कैसे यहाँ आ गये! सोये आश्रम में जागे महल में। इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ।

मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी। उठेउ गवँहिं जेहिं जान न रानी॥
कानन गयउ बाजि चढ़ि तेहीं। पुर नर नारि न जानेउ केहीं॥२॥

अर्थ : मुनि की महिमा का मन से अनुमान करके धीरे से उठे जिससे रानी न जान पावे। उसी घोड़े पर सवार होकर बन गये। पुर के नर नारी कोई जान न सके।

व्याख्या : आश्चर्य होने पर यह अनुमान किया कि यह मुनिजी का तपबल है। उन्होंने कहा था कि : मैं तप बल तोहि वाजि समेता। पहुँचैहहु सोवतहिं निकेता। सो कर दिखाया। रानी जागेगी तो पूछेगी कि कब आये कैसे आये! छठे कान में कहानी पड़ना गुरुजी ने रोक दिया है। इसलिए धीरे से उठा जिसमें रानी की नींद न टूटे। गुपचुप घोड़सार में गया। देखा घोड़ा कसाकसाया तैयार है। उसपर सवार होकर बन में चला गया। विन्ध्याचल नहीं गया। क्योंकि जाने आने में कई दिन लगेंगे। पुर नर नारियों ने न जाना। राजाओं के गुप्त मार्ग होते थे। जिससे पुर के बाहर आया जाया करते थे और किसी को पता नहीं चलता था।

गएँ जाम[1] जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा॥
उपरोहितहि देख जब राजा। चकित विलोकि सुमिरि सोइ काजा॥३॥

---

[१]. यह युक्ति अलङ्कार है।

अर्थ : दोपहर बीतने पर राजा आया। घर घर उत्सव हुआ। बधावा बजने लगा। उपरोहित को जब राजा ने देखा तो उस कार्य को स्मरण करके चकित होकर देखने लगा।

व्याख्या : दोपहर बीत जाने पर लौटा। जिससे लोग जानें कि दूर से लौट रहे हैं। राजा अकेला लौटा। मृगया का साज समाज साथ नहीं है। वे तो विन्ध्याचल में राजा की बाट जोह रहे हैं। खबर दी गई कि महाराज घर लौट गये। पुरोहित में भी लौट फेर होनेवाला था। अतः राजा चकित होकर देख रहा है कि वही हैं या तपस्वी जी उनके वेष में हैं।

जुग सम नृपहिं गए दिन तीनी। कपटी मुनिपद रहि मत लीनी ॥
समय जानि उपरोहित आवा। नृपहि मतें सब कहि समझावा ॥४॥

अर्थ : राजा को तीन दिन युग के समान बीते। कपटी मुनि के चरणों में ही मन लगा था। समय जानकर पुरोहित आया और उसने राजा को एकान्त में सब समझाकर कह दिया।

व्याख्या : प्रतीक्षा का समय कठिन होता है। तिसपर ऐसी प्रतीक्षा जिसमें बड़े भारी लाभ की आशा हो। अतः तीन दिन राजा के लिए तीन युग हो गये। समाप्त ही नहीं होते थे। उत्कण्ठा अत्यन्त बढ़ी हुई है। और कपटी मुनि के लिए हृदय में बड़ी श्रद्धा है। उन्हीं के चरणों में मन लीन हो रहा है।

तीन दिन बीतने पर रात को पुरोहित जी आये और जब : एकान्त बोलाइ सब कथा सुनावौं तोहि। इस वचन की भी पूर्ति हुई। एकान्त में सब कथा समझा कर कही। यथा :

लागि तृषा वन भूलि परयौ, तब जाइ सरोवर तोहि दिखायों।
देखि दुःखी वरदान दियों, शतकल्पलौं कालते तोहिं बचायों ॥
सोवत ही तोहिं वाजि समेत, तपोवल ते घर में पहुँचायों।
निर्भय विप्रनतें करिबे कहँ, तोहिं महीप इहाँ लगि आयों ॥

दो. नृप हरषेउ पहिचानि गुरु, भ्रम वस रहा न चेत।
वरे तुरत सत सहस वर, विप्र कुटुंब समेत ॥१७२॥

अर्थ : राजा गुरु को पहिचान कर हर्षित हुए। भ्रमवश चेत न रहा। तुरन्त एक लाख अच्छे वैदिक ब्राह्मणों को सकुटुम्ब वरण किया।

व्याख्या : और एक मैं कहौं लखाऊ। सो लखाद पाकर पहिचान लिया कि गुरुजी हैं। यह याद न रहा कि कालकेतु के सौ पुत्र और दस भाइयों को मैंने मारा है। उसका पता किसी तरह नहीं लग सका। वह महा मायावी है। बदला लेने की फिक्र में लगा होगा। कहीं यह सब उसकी माया तो नहीं है। नहीं तो एक आदमी इतने आदमियों के लिए रसोई कैसे बनावेगा ? सो यह कुछ न हुआ। एक लाख ब्राह्मणों को निमन्त्रण दे दिया गया।

उपरोहित जेवनार बनाई। छ रस चारि विधि जसि श्रुति गाई॥
मायामय तेहि कीन्ह रसोई। बिंजन बहु गनि सकै न कोई॥१॥

अर्थ : छः रस और चार विधि जैसा वेद ने कहा है वैसी जेवनार पुरोहित ने बनायी। उसने मायामय रसोई की। अनेक प्रकार के व्यञ्जन बनाए जो कोई गिन नहीं सकता।

व्याख्या : पुरोहितजी स्वयं जेवनार बनाने बैठे हैं। इसलिए वेद की विधि से रसोई बनी। छवों रस : मधुर, कटु, तिक्त, अम्ल, लवण और कषाय। तथा चारों विधि : चर्व्यं, चोष्य, लेह्य और पेय के अगणित प्रकार के व्यञ्जन बनाये। देखने में तो रसोई वेद विधि से बनी थी पर थी वह मायामय। इतनी थोड़ी देर में इतने व्यञ्जन बनाने का अभिप्राय यह कि राजा को मुनिजी के तप पर श्रद्धा और भी बढ़े।

बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा। तेहि महु बिप्र मास खल साँधा॥
भोजन कहुँ सब बिप्र बोलाए। पग पखारि सादर बैठाए॥२॥

अर्थ : अनेक प्रकार के मृगों का मांस पकाया। और उस खल ने उसमें ब्राह्मण का मांस भी मिला दिया। भोजन के लिए ब्राह्मणों को बोलाया और पाँव धोकर आदर के साथ बिठाया।

व्याख्या : अब मायामयत्व कहते हैं। वस्तुतः यहाँ कोई रसोई नहीं थी। केवल वहाँ अनेक जन्तुओं के मांस थे। और उनमें ब्राह्मण का भी मांस मिला था। सब ब्राह्मणों को एक साथ उठा दिया जिससे सब मिलकर एक साथ शाप दें। राजा के यहाँ ब्राह्मणों का बड़ा आदर है। राजा बन्धु बान्धवों के सहित स्वयं उनके पादप्रक्षालन करने लगा।

परुसन जबहिं लाग महिपाला। भै अकास बानी तेहि काला॥
बिप्र बृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू॥३॥

अर्थ : जब राजा परोसने लगा उस काल आकाशवाणी हुई। ब्राह्मणो! उठ उठकर घर जाओ, अन्न मत खाओ, बड़ी हानि है।

व्याख्या : पहले निश्चय के अनुसार : तुम परुसेहु मोहि जान न कोई। राजा स्वयं परोसने[१] लगा। मालूम हुआ कि बड़ी श्रद्धा है। नहीं तो राजा के परोसने का नियम नहीं है। देवताओं के भोजन कराने में हिमगिरि ने स्वयं नहीं परोसा। लगे परोसन निपुन सुआरा। रसोईदार का किसी को पता नहीं। अब राजा पूरी

---

[१] राजा का परोसना यही है कि स्वयं महाराज ने भी परोसने में हाथ लगा दिया। सारा समाज परोस रहा था। भाव यह कि परोसने का काम पूरा होने पर राजा ने स्वयं परोसने में हाथ लगाया। उसी समय आकाशवाणी हुई। परिवार के सहित राजा परोसता था। यह बात इतने से ही सिद्ध है कि ब्राह्मणों ने परिवार सहित राजा को शाप दिया।

तरह रसोई का जिम्मेदार हो गया। अब निगमन यही होगा कि राजा को ऐसी ही रसोई इष्ट थी। इसी से न जाने किसको किसको बुलाकर रसोई बनवाई। पुराने रसोईदार भी सम्मिलित नहीं किये गये।

यह आकाशवाणी कालकेतु की की हुई थी। तेहि काला से कालकेतु ध्वनित है। गृह जाहू का भाव यह कि यहाँ तुम लोगों का पैर रखना भी उचित नहीं है। सबसे वड़ा धोखा है। खाते ही पतित हो जाओगे। कालकेतु ने यह आकाशवाणी शाप दिलाने के लिए की। यह सच्ची आकाशवाणी नहीं हो सकती। सच्ची आकाशवाणी होती तो राजा के निर्दोष होने का भी इशारा अवश्य होता। जिस भाँति लक्ष्मणजी के कोप पर आकाशवाणी ने इङ्गित किया था। यथा : अनुचित उचित काजु किछु होऊ। समुझि करिअ भल कह सब कोऊ। सहसा करि पाछे पछिताहीं। कर्हिं वेद बुधते वुध नाहीं। परन्तु यहाँ अत्यन्त आवश्यक बात की ओर कुछ भी इशारा नहीं है। अतः यह देवकृत आकाशवाणी नहीं है। असुरकृत है। जिसके कारण राजा मारा गया।

भयउ रसोई भूसुर मासू। सब द्विज उठे मानि विस्वासू॥
भूप विकल मति मोह भुलानी। भावी बस न आव मुख बानी॥४॥

अर्थ : रसोई ब्राह्मणों के मांस की हुई है। सब ब्राह्मण विश्वास मानकर उठ खड़े हुए। राजा विकल हो उठा। बुद्धि मोह से गड़बड़ा गई। होनहारवश मुख से शब्द न निकले।

व्याख्या : जिसे रसोई समझते हो वह ब्राह्मणों का मांस है। इस वाणी का बोलनेवाला कोई दिखाई नहीं पड़ता है। और शब्द सुनाई पड़ते हैं। अतः यह अवश्य ही आकाशवाणी है। यह कभी मिथ्या नहीं हो सकती। अत : विश्वास मानकर पत्तल पर से उठ गये।

जिस बात से राजा सदा डरता था वही आँख के सामने आगई। बात ऐसी गठ गई है कि इसकी सफाई नहीं। आकाशवाणी पर शङ्का को स्थान नहीं। यह हुआ क्या? सोचकर राजा विकल हो गया। विकल होने से बुद्धि स्तब्ध हो गई। कुछ कह न सका। यही समय अपनी निरपराधता तथा ठगे जाने की बात को प्रकाश करने का था। होनहार बलवान् है। कालकेतु का अनुमान ही ठीक निकला कि इसके नाश में ब्रह्मदेव का हाथ है। यथा : विनु औषधि विधि खोई।

दो. बोले विप्र सकोप तब, नहिं कछु कीन्ह विचार।
जाइ निसाचर होहु नृप, मूढ़ सहित परिवार॥१७३॥

अर्थ : सब ब्राह्मण क्रुद्ध होकर बोले। कुछ विचार न किया। शाप दिया : मूढ राजा तू परिवार सहित राक्षस हो।

व्याख्या : आकाशवाणी के बाद राजा के कुछ न बोलने से सब दोष उस पर आ पड़ा। ब्राह्मणों ने भी कुछ विचार न किया। बात विचारने योग्य थी कि

ऐसा धर्मात्मा राजा, एकाएक ऐसा अनर्थ क्यों करेगा ? फिर इसे ऐसा करने से लाभ क्या ? यह आकाशवाणी सच्ची है कि माया है ?

कहने लगे : ब्राह्मण के मांस की रसोई राक्षस के यहाँ होती है। यथा : खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। सो तेरे यहाँ ऐसी रसोई बनो अतः तू राक्षस हो। 'मूढ़' कहने से भाव यह कि तेरा कोई लाभ नहीं और हमारा धर्म चला जाता। सहित परिवार का भाव यह कि परिवार के सहित तू पादप्रक्षालनादि ब्राह्मण भोजन के कृत्य में लगा था। तूने ही परिवार सहित रसोई इसीलिए बनाई और आप ही परोसने चला। श्रद्धा से नहीं हम लोगों के सर्वनाश के लिए जानबूझकर तूने सब किया। अतः सबके सब राक्षस हो जाओ।

छत्र बंधु तैं विप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई ॥
ईस्वर राखा धरम हमारा। जैहसि तैं समेत परिवारा ॥१॥

अर्थ : रे क्षत्रियाधम ! तूने ब्राह्मणों को बुलाकर उनको समाज सहित नष्ट करना चाहा था। ईश्वर ने हमारा धर्म रख लिया। तू परिवार के साथ नष्ट होगा।

व्याख्या : बिना बुलाये हुए के साथ भी कोई ऐसा व्यवहार नहीं करता। तूने बुलाकर ऐसा व्यवहार किया। समाजसहित तूने सब ब्राह्मणों को नष्ट करना चाहा। जिसमें सब पतित हो जायँ। कोई प्रायश्चित करनेवाला न रह जाय। आकाशवाणी द्वारा ईश्वर ने हमारा धर्म बचाथा। तू परिवारसहित इस कर्म में सम्मिलित था। और परिवारसहित हम लोगों का नाश चाहा। इसलिए तू भी परिवारसहित नष्ट होगा।

संवत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ॥
नृप सुनि साप विकल अति त्रासा। भइ बहोरिवर गिरा आकासा ॥२॥

अर्थ : सम्वत् के भीतर तेरा नाश हो। कुल में कोई जल देनेवाला न रहें। राजा शाप सुनकर अत्यन्त भय से व्याकुल हो गया तो फिर आकाश से श्रेष्ठ वाणी हुई।

व्याख्या : सम्वत् भर ब्राह्मणों को नष्ट करने का तेरा संकल्प था। सो सम्वत् के भीतर तेरा नाश हो जाय। तूने चाहा था कि कोई ब्राह्मण बच न जाय। अतः तेरे कुल में कोई न बचे। जलदाता भी कोई न रहे। अर्थात् दस पुस्त के भीतर जितने दायाद हैं सब नष्ट हो जायँ।

राजा पहिले ही विकल था। अब शाप सुनकर अत्यन्त विकल हुआ। तब श्रेष्ठ : सच्ची वाणी आकाश से हुई। भाव यह कि पहिली वाणी श्रेष्ठ न थी। क्योंकि कालकेतु की बोली हुई थी। अब यह श्रेष्ठ वाणी राजा के यश को रक्षा तथा शापानुग्रह के लिए हुई।

विप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥
चकित विप्र सब सुनि नभ बानी। भूप गयउ जहँ भोजन खानी ॥३॥

अर्थ : ब्राह्मणो ! तुम लोगों ने विचारकर शाप नहीं दिया। राजा ने कोई अपराध नहीं किया। सब ब्राह्मण आकाशवाणी सुनकर चकित हो गये। जहाँ भोजन की खानि थी वहाँ राजा गया।

व्याख्या : राजा की सफाई का उपाय अब सिवा आकाशवाणी के दूसरा था नहीं सो आकाशवाणी हुई। ब्राह्मणों की भर्त्सना की कि तुम लोगों ने विचार से काम नहीं लिया। निरपराध को शाप दे डाला। ब्राह्मण के मांस की रसोई होने में राजा का कोई अपराध नहीं है। बिना ठीक तरह, जाँच किये तुम लोगों ने कैसे निर्णय किया ?

यह आकाशवाणी कैसी ? राजा का अपराध नहीं है तो किसका है ? अतः सब ब्राह्मण चकित्त हुए। यश की रक्षा आकाशवाणी ने की। तब राजा इतने सावधान हुए कि रसोईघर में गये रसोईदार और रसोई की जाँच करने के लिए।

तहँ न असन नहिं विप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥
सब प्रसंग महि सुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥४॥

अर्थ : वहाँ न रसोई थी न रसोईदार ब्राह्मण था। तब राजा लौटा। मनमें अपार सोच हुआ। सब कथा ब्राह्मणों को सुनाकर पृथ्वी में आकुल होकर गिर गया।

व्याख्या : मुख्य अपराधी अपने अपराध के प्रमाण सहित अन्तर्धान हो गया। अब राजा के सोच का कोई पारावार न रह गया। वह सोचता है कि जिसके ऊपर इतनी आस्था थी वह घोर वैरी निकला। और वह कौन था जिसने इतनी बड़ी माया करके मेरा नाश किया ? मैं अत्यन्त लोभ से मारा गया। अब मेरा और मेरे कुटुम्ब का क्या होगा ? इत्यादि ऐसा सोच उठा कि उसका पारावार नहीं। अपना निरपराध होना सिद्ध करने के लिए सब बातें खोलकर कहनी पड़ीं। कहते कहते व्याकुलता इतनी बढ़ी कि पृथ्वी पर गिर गया।

दो. भूपति भावी मिटै नहि, जदपि न दूषन तोर।
किए अन्यथा होइ नहि, विप्र साप अति घोर ॥१७३॥

अर्थ : ब्राह्मण बोले : राजन् ! होनहार होकर ही रहता है। मिटता नहीं। यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं। पर करने से अन्यथा नहीं हो सकता। ब्राह्मण का शाप अत्यन्त घोर होता है।

व्याख्या : ब्राह्मणों ने कहा ऐसी ही भावी थी। शाप निमित्त मात्र हुआ। हम लोग भी अब तुझे निर्दोष मानते हैं। पर इस शाप की प्रतिक्रिया नहीं है। हम भी इसे अन्यथा नहीं कर सकते। यहाँ शापानुग्रह की कथा नहीं कहते। रुद्रगणों पर जैसा नारदजी ने अनुग्रह किया था वैसा ही समझ लेना। यथा : वैभव विपुल तेज बल होऊ। समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहौं मुकुत न पुनि संसार।

अस कहि सब महिदेव सिधाए। समाचार पुर लोगन्ह पाए॥
सोचहि दूषन दैवहिं देही। विचरत हंस काग किय जेहीं॥१॥

अर्थ : ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चले गये। पुरवासियों को समाचार मिला। लगे सोचने और दैव को दोष देने जिसने कि चलते फिरते हंस को काग बना दिया।

व्याख्या : यहाँ 'महिदेव' शब्द से ब्राह्मणों का महत्त्व सूचित किया कि पृथ्वी पर के देवता हैं। देवताओं की भाँति आवाहन से आये थे। अपवित्रता देखकर चले जा रहे हैं। जो बात उनके मुख से निकल गई वही होगी। अन्यथा नहीं हो सकता।

ऐसी विचित्र घटना विशेषतः राजघराने को छिप नहीं सकती। नगर में फैल गई। राजा बड़ा प्रजा पालक था। वेदविद् था। उसके राज्य में अधर्म का लेश नहीं था। अतः प्रजा अत्यन्त सुखी थी। इस दुर्घटना को सुनकर लोग सोच करते हैं। दुःखी होते हैं। बात किसी के समझ में नहीं आती है। इसमें न राजा का दोष दिखाई पड़ता है न ब्राह्मणों का दोष दिखाई पड़ता है। राजा से इस जन्म में कोई अनर्थ भी नहीं हुआ जिसका फल कहा जा सके। अतः दैव को दोष देते हैं कि उन्होंने नियम भङ्ग किया। जन्म से ही काग या हंस बनाने का विधान है। द्विज द्रोही बहु नरक भोग करि। जग जन्महिं वायस सरीर धरि। यहाँ तो राजा जन्म से हंस था। और हंस की भाँति आचरण करता था परम धर्मात्मा था। इसे ब्राह्मण-द्रोह कहाँ से उत्पन्न हो गया ? जो ब्राह्मणों को वश करने चला।

उपरोहित हि भवन पहुँचाई। असुर तापसहि खबरि जनाई॥
तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब आए॥२॥

अर्थ : असुर ने उपरोहित को पहुँचाकर तपस्वी : राजा : को समाचार दिया। उस खल ने जहाँ तहाँ चिट्ठियाँ भेजीं। सो राजा लोग सेना सजा सजाकर आये।

व्याख्या : अब कालकेतु ने पुरोहित को घर पहुँचा दिया। जिसमें पुरोहित की खोज में कहीं भानुप्रताप के आदमी कपटीमुनि के आश्रम तक खोजते खोजते न पहुँच जायँ और अब सालभर तक उसे गिरि खोह में रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। तत्पश्चात् अपनी प्रतिज्ञानुसार कुल सहित रिपु मूल बहाकर चौथे दिन कपटीमुनि से जा मिला और कृतकार्य होने का समाचार दिया।

वह कपटीमुनि राजा था ही सब राजा लोग उसे जानते थे। जिन जिन राजाओं से दण्ड ले लेकर भानुप्रताप ने छोड़ दिया था उन सबों को उसने चिट्ठियाँ भेजीं कि भानुप्रताप राजा ब्राह्मणों के शाप से दग्ध हो गया है। अब उसके नाश के निमित्त होकर जय और यश के भागी होने के लिए शीघ्रता करो। सो राजा लोगों ने सेना सहित चढ़ाई कर दी।

घेरेन्हि नगर निसान बजाई। विविध भाँति नित होइ लराई॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधु समेत परेउ नृप धरनी॥३॥

अर्थ : सब राजाओं ने डङ्का वजाकर नगर घेर लिया। अनेक प्रकार से युद्ध होने लगा। सभी सुभट : योद्धा पराक्रम दिखला दिखालकर जूझ गये और भाई सहित राजा भी खेत रहा।

व्याख्या : नगर घिर गया। बाहर की सहायता रुकी। चारों ओर से धावा हुआ। राजा ने सामना किया। नित्य अनेक प्रकार युद्ध होने लगे। भानुप्रताप के सुभटों ने पीठ नहीं दिखायी। खूब पराक्रम किया। परन्तु शापित होने के कारण मारे गये। राजा को अन्त में लड़ना चाहिए। इसी नीति का आश्रयण करके राजा अन्त में लड़ा और भाई सहित खेत रहा।

सत्यकेतु कुल कोउ नहि बांचा। विप्र श्राप किमि होइ असाँचा ॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निजपुर गवने जय जस पाई ॥४॥

अर्थ : सत्यकेतु के कुल में कोई न बचा। ब्राह्मणों का शाप मिथ्या कैसे हो सकता है ? सब राजा शत्रु को जीतकर नगर को बसाकर विजय और यश पाकर घर गये।

व्याख्या : ये राजा लोग जय और यश की आकांक्षा से आये थे। भानुप्रताप से पराजित होने से ये अपनी कीर्ति खो बैठे थे। भानुप्रताप पर विजय पाने से अपनी खोई हुई कीर्ति प्राप्त की। युद्ध में नगर उजड़ गया था। उसे बसाकर सब घर चले गये। राज्य कपटी मुनि के हाथ लगा। क्योंकि इसी ने सबको चिट्ठी भेज कर बुलवाया था। और उद्योग सब इसी का था।

दो. भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ विधाता वाम।
धूरि मेरुसम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

अर्थ : भरद्वाज ! सुनो। जिसे सब ब्रह्मा बाएँ हो जाते हैं तो उसके लिए धूलि मेरु हो जाती है। पिता यम हो जाते हैं। रस्सी उसके लिए सर्प हो जाती है।

व्याख्या : अशुभ कर्म के उदय होने से ही विधाता बाएँ होते हैं। यथा : कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। कपटी मुनि धूल के समान था। यथा : नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत। सो पर्वतराज सुमेरु सा हो गया। उसके बुलाने से सब राजा युद्ध करने चले आये। पितृस्थानीय विप्रवृन्द यम हो गये। ऐसा घोर शाप दे दिया। कालकेतु में कुछ नहीं रह गया था। उसकी आकृति मात्र राक्षस की थी। सूकर आदि बना वन में फिरता था। वह रज्जु था सो साँप हो गया।

३. रावणावतार प्रसङ्ग

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा ॥
दस सिर ताहि बीस भुज दंडा। रावन नाम वीर बरिवंडा ॥१॥

अर्थ : मुनि ! सुनो समय पाकर वही राजा समाज के सहित राक्षस हुआ। उसे दस सिर और बीस भुजाएँ थीं। उस बीर बलिवन्द्य[1] का नाम रावण था।

व्याख्या : सभी कार्यों के लिए काल असाधारण कारण है। जब वैसी ग्रह-स्थिति आई तो वही राजा भानुप्रताप राक्षस होकर पैदा हुआ। और उसका सब समाज राक्षस हुआ। इस जन्म में उसे दस सिर हुए, बीस हाथ हुए। उसका नाम रावण पड़ा। यह बलवानों से भी वन्दित वीर हुआ। यह पुलस्त्य का नाती और विश्रवा मुनि का पुत्र था। माँ इसकी दैत्यकुल की थी। और दारुण वेला में इसके पिता को प्राप्त हुई थी। अतः उन्होंने इसकी माता से कह दिया कि तुझे राक्षस पुत्र उत्पन्न होंगे। ऋषि जी के अनुष्ठान में रहने के कारण रावण की माता के दस ऋतु व्यतीत हो गये। इसलिए विश्रवा जी ने दस पुत्र के स्थान पर एक पुत्र दस सिर और बीस भुजावाला दिया।

भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भएउ सो कुंभकरन बलधामा॥
सचिव जो रहा धरम रुचि जासू। भएउ बिमात्र बंधु लघु तासू॥२॥

अर्थ : उसका छोटा भाई जिसका नाम अरिमर्दन था वह बलधाम कुम्भकर्ण हुआ। जो उसका धर्मरुचि नामी मन्त्री था वह उसका छोटा सौतेला भाई हुआ।

व्याख्या : अरिमर्दन का उस जन्म में भुजबल अतुल था। सो इस जन्म में भी बलधाम हुआ। इसके कान कुम्भ की भाँति थे। वाल्मीकीय और अध्यात्म में तीनों भाइयों की एक माता कही गई है। जिसका नाम कैकसी था। परन्तु यहाँ विभीषण को सौतेला भाई कह रहे हैं। अतः कथा का यह भाग उन कल्पों की कथाओं से मेल नहीं खाता जिसका वर्णन वाल्मीकीय या अध्यात्म में है। यह कथा भाग महाभारतोक्त रामकथा से मेल खाता है। जिसमें रावण कुम्भकर्ण का जन्म पुष्पोत्कटा से विभीषण का जन्म मालिनी से और खर तथा सूर्पणखा का जन्म राका नाम राक्षसी से लिखा है जो कि कुबेर द्वारा पिता की सेवा में नियुक्त थीं। पिता इन सबके विश्रवा मुनि थे। जिस कल्प में ब्रह्म का रामावतार हुआ उस कल्प के रावण की माता का नाम पुष्पोत्कटा और बिभीषण की माता का नाम मालिनी था।

नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिस्नु भगत बिग्यान निधाना॥
रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे॥३॥

अर्थ : उसका नाम विभीषण पड़ा। जिसे संसार जानता है कि विष्णुभक्त

---

१. दोलदंडदशनेषु डः। इस सूत्र से दकार का डकार बलिवंद्य का बरिवंड रूप सिद्ध हुआ। लकार के रेफ होने और यकार के लोप के नियम दिये जा चुके हैं।

और विज्ञान का निधान था। और राजा के जो बहुत से बेटे और सेवक थे वे भी घोर राक्षस हुए।

व्याख्या : विभीषण का नाम पुण्यश्लोकों में है। प्रातःकाल ही सब लोग महाभागवत होने से स्मरण करते हैं। विभीषण जी ज्ञानी भक्त थे। इसलिए विष्णु भक्त विज्ञान निधाना कहा। विभीषण के बाद सुत सेवक का नाम आने से कोई यह न समझे कि वे सब भक्त और ज्ञानी हुए होंगे। अतः कहते हैं कि वे सब घोर राक्षस हुए। सेवक की भी गणना परिवार में है। इन तीनों भाइयों से घोरता में सुत सेवक अधिक थे।

कामरूप खल जिनिस अनेका। कुटिल भयंकर विगत विवेका॥
कृपा रहित हिंसक सब पापी। वरनि न जाइ विस्व परितापी॥४॥

अर्थ : वे खल मनमाना रूप धारण करनेवाले अनेक प्रकार के कुटिल, भयंकर और विवेकरहित थे। वे सब निर्दयी, हिंसक और पापी थे। उन विश्वपरितापियों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

व्याख्या : उन खलों में मनमाना रूप धारण करने की शक्ति थी। इसलिए विश्व को परिताप देना उन्हें सरल हो गया। कुटिल, विवेकरहित, निर्दय, हिंसक और पापी थे। अतः विश्व के परिताप देने में वे आनन्दबोध करते थे। कामरूप से माया कही। खल से स्वभाव कहा। जिनिसि से आकृति कही। कुटिल से मन की मलिनता कही। भयंकर से रूप कहा। विगत विवेक से कुमति कही। कृपा रहित हिंसक से कर्म कहा। पापी से पृथ्वी का भारभूत होना कहा।

विश्वपरितापी हैं। ऐसा परिताप पहुँचाते हैं कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आगे चलकर कहेंगे सर्वंसहा भगवती वसुन्धरा नहीं सह सकी।

दो. उपजे[१] जदपि पुलस्त्य कुल, पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर सापवस, भये सकल अघरूप॥१७६॥

अर्थ : यद्यपि वे पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न हुए। जो पावन, निर्मल और अनूप था फिर भी ब्राह्मणों के शाप से वे पापरूप ही पैदा हुए।

व्याख्या : पूर्वजन्म का कर्म बहुत ही अच्छा था। इसलिए पुलस्त्य ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए। वह कुल दूसरे को पवित्र करनेवाला था। इसलिए पावन कहा। स्वयं पवित्र था इसलिए अमल कहा। उसी वंश में विश्रवा मुनि तथा कुबेर जी उन्पन्न हुए इसलिए अनूप कहा अथवा कलङ्क रहित चन्द्र के समान होने से अनूप कहा। यथा : रिषि पुलस्त जस विमल मयंका। जाति आयु और भोग तीनों अच्छा था। परन्तु ब्राह्मण का शाप अत्यन्त घोर था। अतः सब आसुर प्रकृति के हुए, पापरूप ही थे।

---

[१] यहाँ विषम द्वितीय है।

कीन्ह विविध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं वरनि सो जाई ॥
गएउ निकट तप देखि विधाता। माँगहु वर प्रसन्न मैं ताता ॥१॥

अर्थ : तीनों भाइयों ने अनेक प्रकार के तप किये। जो कि बड़े उग्र : तीव्र : थे। उनका वर्णन नहीं हो सकता। तप देखकर ब्रह्मदेव निकट गये। कहा कि तात मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।

व्याख्या : तीनों भाइयों के तप के प्रकार भिन्न थे। कुम्भकर्ण नित्य धर्म में स्थिर रहकर ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि तापता था। और वीरासन से बैठे हुए वर्षा की धारा पावस में सहता था। और शिशिर ऋतु में जाकर जल में डूबा रहता था। इस भाँति दश सहस्र वर्ष तक तपस्या करता रहा। धर्मात्मा विभीषण पाँच सहस्र वर्ष तक एक पैर से खड़े रहे। और पाँच सहस्र वर्ष तक ऊपर सिर और बाहु उठाए हुए सूर्य का अनुवर्तन किया। रावण सहस्र वर्ष तक निराहार रहा। और एक सहस्र वर्ष की पूर्ति पर अपना एक सिर काटकर अग्नि में हवन करता था। इसलिए कहते हैं : कीन्ह विविध तप तीनिउ भाई। यह तो उनके शारीरतप का वर्णन हुआ। इसके साथ-साथ मानस और वाङ्मय तप कैसा हुआ। इसका कौन वर्णन कर सकता है ?

जब दश सहस्र वर्ष पूरे हुए। और रावण अपना अवशिष्ट एक सिर भी काटने

रावण की कुण्डली : जो दक्षिण भारत के एक महाविद्वान् वी. सूर्य नारायणराव के रायल हारोस्कोप नामक पुस्तक से उद्धृत की गई है।

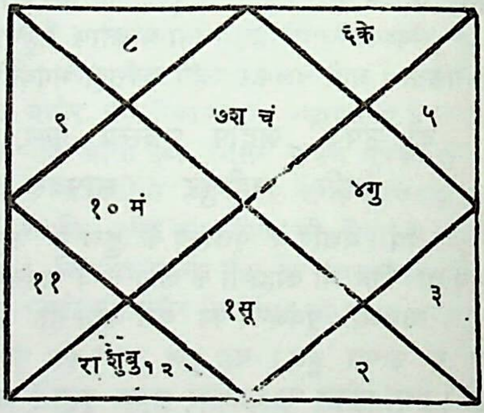

१. छठे मन्वन्तर : चाक्षुष : में समुद्र मन्थन हुआ। देवासुर संग्राम हुआ। उस समय दानवेन्द्र बलि राजा थे। रावण का कोई पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि रावण सातवें : वैवस्वत : मन्वन्तर में हुए। परशुरामावतार इसी मन्वन्तर के उन्नीसवीं चतुर्युगी में हुआ था। उन्होंने कार्त्तवीर्य सहस्रबाहु को मारा। और सहस्रबाहु तथा रावण में युद्ध हुआ था। यथा : एक बहोरि सहस भुज देखा। धाइ जनु जन्तु विसेषा। अतः कहा जा सकता है कि इस कल्प के रावण का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं चतुर्युगी में हुआ। और चौबीसवीं चतुर्युगी में वह श्रीरामचन्द्र द्वारा मारा गया। अतः रावण का राज्यकाल पाँच चतुर्युगी तक होना सिद्ध होता है।

चला तब ब्रह्मदेव निकट गये। बोले 'प्रीतोऽस्मि' : मैं प्रसन्न हूँ : और वर माँगने को कहा। प्रपौत्र है इसलिए 'तात' कहते हैं। ब्रह्मलोक में ब्रह्मदेव हैं। ऐसी भावना से उपासना किया था। इसलिए प्रकट नहीं हुए निकट गये।

करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥२॥

अर्थ : विनती करके और चरण पकड़ के दशशीश ने कहा : हे जगदीश सुनो। हम किसी के मारे न मरें। वानर और मनुष्य छोड़कर।

व्याख्या : रावण की तपस्या भी बड़ी थी और ज्येष्ठ भी था। इस समय अवशिष्ट दसवें सिर को काटना चाहता था इससे ब्रह्मदेव पहिले इसी के पास गये। रावण इस समय स्वार्थरत है। अतः विनती भी की। चरण पकड़ लिया और अमरत्व माँगा। ब्रह्मदेव ने कहा अमरत्व नहीं मिल सकता। दूसरा वर माँगो। तब उसने वानर और मनुष्य को छोड़कर देव दानवादिकों से अपना अवध्यत्व माँगा। उसने समझ रक्खा था कि मनुष्य और वानर का शरीर ऐसा है कि ये सर्वथा मुझे मारने में असमर्थ होंगे।

एवमस्तु तुम बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥
पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गएऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ ॥३॥

अर्थ : एवमस्तु ऐसा ही हो तुमने बड़ा तप किया यह वर मैं और ब्रह्मा ने मिलकर दिया। फिर प्रभु कुम्भकर्ण के पास गये। उसे देखकर बड़ा विस्मय हुआ।

व्याख्या : एवमस्तु कहने में शङ्कर जी आगे दिखाई पड़े। अतः यहाँ मैं ब्रह्ममिलि कहा। यह वर तपस्या के सामने कुछ बहुत बड़ा नहीं था। इसलिए तुम बड़ तप कीन्हा। यथा : रावन कुम्भकरन वर माँगत सिव विरंचि वाचा छल्यौ : दोनों देवों ने मिलकर वर दिया। क्योंकि उसने दोनों की पूजा की थी।

कुम्भकर्ण के पास ब्रह्मदेव गये, शिवजी नहीं गये। उसे देखकर आश्चर्य किया कि इसके कान कुम्भ जैसे और शरीर इतना बड़ा और भयङ्कर है। यह कैसा अद्भुत जीव है। यह तो बिना वर के ही संसार का संहार कर देगा। देवताओं की प्रार्थना के अनुसार यह तो मोहन योग्य है।

जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥
सादर प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षटकेरी ॥४॥

अर्थ : यदि यह खल नित्य भोजन करेगा तो संसार उजड़ जायगा। सरस्वती की प्रेरणा करके उसकी बुद्धि उलट दी। उसने छः महीने की नींद माँगी।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ने सोचा कि खल बिना कारण भयकारी होते हैं। यहाँ तो बड़ा भारी कारण उपस्थित है। इसकी क्षुधा शान्ति के लिए अपरिमित आहार की आवश्यकता है। हिंसक है ही। सम्पूर्ण संसार का भक्षण कर जायगा। इसको वर देने से तो सृष्टि का संहार उपस्थित होगा। परन्तु इसने तो तप किया है। इसे वर

तो देना ही पड़ेगा । बड़े असमञ्जस में पड़े । इधर देवताओं ने विनती की थी कि वर के व्याज से इसका मोहन कीजिये तभी संसार चल सकेगा । अतः सरस्वती को प्रेरणा की कि देवताओं के मनोरथ को पूर्ण करो । सरस्वती ने बुद्धि फेर दी । यथा : गई गिरा मतिफेरि : छः महीना जागने के स्थान में छः महीने की नींद माँग ली ।

दो. गए विभीषन पास पुनि, कहेहु पुत्र वर माँगु ।
तेहिं माँगेउ भगवंत पद, कमल अमल अनुरागु ॥१७७॥

अर्थ : फिर विभीषण के पास गये । कहा कि बेटा ! वर माँग । उसने भगवान् के चरण कमलों में निर्मल भक्ति माँगी ।

व्याख्या : विभीषण पर स्नेह है कि यही पुत्र पद के योग्य है । कहा जो माँगेगा सो दूँगा । विभीषण की भगवान् के चरणों में प्रीति तो थी ही । उसने फलाभिसन्धि रहित निर्मल भक्ति माँगी । नाम धर्म रुचि हरिपद प्रीती, यह भानुप्रताप का मन्त्री पूर्व जन्म में था । उस जन्म में भी इसे भक्ति थी । भगवान् के भक्त का नाश नहीं होता । यथा : ताते नाश न होय भक्तकर । शाप होने पर भी भक्ति नहीं गई । उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई ।

तिन्हहि देइ वर ब्रह्म सिधाए । हरषित ते अपने गृह आए ॥
मय तनुजा मंदोदरि नामा । परम सुंदरी नारि ललामा ॥१॥

अर्थ : उन्हें वर देकर ब्रह्मदेव तो चले गये । वे हर्षित होकर अपने घर आये । मय : दानव : की बेटी जिसका नाम मन्दोदरी था । बड़ी सुन्दर स्त्रीरत्न थी ।

व्याख्या : कुम्भकर्ण और विभीषण का माँगना केवल कहा था । ब्रह्मदेव का वर देना नहीं कहा था । सो यहाँ ब्रह्मदेव के जाने के प्रसङ्ग में कहते हैं कि उन्हें वर देकर ब्रह्माजी चले गये । वे प्रसन्न होकर घर आये । भाव यह कि तपस्या के लिए गोकर्ण के आश्रम में चले गये थे । तपस्या पूरी होने पर वहाँ से अपने घर श्लेष्मातक वन में गये । कुम्भकर्ण की मति फिरी हुई है । वह छः महीने की सुषुप्ति से ही हर्षित है ।

मय दानव असुरों के विश्वकर्मा हैं । इन्हें एक बेटी थी । जिसका नाम इन्होंने मन्दोदरी रख छोड़ा था । बड़ी सुन्दर थी । स्त्रियों में रत्न थी । इसे देखकर लङ्का में हनुमानजी को जनकनन्दनी का भ्रम हो गया था । इससे बढ़कर स्त्रीरत्न होने का और प्रमाण क्या हो सकता है ।

सोइ मय दीन्हि रावनहिं आनी । होइहि जातुधानपति जानी ॥
हरषित भयउ नारि भलि पाई । पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई ॥२॥

अर्थ : उसे लाकर मय ने रावण को दिया । उसने जान लिया कि यही राक्षसों का राजा होगा । रावण अच्छी स्त्री पाकर प्रसन्न हुआ । फिर जाकर दोनों भाइयों का व्याह किया ।

व्याख्या : मयदानव ने देख लिया कि रावण ही राक्षसों का राजा होनेवाला है। अतः उसे लाकर रावण को दिया। उसे परम सुन्दरी देखकर रावण ने हर्षित होकर स्वीकार कर लिया। फिर विरोचन की दौहित्री जिसका नाम वृत्रज्वाला था उससे कुम्भकर्ण का व्याह कराया और शैलूष नाम के गन्धर्वराज की सरमा नाम की धर्मज्ञा बेटी का व्याह विभीषण से कराया।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। विधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥
सोइ मय दानव बहुरि संवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा॥३॥

अर्थ : समुद्र के बीच में एक त्रिकूट पर्वत था। ब्रह्मा का बनाया हुआ वह अत्यन्त ही दुर्गम था। उसको मय दानव ने फिर से सँवारा। सोने और मणियों के अगणित मकान बनाये।

व्याख्या : समुद्र के बीच में होने से उस पर्वत को ब्रह्मदेव ने ही अत्यन्त दुर्गम बनाया था। यों ही वहाँ तक किसी की पहुँच होनी कठिन थी। तिस पर मय दानव ने उसे असुरों के लिए फिर से सँवारा। किलाबन्दी की। सोने और रत्नों के बहुत से मकान बनाये। जिसमें वह स्वर्ग से टक्कर ले सके।

भोगावति जसि अहि कुल वासा। अमरावति जसि सक्र निवासा॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका। जग विख्यात नाम तेहि लंका॥४॥

अर्थ : भोगावती में जिस भाँति सर्पकुल का वास है और अमरावती जिस भाँति इन्द्र की राजधानी है। उससे भी अधिक मनोहर और बाँकी नगरी थी जिसका नाम लंका था।

व्याख्या : भोग प्रधान पुरियों में पहिला नाम भोगावती का है। जो पाताल में है। वहाँ सर्प रहते हैं। और इन्द्र की राजधानी अमरावती है। जिसमें इन्द्र रहते हैं। इन्द्रपद भोग की पराकाष्ठा है। इन दोनों पुरियों से अत्यन्त सुन्दर और बाँकी लङ्कापुरी थी।

दो. खांई सिंधु गभीर अति, चारिहिं दिसि फिरि आव।
कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव॥१७८॥क
हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधान पति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल, दल समेत बस होइ॥१७८॥

अर्थ : गहिरा समुद्र खाईं की भाँति उसके चारों ओर घूम आया था। सोने का कोट : किला मणियों से जड़ा हुआ था। उसकी बनावट कही नहीं जा सकती थी।

भगवान् की प्रेरणा से जिस कल्प में जो राक्षसों का राजा, शूर, प्रतापी और अतुल बल होता है वह दल सहित वहीं रहता है।

व्याख्या : दुर्ग के चारों ओर खाईं खुदवाई जाती है जिससे शत्रु की पहुँच क़िले तक न हो। इसके चारों ओर गम्भीर समुद्र ही खाईं की भाँति घेरे हुए था। क़िला सोने का था। मणि जड़े हुए थे। इससे दुर्ग की दृढ़ता कही। जो वस्तु दृढ़ होती है उसकी बनावट सुन्दर नहीं होती और जिसकी बनावट सुन्दर होती है वह दृढ़ नहीं होता। लंका में सुन्दरता और दृढ़ता दोनों थी। और ऐसी थी जिसका वर्णन न हो सके।

जिस भाँति प्रत्येक कल्प में रामावतार होता है उसी भाँति रावणावतार होता है। जिस भाँति रामजी अयोध्या में रहते हैं उसी भाँति रावण भी लङ्का को ही अपना निवासस्थान बनाते हैं। जय विजय, रावण कुम्भकर्ण होकर इसी में रहे। जलन्धर रावण होकर इसी में रहा। रुद्रगण रावण कुम्भकर्ण होकर इसी में रहे। भानुप्रताप, अरिमर्दन और धर्मरुचि भी रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण होकर इसी में आकर बसे। इसलिए कहते हैं कि जो राक्षसराज शूर प्रतापी और अतुलित बल होते हैं वे यहीं सेना सहित वसते हैं। ऐसी हरि की इच्छा है। उसी से प्रेरित होकर प्रत्येक कल्प के राक्षसेश्वर लङ्का को ही अपनी राजधानी बनाते हैं।

रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥१॥

अर्थ : पहले वहाँ बड़े योद्धा राक्षस रहते थे। उन सबों को देवताओं ने लड़ाई में मार डाला। अब वहाँ इन्द्र की प्रेरणा से कुबेरजी की ओर से एक करोड़ यक्ष रक्षक की भाँति रहते थे।

व्याख्या : रावण तो कल्प के किसी मन्वन्तर में होते हैं। शेष मन्वन्तरों में तो लङ्का दूसरों के ही अधिकार में रहती है। अतः पूर्व युग में लङ्का निशिचर भटों के अधिकार में थी। पर देवताओं ने रण में सबको मार डाला। बचे सो पाताल में प्रवेश कर गये। इसलिए संहारे कहते हैं। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर और प्रत्येक मन्वन्तर में ७२ चतुर्युगियाँ होती हैं। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को चतुर्युगी कहते हैं। कई चतुर्युगी तक रावण के राज्य करने का पता चलता है।

जिस समय रावण तपस्या करके घर लौटे और व्याह किया उस समय की कथा कहते हैं। उस समय वहाँ इन्द्र की आज्ञा से यक्ष लोग रहते थे। राक्षसों के मारे जाने पर लङ्का देवराज इन्द्र के अधिकार में आगई। उन्होंने अपनी ओर से कुबेर को दे रक्खी थी। कुबेरजी रावण के वैमात्र बड़े भाई यक्षों के राजा हैं।

दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई॥
देखि विकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई॥२॥

अर्थ : रावण को कहीं से यह पता लग गया। सेना साजकर लङ्कागढ़ को

घेर लिया। बड़ी भारी सेना और विकट वीरों को देखकर यक्षलोग प्राण लेकर भाग गये।

व्याख्या : सब राक्षसों ने मिलकर रावण को राजा माना। अब आश्रम में रावण का काम नहीं चल सकता था। वर पा लिया। त्रैलोक्य सुन्दरी स्त्री मिली। राक्षसों का आधिपत्य मिला। अब निवास स्थान चाहिए। उसी की चिन्ता थी। किसी ने कह[1] दिया कि आप के योग्य निवास स्थान लङ्का है। पहिले वह राक्षसों की ही थी। बल पूर्वक उसे देवताओं ने ले लिया। अब वह यक्षपमि के अधिकार में है। राक्षसों की सेना सजाकर रावण ने लङ्का पर चढ़ाई कर दी और दुर्ग : किले को घेर लिया। यक्षों ने जो रावण की अपार सेना और उद्भट वीरों को देखा तो उनका साहस टूट गया। संख्या में एक करोड़ होने पर भी वे राक्षसी सेना के सामने कुछ भी नहीं थे। राक्षसी सेना में योद्धा भी ऐसे विकट थे जिनका सामना यक्षलोग कर नहीं सकते थे। अतः प्राण लेकर भाग गये। धन सम्पत्ति वहीं छूट गई। बिना रक्तपात के ही ऐसा नगर रावण के हाथ लगा।

फिरि सब नगर दसानन देखा। गयउ सोच सुख भयउ बिसेखा ।।
सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ।।३।।

अर्थ : रावण ने घूमकर सब नगर देखा। चिन्ता मिट गई और विशेष सुख हुआ। स्वभाव से ही सुन्दर और अगम्य अनुमान करके रावण ने उसे राजधानी बनाया।

व्याख्या : रावण ने जानकारी तथा व्यवस्था के लिए घूमकर सारे नगर को अपनी आँखों से देखा। बड़ी चिन्ता थी कहाँ रहें ? सो जाती रही। और विशेष सुख हुआ कि यह नगर तीन लोक में बेजोड़ है। निश्चय किया कि यही राजधानी बनाने योग्य स्थान है। सुन्दर इतना है और अगम्य है। खाईं के स्थान में समुद्र है। और पर्वत के ऊपर दुर्ग है। यहाँ शत्रु का बल चल नहीं सकता। ऐसा अनुमान रावण ने किया।

जेहि जस लोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ।।
एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा ।।४।।

अर्थ : जो जिस योग्य था उसे वैसा घर बाँट : विभाग में दिया। सभी राक्षसों को सुखी किया। एक बार कुबेर पर धावा बोल दिया। और पुष्पक विमान जीतकर ले आया।

व्याख्या : योग्यता के अनुसार घर दे देकर सबको सन्तुष्ट किया। घर भी हाथ आया। घर की सम्पत्ति भी हाथ लगी। इसलिए सब राक्षस सुखी हो गये।

---

[1] सुमाली नामक असुर ने रावण से सब वृत्तान्त कहा। लङ्का पहिले उसके अधिकार में थी। यह रावण का नाना था। देवताओं के भय से पाताल चला गया था।

रावण संसार के लिए भले ही बुरा हो पर राक्षसों का बड़ा भारी पालक था। सबको जीविका का विधान किया। अब केवल दिव्ययान की त्रुटि थी। समुद्र के बीच में लङ्का थी। बाहर जाने आने के लिए यान की बड़ी आवश्यकता थी। जानता ही था कि बड़े भाई साहिब के पास पुष्पक है। उन्हीं पर चढ़ाई कर दी। उन्हें संग्राम में जीतकर पुष्पक विमान छीन लाया। वह विमान तप से अर्जित था। उसे बल से हरण कर लिया।

दो. कौतुक ही कैलास पुनि, लीन्हिसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल, चला बहुत सुख पाइ ॥१७९॥

अर्थ : फिर खेलवाड़ में ही जाकर कैलास उठा लिया। मानो अपने बाहु के बल को तौलकर बड़ा सुख पाकर चला।

व्याख्या : कुबेरजी की पुरी अलका है। पुष्पक के लिए रावण ने उसी पर चढ़ाई की थी। कुबेरजी से युद्ध करने में कुछ आयास नहीं पड़ा। अलकापुरी के पास ही कैलास पर्वत है। उसे रास्ते चलते कौतुक में ही उठा लिया। यथा : पुनि नभ सर मम करनिकर करकमलन पर वास। सोभित भयउ मराल इव संभु सहित कैलास : अपने बल को तौलने के लिए कैलास को बाट : बटखरा बनाया। बड़ा सुखी हुआ कि मेरे बाहुबल का तौल हो गया कैलास से भारी है। इसी पर साङ्ग सायुध सशक्ति साक्षात् शङ्कर भगवान् गणेश स्वामिकार्तिक नन्दिकेश्वर वीरभद्रादि-गणों के साथ विराजमान हैं। मैंने पर्वत के साथ ही साथ सबको उठा लिया। अब मेरे बराबर कोई नहीं है।

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥१॥

अर्थ : १. सुख, २. सम्पत्ति, ३. बेटे, ४. सेना, ५. सहायक, १. जय, २. प्रताप, ३. बल, ४. बुद्धि और ५. महिमा। ये सब नित्य बढ़ते जाते हैं। जैसे जितना लाभ होता जाता है उतना ही लोभ भी बढ़ता जाता है।

व्याख्या : १. अधमेणैधते पूर्वम् २. ततो भद्राणि पश्यति। ३. ततः सपत्नान् जयति समूलश्च विनश्यति। १. पहिले अधर्म से वृद्धि होती है। २. तब कल्याण दिखाई पड़ता है। ३. फिर शत्रुओं को जीतता है। अन्त में मूल के सहित नष्ट हो जाता है। रावण ने अधर्म पर पैर रक्खा है। पहिले घर में ही छीन छोर आरम्भ किया। बड़े भाई की लङ्का छीनी, पुष्पक विमान छीना। इष्टदेव का वासस्थान उखाड़ा। देखने में बढ़ोत्तरी होने लगी। अधर्मेणैधते का उदाहरण है। नित्य नया सुख, नित्य नया अर्थलाभ, नित्य नई कुटुम्बवृद्धि, नित्य नई मित्रप्राप्ति, नित्य नई जीत, नित्य नये प्रताप, नित्य नया सामर्थ्य, नित्य नया आविष्कार, नित्य नई प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। बढ़ोत्तरी की उपमा देते हैं। जैसे लाभ के साथ साथ लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ के साथ लोभ के बढ़ने की उपमा देकर दोष का बढ़ना सूचित करते हैं।

अति बल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहिं प्रति भट जग जाता ॥
करै पान सोवै षट मासा । जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ॥२॥

अर्थ : अति बली कुम्भकर्ण-सा भाई था । जिसका जोड़ संसार में पैदा ही नहीं हुआ था । वह मद्यपान करके छः महीने सोता था । और उसके जागते ही तीनों लोक संत्रस्त हो उठते थे ।

व्याख्या : पहिले ५. सहाय का वर्णन करते हैं । सच्चा सहाय भाई है । यथा : होहिं कुठाहर वंधु सहाए । यहाँ 'अस' शब्द भाईपन के उत्कर्ष का बोधक है । भाई के अन्याय को जानकर उसको मना भी करता है । पर उसके न मानने पर भी उसी के लिए प्राण देता है । ऐसा भाई । सो महाबल नहीं अतिवल, जिसका जोड़ संसार में पैदा ही नहीं हुआ । स्वयं ब्रह्मदेव अचम्भे में आगये । यथा : तेहि विलोकि उर विस्मय भयेऊ । उसको स्वाभाविक बल था । रावण भी प्रतिभट खोजता था और उसे नहीं मिला । पर उसका बल तपस्या से अर्जित था । कुम्भकर्ण मद्यपान करके छः महीने सोता था । अर्थात् छः महीने बेसुध पड़ा रहता था । जिस दिन जागता था त्रैलोक्य त्रस्त हो जाता था कि आज किस खण्ड का संहार होगा । कोटि घट तो मदिरा चाहिए । चिखना के स्थान में भैंसा चाहिए । यथा : रावन मांगेउ कोटि घट मद अरु महिस अनेक । तब उसके बाद कोटि-कोटि कपि धरि-धरि खाई । ऐसा भयानक सहायक भाई था ।

जौं दिन प्रति अहार कर सोई । विस्व वेगि सब चौपट होई ॥
समर धीर नहिं जाइ बखाना । तेहि सम अमित वीर बलवाना ॥३॥

अर्थ : यदि वह नित्य भोजन करता तो यह संसार शीघ्र ही नष्ट हो जाता । रणधीर इतना बड़ा था कि बखाना नहीं जाता और उसके ऐसे-ऐसे असंख्यात बलवान् वीर थे ।

व्याख्या : ऊपर एक दिन का आहार कहा गया । इसी भाँति यदि वह नित्य खाता तो सम्पूर्ण संसार को खा जाता । ब्रह्मदेव चिन्तित हो गये । कहने लगे : जौ यह खल नित करब अहारू । होइहि कुल उजार संसारू । इसीलिए सरस्वती की प्रेरणा से उसने छः महीने की नींद माँगी । साल में दो बार भोजन करता था ।

बड़े बलवान् भी यदि कापुरुष हों तो उनका बल व्यर्थ पड़ जाता है । पर कुम्भकर्ण अति बल होने के साथ ही साथ बड़ा शूर था । न उसके बल का वर्णन हो सके न शूरता का वर्णन हो सके । ४. अब सेना का वर्णन करते हैं । उससे ईषत् न्यून बहुत से वीर थे : सम ईषत् न्यून : कुछ कम के अर्थ में प्रयुक्त होता है । उनकी संख्या नहीं हो सकती है ।

वारिद नाद जेठ सुत तासू । भट महुँ प्रथम लीक जग जासू ॥
जेहि न होइ रन सम्मुख कोई । सुरपुर नितहिं परावन होई ॥४॥

अर्थ : उसका बड़ा बेटा मेघनाद था । वीरों में जिसकी पहिली गिनती थी ।

युद्ध में जिसके सन्मुख कोई होता न था। देवलोक में नित्य ही भगदड़ मची रहती थी।

व्याख्या : अब ३. सुत का वर्णन करते हैं। रावण के बेटों में मेघनाद सबसे जेठा था। उसने उत्पन्न होते ही मेघ की भाँति गर्जना की थी। इसीलिए उसका नाम मेघनाद हुआ। वीररस के अधिष्ठाता होने से भटों में पहली गिनती इन्द्र की थी। अब मेघनाद के सामने उनकी गिनती नहीं रह गई। जगत् में सर्वश्रेष्ठ वही गिना जाता था।

युद्ध में उसका सामना इन्द्रादि देव नहीं कर पाते थे। उसका धावा देवलोक में प्रायेण हुआ करता था। मेघनाद का आना सुनकर स्वर्ग में भगदड़ मची रहती थी। रावण ने राज्य की नींव डाली। कुम्भकर्ण ने त्रैलोक्य को संत्रस्त किया। मेघनाद की धाक स्वर्ग तक जम गई।

दो. कुमुख अकंपन कुलिसरद, धूमकेतु अतिकाय।
एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

अर्थ : दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदंष्ट्र, धूमकेतु और अतिकाय ये ऐसे योद्धा थे कि अकेले जगत् पर विजय पाने में समर्थ थे। ऐसे-ऐसे सुभट वहाँ बहुत थे।

व्याख्या : जगत् जय के वर्णन से १. सुख २. सम्पत्ति को पराकाष्ठा कहते हैं। स्थालीपुलाक न्याय से पाँच का नाम यहाँ गिनाया गया। नहीं तो लङ्का ऐसे सुभटों से भरी थी जो अकेले ही जगत् के जीतने में समर्थ थे। दुर्मुख का मुख विकट था। अकम्पन कभी युद्ध से काँपते ही नहीं थे। वज्रदंष्ट्र के दाँत वज्र के से थे। धूमकेतु अग्नि ही ठहरे। अतिकाय का आकार बड़ा भारी था। इस भाँति जिनिस अनेका का भी उदाहरण दिखलाया।

कामरूप जानहि सब माया[1]। सपनेहुँ जिन्हके धरम न दाया ॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा ॥१॥

अर्थ : सब इच्छानुरूप रूप धारण करनेवाले थे और माया जानते थे। सपने में भी उन्हें धर्म और दया नहीं थी। दशमुख : रावण ने एक बार सभा में बैठे। अपने परिवार को देखा कि असंख्य हैं।

व्याख्या : कामरूप होने से उन्हें परपीड़ा में बड़ी सहायता मिलती थी। कुहुक विद्या से अघटित घटना कर दिखाते थे। परवञ्चना में बड़े कुशल थे। दया

---

[1] माया कुहक विद्या है। जिससे प्रकृति के मर्म को जानकर बड़े बड़े चमत्कारों का प्रादुर्भाव होता है। लङ्का काण्ड में उन चमत्कारों में से कुछ एक का उल्लेख है। आज कल भी उसी विद्या का दौरदौरा है। नहीं तो : तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्। कर्म वही है, जिससे बन्धन न हो। विद्या वही है जिससे मुक्ति हो। अन्य कर्म तो आयास के लिए है और अन्य विद्या शिल्प की निपुणता मात्र है।

धर्म का तो उन्हें संस्कार भी नहीं था। अर्थात् जो अकेले संसार जीतने में असमर्थ थे वे भी परपीड़ा में कुशल थे। यहाँ तक 'अधर्मेणैधते' कहा। अब ततो भद्राणि पश्यति कहते हैं। रावण राक्षसों के राजा हो गये। लङ्का ऐसा गढ़ मिल गया। असंख्य राक्षसी प्रजा नगरी में बस गई। अतः राजसभा भी लगने लगी। विशेष घटना का उल्लेख करना है। अतः उस सभा की चरचा करते हुए कहते हैं कि एक बार राजसभा में दशमुख बैठे थे। दशमुख कहने का भाव यह था कि दशों दिशाओं को एक साथ देखने का सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त था। देखा कि सभा अपने परिवार से ही भरी पड़ी है।

सुत समूह जन परिजन नाती। गनै को पार निसाचर जाती ॥
सेन विलोकि सहज अभिमानी। बोला बचन क्रोध मद सानी ॥२॥

अर्थ : बेटों के समूह, स्वजन, अनुचर और पौत्रों के समूह हैं। राक्षस जाति की कौन गणना कर सकता है? स्वभाव से ही वह अभिमानी था। सेना देखकर वह क्रोध और मद से सनी हुई वाणी बोला।

व्याख्या : बेटों का समूह उसी भाँति कुटुम्बी, सेवक और पौत्र भी असंख्य हैं। निशाचर जाति है। इनमें वृद्धि भी बड़े बेग से होती है। जब लङ्का में पहिले पहल आये थे तब राक्षसों की सेना साथ थी। उस समय पुत्रोत्पत्ति भी नहीं हुई थी। परन्तु आज पुत्र पौत्रों की ही गणना कठिन है। और सब के सब योद्धा हैं। अतः उनकी एक बड़ी भारी सेना हो गई है। उस सेना को जब देखा तो फूले न समाये। अभिमानी तो स्वभाव से ही थे। कुटुम्ब की वृद्धि देखकर और भी अभिमान बढ़ा। तब मद और क्रोध से भरी वाणी बोले। धन यौवन सौन्दर्य ते हर्ष युक्त जो क्षोभ होता है उसे मद कहते हैं।

सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे वैरी बिबुध बरूथा ॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई। देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥२॥

अर्थ : सब राक्षसों के समूह सुनते जाओ। देवताओं के समूह हमारे वैरी हैं। वे सामने डटकर नहीं लड़ते। शत्रु को बलवान् देखकर भाग जाते हैं।

व्याख्या : देख लिया कि अपना परिवार ही लङ्का की रक्षा करने में समर्थ है। अतः सम्पूर्ण सेना को आज्ञा देता है। पहिले शत्रु को अभिहित करता है। मर्त्यलोक में नर हैं। उनकी गिनती ही क्या है। पाताल के असुर अपने ही वर्ग के हैं। ये देवता मेरे शत्रु हैं। मेरा बुरा चाहते हैं। पीठ पीछे बुराई करते हैं। लड़ाई में सामना नहीं करते। हमें बलवान् देखकर भाग जाते हैं। यथा : जच्छजीव लै गए पराई। अब उन्हें कहाँ खोजें? जल्दी हाथ नहीं आते। और शत्रु का शेष रहना बुरा है। इन्हें निःशेष करना चाहिए।

तिन्ह कर मरन एक विधि होई। कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई ॥
द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम बाधा ॥४॥

अर्थ : उनके मर जाने की एक विधि है। समझाकर कहता हूँ। अब इसे सुनो। ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम और श्राद्ध इन कर्मों में तुमलोग जाकर वाधा डालो।

व्याख्या : मर्त्यलोक और देवलोक में एक व्यापार चलता है। पूर्व काल में यज्ञ के सहित प्रजा की सृष्टि करके प्रजापति ने कहा कि इसी यज्ञ से तुमलोग बढ़ोगे। यह तुम्हारे लिए कामधेनु होगा। यज्ञ से तृप्त होकर देवता तुम लोगों को तृप्त करेंगे। इस भाँति एक दूसरे को तृप्त करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे। तब से यह व्यापार ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम और श्राद्ध के रूप में चल पड़ा है। इन्हीं के द्वारा लोग देवताओं को तृप्त करते हैं। आहुति में दिये हुए अन्न से अमृत बनता है। वही आहार है। उसी से देवता पुष्ट होते हैं और मर्त्यलोक का कल्याण करते हैं। इसलिए तुमलोग इस व्यापार में बाधा डालकर इसे बन्द कर दो।

दो. छुधा छीन बलहीन सुर, सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहौं कि छाड़िहौं, भली भाँति अपनाइ ॥१८१॥

अर्थ : भूख से क्षीण और बलहीन होकर देवता आप से आप आकर मिलेंगे। तब उन्हें भलीभाँति अपने वश में करके चाहे मार डालूँगा चाहे छोड़ दूँगा।

व्याख्या : ये शत्रु यज्ञभाग पाकर ही बलवान् होते हैं। यज्ञ न होने पायेगा तो इन्हें भोजन न मिलेगा। भूख से मरने लगेंगे। दुर्बल हो जायँगे। भाग भी न सकेंगे। आप से आप शरण में आवेंगे। जब भलीभाँति वश में आ जायँगे तब अपनी मर्जी की बात रहेगी। चाहे उन्हें मारें चाहे छोड़ दें। मर्त्यलोक में ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ, श्राद्ध और होम बन्द कराने में तुमलोगों को बड़ी सरलता है। यज्ञ में अन्न को जलाकर ये देश के शत्रु देश का अहित करते हैं। केवल इतने ही मौखिक आन्दोलन से यज्ञभागादि बन्द हो जायँगे। न मानने पर बलप्रयोग भी मनुष्यों में अनायास ही किया जा सकता है।

मेघनाद कहुँ पुनि हँकरावा। दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा ॥
जे सुर समर धीर बलवाना। जिन्ह के लरिवे कर अभिमाना ॥१॥

अर्थ : फिर मेघनाद को बुलवाया। उसे शिक्षा दी, सेना दी, शत्रुता दी और बढ़ावा दिया। कहा कि जो देवता समर में धीर बलवान् हैं और जिन्हें लड़ने का अभिमान है।

व्याख्या : सेना को आज्ञा देने के बाद जेठे बेटे मेघनाद को बुलवाया। पहिले रसद बन्द किया। अब धावे का प्रबन्ध कर रहा है। कुम्भकर्ण सो रहे हैं। विभीषण साधु ही ठहरे। मेघनाद का भट मह प्रथम लोक है। अतः उसे बुलवाया और शिक्षा दी। यथा : मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताहीं। बाँध लेने से ब्रह्मदेव छुड़ाने आवेंगे। वरदान मिलेगा। बन्धन से छूटने पर आज्ञाकारी होकर रहेगा। इत्यादि। सेना साथ कर दी। वैर दिया कि : ये देवता हमारे जाति के वैरी हैं। इन्हें यदि अवसर

मिले तो हम लोगों के वध में तनिक भी आगापीछा न करेंगे। बढ़ावा दिया कि देवताओं में है कौन जो तुम्हारा सामना कर सके। इत्यादि।

तत्पश्चात् मन्त्र बतलाया कि सबके पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं है। प्रधान मल्लनिर्वहण न्याय से जो प्रधान मल्ल को पछाड़ता है वही सब मल्लों का सरदार हो जाता है। देवताओं में जो वीररस के अधिष्ठाता हैं उन्हीं के जीतने से सब देवता जीते जावेंगे।

तिन्हहि जीति रन आनेसु बाँधी। उठि सुत पितु अनुसासन काँधी॥
एहि विधि सबहीं आग्या दीन्हीं। आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं॥२॥

अर्थ : उनको रण में जीतकर बाँध लाओ। बेटे ने उठकर पिता की आज्ञा को कन्धे पर लिया : सँभाला। इस प्रकार से सबको आज्ञा देकर स्वयं गदा लेकर चला।

व्याख्या : मेघनाद सिरे का वीर था। उसने उठकर पिता की आज्ञा को सँभाला। भाव यह कि वीररस के अधिष्ठाता इन्द्र को ही बाँध लाया। लङ्का के कारागार में देवराज इन्द्र बन्द हुए। पहरे पर विभीषण थे। इन्द्र ने विभीषण से प्रार्थना की। विभीषण ने कहा कि जाने तो मैं नहीं दूँगा। पर उपाय बतलाता हूँ। बन्दी देवी की स्तुति करो। इन्द्र ने वही किया। और ब्रह्मदेव की सिपारिश से विनिर्मुक्त हुए।

यह लङ्कापति की आज्ञा विधि है। सबको काम में लगा दिया। चारों ओर एक साथ उपद्रव उठ खड़ा हुआ। आप स्वयं : रावण नाम : वीर वरिवंडा है। रणकण्डू मिटाने के लिए गदा लेकर चला। अस्त्रबल से नहीं भुजबल से सबको वश्य करना चाहता है।

चलत दसानन डोलत अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहि सुर रवनी॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तकेउ मेरुगिरि खोहा॥३॥

अर्थ : दशानन के चलते समय भूडोल आ जाता था। गर्जन करने पर देवताओं की स्त्रियों के गर्भ गिरते थे। रावण का क्रोध सहित आना सुनकर देवताओं ने मेरुगिरि के कन्दराओं की राह ली।

व्याख्या : रावण के पादप्रहार से पृथ्वी हिलने लगती थी। भार के सहने में असमर्थ थी। यथा : सेष कमठ सहि सकैं न भारा। पृथ्वी का यह हाल है। अब आकाश की दशा सुनिये। उसकी गर्जना सुनकर देवाङ्गनाओं के गर्भ गिरते हैं। इतना भयङ्कर गर्जन है और इतना बड़ा भय देवाङ्गनाओं को है कि रावण के गर्जन से उनका गर्भ गिरता था। देवताओं की यह स्थिति थी कि उसका क्रोधपूर्वक आगमन सुनते ही अपने अपने लोकों को छोड़कर प्राणभय से मेरु पर्वत के खोहों में जाकर छिपे। क्रुद्ध है। अतः अधीनता स्वीकार करने पर भी रक्षा नहीं है। मेरु सन्निकट है, अति विशाल है। उसमें दुर्गम खोह हैं। अतः देवताओं ने उसी का रास्ता लिया।

दिगपालन्ह के लोक सुहाए। सूने सकल दसानन पाए ॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी। देइ देवतन्ह गारि पचारी ॥४॥

अर्थ : दिग्पालों के सुन्दर सुन्दर लोकों को दशानन ने सूना पाया। बार बार सिंहनाद करके देवताओं को ललकारकर गालियाँ देने लगा।

व्याख्या : तब तक रावण वहाँ पहुँच गया। पर देवता लोग हट गये थे। इतने सुन्दर लोक हैं पर सूने पड़े हुए हैं। रावण जानता था कि ये सब भय से कहीं छिपे बैठे हैं। छिपे हुए भी शत्रु का गर्जन न सहकर प्रकट हो जाते हैं। अतः सिंहनाद करता है। फिर भी नहीं प्रकट होते तो कदाचित् गाली न सहकर सामने आ जाँय। इसलिए ललकारकर गाली देता है पर यहाँ कोई था ही नहीं। संसार देवताओं का आवाहन करता है। रावण उन्हें भगाता है। संसार उनकी स्तुति करता है। रावण गाली देता है। इसलिए कहा गया है कि राम की भाँति बरतना चाहिए रावण की भाँति नहीं।

रन मदमत्त फिरइ जग धावा। प्रति भट खोजत कतहुँ न पावा ॥
रवि ससि पवन वरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥५॥

अर्थ : रण के मद में मत्त होकर संसार में दौड़ता फिरता है। अपना जोड़ खोजता है। पर कहीं उसको सामना करनेवाला मिलता ही नहीं। सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल और यम।

व्याख्या : जैसे कोई मद से मत्त हो जाता है वैसे ही रावण रणमद से मत्त हो गया है। उसका रणकण्डू शान्त करनेवाला कोई मिलता नहीं है। उसी के लिए संसार में फिरता है। काल के ध्वजभूत सूर्य, चन्द, जगत् प्राण वायु, पाशधारी वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सर्वदाहक अग्नि, सबके संहार करनेवाले काल और संयम करनेवाले यम।

किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीं के पंथहि लागा ॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख वसवर्त्ती नरनारी ॥६॥
आयसु करहिं सकल भय भीता। नवहिं आइ नित चरन विनीता ॥७॥

अर्थ : किन्नर, सिद्ध, मनुज, सुर, नाग, हठ करके वह सबके पीछे पड़ा। ब्रह्मा की सृष्टि में जितने जीवधारी हैं क्या स्त्री क्या पुरुष सब दशमुख के वशवर्ती थे। सब डरकर उसकी आज्ञा मानते थे और नित्य विनीत होकर उसके चरणों में सिर नवाते थे।

व्याख्या : ततः सपत्नान् जयति का उदाहरण दिखलाते हैं कि सभी देवता उससे हार गये। परन्तु वह विश्वद्रोही था केवल जीत से सन्तुष्ट नहीं हुआ। किन्नर, सिद्ध : देवताओं की जाति विशेष : और पाताल लोक के नागों के पीछे पड़ा। सभी लोग उससे पीछा छुड़ाना चाहते थे। पर वह हठपूर्वक उनका पीछा नहीं छोड़ता था।

ब्रह्मा की सृष्टि में जितने शरीरधारी थे ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त सो सब रावण के वश में थे। शरीरधारी कहने से भाव यह कि अनङ्ग देवता : कामदेव उसके वश में नहीं थे। उनके वश में तो वह स्वयं पड़ा रहता था। रावण की आज्ञा सभी डरकर मानते हैं प्रेम से नहीं। अत्याचारियों का आज्ञा-पालन सदा भय से ही होता है। देवता सब नित्य लङ्का में प्रणाम करने आते हैं। यथा : करजोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि विलोकहिं सकल सभीता।

दो. भुजबल बिस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र ।
मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र ॥१८२॥ क

दो. देव जच्छ गंधर्व नर, किंनर नाग कुमारि ।
जीति वरीं निज वाहु बल, बहु सुंदर वर नारि ॥१८२॥

अर्थ : भुजा के वल से विश्व को वश करके उसने किसी को स्वतन्त्र नहीं छोड़ा। मण्डलेश्वरों का शिरोमणि रावण अपने मन्त्र से राज्य करता था। देवता, यक्ष, गन्धर्व, नर, किन्नर और नागकुमारियों को तथा अनेक सुन्दर स्त्रियों को अपने बाहुवल से जीतकर वरण कर लिया।

व्याख्या : आपुहिं चला गदा कर लीन्हें से उपक्रम करके भुजबल विस्व वस्य करि से उपसंहार करते हैं। ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख वसवर्त्ती नर नारी। इस पुरइन का यह दोहा कमल है। यद्यपि वालि, सहस्रार्जुन आदि कई एक वीरों के विषय में सुना गया है कि वे रावण के वश्य नहीं हुए। फिर भी 'भुजबल विस्व वस्य करि' कहा गया। क्योंकि सबके वश्य होने पर दो चार का वश न होना कुछ महत्त्व नहीं रखता। जब पात्र में के सब चावल पक गये तो पात्र के मुख पर लगे हुए दो चार चावलों के न पकने पर भी पाक का पूरा होना कहा जाता है। उस दो चार चावल का न पकना कोई महत्त्व नहीं रखता। सहस्रार्जुन, वालि या वलि का रावण के मार्ग में वाधक होने की कोई कथा नहीं पाई जाती। सार्वभौम राजा की भी किसी अवसर में पराजय हो जाती है। परन्तु यदि उसके शासन में उस पराजय से त्रुटि न आई हो तो उस पराजय की कोई गणना नहीं है। दो तीन स्थलों पर रावण का वल से पराजय सुना गया है। पर रावण में एक विशेषता थी। रावण में केवल शारीर वल ही न था। उसमें तपवल, योगवल, अस्त्रवल, शस्त्रवल, सैन्यवल, दुर्गवल, इष्टवल आदि अनेक वल थे। जिनका समुच्चय और कहीं पाया नहीं जाता। सहस्रार्जुन का परशुरामजी द्वारा वध हो चुका था। वालि से अग्निसाक्षिक मैत्री हो चुकी थी। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि रावण ने विश्व को वश्य कर लिया। परन्तु यह शङ्का समाधान उन रावणों के लिए है जो जय विजय जलन्धर या रुद्रगण के अवतार थे। जिस रावण का प्रकरण चल रहा है वह भानुप्रताप का अवतार था। उसके पराभव का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिए सब मण्डलेश्वर उसके अधीन थे।

राजा को मन्त्री चाहिए इसलिए उसने मन्त्री रख लिये थे। नहीं तो रावण ने मन्त्रियों की सम्मति की कभी परवाह न की।

रावण की कामुकता कहते हैं कि स्त्री के वरण में कोई विचार नहीं है। केवल उनकी सुन्दरता व्याह के लिए यथेष्ट गुण समझा गया था। भुजवल से जीत कर वरण करने से राक्षस व्याह कहा।

जो रावण भानुप्रताप का अवतार था उसका पराजय कहीं नहीं हुआ। अतः उसके वध के लिए साक्षात् ब्रह्म का रामावतार हुआ। भानुप्रताप ने भी भुजबल से विश्व वश्य किया था। पर उसने दण्ड लेकर छोड़ दिया था। समय पाकर वे ही भानुप्रताप पर चढ़ आये और उसका नाश किया। अतः रावणावतार में उसने किसी को न छोड़ा। सबको अपने वश में रक्खा। यथा : दानव देव दयावने दीन दुखी नित दूरहि ते सिर नावैं।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सव जनु पहिलेहि करि रहेऊ॥
प्रथमहि जिन कहुँ आयसु दीन्हा। तिन्हकर चरित सुनहु जो कीन्हा॥१॥

अर्थ : इद्रजीत से उसने जो कहा था उसे उसने मानो पहिले ही कर रक्खा था। अब जिनको पहिले ही आज्ञा दी थी उनके किये हुए इतिवृत्त को सुनो।

व्याख्या : इन्द्रजीत नाम देने से ही मेघनाद का इन्द्र को जीतना द्योतित किया। इसके पहिले मेघनाद, वारिदनाद नाम का ही प्रयोग किया था। मेघनाद से रावण ने कहा था : जे सुर समर धीर वलवाना। जिनके लरिवे कर अभिमाना। तिनहिं जीति रन आनेसु बाँधी। सो मेघनाद ने अति शीघ्र कर दिखाया। स्वयं इन्द्र को बाँध लाया।

रावण ने तीन विधि से कार्यारम्भ किया। देवताओं को रसद न मिलने पावे। इसलिए सेना को मृत्युलोक में भेजा। इन्द्रादि से युद्ध करने के लिए मेघनाद को भेजा। अन्य देवताओं की सहायता इन्द्र को न मिलने पावे। इसलिए उनके लोकों पर स्वयं रावण ने आक्रमण किया। सो मृत्युलोक में भेजे हुए निशाचरों की करणी कहते हैं :

देखत भीम रूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥२॥

अर्थ : देवताओं को दुःख देनेवाले पापी राक्षस देखने में बड़े भयङ्कर रूप थे। असुरों के समूह ने उपद्रव मचा दिया। माया से उन सबों ने अनेक रूप धारण किया।

व्याख्या : 'देखत भीम रूप' से रूप भयानक कहा। 'पापीदेव परितापी' से हृदय भयानक कहा। और 'करिहिं उपद्रव' से करणी भयानक कही। आसुरी सम्पत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। देवताओं की मरण-विधि में यत्नशील हैं। इससे देवपरितापी कहा। आसुरी सेना बड़ी भारी उतर आई थी। पर उसने एक

ओर से सबके संहार में हाथ नहीं लगाया। वे सब सम्पूर्ण देश में फैल गये। कामरूप तो थे ही। उन सबों ने अनेक रूप धारण किये। कोई पण्डितजी बन गये। कोई महात्माजी बन गये। कोई गोसाइंजी बन गये। सुधारक बने, कोई जनता के अगुआ बन गये। कोई देश हितैषी बने। कोई समाज हितैपी बने। अपने रूप में कोई न रहे। सब साधु रूप में हो गये और उपद्रव आरम्भ किया।

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आग लगावहिं॥३॥

अर्थ : जिस विधि से धर्म की जड़ उखड़ जाय। वे ही वेद विरुद्ध बातें करने लगे। जिस-जिस देश में गो ब्राह्मण को पाते थे उस नगर गाँव और पुर को फूँक देते थे।

व्याख्या : वेद ही धर्म का मूल है। उसके उखाड़ने की विधि वे जानते थे। पण्डितजी बनकर वे वेद का व्याख्यान करते थे। बतलाते थे कि वेद मनुष्यों का बनाया हुआ है। अब देश काल वैसा नहीं रह गया। नये वेद की आवश्यकता है। वेद को खींचखाँचकर मरोड़कर उसका अर्थ ही दूसरा करते थे। अर्थ करने की पद्धति ही बदल देते थे। कोई महात्माजी बनकर अपने माहात्म्य से लोगों को प्रभावित करके वेदमार्ग से च्युत करते थे। कोई गोसाईं बने हुए शिष्यों को अधर्म के रास्ते पर लगाते थे। कोई सुधारक बनकर सम्प्रदाय और परम्परा के मिटा देने में ही कल्याण का मार्ग दिखलाते थे। कोई अगुवा बनकर जनता को हरा बाग दिखाते हुए उसे विपत्ति के सागर में डुबाते थे। कोई देशहितैषी बनकर देश के देश को ईश्वर से विमुख करने में लगे थे। कोई समाजहितैषी बनकर एक जाति का दूसरे से वैर कराते थे। इस भाँति संसार में धूर्त्तता का राज्य हो गया। साधारणधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म, सतीधर्म, श्राद्ध, तर्पण, पूजन, भजन, यज्ञयागादि सभी धर्मों के प्रतिकूल आचरण स्वयं करते और लोगों से कराते थे।

जब जनता अधिक काबू में हो गई तब स्पष्ट अत्याचार करने लगे। यज्ञ में प्रधान साधन दो हैं। १. गौ और २. ब्राह्मण। उन दोनों से संसार का अकल्याण पहिले बतलाते थे। अब यह नियम कर दिया कि जिस पुर, ग्राम या नगर में गौ या ब्राह्मण पाये जाँय उसे एकदम फूँक दो। गौ ब्राह्मण के रहते धर्म कर्म बन्द नहीं हो सकता। अतः इनको आश्रय देना अपराध माना गया। क्यों गौ ब्राह्मण को आश्रय दिया ? इस अपराध से पूरी बस्ती फूँक दी जाती थी। जिसमें यज्ञयागादि का कोई नाम लेनेवाला न रहे। और देवताओं को कुछ भोजन कहीं से मिलने न पावे।

सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई॥
नहि हरि भगति जज्ञ तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न वेद पुराना॥४॥

अर्थ : कहीं शुभ आचरण नहीं हो पाता था। देवता गुरु और ब्राह्मण को

कोई मानता न था। न कहीं हरिभक्ति, यज्ञ, तप और ज्ञान का पता था और वेद पुराण तो कोई सपने में भी नहीं सुनता था।

व्याख्या : ब्राह्मणों के दर्शन न करने से लोग पतित हो गये। शुभाचरण बन्द हो गया। पूज्य-पूजा व्यतिक्रम हो गया। देवता ब्राह्मण और गुरु की पूजा बन्द हो गई। उनकी पूजा आरम्भ हुई जो भवबन्धन को दृढ़ करनेवाले हैं। हरिभक्ति, यज्ञ, तप और ज्ञान असभ्योचित कार्य माना जाने लगा। सभ्य वही माना जाता था जो भक्ति, यज्ञ, तप आदि को अन्धविश्वास माने। अतः ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड तीनों का लोप हो गया। वेद पुराण तो इन्हीं तीनों काण्डों से ओत प्रोत हैं। अतः इनकी चरचा संसार से उठ गई।

छं. जप[1] जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनैं दससीसा।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि वहु विधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना॥
दो. बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवनि मिति॥१८३॥

अर्थ : जप, योग, विराग, तप और यज्ञभाग को यदि रावण कान से सुन पाता था तो स्वयं दौड़ पड़ता था। इन सबको रहने नहीं देता था। सवको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता था। संसार में ऐसा भ्रष्टाचार फैला कि धर्म तो कान से सुनाई नहीं पड़ता था। जो वेद पुराण कहता था उसे बहुत विधि से भय देता था। और उसका देश निकाला करता था।

जो अनीति राक्षस लोग करते थे उसका वर्णन नहीं हो सकता। जिनकी हिंसा पर अत्यन्त प्रीति है। उनके पापों की सीमा क्या है ?

व्याख्या : इमली इमली कहने से मुँह मीठा नहीं होता। मर्चा मर्चा कहने से तीता नहीं होता। अतः जप करना व्यर्थ समय व्यतीत करना समझा गया। गाँजे की दम लगाकर बेहोश होना और समाधि लगाना एक वात समझी गई। तप करके आँतों को सुखाना, व्यर्थ अपने को दुर्वल बनाना माना गया। विराग की गिनती नालायकी में हुई। यज्ञ खाद्यान्नदाह से सम्पन्न होता है। अतः अपराध माना गया। महाराज रावण की आज्ञा थी कि ये सब दुष्कर्म हैं। ये मेरे राज्य में न होने पावें। महाराज को इन सब बातों से बड़ी चिढ़ थी। जप, योग, विराग और मख देश छोड़कर भाग गये। यथा : भागेउ विवेक सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे। अथवा मखभागा का अर्थ यज्ञभाग कर दिया जाय। इन्हें रावण नहीं रहने देता था। अर्थात् इनका प्रचार उसे असह्य था। इन्हें देश से उठा दिया। देश का

---

[1] यह चौपैया छन्द है। लक्षण के लिए १८५ वाँ दोहा देखिये।

देश स्वधा से विहीन हो गया। मुख से भी कोई मन्त्रोच्चारण नहीं करने पाता था। सब यथेच्छाचारी और विषय में लिप्त हो गये थे। केवल उड़ती खबर यदि रावण को लग जाय कि कहीं यज्ञादि होता है तो स्वयं दौड़ पड़ता था कि कहीं जाते जाते पूर्णाहुति न हो जाय या जिसको इस काम पर भेजें वह आलस्य न कर जायँ नहीं तो कुछ न कुछ देवताओं को भोजन मिल ही जायगा। इसलिए ऐसी मुस्तैदी वनी रहती थी कि उसे नष्ट करके ही मानता था। धर्म करना तो किसी से साध्य था ही नहीं। धर्म की चरचा तक कोई नहीं कर पाता था। और यदि किसी ने वेद पुराण की चरचा की तो उसको खूब डरा धमकाकर देशनिकाला का दण्ड दिया जाता था। इसलिए खूब डरा धमका देते थे कि जिसमें वह जिस देश में जाय वहाँ कहीं वेद पुराण की चरचा न करे।

रावण केवल निशाचरी सेना भेजकर ही सन्तुष्ट नहीं थे। स्वयं ऐसी मुस्तैदी दिखलाते थे जिससे सब सावधानी से काम करें। अतः कवि कहते हैं कि घोर निशाचर जो अनीति करते थे उनका वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि उस अनीति के सोचने में भी मानव बुद्धि असमर्थ है। मन वाणी और शरीर से सब भूतों में सर्वदा क्लेश उत्पन्न करना हिंसा है। यथा : हिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिस्सर्वभूतेषु सर्वदा क्लेशजननम्। शा. उ.। ऐसी हिंसा पर जिसकी प्रीति है। जो दूसरे को दुख देने में ही आनान्द मानते हैं। उनके पाप का क्या ठिकाना। रावण की आज्ञा से भी अधिक अन्याय की आवश्यकता पड़े तो उसे ये लोग वड़ी प्रीति से सम्पादन करते थे। भाव यह कि यहाँ तक धर्म का पतन होता है। अतः धर्मात्मा धर्म का ह्रास देखकर अधीर न हों। धर्म का नाश हो नहीं सकता। उसके संभालने के लिए भगवान् को आना पड़ता है।

वाढ़े खल वहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥१॥

अर्थ : खल, चोर और जुआड़ियों की अभिवृद्धि हुई। जो पराई स्त्री और पराए धन के चाहनेवाले थे, माता पिता और देवता को नहीं मानते थे, साधुओं से सेवा कराते थे।

व्याख्या : निष्कारण दूसरे का अपकार करनेवाले खल हैं। उन्हीं के भेद का निरूपण करते हैं। चोरी और जूआ का साथ है। चोर ही पक्के जुआड़ी होते हैं। दूसरे के धन से उन्हें जूआ खेलना ठहरा। दूसरे के धन और स्त्री के लोभी घोर गति को प्राप्त होते हैं। यथा : जे ताकहिं परधन परदारा। पावौं मैं तिनके गति घोरा। ऐसे लोगों की बढ़ोत्तरी हुई। चोरी और जुआ भी सभी काल में होता आया है। परन्तु कुराज में इनका प्रचार अधिक होता है।

वेद की आज्ञा है : मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। माताओं को देवता मानो, पिता को देवता मानो, आचार्य को देवता मानो। सो देवताओं को ही वे नहीं मानते। मातापिता को क्या देवता मानेंगे ? लोग अपने श्रेय के

लिए साधुसेवा करते हैं। यथा : सेवत साधु द्वैत भ्रम भागै : खल लोग साधुओं से अपनी सेवा कराते है। तात्पर्य यह कि रावण के राजा होने से प्रजा भी असुर हो गई।

जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी ॥
अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी ॥२॥

अर्थ : जिनका ऐसा आरचण हो हे भवानी ! उन सब प्राणियों को राक्षस जानो। अत्यन्त धर्म की ग्लानि देखकर परम सभीत हो पृथ्वी विकल हो उठी।

व्याख्या : देवासुर विभाग आचरण से लखाई पड़ता है। खल, चोर, जुआड़ी, परधन परदार के लोलुप, माता पिता और देवता के न माननेवाले, साधुओं से सेवा करानेवाले आसुरसर्ग के जीव हैं। इनके बढ़ने से संसार की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। यथा : प्रभवत्युग्रकर्माणो क्षयाय जगतोऽहिताः। उग्रकर्माओं की बढ़ोत्तरी होती है। जगत् के क्षय के लिए ऐसे ही प्राणी निशिचर : राक्षस कहलाते हैं। लीला आदि में राक्षसों को सींघ, दाँत आदि पशु के चिन्ह उनके अपमान के लिए लगा देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो राक्षस हों वे विकट रूप ही हों।

धारण करने से धर्म कहा जाता है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है। धारणात् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः। रावण के राज्यकाल में धर्म की बड़ी भारी ग्लानि : अधःपतन हुई। यहाँ धर्म की ग्लानि कहकर ईश्वर के अवतीर्ण होने की परिस्थिति दिखलाते हैं। यथा : यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। धर्म को निष्प्राण होते देखकर पृथ्वी अत्यन्त डर गई और व्याकुल हो उठी। जब शरीर में रोग अत्यधिक बढ़ जाता है तो शरीर के भीतरी यन्त्र काम नहीं करते। इसी भाँति पृथ्वी को रावणरूपी महारोग हो गया था। यथा : कृत दूरि महामहिभूरिरुजा। उसकी अभिवृद्धि से पृथ्वी की व्यवस्था चलानेवाला धर्म अति शिथिल पड़ गया। अतः अपना नाश उपस्थित होने से पृथ्वी मारे डर के व्याकुल हो गई और सोचने लगी।

गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥
सकल धर्म देखै विपरीता। कहि न सकै रावन भयभीता ॥३॥

अर्थ : मुझे पर्वत नदी और समुद्र का उतना बोझ नहीं है जितना बोझ मुझे एक परद्रोही का होता है। पृथ्वी सब धर्मों को विपरीत देखती है। पर रावण के भय से डरी हुई कुछ बोल भी नहीं सकती।

व्याख्या : गिरि में कितने पत्थर हैं। सरिसिन्धु में कितना पानी है कुछ ठिकाना नहीं। परद्रोही में कितना बोझ होगा ? पर यहाँ प्रश्न भौतिक बोझ का नहीं है। अपने प्रेमास्पद किसी को बोझ नहीं होते। अपने वर्ग में परम प्रीति होती है। गिरि सरि सिन्धु परोपकारी हैं। अतः वे पृथ्वी के वर्ग के हैं। यथा : संत विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबनि की करनी। अतः उसे उनका बोझ

अखरता नहीं। परन्तु परद्रोही को पृथ्वी चाहती नहीं। उसके बोझ को वह सहन नहीं कर सकती और रावण के राज्य में उन्हीं की अभिवृद्धि थी। अतः पृथ्वी के लिए बोझा असह्य हो गया।

सब धर्म को विपरीत देखती है अर्थात् अधर्म का अभ्युत्थान हो गया। सबकी बुद्धि तामसी हो गई। लोग अधर्म को ही धर्म समझने लगे। शास्त्र कहता है कि व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति। वर्णाश्रम की स्थिति में संसार सुखी होता है। कष्ट नहीं पाता। परन्तु तामसी बुद्धिवालों को वर्णाश्रम आँख का काँटा हो जाता है। शास्त्र कहता है कि न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति। परन्तु तामसी बुद्धिवालों को स्त्रीस्वातन्त्र्य सब कल्याण का मूल जँचता है। शास्त्र कहता है कि शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गश्च। शौच का अभ्यास डालने से अपने शरीर से घृणा हो जाती है। वह दूसरे का संसर्ग नहीं करता। पर तामसी बुद्धिवाले छुआछूत उठा देने को ही धर्म समझते हैं। यथा : अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी। पर सामर्थ्य किसकी जो इसके विरुद्ध आवाज उठाए। अतः पृथ्वी रावण के भय से सब कुछ देखती थी। बोल नहीं सकती थी तब :

धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥
निज संताप सुनाएसि रोई। काहू तें कछु काज न होई॥४॥

अर्थ : हृदय में विचारकर उसने गाय का रूप धारण किया। और जहाँ सुर मुनि का समूह था वहाँ गई। अपना दुःख रोकर सुनाया। पर किसी का किया कुछ हो न सका।

व्याख्या : गाय दीनता का प्रतीक है। अरिहु दन्त तृन दवत ताहि नहि मारि सकत कोई। शत्रु जब दाँत तले तृण दबा लेता है अर्थात् जब गौ होने का भाव दिखलाता है तब उसे भी कोई मारता नहीं। अतः दीनता का प्रतीक बनकर पृथ्वी वहाँ गई जहाँ देवताओं और मुनियों का समूह था। क्योंकि ये ही धर्म के रक्षक हैं। देवता और मुनियों का समूह उस समय मेरु पर्वत पर था। यथा : देवन तकेउ मेरु गिरि खोहा। रोकर दुःख सुनाना इस बात का द्योतक है कि दुःख असह्य है। परन्तु जो स्वयं छिपते फिरते हैं वे क्या कर सकते हैं और मुनि लोग तो भक्ष्य ही ठहरे। गौ गोहार के लिए भी देवता और मुनि तैयार नहीं हुए। देश की यह बड़ी पुरानी प्रथा है कि गो गोहार और तिरिया गोहार पर सब लोग रक्षा के लिए उठ खड़े होते हैं। परन्तु रावण के भय से किसी को साहस न हुआ।

छंद. सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोक।
संग गो तनुधारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोक॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई॥

अर्थ : देवता, मुनि और गन्धर्व सब मिलकर ब्रह्मदेव के लोक गये। उनके साथ भय और शोक से परम विकल गाय का शरीर धारण किये हुए बेचारी पृथ्वी थी। ब्रह्मा ने सब जान लिया। मन में विचारा कि मेरा भी कोई चारा नहीं है। और पृथ्वी से कहा कि जिसकी तू दासी है वही अविनाशी मेरा और तेरा भी सहायक है।

व्याख्या : जब कोई बात देवताओं के वश के बाहर हो जाती है तब ब्रह्मदेव के शरण में जाते हैं। क्योंकि उन उन अधिकारों पर उनकी नियुक्ति ब्रह्मदेव द्वारा ही होती है और जब ऐसा समय आता है कि बलवान् शत्रु उनके अधिकार को छीनने लगता है तो वे स्वभावतः ब्रह्मदेव के शरण जाते हैं। अतः पृथ्वी का करुण क्रन्दन सुनकर देवता, मुनि और गन्धर्व लोग सब मिलकर ब्रह्मलोक गये। साथ में भय और शोक से परम विकल भूमि बेचारी भी गई। विकल होकर तो वह देवताओं के शरण गई। उनकी बेवसी से यह परम विकल हो गई। जहाँ वे लोग पुकार करने चले वहाँ वह भी गई। कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। ब्रह्मदेव सब बातें जान गये। पर करते क्या ? उन्हीं से वर पाकर वह सब कर रहा था। रावण स्वयं कहता था कि निज तप साहस विरंचि लियो मोल है। पृथ्वी से कहने लगे कि कोई भी विनाशी जीव तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि विनाशी को तो रावण मार ही डालेगा। तेरे पति अविनाशी हैं। यथा : समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले। विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे। अतः वे ही मेरे भी सहायक हैं।

सो. धरनि धरहि मन धीर, कह बिरंचि हरि पद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहि दारुन बिपति ॥१८४॥

अर्थ : ब्रह्मदेव ने कहा पृथ्वी ! तू धैर्य धारण कर और प्रभु के चरणों को स्मरण कर वे भक्तों की पीर को जानते हैं। वे दारुण विपत्ति का नाश करेंगे।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ने कहा कि तेरा नाम धरणी है। तू धैर्य को न छोड़ और प्रभु का स्मरण कर। उनसे कुछ कहना सुनना भी नहीं है। वे अन्तर्यामी भी हैं। जन की पीडा को जानते हैं। केवल उनका स्मरण करना ही पर्याप्त है। वे ही दारुण विपत्ति का नाश करेंगे। भाव यह कि तुम तो उनकी पत्नी हो। तुम क्यों अधीर होती हो। स्त्री को पति ही शरण है। अतः तुम उनका स्मरण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण है।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा ॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ॥१॥

अर्थ : बैठे हुए देवता लोग विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ पावें कि पुकार करें। कोई कहने लगा वैकुण्ठ चलना चाहिए। कोई कहने लगा उनका निवास क्षीरसागर में है।

व्याख्या : देवताओं को भी हरि का दर्शन दुर्लभ है। यथा : जे हरहिय

नयनन्हि कबहुँ निरखे नाहि अघाय। अतः विचार करने लगे कि ब्रह्मदेव तथा शिवजी ने तो रावण को वरदान दिया है। ये लोग उसकी रक्षा के लिए वचनबद्ध हैं। रावण भी इनसे निर्भय है। कहता है कि : साहिब महेस सदा संकत रमेस मोहि निज तप साहस विरंचि लियो मोल है। महेश तो मेरे स्वामी हैं। रमेश मुझसे शङ्कित रहते हैं और अपने तप के साहस से मैंने ब्रह्मदेव को तो मोल ले रक्खा है। भावार्थ यह कि रावण ब्रह्मदेव और महेश की ओर से निश्चिन्त है। यद्यपि विष्णु को शङ्कित वतलाता है। पर खतरा उसी से रहता है जो अपनी ओर से शङ्कित रहे। विष्णु वचनबद्ध नहीं हैं। उन्हीं से पुकार करनी चाहिए। अथवा त्रिदेव से रावण को भय नहीं है। अतः जिसके अंश से त्रिदेव की उत्पत्ति है उस प्रभु को पुकारना चाहिए। अब प्रश्न यह रहा कि उन्हें पावें कहाँ ? तो इसमें मतभेद हुआ। किसी ने वैकुण्ठ में चलने की राय दी और किसी ने क्षीरसमुद्र चलना विचारा।

जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रकट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ वचन एक कहेऊँ॥२॥

अर्थ : जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति रहती है प्रभु उसके लिए सदा वहाँ और उसी रीति से प्रकट होते हैं। हे गिरिजे ! मैं उस समाज में था। अवसर पाकर मैंने एक बात कही।

व्याख्या : मतभेद के कारण को स्पष्ट करते हुए शिवजी कहते हैं कि प्रभु की रीति है कि प्रभु को जहाँ जैसा मानकर भजता है। जहाँ पर उसकी जिस रूप में प्रीति करता है प्रभु उसको वहीं और उसी रूप में प्रकट होते हैं। अतः जिसने वैकुण्ठनाथ मानकर भजा है उसके लिए वे वैकुण्ठ में हैं और जिसने क्षीरसागर में मान रक्खा है और वहीं उसकी प्रीति है उसके लिए वे क्षीरसागर में भी हैं। इसीलिए देवताओं में मतभेद हुआ।

शिवजी कहते हैं गिरिजे ! उस समाज में मैं था। अर्थात् जहाँ सुरमुनिझारी मेरु पर्वत पर थे वहाँ मैं नहीं था। जहाँ ब्रह्मलोक में देवता गये और ब्रह्मदेव ने कहा कि मेरा भी कोई चारा नहीं वहाँ भी मैं नहीं था। पर जहाँ देवता लोग विचार करने बैठे उस समाज में मैं था। इससे यह है कि यह देवसभा रुद्रलोक में हुई। शिवजी बड़े सुशील हैं। अपना उत्कर्ष नहीं कहते। गिरिजा से रामकथा कहने के समय कहते हैं कि जैसा भुसुण्डि ने गरुड़ को सुनाया है वैसा ही मैं तुम्हें सुनाऊँगा। भुसुण्डि को प्रमाण मानकर उसकी कही हुई कथा सुनाते हैं। यद्यपि तथ्य यह है कि स्वयं भुसुण्डि को ही वह कथा शिवजी से मिली थी। उसके मुख्य कवि शिवजी हैं। पर भगवान् शङ्कर ऐसे सुशील हैं कि अपना मूल वक्ता होना छिपाकर भुसुण्डि को बड़ाई देते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि पृथ्वी देवसमाज के पास गई। पर किसी का किया कुछ न हुआ तो देवता लोग पृथ्वी को साथ लेकर ब्रह्मलोक गये। जव ब्रह्मदेव ने भी कह दिया कि मेरो कछु न वसाई तो ब्रह्मदेव को आगे करके रुद्रलोक गये। वहीं विचार होने लगा कि : कहँ पाइअ हरि करिअ

पुकारा। शिवजी देवताओं को अपने यहाँ पुकार के लिए आना न कहकर केवल इतना ही कहते हैं कि : तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊं। भावार्थ यह कि यह बात तुम्हारे जन्म के पहिले की है।

देवताओं में मतभेद होने पर शिवजी को अवसर मिला तो उन्होंने एक बात कही। बिना अवसर की बात शोभा नहीं देती।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥३॥

अर्थ : हरि सर्वत्र समान रूप से व्यापक हैं। प्रेम से प्रकट होते हैं। यह मेरी जानी हुई बात है। देश, काल, दिशा, विदिशाओं में वह स्थान कौन है जहाँ प्रभु नहीं हैं।

व्याख्या : हरि अखिल विश्व में व्यापक हैं। सर्वाधार हैं और सर्वत्र समानरूप से व्यापक हैं। सामान्य ही अव्यय रूप है। बात नहीं कि वैकुण्ठ में कुछ अधिक हों या क्षीरसागर में कुछ अधिक हों और यहाँ कुछ कम हों। वे तो सर्वत्र समान हैं परन्तु अव्यक्तरूप से हैं। उनसे काम लेने के लिए उन्हें व्यक्तरूप में लाना पड़ता है। वे प्रेम से ही व्यक्तरूप में आते हैं। जिन्हें वैकुण्ठ में प्रेम है उसके लिए वे वैकुण्ठ में प्रकट हैं। जिसे क्षीरसागर में प्रेम है उसके लिए वे क्षीरसागर में प्रकट हैं। और जिसे प्रेम नहीं है उसके लिए वे कहीं भी प्रकट नहीं हैं। कोई देश, कोई काल, कोई दिशा और कोई विदिशा, ऐसो नहीं है जहाँ प्रभु न हों। जब सर्वत्र समानरूप से प्रभु हैं तब यह प्रश्न ही नहीं बनता कि : कहँ पाइय हरि करिअ पुकारा।

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥
मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥४॥

अर्थ : वह चराचरमय हैं। फिर भी सबसे अलग हैं। निरपेक्ष हैं। प्रेम से प्रभु आग की भाँति प्रकट होते हैं। मेरी बात सबके गले उतर गई। और ब्रह्मदेव तो 'वाह, वाह' कहकर प्रशंसा करने लगे :

व्याख्या : अगजगमय होने पर भी उससे अलग रहना यह प्रभु का ऐश्वर्य योग है। यथा : न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। गी.। ये भूत मेरे में हैं। और मेरे में नहीं भी हैं। यह मेरा ऐश्वरयोग देखो। और विरागी हैं। यथा : न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। गी.। यद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहि न पाप पुन्य गुन दोषू। परन्तु प्रेम से प्रभु अग्नि[1] की भाँति प्रगट होते हैं। अग्नि यावत् रूपवान् द्रव्य

---

१. अग्नि का प्राकट्य चार प्रकार से होता है : १. आवेश २. प्रवेश १. स्फूर्ति और ४. आविर्भाव। इसी भाँति प्रभु का प्राकट्य भी चार प्रकार से होता है। वर्तन के पानी में जैसे अग्नि का आवेश होता है वैसे ही आवेशावतार कुछ दिन के लिए होता है। लोहे के गोले में अग्निप्रवेश की भाँति प्रवेशावतार होता है। बिजली की चमक की भाँति स्फूर्तिअवतार क्षणभर के लिए होता है। और पत्थर में टाँकी की चोट से साक्षात् अग्नि के प्राकट्य की भाँति प्रभु का आविर्भाव होता है। अतः अग्नि की उपमा दी।

में व्याप्त है। विना तेज के रूप होता ही नहीं। यथा : ज्यौं विनु तेज न रूप गोसाइँ। परन्तु अव्यक्तावस्था में है। उससे दाहन प्रकाशन आदि क्रिया नहीं होती। जब संघर्षण किया जाय तब अग्नि प्रकट होती है। यथा : अति संघर्षण करे जो कोई। अनल प्रकट चन्दन ते होई। इसी भाँति सर्वव्यापक होने पर भी प्रभु प्रेम करने से प्रकट होते हैं। यथा : ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्। तदपि करइ सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा। भाव यह कि यहीं प्रेम करो तो यहीं प्रकट हों।

शिवजी की बात सबके गले उतर गई क्योंकि सामञ्जस्य बैठ गया। किसी के अनुभव का खण्डन नहीं हुआ। बल्कि उपपत्ति हो गई। कहीं न जाकर उसी स्थान में प्रेम प्रयत्न करना निश्चय हुआ। ब्रह्मदेव तो फड़क उठे 'वाह, वाह' करने लगे।

दो. सुनि विरंचि मन हरष तन, पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मतिधीर ॥१८५॥

अर्थ : सुनकर ब्रह्मदेव के मन में हर्ष हुआ। शरीर पुलकित हो उठा। आँखों से आँसू बहने लगे। धीरमति सावधान होकर स्तुति करने लगे।

व्याख्या : शिवजी की वाणी सुनकर ब्रह्मदेव प्रेम में डूबाडूब हो गये। इसलिए मनसा वाचा कर्मणा प्रेम दिखलाया गया। फिर सावधान होकर बुद्धि स्थिर की और स्तुति करने लगे।। इसलिए 'सावधान मतिधीर' कहा गया।

छं. जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंत।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंत ॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई ॥१॥

अर्थ : हे देवताओं के नेता ! भक्तों के सुख देनेवाले ! प्रणत के पालन करनेवाले ! आपकी जय हो जय हो ! हे ब्राह्मण ओर गाय के हित करनेवाले ! असुरों के शत्रु ! लक्ष्मी के पति ! आपकी जय हो ! आप देवता और पृथ्वी के पालन करनेवाले हैं। आपकी करणी अद्भुत है। आपका मर्म कोई नहीं जानता। जो सहज कृपाल और दीनों पर दया करनेवाले हैं सो अनुग्रह करें।

व्याख्या : दुःख में पड़े हुए देवता लोग आपके नेतृत्व के लिए पुकार करने आये हैं क्योंकि आप ही सुरनायक हैं। आप उनका नेतृत्व ग्रहण कीजिये। आपके भक्त दुःख में पड़े हैं। इन्हें सुख दीजिये। आप भगवान् हैं। षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। जो आपको प्रणाम करता है उसका पालन करते हैं। सो देवसमूह आपको प्रणाम करता है उसका पालन कीजिये।

आप गाय और ब्राह्मण के हित करनेवाले हैं। सो इस समय दोनों अशरण हो रहे हैं उनका हित कीजिये। आप असुरों के अरि : शत्रु हैं। अथवा असुर आपके शत्रु हैं। उनकी इस समय बढ़ोत्तरी है। इसलिए उनका नाश करिये। आप समुद्र

की पुत्री लक्ष्मी के सुख का विस्तार करनेवाले हैं। सो इस समय लक्ष्मी सङ्कुचित होकर लङ्का में ही सीमित हो गई हैं। यथा : चाकि राख्यौ रासि सब जागर जहान भो। अतः रावण का वध करके संसार में लक्ष्मी का प्रसार कीजिये। आप देवता और पृथ्वी का पालन कीजिये। देवता क्षुधाक्षीण बलहीन हो रहे हैं। पृथ्वी पाप के भार से दबी चली जा रही है। सो देवताओं के आहार का मार्ग निरर्गल कीजिये। और पृथ्वी का भार उतारिये। आपकी अद्भुत करणी है। आप ही मनुष्यशरीर धारण करके रावणवध कर सकते हैं। नहीं तो मनुष्य शरीर से रावणवध नहीं हो सकता। आपका मर्म कोई नहीं जान सकता। जैसी परिस्थिति है तदनुकूल प्रार्थना करते हैं। ऐसी परिस्थिति होने देने में आपका क्या तात्पर्य है। इस मर्म को हम लोग नहीं जानते। आप स्वभाव से ही कृपा करनेवाले अर्थात् निष्कारण कृपा करनेवाले और दीन पर दया करनेवाले हैं। आप अनुग्रह करें। तीन बार जय कहकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार की विजय कही।

छं.[1] जय जय अविनासी सब घट बासी व्यापक परमानंद।
अविगत[2] गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंद॥
जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगतमोह मुनिवृंद।
निसि वासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंद॥२॥

अर्थ : हे नाशरहित घट घट में निवास करनेवाले व्यापक, परमानन्द, अव्यक्त, इन्द्रियों से परे पवित्र चरित्रवाले मायारहित और मुक्ति देनेवाले आप की जय हो। जिसके लिए विरागी अत्यन्त अनुरागी होते हैं और मुनिवृन्द मोहरहित होते हैं। रात दिन ध्यान करते हैं। गुणगण का गान करते हैं। ऐसे सच्चिदानन्द की जय हो।

व्याख्या : आप अविनाशी हैं। घटघटवासी विष्णु व्यापक हैं। अपनी दासी पृथ्वी पर कृपा कीजिये। यथा : जाकर तैं दासी सो अविनासी : आप परमानन्द हैं। संसार निरानन्द हो रहा है। उसे आनन्दित कीजिये। आप अविगत हैं अव्यक्त हैं। अथवा आप से विशेष गति किसी की नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों से अतीत हैं परे हैं। यथा : न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः। फिर भी आपके चरित पुनीत हैं। यथा : एक कल्प एहि लगि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा। आपका दिव्य जन्म होता है। आपके कर्म भी दिव्य होते हैं। यथा : जन्म कर्म च मे दिव्यम् : अतः अपने पुनीत चरित से

---

[1] यह चौपैया छन्द है। इसमें ३० मात्राएँ होती हैं। १०,८ और १२ पर विश्राम होता है। अन्त में एक सगण और एक गुरु : ॥ऽऽ : होता है।

[2] 'इः स्वप्नादौ' इस सूत्र से यकार को 'इ' हुआ। 'विप्रकर्षः' इस सूत्र से युक्त वर्ण पृथक् हुए। 'अजादौ स्वरादसंयुक्तानां क ख थ प फां गघ दध वभाः' इससे 'क' को 'ग' होकर अव्यक्त का 'अविगत' रूप सिद्ध हुआ।

संसार को पवित्र कीजिये। आप स्वयं माया से रहित हैं। और दूसरों कीं भी माया-रहित करके मुक्ति देते हैं। भाव यह कि इस समय संसार खलों की अभिवृद्धि से अपवित्र हो रहा है। उसे पवित्र कीजिये। जिसके लिए विरागी अत्यन्त अनुरागी होते हैं। और मुनि लोग विगत मोह होते हैं। यथा : करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी। रात दिन ध्यान करते हैं। आपके गुणगणों को गाया करते हैं। ऐसे सच्चिदानन्द भगवान् की जय हो। यहाँ भी उपर्युक्त अभिप्राय से तीन बार जय कहा गया।

छं. जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करहु अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव भय भंजन मुनि मन रंजन खंडन बिपति बरूथा।
मन वच क्रम वानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा॥२॥

अर्थ : जिसने सृष्टि उत्पन्न की। तीन प्रकार की बनाई। साथ में दूसरा सहायक न था। वही पापों का शत्रु हमारी खबर ले। हमें भक्ति या पूजा का ज्ञान नहीं है। जो संसार के भय का नाश करनेवाला हैं और विपत्ति समूह का खण्डन करनेवाला है उसी के शरण में मनसा वाचा कर्मणा चतुराई की आदत छोड़कर सब देवताओं का समूह आया है।

व्याख्या : भगवान् क्षीरशायी ही सृष्टि के आदि कारण हैं। यद्यपि ब्रह्मदेव स्रष्टा कहे जाते हैं परन्तु उनका जन्म भी भगवान् के नाभिकमल से हुआ है। अतः 'जेहि सृष्टि उपाई' कहते हैं। देव तिर्यक् और नररूप से सृष्टि तीन प्रकार की है। इसलिए 'त्रिविध बनाई' कहते हैं। अपने संकल्प से ही सृष्टि करते हैं। यथा : स ईक्षत वहुस्यां प्रजायेय : इसलिए कहा कि संगसहाय न दूजा। यह जगत् कार्य है। इसका कर्त्ता सब कर्त्ताओं से विलक्षण है। क्रिया बुद्धिपूर्वक होती है। जड़ में वह नहीं देखी जाती। कार्य के गुणानुसार कर्त्ता अचिन्त्य शक्तिमान् हैं। उसकी स्वतन्त्रता पूर्ण है। वह किसी वस्तु की अपेक्षा न करके सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है जिस भाँति स्वप्न में यह जीव सम्पूर्ण पदार्थों को चैतन्य देह से रचता है।

इस भाँति भगवान् में अचिन्त्य सामर्थ्य दिखलाया। अब कहते हैं कि इस समय संसार पापों से भर गया है। हमलोग चिन्तनीय दशा को प्राप्त हैं। आप पापों के शत्रु हैं। आप हमारी चिन्ता करें। आपकी ही चिन्ता से हमारा निस्तार है। क्योंकि क्षीरशायी भगवान् ही नाना अवतारों के अव्यय बीज हैं : हम स्वयं पुरुषार्थ में असमर्थ हैं। न भक्ति ही जानते हैं और न पूजा जानते हैं। संसार का भय बहुत बढ़ गया है। यथा : धर्म सुनिय नहि काना : और आप भवभयभंजन हैं। मुनि लोगों की पीड़ा का पारावार नहीं है। और आप मुनिमन रंजन हैं। संसार में विपत्ति का समूह टूट पड़ा है। और आप उसका खण्डन करनेवाले हैं। मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहैं रघुराई। यह नियम है। सो

मन क्रम वचन से चतुराई की बानी : आदत : छोड़कर सब देवताओं के समूह यथा : आदित्यगण, रुद्रगण तथा वसुगण इत्यादि : आपकी शरण आये हैं। आप कृपा करें : भाव यह कि भगवान् शरणागत के उद्धार में समर्थ हैं। दया के समुद्र, कृतज्ञ और सुव्यवस्थित हैं। श्रेय की प्राप्ति करा देते हैं। श्रेय के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। निर्हेतुक उपासना ही सच्ची उपासना है। वह आर्त और अर्थार्थी को अपनी नियति से कर्मपाक की अपेक्षा न करके फल देते हैं। वह अनन्य शरण का योगक्षेम वहन-करते हैं। अपनी नियति को भी हटाकर उससे साधन का सम्पादन करा के शीघ्र ही उसे युक्त करते हैं। यही उनका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है कि प्रारब्ध और नियति भी उनसे विमुख को ही होती है।

छं. सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहि जाना।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवहु सो श्री भगवाना॥
भव वारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुन मंदिर सुख पुंज।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंज॥

अर्थ : सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि समुदाय जिसे कोई न जान सका। जिसे दीन प्यारे हैं ऐसा वेद ने पुकारकर कहा है। वही भगवान् दया करें। हे संसारसमुद्र के मन्दर! सब प्रकार से सुन्दर! मुनि, सिद्ध और सब देवता लोग परम भय से आतुर होकर नाथ के चरणकमल को नमस्कार करते हैं।

व्याख्या : शारद से स्वर्गलोक का वक्ता श्रुति तथा अशेष ऋषियों से मर्त्यलोक का वक्ता तथा शेष से पाताल लोक का वक्ता कहा। ये लोग भी जिसे न जान सके। भाव यह है कि प्रभु साक्षात् ब्रह्म हैं। विज्ञाता हैं। वे किसी के भी ज्ञेय नहीं हो सकते। यथा : विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्। विज्ञाता को कोई कैसे जाने : फिर भी वेद पुकारकर कहता है कि उन्हें दीन प्यारे हैं। यथा : अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथावादी। नेति नेति जेहि निगम निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा। ऐसउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई। जौ अस वचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा : वही श्री भगवान् कृपा करें। भक्त के हेतु शरीर धारण करें।

सागर के मन्थन में मन्दर पर्वत ही समर्थ था। उसी द्वारा मन्थन से समुद्र में से १४ रत्न निकले थे। इसी भाँति भगवान् भवसागर के लिए मन्दर हैं। समुद्र के पार तो वानर लोग भी गये परन्तु उन्हें उसकी गहराई का पता नहीं। यथा : अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम् आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः। उसकी गहराई का पता तो मन्दराचल को है। इसी भाँति साधक प्रयत्न से संसारसागर के पार चले जाते हैं। पर उसके तल का पता श्री भगवान् को ही है। वे ही उसमें से अमृत का उद्भावन करके दैवी प्रकृतिवालों की पुष्टि कर सकते हैं। उन्हें विजययुक्त कर सकते हैं। मन्दर सब विधि सुन्दर

नहीं। पर प्रभु तो सब विधि सुन्दर हैं। गुण के मन्दिर और सुख के 'पुंज' हैं। अर्थात् निर्गुण होने पर भी सगुण हैं। जो संसार भय से भीत है उसके एकमात्र शरण हैं। इस समय मुनि, सिद्ध, सुर सब परम भयातुर हैं। अपने कल्याण के लिए प्रभुपदकंज को नमस्कार करते हैं।

दो. जानि सभय सुरभूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह ॥१८६॥

अर्थ : देवता और पृथ्वी को भयभीत जानकर और स्नेहयुक्त वाणी सुनकर सब सन्देहों को हरनेवाली गम्भीर आकाशवाणी हुई।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ने प्रार्थना की थी : मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर। अतः सुरभूमि को सभय जाना। शिवजी ने कहा था प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना। सो वचन समेत सनेह भी सुना। बोलनेवाला अदृश्य है। और शब्द सुनाई पड़ रहा है। इसलिए 'गगन गिरा गंभीर' कहते हैं। अथवा जो वाणी का भी वाणी : वाचोह वाक् है। उसकी गिरा आकाश द्वारा ही प्रकट होती है। कितने ऊपर से वाणी आ रही है। इसका थाह न होने से गम्भीर कहा अथवा वचन संक्षिप्त हैं पर अर्थ अति अधिक है। इसलिए गम्भीर कहा। पृथ्वी भय शोक से विकल थी। अतः शोक सन्देह की हरण करनेवाली वाणी हुई।

यह प्रभु का प्रथम गुणग्राम जगमङ्गल रूप है। यथा : जगमंगल गुनग्राम राम के। इसे अश्विनी नक्षत्र माना गया है। अश्विनी नक्षत्र में तीन तीन तारे चमकते हैं। इस स्तुति में भी तीन रूपों की चमक है। १. विष्णु २. क्षीरशायी और ३. ब्रह्म। अश्विनी नक्षत्र की आकृति अश्वमुख सी है। ब्रह्मविद्या के प्रधान उपदेष्टा भगवान् हयग्रीव हैं। उसी ब्रह्मविद्या का निरूपण इस स्तुति में है। इससे अश्वमुख माना। अथवा सामवेद के तुल्य होने से अश्वमुख माना। यह स्तुति ही जगमङ्गल के लिए ब्रह्मदेव ने की थी।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहौं नर वेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लैहौं दिनकर बंस उदारा॥१॥

अर्थ : हे मुनि, सिद्ध और अधिकारी देवता लोग, तुम लोग डरो मत। तुम्हारे लिए मैं नर का वेष धारण करूँगा। अंशों के सहित मनुष्य का अवतार उदार सूर्यवंश में ग्रहण करूँगा।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ने स्तुति में कहा था : मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंज। अतः आकाशवाणी होती है : जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। भानुप्रताप रावण हुआ था। यथा : काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा। दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावण नाम वीर बरिवंडा। उसी के अत्याचार से पीड़ित होकर देवता लोग शरण में आये हैं। क्योंकि रावण ने वर माँग लिया है कि : हम काहू के मरें न मारे। वानर मनुज जाति दुइ वारे।

और वानर मनुज में कोई ऐसा शक्तिशाली हो नहीं सकता। जो इस वीर वरिवंड के बध में समर्थ हो। अतः निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् ही यदि नर शरीर धारण करें तो इसका वध सम्भव है। परन्तु क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः यो. सू.। कर्म विपाक और आशय से जिसका सम्पर्क नहीं है ऐसा पुरुषविशेष ईश्वर है। वह मनुष्य क्यों होने लगा। अतः कहते हैं कि यद्यपि कर्म विपाक और आशय से मेरा लगाव नहीं है फिर भी तुम्हारे लिए मैं नरशरीर धारण करूँगा। ध्वनि यह निकलती है कि मैं तुम्हारे लिए नरशरीर धारण करूँगा। परन्तु तुम लोग भी अपने लिए वानर शरीर धारण करो। मैं : तुरीय का विभु अपने अंशों : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के विभुओं के सहित मनुष्य अवतार धारण करूँगा। अर्थात् जब अंशी का अवतार होगा तो साथ में अंश भी आवेंगे। राजा के साथ सारा समाज चलता है। यथा : निज इच्छा अवतरइ प्रभु सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग सब तब रहहिं मोच्छसुख त्यागि। उदार सूर्यवंश में अवतार ग्रहण करने का अभिप्राय यह कि बारह कलाओं में ही पूर्णता हो जायगी। क्योंकि सूर्य में बारह कलाएँ हैं। चन्द्रवंश में अवतार ग्रहण करने से सोलह कलाओं में पूर्णता होती है। क्योंकि चन्द्र में सोलह कलाएँ हैं। एक रुपये में आठ दुअन्नियाँ और चार चवन्नियाँ होती हैं। इसलिए आठ दुअन्नियाँ चार चवन्नियों से अधिक नहीं हैं। इसी भाँति बारह कलाओं का रामावतार और सोलह कलाओं का कृष्णावतार दोनों ही पूर्ण हैं। समान ही नहीं दोनों एक हैं।

स्पष्ट है कि यह आकाशवाणी उस कल्प की ही है। जिसमें स्वायम्भू मनु और शतरूपा की प्रार्थना से ब्रह्म का रामावतार हुआ था और भानुप्रताप का रावणावतार हुआ था।

तुरीय ब्रह्म के अंश, सुषुप्ति के प्रभु ईश्वर, स्वप्न के विभु हिरण्यगर्भ और जाग्रत् के विभु विराट् हैं। सो इनके साथ अवतीर्ण होने के लिए आश्वासन दिया जा रहा है। ब्रह्मदेव ने मनुष्य के हाथ से रावणवध का वरदान दिया है। अतः मैं मनुष्य शरीर धारण करूँगा। अब उस वंश को बतला रहे हैं। जिसमें अवतार ग्रहण करेंगे। सूर्यकुल उदार है। उसमें याचकों को विमुख नहीं फेरा जाता। उसी वंश में अवतीर्ण हूँगा। इससे अवतार का समय वैवस्वत मन्वन्तर सूचित किया।

कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब ब्रर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रगट नर भूपा॥२॥

अर्थ : कश्यप और अदिति ने बड़ा भारी तप किया था। उनको मैं पहिले ही वर दे चुका हूँ। वे ही दशरथ और कौसल्या के रूप से कोसलपुरी में मनुष्यों के राजा होकर प्रकट हुए हैं।

व्याख्या : जय और विजय के रावण होने के प्रकरण में कहा है : एकबार तिनके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी। कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या विख्याता। भाव यह कि जिस कल्प में जय और विजय रावण

कुम्भकर्ण हुए और उनके वध के लिए जो रामावतार हुआ उसके पिता माता दशरथ और कौसल्या, कश्यप अदिति के अवतार थे। वही बात आकाशवाणी कह रही है कि कश्यप अदिति ने बड़ा भारी तप किया था। उन्हें मैं पहिले ही पुत्र होने का वर दे चुका हूँ और वे दशरथ कौसल्या होकर कोसलपुरी में अवतीर्ण भी हो चुके हैं। भाव यह कि स्तुति के पहिले से ही कार्यारम्भ हो चला है।

तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥
नारद वचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं ॥३॥

अर्थ : सो हम चार भाई उनके घर में रघुकुलतिलक होकर अवतार ग्रहण करेंगे। नारद का वचन मैं सब सत्य करूँगा और परमशक्ति के सहित अवतार धारण करूँगा।

व्याख्या : उन्हीं नर भूप : दशरथ के घर में हम चार भाई होकर अवतार ग्रहण करेंगे। भाव यह कि देवता का आयुध वाहन आदि उनके स्वरूप से पृथक् नहीं होता। इस रामावतार में शेष भगवान् लक्ष्मण हुए। पाञ्चजन्य : शंख ने भरत का अवतार धारण किया और सुदर्शनचक्र ने शत्रुघ्न का अवतार धारण किया। इससे स्पष्ट है कि यह आकाशवाणी उस कल्प की है जिसमें जय विजय रावण कुम्भकर्ण हुए थे और बैकुण्ठनाथ का रामावतार हुआ था।

दो कल्पों की आकाशवाणियाँ कहकर अब उस कल्प की आकाशवाणी कहते हैं जिसमें नारदजी के शाप से भगवान् क्षीरशायी का रामावतार और रुद्रगणों का रावणावतार हुआ था। इस कल्प की आकाशवाणी में स्पष्ट उल्लेख है कि नारद का वचन सत्य करेंगे। भाव यह कि राजा का शरीर धारण करेंगे। स्त्रीविरह में व्याकुल होंगे। बन्दरों से सहायता माँगेंगे तथा समर में रावणकुम्भकर्णरूप रुद्रगणों को मुक्ति देंगे। परम शक्ति के साथ अवतार लेने की चरचा करने का यह कारण है कि स्त्री के विरह में विकल होने का शाप नारदजी ने दिया[1] है। इसलिए स्त्री बनने के लिए परम शक्ति के अवतीर्ण होने की नितान्त आवश्यकता है। अवतारी एक होने से जलन्धर कल्प की आकाशवाणी का पृथक् निर्देश नहीं है। उस कल्प की कथा का भी नारदकल्प की कथा में अन्तर्भाव है।

हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥
गगन ब्रह्म बानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥४॥
तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥५॥

अर्थ : मैं भूमि की सब गरुआई हरण करूँगा। देवता लोग निर्भय हो जाओ। ब्रह्म की की हुई आकाशवाणी कान से सुनकर देवता-लोग तुरन्त लौटे। हृदय

---

[1] क्षीरशायी का ही रामावतार दो कल्पों में हुआ। अतः पृथक् पृथक् आकाशवाणी नहीं लिखी।

शीतल हो गया। तब ब्रह्मदेव ने पृथ्वी को समझाया वह भी निर्भय हुई। जी में भरोसा आगया।

व्याख्या : पृथ्वी ने कहा था। गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही। अतः कहते हैं : हरिहौं सकल भूमि गरुआई। रावण ही नहीं निशिचरहीन पृथ्वी की जायगी। जनि डरपहु से उपक्रम और निर्भय होहु से उपसंहार किया। अब फिर ब्रह्म के रामावतार की कथा उठा लेते हैं। इसी भाँति ब्रह्म के रामावतार की कथा ग्रन्थकार कहेंगे। पर बीच में अन्य रामावतारों की कथाओं से जो भेद पड़ता जायगा उसे इसी भाँति दिखलाते चले जायेंगे। यही इस प्रबन्ध की विचित्रता है।

ब्रह्म की की हुई आकाशवाणी को सब देवताओं ने सुना। उनका कलेजा जल रहा था। क्योंकि रावण के अत्याचार से सबलोग बड़े दुःखी थे। आकाशवाणी सुनने के बाद देवता लोग ब्रह्मदेव के शिक्षानुसार कार्य करने के लिए तुरन्त लौट पड़े। ब्रह्मदेव ने जो शिक्षा दी वह आगे कही जायगी।

ब्रह्मदेव ने पृथ्वी को समझाया। यथा :

तेरी सुता ह्वैके आदिशक्ति उपजैगी नेह लावैंगो विदेह औ पिलावैगी सुनयना छीर।
धनु मख व्याज साज व्याह का सजेंगे राम, आवैंगी अवध वन जानकी परैगी भीर॥
ताके हेतु रावन को सकुल विनास ह्वै है, नास ह्वैहै भार अब धरती धरै तू धीर।
विपति कहैया सुर संतन सहैया विजय आनँद करैया तेरी वेग ही हरैगो पोर॥

पृथ्वी ब्रह्मदेव के उपदेश से हरिपद का स्मरण करती थी। उसने बात नहीं समझी। जब ब्रह्मदेव ने समझाया कि आकाशवाणी हुई है। उसका तात्पर्य यह है। तब उसके मनमें भरोसा हुआ और निर्भय हो गई।

दो. निज लोकहि बिरंचि गे, देवन्ह इहै सिखाइ।
बानर तनु धरि धरनि महँ, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ : ब्रह्मदेव देवताओं को यह सिखलाकर कि तुमलोग वानर का शरीर धारण करके पृथ्वी पर जाकर हरिपद की सेवा करो। अपने लोक में चले गये।

व्याख्या : आकाशवाणी के ऊपर ब्रह्मदेव की टीका हुई : जैसे उमा के तप के समय आकाशवाणी की टीका की थी। देवताओं को आदेश दिया कि तुमलोग भी वानर होकर अवतीर्ण होओ और प्रभु के आने की बाट जोहो। ऐसा कहकर ब्रह्माजी रुद्रलोक से ब्रह्मलोक चले गये। कुछ महात्माओं का मत है कि ब्रह्मस्तुति ब्रह्मसभा में ही हुई थी। निजलोकहि का अर्थ यह है कि ब्रह्मदेव 'अपने' तक को कहकर अन्तःपुर में चले अर्थात् मैं भी अवतीर्ण होऊँगा।

गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुँ विश्रामा॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरखे देव बिलंब न कीन्हा ॥१॥

अर्थ : सब देवता अपने अपने स्थान को गये। पृथ्वी के सहित उनके मन को

विश्राम हुआ। जो कुछ आज्ञा ब्रह्मा ने दी थी : उसके करने में : देवगण हर्षित हुए और देर नहीं की।

व्याख्या : देवता लोग अपने अपने लोक को गये। पृथ्वी भी अपने लोक को गई। आये थे मनसे विकल पर गये मनमें विश्राम लिए हुए। अभी दुःख हटा नहीं पर शीघ्र हटेगा। इस दृढ़ आशा मे मनमें विश्राम है।

किस भाँति कौन कौन कहाँ वानर रूप से प्रकट हो। इस आज्ञा के पालन में देर न हुई। क्योंकि आज्ञा पालन में विषाद नहीं है। वानर बनने में हर्ष है। बानर बनकर भी यदि प्रभु की सेवा सुलभ हो तो अहो भाग्य है। यथा : जानि राम सेवा सरस समुझि करव अनुमान। पुरुखा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान। प्रभु की रक्षा में निशाचरों से बदला लेंगे। बड़ा हर्ष का समय है इसलिए देर न की।

वनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥
गिरि तरु नख आयुध सब वीरा। हरि मारग चितवहिं मतिधीरा ॥२॥

अर्थ : पृथ्वी में उन लोगों ने बन्दर का शरीर धारण किया। और उन्हें बेपरिमाण बल और प्रताप था। इन सब वीरों का हथियार पर्वत, नख और पेड़ था। वे मतिधीर हरि का रास्ता देख रहे थे।

व्याख्या : पृथ्वीलोक में लोकपालों ने बन्दर का देह धारण किया था। इसलिए कहते हैं कि : अतुलित बल प्रताप तिन पाहीं। नहीं तो बन्दर में इतना बल और प्रताप कहाँ ? अथवा देवशरीर में जितना बल प्रताप था उतना उन्हें बानर शरीर में हुआ। यथा : रामकृपा अतुलित बल तिनहीं। तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं।

बानरी देह होने से अपने अपने आयुधों से काम नहीं लेते। पर्वत, नख और वृक्ष ही उनके आयुध हो रहे थे। लङ्काविजय की बड़ी अभिलाषा है पर हरि के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभु आ जायँ तो काम चले।

गिरि कानन जहँ तहँ भरिपूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। अब सो सुनहु जो बीचहि राषा ॥३॥

अर्थ : पर्वत और जङ्गलों में अपनी अपनी सुन्दर सेना रचकर जहाँ तहाँ भर रहे थे। यह सब सुन्दर चरित्र मैंने कहा। अब उसे सुनो जो बीच में छोड़ रक्खा है।

व्याख्या : तैंतीस कोटि देवता हैं। उनके गण कितने हैं जिनकी संख्या नहीं। सो सबके अवतीर्ण होने से पर्वत वन सब बानरमय हो गया। लोकपालावस्था में जो सेना जिसकी थी वही यहाँ भी है।

रावणावतार के चरित को रुचिर कहते हैं। पुनीत नहीं कह सकते। बहुत बड़े दर्जे के जीव शापित होकर रावण होते हैं। उन्हीं के कारण साक्षात् प्रभु का मृत्युलोक में नर शरीर द्वारा आगमन होता है। अतः रावण का भी चरित रुचिर है। वह जो स्वांग लेता है ऐसा पूरा निर्वाह करता है कि सिवा प्रभु के आने के

उपायान्तर नहीं रह जाता। पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा : उमा के इस प्रश्न का उत्तर तथा काकभुसुण्डि का : प्रभु अवतार कथा पुनि गाई प्रसङ्ग का आरम्भ होता है। 'ह्वै हौ अवधभुआल तब मैं होव तुम्हार सुत' यहाँ से प्रसङ्ग छूटा हुआ है। अतः अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ से उसे फिर आरम्भ करते हैं।

रामावतार प्रसङ्ग : [1]दूसरे प्रश्न का उत्तर

अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ॥
धरम धुरंधर गुन निधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारंगपानी॥४॥

अर्थ : अवधपुरी में रघुकुल के मणिरूप राजा थे। उनका नाम [2]दशरथ वेद में विदित है। वे धर्मधुरन्धर गुणों के निधि तथा ज्ञानी थे। भगवान् शार्ङ्गपाणि : विष्णु की भक्ति और मति उनके हृदय में थी।

व्याख्या : अवधपुरी से उत्तम देश कहा। रघुकुल से उत्तम वंश कहा। उस कुल में भी मणि थे। मणि के चार गुण होते हैं : १. सुजाति २. शुचि ३. अमोल और ४. सब भाँति सुन्दर। सो रघुकुल से सुजाति कहा। धर्मधुरन्धर से शुचि कहा। गुणनिधि से अमोल कहा। और ज्ञानी, तथा : हृदय भगतिमति सारँग पानी से सब भाँति सुन्दर कहा। वेदविदित से अधिकारी कहा। वेद में व्यक्ति का नाम नहीं होता। पद का नाम होता है। जो उस पद के योग्य होगा सो दशरथ होगा। तीन कल्पों में से जिनमें जय विजय या रुद्रगण रावण कुम्भकर्ण हुए थे अथवा जलन्धर रावण हुआ था जिनमें भगवान् विष्णु का रामावतार हुआ था भगवान् कश्यप ने दशरथ पद को अलंकृत किया था। परन्तु जिस कल्प में भानुप्रताप रावण हुए थे और साक्षात् ब्रह्म ने अवतार धारण किया था भगवान् स्वायम्भू मनु दशरथ हुए। इसलिए कहते हैं कि दशरथ नाम वेद विदित है।

दो. कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरिपदकमल बिनीत॥१८८॥

अर्थ : उनकी प्रिय रानियाँ कौसल्या आदि सबका पवित्र आचरण था। वे पति के अनुकूल थीं। उनका हरि के चरणों में दृढ़ प्रेम था और वे विनीत थीं।

व्याख्या : कौसल्या पट्टाभिषिक्ता थीं। अतः उन्हें पहिले कहा। आदि से कैकेयी सुमित्रा का भी ग्रहण किया। 'प्रिय' से दक्षिण नायक कहा। सब रानियों का पुनीत आचरण कहा। यथा : तुम गुरु विप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी। पति अनुकूल से पतिव्रत धर्म कहा। प्रेम दृढ़ हरिपद कमल से पति के कल्याण के लिए ईश्वराराधन कहा और विनीत से नम्रस्वभाव कहा।

---

[1] १. पुनि कहहु राम अवतारा।

[2] २. चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रा. ता.

एकबार भूपति मनमाहीं । भइ गलानि मोरे सुत नाहीं ।।
गुरुगृह गयेउ तुरत महिपाला । चरन लागि करि विनय विसाला ।।१।।

अर्थ : एकबार राजा के मनमें ग्लानि हुई कि मुझे पुत्र नहीं है। तुरन्त राजा गुरुजी के घर गये। चरणों में प्रणाम किया और वड़ी विनय करके :

व्याख्या : ख्याल तो वहुत वार हुआ। पर एकबार ग्लानि हुई कि मुझे सब कुछ है पर पुत्र नहीं है। भूपति कहने का भाव यह कि सम्पूर्ण राज्य का भार जिस पर है उसे बेटा नहीं कि वोझा उसपर छोड़ सकें। सबको बेटे हैं मुझे नहीं है। बेटे के लिए ही इतने विवाह किये पर किसी को पुत्र नहीं हुआ। पुत्री की बात नहीं कहते। क्योंकि शान्ता नाम की पुत्री सुनी जाती है। पुत्र न होने से ग्लानि हुई। अपुत्रस्य गृहं शून्यम्। अपुत्रस्य गतिर्नास्ति। पुत्रेणैवायं लोको जय्यः। नीतिशास्त्र कहता है जिसे पुत्र नहीं उसका घर सूना रहता है। धर्मशास्त्र कहता है कि जिसे पुत्र नहीं उसकी गति नहीं होती। स्वयं वेद कहते हैं कि पुत्र से ही यह लोक जीता जाता है। अतः ग्लानि होने का यथेष्ट कारण था।

महिपाल हैं। फिर भी गुरुजी को वुलाया नहीं। स्वयं उनके घर गये। परम विश्वास गुरुचरणों में है कि उन्हीं के पूजने से सब कुछ मिल सकता है। यथा : मोहि सम यहु अनुभयेउ न दूजे। सब पाएउ रजपायन पूजे। चरण लागि से पूजन कहा। और विनय विसाल से स्तुति कहते हैं।

निज दुख सुख सब गुरुहि सुनाएउ । कहि वसिष्ठ बहुविधि समुझाएउ ।।
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रिभुवन विदित भगत भय हारी ।।२।।

अर्थ : अपना दुःख सुख गुरुजी को सुनाया। सुनकर वसिष्ठजी ने अनेक विधि से समझाया कि धैर्य धरो। चार बेटे होंगे। उनकी ख्याति तीनलोक में होगी। वे भक्तों का भय हरण करनेवाले होंगे।

व्याख्या : राजा हैं सब कार्य विधिपूर्वक करते हैं। पहिले प्रणाम किया तत्पश्चात् स्तुति की फिर दुःख सुख सुनाया कि इक्ष्वाकु से लेकर जो सन्ततिसूत्र मुझ तक चला आया उसका विच्छेद हुआ चाहता है। इतने व्याह किये। पर पुत्र किसी से न हुआ। सुख भी सुनाया कि चरणों की कृपा से और किसी बात का घाटा नहीं है। पुंनाम नरक से त्राण करनेवाला कोई नहीं है। कहि वसिष्ठ बहु विधि समुझावा। कहने से पता चला कि गुरुजी का नाम वसिष्ठ था। उन्होंने वहुत विधान से समझाया। यथा :

सवैया : सुनु राजन सृष्टि विरंचि रची, जबहीं तबहीं रचि यज्ञ संवारयौ।
बढ़िहैं एहिसेइ प्रजा सिगरी, बिगरी बनिहैं अस बैन उचारयौ ।।
सुरपूजित ह्वै सुख साज सजें, विजयानंद नीति इहै निरधारयौ।
तुम दिच्छित ह्वै सब इच्छित सिद्ध, करो हमने यह मन्त्र विचारयौ ।।१।।

ऋषि शृङ्ग तपोधन हैं एहिकाल, विशाल प्रभाव सगे तुम्हरे।
सब ईति की भीति मिटी जेहिके, पग देत अनंदित भे सिगरे।।
तेहि बोलिके यज्ञ को साजसजो, विजयानंद लाभ सही डगरे।
सबसिद्धि को एक ही साधन है. हरितोषण यज्ञ मते हमरे।।२।।
अतिभीत दशानन के भय ते, सब देव पुकार कियो हरिपाहीं।
सब्र ओर निशाचर छाइ रहे, अवतार बिना नहिं दुष्ट नसाहीं।।
एहि काल भुआल सुऔसर भूरि, करौ तुम यत्न असम्भव नाहीं।
प्रकटैं सुत ह्वै तुम्हरे विजयानंद, दीनदयाल सोई महि माहीं।।३।।

स्वर्ग और मर्त्यलोक से जो यज्ञरूप व्यापार चलता है उसी से लाभ उठाओ। वसिष्ठजी ग्लानि करने का निषेध करते हैं। क्योंकि महाराज अधीर हो उठे थे। एक के लिए झंखते हो चार होंगे। यज्ञ से पुत्र होना कहकर दिव्य जन्म कहा। और त्रिभुवन विदित भगत भयहारी कहकर दिव्य कर्म कहा। इस भाँति स्पष्ट कह दिया कि तुम्हारे यहाँ अवतार होगा।

शृंगी रिषिहिं वसिष्ठ बोलावा। पुत्र काम सुभ जग्य करावा।।
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें।।३।।

अर्थ : वसिष्ठजी ने शृंगी ऋषि को बुलाया और पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। भक्ति के सहित मुनिजी ने आहुति दी। हाथ में चरु लिये अग्निदेव प्रकट हुए।

व्याख्या : शृङ्गीऋषि, शान्ता के भर्ता महाराज के जामाता थे। जवान थे। तपबल बढ़ा हुआ था। आचार्य शृङ्गीऋषि हुए। वसिष्ठजी भी सम्मिलित थे। पर यज्ञ कराया शृङ्गीऋषि से। भक्ति से कर्म का उत्कर्ष कहते हैं। जो भक्ति के सहित पूर्णाहुति दी तो दिव्य चरु लिये हुए अग्निदेव स्वयं प्रकट हो गये। स्थूल चरु : हवि दिया गया। बदले में दिव्य चरु मिल रहा है। आराधना का मूल श्रद्धा और भक्ति है।

जो वसिष्ठ कछु हृदय विचारा। सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा।।
यह हवि बाँटि देहु नृप जाई। जथा जोग जेहि भाग बनाई।।४।।

अर्थ : राजा से कहा : जो कुछ वसिष्ठ ने हृदय में विचारा था वह सब कार्य तुम्हारा सिद्ध हुआ। राजन्! इस हवि को ले जाकर जिसको जैसा उचित है वैसा भाग बनाकर बाँट दो।

व्याख्या : अग्निदेव राजा से कहते हैं कि वसिष्ठजी का विचार अमोघ है। उनके विचारानुसार सब कार्य सिद्ध हुआ अर्थात् त्रिभुवन विदिति भक्त भयहारी चार पुत्र होंगे। राजन्! तुम जाकर उस दिव्य हवि को रानियों में बाँट दो। जो जितने के योग्य हो उसे उतना भाग बनाकर दो। किसको कितना दिया जायगा इसका वर्णन आगे चलकर करेंगे।

दो. तब अदृश्य भए पावक, सकल सभहिं समुझाइ ।
परमानंद मगन नृप, हरख न हृदय समाइ ॥१८९॥

अर्थ : तब सब सभा को समझाकर अग्निदेव अन्तर्धान हो गये । राजा परमानन्द में मग्न हैं । उनके हृदय में हर्ष समाता नहीं ।

व्याख्या : अग्निदेव ने केवल राजा को ही नहीं सम्पूर्ण सभा को समझाया कि :

दो. चरु विभाग विधि चित्त दै सुनौ कहौं मैं टेर ।
सावधान धारण करो यामें परै न फेर ॥१॥
ह्रो श्री कीरतिसो नृपहिं पटरानी हैं तीन ।
इनहीं में चरु बाँटिवे को विधि सुनहु प्रवीन ॥२॥
आधो चरु पहिले नृपति कौसल्या को देय ।
करै भाग द्वै शेष को एक कैकयी लेय ॥३॥
दूजो को द्वै भाग करि नृप प्रेरित दोउ रानि ।
देइ सुमित्रा को मुदित सबहिं भाँति सुखमानि ॥४॥
उलटफेर चरु में भये अनरथ होत महान ।
परशुराम कौशिक जनम जानत सकल जहान ॥५॥
सावधान ह्वै आप सब करवावहु यह काज ।
सकल जगत कल्याण को बीजारोपण आज ॥६॥

ऐसा समझाकर अग्निदेव अदृश्य हो गये । देवता के प्रत्यक्ष होकर हवि देने और मनोरथ सिद्धि का आश्वासन पाने से राजा के हृदय में हर्ष नहीं समा रहा है । यही परमानन्द है । ज्ञानी को ब्रह्मानन्द और भक्त को परमानन्द होता है ।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं । कौसल्यादि तहाँ चलि आईं ॥
अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा । उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥१॥

अर्थ : तब राजा ने प्रिय रानियों को बुलाया । कौसत्या आदि वहाँ चली आईं । आधा भाग कौसल्या को दिया । और आधे का दो भाग किया ।

व्याख्या : पत्नीशाला से यज्ञमण्डप में रानियों को बुलाया । कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा वहाँ आईं । वसिष्ठ और ऋषि शृङ्गि की अनुज्ञा से राजा ने पहिले चरु का आधा भाग कौसल्या को दिया और शेष आधे का दो भाग किया । क्योंकि कौसल्या सबसे बड़ी पट्टाभिषिक्ता महिषी थीं । अतः पहिले इन्हीं को दिया गया । फलत: पहिले इन्हीं को पुत्र हुआ । शेष आधे का दो भाग किया ।

कैकेई कहँ नृप सो दएऊ । रहेउ सो उभय भाग पुनि भएऊ ॥
कौसल्या कैकेई हाथ धरि । दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥२॥

अर्थ : उसे राजा ने कैकेयी को दिया । जो बचा उसका दो भाग किया । और कौसल्या तथा कैकेयी के हाथ पर रखकर प्रसन्न मन से सुमित्रा को दिया ।

व्याख्या : यदि हवि को सोलह आने मान लिया जाय तो उसमें आठ आना कौसल्या को दिया। चार आना कैकेयी को दिया। और दो दो आना कौसल्या और कैकेयी के हाथ पर रखकर प्रसन्न मन से सुमित्रा को दिया। प्रसन्न मन से इसलिए कहा जिसमें कोई यह न समझे कि कौसल्या और कैकेयी के हाथ पर रखकर सुमित्रा को देने में राजा की कोई अनादर की दृष्टि सुमित्रा पर थी। बल्कि इसी भाँति विभाग करके इसी क्रम से देने को अग्नि भगवान् समझा गये थे।

पहिले कौसल्या को दिया। जिसमें पहिले पुत्रोत्पत्ति उन्हीं को हो। उसके पीछे कैकेयी को दिया जिसमें कौसल्या को पुत्र होने के बाद कैकेयी को पुत्र हो। कौसल्या और सुमित्रा के हाथ पर रखकर सुमित्रा को देने का भाव यह कि इनको पुत्रोत्पत्ति सबके पीछे हो और दो पुत्र हों। एक कौसल्या के पुत्र का अनुगामी हो। और दूसरा कैकेयी के पुत्र का अनुगामी हो। हवि के विभाग का भी भिन्न भिन्न रामायणों में भिन्न भिन्न प्रकार है। उसकी व्यवस्था कल्पभेद से समझ लेनी चाहिए।

एहि विधि गर्भ सहित सब नारी। भईं हृदय हर्षित सुख भारी ॥
जादिन तें हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख संपति छाए ॥३॥

अर्थ : इस विधि से सब नारियाँ गर्भवती हुईं। वे हृदय से हर्षित हुईं। और उन्हें बड़ा सुख हुआ। जिस दिन से हरि गर्भ में आये। सब लोकों में सुख सम्पत्ति छा गई।

व्याख्या : हवि भक्षण से गर्भ हुआ। यह दिव्य जन्म की विधि है। जो विधि साधारणतः गर्भ की शुक्रशोणित संयोग से है उस विधि से गर्भ धारण नहीं हुआ। रानियाँ गर्भ धारण से हर्षित हुईं। वन्ध्या होने का कलङ्क मिटा और भारी सुख हुआ। गर्भ में स्त्रियों को बड़ी पीड़ा होती है। पीली पड़ जाती हैं। परन्तु इस गर्भ से भारी सुख हुआ। शरीर आनन्द से भर उठा।

हवि प्राशनकाल ही गर्भधारण काल था। उसी दिन से सारे लोकों में सुख सम्पत्ति छा गई। हरि के गर्भ में आने का प्रभाव सम्पूर्ण लोकों पर पड़ा।

मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी ॥
सुख जुत कछुक काल चलि गयऊ। जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भएउ ॥४॥

अर्थ : मंदिर : राजमहल में रानियाँ विराजती हैं। वे शोभा, शील और तेज की खानि हैं। सुख के सहित कुछ काल चला गया। वह अवसर आया जब कि प्रभु प्रकट होते हैं।

व्याख्या : पत्नीशाला से घर आईं। अपने अपने महलों में सुशोभित हैं। गर्भ के कारण शोभा, शील और तेज बहुत अधिक बढ़ गया।

पहिले कह आये हैं कि सुख भारी हुआ। अब कहते हैं वह सुख यावत् गर्भकाल बना रहा। इस भाँति कुछ समय बीता। वाल्मीकि का मत है कि बारह महीने पर रामजी का जन्म हुआ। यथा : ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। अध्यात्म का मत है कि : दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम्। इससे पता चलता

है कि कल्पभेद से गर्भवासकाल में भेद है। गोस्वामीजी को चार कल्प की कथा साथ कहनी है। अतः कछु काल कहने से सबका निर्वाह हो जाता है। रामावतार का समय नियत है। जब वैसी परिस्थिति तथा ग्रहस्थिति आवेगी तभी रामावतार की सम्भावना है। सो वैसा काल आगया। उसी को स्पष्ट करते हैं :

दो. जोग लगन ग्रह वार तिथि, सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हरष जुत, रामजनम सुख मूल ॥१९०॥

अर्थ : योग, लग्न, ग्रह, वार, तिथि सब अनुकूल हुए। चर और अचर सब हर्षित हुए। क्योंकि रामजन्म सुख का मूल है।

व्याख्या : जब श्रीरामावतार होता है तो वेदसागर नामक योग पड़ता है। कर्क लग्न होता। कर्क के चन्द्र और गुरु, कन्या के राहु, तुला के शनैश्चर, मकर के मङ्गल, मीन के केतु और शुक्र, मेष के सूर्य और वृष के बुध होते हैं। वार मङ्गल, नक्षत्र पुनर्वसु। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में हरि अवतीर्ण होते हैं। चर की कौन कहे अचर में भी आनन्द का उद्रेक हो उठता है। क्योंकि रामजन्म सुख का मूल है।

सकल भये अनुकूल का भाव यह है कि प्रकृति में महान् परिवर्तन होता है। पाँच ग्रह उच्च के होते हैं। पुनर्वसु नक्षत्र होने से यह पता लगता है कि नौमी को मीन के दशम अंश पर सूर्य रहे सो सूर्य एकाएक मेष के दशम अंश पर परम उच्च होने के लिए आगये। इस भाँति सभी अनुकूलता हो गई। ऐसी परम अद्भुत घटना रामावतार में ही होती है। परब्रह्म परमात्मा के सूर्य कुल में अवतीर्ण होने से सूर्य की स्थिति स्वभावतः परम उच्च हो जाती है[1]।

---

[1] आध्यातम रामायाण बतलाता है कि : अवताराः सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिणः। तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः। अतः अवतारों की कुण्डलियों में भेद पड़ना स्वाभाविक है। श्रीरामावतार क्या है, यह रामायणों से ही नहीं मालूम होता जो कि उनके गुणानुवाद के लिए ही बने हैं; वल्कि वह अलौकिकी ग्रहस्थिति बतलाती है जिसका फलादेश महर्षि भृगु ने किया है। पाठकों की जानकारी के लिए हिन्दी अनुवाद सहित फलादेश निम्नलिखित है :

श्रीरामजन्मकुण्डलीयम्

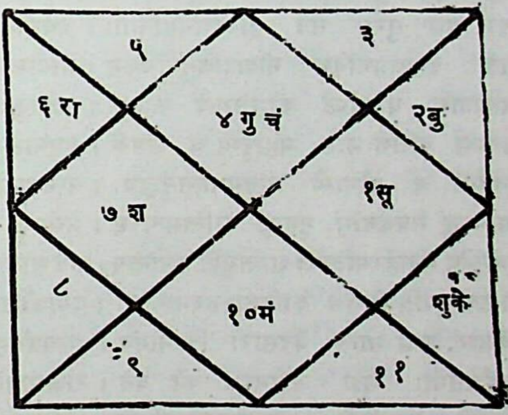

अथ वेदसागरस्तवः

(पूर्णं त्रिशत्क्षेपा च) कर्कटे चन्द्रवाक्पती। कन्यायां सिंहिकापुत्रस्तुलास्थो रविनन्दनः ॥१
पाताले मेदिनीपुत्रो वृषस्थश्चन्द्रमासुतः। आकाशे मेषभे सूर्यः झषस्थौ केतुभार्गवौ ॥२

नवमी तिथि मधु मास पुनीता । सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता ।।
मध्य दिवस अति सीतन घामा । पावन काल लोक विश्रामा ।।१।।

अर्थ : नवमी तिथि थी और पवित्र चैत्र मास। शुक्ल पक्ष था और भगवान् को प्रिय अभिजित मुहूर्त मध्याह्न का समय। अत्यन्त शीत भी नहीं। कड़ी धूप भी नहीं। संसार में विश्राम योग्य वह पवित्र समय था।

सर्वंग्रहानुमानेन योगोऽयं वेदसागरः। वेदसागरके जातः पूर्वंजन्मनि भार्गव ।।
पूर्णंब्रह्म स्वयं कर्ता स्वप्रकाशो निरञ्जनः। निर्गुणो निर्विकल्पश्च निरीहः सच्चिदात्मकः ।।
गिराज्ञानश्च गोतीत इच्छाकारी स्वरूपधृक्। विना घ्राणं सदाघ्राणी विना नेत्रे च वीक्षकः ।।
अकर्णेन श्रुतं सर्वं गिराहीनश्च भाषितम्। करहीनं कृतं सर्वं कर्मादिकं शुभाशुभम् ।।
पदहीना गतिः सर्वा कुशला सकला क्रिया। स्वरूपे रूपहीनश्च समर्थः सर्वंकर्मसु ।।
त्रैविद्यस्त्रिगुणः कालस्त्रिलोकी सचराचरः। महेन्द्रो देवताः सर्वा नागकिन्नरपन्नगाः ।।
सिद्धविद्याधरो यक्षा गन्धर्वाः सकला कवे। राक्षसाः दानवाः सर्वे मानवा वानराण्डजाः ।।
सागराश्च खगा वृक्षाः पशुकीटादयस्तथा। शैला नद्यः कलाः सर्वा मोहमायादिकाः क्रिय ।।
इच्छा माया त्रिवेदाश्च निर्मिता विविधाः क्रियाः। शरण्यः सर्वदा शान्तः अलक्ष्यो लक्षकः सदा ।।
जरामरणविहीनश्च महाकालस्य चान्तकः। सर्वं सर्वेण हीनोऽपि सचराचरदर्शकः ।।
पूर्वापरक्रिया ज्ञानी शृणु शुक्र न चान्यथा। प्रेरितः सर्वदेवैश्च कालान्तरगते कवे ।।
धरित्री ब्रह्मणो लोके जगाम दुःखपीडिता। शिवो ब्रह्मा सुराः सर्वे प्रार्थयाञ्चक्रतुर्मुहुः ।।
सुदुःखं वचनं श्रुत्वा देववाणी भवेत् कवे। धैर्यमाध्वं सुराः सर्वे प्रार्थना सफला भवेत् ।।
श्रुत्वा हृष्टाः सुराः सर्वे जगाम क्षितिमण्डले। नरवानररूपञ्च धृत्वा ब्रह्मेच्छया कवे ।।
यत्र तत्र सुराः सर्वे हरिदर्शनमानसाः। अधर्मनिरतान् लोकान् दृष्ट्वा कष्टेन पीडितान् ।।
तत इच्छाप्रभावेण गोब्राह्मणसुरार्थकम्। मायामानुषरूपेण जगदानन्दहेतवे ।।
आजगाम धरापृष्ठे कोशलाख्ये महापुरे। इक्ष्वाकुवंशे भो शुक्र भूत्वा मानुषरूपधृक् ।।
सरय्वा दक्षिणे भागे महापुण्ये च क्षेत्रके। मधुमासे च धवले नवम्यां भौमवासरे ।।
पुनर्वसौ च सौभाग्ये मातृगर्भात्समुद्भवः। मन्मथानां च कोटीनां सुन्दरः सांगरोपमः ।।
श्यामाङ्गं मेघवर्णाभं मृगाक्षं कान्तिमत्परम्। भव्याङ्गं भव्यवर्णञ्च सर्वसौन्दर्यसागरम् ।।
सर्वाङ्गेषु मनोहरमतिबलं शान्तमूर्ति प्रशान्तम्। वन्दे लोकाभिरामं मुनिजनसहितं सेव्यमानं शरण्यम्।।
कोटिवाक्पतिश्रीमांश्च कोटिभास्कर भास्वरः। दयाकोटिसागरोऽसौ यशः शीलपराक्रमी ।।
सर्वसारः सदा शान्तः वेदसारो हि भार्गव। दशवर्षसहस्राणि भूतले स्थितिमानसौ ।।
चतुर्दशसमाः शुक्र अभ्रमच्च वने वने। राक्षसानां वधार्थाय दुष्टानां निग्रहाय च ।।
प्रादुर्भूतो जगन्नाथो मायामानुषवत्कवे। अयोध्यानगरे शुक्र बहुवत्सरसहस्रकम् ।।
नानामुनिगणैर्युक्तो विहरन् धर्मवत्सलः। सर्वे साकं स्वमायाभिरन्तर्धानमियात्कवे ।।
इच्छया लीलया युक्तः स्वीये लोके वसेत्सदा। माया क्रीडा पुनर्भयात् काले काले युगे युगे ।।
लोकानाञ्च हितार्थाय कालो चैव विशेषतः। पठनाच्छ्रवणात्पुण्यं कल्याणं सततं भवेत् ।।

व्याख्या : नवमी तिथि से नवरात्रि का अन्तिम दिन कहा : भगवान् ने स्वयं कहा है कि ऋतुओं में कुसुमाकर : वसन्त मैं हूँ। उनमें भी प्रथम मास का देवपक्ष अति पुनीत है। अभिजित मुहूर्त हरि को प्रिय है। इसी में जन्म ग्रहण करते हैं। उजेले की पराकाष्ठा दोपहर का समय। प्रातःकाल होता तो शीत अधिक होता। जाड़ा का शीत सह्य है। पर चैत्र का शीत असह्य होता है। और मध्याह्नोत्तर

निर्भयं नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं न संशयः ।

श्रीभृगुसंहितायां श्रीभृगुशुक्रसंवादे षट्त्रिंशतिक्षेपान्तरे वेदसागरफलं समाप्तम् ।

वेदसागरस्तव का हिन्दी अनुवाद : कर्क के चन्द्र और गुरु, कन्या के राहु, तुला के शनि, मकर के मङ्गल, वृष के बुध, मेष के सूर्य, मीन के शुक्र और केतु : यह वेदसागर योग है। हे भार्गव, वेदसागर में उत्पन्न होनेवाला, पूर्व जन्म में पूर्ण ब्रह्म, स्वयं कर्ता, स्वप्रकाश, निरञ्जन, निर्गुण, निर्विकल्प, निरीह, सच्चिदात्मा, गिराज्ञानगोऽतीत, इच्छानुकूल स्वरूप धारण करनेवाला था। बिना घ्राण के सूँघता था। बिना नेत्र के देखता था। बिना कान के सुनता था और बिना वाणी के बोलता था। बिना हाथ के शुभाशुभ कर्म करता था। बिना पैर के चलता था। स्वरूप से रूपहीन होने पर भी सब कार्यों में समर्थ था। वही वेदत्रयी रूप था। त्रिगुण था, कालरूप भी वही था, चर और अचर तीनों लोक-रूप भी वही था। महेन्द्र, देवता, नाग, किन्नर, पन्नग, सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, गन्धर्वरूप भी वही था। राक्षस, दानव, मनुष्य, बन्दर, अण्डज, सागर, पक्षी, वृक्ष, पशु, कीटादिक, पर्वत, नदी : सब उसकी कला है। मोहादिक क्रियाएँ हैं। उनसे इच्छा, माया, तीनों वेदों और क्रियाकलाप का बनाया।

वह सदा शान्त, शरण्य, अलक्ष्य होने पर भी सदा लक्षक है। वह जरा-मरण-विहीन है और महाकाल का भी काल है। सबसे हीन होने पर भी सब कुछ है। चराचर का दर्शक है। हे शुक्र जी ! सुनो वह पहिली पिछली क्रियाओं को जानता है। इसमें सन्देह नहीं। हे कवि ! पूर्व काल में सब देवताओं से प्रेरित होकर दुःखी पृथ्वी ब्रह्मलोक को गई। शिव ब्रह्माजी तथा सब देवताओं ने बार-बार प्रार्थना की। हे कवि ! आर्तवाणी सुनकर देववाणी हुई : हे देवताओ ! धैर्य धारण करो, तुम लोगों की प्रार्थना सफल हुई। यह सुनकर देवता लोग प्रसन्न होकर पृथ्वीमण्डल में गये। ब्रह्माजी की इच्छा से सबने वानर का रूप धारण किया और जहाँ तहाँ हरिदर्शन की लालसा से ठहरे।

संसार में अधर्म में लगे हुए लोगों को कष्ट से पीड़ित देखकर इच्छा के प्रभाव से गो-ब्राह्मण और देवता के लिए माया से मनुष्य रूप धारण करके जगत् के आनन्द के लिए पृथ्वी पर कोशलपुर में, हे शुक्र ! इक्ष्वाकुवंश में सरयू के दक्षिण भाग में अवतीर्ण हुए। चैत्र सुदी नवमी को मङ्गलवार, पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए। कोटि काम-सी सुन्दरता, मेघ वर्ण, श्यामाङ्ग, मृगाक्ष, परम कान्तिमान्, भव्याङ्ग, भव्यवर्ण, सभी सुन्दरताओं के समुद्र उनके सभी अङ्गों में मनोहरता थी। अति बलवान् थे। शान्त, अति प्रसन्न, लोक को सुख देनेवाले मुनिजन के सहित सेव्यमान और शरण्य की मैं वन्दना करता हूँ। वे करोड़ों वाक्पति के समान श्रीमान् हैं। करोड़ों सूर्य के भी सूर्य हैं। करोड़ों दया के समुद्रों के समान हैं। बड़े यशस्वी शीलवान् और

गरमी बढ़ जाती है। मध्यह्न का समय पवित्र है। इसमें संसार विश्राम करता है। प्रभु अखिल लोकदायक विश्रामा हैं। अतः उनका जन्मकाल भी विश्रामदायक होना चाहिए।

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हर्षित सुर संतन्ह मन चाऊ।।
वन कुसुमिति गिरिगन मनि[1] आरा। स्रवहिं सकल सरिताऽमृधारा ।।२।।

अर्थ : शीतल मंद सुगंध वायु बह रहा था। देवता हर्षित थे। सन्तों के मनमें आनन्द था। वन फूल उठे। पर्वतों में मणि खानि प्रकट हुईं और सब नदियाँ अमृत की धारा बहने लगीं।

व्याख्या : प्रकृति में आनन्द की उमंग आगयी। जोग लग्न ग्रहवार तिथि सकल भये अनुकूल तथा गगन विमल से आकाश की अनुकूल परिस्थिति कही। सीतल मंद सुरभि बह वाऊ से वायु की अनुकूल परिस्थिति कही। अति सीत न घामा से तेज की अनुकूल परिस्थिति कही। स्रवहि सकल सरितामृत धारा से

पराक्रमी हैं। हे भार्गव ! वे सर्वसार, सदा शान्त और वेदसार हैं। दश सहस्र वर्ष तक पृथ्वी पर थे। हे शुक्र ! चौदह वर्षों तक वन-वन में घूमते रहे। राक्षसों के वध और दुष्टों के निग्रह के लिए माया मानुष रूप से जगन्नाथ का प्रादुर्भाव ही हुआ था। अनेक सहस्र वर्षों तक वे धर्म-वत्सल मुनि लोगों के साथ विहार करते थे। हे कवि ! तत्पश्चात् सबके साथ अपनी माया से अन्तर्धान हो गये। इन्छा से लीलायुक्त होकर अपने लोक में सदा बसते हैं। लीला माया से फिर काल पाकर युग-युग में लोक के हित के लिए विशेषतः कलियुग में फिर होवेंगे।

इसके पढ़ने से सुनने से सदा पुण्य और कल्याण होता है। निर्भयता प्राप्त होती है। यह सत्य है, सत्य है, इसमें संशय नहीं है।

इति श्री भृगुसंहिता में भृगुशुक्रसंवाद के छत्तीसवें क्षेपान्तर में वेदसागरफल समाप्त हुआ।

यह भी नहीं कह सकते कि सूर्य देव का रुकना या आगे बढ़ जाना नितान्त असम्भव है और इसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। क्योंकि विभिन्न पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। स्वयं वाल्मीकीय रामायण में अनुसूयाजी के दश रात्रियों की एक रात्रि कर देने का वर्णन है। अत्रि जी भगवान् रामचन्द्र से कहते हैं :

देवकार्यनिमित्तञ्च यथा सन्त्वरमानया। दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ।।

हे अनघ रामचन्द्र ! देवताओं के कार्य के लिए जिस अनसूया ने दस रात्रि की एक रात्रि वना दी, वही यह तुम्हारी माता के तुल्य है। सो क्या दस रात्रि की एक रात्रि बिना सूर्य के रुके हो गई और फिर ग्रहमण्डल में यथोचित स्थान पाने के लिए सूर्य की गति में कोई विशेषता न हुई ? और यहाँ तो साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का अवतार होनेवाला था।

[1] 'आर' प्रत्यय हिन्दी में 'वाला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा : सुख से सुखार, दुःख से दुखार। इसी भाँति 'मणि' से मनिआर अर्थात् मणिवाला होता है। यथा : मन हरषित सब भये सुखारी इत्यादि।

जल की अनुकूल परिस्थिति कही। एवं वन कुसुमित गिरिगन मनिआरा कहकर पृथ्वी की अनुकूल परिस्थिति बतलायी और हरखित सुर संतन मन चाऊ से देव सर्ग का आनन्दोद्रेक कहा। आसुर का नहीं। चर अरु अचर हर्ष युत से सृष्टि मात्र का सत्त्वोद्रेक कहा।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना ॥
गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्ब बरूथा ॥३॥

अर्थ : उस अवसर को जब ब्रह्मदेव ने जाना तो सब देवता विमान साजकर चले। निर्मल आकाश देवसमूह से भर उठा। गन्धर्व गुण गान करने लगे।

व्याख्या : प्रकृति में इस प्रकार का अनुकूल परिवर्तन ही प्रभु के अवतीर्ण होने के काल का द्योतक है। इस बात को ब्रह्मदेव ने जाना। अतः गर्भस्तुति करने के लिए चले। साथ में सब देवगण अपना अपना विमान सजाकर चले। अयोध्या में निर्मल आकाश देवगणों से भर गया। गन्धर्वसमूह ने गुणगान प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् सब गन्धर्वों ने मिलकर सुरताल के साथ एक स्वर से गुणगान किया।

बर्षहिं सुमन सुअंजलि साजी। गह गहि गगन दुदुंभि बाजी ॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहुविधि लावहिं निज निज सेवा ॥४॥

अर्थ : सब देवताओं ने अञ्जलि साजकर फूलों की वर्षा की। आकाश में गहगह नगाड़े बजने लगे। नाग मुनि और देवता स्तुति करने लगे और अनेक विधियों से अपनी सेवा भेंट करने लगे।

व्याख्या : अञ्जलि को फूलों से सजाकर सब देवताओं ने पुष्पाञ्जलि चढ़ाई। सो फूलों की वर्षा हो गई। आकाश में नगाड़े भी खूब बजे। पाताल लोक से आकर नाग लोग मनुष्य लोक से मुनि लोग : क्योंकि केवल वे ही लोग जान सके थे कि अवतार हुआ चाहता है : और स्वर्ग से आकर देवताओं ने स्तुति करना आरम्भ कर दिया और भी अनेक विधि आरती जयघोष आदि से पूजन करने लगे।

दो. सुर समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम ॥
जगनिवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक बिश्राम ॥१९१॥

अर्थ : देवताओं के समूह विनती करके अपने अपने धाम में पहुँचे। जगत् के आश्रय सम्पूर्ण लोक विश्राम रूप प्रभु प्रगट हुए।

व्याख्या : जबतक देवता लोग मार्ग में रहे तबतक नहीं प्रकट हुए। जब वे लोग अपने अपने लोकों को पहुँच गये अर्थात् उनके भी विश्राम पाने पर प्रकटे। जगनिवास का प्रकटना माया का पर्दा हटने पर ही सम्भव है। लोक विश्रामकाल में अखिल लोक विश्राम रूप प्रकट हुए। यहाँ पर जन्मे न कहकर प्रकटे अर्थात् आविर्भाव कहा। यथा : आविरासीत् तमोनुदः।

छं.[१] भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप निहारी॥
लोचन अभिरामं तनु घनश्यामं निज आयुध भुजचारी।
भूषन वनमाला नयन विसाला सोभासिंधु खरारी॥१॥

अर्थ : कृपाल, दीनदयाल, कौसल्या के हितकारी प्रकट हुए। मुनि के मन का हरण करनेवाला अद्भुत रूप देखकर माँ हर्षित हुई। नयनानन्द श्याम मेघ के समान शरीर चार भुजाओं में अपना आयुध शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए आभूषण और वनमाला पहिने विशाल नेत्रवाले खर के शत्रु शोभा के समुद्र थे।

व्याख्या : दंपति उर धरि भगति कृपाला। निज आश्रम निवसे कछु काला। वही कृपाल, मनु शतरूपा से किये हुए प्रतिज्ञानुसार प्रकट हुए। ब्रह्मदेव ने स्तुति की थी। जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवहु सो श्री भगवान। सो उनकी प्रार्थनानुसार दीनों पर दया करके कौसल्या हितकारी, कौसल्या की कीर्त्ति दिगन्तव्यापिनी करने के लिए तथा वात्सल्य सुख प्रदान करने के लिए प्रकट हुए। यथा : सो प्रभु प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद। तथा : कीरति जासु सकल जग माची।

जब गर्भ में आये तभी माँ हर्षित हुई थी। यथा : भई हृदय हर्षित सुख भारी। अब रूप देखकर हर्षित हुई। रूप देखकर विचार किया कि ऐसा रूप तो देखा नहीं गया। इसे देखकर तो मुनि का मन मोहित हो जायगा। जिस अद्भुत रूप को देखकर शतरूपा रूप में तृप्ति नहीं हुई थी उसीका दर्शन कौसल्या रूप में हो रहा है। यथा : चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा।

रूप की अद्भुतता कहते हैं। घनश्याम शरीर जिसे देखकर आँखें तृप्त हो जायँ। चार भुजाएँ जिनमें शंखचक्रादि धारण किये हुए हैं। गहना पहिने हैं। वनमाला गले में है। पैर तक लटकी हुई माला को वनमाला कहते हैं। यथा : पादावलम्बिनी माला वनमालेति कथ्यते। आयुध भूषण और माला सहित पुत्रोत्पत्ति न देखी गई और न कभी सुनी गई। ऐसे विशाल नेत्र भी कहीं देखे नहीं गये। शोभासिन्धु होने पर भी खरारि हैं। यहाँ खर राक्षस मात्र का उपलक्षण है। खरारि से धर्म संरक्षण कहा अथवा खरारि कहने से मायानाथ कहा। यथा : सुरमुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अस कौतुक करयौ। देखत परस्पर राम, करि संग्राम रिपुदल लरि मरयौ।

छं. कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंत।
माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंत॥
करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संत।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंत॥२॥

---

[१] यह भी चौपैया छन्द है। लक्षण पहिले कहा जा चुका है।

अर्थ : दोनों हाथ जोड़कर कहा कि हे अनन्त, तुम्हारी स्तुति किस भाँति करूँ। तुम माया गुण और ज्ञान से परे हो, मानरहित हो ऐसा वेद पुराण ने कहा है। जिसे श्रुति : वेद और सन्तों ने करुणा और सुख का सागर और सब गुणों का आगर : विचक्षण कहकर गान किया, वही भक्तों पर अनुराग करनेवाले श्रीपति मेरे हित के लिए प्रकट हुए हैं।

व्याख्या : नित्य की ध्येय मूर्ति को सामने देखकर माता पहिचान गई। अतः प्रणाम और स्तुति करती है, माता कहती है हे अनन्त ! वर्णन तो परिच्छिन्न पदार्थ का होता है, तुम तो अपरिच्छिच्छन्न अनन्त हो तुम्हारी स्तुति कैसे करूँ ? क्योंकि वेद पुराण ने कहा है कि तुम मायागुण : सत्त्व रज तम : से परे निस्त्रैगुण्य हो, ज्ञान से परे हो क्योंकि ज्ञेय नहीं हो, मान से रहित हो, क्योंकि अप्रमेय : स्वयं सिद्ध : हो, इस भाँति आप निर्गुणरूप हो, पर वेद और सन्त आपको सगुण रूप से भी वर्णन करते हैं। बतलाते हैं कि आप करुणा और सुख के सागर हो। और सब गुणों के आगर हो। सो हे लक्ष्मीपति विष्णो ! भक्तों के अनुरागी ! मेरे हित के लिए प्रकट हुए हो। मुझे पुत्रवती बनाने के लिए मेरी कीर्ति को दिगन्तव्यापिनी करने के लिए मुझे सब प्रकार से सुखी करने के लिए प्रकट हुए हो। इस प्रकार माता ने भगवान् के अवतीर्ण होने का मुख्य कारण निरूपण किया।

छं. ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनंत धीर गति थिर न रहै ॥
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥३॥

अर्थ : एक एक रोम में माया के निर्मित ब्रह्माण्डों के समूह लगे हुए हैं। ऐसा वेद कहते हैं। वह प्रभु मेरे उर में निवास करे। यह उपहासी की बात सुनने पर पण्डित की बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती। जब ज्ञान उपजा तो प्रभु मुसकराए। बहुत प्रकार का चरित करना चाहते हैं। इसीलिए सुन्दर कथा कहकर माँ को समझाया जिससे वह पुत्रस्नेह को प्राप्त हो।

व्याख्या : यह स्तुति क्षीरशायी भगवान् की है। इन्हीं के रोम रोम में ब्रह्माण्डनिकाय हैं। वास्तविक भेद ब्रह्म, विष्णु या क्षीरशायी भगवान् में कुछ भी नहीं है। उपासकों के भेद से भेद प्रतीति होती है। माता सोचती है कि ऐसा प्रभु मेरे उदरगत कैसे हुआ। यह तो अघटितघटना है और उसके लिए उपहास की बात है। देखने की कौन कहे इसके सुनने से बड़े-बड़े पण्डितों की बुद्धि चञ्चल हो उठेगी। इस भाँति माता को ज्ञान हुआ। शतरूपा जन्म में इसने माँगा था 'सोइ गति सोइ मति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु। सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु। सो विवेक उपजा। इसीलिए माता को ही यह रूप दिखलाया, पिता को नहीं। क्योंकि उनका वरदान था : सुत विषयिक तवं पदरति

होऊ। मोंहि वह मूढ कहै किन कोऊ। प्रभु मुस्करा पड़े। इस मुसकराहट में माया की शक्ति भरी पड़ी है। यथा : माया हास बाहु दिगपाला : मुसकराए कि मुझे तो बहुत चरित करना है और जिससे माता का काम लेना है वह मेरे उदरवासी होने में ही सन्देह कर रही है। अतः पुत्रप्रेम की प्राप्ति के लिए माता को समझाया यथा :

रावण के वध ते मिटै, महि को भार अपार।
एहि हित विधि विनयौं लयो, मैं मानुष अवतार ।।
आराध्यौ साध्यौ तपहि, तुम दसरथ इक संग।
निज सुत करि जाच्यौ हमहि, हिय लालसा अभंग ।।
पिछले पुण्य प्रभाव ते, तुम देख्यौ यह रूप।
जो मेरो दर्शन करै, सो न परै भव कूप ।।
एहि कारन तारन भवहिं, भयो प्रगट मैं आय।
सफल करौं मन कामना, मोको गोद खेलाय ।।

छं. माता पुनि बोली सो मति डोली तजहुँ तात यह रूप।
कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूप ।।
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूप।
यह चरित जे गावहि हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूप ।।४।।

अर्थ : तब माता बोली। उसकी बुद्धि विचलित हो उठी। हे तात ! इसं रूप को छोड़ दो अत्यन्त प्रिय शिंशुलीला करो। यह सुख परम अनूप है। सुजान ने यह वचन सुनाकर रोना शुरू किया। सुरभूप बालक हो गये। इस चरित का जो गान करता है वह हरिपद पाता है। वह भवकूप में नहीं पड़ता है।

व्याख्या : प्रभु ने समझाया। तदनुसार माता समझ गई। वह ज्ञानवाली बुद्धि स्थिर न रह गई। इसलिए वह स्वयं प्रार्थना करती हैं कि यह चतुर्भुज रूप छोड़ दो और शिशुलीला करो। क्योंकि वह अत्यन्त आनन्ददायिनी है। भाव यह कि अन्य अवस्थाओं की लीला भी आनन्ददायिनी है पर शिशुलीला की बात ही दूसरी है। भगवान् के दर्शन का सुख माता इस समय अनुभव कर रही हैं। इस सुख की उपमा नहीं है। पर शिशुलीला के सुख को परम अनूप बतला रही हैं। और उसके लिए इस रूप को छोड़ने की प्रार्थना कर रही हैं।

सुजान हैं। जो स्वयं चाह रहे हैं वही प्रार्थना माँ कर रही है। अतः उसकी पूर्ति में बड़ी त्वरा से काम लिया। एवमस्तु भी नहीं कहा और तुरन्त बालक होकर रोना ही प्रारम्भ किर दिया। रोदन ठाना, चुप होते ही नहीं। इस चरित्र की फलश्रुति कहते हैं कि जो गान करता है वह हरिपद पाता है। अर्थात् उसे हरिधाम की प्राप्ति होती है। फिर भवकूप में नहीं पड़ता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

यह दूसरा गुणग्राम कौसल्याकृत स्तुति भरणी नक्षत्र है। इसमें तीन तारे चमकते हैं। तीनों वेदोक्तियाँ ही तीन तारे हैं। यथा : १. वेद पुरान भनंता २. गावहिं श्रुति संता और ३. रोम-रोम प्रतिवेद कहै। इसकी फलश्रुति है : दानि मुकुति धन धर्म धाम के। सो खरारि कहकर प्रभु द्वारा धर्म स्थापन कहा। श्रीपति कहकर धनदाता कहा। हरिपद से धाम और न परै भव कूपा से मुक्ति कही।

दो. विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार ॥१९२॥

अर्थ : ब्राह्मण, गाय, देवता और सन्त के लिए अपने संकल्प का शरीर बनकर उसने मनुष्य का अवतार धारण किया। जो माया, गुण, और इन्द्रियों के परे है। अथवा वाणी से परे है।

व्याख्या : वह प्रभु मायागुण से परे है। यथा : प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी : वाणी से परे है। यथा : मन समेत जेहि जान न बानी। उसने इच्छामात्र से शरीर का निर्माण किया। यथा : इच्छामय नरदेह संवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। भाव यह कि उसका शरीर धारण जीव की भाँति कर्मपरतन्त्र नहीं। वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। उसने विप्र धेनु सुर संतहित मनुष्य का शरीर धारण किया। जिसने वेद के उद्धार के लिए मत्स्य शरीर धारण किया। संसार को सँभालने के लिए कूर्म शरीर धारण किया। पृथ्वी को ऊपर लाने के लिए वाराह शरीर धारण किया। दैत्य को मारने के लिए नृसिंह शरीर धारण किया। उसने विप्रधेनु सुरसंत के लिए मनुष्य शरीर धारण किया। उस समय इन्हीं चार पर घोर विपत्ति थी। विप्रधेनु पर विपत्ति। यथा : जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्रामपुर आगि लगावहिं। सुरपर विपत्ति। यथा : छुधाछीन बलहीन सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ। तब मारिहौं कि छाँड़िहहु, भलीभाँति अपनाइ। तथा देइ देवतन्ह गारि प्रचारि : सन्त पर विपत्ति। यथा : साधुन्ह सन करवावहि सेवा तथा निसिचर निकर सकल मुनि खाए।

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आई सब रानी।
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँद मगन सकल पुरबासी ॥१॥

अर्थ : बच्चे के रोने की परमप्रिय वाणी सुनकर उत्कण्ठायुक्त हो सब रानियाँ चली आईं। दासियाँ आनन्दित होकर जहाँ तहाँ दौड़ चलीं। सब नगर निवासी आनन्द में मग्न हो गये।

व्याख्या : रुदन की वाणी प्रिय तो बच्चे की ही होती है। यह तो राम शिशु के रुदन की वाणी है। इसलिए परमप्रिय वाणी कहा। पहिले कह आये हैं। सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना ह्वै बालक सुरभूपा। अतः उस रुदन को सुनकर सब रानियाँ ससंभ्रम चली आईं। सब महलों तक वाणी पहुँची और फिर भी परम प्रिय है। परम उत्कण्ठा है अतः रानियाँ स्वयं चली आ रही हैं। दासी

भेजकर कोई समाचार नहीं पुछवा रही हैं। पहिले से प्रसव काल की वेदना का कोई समाचार नहीं लगा। एकाएक शिशुरुदन ही सुनाई पड़ा। मालूम हुआ कि पुत्रोत्पत्ति हुई।

बड़े बूढ़ों को समाचार देने के लिए दासियाँ जहाँ तहाँ आनन्दित हो दौड़ पड़ीं। ये आनन्द के तरंग में पड़ी हुई बहती चली जा रही हैं। समाचार पाकर पुरवासी आनन्द में डूबाडूब हो गये। ये लोग भँवर में पड़ गये। यथा : रघुवर नयन आनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई।

दसरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥२॥

अर्थ : दशरथजी पुत्र का जन्म कान से सुनते ही मानो ब्रह्मानन्द में मग्न हो गये। सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो आया। वे उठना चाहते हैं और बुद्धि को स्थिर कर रहे हैं।

व्याख्या : दासी ने चक्रवर्तीजी को समाचार दिया। पुरवासी तो समाचार सुनकर आनन्द में मग्न हुए। चक्रवर्तीजी ब्रह्मानन्द में मानो मग्न हो गये। ये भारी भँवर में पड़ गये। आनन्दातिरेक से शरीर शिथिल हो गया। बुद्धि चञ्चल हो उठी। अतः लिखते हैं चाहत उठत करत मतिधीरा। सो उठते बना नहीं। अब आगे क्या करना इस निश्चय के लिए बुद्धि को स्थिर कर रहे हैं।

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बुलाइ बजावहु बाजा॥३॥

अर्थ : जिसका नाम सुनने से शुभ होता है। मेरे घर में वही प्रभु आया। राजा का मन परमानन्द से पूर्ण हो गया। बुलाकर कहा कि बाजे बजाओ।

व्याख्या : गुरुजी ने कहा था कि त्रिभुवन विदित भगत भयहारी बेटा होगा। गुरुजी का वाक्य अमोघ है। अतः उसी का परामर्श करते हैं कि जिसका नाम सुनने से शुभ होता है। यथा : मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। वह प्रभु मेरे घर आये। इससे बढ़कर महोत्सव का समय और क्या होगा ? यह सोचकर राजा का मन परमानन्द से भर उठा। ज्ञानी को ब्रह्मानन्द होता और भक्त को परमानन्द होता है। राजा को क्रम से दोनों हुआ। पहिले ब्रह्मानन्द में डूबाडूब हो गये। जब अपने को सँभाला मतिधीर किया तो परमानन्द से पूर्ण हो उठे। सेवकों को बुलाकर चक्रवर्तीजी को आज्ञा देनी पड़ी कि बाजे बजाओ। पुत्रोत्सव सुनते ही प्रजामात्र में बाजा बजना चाहता था। सो आनन्द विभोर हैं। बाजा बजाने की सुधि ही नहीं हैं। इसलिए सावधान होते ही पहिली आज्ञा राजा की बाजा बजाने के लिए हुई।

गुरु वसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आए द्विजन सहित नृपद्वारा॥
अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराई॥४॥

अर्थ : गुरु वसिष्ठ के यहाँ हँकार बुलावा गया। वे ब्राह्मणों के साथ राजद्वार आये। जाकर अद्भुत बालक को देखा। रूप की तो राशि है और गुण उसके वर्णन नहीं किये जा सकते।

व्याख्या : दूसरी आज्ञा चक्रवर्तीजी की हुई कि गुरुजी को बुलाओ। सो गुरुजी के पास हँकार गया। ऐसे समय में हँकार भेजा जाता है। राजा के यहाँ किसी आनन्द में सम्मिलित होने के लिए बुलाहट आती है। तो उसे आज भी हँकार कहते हैं। कर्मकाण्ड कराना है। इसलिए गुरुजी ब्राह्मणों के साथ राजद्वार में उपस्थित हुए। पहिला काम यह किया कि बालक को देखा। उस सद्यःप्रसूत की उपमा नहीं। रूप की तो राशि है। यद्यपि गुण देखने की अभी कौन चरचा है? पर सामुद्रिक शास्त्र में सब लक्षण दिये हुए हैं। जिनसे गुणों का पता केवल शरीर संगठन से चल जाता है। अतः शास्त्रदृष्टि से गुरुजी ने देख लिया कि अवर्णनीय गुण हैं। यथा :

या सिसु के गुन नाम बड़ाई।
को कहि सकै सुनौ नरपति श्रीपति समान प्रभुताई॥
जद्यपि बुधिवय रूपसील गुन समय चारु चारों भाई।
तदपि लोकलोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई॥ गी.।

दो. नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥१९३॥

अर्थ : राजा ने नान्दीमुख श्राद्ध करके सब जातकर्म किया और सुवर्ण, धेनु, वसन और मणियों से ब्राह्मणों का सत्कार किया।

व्याख्या : नान्दीमुख श्राद्ध तथा जातकर्म और दान नालच्छेदन के पहिले ही पहले होता है। क्योंकि उस समय प्रजातीर्थ उपस्थित होता है। उस समय के दान का बड़ा माहात्म्य है। नालच्छेदन के बाद वृद्धयशौच लग जाता है। फिर कोई कर्मकाण्ड नहीं हो सकता।

सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू। सो यह उछाह[1] सिसिर ऋतु के प्रथम

---

[1] आजु सुदिन सुभघरी सुहाई।
रूप सील गुन धाम राम नृप भवन प्रकट भए आई॥
सदन वेद धुनि करत मधुर सुनि बहु विधि वाज वधाई।
पुर वासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई॥
मनि तोरन बहु केलु पताकन्हि पुरी रुचिर करि छाई।
मागध सूत द्वार बंदीजन जहँ तहँ करत बड़ाई॥
सहज सिंगार किए वनिता चलीं मंगल विपुल वनाई।
गावहिं देहि असीस मुदित चिरजीवौ तनय सुखदाई॥
वीथिन्ह कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई।
नाचहिं पुर नर नारि प्रेम भरि देह दसा विसराई॥ गीतावली

मास माघ सुदि पंचमी[1] से उपमित है। जिसे श्रीपञ्चमी या वसन्त पञ्चमी कहते हैं। पञ्चमी में पाँच कार्य हुए। १. रानी आई। २. दासी धाईं। ३. दशरथजी को समाचार मिला। ४. वसिष्ठजी की बुलाहट हुई और ४. जातकर्म किया गया।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥
सुमन बृष्टि अकास तें होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई ॥१॥

अर्थ : ध्वजा, पताका और वन्दरवार से नगर छा सा गया। कैसी सजावट हुई। सो कही नहीं जा सकती। आकाश से पुष्पवृष्टि हो चली। सब लोग ब्रह्मानन्द में मग्न हो गये।

व्याख्या : ध्वजा चतुष्कोण और पताका त्रिकोण होती है। यथा : कदलि

---

[1] सहेली सुनु सोहिलोरे।
भूपति भवन सोहिलो सुनि बाजैं गहगहे निसान।
जहँ तहँ सजहिं कलस धुज चामर तोरन केतु बितान ॥
सीचि सुगंध रचे चौके गृह आँगन लगी बजार।
दल फल फूल दूब दधि रोचन घर घर मंगलचार ॥
सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत।
लिये बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत ॥
जात कर्म करि पूजि पितर सुर दिये महि देवन दान।
तेहि अवसर सुत तीन प्रगट भये मंगलमुद कल्यान ॥
सजि आरती विचित्र थार कर जूथ जूथ वर नारि।
गावत चलीं बधावन लै लै निज निज कुल अनुहारि ॥
असही दुसही मरहु मनहि मन वैरिन बढहु विषाद।
नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर गौरि प्रसाद ॥
लै लै ढोव प्रजा प्रमुदित चले भाँति भाँति भरि भार।
करहिं गान करि आन राम की नाचहिं राजदुआर ॥
गजरथ वाजि बाहनी बाहन सबनि सवारे साज।
जनु रति पति रितु पति कोसलपुर विहरत सहित समाज ॥
घंटा घंटि पखाउज आउज झाझ वेनु डफ तार।
नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कर कंकन झनकार ॥
नृत्य करहिं नट नटी नारि नर अपने अपने रंग।
मनहु मदन रति विविध वेषधरि नटत सुदेश सुढंग ॥
कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहि गुलाल अबीर।
नभ प्रसून झरि पुरी कोलाहल भई मनभावति भीर ॥
वारहि मुकुता रतन राजमहिषी पुरसुमुखि समान।
बगरे नगर निछावरि मनिगन जनु जुवारि जव धान ॥ गीतावली

तालवर ध्वजा पताका। तोरण वन्दवार को कहते हैं। इनसे नगर छाया हुआ मालूम पड़ने लगा। नगर की ऐसी सजावट हुई कि वर्णन नहीं की जा सकती। अब आकाश की सजावट कहते हैं कि वहाँ से फूल झर रहे हैं। ब्रह्म के आविर्भाव से सम्पूर्ण प्रजा में ब्रह्मानन्द का अविर्भाव हुआ। क्योंकि सबको प्रभु के चरणों में प्रीति थी। यथा : बह्मानन्द मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति।

बृंद बृंद मिलि चली लोगाईं। सहज सिंगार किएँ उठि धाइं॥
कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप दुआरा॥२॥

अर्थ : स्त्रियाँ झुण्ड की झुण्ड मिलकर चलीं। सहज शृङ्गार किये हुए दौड़ पड़ीं। स्वर्णघट और थार में मङ्गलद्रव्य भर भरकर गाती हुई राजद्वार में प्रवेश करती हैं।

व्याख्या : स्त्रियाँ सखी सहेलियों के साथ चलीं। इसलिए वृन्द वृन्द मिलि कहते हैं। वेदो सीस तमोल मुख सीस सिलसिलेवार। दृग आँजे राजे खरीं साजे सहज सिंगार। वस इतना ही शृङ्गार किये वाजा सुनते ही दौड़ पड़ीं। कनक कलश सिर पर थार हाथ में। दधि दूर्वारोचन फलफूला। नव तुलसीदल मंगल मूला। इत्यादि मंगल द्रव्य लिये वेग से चलीं। राजद्वार में प्रवेश के पूर्व ही मङ्गलगान[१]

---

[१] आजु महामंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भये।
सदन सदन सोहिलो सोहावनो नभ अरु नगर निसान चये॥
सजि सजि जान अमर किन्नर मुनि जानि समय सुभगान ठये।
नाचहिं नभ अप्सरा मुदित मन पुनि पुनि बरखहि सुमन चये॥
अति सुख वेगि बोलि गुरु भूसुर भूपति भीतर भवन गये।
जातकरम करि कनक वसन मनि भूषित सुरभिं समूह दये॥
दल फल फूल दूब दधि रोचन जुवतिन्ह भरि भरि थार लये।
गावत चलीं भीर भई बीथिन्ह वंदिन वांकुरे विरद वए॥
कनक कलस चामर पताक ध्वज जहँ तहँ वंदनवार नये।
भरहिं अबीर अरगजा छिरकहिं सकललोक एक रंग रये॥
उमगि चल्यौ आनंद लोक तिहुँ देत सबनि मंदिर रितए।
तुलसीदास पुनि भरेइ देखियत, रामकृपा चितवनि चितए॥
गावैं विवुध विमल वर बानी।
भुवन कोटि कल्यान कंद जो जायो पूत कौसिला रानी॥
पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचक जन भये दानी।
यौं प्रसन्न कैकई सुमित्रहिं होहु महेस भवानी॥
दिन दूसरे भूप भामिनी दोउ भईं सुमंगल खानी।
भयो सोहिलो सोहिलो मो जनु सृष्टि सोहिलो सानी॥ गीतावली

प्रारम्भ कर देती हैं। आज भी यही चाल है कि ऐसे अवसरों पर मङ्गलगान करती हुई स्त्रियाँ देहली का उल्लंघन करती हैं।

करि आरति नेछावरि करहीं। बार बार सिसु चरनन्हि परहीं ॥
मागध सूत वंदि गन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥३॥

अर्थ : आरती करके निछावर करती हैं। बार-बार शिशु के चरणों में पड़ती हैं। मागध, सूत, वन्दी और गायकलोग रघुनायक का पवित्र गुणगान करते हैं।

व्याख्या : चक्रवर्तीजी के यहाँ रोक नहीं है। प्रसूतिकागृह तक सब पहुँच जाती हैं। राजा में देवभाव है अतः आरती होती है। निछावरि होती है। बार-बार प्रणाम हो रहा है। सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसिनः। वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः। सूत पौराणिक होते हैं। मागध वंशप्रशंसक होते हैं। निर्मल बुद्धि वाले वन्दी मौके को बात बोलनेवाले होते हैं। ये रघुनायक चक्रवर्तीजी के पवित्र गुणों का गान करते हैं। अथवा मुनियों के उपदेशानुसार भाविनी वृत्ति का आश्रयण करके रघुनायक श्रीरामजी के गुणों का गान करते हैं। राजा पृथु के सिंहासनासीन होने के समय मुनियों की आज्ञा से वन्दी आदिकों ने भाविनी वृत्ति का आश्रय करके ही गुणगान किया था।

सर्बस[1] दान दीन्ह सब काहू। जेहिं पावा राखा नहिं ताहू ॥
मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बिचा ॥४॥

अर्थ : सब ने सर्वस्व दान दे दिया। और जिसने पाया उसने भी रक्खा नहीं। कस्तूरी चन्दन और केसर की कीच सभी गलियों में फैल गई।

व्याख्या : सबने सर्वस्व दान दिया। जिसने पाया उसने भी नहीं रक्खा। इस भाँति सम्पत्ति का हेर-फेर अवध में हो गया। किसी समय सोमवती अमावस्या लगी। सब मुनियों की इच्छा हुई कि गोदान करें। मुनि सौ थे और एक ही के पास गौ थी। जिसके पास गाय थी उसने किसी को दान दिया। उसने भी दान कर दिया। इस भाँति वह गौ दान होती गई। अन्त में फिर वह उसी मुनि के पास पहुँच गई। जिसकी कि वह पहिले थी और गोदान का फल सबको हो गया। लालच किसी को नहीं और देने की इच्छा सबको। ऐसी अवस्था में सम्पत्ति घूमघामकर जहाँ की तहाँ आ जाती है।

कस्तूरी, केसर, चन्दन सब एक दूसरे पर फेंक रहे हैं। आनन्दातिशय में सभ्यता का बन्धन ढीला हो जाता है। अतः केसर कस्तूरी युक्त चन्दन को कीच गलियों में हो गई : शिशिर ऋतु के दूसरे महीने में फाल्गुन का उत्सव प्रारम्भ हुआ।

दो. गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रकटेउ सुखमाकंद।
हरखवंत सब जहँ तहँ, नगर नारिनर बृंद ॥१९४॥

---

[1] यहाँ अत्युक्ति अलंकार है।

अर्थ : घर-घर आनन्द का बधावा बजा। क्योंकि परम शोभा के बादल आज प्रकट हुए हैं। नगर के नर और नारियों के समूह सब जहाँ तहाँ हर्षित थे।

व्याख्या : अब स्त्रियाँ राजद्वार से लौटीं हैं तो घर-घर मङ्गलाचार होने लगा। बधावा बजने लगा। शोर हो गया कि सुषमाकन्द प्रकट हुए हैं। वहाँ परम शोभा की वर्षा हो रही है। इससे नगर के सब नर-नारी जहाँ तहाँ हर्षित हैं।

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत[1] भै ओऊ ॥
वोह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकै सारद अहिराजा ॥१॥

अर्थ : कैकयराज की बेटी और सुमित्रा ने दोनों से सुन्दर बेटों को जन्म दिया। उस सुख सम्पत्ति समय और समाज को सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते।

व्याख्या : ऊपर के दो दोहों में माघ मास का उत्सव कहा। अब दो दोहों में फाल्गुन का उत्सव कहते हैं। कुल चार दोहों में सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू कहा। यहाँ दोऊ शब्द का प्रयोग सुन्दर सुत के साथ अन्वित होकर सुमित्रा को दो पुत्र होना भी द्योतित करता है। वह १. सुख यथा :

गावत नाचत मो मन भावत सुख सो अवध अधिकानी।
देत लेत पहिरत पहिरावत प्रजा प्रमोद अघानी ॥
गान निसान कोलाहल कौतुक देखत दुनी सिहानी।
हरि विरंचि हर पुर शोभा कुल कौसलपुरी लोभानी ॥
आनन्द अवनि राजरानी सब माँगहुँ कोख जुडानी।
आसिष दै दै सराहहिं सादर उमा रमा ब्रह्मानी ॥
विभव विलास बाढि दसरथ की देखि न जिनहि सोहानी।
कीरति कुसल भूति जय रिधि सिधि तिन्हपर सबै कोहानी ॥

२. सम्पति। यथा : उमगि चल्यो आनन्द लोक तिहुँ देत सबहिं मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरई देखिअत राम कृपा चितवनि चितए। ३. समय। यथा : सुमन वृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई। ४. समाज। यथा : घर घर बाज बधाव सुभ प्रकटेऊ सुखमा कन्द। शारदा स्वर्ग की वक्ता, अहिराज पाताल के वक्ता नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ यह सुख हुआ ही नहीं। मर्त्यलोक के वक्ता का नाम नहीं लिया। क्योंकि वे तो उस सुख का अनुभव कर ही रहे हैं।

अवधपुरी सोहै एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनुराती ॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी ॥२॥

---

[1] दिन दूसरे भूप भामिनि दोउ भई सुमंगल खानी। दशमी को सूर्योदय के पूर्व पुष्य नक्षत्र मीन लग्न में भरतजी का तथा अश्लेषा में दोपहर को लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। तीनों भाइयों की सब ग्रहस्थिति वैसी ही है जैसी रामचन्द्र की थी। केवल नक्षत्र और लग्न में भेद है।

अर्थ : उस समय अवधपुरी इस भाँति शोभित हुई जैसे प्रभु से मिलने रात आई हो। सूर्य को देखकर मानो मन में संकुचित हुई फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि सन्ध्या बन गई।

व्याख्या : अवधपुरी में मध्यान्ह को ही सन्ध्या की शोभा हो गई। इसी पर कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो प्रभु से मिलने रात अभिसारिका होकर आई। अकस्मात् सूर्य दिखाई पड़ गये। रात को कभी बूढ़े सूर्य का सामना पड़ा ही नहीं था। अतः उन्हें देखकर वह संकुचित हो उठी। रंग फीका पड़ गया। सो सन्ध्या हो गई। सन्ध्या भी रात्रि ही है। पर रङ्ग फीका रहता है।

[१]अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी ।।
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा ।।३।।

अर्थ : अगर धूप के कारण मानो घनी अँधियारी हो उठी और जो अबीर उड़ रही थी वही मानो ललाई हुई। मन्दिरों : घरों की कलशियाँ मानों तारे थे। और राजा के घर का कलश तो सुन्दर चन्द्र था।

व्याख्या : सन्ध्या में अन्धकार रहता है और अस्तमित सूर्य की लालिमा भी रहती है। सो अगर धूप के धूम से मालूम होता था कि अन्धकार छा गया है। लोग आनन्द से अबीर उड़ा रहे हैं। उसने सूर्य की लालिमा का दृश्य आँख के सामने खड़ा कर दिया। उस अन्धकार में घरों की कलशियाँ तारों की भाँति चमक रही थीं। और राजा के महल का कलश तो निष्कलङ्क चन्द्र-सा शोभा दे रहा था।

भवन बेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी ।।
कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइ जात न जाना ।।४।।

अर्थ : अत्यन्त कोमल वाणी से वेदध्वनि घरों में हो रही थी। मानो समय के एक में मिल जाने पर चिड़ियाँ बोलती हों। यह कौतुक देखकर सूर्य भूल गये। एक महीना बीतने का उन्हें पता न लगा।

---

[१] कुंकुम अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।
नभ प्रसून झरि पुरी कोलाहल भइ मन भावत भीर ।।
बड़ी वयस विधि भयो दाहिनो सुर गुरु आसिरवाद।
दसरथ सुकृत सुधा सागर सब उमगे हैं तजि मरजाद ।।
ब्राह्मण वेद वंदि विरदावलि जय धुनि मङ्गलगान।
निकसत पैठत लोग परसपर बोलत लगि लगि कान ।।
जा सुख सिंधु सकृत सीकरते सिव विरंचि प्रभुताई।
सोइ सुख अवध उमगि रह्यो दस दिसि कौन जतन कहौं गाई ।।
जो रघुवीर चरन चिंतक तिन की गति प्रगट दिखाई।
अविरल अमल अनूप भगति दृढ़ तुलसीदास तब पाई ।।

व्याख्या : कवि सन्ध्या का रूपक बाँध रहे हैं। उस समय चिड़ियाँ बोलने लगती हैं। उसी को वेदध्वनि से उपमित कर रहे हैं। परन्तु वस्तुतः उस समय मध्याह्न था। उस उजेले में अगरधूप की अँधियारी जा मिली। मानो रात्रि मध्याह्न में सन गई। इस भाँति सन्ध्या होने पर पक्षियों के चहचहाहट की भाँति घर में वेदध्वनि सुनी जा रही है। सूर्य ने रात्रिसुन्दरी का नाम तो बहुत सुना था। परन्तु देखा न था। सन्ध्या के रूप में उसका साक्षात्कार होना ही कौतुक है। उसे देखकर सूर्य अपनी गति भूल गये। एकटक होकर रात्रिसुन्दरी की मधुर मूर्ति का दर्शन करने लगे। इनका नाम ही पतङ्ग है। अतः सौन्दर्य पर आसक्त होना स्वभावसिद्ध है। सभ्यता की होली जैसी कही जा सकती है कवि ने कही। जन्म के समय सूर्य नारायण मीन के दश अंश पर थे। सो एकाएक मेष के दश अंश पर हो गये। अत्यन्त अलौकिक ग्रहस्थिति हो गई और यह स्थिति एक मास तक बनी रही। सूर्य नारायण ठहरे रह गये। शेष ग्रहगण बराबर चलते रहे। एक मास में स्वाभाविक स्थिति पर पहुँचे। तब सूर्यनारायण भी चले। अतः कहते हैं :

दो. मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ, निसा कौन बिधि होइ ॥१९५॥

अर्थ : एक महीने का दिन हुआ। यह मर्म किसी ने नहीं जाना। रथ के सहित सूर्य ठहर गये। रात हो तो कैसे हो ?

व्याख्या : रथी तो सदा स्थिर ही रहता है। रथ का चलना ही उसका चलना है। इसलिए रथ समेत रवि थाकेउ कहा। मध्याह्न के समय रामजन्म हुआ। उसी समय रथ रुक गया। अतः एक मास तक मध्याह्न ही बना रहा। सूर्य हटते ही नहीं। इसलिए एक महीने तक दिन बना रहा। रात न हुई। पर इस मर्म को किसी ने न जाना। क्योंकि सब लोग ब्रह्मानन्द में मग्न थे। यथा : ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस निसि गये मास षट बीति।

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिन मनि चले करत गुनगाना ॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा ॥१॥

अर्थ : इस मर्म को किसी ने नहीं जाना। सूर्य गुणगान करते चले। इस महोत्सव को देखकर देवता, मुनि और नाग अपना भाग्य वर्णन करते हुए घर चले।

व्याख्या : ब्रह्मानन्द में विभोर होने से किसी को क्षुधा पिपासादि की बाधा नहीं हुई। न इतने समय का बीतना ही किसी को अद्भुत हुआ। इससे आनन्दातिशय कहा। दिनमणि चले कहकर दिखलाया कि जो काल की गति इतने देर तक रुकी पड़ी थी वह फिर चल पड़ी थी जैसे घड़ी का चलना कुछ देर के लिए रुक जाय और वह फिर चल पड़े। ऐसा दृश्य देखने के बाद सूर्यनारायण रामप्रभाव का गान करते चले।

एक कल्प में एक ही रामावतार होता है। और वह वैवस्वत मन्वन्तर में होता है। तेरह मन्वन्तर खाली ही रह जाते हैं। इन्द्रादि देवों की आयु एक मन्वन्तर की ही होती है। अतः सुर मुनि नाग रामावतारोत्सव देखने में अपने भाग्य की सराहना करते हैं। तेरह मन्वन्तर के सुर मुनि नागों के भाग्य में यह सुख नहीं था।

औरौ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ मति तोरी ॥
काग भुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहि कोऊ ॥२॥

अर्थ : और एक मैं अपनी चोरी कहता हूँ गिरिजे! सुनो तुम्हारी मति अति दृढ़ है। काग भुसुंडी मेरे साथ था। हम दोनों मनुष्य रूप धारण किये हुए थे। कोई जानता नहीं था।

व्याख्या : होली में अबीर उड़ने और गीतवाद्य के अतिरिक्त चोरी भी होती है। लड़के लकड़ी चुराकर होली में डालते हैं। वह चोरी बुरी नहीं समझी जाती। सो यहाँ शङ्कर भगवान् अपनी चोरी कहते हैं। अति दृढ़ मति तोरी का भाव यह कि तुम्हारी मति बड़ी दृढ़ है। मेरी चोरी सुनकर भी विचलित न होगी। सप्तर्षियों ने मेरे बहुत से दोष दिखाये। पर तुम तनिक भी विचलित नहीं हुई। स्पष्ट कह दिया। महादेव अवगुन भवन विस्नु सकल गुन धाम। जाकर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम। अतः तुमसे अपनी चोरी कहता हूँ। गुप्त रूप से प्रभु अवतीर्ण हुए थे। अपने स्वरूप से जाने से बात खुल जाती। इसलिए मैंने और भुसुण्डि ने नर रूप धारण कर रक्खा था।

परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥
यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई ॥३॥

अर्थ : परमानन्द प्रेम सुख से फूले हुए गलियों में मग्न मन होकर भूले फिरते थे। यह शुभ चरित वही जानता है जिसपर राम की कृपा होती है।

व्याख्या : देवताओं के समाज से खिसक गये। अयोध्या की गलियों में काग भुसुण्डि मिल गये सो उन्हें साथ लिये परमानन्द में फूले फूले फिरते थे। राजद्वार मिलता ही नहीं था। अपना स्वरूप छिपाये हैं। यही चोरी है।

यह चोरी भी शुभचरित है। इस बात को वे ही जान सकते हैं जिन पर राम की कृपा होगी। नहीं तो काग को साथ लिये मार्गभ्रष्ट हुए गलियों में भूलने को कौन अच्छी बात कहेगा?

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा ॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हें नृप नाना बिधि चीरा ॥४॥

अर्थ : उस अवसर पर जो जिस प्रकार आया उसे राजा ने वैसा ही मनचाहा पदार्थ दिया। हाथी, रथ, घोड़ा, सोना, गाय, हीरा, और नाना प्रकार के वस्त्र राजा ने दिये।

राजा और कूप का स्वभाव है कि : बिनु गुन बूँद न देहिं। निर्गुन को कुछ भी नहीं देते। पर चक्रवर्ती महादेव की भाँति अवढर दानी हैं। और उस समय की तो विशेषता हो गई कि जो जिसे पसन्द हो उसे राजा दे डालता था। राजा रत्नभुक् होते हैं। जो सबसे अच्छी वस्तु होती है उसी का राजा उपभोग करते हैं। वे अदेय होती हैं। पर यहाँ यह नियम नहीं रह गया। रानिन्ह दिये बसन मनि भूषन राजा सहज भंडार। यह कोई पूछनेवाला नहीं कि इसे लेकर तुम क्या करोगे ?

दो. मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसिदास के ईस ॥१९५॥

अर्थ : सबके मन में सन्तोष है। सब जहाँ-तहाँ आशीर्वाद देते हैं कि तुलसीदास के प्रभु सभी पुत्र चिरञ्जीवी हों।

व्याख्या : त्रेता के याचकों की प्रशंसा है कि अपने अभाव की पूर्ति मात्र का ही प्रतिग्रह करते थे। सबका मन सन्तुष्ट हो गया। नहीं तो संसार भर की सम्पत्ति केवल एक पुरुष की इच्छा पूर्ति के लिए भी यथेष्ट नहीं है। जिस किसी भाँति प्राणी के मन में सन्तोष उत्पन्न करना ही ईश्वरपूजन है। सो महाराज चक्रवर्ती द्वारा पूजन हो रहा है। राजा के परोक्ष में जहाँ-तहाँ आशीर्वाद दे रहे हैं : नृप तनय चारि चिरजीवहु संकर गौरि प्रसाद। तुलसीदास के ईश चारों भाई हैं। यथा : अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मनमन्दिर में बिहरैं।

५. शिशु चरित प्रसङ्ग : तीसरे प्रश्न का उत्तर :

कछुक दिवस[1] बीते एहि भाँति। जात न जानिअ दिन अरु राती ॥
नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी ॥१॥

---

[1] चैत चतुर्दसि चाँदनी अमल उदित निसिराज।
उडुगन अवलि प्रकासही, उमगत आनंद आज ॥
जागिय रामछठी सजनी रजनी रुचिर निहारि।
मङ्गल मोद मढ़ी मूरति नृप के बालक चारि ॥
मूरति मनोहर चारि बिरचि विरंचि परमारथ मई।
अनुरूप भूपति जानि पूजन जोग विधि संकर दई ॥
तिन्हकी छठी मङ्गलमठी जग सरस जिन्हकी सरसई।
किए नींद भामिनि जागरन, अभिरामिनी जामिनि भई ॥
सेवक सजग भये समय, साधन सचिव सुजान।
मुनिवर सिखये लौकिको वैदिक विविध विधान ॥
वैदिक विधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानिकै।
बलिदान पूजा मूलिकामनि साधि राखि आनि कै ॥

अर्थ : कुछ दिन इस भाँति बीत गये। दिन और रात्रि का जाना मालूम नहीं होता था। नामकरण का अवसर जानकर राजा ने ज्ञानी मुनि को बुला भेजा।

व्याख्या : उमा का तीसरा प्रश्न है : बाल चरित पुनि कहहु उदारा। इसके उत्तर में दो प्रसङ्ग कहे जायँगे : १. शिशु चरित तथा २. बालचरित। यथा : पुनि सिसु चरित कहेसि मन लाई। बालचरित कहि विविधि मन मह परम उछाह। सो पहिले शिशु चरित कहते हैं। उपयुक्त उछाह में ही ग्यारह दिन बीत गये। चारों भाइयों का क्रम से जन्मोत्सव हुआ। वह उत्सव छठी तक चला गया। इसलिए ग्रन्थकार लिखते हैं कि परम उछाह में दिन बीत गये। कुछ मालूम न पड़ा। आनन्द में रात दिन के बीतने का पता नहीं चलता।

कर्मकाण्ड के लिए गुरुजी के यहाँ बुलावा गया। गुरुजी पुरोहित भी हैं, मन्त्री भी हैं। अतः पुरोहित का कार्य करने के लिए बुलावा गया। महाराज स्वयं नहीं गये। यदि वसिष्ठजी के बिना आये काम चल जाता तो चक्रवर्ती जी स्वयं जाते। मुनिजी ब्रह्मऋषि ज्ञानी हैं। चक्रवर्ती जी भी नृपऋषि ज्ञानी हैं।

करि पूजा[1] भूपति अस भाखा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा॥
इन्हके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥२॥

जे देव देवी सेइयत हित लागि चित सनमानि कै।
ते जंत्र मंत्र सिखाइ राखत सबनि सो पहिचान कै॥
ज्यौ आजु कालिहु परहु जागत होइगो नेवते दिए।
ते धन्य पुन्य पयोधि जे तेहि समय सुख जीवन जिए॥
निज लोक विसरे लोकपति घर की न चरचा चालही।
तुलसी तपत तिहुँ ताप जग जनु प्रभु छठी छाया लही॥

[1] वरे विप्र चहुँ वेद के रवि कुल गुरु ज्ञानी।
आपु बसिष्ठ अथर्वणी महिमा जग जानी॥
लोक रीति विधि वेद की करि कह्यौ सुबानी।
सिसु समेत वेगि वोलिये कोसल्या रानी॥
चारु चौक बैठत भई भूप भामिनि सोहै।
गोद मोद पूरति लिये सुकृती जन जोहैं॥
लगे पढ़न रच्छा रिचा ऋषिराज विराजे।
गगन सुमन झरि जय जय बहु बाजन बाजे॥
बाल विलोकि अथर्वणी हँसि हरहि जनायो।
सुभ को सुभ, मोद मोद को 'राम' नाम सुनायो॥
भरत लखन रिपुदवनहू धरे नाम विचारी।
फलदायक फल चारि के दसरथ सुत चारी॥

अर्थ : पूजा करके राजा ने ऐसा कहा कि हे मुनिजी ! जो नाम आपने सोच रखा हो उसे रख दीजिये। मुनिजी ने कहा इनके नाम अनेक हैं और अनूप हैं, राजन् ! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा।

व्याख्या : नामकरण की अङ्गभूत पूजा करके तथा मुनिजी की पूजा करके चक्रवर्ती जी नामकरण के लिए प्रार्थना करते हैं। मुनिजी के स्वभाव से महाराज परिचित हैं कि जो करना है उसे मुनिजी पहिले से विचार किये रहते हैं।

मुनिजी ने कहा कि यहाँ नाम रखने की बात ही नहीं है। चारों भाइयों के सहस्र नाम हैं और उन नामों में से कोई अधिक या कोई न्यून नहीं हैं। एक से एक अधिक हैं। इसलिए अनेक और अनुपम कहा। यथा : यद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका। अब उन्हीं नामों में से एक-एक चारों के लिए चुनना है। अतः अपने पसन्द के अनुसार मैं कहूँगा।

जो आनन्द सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा ॥३॥

अर्थ : जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं। बिन्दुमात्र से त्रैलोक्य को सुख देनेवाले हैं। इन्हीं सुखधाम का राम ऐसा नाम है। जो सम्पूर्ण लोक को विश्राम देनेवाला है।

व्याख्या : आनन्दसिन्धु कहकर परिपूर्णानन्द कहा। आनन्दमात्र का मूल निधान तथा देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्न कहा। आनन्द कहने से ही सत् और चित् का आपसे आप ही ग्रहण हो जाता है। सुखराशि से व्यावहारिक आनन्द का मूल स्रोत कहा। एष ह्येवानन्दयतीति श्रुतेः। यथा : जो सुख सुधा सिंधुसीकर ते सिव विरंचि प्रभुताई। अतः स्वरूप से सिन्धु। चरित करने में राशि। यथा : नित नव चरित देख पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी।

अखिल लोक विश्रामदायक होने से सुखधाम कहा। सुखसिन्धु सुखराशि और सुखधाम कहने से उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण द्योतित किया। यथा : आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। अथवा ज्ञानी के लिए आनन्दसिन्धु। कर्मठ के लिए सुखराशि : स्वर्गसुखरूप तथा भक्त के लिए सुखधाम कहा। ऐसे प्रभु का नाम राम रक्खा। क्योंकि रामपद का अर्थ है जिस अनन्त चिदात्मा नित्यानन्द में योगी रमण करते हैं वही परब्रह्म राम हैं। यथा : रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते। रामतापनीये।

बिस्व[1] भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥४॥

---

[1] यहाँ विधि अलङ्कार है।

अर्थ : जो जगत् का भरण पोषण करता है उसका नाम भरत है। जिसके स्मरण से शत्रु का नाश होता है उसका नाम शत्रुहन वेद में प्रकाशित है।

व्याख्या : जिस भाँति त्रैलोक्य सुपासी होने से रामनाम रक्खा गया। उसी भाँति जगत् के भरण पोषण करने से भरत नाम रक्खा गया। भरत पद का अर्थ ही है भरण करनेवाला। इसी भाँति शत्रुघ्न पद का अर्थ है शत्रु का नाश करनेवाला। जिस भाँति गणेश जी के स्मरण मात्र से विघ्न का नाश होता है। उसी भाँति जिसके स्मरण मात्र से शत्रु का नाश होता है उसका नाम शत्रुहन रक्खा।

दो. लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार ॥१९७॥

अर्थ : जो लक्षण के धाम हैं। रामजी को प्रिय हैं और सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं। गुरु वसिष्ठ ने उनका उदार नाम लक्ष्मण रक्खा।

व्याख्या : असाधारण धर्म ही लक्षण है। अतः जो विशेष धर्मों का निधान हो उसे लक्ष्मण कहते हैं। देवस्वामी जी कहते हैं : गौर अंग सब औ गर्भहिते, सीस चँदोला लक्ष्म गहे। ताते नाम कियो लक्ष्मण अस सिर पर धरती भार वहे। तीन शून्यते सहस्रशीर्षता या में कछु न प्रमान-चहे। रामप्रिय शब्द में तत्पुरुष और बहुव्रीही दोनों समास हैं। राम का प्रिय या राम हैं प्रिय जिसको। सकल जगत् आधार जाग्रत् के विभु होने से हैं अथवा भगवान् वाल्मीकि की उक्ति जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी के अनुसार शेषावतार होने से सकल जगत् आधार हैं। इनका उदार नाम लक्ष्मण है। भक्त सुखदाता तथा सकल जगत् आधार होने से उदार कहा।

धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। वेद तत्व नृप तव सुत चारी ॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहिं सुखमाना ॥१॥

अर्थ : गुरुजी ने हृदय में विचार के नाम रक्खा। कहा : राजन् तुम्हारे चारों बेटे वेद के तत्त्व हैं जो मुनियों के धन भक्तों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं। वे बाललीला के आनन्द में सुख मान रहे हैं।

व्याख्या : वेद का तत्त्व प्रणव है। प्रणव में चार मात्रा होती हैं। अ, उ, म् और अर्धमात्रा। अकार जाग्रत् अवस्था के विभु विराट् रूप लक्ष्मण[1] हैं। उकार स्वप्नावस्था के विभु हिरण्यगर्भरूप शत्रुघ्न हैं। मकार सुषुप्ति के विभु ईश्वर रूप

---

[1] अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः। प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः। अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः॥ रामोत्तरतापनीये : अकाराक्षर से उत्पन्न विश्वभावन लक्ष्मणजी हैं, उकाराक्षर से उत्पन्न तैजसात्मक शत्रुघ्न जी हैं। मकराक्षर से उत्पन्न प्राज्ञात्मक भरत जी हैं। ब्रह्मानन्दैकविग्रह राम अर्धमात्रात्मक हैं।

भरत हैं और अर्ध मात्रा तुरीय के विभु ब्रह्म साक्षात् राम हैं। इस भाँति प्रणवरूप होने से चारों भाई वेद के तत्त्व हैं। चक्रवर्ती जी ने कहा था : धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा। सो हृदय से विचारकर मुनिजी ने नाम रख दिया। पहिले तुरीय के विभु साक्षात् ब्रह्म का नाम रक्खा। क्योंकि ये ही ज्येष्ठ थे। तत्पश्चात् क्रमानुरूप सुषुप्ति के विभु ईश्वर का नाम भरत रक्खा। अब तीसरे पुत्र का नाम रखना क्रमप्राप्त था। परन्तु गुरुजी ने क्रम भङ्ग करके चौथे पुत्र स्वप्न के विभु का नाम शत्रुघ्न रक्खा। क्योंकि सुषुप्ति से स्वप्न अलग नहीं किया जा सकता। तत्पश्चात् तीसरे पुत्र जाग्रत् के विभु ही जगत् के आधार हैं। यथा : सुंदरी सुंदर वरन्ह सह··· सब एक मंडप राजहीं। जनु जीव उर चारिउ अवस्था विभु न सहित विराजहीं। अतः कहते हैं : धरेउ नाम गुरु हृदय विचारी। तुरीय के विभु राम हैं। यथा : तुरीयमेव केवलं। ये ही मुनियों के धन हैं, ये ही भक्तों के सर्वस्व हैं, ये ही शिवजी के प्राण हैं। इनकी प्राप्ति महा दुर्लभ है। सो चक्रवर्ती जी के प्रभाव से आज बाललीला में सुख मान रहे हैं। सबके नयन विषय हो रहे हैं।

बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥
भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥२॥

अर्थ : वचपन से ही अपना हित और स्वामी जानकर लक्ष्मणजी ने रामचरण में प्रीति लगायी और भरत शत्रुहन दोनों भाइयों की स्वामी और सेवक की भाँति प्रीति की वड़ाई हुई।

व्याख्या : कौसल्याजी ने अपने पायस का अंश जो सुमित्राजी को दिया था उसी से लक्ष्मण हुए। अतः लक्ष्मणजी की स्वभाव से ही श्रीरामजी के चरणों में प्रीति हुई और कैकेयीजी ने जो अपने पायस का अंश सुमित्राजी को दिया था। उसी से शत्रुघ्न हुए। अतः स्वभाव से ही वे भरतजी के अनुगामी हुए। यथा : लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च। द्वंद्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः। अध्यात्मरामायणे। यहाँ भरत शत्रुहन दूनो भाई पायस के अंशानुसार ही कहा गया है। नहीं तो कैकेयी से भरत का जन्म हुआ और सुमित्रा को दो यमल : जोडुए लड़के हुए। क्योंकि उन्होंने कौसल्या और सुमित्रा दोनों से पायसांश प्राप्त किया था। यथा : कैकेयी चाथ भरतमसूत कमलेक्षणा। सुमित्रायां यमौ जातौ पूर्णेन्दुसदृशाननौ।

दूसरी वात यह भी है कि तुरीय के विभु और जाग्रत् के विभु का सदा साथ है। क्योंकि तुरीय की प्राप्ति जब कभी होगी तो जाग्रत से ही होगी। सुषुप्ति स्वप्न से नहीं हो सकती। इसी भाँति सुषुप्ति और स्वप्न का साथ है। सुषुप्ति के अन्तर्गत ही स्वप्नावस्था है। अतः दोनों के विभुओं का भी साथ स्वाभाविक है। पायस का जो विभाग हुआ था सो इसी बात को लक्ष्य में रखकर हुआ था।

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहि छबि जननी तृन तोरी॥
चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥३॥

अर्थ : श्याम और गौर की दोनों जोड़ी सुन्दर थी। तिनका तोड़कर माताएँ छवि देखती थीं। चारों शील रूप और गुण के धाम थे। फिर भी रामजी अधिक सुखसागर थे।

व्याख्या : अव्यक्त रूप होने से राम और भरत, तुरीय और सुषुप्ति के विभु श्याम हैं। जाग्रत् और स्वप्न व्यक्त रूप हैं। अतः उनके विभु लक्ष्मण और शत्रुघ्न गौर हैं। राम और लक्ष्मण की जोड़ी और भरत तथा शत्रुघ्न की जोड़ी श्याम गौर की जोड़ियाँ हुईं। इनकी छवि माताएँ तृण तोड़कर देखती थीं! जिसमें अपनी डीठ बालकों को न लगे। चारों भाई शील रूप और गुणों के धाम थे। पर रामजी सबसे अधिक सुखसागर थे। यथा : या सिसु के गुन नाम बड़ाई। जद्यपि वुधि वल रूप, सील, गुन समय चारु चार्‌यो भाई। तदपि लोक लोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई।

हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनहोर हासा॥
कबहुँ उछंग कबहुँ वर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना॥४॥

अर्थ : हृदय में अनुग्रहरूपी चन्द्रमा का प्रकाश है। उसी की किरन मनोहर हासरूप से सूचित होती है। कभी गोद में कभी सुन्दर हिंडोले पर बैठकर माँ प्रिय ललन कहकर दुलार करती है।

व्याख्या : होठों पर मृदु हँसी के आने से मुख की शोभा और भी अधिक हो गयी। हृदय में अनुग्रह का चन्द्रोदय हुआ। अतः वह दृष्टिगोचर नहीं है। पर उसकी किरणें मनोहर हास के रूपमें अधर पल्लवों पर खेल रही हैं। कभी माँ गोद में लेकर खेलाती है और कभी पालने पर झुलाती है। पालने पर झुलाना ही बच्चों के लिए व्यायाम है। प्रिय ललन कहकर दुलारती है। कबहुं उछंग। यथा : सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये। बार बार विधु बदन विलोकति लोचन चारु चकोर किये। कबहुँ पौढ़ि पयपान करावति कबहूँ राखति लाय हिये। बाल केलि गावति हलरावति पुलकति प्रेम पियूष पिये। विधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंवुद ओट दिये। तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न विये।

कबहूँ वर पलना। यथा : पालने रघुपतिहि झुलावै। लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कलकीरति गावै। केकिकंठ द्युति स्यामवरन वपु बालविभूषन विरचि बनाए। अलकैं कुटिल ललित लटकन भ्रू नीलनलिन दोउ नयन सुहाए। सिसु सुभाय सोहत जब करगहि वदन निकट पदपल्लव लाए। मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरिलेत सुधा ससि सों सचुपाये। उपर अनूप विलोकि खेलौना किलकत पुनि पुनि पानि पसारत। मनहुँ उभय अंभोज अरुन सो विधुभय विनय करत अति आरत। तुलसिदास बहु वासविवस अलिगुंजत सुछबिन जात बखानी। मनहु सकल स्रुति रिचा मधुप ह्वै विसद सुजस वरनत वरबानी।

मातु दुलारै कहि प्रिय ललना। यथा : ललन लोने लेरुआ वलि मैया। सुख

सोइये नीद वेरिआ भइ चारु चरित चारो भया। कहति मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया। मोदकंद कुल कुमुद चंद्र मेरे रामचंद्र रघुरैया। रघुवर बाल केलि संतन की सुभग सुखद सुरगैया। तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया।

दो. व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ॥१९८॥

अर्थ : जो व्यापक, ब्रह्म, निरञ्जन, निर्गुण, लौकिक क्रीड़ा से रहित है। वही अजन्मा भक्ति प्रेम के वश होकर कौसल्या की गोद में है।

व्याख्या : यहाँ भक्ति की महामहिमा दिखला रहे हैं। पहिले कह चुके हैं। अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई। जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जलहिम उपल विलग नहि जैसे। उसीकी सार्थकता दिखलाते हैं कि व्यापक ब्रह्म ही परिच्छिन्न से होकर निरञ्जन सञ्जी से होकर, निर्गुण सगुण से होकर अजन्मा जन्म लिये हुए को भाँति विगतविनोद विनोद करते हुए से आज कौसल्या की गोद में विराजमान हैं। जो जगत् के रक्षक हैं वे सर्वात्मा रक्ष्य होकर कौसल्या की गोद में आगये हैं और कौसल्या उनकी रक्षा में परमानन्द का अनुभव कर रही हैं।

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज वारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ॥१॥

अर्थ : नील कमल और गम्भीर बादल के समान श्याम शरीर की शोभा करोड़ों काम को सी है। अरुण चरणकमल में नख की ज्योति ऐसी शोभा दे रही है, जैसे कमल के दलों पर मोती बैठे हों।

व्याख्या : प्रभु की श्यामता अद्भुत है। नील कमल रहने से भी पूरा नहीं पड़ता तो नील नीरधर कहते हैं। फिर भी सन्तोष नहीं होता तो नीलमणि कहते हैं। कहीं केकि कंठ दुति श्यामल भंगा बतलाते हैं। जब किसी भाँति काम नहीं चलता तो करोड़ों काम से उपमित करते हैं। संसार में शोभा की मर्याद काम माना जाता है। वह भी इस श्याम रङ्ग के सामने कुछ जँचता नहीं।

चरणकमल अरुण वर्ण हैं! श्रीगोस्वामी जी उस लालिमा के लिए कहते हैं: बसी मानहु चरन कमलन्हि अरुनता तजि तरनि। मानो सूर्य को छोड़कर लालिमा आकर इन्हीं चरणों में बसी है। जानुपानि विचरण में उन्हीं नखमणि चन्द्रिकाओं की ज्योति पृथ्वी से रुककर चरण तल में आ पड़ती है। उसकी ऐसी शोभा होती है जैसे कमल के दलों पर मोती बैठे हों।

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जिहि देखा ॥२॥

अर्थ : वज्र ध्वजा और अंकुश की रेखाएँ शोभायमान हैं। नूपुर की धुनि सुनकर मुनियों का मन मोह जाता है। कमर में करधनी है। उदर में तीन रेखाएँ हैं। गंभीर नाभि की शोभा वही जानता है जिसने देखा हो।

व्याख्या : चरण चिन्ह अड़तालीस कहे गये हैं। उनमें से चार का ही वर्णन श्रीरामचरितमानस में आता है। यथा : ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत वन सहत कंटक किन लहे। परन्तु यहाँ तीन का ही वर्णन है। भाव यह कि अभी अत्यन्त शिशु हैं। अतः रेखाएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। परन्तु उनमें से तीन तो इस समय भी स्पष्ट हैं। अभी कमल रेखा स्पष्ट नहीं हुई है। बड़े होने पर स्पष्ट होगी। श्रीगोस्वामी जी को अत्यन्त सन्निधान से समीक्षा का अवसर नहीं मिला। परन्तु ये चार रेखाएँ तो ऐसी हैं कि जहाँ पृथ्वी पर प्रभु के चरण चिह्न पड़ते हैं वहाँ इनकी छाप पड़ जाती है। अतः श्रीगोस्वामी जी चार का ही वर्णन करते हैं।

भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनिमाल पदिक की सोभा। विप्र चरन देखत मन लोभा॥३॥

अर्थ : विशाल भुजाओं में बहुत से गहने थे और हृदय में बघनहा की बड़ी शोभा थी। उर पर मणि के पदिकहार की शोभा और विप्र के चरण का चिह्न देखकर मन लुभा जाता था।

व्याख्या : यद्यपि अभी खड़े नहीं हो सकते। फिर भी भुजाओं की विशालता लक्षित होती है और वे कङ्कण अङ्गदादि अनेक आभूषणों से सुशोभित हैं और हृदय में बघनहा की शोभा है। अनिष्ट निवारणार्थ बच्चे को बघनहा पिन्हाया जाता है विप्रचरण की छोटी सी छाप ऐसी मनोहारिणी है कि जिसके देखने से ही मन लुब्ध हो जाता है। यह वर्णन विष्णु भगवान् के रामावतार का है। क्योंकि विष्णु भगवान् ही ने भृगुमुनि के चरण चिन्ह को हृदय में धारण किया था। पदिकहार का वर्णन करते हुए देवस्वामी जी लिखते हैं : पदिकहार रघुवर कंठन में सात मनिन को झलक रहा। मोहनमाला जाहि कहत हैं अधिक छविन सो छलकि रहा। भावी राम चरित जनु सातों कांडन से हियहलकि रहा। स्ववरन सूत्रन से ग्रंथित लखि देवहु को मन ललकि रहा।

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥४॥

अर्थ : शंख के ऐसा कण्ठ और ठुड्ढी सुन्दर और मुखपर अगणित काम की शोभा छाई हुई थी। दो दो दंतुलियाँ और होठ लाल तथा नासिका पर के तिलक का कौन वर्णन कर सकता है।

व्याख्या : शंख के समान कण्ठ की ही शोभा है। चिबुक ही चूमा जाता है। सो अत्यन्त ही सोहावना है। शरीर में कोटि काम की छवि है। यथा : काम कोटि छवि स्याम शरीरा। अतः मुख पर अगणित काम छवि का छाना प्राप्त है।

दुइ दुइ से ऊपर नीचे की दो दो दँतुलियाँ कहा। आज भाल तिलक नहीं है। बच्चों को नासा तिलक ही दिया जाता है। यथा बाल गोपाल के उपासक आज भी नासा तिलक धारण करते हैं। उस नासा तिलक की बालगोविन्द को पाकर अपार शोभा हो गई। यथा : लटकन लसत ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतुरिया रूरो। मुनिमन हरत मंजु मसिविंदा। ललित वदन बलि बाल मुकुंदा : गीतावली।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥५॥

अर्थ : सुन्दर कान और गाल तो अत्यन्त ही सुन्दर थे और मीठी तोतरी बोली अत्यन्त ही प्यारी मालूम होती थी। गर्भ के ही चिक्कन और घुँघराले बालों : अभी तक मुण्डन संस्कार नहीं हुआ है : को माँ ने बहुत प्रकार से सँवार रक्खा था।

व्याख्या : नीलमणिमय सीपी की भाँति समान श्रवण शोभायमान थे और दर्पण से कपोल की शोभा तो अत्यन्त ही अधिक थी। बच्चों की तोतली वाणी स्वभाव से ही मधुर और प्यारी होती है। सो राम गोविन्द की तोतली वाणी अत्यन्त मधुर और प्यारी थी। यथा :

सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवन कपोल मोहि अति भाए।
भ्रूसुंदर करुनारस पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥१॥
भाल विसाल ललित लटकन वर, बालदसा के चिकुर सोहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ॥२॥
भाल तिलक मसिविंदु विराजत, सोहत सीस लाल चौतनियाँ।
मन मोहनी तोतरी बोलनि, मुनिमन हरति हंसति किलकनियाँ ॥३॥

पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जिन्ह देखा ॥६॥

अर्थ : पीली झँगुली शरीर में पहिना दी गई और घुटने तथा हाथ के बल से चलने लगे। वह शोभा मुझे बहुत अच्छी लगी। रूप का वर्णन वेद और शेष नहीं कर सकते। उसे तो वे ही जान सकते हैं जिन्होंने स्वप्न में भी देख पाया है।

व्याख्या : श्याम शरीर पीली झँगुली में ऐसा खिला मानो छोटे से बादल ने बाल दामिनी को लपेट लिया। गीतावली में कहते हैं : पियरी झीनी झंगुली साँवरे सरीर खुली बालक दामिनी ओढी मानो वारे-वारिधर। जानु पानि विचरण के विषय में कहते हैं : राजमराल विराजत विहरत जे हर हृदय तड़ाग। ते नृप अजिर जानुकर धावत धरन चटक चल काग। परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चारयौ मनि मरकत पंकज राग।

इस वर्णन को सुनकर कोई यह न समझ ले कि मैंने ठीक ठीक रूप का वर्णन कर दिया। इसलिए कहते हैं कि श्रुति शेष नहीं वर्णन कर सकते सर्वथा अवर्णनीय है। शारदा को नहीं कहा क्योंकि कोई भी वर्णन करेगा तो वाणी की ही सहायता

से वर्णन करेगा। अवर्णनीय कहने से ही वाणी का ग्रहण हो गया। फिर भी अज्ञेय नहीं है। सपने में भी जिसने देखा है वह इस बात को जानता है कि वह महासौन्दर्य सर्वथा वाणी से परे है। श्रीगोस्वामी जी ने स्वप्न में इस प्रकार दर्शन किया था, इसलिए ऐसा कहते हैं। यहाँ गोस्वामीजी ने नेत्र का वर्णन नहीं किया। क्योंकि याद नहीं है। सपने की बात पूरी पूरी याद नहीं रहती। एकाध बात की भूल पड़ जाया करती है।

दो. सुख संदोह मोह पर, ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस, कर सिसु चरित पुनीत ॥१९९॥

अर्थ : जो सुख की राशि मोह से परे है और जिस तक बुद्धि वाणी और इन्द्रिय की पहुँच नहीं है। वही राजा रानी के परम प्रेम के वश होकर पवित्र शिशु लीला कर रहे हैं।

व्याख्या : व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद। तक प्रभुअवतार प्रसङ्ग कहा। अब इस १९९ वें दोहे में शिशुचरित कहा। दोनों में यह दिखाया कि अवतीर्ण होने या शिशुचरित करने से उनके स्वरूप में कोई अन्तर न पड़ा। जब बारह दिन के थे तो कौसल्या की गोद में थे। अब हाथ और घुटने के बल से चलने लगे तब माता और पिता दोनों को आनन्द दे रहे हैं। चक्रवर्तीजी भी गोद में लेकर बाहर निकलते हैं। सखी-सखी से कहती है : सवैया :

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगिसी रही जो न ठगे धिकसे॥
तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नयन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे॥

सखी महारानी से कहती है :

नेकु विलोकि धौं रघुवरनि।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृप घरनि॥१॥
बाल भूषन वसन तन सुंदर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर, उठि चलनि गिरि गिरि परनि॥२॥
झुकनि झाँकनि छाँह सो, किलकनि नटनि हठि लरनि।
तोतरी बोलनि विलोकनि मोहनी मनहरनि॥३॥
सखि वचन सुनि कौसिला लखि सुढर पासेढरनि।
लेति भरि भरि अंक सैंतति पैंत जनु दुहु करनि॥४॥
चरित निरखत विबुध तुलसी ओट दै जलधरनि।
चहत सुर सुरपति भयो सुरपति भयो चहै तरनि॥५॥

जो आनन्दसिन्धु है वह आज बिन्दु सा प्रतीत होता है। जो मोह से परे है वह अबोध बाललीला कर रहा है। जो बुद्धि, वाणी और इन्द्रिय से अतीत है

वह दशरथ कौसल्या की गोद में है। सो यह सब प्रेमा भक्ति की करामात है। जो गुनरहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे। अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई। का यह बड़ा मनोहर उदाहरण है।

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता ॥
जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रकट भवानी ॥१॥

अर्थ : जगत् के माता पिता राम इस भाँति कोसलपुरवासियों को सुख देते थे जिन्होंने रघुनाथ के चरणों में प्रीति की। हे भवानी! उनकी यह प्रत्यक्ष गति है।

व्याख्या : जगत् के पिता भी राम और माता भी राम। वही उपादान कारण और वही निमित्त कारण भी हैं। जो आज माता पिता की गोद में खेल रहे हैं वे किसी के बेटे नहीं हैं। सम्पूर्ण जगत् के जनक जननी हैं। आज राजकुमार बने हुए कोसलनिवासी पुरजन को सुख दे रहे हैं। यथा : लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर नर नारि। बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि।

शङ्कर भगवान् भवानी को सम्बोधन करके कहते हैं कि ज्ञानी की गति प्रकट नहीं होती। परन्तु जिनने रघुनाथ के चरणकमलों में प्रीति की है उनकी यह प्रकट गति है कि भवबन्धन को छोड़नेवाला उनकी गोद में है। जिसकी गोद में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं वह अपने भक्त की गोद में है। मयि ते तेषु चाप्यहम्। वे मेरे में हैं और उनमें मैं हूँ। गी.। यहाँ पर गोस्वामीजी भक्ति की महिमा दिखलाते हैं।

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भव बन्धन छोरी ॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥२॥

अर्थ : रघुपति विमुख होकर करोड़ यत्न करके भी कौन भव बन्धन को खोल सकता है? जिस माया ने चराचर जीव को वश कर रक्खा है वह प्रभु से भयग्रस्त होकर त्राहि त्राहि करती है।

व्याख्या : बँधा हुआ स्वयं अपने को छुड़ा नहीं सकता। जो छुड़ानेवाला है, यथा : तुलसिदास यह मोह श्रृंखला छूटिहि तुम्हरे छोरे। विनय.। उसी से जो विमुख हो गया उसके छूटने की कौन आशा है। सरकारी कैदी को कौन छुड़ावे। यथा : जौ खल भएसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही। वह तो उन्हीं के शरण में जाने से छूटेगा। चाहे जब जाय दूसरा उपाय नहीं है। भगवद्गीता में स्वयं कहते हैं : यह मेरी दैवी गुणमयी माया उल्लंघन करने योग्य नहीं है। जो मेरी शरण आते हैं वे ही इसे पार कर सकते हैं। यथा : दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया। जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा। सो प्रभु भ्रूबिलास खग

राजा । नाच नटी इव सहित समाजा । तथा : देखी माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी । देखा जीव नचावै जाही । देखी भगति जो छोरै ताही । ऐसी प्रबल माया से आप से आप कोई भी नहीं छूट सकता । फिर रामविमुख के छूटने का क्या उपाय है ? अतः जो मायापति है जिससे माया डरती है उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए ।

भृकुटि विलास नचावै ताही । अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥३॥

अर्थ : जो प्रभु उसे : माया को भौंह के इशारे पर नचाता है उसे छोड़कर किसका भजन किया जाय । मनसा वाचा कर्मणा चतुराई छोड़कर भजन करने से रघुराई कृपा करेंगे ।

व्याख्या : जब यह निश्चय है कि अपने प्रयत्न से कोई भव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता तब किसी ऐसे समर्थ का आश्रयण करना होगा जो स्वयं मुक्त हों और उससे छुड़ा सके । इस पर गोस्वामीजी कहते हैं कि जिसके भौंह के इशारे पर माया नाचती है उसे छोड़कर किसका आश्रय ग्रहण किया जाय ? अर्थात् वही एक भजनीय है । उसी की कृपा से सब कुछ सम्भव है ।

अब प्रश्न यह उठा कि उसकी कृपा कैसे हो ? तो कहते हैं भजन करने से प्रभु कृपा करते हैं । परन्तु उसमें भी एक समय : शर्त है और वह यह है कि मनसा वाचा कर्मणा चतुरता को छोड़कर भजन करे । भजन में कार्पण्य और दैन्य प्रयोजनीय हैं । चतुरता में तो वुद्धि का कौशल दिखाना पड़ता है । छल से भी काम लेना पड़ता है । अतः चतुरता भजन का बाधक है । यथा : सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति । तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति । दो. ।

एहि बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा । सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा ॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै । कबहुँ पालने घालि झुलावै ॥४॥

अर्थ : इस विधि से प्रभु ने शिशु लीला की और सब नगरवासियों को सुख दिया । कभी गोद में लेकर हिलाती डुलाती हैं । कभी पालने में डालकर झुलाती हैं ।

व्याख्या : एहि विधि राम जगत पितु माता । कोसल पुरवासिन्ह सुख दाता से प्रसङ्ग छोड़ा था और अवसर प्राप्त भक्ति की महिमा कहने लगे थे । अब फिर वहीं से प्रसङ्ग उठाते हैं । एहि विधि सिसु विनोद प्रभु कीन्हा । सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा । नारियाँ महारानी की गोद भरी देखकर कृत्यकृत्य हैं । नर लोग चक्रवर्ती जी की गोद में दर्शन पाकर सुखी हैं ।

माँ दुलार करती है । पर स्वास्थ्य पर बहुत ध्यान है । गोद में लिये रहती हैं तो भी हिलाया करती हैं । पालने पर रखती हैं तो उसे झुलाया करती हैं । जिसमें बालोचित व्यायाम होता रहे । रातदिन बच्चे में लगी रहती हैं ।

दो. प्रेम मगन कौसल्या, निसदिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता, बाल चरित कर गान ।।२००।।

अर्थ : कौसल्या रानी प्रेम में मग्न थीं। उन्हें रात दिन के बीतने का पता नहीं। पुत्र के प्रेम के वश में बाल चरित्र का गान करती थीं।

व्याख्या : जो प्रेम में मग्न हो उसे काल की गति का पता नहीं रहता। कौसल्या माता की यही गति है। कहा था : कीजिय सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा। सो उसी परम अनूम सुख में भूली हुई हैं। अभी प्रभु शिशुरूप ही हैं। पर माँ बालचरित का गान करती हैं। बच्चे के बड़े होने के लिए बड़ी उत्सुक हैं। यथा :

ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लखन भावते भरत रिपुदवन चारु चारयौ भैया ।।१।।
बाल बिभूषन वसन मनोहर अंगनि विरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं ।।२।।
छगनमगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुकु ठुमुकु कब धैहौं।
कल बल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बुलैहौं ।।३।।
पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली।
लैहैं लोचन लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ बेली ।।४।।
जा सुख की लालसा लटू सिव सुक सनकादि उदासी।
तुलसी तेहि सुख सिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी ।।५।।

६. बालचरित प्रसंग

एकबार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए।।
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना ।।१।।

अर्थ : एकबार बच्चे को माँ ने नहलाया और शृङ्गार करके पालने पर पौंढा दिया। अपने कुल के इष्टदेव भगवान् की पूजा के लिए स्वयं स्नान किया।

व्याख्या : माता कौसल्या प्रति मास श्रीरामजी का शृङ्गार करके मालपूआ, लड्डू, गुझिया, गुलगुले आदि बनाकर बायन बाँटती थी। यथा : कौसल्या जननी तस्य मासि मासि प्रकुर्वती। वायनानि विचित्राणि समलङ्कृत्य राघवम्। अपूपान् मोदकान् कृत्वा कर्णशष्कुलिकांस्तथा । अध्या. । तदनुसार एक बार माँ ने नहलाकर शृङ्गार किया और पालने पर लिटा दिया। क्योंकि उसे और भी कार्य करने थे।

उनके कुल के इष्टदेव श्रीरङ्गजी थे। सो उनकी पूजा के लिए स्नान किया। यह स्नान, प्रातः स्नान के अतिरिक्त पूजनार्थ था। गृहस्थ के लिए मध्याह्न का विधान ही विशेष है।

करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा । आपु गई जहाँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देखि सुत जाई ॥२॥

अर्थ : पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया और स्वयं वहाँ गई जहाँ रसोई बनी हुई थी । फिर माँ वहाँ से चली आई देखा कि बच्चा खा रहा है ।

व्याख्या : यद्यपि नैवेद्य पूजन का प्रधान अङ्ग है । फिर भी यहाँ पर नैवेद्य के विषय में विशेष रूप से कहना है । इसलिए कहते हैं कि उस पूजा में नैवेद्य चढ़ाया । उसे वहीं छोड़कर जो मालपूआ, लड्डू, आदि बायन बन रहा था उसे देखने चली गई । वहाँ से लौटने पर माँ देखती है कि बच्चा नैवेद्य खा रहा है ।'

गइ जननी सिसु पहिं भयभीता । देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई । हृदय कंप मन धीर न होई ॥३॥

अर्थ : डरी हुई बेटे के पास गई । देखा बच्चा वहाँ सोया हुआ है । फिर लौटकर उसी बच्चे को देखा । हृदय काँपने लगा । धैर्य न रह गया ।

व्याख्या : माँ डर गई कि मैं तो बच्चे को पालने पर लिटा आई हूँ । वह यहाँ कैसे आगया ? बच्चा स्वयं आ सकता नहीं । दूसरा कोई यहाँ था नहीं । क्या कोई आया है ? देखने के लिए जहाँ बच्चे को पालने पर लिटाया था वहाँ गई तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं रह गया । बच्चा सोया हुआ है । तो क्या वह मेरा बच्चा नहीं था ? किसी ने भरत को लाकर तो वहाँ नहीं रख दिया । इसलिए फिर वहाँ गई तो उसी बच्चे को पाया । अपने ही बच्चे को दो स्थानों में एक साथ देख रही है । एक स्थान में जागता हुआ और दूसरे स्थान में सोया हुआ । कलेजा काँप उठा । मेरे बच्चे को लेकर यह क्या विचित्र घटना हो रही है । कोई समाधान मन में नहीं आता । पहिले ही भयभीत हो गई थी । अब हृत्कम्प होने लगा । कोई अनिष्ट प्रभाव बच्चे पर पड़ रहा है । इसलिए धैर्य नहीं होता ।

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥४॥

अर्थ : यहाँ वहाँ दो बालक देखा । यह मेरी बुद्धि का भ्रम है कि कोई विशेष बात है । रामजी ने देखा कि माँ विकल हो गई तो मधुर मुस्कान से हँस दिया ।

व्याख्या : इहाँ ठाकुरवाडी में और उहाँ पालने पर लड़के दो दिखाई पड़े । तब अपनी ही मति पर शङ्का करती हैं कि मुझे मतिभ्रम तो नहीं हो गया ? मतिभ्रम कैसे कहें । कोई दूसरा पदार्थ तो मुझे दो नहीं दिखला रहा है । जितनी विशेष बातें होती हैं उनमें यह तो सबसे विलक्षण है । कहीं एक लड़के से दो नहीं हो जाते ।

प्रभु ऐसे प्रेमवश हैं कि माँ की आकुलता न सह सके । एकदम वात्सल्य में

माँ मग्न थीं। इसलिए विवेक को जाग्रत करने के लिए मुसकरा दिये। अपना स्वरूप दिखलावेंगे। यथा : मोहिं विलोकि राम मुसुकाहीं। विहसत तुरत गयेउँ मुख माहीं : कि दो रूप पर क्यों आश्चर्य करती हो मैं सर्वरूप हूँ।

दो. देखरावा मातहि निज, अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२०१॥

अर्थ : माता को अपना अद्भुत अखण्ड रूप दिखलाया। प्रत्येक रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं।

व्याख्या : इतना विशाल रूप दिखलाया तो सबको वह रूप दिखना चाहिए। परन्तु किसी ने नहीं देखा। केवल माँ ने देखा। जिसे दिखाना चाहा उसने देखा। उनका ऐसा रूप तो सदा ही रहता है। पर जीव उसे देख नहीं सकता। दिव्य नेत्र हों तो दिव्य रूप का दर्शन हो। अतः माँ को दिव्य चक्षु दिया। जिससे उसने अखण्ड रूप का दर्शन किया। सूतिका गृह में जिस अद्भुत रूप का दर्शन दिया था वह खण्ड रूप था। वहाँ स्तुति करने में माता ने कहा था ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति वेद कहै। उस माता के माने हुए रूप का दिखलाना भी आवश्यक था। इस बार ठाकुरवाडी में वही अखण्ड रूप दिखलाया। जिसके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं। जो मन में भी चिन्तन नहीं किया जा सकता। उस रूप को प्रत्यक्ष देखा। भाव यह कि उनके रूप में भेद नहीं हैं। वे वैसे ही : सुख संदोह मोह पर ज्ञान गिरा गोतीत हैं। परन्तु दृष्टि के तारतम्य से अनेक रूप से भासित होते हैं।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥१॥

अर्थ : असंख्य सूर्य, चन्द्र, शिव, ब्रह्मा देखे। बहुत से पर्वत, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी और वन देखे। काल कर्म गुण और स्वभाव को देखा और जिसे कभी किसी ने सुना ही नहीं उसे देखा।

व्याख्या : ऐसा दर्शन न भुसुण्डि को हुआ और न उमा को हुआ था। उमा को दुःखी जानकर तो बहुत थोड़ी माया दिखाई। यथा : जाना राम सती दुःख पावा। निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा। भुसुण्डिजी ने भीतर की सैर की। एक-एक ब्रह्माण्ड में सौ-सौ वर्ष रहे। इस भाँति सौ कल्प वीता। माँ भीतर बाहर सब युगपत् देख रही हैं। रवि, शशि, शिव, चतुरानन, पर्वत, नदी, समुद्र, वन कितने दिखाई पड़ते हैं। कुछ ठिकाना नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मनु और दिक्पाल दूसरे ही प्रकार के होते हैं। नर, गन्धर्व, वेताल, किन्नर, निशिचर, पशु और व्यालभूत सब कुछ सभी ब्रह्माण्ड में होते हैं। परन्तु दूसरे ब्रह्माण्ड के जीवों से मेल नहीं खाते। इतना ही नहीं पृथ्वी, समुद्र, नदी, पर्वत आदि सब प्रपञ्च ही दूसरे प्रकार के होते हैं। माँ को इस समय अनन्त

कोटि ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर का सब दर्शन एक साथ हो रहा है। वह शिशु देखते-देखते अखण्डरूप हो गया।

काल : भूत भविष्य वर्तमान। कर्म : सञ्चित प्रारब्ध और क्रियमाण। गुण : सत्त्व, रज और तम। ज्ञान : शास्त्रजन्य और अनुभवजन्य। स्वभाव : प्रकृति। ये सब चक्षु के विषय नहीं हैं। इनका योगज प्रत्यक्ष होता है। योगज प्रत्यक्ष होना ही इनका देखा जाना है। सो माँ कौसल्या को इन सबका प्रत्यक्ष हुआ। वैषम्य सृष्टि और साम्य प्रलय है। जितने ब्रह्माण्ड हैं वे सब एक दूसरे से विलक्षण हैं। एक ब्रह्माण्ड का जीव उसी की व्यवस्था को थोड़ा बहुत जानता है। दूसरे के विषय में वह कुछ नहीं जानता। यथा : ऊमरि तरु विसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना। अतः दूसरे ब्रह्माण्डों में ऐसी बातें हैं जिन्हें न हम लोगों ने देखा है न सुना है। उन सब अनन्त विशेषताओं का प्रत्यक्ष माँ कौसल्या को हुआ। अर्जुन को केवल इस ब्रह्माण्ड के विश्वरूप का दर्शन हुआ था। माँ कौसल्या के प्रत्यक्ष से उसकी तुलना ही नहीं।

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥२॥

अर्थ : सब प्रकार से धनी माया को देखा कि वह अत्यन्त भयभीत हाथ जोड़े खड़ी है। जीव को देखा जिसे माया नचाती है और भक्ति को देखा जो उसे छुड़ाती है।

व्याख्या : जो ज्ञानी के भी चेत को हरण करती है और बल से खींचकर मोह के वश करती है। यथा : जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआई विमोह बस करई। उस माया को देखा कि प्रभु के सामने अत्यन्त डरी हुई हाथ जोड़े खड़ी है। आज्ञापालन के लिए खड़ी है। यथा : लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया। जीवात्मा के स्वरूप का भी साक्षात्कार हुआ। नाचने नचाने का रहस्य भी देखा। परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता। श्री ग्रन्थकार कहते हैं : नाचत ही निसि दिवस मरयौं। तबहीं ते न भयो जीव थिर जब तें हरि नाम धरयौं। बहु वासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भरयौं। चर अरु अचर गगन जल थल महँ कौन न स्वाँग करयौं।

मोक्षदायिनी भगवती भास्वती भक्ति का भी दर्शन पाया। यथा : भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा। भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।

तन पुलकित मुख वचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा॥
बिसमयवंति देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी॥३॥

अर्थ : शरीर पुलकित हो गया। मुख से वचन न निकला। आँख मूँदकर

चरणों में सिर नवाया। माता को आश्चर्यचकित देखकर खरारि : खर के शत्रु : फिर शिशु रूप हो गये।

व्याख्या : ऐसे घोर अद्भुत रूप को देखकर भय से रोंगटे खड़े हो गये। अब देखने का सामर्थ्य नहीं है। इससे आँख बन्द कर लीं। पहचान लिया कि यह ऐश्वर रूप है। अतः चरनन सिर नावा। जो भी थोड़ा या बहुत इस रूप को देखता है उसी की यह दशा हो जाती है। भुसुण्डि जी कहते हैं : देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह दसा बिसराई। धरनि परचौं मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत जन त्राता। उमा तो आँख बन्द करके रास्ते में ही बैठ गईं। यथा : नयन मूँदि बैठी मग मांही।

माँ को चतुर्भुज देखने से हर्ष हुआ था। यथा : हर्षित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप निहारी। परन्तु इस रूप को देखने से विस्मय हुआ। खरारि कहकर मायानाथ होना द्योतित किया। यथा : मायानाथ अस कौतुक करचौ। देखत परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरचौ। मायानाथ ने उस रूप को अलक्षित कर दिया और फिर शिशुरूप हो गये। दिखला दिया कि वेदप्रतिपादित अखण्ड रूप यही है, परन्तु भक्त लोगों के लिए सुखद तो नयनाभिराम घनश्याम राममूर्ति ही है।

अस्तुति[1] करि न जाइ भय माना। जगत पिता मैं सुत करि जाना॥
हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥४॥

अर्थ : स्तुति करते भी नहीं बनता। वह डर गयीं की जगत्पिता को मैंने बेटा करके जाना। श्रीहरि ने माता को बहुत प्रकार से समझाया : माँ सुन ! यह बात कहींपर न कहना।

व्याख्या : चतुर्भुज रूप से देखकर स्तुति की थी। यथा : कह दुहु कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता। इस बार स्तुति करते नहीं बनता। बड़ी भारी चूक हुई किस मुँह से स्तुति करूँ ? जगत्-पिता का इतना बड़ा अपमान मुझसे हो पड़ा कि मैंने उन्हें बेटा मान लिया। तब श्रीहरि ने कौसल्या जी को बहुत भाँति से समझाया। यथा :

सुत विषयिक रति नृप वरचो तुमने भगति विवेक।
दिखरायों याते तुमहिं यह सरूप तजि टेक॥१॥
सुनै जो नृप यह वात सब सुत विषयिक रति जाय।
याते यह वृत्तान्त सब कतहुँ कहै जनि माय॥२॥
जौ लौं नहिं दशशीश बधं तौलौं मर्म दुराय।
रहिवो है एहि हेतु यह कतहुँ कहै जनि माय॥३॥

---

[1] यहाँ विभावना अष्टम अलङ्कार है।

सुनु माई का भाव यह कि मैंने स्वयं माता मान रक्खा है। तब तू पुत्र मानने में क्यों डरती है ?

दो. बार बार कौसल्या, बिनय करै कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै, प्रभु मोहि माया तोरि ॥२०२॥

अर्थ : कौसल्या जी बार बार हाथ जोड़कर विनय करती हैं कि हे प्रभो ! मुझे आप की माया अब कभी न व्यापे।

व्याख्या : माँ हाथ जोड़कर बार-बार विनय करती हैं। जानती हैं कि भगवान् को प्रसन्न करने का यही उपाय है। नहीं तो मनुष्य में कौन सा सामर्थ्य है, जिससे उन्हें प्रसन्न कर ले। माता समझ गई कि यह दर्शन जो मुझे हुआ है वह इनकी माया के व्यापने से हुआ है। यथा : हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या। अतः विद्यामाया के न व्यापने के लिए प्रार्थना है। इसके व्यापने से मनुष्य अथाह में पड़ जाता है। अर्जुन कहने लगे : दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास। मुझे दिशाओं का पता नहीं। कहीं विश्राम नहीं मिल रहा है। हे विश्वेश ! जगन्निवास ! कृपा कीजिये। विश्राम तो पराविद्या भक्ति में ही है। यहाँ से शिशु-चरित समाप्त हुआ।

६. बालचरित प्रसङ्ग

बालचरित हरि बहु विधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई ॥१॥

अर्थ : श्रीहरि ने बहुत प्रकार से बालचरित किया और अपने दासों को बहुत आनन्द दिया। कुछ समय बीतने पर कुटुम्ब के लोगों को सुख देनेवाले चारों भाई बड़े हुए।

व्याख्या : श्रीहरि ने बालचरित अनेक विधि से किया। भाव यह कि अनेक लौकिक विधि और अलौकिक विधि से भी किया। प्रजा और परिजन के साथ लौकिक विधि से और भुसुण्डि आदि के साथ अलौकिक विधि से।

लौकिक विधि। यथा :

बाल विनोद करत रघुराई। विचरत अजिर जननि सुखदाई ॥
पति झीन झंगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोहीं ॥
रूप रासि नृप अजिर विहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलौं भागि तब पूप देखावहिं ॥

तथा :

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं ॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि के, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरैं ॥

पदकंजनि मंजु बनी पनहीं, धनुही सर पंकजपानि लिये।
लरिका संग खेलत डोलत हैं, सरजू तट चौहट हाट हिये॥
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह, कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर सूकर स्वान समान, कहौं जग में फल कौन जिये॥
खेलत अवध खोरि, गोली भौंरा चकडोरि, मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे।

अलौकिक विधि :

जानु पानि धाए मोहिं धरना। स्यामल गात अरुन कर चरना॥
तव मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखैं निज पासा॥

दो. ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितएउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहिं मोहि तात॥

इत्यादि ९ दोहों तक।

यद्यपि रामचरित सदा सेवक सुखदायक है। पर बालचरित में दासों को अत्यन्त आनन्द आता है। भुसुण्डिजी तो पाँच वर्ष तक ही साथ रहते हैं। क्योंकि उनके इष्टदेव बालक राम हैं। बालक राम शिवजी के भी इष्टदेव हैं। यथा : बंदौं बाल रूप सोइ रामू। अन्नप्राशन तक शिशु संज्ञा है। तब तक तो माता पिता को ही आनन्द मिलता रहा, अब चलने-फिरने बाहर निकलने लगे तब दासों को अत्यन्त आनन्द मिला। कुछ काल बीतने पर सब भाई बड़े हुए। भाव यह कि तीसरा साल लगा। चूड़ाकरण का समय आगया।

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥२॥

अर्थ : तब गुरुजी ने जाकर चूड़ाकरण संस्कार किया। ब्राह्मणों ने फिर बहुत दक्षिण पायी। अत्यन्त मनोहर अपार चरित चारों सुकुमार करते फिरते थे।

व्याख्या : जातकर्म पिता ने किया। मुण्डन संस्कार स्वयं गुरुजी कर रहे हैं। जिस भाँति जन्मोत्सव में : हाटक धेनु वसन मनि नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह। उसी भाँति मुण्डन संस्कार में दक्षिणा ब्राह्मणों को दी गयी। पुनि शब्द से यही भाव निकलता है। श्रीग्रन्थकार ब्राह्मण शब्द का प्रयोग बहुत कम करते हैं। विप्र शब्द का ही प्रयोग देखने में आता है। वेदपाठी भवेद्विप्रः अर्थात् तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मणों को दक्षिणाएँ दी गई। वसिष्ठजी ने वेदविहीन ब्राह्मणों को शोच्य बतलाया है। यथा : सोचिय विप्र जो वेद विहीना। तजि निज धर्म विषय लवलीना। चारों सुकुमारों के चरित अपार हैं और फिर भी परम मनोहर हैं। यथा :

जैसे राम ललित तैसे लोने लषनलालु।
तैसेई भरत सील सुखमा सनेहनिधि, तैसेई सुभगसंग सत्रुशाल।

तथा : छोटिऐ धनुहियाँ, पनहियाँ पगनि छोटी, छोटिऐ कछौटी कटि छोटिऐ तरकसी ।
लसत झंगूली झीनी, दामिनि की छवि छीनी, सुंदर बदन सिर पगिया जरकसी ॥
वय अनुहरत विभूषन विचित्र अंग, जोहे जिय आवत सनेह की सरकसी ।
मूरति की सूरति कहै न परै तुलसी पै, जानै सोई जाके उर कसकै करक सी ॥

मन क्रम बचन अगोचर जोई । दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई ॥
भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥३॥

अर्थ : जो मन कर्म और वचन तथा इन्द्रियों से परे हैं। वही प्रभु दशरथ के आँगन में विचरण कर रहे हैं। भोजन करते समय चक्रवर्तीजी बुलाते हैं। पर बालकों का समाज छोड़कर नहीं आते ।

व्याख्या : भरद्वाज का प्रश्न है 'प्रभु सोई राम कि अपर कोउ' । उमा का प्रश्न है 'राम सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलखगति कोई' । इसलिए जहाँ जहाँ चरित में अतिशयता दिखलाते हैं वहाँ वहाँ यह भी दिखलाते चलते हैं कि अज अगुन अलखगति जो कोई है 'वही अवध नृपति सुत हुआ है। यहाँ भी मन क्रम वचन अगोचर कहकर उसी अज अगुन अलखगति का ही वर्णन कर रहे हैं। वही भक्ति प्रेम के वश कौसल्या की गोद में आया। दम्पति के परम प्रेम के वश में होकर पुनीत शिशुचरित किया। अब बालक होकर महाराज दशरथ के आँगन में विचर रहा है। भुसुण्डि के साथ जो चरित किया वही इसमें प्रमाण है ।

भोजन करते समय चक्रवर्तीजी खिलाने के लिए बुलाते हैं। परन्तु बाल समाज छोड़कर जाते नहीं बनता। जिसने पिता के वचन से राज्य त्याग किया वह आज पिता के बुलाने से बाल समाज छोड़ने को तैयार नहीं। युवावस्था में जितना राज्य प्रिय है, उससे कहीं अधिक बाल्यावस्था में खेल और बाल समाज प्रिय है ।

कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥४॥
धूसर धूरि भरें तनु आए । भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥५॥

अर्थ : कौसल्या जब बुलाने जाती हैं, तब प्रभु ठुमुक ठुमुक भाग चलते हैं। वेद जिसे नेति कहते हैं और शिवजी अन्त नहीं पाते माँ उसे पकड़ने के लिए दौड़ी। धूल से भरे हुए उसी रङ्ग में रँगे हुए आये। चक्रवर्तीजी ने हँसकर गोद में बिठा लिया।

व्याख्या : चक्रवर्तीजी कौसल्या के घर में भोजन कर रहे हैं। श्रीरामजी बाल समाज में मिलकर खेलने में मग्न हैं। महाराज को बड़ी अभिरुचि है कि रामजी भी साथ खाएँ। इष्टजनैः सह भुक्तं भुक्तम्। प्रेमी के साथ भोजन करना ही भोजन है। रामजी सा प्यारा उन्हें कौन है ? अतः रामजी को खिलाने के लिए

बार बार पुकारते हैं। वे खेल की धुन में सुनते ही नहीं। महाराज की अधिक रुचि देखकर कौसल्या जी स्वयं बुलाने गईं तो आप ठुमुक ठुमुक भाग चले। अभी भलीभाँति दौड़ नहीं सकते। इसलिए ठुमुक ठुमुक भागना कहते हैं। फिर भी माँ पकड़ने में समर्थ नहीं हो रही है। अतः हठ करके दौड़ी कि पकड़ कर ले ही चलेंगे। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसे वेद वाणी से ग्रहण करने में असमर्थ हैं और साक्षात् शिवजी मन से ग्रहण करने में असमर्थ हैं उसे पकड़ने के लिए माँ ने हठ किया है। विना पकड़े न छोड़ूँगी। इसलिए पकड़ में आ गये। धूल से धूसर रंग हो गया है। शङ्कर रूप बने हैं। पकड़ाये हुए चले आ रहे हैं। यह दृश्य देखकर महाराज हँस पड़े। धूल भी नहीं झाड़ा और गोद में बिठाकर मनोरथ पूर्ण किया।

दो. भोजन करत चपल चित, इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ ॥२०३॥

अर्थ : भोजन करते हैं पर चित्त चञ्चल है। इधर उधर देख रहे हैं। अवसर मिलते ही भाग चले। मुँह में दही भात लगा हुआ है।

व्याख्या : महाराज खिलाते हैं और रामजी खा भी रहे हैं। परन्तु मन बालसमाज में लगा हुआ है। इसको ग्रन्थकार इतउत शब्द से द्योतित करते हैं। इत भोजन करते हैं पर चित्त उत लगा है। अतः चित्त चञ्चल है। अवसर की ताक में हैं कि कब माता पिता का ध्यान दूसरी ओर हो और कब भाग जायँ। सो अवसर पाते ही भाग चले। बड़ी प्रसन्नता है। इससे किलकारी मारते हुए भागे। मुँह धोने की भी चिन्ता नहीं। दही और भात मुँह में लगा है। इससे और भी शोभा बढ़ गई है।

माँ को चतुर्भुज रूप से तथा विश्वरूप से दर्शन देकर सावधान करते जाते हैं। क्योंकि वह पूर्व जन्म में विवेक भी माँग चुकी है। परन्तु चक्रवर्तीजी का पुत्रस्नेह ही दृढ़ करते हैं। क्योंकि पूर्वजन्म में उन्होंने ऐसा ही वर माँगा था। यथा : सुत विषयिक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।

बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥
जिन्ह कर मन इन सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता ॥१॥

अर्थ : अत्यन्त सरल और सोहाए बालचरित का गान सरस्वती शेष शम्भु और वेदों ने किया है। जिनका मन इनसे अनुरक्त नहीं हुआ। विधाता ने उन्हें वञ्चित कर दिया है।

व्याख्या : यद्यपि बालचरित के अन्तर्गत ही शिशु चरित है। फिर भी जहाँ शिशु और बाल का भेद किया जाता है वहाँ यह विधान है कि : प्राक् चूड़ाकरणाद्बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः। कुमारकस्तु विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम्। अपरार्के। मुण्डन के पहिले बालक, अन्नप्राशन के पहिले शिशु, और यज्ञोपवीत के पहिले

कुमार जानना चाहिए। अन्नप्राशन का काल छः महीना और बारह महीना तक है।

यहाँ पर बालचरित को अति सरल और सुहावना कहा। भाव यह कि शिशु-चरित सरल है और बाल चरित अति सरल है। शिशुचरित में तो ऐश्वर्य प्रदर्शन भी हुआ। माता को चतुर्भुज रूप और विश्वरूप का दर्शन दिया। परन्तु बालचरित में केवल माधुर्य दिखलाया। इसलिए अति सरल और सुहावना कहा। सरस्वती शेष शम्भु और श्रुति उसी ऋजु तथा सुन्दर चरित का गान करते हैं। जिनका मन ऐसे चरित में अनुरक्त न हुआ उसे ब्रह्मदेव ने वञ्चित कर दिया। अर्थात् मनुष्य का शरीर तो दिया परन्तु हृदय मनुष्य का नहीं दिया। मनुष्य की आकृति देकर उसे ठग लिया। वह वस्तुतः मनुष्य नहीं है पशु है।

भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥
गुरु गृह गए पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब पाई॥२॥

अर्थ : जब सब भाई कुमार हुए तो गुरु और माता पिता ने जनेऊ : यज्ञोपवीत दिया। रघुराई गुरुकुल में पढ़ने गये। थोड़े ही काल में सब विद्याएँ प्राप्त कर लीं।

व्याख्या : जब ग्यारहवाँ वर्ष लगा, कुमारावस्था पूर्ण हो चली : वर्षे त्वेकादशे नृपः। ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का यज्ञोपवीत करना चाहिए। इस वचन के अनुसार गुरु पिता और माता ने यज्ञोपवीत दिया। भाव यह कि पहिली वेदी में गुरु माता पिता तीनों का काम पड़ता है। इसके बाद गुरुकुल में भेज देने की शास्त्र की आज्ञा है। तदनुसार चक्रवर्ती के बालक भी गुरुकुल में भेज दिये जाते थे। तदनुसार चारों भाई गुरु के घर पढ़ने गये। दूसरी वेदी वहीं हुई।

बारह वर्ष एक वेद के पढ़ने में लगता है। इस भाँति तीनों वेदों के पढ़ने में छत्तीस वर्ष लगते हैं। उसी के बीच में उपवेदादि का भी अध्ययन हो जाता था। कुछ अत्यन्त मेधावी छत्तीस वर्ष से पहले ही पारंगत हो जाते थे। उन्हें विद्यास्नात कहते थे। जो मध्यम मेधावाले होते थे उन्हें पारंगत होने में पूरे छत्तीस वर्ष लगते थे। वे विद्याव्रत स्नात होते थे। और जो उतने दिनों में भी अध्ययन नहीं कर पाते थे वे व्रतस्नात होते थे। अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत बारह, चौबीस और छत्तीस वर्ष का होता था। जो एक वेद पढ़ना चाहते थे उनका बारह वर्ष का, दो वेद पढ़ना चाहनेवालों का चौबीस वर्ष का, तीनों वेद पढ़ने वालों का छत्तीस वर्ष का व्रत होता था। उतने दिनों तक उन्हें ब्रह्मचर्यव्रत के सब नियमों का पालन करना पड़ता था। परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि उतने दिनों तक अवश्य ही ब्रह्मचर्य रक्खे। जो जितना शीघ्र विद्या समाप्त कर दे उसका उतना ही शीघ्र ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त हो जाता था। ये चारों भाई अल्पकाल में विद्याएँ समाप्त करके विद्यास्नात हो गये।

अङ्ग और उपनिषदों के साथ सम्पूर्ण वेद रहस्य के साथ धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, न्याय, आन्वीक्षिकी, षट्विधा राजनीति केवल गुरुमुख से श्रवण मात्र से ही चारों

भाइयों ने धारण कर ली। चौसठ दिनों में चौसठों कलाओं को ग्रहण कर लिया। इसीलिए कहते हैं कि अल्पकाल में ही सब विद्याएँ प्राप्त कर लीं।

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥
विद्या बिनय निपुन गुन सीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला ॥३॥

अर्थ : जिसका सहज श्वास चारों वेद है वह हरि पढ़े यह बड़ा भारी कौतुक है। विद्या, विनय, गुण और शील में निपुण सब राजाओं की लीला के ही खेल खेलते थे।

व्याख्या : इतने अल्पकाल में विद्याएँ समाप्त कर लीं कि अभी उनके खेलने के दिन नहीं बीते। यह बड़े कौतुक की बात थी। पर ग्रन्थकार कहते हैं कि भारी कौतुक की बात तो यह थी कि जिसका निःश्वसित वेद है उस प्रभु को भी पढ़ना पड़ा। उनका पढ़ना एक शास्त्रमर्यादा रक्षण मात्र था। अतः शास्त्रमर्यादा रक्षण के लिए द्विजमात्र को ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते वे अपनी हानि के साथ साथ समाज की हानि करते हैं। संसार के लिए बुरा उदाहरण खड़ा करते हैं।

विद्या से विनय होता है, विनय होने से पात्रता आती है। वह सब गुण और शील का निधान होता है। यदि विद्या से विनय न हुआ, विवेक नहीं उपजा तो उसकी विद्या निष्फला हो जाती है। अतः विद्या विनय निपुन गुन सीला कहकर विद्या साफल्य कहा। अब नाट्यशास्त्र की निपुणता कहते हैं। शिवि हरिश्चन्द्र आदिक की लीलाओं का नाट्य करते हैं। अथवा व्रतस्नात होकर घर लौट आये। अभी खेलने की अवस्था है। अतः वही खेल खेलते हैं, जिसे राजाओं को खेलना चाहिए। यथा :

रामलषन इक ओर भरत रिपुदवनलाल इक ओर भये।
सरजु तीर सम सुखद भूमि थल, गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये ॥
कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि, मन कसि कसि, ठोंकि ठोंकि खये।
कर कमलनि विचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये ॥ इत्यादि
खेल खेलि सुखेलनिहारे।
उतरि उतरि चुचुकारि तुरंगन सादर जाइ जोहारे। इत्यादि।

करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥
जिन्ह[1] बीथिन्ह बिहरैं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥४॥

अर्थ : हाथ में बाण और धनुष बहुत ही शोभा देते हैं। रूप देखते ही चराचर मोहित हो जाते हैं। जिन गलियों में सब भाई विहार करते हैं, सभी स्त्रीं पुरुष ठिठक कर रह जाते हैं।

---

[1] यहाँ असङ्गति अलङ्कार है।

व्याख्या : उपवेद की शिक्षा कहते हैं कि धनुर्वेदेऽतिनिष्ठितः सब शास्त्रों के तत्त्व को जानते हैं, पर धनुर्वेद में तो अत्यन्त परायण हैं। इतना प्रेम है कि विहार में भी धनुष बाण नहीं छूटता। भय से धनुषधारण नहीं है, विद्याप्रेम के कारण है। रूप देखकर अचर भी मोहित होते हैं। वह उन्मादकर रूप ही ऐसा है। अचरों का देखना शास्त्र तथा विज्ञान से सिद्ध है। यथा : तेन पश्यन्ति पादपाः तेन शृण्वन्ति पादपाः। इत्यादि महाभारते। इसलिए वृक्ष देखते हैं सुनते हैं इत्यादि।

चराचर का मोहित होना कहकर लोग लुगाई का थकित होना : एकटक रह जाना कहते हैं। यथा :

धरे धनु सर कर, कसे कटि तरकसी, पीरे पट ओढ़े चले चारु चालु।
अंग अंग भूषन जराय के जगमगत, हरत जन के जी को तिमिर जालु॥
खेलत चौहट हाट वीथी वाटिकन प्रभु सिव सप्रेम मानस मरालु।
सोभादान दै दै सनमानत जाचक जन करत लोक लोचन निहालु॥
गीता. १-४२

दो. कोसलपुर बासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ तें प्रिय लागत, सब कहुँ रामकृपाल ॥२०४॥

अर्थ : कोसलपुर के रहनेवाले स्त्री पुरुष बूढ़े और बालक सबको कृपाल रामजी प्राणों से भी प्यारे लगते हैं।

व्याख्या : सुख देने की परिधि बढ़ती ही जाती है। पहले कौसल्या की गोद में थे। तब दम्पति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत कहा। अब बड़े भये परिजन सुखदाई तब कोसलपुर वासियों को सुख देना कहते हैं। प्रान प्रान के जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सबही के। इसलिए प्राण से भी प्रिय लगना स्वाभाविक है। इस भाँति शासन की योग्यता भी दिखलाई।

बंधु सखा संग लेहिं बुलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी ॥१॥

अर्थ : भाइयों और सखाओं को साथ बुला लेते थे और वन में जाकर नित्य शिकार खेलते थे। मन में पवित्र जानकर मृगों को मारते थे और प्रतिदिन लाकर राजा को दिखाते थे।

व्याख्या : बचपन से ही सरदारगीरी थी। बन्धु सखा पर प्रेम है। शिकार जाते समय उन्हें बुलाकर साथ ले लेते थे, शिकार खेलने का शास्त्रों में निषेध है, पर राजाओं के लिए आज्ञा है। इससे उन्हें परिश्रम और शस्त्राभ्यास तथा सहनशक्ति बढ़ाने का अवसर मिलता है। शिकार में भी वृथा हिंसा निषिद्ध है। अतः मेध्य पशु का ही वध करते थे जिनके चर्म शृङ्गादि का धर्मकार्य में प्रयोजन पड़ता है। व्याघ्र आदि दुष्ट जन्तुओं का चर्म पवित्र माना गया है। अतः मन से निश्चय करके कि यह दुष्ट जन्तु है तब उसका वध करते थे। अध्यातम रामायण में स्पष्ट लिखा हुआ है

कि दुष्ट मृगों को मारकर पिता को निवेदन करते थे। यथा : हत्वा दुष्टमृगान् सर्वान् पित्रे सर्वं न्यवेदयत्। मृग का अर्थ हिरन ही नहीं है। जिनका शिकार किया जाता है वे सभी जन्तु मृग हैं। महाराज भी बड़े शिकारी थे। अतः उनकी प्रसन्नता के लिए नित्य शिकार खेलते थे और मारे हुए पशुओं को लाकर चक्रवर्ती जी को दिखाते थे।

जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥
अनुज सखा संग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥२॥

अर्थ : जो मृग रामजी के बाण से मारे जाते थे वे शरीर छोड़कर स्वर्ग सिधारते थे। भाई और सखाओं के साथ भोजन करते थे और माँ-बाप की आज्ञा में चलते थे।

व्याख्या : पशुयोनि से कोई शुभ कर्म हो नहीं सकता। अतः जायस्व म्रियस्व जन्मो मरो यही चक्र चला करता है। यज्ञ में वध होने से ही उनका कल्याण होता है। यहाँ स्वयं यज्ञपुरुष के हाथ से उनके शररूपी तीर्थ में प्राण त्यागकर सुरलोक को जाते हैं। पशुयोनि से उनकी मुक्ति हो जाती है। रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहैं सही।

इष्टजनैः सह भुक्तं भुक्तम्। सुख में अनुज और सखाओं का स्मरण करते थे। और आज्ञा-पालन में स्वयं प्रस्तुत रहते थे। अनुज और सखा को नहीं कहते थे कि जो आज्ञा मुझे हुई है उसे तुम जाकर कर दो। माता को पिता से अधिक मानते थे। इसलिए ग्रन्थकार माता का पहिले और पिता का नाम पीछे लेते हैं।

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥३॥

अर्थ : जिस विधि से नगर के लोग सुखी हो सकें वैसा ही संयोग कृपानिधि जुटा देते थे। वेद पुराण मन लगाकर सुनते थे और भाइयों को समझाकर कहते थे।

व्याख्या : बन्धु सखा की प्रसन्नता कही। माता पिता की प्रसन्नता कही। अब पुरलोग की प्रसन्नता कहते हैं। सुख से ही संसार प्रसन्न होता है। अतः प्रसन्न करने के लिए लोग सुख का संयोग करते हैं। पर संयोग जुटा देना ईश्वर का काम है मनुष्य का नहीं। यथा : जौ बिधि बस अस बनै संजोगू। अस संजोग ईस जौ करई। श्रीरामजी पुरलोग के सुखी होने का संयोग जुटा देते थे। जिसमें कोई भी दुःखी न रहे।

चक्रवर्तीजी की सभा में नित्य वेद पुराणों की कथाएँ होती थीं। उन्हें रामजी मन लगाकर सुनते थे। भली भाँति वेद पुराण के जानने पर भी पुनः पुनः श्रवण में उपेक्षा नहीं करते थे। दिखलाते थे कि बार बार सुनने से संस्कार और दृढ़ होता चला जाता है। यथा : शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि पेखिअ। फिर छोटे भाइयों से उसकी व्याख्या करते थे। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन

स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। चार प्रकार से विद्या अभीष्ट फलदान में समर्थ होती है। आगमकाल से स्वाध्यायकाल से प्रवचनकाल से और व्यवहारकाल से। सो दोनों कह चुके हैं। यथा : गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अल्प काल विद्या सब पाई। वेद पुरान सुनहि मन लाई। अब प्रवचन कहते हैं : आप कहहिं अनुजहिं समुझाई। इसके आगे व्यवहार काल कहेंगे।

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषै मन राजा ॥४॥

अर्थ : रघुनाथ प्रातःकाल उठकर माता पिता और गुरु को मस्तक नवाते थे। आज्ञा माँगकर पुर का कार्य करते थे। चरित्र देखकर महाराज मन में प्रसन्न होते थे।

व्याख्या : शास्त्र में जो पढ़ा था उसे व्यवहार में चरितार्थ करते थे। वेद की आज्ञा है : मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव। माता को देवता मानो। पिता को देवता मानो। आचार्य को देवता मानो। अतः पहिले उठकर माता पिता और गुरु को नमस्कार करते थे। अथवा अन्तःपुर में पहिले माँ का ही दर्शन होता था। तत्पश्चात् यथावसर पिता का दर्शन होता था। गुरुजी का निवासस्थान पृथक् था। अतः इन्हें प्रणाम करने का अवसर माता-पिता के प्रणाम के बाद मिलता था।

पितु आयसु सब धर्म का टीका है। अतः आयसु : आज्ञा माँग-माँगकर पुर का कार्य करते थे। पिता के कार्य का भार स्वयं अपने ऊपर ले रक्खा था। सो भी अपने मन से नहीं, पिताजी से आज्ञा माँगकर करते थे। इससे श्रीरामजी का सब लायक होना दिखलाया। पिता की आज्ञा हो तभी कुछ करें यह बात नहीं। काम बिगड़ता देखकर या आवश्यकता देखकर उस कार्य के सँवारने के लिए आज्ञा माँगते थे।

दो. व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप ॥२०५॥

अर्थ : जो व्यापक, कलारहित, इच्छारहित, जन्मरहित, गुणरहित, नामरूपरहित है वह भक्त के लिए अनेक प्रकार के अनूप चरित्र करता है।

व्याख्या : शिवजी वार वार उमा के कहे हुए : की अज अगुन अलख गति कोई : को ही दूसरे दूसरे शब्दों में दोहराकर उनका सगुण चरित करना दिखलाते हैं। सर्वव्यापक होने से उसमें कला नहीं है। वह सकल नहीं अकल है। द्वितीय के अभाव से इच्छारहित है। अतः जन्मरहित है। प्रकृतिपार होने से गुणरहित है। अमाय होने से नामरूपरहित है। वह भक्तों के लिए अनेक प्रकार के अनूप चरित कर रहा है। अनूप इसलिए कहा कि इसके गान करने से भक्त लोग भवसागर पार हो जायँगे। यथा : सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं : रामजी का नाम रूप लीला धाम सब अनूप हैं।

७. ऋषि आगमन प्रसङ्ग : चौथे[1] प्रश्न का उत्तर :

यह सब चरित कहा मैं गाई । आगिलि कथा सुनहु मनलाई ॥
विस्वामित्र महामुनि ग्यानी । बसहि बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥१॥

नाम अनूप, यथा : अगुन अनूपम गुननिधान सों ।
रूप अनूप, यथा : चितवत सादर रूप अनूपा ।
तृपित न मानहिं मनु सतरूपा ॥
धाम अनूप, यथा : भूपति भवन सुभाय सोहावा ।
सुरपति सदन न पटतर आवा ॥

अब चरित्र अनूप कहते हैं ।

यथा : भगति हित करत चरित्र अनूप ।

सातों विशेषण चरित्र के विरोधी हैं । फिर भी भक्त के लिए चरित्र हो रहा है । भक्तहेतु जन्म, भक्तहेतु शिशुचरित और भक्त के हेतु ही नाना चरित हो रहा है ।

अर्थ : यह सब चरित्र मैंने गाकर कहा । आगे की कथा मन लगाकर सुनो । विश्वामित्रजी महामुनि और ज्ञानी थे । शुभ आश्रम जानकर वन में बसते थे ।

व्याख्या : यहाँ 'यह सब चरित कहा मैं गाई' कहकर बालचरित का उपसंहार कर रहे हैं । आगिल कथा से उमा के चौथे प्रश्न : कहहु यथा जानकी विआही का उत्तर आरम्भ करते हुए तदन्तर्गत ऋषि आगमन की कथा कहते हैं । यही आगिल कथा है । प्रश्न इतना ही था कि 'बालचरित पुनि कहहुँ उदारा' उसे नव दोहों में कहा । अब अगली कथा को मन लगाकर अर्थात् प्रेम से सुनने के लिए कह रहे हैं । क्योंकि सप्रेम सुनने का फल विशेष कहा है । यथा : सिय रघुवीर विवाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं । तिनकर सदा उछाह, मंगलायतन राम जस ।

दुःखों से जिसका मन उद्विग्न न हो और सुख की जिसे लालसा न हो, भय, राग और क्रोध जिसे न हो ऐसे स्थिरबुद्धि को मुनि कहते हैं । ऐसे मुनियों में विश्वामित्रजी श्रेष्ठ थे । अर्थात् महायोगी थे, महाज्ञानी थे, बसहिं विपिन से महा तपस्वी कहा । ऐसे महापुरुष भगवान् वामन की जन्मभूमि सिद्धाश्रम को शुभस्थान जानकर बसते थे । नहीं तो मगध शुभाश्रम योग्य नहीं समझा जाता ।

जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं । अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं । करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥२॥

अर्थ : वहाँ मुनि जप, योग, यज्ञ करते थे । परन्तु मारीच सुबाहु से बहुत डरते थे । यज्ञ को देखते ही राक्षस दौड़ पड़ते थे और उपद्रव मचा देते थे । जिससे मुनि लोगों को दुःख होता था ।

व्याख्या : मण्डलीकपति रावण की आज्ञा असुरों को थी कि : द्विज भोजन मख होम सराधा । सब कर जाइ करंहु तुम बाधा । सो मारीच सुबाहु की नियुक्ति

---

[1] कहहु जथा जानकी विआही ।

इस ओर थीं। अतः मुनि लोग छिपकर जप, योग, यज्ञ करते थे। मारीच सुबाहु जान न लें। इसलिए डरते थे।

यज्ञधूम देखते ही वे दौड़ पड़ते थे कि कहीं पूरा न हो जाय। नहीं तो देवताओं को भोजन मिल जायगा। उपद्रव करते थे, यज्ञ की विधि पूरी नहीं होने देते थे। जिससे अविधि होकर बलि का भाग हो जाय : अविधिर्बलिभाग :। यज्ञ दिन में होता है। ये निशाचर ठहरे फिर भी जाग जागकर यज्ञ का पता लगाया करते थे।

गाधितनय मन चिंता व्यापी। हरि बिनु मरिहि न निसिचर पापी ॥
तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा ॥३॥

अर्थ : गाधि के पुत्र के मनमें चिन्ता समाई कि बिना हरि के पापी निशिचर नहीं मरेगा। तब श्रेष्ठ मुनि ने मनमें विचार किया कि प्रभु ने पृथ्वी के भारहरण के लिए अवतार लिया है।

व्याख्या : चहत महामुनि जाग जयो। नीच निसाचर देत दुसह दुःख कृसतन ताप तयो। सापे पाप नये विदरत खल, तब यह मंत्र ठयो। विप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो। गी.। यदि शाप देता हूँ तो पाप लगेगा। विनती करने को निशाचर क्या मानने लगे। अतः और कोई उपाय नहीं। बिना पापभोग के इनका आसुरी भोगायतन : शरीर नहीं छूटेगा। हरि इनके पापों को हरण करके इस योनि से मुक्ति दे सकते हैं और उनका अवतार भी पृथ्वी का भार हरण करने के लिए हो गया है।

एहू मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई ॥
ग्यान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥४॥

अर्थ : इसी बहाने से चरण का दर्शन करूँ और विनती करके दोनों भाइयों को साथ ले आऊँ। ज्ञान विराग सकल गुणों के जो घर हैं उस प्रभु को मैं आँख भर के देखूँगा।

व्याख्या : गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। अतः मैं दर्शन के लिए नहीं गया। खलवध के लिए मुनि राजा के शरण जाते ही हैं। अतः इस बहाने से दर्शन करूँगा। दर्शन प्रधान और खलवध गौण हो गया। ज्ञान, विराग, समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश और श्री के जो निकेत हैं : जे हर हिय नयनन्हि कबहु निरखे नाहिं अघाय। उन्हें आँख भरकर देखूँगा।

दो. बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरऊ जल, गये भूप दरबार[1] ॥२०६॥

---

[1] घटनाक्रम पर विचार करने से यह मालूम होता है कि विश्वामित्रजी अयोध्या में भाद्रपद शुक्ल सप्तमीके लगभग आये। लगभग उन्नीस दिन तक अयोध्या में ठहरे रहे। योगवासिष्ठ होता रहा।

अर्थ : बहुत प्रकार से मनोरथ करते हुए जाते देर न लगी। सरयू में मज्जन करके राजद्वार पर गये।

व्याख्या : मुनिजी मनोरथ करते अयोध्या की ओर जा रहे हैं :

आजु सकल सुकृत फलु पाइहौं।
सुख की सींव अवधि आनंद की अवध विलोकि हौं पाइहौं ॥१॥
सुतनि सहित दसरथहि देखिहौं, प्रेम पुलकि उर लाइहौं।
रामचन्द्र मुखचन्द्र सुधा छवि नयन चकोरनि प्याइहौं ॥२॥
सादर समाचार नृप बूझिहैं, हौं सब कथा सुनाइहौं।
तुलसी ह्वै कृतकृत्य आश्रमहिं, रामलषन लै आइहौं ॥३॥

इस भाँति मनोरथ करते करते समय न जान पड़ा अयोध्या पहुँच गये। विभीषणजी मनोरथ करते सौ योजन चले आये। समय मालूम न हुआ। यथा : एहि विधि करत सप्रेम विचारा। आए सपदि सिंधु एहि पारा : दरबार शब्द द्वार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा : गयउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपद कंज। तथा : एक प्रविसहिं एक निर्गमहि भीर भूप दरबार। पहिले मुनिजी ने सरयूस्नान किया तब राजद्वार पर गये।

मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयउ लै विप्र समाजा ॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी ॥१॥

अर्थ : जब राजाने मुनि का आगमन सुना तो विप्र समाज लेकर मिलने गये। दण्डवत् करके मुनि का सम्मान करके अपने आसन पर ला बिठाया।

व्याख्या : महाराज सबके उपास्य होते हैं। पर मुनि पर इतनी श्रद्धा कि उनका आना सुनकर स्वयं मिलने गये और ब्राह्मण समाज साथ लेकर गये। क्योंकि विश्वामित्रजी के हृदय में ब्राह्मणों का बड़ा गौरव है। स्वयं बड़ा भारी तप करके क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए थे। पहिले ही दण्डवत् प्रणाम किया। सन्मान के साथ कुशल प्रश्न पूछकर आगमन से अपना सौभाग्य वर्णन करके मुनिजी को आगे करके घर में लाये। अपनी गद्दी पर बिठाया। भाव यह कि राज्य आपका है। मैं सेवक हूँ।

चरन पखारि कीन्ह अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा ॥
विविध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हरष अति पावा ॥२॥

अर्थ : पाँव धोकर अति पूजा की और कहा कि मेरे समान भाग्यवान् आज दूसरा नहीं है। अनेक विधान से भोजन कराया। श्रेष्ठ मुनिजी के हृदय में बड़ा हर्ष हुआ।

व्याख्या : विश्वामित्रजी का आना असाधारण व्यापार था। जिसने तप के लिए स्वयं अपना राज्य छोड़ा वह दूसरे राजा के यहाँ क्यों जाय? दूसरे का अर्थी क्यों बने? महाराज दशरथ को इतने दिन राज्य करते हुआ पर कभी

विश्वामित्र जी नहीं आये। राजा ने अपना बड़ा भाग्य माना। इतने राजा हैं किसी के पास न जाकर मेरे यहाँ आये। अतः पाँव धोकर बड़ी भारी पूजा की। पूजा का प्रधान अङ्ग नैवेद्य है। सो कहते हैं कि : विविध भाँति भोजन करवावा। भोजन में भाँति होती है। जितने प्रकार के व्यञ्जन बनते हैं, उनकी भाँति संज्ञा है। छप्पन प्रकार प्रसिद्ध हैं। अर्थात् राजोपचार से पूजन किया और राजोचित नैवेद्य भी अर्पण किया। अति पूजन पाने से मुनिजी को अति हर्ष हुआ। आशा हुई कि मनोरथ सिद्धि होगी।

पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी ॥
भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥३॥

अर्थ : फिर चारों बेटों को चरणों में गिराया। रामजी को देखकर मुनिजी को देहाध्यास न रह गया। मुख की शोभा देखकर मगन हो गये। जैसे चकोर पूर्ण चन्द्र पर लुब्ध हो जाता है।

व्याख्या : जब राजा ने देखा कि मुनिजी अति हर्षित हैं तब चारों बेटों को लाकर चरणों में डाला कि इस समय अनायासेन इनके कल्याण की सम्भावना है। मुनिजी चारों को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। पर रामजी को देखकर तो उनको देहाध्यास ही नहीं रह गया। अर्थात् रामजी में दृढ़रति हो गई। उनके मुख की शोभा देखने में मगन हो गये। एकटक देखने लगे जैसे चकोर पूर्णचन्द्र को देखता है। चकोर पूर्णचन्द्र को देखते देखते आनन्द से लोटने लगता है। वैसी ही दशा मुनिजी के मन की हुई। देह की सुधि न रह गई। लोट-पोट हो गये.

तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हेहु काऊ ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा ॥४॥

अर्थ : तब मन में हर्षित होकर राजा ने कहा कि मुनि जी! आपने ऐसी कृपा तो कभी नहीं की। आपके आगमन का क्या कारण है। उसे कहिये मैं उसके करने में देर न लगाऊँगा।

व्याख्या : पुत्र पर प्रेम देखकर महाराज मन में हर्षित हुए। जिसका आना जाना लगा रहता है उसके आने का कारण नहीं पूछा जाता। विश्वामित्रजी कभी के आनेवाले नहीं। अतः उनसे आगमन का कारण पूछते हैं। सेवा का अवसर मिलने का उत्साह है। अतः कहते हैं कि कहने में देर है। मेरे करने में देर न लगेगी।

असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयउँ नृप तोही ॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥५॥

अर्थ : मुनिजी ने कहा : राक्षसों के समूह मुझे सता रहे हैं। राजन्! मैं अर्थी होकर आया हूँ। छोटे भाई के सहित रघुनाथ को मुझे दो। राक्षसों के वध से मैं सनाथ होऊँगा।

व्याख्या : दो-एक असुर नहीं हैं। उनका बड़ा भारी खेड़ा है। वे मुझे दुःख देते हैं। सतावैं मोही से उनका पौरुष और उग्रता कही। इस भाँति कार्य की गुरुता दिखलायी। मैं ब्राह्मण हूँ, तुम राजा हो, मैं तुमसे माँगने आया हूँ। यही विनती है। यथा : करि विनती आनौं दोउ भाई। तुम्हारी सेना से काम न चलेगा। तुम रामजी को छोटे भाई के साथ दे दो। ये उनका वध करेंगे। मैं अनाथ हो रहा हूँ; इनके मिलने से मैं सनाथ हो जाऊँगा। यहाँ छोटे भाई से लक्ष्मण जी अभिप्रेत हैं। क्योंकि अनुज और अनुग रूप से ये ही प्रसिद्ध हैं। यथा : छत्रिजाति रघुकुल जनम रामानुग जगजान।

दो. देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं, इन्ह कहँ अति कल्यान ॥२०७॥

अर्थ : राजन्! प्रसन्न मन से दो, मोह और अज्ञान छोड़ दो। प्रभो! तुम्हें धर्म और सुयश होगा और इनका तो अत्यन्त कल्याण होगा।

व्याख्या : जहाँ लाभ ही लाभ है वहाँ हानि की शङ्का करना अज्ञान है। तुम यशोधन हो। सो तुम्हें यश और धर्म की प्राप्ति होगी और बच्चों का भी बड़ा कल्याण होगा। तुम स्नेह के वश व्यर्थ शङ्का मन में ला रहो हो। अतः ममता और अज्ञान छोड़कर हर्षित मन से दोनों बेटे मुझे दो। यथा गीतावली में :

राजन् रामलखन जौ दीजै।
जस रावरो लाभ ढोटनहू मुनि सनाथ सब कीजै॥
डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत प्रभाव बिनु जाने।
बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥
रिपुरन दलि मखराखि कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं।
तुलसिदास रघुवंस तिलककी कविकुल कीरति गैहैं॥

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥१॥

अर्थ : अति अप्रिय वाणी सुनकर राजा का हृदय काँप उठा और चेहरे का तेज जाता रहा। बोले : वृद्धावस्था में चार बेटे हुए। विप्र! आप विचारकर बात नहीं बोले।

व्याख्या : बेटे का माँगना अप्रिय, तिसपर रघुनाथ का माँगना अत्यन्त अप्रिय था। रामजी को राक्षसों से युद्ध करने के लिए देना है। इससे हृदय में कम्प हुआ और वचनबद्ध हो चुके हैं। इससे मुख का तेज जाता रहा। कहने लगे, मेरी वृद्धावस्था, इस समय चार बेटे हुए हैं। इसलिए मुझे कितने प्रिय हैं। आप समझ सकते हैं। आप विप्र हैं, वेदपाठी हैं। आपको विचारकर बात बोलनी थी। सो आपने विचारकर नहीं कहा। कहीं बेटे भी माँगे जाते हैं। जो वृद्ध के एकमात्र आश्रय हैं। उन्हें देकर वृद्ध जी कैसे सकता है? अनुज समेत देहु रघुनाथा का उत्तर है।

माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्वस देउँ आजु सहरोसा ॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥२॥

अर्थ : पृथ्वी, गौ, धन और कोष : खजाना माँगिये। मैं अपना सर्वस्व त्साह के साथ दे दूँगा। देह और प्राण से बढ़कर कोई वस्तु प्यारी नहीं है। उसे भी हे मुनि ! एक पलक में दे सकता हूँ।

व्याख्या : ब्राह्मण जो माँगते हैं उसे माँगिये। ब्राह्मण अर्थी होकर आते हैं। अर्थ माँगते हैं। पृथ्वी, गौ, धन या कोष ये ही चार वस्तु ब्राह्मण माँगते हैं। आप उनमें बड़े हैं सर्वस्व माँग लीजिये। मैं उत्साह के साथ दूँगा। देहु भूप मन हर्षित का उत्तर। मैं कृपण हूँ। मोह और अज्ञान के वश भी नहीं हूँ। सर्वोपरि प्रिय संसार में देह और प्राण समझा जाता है। उसे पलभर में दे सकता हूँ। तजहु मोह अज्ञान का उत्तर। अर्थात् देह प्राण देने में मुझे कोई विचार नहीं है। मैं स्वयं उन राक्षसों से बड़े उत्साह के साथ युद्ध करूँगा।

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गुसाईं ॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा ॥३॥

अर्थ : मुझे सभी बेटे प्राण के समान प्यारे हैं। पर राम को देते नहीं बनता। कहाँ अत्यन्त घोर कठोर राक्षस और कहाँ परम किशोर सुन्दर बेटे ?

व्याख्या : मैं प्राण देने को प्रस्तुत हूँ। प्राण के समान तीनों बेटे हैं। उन्हें भी दे सकता हूँ। पर हे गोसाइँ ! राम को देते नहीं बनता। भला राम का और उन राक्षसों का कौनसा जोड़ है। निशिचर अत्यन्त घोर कठोर होते हैं। सर्वथा असह्य होते हैं। अथवा मारीच घोर है। यथा : मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। और सुबाहु कठोर है। रामजी सुन्दर हैं और अभी सोलह वर्ष भी पूरा नहीं हुआ है। अतः मृत्यु के मुख में अपने हाथ से कैसे डाल दें ?

सुनि नृपगिरा प्रेमरस सानी। हृदय हरष माना मुनि ग्यानी ॥
तब बसिष्ठ बहुविधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा ॥४॥

अर्थ : प्रेमरससानी राजा की वाणी सुनकर मुनिजी को मनमें प्रसन्नता हुई। तब वसिष्ठजी ने बहुत प्रकार से समझाया और राजा का सन्देह दूर हुआ।

व्याख्या : राजा की वाणी प्रेम से सनी हुई थी। इसलिए मुनिजी भीतर से प्रसन्न हुए कि रामचरणों में ऐसा ही अनुराग होना चाहिए। परन्तु बाहर से अप्रसन्न हुए। वसिष्ठजीने देखा कि बात बिगड़ती है। इसलिए राजा को बहुत प्रकार से समझाया। यथा :

तेरो रघुकुल में जनम स्वयं धर्म को रूप।
रह्यौ छाइ यश लोक तिहुँ ऐसो भयो न भूप ॥१॥
सत्यसन्ध तुम जो कह्यौ करौ नृपति हरखाय।
जाते पूरब पुण्य अरु कीरति नाहि नसाय ॥२॥

रामलखन तन जगत् में ताकि सकै नहि कोय।
समरथ विश्वामित्र सो जाको रक्षक होय ॥३॥
ये मूरति हैं धर्म के ये तप तेज निधान।
शास्त्र शस्त्र सबमें निपुण नहि कोउ इनहि समान ॥४॥
निशिचर वध में ये स्वयं हैं समर्थं रघुराय।
पै तव सुत कल्याण हित कीन्ह कृपा इत आय ॥५॥
और मर्म की बात इक तुमसन कहहुँ बुझाय।
याको प्रकट न कीजिये देव गुह्य रघुराय ॥६॥
नायक हैं चर अचर के राम-लखन हैं शेष।
चक्रसुदर्शन सत्रुहन, शंख भरत के भेष ॥७॥
तुम कश्यप, अरु कौसिला अदिति, कियो हरिहेत।
भूरि तपस्या पुत्र करि माँग्यौ कृपानिकेत ॥८॥
प्रकट्यो तव गृह आइ सो, शक्ति जनकगृह जाइ।
करत जतन सम्बन्ध हित दोउन के ऋषि राइ ॥९॥

तब राजा का सन्देह जाता रहा और देने को प्रस्तुत हो गये।

अति आदर दोउ तनय बोलाए। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए ॥
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥५॥

दो. सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गये प्रभु, चले नाइ पदसीस ॥२०८॥ क

अर्थ : अत्यन्त आदर से दोनों बेटों को बुलाया। हृदय से लगाकर बहुत प्रकार की शिक्षा दी। मुनि जी बोले हे मुने ! ये दोनों बेटे मेरे प्राण के स्वामी हैं। आप इनके पिता हैं, और कोई नहीं है।

राजा ने बहुत प्रकार से आशीर्वाद देकर ऋषिजी को सौंप दिये। प्रभु माँ के घर गये और उन्हें सिर नवाकर चले।

व्याख्या : सन्देह नाश होने पर भी पुत्रबुद्धि बनी हुई है। यह वरदान का प्रभाव है। अत्यन्त प्रेम है। अत्यन्त आदर से दोनों बेटों : राम लक्ष्मण को बुलाया। कलेजे से लगा लिया। अति प्रिय के लिए वही स्थान है। शिक्षा दी कि मुनिजी की आज्ञा मानना। इनकी आज्ञा की कदापि अवहेलना न करना तथा शत्रु से संग्राम करने की सावधानी के विषय की अनेक शिक्षाएँ दी। तत्पश्चात् मुनिजी से कहा : मेरे प्राण के ये ही दोनों स्वामी हैं। इन्हीं को देखकर मैं जीता हूँ। अब आप इनके पिता हैं। पातीति पिता : रक्षा करने से पिता संज्ञा है। आन नहि कोऊ कहने का भाव यह है कि मैं नहीं हूँ आपही इनके सब कुछ हैं।

पिता होने के कारण पुत्रों के कल्याण के लिए बहुत प्रकार से आशीर्वाद दिया। ऋषिजी ने याचना की थी : अनुज समेत देहु रघुराया। सो चक्रवर्तीजी ने

सौंप दिया। विदा होने के लिए प्रभु माँ के घर गये। कुछ कहा नहीं केवल प्रणाम करके चल दिये। यह सोचकर कि असुर से युद्ध करना कहेंगे तो नहीं जाने देगी। पीछे से माँ ने कहा भी :

रिषि नृपसीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुरु सचिव निपुन नेबनि अवरेव न समुझि सुधारी ॥१॥
सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी।
पठए विनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी ॥२॥
अति सनेह कातरि माता कहै, सुनु सखि वचन दुखारी।
वादि वीर जननी जीवन जग छत्रिजाति गतिभारी ॥३॥

सो. पुरुष सिंह दोउ वीर, हरषि चले[1] मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल बिस्व कारन करन ॥२०८॥

अर्थ : दोनों वीर पुरुषों में सिंह थे। हर्षित होकर मुनि के भयहरण के लिए चले। क्योंकि कृपा के समुद्र हैं। मतिधीर हैं और सम्पूर्ण विश्व के कारण के भी असाधारण कारण हैं।

व्याख्या : पराक्रम तथा निर्भीकता सूचित करने के लिए पुरुषसिंह कहते हैं। रणप्रियता सूचित करने के लिए दोउवीर कहते हैं। असुरों से युद्ध करने का बड़ा उत्साह है। क्योंकि उनके वध से ही मुनि भय से विनिर्मुक्त हो सकेंगे। कृपासिन्धु हैं। जिसका वध करेंगे उसे भी परम पद देंगे। मतिधीर हैं सेना सेवक कोई साथ नहीं है फिर भी धर्मरथ पर सवार हैं। यथा : सखा धर्ममय असरथ जाके। जीत न कहँ न कतहुँ रिपु ताके। प्रभु के निज स्वरूप को स्मरण कराने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि अखिल विश्व का कारण प्रकृति है। उसके भी ये अधिकरण हैं। आश्रय हैं। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। इनका अवतार ही है।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तनु स्याम तमाला ॥
कटि पट पीत कसे बर माथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा ॥१॥

अर्थ : लाल नेत्र और विशाल वक्षःस्थल लम्बी भुजाएँ, नील, मेघ तथा तमाल तरु की भाँति श्याम शरीर कमर में पीताम्बर तथा अच्छा तरकस कसे हुए। और दोनों हाथों में धनुष और वाण लिए हुए।

व्याख्या : मुनियों पर संकट है। यह सुनकर क्रोध से नेत्रों में लालिमा आ

---

[1] रामजी आश्विन कृष्ण द्वादशी को मुनिजी के साथ अयोध्या से चले। यद्यपि गोस्वामीजी सिवा दो-एक स्थलों के तिथि नहीं देते पर स्थान स्थान पर ऐसा इङ्गित कर देते हैं। जिसकी उपेक्षा न करने से प्रायः सभी घटनाओं को तिथि का पता चल जाता है यथा : बालकाण्ड में शरच्चन्द्र से सीताजी के मुख के मिलान पर ध्यान देने से बालकाण्ड की प्रायः सभी घटनाओं की तिथि का पता चल जाता है।

गई है। यथा : अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप तथा अरुन नयन सर चाप चढ़ाए। वक्षःस्थल और बाहु का विशाल होना वीरों का लक्षण है। नील मेघ तथा तमाल के वृक्ष सी सुन्दर श्यामलता कही साथ ही कोमलता शीतलता और दृढ़ता भी द्योतित की। श्याम शरीर में पीतपट की बड़ी शोभा होती है। कमर में तरकस और हाथ में धनुष बाण से युद्ध के लिए पूरी तैयारी सूचित होती है। इस भाँति सुन्दरता और वीरता का अद्भुत योग दृष्टिगोचर हो रहा है।

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई ॥
प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना ॥२॥

अर्थ : श्याम और गौर दोनों भाई सुन्दर हैं। विश्वामित्र ने बड़ी भारी निधि प्राप्त कर ली। मुनि जी सोचते हैं : मैं जान गया। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। मेरे निमित्त भगवान् ने पिता को छोड़ा।

व्याख्या : दोनों सुन्दर हैं। देखने से ही भाई भाई मालूम होते हैं। केवल वर्णभेद है। बड़े श्याम हैं छोटे गौर हैं। महाराज का सौंपना कह चुके हैं। यथा : सौंपे भूपति रिषिहिं सुत। अब मुनिजी का पाना कहते हैं। महानिधि पाने से जैसा हर्ष लोगों को होता है वैसा विश्वामित्रजी को दोनों भाइयों के पाने से हुआ। क्योंकि ये ही मुनि धन जन सर्वस सिव प्रान हैं। वे सोचने लगे कि पिता को इनके पृथक् करने में इतना कष्ट हुआ। पर इन्हें हर्ष है। यथा : हरखि चले मुनि भय हरन। जो ब्राह्मण के लिए पिता के विरह को कुछ नहीं गिनता है वह ब्रह्मण्य है। इसमें सन्देह नहीं। ये देव हैं इन्होंने जब पिता को छोड़ना चाहा तब उन्हें देने की मति उत्पन्न हुई। नहीं तो महाराज दशरथ तो नहीं कर ही चुके थे। इनमें समस्त ऐश्वर्य है। धर्म है। श्री है। ज्ञान और वैराग्य है। ये भगवान् हैं।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥३॥

अर्थ : राह में जाते हुए मुनि ने ताड़का को दिखा दिया। सुनकर ताड़का क्रुद्ध हो दौड़ी। एक ही वाण से प्राण हरण कर लिया और दीन जानकर उसे अपना पद दिया।

व्याख्या : मुनि संग दोनों भाई चले। पथकथा लिखते हुए ग्रन्थकार गीतावली में लिखते हैं : पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग वन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई। इस भाँति किशोरलीला करते चले जाते थे कि ताड़का आ पड़ी। मुनिजी ने दिखला दिया। इङ्गित से नहीं। स्पष्ट कहा कि यह ताड़का है इसे मारो। सो जो वाण पहिले से ही हाथ में था उसीसे ताड़का का वध हुआ। प्राण हरण तो किया पर उसके बदले में अपना पद दिया। वाण लगते ही नहीं मरी चोट खाकर दीन हो गई। तब दीनदयाल ने उसे मुक्त कर दिया।

सौंप दिया । विदा होने के लिए प्रभु माँ के घर गये । कुछ कहा नहीं केवल प्रणाम करके चल दिये । यह सोचकर कि असुर से युद्ध करना कहेंगे तो नहीं जाने देगी । पीछे से माँ ने कहा भी :

रिषि नृपसीस ठगौरी सी डारी ।
कुलगुरु सचिव निपुन नेबनि अवरेव न समुझि सुधारी ।।१।।
सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी ।
पठए विनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी ।।२।।
अति सनेह कातरि माता कहै, सुनु सखि वचन दुखारी ।
वादि वीर जननी जीवन जग छत्रिजाति गतिभारी ।।३।।

सो. पुरुष सिंह दोउ वीर, हरषि चले[1] मुनि भय हरन ।
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल बिस्व कारन करन ।।२०८।।

अर्थ : दोनों वीर पुरुषों में सिंह थे । हर्षित होकर मुनि के भयहरण के लिए चले । क्योंकि कृपा के समुद्र हैं । मतिधीर हैं और सम्पूर्ण विश्व के कारण के भी असाधारण कारण हैं ।

व्याख्या : पराक्रम तथा निर्भीकता सूचित करने के लिए पुरुषसिंह कहते हैं । रणप्रियता सूचित करने के लिए दोउवीर कहते हैं । असुरों से युद्ध करने का बड़ा उत्साह है । क्योंकि उनके वध से ही मुनि भय से विनिर्मुक्त हो सकेंगे । कृपासिन्धु हैं । जिसका वध करेंगे उसे भी परम पद देंगे । मतिधीर हैं सेना सेवक कोई साथ नहीं है फिर भी धर्मरथ पर सवार हैं । यथा : सखा धर्ममय असरथ जाके । जीत न कहँ न कतहुँ रिपु ताके । प्रभु के निज स्वरूप को स्मरण कराने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि अखिल विश्व का कारण प्रकृति है । उसके भी ये अधिकरण हैं । आश्रय हैं । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । इनका अवतार ही है ।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला । नील जलद तनु स्याम तमाला ।।
कटि पट पीत कसे बर माथा । रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा ।।१।।

अर्थ : लाल नेत्र और विशाल वक्षःस्थल लम्बी भुजाएँ, नील, मेघ तथा तमाल तरु की भाँति श्याम शरीर कमर में पीताम्बर तथा अच्छा तरकस कसे हुए । और दोनों हाथों में धनुष और बाण लिए हुए ।

व्याख्या : मुनियों पर संकट है । यह सुनकर क्रोध से नेत्रों में लालिमा आ

---

[1] रामजी आश्विन कृष्ण द्वादशी को मुनिजी के साथ अयोध्या से चले । यद्यपि गोस्वामीजी सिवा दो-एक स्थलों के तिथि नहीं देते पर स्थान स्थान पर ऐसा इङ्गित कर देते हैं । जिसकी उपेक्षा न करने से प्रायः सभी घटनाओं की तिथि का पता चल जाता है यथा : बालकाण्ड में शरच्चन्द्र से सीताजी के मुख के मिलान पर ध्यान देने से बालकाण्ड की प्रायः सभी घटनाओं की तिथि का पता चल जाता है ।

गई है। यथा : अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप तथा अरुन नयन सर चाप चढ़ाए। वक्षःस्थल और बाहु का विशाल होना वीरों का लक्षण है। नील मेघ तथा तमाल के वृक्ष सी सुन्दर श्यामलता कही साथ ही कोमलता शीतलता और दृढ़ता भी द्योतित की। श्याम शरीर में पीतपट की बड़ी शोभा होती है। कमर में तरकस और हाथ में धनुष बाण से युद्ध के लिए पूरी तैयारी सूचित होती है। इस भाँति सुन्दरता और वीरता का अद्भुत योग दृष्टिगोचर हो रहा है।

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥
प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥२॥

अर्थ : श्याम और गौर दोनों भाई सुन्दर हैं। विश्वामित्र ने बड़ी भारी निधि प्राप्त कर ली। मुनि जी सोचते हैं : मैं जान गया। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। मेरे निमित्त भगवान् ने पिता को छोड़ा।

व्याख्या : दोनों सुन्दर हैं। देखने से ही भाई भाई मालूम होते हैं। केवल वर्णभेद है। बड़े श्याम हैं छोटे गौर हैं। महाराज का सौंपना कह चुके हैं। यथा : सौंपे भूपति रिषिहिं सुत। अब मुनिजी का पाना कहते हैं। महानिधि पाने से जैसा हर्ष लोगों को होता है वैसा विश्वामित्रजी को दोनों भाइयों के पाने से हुआ। क्योंकि ये ही मुनि धन जन सर्वस सिव प्रान हैं। वे सोचने लगे कि पिता को इनके पृथक् करने में इतना कष्ट हुआ। पर इन्हें हर्ष है। यथा : हरखि चले मुनि भय हरन। जो ब्राह्मण के लिए पिता के विरह को कुछ नहीं गिनता है वह ब्रह्मण्य है। इसमें सन्देह नहीं। ये देव हैं इन्होंने जब पिता को छोड़ना चाहा तब उन्हें देने की मति उत्पन्न हुई। नहीं तो महाराज दशरथ तो नहीं कर ही चुके थे। इनमें समस्त ऐश्वर्य है। धर्म है। श्री है। ज्ञान और वैराग्य है। ये भगवान् हैं।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥३॥

अर्थ : राह में जाते हुए मुनि ने ताड़का को दिखा दिया। सुनकर ताड़का क्रुद्ध हो दौड़ी। एक ही वाण से प्राण हरण कर लिया और दीन जानकर उसे अपना पद दिया।

व्याख्या : मुनि संग दोनों भाई चले। पथकथा लिखते हुए ग्रन्थकार गीतावली में लिखते हैं : पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग वन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई। इस भाँति किशोरलीला करते चले जाते थे कि ताड़का आ पड़ी। मुनिजी ने दिखला दिया। इङ्गित से नहीं। स्पष्ट कहा कि यह ताड़का है इसे मारो। सो जो वाण पहिले से ही हाथ में था उसीसे ताड़का का वध हुआ। प्राण हरण तो किया पर उसके बदले में अपना पद दिया। वाण लगते ही नहीं मरी चोट खाकर दीन हो गई। तब दीनदयाल ने उसे मुक्त कर दिया।

तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्हा । विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्हा ॥
जातें लाग न छुधा पिपासा । आतुलित बल तन तेज प्रकासा ॥४॥

अर्थ : तब ऋषि ने अपने स्वामी को हृदय से चीन्हा। विद्यानिधि को विद्या दी। जिससे न भूख लगे न प्यास लगे। बेतौल : बेपरिमाण : बल और तेज का प्रकाश शरीर में हो।

व्याख्या : सहस्र नागों के बल को धारण करनेवाली शापसंस्पृष्टा दारुणा ताड़का का एक बाण से वध तथा दिव्यदृष्टि से उसकी गति देखने से मुनिजी को अभ्रान्त ज्ञान हो गया कि ये ही मेरे स्वामी हैं। मार्ग के चरित्रों के देखने से कुछ भ्रान्ति हो गई थी। सो अब हृदय से पहिचान गये अर्थात् दृढ़ धारणा हो गई। तब विद्यानिधि को विद्या दी। शिष्यभाव से उपासना के लिए गुरुशिष्यसम्बन्ध के स्थापन के लिए अपनी विद्या को सफल करने के लिए मार्ग चलते हुए श्रमित न हों। क्षुधा पिपासा की बाधा न हो। इसलिए यह जानते हुए कि ये विद्या के समुद्र हैं। बला और अतिबला विद्या दी। बला अतिबला विद्या के जाननेवाले को क्षुधा पिपासा की बाधा नहीं होती। असीम बल होता है। शरीर में तेज प्रकाश होता है।

दो. आयुध सर्व समर्पि कै, प्रभु निज आश्रम[1] आनि।
कंदमूल फल भोजन, दीन्ह भगति हित जानि ॥२०९॥

अर्थ : सब अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभु को अपने आश्रम में लाकर भक्त-हितकारी जानकर कन्दमूल फल भोजन दिया।

व्याख्या : परितुष्ट होकर विश्वामित्रजी ने सम्पूर्ण अस्त्र दिये : दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्र, शैव, शूलवत, ब्रह्मशिरस्, ऐषीक, ब्राह्म, मोदकी, शिखरी, धर्मपाश, कालपाश, वारुणपाश, . वारुणास्त्र, शुष्काशनि, आर्द्राशनि, पैनाक, नारायण, आग्नेय, : शिखर : वायव्य, हयशिरस क्रौञ्च, शक्तिद्वय, कङ्काल, कापाल, किङ्कणी, वैद्याधर, : नन्दन : गान्धर्व, प्रस्वापन, प्रशमन, असिरत्न, वर्षण, शोषण, सन्तापन, विलापन, मादन, मानव, मोहन, तामस, सौमन, संवर्त, मौसल, सत्य, मायामय, तेजःप्रभ, शिशिर, त्वाष्ट्र, शीतेषु और मानद : ये सब नाम वाल्मीकीय रामायण में गिनाये हैं। फिर सिद्धाश्रम में ले आये और कन्दमूल फल भोजन दिया। जान लिया कि ये भक्तहित हैं जो कुछ दूँगा सो स्वीकार करेंगे।

---

[1] १. अयोध्या से चलकर डेढ़ योजन पर विश्राम किया। दूसरे दिन सरयूगङ्गासङ्गम : कामाश्रम : पर निवास किया। चतुर्दशी को ताडका वध किया अमावास्या को मुनिजी के आश्रम पर पहुँचे।

प्रात कहा मुनीसन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम जाई॥
होम करन[1] लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी॥१॥

अर्थ : सबेरे रामजी ने मुनि से कहा : आपलोग जाकर निर्भय हो यज्ञ कीजिये। सब मुनिलोग होम करने लगे और स्वयं आप यज्ञ की रखवारी करने लगे।

व्याख्या : उस रात्रि को विश्राम करके प्रातःकाल दूसरे दिन रघुराई ने कहा : आपलोग निर्भय होकर यज्ञ करें। विश्वामित्रजी ने चक्रवर्तीजी से कहा था : असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयउँ नृप तोही। अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर वध मैं होव सनाथा। अतः कहते हैं कि अब निशिचर आप लोगों को न सता सकेंगे। मैं आप लोगों की रक्षा करूँगा। आपलोग जाकर यज्ञ करें। तदनुसार मुनिलोगों ने हवन करना आरम्भ कर दिया। सब छोटे बड़े मुनियों ने स्वाहा की ध्वनि की। स्वयं प्रभु पहरा देने लगे। कोई विघ्न न हुआ। ताड़का का वध करनेवाले की रक्षा में यज्ञ हो रहा है। इस भय से कोई राक्षस नहीं आये।

सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥२॥

अर्थ : समाचार पाकर क्रोधी राक्षस मुनियों का द्रोही मारीच सेना लेकर दौड़ा। बिना फर का बाण : तुक्का रामजी ने उसे मारा। सौ योजन समुद्र के पार चला गया।

व्याख्या : मारीच : ताड़का का बेटा बड़ा क्रोधी था माँ का मारा जाना सह न सका। सेना इकट्ठी करके धावा किया। इधर यज्ञ हो रहा था। उधर मारीच सेना इकट्ठी कर रहा था। मुनिद्रोही है। सुना कि इस समय मुनि ससहाय हैं। ताड़काहन्ता स्वयं पहरा दे रहे हैं। अतः जब यथेष्ट सेना सङ्कलित कर चुका तब उसने एक क्षण का विलम्ब नहीं किया। दौड़ पड़ा। मध्याह्न के समय पहुँच गया। रामजी गाँसा सहित बाण से मारते तो मर जाता। उससे काम लेना था इसलिए तुक्के से मारा। मारीच सौ योजन समुद्र पार लङ्का में जाकर गिरा। यह सौ योजन समुद्र का नाप है : पृथ्वी में जितनी दूर गया उसका परिमाण यहाँ नहीं लिखा।

पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देवमुनि झारी॥३॥

अर्थ : आग्नेयास्त्र से सुबाहु को मारा। छोटे भाई : लक्ष्मण ने आसुरी

---

[1] आश्विन सुदि १ : प्रथम स्थापना : के दिन यज्ञारम्भ हुआ। छ अहोरात्र दोनों भाइयों ने रखवारी की। छठे दिन मध्यान्ह को निशिचर दल आया। सुबाहु मारा गया मारीच समुद्र पार फेंका गया। शेष सेना सब मारी गई।

सेना का संहार किया। ब्राह्मणों को निर्भय करनेवाले ने असुरों को मारा। सब देवताओं और मुनि स्तुति करने लगे।

व्याख्या : असुरों को यज्ञ से परम वैर है। वे प्राण रहते यज्ञ होने न देंगे और ब्राह्मणों को यज्ञ पर बड़ी भारी प्रीति है। विश्वामित्र महा मुनि ज्ञानी होने पर भी उनकी यज्ञ पर इतनी प्रीति है कि चक्रवर्तीजी के यहाँ जाकर रामजी को यज्ञरक्षा के लिए माँग लाये। ब्राह्मण तभी निर्भय रह सकते हैं जब उनके यज्ञ में बाधा न हो। सो असुरों के मारे जाने से सनाथ हो गये। आग्नेयास्त्र से रामजी ने सुबाहु को मारा। तब तक लक्ष्मणजी ने असुर सेना को विध्वंस कर दिया। देवता और मुनि लोग स्तुति करने लगे। उनका व्यापार फिर चलता हो गया। देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। यज्ञ से मनुष्य देवताओं की भावना करें और देवता मनुष्यों की भावना करें। इस भाँति परस्पर भावना करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त होओ। यह ब्रह्मदेव का बतलाया हुआ मार्ग निरर्गल हुआ। मारीच को लङ्का में फेंककर प्रभु ने रावण के पास मानों समाचार भेज दिया कि अब यज्ञ नहीं रुक सकता। रोकनेवाले आवें।

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि विप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे विप्र यद्यपि प्रभु जाना॥४॥

अर्थ : वहाँ कुछ दिनों तक रामजी रहे। ब्राह्मणो पर दया की। भक्ति के लिए ब्राह्मणों ने बहुत सी पुराणों की कथाएँ रामजी को सुनाई। यद्यपि प्रभु सब जानते ही थे।

व्याख्या : ब्राह्मणों को पूर्णरूपेण निर्भय करने के लिए उन पर दया करके प्रभु कई दिन वहाँ ठहर गये कि जो राक्षसों की सेना और आनी हो सो आ ले। पुरुष सिंह दोउ वीर, हरखि चले मुनि भय हरन। सो पूर्णरूपेण भय हरण किया। ब्राह्मण लोग कौन सी सेवा करें? अतः प्रभु को पुराण की कथाएँ सुनाई, अज्ञानहरण के लिए नहीं, अपनी भक्ति के उद्रेक की शान्ति के लिए। भगवान् सब ज़ानते हुए भी उनकी भक्ति से प्रेरित होकर सादर सुनते रहे। तीन दिनों तक सिद्धाश्रम में ही विश्राम किया। विजया दशमी को मुनिजी के साथ धनुषयज्ञ देखने चले। उस दिन पहिला विश्राम शोणतट पर हुआ।

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥
धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरखि चले मुनिवर के साथा॥५॥

अर्थ : तब मुनि ने आदर सहित समझाकर[1] कहा कि हे प्रभो! चलकर

---

[1] उत्तर इहाँ ते देश मिथिला अनूप भूप विदित विदेह तासु तनया गुणों की खानि।
नृप सुनि कान धाये शलभ समान रण मांच्यौ घमासान पै पराने हारहिय मानि॥
रारि नित बढ़त विलोकि नृप कीन्ह्यौ पन, तोरै जो पिनाक ताहि जानकी वरैगी जानि।
सुनि सुनि आये हैं महीप दीप दीपन के रावरे पधारिवे ते भूप की बढ़ैगी कानि॥

एक चरित्र देखना चाहिए। धनुषयज्ञ की बात सुनकर रघुकुल के नाथ हर्षित होकर मुनिवर के साथ चले।

व्याख्या : जब राक्षसों के आने की प्रतीक्षा हो चुकी, अयोध्या लौटने का अवसर आया। तब मुनिजी ने रामकी को समझाकर कहा : हमलोग राजा जनक का यज्ञ देखने जायेंगे। वहाँ शिव का धनुष रक्खा हुआ है आप भी उसे देखेंगे। राजा जनक आपका सत्कार करेंगे। इत्यादि बातें बतलाकर धनुषयज्ञ देखने पर जोर दिया। प्रभु धनुषयज्ञ की बात सुनकर हर्षित हुए कि वहाँ वीरों के पराक्रम की परीक्षा होगी। अतः अयोध्या न चलकर मुनिवर के साथ मिथिला चले। पहिले हरखि चले मुनिभय हरन। अब धनुषयज्ञ सुनि : हरखि चले मुनिवर के साथा। पहिले प्रभु के साथ मुनिजी थे। अब मुनिजी के साथ प्रभु हैं।

आश्रम एक दीख मग माँही। खग मृग जीव जंतु तहँ नाही ।।
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेखी ।।६।।

अर्थ : मार्ग में एक आश्रम देखा। जहाँ पशु पक्षी जीव जन्तु कोई भी नहीं था। एक शिला पड़ी थी उसे देखकर प्रभु ने पूछा। मुनि ने विशेष रूप से सब कथा कही।

व्याख्या : फल फूल हीन वन में जन्तु नहीं रहते। परन्तु यह तो आश्रम है। फल फूलवाले वृक्ष लगे हैं। फिर भी जीव जन्तु क्यों नहीं हैं ? और यह शिला कैसी पड़ी हुई है ? उस शिला के देखने से ही उसमें कुछ विशेषता प्रतीत हुई। रामजी ने मुनिजी से पूछा कि यह किसका आश्रम है ?

मुनिजी ने कहा कि पहिले यहाँ महर्षि गौतमजी तप करते थे। उन पर प्रसन्न होकर ब्रह्मदेव ने अपनी अहल्या नाम्नी लोकसुन्दरी कन्या उन्हें दी। उसके साथ वे यहीं रहा करते थे। इन्द्र उस पर मुग्ध थे। उसे पाने के लिए नित्य अवसर देखा करते थे। किसी समय गौतमजी घर से बाहर गये। इन्द्र ने उनका वेष धारण करके अहल्या का सतीत्व नष्ट किया। बाहर निकलते ही उधर से गौतमजी आगये। उन्होंने क्रोध करके पूछा कि मेरा रूप धारण करनेवाला अधम तू कौन है ? सत्य कह। नहीं तो तुझे अभी भस्म करता हूँ। वह बोला मैं कामकिङ्कर इन्द्र हूँ। मैंने कुकर्म किया है। मुनि ने क्रोध करके शाप दिया कि तुझे सहस्र भग हो जावें। अहल्या को शाप दिया कि हे दुर्वृत्ते ! तू मेरे आश्रम की इस शिला में रह। दिन रात निराहार रहकर परम तप में स्थित हो। लू वर्षा आदि को सहन करती हुई परमेश्वर राम का ध्यान कर। यह मेरा आश्रम नाना जन्तुओं से विहीन हो जायगा। इस भाँति अनेक सहस्र वर्ष बीतने पर रामजी भाई के साथ इधर आयेंगे। जब वे इस शिला पर पैर रक्खेंगे तब तू निष्पापा होकर रामकी पूजा परिक्रमा स्तुति करके शाप से छूट जायगी। और पहिले की भाँति यथेच्छरूप से मेरी शुश्रूषा करेगी।

दो. गौतम नारी श्राप बस, उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति, कृपा करहु रघुवीर ।।२१०।।

अर्थ : गौतम की स्त्री शाप के वश होकर पत्थर का शरीर धारण किये हुए धैर्य धारण करके आपके चरण की धूलि चाहती है। सो हे मतिधीर ! कृपा कीजिये।

व्याख्या : शिला के ही आश्रित अहल्या थी इसलिए उपलदेह कहा। उसकी यथार्थ देह प्राणिमात्र के लिए अलक्षित थी। शाप से विनिर्मुक्त होने के लिए चरणरज चाहती है। सो आप रघुवीर हैं : मंगन लहहि न जिनके नाहीं; उस कुल में वीर हैं। इस पर कृपा करिये; इस सिला पर पैर रखिये। यह सहस्रों वर्ष से धैर्य धारण किये हुए चरणरज की आशा लगाये परम तप में स्थित है। मुनिजी की आज्ञा से प्रभु ने उस शिला का स्पर्श चरणों से किया।

छं. [1]परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोर रही॥
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै वचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुग नयनन्हि जलधार बही॥१॥

अर्थ : पवित्र करनेवाले और शोकनाश करनेवाले चरणों के छूते ही, सच्ची तपस्या की पुञ्ज प्रकट हुई। भक्तों के सुख देनेवाले रघुनायक को देखते हुए सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। अत्यन्त प्रेम से अधीर हो गई। रोंगटे खड़े हो गये। मुख से शब्द नहीं निकलता। अत्यन्त ही भाग्यवती है, चरणों में लग गई। दोनों आँखों से अश्रु की धारा बह निकली।

व्याख्या : अति दारुण विप्रशाप से पवित्र करनेवाला चरण है। इसलिए पावन कहा। ईप्सित फलदाता होने से शोकनसावन कहा। सद्यः कल्याणप्रद है। अतः उसके स्पर्श करते ही सब कल्मष दग्ध हो गये। शुद्ध तपोमूर्ति दृष्टिगोचर हो गई। सच्चा सुवर्ण उसी को कहते हैं जिसमें किसी अन्य धातु का संमिश्रण न हो। प्रभु के चरणस्पर्श से यावत् कल्मष उसके रहे सो दग्ध हो गये। निखरे हुए सोने की भाँति शुद्ध तपोमय मूर्ति शाप से विनिर्मुक्त होकर प्रकट हो गई।

उपल : पत्थर के अवयवों से ढके रहने के कारण पहिले न देख सकी थी। उससे जब छूटी तब भक्तों के सुखदायक रघुनायक को देखा। उसका हृदय साधु है। इससे सन्मुख हुई। दुष्ट हृदय परमेश्वर के सन्मुख नहीं हो सकता। यथा : जौ पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई। और कुछ कहते या करते न बना। अतः हाथ जोड़े खड़ी रह गई। परन्तु खड़ा भी रहा नहीं जाता। क्योंकि अति प्रेम से अधीर हो उठी। शरीर पुलकित हो उठा। स्तुति करना चाहती है। पर कण्ठ रुँधा हुआ है : मनसा वाचा कर्मणा प्रेम कहा। बड़ा भारी भाग्य उदय हुआ। चरणों में जा गिरी। हृदय विगलित हो उठा। आँसू की धारा वह चली। चरणों का सम्वन्ध होना ही अहोभाग्य है।

---

[1] यह त्रिभङ्गी छन्द है। इसमें ३२ मात्राओं का एक पाद होता है। १०,८,८,६ मात्राओं पर विराम होता है। अन्त में एक गुरु आता है।

छं. धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई ।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई ।।
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जनसुखदाई ।
राजीव विलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ।।

अर्थ : मन में धैर्य किया । प्रभु को पहिचाना । रघुपति की कृपा से उसे भक्ति मिली । अत्यन्त निर्मल वाणी से स्तुति आरम्भ कर दी कि हे ज्ञानगम्य रघुराई तुम्हारी जय हो । मैं अपावन स्त्री हूँ और प्रभु लोगों को पवित्र करनेवाले हैं । रावण के रिपु हैं और भक्तों के सुख देनेवाले हैं । हे राजीवविलोचन ! हे संसार के भय को दूर करनेवाले ! मैं शरण में आयी हूँ । मुझे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये ।

व्याख्या : जब अश्रुधारा कुछ बह गई तब धैर्य ला सकी । देखने से ही प्रेम हुआ । पर यह न जान सकी थी कि ये कौन हैं । पर अब धैर्य आ जाने से स्मृति लौटी । मुनि का वचन स्मरण हो उठा । तब प्रभु को चीन्हा । जानाति इच्छति यतते । जब मनुष्य जानता है, तब इच्छा करता है तत्पश्चात् प्रयत्न करता है । जब प्रभु को पहिचाना तो वह प्रेम भक्ति रूप में परिणत हुआ । अथवा गुरुजी ने कहा था : कृपा करहु रघुवीर : सो रघुनाथ ने कृपा की । उसने भक्ति पायी । भक्ति के पाते ही बात दूसरी हो गई । वाणी निर्मल हो गई । स्तुति करने लगी । कहा : हे रघुराई ! आप ज्ञानगम्य हैं । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् । जैसा हूँ, जितना हूँ सो भक्ति से ही मुझे तत्त्वतः जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है । आपकी जय हो । ज्ञानगम्य से ब्रह्म कहा और रघुराई से अवतार कहा ।

अपने पूर्ववृत्त का स्मरण करके कहती है कि मैं नारियों में अपावन हूँ और प्रभु जग को पावन करनेवाले हैं । मुझे पवित्र कीजिये । आप रावणरिपु जनसुखदायी हैं । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् : आपका अवतार हुआ है । हे राजीवविलोचन ! आप दृष्टिमात्र से भवभय के हरण करनेवाले हैं । पतित के लिए एकमात्र उपाय आपका शरण है । सो मैं शरण आई हूँ । मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये । यहाँ वीप्सा अत्यन्त आरत होने के कारण से है । अथवा प्रथम पाहि कहकर पातित्य से त्राण पाने के लिए और दूसरा पाहि शरण में लेने के लिए कहा । यथा : मैं पतित तुम पतितपावन दोऊ बानक बने । दास तुलसी सरन आयो राखिये आपने ।

छं. मुनि श्राप[1] जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना ।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभु संकर जाना ।।
विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न माँगौं वर आना ।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ।।३।।

---

[1] यहाँ अनुज्ञा अलङ्कार है ।

अर्थ : मुनिजी ने जो मुझे शाप दिया वह बहुत अच्छा किया। मैं उसे परम अनुग्रह रूप मानती हूँ। आँख भर के भवमोचन हरि का दर्शन किया। शिवजी ने भी इसे ही लाभ माना है। हे प्रभो ! मेरी बुद्धि मन्द है। मैं यही विनती करती हूँ। दूसरा वर नहीं चाहती : कि आपके चरण कमल के पराग के रस को मेरा मनरूपी भौंरा पान किया करे।

व्याख्या : भक्ति के आते ही ज्ञान हुआ। क्योंकि श्रीहरि जो हैं और जैसे हैं उसका तत्त्वज्ञान तो भक्ति के होने से ही होता है। यथा : भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। अब कहती हैं कि मुनिजी ने मुझे जो शाप दिया वह भला ही नहीं, अत्यन्त भला किया। जो भला करता है वह अनुग्रह करता है और जो अत्यन्त भला करता है वह परम अनुग्रह करता है ! अतः कहती हैं उस शाप से मेरा बड़ा भला हुआ अतः मैं उसे शाप नहीं मानती। परम अनुग्रह मानती हूँ। क्योंकि हरि भवमोचन को आँख भर के देखा। जन्म का फल पा लिया। यथा : नयनवंत रघुपतिहिं विलोकी। पाइ जनम फल होहिं विसोकी। प्रभु को आँख भर देखने को ही शिवजी लाभ मानते हैं। और किसी लाभ को लाभ नहीं मानते। अतः इसके अत्यन्त उत्कृष्ट होने में सन्देह नहीं है।

हे प्रभो ! मेरी वुद्धि मन्द है। मैं फिर संसार में भूल जाऊँगी। इसलिए और कोई वर न माँगकर इस वर के लिए विनती करती हूँ कि आप के चरणकमल के पराग के रस का पान मेरा मन सदा भौंरारूप होकर करता रहे।

छं. जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो वरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी॥४॥

अर्थ : जिन चरणों से परम पुनीत गङ्गाजी प्रकट हुईं और उन्हें शिवजी ने सिर पर रक्खा और वही चरणकमल जिसका ब्रह्मा पूजन करते हैं हरि ने मेरे सिर पर रक्खा। इस भाँति बार बार हरि के चरण पर गिरकर गौतम जी की स्त्री चली गई। जो अत्यन्त मन को भाया था वही वर पाया और पति के लोक को आनन्द से भरी हुई गई।

व्याख्या : अपने भाग्य की सराहना करती है कि ये चरण शिवजी के सिर पर न पड़े। तव चरण से निकली हुई गङ्गाजी को सिर पर धारण करके सन्तोष किया। न ब्रह्मा के सिर पर पड़े। वे नित्य उन चरणों की पूजा करके सन्तोष धारण किये हुए हैं। वाह रे मेरा भाग्य ! कि वे चरण मेरे सिर पर पड़े यह विचारकर चरणों पर बार बार गिरती है कि ये चरण शिव ब्रह्मादि को भी दुर्लभ हैं। आज मुझे सुलभ हुए हैं। यद्यपि प्रभु ने मुख से नहीं कहा। गौतम की स्त्री होने से बड़ी मानते हैं। तथापि जो वर उसे अत्यन्त पसन्द था वह दे दिया और वह आनन्द

भरी पतिलोक को गई। भाव यह कि दोनों भाँति से प्रभु ने रक्षा की। भक्ति वर देकर शरण में रख लिया और उसे परम पवित्र करके पतिलोक भेज दिया। यथा : गौतम गये गृह गौनो सो लवायके। आनन्द भरी गई अर्थात् महर्षि गौतम से सत्कार पाकर भक्ति वर पाकर आनन्द भरी हुई गई।

दो. अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसीदास सठ तेहि भजु, छाड़ि कपट जंजाल ॥२११॥

अर्थ : हरि ऐसे दीनबन्धु प्रभु हैं और बिना कारण के कृपा करनेवाले हैं। तुलसीदास जी अपने मन से कहते हैं कि रे शठ! तू कपट जंजाल को छोड़कर उसे भज।

व्याख्या : ऐसे समर्थ हैं, दीनदयाल हैं कि गये हुए सतीत्व को लौटा दिया। पत्थर से फिर नारी बना दी।

यथा : रामपद पदुम पराग परी।
रिषितिय तुरत त्यागि पाहनतनु छविमय देहधरी ॥१॥
प्रबल पाप पतिशाप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपासिंधु सिंचि विवुधवेलि ज्यौं फिर सुख फरनि फरी ॥२॥
निगम अगम मूरति महेस मति जुवति वराय वरी।
सोइ मूरति भई जानि नयनपथ, इकटक ते न टरी ॥३॥
वरनति हृदय सरूप सील गुन प्रेम प्रमोद भरी।
तुलसिदास अस केहि आरत की आरति प्रभु न हरी ॥४॥

तुलसीदासजी अपने मन को समझाते हैं कि तू शठ है हठी है। सो हठ मत कर ऐसे समर्थ और ऐसे दयालु को भज। जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्य भ्रम फंदा। इन फंदों का एक बड़ा भारी जाल बना हुआ है जिसमें पड़ जाने से निकलना बहुत कठिन होता है। यह जाल जन्म से लेकर मरण तक फैला हुआ है। यथा : जनम मरन जहँ लगि जगजालू। इसी को यहाँ जंजाल कहा है। इसे छोड़कर भजन कर। यह छोड़ने से ही छूटता है। यथा : होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु। बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा।

यह अहल्याकृत स्तुति कृतिका नक्षत्र है। इसमें छः क्रियाएँ हैं : १. प्रभु का दर्शन किया। २. शरण आई। ३. शाप को अनुग्रह माना। ४. वरदान माँगा। ५. कृतकृत्य हुई। ६. पतिलोक गई। ये ही छः चमकदार तारे हैं। पाप को छुरे की भाँति काटा। इसलिए छुरे का आकार माना। इसका फल है : सद्गुरु ज्ञानविराग योग के। ज्ञानगम्य जै रघुराई कहने से ज्ञान का। नाथ न वर मागौं आना से विराग का। पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना से योग। यथा : योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। का गुरु कहा।

चले राम लछिमन मुनि संगा । [1]गए जहाँ जग पावनि गंगा ॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई । जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥१॥

अर्थ : राम और लक्ष्मण मुनिजी के साथ चले। जहाँ जगत् को पवित्र करने वाली गङ्गा थी वहाँ गये जिस प्रकार से गङ्गा पृथ्वी पर आई। वह सब कथा गाधिराज के पुत्र : विश्वामित्र ने सुनाई।

व्याख्या : इसबार हरख कर न चले। क्योंकि मनमें पछतावा था कि ब्राह्मण की स्त्री को मुझे चरण से छूना पड़ा। यथा : दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए को पछिताव। गी.। पहिले जो चले थे तो हरख कर चले थे। यथा : पुरुष सिंह दोउ वीर हरखि चले मुनि भय हरण। तथा : धनुषयज्ञ सुनि रघुकुल नाथा। हरखि चले मुनिवर के साथा। सिद्धाश्रम से जनकपुर जाने में गङ्गापार उतरना पड़ता है।

गङ्गास्नान से पहिले गङ्गामाहात्म्यश्रवण की विधि है। सो विश्वामित्रजी ने गङ्गा जी को कथा सुनाई कि पहिले गङ्गा जी पृथ्वी पर नहीं थीं। राजा सगर के पुत्र पिता के अश्वमेधघोड़े का पता लगाते कपिलजी के आश्रम में पहुँचे। वहाँ घोड़े को देखा। कपिलजी को ही घोड़े का हरण करनेवाला समझकर मारने दौड़े। कपिल जी ने शाप दिया। वे वहीं भस्म हो गये। बात यह हुई थी कि राजा सगर ९९ अश्वमेध यज्ञ कर चुके थे। सौ अश्वमेध करने पर इन्द्रपद मिलता है। जब अन्तिम अश्वमेध के लिए घोड़ा छोड़ा तो इन्द्र ने उस घोड़े को हरण करके कपिलदेवजी के आश्रम में छोड़ दिया था। उन सगर के पुत्रों की जो कि ब्रह्मशाप से भस्म हुए थे सद्गति बिना गङ्गाजी के आये हो नहीं सकती थी। अतः राजा भगीरथ अपने पूर्वपुरुषों की सद्गति के लिए बड़ी भारी तपस्या करके ब्रह्मलोक से गङ्गाजी को लाये और उनका उद्धार किया। इस भाँति गङ्गा पृथ्वीतल निवासियों के लिए सुलभ हो गई। विश्वामित्र का यहाँ पर गाधिसूनु कहने का यह भाव है कि यह राजा गाधि के पुत्र हैं। स्वयं राजा रह चुके हैं। सब राजाओं का हाल जानते हैं। यह कथा वाल्मीकीय रामायण में विस्तार से कही गई है।

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये । बिबिध दान महिदेवन्हि पाये ॥
हरखि चले मुनिवृन्द सहाया । वेगि विदेहनगर निअराया ॥२॥

अर्थ : तब प्रभु ने ऋषियों के साथ स्नान किया। ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार के दान पाये। मुनि वृन्द सहाय हर्षित होकर चले और शीघ्र ही विदेह राजा का नगर निकट आगया।

व्याख्या : माहात्म्य सुनने के बाद प्रभु ने ऋषियों के साथ गङ्गास्नान किया। पुण्यक्षेत्र में आने पर दान करना चाहिए। सो अनेक प्रकार का दान किया। पात्रे

---

१. एकादशी को गङ्गा तट पर पहुँचे। रात्रि जागरण गङ्गावतरण की कथा सुनने में हुआ। तीसरे दिन द्वादशी को विशाल नगरी के सन्निकट विश्राम किया।

दानम् । पात्र को दान देना चाहिए । अतः पृथ्वी के देवताओं : ब्राह्मणों को दान दिया । ब्राह्मणब्रुवः जो केवल ब्राह्मण कहलानेवाले हैं : का ग्रहण न हो इसलिए महिदेव कहा । दानसामग्री की उपस्थिति के विषय में शङ्का न हो इसलिए प्रभु कहा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः । उन्हें सब सामर्थ्य है । कोई महात्मा यह भी कहते हैं कि मारीच सुबाहु वध के बाद उनकी बहुत सम्पति हाथ लगी । उसी को दान के लिए साथ लाये थे ।

ये दोनों भाई मुनिवृन्द की सेना हैं । जिस भाँति राजाओं की जीत सैन्यबल से होती है । उसी भाँति मुनियों की जीत इन्हीं दोनों भाइयों द्वारा होती है । अतः 'मुनिवृन्द सहाया' कहा । सहाय शब्द सेना के अर्थ में बराबर प्रयुक्त होता है । यथा : लै सहाय धावा मुनि द्रोही । निदरे राम जानि असहाई । इत्यादि । मुनिपत्नी को पाद से स्पर्श करने के कारण अपने में पापस्पर्श माना । अतः गङ्गास्नान से उसकी शुद्धि मानकर हर्षित हैं । अतः फिर हर्षित होकर चलना लिखते हैं । वहाँ से जनकपुर सन्निकट था । इसलिए शीघ्र ही नगर का निकट आना कहते हैं । मन में कौतुक है कि विदेह : देहाध्यास रहित राजा कैसा राज करता है । उसके राज की व्यवस्था देखने लायक है । इसलिए वहाँ पहुँचने की जल्दी है ।

सीय-स्वयंवर

पुररम्यता राम जब देखी । हरखे अनुज समेत बिसेखी ॥
वापी कूप सरित सर नाना । सलिल सुधासम मनि सोपाना ॥३॥

अर्थ : पुरकी रमणींयता जब रामजी ने देखी तो छोटे भाई के साथ बहुत प्रसन्न हुए । बावली, कुएँ, नदियाँ और तालावों की बहुतायत थी । जिनका जल अमृत सा था और मणियों की सीढ़ियाँ थीं ।

व्याख्या : जनकपुर बड़ा रमणीय था । सभी को उसे देखने से हर्ष हुआ । परन्तु सबके देखने और रामलखन के देखने में अन्तर था । और लोग तो केवल रमणीयता ही देखते हैं । पर वे तो राजकुमार हैं । नगरनिर्माणविज्ञान के पण्डित हैं । रत्न को सभी लोग देखते हैं और उसकी रमणीयता पर मुग्ध भी होते हैं । परन्तु उसके वास्तविक गुण तो जौहरी ही देखते हैं । रामलक्ष्मण नगरव्यवस्थापन कला के जौहरी थे । अतः इन्हें विशेष हर्ष हुआ ।

पहिली बात यह है कि नगर में जलाशयों की कमी न हो । सो वहाँ चारों प्रकार के जलाशयों की बहुतायत थीं । जलाशयों में अमृत सा स्वादु जल था और राजा की ओर से बड़ी सुरक्षा थी । सीढ़ियाँ स्फटिकादि मणियों की बनी थीं ।

गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा । कूजत कल बहुबरन बिहंगा ॥
बरन बरन बिकसे बनजाता । त्रिबिध समीर सदा सुखदाता ॥४॥

अर्थ : रस से मतवाले सुन्दर भौंरे गूँज रहे थे । अनेक प्रकार के सुन्दर पक्षी

कूज रहे थे। रंग रंग के कमल खिले हुए थे और शीतल मन्द सुगन्ध पवन चल रहा था।

व्याख्या : इन जलाशयों के चारों ओर फलफूलवाले वृक्ष थे जो कि स्वयं बड़े सरस थे। जहाँ फूलवाले वृक्ष होते हैं वहीं चिड़ियाँ भी रहती हैं। फलफूल के रस के लोभी भौंरे भी वहीं पहुँचते हैं। रसका आधिक्य दिखलाते हैं कि रस से मत्त होकर भौंरे गूँजते हैं और तृप्त होकर चिड़ियाँ कलरव कर रहीं हैं। उन जलाशयों में रंग रंग के श्वेत, श्याम, अरुण और पीतवर्ण के कमल खिले हुए हैं। शरद ऋतु है। अतः वायु में शीतलता है। कमलों और फूलों के गन्ध के भार से पवन की गति भी मन्थर है। अथवा जनकपुर में सदा त्रिविध समीर चला करती है। वहाँ कड़ी धूप पड़ती ही नहीं।

दो. सुमन वाटिका बाग वन, विपुल विहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ॥२१२॥

अर्थ : फुलवारी, बाग, और वन जहाँ बहुत सी चिड़ियाँ बसती हैं, पुर के चारों ओर फूलते फलते और पल्लवित होते शोभित हैं।

व्याख्या : अभी पुर के बाहर का वर्णन हो रहा है। पुर के चारों ओर वन हैं। जिनमें स्वभाव से पेड़ जमे हैं। उसके बाद बाग हैं। जिनमें फलवाले वृक्ष हैं। यथा : चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खाएसि तरु तोरन लागा। फुलवारी में फूल लगे हैं। अथवा सरित के तट पर वन हैं। सर के चारों ओर बाग हैं और वापी कूप फुलवारी में हैं। फुलवारी फूल रही है, बाग फल रहे हैं। वन पल्लवित हो रहे हैं। उनमें अबाधरूप से बहुत से पक्षी बसते हैं। इस फुलवारी, बाग और वन से पुर को बड़ी शोभा हो रही है।

वापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायता सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं॥

बनइ न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँ लोभाई॥
चारु बजार विचित्र अँबारी। मनिमय विधि जनु स्वकर सँवारी ॥१॥

अर्थ : नगर की सुन्दरता कहते नहीं बनती। जहाँ जायँ वहीं मन लुभा जाता है। सुन्दर बाजार था। विचित्र कोठे थे। जिनमें मणियों का काम था। मानों ब्रह्मदेव ने उन्हें अपने हाथ से सँवारा है।

व्याख्या : नगर इतना मनोहर है कि जिधर मन जाता है वहीं लुब्ध होकर ठहर जाता है और बिना सब ओर गये मन वर्णन कर नहीं सकता। अतः कहते हैं कि वर्णन नहीं किया जा सकता। पूरा नगर सर्वाङ्ग सुन्दर है। नीचे के मंजिल की दूकानों की पंक्ति को बाजार कहते हैं और ऊपर के मंजिल के कमरों

को अँबारी कहा है। जिनमें कोठियाँ चलती हैं। सर्वोपरि मंजिल की अटारी संज्ञा है। वे अँबारी मणिमय हैं। स्थापत्यकला की पराकाष्ठा उनमें दिखलाई गई है। सन्धि : जोड़ का पता नहीं चलता मानो स्वयं ब्रह्मदेव की बनाई हुई हैं।

धनिक बनिकवर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई॥२॥

अर्थ : धनवान् श्रेष्ठ सौदागर कुबेर के समान सब वस्तुओं को लिये बैठे हैं। चौराहा सुन्दर गलियाँ सोहावनी सदा सुगन्ध से सींची जाती थीं।

व्याख्या : बाजार और अँबारी दोनों में धनिक बनिक का बैठना कहते हैं। धनद समाना कहने से प्रभूत धनधान्य का संग्रह कहते हैं। नाना प्रकार की वस्तुएँ लिये बैठे हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उस बाजार और उन कोठियों में न मिलती हो।

राज्यव्यवस्था तथा ऐश्वर्य इतना बढ़ा चढ़ा है कि गलियों में पानी नहीं छिड़का जाता है। सुगन्ध सींची जाती है। जो स्थान सुगन्ध से सींचा जाता हो वहाँ की सफाई के लिए क्या कहना है। कितना ही नगर सुन्दर हो पर यदि वहाँ सफाई न हो तो वह सुन्दरता किसी काम की नहीं होती। जनकपुर की सुन्दरता अनूठी है और सफाई भी बहुत बढ़ी चढ़ी है।

मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे॥
पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥३॥

अर्थ : सबके घर मङ्गलमय थे और उन पर इस भाँति चित्रकारी बनी थी मानो कामदेव ने स्वयं चित्रकार बनकर उन चित्रों को चित्रित किया है। पुर के नरनारी सुन्दर और शुद्ध सन्त धर्मशील ज्ञानी और गुणवान् थे।

व्याख्या : बन्दरवार केतु पताका चौक से युक्त होम के धूप से सुगन्धित मङ्गलमय सभी के घर थे। उन घरों में ऐसी सरस चित्रकारियाँ थीं कि वे मनुष्य की की हुई मालूम नहीं होती थीं। उन्हें देखने से मन में यह होता था कि इन्हें कामदेव ने स्वयं बनाया होगा। जब मकान ब्रह्मदेव के बनाये मालूम होते थे तो उसकी चित्रकारियाँ कामदेव की बनाई हुई मालूम होनी ही चाहिए।

नगर चाहे कैसा ही सुन्दर हो, उसकी व्यवस्था चाहे कितनी ही अच्छी हो पर यदि उसके निवासी अच्छे न हुए तो वह लङ्कापुरी हो जाती है। सो यहाँ के निवासी सुन्दर थे और पवित्र सन्त थे। अर्थात् भगवत्स्नेह से उनका हृदय सरस था। यथा : राम सनेह सरस मन जासू। साधुसभा बड़ आदर तासू। धर्मात्मा थे, ज्ञानी थे और सर्वगुणसम्पन्न थे। भाव यह कि कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का जनकपुर में घर घर प्रचार था। जनकपुर में निर्गुणी कोई नहीं था।

अति अनूप जहँ जनक निवासू। विथकहिं विबुध विलोकि विलासू॥
होत चकित चित कोट विलोकी। सकल भुवन सोभा जनु रोकी॥४॥

अर्थ : जहाँ जनक का निवास था वह तो अत्यन्त अनूप था ! वहाँ का विलास देखकर तो देवता स्तब्ध हो जाते थे। कोट देखकर चित्त चकित हो जाता था। मानो इसने सम्पूर्ण भुवन की शोभा को रोक रक्खा है।

व्याख्या : लोगों का निवास अनूप महाराज जनक का निवास अति अनूप। जो विलास वहाँ था वह स्वर्ग में भी नहीं था। न स्वर्ग उतना सुन्दर था और न वहाँ के विलास का सामना स्वर्ग का विलास कर सकता था और निवास की शोभा देखकर तो चित्त चकित हो जाता था। मानों सम्पूर्ण भुवनों की शोभा उसने रोक रक्खी है कि उससे कोई बढ़ने न पावे।

दो. धवल धाम मनि पुरट पट, सुघटित नाना भाँति।
सिय निवास सुंदर सदन, सोभा किमि कहि जाति ॥२१३॥

अर्थ : सुनहले मणि जटिल कपड़ों से अनेक प्रकार से मढ़ा हुआ उज्ज्वल धाम सीताजी का सुन्दर निवास स्थान था। उसकी शोभा कैसे कही जा सकती है ?

व्याख्या : सर्व साधारण इस विलास से अपरिचित हैं। बहुत बड़े ऐश्वर्यशालियों के घर की दीवारें छत इत्यादि कपड़ों से मढ़ी रहती हैं। उसी भाँति सीताजी का उज्ज्वल निवासगृह जरी के काम पर जवाहिरात टँके हुए कपड़ों से मढ़ा हुआ था। अथवा उसमें जवाहिरात से टँके हुए जरी के काम के पर्दे पड़े हुए थे। रनिवास में भी सीताजी के निवासस्थान की शोभा अलौकिक थी। ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस निवासस्थान में सीताजी रहती हैं उसकी शोभा कैसे कही जा सकती है। अर्थात् सर्वथा अवर्णनीय है।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा ॥
बनी बिसाल बाजि गज साला। हय गज रथ संकुल सब काला ॥१॥

अर्थ : सुन्दर द्वार थे जिनमें वज्रकपाट लगे थे। राजाओं की भीड़ और नट मागध भाटों की भीड़ जहाँ लगी रहती थी। बड़ी-बड़ी अश्वशालाएँ और गजशालाएँ बनी रहती थीं जो सदा हाथी, घोड़े और रथों से भरी रहती थीं।

व्याख्या : पुरद्वार तथा राजद्वार सब सुन्दर बने थे। साथ ही साथ बड़े दृढ़ थे। उनमें वज्र से किवाड़ लगे थे। उन द्वारों पर सदा राजाओं, नट, मागध और भाटों की भीड़ लगी रहती थी। एक प्रविसहिं एक निर्गमहि भीर भूप दरबार। कोई जा रहा है। कोई आ रहा है। इसी से भीड़ होती है। इससे जनकजी का वैभव विलास कहते हैं। यथा : पितु वैभव विलास मैं दीठा। नृपमनिमुकुट मिलत पद पीठा। अब पुर के भीतर का वर्णन करते हैं कि हथिसार और घोड़सार बहुत बड़े बड़े बने थे। व्यवस्था ऐसी थी कि कभी वे हाथी घोड़े और रथ से खाली नहीं रहते थे। यदि हाथी घोड़े रथ किसी काम पर भी गये तो भी यथेष्ट संख्या में रथ, गज, वाजि बचे रहते थे। जिसमें वे शालाएँ भरी मालूम पड़ सकें।

इतना बड़ा संग्रह जनकपुर में था कि : तुरग लाख रथ सहस पचीसा।

सकल सँवारे नख अरु सीसा। मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिनहि देखि दिसि कुंजर लाजे। सब समाज एहि भाँति बनाई। जनक अवधपुर दीन्ह पठाई। इतने गजरथ तुरंग तो दायज में दिये गये।

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृपगृह सरिस सदन सब केरे॥
पुर बाहिर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ विपुल महीपा॥२॥

अर्थ : योद्धा मन्त्री और बहुत से सेनापति थे। इनके मकान भी महाराज के महल से थे। पुर के बाहर तालाब और नदी के सन्निकट जहाँ तहाँ बहुत से राजा लोग उतरे थे।

व्याख्या : महाराज के यहाँ मन्त्रियों और वीरों का बड़ा मान था। उनके घर क्या थे राजमहल थे। यद्यपि रामजी मुनियों के सहित नगर के बाहर ही हैं। वहीं का वर्णन उपयुक्त है। पर बाहर के वर्णन के साथ भीतर का वर्णन भी किये देते हैं। आगे चलकर घटनाचक्र के वर्णन में पड़ जाने पर नगर के भीतरी दृश्य का वर्णन न कर सकेंगे। लङ्का आदि के वर्णन में भी ग्रन्थकार ने इसी रीति का अवलम्बन किया है।

राजा लोग आये हैं सीयस्वयंवर में पर वे नगर के भीतर ठहरने नहीं पाये हैं। वे लोग पुर के बाहर जलाशय देख देखकर अपने दलबल सहित उतरे हुए हैं।

देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई॥
कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ [1]रहिअ रघुवीर सुजाना॥३॥

अर्थ : एक आम की बारी बेजोड़ थी। सब प्रकार से सुन्दर थी और वहाँ सभी सुभीता था। उसे देखकर कौशिक : विश्वामित्र जी ने कहा कि मुझे यह पसन्द है। हे रघुवीर सुजाना! यहीं रहना चाहिए।

व्याख्या : ठहरने के लिए स्थान देखते हैं। सर्वत्र राजा लोग टिके हैं। पर एक आम की बारी बेजोड़ है। वह खाली ही पड़ी है। जलाशय के सन्निकट है। ऊँचे स्थान पर है, घनो है, पवित्र है, सभी सुभीता है। राजा के यहाँ न जाकर रघुनाथजी से कहते हैं : आप सुजान हैं, यहाँ ही रहिये। आप रघुवीर हैं। सेना-रहित होने पर भी उन राजाओं से कम शङ्कनीय नहीं हैं जो बाहर उतरे हुए हैं। अत: बाहर उतरना ही ठीक है।

भलेहि नाथ कहि कृपा निकेता। उतरे तहँ मुनिवृंद समेता॥
विश्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥४॥

अर्थ : बहुत अच्छा नाथ! कहकर कृपा के धाम रामजी वहाँ मुनिलोगों के साथ उतरे। मिथिला के राजा ने समाचार पाया कि महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं।

---

[1] त्रयोदशी को जनकपुर पहुँचे। उसी दिन नगर देखने गये।

व्याख्या : रघुनाथजी की बड़ी कृपा मुनियों पर है। जैसा वे चाहते हैं, उसी को आप भी पसन्द करते हैं। उसी आम की बारी में डेरा पड़ा। प्रभु को मुनिवृंद के बीच में रहना प्रिय है। चक्रवर्तीजी का भी ऐसा ही स्वभाव है। बरात में समधी बनकर चले तो वहाँ भी साधु समाज संग महिदेवा हैं।

मिथिलेश की व्यवस्था की प्रशंसा है कि इधर विश्वामित्रजी आये और उधर महाराज को समाचार मिल गया। मुनि के आने से ही राजा लोग अस्थिर हो उठते थे। किं पुनः विश्वामित्रजी तो महामुनि थे। उनके नाम का यथार्थ अर्थ है विश्व के मित्र और हैं भी वे विश्व के मित्र। उनके बाहरी व्यवहार में कठोरता रहती है। परन्तु उनका लक्ष्य जगत् का उपकार होता है।

दो. संग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर बर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि, मुदित राउ एहि भाँति ॥२१४॥

अर्थ : सङ्ग में पवित्र मन्त्री, बहुत से योद्धा, श्रेष्ठ ब्राह्मण, गुरु और जाति वाले हैं। मुनीश्वर से मिलने महाराज प्रसन्न होकर इस भाँति चले।

व्याख्या : सङ्ग में सचिव भी हैं, योद्धा भी हैं, पर वे शुचि हैं। शुचि उसे कहते हैं जो स्वप्न में भी अपने धर्म से विचलित न हो। यथा : अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले। सूर सचिव सेनप बहुतेरे का निवास राजगृह के निकट ही है। राजा के चलते ही सब साथ हो गये। ऐसे समय में जब कि देश देश के राजा नगर के बाहर उतरे हुए हैं महाराज का अरक्षित होकर नगर के बाहर जाना ठीक नहीं। नहीं तो जनकजी तो दशरथजी की भाँति भूसुर वर गुरु ज्ञाति के साथ मिलने चले थे। दूसरा भाव यह है कि विश्वामित्रजी राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए थे। अतः क्षात्र तेज भी उनमें है। अतः क्षत्रिय ब्राह्मण दोनों को साथ लेकर अगवानी की। राजकुमार भी साथ हैं। इसलिए दोनों प्रकार से अगवानी हुई। तीसरी बात यह कि दशरथजी को सभा से राजद्वार तक ही जाना था और जनकजी को नगर के बाहर तक जाना था।

कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्ह असीस मुदित मुनि नाथा ॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥१॥

अर्थ : चरण पर माथा रखकर प्रणाम किया। मुनीश्वर ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। आदर के साथ ब्राह्मणों के समूह की वन्दना की और अपना बड़ा भाग्य मानकर राजा आनन्दित हुए।

व्याख्या : महाराज ने चरण पर मस्तक रखकर प्रणाम किया और आशीर्वाद पाया। महाराज दशरथ ने दण्डवत् प्रणाम किया। फिर भी आशीर्वाद नहीं मिला। बात यह थी कि चक्रवर्तीजी से उन्हें राम लक्ष्मण को लेना था। अतः आशीर्वाद देकर उन्हें निर्भय नहीं किया। जनकजी को ही कृतार्थ करने के लिए राम लक्ष्मण को लाये थे। अतः इन्हें आशीर्वाद दिया। पूर्णाः सन्तु मनोरथाः। ब्राह्मणसमूह

मुनीश्वरजी के साथ था। उनकी भी आदर के साथ राजा ने वन्दना की। ब्राह्मणों की भीड़ से लोग अपना भाग्य मानते थे। यथा : भूसुरभीर देखि सब रानी। सादर उठी भाग्य बड़ जानी। अतः ब्राह्मण समूह के आगमन से राजा ने अपना भाग्य माना और आनन्दित हुए।

कुसल प्रश्न करि बारहिं बारा। विश्वामित्र नृपहि बैठारा ॥
तेहि अवसर आये दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई ॥२॥

अर्थ : बार बार कुशल पूछकर विश्वामित्रजी ने राजा को बिठाया। उसी समय दोनों भाई आये। फुलवारी देखने गये थे।

व्याख्या : विश्वामित्रजी के व्यवहार का अन्तर जो कि दशरथजी और जनकजी के साथ उन्होंने किया, देखिये। महाराज दशरथ से न कुशल पूछी न बैठने के लिए कहा। संसार दाता के साथ विनम्र व्यवहार करता है, परन्तु विश्वामित्रजी सदा दाता के साथ कठोरतम व्यवहार करके उसकी श्रद्धा की परीक्षा लेते थे। उनका महाराज हरिश्चन्द्र के साथ का व्यवहार प्रसिद्ध है। महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण को लेना है। अतः उनके साथ व्यवहार करने में कठोरता से काम लेते हैं। प्रेम में घाटा नहीं है। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। इसलिए एकबार के कुशलप्रश्न से सन्तोष नहीं है। इस समय जनकपुर द्वीप द्वीप के नरपतियों से घिरा है। संकट का सामना है। अतः केवल शिष्टाचार पालन के लिए ही कुशल प्रश्न नहीं है। मुनिजी अपनी सेना साथ लेकर आये हैं। यथा : हरखि चले मुनिवृंद सहाया। आवश्यकता हो तो सहायता करें। अतः बार बार कुशल पूछते हैं कि कुछ भी संकट हो तो बतलाओ। राजा सेवा में खड़ा रहना चाहता है। बैठना नहीं चाहता। पर मुनिजी ने बाँह पकड़ कर बिठा लिया। दूसरी बात यह है कि विदेहराज का विशेष आदर मुनियों के गुरु होने से है। यथा : जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। वचन किरिन मुनिकमल विकासा।

प्रभु तो उतरते ही अपने काम में लग गये थे। पूजा के लिए फूल लाने की सेवा इन्हें मिली थी। मुनीश्वरजी जो काम जिससे लेते हैं वह उसके कल्याण के लिए लेते हैं। ये दोनों भाई फुलवाई देखने गये थे कि किस फुलवाई से पूजनोपयोगी पुष्पपत्रादि सुन्दर मिल सकेंगे। इधर जनकजी बैठते हैं और उधर से दोनों भाई फुलवाई देखकर लौट आते हैं।

स्याम गौर मृदु वयस किसोरा। लोचन सुखद विस्व चित चोरा ॥
उठे सकल जब रघुपति आए। विश्वामित्र निकट बैठाए ॥३॥

अर्थ : श्याम गौर सुकुमार किशोरावस्था नेत्रों को सुख देनेवाले और विश्व के चित्त के चुरानेवाले थे। रघुपति जब आये तो सब उठकर खड़े हो गये। विश्वामित्रजी ने निकट बिठला लिया।

व्याख्या : आते हुए की छवि कहते हैं। आगे आगे श्याम पीछे पीछे गौर। प्रौढावस्था के पूर्व की अवस्था है इसीलिए मृदु वयस किसोरा कहा। यही अवस्था

व्याख्या : रघुनाथजी की बड़ी कृपा मुनियों पर है। जैसा वे चाहते हैं, उसी को आप भी पसन्द करते हैं। उसी आम की बारी में डेरा पड़ा। प्रभु को मुनिवृंद के बीच में रहना प्रिय है। चक्रवर्तीजी का भी ऐसा ही स्वभाव है। बरात में समधी बनकर चले तो वहाँ भी साधु समाज संग महिदेवा हैं।

मिथिलेश की व्यवस्था की प्रशंसा है कि इधर विश्वामित्रजी आये और उधर महाराज को समाचार मिल गया। मुनि के आने से ही राजा लोग अस्थिर हो उठते थे। किं पुनः विश्वामित्रजी तो महामुनि थे। उनके नाम का यथार्थ अर्थ है विश्व के मित्र और हैं भी वे विश्व के मित्र। उनके वाहरी व्यवहार में कठोरता रहती है। परन्तु उनका लक्ष्य जगत् का उपकार होता है।

दो. संग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर वर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि, मुदित राउ एहि भाँति ॥२१४॥

अर्थ : सङ्ग में पवित्र मन्त्री, बहुत से योद्धा, श्रेष्ठ ब्राह्मण, गुरु और जाति वाले हैं। मुनीश्वर से मिलने महाराज प्रसन्न होकर इस भाँति चले।

व्याख्या : सङ्ग में सचिव भी हैं, योद्धा भी हैं, पर वे शुचि हैं। शुचि उसे कहते हैं जो स्वप्न में भी अपने धर्म से विचलित न हो। यथा : अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले। सूर सचिव सेनप बहुतेरे का निवास राजगृह के निकट ही है। राजा के चलते ही सब साथ हो गये। ऐसे समय में जब कि देश देश के राजा नगर के बाहर उतरे हुए हैं महाराज का अरक्षित होकर नगर के वाहर जाना ठीक नहीं। नहीं तो जनकजी तो दशरथजी की भाँति भूसुर वर गुरु ज्ञाति के साथ मिलने चले थे। दूसरा भाव यह है कि विश्वामित्रजी राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए थे। अतः क्षात्र तेज भी उनमें है। अतः क्षत्रिय ब्राह्मण दोनों को साथ लेकर अगवानी की। राजकुमार भी साथ हैं। इसलिए दोनों प्रकार से अगवानी हुई। तीसरी बात यह कि दशरथजी को सभा से राजद्वार तक ही जाना था और जनकजी को नगर के बाहर तक जाना था।

कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्ह असीस मुदित मुनि नाथा॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥१॥

अर्थ : चरण पर माथा रखकर प्रणाम किया। मुनीश्वर ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। आदर के साथ ब्राह्मणों के समूह की वन्दना की और अपना बड़ा भाग्य मानकर राजा आनन्दित हुए।

व्याख्या : महाराज ने चरण पर मस्तक रखकर प्रणाम किया और आशीर्वाद पाया। महाराज दशरथ ने दण्डवत् प्रणाम किया। फिर भी आशीर्वाद नहीं मिला। वात यह थी कि चक्रवर्तीजी से उन्हें राम लक्ष्मण को लेना था। अतः आशीर्वाद देकर उन्हें निर्भय नहीं किया। जनकजी को ही कृतार्थ करने के लिए राम लक्ष्मण को लाये थे। अतः इन्हें आशीर्वाद दिया। पूर्णाः सन्तु मनोरथाः। ब्राह्मणसमूह

मुनीश्वरजी के साथ था। उनकी भी आदर के साथ राजा ने वन्दना की। ब्राह्मणों की भीड़ से लोग अपना भाग्य मानते थे। यथा : भूसुरभीर देखि सब रानी। सादर उठी भाग्य बड़ जानी। अतः ब्राह्मण समूह के आगमन से राजा ने अपना भाग्य माना और आनन्दित हुए।

कुसल प्रश्न करि बारहिं बारा। विश्वामित्र नृपहि बैठारा ॥
तेहि अवसर आये दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई ॥२॥

अर्थ : बार बार कुशल पूछकर विश्वामित्रजी ने राजा को बिठाया। उसी समय दोनों भाई आये। फुलवारी देखने गये थे।

व्याख्या : विश्वामित्रजी के व्यवहार का अन्तर जो कि दशरथजी और जनकजी के साथ उन्होंने किया, देखिये। महाराज दशरथ से न कुशल पूछी न बैठने के लिए कहा। संसार दाता के साथ विनम्र व्यवहार करता है, परन्तु विश्वामित्रजी सदा दाता के साथ कठोरतम व्यवहार करके उसकी श्रद्धा की परीक्षा लेते थे। उनका महाराज हरिश्चन्द्र के साथ का व्यवहार प्रसिद्ध है। महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण को लेना है। अतः उनके साथ व्यवहार करने में कठोरता से काम लेते हैं। प्रेम में घाटा नहीं है। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। इसलिए एकबार के कुशलप्रश्न से सन्तोष नहीं है। इस समय जनकपुर द्वीप द्वीप के नरपतियों से घिरा है। संकट का सामना है। अतः केवल शिष्टाचार पालन के लिए ही कुशल प्रश्न नहीं है। मुनिजी अपनी सेना साथ लेकर आये हैं। यथा : हरखि चले मुनिवृंद सहाया। आवश्यकता हो तो सहायता करें। अतः बार बार कुशल पूछते हैं कि कुछ भी संकट हो तो बतलाओ। राजा सेवा में खड़ा रहना चाहता है। बैठना नहीं चाहता। पर मुनिजी ने बाँह पकड़ कर बिठा लिया। दूसरी बात यह है कि विदेहराज का विशेष आदर मुनियों के गुरु होने से है। यथा : जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। वचन किरिन मुनिकमल विकासा।

प्रभु तो उतरते ही अपने काम में लग गये थे। पूजा के लिए फूल लाने की सेवा इन्हें मिली थी। मुनीश्वरजी जो काम जिससे लेते हैं वह उसके कल्याण के लिए लेते हैं। ये दोनों भाई फुलवाई देखने गये थे कि किस फुलवाई से पूजनोपयोगी पुष्पपत्रादि सुन्दर मिल सकेंगे। इधर जनकजी बैठते हैं और उधर से दोनों भाई फुलवाई देखकर लौट आते हैं।

स्याम गौर मृदु वयस किसोरा। लोचन सुखद विस्व चित चोरा ॥
उठे सकल जब रघुपति आए। विश्वामित्र निकट बैठाए ॥३॥

अर्थ : श्याम गौर सुकुमार किशोरावस्था नेत्रों को सुख देनेवाले और विश्व के चित्त के चुरानेवाले थे। रघुपति जब आये तो सब उठकर खड़े हो गये। विश्वामित्रजी ने निकट बिठला लिया।

व्याख्या : आते हुए की छवि कहते हैं। आगे आगे श्याम पीछे पीछे गौर। प्रौढावस्था के पूर्व की अवस्था है इसीलिए मृदु वयस किसोरा कहा। यही अवस्था

अति सौन्दर्य की है। या यों कहिये कि मृदु वयस की सीमा किशोरावस्था है। वर्ण और वय कहकर रूप कहते हैं। लोचन को ऐसे सुखद जैसे भूखे को सुन्दर पदार्थ सुखद होता है। यथा : पियत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा। विश्वामित्र का और विश्वचितचोर का साथ है। ऐसा चित्त चुराते हैं कि जिसका चित्त चोरी गया उसे स्वयं पता नहीं कि कब चोरी गया। भाव यह कि प्रभु के देखते ही सबकी आँखें उनमें बँध गई और मन उधर ही खिंच गया। सबके प्राणों की ऊर्ध्व गति हो गई। अतः सबके सब उनके आने से उठकर खड़े हो गये। सुन्दरता का कथन करके ग्रन्थकार वर्णन करते हैं और तेजका उत्कर्ष लोगों के खड़े हो जाने से द्योतित करते हैं। प्रभु प्रश्रय : अदब से दूर बैठना चाहते हैं पर विश्वामित्रजी ने प्यार से पास बिठा लिया।

भये सब सुखी देखी दोउ भ्राता। वारि विलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भएउ विदेहु विदेहु विसेखी॥४॥

अर्थ : दोनों भाइयों को देखकर सब सुखी हुए। नेत्रों में जल और शरीर में पुलक हुआ। मनोहर मधुर मूर्ति देखकर राजा विदेह तो विशेष रूप से विदेह हो गये।

व्याख्या : लोचन सुखद का साफल्य दिखाते हैं भए सब सुखी कहकर और विश्व चित चोरा का साफल्य दिखाते हैं सबकी आँखों में आँसू और रोंगटे खड़े होने का वर्णन करके। मृदु किशोर वयस हैं। सोलह वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं। अतः मधुर मूर्ति कहते हैं। यथा : मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः। विश्व चितचोर हैं। अतः मनोहर कहते हैं। राजा विदेह देहाध्यास रहित थे। तथापि निर्लेप रहकर लौकिक कार्य बड़ी सुन्दरता से करते थे। इस मधुर मनोहर मूर्ति के दर्शन से उस योग्य भी नहीं रह गये। इसलिए विदेह विसेखी कहा।

दो. प्रेम मगन मनु जानि नृपु, करि विवेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु, गदगद गिरा गभीर॥२१५॥

अर्थ : राजा ने मन को प्रेम में मग्न जाना। तो विवेक से धैर्य धारण किया। और मुनि के चरणों में सिर झुकाकर गद्गद और गम्भीर वाणी बोले।

व्याख्या : सदा साक्षी रूप होकर व्यवहार देखने का स्वभाव है। अतः बड़ा सावधान राजा है। चोरी जान गया। अतः उसके लिए ग्रन्थकार रामजी को विश्व चित चोर न कहकर मनोहर कहते हैं। सब लोग वारिविलोचन पुलकितगात हैं। प्रेम में मग्न हैं। अपनी दशा नहीं जानते। पर राजा सावधान हो गया। विवेक से धैर्य धारण किया। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेपु वर्त्तन्त इति धारयन्। यह धारणा की कि इन्द्रियाँ अपने अर्थों में वर्त्त रही हैं। अभी प्रेम का रङ्ग हटा नहीं। गला भरा हुआ है। अतः गद्गद वाणी बोले फिर भी वाणी गम्भीर थी। बड़ों के सामने प्रणामपूर्वक बोलना चाहिए। अतः मुनि के चरणों में सिर नवाकर बोले।

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ॥
ब्रह्मु जो निगम नेति कहि गावा । उभय वेष धरि की सोइ आवा ॥१॥

अर्थ : हे नाथ ! बतलाइये । ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुलतिलक हैं कि नृपकुलपालक हैं । जिस ब्रह्म को वेदों ने नेति करके गान किया है क्या वही दो वेष धारणा करके आये हैं ।

व्याख्या : जनकजी विश्वामित्रजी से पूछते हैं : ये दोनों बालक कौन हैं ? साक्षात् अश्विनीकुमार तो नहीं हैं ? कामदेव और वसन्त तो नहीं हैं ? या वेष बदले हरिहर तो नहीं हैं ? मुनिजी को चुप देखकर पूछते हैं कि ये मुनिकुलतिलक हैं कि नृपकुलपालक हैं । मुनि समाज में हैं । अतः ब्राह्मणकुमार का होना ही स्वभावसिद्ध है । परन्तु धनुर्धारी हैं । इससे नृपकुलपालक होने का सन्देह होता है । यदि ब्राह्मण हैं तो ब्रह्मकुल के तिलक हैं । यदि क्षत्रिय हैं तो नृपकुलपालक हैं । अथवा ब्राह्म तथा क्षात्र तेज से युक्त देखकर यह सन्देह हुआ कि सम्भव है विश्वामित्रजी के ही पुत्र हों । यथा : किधौं आपने सुकृत सुरतरु के सुफल रावरेहि पाये । गी. ।

फिर भी विश्वामित्रजी चुप हैं । अतः पूछते हैं कि जिस ब्रह्म को जाति गुण क्रिया से व्यावर्तन के लिए श्रुति नेति कहकर गान करती है अर्थात् निर्गुण ब्रह्म वही रूप धारण करके तो नहीं आया है ?

सहज विराग रूप मन मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
तातें प्रभु पूछौं सति भाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥२॥

अर्थ : मेरा मन स्वभाव से ही वैराग्य रूप है । सो चन्द्रमा को देखकर जैसे चकोर स्थगित हो जाता है उसी भाँति इन्हें देखकर स्थगित होता है । इसलिए मैं सच्चे भाव से पूछता हूँ । आप बतलायें छिपाव न करें ।

व्याख्या : प्रश्न का कारण कहते हैं । कहिअ तात सो परम विरागी । तृन सम सिद्धि तीन गुण त्यागी । सो तीनों गुणों का त्याग मेरे मनके लिए स्वाभाविक है । मेरा मन निस्त्रैगुण्य पथ में विचरण करनेवाला है । वह गुणों में लुब्ध होने वाला नहीं । सो चन्द्र चकोर की भाँति स्थगित होता है । अतः अवश्य निर्गुण ब्रह्म हैं । मैं सत्य भाव से पूछता हूँ । इस भाँति पूछकर मैं इनकी स्तुति नहीं कर रहा हूँ । ये तो दुराव किये हैं । नरवेष धारण किये हैं । पर आप दुराव न करिये । गूढौ तत्त्व न साधु दुरावहिं । आरत अधिकारी जहँ पावहिं । मेरा प्रश्न संशयनिरशन के लिए है ।

इन्हहि विलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥
कह मुनि विहस कहेहु नृप नीका । वचन तुम्हार न होइ अलीका ॥३॥

अर्थ : इन्हें देखते हुए अति अनुरक्त होकर मन ने ब्रह्म सुख को आपसे आप छोड़ दिया । मुनिजी ने हँसकर कहा कि राजा ! तुमने अच्छा कहा । तुम्हारी बात अप्रमाण नहीं हो सकती ।

व्याख्या : विदेह राजा के मन में सदा ब्रह्मानन्द बना रहता था। सो राम लक्ष्मण को देखकर वह आपसे आप ब्रह्मानन्द को त्याग करके रूपदर्शन का आनन्द लेने लगा। मन ही देखनेवाला है। इन्द्रिय नहीं देखतीं। सो उसने जब इन दोनों भाइयों को देखा तो ब्रह्मानन्द सीठा मालूम होने लगा। वह आपसे आप ब्रह्मानन्द का परित्याग करके दर्शनानन्द में मग्न हो गया। यथा : ब्रह्मानन्द हृदय दरस सुख लोयननि अनुभए उभय सरस राम जाने हैं। तुलसी विदेह की सनेह की दसा सुमिरि मेरे मनमाने राउ निपट सयाने हैं। गी.। यही बात राजा जनक कह रहे हैं। सुनकर मुनिजी हँस पड़े कि इनकी चोरी तो पकड़ गई। जौहरी ने तो पहिचान लिया। पर ये सबको जनाना नहीं चाहते। अत: ऐसे शब्दों में उत्तर देते हैं जिसमें राजा ही समझें। पर सत्यभाव से उत्तर देते हैं कि तुम्हारी वाणी जिसके प्रकाश से मुनियों का हृत्कमल खिल उठता है अप्रमाण कैसे हो सकती है ?

ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी ॥
रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए ॥४॥

अर्थ : ये प्राणिमात्र को प्रिय हैं। वाणी सुनकर रामजी मनही मन मुसकरा रहे हैं। रघुकुल के मणि दशरथजी के पुत्र हैं। मेरे हित के लिए राजा ने इन्हें भेजा है।

व्याख्या : मुनिजी श्रुतिवाक्य से इङ्गित करते हैं। स उ प्राणस्य प्राण:। ब्रह्म प्राण का भी प्राण है। अत: जितने प्राणी हैं ये सबको प्रिय हैं। वचन तुम्हार न होइ अलीका कहकर जो बात कही थी उसीकी पुष्टि कर रहे हैं। रामजी पहचाने गये। इसलिए मुसकरा रहे हैं। परन्तु सब कोई न जाने इसलिए मनमें मुसकरा रहे हैं।

संशयनिरशन के लिए मुनिजी ने दूसरे प्रश्न : ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा का उत्तर पहिले दिया। अब पहिले प्रश्न का : मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक का उत्तर देते हैं कि रघुकुल में मणिरूप जो राजा दशरथ हैं उनके लड़के हैं। महाराज दशरथ की संग्रामशूरता की बड़ी ख्याति है। यथा : जीति को सक संग्राम दसरथ के रण बाँकुरे। अत: नृपकुलपालक हैं। ऐसा कहने पर जो सन्देह उठना चाहिए उसका निराकरण मुनिजी स्वयं करते हैं। मेरे हित के लिए महाराज ने भेजा है। ऐसे धर्मात्मा हैं। इसीलिए सेना-सेवक आदि साथ नहीं हैं। राजा ने इन्हें धनुषयज्ञ के लिए नहीं भेजा है।

दो. राम लखनु दोउ बंधुवर, रूप सील गुन धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु, जिते असुर संग्राम ॥२१६॥

अर्थ : राम लक्ष्मण ये दोनों भाई रूप शील और गुण के धाम हैं। इन्होंने असुरों को संग्राम में जीतकर यज्ञ की रक्षा की है। इसका संसार साक्षी है।

व्याख्या : राम को बड़ा भाई और लक्ष्मण को छोटा नाम लेने के क्रम से सूचित किया। बन्धुवर कहकर परस्पर प्रीति कही। ये रूप के ही धाम नहीं शील और बल

के भी धाम हैं। रूप तो प्रत्यक्ष ही है और मख राखेउ सब साखि जग से शीलधाम और जिते असुर संग्राम से बलधाम होना व्यक्त किया। विश्वामित्रजी राम लक्ष्मण को विवाह के लिए लाये हैं। अतः इस वर्णन से सब प्रकार की योग्यता दिखला रहे हैं। कन्या रूप का वरण करती है, माता वित्त चाहती है, पिता विद्या देखते हैं, बान्धव लोग अच्छा कुल पसन्द करते हैं और शेष लोग मिष्टान्न चाहते हैं। यथा : कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः। कन्या रूप का वरण करती है इसलिए रूपधाम कहा। माता वित्त चाहती है इसलिए मम हित लागि नरेस पठाये कहकर राजा का बेटा कहते हैं। पिता विद्या चाहता है इसलिए जिते असुर संग्राम कहकर धनुर्वेद की पारदर्शिता कहते हैं। बान्धव लोग कुल चाहते हैं इसलिए रघुकुल मनि कहा और शेष लोग मिष्टान्न चाहते हैं इसलिए दसरथ के जाये कहते हैं। यथा : राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार।

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आँनदहू के आनद दाता॥१॥

अर्थ : राजा ने कहा कि हे मुनिजी ! आपका चरण देखकर मैं अपने पुण्य का प्रभाव नहीं कह सकता सुन्दर श्याम और गौर दोनों भाई आनन्द के भी आनन्द देने वाले हैं।

व्याख्या : पुन्य पुंज विनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता। पुण्य ही सब कल्याण का मूल है। अधिक पुण्य होने से ही सन्त की प्राप्ति होती है और सन्त की प्राप्ति होने से भगवत्प्राप्ति होती है। संसार का अन्त हो जाता है। अतः रामजी की प्राप्ति से विदेहराज कहते हैं कि इसका मूल आपके चरणों का दर्शन है। न जाने कितना वड़ा पुण्य मेरा था जिससे आपके दर्शन हुए। मुनिजी ने कहा था ए प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। उसी के उत्तर में महाराज अपने भाग्य की प्रशंसा करते हैं। राम लखन दोउ वंधुवर का उत्तर देते हुए कहते हैं कि भाइयों की श्याम और गौर जोड़ी बड़ी सुन्दर है। मुनिजी ने कहा था कि : ए प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानीं। जनकजी उसी वात का अनुवाद करके लक्षित कराते हैं कि वात उन्होंने समझ ली। जनकजी कहते हैं आँनदहू के आनद दाता हैं। आनन्द को भी आनन्द देनेवाला तो सिवा ब्रह्म के और कुछ हो नहीं सकता। क्योंकि उसी आनन्दसिन्धु के सीकर से ही सव आनन्दित होता है। यथा : सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी अथवा लौकिक आनन्द जिस आनन्द की झलक है वह बिम्बरूप आनन्द ये दोनों भाई हैं।

इन्हकै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाय मन भाव सुहावनि॥
सुनहु नाथ कह मुदित विदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥२॥

अर्थ : इनकी आपस की सुहावनी प्रीति ऐसी पवित्र और मनभावनी है कि कही नहीं जा सकती। विदेहराज ने प्रसन्न होकर कहा कि हे नाथ ! सुनिये। इनका स्नेह ब्रह्मजीव की भाँति स्वाभाविक है।

व्याख्या : विदेहराज बड़े लखनेवाले हैं। दोनों भाइयों के आने और बैठने के ढङ्ग से उनकी आन्तरिक प्रीति की पहिचान कर रहे हैं कि इनकी प्रीति परस्पर में पवित्र है। अर्थात् स्वार्थ के लेश का स्पर्श नहीं है और सुहावनी देखनेवाले को अच्छी लगती है। अतः मनभावनी है। इसका उत्कर्ष अकथनीय है। ग्रन्थकार गीतावली में कहते हैं : उपमा राम लखन के प्रीति की क्यों दीजै खीरै नीरै। महाराज विदेह को उपमा मिल गई। अतः विश्वामित्रजी से मुदित होकर कहते हैं कि इनकी प्रीति ब्रह्म-जीव की प्रीति की भाँति है। ब्रह्म जीव का किसी भी अवस्था में परित्याग नहीं करता और न जीव का अवस्थान बिना ब्रह्म में क्षणभर भी सम्भव है। स्वार्थ का लेश नहीं इसलिए पवित्र भी है और सुहावनी भी है।

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहूँ। पुलक गात उर अधिक उछाहूँ ॥
मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लवाइ नगर अवनीसू ॥३॥

अर्थ : बार बार प्रभु को राजा देखते हैं। उनके शरीर में पुलक और मनमें अधिक उत्साह है। मुनिजी की प्रशंसा करके और चरण पर सिर नवा करके राजा उन्हें अपने नगर में लिवा चले।

व्याख्या : दर्शन से अघाते नहीं इसीलिए पुनि पुनि चितव कहा। दर्शन को शङ्कर का प्रसाद मानते हैं जैसा कि आगे कहेंगे। नयन विषय मो कहँ भयेउ सो समस्त सुख मूल। सबइ सुलभ जगजीव कहँ भए ईस अनुकूल। राजा के हृदय में बड़ा उछाह है इसलिए सात्त्विक भाव हो रहा है। फिर मुनिजी की राजा ने स्तुति की और चरणों में सिर नवाकर नगर में लिवा चले। यथा : नाइ सीस पगनि असीस पाइ प्रमुदित पाँवड़े अरघदेत आदर सो आने हैं। गीतावली।

सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ वासु लै दीन्ह भुआला ॥
करि पूजा सब विधि सेवकाई। गयउ राउ गृह बिदा कराई ॥४॥

अर्थ : सुंदर घर सब काल में सुख देनेवाला था। वहीं राजा ने निवासस्थान दिया। पूजा तथा सब विधि से सेवकाई करके राजा विदा माँगकर घर गये।

व्याख्या : सब सुपास सब भाँति सोहाई अमराई में डेरा किया था। इसलिए महाराज ने सुन्दर घर जो सब काल में सुखद हो वहाँ ले जाकर ठहराया। असन बसन वास कै सुपास सब विधि पूजि प्रिय पाहुने सुभाय सनमाने हैं। गी.। इस भाँति पूजा की और पाद संवाहनादि द्वारा सब विधि सेवकाई की। ऋषिजी भी राजा को छोड़ना नहीं चाहते थे अतः विदा कराई लिखते हैं।

दो. रिषय संग रघुवंस मनि, करि भोजन विश्राम।
बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवसु रहा भरि जाम ॥२१७॥

अर्थ : ऋषियों के सहित रघुवंशमणि ने भोजन किया और उनके साथ ही विश्राम किया। तत्पश्चात् भाई के साथ बैठे। पहर दिन शेष रह गया।

व्याख्या : यहाँ ऋषय शब्द ऋषि का बहुवचन है। ओत्वं लुक्‌च विसर्गस्य इस सूत्र से विसर्गका लोप हुआ। ऋषि के संग चले थे। यथा : हरखि चले मुनि वृंद सहाया। ऋषि के संग स्नान किया। यथा : तव प्रभु ऋषिन्ह समेत नहाए। ऋषियों के संग ही उतरे। यथा : उतरे तहँ मुनिवृंद समेता। अतः भोजन विश्राम भी उन्हीं के साथ हुआ। मार्ग चलकर आये हैं अतः विश्राम करना लिखते हैं। इस भाँति दिन के तीन पहर वीत गये। चौथे पहर में भाई के साथ अवकाश मिलने पर वैठे।

लखन हृदय लालसा विसेखी। जाइ जनकपुर आइअ देखी ॥
प्रभु भयं वहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥१॥

अर्थ : लक्ष्मण के हृदय में विशेष लालसा थी कि चलकर जनकपुर देख आना चाहिए। प्रभु का भय था मुनिजी का संकोच करते थे। इससे प्रकट कुछ नहीं करते थे। मन ही मन मुसकरा रहे थे।

व्याख्या : श्रीराम और लक्ष्मणजी जनकजी के साथ जब रथपर जा रहे थे पुर की शोभा देखते जाते थे। उसी समय पुररम्यता देखकर भाई सहित हरखे थे। अब पैदल घूमकर देखना चाहते हैं। लालसा तो रामजी को भी है पर लक्ष्मण को विशेष है। ये उत्सुक हैं। प्रभु का भय है। मालिक से अधिक उत्सुकता सेवक को नहीं होनी चाहिए। सवते सेवक धर्म कठोरा। मुनिजी का सङ्कोच भी है, समझेंगे कि लड़का बड़ा बहिर्मुख है। प्रकट न कहहिं। भाव यह कि मन से तो चाहते ही हैं परन्तु कहने में सङ्कोच और भय वाधक है। परन्तु वार वार मनोविकास हो रहा है। मनोविकास ही वस्तुतः हास है। दन्तविकास हास नहीं है। अतः मनहिं मुसुकाहीं लिखा।

राम अनुज मन की गति जानी। भगत वछलता हिय हुलसानी ॥
परम विनीत[1] सकुचि मुसुकाई। वोले गुर अनुसासन पाई ॥२॥

अर्थ : रामजी ने छोटे भाई की मन की गति जान ली। भक्तवत्सलता हृदय में उल्लसित हुई। परम विनय के साथ सकुचाते हुए मुसकराकर गुरुजी की आज्ञा पाकर वोले।

व्याख्या : परम विनीत हैं हठात् कोई वात नहीं कहते। कहने में भी सङ्कोच है। यथा : कौसल्या वचन सखी के प्रति : कौसिक परम कृपालु परमहित समरथ सुखद सुचाली। वालक सुठि सुकुमार सकोची समुझि सोच मोहि आली। गीतावली। स्मित पूर्वाभिभाषी हैं। मुसुकराहट का अर्थ ही यही है कि कुछ कहना चाहते हैं। यहाँ भावसन्धि है : विनय सङ्कोच और वात्सल्य की। गुरुजी ने जान लिया कि कुछ कहना चाहते हैं, सङ्कोच से नहीं कहते। अतः आज्ञा दी क्या कहना चाहते हो कहो।

---

[1] यहाँ समुच्चय अलङ्कार है।

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं ॥
जौ राउर आयसु मैं पाउँ। नगरु देखाइ तुरत लै आउँ ॥३॥

अर्थ : नाथ ! लक्ष्मण जनकपुर देखना चाहते हैं परन्तु प्रभु के सङ्कोच और डर से प्रकट नहीं कहते। यदि मैं आपकी आज्ञा पाउँ तो नगर दिखलाकर शीघ्र ही ले आउँ।

व्याख्या : लक्ष्मण के मनमें अधिक लालसा होने से उन्हीं का नाम लेते हैं। परन्तु प्रभु का सङ्कोच आर डर है। अपने डर का भी आरोप मुनिजी पर ही कर रहे हैं। अपनी प्रभुता का प्रकाश ऐसे समय अनुचित है। इसलिए कहते नहीं हैं। जो मैं आयसु पावौं से अपनी भो लालसा कह दी। दूसरे को आज्ञा हो तो वह चाहे देर करे पर मैं अनुचित विलम्ब न करूँगा। देखाइ लै आवों का भाव यह कि उतनी देर तक की जिम्मेदारी हमारी। यहाँ पर ठीक पिता पुत्र का सा बरताव हो रहा है। क्योंकि सौंपने के समय महाराज दशरथ ने कहा है : तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ। अतः रामजी वैसा ही बरताव कर रहे हैं।

सुनि मुनीस कह वचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीति ॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम विवस सेवक सुखदाता ॥४॥

अर्थ : सुनकर मुनिराज ने प्रेमपूर्वक कहा कि रामजी ! तुम क्यों न नीति की रक्षा करो। तुम धर्म के पुल के रक्षक हो। प्रेम के विशेष वश होकर सेवकों को सुख देते हो।

व्याख्या : विनय और सङ्कोच देखकर प्रीतियुक्त वाणी मुनिजी बोले कि तुम नीति की रक्षा न करोगे तो कौन करेगा ? धर्मार्थ काम में सामञ्जस्य स्थापन करने वाली प्रणाली ही नीति है। रामजी में वहुत वड़ा नीति का पक्षपात है। आगे चलकर स्वयं प्रजा से कहेंगे। जौं अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहि वरजेहु भय विसराई। तुम धर्मसेतु के रक्षक हो अर्थात् जगदीश हो। यथा : श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी। प्रेम विवस सेवक सुखदाता से अवतार का प्रयोजन कहा। तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहि आन निहोरे। भावार्थ यह कि यह आज्ञा माँगना मुझे मान देना है।

दो. जाइ देखि आवहु नगरु, सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन, सुंदर वदन देखाइ ॥२१८॥

अर्थ : सुख निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और सुन्दर वदन दिखलाकर सबकी आँखों को सुफल करो।

व्याख्या : तुम दोनों भाई सुख के निधान हो। सुख वितरण करना चाहते हो। नगर देखना दिखाना तो व्याजमात्र है। जनकपुरवासियों का पुण्योदय हुआ है। उनकी आँखें सुफल हुआ चाहती हैं। क्योंकि विषयदर्शन तो सब शरीरों की आँखों से.

होता है। मनुष्य शरीर पाकर भी यदि विषयदर्शन मात्र करते रहें तो मानुषी आँखों का साफल्य क्या हुआ। इनका साफल्य तो भगवान् या भागवत दर्शन है। इनपर तुम्हारी इतनी कृपा है कि स्वयं उनके नेत्रवान् होने का फल देने के लिए जाना चाहते हो अतः जाओ।

मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुख दाता ॥
बालक वृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ॥१॥

अर्थ : मुनिजी के चरणकमलों को वन्दना करके संसार के नेत्रों को सुख देने वाले दोनों भाई चले। बालक लोग अत्यन्त शोभा देखकर साथ लग गये। उनके नेत्र और मन लुब्ध हो गये।

व्याख्या : आज्ञा मिलने पर चलने के पहिले वन्दना की। दोनों भाइयों की शोभा ऐसी थी कि देखनेवाले के नेत्रों को सुख मिलता था। पहिले ही बालक मिले। सर्वत्र ही खेलते हुए पाये जाते हैं। बालकों का स्वभाव है कि तमाशा देखने के लिए साथ हो जाते हैं। उनका मन लगना चाहिए और फिर तो वे साथ छोड़ते नहीं। लोचन मन लोभा कहने का भाव कि ऐसा मन लगा कि आँखें हटाये नहीं हटतीं।

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥२॥

अर्थ : कमर में पीताम्बर के साथ तरकस बँधा हुआ था और हाथों में सुन्दर धनुष और बाण शोभायमान था। शरीर के अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर लगाये साँवले और गोरे की जोड़ी थी।

व्याख्या : जब शोभा देखकर लड़कों के लोचन मन लोभाने की बात कही तो शोभा वर्णन प्राप्त हो गया। बालकों से घिरे हुए हैं, चरण नहीं दिखाई पड़ रहा है। इसलिए चरण का वर्णन नहीं किया। पीताम्बर का वर्णन करते हैं। कमर में तरकस शोभित हो रहा है। हाथ में धनुष बाण की शोभा है। यहाँ शोभा का भी वर्णन वैसा ही है जैसा कि बालक ग्रहण कर सकते हैं। रामजी साँवले हैं तो उनके शरीर में केसरचन्दन की खौर लगी है और लक्ष्मणजी गोरे हैं तो उनके शरीर में अगर चन्दन की खौर है। प्राचीनकाल में खौर लगाने की चाल थी। हम लोगों ने भी बचपन में खौर लगाया है। अब देखते देखते चाल उठ गई। शरीर में चन्दन लगाकर उसपर एक प्रकार का छापा फेरते थे जिससे शरीर में चन्दन की महीन महीन रेखाएँ बन जाती थीं। चन्दन लगाने का सुख भी मिलता था और शोभा भी बढ़ती थी। केसर मिलाने से चन्दन का रंग पीला और अगर मिलाने से उसका रंग श्याम हो जाता है। इसलिए श्यामशरीर से केसरयुक्त चन्दन का और गौर शरीर में अगरयुक्त चन्दन का खौर खिलता है। यहाँ तनु अनुहरत से यही अभिप्राय है।

केहरि कंधर बाहु विसाला । उर अति रुचिर नागमनि माला ॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन । वदन[1] मयंक तापत्रय मोचन ॥३॥

अर्थ : सिंह का सा कन्धा था । भुजाएँ विशाल थी । वक्षःस्थलपर अत्यन्त सुन्दर गजमुक्ता की मालाएँ शोभायमान थीं । सुन्दर लालकमल से नेत्र थे । मुख तो चन्द्रमा सा तीनों तापों को मिटानेवाला था ।

व्याख्या : वीरों के ऊँचे कन्धे, चौड़ी छाती और लम्बी भुजाएँ होती हैं । इसलिए कन्धे की उपमा वृषभ या सिंह के कन्धे से देते हैं । यहाँ सिंह का सा कन्धा कहते हैं क्योंकि पहिले पुरुषसिंह कह आये हैं । यथा : पुरुष सिंह दोउ वीर । आजानुबाहु कहते हैं । भुजाएँ जानु का स्पर्श करती हैं । चौड़ी छाती पर ही गजमुक्ता की माला की शोभा है । लालकमल जैसी मनोरम आँखों की शोभा है और मुख चाँद सा है । चाँद तो केवल आतप : धूप के ताप को हरण करता है पर मुखचन्द तो आध्यात्मिक और आधिभौतिक ताप को भी हरण करता है ।

कानन्हि कनक फूल छवि देहीं । चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं ॥
चितवनि चारु भृकुटि वर बाँकी । तिलक रेख सोभा जनु चाँकी ॥४॥

अर्थ : कानों में सोने के फूल शोभा दे रहे हैं । देखते ही मानो चित्त को चुरा लेते हैं । चितवन सुन्दर है । सुन्दर भौहें टेढ़ी हैं । तिलक की रेखाएँ विजली की भाँति चमक रही हैं ।

व्याख्या : कानों में पड़ जाने से सोने के फूलों की शोभा है । सोने के फूलों से कानों की शोभा नहीं है : यहाँ पर यह दिखलाया कि प्रभु के अङ्ग में पड़ जाने से आभूषणों को शोभा है । आभूषणों में इतना सामर्थ्य नहीं कि प्रभु को शोभा को बढ़ा सकें । देखते क्या हैं, मानों चित्त को चुराते हैं । आँखें ही सुन्दर नहीं हैं चितवन भी सुन्दर हैं । यथा : अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान । वे चितवन कुछ और ही, जेहि वस होत सुजान । भृकुटी के टेढ़ी होने की ही शोभा है । सो कमान की भाँति भौहें हैं । तिलक की रेखा तो भाल में जाकर बिजली की भाँति चमक दे रही है । कोई कोई चाँकी का अर्थ बिजली न करके चक्रित अर्थ करते हैं । भाव यह कि तिलक नहीं है शोभा की मुहर है । सत्य के प्रमाण में मुहर लगाई जाती है । अर्थात् तिलक ने मुहर दे दी कि यही सच्ची शोभा है ।

दो. रुचिर चौंतनीं सुभग सिर, मेचक कुंचित केस ।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥२१९॥

अर्थ : सुन्दर सिरों में चौगोसिया टोपी, काले और घुँघुराले बाल शोभित हैं । नख से शिखा तक दोनों भाई सुन्दर हैं और जिस अङ्ग की जैसो शोभा होनी चाहिए वैसी थी ।

---

[1] यहाँ वाचक लुप्तोपमा है ।

व्याख्या : चार कोनेवाली टोपी को चौगोसिया टोपी कहते हैं। अब उसकी चाल नहीं है। पहिले लड़के वैसी ही टोपी लगाते थे। नगर देखने चल रहे हैं। इसलिए टोपी लगाये हैं। बालों के काले और घुँघुराले होने की शोभा है। उसपर चौगोसिया टोपी बड़ी खिलती है। ग्रन्थकार स्वयं नखशिख शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। नख से लेकर शिख तक शोभा है। क्योंकि शरीर के जिस देश : जिस अवयव की जैसी शोभा होनी चाहिए वैसी शोभा है। जैसे : नाक शुक तुण्ड सी दाँत दाडिम से वक्षःस्थल कपाट सा भुजाएँ हाथी के सूँड सी जँघा कदली खंभ सी और चरण कमल से इत्यादि।

देखन नगरु भूपसुत आए। समाचार पुरवासिन्ह पाए॥
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥१॥

अर्थ : नगर देखने के लिए राजकुमार आये हैं। यह समाचार पुरवासियों ने पाया। घर और काम छोड़कर दौड़े। जैसे द्ररिद्र खजाना लूटने के लिए दौड़ें।

व्याख्या : राजा लोग तो बहुत आये हैं। पर शोभा का शोर तो राजकुमार के विषय में है। आने के पहिले ही समाचार फैल गया। भाव यह कि अभी प्रभु भाई के साथ विश्वामित्रजी के पास से चले हैं। इधर सम्पूर्ण नगर में यह उत्सुकता जनक समाचार फैल गया कि राजकुमार आगये। सब लोग धाम काम छोड़कर दौड़े कि कहीं चले न जायँ और हमें दर्शन न हो सके। धाम को अरक्षित छोड़कर मानों उससे अब काम ही नहीं लेना है। काम भी आधे में छोड़ा : बिगड़ जाने दो। इसलिए त्यागी कहा। सोचते हैं धाम काम में क्या रक्खा है। सच्चा लाभ तो दर्शन में है। इसकी उपमा दरिद्र के खजाना लूटने के लिए दौड़ने से दे रहे हैं। रङ्क के धाम काम का मूल्य ही क्या है। खजाना लुट रहा है। यह समाचार सुनकर जिस भाँति रंक धाम काम को विस्मरण करके अर्थ लोभ से दौड़ते हैं उसी भाँति प्रभु के दर्शन की लालसा इतनी वलवती है कि उसके सामने पुरवासियों में धाम काम की सुधि न रह गई।

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होंहि सुखी लोचन फल पाई॥
जुवतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥२॥

अर्थ : सहज सुन्दर दोनों भाइयों को देखकर वे लोग लोचन का फल पाकर सुखी हो रहे हैं। युवतियाँ घर के झरोखों से लगी हुई रामजी के रूप में अनुरक्त होकर देख रही हैं।

व्याख्या : शृङ्गार से रामजी की शोभा में आधिक्य नहीं होता बल्कि शोभा ढक जाती है। इसलिए दोनों भाइयों को सहज सुन्दर कहा। संसार में शृङ्गार शोभा बढ़ाने के लिए किया जाता है। क्योंकि वहाँ सहज सुन्दरता नहीं है। यही सहज सुन्दरता नगरवासियों के लिए निधि थी। इसी शोभा की लूट में भाग पाने के लिए दौड़े थे। ऐसी ही शोभा की लूट से आँख होने का फल मिलता है। भावार्थ

यह कि प्रभु की शोभा देखकर कृतकृत्य हो रहे हैं। युवतियाँ परदानशीन हैं। झरोखे में से खुले नहीं देख सकतीं। पल्ले की आड़ से देख रही हैं। वे लोचनफल पाकर विरत नहीं हुईं। बल्कि अनुराग में पगी हुई देख रही हैं। परदा का नियम नया नहीं है। वाल्मीकी रामायण, महाभारत तथा स्वयं वेद में भी परदा करने का उल्लेख पाया जाता है। विषयान्तर के भय से यहाँ पर अधिक नहीं लिखा जा सकता।

कहहिं परसपर वचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छवि जीती ॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं ॥३॥

अर्थ : वे आपस में प्रीति सहित वचन कहती हैं : हे सखि ! इन्होंने करोड़ों काम की छवि जीत ली है। सुर, नर, असुर, नाग और मुनियों में ऐसी शोभा कहीं सुनी नहीं जाती।

व्याख्या : यहाँ पर अष्टसखी सम्वाद कहेंगे। अपरा प्रकृति का मोहित होना ही अष्टसखी का सम्वाद है। राम ब्रह्म पर आठों प्रकृतियाँ मोहित हैं। भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ये आठ अपरा प्रकृतियाँ हैं। ये ही आठ प्रकृतियाँ आठ सखी हैं। सखी सखी से हृदय की बात खोलकर आपस में कहती हैं। सप्रीति कहने का भाव यह कि एक ही भाव से भावित हैं। यह सखी अपना मोहित होना कहती है और अलौकिक सुन्दरता कहकर मोहित न होने को असम्भव बतला रही है। घर के बाहर नहीं निकलती इसलिए कहती है कि ऐसी शोभा सुर, नर, असुर, नाग और मुनियों में सुनी नहीं जाती। सूर्पनखा सम्पूर्ण जगत् में विचरण करती थी अतः उसने सुनियत नहीं कहा। उसने कहा : मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउ खोजि लोक तिहुँ नाहीं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य लोग केवल पाँच जातियों में ही शोभा का अनुभव कर सकते हैं। सुर, नर, असुर, नाग और मुनि को छोड़कर उनके मुग्ध होने योग्य शोभा कहीं नहीं है।

बिष्णु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट भेष मुख पंच पुरारी ॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छवि सखी पटतरिअ जाही ॥४॥

अर्थ : विष्णु को चार हाथ हैं। ब्रह्मदेव को चार मुख हैं। शिवजी को पाँच मुख हैं और वेष भी विकट है। दूसरा देवता कोई ऐसा है नहीं जिससे इस छवि का पटतर दिया जाय।

व्याख्या : अस्वाभाविक अङ्गवृद्धि से विष्णु और विधि की शोभा की हानि है। शिवजी को अङ्ग वृद्धि भी अधिक है और वेष भी विकट है। काम का जीतना पहिले ही कह चुकी हैं। भुसुण्डिजी भी कहते हैं : राम काम सत कोटि सुभग तन :

रह गये इन्द्रादि, सो कोई पटतर योग्य नहीं है। जब ये लोग ही कुछ न ठहरे तब नर, नाग, असुर की गिनती ही क्या ? अतः केवल देवों का उदाहरण दिया।

दो. वय किसोर सुषमा सदन, स्याम गौर सुख धाम।
अंग अंग पर वारिअहिं, कोटि कोटि सत काम ॥२२०॥

अर्थ : अवस्था किशोर परम शोभा के घर श्याम गौर शरीर सुख के धाम हैं। इनके अङ्ग अङ्ग पर करोड़ों काम निछावर हैं।

व्याख्या : इस किशोरावस्था में कुरूप भी सुन्दर मालूम पड़ते हैं। ये तो परमा शोभा के धाम हैं। इनकी शोभा के लिए क्या कहा जाय। एक एक अङ्ग पर करोड़ों काम निछावर हैं। अतः इनमें शोभा की परमिति बतला रही है।

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह अस रूप निहारी॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥१॥

अर्थ : हे सखि ! कहो ऐसा कौन शरीरधारी है जो यह रूप देखकर मोहित न हो। तब कोई सखी मृदु वाणी प्रेम से बोली। जो मैंने सुना है उसे हे सयानी ! सुनो।

व्याख्या : यदि मैं मोहित हो गई तो इस रूप के देखने पर सभी शरीरधारी मोहित हो जावेंगे। अतः आक्षेपार्थक प्रश्न करती है। यह रूप से अङ्गुल्या निर्देश करके रूप की परमोत्कर्षता सूचित करती है। यह सखी अहङ्कार तत्त्व है।

अब दूसरी सखी कहती है। यह प्रेम से मृदुवाणी बोलती है। पहिली सखी भी प्रेम से बोली थी पर उसके बोलने में मृदुता की मात्रा कम थी, अहङ्कार का पुट था। इसके बोलने में प्रेम और मृदुता दोनों हैं। यह कहती है कि तुम सयानी हो। जिसके ऊपर इतनी आसक्ति है उसका परिचय भी जानना चाहिए। जो शब्द सुना है वही सुनाना चाहती है। यह आकाश तत्त्व है। सम्भवतः पति से सुना है। इसीलिए सुनानेवाले का नाम नहीं लेती।

ए दोऊ दशरथ के ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा॥
मुनि कौसिक मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥२॥

अर्थ : ये दोनों दशरथ के बेटे हैं। हंस के बच्चों की सुन्दर जोड़ी है। विश्वामित्र मुनि के यज्ञ की रक्षा करने वाले हैं। जिन्होंने रणाङ्गण में राक्षसों को मारा है।

व्याख्या : महाराज दशरथ का नाम जगत् में प्रख्यात है। इसलिए अयोध्याधिपति आदि विशेषण नहीं दे रही है। राजा दशरथ हंस हैं। उनके ये दोनों बेटे हंसकुमार हैं। इनकी जोड़ी बड़ी सुन्दर है। बाल मराल कहकर सौन्दर्य, विवेक और उत्तम गति द्योतित की। अब धर्म-कर्म कहती है। कौशिक मुनि का तपबल जगत् प्रसिद्ध है। राजर्षि से ब्रह्मर्षि पद लाभ किया है। उनमें अस्त्रबल द्योतित करने के

लिए विश्वामित्र न कहकर कौशिक : राजा कुश के वंश में उत्पन्न मुनि कहा। उनसे जिस यज्ञ की रक्षा न हो सकी उस यज्ञ की इन्होंने रक्षा की है। ऐसे पराक्रमी और धर्मात्मा हैं। यज्ञ के विघ्नकारी बलवान् राक्षस थे। उन्हें इन लोगों ने रणाङ्गण में मारा। इससे बल और शौर्य कहा।

स्याम गात कल कंज बिलोचन। जो मारीच सुभुज मद मोचन ॥
कौसल्या सुत सो सुख खानी। नामु रामु धनु सायक पानी ॥३॥

अर्थ : श्याम शरीर सुन्दर कमल सी आँखें जिन्होंने मारीच और सुबाहु के मद को तोड़ डाला है वे आनन्द की खानि कौसल्या के बेटे हैं। नाम इनका राम है। धनुष बाण हाथ में लिए हुए हैं।

व्याख्या : दोनों भाई भीड़ के बीच में हैं। उन्हें लखाने के लिए रूप कहकर हाल कहती हैं। सुन्दर साँवलो मूर्ति और कमल सी आँखें जिनकी हैं। उन्होंने मारीच और सुबाहु के मद को चूर्ण किया है। भाव यह कि रण अजिर में निशाचरों का संहार करनेवाले तो दोनों भाई हैं पर उनमें से जो दोनों प्रधान थे वे इन्हीं के हाथ से पराभव को प्राप्त हुए हैं। मारीच मारा नहीं गया। इसलिए मदमोचन कहती हैं।

पिता एक कहकर माता में भेद बतलाती हैं कि ये तो कौसल्या के बेटे हैं। इनका नाम राम है। धनुसायक पानी कहकर खलवध में निरत रहना द्योतित करती है। राम सुखरूप हैं। यथा : सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी। कौसल्या सुखखानि हैं। यथा : प्रगट्यौ जहँ रघुपति ससि चारू। विस्व सुखद खल कमल तुसारू।

गौर किसोर वेषु वर काछें। कर सर चाप राम के पाछें ॥
लछिमनु नामु राम लघु भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥४॥

अर्थ : गौर शरीर, सुन्दर वेष, कसे कसाये धनुषवाण हाथ में रामजी के जो पीछे हैं उनका नाम लक्ष्मण है। ये रामजी के छोटे भाई हैं। हे सखि ! सुन, इनकी माँ सुमित्रा है।

व्याख्या : वेषवर काछे का भाव यह कि रामजी की रक्षा के लिए कसे कसाये तैयार हैं। पीछे पीछे चले आ रहे हैं क्योंकि छोटे भाई हैं। इनका नाम लक्ष्मण है। ये भी दशरथ के पुत्र हैं। पर इनकी माता सुमित्रा है। जो मैं सुना सो सुनहु से उपक्रम करके सुनु सखि से उपसंहार कर रही है। क्योंकि परिचय दे चुकी।

दो. विप्रकाज करि बंधु दोउ, मग मुनिवधू उधारि ॥
आए देखन चापमख, सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

अर्थ : ब्राह्मण का कार्य करके दोनों भाई रास्ते में मुनिवधू का उद्धार करते धनुषयज्ञ देखने आये हैं। यह सुनकर सब स्त्रियाँ प्रसन्न हो उठीं।

व्याख्या : परिचय देने के बाद जनकपुर आगमन का प्रयोजन कहती हैं।

पहिले दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके विश्वामित्रजी का कार्य किया। रास्ते चलते मुनि वधू का उद्धार किया। सतानन्दजी राजपुरोहित हैं। उन्हीं के माता पिता अहल्या और गौतम मुनि थे। अतः मुनिवधू के शापित होने की कथा जनकपुर वासियों में विशेष रूप से प्रख्यात थी। इसलिए नाम से परिचय न देकर मुनिवधू उधारि एतावन्मात्र कहने से अहिल्योद्धार सबने जान लिया। इससे परमप्रभुता और पावनता कही। धनुषयज्ञ देखने आये हैं। भाव यह कि ये भी धनुष की परीक्षा करेंगे। यह सुनकर सब स्त्रियों को हर्ष हुआ। सबके हृदय में श्रीजानकी जी के इनसे विवाह की सम्भावना जागरूक हुई। अतः सब हर्षित हुईं।

देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई॥
जो सखि इन्हहिं देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू॥१॥

अर्थ : रामजी की छवि देखकर कोई एक सखी कह उठी कि यह वर जानकी जी के योग्य है। यदि सखि! इन्हें राजा देखलें तो अपना प्रण छोड़कर हठ पूर्वक इनसे व्याह कर देंगे।

व्याख्या : तीसरी सखी बोलना ही चाहती है कि प्रभु सामने आ गये। अतः कहती है कि जानकी के योग्य वह वर है। राजा लोग तो बहुत आये पर जानकी के योग्य वर कोई नहीं। स्त्रियाँ वर की योग्यता अयोग्यता की समालोचना किया करती हैं। स्वयं रूप देखकर रूप देखने का फल कहती है। यह तेजस्तत्त्व है।

मालूम होता है कि राजा ने इन्हें देखा नहीं। योग्यता को दृढ़ करती है। यदि देख लें तो ऐसे योग्य वर के लिए प्रण छोड़ दें। प्रण और हठ में भेद दिखलाती है प्रण छोड़ना अनुचित है और अनुचित के पक्षपात को ही हठ कहते हैं।

कोउ कह ए भूपति पहिचाने। मुनि समेत सादर सनमाने॥
सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥२॥

अर्थ : किसी ने कहा इन्हें राजा पहिचानते हैं। मुनिजी के साथ इनका आदर पूर्वक सम्मान किया है। परन्तु सखि! राजा प्रण नहीं छोड़ता। होनहार के वश में पड़ा हुआ हठ करके अविवेक का अपनाये हुए है।

व्याख्या : चौथी बोली : देखने की बात नहीं जान पहिचान है। मुनि का तो आदर सम्मान प्राप्त ही था। इनका भी आदर सम्मान किया। नगर में लाकर टिकाया। यह सखी प्रेमवश प्रणरक्षा को अविवेक बतला रही है। इसका तर्क यह है कि जो कुछ प्रण हुआ है वह जानकी के योग्य वर मिलने के लिए ही हुआ है। जब योग्य वर मिल गया तब प्रण पर अड़े रहना अनुचित है। होनहार बलवान् है। ऐसा विवेकी राजा अविवेक से काम ले रहा है। अपने प्रण पर अड़ा हुआ है। यह उचित अनुचित का विचार अपने पसन्द के अनुसार करती है। तमोबहुल है। विवेक को अविवेक और अविवेक को विवेक समझती है। यह पृथ्वी तत्त्व है।

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता ।।
तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू। नाहिन आलि इहाँ संदेहू ।।३।।

अर्थ : किसी ने कहा कि यदि विधाता भले हैं और सुना जाता है कि सबको चित फल देनेवाले हैं तो जानकी को यहो वर मिलेगा। हे आली ! इसमें सन्देह हीं है।

व्याख्या : पाँचवीं सखी बोली : राजा भले ही विधिवश अविवेक को भजें पर यदि ब्रह्मा भले हैं न्यायकारी हैं तब तो जानकी को यही वर मिलेगा। यदि यह वर न मिला तो ब्रह्मा बुरे। ब्रह्मदेव के भले बुरे की परख ·जानकी के योग्य वर मिलने न मिलने में कर रही है।

राजा का तो भरोसा नहीं वह प्रण न छोड़ेगा। विधि का भरोसा है। वे विधि बैठा देंगे तो सबका मनोरथ पूर्ण होगा। इसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। स्वयं मोहित हैं पर विवाह उनका जानकीजी से चाहती हैं।

जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ।।
सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें ।।४।।

अर्थ : यदि विधिवश ऐसा संयोग बैठ जाय तो सबलोग कृतकृत्य हो जायँ। हे सखि ! मुझे इसलिए अत्यन्त आर्ति है कि कभी ये इस नाते से आवेंगे।

व्याख्या : मनोरथ पूर्ति न होने से ब्रह्मदेव को बुरा कहना विवाह हो जाने से सबको कृतकृत्य मानना अति आरत होने का लक्षण है। अतः कहती है कि विवाह के नाते से आना होगा तो हम लोगोंको भी दर्शन मिल जायगा। यह सखी दर्शन के लिए आर्त है : लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे। निदरहिं सरित सिंधुवर वारी। रूप बिंदुजल होहिं सुखारी। यह सखी जल तत्त्व है।

दो. नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि, इन्ह कर दरसन दूरि।
यह संघटु तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि ।।२२२।।

अर्थ : नहीं तो हे सखि ! हमको इनका दर्शन दुर्लभ है। यह संयोग तो तब बन सकता है जब पूर्व जन्म का बड़ा पुण्य हो।

व्याख्या : इस बार तो ये धनुषयज्ञ देखने यहाँ आगये हैं। राजा के लड़के ठहरे। घर जाकर राज में फँस जावेंगे। यहाँ आने के लिए कोई कारण नहीं रह जायगा। यही लोग यहाँ आवें तो दर्शन मिल सकता है। हमारा जाना तो हो नहीं सकता। अतः यदि हम लोगों का पूर्वजन्म का अत्यन्त पुण्य होगा तो यह संयोग बन जायगा। व्याह हो जाने पर आना जाना लगा रहेगा। हम लोगों को दर्शन मिला करेगा।

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिबाह अति हित सबही का ।।
कोउ कह संकर चाप कठोरा। ये स्यामल मृदु गात किसोरा ।।१।।

अर्थ : दूसरी ने कहा कि सखि ! तुमने अच्छा कहा। इस विवाह में सभी का अत्यन्त हित है। किसी ने कहा कि शङ्कर का धनुष कठोर है और ये साँवले कोमल शरीरवाले अभी बच्चे हैं।

व्याख्या : छठी सखी बोली। यह अपने से पहिले बोलनेवाली सखी का समर्थन करती है कि इस विवाह में सभी का अर्थात् राजा का, रानी का, पुरजन का, हमारा और स्वयं रामजी का अतिहित है। सबमें अतिहित का सञ्चार करती है। यह वायु तत्त्व है। अतिहित कहने का भाव यह है कि इसमें लाभ ही लाभ है। हानि का लेश भी नहीं है।

सातवीं कहती है कि किसी भाँति सामञ्जस्य ही नहीं बैठता। कमठ पीठ की भाँति यह धनुष कठोर है और ये रघुनन्दन मधुरमूर्ति हैं। ये कैसे इसे चढ़ा सकेंगे। जनकजी का प्रण अत्यन्त दारुण है। यह संशय करती है। मनस्तत्त्व है।

सबु असमंजस अहइ सयानी। येहि सुनि अपर कहइ मृदु बानी ॥
सखि इन्ह कह कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥२॥

अर्थ : हे सयानी ! सभी प्रकार तो असमञ्जस है। यह सुनकर दूसरी ने कोमल वचन कहे। सखी ! इनको तो कोई कोई ऐसा बतलाते हैं कि इनका प्रभाव बड़ा है। देखने में ही छोटे हैं।

व्याख्या : अपने कहने का निष्कर्ष कह रही है कि किसी प्रकार से भी बात बैठती नहीं मालूम होती। इस बात का खण्डन करती हुई आठवीं सखी बोली कि मृदुगात और किशोरावस्था होने से इन्हें थोड़ा न समझना। मैं स्वयं नहीं जानती परन्तु जानकारों का यह कहना है कि ये देखने में ही छोटे हैं। प्रभाव इनका बड़ा है। जानकार लोग बिरले ही होते हैं। इसलिए कोउ कोउ कहती है।

परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥
सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें ॥३॥

अर्थ : जिनके चरण कमलों के रज के स्पर्श से पत्थर बनी हुई अहल्या जिसने बड़ाभारी पाप किया था तर गई। यह क्या बिना शिवधनु तोड़े रहेंगे। ऐसा विश्वास भूलकर भी न छोड़ना।

व्याख्या : अहल्या का इतना बड़ा पाप था कि सद्यः पत्थर हो गई थी। वह जिसके चरणकमल की धूलि पड़ने से तर गई। यथा : रामपद पदुम परागपरी। रिषि पिय तुरत त्यागि पाहन तनु छविमय देह धरी। प्रबलपाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपासुधा सिंचि विबुध वेलि ज्यौं फिरि सुख फरनि फरी। पत्थर के बन्धन से छूट गई। जड़ता नष्ट हो गई। वह स्वयं धनुष की जड़ता अवश्य नष्ट करेंगे। धनुष की जड़ता ही गुरुता है। यथा : निज जड़ता लोगन पर डारी। होउ हरुअ रघुपतिहिं निहारी। हमलोगों के हित की सिद्धि धनुष टूटने में है। सो विश्वास बिना कोई सिद्धि नहीं होती। यथा : कौनिउ सिद्धि न बिनु

विस्वासा। विश्वासत्याग से सिद्धि नहीं होती। युक्तियुक्त बात पर क्यों विश्वास नहीं करती ? इसलिए विश्वास को भूलकर भी नहीं छोड़ना।

जेहिं बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामल वरु रचेउ विचारी ॥
तासु वचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी ॥४॥

अर्थ : जिस ब्रह्मा ने सीता को रचकर सुन्दर बनाया है। उसी ने विचार कर साँवरे वर को भी रचा है। इसका वचन सुनकर सब प्रसन्न हो गईं। और सुखी होकर कहने लगीं कि ऐसा ही हो।

व्याख्या : सीताजी के जन्म के पहिले ही ब्रह्मा ने विचार किया कि लोकसुन्दरी सीता को रचना है। तो उसके लिए वर पहिले ही रचना चाहिए। अतः इन्हें विचारकर पहिले से ही रच रक्खा है। तब सीताजी को ऐसी सुन्दरी बनाया है। यह निश्चय करती है। बुद्धि तत्त्व है। ऐसी आशा भरी बात आठवीं सखी की सुनकर सब सखियाँ आनन्दित हो उठीं। सबको सुख मिला अतः आशीर्वाद देती हैं कि ऐसा ही हो।

दो. हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि वृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद ॥२२३॥

अर्थ : सुन्दर मुखवाली और सुन्दर आँखोंवाली युवतियाँ हृदय से हर्षित होती हैं। और फूलों को वर्षा करती हैं। जहाँ जहाँ दोनों भाई जाते हैं वहीं वहीं परम आनन्द होता है।

व्याख्या : सर्वत्र ही यही दशा है। जहाँ जहाँ दोनों भाई जाते हैं परमानन्द मच जाता है। सुमुखि सुलोचनि फूल बरसाती हैं। अपरा प्रकृति सर्वत्र ही एक सी है। अतः सर्वत्र ही एक सी क्रिया हो रही है। यह सरकार के ऊपर पहिली पुष्पवर्षा है। जो जनकपुर की सुमुखि सुलोचनिवृन्द द्वारा हो रही है। एकबार पहिले जन्म के उपलक्ष में देवताओं द्वारा हुई थी। पर वह अयोध्या में हुई थी। सरकार के ऊपर नहीं। यह पुष्पवर्षा स्वयं प्रभु के ऊपर हो रही है। यह सत्कार पुरवासियों द्वारा हो रहा है।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुमख हित भूमि बनाई ॥
अति विस्तार चारु गच ढारी। विमल वेदिका रुचिर सँवारी ॥१॥

अर्थ : दोनों भाई पुर के पूरब की ओर गये। जहाँ धनुषयज्ञ के लिए भूमिका तैयार की गई थी। अत्यन्त विस्तृत सुन्दर गच ढाली गई थी। निर्मल सुन्दर वेदी सँवारी गई थी।

व्याख्या : धनुषयज्ञ में भगवान् भूतभावन की पूजा होती है। मेध्य पशुओं की बलि होती है। यथा : आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि। विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे। भा.। और शस्त्रकौशल तथा बल की परीक्षा

होती है। धनुषयज्ञ के एक दिन पहिले ही भूमिका देखने गये। प्रभु पश्चिम दिशा से आये हैं। पुर बाहिर सरसरित समीपा। उतरे जहँ तहँ विपुल महीपा। यह हाल पुर के पश्चिम दिशा का है। धनुषयज्ञ की भूमिका देखने की उत्कण्ठा है। वह पुर के पूर्व की ओर है। वहीं दोनों भाई गये।

गच के ढालने की विद्या पहिले थी। अव नहीं है। दक्षिण के मन्दिरों में ढाले हुए पत्थर लगे पाये जाते हैं। ग्रन्थकार ने काँच के गच का उल्लेख अन्यत्र किया है। अतः गंच का ढाला जाना सिद्ध है। उसपर सुन्दर विशुद्ध वेदिका बनायी गई थी। जिसपर धनुषयज्ञ होनेवाला था।

चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥
तेहि पाछे समीप चहु पासा। अपर मंच मंडली विलासा॥२॥

अर्थ : चारों ओर सोने के बड़े बड़े मञ्च : कोच : बने थे। जिसपर राजा लोग वैठते हैं। उसके पीछे पास ही चारों ओर दूसरे मञ्चों की मण्डली लगी थी। जो मञ्च आदि का विधान धनुषयज्ञ में शास्त्रोक्त है। यथा : मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः। भा.।

व्याख्या : राजा लोग स्वर्णसिंहासन पर बैठनेवाले हैं। अतः उनके बैठने के लिए सोने के ही मञ्च बनाये गये थे। और वे सब बड़े वड़े बनाये गये थे। जिनमें राजा लोग समाज सहित बैठ सकें। उस मञ्चमण्डली के पीछे दूसरी मञ्चमण्डली थी। जो सोने की नहीं थी।

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहि नगर लोग जहँ जाई॥
तिन्हके निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु वरन बनाए॥३॥

अर्थ : कुछ ऊँची और सव भाँति सुन्दर थी जिसपर नगर के लोग जाकर वैठते थे। उसके निकट विशाल और सुन्दर अनेक रंग के उज्ज्वल गृह बनाये गये थे।

व्याख्या : यह दूसरी मञ्चमण्डली भी सब भाँति सुन्दर है और कुछ ऊँचे पर है। जिसमें आगे राजाओं के बैठने पर भी सामना न रुके। उस मञ्चमण्डली के निकट अर्थात् पीछे की ओर उज्ज्वल धाम बनाये गये थे जहाँ पुरुषों की पहुँच न हो सके। प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक् रङ्ग से वे धाम रँगे थे। इसलिए बहुवरन कहते हैं।

जहँ बैठे देखहिं सव नारी। जथा जोगु निज कुल अनुहारी॥
पुर बालक कहि कहि मृदु वचना। सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना॥४॥

अर्थ : जहाँ सब नारियाँ यथायोग्य अपने अपने कुल के अनुरूप स्थानों पर बैठी हुई धनुषयज्ञ देख सकें। पुर के बालक मृदु वचन कह कहकर आदर के साथ रचना दिखला रहे हैं।

व्याख्या : यहाँ पर बैठकर देखने की व्यवस्था है खड़े होकर नहीं। यथा : जहाँ बैठे महिपाला। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई। जहँ बैठे देखहिं सब नारी। कुल की प्रतिष्ठानुसार स्त्रियाँ परदे में या परदे से बाहर बैठकर देख सकें। बालकवृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा। सो वहीं से संग लगे हुए हैं। यहाँ ले आये। अब रचना दिखला रहे हैं। जब से भूमिका में हाथ लगा तब से ये बालक लोग रचना देख रहे हैं। अतः रचना इनकी भलीभाँति देखी हुई है। अब उसे प्रभु को दिखाते हैं। देखने योग्य स्थानों में लिवा ले जाते हैं। बात करने में सुख का अनुभव करते हैं।

दो. सब सिसु एहि मिस प्रेमवस, परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ, देखि देखि दोउ भ्रात ॥२२४॥

अर्थ : सब बच्चे इस बहाने से प्रेम के वश होकर शरीर का स्पर्श करके पुलकित होते हैं और दोनों भाइयों को देखकर मन में हर्षित होते हैं।

व्याख्या : सब बालक प्रेम के वश हैं। प्रभु का स्पर्श करना चाहते हैं। दिखाने का बहाना उन्हें मिल गया है। उसी बहाने से प्रभु के मङ्गलमय मनोहर शरीर का स्पर्श करते हैं। स्पर्श से इतना बड़ा आनन्द होता है कि उन्हें रोमाञ्च हो जाता है। यथा : ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। गी.। ब्रह्मसंस्पर्श में अत्यन्त सुख होता है। नेत्रों से दोनों भाइयों को देखने से मनमें हर्ष होता है। अब शब्द के अनुभव के लिए सादर रचना दिखलाते हैं।

सिसु सव राम प्रेमवस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥१॥

अर्थ : रामजी ने सब बालकों को प्रेम वश जाना। अतः प्रीति के सहित घरों की प्रशंसा करने लगे। अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब बुलाते हैं और स्नेह के सहित दोनों भाई चले जाते हैं।

व्याख्या : शिशुओं के स्पर्श से चिढ़ते नहीं। समझते हैं कि ये प्रेम के वश में हैं। वे मेरी वाणी भी सुनना चाहते हैं। अतः आप जिन जिन घरों को उन लोगों ने दिखाया उनकी प्रशंसा करने लगे। इन्द्रियों के तर्पण से बालकों को बड़ा आनन्द हो रहा है। अब वे अपनी अपनी रुचि के अनुसार वस्तु दिखलाने के लिए सहित सनेह बुलाते हैं और ये सहित सनेह चले जाते हैं। इससे सरकार का स्वभाव कहा कि इतने बड़े प्रभु होने पर भी भक्त के स्नेह सहित बुलाने पर स्नेह सहित चले आते हैं।

राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर वचना॥
लव[१] निमेष महुँ भुअन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥२॥

---

१. पलक के गिरने के समय को निमेष कहते हैं। उसका छठा भाग लव है अर्थात् छः लव का एक निमेष होता है।

अर्थ : कोमल मधुर और मनोहर वचन कहकर रामजी छोटे भाई को रचना दिखलाते हैं। जिसकी आज्ञा से माया निमेष : पलक पड़ने का समय के भी अंश में ब्रह्माण्ड समूहों को रच डालती है।

व्याख्या : सादर होने से मृदु सरस होने से मधुर और सुस्वर होने से मनोहर कहा। बालकों की प्रसन्नता के लिए स्वयं देखते हैं और छोटे भाई को दिखाते हैं। जानते हैं कि इन रचनाओं की प्रशंसा से और हमारे चकित होने से ये बालक प्रसन्न होंगे। यहाँ पर अति माधुर्य का वर्णन किया। अत: ऐश्वर्य भी साथ ही साथ ग्रन्थकार कहते हैं। क्योंकि ऐश्वर्य का ध्यान बिना रहे भक्ति जार लोगों की आसक्ति की भाँति हो जाती है। यथा : तद्विहीनं जाराणामिव। ना. सू.। विकासवाद का सिद्धान्त अत्यन्त सङ्कीर्ण है। सृष्टि क्रम से नहीं होती युगपत् होती है। स्वप्न की सृष्टि की भाँति रचना के लिए काल चाहिए। सो पलक मारने के पहिले ही माया अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की रचना कर डालती है और माया में यह शक्ति प्रभु के द्वारा आती है। यथा : सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल विरचित माया।

भगति हेतु सोइ दीनदयाला । चितवत चकित धनुष मखसाला ।।
कौतुक देखि चले गुरु पाहीं । जानि विलंवु त्रास मन माहीं ।।३।।

अर्थ : भक्ति के लिए वही दीनदयाल चकित होकर धनुष यज्ञशाला देख रहे हैं। कौतुक देखकर गुरुजी के पास चले। विलम्ब जान करके मनमें त्रास है।

व्याख्या : ऐसे प्रभु का चकित होकर धनुषमखशाला निरीक्षण करना केवल नाट्य है। भक्त और दीनों की प्रसन्नता के लिए यह नाट्य हो रहा है। यथा : अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोय। धनुषयज्ञशाला देखने का कौतुक था सो देख चुके। अब लौटते हैं। धनुषयज्ञशाला पहिले नहीं देखी थी। इसलिए उसके देखने के लिए कौतुक था। एक याम दिवस रहा तब डेरे से चले थे और सन्ध्या के पहिले लौट रहे हैं। फिर भी मनमें गुरुजी का त्रास है। नगर देखाइ तुरत लैं आवों कहा था। सो कुछ देर तो अवश्य हो गई।

जासु त्रास डर कहँ डर होई । भजन प्रभाउ देखावत सोई ।।
कहि बातें मृदु मधुर सुहाई । किए विदा बालक बरिआई ।।४।।

अर्थ : जिसके त्रास से डर को डर होता है वही भजन प्रभाव दिखा रहा है। मृदु मधुर और सोहाई बातें कहकर बालकों को जबरदस्ती विदा किया।

व्याख्या : प्रभु डर के भी डर हैं। यथा : भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्। जिसके द्वारा लोगों को अभयपद प्राप्त होता है उसे डर कहाँ ? यह डर भी नाट्य है। भजन का प्रभाव इससे दिखाते हैं कि भगवान् भक्त से भयभीत भी रहते हैं।

बालकों ने प्रेमवश हो प्रभु को वहुत दिक किया पर प्रभु प्रसन्न हैं। अब इनका साथ छोड़ना है। बिना छोड़े तीव्र गति नहीं हो सकती और ये सब साथ

छोड़ना नहीं चाहते। अतः जबरदस्ती उन्हें विदा करना पड़ा। फिर भी प्रभु ने मृदु मधुर और मनोहर बातें कहकर ही हटाया।

दो. सभय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरुपद पंकज नाइ सिर, बैठे आयसुं पाइ ॥२२५॥

अर्थ : दोनों भाई अत्यन्त विनीत हैं। भय प्रेम और सङ्कोच के साथ गुरु के चरणकमल में सिर नवाकर आज्ञा पाकर बैठे।

व्याख्या : विलम्ब से भय गुरु चरणों में प्रेम स्वाभाविक जो कहा था सो ठीक न कर सकने का सङ्कोच। इन भावों से भावित हो दोनों भाइयों ने गुरुजी के चरण कमलों की वन्दना की। वन्दना करके हाथ जोड़े खड़े हैं। जब गुरुजी ने आज्ञा दी तब बैठे। इसे विनय कहते हैं।

निसि प्रवेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं सन्ध्या वंदनु कीन्हा ॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥१॥

अर्थ : रात्रि के प्रवेश होने पर मुनिजी ने आज्ञा दी। सभी लोगों ने सन्ध्यावन्दन किया। पुरानी कथा और इतिहास कहते हुए सुन्दर रात्रि के दो पहर बीत गये।

व्याख्या : मुहूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीषिणः! पण्डितों ने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात बतलायी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक मुहूर्त दिन रहते ही मुनिजी ने सबको सन्ध्यावन्दन की आज्ञा दी। क्योंकि वाराह पुराण में सायं सन्ध्यावन्दन का काल बताया है। सूर्यास्त से पहिले और ताराओं के प्रकट होने के पहिले तक। सूर्य के तेज की हानि न हो तब तक और प्रातःकाल सूर्य के आधे उदय के पहिले तक सन्ध्या होती है। यथा : अर्वागस्तमयात्सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत्। तेजः परिहानिवशाद्भानोरर्धोदयं यावत्। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती। देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी। ब्रह्म जीव की सन्धि सन्ध्या है। गुरु की सेवा प्रधान है। उसी में सब लोग लगे हैं। अतः समय आते ही गुरुजी ने आज्ञा दो।

ऋषियों के साथ प्रभु भी एकभुक्त व्रत कर रहे हैं। सन्ध्यावन्दन के बाद पुण्यकथा होने लगी। अनधिकार चरचा नहीं की जाती। अर्द्धरात्रि के पहिले नहीं सोना चाहिए। अतः कथा वार्ता में आधी रात हो गई।

मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई। लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत विविध जप जोग विरागी ॥२॥

अर्थ : तब मुनीश्वर ने जाकर शयन किया। दोनों भाई प्रेम से गुरुजी का पाँव दबाने लगे जिनके चरणकमल के लिए विरक्त लोग अनेक प्रकार के जप और योग किया करते हैं।

व्याख्या : कथा से उठकर गुरुजी ने शयन किया। रास्ता चलकर आये हैं। अत: थकावट निवारण के लिए प्रभु गुरुजी के पाँव दबाने लगे। गुरुजी की सेवा बिना आज्ञा पाये भी करनी चाहिए।

प्रभु के चरणकमलों को तो शङ्करजी ने अपने हृदय में छिपाकर रक्खा है। जे हर हृदय कमल महँ गोए। अत: उनकी प्राप्ति के लिए विरक्त पुरुष जप और योग करते हैं। जो विरक्त नहीं है उसे प्रभु के चरणों की प्राप्ति की इच्छा ही नहीं होती। अत: उसका अधिकारी विरागी ही है। यथा : जेहि लागि विरागी अति अनुरागी। जप और योग ही उसका साधन है। नाम निरूपण नाम जतन ते। सो प्रगटत जनु मोल रतन ते। इसलिए जप करते हैं। उससे थकते हैं तब ध्यान करते हैं। ध्यान से थककर फिर जप करते हैं। इस प्रकार साधन करते हैं।

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥३॥

अर्थ : वे ही दोनों भाई मानो प्रेम से जीते गये। प्रेम से गुरुजी का पाँव दवा रहे हैं। बार बार मुनिजी ने आज्ञा दी तब रघुवर ने जाकर शयन किया।

व्याख्या : ये अजित हैं। किसी से जीते नहीं जाते। पर प्रेम इन्हें मानो जीत लेता है। यथा : भगति अवसहिं वस करी। गुरुजी के प्रेम के इतने वश्य हो गये हैं कि प्रीति से पाँव दबा रहे हैं।

एकबार के कहने पर सेवा से उपरत नहीं होना चाहिए। जिसे सेवा में प्रेम है वह उसे शीघ्र छोड़ना नहीं चाहता और बड़े लोग अधिक सेवा लेना नहीं चाहते। अत: मुनिजी के बार बार आज्ञा देने पर राम जी ने जाकर शयन किया। लक्ष्मण जी ने शयन नहीं किया। इसलिए रघुबंर जाइ सयन तब कीन्हीं कहते हैं।

चापत चरन लखनु उर लाए। सभय सप्रेम- परम सचु पाए ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता ॥४॥

अर्थ : लक्ष्मणजी हृदय में लगाये हुए भय प्रेम और परम सुख से पैर दाब रहे हैं। बार बार प्रभु ने कहा कि भैया! सोओ। तब चरणकमल को हृदय में धारण करके लेट गये।

व्याख्या : लक्ष्मणजी को अत्यन्त प्रेम है। इसलिए चरण को हृदय में लगाये हुए दाब रहे हैं। दबाने में बेमौके दब न जाय इसलिए भय भी है। दबाने से प्रभु को सुख भी मिलेगा इसलिए प्रेम है। रात बहुत बीती। फिर भी शीघ्रता नहीं। निद्रा का आनन्द भी इस सेवा के आनन्द के सामने कुछ भी नहीं है। अत: परम सचु पाए लिखा।

सोने में अतिकाल हो रहा है। इसलिए प्रभु की आज्ञा बार बार सोने के लिए हुई। तब जिस चरणकमल को हृदय में लगाकर दाब रहे थे उसी को हृदय में रखकर पौढ़ गये। अर्थात् लेटे, सोये नहीं। प्रभु के घर के वाहर निकलने पर

लक्ष्मणजी नहीं सोते। रक्षा के लिए सदा जागरूक हैं। यथा : कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन। तेहि पाछे लछिमन वीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन। अतः प्रभु की आज्ञा मानकर लेट गये। पर निद्रा के वशीभूत नहीं हुए।

दो. उठे लखनु निसि विगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान।
गुरु तें पहिलेंहि जगतपति, जागे रामु सुजान ॥२२६॥

अर्थ : रात बीतने पर मुर्गे का शब्द कान से सुनकर लक्ष्मणजी उठे और गुरुजी से पहिले जगत्पति रामसुजान जागे।

व्याख्या : मुर्गा के पहली बार बोलते ही लक्ष्मणजी उठ पड़े। पहर रात रहते ही मुर्गा बोलता है। तभी से दिन माना जाता है। इसीलिए रात्रि का नाम त्रियामा : तीन पहरवाली है। पहर भर रात रहते ही जागने का विधान है। यथा : पहिले पहर भूप नित जागा। उसी समय रामजी जागे। लक्ष्मणजी पौढ़े थे अतः उनके लिए उठे लिखा। रामजी सोये थे अतः उनके लिए जागे लिखा। शास्त्र का विधान है कि शिष्य गुरु से पीछे सोये और पहिले उठे। तदनुसार प्रभु भी गुरुजी के पीछे सोये और पीछे उठे।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए ॥
समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥१॥

अर्थ : सब शौच करके जाकर स्नान किया। नित्य कर्म का निर्वाह करके मुनिजी को प्रणाम किया। समय जानकर और मुनिजी की आज्ञा पाकर दोनों भाई फूल लेने चले।

व्याख्या : शौच दो प्रकार का होता है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य शौच मिट्टी और जलादि से किया जाता है और आभ्यन्तर शौच ध्यान धारणादि से होता है। सो दोनों प्रकार के शौच के बाद बाहर जाकर अवगाह स्नान किया। गुरु सेवा प्रधान है। अतः नित्य कर्म का निर्वाह संक्षेप से किया। नित्यकर्म का परित्याग नहीं होना चाहिए और गुरुजी की सेवा में उपस्थित हो गये। गुरुजी को प्रणाम किया। यथा : प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातुपिता गुरु नावहिं माथा।

समय जानकर कि इस समय यदि फूल लेने जावेंगे तो गुरुजी के पूजा समय तक फूल ला सकेंगे। गुरुजी से आज्ञा माँगी। मिलने पर फूल लेने दोनों भाई चले। गुरुजी की पूजा में फूल अधिक लगता है। अतः दोनों भाई चले। रामजी को अकेले नहीं छोड़ते। अतः दोनों भाई चले।

भूप बाग वर देखेउ जाई। जहँ वसंत रितु रही लोभाई ॥
लागे विटप मनोहर नाना। वरन वरन वर वेलि विताना ॥२॥

अर्थ : राजा के श्रेष्ठ बाग को जाकर देखा जहाँ वसन्त ऋतु लुभाकर रह गई थी। मन के हरण करनेवाले अनेक प्रकार के पेड़ लगे थे। उनपर रंग विरंगी वेलियाँ चढ़ी थी। जिनका चंदोआ बन गया है।

व्याख्या : महाराज जनक के अनेक बाग हैं। उनमें से सर्वश्रेष्ठ बाग को जाकर देखा। बाग की श्रेष्ठता कहते हैं कि उसे देखकर मनुष्य का लुभा जाना तो कोई बड़ी बात नहीं है। वहाँ आकर वसन्त ऋतु लुब्ध होकर ठहर गया। वसन्त ऋतु संसार से चला गया। ग्रीष्म और पावस बीत गया। अब शरद का अधिकार है। पर उस बाग में आज भी वसन्त है। वसंतरितु रही लोभाई कहने से द्योतित होता है कि वसन्तु ऋतु का समय नहीं है।

नाना प्रकार के विटपों की पंक्ति खड़ी है। उनपर नाना रंग की लताएँ चढ़ी हुई हैं। जिस रंग के विटप पर जिस रंग की लता खिलती है वैसी ही लताएँ चढ़ी हुई हैं और एक विटप की लता ऊपर ही ऊपर दूसरे विटप की लता से उलझ गई हैं। इस भाँति लताओं के चँदोये बन गये हैं।

नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा॥३॥

अर्थ : ये नये पत्ते फलफूल से शोभायमान थे। अपनी सम्पत्ति से कल्पवृक्ष को लज्जित कर रहे थे। चातक, कोकिल, शुक और चकोर पक्षी कूज रहे थे और मोर नाच रहा था।

व्याख्या : नव पल्लव फल और फूल साथ नहीं होते पर यहाँ हैं। भाव यह कि एक ओर नये कोपल लग रहे हैं। दूसरी ओर फूल लग रहे हैं। तीसरी ओर फल लग रहे हैं। बारहमासी वृक्ष हैं। वृक्ष की सम्पत्ति है। पल्लव, फूल और फल। सो वे ऐसे सरस हैं कि कल्पवृक्ष लज्जित हो जाय। अथवा कल्पवृक्ष रूखे मालूम पड़ते हैं। इसलिए कवि ने सुररूख पद रक्खा। यह वेद वाद का बाग है। यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः। पराप्रकृति और पुरुष का साक्षात्कार यहीं हुआ।

वेलिवितान से चातक को मेघमण्डल का भ्रम हुआ। अतः वह कूजने लगा। नवपल्लव से कोकिल को वसन्त का भ्रम हो रहा है। अतः वह भी कूज रही है। नवफल से शुक को ग्रीष्म का भ्रम हुआ। अतः वह भी बोलता है और नवसुमन से मालूम होता है कि चाँदनी छिटकी हुई है। अतः चकोर भी चहकता है। ये चारों तालधारी की भाँति कूज रहे हैं। मोर लतावितान को मेघमण्डल मानकर नृत्य कर रहा है। बाग में चारों ओर मङ्गल मचा हुआ है। यथा : अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा।

मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्र बनावा॥
विमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥४॥

अर्थ : बाग के बीचोबीच सुन्दर सरोवर था। जिसमें विचित्र मणियों की सीढ़ियाँ वनी थीं। उसका जल निर्मल था। अनेक रंग के कमल खिले थे। जलपक्षी कूज रहे थे और भौंरे गुञ्जार कर रहे थे।

व्याख्या : यदि बाग के मध्य में सरोवर न हुआ तो बाग की शोभा नहीं। सो इसके बीचोबीच सरोवर था। सलिल सुधासम मनि सोपाना कहकर जनकपुर सभी सरोवरों का वर्णन कर चुके हैं। इस सरोवर की विशेषता यह है कि यहाँ णिसोपान की कारीगरी विचित्र है। जल निर्मल है। यहाँ अनेक रंग के कमल इस एक ही सरोवर में खिले हुए हैं। जलपक्षी कूजते हैं और भौंरे गूँज रहे हैं। भाव यह कि उद्दीपन विभाव की पराकाष्ठा है।

दो. बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु, हरखे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु येहु, जो रामहि सुख देत ॥२२७॥

अर्थ : बाग और तालाव देखकर प्रभु भाई के सहित हर्षित हुए। यह बाग परम रम्य है जो रामजी को सुख दे रहा है।

व्याख्या : पुररम्यता राम जब देखी। हरखे बंधु समेत बिसेखी। रम्य नगर को देखकर ही विशेष हर्षित हुए थे। अब उससे भी अधिक हर्ष है। क्योंकि यह परम रम्य है। पर्वतों में कैलास परम रम्य है। यथा : परम रम्य गिरिवर कैलासू। धरणी में सेतुबंध की भूमि। यथा : परम रम्य उत्तम यह धरनी। और बागों में राजा जनक का बाग परम रम्य है। रम्यता से हर्ष और परम रम्यता से सुख होता है।

चहु दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥
तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥१॥

अर्थ : चारों ओर देखकर मालियों से पूछकर पत्ते और फूल प्रसन्न चित्त होकर लेने लगे। उसी अवसर सीताजी भी वहाँ आईं। गिरिजा पूजन के लिए माँ ने भेजा था।

व्याख्या : रामहि सुख देत अतः चहुँ दिसि चितय कहते हैं। तथा फुलवारी किस ओर है? इसे देखने के लिए चारों ओर देखा तथा बड़े बाग में मालियों का पता शीघ्र नहीं लगता अतः चारों ओर देखा। सिंह हैं चारों ओर देखकर ही कार्यारम्भ करते हैं। सिंह ठवनि इत उत चितव धीर वीर बल पुंज तथा अचरों पर भी दया है। अतः चारों ओर देखा। बिना पूछे फुलवारी से फूल नहीं लेना चाहिए। इससे मालियों से पहिले पूछ लिया।

दल पहिले लिया और फूल पीछे। दलों का दोना बनाया। यथा : सुमन समेत वाम कर दोना तथा दोना में पहिले बिल्वदल तुलसीदलादि रख लिया। तब पुष्प रक्खा। दल फूल बड़े सुन्दर और सरस हैं। इसलिए लेने में प्रसन्नता है।

जब रामजी फूल चुनने में लगे थे उसी अवसर में सीताजी उस बाग में आईं। दूसरे ही दिन विवाह था। क्योंकि धनुषयज्ञ ही वस्तुतः विवाहोत्सव था।

यथा : टूटत ही धनु भयउ विवाहू। विवाह के पहिले सौभाग्य के लिए गिरिजापूजन करना है। इसलिए माँ ने भेजा था। नित्य नहीं आतीं। पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्। भा० १०. ५२. ४२।

व्याह के एकदिन पहिले कुलदेवी की यात्रा होती है। जिसमें वधू बाहर गिरिजा पूजन के लिए जाती हैं।

संग सखी सब सुभग सयानीं। गावहिं गीत मनोहर वानीं॥
सर समीप गिरिजा गृह सोहा। वरनि न जाइ देखि मनु मोहा॥२॥

अर्थ : संग में सब सुन्दर सयानी सखियाँ थी। मनोहर वाणी से गीत गा रही थीं। सरोवर के सन्निकट गिरिजाजी का मन्दिर शोभायमान था। जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। देखने में मन मोहित हो जाता था।

व्याख्या : आज सब सखियाँ संग में थीं। सभी सुन्दर और सयानी हैं। विवाहोपलक्ष्य में देवीपूजन के समय जो गीत गाया जाता था वह गा रही थीं। बाग में प्रविष्ट होते ही गीत आरम्भ हुआ। अभी तक तो भौंरे ही गीत गाते थे अव तो मनोहर वाणी से सखियों का गीत प्रारम्भ हुआ। सरोवर के समीप ही गिरिजा का मन्दिर था। महात्माओं से पता चलता है उसका नाम चिन्तामणि मन्दिर था। जहाँ सरोवर की सीढियों में विचित्र मणियों का काम था। वहाँ के गिरिजाजी के मन्दिर का वर्णनातीत होना ही प्राप्त है।

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदित मन गौरिनिकेता॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग वरु माँगा॥३॥

अर्थ : सखियों के सहित सरोवर में स्नान करके प्रसन्न मन से गौरी के मन्दिर में गई। अधिक अनुराग से पूजा की और अपने अनुरूप सुन्दर वर माँगा।

व्याख्या : सखियों के समेत पूजन करना है। अतः सखियों के समेत स्नान भी लिखते हैं। अथवा जिस देवता का पूजन करना है तत्सम्बन्धी तीर्थ-कूप, कुण्ड, सरोवरादि में स्नान का विधान है। गौरी का पूजन करना है इस उत्साह से मन प्रसन्न है। पूजन में अनुराग सब कुछ है। किं पुनः स्त्रियों के पूजन में तो मन्त्रादिक का प्रयोग न होने से अनुराग ही सब कमी को पूरा करता है। वर लेना है इसलिए अधिक अनुराग से पूजन किया। यह पूजन ही सौभाग्य के लिए था। अतः अपने अनुरूप सुन्दर वर के लिए प्रार्थना की। अति अनुराग का प्रत्यक्ष फल होता है। यथा : भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिन चरू कर लीन्हे।

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥
तेहि दोउ बंधु विलोके जाई। प्रेम विवस सीता पहिं आई॥४॥

अर्थ : एक सखी सीता का संग छोड़कर फुलवाई देखने गई थी। उसने जाकर दोनों भाइयों को देखा और प्रेम के विवश होकर सीताजी के पास आई।

व्याख्या : सीताजी पूजन में लगीं। एक सखी के मनमें यह बात आई कि तब तक फुलवारी देख आऊँ सो वह फुलवारी देखने चली गई। उस स्थान से फुलवारी कुछ हटकर थी। फुलवारी में ही दोनों भाई फूल चुन रहे थे। बाग इतना बड़ा था कि सीताजी के आने और मंगल गान का कुछ भी पता दोनों भाइयों को न लगा। इस सखी ने वहाँ जाकर दोनों भाइयों को देखा। दोनों भाइयों ने इसे नहीं देखा फूल चुनने में लगे थे। रूप देखते ही प्रेम के विवश हो गई। इस छवि को सीताजी को भी दिखलाना चाहिए। इसलिए उस प्रेममग्नावस्था में ही सीताजी के पास आई। नारदजी का वचन सत्य होना था। इसलिए यह घटना हुई।

दो. तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जलु नयन।
कहु कारनु निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बयन ॥२२८॥

अर्थ : उसकी दशा सखियों ने देखी कि शरीर में पुलक हैं और आँखों में आँसू है। सब मृदुवचन से पूछने लगीं कि अपने हर्ष का कारण बतला।

व्याख्या : सीताजी ने उसकी अवस्था नहीं देखी। वर माँगने में दत्तचित्त थीं। सखियों ने देखा। प्रेमविवश की दशा कहते हैं। पुलक गात जल नयन। यह सञ्चारी भाव है। यह दशा भयादि में भी होती हैं। पर सखियाँ सयानी हैं। लख लिया कि यह सञ्चारी भाव हर्ष का है। अतः हर्ष का कारण पूछती हैं। सबके पूछने का प्रयोजन सीताजी का ध्यान आकर्षण करने के लिए है। तथा अति उत्कण्ठा होने से है। प्रेम से प्रेरित हैं। अतः मृदुवाणी से पूछती हैं।

देखन बागु कुँअर दोउ आए। वय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहउ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥१॥

अर्थ : बाग देखने दो राजकुमार आये हैं। अभी किशोरावस्था है। सब भाँति सुन्दर हैं। साँवरे गोरे को कैसे बखान कर कहूँ। वाणी को आँख नहीं है और आँख को वाणी नहीं है।

व्याख्या : फूल के लिए आना नहीं कहती। राजकुमार हैं उन्हें फूल का क्या घाटा है। वे बाग देखने आये हैं। मनमें आया फूल भी तोड़ने लगे। अवस्था थोड़ी है। जवानी आया चाहती है। इसलिए वय किशोर कहती हैं। यथा : आषोडशाच्च कैशोरं, यौवनं स्यात्ततः परम्। केवल अवस्था ही नहीं सभी भाँति से मनोहर हैं। एक श्याम हैं और दूसरे गोरे हैं। मुझसे तो उनका बखान नहीं हो सकता। आँखों ने उन्हें देखा है। वे ही जानती हैं। पर उन्हें वाणी नहीं अतः नहीं कह सकतीं। क्योंकि कहनेवाली वाणी है। उसे आँखें नहीं, उसने देखा नहीं वह कैसे कहे। भाव यह कि सखी प्रेम से शिथिल है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध भी शिथिल हो गया है। उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि आँखों ने देखा है। उनमें यदि प्रकाश करने की शक्ति होती तो सम्भव है कि उस शोभा को व्यक्त कर सकतीं। वाणी को साक्षात्कार की शक्ति नहीं। वह कुछ भी उस शोभा को नहीं कह सकती।

इस भाँति दोनों राजकुमारों की अलौकिक छवि को अवर्णनीय बतलाती है। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। यथा : काव्यलिङ्ग जब युक्ति सौं अर्थ समर्थं न होय।

सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उतकंठा जानी ॥
एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि संग आए काली ॥२॥

अर्थ : यह सुनकर सब सयानी सखी प्रसन्न हो उठीं। जाना कि सीताजी के हृदय में अत्यन्त उत्कण्ठा है। एक ने कहा कि हे आली ! ये वे ही राजकुमार हैं जिनके विषय में सुना है कि मुनि के संग कल आये हैं।

व्याख्या : सयानी सखी हैं। तुरन्त समझ गईं कि कौन हैं। और यह भी लख लिया कि सीताजी के हृदय में अत्यन्त उत्कण्ठा हो गई है। अतः सब हर्षित हुईं। यदि सीताजी के हृदय में उत्कण्ठा उत्पन्न न होती तो देखने का योग न मिलता। प्रशंसा राजकुमारों के रूप की सुन चुकी हैं। पर राजमहल की रहनेवाली हैं अतः देख न सकीं। हृदय में उत्कण्ठा कल से ही देखने की है। अब सीताजी में अत्यन्त उत्कण्ठा लखकर कार्यसिद्धि की आशा से प्रसन्न हो उठीं। सीताजी के हृदय में अत्यन्त उत्कण्ठा होने का भी कारण है। इधर निज अनुरूप सुभग वर गिरिजाजी से माँग रही हैं। उधर अलौकिक सौन्दर्य वाले राजकुमार के आगमन का समाचार मिल रहा है। अतः यह घटनासंयोग निष्कारण नहीं है।

उस उत्कण्ठा को जानकर एक सखी बोल उठी कि ऐसे सुन्दर तो वे ही सुने जाते हैं जिनका कल आगमन मुनि के सङ्ग हुआ है। कल से ही नगर में उनके रूप का शोर है। उनके नगर देखने का समाचार सुनकर सारा नगर उलट पड़ा। यथा : देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुर बासिन्ह पाए। धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्ववस नगर नर नारी ॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥३॥

अर्थ : जिन्होंने अपने रूप की मोहनी डालकर सब नर नारियों को अपने वश में कर लिया है। सब लोग जहाँ तहाँ छवि का वर्णन कर रहे हैं। देखने योग्य को अवश्य देखना चाहिए।

व्याख्या : वह सखी कहती है कि मेरी सखी विचारी का कोई दोष नहीं। उनके रूप में ही कुछ ऐसी मोहनी शक्ति है कि सब नरनारी उनके वश में हो गये हैं। यह विचारी मोहित हो गई तो क्या आश्चर्य है ? सांसारिक पुरुषों को विषय से खींचकर अपनी ओर लाने के लिए ही प्रभु ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण करते हैं। सब लोग ऐसे उनके वश हो गये हैं कि जनकपुर में उनकी छवि के वर्णन के अतिरिक्त कोई चरचा ही नहीं है। लोकोत्तर पदार्थ दर्शनीय होता है। अतः उनकी लोकोत्तर छवि दर्शनीय है। जिसके दर्शन का माहात्म्य है। जिसे सब देखना चाहते हैं। उसके दर्शन में दोष की सम्भावना को स्थान नहीं है। अतः कहती हैं अवसि देखिये।

तासु बचन अति सियहि सोहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने ॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥४॥

अर्थ : उसका वचन सीताजी को बहुत अच्छा लगा । दर्शन के लिए आँखें आकुल हो उठीं । उसी प्रिय सखी को आगे करके चलीं । पुरातन प्रीति को कोई नहीं लख रहा है ।

व्याख्या : उस सखी के वचन सभी को अच्छे लगे । परन्तु सीताजी को अत्यन्त भले मालूम हुए । क्योंकि सीताजी को अत्यन्त उत्कण्ठा थी । सखी का निर्णयात्मक वचन सुनकर दर्शन के लिए आकुलता बढ़ी । इसलिए तुरन्त चल पड़ीं । उस प्रिय सखी को जो प्रिय समाचार लायी थी आगे कर लिया क्योंकि उसी का जाना हुआ है कि वे राजकुमार कहाँ हैं । इतनी आकुलता का कारण पुरातन प्रीति है ।

दो. सुमिरि सीय नारद वचन, उपजी प्रीति पुनीत ।
चकित विलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत ॥२२९॥

अर्थ : नारदजी के वचन का स्मरण करके पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई । चकित होकर इस भाँति चारों ओर देखने लगीं । जैसे डरी हुई मृगी की बच्ची चारों ओर देखे ।

व्याख्या : नारदजी ने पहिले ही कह रक्खा था कि जो तुम्हारा पति होगा । उसका प्रथम दर्शन तुम्हें गिरजा बाग में होगा । फलाभिसन्धिवर्जित प्रीति उपजी इसलिए पुनीत कहते हैं । फुलवारी तक पहुँच गईं । परन्तु कोई दिखाई नहीं पड़ा । अतः चकित होकर चारों ओर देखती हैं । चकित होकर चारों ओर देखने में जो नेत्र चञ्चल हुए उस चितवन की उपमा सभीत शिशुमृगी के चितवन से देते हैं । जो खटका पाकर सभीत दृष्टि से देखती है कि किधर से शब्द सुनाई पड़ा । इस राम जानकी मिलनप्रसङ्ग में आरम्भ से ही जो प्रक्रिया दोनों ओर से हो रही हैं । उसका कुछ मिलान भी पाठकों के विनोदार्थ देना अनुचित न होगा ।

रामजी :		: सीताजी
सकल सौचकरि जाइ नहाए	: १ :	मज्जनकरि सर
नित्य निबाहि मुनिहि सिरनाए	: २ :	गई मुदित मन गौरिनिकेता
समय जानि	: ३ :	तेहि अवसर
गुरु आयसु पाई	: ४ :	जननि पठाई
लेन प्रसून चले	: ५ :	गिरिजा पूजन आई
संग भाई	: ६ :	संग सखी
लगे लेन दलफूल मुदित मन	: ७ :	गई मुदित मन गौरि निकेता
चहुदिसि चितय	: ८ :	चकित विलोकति सकलदिसि

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥१॥

अर्थ : कङ्कण, करधनी[1] और नूपुर की झनकार सुनकर लक्ष्मणजी से रामजी ने हृदय में विचार कर कहा । मानों कामदेव ने नगाड़ा बजाया है । विश्वविजय की इच्छा की है ।

व्याख्या : लगे लेन दलफूल मुदितमन से प्रसङ्ग छूटा है । सो ऐसे दत्तचित्त हैं कि सखी आकर उन्हें देखकर लौट गई । परन्तु उन्हें पता नहीं है । एकाएक किंकिणि, कंकण और नूपुर की झनकार ऐसी कान में पड़ी कि अभूतपूर्व भाव का उदय हुआ । यद्यपि कंकण किंकिणि नूपुर ध्वनि के बीच में अवतार ही हुआ है । पर इस ध्वनि में विशेषता है । विचार करते हैं कि गति की रमणीयता से भूषणों की ध्वनि ऐसी सुहावनी है : नूपुर मधुर मुखर कवि वरनि । भूषण की ध्वनि मधुर होती है । पर इसका उद्दीपक प्रभाव ऐसा बलवान् है कि दुन्दुभि के घोर शब्द से उपमित करने योग्य है । मानो विश्वविजय की इच्छा करके कामदेव ने दुन्दुभिघोष किया है । नगर देखने के समय काम का पराजय हुआ है । यथा : सखि इन कोटिकाम छवि जीती । उस समय धनुर्धर भी थे । अतः पुष्पधन्वाने फुलवारी में फूल चुनते देखकर उपयुक्त समय जानकर विश्वविजय के लिए डंका दिया क्योंकि इनके विजय से ही विश्वविजय है । यथा : मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी । सखा रूप में लक्ष्मणजी साथ हैं । उन्हीं से रामजी अपना मनोभाव व्यक्त कर रहे हैं । लक्ष्मणजी चुप हैं ।

अस कहि फिरि[2] चितए तेहि ओरा । सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ॥
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥२॥

अर्थ : ऐसा कहकर घूमकर उस ओर देखा तो सीताजी का मुख चन्द्र हुआ और रामजी के नेत्र चकोर हो गये । सुन्दर नेत्र स्थिर हो गये । मानो निमिने सङ्कोच से पलकें छोड़ दीं ।

व्याख्या : जिधर से ध्वनि आती थी उधर घूमकर देखा । रामजी को काम से वैर है । यथा : नील तामरस स्याम काम अरि । सो शत्रु से सावधान होने के लिए उधर लक्ष्य किया । पर वहाँ बात ही दूसरी हो गई । सीताजी जो दिखाई पड़ीं तो उनके मुखचन्द्र के लिए रामजी के नेत्र चकोर हो गये । यहाँ चन्द्रचकोर कहकर यह भी दिखलाया कि चकोर चन्द्र को देखते हैं । चन्द्र चकोर को नहीं देखता । भाव यह कि ये सीताजी को देख रहे हैं । सीताजी इन्हें नहीं देख रही हैं ।

---

[1] पूर्व में अब भी ऐसी करधनी बनती है जिसमें शब्द हो ।

[2] निदर्शन : द्वितीय ।

जिस भाँति सीताजी चकित विलोकति सकलदिसि थीं अतः उनके नेत्र चञ्चल थे, उसी भाँति इनके भो नेत्र घूमकर देखने में चञ्चल हो उठे थे। सो सिय मुखशशि के देखने में ऐसे स्थिर हो गये कि पलक पड़ती ही नहीं। निमि महाराज जनक के पूर्वंज थे। वे ही पलक के अधिष्ठात्री देवता हैं। अब यहाँ पलक न पडने का कारण कहते हुए ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो पलक के अनुग्राहक देवता निमि ने सङ्कोच से पलक का परित्याग ही कर दिया। फिर पलक पड़े कैसे ? जानकीजी के पूर्वंज होने से उन्हें ऐसे अवसर में सङ्कोच होना प्राप्त है।

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय [1]सराहत वचनु न आवा ॥
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि विस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥३॥

अर्थ : सीताजी की शोभा को देखकर सुख मिला, हृदय में प्रशंसा करते हैं। पर सुख से वचन न निकला मानो ब्रह्मदेव ने अपनी सारी पंडिताई को संसार में रचकर प्रकट करके दिखला दिया है।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं : परमरम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत। बाग ने सुख तो दिया पर इन्होंने लिया नहीं क्योंकि बिना आलम्बन के उद्दीपन सुखदायक नहीं होता। अब सीताजी के रूप में आलम्वन की प्राप्ति हुई अतः कहते हैं : देखि सीय शोभा सुख पावा। अब अनुभाव कहते हैं कि : मन से प्रशंसा करते हैं। लक्ष्मणजी से कहना चाहते हैं, पर कह नहीं सकते। चतुष्पाद विभूति में से एक पाद ही प्रकट है और तीन पाद अप्रकट है। सो मानो ब्रह्मदेव ने सीताजी को रचकर उनमें चतुष्पाद विभूति को प्रकट करके दिखला दिया। यथा : त्रिपादूर्ध्वंमुदैत्पुरुषः पादोस्येहा भवत्पुनः।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु वरई ॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं विदेहकुमारी ॥४॥

अर्थ : सुन्दरता को भी सुन्दर कर रही है। मानो छवि गृह में दीप की शिखा जल रही है। सारी उपमाओं को कवियों ने जूठी कर दिया है और यह शोभा अनूठी है। विदेहकुमारी की उपमा किससे दूँ।

व्याख्या : जितनी सुन्दरताएँ हैं वे इस सुन्दरता की उपजीवी हैं। यथा : जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी। अर्थात् इस सुन्दरता से ही सब सुन्दरियों ने सुन्दरता पाई है। यह कोई दिव्य तेज है। इसलिए दिव्य-शिखा कहते हैं। जिसमें न तेल है न बत्ती, न धूआँ है और यह सुन्दरता को और भी सुन्दर कर रहा है। जैसे छविगृह की उसी समय सच्ची शोभा होती है जब उसमें दीपशिखा जले। सखियों के मध्य में इनकी शोभा इस प्रकार है जैसे छविगृह

---

१. 'सराहत' शब्द श्लिष्ट है इसका अर्थ यह भी है कि कामशर से ऐसे घायल हो गये हैं कि चाहने पर भी बोल नहीं सकते।

में दीपशिखा जले। दीपशिखा स्वयं प्रकाशमान है और घर को भी प्रकाशित करता है। इसी भाँति सीताजी की दिव्य शोभा से सखीजन भी शोभायमान हैं। यथा : छविगन मध्य महा छवि जैसी।

वर्णन न हो सके तो उपमा द्वारा वर्णन करना चाहिए। इसपर कहते हैं कि कवियों ने सब उपमाएँ तो प्राकृत नारियों के अङ्गों पर दे डाली हैं। अतः सब उपमाएँ जूठी हैं और यह शोभा अनूठी है। अतः श्रीरामजी कहते हैं कि विदेहकुमारी की उपमा किससे दूँ।

दो. सिय सोभा हियँ वरनि प्रभु, आपनि दसा विचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ : मनमें सीताजी की शोभा वर्णन करके और अपनी दशा का विचार करके, पवित्र मनसे समयानुसार वचन लक्ष्मणजी से बोले।

व्याख्या : हृदय सराहत वचन न आवा से स्वगत का उपक्रम करके और सिय सोभा हिय वरनि प्रभु से उपसंहार किया। प्रभु हैं : अपनी दशा का विचार करते हैं कि ऐसी स्तब्धता हो गई कि मैं बोल न सका। विचार से ही स्तब्धता गई। शुचिमन देहलीदीपन्याय से दोनों ओर लगेगा। शुचि मन हैं इसलिए अनुज से कहा। अनुज भी शुचिमन हैं उधर देखते ही नहीं। रामजी शुचि मन हैं इसलिए इन्हें भी प्रीति पुनीत उपजी। काम से संग्राम उपस्थित है। भाई की सहायता चाहते हैं अतः बोले।

तात जनकतनया यह सोई। धनुषयज्ञ जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकासु फिरहिं फुलवाई ॥१॥

अर्थ : हे भैया ! यह वही जनक की बेटी है जिसके लिए धनुषयज्ञ हो रहा है। इसे सखियाँ गौरीजी के पूजन के लिए लाई हैं। फुलवारी में प्रकाश करती फिरती है।

व्याख्या : उधर सखी सखी से कहती हैं। एक कहै नृपसुत सोइ आली। सुने जो मुनि संग आए काली। यहाँ सब सयाने इकट्ठे हैं। अनुमान से ही पहिचान हो गयी। इधर प्रभु कहते हैं। तात जनकतनया यह सोई। धनुषयज्ञ जेहि कारन होई।' जनकजी को एकाधिक कन्याएँ हैं। पर यह तो वही है जिसके लिए धनुषयज्ञ हो रहा है। ऐसे अनुमान का आधार कहते हैं : पूजन गौरि सखी लै आई। कल धनुषयज्ञ है आज गौरी पूजन के लिए सखी ले आई हैं। गौरी का मन्दिर देख चुके हैं इससे अनुमान करते हैं। व्याह के पहिले गौरीपूजन सौभाग्य के लिए करने की विधि है। अतः यह सिद्ध हुआ कि इसी के लिए धनुषयज्ञ हो रहा है। यहाँ बाग में वरन वरन बर वेलि वितान के कारण अन्धेरा हो रहा है। सो वह प्रकाश करती हुई फुलवारी में घूम रही है। सियमुखशशि है तो प्रकाश भी चाहिए : छविगृह दीपसिखा जनु बरई। तमाम फुलवारी प्रकाशित हो उठी।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥
सो सब कारनु जानि बिधाता । फरकहि सुभद अंग सुनु भ्राता ॥२॥

अर्थ : जिसकी अलौकिक शोभा को देखकर मेरा मन जो स्वभाव से ही पवित्र है क्षुब्ध हो उठा है। वह सब कारण ब्रह्मदेव जानें पर भैया सुनो ! मंगलप्रद अंग मेरे फड़क रहे हैं।

व्याख्या : मेरा मन स्वभाव से ही पवित्र है क्षोभ जानता ही नहीं। लौकिक शोभा से इसमें क्षोभ हो नहीं सकता। यह अपूर्व बात हुई। इस अलौकिक शोभा से मेरे मन में क्षोभ हुआ। परन्तु अलौकिक शोभा से भी मेरे मन में क्षोभ नहीं होना चाहिए था। कोई विशेष कारण होना चाहिए : राम पुनीत विषय रसरूखे। उस कारण को ब्रह्मदेव ही जानें। यथा : कठिन कर्म गति जान विधाता। उसी की प्रेरणा से मेरे शुभ देनेवाले अङ्ग फड़क रहे हैं और सगुन प्रतीति भेट प्रियकेरी : शुभद अङ्ग फड़कने का फल है कि इष्टवस्तु का लाभ हो। लक्ष्मणजी कुछ नहीं बोल रहे हैं। अतः कहते हैं : सुनु भ्राता। क्या जाने यह सुन रहा है कि किसी दूसरी ओर मन लगाया है।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरं न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी ॥३॥

अर्थ : रघुवंशियों का यह अकृत्रिम स्वभाव है कि वे कुपंथ पर मन और पैर नहीं रखते और मुझे तो अपने मन पर अत्यन्त विश्वास है कि वह स्वप्न में भी पराई स्त्री को नहीं देखता।

व्याख्या : यदि इससे विवाह न होना होता तो मेरे मन में क्षोभ न होता। पर-स्त्री पर मनःक्षोभ वंश स्वभाव के विरुद्ध है। रघुवंश मात्र का सहज स्वभाव है, सिखाने पढ़ाने से नहीं। वे न कुपंथ में मन दें, न पैर रक्खें। वंशस्वभावानुसार भी मेरे मन में क्षोभ नहीं होना चाहिए था। मैंने तो अपने मन की परीक्षा कर ली है। विश्वामित्रजी के आगमन के पूर्व विवाहबन्धन में डालने के लिए बहुत सी कन्याएँ मेरे पास[2] भेजी गईं। पर मेरे मन ने उन्हें देखा भी नहीं। वासना न होने से स्वप्न भी नहीं होता। अतः यह बात भी नहीं कि सूक्ष्म वासना रही हो। जिसका मुझे पता न हो।

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहि परतिय मनु डीठी ॥
मंगल लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरवर थोरे जग माहीं ॥४॥

---

१. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
सन्देहवाली बातों में भले लोगों के अन्तःकरण का झुकाव ही प्रमाण है।

२. योगवासिष्ठ देखिये।

अर्थ : रण में शत्रु जिनकी पीठ नहीं पाते और पर स्त्री जिनके मन और दृष्टि को नहीं पाती मंगन जिनसे 'नहीं' नहीं पाते। ऐसे नरश्रेष्ठ संसार में थोड़े हैं।

व्याख्या : जिनकी पीठ शत्रु नहीं पाते। मर जावेंगे पर पीठ न दिखावेंगे : वे युद्धवीर हैं। उन्हीं की गति परिव्राट् योगयुक्त की सी होती है। वे सूर्यमण्डल का भेद करते हैं। द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः। जिनके मन और दृष्टि को पराई स्त्री नहीं पातीं। पराई स्त्री चाहें तो भी असमर्थ हैं : वे धर्मवीर हैं : जिनसे मंगन निषेधात्मक उत्तर नहीं पाते। वे माँगने पर अपने को भी दे सकते हैं : वे दानवीर हैं। ऐसे वीरतात्रय से युक्त पुरुष नरश्रेष्ठ संसार में थोड़े हैं। भाव यह कि मैं उन थोड़े लोगों में से हूँ जिन्होंने भय, काम और लोभ पर विजय प्राप्त की है।

दो. करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छवि, करै मधुप इव पान ॥२३१॥

अर्थ : बात तो छोटे भाई से कर रहे थे। पर मन सीताजी के रूप पर लुब्ध था। मुखकमल की छवि मकरन्द है। उस मकरन्द को मन भौंरे की भाँति पान कर रहा था।

व्याख्या : बोले सुचिमन अनुजसन से उपक्रम और करत बतकही अनुजसन से उपसंहार। इतना विचार करने पर भी क्षोभ न हटा। मनमधुप छविमकरन्द पान कर रहा है और गुनगुनाता जाता है। मुखसरोज के छवि मकरन्द को भौंरे की भाँति मन पान करने लगा। मुखशशि के लिए नयन[1] चकोर हुए और मुखसरोज छवि के लिए मन मधुकर हुआ। भाव यह कि आँख और मन दोनों वँध गये। जिससे गहनों की शोभा हो उसे रूप कहते हैं और अङ्गों के यथोचित सन्निवेश को सुन्दरता कहते हैं। यहाँ उक्त विषया उत्प्रेक्षा है।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चिंता॥
जहँ विलोकि मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ॥१॥

अर्थ : सीता चारों ओर चकित होकर देखती हैं। मन में चिन्ता है कि नृपकिशोर कहाँ गये? वह मृग के बच्चे की सी आँखवाली जिस ओर देखती है उस ओर मानो श्वेतकमल की पंक्ति वरस पड़ती है।

व्याख्या : दोनों : रामजी और सीताजी की ओर घटनाएँ साथ साथ होती हैं। परन्तु कवि तो एक साथ नहीं लिख सकते। अतः एक ओर का वृत्तान्त थोड़ा कहकर फिर दूसरी ओर का वृत्तान्त कहने लगते हैं। चकित विलोकति सकलदिसि से प्रसङ्ग छोड़ा था। अव वहीं से प्रसङ्ग उठाते हैं। सीताजी चकित होकर देख रही हैं। कवि को अवसर मिला कि इस बीच में रामजी की ओर का वृत्तान्त कहें।

---

[1] जैसे चकोरी चारु वैठी निज निज डार चंद की किरन पीवैं निमिषैं न लावतीं।

तब रामजी की ओर का वृत्तान्त आरम्भ किया। जब यहाँ तक कथा पहुँची कि सीताजी के मुखसरोज के छविमकरन्द को रामजी का मनभ्रमर पान करने लगा तब कवि को सीताजी ओर के वृत्तान्त कहने का अवसर मिला। अब जहाँ से छोड़ा था वहीं से कथा प्रारम्भ करते हैं : सीता चकित होकर देख रही हैं। कारण कहते हैं कि नृपकिशोर कहाँ गये। यही मन में चिन्ता है। इतनी देर में बाग के बाहर जा नहीं सकते तब गये कहाँ ?

जनु सिसुमृगी सभीत का अनुवाद करते हैं : मृग सावक नयनी। अब उस चितवन की शोभा कहते हैं कि जिधर देखती हैं उधर श्वेतकमलों की वर्षा हो जाती है। पुष्पधन्वा ने पहिले डंका दिया था। अब बाणवर्षा कर रहा है। क्योंकि काम का परम बल नारी है : एहि के एक परम बल नारी। यथा : धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां दृशां कोणो बाणः सकलभुवनं व्याकुलयति। काम का धनुष फूल का है। प्रत्यञ्चा भ्रमरमयी है और चञ्चल नेत्रवालियों का कटाक्ष ही बाण हैं। जिनसे तमाम संसार को व्याकुल करता है। जानकीमङ्गल में ग्रन्थकार कहते हैं : रूपरासि जेहि ओर सुभाय निहारइ। नील कमल सरश्रेनि मयन जनु डारइ। सो यहाँ श्वेतकमल कहते हैं। क्योंकि स्नान करने के समय कज्जल धुल गया है। इन्हीं शरों से रामजी आहत हैं। हृदय सराहत वचन न आवा से यह भाव भी निकलता है।

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥२॥

अर्थ : तब सखियों ने लता की ओट से सुन्दर श्यामल गौर किशोरों को लखाया। रूप देखकर आँखें ललचा उठीं और ऐसी प्रसन्न हुईं जैसी अपने खजाने को पहिचान लेने से प्रसन्नता होती है।

व्याख्या : सखियों ने देख लिया। अति उत्कण्ठा होने से श्री सीताजी ने न देखा। सखियों ने लख लिया कि उन्हीं को ढूँढ़ती हैं। अतः लता ओट में लखाया। खाली हाथ वीर बाण चलते देखकर ओट पकड़ते हैं। अतः काम के बाण चलते देखकर मानो लता ओट पकड़ लिया है : स्याम गौर किमि कहौं बखानी। बय किसोर सब भाँति सुहाए : सुना था सो आँखों देखा।

सुनकर दरस हेतु लोचन अकुलाने और देखकर देखि रूप लोचन ललचाने। ललचाने का भाव यह कि और भी मनोयोग से देखने के लिए ललचाये। श्रीरामजी दूसरे लोगों को भी निधि रूप ही दिखाई पड़ते थे। पर वे उनकी निधि नहीं। अतः वे लूटने चले थे। यथा : धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी। पर निज निधि को सीताजी ने पहिचाना। इसीलिए कहा था : प्रीति पुरातन लखै न कोई। आँखें प्रसन्न हो उठीं कि यही तो हमारी निधि है।

थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥३॥

अर्थ : रघुपति की छवि देखकर आँखें थक गईं और पलक ने भी निमेष को छोड़ दिया। अधिक स्नेह से देह भोरी हो गई। मानो शरद ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी देखती हो।

व्याख्या : छवि का भार देर तक नेत्र न सँभाल सके। इसलिए थक गये। रघुपति से रामजी का ग्रहण है। वहाँ मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल और यहाँ पलकन्हहू परिहरीं निमेखें थका हुआ हिलता डोलता नहीं। अतः पलकों ने भी हिलना डोलना छोड़ दिया।

वहाँ हृदय सराहत वचन न आवा। यहाँ अधिक सनेह देह भई भोरी। वहाँ सिय मुखससि भे नयन चकोरा। यहाँ सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी। इधर विकलता अधिक है। प्रमाण देते हैं। शरद शशि के दर्शन में चकोरी की देह भोरी हो जाती है। देह की सुधि नहीं रहती। परन्तु रामजी जब सीताजी को देखते हैं तब शरद ऋतु का शशि न कहकर केवल शशि शब्द का प्रयोग करते हैं। यथा : सियमुख ससि भये नयन चकोरा। अतः वहाँ देह का भोरा होना भी नहीं कहते।

लोचन[1] मग रामहिं उर आनीं। दीन्हें पलक कपाट सयानीं॥
जब सिय सखिन प्रेमवस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥४॥

अर्थ : आँखों के रास्ते से रामजी को हृदय में लाकर सयानी ने पलक रूपी कपाट वन्द कर लिये। जब सीताजी को सखियों ने प्रेमवश जाना तो कुछ कह नहीं सकीं। मन ही मन संकुचित हुईं।

व्याख्या : उधर लोचनमग से छविमकरन्द का पान हो रहा था। इधर लोचनमग से स्वयं रामजी को ही हृदय में लाकर पलककपाट वन्द कर लिया। प्रभु प्रेम के वन्दी हो गये। काम का विश्वविजय पूरा हो गया। यहाँ विहृत हाव है। संयोग समय लज्जादिक से अभिलाष की असन्तुष्टि को विहृतहाव कहते हैं।

जब भक्त प्रेमवश होता है तभी भगवान् उसके वन्दी होते हैं। अवसि देखिये देखन जोगू : दूसरी वात है और प्रेमवश हो जाना दूसरी वात है। सखी हैं उन्हें प्रेमविवश देखकर बोलने का अधिकार है। पर आँखें मूँदे हैं, क्या कहें, कहने में सङ्कोच है।

दो. लताभवन तें प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल विलगाइ॥२३२॥

अर्थ : उसी समय दोनों भाई लता भवन से प्रकट हुए। मानों दो चन्द्रमा वादलों के परदे को अलग करके निकल पड़े हों।

व्याख्या : यह रामजी का स्वभाव है। पहिले ओट में रहते हैं। अतिशय प्रेम देखकर हृदय में प्रकट होते हैं। तत्पश्चात् नयन विषय होते हैं। यथा : अतिसय प्रेम

---

[1] यहाँ समासोक्ति है।

देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा। मुनि मग माझ अचलह्वै वैसा। तब रघुबीर निकट चलि आये। लता भवन की ही उपमा जलद पटल से दी है। दोनों भाइयों की उपमा विमल विधु से दी। इनके प्रकट होने से भी फुलवारी में प्रकाश हो गया। तीन तीन चन्द्रोदय फुलवारी में हुए हैं। फुलवारी तेजोमय हो गई।

सोभा सीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥१॥

अर्थ : दोनों सुन्दर वीर शोभा की सीमा हैं। नीले और पीले कमल के रङ्ग का शरीर है। शिर पर मोर पंख भी खूब खिल रहा है। वीच बीच में फूलों की कलियों के गुच्छे हैं।

व्याख्या : सखी छविवर्णन करने लगी जनकनन्दिनी की सावधानी के लिए। दोनों सुन्दर वीरों के अवयव सन्निवेश के औचित्य की पराकाष्ठा है। इससे अधिक यथोचित अवयव सन्निवेश सम्भव नहीं है। वीरता और सौन्दर्य का अद्भुत सङ्गम है। श्याम कुँअर के शरीर का वर्ण नीलकमल सा और गौर के शरीर का वर्ण पीले कमल सा है।

आज मोरमुकुट भी है। कुसुमकली के गुच्छे भी बीच बीच में शोभित हैं। कृष्ण कन्हैया की झाँकी है। नगर देखने चले थे तब चारु चौतनी सुगम शिरों पर थी। इस समय फूल लेने आये हैं अतः स्वाभाविक वेष में हैं। चौतनी से भी अधिक शोभा है। यह विच्छित्तिहाव है। किञ्चित् श्रृङ्गार से मोहित करने को विच्छित्तिहाव कहते हैं। इसी झाँकी को कृष्णावतार में दिखलाकर व्रजवनिताओं को मोहित करेंगे।

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥२॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥२॥

अर्थ : माथे पर तिलक और पसीने की बूँदे शोभित हैं। सुन्दर कानों में भूषण की छवि छाई हुई है। टेढी भौंहें हैं और घूँघरवाले वाल हैं। आँखें नये कमल की भाँति गुलाबी हैं।

व्याख्या : तिलक के साथ श्रमबिन्दु की बड़ी शोभा हुई। मोती की नाईं झलक रहे हैं। यथा : श्रमकन सहित स्याम तन जोही। लागिहि ताति बयारिन मोही। कोमलता का अन्त है फूल लेने में श्रम हुआ है। इससे पसीना आ गया है। अथवा सात्त्विक भाव हुआ है। कान ऐसे सुन्दर हैं कि भूषण की उनसे शोभा हो गई है। भृकुटी की टेढ़ी होने और बाल के घुघुँराले होने की ही प्रशंसा है। यथा : भृकुटि मनोज चाप छवि हारी। कुटिल केस जनु मधुप समाजा। आँख को गुलाबी नये कमल की भाँति कहने का भाव यह कि प्रथम कैशोर है। किशोरावस्था

का प्रारम्भ है। इस अवस्था में नेत्र के कोण में लालिमा आजाती है। यथा : वर्णस्योज्ज्वलता कापि नेत्रान्ते चारुणच्छविः। रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति।

चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥
मुखछवि कहि न जाय मोहि पाही। जो बिलोकि वहु काम लजाहीं॥३॥

अर्थ : ठुड्डी नाक और गाल सुन्दर है। हास विलास हँसने की माधुरी तो मानो मन को मोल ले रहा हो। मुख की छवि तो मुझसे कहते नहीं बनती जिसे देखकर वहुत से काम लज्जित होते हैं।

व्याख्या : ठुड्डी सुन्दर नासिका शुकतुण्ड सी। कपोल दर्पण सा जिसमें चलकुण्डल की झलक पड़ रही हो। दोनों भाइयों में हास विलास भी हो रहा है। यथा : अवलोकनि बोलनि प्रीति परसपर हास। प्रेमवश अनुग्रह हुआ। हँसते हुए लताभवन से निकले। यथा : हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा। इस हँसने ने तो मनकी चोरी नहीं की बल्कि मनको खरीद लिया। उनकी हँसी मनकी पूरी कीमत है। यह विलास नामक हाव है। संयोग समय कटाक्षादि अनेक क्रियाओं से मोहित करने को विलास हाव कहते हैं।

उर मनिमाल कंबुकल ग्रीवाँ। [1]काम कलभ कर भुजबल सीवाँ॥
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥४॥

अर्थ : छाती पर मणियों की माला है। शंख की भाँति सुन्दर ग्रीवा है। कामरूपी हाथी के बच्चे की शुण्ड जैसी सुन्दर भुजाएँ बल की सीमा हैं। फूल के सहित बाएँ हाथों में दोना है। सखी ! साँवला कुँवर अत्यन्त ही सलोना है।

व्याख्या : स्रग्वी माला पहने हुए रहने का विधान है। इसलिए मणि की माला पहने हुए हैं। जिसकी शोभा वक्षःस्थल पर जाकर अधिक हो गई है। ग्रीवा की शोभा शंख की भाँति होने में है। भुजाएँ उतार चढ़ाववाली हाथी की शुण्ड सी हैं पर अभी किशोरावस्था है। अतः हाथी के बच्चे के शुण्ड सी कहा-। शोभाधिक्य के कारण कहते हैं कि यदि काम ने हाथी के बच्चे का रूप धारण किया हो तब उसके शुण्ड की जैसी शोभा होगी वैसी ही भुजाओं की शोभा है। ऐसी उतार चढ़ाववाली भुजाओं में ही वल होता है। जिनमें पेशियाँ पृथक् पृथक् दिखाई पड़ती हों वे भुजाएँ बलसीमा नहीं होतीं।

फूल उतार चुके हैं। बायें हाथों में दोना लिये हुए अधिक सोहावने दृष्टिगोचर होते हैं। गौर कुमार भी सलोना हैं पर साँवला कुमार अधिक सलोना है। वालक लोगों ने भी शोभा देखी और लगे संग लोचन मन लोभा। उनके मन भी लुब्ध हुए पर सुन्दरता की इस वारीकी तक वे नहीं पहुँच सके कि दोनों कुँअरों में एक को भी सुठिलोना कह सकें।

---

[1] यहाँ प्रौढोक्ति है।

सखि ! सम्बोधन का भाव यह कि एक सखी दूसरी से कह रही है। पर जनकनन्दिनी का ध्यान भङ्ग नहीं हुआ।

दो. केहरि कटि पट पीत धर, सुषमा सील निधान।
देखि भानुकूलभूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान ॥२३३॥

अर्थ : सिंह की सी कमर पीताम्बर धारण किये परमा शोभा और शील के निधान भानुकुल भूषण को देखकर सखियाँ अपनपौ : अपने को ही भूल गईं।

व्याख्या : कटि के क्षीण होने की ही शोभा है। श्याम शरीर पर पीताम्बर अधिक खिलता है। अतः परमा शोभा है और स्वभाव में शील के निधान हैं। यह कहते कहते रुक गई चरणों की शोभा न कह सकी। अपने को ही भूल गई यही दशा सुननेवालियों की भी हुई।

अपान बिसरा से जड़ता सञ्चारीभाव कहा। जब इष्ट या अनिष्ट सुनने देखने से कोई बोध नहीं होता तो उसे जाडच सञ्चारी कहते हैं। यथा : जाडचमप्रतिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टश्रुतीक्षणैः। अथवा फूल की कियारी में हैं। कटि के नीचे के भाग का दर्शन नहीं हुआ। इसलिए वर्णन भी नहीं किया।

धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥१॥

अर्थ : एक सयानी सखी ने धैर्य धारण करके सीताजी का हाथ पकड़कर कहा कि गौरीजी का ध्यान फिर कर लेना। राजकुमार को देख क्यों नहीं लेती।

व्याख्या : यह सखी सयानी है। इसलिए सबके पहिले धैर्य धारण में समर्थ हुई। सयानी कहने का दूसरा भाव यह कि सीताजी को प्रेमवश तो सबने जाना। ध्यान से हटाने के लिए राजकुमार का शोभा वर्णन भी करने लगीं पर ध्यान भङ्ग नहीं हुआ। क्या कहकर इनको जगावें यह किसी को न सूझा। इसे सूझ गया। इसने समझ लिया कि हाथ पकड़कर जगाने से हो जागेंगी और इनके ध्यान को गौरी का ध्यान बतलाकर जगाना चाहिए। राजकुमारों को यह गर्व न हो कि इनकी सखी मेरी सुन्दरता में मग्न हो गई है और इन्हें भी सङ्कोच न हो।

सकुचि सीय तब नैन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे॥
नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता मनु जनु अति छोभा ॥२॥

अर्थ : सङ्कुचित होकर सीताजी ने तब आँखें खोलीं। सामने दोनों रघुकुल के सिंहों को देखा। नख से शिख तक रामजी की शोभा देखकर और पिता के प्रण को समझकर मनमें बड़ा क्षोभ हुआ।

व्याख्या : उपाय काम कर गया। सखी का उपालम्भ और उपहास भी कर्तव्य है। उपालम्भ करती है कि उपास्यदेव की भाँति राजकुमार का ध्यान करती हो। सुनकर सङ्कुचित होकर सीताजी ने नेत्र खोला। स्वच्छन्द क्रिया से

सङ्कोच हुआ। व्रीड़ा सञ्चारी भाव हुआ। नयन उघारा तो दो रघुसिंहों को देखा : मृगपति सरिस असंक। पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी। मत्त नाग तम कुंभ बिदारी। भाव यह कि सीताजी फुलवारी में प्रकाश करती फिरती थीं। पर तम मरा नहीं था। इनके हाथ से मारा पड़ा था।

सखियों ने शिख नख वर्णन किया। इन्होंने पूज्य बुद्धि से नख शिख देखा। बड़ी मधुर मूर्त्ति है। इनसे कमठ पृष्ठ कठोर धनुष कैसे टूटेगा और पिता का प्रण यही है कि जो धनुष चढ़ावेगा उसे जानकी की प्राप्ति होगी। अतः मनमें अत्यन्त क्षोभ हुआ। यथा : कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनन्दनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात प्रणस्तव दारुणः। ह. ना.।

परबस सखिन लखी जब सीता। भये गहरु सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कसि मन बिहँसी एक आली॥३॥

अर्थ : जब सखियों ने देखा कि सीताजी परवश हैं। तब सब भयभीत होकर कहने लगीं कि देर हो रही है। कल इस समय फिर आऊँगी। ऐसा कहकर एक सखी मनही मन हँसी।

व्याख्या : प्रेमवश जानने से सङ्कोच हुआ था। परन्तु परवश जानने से भय हुआ। सयानी सखी है। हृदय पढ़ रही है। इन्हें पिता का प्रण स्मरण करके क्षोभ हो रहा है। यह तो परवश हुई जा रही हैं। अपने अपराध से सभीत हैं। हम लोग इन्हें यहाँ क्यों लायीं। जब एक सखी की दशा हमलोगों ने आँख से देख ली थी तब इन्हें लाना सर्वथा अनुचित हुआ। यह शोभा ही उन्मादकारिणी है। भाव पलटने के लिए माता का स्मरण 'अब देर हो रही है' कहकर दिला रही है।

फिर इसी समय कल आवेंगो : कहकर उपहास करती है। व्यञ्जित करती हैं कि इस समय चलो। मनही मन हँसने का कारण यह कि प्रकट हँसने में सीताजी का अपमान होगा। अपनी उक्ति पर स्वयं ही हँस रही है। क्योंकि कल इस समय यहाँ आना असम्भव होगा। इस समय तो धनुषयज्ञ होता रहेगा। अतः ध्वनि यही है कि इस समय चलो। धैर्य धरो।

गूढ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भए बिलंब मातु भय मानी॥
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपौ पितुबस जाने॥४॥

अर्थ : गूढार्थक वचन सुनकर सीताजी को सङ्कोच हुआ। माता को डरीं कि देर हो गई। बड़ा धैर्य धारण करके रामजी को हृदय में रक्खा और अपने को पिता के वश जानकर लौटीं।

व्याख्या : गूढ़ गिरा अर्थात् इसी समय धनुषयज्ञ में कल फिर इनका साक्षात्कार होगा। उस समय का देखना भी समुचित होगा। इस समय का इस भाँति देखते रहना समुचित नहीं। अति क्षोभ रहा। अतः बड़ा धैर्य धारण करना पड़ा। लोचन लुब्ध थे। अतः उधर से फिरने में बड़े धैर्य की आवश्यकता थी।

मनको समझाया कि मैं पिता के वश में हूँ। फिर भी रामजी को हृदय में रखकर लौटीं।

दो. देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ै प्रीति न थोरि ॥२३४॥

अर्थ : मृग, पक्षी और पेड़ों के देखने के वहाने बार बार लौटकर देखती हैं। रघुवीर की छवि बार बार देखकर प्रीति थोड़ी नहीं बढ़ती थी।

व्याख्या : रामजी को देखने की इच्छा है। पर मृग कैसा सुन्दर है। चिड़ियाँ कैसा मधुर बोल रही हैं। वृक्ष कैसा फूला हुआ है। ऐसा कहकर चतुरता से वात छिपाती हैं। फिर फिरकर देखने से तृषा शान्त नहीं होती। उत्तरोत्तर वढ़ती ही जाती है। ऊपर जो मृग पक्षी और तरु के व्याज से लौट लौटकर रामजी को देखना कहा वह अवहित्था सञ्चारी है। यथा : अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेन केनचित्।

जानि कठिन सिवचाप विसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥
प्रभु जव जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥१॥

अर्थ : शिवजी के धनुष को कठिन जानकर चिन्ता करती हुई हृदय में साँवली मूर्ति को रखकर चलीं। प्रभु ने जव सुख स्नेह शोभा और गुणों की खानि जानकी को जाते हुए जाना।

व्याख्या : शिव चाप मेरुमन्दर का जोड़ : कठिनाई और गुरुता में था। तभी शिवजी की भुजाओं के तान के सहने में समर्थ था। शिवजी के मेरुको धनुष वनाने की कथा पुराणों में सुनी जाती है। यथा : रथक्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरिति। धनुष की ऐसी कठोरता को समझकर सीताजी चिन्तित हुई। खिर्दविसूरः। विसूरयि खिद्यते। खेद करने के अर्थ में विसूर का प्रयोग होता है। यहाँ चिन्ता सञ्चारी है। चिन्ता सहित आना कहा। यथा : कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता। अब चिन्ता सहित जाना कहते हैं। यथा : विसूरत चली। पर साँवली मूर्ति को हृदय में रख लिया।

जव फिरी अपनपौ पितु वस जानी तव प्रभु ने जान लिया कि जनकनन्दिनी जा रही हैं। वह शोभा सुख की खानि हैं। यथा : देखि सीय सोभा सुख पावा। सनेह और गुण की खानि हैं। यथा : देखन मिस मृग विहँग तरु फिरै बहोरि बहोरि। निरखि निरखि रघुवीर छवि वाढ़ी प्रीति न थोरि।

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥
गई भवानी भवन बहोरी। वंदि चरन बोली कर जोरी ॥२॥

अर्थ : परम प्रेम को मृदु स्याही बनाया और चितरूपी भीत पर सुन्दर

चित्र लिख लिया। फिर गिरिजा के मन्दिर में गईं और चरणवन्दना करके हाथ जोड़कर बोलीं।

व्याख्या : जनकनन्दिनी जब जाने लगीं तो वियोग काल में चित्त के आश्वासन के लिए रामजी की मूर्ति को हृदय में रख लिया और प्रभु ने जब देखा कि ये जा रही हैं तो चित्तरूपी भीत पर परम प्रेम का रंग बनाकर जनकनन्दिनी का चित्र लिख लिया। यथा : चित्त भीति सुप्रीति रंग सरूपता अवरेखु। दोनों ओर स्थायी भाव का उदय दिखलाया। उन्हें : सीताजी को पूजन करना था इसलिए उन्होंने मूर्ति हृदय में रक्खी। इन्हें : रामजी को ध्यान करना था इसलिए चित्र लिख लिया।

पहिले भी गौरी के मन्दिर में गई थीं। इसलिए बहोरि गई कहा। पूजा कर चुकी थीं। निज अनुरूप सुन्दर वर के लिए प्रार्थना कर चुकी थीं। अब निज अनुरूप सुभग वर देख आई हैं। उनकी मूर्ति हृदय में लेकर आई है कि यही वर चाहिए। अतः चरण वन्दना करके हाथ जोड़कर बोलीं :

जय जय गिरिबरराज किसोरी। जय महेस मुख चंद चकोरी॥
जय गजबदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुतिगाता॥३॥

अर्थ : पर्वतराज की पुत्रि ! तुम्हारी जय हो। जय हो। महेशमुखचन्द चकोरी की जय हो। गणेशजी और स्वामी कार्त्तिकेय की माँ ! तुम्हारी जय हो। तुम जगत् की माँ हो। तुम्हारे शरीर में बिजली सी चमक है।

व्याख्या : अभी गिरिराज के घर अवतीर्ण नहीं हुई हैं। अभी तो सतीरूप से दाक्षायणी होकर विराजमान हैं। फिर भी गिरिराजकुमारी कहकर स्तुति हो रही है। इससे स्पष्ट है कि सती के समय भी उनकी गिरिराजकिशोरी रूप से पूजा होती थी। जिस भाँति गणेशजी सुर अनादि हैं उसी भाँति गिरिजा भी अनादि शक्ति हैं। लीला से दाक्षायणी पार्वती आदि रूप से अवतीर्ण हुआ करती हैं। दिव्य जन्म और दिव्य कर्म होने से दो बार जय कहती हैं। गिरिबरराज किसोरी से जन्म कहा। और महेस मुखचन्द चकोरी से अभूतपूर्व तपस्या कही।

प्रथम पूज्य गणेश तथा देवसेनानी स्वामिकार्तिकेय ऐसे पुत्रों की आप माता हैं। तथा सम्पूर्ण जगत् की माता हैं। इसलिए फिर उत्कर्षसूचक जय शब्द का प्रयोग करती हैं। दामिनिद्युतिगाता से तेज की प्रखरता कही। जिस भाँति दामिनी के दमकने से आँख बन्द हो जाती है उसी भाँति तुम्हारी मूर्ति के सामने आँख नहीं ठहरती।

नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना॥
भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥४॥

अर्थ : तुम्हारे आदि और अन्त की समाप्ति नहीं। असीम प्रभाव को वेद भी

नहीं जानता। तुम संसार की उत्पत्ति पालन और प्रलय करनेवाली हो। विश्व को मोहन करनेवाली और स्वतन्त्र विहार करनेवाली हो।

व्याख्या : आदि और अन्त अर्थात् आविर्भाव और तिरोभाव का अन्त नहीं है। अर्थात् आप के अनन्त अवतार हैं। वह जगन्मूर्ति नित्य है। उसी से यह संसार व्याप्त है। फिर भी उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से सुनी जाती है। यथा : नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्। तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम। तुम्हारे असीम प्रभाव को वेद नहीं जानते। क्योंकि आप उनकी भी आधारभूता हैं। यथा : शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीतरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्। ब्रह्मदेव जो जगत् की रचना करते हैं विष्णु पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं वह आप के प्रताप से करते हैं। यथा : रचत विरंचि हरि पालत हरत हर तेरे ही प्रसाद मातु अग जग पालिके। तोहिं विकास विश्व तोहि में विलास सब तोहि में समात मातु भूमिधर बालिके। आप अविद्यारूप होकर विश्व को मोहन करनेवाली हैं और स्वतन्त्र शक्तिरूपा होने से स्ववशविहारिणी हैं।

दो. पतिदेवता सुतीय महुँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेख ॥२३५॥

अर्थ : पतिव्रता उत्तम स्त्रियों में माँ! आप की पहिली गिनती है। आप की अपार महिमा को सहस्रों शारदा और शेष वर्णन नहीं कर सकते।

व्याख्या : परम अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहहिं। जस गावहिं श्रुतिचार, अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय। परम अपावन स्त्री भी यदि पति की सेवा करती है तो उसका यश चारों वेद गाते हैं। आप तो माता उत्तम पतिव्रताओं में भी प्रथम गणनीया हो। आप की महिमा का गान वेद क्यों न करेंगे? परन्तु उसकी सीमा नहीं है। इसलिए अकथनीय है। वह शेष और शारदा द्वारा भी नहीं कही जा सकती। किसी को यह सन्देह न हो कि मर्त्यलोक के वक्ता वेद नहीं कह सकते तो कदाचित् स्वर्ग के वक्ता शारदा और पाताल के वक्ता शेष कह सकते हों। इसलिए कहती हैं कि वे भी नहीं कह सकते। वेद के लिए तो कह ही दिया है कि अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। वरदायनी पुरारि पिआरी॥
देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥१॥

अर्थ : हे वरदायिनि! हे पुरारि प्रिये तुम्हारी सेवा करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं। हे देवि! तुम्हारे चरणकमल की पूजा करके सुर नर मुनि सब सुखी होते हैं।

व्याख्या : जय जय जग जननि देवि सुरनर मुनि असुर सेवि भुक्ति-मुक्ति दायिनि भय हरनि कालिका। देवी मुक्ति और भुक्ति दोनों देती हैं। धर्मार्थ काम मोक्ष का मुक्ति-भुक्ति में अन्तर्भाव होने से चारों फलों का दिया जाना कहा। जगदम्बा

के पूजन के विना चारों फलों की प्राप्ति दुर्लभ है। यथा : यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्। भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत् परमेश्वरी[1]। अतः वीर वैष्णव भी चण्डिका की पूजा करते हैं। निज अनुरूप सुभग वर माँगा है। इसलिए वरदायिनी कह रही हैं। देवि त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा। हे देवि ! शशिमौलि ने भी तुम्हारी प्रतिष्ठा की है। इसलिए पुरारि पियारी कहती हैं।

उपास्य के गुण उपासक में जब आवैं तभी समझना चाहिए कि ठीक उपासना हुई। यथा :

उपास्य के गुण		उपासक के गुण
गिरिराज किसोरी	१	विदेह कुमारी
महेसमुखचंद चकोरी	२	सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी
गज वदन षडानन माता	३	दुइ सुत सुन्दर सीता जाएँ
जगत जननि	४	जगदम्बा जानहु जिय सीता
दामिनि दुति गाता	५	दुलहिन तडितवरन तन गोरी : गी.
भव भव विभव पराभव कारिनि	६	उद्भव स्थिति संहार कारिणी
		आदि सक्ति जेहि जग उपजाया
अमित प्रभाव वेद नहिं जाना	७	तव प्रभाव जग विदित न केही
पतिदेवता सुतीय महु	८	सुनु सीता तव नाम सुमिरि
मातु प्रथम तवरेख		नारि पतिव्रत चरहि
सेवत सुलभ फल चारी	९	सर्वश्रेयस्करीं सीताम्
वर दायिनि	१०	आसिष तव अमोघ विख्याता
पुरारि पियारी	११	राम वल्लभा

मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर पुर सबही के॥
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे वैदेही॥२॥

अर्थ : मेरा मनोरथ भली भाँति जानती हो। क्योंकि सभी के हृदय रूपी पुर में तुम्हारा निवास है। इसी कारण से प्रगट नहीं कहा। ऐसा कहकर जानकीजी ने पैर पकड़ लिया।

व्याख्या : अनाहत चक्र : हृदय में शिव दुर्गा का निवास है और वहीं मन का निवास है। इसलिए तुम मेरे मनोरथ को भलीभाँति जानती हो। ध्यान करनेवाले और न करनेवाले सभी के हृदय में सदा वसती हो। नीके जानहु कहने का भाव यह कि मैंने मुखतः भी कह दिया है। यथा : निज अनुरूप सुभग वर माँगा : अथवा साँवली मूर्ति को हृदय में धारण करके चली हैं। अतः कहती हैं जहाँ तुम हो वहीं साँवली मूर्ति भी है। अब परिचय देने की आवश्यकता नहीं। वही मनोरथ है।

---

[1] जो भक्त वत्सला चण्डिका की पूजा नित्य नहीं करते उसके पुण्यकर्मों को परमेश्वरी जलाकर भस्म कर देती है।

प्रगट करके कहना निष्प्रयोजन है। नहीं तो अवश्य प्रगट करती। ऐसा कहकर चरण पकड़ लिया कि आज लूँगी। वैदेही हैं। देह छोड़ने में कुछ आगा-ीछा नहीं है।

विनय[1] प्रेम वस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी ॥
सादर सिय प्रसादु सिर धरेऊ। बोली गौरि हरसु उर भरेऊ ॥३॥

अर्थ : भवानी विनय प्रेम के वश हो गइं। माला गिरी और मूर्ति मुसकराई। आदर के साथ सीताजी ने प्रसाद शिरपर चढ़ाया। गौरी बोलीं उनके हृदय में हर्ष भर उठा।

व्याख्या : मोर मनोरथ जानहु नीके से असकहि तक विनय है। और चरण का पकड़ लेना प्रेम है। सो भवानी विनय और प्रेम के वश हो गइं। सबके लिए रास्ता बतलाया जा रहा है। यदि भवानी को वश करना है तो श्मशान में जागने से नहीं विनय और प्रेम से वे वश होती हैं। मूर्ति में आवेश हो गया। मूर्ति हिली। पूजन में जो माला पहिनायी थी वह प्रसाद रूप में मिली। माला यों भी वायु आदि द्वारा गिर जाती है। पर यह गिरना और भाँति का था। क्योंकि साथ ही साथ मूर्ति में मुसकराहट लक्षित हुई। आज भी मूर्ति मुसकराती है उदास होती है अप्रसन्न होती है उपासकों को स्पष्ट प्रतीत होता है। बात का उड़ा देना दूसरी बात है। परन्तु प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह शङ्का न उठानी चाहिए कि देवता की मूर्ति का हँसना उत्पात है। मूर्ति का हँस पड़ना एक बात है और मुसकराहट मालूम पड़ना दूसरी बात है। कितनी मूर्तियाँ बनी ही ऐसी हैं कि उनमें सदा मुसकराहट मालूम पड़ती है। तिस पर यहाँ तो आवेश का वर्णन है। पहिले मूर्ति हिली तब मुसकराई अब बोल भी उठी।

सीताजी ने उस प्रसादरूप माला को सिरपर धारण किया। स्तुति करते समय यदि इष्टदेव के ऊपर से फूल गिर पड़े तो उपासक उसे उठाकर सिरपर चढ़ाते हैं और कार्यसिद्धि का सूचक मानते हैं। भगवती जनकनन्दनी के विनय और प्रेम से गौरी भगवती का हृदय हर्ष से भर उठा। बिना बोले नहीं रहा जाता। मूर्ति में और भी अधिक आवेश हुआ। अब मूर्ति द्वारा गौरी बोलीं। जनकनन्दिनी का विनय और प्रेम ही ऐसा है। आगे चलकर आप गङ्गाजी को भी बोलते पायेंगे। भईं तब विमल वारि वर बानी।

सुनु सिअ सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥
नारद बचन सदासुचि साचा। सो बर मिलिहि जाहि मन राचा ॥४॥

अर्थ : सीते! मेरा सत्य अशीर्वाद सुनो। तुम्हारी मनःकामना पूरी होगी। नारद का वचन सदा पवित्र और सत्य है। वही वर मिलेगा जिससे मन लगा है।

---

[1] यहाँ सूक्ष्मालङ्कार है।

व्याख्या : बड़ी होने के नाते आशीर्वाद देती हैं, वर नहीं देतीं। वैदेही ने चरण पकड़ लिया था। अतः आशीर्वाद देना ही चाहिए। सो कहती हैं : पूजिहि मन कामना तुम्हारी। आशीर्वाद मिथ्या भी पड़ जाता है। इसलिए कहती हैं मेरी असीस है, यह सत्य है। मिथ्या नहीं हो सकती। मैं अपनी अनुभूत बात कहती हूँ कि : बरु पावक प्रकटै ससि माही। नारद वचन अन्यथा नाहीं। सो नारदजी स्वयं तुमसे कह चुके हैं और तुम्हें स्मरण है। यथा : सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत। अब बात स्पष्ट हो गई कि नारदजी ने कहा था जिसे तुम्हारा चित्त चाहेगा वही वर मिलेगा। उसका तुम्हारा प्रथम साक्षात्कार गिरिजा-बाग में होगा। जो नारदजी ने कहा है वही होगा। मैं वरदान क्या दूँ ? हाँ उसी की पुष्टि करती हुई मैं आशीर्वाद दे रही हूँ।

छं. मनु जाहि राचेउ मिलिहि सो वर सहज सुंदर साँवरो।
करुना निधानु सुजानु सीलु सनेह जानत रावरो॥
येहि भाँति गौरि असीस सुनि सिअ सहित हिअ हरषी अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली॥

अर्थ : जिसको मन चाहता है वही सहज सुन्दर साँवला वर मिलेगा। वह करुणानिधान है, सुजान है और आपके शील और स्नेह को जानता है। इस प्रकार की गौरी की असीस सुनकर सीताजी के सहित सब सखियाँ हर्षित हुईं। तुलसीदासजी कहते हैं कि बार बार भवानी की पूजा करके प्रसन्न मन घर को चलीं।

व्याख्या : अपना उरपुर में बसना और मनोरथ को भलीभाँति जानना व्यक्त करती हैं। मिलिहि सो वर सहज सुन्दर साँवरो। दोनों कुमारों में से साँवरे में तुम्हारा मन लगा है। वही वर तुम्हें मिलेगा। वह स्वभाव से ही सुन्दर है। उसके मण्डन की आवश्यकता नहीं। वह करुणानिधान है। अवश्य करुणा करेगा। यथा : सियहि विलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु व्यालहिं जैसे। तुम्हारा शील स्नेह भी वह जानता है क्योंकि सुजान है। यथा : प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी। अर्थात् वर में जो गुण चाहिए वे अत्यन्त उत्कर्ष रूप में उसमें वर्तमान हैं। गौरी के आशीर्वाद से सीताजी और सखियाँ सब हर्षित हो गईं। क्योंकि गौरी की वाणी अमोघ है। कृतकृत्य होकर कृतज्ञता प्रकाशन के लिए बार बार पूजा की और मुदितमन गौरी के मन्दिर में प्रार्थी होकर आई थीं। यथा : गई मुदितमन गौरि निकेता। सो कृतकार्य होकर मुदितमन मन्दिर चलीं।

दो. जानि गौरि अनुकूल, सिअ हिअ हर्षु न जाइ कहि।
मंजुल मंगल मूल, वाम अंग फरकन लगे॥२३६॥

---

१. यह हरिगीतिका छन्द है। इसके बाद जितने छन्द बालकाण्ड में पड़ेंगे सब हरिगीतिका ही हैं।

अर्थ : गौरी को अनुकूल जानकर सीताजी के हर्ष का वर्णन नहीं हो सकता। सुन्दर कल्याण के मूल वाम अंग फड़कने लगे।

व्याख्या : गौरी को अनुकूल जानकर सीताजी के हर्ष का पारावार नहीं है। सखी सीताजी के मनोरथपूर्ति की दृढ़ आशा से तथा भय के दूर हो जाने से हर्षित हैं। पर सीताजी को अपनी निधि की प्राप्ति के निश्चित आश्वासन से हर्ष है। अतः वह अवर्णनीय है। उसी भाव को पुष्ट करने के लिए मानो मंगलमूल वाम अङ्ग फड़कने का सगुन हुआ। सगुन प्रतीत भेंट प्रिय केरी।

हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई ॥
राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं ॥१॥

अर्थ : मन में सीताजी के लावण्य की प्रशंसा करते हुए दोनों भाई गुरुजी के समीप गये। रामजी ने सब कुछ विश्वामित्रजी से कह सुनाया। क्योंकि उनका स्वभाव सरल था। जिनमें छल का स्पर्श भी नहीं था।

व्याख्या : परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्हीं। से प्रसङ्ग छोड़ा था। अव वहीं से आरम्भ करते हैं। मानसिक चित्र में सीताजी का लावण्य देख देखकर प्रशंसा करते हैं। अतः यह वाक्यांश केवल रामजी के प्रति है। भगवती सखियों के साथ मन्दिर चलीं और प्रभु भाई के साथ गुरुजी के पास गये। यहाँ दोनों भाई के साथ जिस भाँति गवने क्रिया का अन्वय है उसी भाँति सराहत के साथ नहीं है। सराहना केवल रामजी कर रहे हैं। यथा : छत्रिणो गच्छन्ति। छाता किसी एक के ही हाथ में है पर कहा जाता है कि छातावाले जाते हैं। इसी भाँति सराहना केवल रामजी करते हैं पर गवने क्रिया के कर्त्ता होने से सराहत पूर्वकाल की क्रिया का सम्वन्ध दोनों भाई के साथ कर दिया गया है। गुरुजी से सीतामिलन अपने मनका क्षोभ चित्त में चित्र का अङ्कन कहा। किसी बात को छिपाया नहीं क्योंकि स्वभाव प्रभु का ऐसा सरल है कि छल का स्पर्श भी कहीं नहीं है। ऐसे सरल पुरुष ही सच्चे धर्मात्मा हो सकते हैं। यथा : सुत सुतवधूँ देवसरि वारी। छिपाना ही पाप का मूल है।

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही ॥
सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे। राम लखन सुनि भये सुखारे ॥२॥

अर्थ : फूल पाकर मुनिजी ने पूजन किया और फिर दोनों भाइयों को असीस दी कि तुम्हारे मनोरथ सफल हों। सुनकर राम लक्ष्मण सुखी हुए।

व्याख्या : सीताजी ने गौरी की पूजा स्वयं की। यथा : पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। यहाँ गुरुजी ने फूल पाकर महादेवजी की पूजा की। वहाँ पूजा के वाद गौरी भगवती की असीस मिली। यहाँ पूजा के बाद गुरुजी ने आशीर्वाद दिया। गुरुजी ने जब वृत्तान्त सुना तब कुछ न बोले पूजा कर ली तव आशीर्वाद दिया। क्योंकि शास्त्र कहता है कि सन्ध्या करने के बाद पूजन के पश्चात् अथवा भोजन के पश्चात् जो

ब्राह्मण के मुख से निकलता है वह सत्य होता है। इसलिए गुरुजी ने पूजन के बाद आशीर्वाद दिया है। दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया कि तुम लोगों के मनोरथ सुफल हों। इससे स्पष्ट है कि लक्ष्मणजी का भी कुछ मनोरथ था। जिस भाँति पत्नी-रूप में सीताजी के मिलने का मनोरथ रामजी को था उसी भाँति भावज रूप में सीता की प्राप्ति का मनोरथ लक्ष्मणजी को था। अतः गुरुजी दोनों भाइयों के मनोरथ की पूर्ति का आशीर्वाद देते हैं। वृत्तान्त सुनने पर भी गुरुजी के कुछ न कहने से दोनों भाई चिन्तित हो गये थे। सो अब आशीर्वाद पाकर सुखी हुए। यहाँ पर थोड़ी सी दोनों ओर की घटनाओं का मिलान विनोदार्थ किया जाता है।

रामजी की ओर की घटना		सीताजी की ओर की घटना
तात जनक तनया यह सोई	१	एक कहै नृप सुत सोइ आली
धनुषयज्ञ जेहि कारन होई		सुने जे मुनि संग आए काली
देखन बाग कुँअर दोउ आये	२	पूजन गौरि सखी लै आई
अस कहि फिर चितये तेहि ओरा	३	लता ओट तब सखिन्ह लखाए
सिय मुख ससि भये नयन चकोरा	४	सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी
भए विलोचन चारु अचंचल	५	थके नयन रघुपति छवि देखी
मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल	६	पलकन हू परिहरे निमेखें
देखि सीय सोभा सुख पावा	७	देखि रूप लोचन ललचाने
हृदय सराहत वचन न आवा	८	अधिक सनेह देह भई भोरी
सिय सोभा हिय वरनि प्रभु	९	लोचन मग रामहि उर आनी
आपन दसा विचारि	१०	दीन्हे पलक कपाट सयानी
सहज पुनीत मोर मन छोभा	११	सुमिरि पिता पन मन अति छोभा
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	१२	वाम अंग फरकन लगे
चारु चित्त भीती लिख लीन्ही	१३	चली राखि उर स्यामल मूरति
गुरु समीप गवने दोउ भाई	१४	गई भवानी भवन बहोरी
राम कहा सव कौसिक पाही	१५	मोर मनोरथ जानहु नीके
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	१६	विनय प्रेम वस भई भवानी
पुनि असीस दोउ भाइन्ह दीन्ही	१७	सुनु सिय सत्य असीस हमारी
सुफल मनोरथ होउ तुम्हारे	१८	सो वर मिलिहि जाहि मन राचा
हृदय सराहत सीय लोनाई	१९	साँवर कुँवर सखी सुठि लोना
राम लखन सुनि भए सुखारे	२०	सिय हिय हरख न जाइ कहि

और भी मिलान किया जा सकता है पर प्रधान इतने ही हैं।

करि भोजनु मुनिवर विग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥
विगत दिवस गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई ॥३॥

अर्थ : श्रेष्ठ विज्ञानी मुनि भोजन करके कुछ पुरानी कथाएँ कहने लगे। दिन बीतने पर मुनिजी की आज्ञा पा करके सन्ध्या करने दोनों भाई चले।

व्याख्या : पूजन के बाद मुनियों में श्रेष्ठ विज्ञानी मुनि विश्वामित्रजी ने भोजन किया। भोजन के बाद कुछ विश्राम चाहिए। परन्तु विज्ञानी मुनि हैं प्रमाद नहीं होने देते। विश्राम के समय में पुरानी कथाएँ कहते हैं। पुरानी कथाओं के मिस से धर्मोपदेश का विधान है। जितने पुराण हैं उनमें किसी न किसी कल्प की कथा का आश्रयण करके धर्म कहा गया है। कथा सुनने में मन लगता है। आयास नहीं मालूम होता है और उपदेश हृदय में अङ्कित होता जाता है। अतः विश्वामित्रजी की कथा दिनमें भी विश्राम के समय होती है और रात को भी होती है। यथा : कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी।

विगत दिवस और निसि प्रवेस एकही बात है। सन्ध्या आते ही गुरुजी की आज्ञा सन्ध्या के लिए हो जाती है। अतः दोनों भाई सन्ध्या करने चले। परमात्मा के अवतार होने पर भी नित्यकर्म का त्याग नहीं करते। क्योंकि कृतकृत्य महापुरुष भी लोकसंग्रहार्थ नित्य नैमित्तिक कर्म का परित्याग नहीं करते। चले कहने का भाव यह कि डेरे पर ही सन्ध्या नहीं कर ली जलाशय पर गये।

प्राची दिसि ससि उगेउ[1] सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥
बहुरि विचारु कीन्ह मन माहीं। सीय [2]वदन सम हिमकर नाहीं॥४॥

अर्थ : पूर्व दिशा में सुन्दर चन्द्रोदय हुआ। सीताजी के मुख के सदृश देखकर सुख पाया। फिर मन में विचार किया कि सीताजी के मुख के समान चन्द्र नहीं है।

व्याख्या : आज चतुर्दशी या पूर्णमासी है। सायं सन्ध्या समाप्त होते होते चन्द्रोदय हो गया। देखा तो सीताजी के मुख के समान प्रकाशकत्व और आह्लादकत्व है। इससे सुख मिला। यथा : देखि सीय सोभा सुख पावा। एकाएक तो चन्द्र सीताजी के मुख के समान ही प्रतीत हुआ पर विचार करने पर राय पलट गई। यही निश्चय किया कि चन्द्रमा सीताजी के मुख के पटतर योग्य नहीं है।

दो. जन्म सिंधु पुनि वंधु विषु, दिन मलीन सकलंकु।
सिअ मुख समता पाव किमि, चंद्र बापुरो रंकु॥२३७॥

अर्थ : यह समुद्र से जन्मा है। भाई इसका विष है। दिनमें निष्प्रभ है और कलङ्कयुक्त है। यह गरीव विचारा सीता के मुख की बराबरी कैसे कर सकता है?

व्याख्या : रहिमन जाके बाप को जल पीवै नहिं कोय। ताके सुत के हृदय में क्यों न कालिमा होय। चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है जिसका जल कोई नहीं

---

[1] यहाँ प्रतीप तृतीय है।

[2] चन्द्र की शोभा शरत् में ही अधिक होती है। सायंकाल में प्राचीदिशि में उदय तो चतुर्दशी या पूर्णिमा को होता है। उसी के दूसरे दिन धनुषयज्ञ था। जिसका प्रतिपद में होना सम्भव नहीं था। अतः कहना पड़ेगा कि आश्विन शुक्ल चतुर्दशी को फुलवारी की लीला हुई और पूर्णिमा को धनुषभङ्ग हुआ।

पीता। इसका प्रिय भाई विष है। यथा : प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा। विष संजुत कर निकर पसारी। जारत विरहवंत नर नारी। इसमें प्रकाश भी रात को ही रहता है। दिन को तो एकदम फीका पड़ जाता है और इसमें कलङ्क है। बापुरो रंक अर्थात् बेचारा गरीव है। प्रकाश ही इसकी सम्पत्ति है। वह इसकी अपनी नहीं है। इसे सूर्य से प्रकाश मिलता है। अतः स्वयं सम्पत्तिहीन होने से रङ्क : गरीब कहा और क्षयरोगयुक्त है इसलिए विचारा कहा। इधर सीताजी विदेहराज जनक की वेटी हैं। यथा :

रिषिराज आज राजा जनक समान को।
आपु येहि भाँति प्रीति सहित सराहिअत रागी औ विरागी वड़भागी ऐसो आनको।
गुरु हरपद नेहु गेह वसि भो विदेह अगुन सगुन प्रभु भजन सयान को।
कहनि रहनि एक विरति विवेक नीति वेद बुध संमत पथीन निरवान को।
गांठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।

सीताजी के भाई सर्वकामफलप्रद साक्षात् मङ्गल हैं अथवा लक्ष्मीनिधि हैं। सीता दिन को भी प्रकाश करती है। यथा : करत प्रकास फिरत फुलवाई। यह निष्कलङ्क है। यथा : जिमि विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रकट दिखाई। सीता के प्रकाश से दूसरे प्रकाशित होते हैं। यथा : सुन्दरता कहँ सुंदर करई। छविगृह दीप सिखा जनु बरई। अतः सीता के मुख की समता को चन्द्र कैसे पा सकता है ?

घटै बढ़ै विरहिन दुखदाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥१॥

अर्थ : घटता बढ़ता है। विरहियों को दुःख देता है। अवसर मिल जाने पर इसे राहु ग्रसता है। कोक को शोक देता है। कमल से द्रोह करता है। चन्द्रमा ! तुझ में बहुत अवगुण हैं।

व्याख्या : घटता है। बढ़ता है। सदा विषमावस्था इसकी बनी ही रहती है। विरहियों को दुःख देता है। यथा :

संतत दुःखद सखी रजनीकर।
अब बिनु मन तन दहत दया तजि राखत रवि ह्वै नयन वारिधर।
जद्यपि है दारुन बड़वानल राख्यौ है जलधिगभीर धीर तर।
ताहू ते परम कठिन जान्यो ससि तज्यौ पिता तब भयउ व्योमचर।
सकल विकार कोष विरहिनि-रिपु काहे ते याहि सराहत सुरनर।

यह महामलीन मरे को मारता है। पूर्णिमा प्रतिपद की सन्धि में ही चन्द्रग्रहण होता है अर्थात् राहु चन्द्र को ग्रस लेता है। यह राहु का उच्छिष्ट है। पक्षी ने किसका क्या बिगाड़ा है। सो यह कोक को शोक देता है। कमल संसार को प्रिय है। पर यह उससे भी द्रोह करता है। अतः रामजी चन्द्रमा को सम्बोधन करके कहते हैं कि तुझमें बहुत अवगुण हैं।

वैदेही मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें ॥
सिअ मुख छवि बिधुव्याज बखानी। गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी ॥२॥

अर्थ : सीता के मुख की तुलना करने से बड़ा अनुचित करने का भारी दोष होगा। चन्द्रमा के व्याज से सीताजी की मुखछवि का वर्णन किया। अधिक रात गई जानकर गुरुजी के पास चले।

व्याख्या : सीताजी के मुख की तुलना चन्द्रमा से हो नहीं सकती। उसकी कलाओं का कृष्णपक्ष में देवता पान किया करते हैं। इसलिए घटता है और यहाँ तो सीताजी के कृपाकटाक्ष को देवता चाहा करते हैं। यथा : जाकी कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ। चन्द्रमा तो विरही को दुःख देता है। मरे को मारता है। किंतु सीता को तो खिन्न परम प्रिय हैं। यथा : जिनहि परम प्रिय खिन्न। चन्द्रमा राहु का जूठा है। पर सीता की उपमा जूठे से नहीं दी जा सकती। यथा : सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेह कुमारी। चन्द्रमा कोकसोकप्रद पंकजद्रोही है और सीता सर्वश्रेयस्करी हैं। अतः चन्द्र से सीता के मुख की समता करना बड़ा अनुचित है। जितना बड़ा अनुचित किया जाता है उतना ही बड़ा दोष होता है। इसलिए सियमुख की चन्द्र से समता करने में बड़ा दोष है। सीय वदन सम हिमकर नाही से उपक्रम करके पटतर दीन्हे होइ दोष कहके उपसंहार करते हैं। इसी उधेड़बुन में रात अधिक निकल गई। इसलिए गुरुजी के पास चले। संध्या करन चले से उपक्रम गुरु पहँ चले से उपसंहार।

करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा ॥
बिगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥३॥

अर्थ : मुनिजी के चरण कमल में प्रणाम करके आज्ञा पाकर विश्राम किया। रात बीतने पर रघुनायक जगे। छोटे भाई को देखकर ऐसा कहने लगे।

व्याख्या : आज मुनि के चरणकमलों का पलोटना नहीं कहा और न लक्ष्मणजी रामजी के ही चरण दबाते हैं। क्योंकि आज उसकी आवश्यकता नहीं है। आज किसी को कहीं दूर जाना नहीं पड़ा। कल तो रास्ता चलकर आये थे। अतः पैर दबाने की आवश्यकता थी।

जाकर मुनिजी के चरणकमलों में प्रणाम किया। मुनिजी ने रात अधिक जानकर तुरन्त विश्राम करने की आज्ञा दी। रामजी सोये इसलिए उनका पिछले पहर जागना कहते हैं। लक्ष्मणजी नहीं सोये अतः उनका जागना भी नहीं कहते। रामजी जागे तो लक्ष्मण को प्रस्तुत देखकर कहने लगे। लक्ष्मणजी ही इस समय सखा हैं। अतः अपने मनोगत भावों से उन्हें परिचित कराते हैं। साथी को अन्धकार में रखने से अनिष्ट का भय रहता है।

उएउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुखदाता ॥
बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु प्रभाव सूचक मृदु बानी ॥४॥

अर्थ : हे भाई ! देखो अरुण उदय हुआ। यह कमल और कोक लोगों को सुख देनेवाला है। लक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर प्रभु के प्रभाव की सूचना देने वाली वाणी बोले।

व्याख्या : अरुण का उदय होना भाई को दिखला रहे हैं : दुःख दाता को नहीं दिखलाया सुखदाता को दिखला रहे हैं। कोक सोकप्रद पंकज द्रोही अस्त हुआ। अब पंकज कोक लोक सुखदाता का उदय हुआ। भाव यह कि कल रात को सुखदाता के उदय को कितनी रात तक हम देखते रहे। यह सूर्य का अग्रगामी सारथी अरुण है। इसका उदय होना सूर्य के आगमन का सूचक है।

लक्ष्मणजी चन्द्र के व्याज से सियमुखछवि के बखान में नहीं बोले थे। पर अरुणोदय की चरचा चलते ही बोले। प्रभु को श्रृङ्गाररस में मग्न देखकर बिना पूछे कहते हैं। अतः हाथ जोड़कर वीररस के उदय के लिए प्रभुप्रभावसूचक मृदुवाणी बोले। बात को समझ जाने के लिए चन्द्रोदय का वर्णन रामजी ने किया। अब समझ जाना सूचन के लिए अरुणोदय का वर्णन लक्ष्मणजी करेंगे।

दो. अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडगन जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन ॥२३८॥

अर्थ : अरुण के उदय होने से कुमुद : कोई सङ्कुचित हुए और ताराओं की ज्योति मलीन हो गई। जैसे तुम्हारा आगमन सुनकर राजा लोग बलहीन हो गये।

व्याख्या : पंकज कोकलोक को सुख तो हुआ पर कुमुद सङ्कुचित हो गये और ताराओं की ज्योति धीमी पड़ गई। यथा : मानी महिप कुमुद सकुचाने। नृपन्ह केर नासा निसि नासी। वचन किरन अवली न प्रकासी। इसी भाँति आपका आगमन सुनकर राजा लोग बलहीन हो गये। आपका आना सूर्योदय होना है और आपके आगमन का समाचार अरुणोदय है। मानी महीप लोग तो कुमुद की भाँति सङ्कुचित हो गये और तारों की भाँति सभी राजाओं का तेज दब गया। तेज का दबना ही बलहीन होना है।

नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥१॥

अर्थ : सब राजा लोग ताराओं की भाँति चमक तो रहे हैं परन्तु चापरूपी अन्धकार का नाश नहीं कर सकते। कमल, कोक, भौंरे और नाना प्रकार की चिड़ियाँ रात के बीतने पर हर्षित हो उठीं।

व्याख्या : राजा लोग ताराओं की भाँति अपने को प्रकाशित कर पाते हैं। पर भारी अन्धकार जो जगत् को आवृत किये हुए है उसे हिला भी नहीं सकते। यहाँ धनुष ही अन्धकार है। वह इनका हिलाया नहीं हिल सकता। अन्धकार अभाव रूप होने से हलका है और चाप द्रव्यमय होने से भारी है।

अरुणोदय से निशा का अवसान होता है। निशा : रात से कमल कोक मधुकर और खग सभी दुःखी थे। सब निशाभङ्ग चाहते थे। अतः अरुणोदय से प्रसन्न हुए। इतने तारों ने अन्धकार नाश के लिए रात भर जोर लगाया पर ये तनिक भी आह्लादित नहीं हुए। जानते थे कि इनकी हटाई रात न हटेगी। इसी भाँति राजा लोग बात बनाते हैं। धनुष नहीं हटा सकते। यथा : वचन नखत अवली न प्रकासी।

ऐसहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहि टूटे धनुष सुखारे॥
उयेउ [1]भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा॥२॥

अर्थ : हे प्रभो ! इसी भाँति तुम्हारे सब भक्त धनुष के टूटने से सुखी होंगे। सूर्य उदय हुए कि अनायास ही अन्धकार का नाश हुआ। तारे छिपे और संसार में तेज का प्रकाश हो गया।

व्याख्या : लक्ष्मणजी कमल कोक मधुकर और खग से भक्तों को उपमित करते हैं। क्योंकि कमल कोकादि चार हैं और भक्त भी चार प्रकार के होते हैं : १. ज्ञानी २. जिज्ञासु ३. अर्थार्थी और ४. आर्त। इनमें ज्ञानी की उपमा कमल से है। क्योंकि वह साक्षात् सूर्य से प्रेम करता है। जिज्ञासु की उपमा कोक से है। क्योंकि उसे अपनी कोकी की खोज है। सूर्य के बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। इसलिए सूर्य से प्रेम करता है। अर्थार्थी की उपमा मधुकर : भौंरे से है। उसे मधु चाहिए। सूर्य उदय हों कमल खिले तब उसे मधु मिले। इसलिए सूर्य से प्रेम करते हैं। आर्त की उपमा खग नाना से है। क्योंकि अपने पेट का भोजन बच्चे को खिलाकर भूखे पेट अपने घोंसले में बैठे आर्त हो रहे हैं। रात को सूझता नहीं कहाँ जाँय। जब सूर्य निकले तब वे चारे की खोज में चलें। इसलिए उन्हें सूर्य प्रिय है।

अवध में दो ही प्रकार के भक्त हैं। १. ज्ञानी और २. जिज्ञासु। यथा : मनहु कोक कोकी कमल दीन विहीन तमारि। पर लक्ष्मणजी शीतल सुभग भगत सुखदाता हैं। चारों की याद दिलाते हैं। ये चारों चापतमभारी के भग्न होने से सुखी होंगे।

सूर्य के उदय होते ही विना श्रम के ही तम का नाश होगा। यथा : छुअतै टूट पिनाक पुराना। नक्षत्र छिप जाँयगे। यथा : रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गँवहि सिधारे। जहँ तहँ कायर गँवहिं पराने। संसार में तेज भर उठेगा। यथा : कोदंड भंजेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं। महि पाताल नाक जस व्यापा। राम वरी सिय भंजेउ चापा।

रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया॥
तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रकटी धनु विघटन परिपाटी॥३॥

अर्थ : हे रघुराया ! सूर्य ने अपने उदय के वहाने से प्रभु का प्रताप सब

---

[1] यहाँ हेतु अलङ्कार है।

राजाओं को दिखा दिया। आप के भुजबल की महिमा को उघाड़ने के लिए धनुष तोड़ने की प्रथा प्रकट हुई है।

व्याख्या : रामजी ने चन्द्रमा के व्याज से सियमुखछवि का वर्णन करके अपनी आसक्ति लक्ष्मणजी से प्रकट की। लक्ष्मणजी अरुणोदय के वर्णन के व्याज से कह रहे हैं कि आपके भुजबल की महिमा छिपी है। शिवजी का धनुष आप ही से टूटेगा। दूसरे से टूट सकता नहीं। यह धनुषभंग की प्रथा उसके उघाड़ने के लिए प्रचलित हुई है। भावार्थ यह कि आप ही धनुष तोड़ेंगे और विश्वव्यापिनी कीर्ति का लाभ करेंगे।

बंधु वचन सुनि प्रभु मुसुकाने। ह्वै सुचि सहज पुनीत नहाने।।
नित्यक्रिया करि गुरुपहिं आए। चरन सरोज सुभग सिर नाए।।४।।

अर्थ : भाई की बात सुनकर प्रभु मुसकराये। और स्वभाव से पवित्र होने पर भी शुचि होकर स्नान किया। नित्यकर्म करके गुरुजी के पास आये और चरण-कमलों में सुन्दर सिर झुकाया।

व्याख्या : रामजी भाई की बात सुनकर मुसकराये कि मेरे अभिप्राय को लक्ष्मणजी समझ गये। अब स्पष्ट कहे देते हैं कि धनुष आप तोड़ेंगे और आप का सुयश होगा। बाह्याभ्यन्तर शुचि होकर तब स्नान किया अर्थात् दन्तधावनादि से शुचि होकर स्नान किया। जो सहज शुचि हैं वह भी लोकसंग्रह के लिए यथाशास्त्र नित्य शुद्धि करते हैं। इसी भाँति लोगों को आचरण करना चाहिए।

सबसे पहिला काम शुचि होकर नित्यकर्म का लोप नहीं होने देना है। तत्पश्चात् गुरुदेव की वन्दना करने का विधान है। अतः गुरुजी के चरणकमलों में सिर नवाया कि अब मैं सावकाश हूँ। जो आज्ञा हो सो करूँ।

सतानंद तब जनक बोलाए। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए।।
जनक विनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई।।५।।

अर्थ : तब जनक ने सतानन्द को बुलाया और तुरन्त विश्वामित्रजी के पास भेजा। उन्होंने आकर राजा जनक की विनती कह सुनाई। मुनिजी प्रसन्न हुए और दोनों भाइयों को बुला लिया।

व्याख्या : यह समाचार पाने के बाद कि दोनों भाई और गुरुजी नित्यकृत्य से खाली हो गये। राजा ने सतानन्दजी को भेजा। इस प्रतीक्षा में रहे कि ये लोग खाली हो जायँ तब धनुषयज्ञ आरम्भ हो। राजा लोग पहिले से ही आकर डँटे हुए हैं। जनकजी धनुषयज्ञ की प्रक्रिया रोके हुए हैं। अतः सतानन्दजी को तुरन्त भेजा। विश्वामित्रजी के आदर के लिए स्वयं पुरोहितजी बुलाने गये।

जनकजी का विनय सुनाया कि दोनों राजकुमारों के साथ मुनिराज पधारें। महाराज जनकजी की चतुरता पर प्रसन्न हुए कि दोनों भाइयों को निमन्त्रण भेजा है। अतः पास बुलाया। इस समय वहाँ नहीं थे। सुन्दर सदन के उस खण्ड में थे जो इन दोनों भाइयों के रहने के लिए नियत हुआ था।

दो. सतानंद पद बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठए जनक बोलाइ ॥२३९॥

अर्थ : सतानन्द के चरणों की वन्दना करके गुरुजी के पास बैठ गये। तब मुनिजी बोले : हे तात! चलो राजा जनक ने बुला भेजा है।

व्याख्या : गुरुजी की वन्दना हो चुकी है। अतः सतानन्दपदवन्दना कहते हैं। पर उनके पास न बैठे। गुरुजी के पास जाकर बैठ गये। क्योंकि उन्होंने बुलाया था। ऋषि का रूप देखकर वन्दना की। मुनिजी कहते हैं कि राजा जनक का बुलावा आया है। भाव यह कि वस्त्र भूषण शस्त्रास्त्र धारण कर लो। राज समाज में चलना है और अब तुम्हारा चलना अनाहूत नहीं है।

सीय स्वयंवरु देखिअ जाई। ईसु काहि धौं देइ बड़ाई॥
लषन कहा जस भाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई ॥१॥

अर्थ : चलकर सीता का स्वयंवर देखना चाहिए। देखें महादेव किसे बड़ाई देते हैं। लक्ष्मण ने कहा नाथ! यश तो उसी को मिलेगा जिस पर आपकी कृपा होगी।

व्याख्या : बुलाने का कारण कहते हैं : सीता का स्वयंवर देखने के लिए। अब चलकर यह देखना है कि महादेव किसे बड़ाई देते हैं। धनुषभङ्ग बिना महादेव की कृपा के कोई कर नहीं सकता। किसका सामर्थ्य है जो बिना उनकी कृपा धनुषभङ्ग कर सके!

लक्ष्मणजी तुरन्त बोल उठे कि यशभाजन तो निश्चय हो चुका है। जिस पर आपकी कृपा है उसे आप आशीर्वाद दे चुके हैं : सुफल मनोरथ होउ तुम्हारे। अतः यशभाजन कौन होगा यह तो पहिले से ही निश्चित है!

हरषे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहिं सुखमानी॥
पुनि मुनिवृन्द समेत कृपाला। देखन चले धनुपमखसाला ॥२॥

अर्थ : लक्ष्मणजी की वरवाणी सुनकर मुनिलोग प्रसन्न हो गये। सब ने सुख मानकर आशीर्वाद दिया। तब मुनिलोगों के सहित कृपाल धनुषयज्ञशाला देखने चले।

व्याख्या : लक्ष्मणजी की वाणी को वरवाणी कहा। क्योंकि गुरुभक्ति तथा रामभक्ति से ओत-प्रोत थी। सब मुनि विश्वामित्रजी के भक्त थे। रामजी पर सबकी कृपा थी। सब चाहते थे कि रामजी धनुष तोड़ें। लक्ष्मणजी के मुख से गुरुजी की प्रशंसा सुनकर सब प्रसन्न हो उठे। आशीर्वाद देने लगे।

कृपाल धनुषयज्ञशाला देखने चले। स्वयंवर देखने नहीं चले। स्वयंवर तो इनका होगा देखनेवाले दूसरे होंगे। मुनिवृंद साथ में है। जनकपुर आते ही प्रधानता इनकी हो गई।

रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरवासिन्ह पाई ॥
चले सकल गृह काज विसारी। बालु जुवान जरठ नर नारी ॥३॥

अर्थ : सब पुरवासियों को समाचार मिला कि दोनों भाई रङ्गभूमि में आये। सब बाल, युवा, वृद्ध नरनारी घर का काम भुलाकर चले।

व्याख्या : नगर के नरनारी, बाल, युवा, वृद्ध सबको दोनों भाइयों के दर्शन का बड़ा चाव था। रामजो यहाँ से चले। इतने में ही नगर में समाचार फैल गया कि रंगभूमि में आये। इसी भाँति जब नगर देखने चले थे तब ऐसा ही समाचार फैला कि देखन नगर भूप सुत आये।

पहिले धाये धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी। सो लूट चुके हैं अब रङ्क नहीं हैं। इसलिए धाये नहीं चले। दूसरी यह बात है कि जानते हैं कि रंगभूमि में देर तक ठहरना होगा। अतः त्वरा का कोई कारण नहीं था। समाचार सबने पाया था इसलिए सब चले। पहिले गृहकार्य त्यागकर चले थे। इस बार उसकी सुधि भी बिसरा दी। तीसरा भाव यह कि बाल और जरठ भी साथ में हैं। अतः दौड़ने का सुअवसर नहीं है। नारियाँ भी चली जा रही हैं।

देखी जनक भीर भै भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू ॥४॥

अर्थ : जनक ने देखा भीड़ तो भारी हुई तब शुचि सेवकों को बुलाया। कहा कि तुरन्त सब लोगों के पास जाकर सबको उचित आसन दो।

व्याख्या : भीड़ पहिले ही पहुँच गई। प्रभु तो मत्त मंजु कुंजरवर गामी हैं। अतः पीछे पहुँचेंगे भारी भीड़ देखकर जनकजो ने सोचा कि बिना व्यवस्था काम न चलेगा। अतः शुचि सेवकों को : जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले बुलाया। कहा कि जल्दी करो सबको उचित आसन दो। देर करने से अनुचित आसन पर बैठ जायँगे। फिर उठाने में अपमान होगा। अतः व्यवस्था करके पहिले ही से योग्य आसन सबको दो। सत्कार से बिठाओ। यह महाराज जनक की शासनपटुता तथा प्रजापालकता है।

दो. कहि मृदु वचन विनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ॥२४०॥

अर्थ : उन्होंने मृदु और विनीत वचन कहकर उत्तम, मध्य, नीच और लघु नर-नारियों को उनके स्थल के अनुरूप बिठलाया !

व्याख्या : शुचि सेवक हैं। राजपुरुष होने का अभिमान नहीं है। अपने सेवक धर्म को जानते हैं। अतः सत्कार के साथ सबको मृदु तथा विनीत वचन कहकर यथायोग्य स्थानों पर बिठलाया। नगर के सब ओर के लोग चले आये। अतः सब सेवकों को भेजा। जो उत्तम, मध्यम नीच लघु से परिचित हों।

राजकुँअर तेहि औसर आए। मनहुँ मनोहरता तन छाए ॥
गुन सागर नागर वर वीरा। सुन्दर स्यामल गौर सरीरा ॥१॥

अर्थ : उसी अवसर पर राजकुमार आगये। मानो मनोहरता शरीर पर छाई हुई है। सुन्दर साँवले और गोरे शरीरवाले, गुण के समुद्र, नागर और श्रेष्ठ वीर हैं।

व्याख्या : जब भीड़ बैठ चुकी। उसी अवसर दोनों राजकुमार आये। मानो मनोहरता ने सम्पूर्ण शरीर में डेरा डाल दिया है। यथा : चित्रकूट रघुनन्दन छाए। छाए शब्द का प्रयोग डेरा डालने के अर्थ में अनेक स्थलों में प्रयुक्त है। सखी कह चुकी है : कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी। दोनों राजकुमारों का वर्णन एक साथ करते हैं। इसलिए सुन्दर स्यामल गौर सरीरा कहा। बाहर की शोभा कहकर भीतरी शोभा भी कहते हैं। उनके गुणों का वारापार नहीं। इसलिए गुणसागर कहा। बहुत बड़े गुणी में भो भद्दापन देखा गया है। अतः उसके निवारण के लिए नागर कहा। सुन्दरता, गुणवाहुल्य और शौर्य ये तीनों एकत्र नहीं देखे जाते। यहाँ तीनों का योग है। इसलिए वरवीरा कहा।

राज समाज विराजत रूरे। उड़गन महु जिनु जुग विधु पूरें ॥
जिन्हकें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥२॥

अर्थ : राजसमाज में अच्छे विराजमान हो रहे हैं। जैसे तारागणों में दो पूर्ण चन्द्र हों। जिसकी जैसी भावना रही प्रभु की मूर्ति उसने वैसी ही देखी।

व्याख्या : राजसमाज में ऐसे शोभित हुए जैसे तारागणों में दो पूर्णचन्द्र उदय हों। भाव यह कि प्रकाश से रङ्गभूमि भर उठी। राजा लोग इनके सामने ताराओं की भाँति हतप्रभ हो गये। उनके आश्रित से जान पड़ने लगे। क्योंकि चन्द्र ही तारापति हैं।

भक्त अभक्त के हृदयानुसार इनका विषम विहार होता है। अतः सबको इन्होंने उनके पृथक् भावनानुसार पृथक् रूप से दर्शन दिया। यथा : यद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहि न पाप पूँनु गुन दोषू। तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा। तथा अपने अखिल रसामृत मूर्ति होने का वैभव दिखलाया।

देखहिं[1] रूप महारनधीरा। मनहुँ वीर रस धरे सरीरा ॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥३॥

अर्थ : महारणधीरों ने रूप देखा। मानो वीररस ने ही शरीर धारण कर रक्खा है। प्रभु को देखकर कुटिल राजा डर गये मानों भारी भयानक मूर्ति है।

---

[1] यहाँ प्रथम उल्लेख है।

व्याख्या : उस समाज में बड़े-बड़े रणधीर नरशरीर धारण करके आये थे। यथा : देव दनुज धरि मनुज सरीरा। विपुल वीर आये रनधीरा : वे नरशरीर धारण किये बैठे थे। उन्हें मालूम हुआ कि मानो स्वयं वीररस ही नरशरीर में आगया। प्राकृत में द्विवचन नहीं होता। उसके लिए बहुवचन ही आता है। यथा : द्विवचनस्य बहुवचनम् : प्रा. प्र.। यहाँ दोनों राजकुमारों के लिए शरीरा बहु वचन का प्रयोग हुआ है। जश्शसोर्लोपः इस सूत्र से विसर्ग का लोप हुआ शरीर शब्द का पुंल्लिङ्गवत् व्यवहार हुआ है। लिङ्गमतन्त्रम्। प्राकृत में लिङ्ग का निर्णय नहीं है। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ऊपर कह आये हैं। इससे कोई यह न समझ ले कि प्रभु शब्द से रामजी का ही बोध होता है। लक्ष्मणजी भी प्रभु हैं। यथा : जय अनंत जय जगदाधारा। तुम प्रभु सब देवन्हि निस्तारा। इससे वीर रस कहा।

कुटिल राजा तो प्रभु को देखकर काँप उठे। उन्हें मालूम हुआ कि मानो भारी भयानक मूर्ति हैं। भयानकरस के अधिष्ठाता यम हैं। भावार्थ यह कि कुटिल राजाओं को तो साक्षात् यमस्वरूप ही दिखाई पड़े। इसलिए दुष्टहृदय पुरुष उनके सम्मुख नहीं होते। वे भयानां भयं भीषणं भीषणानाम् हैं। दुष्टहृदय को उनकी सत्ता स्वीकार करने में महाभय होता है। यथा : जौ पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे समुख आव कि सोई। इससे भयानक रस कहा।

रहे असुर छल छोनिप वेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥४॥

अर्थ : वहाँ असुर छल से राजा के वेष में थे। उन्होंने प्रभु को साक्षात् काल के समान देखा। पुरवासियों ने दोनों भाइयों को देखा कि मनुष्य जाति के भूषण नेत्रों को सुख देने वाले हैं।

व्याख्या : छली असुर राजा के वेष में थे। जिसमें उन्हें कोई पहिचान न सके। पर काल सबको पहिचानता है। वेष बदलने से कोई बच नहीं सकता। उन्होंने देखा कि प्रत्यक्ष काल आ गया। अब हम नहीं बच सकते। क्योंकि काल का दर्शन मुमूर्षु को ही होता है और कोई काल को नहीं देख सकता। यथा : मोहि विलोकु तोर मैं काला। यहाँ कालरूप कहकर वीभत्स रस कहा।

पुरनरनारि सुभग सुठि संता। धर्मशील ज्ञानी गुनवंता। ये पुरवासी संत हैं। इन्हें नरभूषण दिखाई पड़े। नरभूषण कहने का कारण कहते हैं कि लोचनसुखदाई हैं। लोचनसुखद होने के लिए ही भूषण पहिना जाता है। धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी। बड़ा बहुमूल्य भूषण है। इसलिए दौड़े।

दो. नारि विलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगारु धरि, मूरति परम अनूप॥२४१॥

अर्थ : स्त्रियाँ हर्षित होकर अपनी अपनी रुचि के अनुरूप देख रही हैं। मानो परम अनूपमूर्ति धारण करके शृङ्गार शोभायमान हो।

व्याख्या : रङ्गभूमि की प्रथम पंक्ति में राजा लोग हैं। दूसरी पंक्ति में पुरवासी हैं। तीसरी पंक्ति में स्त्रियाँ हैं। उसी क्रम से यहाँ वर्णन है। भिन्नरुचिर्हि लोकः। संसार में सबकी भिन्न रुचि होती है। इसी भाँति स्त्रियों की भी रुचि भिन्न है। परन्तु यह मूर्ति ऐसी अनूप है कि जिसकी जैसी रुचि है तदनुरूप रूप उसको दिखाई पड़ रहा है। अतः निरीक्षण में हर्ष कहते हैं। मानो शृङ्गाररस ही परम अनूप मूर्ति से विराजमान है।

विदुषन प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥
जनक-जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥१॥

अर्थ : विद्वानों ने प्रभु को विराट् रूप में देखा कि बहुत से मुख, हाथ, पैर, आँखें और सिर हैं। जनकजी के भाई विरादरी कैसे देखते हैं जैसे अपने सगे सम्बन्धी प्रिय लगते हैं।

व्याख्या : विद्वान् देवता रूप हैं। उन्हें सदा विराट् रूप के दर्शन की इच्छा रहती है। यथा : देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः। उन्हें भगवान् का अनेक बाहु उदर मुख आँख सहित अनन्तरूप दिखाई पड़ा। उस विश्वेश्वर विश्वरूप का आदि मध्य और अन्त कुछ भी मालूम न हुआ। यथा : अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। इससे अद्भुतरस कहा।

स्वजन का सर्वत्र लवराम् इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र से वकार का लोप होकर सजन रूप हो गया। सजन सगे का अर्थ हुआ सगे सम्बन्धी दामाद बहनोई आदि। अर्थात् जैसा नाता पड़नेवाला था वैसे प्रिय जनक के जाति लोगों को जान पड़े। इससे हास्यरस कहा।

सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमथ भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ॥२॥

अर्थ : विदेह के साथ रानियाँ देखती हैं। उन्हें वैसी प्रीति हुई जैसी छोटे बच्चों पर होती है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। योगियों को शान्त शुद्ध सम सहज प्रकाशरूप परम तत्त्वमय दिखलाई पड़े।

व्याख्या : विलोकहिं रानी पद से रानियों का अनेक होना सिद्ध हुआ। चार रानियों का पता चलता है। यथा : चतसृभिस्तु भार्याभिर्यज्ञार्थं दीक्षितोऽभवत्। का. पु। और जिस समय सीताजी पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं उन्हीं के साथ दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। यथा : द्वौ पुत्रौ तस्य सञ्जातौ यज्ञभूमौ मनोहरौ। एका च दुहिता साध्वी भूम्यन्तरगता शुभा। अतः रानियाँ शिशुप्रीति से अपरिचित नहीं थीं। सो रानियों के सहित राजा विदेह को राजकुमारों पर शिशु के समान प्रीति हुई। परन्तु उस प्रीति में ऐसा उत्कर्ष था कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। अर्थात् वात्सल्यरस की पराकाष्ठा की प्रतीति हुई।

योगियों का परम तत्त्व पचीसवाँ है। चौबीस तत्त्व सांख्यशास्त्र ने माने हैं। परन्तु योगशास्त्र पचीसवाँ तत्त्व ईश्वर तत्त्व को स्वीकार करता है। इसलिये उसे परम तत्त्व कहा। यह परम तत्त्व क्लेश : अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, कर्म : विहित, प्रतिविद्ध तथा मिश्रित, विपाक : कर्मफल, जाति, आयु और भोग और आशय : वासना से छुवाई नहीं रखता। यथा : क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। पा. १-२४। अतः शान्त, शुद्ध, सम और सहज प्रकाशरूप कहा। सो योगियों ने परम तत्त्वमय देखा। इससे शान्तरस कहा।

हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥
रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया ॥३॥

अर्थ : हरिभक्तों ने दोनों भाइयों की सब सुख देनेवाले इष्टदेव की भाँति देखा और रामजी को जिस भाव से सीताजी देखती थीं वह स्नेह और सुख कथन योग्य नहीं था।

व्याख्या : सब सुखदाता इष्टदेव हैं। वही पति हैं। पुरुष हैं और सब जीव परा प्रकृति हैं। प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। सो हरिभक्तों ने दोनों भाइयों को इष्टदेव रूप देखा। महात्माओं का मत है कि यहाँ इव शब्द एव के अर्थ में आया है।

अब सीताजी के देखने में ग्रन्थकार प्रभु न कहकर रामहिं कहते हैं। क्योंकि प्रभु में लक्ष्मणजी का भी ग्रहण होता है। ऊपर का वर्णन दोनों भाइयों के विषय में है। केवल सीताजी के देखने में रामजी का अकेले उल्लेख है। क्योंकि सीताजी उन्हीं को देखती हैं। उनके देखने में जो स्नेह और सुख का भाव है वह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि उनकी प्रीति अलौकिक है। यथा : मन विहँसे रघुवंसमनि प्रीति अलौकिक जान।

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ ॥
येहि विधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कौसलराऊ ॥४॥

अर्थ : वह भी हृदय में अनुभव करती है कह नहीं सकतीं तो कोई कवि किस प्रकार से कहे। इस भाँति जिसका जैसा भाव था उसने कोसलराउ को वैसा देखा।

व्याख्या : लौकिक भावों के लिए शब्द हैं। क्योंकि वे व्यवहार में आते हैं। अलौकिक के लिए शब्द नहीं मिलते क्योंकि व्यवहार में उनका चलन नहीं। संसार दाम्पत्य प्रेम से परिचित है। अतः उसके लिए शब्द हैं। परन्तु राम-सीय में ऐकात्म्य भाव है। यथा : गिरा अर्थ जल वीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। अतः इस प्रकार की प्रीति लोक में नहीं है। लोक में कोई इस प्रीति का अनुभव नहीं करता। अतः उसके लिए शब्द भी नहीं हैं। सीताजी उसका अनुभव करती हैं। वे भी नहीं कह सकतीं। क्योंकि शब्द की वहाँ तक गति नहीं।

सबने अपने अपने हृदयगत भावों का प्रतिबिम्ब प्रभु में देखा।

दो. राजत राज समाज महुँ, कोसलराज किसोर।
सुन्दर स्यामल गौर तनु, विस्व विलोचन चोर ॥२४२॥

अर्थ : विश्व विलोचन के चोर सुन्दर श्यामल और गौर शरीरवाले। कोसलराज के बेटे राजसभा में विराजित हो रहे हैं।

व्याख्या : राज समाज विराजत रूरे से प्रसङ्ग छोड़ा था। अब फिर वहीं से उठा रहे हैं। राजत राज समाज महँ कोसलराजकिसोर। दोनों कुमारों की शोभा है। अतः सुन्दर स्यामल गौर तन कहते हैं। कोसल राजकिसोर कहने का भाव यह कि राजसमाज को इनके कोसलराजकिसोर होने का ही परिचय मिला है। ये अद्भुत चोर हैं। बिना चोरी किये चुराते हैं। नगर देखने में सबका मन चुराया। यथा : चितवत चितहिं चोर जिमि लेही और यहाँ राजसमाज में सबकी आँखें चुरा लीं। इसलिए श्रुति तस्कराणां पतये नमः कहती है। अर्थात् सबकी आँखें इनके रूप में बँध गईं। कोई दूसरी ओर देखता ही नहीं है।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि [1]काम उपमा लघु सोऊ ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावतें जी के ॥१॥

अर्थ : दोनों मूर्तियाँ स्वभाव से ही सुन्दर थीं। कोटि काम की उपमा भी छोटी पड़ती है। सुन्दर मुख शरद के चन्द्रमा को लजानेवाले हैं। कमल ऐसी आँखें मन को अच्छी लगती हैं।

व्याख्या : आँखों के ही चोर नहीं मन के भी चोर हैं। कोटि काम की उपमा दी जा सकती है। फिर भी वह बहुत छोटी पड़ती है। भुसुण्डिजी कहते हैं : जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै। जैसे करोड़ों खद्योतों की सूर्य से उपमा बहुत छोटी पड़ती है। रामजी सौन्दर्य के सूर्य हैं। उनके सामने काम खद्योत है। मुख शरत् काल के चन्द्र से भी सुन्दर हैं। अपेक्षाकृत सुन्दर न कहकर निन्दक कहा। यहाँ ललितालङ्कार हुआ। कमल सी आँखें हैं। अधिकता यह है कि वे मनभावनी हैं। क्योंकि उनमें चितवन है कमल में नहीं है।

चितवन चारु मार मन हरनी। भावत हृदय जात नहिं बरनी ॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥२॥

अर्थ : सुन्दर चितवन काम के मन को हरण करनेवाली है। वह मन को अच्छी लगती है। वर्णन नहीं की जा सकती। सुन्दर कपोल हैं और कान के कुण्डल चञ्चल हैं। सुन्दर ठुड्डी और होठ हैं। कोमल वाणी है।

व्याख्या : अब चितवन का वर्णन करते हैं। यह स्वयं काम के मन को हरण

---

[1] १. यह पञ्चम प्रतीपालङ्कार है।

करती है दूसरों की गणना ही क्या है ? उसका वर्णन नहीं हो सकता। केवल इतना ही कह सकते हैं कि मन को अच्छी लगती है। महाकवि बिहारी अपने को प्राकृत जीव के चितवन वर्णन में असमर्थ पाते हैं। औरै कछू कहकर वर्णन करते हैं। यथा : अनियारे दीरघ नयन कितेन तरुणि समान। वै चितवन औरै कछू जेहि बस होत सुजान। यहाँ तो अखिलरसामृतसार की चितवन है। इसे कौन वर्णन कर सकता है ? दर्पण सा कपोल है। उसे लोल कुण्डल बार बार चूमता है। उस कुण्डल की झलक कपोलों में प्रतिबिम्बित हो रही है। चिबुक और अधर सुन्दर हैं। उनकी उपमा नहीं है इससे नहीं दी। उन्हीं होठों द्वारा मृदुवाणी उच्चरित होती है तो शोभा और वढ़ जाती है।

कुमुद बंधु कर निंदक हासा। भृकुटी विकट मनोहर नासा॥
भाल विसाल तिलक छलकाँहीं। कच विलोकि अलि अवलि लजाहीं॥३॥

अर्थ : चाँदनी की निन्दा करनेवाली हँसी, टेढ़ी भौंहें, मनोहर नासिका, विशाल भाल पर झलक रहे हैं और बालों को देखकर भौंरों की श्रेणी लज्जित होती है।

व्याख्या : शरच्चन्द्रनिंदक मुख है। मुख पर प्रकाश हँसी से ही आता है। इसलिए हँसी को चाँदनी का निन्दक कहना प्राप्त है। काम के धनुष के समान टेढ़ी भौंहें हैं। भौंहें की शोभा टेढ़ी होने में है। भाल विसाल उच्च विचार का स्थान है। उस पर तिलक झलक रहा है। प्रभु के शरीर की द्युति से तिलक में चमक आ गई है। पहिले कह आये हैं तिलक रेख सोभा जनु चाकी। मेचक कुंचित केश हैं। इसलिए अलिअवलि का लजाना कहते हैं।

पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई॥
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सोभा की सीवाँ॥४॥

अर्थ : पीली चौगोसिया चार कोनेवाली : टोपियाँ सिर पर शोभित हैं। बीच बीच में फूलों की कलियाँ बनी हुई हैं। शङ्ख ऐसे सुन्दर गले में सुन्दर रेखाएँ हैं। मानो ये तीनों भुवनों की शोभा की सीमा हैं।

व्याख्या : बाजार में गये थे तब रुचिर चौतनी पहन रक्खी थी। आज़ राजसमाज में जाना था इसलिए कामदार टोपियाँ पहने हुए हैं। शङ्ख से सुन्दर कण्ठ में तीन रेखाएँ हैं। मानो उन्होंने त्रिभुवन की शोभा को मर्यादित कर रक्खा है। अर्थात् जितनी शोभा हैं वे इसके नीचे तक ही हैं। पद पाताल सीस अजधामा। पैर पाताल और सिर ब्रह्मलोक है। अतः त्रैलोक्य की शोभा गले के नीचे ही नीचे है। सातों पाताल, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक उनके उरःस्थल तक हैं। इसके ऊपर महः जनः तपः और सत्यलोक ये चारों ब्रह्मलोक के भेद हैं। ग्रीवा महर्लोक है। मुख जनलोक है। ललाट तपलोक है और शीर्ष सत्यलोक है। यथा : उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य। तपोरराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु

शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः। भा. २. १. २८। अतः उन उन लोकों की शोभा उन उन अङ्गों में है। महर्लोक के नीचे त्रिलोक है। अतः ग्रीवा की तीन रेखा को त्रिभुवन की शोभा की सीमा होना पूर्णतः उपयुक्त है।

दो. कुंजर मनि कंठा कलित, उरन तुलसिका माल।
वृषभ कंध केहरि ठवनि, बल निधि बाहु बिसाल ॥२४३॥

अर्थ : गजमुक्ता का सुन्दर कण्ठा, छातियों पर तुलसी की माला, साँड़ सा कन्धा, सिंह सा ठाट, विशाल भुजाएँ बल के भण्डार हैं।

व्याख्या : आज नाग मणिमाला नहीं है। तुलसीका माल गले है। गजमुक्ता का कण्ठा है। वृषभकन्ध होना वीर का लक्षण है। केहरि ठवनि में वीर की शोभा है और बाहु विसाल वीर के पराक्रम का बोधक है। उरन तुलसिका माल से श्रृङ्गार की पूर्णता कही।

कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष वाम वर काँधे ॥
पीत जग्य उपवीत सुहाए। नख सिख मंजु महाछवि छाए ॥१॥

अर्थ : कमर में पीताम्बर और तरकस बाँधे हुए थे। हाथ में तीर और बायें कन्धे पर धनुष था। पीला यज्ञोपवीत शोभित था। नख से शिख तक महाछवि छाई हुई थी।

व्याख्या : प्रभु की मूर्ति इस समय अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित है। तरकस पीताम्बर से बँधा हुआ है जिसमें संग्राम उपस्थित होने पर गिरे नहीं। तुरन्त चोट करने के लिए एक तीर तरकस से बाहर हाथ में है। बायें कन्धे पर धनुष है जिसमें लेते देर न लगे। अभी यज्ञ की रक्षा करके चले आ रहे हैं। भेंट में ब्राह्मणों से पीतयज्ञोपवीत मिला है। उसे पहने हैं। आज का पीतयज्ञोपवीत भी जीत का ही चिह्न है। शिखनख वर्णन करके अब नखशिख आलोचना करते हैं। मनहु मनोहरता छवि छाए से उपक्रम करके महा छवि छाए से उपसंहार करते हैं। सीताजी स्वयं महाछवि हैं। यथा : छविगन मध्य महा छवि जैसी और प्रभु महा छवि छाए हैं अर्थात् रमानिवास हैं।

देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि पद कमल गहे तब जाई ॥२॥

अर्थ : देखकर सब लोग सुखी हुए। आँखें एकटक रह गईं। पुतली भी नहीं हिलती थी। दोनों भाइयों को देखकर जनक जी हर्षित हुए। तब मुनिजी के चरण कमल की वन्दना की।

व्याख्या : सब लोग अपने घरों का काम छोड़ छोड़कर दर्शन के लिए आये हैं। यथा : चले सकल गृह काज बिसारी। सो देखकर सब सुखी हुए। सुख ले रहे हैं। एकटक देख रहे हैं। स्तब्ध से हो रहे हैं। इसलिए विस्व विलोचन चोर कहा था।

बुलाने पर तुरत चले आये। जनकजी का भाव इनके प्रति जैसा है सो कह चुके हैं। यथा : ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि सोइ कि आवा। अतः इन्हें देखकर हर्षित हुए। मुनिजी का चरण जाकर पकड़ा कि आप के अनुग्रह से इनका आना हुआ।

करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥
जहँ जहँ जाहिं कुँअर वर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितवत सब कोऊ ॥३॥

अर्थ : विनती करके सब कथा सुनाई। रंगभूमि सब मुनिजी को दिखाई। जहाँ-जहाँ दोनों कुमार जाते हैं वहाँ वहाँ सब लोग चकित होकर देखते हैं।

व्याख्या : दक्षयज्ञविध्वंस के बाद महादेवजी ने निमि के जेठे भाई देवरात को यह धनुष दिया था। तब से इसी कुल में यह धनुष चला आता है। सीताजी के अत्यन्त सुन्दरी होने से राजाओं में बड़ा क्षोभ हुआ। सीताजी के व्याह तथा रक्षा में बड़े जनसंहार का भय हुआ। अतः राजा ने सर्वोच्च वीर बलवान् को कन्या देना निश्चय किया। परीक्षा के लिए धनुषभंग का प्रण किया। ये सब बातें मुनिजी को कह सुनाई। तब जिस रंगभूमि का वर्णन हो चुका है उसे घुमाकर मुनिजी को दिखलाया। मुनिजी के साथ ही साथ दोनों भाई जा रहे हैं। अति शोभा देखकर लोग चकित हो रहे हैं। निकट से स्थिर होकर देखने का सौभाग्य अब हुआ है।

निज निज रुख रामहिं सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेखा ॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महासुख लहेऊ ॥४॥

अर्थ : अपने-अपने रुख के अनुसार सब ने रामजी को देखा। विशेष मर्म को किसी ने नहीं जाना। मुनिजी ने राजा से कहा कि रचना अच्छी है। राजा प्रसन्न हो उठे और उन्हें बड़ा सुख हुआ।

व्याख्या : रुख का अर्थ भावना है। यथा : जिन्हकै रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन तैसी। इसी बात से उपक्रम करके देखने के प्रसङ्ग का निज निज रुख रामहिं सब देखा से उपसंहार करते हैं। आने के साथ ही सबका देखना लिख दिया। पर भली भाँति सबको दर्शन मुनिजी के साथ घूमकर सारी रंगभूमि देखने के समय हुआ। इसीलिए चकित होकर देखना भी कहते हैं। रणधीर लोग वीररस का रूप देखते हैं। कुटिल यम रूप देखते हैं। साधु इष्टदेव रूप देखते हैं। सबका देखना पृथक् पृथक् प्रकार का है। पर यह कोई नहीं जानता कि दूसरे, दूसरे प्रकार से देख रहे हैं। सब जानते हैं कि जैसा मैं देखता हूँ वैसा ही सब देखते हैं।

विश्वामित्र मुनि दूसरी सृष्टि रचनेवाले हैं। इनका भली रचना कहना सामान्य बात नहीं है। भूमिका में दोष होने से विघ्न होता है। भूमिका की रचना में बड़ी पण्डिताई है। मण्डपकुण्डशुद्धि आदि ग्रन्थ इसके लिए बने हैं। मुनिजी ने

भली रचना कहा तो यज्ञ के निर्विघ्न समाप्ति में सन्देह नहीं है। इसलिए राजा को इतनी प्रसन्नता और सुख हुआ।

दो. सब मंचन्ह तें मंच एक, सुन्दर विसद विसाल।
मुनि समेत दोऊ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल ॥२४४॥

अर्थ : सब मञ्चों में एक मञ्च अधिक सुन्दर निर्मल और विशाल था। उसी पर राजा ने मुनि के साथ दोनों भाइयों को बिठाया।

व्याख्या : सुन्दर मञ्च की बनावट कही। विशद से चमक कही। विशाल से बड़ाई कही। राजा ने उस मञ्च को पहिले से ही खाली रक्खा था। सब राजाओं के लिए पहिले से ही मञ्च नियत हैं। विश्वामित्रजी के सर्वोत्तम मञ्च पर आसीन होने में किसी राजा को आपत्ति नहीं हो सकती थी।

प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भए तारे॥
असि प्रतीत सब के मन मांहीं। राम चाप तोरव सक नाहीं ॥१॥

अर्थ : प्रभु को देखकर सब राजाओं ने हृदय से हार मानो जैसे पूर्ण चन्द्र के उदय से तारे हार मान जाते हैं। सबके मन में ऐसा ही विश्वास है कि रामजी धनुष को तोड़ेंगे। इसमें सन्देह नहीं है।

व्याख्या : पूर्ण चन्द्र और तारों की उपमा पहिले दे आये हैं। अकेला चन्द्रमा अन्धकार का नाश करता है। तारों का समूह नहीं कर सकता। यथा : एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि। अतः राजाओं का हिम्मत हारना स्वाभाविक था। मनमें तो तेजोविशेष के देखते ही विश्वास हो गया कि निःसन्देह रामजी धनुष तोड़ेंगे। पर सब तो सरल नहीं हैं। कितने कपटी आसुरी प्रकृति के हैं। वे बाहर से इस बात को स्वीकार नहीं करते।

बिनु भंजेहुँ भव धनुपु विसाला। मेलिहि सीय राम उर माला॥
अस विचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रतापु बलु तेजु गँवाई ॥२॥

अर्थ : शिवजी का धनुष बिना तोड़े रामजी के गले में सीता माला डालेंगी। हे भाई! ऐसा विचार करके, यश, प्रताप, बल और तेज को खोकर के घर जाते जाओ।

व्याख्या : रणधीर प्रायेण सरल होते हैं। उन्होंने जब मनहु वीररस धरे सरीर देखा तो बोल उठे : राम चाप तोरव सक नाहीं। मान लिया कि यदि धनुष न टूटे : भव धनुष कहकर दिव्य और विशाल कहकर कठिन और गुरु कहा : तो सीता तो जयमाल राम के ही गले में डालेंगी। क्योंकि कन्या रूप को वरती है। और ये महारूपवान् हैं।

इसलिए चलो घर चलें। यहाँ कार्यसिद्धि होने की नहीं। बच्चों से पराभव हुआ। इसलिए यश, प्रताप, बल और तेज सब गया। सद्गुण की निर्मल ख्याति

यश है। यथा : साद्गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानिति कथ्यते। शत्रु का पौरुषोद्भूत तापक प्रताप है। यथा : प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापि प्रसिद्धिभाक्। महत् प्राण से पूर्ण होना ही वल है। यथा : प्राणेन महता पूर्णो वलीयान् इति कथ्यते। अवज्ञा का सहन न करना ही तेज है। यथा : तेजो बुधैरवज्ञादेरसहिष्णुत्वमुच्यते। यह सब गया। आगे चलकर पुर नर-नारि कहैंगी। यथा : देखे नर नारि कहैं साग खाइ जाये माइ। बाहु पीनपावर न पीना खाइ पोखे हैं।

विहँसे अपर भूप सुनि वानी। जे अविवेक अंध अभिमानी॥
तोरेहुँ धनुष व्याह अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि विआहा॥३॥

अर्थ : यह वाणी सुनकर दूसरे राजा जो अविवेक से अन्ध और अभिमानी थे हँस पड़े : कहने लगे धनुष तोड़ने पर भी व्याह तो अथाह में ही है। फिर बिना तोड़े कुमारी को कौन व्याह सकता है?

व्याख्या : धनुष तोड़ने पर कहा जायगा कि इन्होंने जल्दी कर दी नहीं तो हम तोड़ डालते। सब लोग बिगड़ खड़े हो जायेंगे। युद्ध होने लगेगा। उस गोलमाल में सीता किसके हाथ लगेगी कौन कह सकता है। इसलिए कहता हूँ कि धनुष टूटने पर भी व्याह अथाह में ही है। विना तोड़े इतने राजाओं के रहते कौन व्याह कर सकता है। जनक अपना प्रण भङ्ग करके किसी के साथ व्याह नहीं कर सकते।

एक बार कालउ किन होऊ। सिय हित समर जितव हम सोऊ॥
यह सुनि अवर महिप मुसुकाने। धरमसील हरिभगत सयाने॥४॥

अर्थ : काल भी क्यों न हो। एक बार सीता के लिए हम उसे भी लड़ाई में जीतेंगे। यह सुनकर दूसरे राजा जो धर्मशील और सयाने हरिभक्त थे मुसकराये।

व्याख्या : असुर छल छोनिपवेष बोले। यह तो काल सम है। काल नहीं है। एकबार हम काल को भी समर में माया के द्वारा जीत लेंगे। एक ही बार जीतने से तो सीता की प्राप्ति हो जावेगी। माया हटने पर दोबारा जीतने की आवश्यकता न रह जायगी। छल माया एक वस्तु है। यथा : सोइ छल हनूमान सन कीन्हा।

उनके गाल बजाने पर मुसकराये। अविवेकी अन्ध अभिमानियों की भाँति हँसे नहीं। विवेक ही सच्ची आँख है। यथा : तेहि करि विमल विवेक विलोचन। जिसे एकदम विवेक नहीं है वही अन्ध अविवेकी है और उनमें भी जो अभिमानी हैं वे हँसे थे। उनकी बातों पर मुसकरानेवाले ठीक उनसे विपरीत हैं। वे अन्ध अविवेकी थे। ये धर्मशील हैं। यथा : धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय विमुख बिरागरत होई। वे अन्ध अभिमानी हैं। ये सयाने हरिभक्त हैं। अतः उनके अविवेकमय अभिमानयुक्त डींग मारने पर मुसकराये।

दो. सीय विवाहव राम, गरबु दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम, दसरथ के रन बाँकुरे॥२८५॥

अर्थ : सब राजाओं के अभिमान को दूर करके सीता को राम व्याहेंगे। दशरथ के रण बाँकुरे को रण में कौन जीत सकता है ?

व्याख्या : अविवेक अन्ध अभिमानी के प्रति कहते हैं : नृपों का गर्व दूर करके सीता को राम व्याहेंगे। तुम नहीं व्याहोगे। क्योंकि राम सत्यसंकल्प प्रभु हैं। छल छोनिपों से कहते हैं कि जीति को सक संग्राम। उनसे माया नहीं चलेगी। वे दशरथ के रणबाँकुरे हैं। रणबाँकुरे माया का मर्दन करते हैं। यथा : हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रनबाँकुरे। मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट आँकुरे। दशरथ के कहने का भाव यह कि पिता का गुण पुत्र में है। संसार दशरथ के विषय में जानता है : सुरपति बसहिं बाहुबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके।

व्यर्थ मरहु जनि गालु बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख बुताई ॥
सिख हमार सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥१॥

अर्थ : गाल बजाकर व्यर्थ प्राण मत दो। मन के लड्डुओं से भूख नहीं जाती। हमारी परम पवित्र शिक्षा सुनकर सीता को जगदम्बाजी जानो।

व्याख्या : बड़ हित हानि जानि बिनु जूझे। यदि कार्य में विपत्ति आती है तो बकवादी मारे जाते हैं। यदि कार्ये विपत्तिः स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते। इस भाँति गाल बजाने से : सीटने से क्या लाभ है ? इससे सीता की प्राप्ति नहीं होगी और दोषी गिने जाकर मारे जाओगे। मन के लड्डू खाने से भूख नहीं जाती। कालहु सिय हित समर जितब। ऐसा कहना मन का लड्डू खाना है। तुम्हारा सामर्थ्य काल को रण में जीतने का है ? समझो क्या कह रहे हो ? हमारी शिक्षा परम पवित्र है उसे सुनो। राम की योग्या होने से सीता को जगदम्बा जानो। रहिमन नारि गरीब की अपनी कहै न कोय। हरिपतनी अपनी कहै कौन फजीहत होय।

जगत पिता रघुपतिहिं बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥
सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी ॥२॥

अर्थ : रामजी को जगत् पिता विचार करके आँख भर छवि देख लो। सुन्दर सुख देनेवाले सब गुणों के राशि ये दोनों भाई महादेव के हृदय में बसनेवाले हैं।

व्याख्या : ये उपदेश देनेवाले सयाने भक्त हैं। ये भगवान् को सब सुखदाता इष्टदेव के रूप में देख रहे हैं। अतः कहते हैं कि विचार करो। ऐसी मूर्ति जगत्-पिता को छोड़कर और किसकी हो सकती है। बड़ा भारी सुयोग उपस्थित है। ये शम्भु के हृदय में रहनेवाले दोनों भाई नयन के विषय हो रहे हैं। कैसी सुन्दर सुखद और सर्वगुणसम्पन्न मूर्तियाँ हैं। इन्हें आँख भर देखो। फिर इनके दर्शन का कब सुयोग होगा इसे कौन कह सकता है ? राम जानकी का दर्शन जगत्पिता और जगदम्बा रूप से करके आनन्द लो।

सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥
करहु जाय जा कहुं जोइ भावा। हम तौ आजु जनम फलु पावा ॥३॥

अर्थ : अमृत के समुद्र को पास में छोड़कर मृगजल देखकर दौड़कर क्यों प्राण देते हो ? जिसे जो अच्छा लगे वह जाकर वैसा करे। हमें तो आज जन्म होने का फल मिल गया।

व्याख्या : ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौ पै मन वह रस पावै। सो वही अमृत करतल हो रहा है। माया मृगजल है। उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके पीछे दौड़ने में व्यर्थ का श्रम और परिणाम मृत्यु ही है। भाव यह है कि जगदम्बा की ओर मत दौड़ो। उन्हें दूर से प्रणाम करो। वह महामाया हैं। यथा : सो अवतरिहि मोरि यह माया। उनकी प्राप्ति के पीछे दौड़ते दौड़ते मर जाओगे। रामजी की प्राप्ति इस समय सोलह आना सुलभ है और सीताजी सर्वथा अप्राप्य हैं। उन लोगों के मन में शिक्षा जमती न देखकर कहते हैं कि मुझे जो कहना था कह चुका। अव यथेच्छसि तथा कुरु : जैसा जी में आवे वैसा करो। अन्धे को कूएँ में गिरते देखकर निषेध कर देना धर्म है। सो मैं पुकारकर किये देता हूँ। मैं तो कृतकृत्य हो गया। भगवत्प्राप्ति ही जन्म का फल है सो मुझे मिल गया। यथा : मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।

अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप विलोकन लागे॥
देखहिं सुर नभ चढ़े विमाना। वरषहि सुमन करहिं कल गाना॥४॥

अर्थ : ऐसा कहकर भले राजा प्रेम में पग गये। अनूप रूप की झाँकी लेने लगे। देवता लोग आसमान में विमान पर चढ़े हुए देख रहे हैं। पुष्पवृष्टि करते हैं और सुन्दर गान करते हैं।

व्याख्या : करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा। कहकर बातचीत वन्द कर दी। एकाग्र होकर सगुण निर्गुणरूप रूपअनूप देखने लगे। यथा : चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहि। उनकी तृप्ति नहीं हो रही है। इधर स्वयंवर देखने के लिए देवता लोग विमानों पर चढ़कर आकाश में आगये। शोभा देखकर हर्षित होकर प्रभु पर पुष्पवृष्टि की। पुष्पों से पूजा और कलगान द्वारा स्तुति करने लगे।

दो. जानि सुऔसर सीय तव, पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लवाइ॥२४६॥

अर्थ : सुअवसर जानकर जनकजी ने तब सीताजी को वुला भेजा और चतुर तथा सुन्दर सखियाँ उन्हें लिवा ले चलीं।

व्याख्या : राजा लोग तो सबेरे से ही डटे हुए हैं राजकुँअर भी आगये। उत्सुकता बढ़ी हुई है। अतः राजा ने देखा कि यही सुअवसर है धनुष टूटते ही जयमाल पड़नी चाहिए। अतः सीताजी को वुला भेजा। चतुरसखी जिनका स्वरूप भी सुन्दर है जो चित्तवृत्ति को समझें यथा अवसर कार्य करें। उचित शिक्षा कुँअरि को दे सकें। आदर के साथ जानकीजी को लिवा ले चलीं : ये वही थीं जो गिरिजापूजन के साथ थीं। यथा : संग सखी सव सुभग सयानी। अर्थात् पालकी पर

चढ़ाकर ले चलीं। यथा : राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ। सतानंद ल्याये सिय सिविका चढ़ाइके। गी.।

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥१॥

अर्थ : सीताजी की शोभा की प्रशंसा नहीं की जा सकती। क्योंकि वे जगदम्बिका हैं और रूप गुण की खानि हैं। मुझे सभी उपमाएँ हलकी जचीं। क्योंकि वे लौकिक स्त्रियों से मेल खाती हैं।

व्याख्या : न वर्णन किये जाने का दो कारण देते हैं। एक तो वे जगदम्बा हैं उनकी शोभा का बखान उन्हीं के बच्चों द्वारा अनुचित है। दूसरी बात यह कि वर्णन करना अशक्य है। जिन रूप गुणों से तुलना करनी है उन्हीं की ये खानि हैं। जिसका वर्णन सीधे सीधे नहीं हो सकता उसके लिए उपमाएँ दी जाती हैं। उपमाएँ प्रत्येक अंग की अलग अलग हैं। जैसे मुख की कमल या चन्द्र, नासिका शुकतुण्ड, ओष्ठ की बिम्बाफल इत्यादि। परन्तु ये सब उपमाएँ तो लौकिक स्त्रियों के अङ्गों से मेल खाती हैं। अतः उन्हीं से अङ्गों की समता की जाती है। इसलिए वे उपमाएँ यहाँ पर मुझे जँची नहीं।

सिय वरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥२॥

अर्थ : सीताजी का वर्णन करके उपमा देकर कौन कुकवि कहलाकर अपयश ले। यदि सीता का स्त्री के साथ पटतर दिया जाय तो ऐसी सुन्दरी स्त्री संसार में हैं कहाँ?

व्याख्या : जिसकी लौकिक शोभाएँ सब देखी हुई हैं वे स्वयं कहते हैं। जासु विलोकि अलौकिक सोभा। परम पुनीत मोर मन छोभा। उसकी शोभा का पटतर देने से लौकिक स्त्रियों के अङ्गों की उपमा देने से वर्णन करनेवाला कुकवि कहलायेगा और उसका दुर्यश होगा। यथा : वैदेही मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे। शम्भु के प्रसाद से तुलसी कवि हुआ है। कुकवि बनने क्यों जाय? यदि प्रत्यङ्ग वर्णन न करके किसी सुन्दरी स्त्री से ही उपमा दी जाय तो ऐसी सुन्दरी स्त्री संसार में कहाँ है?

गिरा मुखर तन अर्ध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
विष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमासम किमि वैदेही॥३॥

अर्थ : सरस्वती बहुत बोलती हैं। भवानी का शरीर ही आधा है। पति को शरीर रहित जानकर रति अति दुःखित ही रहती है। जिसे विष और वारुणी से भाई प्रिय हैं। उस रमा को वैदेही के समान कैसे कहा जाय?

व्याख्या : यदि संसार में ऐसी सुन्दरी कोई नहीं है तो दिव्य स्त्रियों में

सरस्वती, भवानी, रति और रमा की बड़ी ख्याति है। उन्हीं में से किसी को उपमा दी जाय तो यह भी नहीं बनता। सरस्वती बोलती बहुत हैं। सम्पूर्ण शास्त्र उन्हों के कहे हुए हैं और कहती ही जाती हैं। यथा : पति वरन्यौ चार मुख पत वरन्यी पाँच मुख नाती वरन्यो षट मुख तदपि नई नई। और बकवादिनी स्त्री की शोभा नहीं। भवानी का शरीर ही आधा है। आधा शरीर उनके महादेव हैं। अर्धनारीश्वर मूर्ति प्रख्यात है। फिर आधी स्त्री की शोभा ही क्या? हाँ रति में ये दोष नहीं हैं। वे अल्पभाषिणी भी हैं और उन्हें अंग भी पूरे हैं। पर उन्हें मानसिक खेद है। उनके पति अनङ्ग हैं। उन्हें अङ्ग ही नहीं। अतः उसके मुख पर प्रसन्नता नहीं और जो प्रसन्न नहीं उसकी शोभा भी नहीं। अब रह गईं लक्ष्मी। वे सर्वगुणसम्पन्ना हैं। पर उनमें एक बड़ा दोष है। वे विष और मद्य की बहन हैं। भाई तो उन्हें और भी हैं। पर वे प्रिय नहीं। प्रिय हैं विष और मद्य। ये सदा उनके साथ रहते हैं। अतः मालूम होता है कि उनमें भाई का गुण मादकता है। कहा भी है कि कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकात। वे खाये बौरात हैं ये पाये बौरात। तब रमा के ऐसी बैदेही को कैसे कहैं?

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई ।।
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ।।४।।

अर्थ : यदि छविरूपी अमृत का समुद्र हो और परम रूपमय कच्छप वही हो और शोभा को रज्जु तथा शृङ्गार को मन्दर बनाकर अपने करकमलों से कामदेव मन्थन करें।

व्याख्या : लक्ष्मी की उत्पत्ति के जो साधन थे वे सदोष थे इससे लक्ष्मी में दोष आगया। अतः साधनों में उलटफेर करके दूसरी लक्ष्मी उत्पन्न करनी चाहिए। अब सामग्री कहते हैं। यह समुद्र न हो छविसुधा का समुद्र हो। कच्छपावतार विभवरूप न होकर परम रूप हो। परम रूप वासुदेव[1] व्यूह है। वासुकी नाग की रज्जु न होकर शोभा रज्जु हो। छोरी के स्थान पर मन्दर न होकर शृङ्गार हो, मन्थन करनेवाले देवासुर न होकर कामदेव हों।

दो. एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल ।।२४७।।

अर्थ : इस विधि से यदि सुन्दरता और सुख की मूलभूता मूर्ति लक्ष्मी उत्पन्न हों तब भी सङ्कोच के साथ कवि लोग सीताजी के लगभग कहेंगे।

व्याख्या : लक्ष्मी को उत्पन्न करना और अपनी चाही हुई विधि से उत्पन्न करना किसी का साध्य नहीं है। फिर भी यदि मान लिया जाय कि इस भाँति जो

---

[1] ब्रह्म चतुर्व्यूह रूप है : १. वासुदेव २. सङ्कर्षण ३. प्रद्युम्न और ४. अनिरुद्ध। इनमें वासुदेव व्यूह स्वयं अवतारी हैं। अन्य अवतार हैं।

लक्ष्मी उत्पन्न हों तो उनकी उपमा दी जा सकती है। उसपर कवि कहते हैं कि फिर भी कविसमाज सङ्कोच के साथ सीताजी के लगभग स्वीकार कर लेगा। सङ्कोच का कारण यह कि शोभा और शृङ्गाररस का मन्थन न हुआ। उनकी उपस्थिति मात्र थी। जहाँ इनका भी मन्थन हुआ है वहाँ कहने में सङ्कोच नहीं है। यथा : सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मदन अमियमय कियउ दहीरी। मथि माखन सिय राम सँवारेउ सकल भुवन छवि छांछ महीरी। गी.। समतूल का भाव यह कि रूप और गुण दोनों में समता हो।

चली संग ले सखी सयानी। गावत गीत मनोहर वानी॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छविभारी॥१॥

अर्थ : सयानी सखी : सीताजी को लेकर चलीं। मनोहर वाणी से गीत गा रही थीं। नये शरीर पर सुन्दर सारी की शोभा हो रही थी। जगत्-जननी की ऐसी भारी छवि थी कि किसकी तुलना नहीं हो सकती।

व्याख्या : चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ से प्रसङ्ग छोड़ा था। बीच में शोभा का वर्णन करने लगे। अब फिर वहीं से प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं। फुलवारी में भगवती स्वयं जा रही थीं। इसलिए लिखा : संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर वानी। यहाँ सखियों के लिवा जाने से जाती हैं। अतः कहते हैं : चली संग लै सखी सयानी। मनोहर वाणी से उनका गीत गाना दोनों स्थलों में समान है। भेद इतना ही है कि फुलवारी में भवानी के गीत होते थे यहाँ स्वयंवर के गीत हो रहे हैं।

भूषन सकल सुदेस सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥
रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥२॥

अर्थ : सखियों ने प्रत्येक अङ्ग में सब अच्छे गहने अपने अपने स्थान पर रचकर सँवारा था। रङ्गभूमि में जब सीताजी ने पदार्पण किया तो रूप देखकर नर और नारियाँ मोहित हो गईं।

व्याख्या : आभरण बत्तीस कहे गये हैं। सो प्रत्येक के लिए नियत स्थान है। जिस अङ्ग के लिए जिस स्थान पर जो गहना पहनाया जाता है वहीं पर होना चाहिए। इनके पहिनाने में बड़ी पण्डिताई है। सब लोग गहना नहीं पहना सकते। इसलिए रचकर सँवारना कहते हैं। सखियों का कर्त्तव्य : १. मण्डन २. शिक्षा ३. उपालम्भ और ४. परिहास है। उपालम्भ और परिहास फुलवारी प्रसङ्ग में कह आये हैं। मण्डन इस समय कह रहे हैं। शिक्षा समय पाकर आगे कहेंगे।

इस प्रकार शृङ्गारित होकर जब रंगभूमि में पदार्पण किया तो रूप देखकर नरनारी मोह गये। नारी नारी के रूप पर मोहित नहीं होतीं। ऐसा साधारण नियम है। पर अलौकिक शोभा ऐसी है कि सहज पुनीत श्रीरामजी का मन क्षुब्ध हो गया तो नारियों का मोहना कौन आश्चर्य है। सभी नियमों में अपवाद होता

है। विश्वमोहिनी का रूप देखकर लक्ष्मी मोहती थीं। यथा : श्री विमोह जेहि रूप निहारी। प्राकृत नारियों की गिनती ही क्या है? वही विश्वमोहिनो तो सीताजी हैं। यथा : सो अवतरिहि मोर यह माया। रामजी के रंगभूमि में पधारने पर सब चकित हुए थे। सीताजी के पधारने पर मोहित हो गये।

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। वरषि प्रसून अपछरा गाई ॥
पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला ॥३॥

अर्थ : देवताओं ने हर्षित होकर डंका दिया। अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि करके गान किया। हाथों में कमल की जयमाला है। सब राजाओं ने एकाएक उस ओर देखा।

व्याख्या : प्रभु के आने पर देवताओं ने फूल बरसाये थे। यथा : वरषहिं सुमन करहिं कल गाना। पर भगवती पर पुष्पवर्षा का साहस नहीं होता। अतः दुंदुभी बजाने लगे। पुष्पवर्षा अप्सराओं ने की। स्त्री पर पुष्पवर्षा का अधिकार स्त्रियों को ही है और उन्होंने ही गान किया। उन्हें शोभा के गान का स्त्री होने से अधिकार था। विजय का कारण प्रस्तुत हो जाने से डंका बजाया।

जयमाल पर राजा लोग दृष्टि लगाये हुए थे। जयमाल ही सीताजी के निश्चित रूप से पहिचानने का चिह्न था। यहाँ सरोज देहलीदीपकन्याय से दोनों ओर अर्थ देगा। अर्थात् करकमलों में कमल की जयमाला थी। राजाओं ने एकाएक देखा। पर सीताजी ने उन्हें नहीं देखा।

सीय चकित चित रामहि चाहा। भए मोहवस सब नरनाहा ॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥४॥

अर्थ : सीता ने चकित चित्त से राम को देखा : कि वे कहाँ हैं? और सब राजा मोह के वश हो गये। मुनिजी के पास दोनों भाइयों को देखा। उनके नेत्र निधि पाकर उसी ओर ललककर लग गये।

व्याख्या : सीताजी की आँखें उस समाज में रामजी को ढूँढ़ने लगीं। सब राजा मोहित हो गये। प्रत्येक ने समझा कि मुझको ही देख रही हैं। जो ज्ञानिन्हकर चित अपहरई। वरिआईं विमोह वस करई : उसकी दृष्टि है। जिसपर पड़ती है वही मोहित हो जाता है। चारों ओर घूमकर निगाह मुनि के पास बैठे हुए दोनों भाइयों पर पड़ी। पर ठहरी अपनी निधि पर। यथा : हरखे जनु निजनिधि पहिचानी। पहिचाना पहिले हो था। अब प्रेम के साथ जाकर वहाँ लग गये।

दो. गुरजन लाज समाजु बड़, देखि सीय सकुचानि।
लागि विलोकन सखिन्ह तन, रघुवीरहिं उर आनि ॥२४८॥

अर्थ : गुरुजनों की लज्जा से तथा बड़ा जमावड़ा देखने से सीताजी सङ्कुचित हुईं और रामजी को हृदय में लाकर सखियों की ओर देखने लगीं।

व्याख्या : आँखें जाकर रामजी में तो लगीं। पर उसमें दो प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हुईं। वहीं पर महाराजा जनक शतानन्द आदि गुरुजन थे। राजाओं और प्रजाओं की भीड़ उमड़ी हुई थी। इनके बीच में रामजी की ओर देखते रहने में सङ्कोच हुआ। अतः प्रभु को ही हृदय में रख लिया। यथा : चली राखि उर स्यामल मूरति। ये चित्र नहीं खैंचतीं सीधे सीधे मूर्ति ही हृदय में रख लेती हैं। मूर्ति को हृदय में रखने के बाद नयनकपाट सङ्कोच से बन्द नहीं किया। सखियों की ओर देखने लगीं।

राम रूपु अरु सिय छवि देखें। नर नारिन्ह परिहरी निमेखें॥
सोचहि सकल कहत सकुचाहीं। विधि सन विनय करहिं मन मांहीं॥१॥

अर्थ : रामजी का रूप और सीताजी की छवि देखकर स्त्री पुरुषों का पलक गिरना वन्द हो गया। सोचते सब हैं। पर कहते हुए सभी संकुचित होते हैं। मन ही मन ब्रह्मदेव से विनय करते हैं।

व्याख्या : जिससे गहने की भी शोभा हो जाय रूप उसका नाम है और जिससे अन्धकार दूर हो उसे छवि कहते हैं। यथा : छ्यति छिनत्ति तम इति छविः। एक बार तो सब मोह गये। अब सावधान होकर रामजी के रूप और सीताजी की छवि का मिलान करते हैं। परोक्ष में भी मिलान किया था। यथा : जोग जानकी यह वरु अहई। अब दोनों मूर्तियाँ सामने पाकर मिलान करते हैं। इसलिए एक टक लोचन चलत न तारे की दशा उपस्थित है।

सब के मन में एक ही भाव उठता है। पर कहता कोई किसी से नहीं। क्योंकि बात बड़ी ढिठाई की है। सब विधि से मन ही मन विनय करते हैं। क्योंकि उनका नाम ही विधि है। वे ही विधि बैठा सकते हैं। अथवा जौं भल अहइ विधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता। तो यही विनय है कि यहाँ भी उचित फल दें। जनक की बुद्धि के पलटने में विधि ही समर्थ हैं। ये शारदा को प्रेरणा करके बुद्धि पलटते हैं। यथा : सारद प्रेरि तासु मति फेरी।

हरु विधि वेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥
विनु विचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करहि विवाहू॥२॥

अर्थ : हे विधि ! जल्दी से जनक की जड़ता को हरण करो और हमारी ऐसी सुहावनी बुद्धि दो। राजा बिना सोचे समझे प्रण छोड़कर सीता और रामजी का व्याह कर दें।

व्याख्या : जनक की जड़ता को जल्दी हरो। देर न करो। देर करने में काम बिगड़ेगा। राजा जनक को सभी ज्ञानी मानते हैं। अतः उन्हें जड़ कहने में सङ्कोच है। पर रामजी को देखने पर भी अपने प्रण पर अड़े रहना स्पष्ट जड़ता है। अतः चाहे दुनिया न माने पर बात तो यह है कि इस विषय में जनक की बुद्धि में जड़ता है और हमारी बुद्धि सुहावनी है। अतः किसी से न कहकर ब्रह्मदेव से मन ही मन

विनय करते हैं कि जनक को सुहाई बुद्धि दें। जड़ता हरण कर लें। यहाँ विचार की कोई बात ही नहीं है। सीता और रामजी का व्याह होना ही चाहिए।

यहाँ विचार करना ही जड़ता है। प्रण निवाहना ही बुरा है। राजा विचारशील है। सत्य प्रतिज्ञ है। यह स्वभाव विधि के पलटने से पलट सकता है। नर नाथ है। उसे प्रजा की रुचि रखनी चाहिए।

जग भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हें अंतहुँ उर दाहू॥
एहि लालसा मगन सब लोगू। वरु साँवरो जानकी जोगू॥३॥

अर्थ : संसार अच्छा कहेगा। क्योंकि सवको पसन्द है। हठ करने से अन्त में कलेजा जलेगा। इस लालसा में सव लोग मगन थे कि साँवला वर जानकीजी के योग्य है।

व्याख्या : अपयश तो ऐसे कार्य के करने से होता है जो लोगों को अप्रिय हो। राम जानकी का व्याह तो सबको प्रिय है। अतः अपयश की तो चरचा चलाना ही व्यर्थ है। वुद्धि का फल आग्रह रहित होना है। यथा : बुद्धेः फलमनाग्रहः। सो हठ करने से सीताजी का बेजोड़ व्याह हो जायगा। सीता को दुःख होगा। तब कोई उपाय न रहने से यावज्जीवन कलेजा जलेगा : लोग इस विवाह के लिए ऐसे लालायित हो गये हैं कि प्रतिज्ञापालन को हठ बतला रहे हैं। राम जानकी के विवाह की अभिलाषा में इतना आनन्द लोग अनुभव कर रहे हैं कि अभिलाषा ही में मग्न हैं। अव सखी के संवाद में जो वात निश्चित हुई थी कि : ज़ोग जानकी यह वरु अहई। वही निर्णय यहाँ भी हुआ कि : वर साँवरो जानकी जोगू।

तब वंदीजन जनक बोलाए। बिरदावली कहत चलि आए॥
कह नृपु जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हर्ष न थोरा॥४॥

अर्थ : तब भाटों को राजा जनक ने बुलाया। वे विरुदावली कहते हुए आये। राजा ने कहा कि जाकर मेरा प्रण सुना दो। भाट चले उन्हें थोड़ा हर्ष नहीं हुआ।

व्याख्या : वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः। निर्मल बुद्धिवाले और प्रस्ताव के अनुकूल वोलनेवाले वन्दी कहलाते थे। राजा ने उन्हें बुलाया। वे प्रस्ताव सदृश बोलनेवाले थे। विरद बोलते चले : वज्ररेख गजदसन जनकपन वेद विदित जग जान। राजा ने कहा कि सभा बहुत बड़ी है। चारों ओर जाकर तुम लोग हमारा प्रण सुना दो। वन्दी सुनाने चले। हृदय में बड़ा हर्ष हुआ कि हम राजा के प्रतिनिधि होकर बोलने जा रहे हैं।

दो. बोले वंदी वचन वर, सुनहु सकल महिपाल।
पन विदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ विसाल॥२४९॥

अर्थ : वन्दी श्रेष्ठ वचन बोले कि राजा तुम लोग सुनते जाओ। विदेहराज का प्रण हमलोग विशाल भुजा उठाकर कहते हैं।

व्याख्या : महाराज विदेह के वचन का अनुवाद होने से वचन वर कहा। महिपाल सम्बोधन का भाव यह है कि आप लोग वचन के गौरव को समझते हैं। प्रण विदेह का है हमारा नहीं। हम केवल अनुवादक हैं। प्रण के अटल होने से अपनी भुजा को विशाल कह रहे हैं। अथवा हरी भुजाएँ इस समय राजा जनक की भुजाओं का प्रातिनिध्य करती हैं। इसलिए विशाल हैं। भुजा उठाकर प्रण किया जाता है संसार को साक्षी करने के लिए। यथा : भुज उठाइ प्रन कीन्ह। हानि लाभ अनख उछाह बाँहुबल कहि। वन्दो बोले विरद अकस उपजाइ के। यही उनकी प्रस्ताव सदृश उक्ति है।

नृप भुजबल विधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर विदित सब काहू॥
रावन बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवँहि सिधारे ॥१॥

अर्थ : राजाओं की भुजाओं का बल चन्द्रमा है। शिव का धनुष राहु है, भारी है, कठोर है। यह बात सभी जानते हैं। रावण और बाणासुर भारी महाभट हैं। सो धनुष को देखकर चुपके से चल दिये।

व्याख्या : वन्दी लोग पहिले ही अकसवाली बात बोले। पहिले भी राजा लोग आये थे पर उनका तोड़ा धनुष नहीं टूटा। क्रोध करके उन लोगों ने जनकपुर घेर लिया। पर महाराज जनक से पराजित हुए। उसी बात को लक्ष्य करते हुए वन्दीजन कह रहे हैं कि राजाओं के भुजबल रूपी चन्द्र को निस्तेज कर देने के लिए शिवधनुष राहु है। राहु छायामात्र होने के कारण मृदु और हलका है। पर यह भारी है, कठोर है। हम कोई नई बात नहीं कह रहे हैं। आप लोग सभी यह बात जानते हैं। अब अनखवाली बात बोलते हैं। महा भटों में भी भारी दो हैं : रावण और बाणासुर। वे लोग भी आये थे। पर धनुष को देखकर साहस छूट गया। धीरे से चल दिये। अतः समझबूझकर उठियेगा।

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा। राज समाज आजु जेइ तोरा॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं विचार बरै हठि तेही ॥२॥

अर्थ : यह पुरारि का वही कठोर धनुष है। जिसने आज राजसमाज में इसको तोड़ा। त्रिभुवनजयलक्ष्मी के सहित वैदेही उसे बिना विचारे वरेंगी।

व्याख्या : शङ्कर भगवान् ने त्रिपुरदाह के समय मेरु पर्वत को धनुष बनाया था। यहाँ पुरारि धनुष का भाव यह कि यह मेरु का जोड़दार है : अब बल कहते हैं। शिव का यह वही धनुष है। इसे राजसमाज में आज तोड़ना है। यहाँ कल की बात नहीं। ऐसे राजसमाज में वह अपना बल प्रकट करे। अब हानि लाभ कहते हैं। उसे वैदेही तो वरण करेगी राउ या रङ्क का विचार न करेगी। त्रिभुवन जयलक्ष्मी भी उसको साथ ही साथ वरण करेगी। दिग्विजय ही बड़े परिश्रम से साध्य है। सो त्रिभुवनविजय बिना रक्तपात के मिलेगा और जानकी भी मिलेगी।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषें । भटमानी अतिसय मन भाषें ॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्टदेवन्ह सिर नाई ॥३॥

अर्थ : प्रण सुनकर सब राजाओं को अभिलाषा हुई और वीरमानी राजाओं के मन में तो बड़ा क्रोध हुआ । कमर कस कसकर आकुल हो उठ खड़े हुए और अपने अपने इष्टदेवों को सिर नवाकर चले ।

व्याख्या : वन्दीजन ने कहा था : सुनहु सकल महिपाल । सो सबने सुना । अब कहते हैं : सुनि पन सकल भूप अभिलाखे । ठीक है जानकी के लिए आये थे । सो त्रिभुवनजयलक्ष्मी भी प्राप्त होगी । भटमानी तो बड़े क्रुद्ध हो गये । नृप भुजबल विधु सिवधनु राहू । कैसे कहा ? अभी धनुष तोड़ता हूँ । व्याकुल होकर उठे कि कहीं कोई पहिले ही जाकर धनुष तोड़ न दे । नहीं तो जानकी और त्रिभुवनजयलक्ष्मी उसी के हाथ लग जायगी । इष्टदेव को प्रणाम करके चलते हैं जिसमें कार्यसिद्धि हो । क्योंकि सभी सुखों की आशा तो इष्टदेव से ही की जाती है । यथा : इष्टदेव इव सब सुखदाता ।

तमकि ताकि तक सिव धनु धरहीं । उठै न कोटि भाँति बलु करहीं ॥
जिन्ह के कछु विचार मन मांहीं । चाप समीप महीप न जाँहीं ॥२॥

अर्थ : तमककर देखते हैं । लक्ष्य बाँधकर शिवधनु को पकड़ते हैं । कोटि भाँति से बल लगाते हैं । पर उठता नहीं । जिन राजाओं के मन में कुछ भी विचार है वे धनुष के सन्निकट नहीं जाते ।

व्याख्या : अतिशय मन माखें हैं । अतः क्रोध से देखते हैं । पलक मारने में उठा लेने के लिए लक्ष्य बाँधकर झपटते हैं जिसमें हाथ खाली न जाँय और राजसमाज में चमत्कार दिखला दें । जब नहीं उठा तब करोड़ों उपाय से बल लगाते हैं । एक हाथ से, दोनों हाथ से, घुटना टेककर, छाती के बल से, सिर के बल से जैसे-जैसे बन पड़ता है उठा लेने में कोई बात नहीं रखते ।

बड़े विचारवान् धर्मशील हरिभक्त सयाने तो अभिलाषा करनेवालों में हैं नहीं । जो अभिलाषा करते हैं उनमें भी जिनको कुछ विचार है वे पहिले ही परिकर बाँधकर अकुलाकर नहीं उठे समझने लगे थे कि यह काम सुकर नहीं है । और जब देख लिया कि किसी का हिलाया नहीं हिलता तो विचार करते हैं कि मुझमें ही कौन अलौकिक बल है जो उठा लूँगा । अतः दूर से देखते हैं । निकट जाते नहीं जिसमें धनुष उठानेवालों में न गिने जाँय । निर्बलता तो सिद्ध हो गई । मूर्खता सिद्ध न हो ।

दो. तमकि धरहिं धनु मूढ नृप, उठै न चलहिं लजाइ ।
मनहुँ पाइभट बाहुबल, अधिक अधिक गरुआइ ॥२५०॥

अर्थ : तमतमाकर मूढ़ राजा धनुष को पकड़ते हैं । जब नहीं उठता तो

लज्जित होकर चले जाते हैं। मानो वीरों के भुजबल को प्राप्त करके अधिक से अधिक भारी होता चला जाता है।

व्याख्या : जो सरल बात न समझ सके उसे मूढ़ कहते हैं। यथा : माया विवस भये मुनि मूढ़ा। समझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा। उन्हें सीधी सी बात नहीं समझ में आई कि जिसे रावण बाणासुर छोड़कर चले गये उसे हम उठाने क्या जा रहे हैं? इसलिए उन्हें मूढ़ कहा। यहाँ धनुष की क्या करामात है। मानो जो उसे उठाने जाता है उसके बल को वह हरण कर रहा है। इससे और भी भारी होता जाता है। अर्थात् किसी के हिलाये हिलता ही नहीं।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥
डगै न संभु सरासन कैसें। कामी वचन सती मन जैसें॥१॥

अर्थ : दस हजार राजा एकही साथ उठाने लगे। पर वह टारे न टरा। शिवजी का धनुष उसी भाँति नहीं डिगता है जिस भाँति कामियों के वचन से सती का मन नहीं डिगता।

व्याख्या : अब उसी मूढ़ता का उदाहरण देते हैं। पहिले अन्ध अभिमानी कह आये हैं। इनका ज्ञान तामस है। जो तत्त्वार्थवाला नहीं है तथा अल्प है। ऐसे एकही कार्य को सब कुछ मानकर निष्कारण उसमें लग जाता है। उसे तामस ज्ञान कहते हैं। यथा : यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्। धनुष के उठने को ही सब कुछ समझ लिया। यह नहीं समझ रहे हैं कि इस भाँति उठ भी जायगा तो क्या फल होगा? ऐसे उठाने में तत्त्वार्थ कुछ नहीं व्यर्थ है। फिर भी दसहजार एक साथ हो उठाने में लग गये। जो आते जाते हैं वे धनुष में ही चिपटते चले जाते है। इससे धनुष की विशालता भी कही।

परन्तु शम्भुशरासन हिला भी नहीं। कामी ऐसा वचन बोलना जानते हैं जिससे सामान्य स्त्री का मन विचलित हो उठे। पर ऐसे वचन से सती के मनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। दश सहस्र कामियों के वचन से नाममात्र के लिए भी चलायमान नहीं होता। कामी अन्धे होते हैं : दिवा पश्यति नोलूकः कामान्धों नैव पश्यति। कामान्धों को ज्ञान नहीं कि इतने आदमियों के साथ बोलने से तो अभीष्ट सिद्धि और भी दूर चली जा रही है। इसी प्रकार इतने राजाओं के लग जाने से इसी बात की सिद्धि होती चली जा रही है कि धनुष का उठाना इन राजाओं की शक्ति के बाहर की बात है।

सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥२॥

अर्थ : सब राजा हँसी के योग्य हो गये। जैसे बिना वैराग्य का संन्यासी हो जाता है। भारी कीर्ति विजय और वीरता को व्यर्थ ही धनुप के हाथ हारकर चले।

व्याख्या : वैराग्य संन्यासी का लक्षण है। जिस संन्यासी में वैराग्य नहीं है उसमें और संन्यासी बने हुए भाँड़ में कोई भेद नहीं है। यथा : मूड़ मुड़ायो वादि ही भाँड़ भयो तजि गेह। जिस भाँति भाँड़ उपहासी का पात्र है उसी भाँति वैराग्य रहित संन्यासी भी है। क्षत्रिय की श्रेष्ठता बल से है। तिसपर राजा के लिए कहा गया है कि आठों लोकपालों का उनमें अंश रहता है। यथा : अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः। सो दस सहस्र राजा लगे और शिव धनु न उठा। तो इससे यही सिद्ध हुआ कि इनमें ईशान का अंश है ही नहीं। ये भी राजा बने हुए भाँड़ की भाँति उपहास के ही पात्र हैं।

कीर्ति से यश कहा। विजय से बल और प्रताप कहा। वीरता से तेज कहा। अतः जिन्होंने यह कहा था अस विचारि गवनहु घर भाई। जस प्रताप बल तेज गँवाई। वही बात आ गई। पहिले चले गये होते तो यश; प्रताप, बल, तेज खोकर न जाते। अब हारकर जा रहे हैं और हारे भी किसी वीर से नहीं धनुष से हारकर जा रहे हैं। धनुष स्वयं इनसे लड़ने नहीं गया था। ये ही हठात् उससे लड़ने गये। सो अब हारकर लौटे जा रहे हैं।

श्रीहत भए हारि हिय राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने॥३॥

अर्थ : हृदय से हार मानकर राजा लोग श्रीहीन हो गये। जा जाकर अपने समाज में बैठे। राजाओं को देखकर जनक आकुल हो उठे और ऐसा वचन बोले जिसमें क्रोध भरा हुआ सा मालूम पड़ता था।

व्याख्या : मन से तो पहिले ही हार माने हुए थे। यथा : प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। पर इस हार से श्रीहत हो गये। फिर भी घर नहीं गये। अपने समाज में जाकर बैठे। सोचते हैं कि धनुष तो टूटा नहीं और न किसी से टूटेगा। अब कन्या जिसे चाहेगी जयमाल पहनायेगी। चित्त की वृत्तियाँ विचित्र रूप की होती हैं। यथा : विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तयः। कौन जाने मैं ही पसन्द में आजाऊँ। इस भाँति आशा लगाये बैठे हैं। राजा जनक ने देखा कि सभी राजा हृदय से हार गये। अपने आसन पर जाकर बैठे हुए हैं। घर भी नहीं गये। इनके हृदय में कल्मष है। कहेंगे कि ऐसा प्रण करके जनक ने राजसमाज का अपमान किया और बहुत सम्भव है कि उपद्रव भी करें। कन्या का व्याह भी नहीं हुआ चाहता और भारी उपद्रव हुआ चाहता है। अतः जनकजी आकुल हुए। ज्ञानी को क्रोध नहीं होता क्रोधाभास होता है। अतः रोष जनु साने वचन बोले।

द्वीप द्वीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥४॥

अर्थ : द्वीप द्वीप के राजा लोग जो प्रण मैंने ठाना था उसे सुनकर आये। देवता और दानव मनुष्य शरीर धारण करके बहुत से रणधीर वीर आये।

व्याख्या : देव से स्वर्ग के वीर दनुज से पाताल के वीर और रणधीर से मर्त्यलोक के वीर अभिप्रेत हैं। सभी वीर मेरा प्रण सुनकर आये। भाव यह कि सबको मालूम था कि शङ्कर के धनुष तोड़ने का प्रण है और मैंने किसी को बुलाया भी नहीं। सुन सुनकर स्वयं आने की कृपा की है। अर्थात् जो आया है वह शङ्कर के धनुष तोड़ने की हिम्मत करके ही घर से आया है। मेरे सङ्कोच से किसी का आना नहीं हुआ है।

दो. कुँवरि मनोहर विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनिहार विरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय ॥२५१॥

अर्थ : मनको हरण करनेवाली कुँअरि बड़ी जीत और सुन्दर कीर्त्ति के पाने वाले को मानो ब्रह्मा ने रचा ही नहीं। अतः टूटनेवाला धनुष मानो बनाया ही नहीं।

व्याख्या : विरंचि जनु रचेउ न। इस वाक्य का अन्वय पावनिहार के साथ होगा और देहलीदीपक न्याय से धनु दमनीय के साथ होगा। कोई यह न कहे कि कन्या मुझे पसन्द नहीं इसलिए धनुष नहीं तोड़ा। सो कुँअरि मनोहर है। इस धनुष को तोड़ना और रावण बाणासुर पर विजय पाना एक बात है। अतः ऐसी विजय कौन नहीं चाहता। बिना रक्तपात के विजय प्राप्त करने से कमनीय कीर्ति है। कौन यशोधन इसे न चाहेगा? मालूम होता है कि ब्रह्मदेव ने ऐसा भाग्यवान् किसी को बनाया नहीं इसीलिए धनु को दमनीय नहीं बनाया। नहीं तो कार्य द्रव्य सभी क्षणभङ्गुर होते हैं।

कहहु काहि यह लाभु न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥
रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सकेउ छड़ाई ॥१॥

अर्थ : कहो किसे यह लाभ अच्छा नहीं लगता? किसी ने तो शिवजी का धनुष नहीं चढ़ाया। चढ़ाना और तोड़ना तो जाने दो। कोई तिल भी जमीन न छुड़ा सका।

व्याख्या : महाराज जनक समझ रहे हैं कि ये अभिमानी पीछे से कहेंगे कि मुझे कन्या पसन्द नहीं थी। अतः जिसे यह लाभ अच्छा न लगता हो वह इस समाज में बोल दे। सब लोग उसका भी रूप देख लें कि किस मुँह से कह रहा है कि कन्या पसन्द नहीं। यदि पसन्द है तो शिवजी का धनुष चढ़ाना चाहिए। सो तो किसी का किया न हुआ। धनुष चढ़ाना और उसे तोड़ना तो दूर की बात है। कोई तिल भर भी जमीन नहीं छुड़ा सका। दस सहस्र राजाओं का उसे उठाने के लिए लगना उन्मत्त चेष्टा थी। अतः उसकी चर्चा भी महाराज नहीं करते। धनुष तोड़नेवाले को बिना विचार वरण की प्रतिज्ञा थी। यदि कोई उठा भी लेता तो विचार किया जाता कि विवाह किया जाय या नहीं। इस अवस्था में तो विचार को भी स्थान नहीं है। चढ़ाना या तोड़ना तो उठाने के बाद बनता है। यहाँ तो

कोई हिला भी न सका। भाव यह कि इसका तोड़ना राजसभा के लिए असम्भव व्यापार है तब किस आशा से राजसमाज़ बैठा है।

अब जनि कोउ माखै भटमानी। वीर विहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न विधि वैदेहि विवाहू ॥२॥

अर्थ : अब कोई वीरमानी क्रोध न दिखावे। मैंने जान लिया पृथ्वी वीरों से रिक्त : खाली हो गई। अब आशा छोड़िये और अपने अपने घर पधारिये। ब्रह्मदेव ने सीता का विवाह लिखा ही नहीं।

व्याख्या : पहिले वीरमानियों ने भाटों के कहने पर क्रोध किया था कि नृप भुज वल विधु सिव धनु राहू। इन सबों ने कैसे कहा ? अब कोई क्रोध करने का कष्ट न उठावें। मैं कहता हूँ मैंने जान लिया कि पृथ्वी बिना वीर की हो गई। ठीक यही बात हनुमन्नाटक में कही गई है। आद्वीपात् परतोप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः। कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः। नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः। केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्।

यह आशा छोड़िये कि जब धनुष किसी से न टूटा तो क्या कन्या क्वारी ही रह जायगी। किसी न किसी को उसे वरना ही पड़ेगा। इस पर कहते हैं कि यह नहीं होना है। आप लोग पधारें व्यर्थ क्यों बैठे हैं। विधि ने धनु दमनीय नहीं रचा। इसका अर्थ यही है कि ब्रह्मदेव ने कन्या का व्याह ही नहीं लिखा है होगा कैसे ? मेरी प्रतिज्ञा विधि की रेख से कम नहीं है।

सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥
जौं जनत्यौं विनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होत्यौं न हँसाई ॥३॥

अर्थ : यदि प्रण त्याग करूँ तो धर्म जाता है। रह जाय कन्या क्वारी मेरा कोई वश नहीं है। यदि मैं जाने होता कि पृथ्वी बिना वीर की हो गई है तो प्रण करके मैं अपने को उपहास का पात्र न बनाता।

व्याख्या : सत्य मूल सब सुकृत सोहाये। प्रण त्याग से सत्य का त्याग होगा। अतः निर्मूल होकर सब पुण्य नष्ट हो जायँगे। मैं सुकृत नहीं छोड़ सकता। चाहे कन्या क्वारी रह जाय। सुकृत छोड़ना मेरे वश के बाहर की बात है : राजा जनकजी ही चक्रवर्ती जी के समकक्ष सत्यसन्ध हैं। मुझे धारणा थी कि पृथ्वी शून्य नहीं है कोई वीर होगा ही। धनुषभङ्ग प्रण वीर के लिए ही किया जाता है। पृथ्वी वीर विहीन है। इसलिए मैं उपहास का पात्र हो गया। नहीं तो सभी ने धनुषभङ्ग सम्भव समझा था। इसीलिए आये भी थे। इसी भाँति मैंने भी सम्भव समझ कर प्रतिज्ञा की थी।

जनक वचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी ॥
माखे लखनु कुटिल भै भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें ॥४॥

अर्थ : राजा जनक की बात सुनकर सब नर नारी जानकी को देखकर दुःखित हुए। पर लक्ष्मणजी को क्रोध हुआ। उनकी भौहें टेढ़ी हुईं। होठ फड़कने लगे। आँखों से क्रोध झलकने लगा।

व्याख्या : सब नर नारी धनुष न टूटने से दुःखी नहीं हुए थे। जनकजी की बात सुनकर दुःखी हो गये। वे सब समझते थे कि धनुष न टूटने से व्याह न रुकेगा केवल राजाओं का झंझट दूर हो जायगा। फिर जनकजी जिसे चाहेंगे उससे व्याह कर देंगे। पर अब उनकी बातें सुनकर जनकजी की ओर देखा और दुखी हुए कि ऐसी कन्या बिना व्याहे रह जायगी। भारतवर्ष में अन्धी कानी लँगड़ी लूली सभी कन्याओं का व्याह हो ही जाता है। लड़के भले ही क्वारे रह जाँय पर कन्या क्वारी नहीं रहने पाती। समाजसंगठन ही यहाँ का इस प्रकार का है।

अपमान जनित क्रोध को ही माँख कहते हैं। जनकजी के कहने पर किसी को माँख न हुआ। जनक वचन छुए विरवा लजारू केसे। वीर रहे सकल सकुचि सिर नाइके। वे वीरमानी जो भाटों के कहने पर बिगड़ उठे थे सकुचकर चुप रह गये। पर लक्ष्मण ने जिन पर भाटों के कहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था जनकजी के वीर विहीन मही मैं जानी कहने पर अपमान माना। उनकी भौहें टेढ़ी हुई। होठ फड़कने लगे। आँखें लाल हो उठीं। रौद्ररस का आविर्भाव हुआ। अनुभाव प्रकट हुए। यथा : भृकुटि कुटिल अरु अरुन द्दग अधर फरक अनुभाव। गर्व विकलता चपलता ये संचारी भाव। रदपट फरकत का भाव यह है कि कुछ कहा चाहते हैं।

दो. कहि न सकत रघुवीर डर, लगे वचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु, बोले गिरा प्रमान ॥२५२॥

अर्थ : रामजी के डर से कह नहीं सकते। पर वचन बाण की भाँति लगे। रामजी के चरण कमलों में सिर झुकाकर प्रमाण बात बोले।

व्याख्या : जनकजी पर रामजी की बड़ी श्रद्धा है। अतः उनके विरुद्ध बोलने में रामजी का डर है। जनकजी का डर कुछ भी नहीं कि उनके राज्य में आकर उनके विरुद्ध कैसे बोलें। पहिले विकलता : सञ्चारी कहते हैं। जनक के वचन बाण की भाँति लगे। रामजी का अपमान लक्ष्मणजी सहन नहीं कर सकते। अब चपलता : सञ्चारी कहते हैं। रामजी के चरणकमलों में सिर नवाकर बोले। लक्ष्मणजी क्रोध में भी अप्रमाण बात नहीं बोलते। इसलिए गिरा प्रमाण कहा।

रघुबंसिन्ह मह जँह कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित वानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥१॥

अर्थ : रघुवंशियों में से जहाँ कोई होता है उस समाज में ऐसा अनुचित कोई नहीं कह सकता जैसा जनक ने कहा और वे जानते हैं कि यहाँ रघुकुल मणि विराजमान हैं फिर भी ऐसी बात बोल गये।

व्याख्या : रघुवंशी मात्र वीर हैं ! उनकी पीठ शत्रु नहीं देख सकता । अत: उनके सामने वीर विहीन मही कहने का किसी को अधिकार नहीं। कहने पर रघुवंशी अपनी वीरता प्रकट करता है। इस अनुचित को नहीं सहता। जनकजी जानबूझकर कि इस समाज में रघुकुलमणि विद्यमान हैं ऐसी बात बोल गये। मुनिजी ने मेरे सामने परिचय दिया। रघुकुल मनि दसरथ के जाये।' ''मख राखेउ सब साखि जग जिते असुर संग्राम। बिना जाने कोई साधारण व्यक्ति कुछ कह बैठे यह और बात है। राजा जनक ऐसे प्रमाणिक पुरुष रघुकुलमणि की उपस्थिति जानते हुए ऐसी बात इतने बड़े राजसमाज में कही। यह कदापि सहन योग्य नहीं है।

सुनहु भानु कुल पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥२॥

अर्थ : सूर्यकुलरूपी कमल के सूर्य ! सुनो यह मेरी सत्योक्ति है गर्वोक्ति नहीं है। यदि आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंद की भाँति ब्रह्माण्ड उठा लूँ।

व्याख्या : भानुकुल पंकज भानू ! संबोधन का यह भाव है कि भानु के पराक्रम को कौन कह सकता है। कमल के पराक्रम के सामने ही यह धनुष कुछ नहीं है। जिस कमलकुल के आप भानु हैं उसी का मैं कमल हूँ। सब लोग कमल का पराक्रम देखें। भानु को पराक्रम दिखाने की आवश्यकता नहीं। यदि आपकी आज्ञा हो तो यह धनुष क्या है। इस ब्रह्माण्ड को गेंद की भाँति उठा लूँ। आज्ञा पाऊँ कहने का भाव यह कि आज्ञाकारी का किया हुआ आज्ञादाता का किया हुआ माना जाता है। इसलिए इस अवसर पर जब धनुष उठाने पर जानकी के वरण की समस्या है आपकी आज्ञा परमावश्यक है। यथा : मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस पन परिमित और भाँति सुनि गई है। नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाय चाप देतो पै देखाइ बल फल पाप मई है। चढ़ाने का अर्थ उठाकर सिर पर रखना जैसे फूल चढ़ाना।

काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाकु पुराना ॥३॥

अर्थ : और उसे : कच्चे घड़े की भाँति फोड़ डालूँ। हे भगवन् ! आपके प्रताप की महिमा से मेरु को मूली की भाँति तोड़ सकता हूँ। यह विचारा पुराना पिनाक है क्या ?

व्याख्या : ब्रह्माण्ड के उठाने में परिश्रम नहीं है। इसलिए गेंद की उपमा देते हैं। ब्रह्माण्ड भुवन विराज जाके एक सिर जिमि रज बनी। गेंद फोड़ने की वस्तु नहीं है। अत: फोड़ने के लिए कच्ची मिट्टी के घट से उपमित करते हैं। कच्ची मिट्टी का घड़ा हाथ से दबाने से फूट जाता है। ब्रह्माण्ड भी कच्ची मिट्टी का बना है। दबाते ही फूटेगा। जनकजी ने दो बातें कहीं। रहेउ चढ़ाउब तोरब भाई।

उठाने के विषय में कहकर अब तोड़ने के विषय में कहते हैं कि मेरु पर्वत को मूली की भाँति तोड़ दूँ। अपने बल से नहीं। वह बल भी आपका दिया हुआ है। यथा : जेहि बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन। इसलिए कहते हैं : आपके प्रताप की महिमा से यह विचारा सड़ा गला पुराना युगान्तर का धनुष क्या वस्तु है। भगवन् सम्बोधन से तात्पर्य है कि समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री और ज्ञान वैराग्य तो आप में हैं। अन्य जीव तो उसके लेशमात्र से अपना उपजीवन करते हैं।

नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं विलोकिअ सोऊ ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥४॥

अर्थ : हे नाथ ! ऐसा जानकरके आज्ञा हो। मैं कौतुक करता हूँ उसे भी देख लीजिये। कमल की नाल की भाँति धनुष को चढ़ाऊँ और सौ योजन लेकर दौड़ जाऊँ।

व्याख्या : यह मनमें समझ लीजिये कि लक्ष्मण मेरे प्रताप की महिमा द्वारा कार्य करता है। उठावेगा फोड़ेगा और तोड़ेगा आपका प्रताप। लक्ष्मण तो निमित्त-मात्र होगा। अब आज्ञा हो कि तीनों में कौन काम करू ? ब्रँह्माण्ड को उठाऊँ कि फोड़ दूँ कि मेरु को तोड़ूँ ? मेरे लिए कौतुक है। उसे देख लीजिये। अब चढ़ाने के विषय में कहते हैं : इस सड़े गले पुराने धनुष में क्या रक्खा है। इसे तो कमलनाल की भाँति चढ़ा दूँ। भाव यह कि कमलनाल आप ही झुका पड़ता है। उसके चढ़ाने में कौन परिश्रम है। तिल भर धनुष हिलाने के लिए जनक लालायित हैं तो इसे लेकर सौ योजन दौड़ आऊँ। अब रह गया तोड़ना सो :

दो. तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ ॥२५३॥

अर्थ : हे नाथ ! आपके प्रताप के बल से गोबरछत्ते के डंठल की भाँति तोड़ डालूँ। यदि न करूँ तो प्रभु के चरण की शपथ करके कहता हूँ फिर हाथ से धनुष और तरकस न उठाऊँगा।

व्याख्या : गोबरछत्ता छूते ही टूटता है। सो यह धनुष छूते ही टूटेगा। यदि न कर सकूँ तो धनुष और तरकस फिर न धारण करूँगा। अतः वीरता का बाना छोड़ दूँगा। विश्वास दिलाने के लिए प्रभु चरण की शपथ लेते हैं। क्योंकि इसे तोड़ना नहीं है। ब्रह्माण्ड उठाने, फोड़ने, मेरु तोड़ने के विषय में शपथ नहीं लेते उसे कर दिखाने के लिए प्रस्तुत हैं। केवल आज्ञा की देर है। पर धनुष को छूना नहीं है। अतः अपने में ऐसा सामर्थ्य होने की शपथ लेते हैं। आपके लिए इसको तोड़ना क्या है। आप भानुकुलभानु हैं। अनायासेन चापरूपी अन्धकार दूर कीजिये। यथा : नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी। उदय भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेज प्रकासा। जो पहिले कहा था वही समय उपस्थित है।

लषन सकोप वचन जे बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सकल लोक सब भूप डेराने। सिय हिय हरखु जनक सकुचाने ॥१॥

अर्थ : ज्यों ही लक्ष्मणजी क्रोधयुक्त वचन बोले कि पृथ्वी डोल उठी। दिग्गज हिल गये। सभी लोक सब राजा डर गये। सीताजी के मनमें हर्ष हुआ और जनकजी संकुचित हो गये।

व्याख्या : सकोप वचन तो राजा जनक भी बोले। यथा : बोले वचन रोष जनु साने। पर उसका प्रभाव इतना ही हुआ कि नरनारि दुःखी हो गये। लक्ष्मणजी को क्रोध आगया। परन्तु लक्ष्मणजी का क्रोध आना दूसरी वात है। इनके सकोप वचन का प्रभाव सृष्टि के अधिकारियों पर पड़ता है। यथा : सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान। जो कहा कि कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावों। कांचे घट जिमि डारौं फोरी तो पृथ्वी डगमग करने लगी। क्योंकि क्रोध में भी ये अप्रमाण नहीं वोलते। यथा : अति सरोष वोले लषन लखि सुनि सपथ प्रमान। यहाँ भी नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान। दिग्गज हिल उठे कि इनके क्रोध करने पर हम पृथ्वी को न सँभाल सकेंगे। सव लोक लोकप डर उठे। क्योंकि केवल पृथ्वी को फोड़ने को नहीं ब्रह्माण्ड फोड़ने को कह रहे हैं। तव तो किसी की रक्षा नहीं है। अथवा पृथ्वी ही ऐसी डगमगाई कि दिग्गज स्थिर न रह सके। पृथ्वी ही सबकी आधार है। अतः सकल लोक और सब भूप भी डर गये। श्रीरामजी के प्रताप की महिमा का प्रत्यक्ष अनुभव करके सीताजी को हर्ष हुआ। अपने वचन के अनुचित प्रमाणित हो जाने से जनकजी सङ्कुचित हुए। लक्ष्मणजी के बोलते ही भूमि के डगमगाने से प्रमाण मिल गया।

गुर रघुपति सब मुनि मनमांहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकांहीं ॥
सयनहिं रघुपति लषन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे ॥२॥

अर्थ : गुरुजी, रामजी तथा सब मुनिलोग प्रसन्न हुए। बार बार पुलक हो रहा है। इङ्गित मात्र से रामजी ने लक्ष्मणजी को रोका और प्रेम के सहित निकट वैठाया।

व्याख्या : लक्ष्मणजी की अप्रतिम तेजस्विता, अमोघ वीर्य, अलौकिक विवेक तथा अवसरप्राप्त क्रोध देखकर गुरुजी : विश्वामित्र रामजी तथा मुनिगण मन ही मन आनन्दित हो उठे और लक्ष्मणजी की प्रगाढ़ भक्ति का विचार करके सबको बार बार पुलकावली उठ रही हैं। जनकजी के सङ्कोच को देखकर सबने अपना हर्ष छिपाया। अतः मनमाहि मुदित भये लिखते हैं। लक्ष्मणजी के इस बढ़े हुए क्रोध को रोकने के लिए रामजी का इङ्गित ही यथेष्ट है। अतः इङ्गित किया कि बैठ जाओ। यहाँ धनुष तोड़ना विवाह करना एक वात है। विना वड़े की आज्ञा विवाह के लिए स्वयं अग्रसर होना ठीक नहीं। पिता के स्थान में मुनिजी हैं। वे कुछ नहीं कह रहे हैं। अतः बैठ जाओ। यह रोकना अप्रसन्नता का परिणाम नहीं

है। इसलिए प्रेम के सहित निकट बैठाया। भाव यह कि तुम्हारी इच्छा को मैं पूरी करूँगा।

विस्वामित्रु समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी ॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा ॥३॥

अर्थ : विश्वामित्र ने देखा कि शुभ समय आगया है। तब अति स्नेहमय वाणी बोले : रामजी उठो ! और शिव के धनुष को तोड़ो और राजा जनक का परिताप मिटाओ।

व्याख्या : गुरुजी विवाह का मुहूर्त्त देख रहे थे तब तक शुभमुहूर्त भी आ गया। तब अत्यन्त वात्सल्यसूचक वचन बोले। राम उठो ! इस समय रघुवीर सुजान नहीं कहा। उसमें इतना रस नहीं जितना केवल राम सम्बोधन में है। भवभय भंजन नाम प्रतापू। तुम्हारे नाम के प्रताप से भवभय भङ्ग होता है। अतः भवचाप को तुम भङ्ग करो। महात्मा हैं। सब लाभों से बड़ा लाभ जनक राजा ऐसे सन्त का परिताप मेटना देख रहे हैं एवं जनकजी की भी निर्दोषता द्योतित करते हैं कि अति परिताप से विकल होकर उन्होंने वीरविहीन मही कहा। किसी को अपमानित करने का उनका लक्ष्य नहीं था। मेरी आज्ञा के प्रतीक्षा में लक्ष्मणजी के इतना कहने पर भी नहीं उठते हो सो मैं आज्ञा देता हूँ। जनकजी के परिताप के मिटाने को लक्ष्य में रखकर धनुष तोड़ो। शिवजी का धनुष तोड़ने की आज्ञा देकर सारा प्रातिभाव्य : जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ।

सुनि गुर बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा ॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ। ठवनि जुवा मृगराजु लजाएँ ॥४॥

अर्थ : गुरुजी का वचन सुनकर उनके चरणों में सिर नवाया। हर्ष विषाद कुछ मनमें न आया। सहज स्वभाव से उठकर खड़े हुए पर उस उठने के ढङ्ग को देखकर युवा सिंह लज्जित हो जाय।

व्याख्या : गुरुजी के वचन सुनकर चरणों में प्रणाम का भाव यह कि मुझे आज्ञा शिरोधार्य है। और लोगों के अन्य इष्टदेवता थे वे उन्हें प्रणाम करके चले। परन्तु रामजी के इष्ट गुरु थे अतः चलने के समय उन्होंने उनको प्रणाम किया। धीर हैं इसलिए हर्ष विषाद कुछ भी मनमें न आया। यथा : सुख हरखहि जड़ दुःख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मनमांही। कृतकार्यता की आशा से हर्ष और कृतकार्य न होने के भय से विषाद के भाव उठते हैं सो कोई न उठे। स्वभाव से खड़े हो जाने में सिंह का सा ठाट दिखाई पड़ता है।

दो. उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥२५४॥

अर्थ : मञ्चरूपी उदयाचल पर रामचन्द्र रूपी बालसूर्य उदय हुए। सन्तरूपी कमल खिल उठे और सब आँखें भौंरे सी हर्षित हो उठीं।

व्याख्या : रामजी मञ्च पर थे ही गुरुजी की आज्ञा पाकर खड़े हो गये। ऐसी शोभा जैसे उदयाचल पर बालसूर्य की होती है। सूर्य उदय होते ही जिस पर्वत पर दिखाई पड़ते हैं उसे उदयाचल कहते हैं। उस समय सूर्यनारायण अपने तेज को समेटे रहते हैं। क्रमशः उसका प्रचार तीव्र होता जाता है। श्रीरामजी के तेज का साक्षात्कार लोक में यहीं से हुआ और तब से तीव्र तीव्रतर हो गया। राज्य-सिंहासनारूढ़ होने पर पूर्ण प्रकाश हुआ। यथा : जवते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रवल दिनेसा। भाव यह कि बालसूर्य होकर मञ्च पर आये और क्रमशः अपने तेज का प्रसार करते करते तरुणसूर्य होकर राजसिंहासन पर बैठे। सूर्य के उदय होने से कमल खिल उठते हैं। इसी भाँति सन्त अर्थात् प्रथम श्रेणीके ज्ञानीभक्त खिल उठे। भौंरे हर्षित होते हैं इसी भाँति पुरवासी तृतीय श्रेणी के अर्थार्थी भक्तों के लोचनभृङ्ग हर्षित हो उठे। सब शब्द का अन्वय देहलीदीपक न्याय से सन्त और लोचन भृंग दोनों के साथ होगा। पुरवासी जनकजी का वचन सुनके जानकीजी को देखकर दुःखी हुए थे। वे जानकीजी का व्याह चाहते हैं। अतः अर्थार्थी हैं।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। वचन नखत अवली न प्रकासी ॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने ॥१॥

अर्थ : राजाओं की आशारूपी रात जाती रही। उनके वचन रूपी तारों की पंक्ति में भी चमक न रही। अभिमानी राजारूपी कुमुद सिकुड़ गये और कपटी राजारूपी उल्लू छिप गये।

व्याख्या : राजाओं की आशारूपी रात ने ही अंधेरा फैला रक्खा था। वह रात बालसूर्य के उदय होते ही नष्ट हो गई। प्रतीति तो सबके मनमें थी कि रामजी धनुष तोड़ेंगे। यथा : असि प्रतीति सबके मन मांहीं। राम चांप तोरव सक नांहीं। फिर भी आशा लगाये बैठे थे। आशा बड़ी बलवती होती है। भीष्म के मारे जाने पर, द्रोण के मारे जाने पर और महाबली कर्ण के मारे जाने पर महाभारत की लड़ाई में कौरव लोगों की आशा गई नहीं। शल्य को सेनापति बनाकर हर्ष मनाया कि ये पाण्डवों को जीतेंगे। यथा : हते भीष्मे हते द्रोणे हते कर्णे महाबले। आशा बलवती राजन् शल्यो जेत्स्यति पाण्डवान्। अरुणोदय हो गया। रामजी के आगमन का समाचार पाया। इससे आशारात्रि क्षीण हो गई थी। पर मञ्च पर सूर्योदय होते ही आशा रात्रि जाती रही। सब राजा निराश हो गये। अरुणोदय होने पर भी कुछ तारे टिमटिमाते रहते हैं। इसी भाँति कुछ राजा शेखी बघारते थे। पर प्रभु के उठ खड़े होने पर उनकी जिह्वा भी स्तम्भित हो गई जिस भाँति सूर्योदय होते ही तारे प्रकाशहीन हो जाते हैं।

सबुइ सुमन विकसत रवि निकसत कुमुद विपिन बिलखाइ। इसी भाँति कुमुदरूपी अभिमानी राजा जो वंदियों की वाणी सुनकर बिगड़ उठे थे। यथा : भटमानी अतिसय मन माखे। सङ्कुचित हो गये कि हमारा उठाया जो न उठा उसे

एक लड़का उठाने को तैयार है। सूर्योदय होने पर उल्लुओं को सूझता नहीं इसलिए वे छिप जाते हैं। इसी भाँति कपटी राजाओं को भी कुछ सूझता ही नहीं कि अब हम क्या कहें। सबके निरस्त होने पर ये खड़े हुए हैं। कहने की जगह भी नहीं रह गई कि इन्होंने जल्दी कर दी नहीं तो मैं तोड़ता अतः वे छिप गये।

भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा ॥
गुरु पद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥२॥

अर्थ : मुनि और देवता रूपी चकवा शोकरहित हो गये। फूल बरसाते हैं और सेवा जनाते हैं। गुरुजी की चरण वन्दना करके अनुराग के सहित रामजी ने मुनियों से आज्ञा माँगी।

व्याख्या : सूर्य के उदय होने पर चकवा का शोक जाता रहता है। उसकी प्रिया का पता उसे लग जाता है। उसे इष्ट की जिज्ञासा रहती है। अतः जिज्ञासु भक्त को चकवा मानकर द्वितीय श्रेणी में माना है। इसी भाँति इष्टदेव के साक्षात्कार से मुनि और देवता शोकरहित हुए अथवा रावणहन्ता की पहिचान से शोकरहित हुए। इन्हें प्रभु के हाथ से अपनी विपत्ति दूर करानी है। इसलिए अपनी सेवा फूल की वर्षा करके जनाते हैं। यह दूसरी पुष्पवर्षा प्रभु पर देवता तथा मुनियों द्वारा हुई। सुनि गुरु बचन चरन सिरनावा से प्रसङ्ग छूटा था। उसी को मुनिपद बंदि कहकर उठाते हैं। अनुरागा से भाव यह कि किसी प्रकार की त्वरा या क्षोभ नहीं है। प्रेम के साथ गुरुजी के चरण की वन्दना की। अन्य राजाओं की भाँति अनुराग रहित वन्दना नहीं हुई। यथा : चले इष्टदेवन्ह सिर नाई। तत्पश्चात् रामजी ने मुनियों से आज्ञा माँगी। क्योंकि ब्रह्मकुल शङ्कररूप है और शङ्कर का ही धनुष है। अतः मालमालिक से भी एकबार पूछ लेना चाहिए। यथा : मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं। वैराग्याम्वुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहं। मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसंभवं शंकरं। वंदे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्। गुरुजी तो इस समय पितास्थानीय हैं। यथा : तुम मुनि पिता आन नहि कोऊ। विवाह की आज्ञा दे दी। धनुष तोड़ना और जानकी व्याहना एक बात थी पर वह विवाह बिना धनुष तोड़े सम्भव नहीं था। इसलिए तोड़ने की आज्ञा दी। पर तोड़ने के पहिले जिसका धनुष है उसकी भी अनुमति लेनी परमावश्यक है। इसलिए ब्रह्मकुलरूपी शङ्कर से अनुमति चाही। गुरुजी ने फूल लाने की आज्ञा दे दी। फिर भी इस बात की आवश्यकता पड़ी कि माली से पहिले पूछ लिया जाय तब फूल तोड़ें। यथा : चहुँदिसि चितय पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन।

सहजहि चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु वर कुंजर गामी ॥
चलत राम सब पुर नरनारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी ॥३॥

अर्थ : सम्पूर्ण जगत् के स्वामी स्वभाव से ही चले। सुन्दर मत्तहाथी की सी

उनकी चाल थी। राम के चलते ही सब पुर के नर नारी सुखी हो गये। उन्हें सम्पूर्ण शरीर में पुलक हो गया।

व्याख्या : छोटे छोटे खण्डों के राजा थे इसलिए आकुल होकर चले थे। रामजी सकल जग के स्वामी हैं। /अतः इन्हें आकुलता नहीं है। स्वभाव से चल रहे हैं। जैसे सुन्दर मतवाला हाथी चले वैसी चाल इनकी स्वाभाविक है। जनकजी के वचन से विचारे पुर नरनारी दुःखी हो गये थे। यथा : जनक वचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी। सो अब रामजी के चलते ही सुखी हो गये। इच्छा प्रबल है कि रामजी धनुष तोड़ें। ऐसे सुखी हुए कि उनका शरीर पुलक से भर उठा।

वंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जो कछु पुन्य प्रभाउ हमारे ॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाई। तोरहुँ रामु गनेस गुसाईं ॥४॥

अर्थ : उन्होंने देवता पितरों की वन्दना की और अपने पुण्य को सँभाला कि हमारे पुण्य का जो कुछ भी प्रभाव हो तो हे गणेश गोसाईं ! शिवजी के धनुष को कमल की नाल की भाँति रामजी तोड़ डालें।

व्याख्यां : दिव्य सहायता देवता और पितर की ही होती है। पितर शीघ्र प्रसन्न होते हैं इसलिए पहिले पितरों की वन्दना की और अपने सब पुण्यों को सँभाला। सँभालना स्मरण करने के अर्थ में अनेकशः प्रयुक्त है। यथा : बार बार रघुवीर सँभारी। सँभारि श्री रघुवीर धीर। अपने सब पुण्यों का फल गणेशजी से चाहते हैं। क्योंकि ये वरदायक देव हैं स्मरण मात्र से सिद्धि देते हैं। अभिलाषा यही कि शिवधनुष को रामजी पंकज नाल की भाँति तोड़ें। ये आर्त भक्त हैं : इनकी चौथी श्रेणी है। इनकी उपमा खग नाना से दी हुई है। यथा : कमल कोक मधुकर खग नाना। हरखे सकल निसा अवसाना।

दो. रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीतामातु सनेह बस, वचन कहै बिलखाइ ॥२५५॥

अर्थ : रामजी को प्रेम के साथ देखकर सखियों को समीप बुलाकर सीताजी की माता ने प्रेमवश बिखलकर वचन कहा।

व्याख्या : रामजी पर रानियों के सहित जनकजी का प्रेम अवर्णनीय वात्सल्य से भरा हुआ है। यथा : सहित विदेह विलोकहिं रानी। सिसु सम प्रेम न जाइ बखानी। महाराज को चार रानियाँ थी। उनमें सीताजी की माता का और भी अधिक प्रेम था। रामजी को धनुषभङ्ग के लिए चलते देखकर वह प्रेम उमड़ पड़ा। हृदय की बात कहनी थी इसलिए सखियों को निकट बुलाया। इस समय महारानी प्रेमवश हैं। इसलिए विलखकर वचन कहती हैं।

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे ॥
कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं। ए बालक अस हठि भल नाहीं ॥१॥

अर्थ : हे सखी ! जो हमारे हितकारी कहलाते हैं वे भी तमाशा देखनेवाले हैं। कोई गुरुजी को समझाकर नहीं कहता कि ये बालक हैं। ऐसा हठ ठीक नहीं।

व्याख्या : सखियों से कोई बात छिपाई नहीं जाती। इसलिए उनसे मनकी बात कहती हैं कि जो हमारे हितचिन्तक कहलाते हैं आज देखती हूँ कि वे भी तमाशा देख रहे हैं। हितकी भावना उनमें है ही नहीं। गुरुजो ने आज्ञा दे दी। उठउ राम भंजउ भव चापा। और राम उठ खड़े हुए। वे बालक हैं। उन्हें इतना विचार कहाँ कि यह धनुष मुझसे टूटेगा कि नहीं। गुरुजी को विचार करना चाहिए था। यदि गुरुजी ने न विचार किया और आज्ञा दे दी तो हमारे हितचिन्तकों को तो समझाना चाहिए था कि ऐसा हठ ठीक नहीं। बच्चे का उठाया धनुष क्या उठेगा ? लाभ कुछ होना नहीं है केवल मुनिजी का हठ है। यह हँसता हुआ आनन्दमय मुख कृतकार्य न होने से व्यर्थ म्लान हो जायगा और जिनसे धनुप न उठा उन लोगों में इनकी गिनती हो जायगी। इनको धनुष तोड़ने के लिए भेजना और यह घोषणा एकही बात है कि ये भी जानकी से विवाह करने के अयोग्य हैं।

सबसे प्राचीन श्रावणकुञ्ज अयोध्यावाली प्रति में गुरु पाठ है अन्य सभी प्रतियों में नृप पाठ है। विचार करने से गुरु पाठ सुसङ्गत प्रतीत होता है। नृप ने जब प्रण कर दिया तब उन्हें धनुषभङ्ग रोकने का क्या अधिकार है। विशेषतः लक्ष्मणजी द्वारा इस प्रकार फटकारे जाने पर वे किस मुँह से रोकते ? जनक राजा के लिए हठ का उपालम्भ करना ही हठ है। वे तो इतना होने पर भी विश्वामित्रजी से कहते हैं :

जोरिकर कमल निहोरि कहै कौसिक सौं
आयसु भयों रामको सो मेरे दुचितई है।
बान जातुधानपति भूप दीप सातहू के
लोकप विलोकत पिनाकभूमि लई हैं ॥१॥
जोतिलिंग कथा सुनि, जाके अंत पाए बिनु
आए विधि हरि हारि सोई हाल भई है।
आपहु विचारिए निहारिए सभा की गति
वेद मरजाद मानौ हेतुवाद हई है ॥२॥
इन्हके जितौहें मन, सोभा अधिकानी तन
मुखन की सुखमा सुखद सरसई है।
रावरो भरोसो बल, कै है केऊ कियोछल
कैं धों कुल को प्रभाव कैं धों लरिकई है ॥३॥

राजा स्वयं गुरुजी की आज्ञा को उचित नहीं समझ रहे हैं। अतः न राजा का हठ है और न उन्हें उपालम्भ देना बन सकता है। फलतः नृप पाठ असंगत है।

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं ॥२॥

अर्थ : रावण और बाणासुर ने धनुप को छूआ तक नहीं। सब राजा दर्प करके हार गये। उस धनुप को राजकुँवर के हाथ में देते हैं। हंस का बच्चा क्या पहाड़ उठावेगा।

व्याख्या : इस समय सुभट शिरोमणि दो हैं : रावण और बाणासुर। ये कैलास और मेरु उठानेवाले धनुप के जौहरी हैं। इन्होंने धनुष को छूआ तक नहीं। जान गये कि इसके छूने में अप्रतिष्ठा है और सभी राजा घमण्ड करके हार गये। अतः सिद्ध हो गया कि यह धनुप टूटने योग्य नहीं। ये तो प्रौढ़ भी नहीं अभी बच्चे हैं। बाल मरालन के कल जोटा। दर्शनीय हैं। भारी पराक्रम की आशा भी इनसे नहीं की जा सकती। जिस भाँति हंस के बच्चे से मन्दर : जो देवासुर से वहन न किया जा सका : के उठाने की आशा नहीं की जाती।

भूप सयानप सकल सिरानी। सखि विधि गति कहि जाति न जानी ।।
बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी ।।३।।

अर्थ : राजा का सयानापन सब समाप्त हो गया। सखि! ब्रह्मा की गतिविधि न कही जाती है न जानी जाती है। चतुर सखी मृदु बानी बोली। हे रानी! तेजस्वी को छोटा नहीं गिनना चाहिए। जहाँ कछु पाठ है वहाँ अर्थ करना होगा कि कुछ जानी नहीं जातीं।

व्याख्या : महाराज परम चतुर हैं। जहाँ मन्त्रियों की बुद्धि काम नहीं करती वहाँ महाराज अपनी बुद्धि से काम लेते हैं। परन्तु यहाँ तो उनका सयानापन सब धूल में मिल गया। ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठे कि लड़की कुँआरी ही रहा चाहती है। ऐसी बात बोल बैठे कि बच्चे से सही नहीं गई और उसके बड़े भाई को धनुष तोड़ने जाना पड़ रहा है। ब्रह्मदेव की गतिविधि न कही जा सकती है और न जानी जाती है कि इतने बड़े विवेकी होकर इस समय इनका विवेक क्या हो गया है? इनको स्वयं गुरुजी से समझाकर कहना चाहिए था। पर यदि वे नहीं कहते हैं तो हितचिन्तकों को तो कहना चाहिए। जिस समय रानी के मन में यह भाव आया उसी समय महाराज के मनमें भी वही भाव उठा। उन्होंने गुरुजी से निवेदन किया। पूरा प्रसङ्ग गीतावली में देखने योग्य है कि महाराज के निवेदन पर गुरुजी ने क्या कहा। स्वयं रामजी ने क्या कहा संक्षेप में यहाँ दिये देता हूँ :

इस पर कहि साधु साधु गाधिसुवन सराहे राउ
महाराज जानि जिय ठीक भली दई है।
कहैं गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों
नृपगति अगह गिरा न जाति गही है।।
देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम
साँचे तिरहुतनाथ साखी देत मही है।
रागऊ विराग भोग जोग जोगवत मन
जोगी जागवलिक प्रसाद सिद्धि लही है।।

ताते न तरनि ते, न सीरे सुधाकरहू ते
सहज समाधि निरुपाधि निरवही है।
ऐसेऊ अगाध बोध रावरे सनेह वस
विकल विलोकत दुचितई सही है।।

इसपर रामजी ने कहा :

रिपिराज राजा आजु जनक समान को।
आपु एहि भाँति प्रीति सहित सराहिअत
रागो औ विरागी बड़ भागी ऐसो आन को।।
भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख
मुनिमन अगम अलख गति जान को।
गुरु हर पद नेह गेह वसि भो विदेह
अगुन सगुन प्रभु भजन सयान को।।
कहनि रहनि एक विरत विवेक नीति
वेद वुध संमत पथीन निर्वान को।
गाँठि विनु गुनकी कठिन जड़ चेतन की
छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।।
सुनि रघुवीर की वचन रचना की रीति
भयो मिथिलेश मानो दोपक विहान को।
मिट्यौ महा मोह जी को छूट्यौ पोच सोच सी को
जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को।।

इतना संवाद होने पर तब रामजी गये।

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा ।।
रवि मंडल देखत लघु लागा। उदयँ तासु तिभुवन तम भागा ।।४।।

अर्थ : कहाँ कुम्भ से उत्पन्न अगस्त्यजी और कहाँ अपार समुद्र। पर उन्होंने सोख लिया। सम्पूर्ण संसार में सुयश व्याप्त हुआ। सूर्य का मण्डल देखने में छोटा है पर उसके उदय से तीनों लोक का अन्धकार जाता रहता है।

व्याख्या : सखी का कार्य शिक्षा देना है। सो वह शोकापनोदन करती हुई वोलती है। बड़ी चतुर है। युक्ति युक्त बात उदाहरण देकर समझाती है कि आकार देखकर पराक्रम का निर्णय नहीं हो सकता। छोटे आकारवाला तेजस्वी हो तो वही बड़ा है। ये बालक तो हैं पर हैं तेजस्वी। उदाहरण देती हैं। अगस्त्य नाम न देकर कुम्भज कहती हैं। कुम्भ दिनरात कूप से जल निकाला करता हैं। पर पार नहीं पाता। उस कुम्भ से उत्पन्न छोटे आकार के मुनि समुद्र सोख गये। संसार में उनका यश व्याप्त है। कहँ कुंभज कहँ सिन्धु : भाव यह कि दोनों में कोई समता नहीं। एक अति अल्प और दूसरे का पारावार नहीं। कार्य सदा कारण से अल्प ही होता है। वात यह थी कि कुम्भज तेजस्वी थे। इसलिए अपार समुद्र को

सोख लिया। इतना वड़ा पराक्रम किया। ये भी नृपकुलोत्पन्न होकर तेजस्वी होने के कारण अदमनीय धनुष का दमन करेंगे।

दूसरा उदाहरण देती है। सूर्य हैं बहुत बड़े परन्तु देखने में छोटे लगते हैं। प्रताप इतना बड़ा है कि वे उदय हो जाते हैं। स्वयं कुछ भी नहीं करते। केवल उनके तेज से तीनों लोक का तम दूर होता है। इसी भाँति ये राजकुमार वस्तुतः बहुत बड़े हैं पर देखने में छोटे मालूम होते हैं। इनके तेज से चापतम का भङ्ग होगा। इन्हें कोई आयास न करना होगा।

दो. मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरिहर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहुँ, वस कर अंकुस सर्व ॥२५६॥

अर्थ : तीसरा उदाहरण देती हैं। मन्त्र बहुत छोटा है पर उसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी देवता हैं। महामत्त गजराज को छोटा सा अङ्कुश वश कर लेता है।

व्याख्या : बहुत छोटा सा मन्त्र एकाक्षर प्रणव है। कहा गया है यही अक्षर ब्रह्म है। यही अक्षर परब्रह्म है। इसी अक्षर को जानकर जो जो जैसी इच्छा करता है उसे उसी की प्राप्ति होती है। यथा : एतदेवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्। एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। श्रुति कहती है कि यह सब प्रणवरूप है। भूत भविष्यत् वर्तमान सब उसी के उपव्याख्यान हैं जो तीनों कालों से अतीत है। वह भी प्रणवरूपी है। उस प्रणव की पहिली मात्रा के वाच्य विष्णु दूसरी के ब्रह्मा और तीसरी के शिव हैं। अर्धमात्रा में वाच्य साक्षात् ब्रह्म हैं। अतः सभी प्रणव के वश में हैं और ये साक्षात् प्रणवरूप हैं : ॐ यो ह वै श्री रामचन्द्रः स भगवान् अद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चोङ्कारः भूर्भुव स्वः तस्मै वै नमो नमः। इनके वश में विधिहरिहर हैं। ये शिवचाप का भङ्ग करेंगे।

चौथा उदाहरण देती है : महामत्त गजराज कितना दीर्घाकार और कितना शक्तिशाली है। उसके सामने छोटा सा जड़ अंकुश क्या है पर वह तेजस्वी है। महामत्त गजराज को जिस भाँति चाहता है उठाता बिठाता है इसी भाँति ये बहुत छोटे होने पर भी इस दमनीय चाप को वश करेंगे। जैसे चाहेंगे, उठावेंगे, चढ़ावेंगे, और तोड़ेंगे।

काम कुसुम धनु सायक[1] लीन्हे। सकल भुवन अपने वस कीन्हे॥
देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजव धनुषु राम सुनु रानी ॥१॥

अर्थ : काम ने फूल का धनुष हाथ में लिये हुए सारे संसार को अपने वश में कर रक्खा है। हे रानी! ऐसा समझकर आप संशय का परित्याग कीजिये। रानी! सुनो रामजी धनुष तोड़ेंगे।

---

[1] यहाँ विभावना द्वितीय है।

व्याख्या : पट्टाभिषिक्ता महिषी को देवी कहते हैं। सीताजी को जनकजी ने इन्हीं को दिया था। अतः सीताजी की माँ यही कहलाती हैं। सखी इन्हीं की बातों का जवाब देती हैं। इसलिए देवि ! सम्बोधन देती हैं। पाँचवां उदाहरण देती हैं : फूल के धनुष में क्या रक्खा है पर उसी को लेकर काम ने संसार को मोहित कर रक्खा है। यथा : हे वरोरु ! है यद्यपि मेरा बाण सरासन फूलों का। सकल सुरासुर को कहता हूँ क्या बूता मझहूलों का। कोई नहीं जगत् में ऐसा है समर्थ जो रह जावे मेरे आदेशों के बाहर फिर भी कुछ धीरज पावै। धन्वी तेजस्वी हैं। सबको वश किये हुए हैं। ये भी कुसुम की भाँति मृदु हैं पर तेजस्वी हैं। सबको वश किये हुए हैं। यथा : निज निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्ववस सकल नर नारी। पाँच उदाहरणों का भाव यह कि पञ्च महाभूतों में तेजस्वी की ही प्रधानता है। धनुष पञ्चमहाभूत के बाहर की वस्तु नहीं है। अतः इसे निश्चय ही तेजस्वी के वशीभूत होना पड़ेगा। कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा से रस कहा। रवि मण्डल से रूप कहा। मन्त्र से शब्द कहा। अंकुस से स्पर्श कहा। कुसुम धनु से गन्ध कहा।

पाँच उदाहरणों के साथ युक्तियुक्त तर्क उपस्थित करके शिक्षा देती है कि ऐसा जानकर कि तेजस्वी को लघु न समझना चाहिए। संशय को छोड़ दो। क्योंकि संशय महा दुःखद है। संशय सर्प है। इसके दंशन से भयानक लहर दुःख देनेवाली आती है। निश्चय से संशय दूर होता है। अतः निश्चय यह है कि : भंजव धनुष राम।

सखी वचन सुनि भै परतीती। मिटा विषादु बढ़ी अति प्रीती ॥
तब रामहि विलोकि वैदेही। सभय हृदय विनवति जेहि तेही ॥२॥

अर्थ : सखी का वचन सुनकर विश्वास हुआ। विषाद मिटा। प्रीति अत्यन्त बढ़ी। तब रामजी को देखकर वैदेही सभय हृदय से जिसी किसी से विनय कर रही है।

व्याख्या : सुत की प्रीति प्रतीति मीतकी। बेटे पर प्रीति होती है पर विश्वास तो मित्र का होता है। सखी के वचन से संशय जाता रहा। विश्वास हो गया। विषाद मिटा। अति प्रीति हुई। बिना सम्बन्ध के ही प्रीति थी। अब सम्बन्ध की आशा दृढ़ होने से अति प्रीति बढ़ी।

रामजी के चलते ही पुर नर नारि का हाल कहकर रानी का हाल कहा। अब वैदेही का हाल कहते हैं। घटना एक साथ ही हुई। पर युगपत् वर्णन नहीं हो सकता। अतः क्रम से वर्णन करते हैं। रामहिं विलोकि अत्यन्त मधुरमूर्ति देखकर पहिले कह आये हैं : रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया। अतिप्रिय के विषय में चित्त सदा पापशङ्की होता है। विघ्न का भय करता ही रहता है। अतः सभय हृदय कहते हैं। लक्ष्मणजी के वचन सुन चुकी हैं सुनने से हर्ष भी हुआ प्रभाव भी देख लिया कि पृथ्वी काँप उठी। उनके स्वामीरूप बड़े भाई धनुषभङ्ग के लिए उठे हैं। भय का कोई कारण नहीं है पर रामजी अति प्रिय हैं। अतः उनके

विषय में शङ्का हो रही है ! आर्त हो गई हैं। अतः सभय हृदय से जिसी किसी से विनय कर रही हैं। भाव यह कि आर्त विचारकर काम नहीं करता। योग्य से भी विनय करता है, अयोग्य से भी विनय करता है। इसी भाँति जानकीजी समर्थ देवताओं से भी विनय करती हैं और जड़ धनुष : जो स्वयं टूटने को रक्खा है से भी विनय करती हैं।

मनही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी ॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चाप गरुआई ॥३॥

अर्थ : व्याकुल हुई मन में ही मना रही हैं कि हे महेश भवानी ! प्रसन्न होओ। अपनी सेवा को सुफल करो और कृपा करके धनुष का भारीपन हरण कर लो।

व्याख्या : भगवती जानकीजी सदा गौरी गणपति और गिरीश की सेवा पूजा किया करती थीं। सो महेश भवानी से विनय करती हैं कि अपनी सेवकाई को सफल करो। रामचरणप्राप्ति के लिए सेवा की सफलता चाहती हैं। रामचरण प्राप्ति में चाप का भारीपन बाधक हो रहा है। सो उसके हरण के लिए प्रार्थना कर रही हैं। क्योंकि यह बात दैवीशक्ति से ही सम्भव है। भाव यह है कि मेरी सेवकाई उतनी नहीं है कि जिसके बदले में मैं यह वरदान माँग सकूँ। आप कृपा करके मनोरथ पूर्ण कीजिये।

गननायक वरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउ तुव सेवा ॥
बार बार विनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी ॥४॥

अर्थ : हे गणनायक ! आप वरदायक देव हैं। मैंने आज तक तुम्हारी सेवा की है। बार बार विनती सुनकर धनुष के भारीपन को बहुत कम कर दीजिये।

व्याख्या : गणेशजी ऐसे वरदायक देवता हैं कि इनके स्मरण से सिद्धि होती है। यथा : जेहि सुमिरत सिधि होइ। इसी से इनकी प्रथम पूजा होती है। जानकीजी का कहना है कि आप तो स्मरण मात्र से सिद्धि देते हैं और मैंने आज तक पूजा की है। भाव यह कि नित्य की भाँति आज भी गणपति गौरी गिरीश की पूजा करके तब रङ्गभूमि में आई हैं। सेवक का मनोरथ सुस्वामी बिना कहे पूर्ण करते हैं और मैं तो बार बार विनती कर रही हूँ। नगरवासी तो मनाते हैं : तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं। पर भगवती जानकीजी चाप की गुरुता को ही थोड़ी कर देने की प्रार्थना करती हैं। कम से कम जितने में अपना मनोरथ सिद्ध हो जाय उतना ही माँगती हैं। जानती हैं कि उठा लेने से भी रामजी की प्राप्ति सम्भव है। जनकजी ने कहा था : रह्यौ चढाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सकेउ छड़ाई। भाव यह कि यदि उठा भी लेते तो भी विचार के लिए अवसर था। अतः गुरुता अति थोरी कर देने के लिए गणेशजी से प्रार्थना है अथवा भारीपन हरण के लिए शिव पार्वतीजी से प्रार्थना। फिर भी जो कुछ शेष रह जाय उसे हरण के लिए गणेशजी से प्रार्थना करती हैं।

दो. देखि देखि रघुवीर तन, सुर मनाव धरि धीर।
भरे विलोचन प्रेम जल, पुलकावली सरीर ॥२५७॥

अर्थ : रामजी की ओर बार-बार देखकर धैर्य धारण करके देवता मनाती हैं। प्रेम का जल आँखों में भरा है और शरीर में पुलकावली छायी हुई है।

व्याख्या : बार-बार रामजी की ओर देखती हैं। शोभा देखने से नेत्र तृप्त नहीं होते। धैर्य छूटा जा रहा है। इस समय देवता मनाने के लिए भी धैर्य धारण करना पड़ रहा है। विश्वास है कि बिना दैवबल के ऐसे कार्यों में सिद्धि नहीं होती। लौकिक वल से शिवजी का धनुष नहीं टूट सकता। अतः देवताओं से प्रार्थना कर रही हैं। प्रेम का ही अनुभाव है। अतः नेत्रों में प्रेमजल है और शरीर में पुलक हो रहा है।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥१॥

अर्थ : अच्छी भाँति से आँख भरकर शोभा देखकर और पिता का प्रण स्मरण करके फिर मन में क्षोभ हुआ। अहो! पिताजी ने दारुण हठ ठान लिया। कुछ हानि लाभ का विचार नहीं कर रहे हैं।

व्याख्या : जब से श्रीरामजी रङ्गभूमि में पधारे हैं तब से देख रही हैं : मुनि समीप देखे दोउ भाई। रहे ललकि लोचन निधि पाई। जब वहाँ से चले हैं सन्निकट चले आ रहे हैं। शोभा अधिक सुस्पष्ट होती जा रही है। अतः कहते हैं : तब रामहिं विलोकि वैदेही। सभय हृदय विनवत जेहि तेही। और भी निकट आ गये। तब : देखि देखि रघुवीर तन सुर मनाव धरि धीर। अब बहुत सन्निकट आगये तो : नीके निरखि नयन भरि सोभा। अब तक दूर दूर से ही साक्षात्कार हुआ। निकट आने पर भली भाँति शोभा देखने का अवसर मिला। अतः नयन भरि देखना कहा। यह मूर्ति आँख से ओझल न हो। यह भावना उठी। तब मुख्य वाधा का स्मरण आया और वह पिता का दारुण प्रण था। इससे चित्त में फिर क्षोभ हुआ। भाव यह कि : पुष्प वाटिका में रामजी की नख शिख शोभा देखने से पहिले भी क्षोभ हुआ था। यथा : नख सिख निरखि राम की सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा। अब नयनभर देखने से फिर क्षोभ हुआ। पिता के दारुण हठ पर खिन्न हो रही हैं। दारुण हठ यही है कि जो व्याहना चाहे उसे धनुष तोड़ना ही होगा। इन्हें समझना चाहिए था कि रामजी को धनुष तोड़ने के लिए जाने देने में लाभ कुछ नहीं। हानि यह होगी कि मधुर मूर्ति मलिन हो जायगी। इस अद्भुत शोभा में हानि पहुँचाना कितनी बड़ी हानि है। कुछ लाभ हानि न समझकर हठ पर ही अड़े रह जाना ही हठ की दारुणता है।

सचिव सबय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई॥
कहँ धनुकुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥२॥

अर्थ : सभी मन्त्री हैं। पर समझाता कोई नहीं। पण्डितों के समाज में बड़ा अनुचित हो रहा है। कहाँ वज्र से भी कठोर धनुष और कहाँ ये सुकुमार शरीरवाले श्यामल किशोर।

व्याख्या : उचित यह है कि जो जिस कार्य के योग्य हो उसी को उस कार्य में नियुक्त करे। नितान्त कोमल को शिवधनुष ऐसे कठोर वस्तु के भङ्ग करने के लिए नियुक्त करना घोर अनुचित है। केवल उसकी प्रतिष्ठा भङ्ग करना है। यहाँ पण्डितों के समाज में ऐसा अनुचित न होना चाहिए। सो यहाँ सभी मन्त्री उपस्थित हैं। कोई शिक्षा नहीं देता। चाहि का अर्थ से है। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी अपने प्रसिद्ध पद्मावत में चाहि शब्द का से के अर्थ में प्रयोग किया है। उसी अनुचित को स्पष्ट करती हुई कहती हैं कि क्या यह वज्र से भी कठोर धनुष इस श्यामल मृदुगात किशोर से टूटने योग्य है जो इन्हें इस कार्य में नियुक्त किया जाता है? इसका अर्थ उनकी अप्रतिष्ठा छोड़कर और क्या हो सकता है?

विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरिस सुमन कन वेधिय हीरा॥
सकल सभा कै मति भई भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी॥३॥

अर्थ : हे विधि! मैं किस भाँति हृदय में धैर्य धारण करूँ? क्या सिरिस के फूल के कण से हीरा वेधा जाता है। सम्पूर्ण सभा की बुद्धि भोरी हो गई। हे शिवजी के धनुष! मुझे तो अब तुम्हारी शरण है।

व्याख्या : अविधि से कार्य होते देखकर विधि का स्मरण करती हैं कि आप विधि बतलाइये कि मैं कैसे धैर्य धरूँ। मुझसे यह अनुचित सह्य नहीं है। लोग कहते हैं कि हीरा वही जो घन चोट ना टूटे। इसी से हीरे की वज्र संज्ञा है। सो यह धनुष हीरा है। जितने बड़े घोर कठोर रावण बाणादि सुभट हैं वे ही घन हैं। इनकी चोट से यह नहीं टूटा। उसके वेधने के लिए सिरिस के फूल के कण का : जो रूई के भी वेधने में असमर्थ है। प्रयोग करना कौन सी बुद्धिमानी है। इन रावण बाणादि के सामने तो ये श्यामल मृदुगात किशोर वस्तुतः सिरिस के फूल के कण ही हैं। सो आज इस सभा में सिरिससुमनकण से हीरा वेधने का प्रयत्न हो रहा है। अतः यही कहना पड़ता है कि सबकी बुद्धि भोरी हो गई। अब तो जो कुछ आशा है सो शम्भुचाप से है। मैं अब उसी के शरण जाती हूँ।

निज जड़ता लोगन पर डारी। होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी॥
अति परिताप सीय मन माँहीं। लव निमेष जुग सय सम जाँहीं॥४॥

अर्थ : तुमने अपनी जड़ता लोगों पर डाल दी। अब रघुपति को देखकर हलके हो जाओ। सीताजी के मन में बड़ा परिताप है। निमेष का भी लव : अत्यन्त छोटा भाग : सौ युग के समान बीत रहा है।

व्याख्या : सीताजी अब धनुष से प्रार्थना करती हैं। जड़ता में ही गुरुता

है । जड़परमाणु जितने ही घनीभूत होते जाते हैं उतनी ही जड़ता की वृद्धि होती जाती है । सो अपनी जड़ता लोगों पर डाल दी है तभी तुम्हारे विषय में सबकी मति भोरी हो गई है । अत: तुम अब हलके हो जाओ । रघुपति को देख लो कि यह कितना बोझ उठा सकते हैं । उतने हलके हो जाओ । अथवा जब तुमने अपनी जड़ता लोगों पर डाल दी है तब चेतन होकर रघुपति को देखो और इतने हलके हो जाओ जिसमें ये तुम्हें उठा लें । मैं तुमसे टूटने के लिए प्रार्थना नहीं करती ।

दो. प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ : प्रभु को देखकर तब पृथ्वी को देखती हैं । चञ्चलनेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे चन्द्रमण्डल के डोल में दो कामदेव रूपी मछलियाँ तैर रही हों ।

व्याख्या : डोल एक प्रकार का जलपात्र होता है । इसका गोल आकार होता है । मेरे लड़कपन तक डोल से पानी कूएँ से खैंचा जाता था । पर अब डोल नहीं दिखाई पड़ता । पर धनियों के यहाँ शीशे के डोल अब भी देखे जाते हैं । जिनमें सुनहली रूपहली छोटी छोटी मछलियाँ छोड़ दी जाती हैं । वे नीचे ऊपर तैरा करती हैं और उनकी बड़ी शोभा होती है ।

भगवती जनकनन्दिनी प्रेम के कारण प्रभु को देखती हैं और फिर सङ्कोच से पृथ्वी की ओर अर्थात् नीचे देखने लगती हैं । इस भाँति जो नेत्र चञ्चल हो रहे हैं । उनकी शोभा कवि कहते हैं कि मानों चन्द्रमण्डल रूपी डोल में दो कामदेव की मछलियाँ तैर रही हों । कामदेव मीनकेतन हैं । आँखों की उपमा मीन से दी जाती है । सुन्दरता के उत्कर्ष के लिए जनकनन्दिनी की आँखों की उपमा मीनकेतन के मीन से दी गई और मुख की उपमा चन्द्ररूपी डोल से दी गई । कभी रामजी की ओर देखती हैं । कभी नीचे देखती हैं । तो नेत्र की गति वैसी ही हो रही है जो उन मछलियों की होती है । डोल स्थिर रहता है । मछलियाँ ही चलती हैं । इसी भाँति मुख स्थिर है केवल नेत्र चञ्चल हैं । हम लोगों का भाषाज्ञान बहुत सङ्कुचित है । अत: अर्थ करने में चूक हो जाती है । जहाँ के लोग डोल से अपरचित हैं । डोल का अर्थ हिंडोला करते हैं । पर पानी के डोल में ही मछली का खेलना बन सकता है हिंडोले पर तो उनका छटपटाना ही सम्भव है ।

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी । प्रकट न लाज निसा अवलोकी ॥
लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपिन कर सोना ॥१॥

अर्थ : वाणीरूपी भौंरी को मुखकमल ने रोक रखा । लाज की रात्रि देखकर वह प्रकट नहीं होती । नेत्रों का जल नेत्रों के कोने में उसी भाँति रह गया जैसे परम कृपण का सोना हो ।

व्याख्या : गुरुजन लाज समाज बड़ । सो लज्जा की रात्रि में कमलपुट बन्द हो जाते हैं । उनके बन्द हो जाने से भौंरे भी उनमें बन्द हो जाते हैं । जब रात्रि

जाय, सबेरा हो, कमल खिलें तो वे उनमें से निकल सकें। लज्जा के कारण जनकनन्दिनी बोल नहीं सकती। वाणी भौंरी के रूप मुखकमल में बन्द है और मुखकमल लज्जारूपी रात्रि के कारण बन्द है। भाव यह कि वाणी मध्यमा अवस्था तक तो आती है पर लज्जावश वैखरी रूप में परिणित नहीं हो सकती। प्रेमाश्रु आँख के कोने में आगये हैं। पर उन्हें इतने प्रयत्न से रोक रक्खा है कि गिरने नहीं देतीं। जिस प्रबल प्रयत्न से परमकृपण अपने सोने को रोके रखता है कदाचित् त्याग नहीं करता। भाव यह कि परमकृपण को भी देने की इच्छा हो जाती है। सोना हाथ में ले भी लेता है। पर कृपणता उसकी यही है कि दे नहीं सकता। बड़े प्रयत्न से मनको रोक लेता है। इसी भाँति श्री जनकनन्दिनी की आँखों में प्रेम के आँसू डबडबा आये। यथा : भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर। यहाँ तक कि आँखों के कोने तक आगये पर उन्हें जहाँ का तहाँ बड़े प्रयत्न से रोक रक्खा।

सकुची व्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीत उर आनी ॥
तन मन वचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा ॥२॥

अर्थ : बड़ी व्याकुलता समझकर सङ्कुचित हुईं। धैर्य धारण करके मनमें विश्वास को स्थान दिया कि तन मन वचन से यदि मेरा प्रण सच्चा है और मेरा मन यदि रघुपति के चरण कमल में रच गया है।

व्याख्या : क्षोभ व्याकुलता में परिणत हुआ और व्याकुलता भी खूब बढ़ी। परन्तु जनकनन्दिनी ने अपने को उस व्याकुलता का द्रष्टा माना। इससे व्याकुलता रुकी सङ्कोच का उदय हुआ। धैर्यधारण की ओर चित्त की वृत्ति गई परन्तु किस विश्वास पर धैर्य धारण किया जाय। विश्वास के लिए मूलभित्ति चाहिए। सो श्रुति ही मूलभित्ति हुई। यद्यत्कामयते तत्तल्लभते : जिसकी कामना करे उसकी प्राप्ति होती है। पर कामना सच्ची होनी चाहिए। सो यह विश्वास हुआ कि मनसा वाचा कर्मणा मेरा प्रण सच्चा है। यहाँ रघुपतिपदसरोज में चित्त का रच जाना ः लग जाना प्रेम प्रण है। वह चित्त अब दूसरे का नहीं हो सकता। यथा : स्याम सरोज दाम सब सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर। सो भजकंठ कि तब अति घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा।

तौ भगवान सकल उर वासी। करिहिं मोहि रघुपति कै दासी ॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥३॥

अर्थ : तो भगवान् सबके हृदय में रहते हैं मुझे रघुपति की दासी बनायेंगे। जिसका जिसपर सच्चा प्रेम होता है वह उसे मिलता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

व्याख्या : ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहता है और भाव कुभाव सब जानता है। यथा : सबके उर अन्तर बसहु जानहु भाव कुभाव। अतः भगवान् मुझे रघुपति की दासी बनावेंगे। क्योंकि वे ही

जान सकते हैं कि मेरे हृदय का भाव सच्चा है कि नहीं। भाव यह कि अपनी पुत्री के देने का मुख्य अधिकार पिता को है। वे तो अपनी प्रतिज्ञा से बद्ध हो रहे हैं। कहते हैं : कुँवरि कुँआरि रहौ का करहूँ। अतः जगत् पिता का भरोसा है कि वे मेरे मनोरथ को पूर्ण करेंगे। जिस भाँति मेरे पिता अपनी प्रतिज्ञा से बँधे हैं उसी भाँति जगत्पिता अपने वचन : वेद वाक्य से बँधे हैं। यहाँ अनुवाद रूप से श्रुति का ही उल्लेख है। जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।

प्रभु तन चितै प्रेम पनु ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुरु लघु व्यालहिं जैसे॥४॥

अर्थ : प्रभु की ओर देखकर प्रेम पन ठान दिया। कृपानिधान रामजी ने जान लिया। सीताजी की ओर देखकर धनुष को इस भाँति देखा जैसे गरुड़ छोटे सर्प को देखते हैं।

व्याख्या : जिसके विषय में प्रेमप्रण ठानना है वह सम्मुख है। अतः उसकी ओर देखकर ठानना स्वाभाविक है। करुणानिधान सुजान ने सब जान लिया। गिरिजा भगवती कह चुकी हैं कि : करुना निधान सुजान सील सनेह जानत रावरो। सीताजी ने रामजी की ओर देखकर प्रेम प्रण ठाना और रामजी ने उनकी ओर देख उस प्रेमप्रण को पूर्ण करना मनमें ठाना। अतः सीताजी की ओर देखकर धनुष की ओर देखा। भाव यह कि सीता की प्राप्ति में यह बाधक है। और नरेन्द्रों की भाँति तमकि ताकि तकि नहीं। यह तो इस भाँति देखते हैं जैसे गरुड़ छोटे सँपेले को देखे। गरुड़ के सामने बड़े बड़े भुजगेन्द्र कुछ नहीं हैं सँपेले की क्या गिनती है। वह सँपेले को अति तुच्छ गरुड़ के सामने दृष्टि से देखते हैं : का बापुरो पिनाक पुराना।

दो. लषन लखेउ रघुबंसमनि, ताकेउ हर कोदंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चाँपि ब्रह्मंड॥२५९॥

अर्थ : लक्ष्मणजी ने लखा कि रघुवंशमणि ने शिवजी के धनुष की ओर देखा। उनके शरीर में पुलक हो गया। ब्रह्माण्ड को पैर से दबाकर बोले।

व्याख्या : जबसे रामजी चले लक्ष्मणजी की दृष्टि उन्हीं पर है। अतः उन्होंने ही लखा कि रामजी ने धनुष की ओर देखा। अब लिया ही चाहते हैं। लक्ष्मणजी को आनन्दातिशय से पुलक हो गया। शिवधनुष तोड़ने में जिस शक्ति का प्रयोग होगा उससे ब्रह्माण्ड में हलचल न हो। अतः पैर से ब्रह्माण्ड को दबा कर वचन बोले। भाव यह कि ऊपर से मैं दबाये हुए हूँ नीचे से तुमलोग सँभालना। दूसरी बात यह कि इस समय यदि सीधे अयोध्या से राजसमाज के साथ स्वयंवर के लिए रामजी पधारे होते तो वन्दी बलवर्धन के लिए विरद बोलते। लक्ष्मणजी विरद बोल नहीं सकते। अतः शेष कमठादि के सावधान करने के व्याज से बलवर्धक वाक्य बोले। यथा : अहि महिधर न लखन कह बलहि बढ़ावन। राम चहत सिव चापहि चपरि चढावन।

दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥१॥

अर्थ : हे दिग्गजगण ! कच्छप शेष और कूर्म धैर्य धारण करो जिसमें यह हिले नहीं। रामजी शङ्कर का धनुष तोड़ा चाहते हैं। मेरी आज्ञा को सुनकर सबलोग सावधान हो जाओ।

व्याख्या : पृथ्वी के चार सँभालनेवाले हैं : चारों दिशाओं से तो चारों दिग्गज सँभालते हैं। नीचे से वराह शेष और कच्छप सँभालते हैं। इनको लक्ष्मणजी सावधान करते हैं और आज्ञा देते हैं। लक्ष्मणजी जाग्रत के विभु होने से सकल जगत् के आधार हैं। अर्थात् ब्रह्माण्डमात्र के आधार हैं। शेषों की समष्टि हैं। अतः सभी व्यष्टियों पर इनकी आज्ञा चलती है। पृथ्वी को अपने स्थान से च्युति की सम्भावना है। भारी धक्का पहुँचेगा। दिग्गजादि के भी धैर्यच्युति की सम्भावना है। अतः धैर्य धारण करके पृथ्वी को संभालने के लिए सावधान करते हैं।

कारण कहते हैं कि रामजी प्रलयकारी देव साक्षात् रुद्र का धनुष तोड़ना चाहते हैं। सभी वस्तुओं में ऐसी शक्ति निहित रहती है जिससे उसका स्वरूप वना रहता है। उस वस्तु के विनाश में उससे अधिक शक्ति का प्रयोग होता है। शिवजी के धनुष में वड़ी वलवती शक्ति निहित है। धनुष के टूटने से जब वह छूटेगी तो ब्रह्माण्ड में उलट पलट कर देगी। राम चहहिं का भाव यह है कि ये उसे तोड़ही डालगे। यथा : राम कीन्ह चाहैं सो होई। करै अन्यथा अस नहि कोई। अकस्मात् उसके आघात से जगत् का अकल्याण सम्भावित है। पहिले से ही सावधान रहने से उसे सँभाल सकेंगे। इसलिए लक्ष्मणजी सावधान करते हुए आदेश देते हैं। अतिशक्तिशाली पदार्थ का प्रभाव अति क्षुद्र जन्तुओं पर नहीं पड़ सकता। उसका प्रभाव उन्हीं पर पड़ता है जो उसके स्पन्दन के अनुभूति के पात्र हों। जैसे हजारों वन्दूकों के एक साथ छूटने से जो शब्द होता है उसके स्पन्दन को हमारी श्रवणेन्द्रियाँ सम्यक् रूप से ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः हम लोगों को हलकी आवाज सुनाई पड़ती है। इसी भाँति शिवधनुष भङ्ग का प्रभाव पृथ्वी या ब्रह्माण्ड पर विशेष रूप से पड़ सकता था मनुष्यों पर उतना नहीं।

चाप समीप राम जब आए। नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाए ॥
सब कर संसउ अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू ॥२॥

अर्थ : रामजी जब धनुष के पास गये तव स्त्री पुरुषों ने देवता और पुण्यों को मनाया। सवका संशय अज्ञान और मूढ़ राजाओं का अभिमान।

व्याख्या : ज्यौं ही रामजी चले त्यौंही नर नारियां ने अपने अपने सुकृत : पुण्य को प्रयोग करने के लिए संभाला। यथा : वंदि पितर सुर सुकृत संभारे। अव जब रघुवरजी धनुष के निकट पहुँच गये तो उसका प्रयोग करते हैं। अपने देवता और पुण्य को मनाते हैं कि समय आगया सहाय होइये। क्योंकि उनके मन में

संशय है कि रामजी से सम्भवतः धनुष न टूटे और उत्कट इच्छा है कि रामजी तोड़ें। इसलिए अत्यन्त कष्ट से उपार्जित पुण्य और तीव्र उपासना से आराधित देवों से काम लेते हैं।

इस प्रकार १. सबको संशय है और २. रामजी के बलविषयक अज्ञान है। ३. मूढ़ राजाओं को अभिमान है कि जब हमसे धनुष न टूटा तो कोई इसे तोड़ नहीं सकता। देखें कौन तोड़ता है? इसलिए अपने अपने समाज में आसन लगाये बैठे हैं।

भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुरमुनिबरन्ह केरि कदराई ॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा ॥३॥

अर्थ: ४. परशुरामजी के गर्व का गौरव। ५. सुर और मुनिश्रेष्ठों का कादरपन। ६. सीताजी का सोच ७. जनकजी का पछतावा और ८. रानियों का दारुण दुःख दावानल: बनडाढ़ा।

व्याख्या: परशुरामजी को बड़ा भारी गर्व था कि जगत् में मैं ही एक अप्रतिम वीर हूँ। यह धनुष मेरे गुरुजी का है। इसमें यदि कुछ पराक्रम काम कर सकता है तो मेरा ही काम कर सकता है। दूसरों का किया कुछ नहीं हो सकता। सुर मुनि भयभीत हैं कि यदि रामजी से धनुष न टूटा तो सीताजी से व्याह ही न होगा। फिर रावणवध की कथा ही क्या है? सीताजी को सोच है: कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा। विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरिस सुमन कन वेधिहि हीरा। जनकजी को पछतावा है कि: जौ जनतेउ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि करत्यौं न हँसाई। रानियों को दारुन दुःख है कि: सो धनु राजकुअँर कर देही। बाल मराल कि मंदर लेही। भूप सयानप सकल सिरानी। सखि विधि गति कछु जात न जानी।

संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सबु संगु बनाई ॥
राम बाहुबल सिंधुअपारू। चहत पार नहिं कोऊ कड़हारू ॥४॥

अर्थ: शिवजी के धनुष को बड़े भारी जहाज रूप से पाकर सब सार्थः कम्पनी बनाकर चढ़े। राम बाहुबलरूपी अपार समुद्र का पार चाहते हैं। पर कोई कर्णधार नहीं है।

व्याख्या: उपर्युक्त आठों भाव: संशय, अज्ञान, अभिमान, गर्व, गरुआई, कदराई, शोक, पछितावा और दारुण दुःखदावानल धनुष में ही केन्द्रित हैं। इसी बात को रूपकालङ्कार में कहा जाता है। मानो ये आठों भाव ही वणिक् समाज: कम्पनी है। सात से कम की कम्पनी नहीं होती। इन आठों का लक्ष्य एक है। ये सब अपार रामबाहुबल सिन्धु के पार जाना चाहते हैं। सिन्धु का तो कहीं न कहीं वारपार है ही। पर रामबाहुबल सिन्धु का पार नहीं है। जिसका पार ही नहीं है उसका पार कोई कैसे पा सकता है। पर ये असाध्य साधन में लगे हैं।

सिन्धुपार जाने के लिए जहाज चाहिए सो शिवधनुष को बड़ा जहाज समझकर चढ़ गये। समझा कि यह पार पहुँचा देगा। अर्थात् यह रामजी का तोड़ा न टूटेगा तो हमलोग पार पहुँच जायँगे : अर्थात् संशय अज्ञानादिक की स्थिति दृढ़तर हो जायगी। परन्तु सामान्य : पारवाले समुद्र के पार भी जहाज बिना कर्णधार के जा नहीं सकता। कर्णधार ही रक्षक है। यथा : कर्णधार तुम अवध जहाजू। सो यहाँ कर्णधार ही नहीं। इसके स्वामी तो शिवजी थे उनसे यह परित्यक्त ही है। महाराज जनक के यहाँ रक्खा था। वे भी इसका टूटना ही चाहते हैं। अतः यह चापरूपी जहाज बिना कर्णधार का है। यह राम बाहुबल रूपी सिन्धु में डूबेगा। पर इस समय तो संशय अज्ञानादि वणिक् समाज का यही आधार है। भाव यह है। कि अलग-अलग लोगों में इन्हीं आठ भावों में से कोई न कोई काम कर रहा है। पर सबके भावों का आधार एकमात्र धनुष हो रहा है और उसका संघर्ष रामबाहुबल रूपी अपारसमुद्र से हुआ ही चाहता है। अतः जनता स्तब्ध होकर बड़ी उत्कण्ठा के साथ इस संघर्ष के परिणाम पर दृष्टि लगाये हैं।

दो. राम विलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी विकल विसेखि ॥२६०॥

अर्थ : रामजी ने लोगों को देखा मानो चित्र में लिखे हुए हैं। कृपा के भवन ने सीताजी को देखकर जाना कि विशेष विकल है।

व्याख्या : सबकी भावना एक ही विषय में केन्द्रित है। इसलिए सब चित्र में लिखे हुए की भाँति हिलते डोलते नहीं हैं। चित्र में लिखे हुए नर-नारि उसी अवस्था में सदा रहते हैं पलक नहीं मार सकते। यही दशा यहाँ सबकी हो रही है। कृपायतन हैं। अतः फिर सीताजी को देखा। यह दूसरी बार का देखना है। निकट आ गये हैं। जान लिया कि इन्हें विशेष विकलता है।

देखी विपुल विकल बैदेही। निमिष विहात कलप सम तेही ॥
तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करै का सुधा तड़ागा ॥१॥

अर्थ : वैदेही को बहुत ही विकल देखा। उन्हें एक निमिष कल्प के समान बीत रहा है। प्यासा बिना पानी के जो शरीर छोड़ दे तब मरने पर जल का तालाब क्या करेगा : यहाँ प्रकरणबल से अमृत का अर्थ जल ही करना होगा।

व्याख्या : जब रामजी चले तभी सीताजी विकल थीं। यथा : अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष युग सय सम जाहीं और धनुष के समीप पहुँचते-पहुँचते परिताप ऐसा बढ़ा कि एक निमेष कल्प मालूम होने लगा। छ लव का एक निमेष होता है। अतः एक निमेष ६०० युग के बराबर मालूम होता था। चार युगों का एक महायुग होता है। अतः १५० महायुगों के तुल्य प्रतीत होता था। अब एक निमेष एक कल्प अर्थात् एक सहस्र महायुगों के समान मालूम होने लगा।

अर्थात् इतनी ही देर में परिताप की मात्रा पाँच गुना से अधिक बढ़ गई। दुःख की घड़ी वड़ी कठिनता से बीतती है।

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे। निदरहिं सरित सिंधु वरवारी। रूप बिंदुजल होहिं सुखारी। रूप बिन्दु की प्यासी चातकी यदि प्यास से मर ही गई तो पीछे से अमृत का तालाव क्या करेगा? अमृत का अर्थ जल है। यथा: पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्। आगे चलकर धनुषभङ्ग होने पर कहेंगे भी: सीय सुखहिं वरनिय केहि भाँती। जिमि चातकी पाइ जल स्वाती।

का वरषा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेखी॥२॥

अर्थ: जब खेती सूख गई तब वर्षा होने ही से क्या? समय चूक जाने पर फिर पछताने से क्या लाभ। ऐसा मन में जानकर प्रभु ने जानकीजी को देखा और प्रीति विशेष देखकर रामजी को पुलक हो गया।

व्याख्या: भाव यह कि दशम दशा उपस्थित है। अब खेती सूखा ही चाहती है। यदि कुछ प्राण रहते भी वर्षा हो जाय तो फिर खेती के लहलहा उठने में देर नहीं। अतः अब देर न होनी चाहिए। इस समय चूकने से अर्थात् कुछ भी देर करने से सीताजी से हाथ धोना ही पड़ेगा। ऐसा विचार करके तीसरी वार भगवती जनकनन्दिनी की ओर देखा और इस प्रकार की अलौकिक प्रीति देखकर प्रभु को पुलक हो गया। प्रभु करुनानिधान सुजान शील सनेह के जाननेवाले हैं। तीन बार जानकीजी ने देखा था। यथा: १. नीके निरखि नयन भरि सोभा २. देखि देखि रघुवीर छवि सुर मनाव धरि धीर और ३. प्रभु तन चितय प्रेम पन ठाना। उधर भरे विलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर। इधर प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेखी।

गुरहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ॥३॥

अर्थ: गुरुजी को मन ही मन प्रणाम किया और अत्यन्त फुरती से धनुष को उठा लिया। जिस समय उठाया तो बिजली सी चमक गई। फिर आकाश में धनुष मण्डलाकार हो गया।

व्याख्या: कौशल दिखाने के पूर्व उस गुरु को प्रणाम करना चाहिए जिससे कौशल की प्राप्ति हुई है और ऐसे समय मन से ही प्रणाम सम्भव है। प्रभु ने ऐसी फुरती धनुष के उठाने में की कि जो लोग चित्र लिखे से हो रहे थे वे भो नहीं देख पाये। अत्यन्त फुरती की प्रक्रिया में एक रेखा सी बन जाती है जैसे वनेठी के आग की रेखा वन जाती है उसी भाँति बिजली की रेखा सी बन गई। उठाते

किसी ने न देखा। यह देखा कि बिजली सा कुछ चमका। फिर सब किसी ने आकाश में धनुष को मण्डलाकार देखा।

लेत चढ़ावत खैंचत[1] गाढ़ें। काहु न लखा देख सबु ठाढ़ें ॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ॥४॥

अर्थ : लेते चढ़ाते और पटुता से खैंचते हुए किसी ने नहीं देखा। सब देखते हैं कि रामजी खड़े हैं। उसी समय उन्होंने बीच से धनुष को तोड़ दिया। सम्पूर्ण भुवन में घोर कठोर ध्वनि भर उठी।

व्याख्या : धनुष के उठाने का लाघव कहकर अब चढ़ाने और खैंचने का लाघव कहते हैं। किसी ने कुछ न देखा। सबको मालूम पड़ा कि रामजी खड़े ही हैं। रामजी का झुकना धनुष को उठाना उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाना और उसे पण्डिताई के साथ कसकर खैंचना जिसमें टूट जाय किसी को लखाई ही नहीं पड़ा। गाढ़ का अर्थ पण्डिताई से है। यथा : कबहु न मिले सुभट रनगाढे। बाँधे विरद वीर रन गाढे। उसी समय रामजी ने बीच से धनुष को तोड़ दिया। बीच से तोड़ने का भाव यह कि कोई यह न कह सके कि धनुष के पतले भाग को तोड़ा बीच से न तोड़ सके। जितनी कठोर वस्तु होती है उसके टूटने में वैसी कठिन ध्वनि होती है। धनुष वज्र से भी कठिन था। इसलिए वज्रपात से भी घोर शब्द हुआ। सम्पूर्ण भुवन में भर गया। घोर से गम्भीर कहा और कठोर से असह्य कहा।

छं. भरे भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल विचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं ॥

अर्थ : घोर कठोर ध्वनि भुवन में भर गयी। सूर्य के घोड़े मार्ग छोड़कर चले। दिग्गज चिग्घाड़ने लगे। पृथ्वी डोल उठी। शेष बराह और कच्छप भी हिल गये। देवता असुर और मुनियों ने कान मूँदा। सब विकल होकर विचरते हैं कि रामजी ने धनुष तोड़ा। तुलसीदास जयजयकार कर रहे हैं।

व्याख्या : घोर कठोर ध्वनि से सारा भुवन व्याप्त हो गया। सूर्य के घोड़े भड़ककर दूसरी ओर चले। बल न चलने पर दिग्गज चिक्कार करने लगे। लक्ष्मणजी के सावधान करने पर भी पृथ्वी को स्थिर न रख सके। वह डोलने लगी। वही नहीं उसके आधारभूत वाराह शेष और कच्छप हिलने लगे। जो जो उस शब्द के स्पन्दन ग्रहण करने में समर्थ थे अर्थात् देवता असुर और मुनि उन्होंने अपने कानों को मूँद लिया। शब्द की कठोरता न सह सके विकल हो गये। विचारने

---

[1] यहाँ कारक दीपक अलङ्कार है।

लगे कि निश्चय रामजी ने धनुष तोड़ा। गोस्वामीजी भी उस समय अपनी मानसिक उपस्थिति मानकर कहते हैं कि तुलसीदास जयजयकार करने लगा। इसी बात को श्री गोस्वामीजी ने बड़ी सुन्दरता से प्रकट किया है।

छप्पय : डिगति उर्वि अति गुर्वि सब्ब पब्बय समुद्र सर।
व्याल वधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिम भानु यान संघटित परस्पर॥
चौंके विरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड ध्वनि जबहिं राम सिवधनु दल्यो॥

दो. संकर चापु जहाजु, सागरु रघुबर बाहुबल।
बूड़ सो सकल समाजु, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहवस॥२६१॥

अर्थ : शंकर चाप रूपी जहाज रघुवरबाहुबल सागर में सब समाज के सहित जो पहिले मोहवश उसपर चढ़ा था डूब गया।

व्याख्या : राम बाहुबल सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कड़हारू से प्रसङ्ग छोड़ा था। अब उसी प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं : संकर चापु जहाजु सागरु रघुवर बाहुबल। रामचन्द्र का बाहुबल अपार समुद्र है इसका पारावार ही नहीं। कर्णधार से सनाथ जहाज भी यहाँ कृतकार्य नहीं हो सकता था। यह चाप तो कर्णधार रहित था। रामबाहुबलरूपी समुद्र के पहिले थपेड़े में ही टूट गया। जो समाज इसपर : कर्णधार रहित जहाज पर मोहवश चढ़ा था डूब मरा। सारी कम्पनी समुद्र तल में लीन हो गई। इस दोहा पर बड़े तर्क वितर्क उठते हैं। अतः जो पहिले मोहवश चढ़े थे और जहाज के टूटने पर डूब मरे उनकी तालिका जैसी ग्रन्थकार ने दी है उपस्थित करता हूँ : यथा : १. सबकर संसय अरु २. अज्ञानू ३. मंद महीपन्ह कर अभिमानू ४. भृगुपति केरि गर्ब गरुआई ५. सुर मुनिवरन्ह केरि कदराई ६. सियकर सोच ७. जनक पछितावा और ८. रानिन कर दारुन दुःखदावा। संभु चाप बड़ वोहित पाई। चढ़े जाई सब संग बनाई। धनुष के टूटने से सब डूब गये। सबका संशय और अज्ञान भी जाता रहा। मंद राजाओं का अभिमान जाता रहा। परशुरामजी का अभिमान मारा पड़ा। सुर मुनिवरों की कदराई गई। सीताजी का सोच गया। जनक का पछितावा जाता रहा और रानियों का दुःख दावानल मिटा। इसी बात को जिसे मैंने रूखे सूखे शब्दों में कहा है। कितनी सुन्दरता और सरलता से कवि ने जहाज टूटने के रूपक में कह डाला।

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भए सुखारे॥
कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम वारि अवगाहु सुहावन॥१॥

अर्थ : प्रभु ने दोनों टुकड़े धनुष के पृथ्वी पर डाल दिये। देखकर सब सुखी

हो गये। विश्वामित्रजी का स्वरूप पवित्र समुद्र था। जिसमें सुन्दर प्रेम रूपी जल अथाह भरा था।

व्याख्या : तोड़ते तो किसी ने लखा नहीं। रामजी ने दोनों टुकड़े भूमि पर डाल दिये कि सबलोग देख लें। दोनों टुकड़ों में कोई लगाव नहीं है। जनकजी का वचन सुनकर सब दुःखारी हुए थे। यथा : जनक वचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहिं भये दुखारी। अब वे ही लोग सुखारे हुए।

कौशिक का रूप क्या है मानो स्वयं पावन समुद्र है। लौकिक समुद्र दिन-विशेष देशविशेष तथा कालविशेष छोड़कर सब देशकाल में अस्पृश्य है। यथा : अश्वत्थसागरौ सेव्यौ न स्पृष्टव्यौ कदाचन। भारते। विना मन्त्रं विना पर्व क्षुरकर्म विना नरैः। कुशाग्रेणापि देवेशि न स्पृष्टव्यो महोदधिः। स्कान्दे। अश्वत्थ और समुद्र का पूजन करे पर उन्हें छूए नहीं। मन्त्र पर्व क्षौरकर्म विना हे देवि कुश के अग्र से भी समुद्र का स्पर्श न करे; परन्तु कुशिकनन्दन का रूप पवित्र समुद्र है। प्रेमरूपी जल से भरा हुआ पावन है।

रामरूप[1] राकेसु निहारी। बढ़त वीचि पुलकावलि भारी ॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देववधू नाचहिं करि गाना ॥२॥

अर्थ : रामरूप पूर्ण चन्द्र को देखकर उसमें तरङ्गरूपी भारी पुलकावली बढ़ रही है। आकाश से गहगह शब्द से डङ्के बजे। देववधू गान करके नाचने लगीं।

व्याख्या : विश्वामित्रजी प्रेम के समुद्र हैं। रामचन्द्र का दर्शन भी आजकल बराबर कर रहे हैं। परन्तु आज रामरूपी चन्द्र पूर्णकला से उदित हैं। मानो धनुषरूपी राहु को जिसने राजाओं के बलरूपी चन्द्र का ग्रास किया था समरभूमि में वध करके विजयलक्ष्मी से शोभा को प्राप्त किये हैं। यथा : लेहुरी लोचननि को लाहु। कुँवर सुंदर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु। खंडि हर कोदंड ठाढ़े जानुलंबित बाहु। मुदितमन वरवदन शोभा उदित अधिक उछाहु। मनहु दूरि कलंक करि ससि समर सूद्यौ राहु। समुद्र का पूर्णचन्द्र को देखकर तरङ्गों द्वारा बढ़ना विख्यात है। इसी भाँति रामचन्द्र रूपी अपूर्व पूर्ण चन्द्र को देखकर प्रेमामृतपूर्ण समुद्ररूप विश्वामित्रजी के शरीर में बारबार पुलकरूपी तरङ्गें उठने लगीं।

भगवती जनकनन्दिनीजी के रङ्गभूमि प्रवेश के अवसर पर कहा है कि : हरखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरखि प्रसून अपछरा गाई। पर इस समय तो आनन्द उछाह और अधिक बढ़ गया है। अतः कहते हैं कि आकाश में गहगहे निशान बजे। फूलों की वर्षा हुई। देववधुओं ने गाना नाचना प्रारम्भ किया।

ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा ॥
बरषहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किंनर गीत रसाला ॥३॥

---

[1] इससे यह भी द्योतित किया कि धनुष भङ्ग शरत् पूर्णिमा के दिन हुआ।

अर्थ : ब्रह्मादिक देवता सिद्ध और मुनिश्वर लोग प्रभु की प्रशंसा करते हैं और आशीर्वाद देते हैं। अनेक रंग के फूलों की मालाएँ वरस रही हैं। और किन्नर लोग रसीले गीत गा रहे हैं।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं : देखहिं सुरनभ चढ़े विमाना। वरषहिं सुमन करहिं कल गाना। परन्तु यह वर्णन प्रभु के रङ्गभूमि प्रवेश के समय का है। इस समय तो धनुषभङ्ग करके खड़े हैं। अतः विमान पर चढ़े हुए ब्रह्मादिक देवता प्रभु की स्तुति करते हैं। भविष्यत् विजय के लिए आशीर्वाद देते हैं। पहिले फूलों की वर्षा की थी पर इस समय तो महामङ्गल उपस्थित है। अतः अनेक रङ्ग के फूलों की मालाएँ अर्पण करके पूजन कर रहे हैं। किन्नर लोग समयानुकूल रसीले गीत गा रहे हैं। सुर मुनिवरन्ह केरि कदराई जाती रही। यह शिवधनुपरूपी जहाज पर राम बाहुबलसिन्धु के पार होने के लिए सवार हुई थी सो धनुषभंग होने से डूबी।

रही भुवन भरि जय जय वानी। धनुष भंग धुनि जात न जानी॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी॥४॥

अर्थ : भुवन में जयजयकार का शब्द ऐसा भर गया कि धनुषभंग की ध्वनि का पता न रह गया। प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ नर-नारियाँ कह रही हैं कि रामजी ने शिवजी के धनुष को तोड़ा।

व्याख्या : नीचे तुलसीदासजी ने जयजयकार किया। यहाँ तुलसी शब्द भक्तमात्र का उपलक्षण है। ऊपर से देवताओं ने जयजयकार किया। सो भुवन में जयजय का शब्द भर उठा। पहिले धनुषभंग का घोर कठोर शब्द भुवन में भरा। पश्चात् जयजय शब्द की उत्साहभरी ध्वनि भुवन में भर गई। दोनों रव मिलकर एक हो गये। उनका विलग विलग ज्ञान न हो सका। शब्द होने के बाद कुछ देर तक उसकी ध्वनि रहती है। घोर कठोर शब्द की ध्वनि भी प्रबल होती है। धनुषभङ्ग जानकर लोगों ने जो उत्साह के साथ जयकारा लगाया कि इस जयकारे में धनुषभङ्गवाली ध्वनि लीन हो गई।

कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति वचन उचारहीं से उपक्रम करके यहाँ उपसंहार करते हैं : भंजेउ राम संभु धनु भारी। जो देवताओं से विनय की थी कि तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरउ राम गनेस गोसाईं। उसी का साफल्य दिखाया कि रामजी ने भारी शम्भुधनु को तोड़ डाला।

दो. वंदी मागध सूतगन, विरद वदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गय मनि धन चीर॥२६२॥

अर्थ : वन्दी मागध तथा मतिधीर सूतलोग विरद बोल रहे थे। और लोग सब हाथी, घोड़ा, मणि, धन और कपड़े निछावर करते थे।

व्याख्या : वन्दी मागध सूतगण मतिधीर हैं। धनुषभङ्ग होते ही विरद बोले। वन्दियों ने ही विदेहराज का प्रण कहा था सो प्रण पूरा हुआ। अतः विरद बोलने

में भी ये ही अग्रगण्य हैं। देखि लोग सब भये सुखारे का साफल्य कहते हैं। निछावर करने लगे। नाता हो गया अतः निछावर प्रारम्भ हुई। हयगय जंगम सम्पत्ति के उपलक्षण हैं। मणिगण, चीर आदि स्थावर सम्पत्ति के उपलक्षण हैं।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाए। जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए ॥१॥

अर्थ : झाँझ, मृदङ्ग, शंख, शहनाई, भेरी, ढोल, सुहावने नगाड़े और बहुत से सुहावने बाजे बजने लगे और जहाँ तहाँ युवतियों ने मङ्गलगान प्रारम्भ कर दिया।

व्याख्या : झाँझ मृदङ्ग और ढोल हाथ से बजाये जाते हैं। शंख भेरी और शहनाई फूंक से बजती है। दुन्दुभी चोब : डंडे से बजती है। पहिले झाँझ और मृदङ्ग बजा। फिर विजयसूचक शंख ध्वनि हुई। शंख बजते ही बाहर खबर लगी। फाटक पर सहनाई बजी तब सेना में भेरी ढोल और दुन्दुभी बजाई गई। इतने ही नहीं और भी बाजे वीणा सारङ्गी आदि बजे। मुदित कहहिं जहँ तहँ नर-नारी। भंजेउ रामु संभु धनुभारी। सो नारियों ने जहाँ सुना वहीं मङ्गलगान आरम्भ कर दिया।

सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी ॥
जनक लहेउ[1] सुखु सोचु बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥२॥

अर्थ : सखियों के सहित सब रानियाँ ऐसी हर्षित हुईं जैसे सूखते हुए धान में पानी पड़ जाय। जनकजी का सोच जाता रहा और ऐसा सुख हुआ जैसे तैरते तैरते थके हुए को थाह मिल जाय।

व्याख्या : रानियों का दुःखरूपी दावानल भी तो उस समाज में था जो मोहवश शंकरचाप जहाज पर सवार हुआ था। अतः धनुष के टूटते ही वह भी डूबा। पहिले कह आये हैं कि रानियाँ बिना पानी के धान सी झुलसी जाती थीं सो वर्षा हो पड़ी। अतः कहते हैं : सूखत धान परा जनु पानी। सूखते हुए धान में पानी पड़ते ही वह इस भाँति लहलहा कर बढ़ता है कि देखते देखते बात दूसरी हो जाती है। सखिन्ह सहित कहने का भाव यह कि सखियाँ रानी के सुख से सुखी और उनके दुःख से दुःखी थीं। उनका भी भाव सीताजी के प्रति पुत्री सा ही था। अथवा सखी का कथन सत्य हुआ इससे वह भी बड़ी प्रसन्न हैं।

अब जनकपरिताप के डूबने का भी साफल्य दिखलाते हैं। क्योंकि वह परिताप भी उपर्युक्त समाज में था। गुरुजी ने आज्ञा दी थी : उठहु राम भंजहु भव चापू। मेटहु तात जनक परितापू। सो परिताप मिटा। इनकी दशा तैरते तैरते थक जाने-

---

[1] पर्यायालङ्कार है।

वाले की सी थी। डूब ही रहे थे। सब पुरुषार्थ थक गया। कहने लगे : कुँवरि कुँवारि रहे का करहूँ। सो धनुषभङ्ग से वह शोक मिटा और परम सुखी हुए।

श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छवि छूटे ॥
सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ॥३॥

अर्थ : धनुष टूटने से राजा श्रीहत हो गये। जैसे दिन में दीप की शोभा जाती रहती है। सीताजी के सुख को किस भाँति वर्णन किया जाय। जैसे चातकी को स्वाति का जल मिल गया हो।

व्याख्या : पहिले अरुणोदय कहा। यथा : अरुणोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन। तब सूर्योदय कहा। यथा : उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग। सूर्योदय होने पर दिन कह रहे हैं कि राजा ऐसे निस्तेज पड़ गये जैसे दिन में दीपक। भाव यह कि मन्द महीपन कर अभिमानू भी उस समाज में था। जो धनुष रूपी जहाज पर चढ़े थे। सो इस समय धनुष टूटते ही यह डूब गया। उसी के साफल्य रूप से राजाओं की श्रीहीनता वर्णन करके कहते हैं।

सीताजी की अवस्था रामजी ने देखी तो ऐसी हो रही थी जैसे प्यासा बिना पानी के मर रहा हो। यथा : तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा। अब जैसे चातकी को स्वाती की बूँद मिल जाय और प्यास मिटकर सुख हो। वैसा सुख श्रीजनकनन्दिनी को हुआ। वर्षा के सब नक्षत्र बीत गये चातकी को जल न मिला। उसकी प्यास बढ़ती ही गई। वह मरणोन्मुख हो रही थी। तब से स्वाती की वर्षा हो गई। जिसकी वस्तुतः उसे प्यास थी। अतः सीताजी के सोच के डूबने का प्रसंग कहते हैं कि वह भी पूर्वोक्त सांयात्रिकों : पोत वणिकों में से था। यथा : सियकर सोच जनक पछितावा।

रामहि लषनु बिलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरकु जैसे ॥
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमनु राम पहिं कीन्हा ॥४॥

अर्थ : रामजी को लक्ष्मणजी इस भाँति देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा को चकोर का वच्चा देख रहा हो। सतानन्दजी ने तब आज्ञा दी। सीताजी रामजी के पास चलीं।

व्याख्या : इस समय प्रभु धनुषभङ्ग करके खड़े हैं। अपार शोभा है। लक्ष्मण जी यद्यपि विश्वामित्रजी के पास वैठे हैं परन्तु दृष्टि रामजी पर ही है। सो इस समय प्रभु की ओर इस चाव से देख रहे हैं जैसे चन्द्र को चकोरकिशोर देखे।

वन्दी लोग महाराज जनक का प्रण कहते हुए बोल चुके हैं : सोइ पुरारि कोदण्ड कठोरा। राज समाज आज जेहि तोरा। त्रिभुवन जैय समेत वैदेही। विनहिं विचारि वरै हठ तेही। सो वह समय उपस्थित है। सरकार ने धनुष तोड़ा। अब वैदेही जाकर उनका वरण करे। विवाहकार्य में पुरोहित की आज्ञा ही प्रधान है। अतः सतानन्दजी की आज्ञा हुई कि सीताजी को रामजी के समीप ले जाओ।

दो. संग सखीं सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल मराल गति, सुखमा अंग अपार ॥२६३॥

अर्थ : संग में सब सखियाँ चतुर और सुन्दर थीं। वे मङ्गलाचार गान कर रही थीं। सीताजी : बालहंस की गति से चलीं। अङ्ग की अपार परमा शोभा थी।

व्याख्या : रङ्गभूमि में प्रवेश के समय कहा : संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी। इस समय वे ही सुन्दरी सखियाँ सीताजी को घेरे हुए मङ्गलाचार के गीत जो उस काल में ऐसे अवसर पर गाये जाते थे गाती हुई चलीं। श्रीजनकनन्दिनी की शोभा ही परमा शोभा है और वह भी अपार है। वे बालमराल की गति से चलीं। श्रीजनकनन्दिनी की हंसगति स्वाभाविकी है। यथा : हंसगवनि तुम नहिं बन जोगू। इस समय तो बहुत छोटी उम्र है। इसलिए गति की उपमा बालमराल से देते हैं। उधर सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु कुंजर वरगामी। इधर गवनी बाल मराल। उधर राम बाहुबल सिंधु अपारू। इधर सुषमा अंग अपार। सखियों की मराल गति रही। भगवती की बालमराल सी गति है।

सखिन मध्य सिय सोहति कैसें। छविगन मध्य महाछवि जैसें ॥
कर सरोज जयमाल सोहाई। विस्व विजय सोभा जेहिं छाई ॥१॥

अर्थ : सखियों के बीच में सीताजी कैसी शोभायमान हैं जैसे छविगण के बीच में महाछवि की शोभा हो। करकमल में कमल का जयमाल शोभा दे रहा है। जिसके ऊपर विश्वविजय की शोभा छाई हुई है।

व्याख्या : सखियों ने सब ओर से सीताजी को घेर रखा है। इसलिए सखिन मध्य कहते हैं। संग सखी सुन्दर सकल कह आये हैं। वे सखियाँ ऐसी सुन्दर हैं मानों स्वयं छवि ने ही अनेकानेक रूप धारण कर रक्खे हैं। उनके बीच में श्रीजनकनन्दिनी साक्षात् रूपधारी महाशोभा की भाँति सुशोभित हैं। जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया। अतः महाछवि कहते हैं। महाछवि कहकर उनका आदिशक्ति छविनिधि जगमूला होना द्योतित किया। यहाँ सरोज शब्द देहलीदीपकन्याय से कर और जयमाल दोनों शब्दों से समन्वित होगा अर्थात् करसरोज और सरोज जयमाल। वसन्त ऋतु होता तो मधूक : महुआ के फूलों की माला होती। शरद् ऋतु है। अतः कमल का जयमाल बना था। जिनके गले में माला पड़नेवाली है उनके विषय में कवि ने कहा है कि : मनहु मनोहरता तन छाये। इसलिए माला के विषय में भी कह रहे हैं कि : विस्व विजय सोभा जेहि छाई। इससे जयमाल की शोभा कही और जयमालाओं में उपस्थित नृपगणों के विजय की शोभा रहती है। पर इस जयमाल में विश्वविजय की शोभा है। प्रतिज्ञा में घोषणा भी ऐसी ही की गई थी। यथा : त्रिभुवन जय समेत वैदेही। विनहि विचार वरै हठि तेही।

तन सकोच मन परम उछाहू। गूढ प्रेम लखि परै न काहू ॥
जाइ समीप राम छवि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ॥२॥

अर्थ : शरीर में सङ्कोच है। मन में परम उत्साह है। छिपा हुआ प्रेम किसी को लखाई नहीं पड़ता। निकट जाकर जो रामजी की छवि देखी तो कुँवरि चित्र में लिखी सी हो गई।

व्याख्या : तन से तो सङ्कोच है। यथा : गुरुजन लाज समाज बड़ और अति प्रेम के कारण मन में परम उछाह है। इसीलिए उस प्रेम को गूढ़ कहते हैं। वह सङ्कोच में छिपा हुआ है और ऐसा छिपा है कि कोई लख नहीं सकता। बाहर देखने से केवल सङ्कोच ही सङ्कोच दिखाई पड़ता है। गूढ़ प्रेम का पता नहीं चलता। राजा विदेह को भी गूढ़प्रेम था। यथा : वंदौं परिजन सहित विदेहू। जाहि रामपद गूढ़ सनेहू। जोग भोग महँ राखेउ गोई। उन्हीं की बेटी हैं। अत: इन्हें भी गूढ़ प्रेम है। सङ्कोच में छिपाए हुए हैं। अभी तक रामजी की छवि को श्रीजनकनन्दिनी ने इतने निकट से नहीं देखा था। इस समय इतने निकट चली गई हैं कि माला पहिना सकें। अब जो रामजी की छवि देखी तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुन्दरता पर दृष्टि पड़ी। जनकनन्दिनी स्तब्ध रह गई। इष्ट या अनिष्ट को देखकर क्रियाहीन हो जाने को ही स्तब्ध होना कहते हैं। उसी क्रियाहीनता को ही कवि कुँवरि को चित्र लिखित पुतली से उपमा देकर द्योतित करते हैं।

चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम विवस पहिराइ न जाई ॥३॥

अर्थ : चतुर सखी ने लखा। उसने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाल पहनाओ। सुनते ही सीताजी ने दोनों हाथों से माला उठायी। परन्तु ऐसी प्रेमवश हो गई हैं कि पहिराते नहीं बनता।

व्याख्या : वह सयानी सखी भी तो साथ थी जिसने पुष्पवाटिका में कहा था कि : बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देख किन लेहू। किसी ने सीताजी के गूढ़ प्रेम को नहीं लखा। केवल उसी ने लखा कि इन्हें प्रथम सात्त्विक भाव स्तम्भ हो गया। इसलिए सीताजी को समझाया : एहि अवसर के देर ते फेर समुझ में होय। वरन चहत नाहिन कुँअरि अस समुझिहि सब कोय। और कहती हैं जयमाला सुन्दर है। इसे पहना दो।

सुनते ही दोनों हाथों से माला को उठाया। मानों माला वड़ी भारी मालूम हो रही है। वड़ी कठिनता से उठाया तो : परन्तु प्रेमाधिक्य से अङ्ग शिथिल हैं। पहनाना चाहती हैं। पहनाते नहीं बनता। उधर : लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े। इस लाघव में ही शोभा थी। इधर जयमाल पहनाने की मन्थरता में ही शोभा है। सब लोग देख लें पहनाने की शोभा।

सोहत जनु जुग जलज सनाला । ससिहिं सभीत देत जयमाला ॥
गावहिं छवि अवलोकि सहेली । सिय जयमाल राम उर मेली ॥४॥

अर्थ : मानो मृणाल के सहित दो कमल चन्द्रमा को जयमाल देते हुए शोभित हैं। छवि देखकर सखी सहेलियाँ गान करने लगीं। सीताजी ने रामजी के गले में जयमाल डाल दी।

व्याख्या : ग्रन्थकार श्री रामजी के गले में सीताजी द्वारा जयमाल पहनाने की शोभा वर्णन करते हैं। श्रीसीताजी के दोनों हाथों की उपमा मृणालयुक्त कमलों से दी और रामचन्द्र की उपमा चन्द्र से दी। मानो मृणालयुक्त दो कमल चन्द्र को जयमाल पहिनाते हैं। चन्द्र के सामने कमल सङ्कुचित हो जाते हैं। शीतांशु के निकट जाने में कम्पित होते हैं। सो कमल संकुचित हो गये हैं। चाहने पर भी जयमाला छूटती नहीं और कम्प भी हो रहा है। इसीलिए सभीत देत जयमाला कहा।

यहाँ सीताजी को सात्त्विक भाव हो जाने से अङ्गों में जड़ता है। सखी की शिक्षा से जयमाल पहनाना चाहती हैं तो हाथ काँपता है और जयमाल पहनाते नहीं बनता। इसलिए पहनाने में देर हो रही है।

इस अकृत्रिम भावविकार से जयमाल पहनाने की शोभा अत्यन्त बढ़ गई। उस छवि को सखियों ने देखकर जयमाल पहनाने का गीत आरम्भ कर दिया। सीताजी ने रामजी के गले में जयमाला डाल दी। इस पुरइन से कली निकली जयमाल राम उर अब यह कमलरूप से आगे के दोहा में विकसित होगी।

दो. रघुवर उर जयमाल, देखि देव वरिसहिं सुमन ।
सकुचे सकल भुआल, जनु विलोकि रवि कुमुद गन ॥२६४॥

अर्थ : रामजी के उर में जयमाल देखकर देवता फूल बरसाने लगे। और सब राजा ऐसे संकुचित हुए जैसे सूर्य के देखने से कुमुद : कोइ संकुचित हो जाते हैं।

व्याख्या : कमल खिला : रघुवर उर जयमाल इत्यादि। देवता ऊपर से पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। परन्तु करकमल नहीं खिले। पहनाने पर भी जयमाल हाथ से छूटा नहीं।'चन्द्र के सामने खिले भी कैसे ? अतः अब कवि रामजी को रवि रूप से वर्णन करते हैं। जिसमें कमल का खिलना अर्थात् 'माला का हाथ से छूटना द्योतित हो। अरुणोदय से ही संकुचित कुमुदरूपी मानी राजा अब सूर्य को प्रभायुक्त देखकर अत्यन्त संकुचित हुए।

पुर अरु व्योम बाजने बाजे । खल भये मलिन साधु सब राजे ॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा । जय जय जय कहि देहिं असीसा ॥१॥

अर्थ : पुर और आकाश में बाजे बजने लगे। खलगन मलिन हुए। साधु प्रसन्न हुए। देवता, किन्नर, नर, नाग और मुनीश्वर लोग जय जय जय कहकर आशीर्वाद देने लगे।

व्याख्या : पहिले धनुषभङ्ग पर बाजे बजे। अब जयमाल पड़ने पर बज रहे हैं। पृथ्वी पर मनुष्यों द्वारा और आकाश में देवताओं द्वारा बाजे बजाये जाते हैं। धनुषभङ्ग के समय व्योम : आकाश में पहले बाजा बजा। यथा : बाजे नभ गहगहे निसाना। जयमाल के समय पहिले पुर में बाजा बजा। पुर के लोग इस बार सावधान हैं। उस बार देवताओं ने बाजी मार ली थी। उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति। अत: वे मलिन हुए और सज्जन सकृत सिन्धु सम कोई होते हैं अत: वे शोभित हुए।

सुर किन्नर से स्वर्गवासी। नर से मृत्युलोकवासी। नाग से पातालवासी। तीनों लोकनिवासी जयजयकार कर रहे हैं। अत: जय जय जय तीन बार लिखा और मुनीश परमार्थी हैं वे आशीर्वाद देते हैं। अथवा सभी जय जय कहकर आशीर्वाद देते हैं।

नाचहिं गावहिं बिबुध बधूटीं। बार बार कुसुमांजलि छूटीं॥
जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करही। वंदी बिरदावलि उच्चरहीं॥२॥

अर्थ : देववधू नाच-गा रही हैं। बारबार पुष्पाञ्जलि छूट रही है। जहाँ तहाँ ब्राह्मण लोग वेदध्वनि कर रहे हैं। वन्दी लोग विरुदावली बोल रहे हैं।

व्याख्या : देववधूटीं कहकर फिर भी देववधुओं का ही गाना नाचना कहा। अप्सराओं का गान नृत्य नहीं कहा। मङ्गल-गान कुलवधू ही द्वारा होता है। वेश्या द्वारा आज भी नहीं होता और अप्सरा स्वर्वेश्या हैं। अत: मङ्गलगान उनके द्वारा नहीं लिखते। गान के ताल पर पुष्पाञ्जलि दी जा रही है। इसलिए कुसुमाञ्जलि छूटी लिखते हैं।

अभीतक वेदध्वनि नहीं हुई थी। यथार्थ गान्धर्व व्याह जयमाल पड़ना ही है। अत: ब्राह्मण लोग जो जहाँ थे वहीं से स्वस्तिवाचन के मन्त्र बोले। मन्त्रों के साथ स्वर लगता है। अत: वेदध्वनि कहा। राजाओं का व्याह है। इसलिए वन्दियों ने विरद कहा। उच्चस्वर से बोल रहे हैं। इसलिए उच्चरहीं कहा।

महि पातालु नाक जसु व्यापा। राम वरी सिय भंजेउ चापा॥
करहिं आरती पुर नर नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥३॥

अर्थ : पृथ्वी, पाताल और आकाश में यश व्याप्त हो गया कि रामजी ने धनुष तोड़ा और सीता का वरण किया। पुर के नर नारी आरती करते हैं और अपने वित्त को भूलकर निछावर करते हैं।

व्याख्या : इस धनुषयज्ञ में देवदनुज धरि मनुज सरीरा तथा द्वीप द्वीप के भूपति आये थे। अत: महि पाताल और आकाश में यश व्याप गया कि ये लोग गये तो थे पर सीता को व्याह न सके। क्योंकि इनका तोड़ा धनुष नहीं टूटा। फिर तोड़ा किसने? तो राम वरी सिय भंजेउ चापा। यह यश तीनों लोक में फैल गया। तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी। जो लक्ष्मणजी

ने कहा था उसी का साफल्य दिखलाते हैं। धनुष के विघटने से रामजी के भुजबल की महिमा तीनों लोक में प्रकट हो गई।

पहिले निछावर हुआ तब जयमाल पड़ा। अब आरती हो रही है। इस बार जयमाल पड़ने का निछावर है। अतः वित्त विसारी कह रहे हैं। पहिली निछावर में भी वित्तशाठ्य नहीं किया था। हय, गय, मनि, धन और चीर का निछावर हुआ था। पर इस निछावर में तो लोग यह भी भूल गये कि इतना निछावर करना हमारे वित्त के बाहर है या भीतर।

सोहत सीय राम कै जोरी। छवि श्रृङ्गार मनहुँ इक ठोरी ॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरन परस अति भीता ॥४॥

अर्थ : सीताराम की जोड़ी ऐसी शोभायमान है मानो छवि और श्रृङ्गार दोनों एकत्र हो गये हैं। सखी कहती है कि सीते ! प्रभु के चरण पकड़ो। वह अत्यन्त डरी हुई है। चरणस्पर्श नहीं करती।

व्याख्या : इसके पहिले तक जोड़ी नहीं कह सकते थे। रामरूप अरु सिय छवि देखी कहा था। यहाँ जनकपुर है। इसलिए सीय राम की जोड़ी कहा। सीताजी की प्रधानता है। छवि से श्रृङ्गार की शोभा और श्रृङ्गार से छवि की शोभा होती है। दोनों के एकत्र होने से महाशोभा हुई। रामजी : जनु सोहत सृंगार धरि मूरति परम अनूप। सीताजी : छविगन मध्य महाछवि जैसी।

जयमाल डालने के बाद चरणग्रहण की प्रथा है। शिक्षा देना सखी का कार्य है। अतः सखी चरणग्रहण के लिए शिक्षा देती हैं। परन्तु सीताजी चरणस्पर्श में अति भयभीत हो रही हैं। विरह का बड़ा भारी भय है। यथा : चालत न भुजवल्ली विलोकन विरह भय बस जानकी। भय का कारण कहते हैं :

दो. गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसत पग पानि।
मन बिहँसे रघुवंसमनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ : अहल्या का स्मरण करके चरण को हाथ से नहीं छूतीं। रघुवंशमणि अलौकिक प्रीति देखकर मनही मन हँसे।

व्याख्या : परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी। सुन चुकी हैं। अतः भारी डर है कि चरणस्पर्श में कहीं धूलि छू गई तो मुझे भी तुरन्त दिव्यलोक की प्राप्ति हो जायगी। फिर इन चरणों से विछोह हो जायगा। क्रिया अटपट हो रही है। अप्रसन्न होने का अवसर था। परन्तु राम सुजान जान जन जीकी। अतः अलौकिक प्रीति देखकर हँसे। मन ही में हँसे क्योंकि यहाँ व्यक्त रूप हँसने के लिए उपयुक्त समय नहीं था। लोग समझते कि सीताप्राप्ति से कृतकृत्य होकर हँस रहे हैं। ऐसी ही प्रीति की तीव्रता में अटपट क्रिया केवट की देखकर आगे भी हँसेंगे। यथा : सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे। विहँसे करुना अयन चितै जानकी लखन तन।

तब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ़ मन माषे ॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥१॥

अर्थ : तब सीताजी को देखकर राजाओं को अभिलाषा हुई। क्रूर, कुपुत्र और मूढ़ के मन में अमर्ष हुआ। अभागों ने उठ उठकर कवच पहिने और जो जहाँ रहे वहीं से गाल बजाने : सीटने लगे।

व्याख्या : जब सीताजी रामजी के वाम भाग में विराजमान हो गईं आरती होने लगी। सीताजी ने चरणस्पर्श किया। अर्थात् स्वयंवर की प्रक्रिया जब समाप्त हो गई तब सीताजी को देखकर राजाओं को अभिलाषा हुई कि ऐसी मनोहर मूर्ति की प्राप्ति मुझे नहीं हुई। जनकजी के यह कहने से : कुँवरि कुँआरि रहौ का करऊँ। अभिलाषा दब गई थी सो जाग उठी। सीताजी की प्राप्ति किसी को न होगी इस बात पर जिन्हें सन्तोष था उन्हें दूसरे की प्राप्ति सह्य न हुई। उनमें से जो कूर : क्रूर : कपूत : कुपुत्र तथा मूढ़ थे जिन्हें मन ही मन आमर्ष हुआ वे जयमाल पहने सीताजी को वाम भाग में लिये जयजयकार के बीच में रामजी को देख न सके। इसीसे आमर्ष हुआ। औरै को अभिमानु लखि उर उपजै अभिमान। अभिमान को आमर्ष कहते हैं। बलवान् के सामने आमर्ष चल नहीं सकता। अतः क्रुद्ध होकर सामना करने का तो साहस नहीं है। अतः मन ही मन मसोस रहे हैं।

युद्ध तो करना नहीं। गड़बड़ पैदा करने के लिए युद्ध का दिखावा करते हैं। उठ उठकर जिरह बख्तर : वर्म धारण करने लगे। मानो लड़ाई करेंगे। अथवा उन्हें गाल बजाना : सीटना है। पर उसमें भी खतरा है। इसलिए जिरह बख्तर पहनकर तब गाल बजाने लगे। भवभञ्जन पद विमुख हैं। इसलिए ग्रन्थकार उन्हें अभागे कहते हैं। आगे कोई नहीं बढ़ता। जो जहाँ है वहीं से शान बघार रहा है। पहिले क्रूर बोले :

लेहु छँड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ ॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को वरई ॥२॥

अर्थ : कोई बोले छीन लो सीता को। दोनों राजपुत्रों को पकड़कर बाँध लो। केवल धनुष तोड़ने से चाट नहीं मिटेगी। हमारे जीते जी राजकुमारी को कौन वर सकता है ?

व्याख्या : आप पैर आगे नहीं रखते औरों को ललकारते हैं कि छीन लो राजकुमारी को। यदि कहो कि अब तो सम्बन्ध हो गया। दोनों भाई छीनने कैसे देंगे। इसपर कहते हैं कि राजा के दोनों बालकों को बाँध लो। भाव यह कि ये अभी बालक हैं। इनसे लड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। पकड़कर बाँध लो। इस भाँति प्रोत्साहित कर रहे हैं। इन्हें बालक बालिका किसी पर दया नहीं है। इसी से इन्हें क्रूर कहा है। अब कपूत : कुपुत्र बोलते हैं।

धनुष टूट गया तो क्या हुआ। अभी बड़के धनुष हम तो जीते ही हैं। पहिले हमें मार लें तब कोई जनकनन्दिनी का वरण कर सकता है। सीता की चाट है इसलिए जाकर धनुष तोड़ दिया। इससे चाट नहीं पूरी होने पावेगी। ये कपूत हैं। इनका किया तो कुछ हो सकता नहीं। केवल बड़े भारी वीरों की सी बातें बोलकर वैर ले रहे हैं। अब मूढ़ बोले :

जौ बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥
साधु भूप बोले सुनि बानी। राजसमाजहि लाज लजानी॥३॥

अर्थ : यदि विदेह कुछ सहायता करें तो उन्हें भी दोनों भाइयों के सहित रण में जीत लो। इन बातों को सुनकर साधु राजा बोले कि राजसमाज को देखकर लज्जा को भी लज्जा आगई।

व्याख्या : कुमारी का पिता विदेह है। वह झगड़े में पड़नेवाला नहीं। पहिले ही कहता था : कुँवरि कुँआरि रहौ का करऊँ। वह किसी की सहायता न करेगा। पर यदि राजकुमारी को छीनी जाते और अपने जामाता दोनों भाइयों को बँधते देखकर कुछ चीं चपड़ करे तो उसे भी समरांगण में इन्हीं दोनों भाइयों के साथ जीत लो। ये मूढ़ हैं। इन्हें परिज्ञान नहीं कि विदेह किसे कहते हैं। जिसे देहाध्यास नहीं उससे बढ़कर योद्धा कौन हो सकता है? ऐसा स्वयम्बर रचने के लिए देहाध्यास था। सहायता के लिए नहीं है। शिवधनु भङ्ग करनेवालों को भाई और विदेहराज : जिसके राज्य में इस समय एकत्रित हैं के साथ जीतने का स्वप्न देखते हैं। ऐसों के मूढ़ होने में सन्देह क्या?

तब साधु राजा बोले। पहिले भी इन लोगों ने रोका था। यथा : सिख हमार सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता। जगत पिता रघुपतिहि विचारी। भरि लोचन छवि लेहु निहारी। जब लोगों ने नहीं माना तब कहा था : करहु जाइ जाकहँ जो भावा। हम तौ आज जन्म फल पावा। साधु हैं अतः फिर रोकते हैं। अनीति उन्हें सह्य नहीं है। इससे बोले कि यह रूप दिखाना निर्लज्जता की पराकाष्ठा है। आज ऐसा वर्ताव देखकर लज्जा भी राजसमाज को छोड़ लज्जित हो चली गई। भाव यह कि तुम लोगों ने हया छोड़ दी। तुम लोगों के ऐसे आचरण से राजसमाज कलङ्कित हो रहा है।

बलु प्रतापु वीरता [1]बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई॥४॥

अर्थ : बल प्रताप वीरता बड़ाई तो पिनाक : शिवधनुष के साथ ही आकाश में चली गई। वही वीरता है कि अब कहीं से मिली है। ऐसी ही बुद्धि है तभी ब्रह्मा ने मुख में कालिख पोत दी।

---

[1] यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है।

व्याख्या : यदि तुम्हें विचार होता तो धनुष के निकट न जाते। यथा : जिनके कछु विचार मन मांहीं। चाप समीप महीप न जांहीं। अब तो कीर्ति विजय और भारी वीरता सब कुछ धनुष के हाथ जबरदस्ती हार चुके। धनुष टूटते ही उन लोगों का प्रताप वीरता बड़ाई समाप्त हो गई। जो धनुष तोड़ने उठे थे। वही शूरता न है जिससे तिल भर धनुष को हटा न सके कि कोई नई शूरता इस बीच और मिल गई है? जिसके भरोसे बड़ी बड़ी बातें करते हो। तुम लोगों की बुद्धि मारी गई है। इसी से तुम्हारे मुँह में कालिख ब्रह्मा ने पोत दिया। यदि बुद्धि से काम लेते तो सबकी इज्जत बनी रह जाती। हमने पहिले ही कहा था : जगदंबा जानकी जगत पितु रामभद्र जानि जिय जिय जोहो। ज्यों न लागे मुह कारिखी : कवित्त। पर विधिवश वह बात तुमलोगों के मन में न भाई।

दो. देखहु रामहि नयन भरि, तजि इरषा मदु कोहु।
लखन रोषु पावकु प्रबल, जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

अर्थ : ईर्ष्या, मद और क्रोध को छोड़कर रामजी को आँख भर देखो। लक्ष्मणजी के क्रोधरूपी प्रबल अग्नि में जानबूझकर पतङ्ग न बनो।

व्याख्या : हितं शतशोऽपि वक्तव्यम्। कल्याण की बात को सौ बार भी कहे। अतः कहते हैं कि सीता महामाया हैं। उनकी ओर न देखो रामजी की ओर देखो। इस शोभा को आँख भर देखकर जन्म सफल करो। क्रूर से कहते हैं कि तुम ईर्ष्या छोड़कर देखो। कपूत से कहते हैं कि तुम मद छोड़कर देखो। मूढ से कहते हैं कि क्रोध छोड़कर देखो तब प्रेम से देख सकोगे। तुम्हारे आँख भर देखने में ईर्ष्या मद और क्रोध बाधक हो रहे हैं। तुम्हारी बातों से लक्ष्मणजी को क्रोध आ रहा है। यदि यह क्रोधाग्नि तुमलोगों के प्रलाप से बढ़ती गई तो तुमलोगों के शलभ होने में देर न लगेगी। शलभ तो दीप का मर्म बिना जाने जलता है। तुम तो मनुष्य हो देख चुके हो कि लक्ष्मण के क्रोधयुक्त बोलने पर पृथ्वी डगमगाती है। दिग्गज डोलते हैं। तुम जानबूझकर शलभ होने क्यों जाते हो?

वैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहहि नाग अरि भागू॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब संपदा चहै सिवद्रोही ॥१॥

अर्थ : जैसे कौआ गरुड़ की बलि चाहता हो। खरहा सिंह का अंश चाहता हो। अकारण क्रोधी कुशल चाहता हो। शिवद्रोही सम्पदा चाहता हो।

व्याख्या : यद्यपि गरुड़ और काग दोनों पक्षी हैं। पर गरुड़ की बलि काग को नहीं मिल सकती। बलि देनेवाला ही न चाहेगा कि काग को मिले। चाहे गरुड़ को भले ही उस बलि की परवाह न हो। इसी भाँति खरहा : खरगोश और सिंह दोनों चतुष्पाद हैं। पर खरहा का साहस नहीं कि : मत्त नाग तम पुंज विदारी : सिंह का भोग छू भी सके। सिंह के मारे शिकार को कोई पशु पक्षी स्पर्श नहीं कर

सकता। अतः न तो जनक छीनने देंगे और न राम के सामने तुम्हारा दिन है कि सीता को स्पर्श कर सको। यह लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ का उत्तर है।

क्रोधी भी लड़ पड़ता है और वीर भी लड़ता है। वीर के दोनों लोक बनते हैं। क्रोधी के बिगड़ जाते हैं। इसलिए कहते हैं कि क्रोधी का कुशल नहीं होता। किं पुनः निष्कारण क्रोध करनेवाले का कुशल तो हो नहीं सकता। जो बात तुम्हारी की हुई न हो सकी उसे उन्होंने कर दिखाया। इसमें उनका अपराध क्या है? निष्कारण क्रोध करते हो। इसमें तुम्हारी कुशल नहीं है। उन्होंने ब्रह्मकुल रूपी शङ्कर की आज्ञा लेकर तब धनुष तोड़ा है। जिसपर शिवजी की कृपा होगी वही धनुष तोड़ सकता है। उनपर शिवजी की कृपा है इससे उन्हें सीता तथा त्रैलोक्य जयलक्ष्मी : सब सम्पदा प्राप्त हुई। तुमलोग शिवद्रोही हो। बिना शिव की आज्ञा धनुष तोड़ने चले। तुम्हें त्रैलोक्य जयलक्ष्मी जनकनन्दिनी नहीं प्राप्त हो सकती। यह धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ का उत्तर है।

लोभी लोलुप कीरति चहइ। अकलंकता कि कामी लहई॥
हरि पद विमुख परम गति चाहा। तस तुम्हार लालचु नरनाहा॥२॥

अर्थ : लोभी लालची कीर्ति चाहता हो। निष्कलङ्कता क्या कामी को प्राप्त होती है। हरिपद विमुख परमगति चाहे। हे राजाओ! वैसा ही तुम्हारा लोभ है।

व्याख्या : गुनसागर नर जोऊ। अल्पलोभ भल कहै न कोऊ। थोड़े से लोभ होने से भी कीर्ति नष्ट हो जाती है। सो तुम्हें इतना बड़ा लोभ है कि जिस धनुष को तुम दसहजार मिलकर न हिला सके। उसके तोड़नेवाले के पुरस्कार की इच्छा रखते हो। तुम लोभ से लोलुप हो गये। तुम्हें सीतारूपी निर्मल कीर्ति कैसे मिलेगी? तुम कामवश हो। प्राण देकर कलङ्क धोना चाहते हो सो भी होना नहीं है। कामी को अवश्य कलङ्क लगेगा। तोड़े धनुष चाँउ नहि सरई। जीवत हमहिं कुँवरि को वरई का उत्तर है।

भगवती ही परम गतिरूपा है। ये दोनों भाई भक्ति से जीते जाते हैं। यथा : ते दोउ बंधु प्रेम जनु जोते। गुरपद कमल पलोटत प्रीते। भक्ति से इन्हें जीतना ही परम गति की प्राप्ति है। सो इन्हें तुम विमुख होकर जीतना चाहते हो। यह होना नहीं है। यथा : राम विरोध कुसल जस होई। सो सब तुमहि सुनाइहि सोई। यह जौ विदेह कछु करइ सहाई। जीतौं समर सहित दोउ भाई का उत्तर है।

कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गईं जहँ रानी॥
राम [1]सुभाय चले गुरु पांहीं। सिय सनेहु वरनत मन मांहीं॥३॥

अर्थ : कोलाहल सुनकर सीताजी डर गईं। सखियाँ उन्हें जहाँ रानी थीं वहाँ ले गईं। रामजी सीताजी के स्नेह का मन ही मन वर्णन करते हुए स्वाभाविक गति से चले।

---

[1] यहाँ स्वभावोक्ति है।

व्याख्या : राजाओं के वादविवाद से वहाँ बड़ा कोलाहल मचा। लेहु छड़ाई सीय कह कोऊ। इत्यादि सुनकर सीताजी डरीं। सखियाँ बड़ी चतुर हैं। देखा कि सब चोट सीताजी पर है तुरन्त उन्हें लेकर जहाँ रानियाँ थीं वहाँ चली गईं। स्वयंवर का सब कृत्य समाप्त हो गया। गुरुजी ने कहा था : उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा। उनकी आज्ञानुसार धनुष भी तोड़ा। जयमाल स्वीकार करके जनकजी के परिताप को भी मिटाया। दोनों आज्ञापालन के बाद फिर गुरुजी के यहाँ जैसे आये थे वैसे ही मत्तमञ्जुकुंजर की गति से चले। इस कोलाहल की ओर उनका ध्यान भी नहीं है। यथा : कै निंदौ कै आदरौ सिंहहि स्वान सियार। हर्ष विषाद न केहरिहिं कुंजर गंजनिहार। वे मन ही मन सीताजी के स्नेह का वर्णन करते चले। गौरीजी कह चुकी हैं : करुणानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो उसी का साफल्य है।

रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥
भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लखनु राम डर बोलि न सकहीं॥४॥

अर्थ : रानियों के साथ सीताजी सोच के वश हो गईं। अब ब्रह्मा न जाने क्या करना चाहते हैं। लक्ष्मणजी राजाओं के वचनों को सुनकर इधर उधर देखते हैं पर रामजी के डर से बोल नहीं सकते।

व्याख्या : यह जानकर कि राजा लोग बिगड़ गये हैं। भारी युद्ध हुआ ही चाहता है परिणाम क्या होगा। रानियाँ चिन्ता में पड़ गईं और सीताजी भी चिन्तित हो गईं। क्योंकि सब रामजी पर ही क्रुद्ध हैं और युद्धसिद्धिहि चञ्चला। युद्ध का परिणाम कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी भाँति भगवान् भगवान् करके धनुष भी टूटा तो यह उपद्रव खड़ा हो गया। भविष्य विधि के हाथ है : कर्म शुभाशुभ देइ विधाता। इधर लक्ष्मणजी का क्या हाल है कि एक ओर से आवाज आई : लेहु छुड़ाइ सीय तो उधर देखा। तबतक दूसरी ओर से शब्द हुआ : धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ तो उधर घूमे। तबतक तीसरी ओर से आवाज आई : जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई। इस भाँति विरोधियों के शब्द इधर उधर से आ रहे हैं। लक्ष्मणजी के देखते ही चुप हो जाते हैं। पर दूसरी ओर से आवाज उठती है। ऐसे बोलनेवालों का वध दण्ड है। पर बोल नहीं सकते क्योंकि प्रभु का डर है। उनका रुख देखते हैं तो उन्हें परवाह ही नहीं।

दो. अरुन नयन भृकुटि कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहु मत्त गजगन निरखि, सिंहकिसोरहि चोप॥२६७॥

अर्थ : लाल नेत्र और टेढ़ी भृकुटी से राजाओं को क्रोध से देखते हैं। जैसे मत्त हाथियों के झुण्ड को देखकर सिंह के बच्चे को चोप हो।

व्याख्या : रौद्ररस का अनुभाव कहते हैं। अरुण नयन और भृकुटी कुटिल है। राजाओं को क्रोध से देखते हैं। विभाव पहिले कह चुके हैं : भूप वचन सुनि इतउत

तकहीं। मत्तगजयूथ सिंह के चोप की वस्तु है। परन्तु सिंह गम्भीर है। उसे अपने बल पर इतना विश्वास है कि मत्तगजयूथ को कुछ गिनता नहीं : ठवनि युवा मृगराज लजाये। सिंहकिशोर को भी चोप होता है। पर वह उतना गम्भीर नहीं है। तुरन्त पैतरा बदल कर खड़ा हो जाता है और अरुण नयन भृकुटि कुटिल करके मत्तगजयूथ की ओर देखता है। वैसी ही शोभा आज लक्ष्मणजी की राजाओं के सकोप दृष्टि से देखने में हो रही है। राजाओं को मत्तगज कहा। आकार में विशाल हैं। सिंहकिशोर आकार में स्वल्प है। पर मत्तगजयूथ को कुछ गिनता नहीं। उनपर चोट करने की बड़ी अभिलाषा है।

परशुराम आगमन प्रसङ्ग

खरभरु देखि विकल पुर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥
तेहि[1] अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आए भृगुपति कमल पतंगा ॥१॥

अर्थ : गड़बड़ देखकर पुर की नारियाँ विकल हो गईं। सब मिलकर राजाओं को गालियाँ देती हैं। उसी अवसर पर शिवजी के धनुष का टूटना सुनकर भृगुकुल कमल के सूर्य परशुरामजी आये।

व्याख्या : उठि-उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे एक ओर। अस बुधि तो विधि मुह मसिलाई कहनेवाले दूसरी ओर। लक्ष्मणजी अरुन नयन भृकुटी कुटिल। चितवत नृपन्ह सकोप तीसरी ओर। रंगभूमि में तमाम गड़बड़ मच गयी। सखियाँ जल्दी से सीताजी को रानियों के पास ले गईं। पुरवासी विकल हो उठे कि भारी अनिष्ट हुआ चाहता है। इस अनिष्ट के करनेवाले राजा लोग ठहरे। अतः सब नारियाँ मिलकर उन्हीं को गाली देने लगीं। राजाओं के पीछे पुरवासियों के बैठने के ऊँचे-ऊँचे मञ्च हैं और उनके पीछे धवलधाम में नारियों के बैठने की व्यवस्था है। अतः वे एक एक बात देख रही हैं। राजाओं का अन्याय देखकर विकल हैं। अतः उन्हें बुरा भला कह रही हैं कि इन अभागों का किया कुछ न हुआ। अब वे निर्लज्ज धनुष टूटने पर किस मुँह से लड़ने को कह रहे हैं। गड़बड़ी में जो कुछ त्रुटि रही सो इस गालीप्रदान से पूरी हो गई।

इसी गोलमाल के बीच में धनुषभङ्ग के शब्द से क्रुद्ध हुए भृगुकुलकमल के सूर्य परशुरामजी आये। यथा : यद्बभंज जनकात्मजाकृते राघवः पशुपतेर्महद्धनुः। तद्धनुर्गुणरवेण रोषितस्त्वाजगाम जमदग्निजो मुनिः। ह. ना.। जो समाज कि

---

[1] १. यहाँ से २८५ दोहे तक अर्थात् १८ दोहों में परशुरामप्रसङ्ग है। यह भगवद्गीता का सार है। अठारह अध्याय गीता में भगवान् ने अर्जुन को स्वधर्म युद्ध से विचलित होकर परधर्म भिक्षावृत्ति ग्रहण करने से रोककर स्वधर्म पर आरूढ़ किया। उसी भाँति इन अठारह दोहों में परशुरामजी को परधर्म युद्ध से विरत करके स्वधर्म तपस्या पर आरूढ़ किया। यथा : कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।

शंकर चाप जहाज पर चढ़ा था वह उसके टूटने से डूब गया। केवल भृगुपति केर गर्व गरुआई के डूबने का वर्णन शेष था। यहाँ उसीका वर्णन कर रहे हैं। परशुरामजी को गर्व था कि शिवजी के अस्त्रशस्त्र के धारण करने का सामर्थ्य एक मात्र मुझ में ही है। गणेशपुराण में परशुरामजी द्वारा शिवजी के सम्पूर्ण अस्त्रशस्त्र के धारण की कथा भी है। सो शङ्करजी के धनुष को तोड़नेवाला कौन पैदा हुआ ? मानभंग का बड़ा दुःख होता है। अतः युद्ध करने आये। यथा : काल कराल नृपालन के धनु भंग सुने फरसा लिये धाये। भृगु ने स्वयं विष्णु भगवान् की छाती में लात मारा था। ये उस कुल के सूर्य हैं। अपमान करने में तनिक भी आगापीछा न करेंगे। पतंग कहकर उनका आकाशमार्ग से आना तथा तेजोऽतिशयता द्योतित की। दो पतंग एकत्रित हुए एक उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग और दूसरे भृगुकुल कमल पतंगा। भाव यह कि इस रंगभूमि में दो दो अवतारों का समागम हुआ। यथा : क्षत्रक्षयं कुर्वते। पौलस्त्यं जयते : परशुरामका और श्रीराम का।

देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने ॥
गौर सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥२॥

अर्थ : देखकर सब राजा सङ्कुचित हो गये। जैसे बाज पक्षी के झपटने पर लवा छिप जाते हैं। गोरी देह में विभूति की भली शोभा थी। चौड़े ललाट पर त्रिपुण्ड शोभायमान था।

व्याख्या : जो जिरह बखतार पहन-पहन कर गाल बजा रहे थे। वे परशुरामजी के देखते ही पानी हो गये। जबान बन्द हो गई। ऐसे सिकुड़ गये जैसे बाज के झपटने पर लवा छिप जाता है। जो जहाँ थे वहीं छिपने लगे। लवा ढेले के आड़ में ऐसा छिप जाता है कि मालूम नहीं पड़ता। इसी भाँति शान्त राजाओं में जा छिपे। कहीं पूछें न कि यहाँ कौन कौन उपद्रव मचाता था ? बाज झपट से आकाश मार्ग द्वारा सवेग उतरना कहा। लवा मन से भी बाज से युद्ध की बात नहीं सोच सकता। बाज की ओर देख भी नहीं सकता। राजा डरे कि हम सब लोगों को एकत्रित पाकर बाईसवीं बार निःक्षत्र करने आये हैं।

अब परशुरामजी का ध्यान कहते हैं : गौर वर्ण का शरीर है। गोरे शरीर पर विभूति खूब खिलती है। परम शैव हैं। सर्वाङ्ग में विभूति धारण कर रक्खी है। दूसरे रुद्र ही मालूम पड़ रहे हैं। इसी भाँति उच्च ललाट की शोभा त्रिपुण्ड से है। शिवजी परम वैष्णव हैं। अतः वे कालरूप विष्णु के प्रतीक को मस्तक पर धारण करते हैं। भूत भविष्य वर्त्तमान का द्योतक त्रिपुण्ड है। इसी भाँति विष्णु भी परम शैव हैं। वे शिवजी के प्रतीक त्रिशूल को ऊर्ध्वपुण्ड के रूप से धारण करते हैं। परशुरामजी साक्षात् शङ्कर भगवान् के शिष्य हैं। अतः त्रिपुण्ड धारण किये हैं।

सीस जटा ससिबदन सोहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा ॥
भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥३॥

अर्थ : सिर पर जटा थी। चन्द्रमा का सा मुख शोभित था। क्रोध के वश कुछ लालिमा आगई थी। भौंहें टेढ़ी और आँख क्रोध से लाल हो रही थीं। स्वभाव से देखते थे फिर भी यही मालूम होता था कि क्रोध कर रहे हैं।

व्याख्या : शीश जटा से तपस्वी ब्रह्मचारी मालूम होते थे। मुख की शोभा चन्द्रमा की सी थी। विशेषता यह थी कि क्रोध के कारण कुछ लालिमा आगई थी। भौंहें टेढ़ी हो रही थीं। क्रोध से आँखें चढ़ी हुई थीं। साधारण रीति से देखते थे तो भी जान पड़ता था कि क्रोध कर रहे हैं। भाव यह कि शोभा बड़ी ब्राह्म तेज बड़ा। फिर भी क्रोध के लक्षण प्रकट थे।

वृषभ कंध उर बाहु विसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला ॥
कटि मुनिवसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे ॥४॥

अर्थ : बैल का सा कन्धा, छाती और भुजाएँ विशाल थीं। सुन्दर यज्ञोपवीत रुद्राक्ष की माला मृगछाला धारण किये कटि में वल्कलवसन पहने दो तरकस बाँधे हाथ में धनुष लिये और कन्धे पर परशु धारण किये थे।

व्याख्या : अङ्ग प्रत्यङ्ग का संघठन वीरों का सा था। बैल का सा पुष्ट कन्धा था। वक्षःस्थल और भुजाएँ विशाल थीं। गले में सुन्दर यज्ञोपवीत और रुद्राक्ष की माला शोभायमान थी। मृगछाला लिये हुए थे। वल्कलवसन पहने हुए थे। यह सभी चिह्न तपस्वी ब्रह्मचारी के थे फिर भी युद्ध के लिए सुसज्जित होकर आये थे। दूर से प्रहार करने के लिए धनुष बाण और तरकस था। शत्रु के निकट आने पर प्रहार करने के लिए परशु भी धारण किये हुए थे।

दो. सांत बेष करनी कठिन, वरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितन जनु वीर रसु, आयउ जहँ सब भूप ॥२६८॥

अर्थ : वेष शान्त परन्तु करणी कठिन थी। स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। मानो वीर रस मुनि का शरीर धारण करके जहाँ राजा लोग थे वहाँ चला आया।

व्याख्या : वेष : पहिरावा तो शान्त था जैसा मुनियों का होना चाहिए वैसा था। परन्तु करणी कठिन थी। अचिन्त्य कार्य करनेवाली थी। यथा :

जिसने बार इक्रीस लहू की नदी बहाकर।
नृपति मांसमस्तिष्कपङ्कमय कूल बनाकर ॥
किया तहाँ असनान दिया पितरों को पानी।
जिसके कठिन कुठार धार की विदित कहानी ॥
बाल वृद्ध वनिता निधन में भी जो निर्दय महा।
कन्ध कूट नृप यूथ के कारन में अति पटु रहा ॥ प्र. चं।

इसलिए कहते हैं कि स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें मुनि के चिह्न भी हैं। वीर के चिह्न भी हैं। अतः अभूत उपमा देते हैं। धरि मुनि

तन जनु वीर रस आएउ जहँ सब भूप : कि इन्हीं में से किसी ने धनुष तोड़ा होगा। रामजी श्रृंगार में वीर रस की भाँति आये थे। यथा : देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहु वीर रस धरे सरीरा। परशुरामजी मुनि वेष में वीर रस की भाँति आये।

रामजी :	परशुरामजी :
सरदचन्द निंदक मुख नीके।	सीस जटा ससि बदन सुहावा।
चितवन चारु मारमद हरनी।	सहजहु चितवत मनहु रिसाते।
वृषभ कंध केहरि ठवनि।	वृषभ कंध उर बाहु विसाला।
भाल विसाल तिलक झलकाहीं।	भाल विसाल त्रिपुंड विराजा।
कटि तूनीर पीत पट बाँधे।	कटि मुनि वसन तून दुइ बाँधे।
करसर धनुष बाम वर काँधे।	धनु सरकर कुठार कल काँधे।
प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे।	देखि महीप सकल सकुचाने।

प्रादेश मात्र दिखलाया गया। दोनों स्वरूपों का यहाँ पूरा मिलान करना चाहिए।

देखत भृगुपति बेषु कराला। उठे सकल भय बिकल भुआला॥
पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥१॥

अर्थ : भृगुपति का कराल वेष देखकर डर से विकल होकर राजा लोग उठे। पिता के समेत अपना नाम कह कहकर सब दण्डवत् प्रणाम करने लगे।

व्याख्या : पहिले खरभर देखकर पुर नर नारी विकल हुए थे। गोलमाल मचानेवाले ये राजा ही थे। सो बाज झपट जिमि लवा लुकाने। लवा की भाँति छिप गये। इसलिए परशुरामजी को दूर से देखते ही सब गोलमाल शान्त हो गया। दूर से तो शान्त वेष में देखा था पर निकट आने पर कराल वेष प्रकट हुआ। भृकुटी कुटिल नयन रिसिराते। सहजहुँ चितवत मनहु रिसाते। कटि मुनि वसन तून दुइ बाँधे। कर सर धनु कुठार कल काँधे। तब राजा लोग डर से विकल हुए। जहाँ छिपे थे वहाँ से उठे। क्योंकि परशुरामजी से सभी राजा परिचित थे।

शास्त्रोक्त विधि से दण्डवत् प्रणाम प्रारम्भ हुआ। विधि यह है कि पिता के सहित अपना नाम लेकर बड़ों को प्रणाम करे। सो : अमुकस्य पुत्रोऽमुकवर्माहम् भो महर्षे त्वामभिवादये। ऐसा कहकर साष्टांग प्रणाम करने लगे। स्वयं विश्वामित्रजी के आने पर न ये सब उठे थे और न प्रणाम किया था। अतः यह प्रणाम श्रद्धातिरेक से नहीं हो रहा है मारे भय के हो रहा है। कहीं बे कायदे प्रणाम करने पर अप्रसन्न न हो जाँय इसलिए शास्त्र की विधि का पालन किया जा रहा है।

जेहि सुभाय चितवहिं हितु जानी। सो जानै जनु आइ खोटानी॥
जनक बहोरि आइ सिर नावा। सीय बोलाइ प्रनाम करावा॥२॥

अर्थ : जिसे अच्छे भाव से हित जानकर देखते हैं वह समझता है कि मेरी :

आयु क्षीण हुई। फिर जनक ने आकर सिर नवाया और सीताजी को बुलाकर प्रणाम करवाया।

व्याख्या : इतनी श्रद्धा से दण्डवत् प्रणाम हो रहा है पर परशुरामजी किसी की ओर आँख उठाकर देखते भी नहीं। आशीर्वाद न देने का एक कारण भी है कि अभी यह पता नहीं है कि धनुष किसने तोड़ा है। यदि धोखे से आशीर्वाद दे देंगे तो धनुषभंग के अपराध पर उसका वध कैसे करेंगे? यथा : सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा। सहस बाहु सम सो रिपु मोरा। राजा इतने भयभीत हैं कि प्रणाम करते चले जाते हैं। यदि किसी के पिता के नाम सुनने से या स्वयं उसके नाम सुनने से स्मरण आगया कि यह कुल तो ब्रह्मण्य है तो उसपर इतनी कृपा हुई कि उसकी ओर स्वाभाविक दृष्टि से देखा पर उसने समझा कि मैं मरा।

जनकजी उस जगह नहीं रहे। जहाँ थे वहाँ से आकर सब राजाओं के दण्डवत् के बाद सिर नवाया। न दण्डवत् किया न पिता का नाम लेकर अपने नाम का उच्चारण किया। जनकजी से परिचय विशेष है। इनका आदर भी मुनिसमाज में बहुत अधिक है। इनपर सामान्य नियम लागू नहीं है। पर इन्हें भी आशीर्वाद नहीं दिया। जनकजी बुद्धिमान् हैं। सीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया। जगदम्बा के व्यक्तित्व का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्हें आशीर्वाद दिया सौभाग्यवती भव।

आसिष दीन्हि सखी हरषानीं। निज समाज लै गईं सयानीं॥
विस्वामित्रु मिले पुनि आई। पद सरोज मेले दोउ भाई॥२॥

अर्थ : आशीर्वाद दिया। सखियाँ हर्षित हुईं। बड़ी चतुर थीं अपने समाज में लिवा ले गईं। तब विश्वामित्रजी आकर मिले और चरणकमलों में दोनों भाइयों को डाल दिया।

व्याख्या : सखी चतुर हैं। जानती हैं कि यहाँ आशीर्वाद बहुत सस्ता नहीं है। जो आशीर्वाद दिया उसे कार्य में परिणत करना चाहेंगे। कम से कम स्वयं तो ऐसा आचरण नहीं करेंगे। जिसमें उनका आशीर्वाद मिथ्या पड़ जाय। जब समराङ्गण में आने पर रथ से उतरकर कार्त्तवीर्यार्जुन ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया तो इन महात्मा ने यही आशीर्वाद दिया कि तुम्हें उत्तम लोक की प्राप्ति हो। अतः इनके आशीर्वाद का मूल्य है। अब इनसे रामजी को भय नहीं है क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती भव का आशीर्वाद दे चुके हैं। अतः सखियाँ हर्षित हुईं। अपने समाज में अर्थात् रानियों के पास ले गईं। राजसमाज अपना समाज नहीं है।

तत्पश्चात् विश्वामित्र जी आकर मिले। सम्बन्धी हैं इसलिए मिले। सबसे ऊँचे मञ्च पर बैठे थे उसपर से उतर कर आये। दोनों भाइयों को साथ लिवाते आये और उनको उसी भाँति मुनिचरणों में डाल दिया जिस भाँति महाराज दशरथ ने उनके चरणों में डाल दिया था। यथा : मुनि चरनन मेले सुत चारी। जनकजी ने अपनी पुत्री के लिए आशीर्वाद ले लिया तो विश्वामित्रजी ने अपने शिष्यों को आशीर्वादार्थं उन्हें उनके चरणों में डाला।

राम लषन दशरथ के ढोटा । दीन्हि असीस देखि भल जोटा ॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन । रूप अपार मार मद मोचन ॥४॥

अर्थ : राम लक्ष्मण दशरथ के बेटे हैं । अच्छी जोड़ी देखकर आशीर्वाद दिया । रामजी को देखते ही रह गये । आँखें थक गईं । रूप का पारावार नहीं था । कामदेव के अभिमान को दूर करनेवाला रूप था ।

व्याख्या : जब मुनि ने कहा कि ये राम लक्ष्मण दशरथ के बेटे हैं तब आँख उठाकर देखा कि बड़ी अच्छी जोड़ी है । आशीर्वाद दिया : चिरञ्जीव । इतने समाज में तीनों को आशीर्वाद मिला । सीताजी को, रामजी को और लक्ष्मणजी को । इनपर धनुषभंग की आशङ्का भी नहीं हो सकती थी । इन सुकुमार मधुर मूर्तियों की शक्ति के बाहर की बात समझी । दोनों भाइयों में भी दृष्टि पीछे से रामजी पर स्थिर हो गई । ऐसा उदाहरण सभी जगह मिलेगा । रूप के भार के सहन में असमर्थ होकर आँखें थक गईं । रूप का पारावार ही नहीं मिलता था । ऐसा रूप था कि देखकर काम को अपनी सुन्दरता का अभिमान छूट जाय । थोड़ी देर के लिए परशुरामजी क्रोध भूल गये ।

दो. बहुरि विलोकि विदेह सन, कहहु काह अति भीर ।
पूँछत जानि अजान जिमि, व्यापेउ कोपु सरीर ॥२६९॥

अर्थ : फिर देखकर विदेह से कहा कि कहो इतनी भीड़ क्यों है ? जानकर भी अनजान की भाँति पूछते हैं । उनके शरीर में क्रोध व्याप्त हो गया ।

व्याख्या : फिर राजा जनक को देखा । उन्हीं के मुख से धनुषभङ्ग कहलाना चाहते हैं और उन्हीं से धनुषभङ्ग करनेवाले का नाम जानना चाहते हैं । अतः पूछते हैं इतनी भीड़ क्यों है ? भीड़ के लिए प्रश्न राजा के यहाँ नहीं बनता । क्योंकि वहाँ सदा ही भीड़ बनी रहती है । परन्तु अति अधिक भीड़ : जिसमें द्वीप द्वीप के राजा इकट्ठे हों के लिए कारण विशेष होना चाहिए । जान बूझकर अनजान की भाँति पूछने का यही कारण है । रामजी के दर्शन से क्रोध दब गया या वह प्रश्न करने में उमड़कर तमाम शरीर में व्याप्त हो गया ।

समाचार कहि जनक सुनाए । जेहि कारन महीप सब आए ॥
सुनत वचन फिरि अनत निहारे । देखे चापखण्ड महि डारे ॥१॥

अर्थ : जिस कारण सब राजा लोग आये थे वह सब समाचार जनकजी ने कह सुनाया । वचन सुनते ही घूमकर दूसरी ओर देखा तो धनुष के दोनों खण्डों को पृथ्वी पर पड़ा हुआ पाया ।

व्याख्या : नृप लखि कुँअरि सयानि वोलि गुरुपरिजन । करि मत रचेउ स्वयंवर सिवधनु धरि पन : जा. मं. । यही समाचार था । सो जनकजी ने सुना दिया कि पुत्री की विवाह की चिन्ता से धनुषयज्ञ रचा गया है । यहाँ विदेहन

कहकर जनक कहने का यह आशय है कि जनक का अर्थ पिता है। पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिए उद्योग करता ही है। इस भाँति कहहु कहा अति भीर का उत्तर दिया कि राजाओं के एकत्र होने का यह कारण है। कुछ आपके विरोध में परामर्श के लिए नहीं एकत्रित हुए हैं।

परशुरामजी कञ्चनमञ्च के सामने आ खड़े हुए थे। यथा : आये जहँ सब भूप। इसलिए वेदी पीछे पड़ गई थी। जनकजी का वचन सुनकर जब घूमकर वेदी की ओर देखा। यथा : अति विस्तार चारु गच ढारी। विमल वेदिका रुचिर सँवारी। तो धनुष के दोनों खण्डों को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखा। पहिले धनुष लोहे की पेटिका में रक्खा था। यथा : तामादाय समञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः। बा०। गुरुका धनुष सब प्रकार पूजनीय था। उसे टूटा हुआ और उसके टुकड़ों को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखना, रौद्ररस के उद्दीपन के लिए यथेष्ट कारण हुआ।

अति रिस बोले वचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
वेगि देखाउ मूढ़ न त' आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू॥२॥

अर्थ : अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले : रे जड़ जनक! बतला धनुष किसने तोड़ा? जिसने तोड़ा हो उसे जल्दी दिखला नहीं तो जहाँ तक तेरा राज्य पाऊँगा उतनी पृथ्वी उलट दूँगा।

व्याख्या : धनुष के तोड़ने पर 'रिस' और टुकड़ों को पृथ्वी पर फेंकने पर अतिरिस है। अतिरिस में कठोर वचन बोलना स्वाभाविक है। मुनियों के ज्ञानदाता जनक को मूढ़ कहना कठोर वचन है। पुरवासी स्नेहवश दोष लगाते थे। यथा : हरु विधि वेगि जनक जड़ताई। ये क्रोधवश दोष लगाते हैं। जनक जी को जड़ कह रहे हैं। शिवधनु को प्रण में रखना जड़ता है। अब अपराधी को जानना चाहते हैं। अतः पूछते हैं धनुष कै तोरा?

उत्तर देने में देर होते देखकर मूढ़ कहते हैं। माया में फँसकर जामाता को नहीं बतलाना चाहता। अतः कहते हैं जल्दी बतला। प्रजापालक राजा है : प्रजापालन से ही इसका नाम जनक पड़ा है। प्रजाओं के नाश के भय से बतला देगा। नहीं बतलाने से वह भी नहीं बच सकता जिसको नहीं बतलाना चाहता है। वह धनुष तोड़नेवाला तेरे राज्य के भीतर ही होगा। अतः जहाँ तक तेरा राज्य मिलेगा वहाँ तक की पृथ्वी उलट दूँगा। यह घोरधार भृगुनाथ रिसानी है। राज्य उलटने को तैयार हैं।

अति डर उतरु देत नृपु नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥
सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥३॥

अर्थ : अत्यन्त डर से राजा उत्तर नहीं देते। कुटिल राजा मनही मन प्रसन्न

---

१. व्याज निन्दा अलङ्कार है।

हुए। देवता, मुनि, नाग, नगर के स्त्री पुरुष, सबके सब अत्यन्त त्रस्त होकर सोच कर रहे हैं।

व्याख्या : परशुरामजी अत्यन्त क्रोध से बोले। अतः अत्यन्त डर से राजा उत्तर नहीं देते। उत्तर देने में अनर्थं है। न देने से क्रोध उनके सिर बीते सो स्वीकार है। जामाता की किसी भाँति रक्षा हो। उधर कुटिल भूप मनही मन प्रसन्न हुए कि बड़ा काम हुआ जो हमसे धनुष नहीं टूटा। अब हुआ जनक का सत्यानाश। ये छोकड़े बड़े वीर बने फिरते थे। ये भारी भयानक हैं। संसार से उठ जायँ तभी ठीक हो। हर्ष व्यक्त करने से कहीं हमारे ही सिर न बीत जाय। अतः मनही मन प्रसन्न होते हैं। बाहर नहीं जनाते। भयभीत बने खड़े हैं।

सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा। ये लोग कल्याण चाहनेवाले थे। सबके सब रावण से दुःखी थे। यथा : किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीं के पंथहिं लागा। रामजी के ही हाथ से रावणवध होनेवाला था। सो रामजी पर ही भारी विपत्ति आते देखकर सब त्रस्त होकर चिन्ता करते हैं। परशुरामजी पर किसी का बल नहीं चल सकता था। इनके क्रोध से उन लोगों को रामजी के प्रति भी शङ्का हो गई। राजा जनक को भी काल के गाल में देख रहे हैं।

मन पछिताति सीय महतारी। विधि अब सँवरी बात बिगारी ॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अर्ध निमेष कलप सम बीता ॥४॥

अर्थ : सीता की माता मनमें पछता रही हैं कि ब्रह्मा ने तो अब सँवारी हुई बात ही बिगाड़ दी। भृगुपति का स्वभाव सुनकर सीताजी को तो आधा पलक कल्प के समान बीतने लगा।

व्याख्या : जनकजी पर संकट देखकर सीताजी की माता पछताती हैं कि धनुष टूटने से मेरी बात बन गई थी। सो सब बनी बनाई बात बिगड़ना चाहती है। महाराज परशुरामजी के प्रश्न का उत्तर न देकर उनके क्रोध के वेग को अपने ऊपर ले रहे हैं। इनके क्रोध से न महाराज की रक्षा है और न रामजी की। पहिले तो कन्या पर संकट था। धनुष नहीं टूटता था। धनुष टूटने से वह संकट टला। तब पुत्री और पति दोनों पर संकट आगया। सब बात ही बिगड़ गई। यदि महाराज धनुष तोड़नेवाले का नाम नहीं बतलाना चाहते तो इतने आदमियों में कोई न कोई बतला ही देगा और उसीको खोजते हुए ये क्रुद्ध होकर आये हैं। इनका स्वभाव बड़ा निर्दय है। जिसपर क्रोध करते हैं उनके वंश में किसी को नहीं छोड़ते। सब बात ब्रह्मा ने बिगाड़ी। नहीं तो इस समय इनके आने की कौन सी बात थी। कोई अनर्थ हुआ चाहता है।

सीताजी ने जब परशुरामजी का स्वभाव सुना तो इतने कष्ट में पड़ीं कि उनको आधा निमेष कल्प के समान बीतने लगा। पहिले लवनिमेष युग सय सम जाहीं।

फिर रामजी के धनुष के पास आने पर ऐसी विकलता हुई कि निमिष विहात कल्प सम तेही। इस समय उससे भी दूनी विकलता है। इसलिए कहते हैं कि अर्ध निमेष कल्प सम बीता।

दो. सभय विलोके लोग सब, जानि जानकी भीर।
हृदय न हरषु विषादु कछु, बोले श्रीरघुवीर ॥२७०॥

अर्थ : सब लोगों को भयभीत देखकर और जानकी पर कष्ट जानकर श्रीरघुवीर बोले। न उनके मनमें कोई हर्ष था न विषाद था।

व्याख्या : रामजी ने देखा कि सब जनकपुरवासी तथा सुर मुनि नाग सब भयभीत हैं। जानकीजी को जब एक निमिष कल्प सम हुआ तब धनुष को तोड़ डाला। अब देखते हैं तो आधा निमिष कल्प के समान बीत रहा है तो बोले। भाव यह कि महाराज यदि नहीं बतलाते तो मैं स्वयं अपने को उपस्थित करता हूँ। मनमें हर्ष विषाद नहीं कहने का यह भाव है कि रामजी का मन सदा निर्विकार है। धनुष भङ्ग का हर्ष नहीं है और न परशुराम के क्रोध पर विषाद है। प्रसन्नता या न गताभिषेकतः तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा। इसीलिए श्री ग्रन्थकार ने रघुवीर पद दिया। उत्तर देने में न हिचकने का स्वभाव रघुवंश मात्र का है। यथा : वंस स्वभाव उत्तर तेहि दीन्हा। घाट सुबद्ध राम वर वानी।

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दासु तुम्हारा॥
आयसु काह कहिअ किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥१॥

अर्थ : हे नाथ! शिवजी का धनुष तोड़नेवाला तुम्हारा कोई एक दास होगा। क्या आज्ञा है? मुझसे क्यों नहीं कहा जाता? सुनकर क्रोधी मुनि चिढ़कर बोले।

व्याख्या : वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। अतः नाथ सम्बोधन करते हैं। प्रश्न है धनुष कै तोरा? उत्तर देते हैं : कोउ एक दास तुम्हारा। गर्व गरुआई सँभालते हैं। आपके दासों को छोड़कर और किसका सामर्थ्य है जो धनुष तोड़ सके। आप किसी प्रतिस्पर्धी की शङ्का न करें। विनीत भाव से स्पष्ट कह रहे हैं कि मैंने तोडा है। पर मैं आपका दास हूँ प्रतिस्पर्धी नहीं हूँ। धनुष तोड़नेवाले को पूछने से अभिप्राय यही है कि उसके लिए कोई आज्ञा होनेवाली है। सो वह आज्ञा मुझे दीजिये। अब बात और भी स्पष्ट कर दी कि मैंने तोड़ा और तोड़नेवाले के लिए जो कुछ कहना हो सो मुझसे कहिये। क्रोधी मनुष्य शीघ्र बात नहीं समझता। इन्होंने भी नहीं समझी। इतना ही समझा कि यह तोड़नेवाले की सिपारिश करता है। उसे दास बतला रहा है। यहाँ ध्वनि यह थी कि अब आपको कुछ करना नहीं है। आप आनन्द से तपस्या करिये। जिन कामों के लिए आपका अवतार है वह सब मैं अपने ऊपर

लिए लेता हूँ। आप अब केवल आज्ञा देते जाइये। मैं सब करूँगा। परम बुद्धिमान् होने पर भी क्रोध के कारण ध्वनि नहीं समझ सके। उलटे चिढ़ उठे और बोले।

सेवकु सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिअ लराई ॥
सुनहु राम जेहिं सिव धनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ॥२॥

अर्थ : सेवक वही है जो सेवक का काम करे। शत्रु का काम करके तो लड़ाई करनी चाहिए। सुनो राम जिसने शिवधनु तोड़ा है वह सहस्रबाहु की भाँति मेरा शत्रु है।

व्याख्या : आयसु काह कहहु किन मोही का उत्तर परशुरामजी देते हैं कि जो सेवा करता है उसे आज्ञा दी जाती है। और जो इष्ट का नाश करे वही तो शत्रु है। उसने लड़ाई ठानकर इष्ट नाश किया है। उससे लड़ाई ही करनी चाहिए। शिवधनुभङ्ग हमारे लिए बड़ा भारी अनिष्ट है। जिसने उसे तोड़ा वह पितृहन्ता के समान शत्रु है। उससे बड़ा हमारा शत्रु कोई हो नहीं सकता। उसे हम आज्ञा नहीं दे सकते। उसका हम वध करेंगे।

सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहैं सब राजा ॥
सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहि अपमाने ॥३॥

अर्थ : उसे समाज से अलग करके खड़ा करो। नहीं तो सब राजे मारे जायँगे। मुनि का वचन सुनकर लक्ष्मणजी मुसकराये और परशुराम का अपमान करते हुए बोले।

व्याख्या : यदि आज्ञा ही चाहते हो तो यही आज्ञा है कि मेरे उस शत्रु को राजसमाज से अलग कर दो। मैं उससे युद्ध करूँ और यदि वह अलग न होना चाहता हो तो कुशल चाहनेवाले राजा उसे छोड़कर हट जायँ। यदि ऐसा नहीं होता तो मैं सब राजाओं को उसका साथी समझूँगा। सबको मार डालूँगा। उसी में वह भी मारा जायगा।

जनकजी के वीर विहीन मही कहने से जिस लक्ष्मण ने रामजी का अपमान माना था उसी लक्ष्मण ने न त मारे जैहैं सब राजा इस वचन से भी रामजी का अपमान माना। उनके इस वचन पर मुसुकराये कि मुनि के ऐसे वचन! ये तो केवल मुनि का स्वाँग बनाये हैं। अतः परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले।

बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं ॥
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुल केतू ॥४॥

अर्थ : लड़कपन में तो बहुत सी धनुहियाँ तोड़ी हैं। परन्तु गोसांईं! आपने ऐसा क्रोध तो कभी नहीं किया। इस धनुष पर इतनी ममता होने का कारण क्या है? सुनकर भृगुकुल केतु : पताका चिढ़कर बोले।

व्याख्या : लड़कपन से ही हमलोगों को धनुष का व्यसन है। खेलवाड़ में

भी धनुहियों से काम लेते थे। कितनी धनुहियाँ उस खेलवाड़ में टूटीं। इसका क्या ठिकाना। उनके टूटने पर आप मनही मन अप्रसन्न हुए हों तो बात दूसरी है। पर ऐसा क्रोध तो कभी नहीं किया कि उनके टूटने पर लड़ने को तैयार हुए हों। श्रीरामजी ने नाथ कहा है। इसलिए ये भी गोसांईं सम्बोधन करते हैं और बड़ा मानकर ही प्रश्न कर हैं कि बड़ों का कर्त्तव्य है कि अनिष्टाचरण से छोटों को आरम्भ से ही निवृत्त करें। सो आपने कभी नहीं किया। अतः मालूम होता है कि इस धनुष में कुछ विशेषता थी। जिसके कारण आपकी इसपर ममता थी उस विशेषता को जानने के लिए प्रश्न करते हैं। भाव यह कि जैसे लड़कपन की धनुहियाँ आपकी नहीं थी उसी भाँति यह धनुष भी आपका नहीं था। यथा : रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही। और इस धनुष में कुछ तत्त्व भी नहीं था। ऐसा उत्तर पाकर भृगुकुल केतु हैं : भृगु ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी। उस कुल की पताका हैं। बिगड़ गये कि शिवधनु का धनुही से समता दे रहा है।

दो. रे नृप बालक कालवस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु, विदित सकल संसार ॥२७१॥

अर्थ : रे राजा के लड़के! तू कालवश हो रहा है। सँभालकर नहीं बोलता। विश्वविख्यात त्रिपुरारि का धनुष धनुही के समान है?

व्याख्या : नृप बालक कहने का भाव यह कि लड़कपन की बातें करता है। मुझसे लड़कपन की बात करना काल के गाल में जाना है। जिनके सिरपर काल सवार होता है वे ही ऐसी बेसँभाल बातें मुझसे करते हैं। त्रिपुरारि का धनुष मेरुमन्दर का जोड़ीदार है। उसे तू धनुही के समान बतला रहा है। इस धनुष को तो सारा संसार जानता था। तेरी धनुहियों को कौन पूछता है। ऐसा ही उत्तर पाने के लिए ही लक्ष्मण जी ने बहु धनुही तोरो लरिकाई आदि कहा था। अब ऐसा उत्तर पा जाने पर उन्हें अवाक् करने में सुभीता होगा। यथा : वचन चय चातुरी परसुधर गर्वहर : वि. प.।

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नएन के भोरे ॥१॥

अर्थ : लक्ष्मणजी ने हँस के कहा कि हमारी समझ में तो सब धनुष समान ही थे। पुराने धनुष के तोड़ने में न कोई लाभ था न हानि थी। रामजी ने तो उसे नये के धोखे से परखा था।

व्याख्या : पहिले न त मारे जैहैं सब राजा सुनकर मुसकराये थे। अब : रे नृप बालक कालवस बोलत तोहिं न सँभार। धनुही सम त्रिपुरारि धनु विदित सकल संसार। इतना कहने पर तो हँस पड़े। बोले कि यह तो आप अपनी समझ की बात कहते हैं। हमारी समझ में तो जैसी वे धनुहियाँ थीं वैसा ही यह धनुष था। देव सम्बोधन का भाव यह कि आप महिदेव हैं। ब्राह्मण देवता हैं। आपका

यह काम नहीं है। अतः आपको कठिन जान पड़ा। हम क्षत्रिय हैं। हमारा काम है। हमें सहज सरल जान पड़ता है। अतः हमारे लिए दोनों समान ही हैं।

अनादि देव महादेव का धनुष न जाने किस युग का था। बहुत पुराना हो गया था। उसके तोड़ने में कोई हानि नहीं थी। टूटे ही के बराबर था। उसे तोड़ने में लाभ भी कुछ नहीं था। क्योंकि उस पुराने धनुष के तोड़ने में कोई वाहवाही नहीं थी। जिसके टूटने से हानि लाभ कुछ नहीं उसके लिए अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है। रामजी ने नये के धोखे से उसे परखा था कि देखें इसमें कुछ दम है कि नहीं। लक्ष्मण जी ने इस भाँति स्पष्ट नाम भी बतला दिया।

छुवत टूट रघुपतिहिं न दोषू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोषू॥
बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥२॥

अर्थ : छूते ही तो टूट गया। रघुपति का कोई दोष नहीं है। मुनिजी! व्यर्थ क्रोध क्यों करते हो। परशु की ओर देखकर बोले क्यों रे सठ! तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना है?

व्याख्या : यदि कहो कि लाभ हानि हो चाहे न हो तुमने क्यों तोड़ा? इस पर कहते हैं कि इतना पुराना था कि छूते ही टूट गया। रामजी का कुछ दोष नहीं। आप ही व्यर्थ क्रोध कर रहे हैं। रामजी का नाम बतलाने पर भी ऐसी बात बोले कि क्रोध की धारा रामजी की ओर न जाकर लक्ष्मण की ओर घूम गई। सब पुर नर नारी साक्षी हैं किसने रामजी को लेते चढ़ाते देखा है? रामजी ने उठाया और वह पुराना धनुष आपसे आप टूट गया।

लक्ष्मणजी बोले और परशुधर का अपमान किया। अतः वे भी परशु की ओर देखकर बोलते हैं। परशु की ओर देखने का भाव लक्ष्मण को दिखाने से है कि इसे देखता है या नहीं? केवल मेरी बात काटने के लिए ऐसे महद् धनुष को ऐसा तुच्छ बतलाता है और अपना अलौकिक बल ख्यापन कर रहा है। इसका उत्तर संग्राम ही है। तू शठ है। सहस्रों कपट की सूइयों को चतुराई से छिपाता है। यथा : कपट सार सूची सहस बाँधि वचन पर वास। करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास। मेरा स्वभाव प्रसिद्ध है। कपटी को तो मार ही डालता हूँ। कदाचित् तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना है : वस्तुतस्तु बड़े दयालु हैं। डराने के लिए अपने को निष्ठुर बतला रहे हैं।

बालक बोलि बधौं नहिं तोहीं। केवल मुनि जड़ जानहिं मोहीं॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्रीकुल द्रोही॥३॥

अर्थ : बालक समझकर तुझे नहीं मारता हूँ। अरे जड़! तूने मुझे निरा मुनि ही समझ रक्खा है। मैं बाल ब्रह्मचारी हूँ। अत्यन्त क्रोधी हूँ और संसार जानता है मैं क्षत्रियवंश का वैरी हूँ।

व्याख्या : तू आरम्भ से ही कपट की बात बोलता है। मैं पहिले ही उत्तर में मार देता। पर बालक समझकर छोड़ दिया। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू कहा। तो तूने मुझे केवल मुनि ही जान लिया। तू जड़ है। बेसमझ है। मेरा परशु नहीं देखता। मुनि तो ऐसा हूँ कि दारपरिग्रह ही नहीं किया। अतः अक्षत वीर्य हूँ। मैं निर्बल मुनियों की भाँति क्षमाशील नहीं हूँ। क्षत्रिय लोग शान्त दान्त मुनियों को तुच्छ समझते हैं! उनका अपमान करते हैं। वे विचारे सह जाते हैं। परन्तु मैं अतिक्रोधी हूँ। असहनशील हूँ। इसलिए क्षत्रिय कुल से मेरा वैर जगद्विख्यात है। सब योग वध का ही है। केवल तेरे बचपन पर दया आती है। इस भाँति अपना प्रताप कहा। परशुरामजी सदा शिव शिव शिव शिव इस मन्त्र का जप शत्रु के नाश के लिए किया करते थे। यथा : शिव शिव शिव शिव मन्त्रममुं जपमानमरिक्षयहेतुम्। रा. गी. गों.।

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हीं। विपुल बार महिदेवन्ह दीन्हीं ॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा। परसु विलोकु महीपकुमारा ॥४॥

अर्थ : भुजा के बल से मैंने पृथ्वी को राजाओं से रहित कर दिया और अनेक बार ब्राह्मणों को दिया। सहस्रबाहु की भुजाओं को काटनेवाले इस परशु को हे राजकुमार! तू देख।

व्याख्या : क्रोध भी मेरा अमोघ है। बिना सेना के केवल भुजबल से इक्कीस बार पृथ्वी बिना क्षत्रिय की कर दी और ब्राह्मणों को दे दी : परशुरामजी केवल युद्धवीर ही नहीं बड़े भारी दानवीर भी थे। दानो भी इनसा कोई हुआ नहीं। निःक्षत्र करके सप्तसमुद्र मुद्रित मही के दान करनेवाले ये ही थे। दान पाकर अपने षट्कर्म में बाधा पड़ते देखकर ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को पृथ्वी लौटा दी। दोबारा फिर निःक्षत्र करके पृथ्वी ब्राह्मणों को दी। इस भाँति बीस बार हुआ। इक्कीसवीं बार महर्षि कश्यप ने इनसे दान में पृथ्वी लेकर आज्ञा दी कि तुम पृथ्वी छोड़ दो। परशुरामजी ने छोड़ दिया। समुद्र से अपने रहने के लिए स्थान माँगा। समुद्र ने हटकर महेन्द्राचल पर्वत को इनके रहने के लिए दिया। तब से इनका वहीं निवास है। चिरञ्जीवी हैं। उसी पर रहते हैं। अर्थात् दिन को कहीं रहें, रात को विश्राम उसी पर्वत पर करते हैं।

परशु की ओर देखकर बोलना प्रारम्भ किया था। अब स्पष्ट कहते हैं : इस परशु को देख! है ऐसा परशु किसी के पास। इसी ने सहस्रार्जुन के हजारों बाहुओं का छेदन किया है। एक भुजा शेष न छोड़ी। तेरी इन भुजाओं में क्या है? इस भाँति अपना रोष कहा।

दो. मातु पितहिं जनि सोच बस, करसि महीसकिसोर।
गरभन के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर ॥२७२॥

अर्थ : अरे राजा के लड़के! तू अपने माता पिता को शोक के वश न कर। गर्भ के बच्चों को भी मारनेवाला मेरा परशु बड़ा घोर है।

व्याख्या : तू अपने माता पिता पर दया कर। राजा दशरथ बड़ा ब्रह्मण्य है। उसे वृद्धावस्था में पुत्रशोक न हो। अपनी घोरता का आरोप परशु पर करते हैं। मैं क्रोध करने पर गर्भ के बच्चों तक को नहीं छोड़ता। उसके कुल का ही पूर्णतः संहार कर देता हूँ। यदि तू न मानेगा तो मैं बालक होने का ख्याल न करूँगा।

विहँसि लखनु बोले मृदु बानी। अहो मुनीसु महा भटमानी[1] ॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥१॥

अर्थ : लक्ष्मण जी विहँसकर मृदुवाणी बोले। अहो मुनीश्वर! अपने को बड़ा योद्धा मानते हो। बार बार परशु दिखलाते हो। फूँककर पहाड़ उड़ा देना चाहते हो।

व्याख्या : भगवान् रामचन्द्र या विश्वामित्र कोई लक्ष्मणजी को रोकता नहीं है। लक्ष्मणजी का उत्तर सबको प्रिय है। क्रम पर ध्यान दीजिये। परशुरामजी के न त मारे जैहें सब राजा कहने पर लक्ष्मणजी मुसुकराये। रे नृप बालक काल बस कहने पर हँसे। अब मातु पितहिं जनि सोच बस करसि महीस किसोर कहने पर तो विहँस पड़े। वाणी मृदु है। पर भाव तीक्ष्ण है। कहते हैं कि आप मुनियों के ईश क्षात्र धर्म से एकबारगी अनभिज्ञ हैं। गर्भ के बालक को मारकर अपने को भट मानते हैं। गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर का उत्तर।

एक बार : बोले चितै परसु की ओरा। दूसरी बार : परसु बिलोकु महीप कुमारा कहा। सो बार बार मुझे परशु दिखाते हो मानो मैंने परशु देखा ही नहीं। मुझे भी गर्भ का अर्भक समझ रक्खा है। मैं पहाड़ हूँ। आँधी चलने पर भी मेरा कुछ नहीं होता। परशु दिखाना तो फूँक है। आँधी से सेना का तात्पर्य। यथा : जनु कज्जल की आँधी चली। सहस बाहु भुज छेदन हारा। परसु बिलोकु महीप कुमारा का यह उत्तर दिया कि मुझे परसु देखने से क्रोध होता है। इसे उन्हें दिखाओ जो दण्डवत् करते हैं।

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नांहीं। जे तरजनी देखि मर जाहीं ॥
देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना ॥२॥

अर्थ : यहाँ कोई कोहड़े की बतिया नहीं है जो तर्जनी : उँगली देखकर मर जाती है। यह परशु धनुष और बाण देखकर मैंने कुछ अभिमान के साथ कहा है।

व्याख्या : भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हीं का उत्तर देते हैं। आपको भुजबल है तो यहाँ भी कोई कोंहड़े की बतिया नहीं है। कोंहड़े में बतिया लगते ही जो कोई उसे उँगली दिखा दे तो वह निश्चय सूख जाती है। यह देखी हुई बात है। भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हीं। यह कहना तर्जनी दिखलाना है। इतना सुनकर हम लोग सूखनेवाले नहीं है। यहाँ भी त्रिभुवन जय करके बैठे हैं। पराक्रम विशेष

---

[1] व्याजस्तुति अलङ्कार है।

सुनने से उत्साह बढ़ता है। यथा : त्रिभुवन जय समेत वैदेही। विनहि विचार वरै हठि तेही।

तुम्हारा क्षत्रियकुलद्रोही होना विश्वविदित है तो मैंने भी अनजान से कुछ नहीं कहा। मैंने आते ही आपका कुल्हाड़ा धनुष बाण देख लिया। तब अभिमान की बात बोले कपट की नहीं। यदि यह सब उत्तेजक चिह्न न देखते तो अभिमान की बात न बोलते।

भृगुसुत समुझि [1]जनेउ विलोकी। जो कछु कहहु सहँउ रिसि रोकी ॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई ॥३॥

अर्थ : भृगुवंशी समझकर और यज्ञोपवीत देखकर जो कुछ आप कहते हैं क्रोध रोककर सह जाता हूँ। देवता, ब्राह्मण भगवद्भक्त और गाय पर मेरे कुल में बहादुरी नहीं है।

व्याख्या : बालक बोलि वधौं नहि तोही। केवल मुनि जड़ जानेहि मोही का उत्तर : भृगु के बाल बच्चे समझकर आपकी बातें सहता जाता हूँ। भृगुजी की लात विष्णु भगवान् ने सही। ये भी उसी कुल के हैं। इनकी बात सह लेनी चाहिए। कपास का यज्ञोपवीत देखकर : कुल्हाड़ा देखकर नहीं : क्रोध को रोक लेता हूँ। यथा : सापत ताडत परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता। अर्थात् केवल मुनि के नाते सहता हूँ। तुम गर्भ के बच्चे मारनेवाले मुझे बालक समझकर क्या छोड़ोगे। हाँ मैं तुम्हें ब्राह्मण समझकर छोड़े देता हूँ।

रे सठ सुनहि सुभाव न मोरा का उत्तर देते हैं कि तुम्हारा स्वभाव जो हो पर मेरे कुल का स्वभाव है कि सुर महिसुरु हरिजन अरु गाई पर वीरता नहीं दिखाते। क्योंकि ये रक्ष्य हैं। यथा : सुरपति बसहिं बाहुबल जाके।

वधे पापु अपकीरति हारे। मारतहू पा परिअ तुम्हारे ॥
कोटि कुलिस सम वचन तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥४॥

अर्थ : मारने से पाप और हारने से दुर्यश है। अतः मारते हुए भी आप के पैर ही पड़ना चाहिए। कठोर वज्र के समान आप के वचन हैं। धनुष बाण और कुठार तो व्यर्थ ही लिये फिरते हो।

व्याख्या : आप मारिये भी तो हम तो पाँवही पड़ेंगे। आप को मारें तो ब्रह्महत्या लगे। हारें तो दुर्यश हो कि तपस्वी से हार गये। भाव यह कि तुम्हें मारकर ब्रह्महत्या कौन ले। हमें तुम्हारे ब्राह्मणत्व का बड़ा आदर है तुम्हारे परधर्माश्रयत्व का नहीं। इन्द्र कुलिस मम सूल विसाला। कालदंड हरिचक्र कराला। जो इनकर मारा नहि मरई। विप्र रोष पावक सो जरई। प्रभु महादेव साप अति

---

[1] कपास का यज्ञोपवीत ब्राह्मण के लिए है। यथा : कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्। मनु।

घोरा। अतः तुम्हारा वचन ही संहार करने में समर्थ है। अस्त्रों की तो प्रतिक्रिया है। तुम्हारा वचन अप्रतिक्रिय है। अर्थात् तुम्हारी धर्मनिष्ठा में ही संहारशक्ति भरी पड़ी है। तुम्हारे लिए परधर्माश्रय करना : लोहा लादे फिरना व्यर्थ है।

दो. जो बिलोकि अनुचित कहेउँ, छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुवंसमनि, बोले गिरा गंभीर ॥२७३॥

अर्थ : जिसे देखकर मैंने अनुचित कहा हे महामुनि ! आप धीर हैं क्षमा करिये। सुनकर भृजुवंशमणि क्रुद्ध होकर गम्भीर वाणी बोले।

व्याख्या : इसी लोहे को देखकर मैंने अनुचित कहा। मैं मानता हूँ कि शिवधनु को धनुही सम कहना धनुभङ्ग को नये के धोखे से देखना : बताना अनुचित है। पर आपके अनुचित वेष के उत्तर में अनुचित कहा। मुझे महामुनि धीर से क्षमा माँगने में लज्जा नहीं। पर योद्धा मानी से तो अनुचित कहकर भी लोहा लेता हूँ। आप स्वधर्माभिमान करिये। परधर्माभिमान क्यों करते हैं ?

परशुरामजी भृगुवंश में मणि हैं। सुजाति, शुचि, अमोल और सुन्दर हैं। भृगुवंश होने से सुजाति हैं। निष्कपट होने से शुचि हैं। पितृभक्ति से अमोल हैं। निर्लोभ होने से सब भाँति सुन्दर हैं। लक्ष्मणजी को धमकाकर काबू में न ला सके। सब बातों का उत्तर मिल गया। युद्ध ही शेष है। अतः क्रोध के साथ गम्भीर वाणी बोले। शब्द भी गम्भीर अर्थ भी गम्भीर।

कौसिक सुनहु मंद यहु बालकु। कुटिल कालवस निज कुल घालकु॥
भानु बंस राकेस कलंकू। निपट निरंकुश अबुध असंकू ॥१॥

अर्थ : कौशिक : विश्वामित्र ! सुनो यह बालक १. मन्द २. कुटिल ३. कालवश और ४. निजकुलघालक है । ५. सूर्यवंशरूपी पूर्णचन्द्र में यह कलङ्क है। ६. अत्यन्त निरङ्कुश ७. मूर्ख और ८. निःशङ्क है।

व्याख्या : परशुरामजी श्रीरामचन्द्र के अभिभावक विश्वामित्रजी से कहते हैं कि यह बालक : लक्ष्मण दोषयुक्त वाणी बोलता है। आठ बातें इसने कही हैं। जिनसे आठ दोष इसके स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। १. मैंने गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अतिघोर। अपने स्वभाव की घोरता ख्यापन के लिए कहा था। यह ऐसा मन्द है कि तात्पर्य नहीं समझा। कहता है कि : अहो मुनीस महा भटमानी। २. मैं तो दया करके इसे छोड़ता हूँ। इसलिए यह अपने को पहाड़ और मेरे पराक्रम को फूँक समझता है। ऐसा तो यह कुटिल है। ३. कालवश हो गया है मेरे कुठाराघात की उपमा कोंहड़े को तर्जनी दिखाने से देता है। ४. निजकुलघालक है। कहता है : देखि कुठारु सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना। नहीं जानता कि ऐसे अभिमानी के वंश का मैं नाश कर देता हूँ। ५. यह कुलकलङ्क है। इसकी कटु वाणी से इसके प्रियजनों का संहार होगा। अतः यह अपयशभाजन भी होगा। यथा : कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही। ६. ऐसा

निरङ्कुश है कि सुर, महिसुर, हरिजन और गाय। जो प्रातःस्मरणीय है उन्हें दीन समझता है। ७. ऐसा अबुध है कि मुझसे हारने में अपनी अपकीर्ति समझता है। कहता है : वधे पाप अपकीरति हारे। और ८. ऐसा अशङ्क है कि मेरे धनुष बाण और कुठार को व्यर्थ बतलाता है।

काल कवलु होइहि छन मांहीं। कहौं पुकारि खोरि मोहि नांहीं॥
तुम हटकहु जौ चहहु उबारा। कहि प्रतापु बलु रोष हमारा॥२॥

अर्थ : क्षणभर में यह काल का ग्रास हो जायगा। मैं पुकारकर कहता हूँ अब मुझे दोष नहीं है। यदि इसका उबार : बचाना चाहते हो तो तुम मेरा प्रताप, रोष और बल कहकर इसे रोको।

व्याख्या : प्रताप यथा : विश्वविदित छत्रीकुलद्रोही। बल यथा : भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। रोष यथा : बालब्रह्मचारी अति कोही। परशुरामजी कहते हैं कि इतना बड़ा वीर बना है कि मेरे अस्त्रशस्त्र धारण करने पर क्रोध दिखलाता है। मेरे परशु के चलने की देर है। इसे कालकवल होते देर न लगेगी। पुकारकर कह देता हूँ कि कोई मुझे दोष न दे। क्षत्रियों के वध करने पर लोग मुझे दोष देते हैं। ऐसी ही करनी पर मैं उनका वध करता हूँ। तुम अभिभावक हो। यदि तुम भी चाहते हो कि कटुवादी का वध ही ठीक है तब बात दूसरी है। नहीं तो इसे रोको। जाने दो बेटा ! कहकर नहीं। हमारा प्रताप बल और रोष कहकर रोको। जिसमें यह मुझसे भयभीत होकर उत्तर देने से विरत हो।

लषन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहि अछत को वरनै पारा॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु वरनी॥३॥

अर्थ : लक्ष्मणजी ने कहा : हे मुने ! तुम्हारा सुयश तुम्हारे रहते दूसरा कौन कह सकता है। अपने मुख से तुमने अपनी करणी अनेक बार और अनेक प्रकार से वर्णन की।

व्याख्या : लक्ष्मणजी ने विश्वामित्रजी को रोकने का अवसर ही नहीं दिया। बीच ही में बोले कि जब से यहाँ आये हो तब से अपने सुयश का ही तो वर्णन कर रहे हो। दूसरे से ऐसा कैसे बनेगा ? और उसे लज्जा भी लगेगी क्योंकि ये सब बातें ब्राह्मण के लिए दुर्यश हैं। तुम्हें भले ही सुयश मालूम पड़ें। सुयश दूसरे के वर्णन से होता है अपने वर्णन से नहीं। अपने मुख से अपना सुयश कहना आत्मवध है। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा। सहसबाहु भुज छेदन हारा। इस भाँति अपनी करणी अनेक बार कथन की। विश्वविदित छत्री कुल द्रोही। भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। इसी रीति से अनेक भाँति से कहा। आप अपनी अब्राह्मणोचित करणी का साभिमान वर्णन कर रहे हैं।

नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥
वीर वृत्ति तुम धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥४॥

अर्थ : यदि इतने पर भी तृप्ति न हुई हो तो और कुछ कह डालिये। क्रोध रोककर असह्य वेदना मत सहिये। आप वीरवृत्ति वाले हैं। अविचल धीर हैं। गाली देने में आपकी शोभा नहीं है।

व्याख्या : इतने पर भी असन्तुष्ट हो तो और कुछ कह डालो। दूसरे से क्यों कहलाते हो। दूसरे से कहते न बनेगा। उसे आपकी भाँति प्रशंसादृष्टि न होगी। उसे दोष दिखाई पड़ेगा। यहाँ तक कहि प्रताप बल रोष हमारा का उत्तर हुआ। अब कहौं पुकारि खोरि मोहि नांहीं का उत्तर देते हैं। जनि रिसि रोकि दुसह दुख सहहू। अर्थात् चलाओ हाथ। तुम हटकउ जौ चहहु उबारा का उत्तर : मुझे तुम्हारी अप्रसन्नता का भय है। अस्त्रप्रहार का नहीं। खुशी से प्रहार करो।

कौसिक सुनहु मंद यह बालक। कुटिल कालवस निजकुलघालक। भानुवंस राकेस कलंकू का उत्तर : वीरव्रत अक्षुब्ध वीर की शोभा पराक्रम दिखलाने में है गाली देने में नहीं। जो आठ दोष आपने मुझमें कहे हैं वे मुझमें नहीं हैं। वे मेरे लिए गाली हैं।

दो. सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रतापु ॥२७४॥

अर्थ : शूर रण में करणी करते हैं। वे कहकर जनाया नहीं करते। युद्ध में शत्रु को सामने पाकर कायर लगते हैं अपना प्रताप कथन करके।

व्याख्या : जब हम लोगों को सहस्रबाहु सम शत्रु मानते हो : अर्थात् ऐसा शत्रु जिसने पिता का वध किया हो। तो हम तुम्हारे सामने खड़े हैं। वीर की करणी करो। कहकर अपने को न जनाओ। ऐसे समय प्रताप का कथन तो कादर का लक्षण है। यह काल कवल होइहि छनमाही का उत्तर है।

तुम तौ काल हाँक जनु लावा। बार बार मोहिं लागि बोलावा ॥
सुनत लषन के वचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा ॥१॥

अर्थ : तुम तो मानो काल को हाँककर लाये हो। बार बार मेरे लिए बुला रहे हो। लक्ष्मणजी के कठोर वचन सुनकर परशुरामजी ने घोर परशु को सुधार कर हाथ में लिया।

व्याख्या : वही उत्तर चल रहा है। संसार जानता है कि युद्ध की सिद्धि चञ्चल होती है। सदा एक पुरुष के हाथ में नहीं रहती। युद्ध में कौन मरेगा कौन मारेगा। यह कहा नहीं जा सकता। पर तुम्हारी तो धारणा ही विचित्र है। मानों काल तुम्हारा जिलाया हुआ पशु है। जिसे हाँककर लाये हो और मुझे निगल जाने के लिए बार बार बुला रहे हो। निश्चय किये बैठे हो कि युद्ध में तुम्हीं विजयी होओगे।

लक्ष्मणजी ने सीधे सीधे कादर कह दिया। किसकी सामर्थ्य जो परशुरामजी

को उनके मुखपर कादर कहे। अब कहने सुनने का अवसर नहीं रह गया। अतः कन्धे पर के उस घोर कुठार को सुधारकर हाथ में लिया वार करने के लिए। फिर भी चलाने की इच्छा नहीं हो रही है। चिरञ्जीव ऐसा आशीर्वाद दे चुके हैं। आशा है कि अब भी मान जाय।

अब जनि देइ दोसु मोहि लोगू। कटुवादी बालकु वध जोगू॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यहु मरनिहार भा साँचा॥२॥

अर्थ : अब मुझे लोग दोष न दें। यह कटुवादी बालक वध के ही योग्य है। बालक देखकर मैंने बहुत बचाया। पर यह अब सचमुच मरने पर आगया है।

व्याख्या : मैं लोकापवाद से बचना चाहता हूँ। लोग दोष देंगे कि बच्चे को मार दिया। वीरव्रती को १६ वर्ष के नीचे और ७५ वर्ष से ऊपर मनुष्य पर शस्त्र चलाना निषिद्ध है। अतः इसके मारने में दोनों प्रकार के दोष मुझे लगेंगे। अपकीर्ति होगी। परन्तु कटुवादी हो तो बालक भी वध के योग्य है। कहा भी है : खीरा सिर से काटिये दीजै नमक भराय। रहिमन कडुए मुखन्ह को चहिअत इहै सजाय। पहिले निःक्षत्र करने पर लोगों ने दोष दिया था। क्षत्रियों के इसी स्वभाव पर मैंने निःक्षत्र किया था। सो अब कोई दोष न दे।

मैं तो उत्तर देते ही इसे मारता। सो इसने उत्तर दिया। बेसँभार बात बोला। अभिमान की बातें कहीं। अपमान किया। यहाँ तक मैं हत्या से बचाता रहा। अब कादर कहता है। यह बात सही नहीं जा सकती। अब यह सचमुच मरना ही चाहता है। पहिले जो इसे 'कालकवल होइहि' 'कालवश' इत्यादि कहा था सो इसे डराने के लिए। पर अब मुझे मारना ही पड़ा।

कौसिक कहा छमिअ अपराधू। बाल दोष गुन गर्नाहं न साधू॥
खर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥३॥

अर्थ : विश्वामित्रजी ने कहा अपराध क्षमा कीजिये। बालक के दोष गुण को साधु नहीं गिनते। परशुरामजी बोले : मेरा कुठार तीखा है और मैं निष्करुण क्रोध करनेवाला हूँ और गुरुद्रोही अपराधी सामने है।

व्याख्या : फिर लक्ष्मणजी कुछ कह न बैठें, अतः विश्वामित्रजी ने कहा अपराध क्षमा कीजिये। बालक अव्यवस्थित चित्त के होते हैं। उनका गुण भी कुछ नहीं दोष भी कुछ नहीं। आप साधु हैं। खल के वचन सहने में समर्थ हैं। यथा : खल के वचन संत सह जैसे। यह तो बालक का वचन है। परशुरामजी ने इनसे कहा था कि : तुम हटको जो चहहु उबारा सो लक्ष्मण को नहीं रोकते। इन्हें ही समझाते हैं। लक्ष्मण धर्म पर हैं उन्हें कैसे रोकें ?

जब साधन और साधक दोनों ठीक हैं तब सिद्धि में देर क्या ? सो इसके वध का साधन कुठार खर धारवाला प्रस्तुत है और साधक मैं, जिसे क्रोध में करुणा होती ही नहीं : गर्भक के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर। और सबसे बड़ा अपराधी

मेरे गुरु शिव का द्रोह करनेवाला सामने खड़ा है। फिर दण्डपात न होने का कोई कारण नहीं है। विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहि प्रताप का उत्तर देकर जनि रिसि रोक दुसह दुख सहहू का उत्तर देते हैं कि—

उतर देत छाड़ौं बिनु मारें। केवल कौसिक सील तुम्हारें ॥
न त एहि काटि कुठार कठोरें। गुरहि उरनि होतेउँ श्रम थोरें ॥४॥

अर्थ : यह उत्तर देता है और इसको बिना मारे छोड़ता हूँ सो हे विश्वामित्रजी ! केवल तुम्हारे शील के कारण। नहीं तो इसे इस कठोर परशु से काटकर थोड़े ही परिश्रम से गुरुजी से उऋण हो जाता।

व्याख्या : मुझे उत्तर सुनना सह्य नहीं है। मैं इसे उत्तर देते ही मार डालता परन्तु मैंने नहीं मारा सो केवल तुम्हारे सङ्कोच से। आपका सङ्कोच इतना बड़ा है कि वध्य को छोड़ दिया।

मुनि सुयश तुम्हारा। तुमहि अछत को वरनै पारा। अपने मुख तुम आपन करनी। बार अनेक भाँति बहु वरनी। नहि संतोष तो पुनि कछु कहहू का उत्तर : जिस कठोर कुठार ने सहसबाहु की भुजाओं को छेदन किया उसको इसे काट देने में कौन सा श्रम था ? मैंने शिवजी से अस्त्रविद्या पायी है। वे ही मेरे गुरु हैं। उस विद्या का उनके शत्रु पर उपयोग करके उनसे उऋण भी हो जाते। श्रम भी अधिक न पड़ता और कुल विद्या का उपयोग भी नहीं करना पड़ता। भाव यह कि इसके मारने से केवल शान्ति ही नहीं बड़ा भारी लाभ भी था। तुम्हारे सङ्कोच से गुरु का ऋण रह गया। गुरु आप्तकाम और दुराधर्ष हैं। ऋण चुकाने का उपायान्तर नहीं है।

दो. गाधिसूनु कह हृदय हँसि, मुनिहि हरियरें सूझ।
अयमय खाँड न ऊखमय, अजहुँ न बूझ अबूझ ॥२७५॥

अर्थ : विश्वामित्र ने हृदय में हँसकर कहा : मुनि को हरा ही हरा : कोमल सूझ रहा है। यह लोहे का खाँड है ईख का नहीं है। पर ये नासमझ अब भी नहीं समझ रहे हैं।

व्याख्या : बाहर हँसने से परशुरामजी को बुरा लगता। इसलिए मनमें ही हँसे कि ये तो बड़े नासमझ हैं सावन के अन्धे को सब हरा ही सूझता है।

सीधे सीधे जो इन्हें कादर कहकर ललकार रहा है वह कुछ है। इतना तो इन्हें समझना चाहिए था। राजकुमार हैं। इतने से ही इन्हें तुच्छ समझना अज्ञान है। लोहे का भी खाँड : खाँडा होता है इक्षुरस का भी खाँड होता है। सो ये लोहे के खाँड हैं। आँत फाड़कर निकल आवेंगे। इक्षुरसोद्भूत खाँड की भाँति मधुर भोज्य नहीं हैं। ये समझ रहे हैं कि मैं इनको विश्वामित्र के सङ्कोच से छोड़े देता हूँ। यह नहीं समझते कि ये उनको ब्राह्मण समझकर छोड़ रहे हैं। राजा जनक ने इनका रूप देखकर समझ लिया और वे इतनी बातचीत करने पर भी नहीं समझ रहे हैं।

कहेउ लषन मुनि सीलु तुम्हारा । को नहि जान विदित संसारा ॥
माता पितहिं उरिन भए नीके । गुर रिनु रहा सोच बड़ जीके ॥१॥

अर्थ : लक्ष्मणजी ने कहा कि हे मुने ! तुम्हारा शील संसार में विदित है उसे कौन नहीं जानता । माता पिता से भली भाँति उऋण हो गये । गुरुजी का ऋण रहा । उसकी मनमें बड़ी चिन्ता है ।

व्याख्या : लक्ष्मणजी ने सोचा कि अवूझ इस भाँति नहीं समझते । इन्हें मैं समझाऊँगा । अतः बोल उठे : उतर देत छाड़उँ बिनु मारे । केवल कौसिक सील तुम्हारे का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तुम्हारा शील तो संसार में विदित है । शील से नहीं छोड़ रहे हो । तुम्हारे सामर्थ्य की वात नहीं है । इसलिए छोड़ रहे हो । नहीं तो गर्भ के बच्चे को मारनेवाले को शील कहाँ ? नतु एहि काटि कुठार कठोरे । गुरहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे । का उत्तर देते हैं कि माता पिता से भलीभाँति उऋण हुए : भाव यह कि परशुराम पितु आज्ञा राखी । मारी मातु लोक सब साखी । इस भाँति से तो माता से उऋण हुए और नररक्त से तर्पण करके पिता से उऋण हुए। इसलिए कहते हैं कि उऋण भये नीके । अब गुरु से उऋण होने के लिए भी किसी को काटना मारना चाहिए । अतः बड़ा सोच है कि कैसे मारें ।

सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा । दिन चलि गये व्याज बड़ बाढ़ा ॥
अब आनिअ व्यवहरिआ बोली । तुरत देउँ मैं थैली खोली ॥२॥

अर्थ : उसे मानो मेरे ही मत्थे काढ़ा था । बहुत दिन हो गये । इससे व्याज भी बहुत बढ़ा होगा । अब महाजन को बुलाओ तुरन्त मैं थैली खोले देता हूँ ।

व्याख्या : मानो आपने यही सोचकर ऋण काढ़ा था कि इसे लक्ष्मण भरेगा । सो माता पिता से तो आप शीघ्र ही उऋण हो गये । पर गुरुजी का ऋण लिये तो बहुत दिन हो गये और आजतक आपका पटाया न पटा । किसी शुभ कर्म से तो पटाओगे नहीं । मुझे मारकर थोड़े श्रम से ही उऋण होना चाहते हो । तो मैं बड़ा सुगम मार्ग बतलाये देता हूँ ।

श्रम थोरे का उत्तर देते हैं । अब व्योहरिया अर्थात् महाजन : गुरुजी को बुला लाओ । मैं थैली खोले देता हूँ । सूद मूल सब भर लें । भाव यह तुम क्या लड़ोगे । गुरुजी को बुलाओ । मैं उनका पेट भर दूँगा । गुरुजी को ओलाहना देने पर लक्ष्मणजी को क्रोध है । तुमने मुझे काट डालना बड़ा सरल व्यापार समझ रक्खा है ?

सुनि कटु वचन कुठार सुधारा । हाय हाय सब सभा पुकारा ॥
भृगुवर परसु देखावहु मोही । विप्र विचारिं बचौं नृप द्रोही ॥३॥

अर्थ : कटु वचन सुनकर परशु को सुधारा । सभा की सभा हाय हाय

चिल्ला उठी। भृगुपति मुझे परशु दिखलाते हो। हे नृपद्रोही ! ब्राह्मण विचारकर हत्या से बच रहा हूँ।

व्याख्या : शस्त्र चलाने के पहिले उसे सुधारने का नियम है। यथा : दोउ कर कमल सुधारत बाना। उत्तर न देकर परशु सुधारते देखकर सारी सभा समझ गई कि अब चोट किया चाहते हैं। सबको निश्चय है कि इनकी चोट से तो लक्ष्मण नहीं बच सकते और सब लक्ष्मणजी का कल्याण चाहते थे। अतः हाय हाय चिल्लाये। इसपर लक्ष्मणजी का क्रोध बढ़ा। बोले : भृगुपति ! मुझे परशु दिखलाते हो। परशु का दिखलाना मुझे सह्य नहीं है। मैं तो ब्रह्महत्या के डर से बच रहा हूँ। नहीं तो नृपद्रोही का तो मैं शत्रु ही हूँ। निश्चय बिना मारे न छोड़ता।

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहिं लखन निवारे ॥४॥

अर्थ : कभी अच्छे योद्धा से रण में काम नहीं पड़ा। ब्राह्मण देवता ! घर ही के बड़े हुए हो। सब लोग बोल उठे अनुचित है अनुचित है। रामजी ने इङ्गित से ही लक्ष्मण को रोक दिया।

व्याख्या : खर कुठार मैं अकरुन कोही का उत्तर देते हुए लक्ष्मणजी ने कहा। किसी गाढ़े सुभट से तुम्हें काम न पड़ा पड़ा होता तो ऐसा न बोलते। माँ का बध करके ही मिजाज चढ़ा हुआ है।

इतने बड़े वीर को घरहि के बाढ़े कहना अनुचित है। सभा में यथार्थ कहना चाहिए। चुप रहने या अनुचित बोलनेवाले को दोष लगता है। यथा : सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी। अतः जिस भाँति परशुरामजी के परशु सुधारने पर सभा नें हाहाकार किया था उसी भाँति इस वचन को भी सभा ने पुकारकर अनुचित कहा। सब लोगों की पुकार सुननेवाले : भगवान् ने इशारा किया। जिसमें परशुरामजी का ध्यान आकर्षित न हो। लक्ष्मणजी का इतना बढ़ा हुआ क्रोध रामजी के इङ्गितमात्र से रुक गया।

दो. लषन उतरि आहुति सरिस, भृगुवर कोप कृसानु।
बढ़त देखि जल सम वचन, बोले रघुकुलभानु ॥२७६॥

अर्थ : लक्ष्मणजी का उत्तर आहुति के समान था। भृगुवर : परशुरामजी का क्रोध अग्नि के समान था। बढ़ता देखकर रघुकुलसूर्य जल के समान वचन बोले :

व्याख्या : भृगुवर की क्रोधाग्नि के लिए लक्ष्मणजी की एक एक बात आहुति का काम करती थी। आहुति पाकर अग्नि को बढ़ते हुए देखकर : रघुकुलभानु हैं : जलवर्षा से दावानल शान्त करेंगे। दोनों भाइयों के उत्तर का आशय एक ही है पर एक क्रोध को बढ़ाता है दूसरा शान्त करता है। रामजी ने देखा आग बढ़ रही है। इन्हें शान्त करना है इनसे युद्ध नहीं करना है। अतः क्रोध शान्त करनेवाली बात बोलें।

नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूध मुख करिअ न कोहू ॥
जौं पै प्रभु प्रभाव कछु जाना । तो कि बराबरि करै अयाना ॥१॥

अर्थ : हे नाथ ! बालक पर छोह कीजिये । यह दुधमुहा बच्चा सा सीधा है । इस पर क्रोध न कीजिये । यदि यह आपका प्रभाव कुछ भी जानता तो क्या यह अनजान आपकी बराबरी करता ?

व्याख्या : रामजी बोले : पहिलें भी नाथ कहा है फिर भी वही कहते हैं कि आपने उसे बालक तो माना पर उसपर छोह नहीं किया । अतः कहते हैं कि छोह करहु : कटुवादी बालक वध जोगू । इस भावना को मन में स्थान न दीजिये । लक्ष्मण दुधमुहा बच्चा सा सीधा है । जो आप कहते हैं उसी को दोहरा देता है : यह अनुचित का उत्तर है । आप करने न करने अन्यथा करने में समर्थ हैं । प्रभु हैं । आपके प्रभाव को उसने नहीं जाना मैं जानता हूँ । परशुरामजी ने विश्वामित्रजी से कहा था : तुम हटकहु जौ चहहु उबारा । कहि प्रताप बल रोष हमारा । इसलिए रामजी इनका प्रभाव कह रहे हैं जिसमें उन्हें सन्तोष हो । कहते हैं कि यदि वह आपका प्रभाव जानता होता तो जो आप कहते हैं वही पलटकर आपको न कहता । आपने उसे गुरुद्रोही कहा । उसने आपको नृपद्रोही कहा ।

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी । तुम सम सील धीर मुनि ग्यानी ॥२॥

अर्थ : यदि लड़के कुछ ढिठाई करते हैं तो गुरु पिता और माता का मन आनन्द से भर उठता है । इसे शिशु : बच्चा सेवक जानकर कृपा कीजिये । आप क्षमाशील, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं ।

व्याख्या : आप गुरु माता और पिता की भाँति पूज्य हैं । वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः । सभी वर्णों के ब्राह्मण गुरु होते हैं । दस वर्ष का भी ब्राह्मणबालक क्षत्रियों द्वारा पिता की भाँति पूज्य माना जाता है । आपके गुरु पिता होने में क्या सन्देह है । गुरु और माता पिता को लड़कों की ढिठाई सहनी पड़ती है । वे अबोध बालक की ढिठाई देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं कि भला इस लायक तो हुआ । अतः आपको भी प्रसन्न होना चाहिए कि बालक तेजस्वी है । क्षत्रियबालक है । इसलिए असहनशील है । ये सब बातें क्षत्रिय के लिए गुण हैं ।

आप नाथ हैं । यह बालक सेवक है । बड़ा होने पर सेवा करेगा । अभी ढिठाई किया तो क्या हर्ज है ? जिन गुणों की ब्राह्मण में होने की आशा की जाती है उन्हीं का आरोप करके कहते हैं कि आप समशील हैं, धीर हैं और ज्ञानी मुनि हैं । आप एक बच्चे की ढिठाई पर रोष न करें । मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े । द्विज देवता घरहिं के बाढ़े । लक्ष्मणजी की इस उक्ति का सम्मार्जन करते हैं ।

राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने । कहि कछु लषन बहुरि मुसुकाने ॥
हँसत देखि नख सिख रिस व्यापी । राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥३॥

अर्थ : रामजी का वचन सुनकर कुछ ठंढे हुए । तब लक्ष्मणजी ने कुछ कहकर मुसकरा दिया । हँसते देखकर नख से लेकर शिख तक क्रोध भर उठा । बोले कि राम ! तेरा भाई बड़ा पापी है ।

व्याख्या : लक्ष्मणजी ने ऐसी पण्डिताई से प्रश्नोत्तर प्रारम्भ किया कि परशुरामजी के लिए धनुष भङ्ग तो गौण हो गया और लक्ष्मण के उत्तर प्रत्युत्तर से अपने मान की रक्षा करना मुख्य विषय हो गया । रामजी के वचनों का प्रभाव परशुरामजी पर पड़ा । कुछ ठण्डे हुए । वीर नहीं कहा इसलिए पूरा सन्तोष नहीं हुआ । तब से लक्ष्मणजी ने फिर कुछ कहकर मुसकरा दिया । क्या कहा ? इस बात को कवि नहीं लिखते क्योंकि उसे परशुरामजी ने सुना नहीं । केवल इतना देखा कि कुछ कहकर मुसकरा रहा है । समझ लिया कि इसका कटाक्ष समसील धीर मुनि ज्ञानी पर है । इसलिए क्रोध नखशिख व्याप्त हो गया । बोले कि राम तुम्हारा भाई बड़ा पापी है । जिसका अन्तरात्मा दुष्ट हो वही बड़ा पापी होता है । जिसका अन्तरात्मा दुष्ट नहीं होता उससे यदि पाप भी होजाय तो उसे पश्चात्ताप होता है । बड़ा पापी अपराध करके प्रसन्न होता है ।

गौर सरीर स्याम मन मांही । कालकूटमुख पयमुख नांहीं ॥
सहज टेढ़ अनुहरै न तोही । नीचु मीच सम देख न मोही ॥४॥

अर्थ : इसका शरीर गोरा है पर इसके मन में श्यामता है । यह कालकूट मुख : सर्प है पयमुख नहीं है । स्वभाव से ही टेढ़ा है तुम्हारे ऐसा नहीं है । यह नीच मुझे मृत्यु के समान नहीं देखता ।

व्याख्या : बड़े पापी का लक्षण भीतर से काला होना है । सरस्वती कहती हैं कालकूट मुख है : शेष है पयमुख नहीं है । सो इसके मन का कालापन मुख से निकलता है । अतः कालकूट मुख है । इसी पर कहते हैं कि दूधमुख नहीं है । सूधा होता तो तुम्हारी बात कम से कम मान जाता । तुम अच्छी बात कहते हो । वह उस पर हँसता है । अयाना नहीं है कुटिल है । तुझे नहीं पड़ा । तू बड़ा अच्छा है । रामजी ने कहा था : जौ लरिका कछु अचगरि करहीं । गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं । इस पर कहते हैं कि यह ढीठ नहीं है नीच है । क्योंकि मुझे मृत्यु के समान नहीं देखता । जो परशुरामजी को मृत्यु के समान देखे उसी पर प्रसन्न रहते थे । जो ऐसा न देखे उसे नीच मानते थे । ऐसी ऊँच नीच की विलक्षण परिभाषा पर लक्ष्मणजी फिर हँस पड़े ।

दो. लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोधु पाप कर मूल ।
जेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं विस्व प्रतिकूल ॥२७७॥

अर्थ : लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि हे मुने ! सुनो क्रोध पाप का मूल है । जिसके वश होकर लोग अनुचित करते हैं और विश्व के प्रतिकूल आचरण करते हैं ।

व्याख्या : राम तोर भ्राता बड़ पापी का उत्तर देते हैं : पाप का मूल क्रोध है। सो हम तो हँसते हैं। क्रोध तो तुम करते हो। अतः तुम पाप के मूल हो। क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि। क्रोधी कौन सा पाप नहीं करता। क्रोधी अपने गुरु को भी मारता है। इसी क्रोधवश तुम क्षत्रियकुल द्रोही हुए। गौर सरीर स्याम मनमांही। उन्हीं पर घटाते हैं कि इनका गौर शरीर है और मन में इतने काले हैं। विश्व के प्रतिकूल आचरण करते हैं। क्षत्रिय जाति से विश्व की रक्षा है। क्षतात् त्रायतीति क्षत्रः। जो आपत्ति से रक्षा करता है उसे क्षत्र कहते हैं। उस जाति का द्रोह करना विश्व के प्रतिकूल आचरण है।

मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया। परिहरि कोपु करिअ अब दाया ॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसानें। बैठिअ होइहिं पाय पिरानें ॥१॥

अर्थ : हे मुनिराज ! मैं तुम्हारा सेवक हूँ। क्रोध छोड़कर अब दया कीजिये। टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से नहीं जुटेगा। बैठ जाइये पाँव दुखता होगा।

व्याख्या : मैं आपका सेवक हूँ। प्रभु ने करिअ कृपा सिसु सेवक जानी कह दिया और मैंने मान लिया। अब आप और मैं दोनों उन्हीं की बात पर रहें। मैं सेवक बना रहूँ और आप क्रोध छोड़कर कृपा करें। मैं निश्चय प्रभुका अनुसरण करता हूँ। सहज टेढ़ अनुहरै न तोहीं का उत्तर। उन्होंने आप से दया के लिए प्रार्थना की। मैं भी कर रहा हूँ। अब मेल की बात हो रही है। सेवक सेव्य भाव मुझमें और आप में स्थापित हो गया। अब आपकी सेवा की चिन्ता करूँगा। नीच मीच सम देख न मोही वाली बात गई।

अब मैं आपके मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के सुख की व्यवस्था करूँगा। पहिली बात यह है कि आपको मानसिक सुख हो। अतः आप से प्रार्थना करता हूँ कि मन को शान्त कीजिये। जो होना था सो हो गया। अब टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से नहीं जुटेगा। दूसरी बात यह है कि आपको शारीरिक सुख हो। अतः प्रार्थना है कि आप बैठ जाइये। बड़ी दूर से मार्ग चलकर आये हैं और जब से आये हैं तब से खड़े ही हैं। इतने भक्त आपके हैं पर किसी ने बैठने को नहीं कहा। मैं इन सबों से अधिक सेवा कर सकूँगा।

जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥
बोलत लषनहिं जनकु डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥२॥

अर्थ : यदि अति प्रिय है तो उपाय कीजिये। किसी बड़े गुणी को बुलवाकर जोड़वाइये। लक्ष्मण के बोलने पर जनक डरते थे। कहा कि : चुप रहो अनुचित कर रहे हो : अच्छी बात नहीं है।

व्याख्या : धनुष के प्रिय होने का कोई कारण तो नहीं है। क्योंकि वह यदि किसी काम का होता तो महादेवजी ही उसे क्यों छोड़ जाते ? फिर भी यदि वह आपको अत्यन्त प्रिय हो उसके बिना रहा न जाता हो तो भी क्रोध से काम न

चलेगा। उसके लिए उपाय करना चाहिए। किसी बड़े भारी गुणी को खोजकर उससे जोड़वाना चाहिए। धनुष का जोड़ना कठिन कार्य है। सामान्य गुणी से काम नहीं चलेगा।

अति डर उतर देत नृप नांहीं। से जनकजी का प्रसङ्ग छूटा हुआ है। अब फिर उनका प्रसङ्ग आया। वे जानते हैं कि परशुरामजी उत्तर देने से चिढ़ते हैं। यथा : उत्तर देत छाड़ौं बिनु मारे। अतः लक्ष्मणजी को रोक रहे हैं। सम्बन्धी हो गये। बड़े हैं। कहते हैं कि चुप रहो। इनका उत्तर देना उचित नहीं है। न इनके सामने निर्भय वाणी बोलना अच्छी बात है। जनकजी को यही अब भी निश्चय है कि परशुराम के प्रहार को लक्ष्मणजी न सह सकेंगे और परशुरामजी क्रोधी हैं वे निर्भय उत्तर नहीं सह सकेंगे। अतः कुछ अनर्थ न हो पड़े इस भय से लक्ष्मण के उत्तर देने पर जनकजी को भय हुआ। लक्ष्मणजी के जोरहु कोउ बड़ गुनी बोलाई। कहते ही मष्ट करहु कहा।

थरथर कांपहिं पुर नर नारी। छोट कुमार खोट अति भारी ॥
भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी। रिस तन जरै होय बल हानी ॥३॥

अर्थ : पुर के नर नारी तो थर थर काँप रहे थे कि छोटा कुमार बड़ा भारी खोटा है और भृगुपति का शरीर निर्भय वाणी सुन सुनकर जला जाता था। बल की हानि होती थी।

व्याख्या : राजा को अति डर है। प्रजा थरथर काँपती है। सब लक्ष्मणजी के कल्याणेच्छु हैं। उनकी कल्याण कामना से ही उन्हें अत्यन्त खोटा कह रहे हैं कि यह छोटा कुमार इनका क्रोध शान्त ही नहीं होने देता। नहीं तो बड़े कुमार तो इन्हें बड़ी युक्ति से रास्ते पर लाये थे।

परशुरामजी को यह पसन्द है कि क्षत्रिय लोग सदा उनसे भयभीत रहें। अतः निर्भय वाणी सुनकर क्रोध से उनका शरीर जलता था। क्रोध अग्निकी भाँति पहिले अपने आश्रय को ही जलाता है। दूसरे पर तो पीछे काम करता है। यहाँ लक्ष्मण पर उस क्रोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। अतः वह उन्हीं परशुरामजी के शरीर को दग्ध कर रहा है। फलतः बल की हानि हो रही है।

बोले रामहिं देइ निहोरा। बचौं विचारि बंधु लघु तोरा ॥
मन मलीन तन सुन्दर कैसें। विष रस भरा कनक घटु जैसें ॥४॥

अर्थ : रामजी को निहोरा देकर बोले कि मैं तेरा छोटा भाई जानकर बरकाये जाता हूँ। इसका मन मलिन और तन कैसा सुन्दर है। जैसे विषरस से सोने का घड़ा भरा हुआ हो।

व्याख्या : रामजी का वचन सुनकर कुछ ठण्ठे हुए थे। अतः उन्हीं का निहोरा देकर कहते हैं। उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि क्यों लक्ष्मण पर उनका हाथ नहीं छूटता है। अपने मन को स्वयं समझ नहीं रहे हैं। कभी मन में यह आता

है कि इसके बालकपन का प्रभाव मेरे मन पर पड़ रहा है। कभी समझते हैं कि कौशिक का शील मेरे मन पर प्रभाव डाल रहा है। अब यह बात चित्त पर चढ़ी है कि रामजी के बर्ताव ने हमारे हृदय को द्रवीभूत कर रक्खा है। अतः कहते हैं निहोरा देते हैं कि तेरे कारण इसे छोड़ देता हूँ।

दो. सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुर समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम ॥२७८॥

अर्थ : सुनकर लक्ष्मण फिर विहँसे। रामजी ने कड़ी निगाह से देखा तो टेढ़ा बोलना छोड़कर सङ्कुचित होकर गुरु के पास चले गये।

व्याख्या : पहिले मुसकराये थे फिर हँसे तब विहँसे। अब परशुरामजो की विष रस भरा कनक घट जैसे इस युक्ति पर फिर जोरों से हँस पड़े कि यह युक्ति तो इन्हीं पर घटती है। यथा : गौर सरीर भूति भल भ्राजा। भाल विसाल त्रिपुंड विराजा'' सीस जटा ससि वदन सोहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा''सहजहु चितवत मनहु रिसाते इत्यादि। पहिले सैनहिं रघुपति लखन निवारे पर इस समय कुछ अप्रसन्नता है इसलिए नयन तरेरे। लक्ष्मणजी निवृत्त ही नहीं हुए। संकुचित हो गये कि मुझसे इस बार कुछ चूक हुई। अतः यहाँ से हटकर गुरुजी के पास चले गये। भाव यह कि यहाँ रहने से सम्भव है कि फिर मुझे हँसी आजाय।

अति विनीत मृदु सीतलि बानी। बोले राम जोरि जुग पानी॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक वचनु करिअ नहि काना॥१॥

अर्थ : रामजी दोनों हाथ जोड़कर १. अत्यन्त विनीत २. शीतल और ३. मृदु वाणी बोले : हे नाथ ! सुनो तुम सहज सुजान हो। बालक के वचन पर ध्यान मत दो।

व्याख्या : रामजी पहिले जल सम वचन बोले थे। अब हाथ जोड़कर अत्यन्त विनय युक्त कोमल और शीतल वाणी बोलते हैं। यथा : ऐसी वाणी बोलिये मनका आपा खोय। औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय।

नाथ सम्बोधन करते हैं और कहते हैं कि आप सहज सुजान हैं और यह अयान है। सहज सुजान गुणग्राहक होते हैं। दोष पर दृष्टि नहीं देते। यथा : मैं गुन ग्राहक परम सुजाना। तब कटु रटनि करौं नहिं काना। यह लक्ष्मण अजान : अज्ञान है। इसके दोषों पर दृष्टि न दीजिये।

बररै बालकु एक सुभाऊ। इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ॥
तेहिं नांहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥२॥

अर्थ : भिड़ और बालकों का स्वभाव एकसा होता है। सन्त इन्हें कभी नहीं छेड़ते। इसने कुछ काम भी नहीं बिगाड़ा है। हे नाथ ! आपका अपराधी तो मैं हूँ।

व्यख्या : दोष दृष्टि न देने का उदाहरण देते हैं। बर्रे : भिड़ भनभनाया करते हैं। परन्तु परहितैकव्रत सन्त उस ओर दृष्टि ही नहीं देते। जहाँ तनिक भी उसके भनभनाने पर दृष्टि दी तहाँ उसने काटा। यह बर्रे का स्वभाव है। स्वभावो दुरतिक्रमः। उसे मार डालिये मर जायगा। पर स्वभाव नहीं छोड़ सकता। क्षमाशील सन्त इस बात को समझते हैं और बर्रे को भगभनाने देते हैं। इसी भाँति इसे बकने दीजिये। आपकी महामहिमा पर इससे क्या प्रभाव पड़ सकता है। यह विनय है।

छुअत टूट रघुपतिहिं न दोषू इत्यादि बातें जो लक्ष्मण ने कही हैं वे सब गलत हैं। मैं अपराधी हूँ। वह तो केवल बोलता है। काम नहीं बिगाड़ता। बोल गया : कमल नाल जिमि चाप चढ़ाऊँ। जोजन सत प्रमान लै धाऊँ। तोरउ छत्रक दंड जिमि पर किया कुछ नहीं। काम बिगाड़नेवाला तो मैं हूँ। यह कोमलता है।

कृपा कोपु बधु बँधव गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं॥
कहिअ बेगि जेहि विधि रिस जाई। मुनि नायक सोइ करौं उपाई॥३॥

अर्थ : कृपा, कोप, वध और वन्धन : जो कुछ करना हो मुझ पर दास की भाँति कीजिये। जिस विधि से आपका क्रोध जाय उसे शीघ्र ही बताइये। मैं तुरन्त वही उपाय करूँ।

व्याख्या : घोरधार भृगुनाथ रिसानी है। सो उस धारा को लक्ष्मणजी ने अपने ऊपर लिया। रामजी उसे अपने ऊपर ले रहे हैं। अपराधी की चार गति हैं : १. या तो वह क्षमा किया जाय। या २. उसको धिग् दण्ड। या ३. प्राण दण्ड या ४. स्वातन्त्र्यहरण दण्ड दिया जाय। इन दण्डों में से जो आप उचित समझें मुझे दास समझकर दें। शत्रु समझकर नहीं अथवा यदि कोई दूसरी विधि हो जिससे आपका क्रोध शान्त हो सके तो बतला दीजिये मैं वही उपाय करूँ। जितना विलम्ब होता है उतना ही अधिक आपको कष्ट हो रहा है। अतः शीघ्र ही आज्ञा होनी चाहिए। ३. यह शीतलता है।

कह मुनि राम जाय रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे॥
एहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तो मैं काह कोपु करि कीन्हा॥४॥

अर्थ : मुनि ने कहा : हे रामजी ! क्रोध जाय तो कैसे जाय ? अब भी तेरा भाई मेरी ओर टेढ़ी नजर करके देखता है। इसके कण्ठ में मैंने कुठार न दिया तो क्रोध करके ही क्या किया ?

व्याख्या : जेहि विधि रिसि जाई का उत्तर दे रहे हैं। अपराध स्वीकार कर लेने से रामजी पर क्रोध नहीं है। गुरुजी के पास से भी लक्ष्मणजी टेढ़ी दृष्टि से देख रहे हैं। उसी को लक्ष्य कराके कहते हैं कि तुम तो क्रोध को हटाना चाहते हो। पर तुम्हारा भाई उसे बढ़ाना चाहता है। तुम्हारी आज्ञा से चुप है। गुरुजी के पास चला गया है फिर भी वहाँ से टेढ़ी निगाह से देख रहा है।

मेरा क्रोध अमोघ है सो व्यर्थ जाना चाहता है। क्रोध का फल है क्रोध दिलानेवाले के कण्ठ पर कुठाराघात। बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहि न संत विदूषहिं काऊ का उत्तर देते हैं। तुम इसे विदूषित न करने को कहते हो पर इसे बिना मारे न छोड़ूँगा। तुम अपने ऊपर क्रोध की धार लेना चाहते हो सो नहीं होगा।

दो. गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि, सुनि कुठार गति घोर।
परसु अछत देखौं जिअत, वैरी भूप किसोर ॥२७९॥

अर्थ : मेरे फरसे का भयानक कृत्य सुनकर राजाओं की स्त्रियों का गर्भ गिर जाता है। उस फरसे के रहते हुए भी मैं इस वैरी राजपुत्र को जीता देख रहा हूँ!

व्याख्या : तेहि नाहीं कछु काज बिगारा का उत्तर देते हैं। बिगाड़ा हो चाहे न बिगाड़ा हो पर वैरी वही है। वही मुझे कुछ नहीं गिनता। कुठार के व्याज से अपनी प्रभुता कहते हैं। मेरे कुठार की करतूत सुनने से रानियों का गर्भ गिरता है। इतना बड़ा मेरा आतङ्क है और यह मुझे तुच्छ समझता है। अतः यही मेरा वैरी है। इसे जीता मैं नहीं देख सकता : यह बालक वचन करिअ नहि काना का उत्तर है।

बहइ न हाथु दहइ रिस छाती। भा कुठारु कुंठित नृपघाती ॥
भयउ बाम विधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ ॥१॥

अर्थ : हाथ चलता नहीं है। क्रोध से छाती जल रही है। राजाओं का वध करनेवाला परशु कुण्ठित हो गया। ब्रह्मा वायें हो गये। इससे मेरे स्वभाव में परिवर्तन हो गया नहीं तो मेरे हृदय में कभी भी कृपा कैसी?

व्याख्या : ऋजवो हि ब्राह्मणाः। ब्राह्मण स्वभाव से सरल होते हैं। रामजी ने कहा था : सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना। इस पर कहते हैं कि मैं सहज सुजानता से नहीं छोड़ रहा हूँ। क्योंकि छाती तो जल रही है। बात यह है कि मेरा हाथ ही नहीं चल रहा है। हाथ चलने का आरोप कुठार पर करके कहते हैं कि यह कुठार नृपघात में सदा तीखा रहा सो आज कुण्ठित हो रहा है।

बररै बालक एक स्वभाऊ। इन्हहि न संत विदूषहिं काऊ का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं सन्त होने के कारण विदूषण नहीं करता। यह बात नहीं है। इसका तो बर्रे का सा स्वभाव बना ही है। मेरा स्वभाव पलट गया। वाम विधाता की करणी कठिन है। स्वभाव के पलटने में वे ही समर्थ हैं। मैं तो शत्रु पर दया करने को कादरता मानता हूँ। मुझे दया कहाँ से आगई? यथा : रिपु पर दया परम कदराई। लक्ष्मणजी ने देखा कि प्रभु की प्रार्थना का निरादर फिर किया।

आजु दया दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि विहँस सिर नावा ॥
वाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत वचन झरत जनु फूला ॥२॥

अर्थ : आज दया ने दुःसह दुःख सहाया। सुनते ही लक्ष्मणजी ने विहँसकर प्रणाम किया और कहा कृपामूर्ति अनुकूल वायु है। वचन बोल रहे हैं तो मानों फूल झर रहा है।

व्याख्या : परशुरामजी कहते हैं कि इस समय जो पीड़ा मुझे हो रही है इसका कारण दया है। दया के कारण दुःख तो सहना ही होता है। जिसने दया के लिए दुःख न उठाया वह दयालु ही कैसा? परन्तु दया के कारण जैसा दुःसह दुःख आज मुझे हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था। लक्ष्मणजी तेज के खानि सुमित्रा के बेटे हैं। वे इस विचित्र दया पर हँस पड़े और जाकर प्रणाम किया। बोले आपकी अनुकूल मूर्ति पुष्पित वृक्ष की भाँति है। कृपा की हवा वह रही है। जो वचन मुख से निकलते हैं तो मालूम होता है कि फूल झर रहा है। भाव यह कि जिसके हृदय में दया का उद्रेक है वह क्या ऐसी बात बोलेगा कि : परसु अछत देखौं जिअत वैरी भूप किसोर।

जौं पै कृपा जरहिं मुनि गाता। क्रोधु भए तनु राख विधाता॥
देखु जनकु हठि बालकु एहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू॥३॥

अर्थ : हे मुने! यदि कृपा होने पर आपका शरीर जला जाता है तो क्रोध होने पर आपकी रक्षा विधाता ही करेंगे। परशुरामजी बोले देख जनक! यह जड़ बालक हठ करके यमपुर में डेरा किया चाहता है। अर्थात् मरा चाहता है।

व्याख्या : परशुरामजी ने कहा है : आजु दया दुःख दुसह सहावा। वहइ न हाथ दहै रिसि छाती। उसी के उत्तर में लक्ष्मणजी कहते हैं कि संसार में यह नियम है कि क्रोध से शरीर जलता है और दया से द्रवीभूत होकर शीतल होता है। दया के समय जिस शरीर में दाह हो उसमें क्रोधावेश होने पर सचमुच आग लग जावेगी और शरीर ही भस्म हो जायगा। भाव यह है कि यह दया नहीं है कादरता है। अपनी बात बनाये रखने के लिए दया की ओट पकड़ रहे हो।

समाज भर में केवल जनकजी ही ऐसे थे जिन्होंने मष्ट करहु अनुचित भल नांहीं कहके लक्ष्मणजी को रोका था। अतः अब जनकजी से कहते हैं कि हम इसे यमपुर नहीं भेजना चाहते। पर यह जाने पर तुला हुआ है। मानता ही नहीं। तुम्हारा सम्बन्धी हो गया है। तुम इसे बचाओ। अब मैं इसे नहीं बचा सकता।

वेगि करहू किन आँखिन ओटा। देखत छोट खोट नृप ढोटा॥
विहँसे लखनु कहा मन मांहीं। मूँदे आँख कतहुँ कोउ नाहीं॥४॥

अर्थ : इसे तुरन्त आँख से ओझल क्यों नहीं करते। देखने में छोटा परन्तु यह राजा का बेटा बड़ा खोटा है। लक्ष्मण विहँसे और मन में कहा आँख मूँदने पर तो कहीं कोई नहीं है।

व्याख्या : परशुरामजी अब कहते हैं कि क्या तुम भी इसकी मृत्यु चाहते हो।

नहीं तो इसे खींच खाँचकर हमारे सामने से हटाओ। हमें दया आगई है। हम इसे खोजकर नहीं मारेंगे।

लक्ष्मणजी जोर से हँस पड़े कि क्या अब बात इतने पर आगई कि हम आँख से ओझल हो जायँ। तब तो इनके अमोघ कहे जानेवाले क्रोध का इतना ही परिणाम रह गया कि ये अब आँख मीच लें और समझ लें कि कहीं कोई नहीं है।

दो. परसुराम तब राम प्रति, बोले उर अति क्रोधु।
संभु सरासनु तोरि सठ, करसि हमार प्रबोधु ॥२८०॥

अर्थ : परशुरामजी तब रामजी से बोले। उनके हृदय में बड़ा क्रोध था। शिवजी का धनुष तोड़कर, शठ ! तू मुझे समझा बुझा रहा है।

व्याख्या : रामचन्द्र को चुप देखकर कि लक्ष्मण को तनिक भी नहीं रोक रहे हैं। बड़ा क्रोध हुआ। अब रामजी से कहते हैं कि तू शठ है। महा बिगाड़ करके मीठा मीठी बातें बनाता है। यथा : मीठी बातें सठ करैं करिके महा बिगार। हमारी इतनी हानि करके समझाने चला है। यथा : तुम समसील धीर मुनि ज्ञानी। इन्हहिं न संत विदूषहिं काऊ। करहु कृपा सिसु सेवक जानी। और उसे नहीं समझाता।

यहाँ 'परशुराम' और 'राम' शब्द दोनों साथ देकर यह दिखलाया कि दोनों ही राम हैं। सदा परशु धारण किये रहने से एक का नाम परशुराम पड़ा और दूसरे ऐश्वर्यातिरेक से श्रीराम कहलाये। यथा : श्रीरामाय नमः उदरं पूजयामि। श्रीरामाय नमः हृदयं पूजयामि। श्रीरामावतार में ही उनके द्वारा दूसरे अवतार का पराभव हुआ हैं। ऐसी बात दूसरे अवतारों में नहीं देखी जाती। यह श्रीरामावतार की विशेषता है।

बंधु कहै कटु संमत तोरे। तूँ छल विनय करसि कर जोरे ॥
करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहि त छाडु कहाउव रामा ॥१॥

अर्थ : तेरी सम्मति से तेरा भाई कडुआ बोलता है और तू हाथ जोड़कर छल से विनय करता है। युद्ध में मेरा परितोष कर या राम कहलाना छोड़।

व्याख्या : अब जाना यह सब तेरी राय से होता है। तू मुझे समझाता है भाई को नहीं रोकता। उसे कटु कहने के लिए छोड़ दिया है और स्वयं हाथ जोड़कर विनय करता है। ऐसा कहकर : अति विनीत मृदु सीतल वानी। बोले राम जोरि जुग पानी। पर परशुरामजी आक्षेप करते हैं।

कहहु वेगि जेहि विधि रिसि जाई का उत्तर देते हुए कहते हैं कि दास मानकर कृपा, कोप, वध, बन्धन करनेवाली बात ठीक नहीं। शत्रु की भाँति संग्राम में मेरा पेट भर दे। तू मेरा प्रतिस्पर्धी बना है। तूने शङ्कर का धनुष तोड़ा है और

नाम भी अपना मेरे सा रक्खे है। अब दो राम नहीं रह सकते। युद्ध कर या अपना नाम बदल।

छल तजि करहि समरु सिवद्रोही। बंधु सहित न त मारौ तोही ॥
भृगुपति बकहिं कुठार उठायें। मन मुसुकाहिं रामु सिर नाये ॥२॥

अर्थ : रे शिवद्रोही या तो छल छोड़कर युद्ध कर नहीं तो भाई के सहित तुझे मारूँगा। परशुरामजी कुठार उठाये बकते चले जाते हैं और रामजी सिर नवाये हुए मन ही मन मुसकरा रहे हैं।

व्याख्या : तेरा दास बनना छल है। वस्तुतः तू मेरा प्रतिस्पर्धी है। शिवद्रोही मेरा दास नहीं हो सकता। तू दास बनकर थोड़े ही दण्ड में बचना चाहता है। तूने धनुष तोड़ा है। यदि प्रतिस्पर्धी नहीं है तो अपना नाम बदल नहीं तो तुझे भी मारूँगा और तेरे भाई को भी। तुम दोनों भाइयों में बड़ी प्रीति है। छोटा तो कटु बोलकर मेरे क्रोध के परिणाम को अपने ऊपर लेना चाहता है और तू तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा। कहकर उसे बचाना चाहता है। सो न होगा। मैं दोनों भाइयों को मारूँगा।

गुनह लषन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहुँ तें बड़ दोषू ॥
टेढ़ जानि सब बंदै काहू। वक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहू ॥३॥

अर्थ : अपराध तो लक्ष्मण का और क्रोध मेरे ऊपर कर रहे हैं। कहीं सीधेपन में भी बड़ा दोष होता है। टेढ़ा जानकर सब लोग वन्दना करते हैं और टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता।

व्याख्या : रामजी स्वगत कहते हैं। यह कौतूहल देखो। अपराध लक्ष्मण का है। वह बिना उत्तर दिये नहीं मानता। तो आज विश्वविदित क्षत्रियकुल द्रोही भी उससे बगल झाँक रहे हैं और मैं सुधाई से काम लेता हूँ तो इन्हें छल का भ्रम हो रहा है। सचमुच यहाँ सुधाई दोषप्रद ही है। 'गुनह' शब्द का अर्थ अपराध है। यह पारसी शब्द है 'साहिब' 'गरीब' आदि शब्दों की भाँति हिन्दी में परिगृहीत है।

कोई हो चाहे वन्दनीय चाहे अवन्दनीय यदि वह टेढ़ा है तो सभी उसकी वन्दना करते हैं। दूइज के चन्द्रमा टेढ़े होते हैं तो उनकी सभी वन्दना करते हैं। यथा : दुइज न चन्दा देखिये उदित कहा भरि पाख। राहु भी उसे नहीं ग्रसता। पूर्णमासी के चन्द्रमा सीधे होते हैं। उनकी इतनी पूजा भी नहीं होती और उन्हें राहु भी ग्रसता है।

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा ॥
जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहिं जानिअ आपन अनुगामी ॥४॥

अर्थ : रामजी ने कहा : हे मुनीश ! क्रोध छोड़िये। आपके हाथ में परशु है और यह सिर आगे है। जिस प्रकार से आपका क्रोध जाय सो करिये। मुझे अपना अनुचर समझिये।

व्याख्या : बंधु कहै कटु संमत तोरे। तू छल विनय करसि कर जोरे का उत्तर देते हुए रामजी कहते हैं कि यदि इसी बात पर क्रोध है तो भी क्रोध छोड़िये। मेरी ओर से छल नहीं है सिर हाजिर है और आप कुठार उठाये ही हुए हैं चला दीजिये।

आप स्वामी हैं, सेवक का सिर स्वामी के लिए है। यदि काटने से क्रोध जाता हो तो काट दीजिये। पर मुझे अपना सेवक जानिये वैरी नहीं। मुझे सिर देना स्वीकार है। ब्राह्मण का वैरी होना स्वीकार नहीं है।

दो. प्रभु सेवकहि समरु कस, तजहु विप्रवर रोसु।
वेषु विलोकें कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोसु ॥२८१॥

अर्थ : स्वामी और सेवक में युद्ध कैसा ? हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! क्रोध छोड़िये। बालक का भी दोष नहीं है। उसने भी वेष देखकर ही कुछ कहा।

व्याख्या : ब्राह्मण से जो मैं सेवक सेव्य भाव रखता हूँ उसे उस सम्बन्ध को न तोड़वाइये। करु परितोष मोर संग्रामा। छलं करि समर करहिं का उत्तर देते हुए रामजी कहते हैं। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को द्वारपाल नियुक्त कर रक्खा है। मैं सेवक होकर प्रभु से न लड़ूँगा। बंधु सहित न त मारों तोहीं का उत्तर देते हुए कहते हैं। आपका वेष अननुरूप है। ब्राह्मण का वेष ऐसा न होना चाहिए। न्यायाधीश को सैनिक का वेष नहीं धारण करना चाहिए। इसी भाँति सैनिक को न्यायाधीश का वेष अनुचित है। प्रभुवाला वेष आपने नहीं रक्खा। सेवक का वेष आपको पसन्द है। लक्ष्मण बालक है। सेवक के वेष में स्वामी को नहीं पहचानकर अनादर किया। अतः वह भी निर्दोष है। मैंने तो पहिचान लिया। मैं जानबूझकर दोषी नहीं हो सकता।

देखि कुठार बान धनुधारी। भै लरिकहि रिस वीरु विचारी ॥
नाम जान पै तुम्हहि न चीन्हा। वंस सुभायँ उतरु तेहिं दीन्हा ॥१॥

अर्थ : कुठार, वाण और धनुष धारण किये हुए देखकर लड़के ने विचार किया कि ये वीर हैं। इसलिए उसने क्रोध किया। नाम जाना पर आपको नहीं पहिचाना। वंश के स्वभाव से उसने उत्तर दिया।

व्याख्या : क्षत्रिय जाति भेंड़िये की भाँति एक दूसरे को खानेवाली होती है। कुठार, वाण, धनुष धारण क्षात्रधर्म का चिह्न है। अतः वीर विचार करके लड़के को क्रोध हुआ। आप मुनि हैं। इस बात को वह वीर वेष में नहीं पहिचान सका। उसने उत्तर दिया। उसपर उत्तर देने का ही दोष है। नाम जानना ही चीन्हना है। यथा : रूप विसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परत पहिचाने। यहाँ तुम्हहि न चीन्हा। कहने का भाव यह है कि वह यह न पहिचान सका कि क्षात्रवेष में आप साक्षात् ब्रह्ममूर्ति हैं। जिनके लहहिं न रिपु रन पीठीं। यह वंशस्वभाव है। तदनुसार उसने प्रतिस्पर्धी जानकर उत्तर दिया।

जौ तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु [१]धरत गोसाईं ॥
छमहु चूक अनजांनत केरी। चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी ॥२॥

अर्थ : यदि तुम मुनि की भाँति आते तो यह लड़का चरणरज को सिरपर धारण करता। अनजान की चूक क्षमा कीजिये। ब्राह्मण के हृदय में बड़ी कृपा होनी चाहिए।

व्याख्या : आप मुनि की भाँति नहीं आये। यदि आते तो उत्तर देना तो दूर गया। वह आपके चरणरज को सिरपर धारण करता क्योंकि वह जानता है कि इसी में मेरा कल्याण और उसका कल्याण है। यथा : सब पायेउँ रज पावन पूजे।

बालक से बिना जाने चूक हुई। कुर्यादन्यं न वाकुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। ब्राह्मण के हृदय में बड़ी कृपा चाहिए। जानबूझकर किये गये अपराध को भी क्षमा करना चाहिए। इसने तो बिना जाने चूक की है। यह बंधु सहित न त मारौं तोही का उत्तर है।

हमहि तुर्महिं सरवर कस नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥३॥

अर्थ : हे नाथ ! हमारी तुम्हारी कौन सी बराबरी है। कहो तो कहाँ चरण और कहाँ माथा। मेरा छोटा सा नाम केवल राम है और आपका नाम परशु के सहित होने से बड़ा है।

व्याख्या : युद्ध बराबरी से होता है। चरण कितना भी ऊँचे चढ़े सिरतक नहीं चढ़ सकता। जब वहाँ तक पहुँच ही नहीं तो युद्ध क्या करेगा ? पूज्य होने से परशुरामजी को मस्तक और सेवक होने से अपने को चरण कहा। करु परितोष मोर संग्रामा का यह उत्तर है।

नाही त छाड़ कहावउ रामा का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं ही आपसे छोटा नहीं हूँ। मेरा नाम भी आपके नाम से बहुत छोटा है। राम कहने से आपका बोध नहीं होता। परशुराम कहने से होता है और मेरा बोध 'राम' मात्र से होता है। यदि आपका मेरा एक नाम होता तब नाम रखने या छोड़ने का प्रश्न उठ सकता था।

देव एक गुन धनुष हमारे। नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम सन हारे। छमहु विप्र अपराध हमारे ॥४॥

अर्थ : हे देवता ! मेरे पास तो एक गुण धनुष है पर तुम्हारे पास तो परम

---

[१]. यहाँ सम्भावना अलङ्कार है।

पुनीत [1]नव गुण हैं। सब प्रकार हम तुमसे हारे हुए हैं। हे विप्र ! हमारे अपराध को क्षमा करो।

व्याख्या : नाम में ही बड़े नहीं, आप गुण में भी बड़े हैं। मुझमें केवल एक गुण है। धनुर्वेद जानता हूँ। यथा : सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञो धनुर्वेदेऽतिनिष्ठितः। पर आपमें नव गुण हैं और वे परम पुनीत हैं। यथा : शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् : गी.। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, ऋजुता : सिधाई, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। स्वाभाविक कर्म कहकर गुण कहा। परन्तु धनुषवाला गुण, वीरता का : युद्धे चाप्यपलायनम् तो हमारा ही है।

दो. बार बार मुनि विप्रवर, कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हँसि, तहूँ बंधु सम वाम ॥२८२॥

अर्थ : जब बार बार मुनि और विप्रवर : श्री राम ने : परशुराम से कहा तो भृगुपति ने क्रोध की हँसी के साथ कहा कि तू भी भाई सा ही खोटा है।

व्याख्या : मुनि दो बार कहा। यथा : १. राम कहा रिसि तजिअ मुनीसा २. जौ तुम औतेउ मुनि की नाई। तीनबार विप्रवर कहा। यथा : १. तजहु विप्रवर रोष। २. चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी। ३. छमहु विप्र अपराध हमारे। तब तो परशुरामजी क्रोध से हँसे। क्रोध की हँसी बड़ी भयानक होती है। यथा : अट्टहासमशिवं शिवदूती चकार ह। परशुरामजी की इच्छा थी कि उन्हें सब कोई वीर मानकर डरें। 'मुनि' 'विप्र' सम्बोधन से वे अपना अपमान मानते थे। क्योंकि राजाओं ने वीर न होने से ब्राह्मणों का अपमान किया था। अतः रामजी से कहा कि तू भी छोटे भाई सा ही खोटा है। मुझे वीर नहीं मानता। एक गुण धनुष अपना मानता है। मेरे शस्त्र बाँधने को अनुचित बतलाता है। तेरे और तेरे भाई के कहने में वास्तविक भेद कुछ भी नहीं हैं। अतः तू भी वैसा ही खोटा है।

निपटहि द्विज करि जानेहि मोही। मैं जस विप्र सुनावौं तोही ॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू ॥१॥

अर्थ : तूने मुझे निरा ब्राह्मण ही समझ रक्खा है ? मैं जैसा ब्राह्मण हूँ, तुझे सुनाता हूँ। धनुष को स्रुवा वाण को आहुति और मेरे क्रोध को धधकती हुई अग्नि जान।

व्याख्या : परशुरामजी छमहु विप्र अपराध हमारे का उत्तर देते हैं कि तुम्हारे समझने में बड़ी भूल हो रही है। तुमने समझ रक्खा है कि यह अध्ययना-

---

१. नवगुणों का सूचक निम्नश्लोक बहुत जगह कहते सुना गया है। पर यह पता मुझे नहीं लग सका कि यह श्लोक कहाँ का है। यथा : ऋजुस्तपस्वी सन्तुष्टः क्षमाशीलो जितेन्द्रियः। क्षान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणो नवभिर्गुणैः।

ध्यापन, यजन याजन, दान प्रतिग्रह छोड़कर और क्या जाने ? ब्राह्मण के ये ही छः कर्म हैं। ब्राह्मण का युद्ध से क्या सम्बन्ध ? सो मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं तो युद्ध यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण हूँ। श्रौत याग में पाँच सात प्रकार की सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। १. स्रुवा जिससे आहुति दी जाती है। २. आहुति द्रव्य जिससे होम किया जाय। प्रधान आहुति घी या दुग्ध की है। इसके बिना काम नहीं चलता। ३. घोर अग्नि में होम किया जाता है। प्रज्वलित अग्नि में ही होम का विधान है। ४. समिधा : लकड़ी जिससे अग्नि जलाई जाती है। ५. पशु : जिसकी श्रौत याग में बलि देनी पड़ती है और ६. मन्त्र : जिसके उच्चारण के साथ आहुति दी जाती है और ७. शस्त्र बलि देने के लिए। सो युद्धयज्ञ में धनुष हो मेरा स्रुवा होता है। वाण की आहुतियाँ पड़ती हैं और मेरा क्रोध ही धधकतो हुई आग है।

समिध सेन चतुरंग सुहाई। महा महीप भए पसु आई॥
मैं यहि परसु काटि वलि दीन्हे। समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे॥२॥

अर्थ : चतुरङ्गिणी सेना ही समिधा हैं। बड़े बड़े राजा ही आकर पशु होते हैं। इसो परशु से काटकर मैं वलि देता हूँ। ऐसे युद्धयज्ञ तथा जप मैंने करोड़ों किये हैं।

व्याख्या : चतुरङ्गिणी सेना रूपी : रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल : समिधा मेरी क्रोधाग्नि का आधार है। इसे जलाकर ही मेरा क्रोध शान्त होता है। बड़े बड़े राजा इस युद्धयज्ञ में आकर पशु हो जाते हैं। श्रौतयाग बिना पशु के होता नहीं। इसी भाँति मेरा युद्धयज्ञ बिना महाराजाओं की वलि दिये पूरा होता नहीं। मैं इसी परशु से काटकर उनकी बलि यज्ञपुरुष की प्रीति के लिए देता हूँ। मैं ऐसा यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण हूँ। जितना ही अधिक संख्या में यज्ञ करे उतना ही ब्राह्मणत्व का उत्कर्ष होता है। सौ यज्ञ करने से यजमान शतक्रतु : इन्द्र का पद प्राप्त करता है। मैंने तो करोड़ों ऐसे यज्ञ मन्त्र जप के साथ किये हैं। दिव्यास्त्रों के प्रयोग में मन्त्र जप किया जाता है।

मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि विप्र के भोरे॥
भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥३॥

अर्थ : मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं इसलिए ब्राह्मण के धोखे से तू मेरा अपमान करके बोलता है। धनुष तोड़ दिया है। इससे दर्प वहुत बढ़ गया है ऐसा अभिमान हो गया है मानो तुम जगत् जीतकर खड़े हो।

व्याख्या : ये जितने राजा यहाँ इकट्ठे हैं वे मेरे प्रभाव को जानते हैं। इसलिए ये आदर के साथ : परम भयभीत होकर मुझसे वोलते हैं। तू मेरे इस प्रभाव को जानता ही नहीं। समझता है कि ये ब्राह्मण हैं। यज्ञ जप करनेवाले ये क्या कर सकते हैं। इसलिए मेरा निरादर करके : निर्भय होकर मुझसे वोलता है। यह नहीं समझता कि जिसने करोड़ों युद्ध यज्ञ करके इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्र किया उसे एक यज्ञ करके मुझे वलि दे देने में कौन सा बड़ा परिश्रम है ?

देव एक गुन धनुष हमारे का उत्तर परशुरामजी देते हैं कि धनुष जो तोड़ दिया तो बड़ा भारी अभिमान हो गया कि धनुष का गुण तो हमारा ही है। उसमें कोई साझीदार नहीं है। मैं ही जगत् में एकमात्र धनुर्द्धर हूँ ऐसी भावना तुम्हें हो गई है। तुम्हें ऐसा अभिमान बढ़ा हुआ है मानो संसार जीतकर खड़े हो।

राम कहा मुनि कहहु विचारी। रिसि अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥
[1]छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना ॥४॥

अर्थ : रामजी ने कहा हे मुने ! विचारकर बोलो। आपका क्रोध बहुत बड़ा है और मेरी चूक बहुत छोटी है। पुराना धनुष छूते ही टूट गया मैं किसलिए अभिमान करूँ।

व्याख्या : मुनि हो मनन करनेवाले हो। आपको विचारकर बोलना चाहिए। आप विचार से काम नहीं ले रहे हैं। धनुष आपका गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह आपका स्वधर्म नहीं है। वह मेरा स्वधर्म है इसलिए मेरा है। युद्ध में न भागना क्षात्रधर्म है। ब्राह्मण के लिए अनिवार्य नहीं है। यथा : युद्धे चाप्यपलायनम्। क्षात्रकर्म स्वभावजम्। हम स्वधर्म पर स्थित हैं उसे आप अभिमान बतला रहे हैं। धनुषभङ्ग लघु चूक है। क्योंकि बल के दिखलाने में ही क्षत्रिय की बड़ाई है। यह भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा का उत्तर है।

दो. जौ हम निदरहिं विप्र वदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयवस नावहिं माथ ॥२८३॥

अर्थ : हे भृगुवंशियों के स्वामी ! सत्य मानिये यदि हम ब्राह्मण जानकर निरादर करें तो संसार में ऐसा सुभट कौन है जिसे भयवश सिर झुकावें।

व्याख्या : ब्राह्मण जानकर ही मैं सिर झुकाता हूँ। यदि ब्राह्मण जानकर हम निरादर करें तो क्या सुभट जानकर डरेंगे ? हम सुभट से नहीं डरते ब्राह्मण से डरते हैं। यथा : इन्द्र कुलिस मम सूल विसाला। कालदंड हरि चक्र कराला। जो इनकर मारा नहि मरई। विप्र रोष पावक सो जरई। तथा : मुनि तापस जिनते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं। भाव यह है कि मुझे ब्रह्मबल से भय है। क्षत्रबल तो अपनी वस्तु है उससे क्यों डरें ?

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होहु बलवाना ॥
जौ रन हमहि प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥१॥

अर्थ : देवता, दनुज और नाना प्रकार के योद्धा चाहे बराबरीवाले हों चाहे अधिक बलवान् हों। यदि कोई हमें युद्ध में ललकारे तो हम सुख से लड़ेंगे। चाहे वह काल ही क्यों न हो।

---

[1] यह सम तृतीय है।

व्याख्या : चाप स्रुवा सर आहुति जानू इत्यादि तीन अर्धालियों से युद्धयज्ञ का रूपक दिखलाया है। उसीका उत्तर श्रीरामजी तीन अर्धालियों में देते हैं। देव स्वर्गलोक के योद्धा, दनुज पाताललोक के योद्धा भट नाना मर्त्यलोक के योद्धा। इनमें से चाहे मेरे समान बलवाले हों चाहे अधिक बलवाले हों। यदि युद्ध में इनमें से कोई मुझे ललकारे तो वह काल ही क्यों न हो निश्चय उससे युद्ध करेंगे। निर्बल को बात नहीं कहता हूँ क्योंकि उसका तो मैं बल ही हूँ। यथा : निर्बल के बल राम। भाव यह कि मुझे ललकारिये मत। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते। यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्। अथचेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि। अर्थ : युद्ध से बढ़कर दूसरा धर्म क्षत्रिय के लिए नहीं है। बिना प्रार्थना किये यह खुला दरवाजा स्वर्ग का हे अर्जुन! भाग्यवान् क्षत्रिय को मिलता है। यदि तू इस धर्मयुद्ध को न करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति से पतित होकर पापी हो जायगा। ललकारने से यदृच्छया चोपपन्नम् बिना प्रयत्न के ही युद्ध का अवसर प्राप्त हो जाता है। मैं सींघ बाँधकर लड़ने नहीं जाता परन्तु ललकारने पर न लड़ने से लोक परलोक दोनों बिगड़ता है और लड़ने से दोनों बनता है। यथा : हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। अतः दोनों हाथ में लड्डू है। युद्ध में मरने मारने को हिंसा समझनेवाले क्षत्रिय मूर्ख हैं।

छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पाँवर जाना ॥
कहौं सुभाउ न कुलहिं प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुवंसी ॥२॥

अर्थ : क्षत्रियशरीर धारण करके जो युद्ध में डरा उसे कुल का कलंक और पामर समझना चाहिए। मैं स्वभाव कहता हूँ। प्रशंसा नहीं करता। रघुवंशी युद्ध में काल से भी नहीं डरते।

व्याख्या : क्षत्रियशरीर के लिए युद्ध से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। ऐसे धर्म को त्याग करनेवाला नीच है। कुल का कलङ्क है। संग्राम न करनेवाले को स्वधर्म का त्याग करना पड़ता है। कीर्ति नष्ट होती है। पाप होता है। इसलिए वह अपयशभाजन है। उसके प्रियजनों को उसके कारण लज्जित होना पड़ता है। इसलिए वह प्रियजनद्रोही है और अपयशभाजन प्रियजनद्रोही को ही कुलकलङ्क कहते हैं। यथा : कुलकलङ्क जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही। मैं जस विप्र सुनावौं तोहीं का उत्तर देते हैं : सुनाइयेगा क्या ? आप अपने वंश में केवल अपना हाल सुनावेंगे। यहाँ पूरे रघुवंश का स्वभाव सुन लीजिये। रघुवंश रण में काल से भी नहीं डरता। यह प्रशंसा नहीं है स्वभाव है। अर्थात् रक्त का गुण है। संकरता न आने से रक्त का गुण रहता ही है। आप उसे नीच समझते हैं जो आपको कालरूप नहीं देखता। पर जो काल से नहीं डरता वह आप से रण में क्यों डरेगा ?

विप्रवंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जौं तुम्हहिं डेराई ॥
सुनि मृदु वचन गूढ़ रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के ॥३॥

अर्थ : ब्राह्मणवंश की ऐसी प्रभुता है कि जो तुम्हें : ब्राह्मणवंश को डरेगा वह निर्भय हो जायगा। रघुपति के कोमल पर गूढ़ वचन सुनकर भृगुपति की बुद्धि का पर्दा खुल गया।

व्याख्या : तहूँ बंधु सम वाम का उत्तर रामजी देते हैं कि निर्भय होने से आप वाम कह रहे हैं। सो यह : निर्भयता विप्रवंश की प्रभुता है मेरी नहीं। मैं ब्राह्मणवंश को डरता हूँ इसलिए अभय हूँ। अभय वही हो सकता है जो विप्रवंश को डरे। अर्थात् मैं तुम्हारे अस्त्रबल से नहीं डरता। तुम्हारे ब्राह्मणत्व को डरता हूँ।

वचन तो मृदु है स्वीकार करते हैं कि मैं आप से डरता हूँ। पर गूढ़ है अर्थ छिपा है। परशुरामजी जान गये कि ये ब्रह्मण्यदेव हैं। इनकी भक्ति ब्राह्मणत्व पर सच्ची है। क्षात्रधर्म पर इतनी निष्ठा होने पर भी ब्राह्मणत्व पर इतनी आस्था देखकर पता चल गया कि अवत्तार हो गया। स्वयं सरकार आगये। आँख खुल गई। पूरे संवाद का अर्थ लग गया।

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥
देत चापु आपुहि चलि गयेऊ। परसुराम मन विसमय भयेऊ ॥४॥

अर्थ : हे राम ! विष्णु का धनुष लो इसे चढ़ाओ जिसमें मेरा सन्देह मिट जाय। धनुष देते समय स्वयं ही चले गये। अर्थात् जो थे सो नहीं रह गये। परशुरामजी के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ।

व्याख्या : परशुरामजी ने कहा : वैष्णव धनुष को विष्णु ही चढ़ा सकते हैं। वैष्णवतेजयुक्त होने से ही इस धनुप को मैं धारण करता था। आप इसे खींचिये। यदि प्रत्यञ्चा चढ़ गयी तो मेरा सन्देह मिट जायगा। अब मुझे आपके पहिचानने में इतना ही सन्देह है।

धनुष देते समय जो वैष्णवतेज[1] उनमें था वह चला गया। परशुरामजी निस्तेज से हो गये तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। देवता के अस्त्रशस्त्र उनके स्वरूप से पृथक् नहीं होते। धनुष की चेतन सी क्रिया देखकर आश्चर्य हुआ।

दो. जाना राम प्रभाउ तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले वचन, हृदय न प्रेमु अमात ॥२८४॥

---

[1] त्रेतामुखे दाशरथिर्भूत्वा रामोऽहमव्ययः।
उत्पत्स्ये परया शक्त्या तदा द्रक्ष्यसि मां ततः।
मत्तेजः पुनरादास्ये त्वयि दत्तं मया पुरा। अध्यात्मे

भगवान् विष्णु ने परशुराम से कहा कि नेत्रों में मैं दाशरथि होकर पराशक्ति के सहित अवतीर्ण हूंगा। तब जब मुझसे तुम्हारी भेंट होगी तो मैंने जो अपना तेज तुम्हें दिया है उसे लौटा लूंगा। वही उस समय हुआ। रामजी ने अपना तेज परशुरामजी से ले लिया।

अर्थ : तब उन्होंने रामप्रताप जाना। उनका शरीर पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। हाथ जोड़कर वचन बोले। प्रेम हृदय में अँटता नहीं था।

व्याख्या : पहिले कहते थे मोर प्रभाउ विदित नहिं तोरे। उस समय रामजी के प्रभाव से अनभिज्ञ थे। अब जाना महात्मा हैं। इन्हें असूया नहीं। स्वरूपज्ञान होते ही प्रेम उमड़ा सो शरीर में भर गया और समाता नहीं है अङ्ग अङ्ग से पुलक और प्रफुल्लता के मिस से बाहर निकला पड़ता है। मनसा : प्रेम न हृदय समात। कर्मणा : जोरि पानि। वाचा : बोले वचन।

जय रघुवंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रमहारी॥१॥

अर्थ : हे रघुवंशकमलवन के सूर्य! राक्षसकुलरूपी वन के जलानेवाले अग्नि! आप की जय हो। हे सुर विप्र धेनु के हितकारी! आपकी जय हो। हे मद, मोह, क्रोध और भय को हरण करनेवाले! आपकी जय हो।

व्याख्या : जिस भाँति कमलवन सूर्योदय से विकसित हो उठता है। इसी भाँति आपके अवतीर्ण होने से रघुवंश प्रफुल्लित हो रहा है। अर्थात् आप अपने वंश के समुन्नतिकारी हैं। यथा : स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्। दनुजकुल इस समय वन की भाँति सघन और विस्तृत हो रहा है। उसके लिए आप अग्नि हैं। वन का नाश जिस भाँति अग्नि से होता है उस भाँति और किसी उपाय से नहीं होता। अग्नि में ही यह सामर्थ्य है कि वन के विस्तारानुसार अपनी शक्ति का आकार प्रकट कर सकता है। सुर विप्र धेनु का अहित इन राक्षसों से हो रहा है। यथा : करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सोदहिं विप्र धेनु सुर धरनी। इनके हित के लिए ही आप दनुजवनकृसानु बन रहे हैं। मद मोह क्रोध और भ्रम आदि दोषों के बढ़ने से अधर्म का अभ्युत्थान हो रहा है। उनका आप हरण करनेवाले हैं। रघुवंशबनज बन भानु से रघुकुल में अवतार कहा। दनुज बन गहनकृसानु से अवतार का प्रयोजन विनाशाय च दुष्कृताम् कहा। रघुवंश की ही प्रशंसा दोनों प्रभुओं के मुख से सुनी। यथा : कालहु डरैं न रन रघुवंसी। वंस प्रभाउ उतर तेहि दीन्हा। सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन पर न सुराई। अतः भानू द्विवचन का प्रयोग किया। इसी भाँति दनुजवनदहन में लक्ष्मणजी के सहायक होने से। यथा : जयति संग्राम सागर भयंकर तरन वरबाहु सेतू। कृसानू द्विवचन का प्रयोग किया।

सुर महिसुर हरिजन अरुगाई। हमरे कुल इन पर न सुराई। सब प्रकार हम तुमसन हारे इत्यादि वाक्यों से अर्थ लग गया कि सुर विप्र धेनु हितकारी का आविर्भाव हो गया। तुम समसील धीर मुनि ग्यानी कहकर प्रशंसा करते हुए परशुरामजी को पुरुषार्थ का अभिमान न करने की शिक्षा दी। इसलिए मदहारी कहते हैं। कृपा कोप वध बँधव गोसाईं। मोपर करिय दास की नाईं कहकर विनय करते हुए परशुरामजी को परधर्म के बहुमानरूपी अज्ञान त्यागने की शिक्षा दी।

इसलिए मोहहारी कहते हैं। तजिअ विप्र वर रोष : रिस तजिअ मुनीसा। इत्यादि प्रार्थनाओं से क्रोध न करने की शिक्षा दी। इसलिए कोहहारी कहते हैं। सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के। इसलिए भ्रमहारी कहते हैं। चारों उत्तरों से क्रमशः चारों दोषों का हरण किया। १. इससे चरित कहा।

विनय सील करुना गुन सागर। जयति वचन रचना अति नागर ॥
सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छवि कोटि अनंगा ॥२॥

अर्थ : विनयशील करुणा और गुणों के सागर वचनरचना में अति नागर आपकी जय हो। सेवक के सुख देनेवाले सब अङ्गों से सुन्दर और शरीर में करोड़ों कामदेव की शोभावाले आपकी जय हो।

व्याख्या : रामजी ने परशुरामजी के जनकजी से पूछने पर. यथा : वेगि बताव मूढ़ न त आजू : कहा। नाथ संभु धनु भंजनि हारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा। ऐसे विनयपूर्वक उत्तर से जाना कि ये विनय के सागर हैं। इसी भाँति नाथ करिअ बालक पर छोहू कहने से जाना कि शीलसागर हैं। इतनी करुणा है कि ब्राह्मण के कोप करने पर अपराध स्वीकार किये लेते हैं। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा। क्रोध से जल रहे हैं परशुरामजी। उनकी शान्ति के लिए अपराधी बनने को जो प्रस्तुत हो उसके करुणासागर होने में कौन सन्देह है ? प्रभु सेवकहिं समर कस। वेष विलोके कहेसि कछु। छमहु चूक। परसु अछत बड़ नाम तुम्हारा। नवगुण परम पुनीत तुम्हारे। ये वाक्यखण्ड कहनेवाले में अपरिमित गुण के होने की सूचना देते हैं। इसलिए जाना कि गुणसागर हैं। सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के। इस भाँति धनुषविषयक वादविवाद में मोहपटल को हटा देने से वचनरचना का पाण्डित्य स्पष्ट है। अतः वचनरचना में अति नागर हैं। परशुरामजी को संवाद के बीच में ही जिन जिन गुणों का परिचय मिला उन्हीं के आधार पर स्तुति कर रहे हैं। २. इससे गुण कहा।

सभय विलोके लोग सब जानि जानकी भीरु। तब बिना पूछे हो बोले। अतः ज्ञात हुआ कि सेवक सुखद हैं और : सुभग सब अंगा। जय सरीर छवि कोटि अनंगा : का तो सब गुणों से पहिले ही परशुरामजी साक्षात्कार कर चुके हैं। यथा : रामहिं चितइ रहे भरि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन। ३. इससे रूप कहा।

करौं काह मुख एक प्रसंसा। जै महेस मन मानस हंसा ॥
अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥३॥

अर्थ : एक मुख से मैं आपकी प्रशंसा क्या करूँ। हे महेश के मनमानस के हंस ! आपकी जय हो। बिना जाने मैंने बहुत अनुचित : शब्द कहे। आप दोनों भाई क्षमा के मन्दिर हैं। क्षमा करें।

व्याख्या : परशुरामजी परम शैव हैं। यथा : भाल विसाल त्रिपुंड विराजा। सो दोनों भाई राम लक्ष्मण को अपने इष्टदेव शिवजी के मनमानस के हंस बतला

रहे हैं। इतने से ही उनका हार्दिक भाव समझ लेना चाहिए। उनका कहना है कि मैं एक मुख से क्या प्रशंसा करूँ। यह द्योतित करता है कि अनेक मुखवाले शेष महेश भी प्रशंसा नहीं कर सकते। ४. इससे पराकाष्ठा का उत्कर्ष कहा।

मैंने अपने समझ में सब उचित कहा था। परन्तु अब मोह का परदा हट जाने से मालूम हुआ कि वे वचन अनुचित थे। आप लोगों के स्वरूप का ज्ञान मुझे नहीं था। अतः बहुत सी अपमानसूचक बातें मैंने मनुष्य जानकर आपको कही। आप दोनों भाई क्षमा के मन्दिर हो। बराबर मेरे अपराध को क्षमा करते ही गये। पर अब मैं क्षमाप्रार्थना करता हूँ। आपने मुझसे छमहु चूक अनजानत केरी कहा था। अब मैं वही प्रार्थना आप से करता हूँ। मेरे अनुचित कथन को क्षमा करो। दूसरा कोई वरदान नहीं चाहता। ५. इससे प्रार्थना की।

ये ही पाँच बातें इस चौथे गुणग्राम में हैं। चौथा गुणग्राम रोहिणी नक्षत्र में ये ही पाँच तारे चमकते हैं। आकार शकट सा है। इसमें धर्मरथ की सम्पूर्ण बातें संक्षेप में दिखलायी गई हैं। इसलिए शकटाकार कहा। इस चौथे गुणग्राम के विषय में कहा गया है: विबुध वैद भव भीम रोग के। सो भव भीम रोग भगवत् और भागवत अपराध है। सो दोनों का क्षमापन इस स्तुति से हुआ। इस गुणग्राम में दोनों भाइयों की एक साथ स्तुति हुई। इसलिए विबुध वैद्य: अश्विनी कुमार कहा। विबुध वैद्य भी दो भाई हैं और दोनों एक साथ रहते हैं।

कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गए वनहि तप हेतू॥
अपभयँ कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवँहि पराने॥४॥

अर्थ: रघुकुल की पताका की जय हो। जय हो। ऐसा कहकर भृगुपति तप ही के लिए वन गये। निर्मूल डर से राजा लोग डर गये और कादर चुपके से इधर उधर भाग गये।

व्याख्या: नव बार जय जय कहा। क्योंकि सात बार लक्ष्मण: भागवत का और दो बार रामजी: भगवत् का अपमान किया था। लक्ष्मण का अपमान। यथा: १. रे नृप बालक कालवस बोलत तोहि न सँभार। २. रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा। ३. परसु सुधारि धरेउ कर घोरा: कटुवादी बालक वध जोगू। ४. न त एहि काटि कुठार कठोरे। ५. राम तोर भ्राता बड़ पापी। ६. विषरस भरा कनक घट जैसे। ७. एहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं कहा कोप करि कीन्हा। रामजी का अपमान यथा: १. संभु सरासन तोरि सठ करेसि हमार प्रबोध। २. बोले भृगुपति सरुख हँसि तहूँ बंधु सम वाम। इस भाँति नव बार के अपमान के परिमार्जन के लिए नव बार उत्कर्ष सूचक जयकार किया। रघुकुल केतु कहने का भाव यह है कि श्रुति सेतु रक्षक हैं। यथा: रघुकुल केतु सेतु श्रुति रक्षक। ऐसा कहकर परशुरामजी तप के लिए वन गये। अर्थात् समाज की चिन्ता छोड़ दी। जिसका समाज है वह स्वयं आगया। अब वह ब्राह्मणत्व की रक्षा कर लेगा। रघुवंस से उपक्रम करके इस प्रसङ्ग का रघुकुल केतु से उपसंहार करते हैं।

निर्मूल डर से राजा लोग डर गये कि परशुरामजी अपने काम का भार इन्हें देकर गये। यह पहिले से ही कह रहे थे : आयसु काह कहिअ किन मोहीं। सो कहीं ये भी निःक्षत्र करना ठान न लें। इनसे परशुराम जी दव गये तो हम लोगों की गिनती ही क्या है इसलिए कादर तो इस भाँति धीरे से निकल भागे कि उनका पता भी न लगा कि किधर गये।

८ : विवाह प्रसङ्ग

दो. देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर वरषहिं फूल।
हरषे पुर नर नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ : देवताओं ने नगाड़े बजाये और प्रभु के ऊपर फूल बरसाये। पुर के नर नारि हर्षित हुए। मोहमय शूल मिट गया।

व्याख्या : देवताओं ने डंका दिया। भारी विजय हुई। सहस्रबाहु ने रावण को जीता और वह परशुरामजी द्वारा मारा गया। परशुरामजी पर रामजी ने विजय पाई। अतः सिद्ध हो गया कि रावणवध इनके लिए दुष्कर नहीं है। पराक्रम की पूजा हो रही है। देवता लोग पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। थर थर काँपहिं पुर नर नारी। क्योंकि उन्हें मोह से शूल उठा हुआ था। यथा : मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि ते पुनि उपजै बहु सूला। सो परशुरामजी के पराजय से रामजी के स्वरूप का बोध हुआ। मोहमय शूल मिटा और वे हर्षित हुए।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहि मनोहर मंगल साजे॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनीं। करहिं गान कल कोकिल वयनीं॥१॥

अर्थ : बड़े आनन्द से वाजे बजे। सबने सुमंगल साज सजे। झुण्ड के झुण्ड इकट्ठी होकर सुमुखी सुनयनी और कोकिलवयनी सुन्दर सुन्दर गान करने लगीं।

व्याख्या : पहिले ही पुर अरु व्योम में बाजने बजे थे। राजाओं के गोलमाल से बन्द हो गये थे। तबतक परशुरामजी आगये। दूसरा काण्ड ही उपस्थित हो गया। इनके हटते ही और भी अधिक उत्साह से बाजे बजने लगे। सबलोग अपने घर गये और मनोहर मंगल साज जिसका वर्णन आगे होगा साजने लगे : जायसी ने भी गहगहे शब्द का प्रयोग आनन्द के अर्थ में किया है।

पहिले जहँ तहँ जुवतिन मंगल गाये। अब घर लौटकर आई तो झुण्ड की झुण्ड इकट्ठा होकर गान करने लगीं। रूप और स्वर दोनों की बहार है। यहाँ सुनयनी शब्द से स्वयं महतारी का भी गान में सम्मिलित होना द्योतित किया। कहाँ : मन पछितात सीय महरानी। विधि अब सँवरी वात्त बिगारी। कहाँ गाने लग गईं।

सुख विदेह कर वरनि न जाई। जन्मदरिद्र मनहुँ निधि पाई॥
विगत त्रास भय सीय सुखारी। जनु विधु उदयँ चकोर कुमारी॥२॥

अर्थ : विदेह के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता। मानो जन्मदरिद्र को निधि मिल गई। भय से रहित होकर सीताजी सुखी हो गईं। जैसे चन्द्रोदय से चकोरकुमारी सुखी होती हैं।

व्याख्या : विदेह राजा ब्रह्मज्ञान में रत हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति उन्हें सदा है। परन्तु वह अकिञ्चनावस्था है। उस अवस्था में अपनी स्थिति छोड़कर और कुछ रहता ही नहीं। यह सिद्धि इन्हें जन्म से है। यथा : सहज विराग रूप मन मोरा। इसीलिए जन्म दरिद्र से उपमा दी। इन्हें सगुण ब्रह्म की प्राप्ति जामाता रूप से हुई। सो सुखकर लवलेस जिन वारक सपनेहु लहेहु। ते नहिं गनहि खगेस ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति। इसलिए कहते हैं कि मानो जन्मदरिद्र को अपक्षयशून्य निधि मिल गई। सीताजी को परशुराम के आने से चन्द्रास्त का भान होने लगा था। यथा : भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अर्ध निमेष कल्प सम बीता। सो ऐसी सुखी हो गई जैसे चन्द्रोदय से चकोर कुमारी सुखी होती हैं। चकोरी का प्रेम चन्द्र में स्वाभाविक है। यहाँ रामजी के अभ्युदय की उपमा चन्द्रोदय से दी गई। चकोरकुमारी को चन्द्र के प्रति बड़ा चाव रहता है। क्योंकि वह उसके लिए अपूर्ववस्तु है। चकोरी को भी प्रीति है। पर उतना चाव नहीं। बहुत दिनों से चन्द्र को देखती आती है।

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा ॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं ॥३॥

अर्थ : जनक ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया और कहा कि आपके प्रसाद से रामजी ने धनुष को तोड़ दिया। दोनों भाइयों ने हमें कृतार्थ किया। अब जो करना उचित हो सो मुझे बतलाइये।

व्याख्या : धनुर्भङ्ग के बाद प्रणाम करने का समय ही नहीं मिला। भारी उपद्रव खड़ा हो गया। सो अब प्रणाम करने का अवकाश मिला। गुरुहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। अतः कहते हैं : प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा। जनकजी कहते हैं कि आपही रामजी को लाये। आपने ही आशीर्वाद दिया : सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे। आपही ने आज्ञा दी : उठउ राम भंजउ भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा। अतः आपके ही प्रसाद से सब हुआ। रघुपति कीरति विमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका। सो धनुर्भङ्ग में परशुराम पराजय में सभी में लक्ष्मण का हाथ रहा। इससे कहते हैं : मोहि कृतकृत्य कीन्ह दोउ भाई। मैं तो हार गया था। हताश हो गया था : कुँवरि कुँआरि रहौं का करऊँ। पर इन्होंने हमें कृतकृत्य किया। अब जो उचित हो सो बतलाइये। भाव यह कि विवाह विधि होगी या कन्या को साथ कर देना पड़ेगा। ऐसे अवसर पर दोनों विधान देखे जाते हैं। यथा : दुलहिनि लैगे लच्छि निवासा। नृप समाज सब भयउ निरासा।

कहइ मुनि सुनु नरनाथ प्रवीना । रहा विवाहु चाप आधीना ॥
टूटतहीं धनु भयेउ विवाहू । सुर नर नाग विदित सब काहू ॥४॥

अर्थ : मुनिजी ने कहा : हे प्रवीण राजा ! सुनो । विवाह तो धनुष के अधीन था । धनुष टूटते ही विवाह हो गया । देवता नर नाग सभी जानते हैं ।

व्याख्या : राजा को प्रवीण विशेषण इसलिए दिया कि राजा लोक और वेद दोनों के व्यवहार में कुशल हैं और कहा कि विवाह तुम्हारे अधीन तो था नहीं । तुमने प्रण करके उसे धनुष के आधीन कर दिया था । तुम्हारे अधीन होता तो कुछ कहने सुनने का अवसर था । धनुष टूटना विवाह का होना एक बात है । विवाह में देवता साक्षी रक्खे जाते हैं । यहाँ तीनों लोक साक्षी हैं । देवता नर नाग सभी जानते हैं । अतः व्याह हो गया ।

दो. तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस व्यवहारु ।
बूझि बिप्र कुलवृद्ध गुर, वेद विदित आचारु ॥२८६॥

अर्थ : फिर भी जाकर अपनी कुल रीति के अनुसार ब्राह्मण लोग कुल वृद्ध और गुरु से पूछकर वंशव्यवहार और वेदाचार करो ।

व्याख्या : फिर भी लोकाचार और वेदाचार दोनों होने चाहिए । अतः वंशव्यवहार जातिधर्म तो कुलवृद्धों से पूछकर करिये और वेदव्यवहार के लिए ब्राह्मणों और कुलगुरु की अनुमति लीजिये । यथा : लोकवेद विधि मंजुल कूला । भाव यह कि आप प्रवीण हैं । लोक वेद दोनों में कुशल हैं । वरपक्ष की सम्मति जानने के लिए मुझसे पूछ रहे हैं तो मेरी सम्मति यह है कि परिस्थितिविशेष के कारण यद्यपि अब कोई व्यवहार अनिवार्य नहीं है तथापि लोकवेदमर्यादा के पालन की दृष्टि से सब कुछ जानते हुए भी बड़ों से पूछ पूछकर करिये ।

दूत अवधपुर पठवहु जाई । आनहि नृप दसरथहि बोलाई ॥
मुदित राउ कहि भलेहिं कृपाला । पठए दूत बोलि तेहि काला ॥१॥

अर्थ : जाकर अयोध्या दूत भेजो । राजा दशरथ को बुला लावे । राजा ने आनन्दित होकर कहा : हे कृपाल ! बहुत अच्छा । उसी समय दूत को बुला करके भेज दिया ।

व्याख्या : यहाँ से जाकर अयोध्यापुरी दूतों को भेजो । भाव यह कि एक राजा को दूसरे राजा के यहाँ दूत भेजना है सो प्रचलित नियमानुसार पत्रादि मुद्राङ्कित करके भेजना होगा । रङ्गभूमि का कार्य समाप्त हो गया । अब यहाँ से सभी को अपने अपने निवासस्थान पर चलना है । तुम जाकरके पहिला काम यही करो । वे दूत जाकर महाराज दशरथ को बुला लावें । विश्वामित्रजी अपनी विशेष सम्मति दे रहे हैं । क्योंकि अबतक पिता स्थानीय होकर वे ही आज्ञादि देते थे । यथा : उठहु राम भंजउ भव चापा इत्यादि । पर अब तो समधी बनना है ।

यह काम महाराज दशरथ ही कर सकते हैं। विश्वामित्रजी के स्वरूप के प्रतिकूल है। वे नहीं कर सकते।

राजा जनक प्रसन्न हो गये। क्योंकि वे भी यही चाहते थे। सो जाकर नहीं उसी स्थान पर दूतों को बुलाकर भेजा। जिसमें दूत जाकर कहें कि विश्वामित्रजी की सम्मति के अनुसार महाराज ने मुझे भेजा है। वे वहाँ उस समय थे जब हम चले। भाव यह कि महाराज दशरथ के बुला भेजने में विदेहराज सङ्कुचित हो रहे हैं कि यह बड़ी ढिठाई है। आगे चलकर कहेंगे भी अपराध छमिओ बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यौ कई। महर्षि विश्वामित्र की सम्मति जान लेने पर बुलाया जाना ढिठाई न समझी जायगी। इसलिए उनके सामने ही दूत भेजे गये।

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आए सबन्हि सादर सिर नाए॥
हाट बाट मंदिर सुरवासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥२॥

अर्थ : फिर जनकजी ने सब महाजनों को बुलाया। सबने आकर राजा को आदर सहित सिर नवाया। राजा ने आज्ञा दी कि बाजार, मार्ग, मन्दिरों को तथा नगर को चारों ओर से सजाओ।

व्याख्या : तत्पश्चात् महाराज जनक ने नगर के सब रईसों को बुलवाया। महाराज दशरथ के स्वागत के लिए तैयारी होनी चाहिए। सब रईस उपस्थित हुए। श्रद्धा से सबने महाराज को प्रणाम किया। यह कथा रङ्गभूमि से चलकर घर पहुँचने के बाद की है। राजाओं के स्वागत में अथवा महोत्सव उपस्थित होने पर हाट बाट मन्दिर चारों ओर सजाये जाते हैं और यह काम नगर के रईसों का है। महाराज दशरथ चक्रवर्ती हैं। उनके स्वरूप के अनुकूल स्वागत होना चाहिए। अतः चारों ओर से नगर सजाने की आज्ञा दी गई। यहाँ मन्दिर से देवस्थान अभिप्रेत है। क्योंकि घरों का सजाना ही नगर का सजाना है।

हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाए॥
रचहु विचित्र वितान बनाई। सिर धरि वचन चले सचुपाई॥३॥

अर्थ : रईस : महाजन लोग हर्षित होकर चले और अपने अपने घर आये। फिर राजा ने परिचारकों : कारपरदाजों को बुलावा भेजा : और आज्ञा दी। विचित्र मण्डप बनाकर सजाओ, राजाज्ञा शिरोधार्य करके वे भी सुखी होकर चले।

व्याख्या : राजाज्ञा मिलने पर उन रईसों को हर्ष हुआ कि हम लोगों को आज महाराज की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। समधी के स्वागत की तैयारी करनी है। सो तदनुसार कार्य करने के लिए अपने अपने घर गये। नगर के सजने की व्यवस्था पहिले करके तब राजा ने अपने परिचारकों : कारपरदाजों को बुलवा भेजा। उनके आने पर आज्ञा हुई कि ऐसा मण्डप बनाकर साजो कि जो विचित्र हो। वे लोग राजाज्ञा पाकर सुखी हुए। वे लोग ऐसे सिद्धहस्त हैं कि इतनी ही आज्ञा उनके लिए यथेष्ट है। आज्ञा शिरोधार्य करके तुरन्त चल पड़े।

पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना । जे वितान विधि कुसल सुजाना ॥
विधिहि वंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा । विरचे कनक कदलि के खंभा ॥४॥

अर्थ : उन्होंने अनेक प्रकार के गुणियों को वुला भेजा । जो मण्डप वनाने की विधि के जानकार थे और दक्ष थे । ब्रह्मदेव की वन्दना करके उन्होंने कार्यारम्भ किया । स्वर्ण के केले के खम्भे बनाये ।

व्याख्या : उन परिचारकों ने अनेक प्रकार के शिल्पियों को बुलाया । वे जानते थे कि मण्डप की रचना में कितने प्रकार के शिल्पियों की आवश्यकता पड़ती है । उतने प्रकार के शिल्पी बुलाये गये । उन लोगों ने तुरन्त कार्यारम्भ कर दिया । पहिला काम यह किया कि विधि की वन्दना की क्योंकि रचना के मूलस्रोत वही हैं । दूसरे यह कि उन्हीं की रचना का उन्हें अनुकरण करना है । मण्डप के सोलहों स्तम्भों में केले के स्तम्भों के बाँधने का विधान है । कब तक व्याह होगा अभी इसका निश्चय नहीं है । केले के खम्भे तब तक सूख जायँगे । इसलिए सोने के खम्भे ही कदली स्तम्भों के आकार के वनाये गये । कारीगरी दो प्रकार की होतो है । एक में अल्पमूल्य वस्तुओं को ऐसा सजाते हैं कि वह अत्यन्त भड़कीला दूर से ही मालूम पड़े । दूसरा प्रकार यह है कि बाहर से बिल्कुल सादा मालूम पड़े । निकट से विचार पूर्वक देखने पर अत्यन्त सूक्ष्म शिल्पकला का तथा उसके बहुमूल्यतर का परिचय मिल सके । इन शिल्पियों ने दूसरे प्रकार का अवलम्बन किया । ऐसे खम्भे बनाये जो देखने में केले के हों पर वस्तुतः सोने के हों ।

दो. हरित मनिन्ह के पत्र फल, पद्मराग के फूल ।
रचना देखि विचित्र अति, मनु विरंचि कर भूल ॥२८७॥

अर्थ : हरे मणियों के पत्ते और फल बनाये और पद्मराग मणियों के फूल बनाये । अति विचित्र रचना देखकर ब्रह्मदेव का मन भूल जाय ।

व्याख्या : केले के खम्भे का रंग पीला फल और पत्ते का रंग हरा और फूल का रंग लाल होता है । अतः स्वर्ण के स्तम्भ पन्ने के पत्र फल और मणिक्य के फूल वनाये । विचित्र रचना के लिए राजा ने आज्ञा दी थी । इन लोगों ने अतिविचित्र वनाया । जिसे देखकर लोग भूल जायँ वह विचित्र है और जिसे देखकर स्वयं ब्रह्मदेव भूल जायँ वह अतिविचित्र है । मिथिला में आज भी मण्डप बड़ा सुन्दर बनता है । सोलह केले के स्तम्भों के स्थान में कृत्रिम खम्भे बनाये । गये केले में ही विरञ्चि का भूलना लिखा । क्योंकि उसके भीतर की भी रचना केले सी ही थी । सर्वात्मना केला ही मालूम होता था ।

वेनु हरित मनिमय सव कीन्हें । सरल सपरव परहिं नहिं चीन्हे ॥
कनक[1] कलित अहिवेलि बनाई । लखि नहिं परइ सपरन सोहाई ॥१॥

---

१. यहाँ 'निरुक्ति' अलङ्कार है ।

यर्थ : हरे मणियों के बाँस बनाये जो सीधे और गाँठ से युक्त थे। पहिचाने नहीं जाते थे। पान की लता सोने की बनाई। जो खम्भों पत्तों से युक्त थी। पर पहिचानी नहीं जा सकती थी कि स्वाभाविक है या कृत्रिम।

व्याख्या : हरे मणि के बाँस बनाये गये और उन बाँसों से मण्डप बनाया गया। वे सोधे बनाये गये थे जिसमें मण्डप कहीं से टेढ़ा न बन जाय। अब उन्हें बाँधने को आवश्यकता पड़ी तो वे पान की वेलि से बाँधे गये। वे वल्लियाँ भी सोने की बनाया गईं जिनमें पत्ते भी लगे थे। सच्ची पान की लताओं से उनका भेद नहीं जाना जाता था।

तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुतादाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥२॥

अर्थ : रचकर और पच्चीकारी करके उसी के बन्धन बनाये। बीच बीच में मोती की मालाएँ शोभायमान थीं। माणिक्य, नीलम, हीरा और फिरोजा को चीर करके छील करके और पच्चीकारी करके कमल बनाये।

व्याख्या : उसी पान की लता से रच करके और पच्चीकारी करके बन्धन बनाया। इस भाँति मण्डप तैयार हुआ। बीच बीच में फूल की मालाओं के स्थान में मोतियों की मालाएँ लटकायी गईं। अर्थात् मण्डप ठीक उसी भाँति मालूम होता था जैसा कि बाँस, लता आदि से सामान्यतः बनाया जाता है। पर वस्तुतः वह मणिमण्डप था।

लाल, नीले, श्वेत और पीत कमल उस उस वर्ण के मणियों से बनाये गये। परन्तु कमलों में हलका रंग फोका रंग तथा पीली ढोंढ़ी भी होती है। अतः रत्नों को चीरना छीलना और पच्ची करना पड़ा।

किए भृंग बहुरंग विहंगा। गुंजहि कूजहिं पवन प्रसंगा॥
सुर प्रतिमा खंभन गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी॥३॥

अर्थ : भौंरे और बहुत रंगों के पक्षी बनाये। जो हवा लगने पर गूँजते और कूजते थे। देवताओं की मूर्तियाँ खम्भों में गढ़कर निकाली गईं जो मंगलद्रव्य लिये खड़ी थीं।

व्याख्या : अब दूसरी प्रकार की कारीगरी की गई। कमलों पर गूँजने के लिए भौंरे बनाये गये। केलों के वृक्ष पर बैठकर कूजने के लिए कृत्रिम चिड़ियाँ बनायी गईं और वे ऐसी बनी कि जब हवा चले तो भौंरे गूँजने लगे और चिड़ियाँ कूजने लगीं।

खम्भे जिनके आधार पर मण्डप खड़ा था उनमें देवताओं की मूर्तियों की निकासी की गई थी। मानों वे मङ्गलद्रव्य लिये खड़ी हैं। मृगराजो वृषो नागः कलशो व्यजनन्तथा। वैजयन्ती तथा भेरी दीप इत्यष्टमङ्गलम्। सिंह, बैल, हाथी, घट, पंखा, झण्डी, भेरी और दीप ये आठ मङ्गल हैं।

चौके भाँति अनेक पुराई। सिंधुर मनिमय सहज सोहाई ॥४॥

अर्थ : अनेक प्रकार के चौक पूरे गये। वे गजमुक्ताओं से बने थे और स्वभाव से ही सुन्दर थे।

व्याख्या : इस समय अनेक प्रकार के चौक पूरने की चाल दक्षिण में रह गई है। वे एक यन्त्र से जिसे रँगोली कहते हैं अनेक रंग भरकर अनेक प्रकार के बेलबूटेवाले चौक पूरते हैं। चौक पूरने में आटा या संगमरमर के चूर्ण से काम लिया जाता है पर यहाँ तो गजमुक्ता से काम लिया गया। चौक अनेक प्रकार से पूरे गये जो स्वभाव से ही सुन्दर थे। पर वह सुन्दरता और भी बढ़ गई जब उसमें गजमुक्ताओं से काम लिया गया।

दो. सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नीलमनि कोरि।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि ॥२८८॥

अर्थ : नीलममणि को कोर : छोलकर उन्होंने आम के सुन्दर पल्लव बनाये। सोने का बौर बनाया। मरकत के घौद बनाये। जो रेशम की डोरी में शोभायमान हुए।

व्याख्या : बौर और घौद : टिकोरे के गुच्छों के सहित आम के सुन्दर पत्तों को रेशम की डोरी में गूँथा। वे पत्ते और घौद नीलम और मरकत मणि को छीलकर बनाये गये थे और बौर सोने का बनाया गया क्योंकि वह पीला होता है। पत्ते और घौद अति हरित होने से नील प्रतीत होते हैं। अतः नीलमणि के बनाये गये। साधारण डोरी में वे भारी होने से लटकाये नहीं जा सकते। अतः रेशम की डोरी में गूँथे गये।

रचे रुचिर वर वंदनिवारे। मनहु मनोभव फंद सँवारे ॥
मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज[1]पताक पट चँवर सोहाए ॥१॥

अर्थ : इस भाँति सुन्दर वन्दनवार बनाये। मानो कामदेव ने फन्दे सजा रक्खे हैं। अनेक मङ्गल कलश बनाये गये। ध्वजा पताका कपड़े और चँवर से शोभायमान हुए।

व्याख्या : पूर्वोक्त रीति से बन्दनवार बनाकर उस मण्डप में बाँधे गये। इन वन्दनवारों की उपमा कामदेव के फन्दे से दी गई। भावार्थ यह कि वन्दनवार ऐसे सुन्दर थे कि मन मोहित हो जाता था। मण्डप में यथास्थान स्थापन के लिए मङ्गलघट सँवारे गये। ध्वजा लम्बी और पताका तिरकोनी होती है। इसीलिए ध्वजा को कदली और पताका को ताल के पत्ते से उपमित किया है। यथा : कदलि

---

[1] किसी का मत यह है कि ध्वजा सात हाथ की और पताका पाँच हाथ की होती है।

तालवर ध्वजा पताकां और चँवर यथास्थल लगाये गये। चँवर शोभा के लिए मण्डप में लगाने का विधान है। मण्डप के ऊपर कपड़ा मढ़ा गया।

दीप मनोहर मनि मय नाना। जाइ न वरनि विचित्र विताना॥
जेहि मंडप दुलहिनि वैदेही। सो वरनै अस मति कवि केही॥२॥

अर्थ : मनोहर मणिमय दीप थे। उस विचित्र मण्डप का वर्णन नहीं हो सकता। जिस मण्डप में वैदेही दुलहिन हों उसके वर्णन करने की बुद्धि किस कवि को हो सकती है।

व्याख्या : मनोहर मणियों के अनेक दीप रक्खे गये। ठण्डी रोशनी के लिए : किसी समय भारतवर्ष में मणियों से दीपक का काम लिया जाता था। बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के समय तक ठण्डी रोशनी के जवाहिरात का पता चलता है। मणिदीपक की आवश्यकता इसलिए रहती है कि विवाह प्रायेण रात्रि के समय होता है। संक्षेपतः ऐसा मण्डप बना कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यही मण्डप की विचित्रता है कि मणिमय मण्डप तैयार किया गया। पर देखने में लताद्रुममय मालूम पड़ता था।

यह वर्णन अधिक नहीं है न अतिशयोक्ति है। इतना कहने पर भी कोई यह न समझे कि कवि पूरा वर्णन कर पाया। अतः कवि जवाब देते हैं कि बुद्धि के अनुसार मैं वर्णन करता हूँ। जिस मण्डप में साक्षात् महालक्ष्मी वैदेही दुलहिन हों उसे वर्णन करनेवाला कौन कवि है अर्थात् कोई नहीं। जो मैंने वर्णन किया है वह अत्यन्त अल्प है।

दूलहु रामु रूप गुन सागर। सो वितानु तिहुँ लोक उजागर॥
जनक भवन कै सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिअ तैसी॥३॥

अर्थ : और जिसमें रूपगुणसागर रामजी दुल्हा हों वह मण्डप तीनों लोक में प्रकाशित है। जनक के घर की जैसी शोभा थी वैसी शोभा नगर में घर घर दिखाई पड़ती थी।

व्याख्या : जिस मण्डप में रूपगुणसागर रामजी दूल्हा बनें वह मण्डप क्या साधारण हो सकता है? इसलिए आगे चलकर इस मण्डप की उपमा जीवउर से देंगे। भाव यह कि जिस भाँति जीव का उर त्रैलोक्य का प्रकाशक है। जीव को उर : हृदय न हो तो त्रैलोक्य अन्धकारमय हो जाय। इसी भाँति यह मण्डप त्रैलोक्य का प्रकाशक है। राजा के घर की शोभा कहकर अब पुरजन के घरों की शोभा कहते हैं।

अब महाजनों की करतूत कहते हैं कि उन्होंने सभी घरों को ऐसा सजाया कि राजा का घर जान पड़े। जब बारात आवे तो उसे सभी मकान राजगृह मालूम हों। अथवा मिथिला नगरवासी ही ऐसे समृद्ध थे और उनकी राजा पर इतनी

भक्ति थी कि उन्होंने ऐसे उत्सव के समय स्वयं उत्साह से पूर्ण होकर अपने घरों की राजगृह सी सजावट की ।

जेहि तेरहुति तेहि[1] समय निहारी । तेहि लघु लगति भुवन दस चारी ॥
जो संपदा नीच गृह सोहा[2] । सो विलोकि सुरनायक मोहा ॥४॥

अर्थ : जिसने तिरहुत को उस समय देखा उसे चौदह भुवन तुच्छ जान पड़े । जो सम्पदा नीच के गृह में शोभायमान थी उसे देखकर देवराज मोहित हो गये ।

व्याख्या : तीरभुक्ति का तद्भवरूप तेरहुति है । इस समय के तिरहुत से उस समय के तिरहुत की कोई कल्पना नहीं हो सकती । उस समय तिरहुत के सामने चौदह भुवन की शोभा तुच्छ मालूम होती थी । भाव यह कि जहाँ वैदेही हैं वहीं वैकुण्ठ की शोभा उतर आवेगी । वैकुण्ठ का विभव ही ऐसा है कि वहाँ के निकृष्टतम निवासी के ऐश्वर्य पर भी देवराज इन्द्र मोहित होते हैं । इसी बात को निम्नलिखित दोहे में स्पष्ट करते हैं ।

दो. बसै नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि वर वेषु ।
तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेषु ॥२८९॥

अर्थ : जिस नगर में साक्षात् लक्ष्मी माया से स्त्री का सुन्दर रूप धारण करके बसती हैं उस पुर की शोभा कहने में सरस्वती और शेष को सङ्कोच ही होगा । क्योंकि वैसी शोभा न तो ब्रह्मलोक में है और न भोगावती में है ।

व्याख्या : जिस नगर में साक्षात् लक्ष्मी माया से स्त्री रूप होकर रहती हैं वहाँ वैकुण्ठ भी माया से नगररूप में अवतीर्ण होगा ही । वैकुण्ठ के निवासी भी माया से मनुष्यरूप में उस नगर के निवासी होंगे । यथा : पुर नर नारि सुभग सुचि संता । धर्म सील ग्यानी गुनवंता । अतः उसकी शोभा वर्णन में ब्रह्मलोक और पाताललोक के वक्ताओं में सङ्कोच होना प्राप्त ही है । यथा : सुनु मतिमंद लोक वैकुंठ । रत्नादिकों ने भी कदली वंशादि का कपट रूप धारण किया । साधारण वस्तुओं में किसी दुर्लभ वस्तु के आजाने से शोभा आजाती है । यहाँ दुर्लभ वस्तुओं को ही साधारण रूप दिया जा रहा है ।

पहुँचे दूत राम पुर पावन । हरषे नगर विलोकि सोहावन ॥
भूप द्वार तिन खबरि जनाई । दसरथ नृप सुनि लिए बोलाई ॥१॥

अर्थ : दूत रामजी की पवित्रपुरी में पहुँच गये[3] । शोभायमान नगर को

---

१. यहाँ उदात्तालङ्कार है ।

२. यहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति है ।

३. आश्विन शुक्ल १५ को दूत मिथिला से अयोध्या को चले । चार रात्रि रास्ते में बीती । कार्तिक कृष्ण पञ्चमी को अयोध्या पहुँचे ।

देखकर हर्षित हुए। राजद्वार पर उन्होंने समाचार दिया। महाराज दशरथ ने सुनकर उनको बुला लिया।

व्याख्या : पठए दूत अवध तेहि काला से प्रसङ्ग छोड़ा था। दूत लोग अवध जा रहे थे। इसी बीच में ग्रन्थकार ने बारात के स्वागत के लिए जनकपुर की तैयारी का वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। उधर तैयारी हो रही थी और इधर दूत लोग पवित्र रामपुर में पहुँच गये। यहीं से फिर उसी कथा को उठा लिया। पहुँचे दूत रामपुर पावन। ससुराल में जामाता की ही प्रधानता होती है। अतः दूत लोग अपने मन में यह बात लेकर चले थे कि हमें रामपुर जाना है। अतः पहुँचने पर कवि भी दशरथपुर न कहकर रामपुर पावन कहते हैं। अयोध्या मोक्षपुरी है इसलिए पावन कहा। तीन रात रास्ते में बसकर चौथे दिन अयोध्या पहुँचे। जनकपुर : तिरहुत का वर्णन ऊपर हो चुका है। ऐसे रमणीय नगर के रहनेवाले दूतों को भी अयोध्या पुरी ऐसी सोहावनी मालूम पड़ी कि वे आनन्दित हो उठे। इतने से ही अयोध्या की शोभा के उत्कर्ष को ग्रन्थकार ने दिखला दिया। वाराहक्षेत्र के निकट धामपुर ग्राम है। महात्माओं का मत है कि वहीं पहुँचकर दूतों ने अवध देखा।

दूत की गति राजद्वार तक है। इसके आगे बिना राजाज्ञा के प्रवेश नहीं हो सकता। अतः दूतों ने वहाँ से राजा के पास समाचार भेजा। महाराज उस समय राजसभा में थे। अतः तुरन्त बुला लिया।

करि प्रनाम तिन पाती दीन्ही। मुदित महीप आप उठि लीन्ही ।।
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती ।।२।।

अर्थ : उन्होंने प्रणाम करके चिट्ठी दी। राजा ने प्रसन्न होकर स्वयं उठकर ली। चिट्ठी बाँचते समय आँखों में आँसू आगये। रोमाञ्च हो गया। छाती भर आई।

व्याख्या : दूत का प्रणाम करना कर्तव्य है। शत्रु राजा को भी दूत प्रणाम करता है। यथा : बैठ सभा सिर नाय। अङ्गदजी ने भी रावण की सभा में जाकर प्रणाम किया। यहाँ तो मित्र राजा के यहाँ दूत गये हैं। जनकजी का इतना आदर महाराज दशरथ की दृष्टि में है कि उनकी पत्री का आदर अभ्युत्थान देकर करते हैं। पत्र का मिलना आधी भेंट माना गया है। इसलिए राजा का मुदित होना कहा। स्वयं चिट्ठी को लिया और मन्त्री से न बँचवाकर स्वयं बाँचने लगे।

अश्रु, स्वरभङ्ग और पुलक ये तीनों अनुभाव हर्ष और शोक दोनों के होते हैं। यथा : सकल सखी गिरिजा गिरि मयना। पुलक सरीर भरे जल नयना। नारदहू यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना। सो चिट्ठी पढ़ते समय महाराज में अश्रुपुलक और छाती का भर आना तीनों बातें दिखाई पड़ीं।

रामु लषनु उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी ।।
पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ।।३।।

अर्थ : राम लक्ष्मण हृदय में और वह चिट्ठी हाथ में खट्टी या मीठी कुछ कह न सके। फिर धैर्य धारण करके पत्रिका बाँची। सच्ची बात सुनकर सभा हर्षित हो उठी।

व्याख्या : अब तीसरा अनुभव कहते हैं। चिट्ठी बाँचने में महाराज स्तब्ध हो गये। राम लक्ष्मण के ध्यान से किसी दूसरी बात के लिए हृदय में स्थान नहीं रह गया। अतः चिट्ठी हाथ में लिये रह गये। सभा उत्सुक है कि चिट्ठी में भला समाचार है कि नहीं। महाराज कहना चाहते हैं। पर प्रेम से गला रुँधा जाता है। कुछ कह न सके। यहाँ मीठा खट्टा से अच्छे बुरे समाचार का अभिप्राय है। यथा : मीठ कहा कवि कहै जाहि जो भावै।

सभा असमञ्जस में पड़ गई। राजकुमार बाहर गये हैं। कोई समाचार उनका न मिला। इस चिट्ठी में कोई बात उनके सम्बन्ध की है क्या ? महाराज की दशा चिट्ठी पढ़ते पढ़ते कैसी हुई जाती है। इत्यादि चिन्ताओं से ग्रस्त हो गई। महाराज का पत्र पढ़ते समय धैर्य छूट गया था। अतः बाँच नहीं सकते थे। सभा की उत्सुकता तथा चिन्ता दूर करने के लिए धैर्य धारण करके स्वयं बाँचा। अतः विश्वस्त बात सुनकर सभा हर्षित हुई। यथा : तब ते आज साँच सुधि पाई। यह दैवी सम्पत्ति की कथा है। आसुरी सम्पत्ति यथा : बिहँसि वामकर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन।

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आए भरतु सहित हित भाई॥
पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते[1] पाती आई॥४॥

अर्थ : जहाँ खेलते रहे वहाँ समाचार पाकर सखा और भाई के सहित भरतजी आये। अत्यन्त स्नेह से सकुचाते हुए पूछने लगे कि तात ! चिट्ठी कहाँ से आई है ?

व्याख्या : भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जिमि प्रीति दृढाई। अतः यहाँ हित भाई से खेल के साथी तथा शत्रुहनजी अभिप्रेत हैं। ये लोग सरयू के तीर घोड़ों पर सवार होकर गंद खेलते थे। यथा : सरयुतीर सम सुखद भूमिथल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये। कंदुककेलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि मन कसि कसि ठोकि ठोकि खये। इत्यादि। पत्री आने की खबर बड़े जोरों से फैली। खेलते समय भरत शत्रुघ्न को समाचार मिला। खेल छोड़कर राजसभा में पहुँचे।

अत्यन्त स्नेह के कारण बिना पूछे रहा नहीं जाता और पूछने में सङ्कोच है। क्योंकि इससे कौतूहल प्रकट होता है। चारों भाई सङ्कोची हैं। अतः सकुचाते हुए प्रश्न किया। पहिला प्रश्न चिट्ठी कहाँ से आई है ?

दो. कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ, अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह साने वचन, बाँची बहुरि नरेस॥२९०॥

---

[1] यहाँ चित्रालङ्कार है।

अर्थ : दोनों प्राणप्रिय भाई कुशल तो हैं ? और किस देश में हैं ? स्नेह से सने हुए वचन को सुनकर फिर राजा ने पत्र पढ़ सुनाया।

व्याख्या : दूसरा प्रश्न कुशलविषयक हुआ। तीसरा प्रश्न देशविषयक हुआ। समाचार की सचाई को दृढ़ करना चाहते हैं। कहाँ ते पाती आई : इस प्रश्न से पत्र प्रेषक को जानना चाहते हैं। कुशल पूछने से स्वयंवरविषयक समाचार जानना चाहते हैं। अहैं केहि देस इस प्रश्न से जानना चाहते हैं कि जनकपुर में ही हैं या वहाँ से चल पड़े हैं ? क्योंकि स्वयंवर के साथ ही विदाई होने की चाल है। स्नेह से सने भरतजी के वचन सुनकर महाराज ने पूरे वृत्तान्त से परिचित करने के लिए फिर से पत्र को पढ़ सुनाया। पत्र में तीनों प्रश्नों के पूरे उत्तर आगये थे।

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता ॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ विसेखी ॥१॥

अर्थ : चिट्ठी सुनकर दोनों भाई पुलकित हो गये। अधिक स्नेह शरीर में समाता नही था। भरतजी का पवित्र प्रेम देखकर सारी सभा को विशेष सुख हुआ।

व्याख्या : प्रेम इतना अधिक है कि समाता नहीं है। इसलिए पुलक के मिस से बाहर प्रकट हुआ। चिट्ठी के बाँचने में महाराज को पुलक हुआ और उसके सुनने से भरतजी तथा शत्रुघ्नजी को पुलक आनन्दातिशय के कारण हुआ। मानों उस बढ़े हुए आनन्द के लिए शरीर में यथेष्ट स्थान नहीं है। अतः रोम रोम से बाहर निकला पड़ता है।

राम लक्ष्मण का प्रेम तथा भरत शत्रुघ्न का प्रेम तो सभी को मालूम था। रामजी के साथ लक्ष्मणजी तथा भरतजी के साथ शत्रुघ्नजी छाया की भाँति रहते थे। अतः अभिन्नहृदय समझे जाते थे। परन्तु भरतजी की भी रामजी में इतनी प्रीति है इससे सभा अनभिज्ञ थी। आज भरतजी की रामजी में पवित्र निःस्वार्थ प्रीति देखकर सारी सभा को विशेष सुख हुआ। रामजी का समाचार सुनकर सुख हुआ और भरतजी की प्रीति देखकर विशेष सुख हुआ। प्रीति के अनुभाव पुलक के देखने को प्रीति का देखना कहते हैं। भाई भाई की प्रीति ऐसी पवित्र वस्तु है कि उसके देखनेवाले को सुख मिलता है।

तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर वचन उचारे ॥
भैआ कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ॥२॥

अर्थ : तब राजा ने दूतों को पास बिठाया और मीठे मनके हरण करनेवाले वचन बोले : भैया दोनों बच्चों की कुशल कहो। तुमने भलीभाँति अपनी आँखों से देखा है।

व्याख्या : निकट बैठाना आदर प्रदान है। दूत चिट्ठी देकर दूर खड़े थे। बातचीत करने के लिए पास बुलाकर बैठा लिया और ऐसे वचन बोले जो सुनने में मधुर और समझने में मनोहर थे। महाराज ने चिट्ठी बाँचना समाप्त किया और

सभा सुनकर सुखी हुई। आनन्द का पहिला तरङ्ग समाप्त होते न होते दोनों भाई भरतजी आये। महाराज ने फिर से चिट्ठी बाँची। भरतजी की प्रीति देखकर दूसरा तरङ्ग आनन्द का उठा। इसके बाद राजा को दूतों से बात करने का अवसर मिला। प्रेम को प्रबोध नहीं होता। यथा : वैर अघ प्रेमहिं न प्रबोधू। अतः चिट्ठी द्वारा कुशल समाचार जानने पर भी दूतों से पूछते हैं।

'भैया' सम्बोधन कितना मधुर है। चिट्ठी में तो कुशल पढ़ लिया। पर जिसने भलीभाँति आँखों देखा है उसके मुख से महाराज कुशल सुनना चाहते हैं। अथवा प्रेमपात्र का समाचार सौ बार पूछने पर भी सन्तोष नहीं होता। महाराज के वचन मधुर और मनोहर थे। परन्तु मृदु नहीं थे। सभा बड़ी थी। मृदुस्वर में वार्तालाप होने से सब सभासद् न सुन सकते। अतः मृदु विशेषण नहीं दिया।

स्यामल गौर धरे धनु भाथा। वय किसोर कौसिक मुनि साथा ॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेम विवश पुनि पुनि कह राऊ ॥३॥

अर्थ : साँवले और गोरे धनुष और तरकस धारण किये हैं। किशोरावस्था है। विश्वामित्र के साथ हैं। तुम पहिचानते हो तो उनका स्वभाव बतलाओ। इस बात को महाराज ने प्रेम विवश होने के कारण बार बार पूछा।

व्याख्या : श्यामल गौर से रूप कहा। धरे धनु भाथा से वेष कहा। वय किसोर से अवस्था कही और कौसिक मुनि साथा से अचूक पता बतलाया। विश्वामित्र मुनि को कौन नहीं जानता? उनका दर्शन तुम लोगों ने अवश्य किया होगा। मेरे बच्चे उन्हीं के साथ हैं। भाव यह कि संग सुसेवक नांही : राजोचित ठाट बाट के साथ नहीं है।

तुम स्वभाव कहो तो हम ठीक जान लें कि तुमने देखा है। प्रेम के विवश हैं। उत्तर देने का समय ही नहीं देते। इसी प्रश्न को बार बार दोहराते हैं। राऊ कहने का भाव यह कि राजा का एकबार कहना बहुत है।

जा दिन ते मुनि गए लवाई। तब ते आजु साच सुधि पाई ॥
कहहु विदेह कवन विधि जाने। सुनि प्रिय वचन दूत मुसुकाने ॥४॥

अर्थ : जिस दिन से मुनिजी लिवा गये तब से आज ही सच्ची सुधि मिली है। यह बतलाओ कि महाराज ने उन्हें कैसे जाना? प्रिय वचन सुनकर दूत मुसकराये।

व्याख्या : मुनि गये लवाई का भाव यह कि दूसरा लिवा गया होता तो सेना साथ जाती। सेवक साथ जाते। डाक बैठा दी जाती। क्षण क्षण का समाचार मिला करता। पर मुनिजी के रुष्ट होने के भय से कुछ नहीं किया गया। अतः जब से साथ गये विश्वस्त सूत्र से कोई समाचार नहीं मिला। इससे महाराज अपनी अत्यन्त उत्सुकता का कारण भी कह देते हैं। आज जो समाचार मिल रहा है वही विश्वस्त सूत्र से मिल रहा है। अतः कहते हैं साँच सुधि पाई।

अब फिर एक प्रश्न महाराज ने उठाया कि राजा विदेह ने मेरे बच्चों को कैसे जाना ? इतने राजा इकट्ठे थे उनमें इन बच्चों को जान लेने की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी। ये वचन महाराज के मनोहर थे। अतः दूतों को प्रिय लगे। महाराज को प्रेम में विभोर देखकर दूत मुसकराये।

दो. सुनहु महीपति मुकुट मनि, तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम लषन जिनके तनय, विस्व विभूषन दोउ ॥२९१॥

अर्थ : हे राजाओं के मुकुटमणि ! सुनो। तुम्हारे समान धन्य कोई नहीं है। जिसके राम लक्ष्मण ऐसे विश्वविभूषण पुत्र हैं।

व्याख्या : महीपति मुकुटमणि से ऐश्वर्याधिक्य कहा। तुम सम धन्य न कोउ से पुण्याधिक्य कहा। उत्तम सन्तान होने से पिता के पुण्य का अनुमान करते हैं। कहते हैं कि ऐसे विश्वविभूषण पुत्रों की प्राप्ति से आप धन्य हैं। विश्वविभूषण को कौन नहीं जानेगा ? जो उन्हें देख लेगा वही परिचय प्राप्त करना चाहेगा। यथा : सुनहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक। प्रश्न है : भैया कहहु कुसल दोउ वारे। उत्तर है : सुनहु महीपति मुकुट मनि तुम सम धन्य न कोउ। पिता के धन्य कहने से ही पुत्र के कुशल का कथन हो गया। यह दूत का पाण्डित्य है कि स्तुति करने में कुशल कह गया। अब धन्य का कारण कहने में दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है। राम लषन नाम कहकर पहिचान कहा। महाराज ने स्वभाव पूछा था। वह रूप और गुण दोनों कहता है : विस्वविभूषण दोउ। विश्वविभूषण तो वही है जिसमें सम्पूर्ण सद्गुण हों।

पूछन जोगु न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजिआरे ॥
जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे ॥१॥

अर्थ : आपके पुत्र पूछने के योग्य नहीं हैं। वे पुरुषों में सिंह हैं। तीनों लोक के प्रकाश हैं। जिनके यश के सामने चन्द्रमा मलिन मालूम होते हैं और प्रताप के सामने सूर्य ठण्ढे मालूम पड़ते हैं।

व्याख्या : अब दूत पहिचानहु तौ कहहु सुभाऊ का उत्तर देता है। यद्यपि स्वभाव के विषय में विश्वविभूषण कहकर बहुत कुछ लक्षित करा दिया है। पर इसी बात को राजा ने पूछा है। अतः विस्तार रूप से कह रहे हैं : उनकी ख्याति उनके आने के पहले ही पहुँच जाती है। फिर उनके देखने पर पहिचान पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। लोग आप ही पहिचान जाते हैं। यथा : एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनिसँग आये काली। जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्ववस नगर नर नारी। पुरुषसिंह के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। उनका प्रताप उन्हें पहिचनवा देता है। आपके पुत्र पुरुषसिंह हैं। यथा : पुरुष सिंह दोउ वीर हरषि चले मुनि भय हरन। उनके प्रकाश से सूर्य के प्रकाश की भाँति तीनों लोक प्रकाशित हैं। गुण पहिले कहा था। अब पुरुषसिंह तथा तिहुँपुर उजियारे कहकर प्रताप शौर्य बल और तेज का वर्णन करते हैं।

कहहु विदेह कवन विधि जाने का उत्तर देते हैं। काल के ध्वजभूत परम प्रकाशमान रवि शशि का परिचय नहीं देना पड़ता। प्रताप में उष्णता और यश में उज्ज्वलता मानी जाती है। सो इनके यश के सामने शशि की उज्ज्वलता कुछ भी नहीं है और न इनके प्रताप के आगे सूर्य की उष्णता ही कोई वस्तु है।

तिन्ह कहिं कहिअ नाथ किमि चीन्हे। देखिअ रवि कि दीप कर लीन्हे ॥
सीय स्वयंवर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक ते एका ॥२॥

अर्थ : हे नाथ! उनके लिए आप कहते हैं कि राजा ने कैसे चीन्हा? क्या हाथ में दीपक लेकर सूर्य भी देखे जाते हैं? सीता के स्वयंवर में अनेक राजा और एक से एक योद्धा जुटे थे।

व्याख्या : अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु के चीन्हने : पहिचानने में दीप की आवश्यकता होती है। स्वयंप्रकाश सूर्य के चीन्हने में नहीं। निस्तेज लोगों के लिए पूछना पड़ता है। तेजस्वी तो स्वयं अपने तेज से पहिचाने जाते हैं।

सीय स्वयंवर कहकर दुलहिन का नाम बतलाते हैं। तेज कहने के व्याज से दूत सारी कथा कह रहे हैं। भाव यह कि स्वयंवर रूप का नहीं था। बलपरीक्षा का था। देव दनुज धरि मनुज सरीरा। विपुल वीर आये रन धीरा। मनुज शरीर धारण करने से दूतों ने स्वयंवर में आये हुए लोगों का दो ही विभाग किया : १. अनेक भूप और २. एक से एक सुभट।

संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल वीर वरिआरा ॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी। सब कै सकति संभु धनु भानी ॥३॥

अर्थ : शिवजी का धनुष किसी का हटाया न हटा। सब बलवान् हार गये। तीनों लोक में जितने भटमानी थे सबकी शक्ति को शिवजी के धनुष ने कुण्ठित कर दिया।

व्याख्या : अनेक भूपों के लिए कहते हैं कि : संभु सरासन काहु न टारा। और एक से एक सुभट के लिए कहते हैं कि : हारे सकल वीर वरिआरा। राजा तो दस हजार चिपट गये थे। इसलिए उन्हें अनेक कहते हैं। पर सुभट एक दूसरे को गिनने वाले नहीं। अतः उनके लिए एक ते एका कहते हैं। भावार्थ यह कि न राजाओं का किया कुछ हुआ और न सुभटों का किया कुछ हुआ। शिवजी के धनुष के आगे त्रैलोक्य के वीरों की शक्ति कुण्ठित हो गई।

सकै उठाइ [1]सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू ॥
जेइ कौतुक सिवसैल उठावा। सो तेहि सभा पराभव पावा ॥४॥

अर्थ : वाणासुर सुमेरु पर्वत को भी उठा सकता है। वह भी हिम्मत हारकर

---

[1] यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है।

परिक्रमा करके चला गया और जिसने खेल में कैलास उठाया था उसकी भी उस सभा में हार हुई।

व्याख्या : बाणासुर सुमेरु पर्वत के उठाने का सामर्थ्य रखता है। पर शिवधनु को देखकर उसका साहस छूट गया। उसने पूज्य बुद्धि से धनुष की परिक्रमा की और चला गया। रावण ने तो खेल में कैलास पर्वत उठा लिया था। ग्रन्थकार ने कैलास न कहकर सिवसैल कहा। भाव यह कि कैलास पर स्वयं शिवजी भी सशक्ति, साङ्ग, सायुध विराजमान थे। फिर भी रावण ने खेल में उठा लिया। यथा : पुनि नभ सर मम कर निकर। कर कमलन्हि पर वास। सोभित भयउ मराल इव संभु सहित कैलास। तथा : कौतुकही कैलास पुनि, लीन्हेसि जाइ उठाइ। उसकी भी हार हुई।

दो. तहाँ राम रघुवंस मनि, सुनिअ महा महिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकज नाल ॥२९२॥

अर्थ : हे महाराज ! सुनिये, वहाँ रघुवंशमणि राम ने बिना प्रयास के धनुष को तोड़ डाला। जैसे हाथी कमल के नाल को तोड़ डाले।

व्याख्या : उस सभा में सबके सामने रघुवंश की प्रतिष्ठा को स्थापित करते हुए रामजी ने अप्रयासेन धनुष को तोड़ा। अप्रयास को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस भाँति गज को कमलनाल के तोड़ने में कोई परिश्रम नहीं उसी भाँति रामजी को भी कोई आयास नहीं हुआ। यथा : लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े। महा महिपाल की भी शोभा मणि से होती है। इसलिए रामजी का विशेषण रघुवंसमनि दिया।

सुनि सरोष भृगुनायकु आए। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाए ॥
देखि राम बलु निज धनु दीन्हा। करि बहु विनय गवन वन कीन्हा ॥१॥

अर्थ : सुनकर रुष्ट होते हुए परशुरामजी आये और बहुत प्रकार से आँख दिखाया। रामजी के बल को देखकर अपना धनुष दे दिया और बहुत प्रकार से विनय करके वन चले गये।

व्याख्या : परशुरामजी को धनुषभङ्ग का समाचार पाकर बड़ा क्रोध हुआ। क्रोध से भरे हुए वहाँ आये और बहुत प्रकार से आँख दिखाया अर्थात् डराया धमकाया। १. शब्द से यथा : कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा। २. चितवन से यथा : सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते। ३. वेष से यथा : कटि मुनि वसन तून दुइ बाँधे। करसर धनु कुठार कल काँधे। ४. इङ्गित से यथा : बोले चितइ परसु की ओरा। ५. शस्त्र सुधारकर यथा : सुनि कटु वचन कुठार सुधारा। तथा ६. शस्त्र उठाकर यथा : भृगुपति वकहिं कुठार उठाये। जब रामजी का दिव्य बल देखा। यथा : देत चाप आपुहि चलि गयऊ। तो अपना धनुष दे दिया। अर्थात् अपना कार्य रामजी को सौंप दिया। समझ लिया कि अब मेरी आवश्यकता संसार को नहीं है।

बहुत सी विनती करके अपराध क्षमा कराया : परशुरामजी का विनय करना असाधारण बात थी। और तपस्या के लिए वन चले गये। सदा के लिए क्षात्र स्वभाव का परित्याग कर दिया।

राजन रामु अतुल बल जैसें। तेज निधान लषनु पुनि तैसें ॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरि किसोर के ताकें ॥२॥

अर्थ : राजन् ! जिस भाँति रामजी अतुलबल हैं वैसे ही लक्ष्मणजी तेज निधान हैं। जिनके ताकने से राजा लोग ऐसे काँप उठते हैं जैसे हाथी सिंह के बच्चे के ताकने से क़ाँप उठें।

व्याख्या : परशुरामजी के पराजय से यह बात सिद्ध हो गई कि रामजी के जोड़ का कोई बली नहीं है जिससे उनके बल की तुलना की जाय। वैसे ही लक्ष्मण के तेज की तुलना नहीं है। यहाँ राजा जनक के वीर विहीन मही मैं जानी। कहने पर बिगड़ खड़े हुए। प्रलय करने को तैयार हो गये। यथा : कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं। काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक इव तोरी। परशुरामजी का तेज इन्हीं के तेज के सामने दबा। यथा : वहइ न हाथ दहै रिसि छाती। भा कुठार कुंठित नृप घाती। इनकी भौंह चढ़ने पर राजमण्डल में कँपकँपी पड़ जाती है। जैसे सिंह के बच्चे के ताकने से हाथियों का यूथ कम्पायमान हो उठता है। यथा : कुँअर चढ़ाई भौंहें अब को विलोकै सौहें। गीतावली। तथा : अरुन नयन भृकुटि कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप। मनहु मत्त गजगन निरखि, सिंह किसोरहिं चोप।

देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ ॥
दूत बचन रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप बीर रस पागी ॥३॥

अर्थ : हे देव ! आपके दोनों बालकों को देखकर अब कोई आँख में जँचता नहीं। दूत के वचन की रचना प्रिय लगी। क्योंकि वह प्रेम, प्रताप और वीर रस से पगी थी।

व्याख्या : देव सम्बोधन से नरदेव अभिप्रेत हैं। दूत कहते हैं कि आपके दोनों बालकों के देखने के पहिले अपेक्षाकृत गुणरूप का उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता था। पर जब से उनको देखा है तब से संसार में कोई दृष्टि में जँचता ही नहीं। सबके रूप और गुण तुच्छ मालूम पड़ते हैं। इनके देखने पर यह बात मन में ही नहीं आती कि इनसे बढ़कर के भी कोई हो सकता है।

महाराज दशरथ के प्रश्नों के उत्तर देने में जो वचन दूतों ने कहे उसकी रचना ऐसी सुन्दर थी कि सबको प्रिय लगी। प्रिय लगने का कारण कहते हैं कि वह रचना, प्रेम प्रताप और वीर रस से ओतप्रोत थी। प्रेम यथा : देव देखि तव बालक दोऊ। अव न आँख तर आवै कोऊ। प्रताप : जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे। वीर रस : राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लषन पुनि तैसे। कंपहिं भूप विलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोर के ताके।

सभा समेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे॥
कहि अनीति तें मूदहिं काना। धरमु विचारि सबहि सुखु माना॥४॥

अर्थ : सभा के समेत महाराज प्रेम में पग गये। दूतों को निछावर देने लगे। अनीति है ऐसा कहकर उन्होंने कान ढक लिये। धर्म विचारकर सबने सुख माना।

व्याख्या : रचना ऐसी प्रिय लगी कि सभा समेत स्वयं महाराज अनुराग में आगये। शुभ सन्देश सुनानेवाले को निछावर मिलने का नियम है। यथा : प्रथम जाइ जिन वचन सुनाये। भूपन वसन भूरि तिन पाये। सो सब निछावर देने लगे। जिस दूत को निछावर देने लगते हैं वही कान पर हाथ रखता है। अर्थात् निछावर लेना स्वीकार नहीं करता और कहता है कि यह अनीति है। भाव यह कि हम कन्यापक्ष के हैं। हम लेने के अनुकूल कोई युक्ति सुन नहीं सकते। बात अप्रसन्न होने की थी। क्योंकि ऐसे अवसर के निछावर अस्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि यह उत्सव उसे प्रिय नहीं है। इसलिए जिन्हें अर्थ की आवश्यकता नहीं है वे भी लेने को आगे आजाते हैं। यथा : राम निछावर लेन को हठि होत भिखारी। निछावर के अस्वीकार करने का सामर्थ्य किसे है? परन्तु इस अस्वीकार से सबको सुख हुआ। सब लोग दूतों की धार्मिकता तथा स्वामिभक्ति पर प्रसन्न हो गये।

दो. तव उठि भूप वसिष्ठ कहुँ, दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरहिं सब, सादर दूत बोलाइ॥२९३॥

अर्थ : तब राजा ने उठकर वसिष्ठजी को जाकर पत्रिका दी और आदर के साथ दूतों को बुलाकर सब कथा सुनाई।

व्याख्या : बारात ले चलनी है। गुरुजी से मुहूर्त पूछना है। अतः वसिष्ठजी को पत्रिका देने के लिए महाराज स्वयं उठकर उनके पास गये। गुरुजी के प्रसाद से ही यह मङ्गल सुलभ हुआ है। रामजी के जन्म के लिए भी इसी भाँति गये थे। यथा : गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला। दूतों को भी सादर बुलवा लिया। क्योंकि दूतों के आदर से महाराज जनक का आदर है। गुरुजी से सब निवेदन करना है। कोई बात छूटने न पावे। यदि कोई बात गुरुजी ऐसी पूछें जो महाराज को न मालूम हो। इसलिए दूतों का वहाँ रहना आवश्यक था। सब कथा : यथा : दलि ताड़का मारि निसिचर मखराखि विप्रतिय तारी। दै विद्या लै गये जनकपुर है गुरु संग सुखारी। करि पिनाकपन सुता स्वयंवर सजि नृप कटक वटोरयो। राज सभा रघुवर मृनाल ज्यौं संभु सरासन तोरयौ।

सुनि बोले गुर अति सुखु पाई। पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥
जिमि सरिता सागर महु जांहीं। जद्यपि ताहि कामना नांहीं॥१॥

अर्थ : सुनकर मुनिजी बहुत सुख पाकर बोले कि पुण्यात्मा के लिए

पृथ्वी सुख से छाई हुई है। जैसे नदियाँ समुद्र में जाती हैं। यद्यपि समुद्र को चाह नहीं है।

व्याख्या : सब कथा सुनकर वसिष्ठजी को अत्यन्त सुख हुआ। जब वर्णनातीत सुख होता है तो उसे अति सुख कहते हैं। यथा : अति सुख लह्यौ न जाय बखानी। शिष्य के परम कल्याण से गुरु को अति सुख होता है। मुनिजी ने कहा कि पुण्य ही सुख का कारण है। जिसका जितना पुण्य होता है वह उतना सुख पाता है। तुम पुण्यात्मा हो। तुम्हारे लिए पृथ्वी सुख से छाई हुई है। पृथ्वी यही है। पर यही पुण्यात्मा को सुखमय और पापात्मा को दुःखमय मालूम होती है। यथा : सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। समुद्र जल का निधान है। उसे अधिक जल की आवश्यकता नहीं है। पर नदियों के लिए दूसरा स्थान नहीं है। वे जा जाकर अपना जल दिनरात समुद्र में ही गिराया करती हैं। सैकड़ों कोस के मरुस्थल पड़े हैं। जहाँ जल की बड़ी ही कमी है। पर नदियाँ उधर उन्मुख ही नहीं होतीं।

तिमि सुख संपति बिनहि बोलाये। धरमसील पहिं जाहिं सुभाये ॥
तुम्ह गुरु विप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥२॥

अर्थ : उसी भाँति सुखसम्पत्ति बिना बुलाये ही धर्मशील के पास स्वभाव से ही जाती है। तुम गुरु, विप्र, गाय और देवताओं के सेवक हो और कौसल्या देवी भी वैसी ही पवित्र हैं।

व्याख्या : वैसे ही पुण्यात्मा सुख से पूर्ण रहते हैं। उन्हें सुख का घाटा नहीं रहता। फिर भी सुख सम्पत्ति को तो दूसरा स्थान ही नहीं है। उन्हें तो पुण्यात्मा के यहाँ जाना ठहरा। यही इनका स्वभाव है चाहे उसे कामना हो चाहे न हो। तुम तो लड़के कुशल से घर लौट आवें इतने में ही सन्तुष्ट थे। इससे अधिक चाहते भी नहीं थे। परन्तु बालकों ने इतना बड़ा यश प्राप्त किया। महाराज जनक से सम्बन्ध हुआ। यह सब सुख तो बिना बुलाये ही तुम्हारे पास आये। गुरु, विप्र, गाय और देवता का सेवक होना ही पुण्यात्मा का लक्षण है। सो सभी तुममें है। तुम्हारी पट्टाभिषिक्ता महिषी कौसल्या देवी भी वैसी ही पुण्यात्मा हैं। फिर तुमलोगों को ऐसा सुख क्यों न हो।

सुकृती तुम्ह समान जग मांहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नांहीं ॥
तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें ॥३॥

अर्थ : राजन्! तुम्हारे ऐसा पुण्यात्मा जगत् में न तो कोई हुआ न है और न होनेवाला है। तुमसे अधिक पुण्य किसका है जिसको रामजी के सदृश पुत्र हैं।

व्याख्या : पुण्य पाप दोनों होने से ही मनुष्यजन्म मिलता है परन्तु तुममें तो पाप का लेश भी नहीं है। यथा : प्रभु आयसु बहु विधि प्रतिपाला। दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका। पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा। तुम्हारा जन्म तो वरदान से हुआ है नहीं तो तुम्हारे

ऐसा पुण्यात्मा इस जगत् में जन्म कैसे ग्रहण कर सकता है ? जिसको राम सा बेटा है उसके पुण्य का क्या ठिकाना ? यथा : जासु सनेह संकोच वस राम प्रकट भये आइ। जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाय। सुकर्म से ही सुकृती अपने को पावन परमपद पर चढ़ा ले जाता है।

वीर विनीत धरम व्रत धारी। गुन सागर वर बालक चारी ॥
तुम्ह कहँ सर्व काल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना ॥४॥

अर्थ : तुम्हारे चारों बालक वीर विनीत और धर्मव्रत के धारण करनेवाले हैं। तुम्हारा सब काल में कल्याण है। डंका देकर बरात साजो।

व्याख्या : तुम चार के सेवक हो १. गुरु के २. विप्र के ३. गाय के और ४. देवता के। इसलिए चार गुणों से युक्त तुम्हें चार पुत्र हैं। वे १. वीर हैं २. विनीत हैं ३. धर्मव्रतधारी हैं और ४. गुणसागर हैं। यथा : चारिउ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा। जो वीर होते हैं वे उद्दण्ड होते हैं। विनयी नहीं होते। धर्मव्रतधारी नहीं होते। नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म व्रतधारी। धर्मव्रतधारी होने पर भी गुणसागर होना महा दुर्लभ है। तुम्हारे बालकों में चारों गुण हैं।

तुम्हारी बात असाधारण है। तुम्हारे लिए शुभाशुभ मुहूर्त का विचार नहीं है। गुरुजी समझ गये कि राजा स्वयं यह सम्वाद देने आया है बारात ले चलने का मुहूर्त पूछने के लिए। अतः कहते हैं कि तुम्हें सर्वकाल में कल्याण है और आज्ञा देते हैं कि निर्भय होकर बारात साजो।

दो. चलहु वेगि सुनि गुर वचन, भलेहि नाथ सिरु नाइ।
भूपति गवने भवन तब, दूतन्ह वासु देवाइ ॥२९४॥

अर्थ : जल्दी करो। ऐसा गुरु का वचन सुनकर राजा ने कहा नाथ ! बहुत अच्छा और नमस्कार करके राजा घर गये। दूतों के ठहरने की व्यवस्था कर दी।

व्याख्या : गुरुजी ने शीघ्रता करने की आज्ञा दी। इधर से दूत भेजने में देर न हुई। यथा : पठए दूत बोलि तेहि काला। अतः तुम्हें भी बारात ले चलने में देर न करनी चाहिए। अथवा शुभ मुहूर्त भी सन्निकट है। इसलिए शीघ्रता करो। महाराज गुरुजी की आज्ञा को ही सब कुछ मानते हैं। अतः तुरन्त प्रणाम किया और घर चले बारात की तैयारी के लिए। दूतों के लिए ठहरने की व्यवस्था कराके तब घर गये। यह महाराज की सावधानी है।

राजा सबु रनिवास बोलाई। जनक पत्रिका बाँचि सुनाई ॥
सुनि संदेसु सकल हरषानीं। अपर कथा सब भूप बखानीं ॥१॥

अर्थ : राजा ने सब रानियों को बुलाया। जनकराज की चिट्ठी पढ़ सुनाई। सन्देश सुनकर सब हर्षित हुईं और सब कथा महाराज ने वर्णन की।

व्याख्या : स्त्रीद्विजावमान्य गच्छतो मरणम् । स्त्री और ब्राह्मण का अपमान करके जानेवाले का मरण होता है। अतः यात्रा के पहिले स्त्री और ब्राह्मण का सत्कार होना चाहिए । अतः स्त्रियों के सत्कार के लिए रनिवास में गये। वहाँ जाने पर सब रानियों को बुलवाया। पृथक् पृथक् सबके यहाँ जाने का समय नहीं है। सबके आजाने पर राजा जंनक की चिट्ठी पढ़ सुनाई। बारात लेकर आने की प्रार्थना राजा जनक ने की है। रामजी ही शिवधनुभङ्ग में समर्थ हुए। अतः राजा जनक की ज्येष्ठ कन्या सीताजी ने उनका वरण किया है। चिट्ठी की वचनरचना बड़ी सुन्दर है, बड़ी प्रिय है। दूत वचन रचना प्रिय लागी। चिट्ठी के लिए क्या कहना है। रानी कौसल्या के महल में चिट्ठी की चौथी आवृत्ति हुई। रामजी कौसल्या रानी की भाँति ही सब माताओं से प्रेम करते हैं। यथा : कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाव पियारी। अतः सबका वात्सल्य समान रूप से रामजी पर है। उनके विवाहोत्सव का समाचार सुनकर सब प्रसन्न हुईं। अपर कथा जो दूत के मुख से सुनी थी : सब राजाओं का पराभव, बाणासुर और रावण की हार और परशुरामजी के पराजय आदि की कथा महाराज ने स्वयं वर्णन की।

प्रेम प्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहु सिखिनि सुनि बारिद बानी ॥
मुदित असीस देहिं गुर नारी। अति आनंद मगन महतारी ॥२॥

अर्थ : प्रेम से फूली हुई रानियाँ ऐसी शोभित हैं जैसे बादल के शब्द सुनकर मोरनियाँ फूल उठती हैं। बड़ों की स्त्रियाँ प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे रही हैं और माताएँ अत्यन्त आनन्द में मग्न हैं।

व्याख्या : प्रेम से पुलकित हो उठी हैं। इसलिए प्रफुल्लित कहा। रानियाँ स्वभाव से ही शोभायमान हैं। प्रफुल्लित होने से शोभा और भी बढ़ गई है। यह सात सौ रानियों का हाल ग्रन्थकार कहते हैं। गुरुनारी अर्थात् कुलमान्य जठेरी प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हैं। राम लक्ष्मण की कीर्ति और करणी का प्रकरण है। इसलिए महतारी से कौसल्या और सुमित्रा का ग्रहण है। कैकेयी भरतजी से अधिक रामजी को मानती हैं। यथा : भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना। इसलिए कैकेयी का भी ग्रहण है। ये तीनों तो आनन्द में डूबाडूब हैं। बोलने में असमर्थ हैं। अतः

लेहिं परसपर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती ॥
राम लषन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूपवर बरनी ॥३॥

अर्थ : वे दूसरे से अत्यन्त प्यारी चिट्ठी को ले लेती हैं और उसे हृदय में लगाकर छाती शीतल करती हैं। राम लक्ष्मण की कीर्ति और करणी को बार बार राजाओं में श्रेष्ठ दशरथजी ने वर्णन किया।

व्याख्या : उस पत्री में अतिप्रिय का शुभ संवाद है। अतः वह पत्री अतिप्रिय है। चिट्ठी को आधा मिलन कहा गया है। अतः चिट्ठी को रामविरह सन्तप्त हृदय

में लगाकर उसे शीतल करती हैं। महाराज वह कथा जो चिट्ठी में नहीं है सो कह चुके हैं। फिर भी वह कीर्ति और उसका कारण करणी ऐसी अलौकिक है कि न वह एकबार में ठीक तरह से कही जा सके और न सुननेवाले के मन में बैठ सके। अथवा उसी कीर्ति और करणी के कहने में महाराज को आनन्द और सुनने में रानियों को आनन्द है। इसलिए बारम्बार कही।

मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाए। रानिन्ह तब महिदेव बोलाए॥
दिए दान आनंद समेता। चले विप्रवर आसिष देता॥४॥

अर्थ : यह सब मुनिजी की कृपा है ऐसा कहकर राजा महल से बाहर चले गये। तब रानियों ने ब्राह्मणों को बुलाया। आनन्दसहित अनेक दान दिये। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण आशीर्वाद देते चले।

व्याख्या : महल में अधिक देर तक नहीं ठहरे। गुरुजी की आज्ञा हो चुकी है। यथा : चलहु वेगि सुनि गुरु वचन भलेहि नाथ सिर नाय। मुनि के प्रसाद से ही यह सब हो रहा है। उन्होंने पहिले ही कहा था : धरहु धीर होइहँ सुत चारी। त्रिभुवन विदित भगत भय हारी। अतः यह कीर्ति और करणी उनकी है। सुत की नहीं है। मुनिजी का प्रसाद है। यही बात महाराज ने रानियों से अपने संवाद के उपसंहार में कही और बारात की व्यवस्था करने बाहर के खण्ड में चले आये।

आनन्द के समाचार की प्राप्ति पर दान देना चाहिए। इसलिए रानियों ने दान पात्र ब्राह्मणों को बुलाया और सात्त्विक दान दिया। अयोध्या ऐसा पुनीत देश है। पुत्रोद्वाह की उपस्थिति का काल है। विप्रवर से श्रोत्रिय ब्राह्मण अभिप्रेत हैं। यथा : वेदपाठी भवेद्विप्रः। आनन्द के सहित दान दे रही हैं। अतः यह दान सब प्रकार से सात्त्विक है। यथा : दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्। भगवद्गीता। दान से सन्तुष्ट होकर ब्राह्मण आशीर्वाद देते चले। परोक्ष में भी आशीर्वाद देते हैं। इसलिए आशिष देते चलना कहा।

दो. जाचक लिए हँकारि, दीन्ह निछावर कोटि विधि।
चिर जीवहु सुत चारि, चक्रवर्ति दसरत्थ के॥२९५॥

अर्थ : मँगतों को बुलवा लिया और करोड़ों प्रकार की निछावरें कीं। वे भी आशीर्वाद देते चले। चक्रवर्ती दशरथ के चारों पुत्र चिरञ्जीव हों।

व्याख्या : दान के अधिकारियों को दान दिया गया। दूसरी श्रेणी के पात्र दीन और अनाथ : याचक लोग हैं। इन्हें निछावर दिया जाता है। महाराज दशरथ के यहाँ दीन का आदर है। उन्हें बुलावा जाता है। अतः वे बुलाये गये। सात सौ रानियाँ हैं। अतः कोटि विधि से निछावर का होना कहते हैं। अथवा निछावर की कोटि : प्रकार विधि से हुई। यथा : पहिले ताटकावध की निछावर

हुई। तब मखसंरक्षण की निछावर। तब धनुषभङ्ग की निछावर। तब जयमाल ग्रहण की निछावर। तब परशुरामविजय की निछावर हुई।

कहत चले पहिरे पट्ट नाना। हरषि हनें गहगहे निसाना॥
समाचार सब लोगन्ह पाए। लागे घर घर होन बधाए॥१॥

अर्थ : ऐसा कहते हुए अनेक प्रकार के कपड़े पहने हुए चले और हर्षित होकर गहगहे डङ्के बजाये। सब लोगों को समाचार मिला तो घर घर बधाइयाँ बजने लगीं।

व्याख्या : याचक लोग अनेक प्रकार के कपड़े पहने हुए हैं जो उन्हें निछावर में मिले हैं। चिरजीवहु सुतचारि चक्रवर्ति दशरत्थ के ऐसा कहते हुए चले। दाता की प्रीति के लिए उन्होंने निछावर में मिले हुए वस्त्रालङ्कारों को तुरन्त धारण कर लिया। केवल कपड़े ही नहीं पाये। नाना भाँति से निछावर हुई है। राजोपचार तक की निछावर हुई। घोड़े, हाथी, डंका, निशान सभी कुछ निछावर में मिला है। अतः डङ्का देकर चले। हने गहगहे निसाना। यहाँ हने शब्द का सिवा जाचक शब्द के दूसरा कोई शब्द कर्त्तारूप में उपलब्ध नहीं होता और अर्थ भी बैठ जाता है। अतः याचकों ने डङ्के बजाये यही अर्थ करना होगा। जन्मकाल में याचक स्वयं आये। यथा : तेहि अवसर जो जेहि विधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा। इस बार उन्हें बुलाया गया।

याचकों के इस भाँति डङ्का बजाकर चलने पर सब लोगों को समाचार लग गया। अथवा रानियों का समाचार लिखकर तत्र पुर लोगों का समाचार लिखते हैं। राजा और प्रजा की सम्पत्ति एक है। अति घनिष्ठ प्रीति है। धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र में ही ऐसी प्रीति सम्भव है। प्रजा इतनी आनन्दित हुई मानो उन्हीं के घर विवाहोत्सव है। घर घर बधाये वजने लगे।

भुवन चारि दस भरा[1] उछाहू। जनकसुता रघुवीर विआहू॥
सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे॥२॥

अर्थ : चौदहों भुवनों में उछाह भर गया कि जनक की बेटी और रघुवीर का व्याह है। यह शुभ कथा सुनकर लोगों में अनुराग वढ़ा। रास्ता, घर और गली सँवारने लगे :

व्याख्या : चौदह भुवन का अयोध्या से सम्वन्ध है। यथा : भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ वरखहि सुखवारी। रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहँ धाई। अतः सभी जगह समाचार फैल गया और सभी महाराज दशरथ से प्रेम करते हैं। यथा : नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। लोकप करहिं प्रीति रुचि राखे। अतः सबके हृदय में आनन्द उमगा। इस भाँति चौदह भुवन में उछाह भर गया। जनकजी की भी कीर्ति की ख्याति सारे संसार में है। अतः इस

---

[1] यहाँ अधिक : द्वितीय अलङ्कार है।

विवाह से सबको हर्ष हुआ। श्रीरामजी की ख्याति वीररूप से त्रैलोक्य में हो चुकी है। अतः रघुवीर कहते हैं। पिता का नाम नहीं लेते। जगदम्बा जानकीजी के रूप की ख्याति भी त्रैलोक्य में है। पर जनक की पुत्री करके ही ख्याति है। अतः कहते हैं : जनक सुता रघुवीर विवाहू।

विवाह की कथा है। इसलिए शुभ कथा कहते हैं। लोग तो अनुरक्त हुए हैं। पर इस सम्बन्ध के समाचार से अनुराग और बढ़ा। सबका घर सड़क और गली के बीच में है। अतः मग गृह गली का सँवारना उसी क्रम से लिखते हैं।

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥३॥

अर्थ : यद्यपि अयोध्यापुरी नित्य ही सोहावनी है। रामजी की पुरी मङ्गलमयी और पवित्र करनेवाली है। फिर भी प्रीति की रीति सुन्दर होती है। मङ्गल रचना सँवारकर रची गई है।

व्याख्या : यह संशय न हो कि अवध और समयों में असंस्कृत ही रहता था। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि अवध तो सदा देखने में सोहावन और सेवन करने में पावन है। यथा : पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरखे नगर विलोकि सोहावन। अवध का सम्बन्ध रामजी से वैसा ही है जैसा दिन का सम्बन्ध सूर्य से होता है। यथा : अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू। अतः अवध को रामपुरी कहा। अथवा राजा जनक के दूत रामपुरी की भावना से अवध में आये हैं। उसके वर्णन में भी अवध का रामपुरी कहकर वर्णन करते हैं। स्वयं रामजी मङ्गलभवन अमङ्गलहारी हैं। अतः उनकी पुरी मंगलमय पावनि है। रामजी के नाम रूप लीला धाम सब मङ्गलमय, पावन और सोहावन हैं। नाम मङ्गलमय यथा : मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। रूप मंगलममय यथा : मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर विहारी। लीला मंगलमय यथा : जासु सकल मंगलमय कीरति। धाम मंगलमय यथा : रामपुरी मंगलमय पावनि। नाम पावन यथा : सुमिरि पवनसुत पावन नामू। रूप पावन यथा : मंगलमय अति पावन पावन। लीला पावन यथा : रघुवीर चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावइ। धाम पावन यथा : रामपूरी मंगलमय पावनि। नाम और लीला सोहावन यथा : राम नाम गुन चरित सोहाए। रूप सोहावन यथा : स्याम सरीर सुभाव सुहावन। धाम सोहावन यथा : हरखे नगर विलोकि सोहावन। अतः रामपुरी में मङ्गलरचना की आवश्यकता नहीं है। गङ्गाजी के मार्जन की कौन आवश्यकता है। फिर भी प्रीति का यह आनन्द है कि प्रेमपात्र के मङ्गल उपस्थित होने पर मङ्गल रचना बनाई जाती है। जहाँ प्रीति की प्रीति पाठ है वहाँ पहिले प्रीति शब्द का अर्थ प्रेम और दूसरे प्रीति शब्द का अर्थ आनन्द है। वैर में भी पलटा लेने का आनन्द है। पर वह आनन्द सोहावना

नहीं है। प्रीति का आनन्द सोहावना है। उसमें मङ्गलरचना सँवारकर रची जाती है। उसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम विचित्र बजारू॥
कनक कलस तोरन मनि जाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥४॥

अर्थ : ध्वजा पताका, सुन्दर वस्त्र और चँवर से छाया हुआ बाजार परम विचित्र हो रहा था। सोने के कलश, मणिजाल का तोरण, हलदी, दूब, अक्षत और माला द्वारा।

व्याख्या : जन्मोत्सव के समय में कहा है : ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा। वैसा ही इस उत्सव के समय भी मनाया जा रहा है। पर जन्मोत्सव से विवाहोत्सव की रचना में विशेषता होती है। अतः कनक कलस तोरन मनि जाला। लिखकर विशेषता भी दिखलाते हैं। बाजार का साज कहकर घर का साज कहते हैं। बाजार की मङ्गलरचना दूसरे प्रकार की और घरकी दूसरे प्रकार की होती है। हलदी, दही, अक्षत, माला आदि प्रयोग घर की मङ्गलरचना में होता है।

दो. मंगलमय निज निज भवन, लोगन्ह रचे बनाइ।
वीथीं सींचीं चतुरसम, चौके चारु पुराइ॥२९६॥

अर्थ : लोगों ने अपने घरों को सँवारकर मङ्गलमय बनाया। सुन्दर चौके पुराकर चतुरसम से गलियों को सींचा।

व्याख्या : यहाँ महाजनों को आज्ञा देनी नहीं पड़ी। आपसे आप लोगों ने अपना अपना घर मङ्गलमय बनाया। खूब सँवारकर रचना की। घर सँवारकर लोगों ने बाहर चौके पुराये। गलियाँ चतुरसम : चार प्रकार के सुगन्धित द्रव्य को एकत्रित करके चतुरसम बनाते हैं से सींची गईं।

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि॥
बिधुवदनी मृगसावक लोचनि। निज सरूप रति मान बिमोचनि॥१॥

अर्थ : जहाँ तहाँ झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ मिलकर सोलह श्रृङ्गार करके गान करने लगीं। सबके अङ्ग की प्रभा बिजली सी, मुख चन्द्रमा सा, आँखें मृग के बच्चों सी थी। अपने रूप से रति के अभिमान को मिटानेवाली थीं।

व्याख्या : घरों का वर्णन करके अब घरवालियों का वर्णन करते हैं। कुरूपता भी पाप का फल है। अवध के नर नारी कृतार्थरूप हैं। यथा : उमा अवधवासी नर, नारि कृतारथरूप। अथवा : मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती। अतः स्त्रियों की सुन्दरता देखकर रति का अभिमान टूटता था। क्योंकि सभी चन्द्रवदनी और मृगनयनी थी। मुख की शोभा कहकर सर्वाङ्ग की शोभा कहते हैं कि उसमें बिजली सी चमक है। तिस पर सोलहों श्रृङ्गार कर रक्खे

हैं। यथा : प्रथम अंग सुचि एक विधि मज्जन दुतिय बखानि। अमल वसन पहिरन तृतिय जावक चारि सुजानि। १। पंचम केस सँवारियो षष्ठहिं माँग सिंदूर। भाल खौरि सप्तम कहत अष्टचिबुक तिलपूर। २। मेहदी कर पद रचन नव दसम अरगजा अंग। ग्यारह भूषन नग जटित बारह पुष्प प्रसंग। ३। वासराग मुख तेरहो चौदह रँगिवो दाँत। अधर राग गनि पंचदस कज्जल षोडस भाँत। ४।

गावहि मंगल मंजुल वानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी ।।
भूप भवन किमि जाइ बखाना। विस्व विमोहन रचेउ विताना ।।२।।

अर्थ : मनोहर वाणी से मङ्गलगान करने लगीं। सुन्दर स्वर को सुनकर कोयल लज्जित हो उठी। राजा के घर का कैसे वर्णन किया जाय जहाँ संसार को मोहन करनेवाला मण्डप छाया गया था।

व्याख्या : मङ्गलगान करने लगीं। उनका स्वर इतना मनोहर है कि कोयल लज्जित हो जाँय। जनकपुर के वर्णन में कहते हैं : जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहि गान कल कोकिल वयनी और यहाँ कहते हैं : सुनि कलरव कलकंठ लजाहीं। यहाँ मामला बढ़ा हुआ है। सोलहों श्रृंगार कर रक्खे हैं। शरीर की द्युति भी दामिनी सी है। वहाँ एक अर्धालो में वर्णन है। यहाँ तीन अर्धाली में वर्णन करके तिगुना उत्सव कहा।

जब प्रजाओं के घर में इतनी सजावट और आमोद प्रमोद है तब राजा के घर का क्या वर्णन किया जा सकता है ? वहाँ विश्वविमोहन मण्डप साजा गया है। जनकपुर के मण्डप का तो वर्णन किया। पर यहाँ के मण्डप का वर्णन हो नहीं सकता। वहाँ का मण्डप देखकर ब्रह्मदेव भूल गये कि कदली के खम्भे आदि असली हैं कि बनावटी हैं। पर यहाँ तो विश्व विमोहन वितान रचा गया है। जिसे देखकर अपने शरीर का एकदम सँभाल नहीं रह जाता। मोह को परिभाषा ही यही है कि जहँ आपने शरीर को नेकु न रहै सँभार। यहाँ तो वितान के देखने से विमोह होता है।

मङ्गल द्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत विपुल निसाना ।।
कतहुँ विरद वंदी उच्चरहीं। कतहुँ वेदधुनि भूसुर करहीं ।।३।।

अर्थ : अनेक प्रकार के मनोहर मङ्गल द्रव्य शोभित थे। मङ्गल द्रव्याणि यथा : पूर्णकुम्भं द्विजं वेश्या शुल्कधान्यञ्च दर्पणम्। दध्याज्यं मधुलाजञ्च पुष्पं दूर्वाक्षतं सितम्। वृषं गजेन्द्रं तुरगं ज्वलदग्नि सुवर्णकम्। पर्णञ्च परिपक्वानि फलानि विविधानि च। मुक्तां प्रसूनं मालाञ्च सद्योमांसं च चन्दनम्। ददर्शैतानि वस्तूनि मङ्गलानि तुरो मुने! ब्रह्मवैवर्ते। अर्थ : पूर्णकुम्भ, ब्राह्मण, वेश्या, श्वेत धान्य, दर्पण, दही, घी, मधु, लावा, फूल, दूर्वा, श्वेत अक्षत, बैल, हाथी, घोड़ा, जलती हुई आग, सोना, पत्ते, पके फल, मोती, फूल की माला, ताजा मांस, चन्दन ये मङ्गल

द्रव्य हैं। बहुत से डङ्के बज रहे हैं। कहीं वन्दी विरदावली उच्चारण करते और कहीं ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे हैं।

व्याख्या : जब मण्डप का वर्णन हुआ तो मङ्गल द्रव्यों का भी वर्णन होना चाहिए। इसलिए कहते हैं कि अनेक प्रकार के मनोहर मङ्गल द्रव्य वहाँ थे। भाव यह कि ताजा मांस इत्यादि मंगल द्रव्य होने पर भी मनोहर नहीं हैं। अतः उनकी अनुपस्थिति वहाँ पर कह रहे हैं। राजद्वार है। अतः उत्सव के समय में अनेक डंकाओं का बजना वन्दियों का विरद कहना और ब्राह्मणों का वेदध्वनि करना सर्वथा प्राप्त है। ये सब विशेषताएँ भूपभवन में थीं। लौकिक वैदिक दोनों रीतियाँ हो रही हैं। वन्दी का विरद कहना लौकिक रीति है और ब्राह्मणों की वेदध्वनि वैदिक रीति है।

गावहिं सुन्दरि मंगल गीता। लै लै नामु रामु अरु सीता॥
बहुत उछाह भवनु अति[1] थोरा। मानहु उमगि चला चहुँओरा॥४॥

अर्थ : सुन्दरियाँ राम और सीता का नाम लेकर मङ्गलगीत गाने लगीं। उत्साह बहुत था। घर छोटा पड़ गया। मानो उमगकर चारों ओर बह चला।

व्याख्या : राजभवन में जो गीत हो रहा है उसमें राम और सीता का नाम जोड़कर गा रहीं हैं। वरपक्षवाले के घर वर की ही प्रधानता रहती है। अतः उनके यहाँ पहिले वर का नाम लेकर तब वधू का नाम गीत में जोड़ते हैं। भाव यह कि व्याह का गीत आरम्भ हो गया। दूत के मुख से सुन पाया है कि वधू का नाम सीता है। यथा : सीय स्वयंवर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक ते एका। यद्यपि दूत ने पुकारने का नाम सीता शब्द का तद्भव रूप सीय कहा। परन्तु उस समय प्राकृत का संस्कृत रूप जानने में कठिनता न थी। यद्यपि संसार सीताराम कहता है। पर अयोध्या के मङ्गलगान में तो 'राम सीता' ही गाया गया।

उछाह तो चारों ओर है। पर विशेष राजगृह में है। वहीं से आनन्द का सोता फूटा है। उसी की उपमा देते हैं कि जब किसी पात्र में बहुत सा जल भर दिया जाता है तो चारों ओर से बह चलता है। उसी भाँति राजमहल में उछाह इतना बढ़ा कि उसमें समा न सका तो चारों ओर से उमगकर बह चला। यथा : भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक सुता रघुवीर विवाहू।

दो. सोभा दसरथ भवन कै, को कवि बरनै पार।
जहाँ सकल सुर सीस मनि, राम लीन्ह अवतार॥२९७॥

अर्थ : महाराज दशरथ के महल की शोभा कौन कवि वर्णन कर सकता है। जहाँ सब देवताओं के शिरोमणि रामजी ने अवतार धारण किया था।

व्याख्या : जनकपुर की शोभा वर्णन करते हुए कहा है : वसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि वर वेष। तेहि पुर की शोभा कहत सकुचहिं सारद सेष।

---

[1] यहाँ अधिक अलङ्कार है।

वहाँ जनकभवन की शोभा की विशेषता नहीं कही। कहते हैं: जनक भवन की सोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिय तैसी। क्योंकि जनकभवन में जगदम्बा का अवतार नहीं हुआ था। वह तो यज्ञ के लिए जोते जानेवाली भूमि में हुआ था। जनकपुर की विशेषता यह थी कि वहाँ जगदम्बा कपट नारि वर वेष में वसती थीं। अतः वहाँ पूरे जनकपुर की शोभा कही। यहाँ अयोध्या में तो महाराज के महल में श्रीरामावतार हुआ था। अतः महाराज के महल की विशेषता थी। दशरथभवन की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कोई कवि वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि यहाँ सकलदेवशिरोमणि रामजी ने अवतार ग्रहण किया था। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वही स्थल इस योग्य था जहाँ पूर्ण ब्रह्म का आविर्भाव हो सके। जनकपुर की शोभा में शारदा और शेष को सङ्कोच है। पर यहाँ की शोभा के वर्णन में वे असमर्थ हैं। निर्गलितार्थ यह कि जनकपुर का उत्कर्ष जानकीजी के निवास से है और दशरथभवन की बड़ाई श्रीरामजी के वहाँ अवतार धारण करने से है।

भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यंदन साजहु जाई॥
चलहु वेगि रघुवीर बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता॥१॥

अर्थ: फिर राजा ने भरतजी को बुला भेजा और कहा कि जाकर घोड़े हाथी और रथ सजाओ। शीघ्र ही रघुवर की बारात में चलो। सुनते ही दोनों भाई पुलक से पूर्ण हो गये।

व्याख्या: मुनि प्रसाद कहि द्वार सिधाए: से प्रसङ्ग छोड़ा था। भूप भरत पुनि लिये बोलाई से उसी प्रसङ्ग को उठाते हैं। दोनों भाइयों में इस समय भरतजी ही बड़े हैं। अतः बुलाहट उन्हीं की हुई। पर उनके साथ शत्रुघ्नजी भी आये। क्योंकि ये सदा भरतजी के साथ रहते हैं। यथा: भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई। राजसभा में भरतजी की पुनीत प्रीति देखी जा चुकी है। यथा: प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहहु विसेखी। अतः उन्हीं को बारात: व्रात सजाने की आज्ञा हुई। चतुरङ्गिणी सेना में से हय गज स्यंदन के ही साजने की आज्ञा हुई पदचर के लिए नहीं हुई। आज चक्रवर्तीजी राम न कहकर रघुवीर कहते हैं। क्योंकि धनुषभङ्ग से वीरता प्रमाणित हो चुकी। वीरों की बारात ऐसी ही होती है। जय पहिले ही जाकर किया। अब बारात पीछे से चल रही है। बिना दूलहे की बारात साजी जा रही है। भरत शत्रुघ्न को नगररक्षा के लिए आज्ञा न होकर बारात में चलने के लिए आज्ञा हुई। अतः अति हर्ष से पुलकायमान हो गये। भरतजी के लिए जो आज्ञा हुई वही शत्रुघ्नजी के लिए समझ लेनी चाहिए।

भरत सकल साहनी बोलाए। आयसु दीन्ह सकल उठि धाए॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन साजे। वरन वरन वर वाजि विराजे॥२॥

अर्थ: भरतजी ने सब दारोगों को बुलाया और आज्ञा दी। वे प्रसन्न होकर दौड़ पड़े। उन्होंने रुचि से रचकर घोड़ों पर जीन सजाये। रङ्ग रङ्ग के सुन्दर घोड़े शोभित थे।

व्याख्या : भरतजी ने विभागों के अध्यक्षों को बुलवाया। चक्रवर्तीजी ने भरतजी को आज्ञा दी। उन्होंने बलाध्यक्षों को वही आज्ञा दोहराई। अतः पुनरुक्ति के भय से उसे नहीं लिखते। भरतजी के दरबार में बलाध्यक्ष लोग उपस्थित हुए। भरतजी ने चक्रवर्तीजी की आज्ञा केवल दोहरायी ही नहीं उसे विस्तार के साथ समझाया। आगे की प्रक्रिया से सब बातें स्पष्ट हो जावेंगी। यहाँ विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। आज्ञा पाते ही वे आनन्द के साथ उठकर दौड़ पड़े। मुनिजी ने आज्ञा दी : चलहु वेगि सुनि मुनि वचन भलेहि नाथ सिर नाय। तदनुसार चक्रवर्तीजी आज्ञा देते हैं : चलहु वेगि रघुबीर बराता। आयसु पाइ मुदित उठि धाये। इससे अनुमित है कि भरतजी ने भी चलहु वेगि यही आज्ञा दी।

जिस रङ्ग के घोड़े पर जैसी जीन खिलेगी जैसा साज फबेगा। यही विचार कर अपनी अपनी रुचि के अनुसार रचकर साजा। सवारी के घोड़े रङ्ग विरङ्गे थे।

सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी ॥
नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने ॥३॥

अर्थ : सब घोड़े सुन्दर और अति चञ्चल करणीवाले थे। वे जलते हुए लोहे पर पैर रखने की भाँति पृथ्वी पर पैर रखते थे। वे अनेक जातियों के थे जिनका वर्णन नहीं हो सकता। मानो हवा का निरादर करके उड़ा चाहते हैं। जहाँ हुअ जिमि जरत पाठ है वहाँ अर्थ करना होगा कि मानो जलती हुई धरती पर पाँव रख रहे हैं। ऐसे चञ्चलकरणी हुए।

व्याख्या : सुभग कहकर रूप कहा चञ्चल कहने से गुण कहा। कहावत है कि लड़के और घोड़े चञ्चल ही अच्छे होते हैं। सो ऐसे चञ्चल हैं कि उनसे स्थिर रहा ही नहीं जाता। उनके लिए मानो पृथ्वी गरम लोहे की हो रही है। पृथ्वी पर पैर रक्खा कि तुरन्त उठाया। बराबर थिरकते ही रहते हैं। घोड़ों की जाति होती है। मानी हुई बात है कि जातिवाले घोड़े अच्छे होते हैं। बड़े यत्न से घोड़ों की जाति की रक्षा की जाती है। हीन जाति में जोड़ा नहीं खाने देते। नहीं तो नसल बिगड़ जाती है। आजकल लोग अपने नसल से अधिक घोड़ों और कुत्तों की नसल पर ध्यान देते हैं। घोड़ों में अनेक जातियाँ हैं। तदनुसार उनके रूप आकार और गुणों में भेद होता है। यथा : ताजी, तुरकी, अरबी, कच्छी, पयगू, बुटवल, रंगपुर दीनाजपुर के टाँघन आदि।

अब पराक्रम कहते हैं कि वे दूसरे घोड़े को अपने से आगे बढ़ने देना तो सहन कर सकते ही नहीं। हवा का भी आगे बढ़ना उन्हें सह्य नहीं है। उसका भी निरादर करके उड़ना चाहते हैं।

तिन सब छयल भये असवारा। भरत सरिस वय राजकुमारा ॥
सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर चाप तून कटि भारी ॥४॥

अर्थ : उन सब पर भरतजी के समान आयुवाले छैल छबीले राजकुमार

सवार हुए। सब सुन्दर थे। आभूषण धारण किये हुए थे। उनके हाथों में धनुष बाण था और कमर में भारी तरकस बँधा था।

व्याख्या : भरतजी को जो आज्ञा हुई : चलहु बेगि रघुवीर बराता। सो भरत के समवयस्क राजकुमार भरत शत्रुघ्न के साथ घोड़ों पर सवार हुए। घोड़े की सवारी नवयुवकों के ही योग्य है। क्षत्रिय महाराज की बारात है। दूल्हा भी घोड़े पर ही रहेगा। यह उम्र शौकीनी की है। इसलिए राजकुमारों को छैल छबीले कहते हैं। जिस भाँति कुछ दिन पहले बारातों में बाँके निकलते थे उसी भाँति यह छैल छबीला समाज था। जिस भाँति राजाओं की उपस्थिति श्रीचक्रवर्तीजी की सभा में थी उसी भाँति राजकुमार लोगों की उपस्थिति इस समय भरतजी की सभा में थी।

सभी राजकुमार सुन्दर थे। सुन्दर घोड़ों पर चढ़ने के लिए सुन्दर सवार चाहिए। घोड़े अलंकृत हैं। अतः सवार भी भूषणधारी होने चाहिए। घोड़े गुणवान् और पराक्रमी हैं। अतः सवार भी धनुर्धर और वीर होने चाहिए। घोड़े अल्पवयस्क हैं। अतः सवार भी छैल छबीले चाहिए। सो सब समाज यहाँ ठीक जुट गया है।

दो. छरे छबीले छयल सब, सूर सुजान नवीन।
जुग पदचर असवार प्रति, जे असिकला प्रवीन ॥२९८॥

अर्थ : छरहरे वदनवाले सब छैल छबीले अपूर्व शूर सुजान और प्रत्येक सवार के साथ दो दो तलवार बहादुर : पार्श्वरक्षक पैदल थे।

व्याख्या : भारी शरीरवाले रथ या गज की सवारी के योग्य होते हैं। यहाँ नवीन शब्द का अर्थ अपूर्व है। क्योंकि छैल शब्द से ही अल्पवयस्कता का भाव आगया। अपूर्व शूर बिना हुए भूषणवसन और शस्त्रास्त्र की शोभा नहीं और सुजान बिना हुए राजकुमारों की सभी शोभा व्यर्थ है। अतः सूर सुजान नवीन कहते हैं। सभी सवारों के साथ दो दो पार्श्वरक्षक हैं। जो संग्राम में सवार के पैरों की और घोड़ों की रक्षा कर सकें और वे तलवार चलाने में निपुण थे। निकट में आये हुए शत्रु पर तलवार की ही चोट हो सकती है। आज कल जो बारात की प्रथा है वह सेना का ही अनुकरण है।

बाँधे विरद वीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना ॥१॥

अर्थ : विरुदवाले वीर रण में दक्ष निकलकर पुर के बाहर खड़े हुए। वे चतुर घोड़ों को अनेक प्रकार की गतियों से फेर रहे हैं और मृदंग तथा बाजे नगाड़े का शब्द सुन सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।

व्याख्या : गद्यपद्यमयीराजस्तुतिर्विरुदमुच्यते। गद्य और पद्यमयी वाणी में राजा की स्तुति को विरुद कहते हैं। जो गुण जिसमें विशेष होता है या जो प्रण

जिसका होता है वही उसके विरुद में कहा जाता है। जो जिस विरुद को अपना लेता है प्राण जाने पर भी उसका परित्याग नहीं करता। यथा : विरद बाँधि वरवीर कहाई। चले समर जनु सुभट पराई। प्रख्यात पौरुष वीरों का भी विरुद होता है। रनगाढ़े का अर्थ है रणदक्ष। यथा : मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। ऐसे गुणवाले वीर राजकुमार बारात के लिए पुर के बाहर आकर खड़े हुए और बारात का इन्तजार करने लगे। यह पहिला कार्य हुआ।

खड़े होने की अवस्था में भी घोड़े अनेक चाल से फेरे जा रहे हैं। फेरनेवाले भी चतुर हैं। बाजे का शब्द सुनकर दोनों को हर्ष होता है। बाजे का शब्द सुनकर घुड़दौड़ के घोड़े काबू के बाहर हो जाते हैं। उनसे स्थिर रहा नहीं जाता।

रथ सारथिन्ह विचित्र बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए॥
चँवरु चारु किंकिन धुनि करहीं। भानु जानु सोभा अपहरहीं॥२॥

अर्थ : ध्वजा, पताका, मणि और भूषण लगाकर सारथियों ने रथों की विचित्र सजावट की है। रथ पर चँवर चल रहे हैं और घण्टियाँ बज रही हैं। सूर्य के रथ की शोभा का अपहरण कर रहे हैं।

व्याख्या : सारथियों ने पहिले रथ का श्रृंगार किया। ध्वजा पताका तथा मणि और भूषणों से ऐसा अलंकृत किया कि रथों की अद्भुत शोभा हुई। रथों को युद्ध सामग्री से सुसज्जित करने की विधि है। परन्तु बारात में रथ जा रहे हैं। अतः मणिभूषणों से सजाये गये। यही रथ की विचित्रता है कि जब रथ चालू होता है तो चँवर चलने लगता है। क्षुद्र घण्टियाँ बजने लगती हैं। रथ ऐसा जगमगा रहा है कि सूर्य के रथ की शोभा को मात कर रहा है।

साँवकरन[1] अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते॥
सुन्दर सकल अलंकृत सोहै। जिन्हहिं बिलोकत मुनि मन मोहै॥३॥

अर्थ : श्यामकर्ण घोड़ों की गिनती न थी। उन्हें सारथियों ने रथ में जोता। वे सुन्दर और अलङ्कार से युक्त होकर ऐसे शोभित हैं कि उन्हें देखकर मुनियों का मन मोहित हो जाय।

व्याख्या : श्यामकर्ण घोड़े श्वेत वर्ण के होते हैं। केवल उनका कान काला होता है। इसी से श्यामकर्ण कहलाते हैं। प्राचीन काल में भी ये कम थे। अब तो सम्भवतः पृथ्वी मण्डल में कदाचित् ही कहीं हों। महाराज दशरथ के यहाँ ऐसे असंख्य घोड़े थे। उनसे रथ का काम लिया जाता था। पीठ सवारी के लिए जैसा पहिले

---

१. मो नुनासिको वो वा इस सूत्र से म को सानुनासिक व आदेश हुआ। अधोमनयाम् इस सूत्र से श्या के यकार का लोप होकर श्याम शब्द का रूप साँव हुआ। और विप्रकर्ष करके कर्ण का करन रूप हो जाता है। इस भाँति श्यामकर्ण का तद्भव रूप साँवकरन सिद्ध हुआ।

कहा जा चुका है अनेक जाति के घोड़े थे। उन श्यामकर्ण घोड़ों को उन रथों में सारथियों ने जोता। वे सब स्वभाव से ही सुन्दर थे। तिस पर उन्हें अलङ्कार से शृङ्गारित किया गया। अत: वे ऐसे मनोहर दिखाई पड़ने लगे कि उनके देखने से विषयविमुख स्थितप्रज्ञ का भी मन मोहित हो जाय।

जे जल चलहिं थलहिं की नाईं। टापन बूड़ वेग अधिकाई॥
अस्त्र सस्त्र सब साजु बनाई। रथी सारथिन्ह लिए बोलाई॥४॥

अर्थ : जो थल की ही भाँति जल पर चलते थे। वेग की अधिकता से टाप नहीं डूबता था। सारथियों ने अस्त्र शस्त्र सब साज को सजाने के वाद रथियों को वुला लिया।

व्याख्या : अब श्यामकर्ण घोड़ों की विशेषता कहते हैं। उनकी गति जल पर भी है। उनमें इतना वेग होता है कि अपने टाप को जल में डूबने का अवसर नहीं देते। जिस हथियार को फेंककर प्रहार करते हैं उसे अस्त्र और जिसे हाथ में लिये हुए प्रहार करते हैं उसे शस्त्र कहते हैं। ढाल, तलवार, परशु, शक्ति, तरकस, धनुष आदि यथास्थान रथ में सजाये जाते हैं और भी युद्ध की सामग्री अग्नि आदि रथ पर रक्खी रहती हैं। इस भाँति पहिले रथ को साजा। फिर चार घोड़ों को अलंकृत करके उनमें जोड़े। तत्पश्चात् अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित किया। रथ के ठीक हो जाने पर सारथियों ने अपने अपने रथियों को बुला लिया। बारात में युद्धरथ ही साजे गये। विहार रथ की आवश्यकता नहीं समझी गई।

दो. चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर, लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुंदर सबहि, जो जेहि कारज जात॥२९९॥

अर्थ : रथ पर चढ़ चढ़कर नगर के बाहर बारात जुटने लगी और जो जिस कार्य के लिए जाता था उन सबको सुन्दर सगुन होते थे।

व्याख्या : दूसरा कार्य। रथी घुड़सवारों की भाँति इकट्ठे नहीं आये। आगे पीछे करके एक एक रथी आ रहे हैं। इस भाँति बारात जुटने लगी। राजकुमारों के आने पर बारात नहीं कहा। उनकी लड़कों में गिनती है। रथियों के आने पर बारात कहते हैं। क्योंकि ये महाराज के समवयस्क हैं। महाराज रथ पर चलेंगे। इसलिए सरदार लोग सब रथ पर सवार हो रहे हैं। पहिले घुड़सवार : निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े। तब रथों की पंक्ति सोजी गई। यथा : चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बरात। बाहेर नगर जुटने का भाव यह है कि नगर के भीतर इतना विस्तृत स्थान नहीं है। जब से घुड़सवार चले तब से शकुन प्रारम्भ है। रथ के पीछे हाथियों की पंक्ति रहेगी।

कलित करिवरन्हि परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥
चले मत्त गज घंट विराजी। मनहुँ सुभग सावन घन राजी॥१॥

अर्थ : अलंकृत हाथियों पर अम्बारियाँ पड़ी थीं। जिस भाँति सँवारी गई थीं उसका वर्णन नहीं हो सकता। घण्टाओं से सुशोभित मतवाले हाथी चले। जान पड़ता था कि सावन के सुन्दर बादलों की पंक्ति चल रही है।

व्याख्या : अम्बारियाँ अत्यन्त ऊँचे पर हैं। ऐसे क्रम से बारात जुट रही है जिसमें सबको दिखाई पड़ सके। सबसे आगे अश्वारोही हैं। उनके पीछे रथ हैं जो घोड़ों से ऊँचे हैं। अश्वारोहियों के पीछे होने पर भी अपने अपने रथों पर दिखाई पड़ रहे हैं। उनके भी पीछे हाथियों की पंक्ति है। जो रथ से भी ऊँचे हैं। उनकी पीठ पर अम्बारियाँ अत्यन्त ऊँचे पर होने से बराबर दृष्टिगोचर हो रही हैं। वे ऐसी साजी गई हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता। गजारोहियों का कोई उल्लेख नहीं है। क्योंकि महाराज की सवारी रथ पर होनेवाली है। इसलिए सब सरदार रथों पर आगये हैं। हाथियों पर कोई नहीं है। उनपर केवल अम्बारियों की शोभा है। जब महाराज हाथी पर सवार होंगे तब सरदार लोग भी हाथी पर सवार हो सकेंगे।

कलित करिवरन्ह का ही वर्णन हो रहा है। मत्त गज स्वभाव से ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं। तिस पर अलंकृत होने से और भी शोभा बढ़ गई। चलने के समय यदि घण्टा का शब्द न हुआ तो हाथी के चलते की शोभा नहीं होती। इसीलिए घंटविराजी कहते हैं। घण्टा शब्द स्त्रीलिंग है। उसका तद्भवरूप 'घंट' भी स्त्रीलिङ्ग है। इसलिए विराजी कहा। जिसको सैकड़ों हाथियों के एक साथ चलने के देखने का अवसर मिला है वे जानते हैं कि वस्तुतः दूर से ऐसा ही मालूम होता है कि सावन की काली घटा उमड़ी चली आ रही है। सावन की घटा सुन्दर होती है। अकाल की घटा सी भयानक नहीं होती। घण्टा के झूलने से जो चमक पैदा हो रही है वह मानो बिजली चमक रही है। रास्ते भर महाराज की सवारी रथ पर रहेगी। द्वाराचार के समय हाथियों से काम लिया जायगा। इसलिए साथ हैं। यह तीसरा कार्य हुआ : अँबारी मण्डपदार हौदे को कहते हैं।

वाहन अपर अनेक विधाना। सिविका सुभग सुखासन जाना॥
तिन्ह चढ़ि चले विप्रवर वृंदा। जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा॥२॥

अर्थ : और भी अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं। पालकी सुखासन : झम्पान गाड़ी आदि। इन पर चढ़कर श्रेष्ठ ब्राह्मणों का समूह चला। मानो शरीर धारण किये हुए वेदों के छन्द हैं।

व्याख्या : भरतजी को महाराज की इतनी ही आज्ञा हुई थी कि : हयगय स्यंदन साजहु जाई। परन्तु चलहु वेगि रघुवीर वराता। इस कथन की ध्वनि को समझकर भरतजी ने सब व्यवस्था की। पालकी सुखासन[1] : झम्पान और यान आदि के वहन करने में मनुष्य लगते हैं। ये ही ब्राह्मणों के स्वरूपानुकूल सवारियाँ

---

[1] झम्पान में दो बाँस और यान में चार बाँस लगते हैं।

हैं। घोड़ा रथ हाथी की सवारी ब्राह्मणों के अनुकूल नहीं पड़ती। वेद के छन्द यथा : गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति आदि। इनकी भाँति ब्राह्मण लोग श्रुतिछन्द हैं। स्वच्छन्द नहीं हैं। इनके चलने की शोभा कहते हैं। मानो ये मूर्तिमान् वेद के छन्द हैं। विवाह वैदिक संस्कार है। अतः वैदिकों की आवश्यकता है। यह चौथा कार्य हुआ।

मागध सूत वंदि गुनगायक। चले यान चढ़ि जो जेहि लायक॥
बेसर ऊँट वृषभ बहु जाती। चले वस्तु भरि अगनित भाँती॥३॥

अर्थ : मागध, सूत और बन्दी ये तीनों गुणगायक हैं। ये जो जिसके योग्य थे वैसे यानों पर चढ़ चढ़कर चले। ऊँट और अनेक जाति के बैल असंख्य प्रकार की वस्तुओं को लाद लादकर चले।

व्याख्या : वंशप्रशंसक, पौराणिक और भाट अपनी अपनी योग्यतानुसार सवारियों पर चले। स्तुति पाठ के लिए इनकी आवश्यकता है। राजाओं की तेजोवृद्धि के लिए तथा शिक्षा के लिए ये लोग बड़े उपकारक होते हैं : यह पाँचवाँ कार्य हुआ। बेसर, ऊँट, वृषभ आदि भारवाही पशु हैं। इन पर चढ़ना निषिद्ध है। इन पर नाना भाँति की वस्तुएँ लादकर रवाना की गयीं। रसद, बिस्तरा, विवाह की सामग्री आदि ले जाने के लिए इनकी आवश्यकता पड़ी। यह छठा कार्य हुआ।

कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। विविध वस्तु को वरनै पारा॥
चले सकल सेवक समुदाई। निज निज साजु समाजु बनाई॥४॥

अर्थ : करोड़ों काँवर लेकर कहार चले। उनमें नाना प्रकार की वस्तुएँ थीं। उनका कौन वर्णन कर सकता है। सब सेवकों का समूह अपना अपना साज समाज बनाकर चला।

व्याख्या : करोड़ों कहार बहँगी : काँवर लेकर चले। इनमें विशेष विशेष व्यक्तियों के नित्यकर्मोपयोगी समान लदे थे। बरात के सामान भी बहँगियों : काँवर : में चले। अनेक प्रकार की छोटी मोटी वस्तुएँ लदी हैं। उनका क्या वर्णन किया जाय। यह सातवाँ कार्य हुआ।

मालिक लोग सवारी पर चले। असबाब काँवर पर चला। अब सेवक लोग पैदल चले। पानदान आदि साज तथा अपनी अपनी मण्डली नियत करके चले। यह आठवाँ कार्य हुआ।

दो. सबके उर निर्भर हरषु, पूरित पुलक सरीर।
कबहिं देखिबै नयन भरि, रामु लषनु दोउ बीर॥३००॥

अर्थ : सबके हृदय में हर्ष उमड़ रहा है और शरीर में पुलक हो रहा है। कब आँख भरकर राम लक्ष्मण दोनों वीरों को देखेंगे। यह लालसा हो रही है।

व्याख्या : रामजी और लक्ष्मणजी ऐसे लोकप्रिय हैं कि मालिक से लेकर नौकर तक सबके हृदय में बड़ा भारी हर्ष हो रहा है और शरीर में पुलक है। इस आशा पर कि अब राम लक्ष्मण का दर्शन शीघ्र ही होगा और इतनी उत्कण्ठा है कि थोड़ा सा भी समय भारी हो रहा है और लालसा लगी है कि दोनों वीरों को कब आँख भरकर देखें। क्योंकि आँखें दर्शनों की प्यासी हो रही हैं।

गरजहिं गजघंटा धुनि घोरा। रथ रव वाजि हिंस चहुँ ओरा ॥
निदरि घनहि घुम्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनियँ न काना ॥१॥

अर्थ : हाथी चिग्घाड़ रहे हैं। घण्टाओं की घोर ध्वनि हो रही है। चारों ओर रथों का शब्द हो रहा है। घोड़े हिनहिना रहे हैं। बादलों का निरादर करते हुए डङ्के गम्भीर ध्वनि से वज रहे हैं। अपना पराया कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा है।

व्याख्या : हाथी के चिग्घाड़ को गर्जन कहते हैं। ये निषाद स्वर में बोलते हैं। घण्टाओं के शब्द से नाद बढ़ता है। यथा : घण्टास्वनेन तन्नादानम्बिका चोपबृंहयत्। रथ के चलने से जो शब्द होता है उसे रव और घोड़ों के शब्द को हींसना कहते हैं। डङ्के घन के शब्द का अनुकरण करते हैं। अतः घुम्मरहिं कहा। ये शब्द एक साथ चारों ओर से हो रहे हैं। क्योंकि हाथी घोड़े रथ निशान आदि चारों ओर से चले आरहे हैं। नगर के बाहर क्रमवद्ध करके साजे जा रहे हैं। सब प्रकार के शब्द के मिलने से ऐसा तुमुलनाद हो रहा है कि अपने बोले शब्द अपने को ही सुनाई नहीं पड़ रहे हैं। दूसरे की कौन सुनता है : कवि अब यहीं से राजद्वार का दृश्य देखने लगे। अतः कहते हैं।

महा भीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पषान पंवारे ॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिए आरती मंगल थारी ॥२॥

अर्थ : राजा के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ है। पत्थर फेंका जाय तो पिसकर धूल हो जाय। स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ी हुई देख रही हैं। वे मङ्गल थालियों में आरती लिये हैं।

व्याख्या : भीड़ तो इस समय बाजार और गलियों में सभी स्थानों में है। पर राजद्वार में वड़ी भारी भीड़ है। पहिले के पड़े हुए रोड़े तो पिसकर धूल हो ही गये। यदि कोई अव पत्थर फेंक दे तो पैरों के तले रौंदे जाने से धूल हो जाय। नर लोग नीचे हैं। बारात जा रहे हैं। काम से जा रहे हैं। दृश्य देखने के लिए चले जा रहे हैं। पर नारियाँ अटारियों पर चढ़कर देख रही हैं। जब महाराज की सवारी निकलेगी उस समय आरती करने के लिए मङ्गलद्रव्य से सजायी हुई थालियाँ हाथों में ले रक्खी हैं : इससे महाराज की लोकप्रियता कही।

गावहिं गीत मनोहर नाना। अति आनंदु न जाइ बखाना ॥
तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रवि हय निंदक वाजी ॥३॥

अर्थ : नाना प्रकार के मनोहर गीत गा रही हैं। अत्यन्त आनन्द हो रहा है। जिसका बखान नहीं किया जा सकता। तब सुमन्त्र ने दो रथ सजाये। जिनमें सूर्य के रथ के घोड़ों के तिरस्कार करनेवाले घोड़ों को जोता।

व्याख्या : प्रत्येक अटारियों पर से पृथक् पृथक् गीत हो रहे हैं। नीचे शोर हो रहा है और ऊपर गीत हो रहे हैं। अत्यन्त आनन्द मचा हुआ है। अथवा बाहरी आनन्द का तो वर्णन किया परन्तु लोगों के हृदय में जो आनन्द है उसका वर्णन नहीं हो सकता। जब सब तैयारी हो चुकी तब सुमन्त्र ने दो रथ सजाये। महाराज और गुरुजी के लिए रथ सजाया जा रहा है। मन्त्री स्वयं उसे साज रहे हैं। दूसरे यह कि सुमन्त्रजी केवल मन्त्री ही नहीं थे। महाराज के सारथि भी थे। उन्होंने उन रथों में ऐसे घोड़े जोते जो सूर्य के रथ के घोड़ों को मात करनेवाले थे। और लोगों के सवारी के घोड़ों के वर्णन में कह आये हैं कि निदरि पवन जिमि चहत उड़ाने। टाप न बूड़ बेग अधिकाई। अतः महाराज के रथ के घोड़ों को रवि हय निंदक बाजी कहा। देवताओं के घोड़ों को हय कहते हैं। यथा : हयो भूत्वा देवान्वहत। इति श्रुतिः। यह नवाँ कार्य हुआ।

दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने। नहिं सारद पहि जाहिं बखाने॥
राज समाज एक रथ साजा। दूसर तेज पुंज अति भ्राजा॥४॥

अर्थ : दोनों सुन्दर रथों को राजा के पास ले गये। जिनकी प्रशंसा सरस्वती से भी नहीं हो सकती। एक रथ राजसी ठाट से सजाया गया था और दूसरा तेज के पुञ्ज सा देदीप्यमान हो रहा था।

व्याख्या : अन्यत्र तो सारथियों ने रथियों को बुला लिया। यथा : रथी सारथिन्ह लीन्ह बोलाई : पर इन रथों को लेकर सुमन्त्रजी महाराज के पास गये। उन रथों में रवि हय निन्दक बाजी जुते हैं। अतः उन रथों के वर्णन के विषय में कहते हैं कि स्वर्ग की वक्ता सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। पहिला रथ छत्र चामर, अस्त्र शस्त्र, ध्वजा पताका से सुशोभित था। उससे राज्यश्री झलक रही थी। दूसरा अग्निहोत्र के सामान, पुस्तकें, यज्ञपात्रादि से संयुक्त था। उससे ब्राह्मीश्री चमक रही थी।

दो. तेहि रथ रुचिर बसिष्ठ कहुँ, हरषि चढ़ाइ नरेसु।
आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेसु॥३०१॥

अर्थ : उस सुन्दर रथ पर हर्षित होकर महाराज ने वसिष्ठजी को चढ़ाया। तब आप शिव, गुरु, गौरी और गणेशजी का स्मरण करके रथ पर चढ़े।

व्याख्या : महाराज की गुरुभक्ति कहते हैं कि उस ब्राह्मीश्रीवाले रथ पर महाराज ने पहले वसिष्ठ जी को स्वयं सवार कराया। तब हरगुरु गौरी गणेश का स्मरण करके अपने रथ पर सवार हुए। श्रीग्रन्थकार का मत है कि मङ्गल के दिन कार्यारम्भ करने में गिरा गौरी गुरु गणेश और शिव का स्मरण मंगल के लिए

करे। यथा : गिरा गौरि गुरु गनप हर मंगल मंगल मूल। सुमिरत करतल सिद्ध सब होइ ईस अनुकूल। शकुनावली। अतः यह भी पता चलता है कि उस दिन मंगलवार था। स्मरण करने में गिरा छूट गई। श्रीरामजी के अभिषेक में गिरा ही विघ्नकारक हुईं। यह वात भी ध्यान देने योग्य है। यह दसवाँ कार्य हुआ।

सहित वसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर गुर संग पुरंदरु जैसे॥
करि कुलरीति वेद विधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ॥१॥

अर्थ : वसिष्ठ के साथ राजा कैसे शोभायमान हुए जैसे वृहस्पति के साथ इन्द्र शोभायमान हों। राजा वेदविधि और कुलरीति करके सबको और सब भाँति की सजावट को देखकर :

व्याख्या : ब्राह्मीश्री के साथ राज्यश्री की शोभा कहते हैं। वसिष्ठजी की उपमा सुरगुरु से और महाराज दशरथ की उपमा इन्द्र से दी गई है। उपमेय उपमा से कम नहीं है। न तो महाराज दशरथ इन्द्र से कम हैं। यथा : सुरपति वसहिं वाहुवल जाके। आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अर्ध सिंहासन आसन देई। और न सुरगुरु से वसिष्ठजी कम हैं। यथा : सो गोसाइँ जेहि विधि गति छेंकी। सकै को टारि टेक जो टेकी। दलि दुख सजै सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना। विवाह और श्मशान में ग्रामवचन को प्रमाण माना गया है। अतः महाराज ने कुलरीति के अनुसार तथा वेदविधि के अनुसार सव कार्य : रसम किया। यहाँ कुलप्रथा को रीति और वेद की आज्ञा को विधि कहा गया है। पुर के वाहर जाने पर रीति और विधि है। उन्हें करके रथ को चारों ओर घुमाकर एक बार सब साज सामान को अपनी आँख से देख लिया : यह चक्रवर्तीजी की सावधानता है।

सुमिरि राम गुर आयसु पाई। चले महीपति संख बजाई॥
हरषे विबुध विलोकि बराता। वरषहिं सुमन सुमंगल दाता॥२॥

अर्थ : रामजी का स्मरण करके और गुरुजी की आज्ञा पाकर पृथ्वीपति शंख बजाकर चले। देवता बारात देखकर हर्षित हुए। वे मङ्गलदायक फूलों की वर्षा करने लगे।

व्याख्या : रामजी का साथ चलना ऐसे अवसर पर अनिवार्य था। परन्तु वे पहिले ही जनकपुर पहुँच चुके थे। फिर भी उनका स्मरण तो ऐसे अवसर पर स्वाभाविक है। महाराज सब कार्य गुरुजी की आज्ञा लेकर ही करते हैं। अतः इस यात्रा में भी गुरुजी की आज्ञा पाकर विजय यात्रा के लिए शंखध्वनि की। शंखध्वनि मङ्गलसूचक है। शङ्खध्वनि वीर लोग स्वयं करते हैं। यथा : पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः। पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः। अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। इत्यादि। बारात ऐसी बनी कि देवता लोग प्रसन्न हो गये। विबुध हैं। विशेष रूप से पण्डित हैं। पुष्पवृष्टि के अवसर को समझते हैं। परशुराम-विजय के समय प्रभु पर पुष्पों की वर्षा जनकपुर में की थी। अब बारात चलने के

समय सम्पूर्ण बारात पर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। पुष्पों में भी सुमङ्गलदायक पुष्प पारिजात आदि की वर्षा हो रही है। सभी पुष्प मङ्गलदायक समझे जाते हैं। परन्तु पारिजात आदि सुमङ्गलदायक हैं। महाराज का चलना बारहवाँ कार्य हुआ।

भयेउ कुलाहलु हय गय गाजे। व्योम बरात बाजने बाजे॥
सुर नर नारि सुमंगल गाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥३॥

अर्थ : हाथी घोड़े गरजने लगे। कोलाहल मच गया। आकाश में और बारात में बाजे बजे। देवियों और नारियों ने मङ्गलगान किया और सरस राग से शहनाई बजी।

व्याख्या : महाराज के शङ्ख बजाकर चलते ही बारात चल पड़ी। अतः कोलाहल : शोर हुआ। हाथी घोड़े गरजने लगे। नीचे बारात में और ऊपर आकाश में बाजे बजे। भाव यह कि आकाश में देवताओं ने भी डङ्का दिया। दो बारात चली। नीचे मनुष्यों की और आकाश में देवताओं की बारात चली। अतः देवताओं की स्त्रियों ने तथा मनुष्यों की स्त्रियों ने सुमङ्गलगान प्रारम्भ किया। बारात में बाजे तो अनेक प्रकार के बजते हैं। परन्तु सरस राग तो शहनाई में ही बजते हैं।

घंट घंटि धुनि वरनि न जाहीं। सरो करहिं [1]पाइक फहराहीं॥
करहिं विदूषक कौतुक नाना। हास कुसल कल गान सुजाना॥४॥

अर्थ : घण्टे और घण्टियों की ध्वनि कुछ कही नहीं जाती। कसरत करते हैं। पाइक लोग दौड़ धूप करते हैं। विदूषक : भाँड़ या मसखरे नाना प्रकार के कौतुक : तमाशा कर रहे हैं। वे हँसी करने में निपुण और सुन्दर गान के अच्छे जानकार हैं।

व्याख्या : हाथियों के बड़े घण्टे और घण्टी : झेला आदि की ऐसी ध्वनि हो रही है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। बारात में पाइक होते हैं। उनके कमर में घण्टियाँ बँधी रहती हैं और हाथ में मुरछल रहता है। वे सन्देशहर का काम करते हैं। विवाह में कसरत करने और कूदने फाँदने का काम नट करते हैं : गोरखपुर की ओर आज भी सरौ करना कसरत करने को कहते हैं। नट लोग कूद फाँदकर कसरत दिखलाते हैं। इस प्रकार से बारात में मनोरञ्जन भी होता चलता है।

विदूषक हैं। वे रास्ते चलते नकल कर रहे हैं। लोगों को हँसाना उनका काम है। इस विद्या में वे बड़े निपुण होते हैं। परन्तु वे गान में भी बड़े कुशल हैं।

---

[1] पाइक पाठ मानने से ऐसा ही अर्थ करना पड़ता है जो सन्तोषजनक नहीं है। मेरी समझ में यहाँ पाउक पाठ होना चाहिए। जो पावक का अपभ्रंश है और स्रव का अपभ्रंश सरो है। अर्थात् फहराकर पावक स्रव करता है। यथा : पावकमय ससि स्रवत न आगी। भाव यह कि आतिशबाजी छूट रही है।

ध्यान देने योग्य बात है कि ग्रन्थकार बारात के प्रसङ्ग में भाँड़ तक का वर्णन करते हैं। परन्तु वेश्या का उल्लेख कहीं नहीं है। कामशास्त्र वेश्या में रस की उत्पत्ति ही नहीं मानता। अतः नीरस होने से तथा सुधार की दृष्टि से ग्रन्थकार ने उनका उल्लेख नहीं किया।

दो. तुरग नचावहिं कुँअर वर, अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डगहिं न ताल बँधान ॥३०२॥

अर्थ : श्रेष्ठ राजकुमार डङ्के और मृदङ्ग के शब्द सुनकर घोड़ों को ऐसा नचा रहे हैं कि नगर के नर्तक चकित होकर देखते हैं। कहीं से ताल के बन्धान में चूक नहीं होती है।

व्याख्या : आकर्ण्य शब्द का तद्भवरूप अकनि है। सर्वत्र लवराम् इस सूत्र से रेफ का लोप होकर इःस्वप्नादौ इस सूत्र से यकार को इ आदेश हुआ। आकर्ण्य का अकनि रूप सिद्ध हुआ। इधर कुँवर लोग मृदङ्गादि के ताल के अनुसार घोड़ों को नचा रहे हैं। काल की क्रिया के नाप को ताल कहते हैं। यथा : तालः कालक्रियामानम्। घोड़े नाचने में पैरों से ठीक ताल देते हैं। अच्छे अच्छे नाचनेवाले इस दृश्य को आश्चर्य से देख रहे हैं कि इन घोड़ों से ताल बन्धान में चूक कहीं से नहीं हो रही है। वैसी बात तो अब नहीं है। फिर भी देहात की बारात में घोड़े नचाये जाते हैं। नाचनेवाले घोड़े बाजे का शब्द सुनते ही अस्थिर हो उठते हैं और अवश्य ही ताल का कुछ अनुसरण करते हैं।

बनै न बरनत बनी बराता। होंहि सगुन सुंदर सुभदाता॥
चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥१॥

अर्थ : उस : सजी हुई बारात का वर्णन नहीं हो सकता। सुन्दर शुभ देनेवाले शकुन होते हैं। १. नीलकण्ठ बाइँ ओर चारा ले रहा है। मानो सब मङ्गल कहे देता है।

व्याख्या : सजी हुई बारात वर्णनातीत थी। सुन्दर शकुन होते थे। भाव यह कि ऐसे शकुन भी हैं जो सुन्दर नहीं है। यथा : यात्रा के समय मुर्दा का मिलना अच्छा शकुन है। पर सुन्दर नहीं है। चोर और ठगों के भी शकुन हैं। जैसे गधे का रेंकना आदि पर वे [illegible] मङ्गलदाता नहीं हैं। यहाँ बारह शकुन हुए और बारह कार्य बारात में हुए। कह आये हैं : होत सगुन सुन्दर सबहिं जो जेहि कारज जात। इससे सिद्ध है कि क्रम से एक एक कार्य होने के समय एक एक शकुन हुए। कथा के वर्णनक्रम में विक्षेप न हो इस कारण से यहाँ सब शकुनों को इकट्ठा कह दिया।

बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकस भये पुर बाहर ठाढ़े। तो देखते हैं कि बाइँ ओर नीलकण्ठ चारा चुग रहा है। इस तरह चारा चुगना मानो यह कहता है कि सब मङ्गल ही मङ्गल ही है। इन्हीं राजकुमारों के बीच में स्वयं रामजी घोड़े पर सवार होंगे। इसलिए सब मङ्गल कहा। यह पहला शकुन हुआ।

दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरसु सब काहूँ पावा ॥
सानुकूल बह त्रिविध बयारी। सघट सबाल आव वर नारी ॥२॥

अर्थ : २. दाहिनी ओर सुन्दर खेत में काग शोभायमान था। ३. नेवले का दर्शन सब किसी ने पाया। ४. शीतल मन्द सुगन्ध पवन सामने से आ रहा था। ५. घड़ा और बालक लिये हुए सौभाग्यवती स्त्री आई।

व्याख्या : चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर लागी जुरन बरात। तो देखा कि दाहिनी ओर काग सुन्दर क्षेत्र में शोभित है। यह दूसरा शकुन हुआ। सुन्दर क्षेत्र में काग का दाहिने होना शुभ है और चले मत्त गज घंट विराजी। तब कहते हैं : नकुल : नेवले का दर्शन सबने पाया। यह तीसरा सगुन हुआ। भाव यह है कि मत्त गज पर इस समय कोई सवार नहीं है जो नकुल का दर्शन करे। रथी आदि ही समय पाकर उनपर सवार होंगे। इसलिए कहते हैं कि सब लोगों ने दर्शन पाया। कोई दर्शन न पावे तो शकुन ही व्यर्थ चला जाय।

सिविका सुभग सुखासन जाना। तेहि चढ़ि चले विप्रवर वृन्दा। तो सानुकूल बह त्रिविध बयारी। यह चौथा सगुन हुआ और मागध सूत वंदि गुनगायक चले जान चढ़ि जो जेहि लायक। तो सघट सबाल आव वर नारी। यह पाँचवाँ सगुन हुआ।

लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा ॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई ॥३॥

अर्थ : ६. लोमड़ी ने घूम घूमकर दर्शन दिया। ७. गाय ने सामने ही बछड़े को पिलाया। ८. हिरनों की टोली दाहिने आई। मानो मंगलगण को दिखला दिया।

व्याख्या : बेसर ऊँट वृषभ बहु जाती। चले वस्तु भरि अगनित भाँती। तो लोमड़ी ने घूम घूमकर दर्शन दिया। यह छठा सगुन हुआ। और कोटिन काँवर चले कँहारा तो देखते हैं कि गाय सामने बछड़े को पिला रही है। यह सातवाँ सगुन हुआ। चले सकल सेवक समुदाई। तो क्या देखते हैं कि मृगमाला घूमकर दाहिने ओर आगई। इसी जगह लिखा है : सबके उर निर्भर हरख पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखि वे नैन भरि राम लखन दोउ वीर। सो कहते हैं : मंगल गन जनु दीन्ह देखाई। यह आठवाँ सगुन हुआ।

छेमकरी कह छेम विसेषी। स्यामा वाम सुतरु पर देखी ॥
सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना ॥४॥

अर्थ : ९. क्षेमकरी विशेष रूप से क्षेम कह रही है। १०. श्यामा को बाँई ओर अच्छे पेड़ पर देखा। ११. सामने दही और मछली आई। १२. हाथ में पुस्तक लिये दो प्रवीण ब्राह्मण आये।

व्याख्या : क्षेमकरी श्वेतमुख की चील्ह को कहते हैं। यात्रा के समय इसका दिखाई पड़ना शुभ है। यथा : कुंकुम रंग सुअंग जित्यौ मुखचंद सो चंद सो होड़ परी

है। बोलत बोल समृद्ध चुवै अवलोकत सोक विषाद हरी है। गौरी कि गंग विहंगिनी वेष कि मंजुलमूरति मोदभरी है। पेखि सप्रेम पयानसमय सब सोच विमोचन छेमकरी है। तब सुमंत दुइ स्यंदन साजी। जोते रवि हय निंदक वाजी। उस समय क्षेमकरी ने क्षेम कहा। यह नवाँ सगुन हुआ। दोउ रथ रुधिर भूपपहँ आने तो स्यामावाम सुरुतपर देखी। श्यामा भुजंगा को कहते हैं। यह दसवाँ सगुन हुआ। गुरु वसिष्ठजी को रथपर चढ़ाकर स्वयं चक्रवतीजो चढ़े तो सनमुख आयेउ दधि अरु मीना। यह ग्यारहवाँ सगुन हुआ। और चले महीपति संख बजाई तो हाथ में पुस्तक लिये दो प्रवीण ब्राह्मण आ पड़े। इस भाँति बारह कार्य बारात में हुए और हरएक में अलग-अलग सगुन हुए।

दो. मंगलमग कल्यानमय, [1]अभिमत फल दातार।
जनु सब साँचे होन हित, भए सगुन एक बार ॥३०३॥

अर्थ : मंगलमय कल्याणमय और ईप्सित फल के देनेवाले सब सगुन मानो सच्चे होने के लिए एक साथ ही हुए।

व्याख्या : चारा चाखु वाम दिसि लेई। मनहु सकल मंगल कह देई से मंगलगन जनु दीन्हि देखाई तक ये आठ सगुन मंगलमय हैं। मङ्गल शब्द गत्यात्मक मंग धातु से बना है। मंगल का अर्थ ही गतिशील है और कल्ये प्रातः अण्यते शब्दयते इति कल्याणम् इस व्युत्पत्ति से क्षेमकरी का कल्याण कहना प्राप्त है। शेष तीन १. स्यामावामसुतरु पर देखी। २. सनमुख आयेउ दधिअरुमीना। ३. कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना। ये तीन अभिमत फलदातार शकुन स्वयं महाराज को हुए। सब शकुन इकट्ठे नहीं होते कभी कभी किसी को एकाध हो जाते हैं। यहाँ सब इकट्ठे हुए। मनुष्यों का कल्याण ही कितना होगा ? अतः अन्त में ये झूठे पड़ जाते हैं। यहाँ जो शकुन होगा वह सच्चा निकलेगा। अतः सत्य होने के लिए उनमें होड़ सी मच गई। यहाँ शकुन से शुभ नहीं है। शुभ तो निश्चित है। शकुन शुभ के ज्ञापक हैं। इसी से शकुन की सत्यता है।

मंगल सगुन सुगम सब ताकें। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाकें ॥
राम सरिस वर दुलहिनि सीता। समधी दसरथु जनक पुनीता ॥१॥

अर्थ : सगुन ब्रह्म जिसके सुन्दर पुत्र हैं। सब मङ्गल सगुन उसे सुगम हैं। राम ऐसा वर सीता सी दुलहिन दशरथ और जनक से पवित्र समधी।

व्याख्या : प्रश्न यह होता है कि मङ्गल सगुन इस भाँति सुगम कैसे हो गये ? कभी किसी को कार्यारम्भ में कोई एक सगुन हो जाता है। तो वह अपने को कृतकृत्य मानता है। यहाँ जो ही जिस कार्य को चलता है सगुन को सामने पाता है। इसलिए यह शङ्का उठती है। उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसके सगुन ब्रह्म

---

[1] यहाँ असिद्धात्पदा : उत्प्रेक्षा है।

सुन्दर सुत हैं। उसी को मंगल सगुन होना प्राप्त भी है। असगुन तो वहाँ होता है जहाँ सगुन से विरोध हो। यथा : श्रुति तौ सगुनै कहै, दिवाने तू असगुन क्यों गहै। देव स्वामी। सुन्दर कहने का भाव यह कि वहु मुख कर पद लोचन सीसा वाले सगुन ब्रह्म तो हैं पर सुन्दर नहीं है।

यहाँ सब बातें बेजोड़ हैं। राम सा वर। सीता सी दुलहिन। दशरथ जनक से पुनीत सम समधी। जब से ब्रह्मदेव ने सृष्टि रची तब से आज तक हुए ही नहीं। यथा : भले भूप कहत भले भदेस भूपन सो। लोक लखि बोलिये पुनीत नीति मारखी। जगदंबा जानकी जगत पितु राम भद्र जानि जिय जोवीं जो न लागै मुख कारिखी। देखे हैं अनेक व्याह सुने हैं पुराणवेद बूझे हैं सुजान साधु नर नारि पारखी। ऐसे सम समधी समाज न विराजमान राम सो न वर दुलहि न सिय सारखी।

सुनि असि व्याहु सगुन सब नाँचे। अब कीन्हे विरंचि हम साँचे ॥
येहि विधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना ॥२॥

अर्थ : ऐसा व्याह सुनकर सगुन सब नाच उठे कि अब ब्रह्मदेव ने हमें सच्चा बनाया। इस भाँति बारात ने प्रयाण किया। हय और गज गरजने लगे और निशान बजने लगा।

व्याख्या : व्याह ऐसा और नाच नहीं। अतः सगुन सब नाचे। यह नाच आनन्द का है कि अब ब्रह्मदेव ने हमें सच्चा किया। नहीं तो हम झूठे ही सगुन बने रहे। बारात जुटने में बारह सगुन केवल दिखला दिये गये। इस भाँति ये सगुन सभी कामों में होते थे। नाचे कहने का अर्थ ही यह है कि बार बार हुए।

भयेउ कुलाहलु हय गय गाजे से प्रसङ्ग छोड़ा था। अब वहीं से फिर उठाते हैं। यथा : हय गय गाजहें हने निसाना। तीन चौपाई और एक दोहे में : सुमिरि राम गुर आयसु पाई से लेकर डगहि न ताल विधान तक बारात के प्रयाण की विधि कही।

आवत जानि भानुकुल केतू। सरितन्हि जनक बँधाए सेतू ॥
बीच बीच वर वास बनाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए ॥३॥

अर्थ : सूर्यकुल के पताका को आते हुए जानकर जनक ने नदियों पर पुल बँधाये। बीच बीच में बारात के ठहरने के लिए श्रेष्ठ निवास स्थान बनवाये। जिनमें देवलोक की भाँति सम्पदा छाई हुई थी।

व्याख्या : सूर्यकुल के केतु चक्रवर्ती दशरथजी के चलने का अर्थ ही यही है कि बडा जनसमूह साथ है। राजा गच्छति : राजा जाते हैं का अर्थ यह नहीं है अकेले राजा छड़ी टेकते चले जा रहे हैं। उसका अर्थ ही यह है कि घोड़े सेना सामन्त सब साथ हैं। समाचार पाकर महाराज जनक ने नदियों में जो रास्ते में पड़ती हैं पुल वँधवा दिये जिनमें सेना के उतरने का झंझट न रहे। बारात चल पड़ने पर आगे

जाकर दूतों ने समाचार दिया। यद्यपि महाराज ने दूतों को वास दिलवा दिया था। पर वे बारात के साथ बाराती बनकर तो जायँगे नहीं। अतः बारात रवाना होते ही दूतों ने समाचार देने में बड़ी शीघ्रता की।

महाराज जनक ने अपनी सीमा से जनकपुर पहुँचने में बारात के पड़ाव के लिए डेरे खेमों की व्यवस्था की। उन पड़ाव के मुकामों पर देवलोक की सी सम्पदाएँ भरी हुई थीं। दूतों को पूरा पता लग गया कि कितनी बारात है और कौन कौन लोग कितने हैं। अतः तदनुसार डेरे खेमे और सामान आदि की ऐसी व्यवस्था की गई कि देवलोक जान पड़े।

असनु सयन बर बसन सुहाए। पावहिं सब निज निज मन भाए ॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले ॥४॥

अर्थ : सुन्दर भोजन, शयन, श्रेष्ठ कपड़े अपनी अपनी रुचि के अनुसार सभी को मिल रहा है। सभी बराती नित्य नये सुख देखकर प्रसन्न हुए। उन्हें अपना घर भूल गया।

व्याख्या : डेरों में सम्पदा के अतिरिक्त अशन, शयन, और वसन की भी व्यवस्था है। जिसमें बारातियों के बिस्तर और सामान के गट्ठर खुलने न पावें। वहाँ प्रतिष्ठा के अनुसार सत्कार नहीं है। रुचि के अनुसार सत्कार है। जिसे जो वस्तु चाहिए सो सब प्रस्तुत था।

जितना जनकपुर सन्निकट आता जाता है डेरों में सुख की सामग्री उतनी ही बढ़ती चली जा रही है। उतना ही सुख बढ़ता जा रहा है। अतः बाराती सन्तुष्ट हो गये। दूसरी जगह कितना भी सुख हो फिर भी यथार्थ आराम तो अपनी टूटी झोपड़ी में ही मिलता है। परन्तु यहाँ बात ही दूसरी है। बाराती इतने सुखी हुए कि अपना अपना घर भूल गये। इस भाँति चार दिन में बारात जनकपुर आई।

दो. आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान।
सजि गज रथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान ॥२०४॥

अर्थ : उस श्रेष्ठ बारात को आते जानकर और डंके के घनघोर शब्द को सुनकर लोग हाथी घोड़े और रथ सजाकर अगवानी के लिए चले।

व्याख्या : डंके के घोर शब्द से दूर से ही बारात के आने की आहट लग गयी। चतुरङ्गिनी सेना साथ लेकर अगवानी की। राजाओं में अगवानी के लिए भी वैसी ही तैयारी होती है जैसी बारात की होती है। बल्कि यह देखा जाता है कि तैयारी किस ओर की अच्छी है। अगवानी की तैयारी स्वागत के उत्साह का द्योतक है।

कनक कलस भरि कोपर थारा। भाजनु ललित अनेक प्रकारा ॥
भरे सुधासम सब पकवाने। नाना भाँति न जाहिं बखाने ॥१॥

अर्थ : सोने के पूर्णघट, कोपर और थार तथा अनेक प्रकार के सुन्दर बरतनों में भरे हुए नाना भाँति के अमृत से पक्वान्न थे जिनका वर्णन नहीं हो सकता।

व्याख्या : सोने के पूर्ण कलश मङ्गल के लिए कोपर पूजन के लिए तथा थार और अनेक सुन्दर बरतन पक्वान्न से भरे हुए भोजन के लिए अर्थात् सबसे पहिले भोजन सामग्री, अर्घ पाद्य, गन्धमाल्यनैवेद्यादि सामने आया।

उपर्युक्त बर्तनों में अमृत से स्वादु पक्वान्न भरे हुए थे। छप्पन प्रकार प्रसिद्ध हैं। इसलिए नाना भाँति न जाइ बखाना कहा।

फल अनेक वर वस्तु सुहाई। हरषि भेंट हित भूप पठाई ॥
भूषन वसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहुविधि जाना ॥२॥

अर्थ : अनेक फल तथा श्रेष्ठ सुन्दर वस्तुओं को राजा ने हर्षित होकर भेंट के लिए भेजा। गहना, कपड़ा, नाना प्रकार के महामणि, चिड़िया, पशु, हाथी, घोड़े तथा अनेक भाँति के यान।

व्याख्या : भोजनोपरान्त फल की व्यवस्था है। इसलिए फल भेजे। चामरादि राजोपचार की सामग्री भेजी। भानुकुलकेतु के लिए भेंट भेजने में महाराज जनक को बड़ा हर्ष है। अगवानी में स्वयं समधी के जाने की चाल नहीं है। इसलिए महाराज जनक ने पदाधिकारियों द्वारा भेजवा दिया। बारात में पहिले ही खाने की चीजें चाहिए। अतः पहिले वे ही भेजी गईं। तत्पश्चात् सुन्दर श्रेष्ठ वस्तुएँ भेजी गईं। राजोपचार में चामरादि वस्तुएँ, अलङ्कार, कपड़े, नाना प्रकार के महामणि भेजे गये। खग, मृग, हाथी, घोड़े तथा अनेक यान भेंट के लिए सहर्ष महाराज जनक ने भेजे। मिथिला की चाल है कि आज भी बारात के द्वार लगने के पहिले कपड़ा जाता है।

मंगल सगुन सुगंध सुहाए। बहुत भाँति महिपाल पठाए ॥
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥३॥

अर्थ : मंगल सगुन की वस्तुएँ सुहावने और अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ राजा ने भेजे। दधि चिउरा का अपार उपहार काँवर में भर भरकर कहार ले लेकर चले।

व्याख्या : दधि, दूर्वा, रोचन, फूल, फल, नव तुलसीदल आदि मंगल द्रव्य जो सगुन माने गये हैं और गन्ध माल्यादि सुगन्धित द्रव्य अनेक प्रकार के महाराज जनक ने भेजे। अयोध्या से चक्रवर्तीजी के साथ अगणित वस्तुएँ आई हैं। यथा : बेसर ऊँट वृषभ बहु भाँती। चले वस्तु भरि अगनित भाँती। उन वस्तुओं का उपयोग बारात की ओर से न होने पावे। सब वस्तुएँ ज्यौं की त्यौं अयोध्या लौट जाँय। इसलिए महाराज जनक ने बहुत भाँति की वस्तुएँ भेंट भेजी।

उधर से कोटिन काँवरि चले कँहारा। तो इधर से भी दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कँहारा। दधि चिउरा मंगल है और तिरहुत में

जैसा होता है वैसा कहीं होता भी नहीं। अवध के लोगों का प्रधान खाद्य दधि चिउरा है। इसके बिना उनकी तृप्ति नहीं होती। परन्तु अवध में वैसा दधि चिउरा होता नहीं जैसा मिथिला में होता है। अन्य उपहार तो राजा के लिए हैं। पर दधि चिउरा तो सबके लिए है। अतः अन्य उपहारों का तो पार था। परन्तु दधि चिउरा के परिमाण का पार न था : बोरे में भर भरकर दही का टाल तो मिथिला में ही देखने में आता है और वह दही यहाँ के मक्खन से किसी अंश में कम नहीं होता।

अगवानन्ह जब दीखि बराता। उर आनंदु पुलक भरे गाता॥
देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना॥४॥

अर्थ : अगवानी करनेवालों ने जब बारात देखी तो उनके हृदय आनन्द से और शरीर पुलक से भर उठे और अगवानियों को साज के साथ देखकर बरातियों ने प्रसन्न होकर डंके पर चोटें दीं।

व्याख्या : अगवानियों ने सुन तो पहिले से ही रक्खा था कि अयोध्या से बड़ी अपूर्व बारात आ रही है। पर बारात के दर्शन से उनके हृदय में ऐसा आनन्द हुआ कि सम्पूर्ण शरीर में पुलकावली हो उठी। ऐसी देवसेना सी बारात कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई थी और अगवानियों का दर्शन बारातियों के लिए इष्टलाभ था। सबके उर निर्भर हरख। पूरति पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भर राम लखन दोउ वीर। सो अवसर अत्यन्त सन्निकट समझकर और अगवानियों का साज समाज देखकर बाराती खिल उठे और उत्साह में भरकर डंके बजाये।

दो. हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।
जनु आनंद समुद्र दुइ, मिलत बिहाइ सुबेल॥३०५॥

अर्थ : कुछ बगमेल आपस में मिलने के लिए दोनों ओर से हर्षित होकर चले। जैसे दो आनन्द के समुद्र अपनी अपनी मर्यादा को छोड़कर मिल रहे हों।

व्याख्या : बारात और अगवान दोनों समुद्र की भाँति उमड़े हुए हैं। समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। पर जब लहरें सीमापर आकर टक्कर खाती हैं तो कुछ दूर तक थोड़ा पानी दौड़ता चला जाता है। अब दोनों समुद्र अत्यन्त सन्निकट आगये और दोनों का जल सीमा के बाहर दौड़ता हुआ एक दूसरे की ओर मिलने के लिए चला। इसी भाँति बारात और अगवान में से कुछ लोग मिलने के लिए आगे बढ़े और मिलने लगे। दोनों ओर आगे आगे अश्वारोही राजकुमार लोग थे। वे बाग मिलाये हुए मिलने के लिए आगे बढ़े। इसी को बगमेल कहा है : वस्तुस्थिति यह है कि बड़ी सेना के आगे आगे जो छोटी टोली वीरों की चलती है वही पहले चोट करती है और आक्रमण को रोकती है। उतने काल में ही प्रधान सेना को सँभलने का अवसर मिल जाता है। इसी वीरों की टोली को बगमेल कहते हैं। यही टोली श्रेणीबद्ध होकर घोड़े की बाग मिलाये सेना के आगे रहती है। यहाँ तो युद्ध नहीं है मेल है। इसलिए मिलने के लिए बगमेल होकर कुछ लोग आगे बढ़े और मिले।

यह रसम अब भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है। आज भी बारात और अगवान का सामना होते ही दोनों ओर से घोड़े छूटते हैं और थोड़ी सी घुड़दौड़ बारात और अगवान के बीच में हो जाती है और तब हाथियों के साथ पूरी बारात तेजी से द्वार लगने के लिए बढ़ती है।

वरषि सुमन सुर सुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं ॥
वस्तु सकल राखी नृप आगें। विनय कीन्ह तिन्ह अति अनुरागें ॥१॥

अर्थ : देवताओं की सुन्दरियाँ फूल वर्षा कर गान करने लगीं और देवता लोगों ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये। उन लोगों ने सब वस्तुएँ चक्रवर्तीजी के सामने रक्खीं और अत्यन्त प्रेम से विनती की।

व्याख्या : बारात चलने के समय तो नरसुन्दरियों और सुरसुन्दरियों दोनों ने गान किया था। यथा : सुर नरनारि सुमंगल गाई। पर इस समय वहाँ नरसुन्दरियों की गति नहीं है। इस फूल की वर्षा करके सुरसुन्दरियों के ही गान का उल्लेख है। देवताओं ने बारात के चलने के समय फूल बरसाये थे। इस समय डंका बजा रहे हैं। इससे सिद्ध है कि देवगण भी बारात के साथ ही साथ चले आरहे हैं। दोनों : मनुष्य और देवता की बारातें मिथिला पहुँच गईं। अगवान को देखकर जब मुदित बरातिन्ह हने निसाना। तो देवताओं की बारात में भी इसी का अनुकरण हुआ। यथा : मुदित देव दुंदुभी बजावहि।

दहेज को समधी के आगे रखने का विधान है। अतः अगवानियों ने राजा जनक की भेजी हुई सब वस्तुएँ महाराज दशरथ के आगे रक्खीं और स्वीकृति के लिए अति अनुराग से विनती की। बड़े लोग विनय प्रेम से ही वश होते हैं। यथा : विनय प्रेम वस भई भवानी।

प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। भै बकसीस जाचकन्हि दीन्हा ॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहुँ चले लेवाई ॥२॥

अर्थ : राजा ने प्रेम के सहित सब स्वीकार कर लिया। मंगतों को देने के लिए आज्ञा हुई और दे दी गईं। पूजा सम्मान और बड़ाई करके सबको जनवासे की ओर लिवा ले चले।

व्याख्या : अगवानियों ने अति अनुराग से विनती की। अतः महाराज दशरथ ने भी प्रेम से स्वीकार कर लिया। पर महाराज चक्रवर्तीजी के यहाँ याचकों का आदर है। आज्ञा हुई कि याचकों में वितरण कर दो। सो वितरण कर दिया गया। यथा : जांचक लिए हँकारि दीन्ह निछावरि कोटि विधि : पूजा की। यथा : वस्तु सकल राखी नृप आगे मान्यता की। यथा : विनय कीन्ह तिन अति अनुरागे। बड़ाई की अर्थात् स्तुति की है। अथवा : बारात भर की यथा योग्य पूजा, सम्मान और स्तुति करके जनवासे की ओर टिकाने के लिए ले चले।

वसन विचित्र पाँवड़े परहीं । देखी धनदु धन मद परिहरहीं ॥
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा । जहँ सब कहुँ सब भाँति सुपासा ॥३॥

अर्थ : अद्भुत वस्तुओं के पाँवड़े पड़ते थे । जिन्हें देखकर कुबेरजी का धनमद छूट जाय । अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया गया । जहाँ सबको सब प्रकार सुभीता था ।

व्याख्या : जिन वस्त्रों का दिखाई पड़ना दुर्लभ था वे पाँवड़े में डाले जा रहे हैं । इससे जनकराज का ऐश्वर्यातिशय कहा । महाराज दशरथ के विषय में कहा जाता है : दसरथ धनसुनि धनद लजाहीं और यहाँ महाराज जनक के विषय में कह रहे हैं : देखि धनद धनमद परिहरहीं । बीच बीच वर वास बनाए । सुरपुर सरसि सम्पदा छाए । वह वर्णन तो रास्ते के पड़ाव का है । यह जनवासा है । इसलिए कहते हैं : अतीव सुन्दर है और साथ ही साथ ऐसा बनाया गया है जिसमें सब किसी को : राजा से लेकर सेवक तक को सब प्रकार का सुभीता हो । क्योंकि यहाँ तो बारात को महीनों ठहरना है ।

जानी सिय बरात पुर आई । कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बुलाई । भूप पहुनई करन पठाई ॥४॥

अर्थ : सीताजी ने जब जाना कि बारात नगर में आगई तो अपनी कुछ महिमा प्रकट करके दिखलायी । हृदय में स्मरण करके सब सिद्धियों को बुलाया और सीताजी ने राजा का आतिथ्य सत्कार करने के लिए भेज दिया ।

व्याख्या : जब तक बारात पुर में नहीं आई तब तक चुप रहीं । जब बारात आगई तब अपनी महिमा को सीताजी ने प्रकट किया । भगवती गंगाजी कहती हैं : लोकप होत विलोकत तोरे । तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे । सो लोकप होहिं विलोकत तोरे । इस अंश को नहीं दिखलाया । तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे । इस अंश को दिखलाया । उन्होंने अपनी महिमा को गुप्त कर रक्खा था । यथा : बसहिं नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारिवर वेष । प्रकट जनाने का कारण यह हुआ कि महाराज दशरथ इन्द्र के अतिथि रह चुके हैं । यथा : आगे ह्वै जेहि सुरपति लेई । अर्ध सिंहासन आसन देई । इन्हें मानुषी भोग जँचेगा नहीं । यहाँ भूषन वसन मणि आदि भेजे गये । सो सब याचकों को बाँट दिये । इसलिए सिद्धियों को बुलाया । किसी को बुलाने के लिए न भेजना पड़ा । केवल स्मरण करने से ही उपस्थित हो गईं । अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्य ईशत्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः । ये ही आठों सिद्धियों के नाम हैं । इन्हें सीताजी की आज्ञा हुई कि जाकर आतिथ्य सत्कार करो ।

दो. सिधि सब सिय आयसु अकनि, गई जहाँ जनवास ।
लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग विलास ॥३०६॥

यह रसम अब भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है। आज भी बारात और अगवान का सामना होते ही दोनों ओर से घोड़े छूटते हैं और थोड़ी सी घुड़दौड़ बारात और अगवान के बीच में हो जाती है और तब हाथियों के साथ पूरी बारात तेजी से द्वार लगने के लिए बढ़ती है।

वरषि सुमन सुर सुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं ॥
वस्तु सकल राखी नृप आगें। विनय कीन्ह तिन्ह अति अनुरागें ॥१॥

अर्थ : देवताओं की सुन्दरियाँ फूल वर्षा कर गान करने लगीं और देवता लोगों ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये। उन लोगों ने सब वस्तुएँ चक्रवर्तीजी के सामने रक्खीं और अत्यन्त प्रेम से विनती की।

व्याख्या : बारात चलने के समय तो नरसुन्दरियों और सुरसुन्दरियों दोनों ने गान किया था। यथा : सुर नरनारि सुमंगल गाई। पर इस समय वहाँ नरसुन्दरियों की गति नहीं है। इस फूल की वर्षा करके सुरसुन्दरियों के ही गान का उल्लेख है। देवताओं ने बारात के चलने के समय फूल बरसाये थे। इस समय डंका बजा रहे हैं। इससे सिद्ध है कि देवगण भी बारात के साथ ही साथ चले आरहे हैं। दोनों : मनुष्य और देवता की बारातें मिथिला पहुँच गईं। अगवान को देखकर जब मुदित बरातिन्ह हने निसाना। तो देवताओं की बारात में भी इसी का अनुकरण हुआ। यथा : मुदित देव दुंदुभी बजावहि।

दहेज को समधी के आगे रखने का विधान है। अतः अगवानियों ने राजा जनक की भेजी हुई सब वस्तुएँ महाराज दशरथ के आगे रक्खीं और स्वीकृति के लिए अति अनुराग से विनती की। बड़े लोग विनय प्रेम से ही वश होते हैं। यथा : विनय प्रेम वस भई भवानी।

प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। भै बकसीस जाचकन्हि दीन्हा ॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहुँ चले लेवाई ॥२॥

अर्थ : राजा ने प्रेम के सहित सब स्वीकार कर लिया। मंगतों को देने के लिए आज्ञा हुई और दे दी गईं। पूजा सम्मान और बड़ाई करके सबको जनवासे की ओर लिवा ले चले।

व्याख्या : अगवानियों ने अति अनुराग से विनती की। अतः महाराज दशरथ ने भी प्रेम से स्वीकार कर लिया। पर महाराज चक्रवर्तीजी के यहाँ याचकों का आदर है। आज्ञा हुई कि याचकों में वितरण कर दो। सो वितरण कर दिया गया। यथा : जांचक लिए हँकारि दीन्ह निछावरि कोटि विधि : पूजा की। यथा : वस्तु सकल राखी नृप आगे मान्यता की। यथा : विनय कीन्ह तिन अति अनुरागे। बड़ाई की अर्थात् स्तुति की है। अथवा : बारात भर की यथा योग्य पूजा, सम्मान और स्तुति करके जनवासे की ओर टिकाने के लिए ले चले।

वसन विचित्र पाँवड़े परहीं । देखी धनदु धन मद परिहरहीं ।।
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा । जहँ सब कहुँ सब भाँति सुपासा ।।३।।

अर्थ : अद्भुत वस्तुओं के पाँवड़े पड़ते थे । जिन्हें देखकर कुबेरजी का धनमद छूट जाय । अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया गया । जहाँ सबको सब प्रकार सुभीता था ।

व्याख्या : जिन वस्त्रों का दिखाई पड़ना दुर्लभ था वे पाँवड़े में डाले जा रहे हैं । इससे जनकराज का ऐश्वर्यातिशय कहा । महाराज दशरथ के विषय में कहा जाता है : दसरथ धनसुनि धनद लजाहीं और यहाँ महाराज जनक के विषय में कह रहे हैं : देखि धनद धनमद परिहरहीं । बीच बीच वर वास बनाए । सुरपुर सरसि सम्पदा छाए । वह वर्णन तो रास्ते के पड़ाव का है । यह जनवासा है । इसलिए कहते हैं : अतीव सुन्दर है और साथ ही साथ ऐसा बनाया गया है जिसमें सब किसी को : राजा से लेकर सेवक तक को सब प्रकार का सुभीता हो । क्योंकि यहाँ तो बारात को महीनों ठहरना है ।

जानी सिय बरात पुर आई । कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ।।
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बुलाई । भूप पहुनई करन पठाई ।।४।।

अर्थ : सीताजी ने जब जाना कि वारात नगर में आगई तो अपनी कुछ महिमा प्रकट करके दिखलायी । हृदय में स्मरण करके सब सिद्धियों को बुलाया और सीताजी ने राजा का आतिथ्य सत्कार करने के लिए भेज दिया ।

व्याख्या : जब तक बारात पुर में नहीं आई तब तक चुप रहीं । जब वारात आगई तब अपनी महिमा को सीताजी ने प्रकट किया । भगवती गंगाजी कहती हैं : लोकप होत विलोकत तोरे । तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे । सो लोकप होहिं विलोकत तोरे । इस अंश को नहीं दिखलाया । तोहि सेवहिं सब सिधि कर ज़ोरे । इस अंश को दिखलाया । उन्होंने अपनी महिमा को गुप्त कर रक्खा था । यथा : वसहिं नगर जेहि लच्छि करि कपट नारिवर वेष । प्रकट जनाने का कारण यह हुआ कि महाराज दशरथ इन्द्र के अतिथि रह चुके हैं । यथा : आगे ह्वै जेहि सुरपति लेई । अर्ध सिंहासन आसन देई । इन्हें मानुषी भोग जँचेगा नहीं । यहाँ भूषन वसन मणि आदि भेजे गये । सो सब याचकों को बाँट दिये । इसलिए सिद्धियों को वुलाया । किसी को बुलाने के लिए न भेजना पड़ा । केवल स्मरण करनें से ही उपस्थित हो गईं । अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्य ईशत्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः । ये ही आठों सिद्धियों के नाम हैं । इन्हें सीताजी की आज्ञा हुई कि जाकर आतिथ्य सत्कार करो ।

दो. सिधि सब सिय आयसु अकनि, गई जहाँ जनवास ।
लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग विलास ।।३०६।।

अर्थ : सब सिद्धियाँ सीताजी की आज्ञा सुनकर जहाँ जनवास था वहाँ गईं । सुरपुर का भोग विलास सुख और सम्पत् लिये हुए थीं ।

व्याख्या : आठों सिद्धियाँ आज्ञा पाकर जनवास में पहुँची । पहिले सुरपुर सरिस सम्पदा छाये । ऐसे वासस्थान में बारात को टिकाया था । परन्तु मानुषी सम्पदा का उत्कर्ष इतना ही है कि सुरपुर सम्पदा के सदृश हो जाय । फिर भी वह सुरपुर की सम्पदा नहीं हो सकती । बन्दर मनुष्य सा होता है फिर भी बन्दर और मनुष्य में गहान् अन्तर है । एवं मानव भोग और स्वर्गीय भोग में महान् अन्तर है । सिद्धियों की करणी ऐसी है कि उनके उत्पन्न किये सुख सम्पदा के आगे स्वर्गीय सुख सम्पदा भी नहीं ठहरती । यथा : अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना । जेहि विलोकि विलषाहिं विमाना । भोग विभूति भूरि भरि राखे । देखत जिन्हहिं अमर अभिलाखे । दासी दास साजु सब लीन्हें । जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हें ।

निज निज वास विलोकि बराती । सुर सुख सकल सुलभ सब भाँती ॥
विभव भेद कछु कोउ न जाना । सकल जनक कर करहिं बखाना ॥१॥

अर्थ : बरातियों ने अपना अपना डेरा देखा कि सब प्रकार से देवताओं का सब सुख सुलभ है । विभव भेद किसी ने कुछ समझ न पाया । सब जनक राजा की प्रशंसा कर रहे हैं ।

व्याख्या : जनवासे में प्रत्येक बाराती के लिए पृथक् पृथक् स्थान निर्दिष्ट थे । सिद्धियों के आते ही बात दूसरी हो गई । अब बाराती अपना डेरा देखते हैं कि विमानों की भाँति सुन्दर सजे हुए हैं और देवताओं का भोग और विभूति सबको सब प्रकार से सुलभ है । भाव यह कि बारातियों को वैसा ही दिखाई पड़ रहा है जैसा कि उन्होंने बना रक्खा है ।

विभव में भेद पड़ते किसी ने न लखा । मानुषी भोग दैवी भोग में परिवर्तित हो गया । सबने उस भोग और विभूति को राजा जनक की ही करतूत समझा और उनकी प्रशंसा करने लगे । वस्तुतः जिसकी करतूत थी उसे कौन समझता है । जब विभव भेद ही समझ में नहीं आया तो उसके कर्त्ता की ओर दृष्टि ही क्यों जाने लगी । इस भाँति सीताजी के द्वारा पिता को यश मिल रहा है ।

सिय महिमा रघुनायक जानी । हरषे हृदय हेतु पहिचानी ॥
पितु आगमन सुनत दोउ भाई । हृदय न अति आनंदु अमाई ॥२॥

अर्थ : सीताजी की महिमा को रामजी ने जाना । प्रेम की पहिचान करके हृदय में हर्षित हुए । दोनों भाइयों ने पिता का आगमन सुना । अब अत्यन्त आनन्द हृदय में समा नहीं रहा है ।

व्याख्या : महामाया के पति को छोड़कर महामाया की महिमा को कौन जाने । सब लोग भोग में पड़े हुए भी विभव भेद नहीं जान सके । रघुनायक अभी वहाँ गये भी नहीं हैं । विश्वामित्रजी के डेरे पर रहते हुए भी समझ गये कि सीताजी

ने करामात कर दी। सब मानिये राम के नाते। मेरे पिता होने से सत्कार हो रहा है। ऐसा जानकीजी का प्रेम जानकर मन ही मन प्रसन्न हुए। सीताजी की महिमा ही विभवभेद में कारण हुई।

बारात आने पर शोर मच गया कि महाराज अवधनरेश आगये। सुनकर दोनों भाइयों को अत्यन्त आनन्द हुआ। हृदय में यथेष्ट स्थान नहीं रह गया। अतः मुख से नेत्र से तथा रोम रोम से : पुलकद्वारा प्रकट होने लगा। पहिले पुर में बारात आने की जानकारी सीताजी को कही। यथा : जानी सिय बरात पुर आई। अब श्रीरामजी की जानकारी कहते हैं : पितु आगमन सुनत दोउ भाई।

सकुचन्ह कहि न सकत गुर पांहीं। पितु दरसन लालच मन मांहीं ॥
विस्वामित्र विनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोष विसेखी ॥३॥

अर्थ : सङ्कोच के कारण गुरु से नहीं कह सकते। पिता के दर्शन का लालच मन में है। विश्वामित्र को इतना बड़ा विनय : अदब देखकर हृदय में विशेष सन्तोष उत्पन्न हुआ।

व्याख्या : दोनों भाई स्वभाव से सङ्कोची हैं। इनके सङ्कोची स्वभाव के कारण माताओं को सोच है कि ये कष्ट सहन कर लेंगे परन्तु मुनिजी से न कहेंगे। यथा : बालक सुठि सुकुमार सकोची समुझि सोच मोहिं आली। इन्ही के लिए बारात लेकर पिता अयोध्या से आये हैं। इतने दिनों से पिता का विछोह है। पितृप्रेम हृदय में उमड़ रहा है। पिता के दर्शन का लालच है। नहीं तो राम लक्ष्मण को लालच कहाँ ? फिर भी मुनिजी से पितृ दर्शन के लिए कहने में सङ्कोच है। सङ्कोच तो नगर दर्शन के लिए कहने में भी था फिर भी मुनिजी से निवेदन किया। पर इस बार मारे सङ्कोच के निवेदन भी नहीं कर रहे हैं। क्योंकि पिताजी ने कह रक्खा है कि तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ। सो जब तक गुरुजी स्वयं पिताजी तक ले जाकर पहुँचा नहीं देते तब तक पिता और गुरु दोनों का नाता मुनिजी से ही है। पिता के दर्शन की उत्सुकता प्रकट करने में इसलिए सङ्कोच विशेष है।

विश्वामित्रजी सर्वज्ञ हैं। उन्होंने लालच और सङ्कोच दोनों जान लिया। इतना बड़ा मेरा सङ्कोच है कि पिता के दर्शन की लालच ये बच्चे दबाये बैठे हैं। प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना। इस त्याग से सन्तुष्ट तो पहिले हो से थे। अब प्रश्रय : अदब के कारण दर्शन को भी नहीं कह रहे हैं। इससे विशेष सन्तोष हुआ। यहाँ विश्वामित्रजी दोनों भाइयों की तथा स्वयं महाराज की भी परीक्षा ले रहे हैं। सो परीक्षा में तीनों व्यक्ति खरे उतरे। न तो राम लक्ष्मण ने उनसे पिता के पास जाने के लिए कुछ कहा और न महाराज दशरथ के यहाँ से राम लक्ष्मण के बुलाने के लिए कोई सन्देश आया।

हरखि बंधु दोउ हृदय लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए ॥
चले जहाँ दशरथु जनवासे। मनहु सरोवर तकेउ पिआसे ॥४॥

अर्थ : प्रसन्न होकर दोनों भाइयों को कलेजे से लगा लिया। शरीर में पुलकावली हो गई। आँखों में आँसू छलछला उठे। जहाँ जनवासे में महाराज दशरथ थे वहाँ के लिए चल पड़े। मानो प्यासा तालाब को लक्ष्य करके जा रहा हो।

व्याख्या : दोनों भाइयों के विनय से विश्वामित्रजी का हृदय उमग उठा। उन्हें कलेजे से लगा लिया। सात्त्विक भाव होने से पुलक भी हुआ। आँखों में आँसू भी आगये। न दोनों भाइयों ने कुछ कहा न गुरुजी ने ही कुछ कहा। सब सबके भावको समझ गये।

विश्वामित्रजी को भी महाराज के दर्शन की बड़ी लालसा है। जिसने अपने प्राण निकालकर दे दिये। यथा : मेरे प्राणनाथ सुत दोऊ। और आने पर यह भी न पूछा कि मेरे प्यारे बच्चे कहाँ हैं? ऐसे आज्ञापालक के दर्शन की प्यासी प्रेमपयोनिधि विश्वामित्रजी को होना प्राप्त ही है। अतः तीनों व्यक्तियों को चक्रवत जी के दर्शन की प्यास है। यहाँ चक्रवर्तीजी सरोवर हैं और उनका रूप ही जल है। अतः प्यासे के सरोवर लक्ष्य करके जाने की भाँति गुरुजी तथा दोनों भाई चले। इतनी चहल पहल नगर में मची हुई है। पर इन तीनों व्यक्तियों ने कुछ न देखा। प्यासा कुछ नहीं देखता। उसका ध्यान केवल पानी पर रहता है।

दो. भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत।
उठेउ हरषि सुखसिंधु महुँ, चले थाह सी लेत ॥३०७॥

अर्थ : जब महाराज दशरथ ने मुनिजी को देखा कि बेटों के साथ चले आरहे हैं तो आनन्दित होकर उठे और सुख के समुद्र में थाह लेते हुए से चले।

व्याख्या : महाराज की दृष्टि पड़ी कि विश्वामित्रजी रामजी तथा लक्ष्मण के साथ चले आरहे हैं। महाराज अगवानी के लिए उठ खड़े हुए। दरबार लगा हुआ था। महाराज के उठते ही सारी सभा उठ खड़ी हुई। महाराज के साथ चल पड़ी। सुख का समुद्र उमड़ चला। उस बीच में महाराज दशरथ चल रहे हैं। उसी चलने की दशा का वर्णन करते हैं। अगाध जल के तल में चलना महा कठिन है। पैर धरती पर पड़ते ही नहीं। समुद्र के तल में चलनेवाले अपने पैरों में भारी बोझ बाँधते हैं। जिसमें धरती पर पैर पड़े। यहाँ भी उसी भाँति मारे आनन्द के महाराज के पैर धरती पर नहीं पड़ रहे हैं। आनन्द सिन्धु में मग्न एक एक पैर सँभाल सँभालकर रख रहे हैं।

मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा। बार बार पद रज धरि सीसा ॥
कौसिक राउ लिए उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई ॥१॥

अर्थ : महाराज ने मुनिजी को दण्डवत् प्रणाम किया। चरणरज को बार बार सिरपर धारण किया। विश्वामित्रजी ने राजा को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद देकर कुशल पूछा।

व्याख्या : महीश हैं। संसार उन्हें प्रणाम करता है। पर उन्होंने मुनिजी को दण्डवत् प्रणाम किया! क्योंकि मुनिपद राजपद से कहीं बड़ा है। जब मुनि जी अयोध्या गये थे तब भी दण्डवत् किया था। परन्तु इसबार पुनः पुनः पदरज को सिरपर धारण कर रहे हैं। क्योंकि महात्माओं के चरणरज को सिरपर रखने से ही सब अभीष्टों की सिद्धि होती है। यथा : सब पायेउँ रस पायन पूजे। मुनिजी ने कहा था : धर्म सुयस प्रभु तुम कहँ इन कहँ अति कल्यान। सो अक्षरशः पूरा हुआ। महाराज को धर्म और सुयश की प्राप्ति हुई। धर्म यथा : निसिचर वध मैं होव सनाथा। सुयश यथा : ममहित लागि नरेस पठाये। और रामजी तथा लक्ष्मणजी का अत्यन्त कल्याण हुआ। यथा : गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई। बिस्वविजय जस जानकि पाई।

जब विश्वामित्रजी अयोध्या गये थे उस समय के व्यवहार और इस समय के व्यवहार का अन्तर विचारणीय है। उस समय महाराज दशरथ के दण्डवत् प्रणाम पर न आशीर्वाद देते हैं, न कुशल पूछते हैं। हृदय लगाने की कथा ही क्या है? आज प्रेम में विभोर होकर महाराज के दर्शन के प्यासे होकर आये हैं। दण्डवत् करते देखकर हृदय से लगा लेते हैं। आशीर्वाद देकर कुशल पूछते हैं। महाराज दशरथ के गुण ही ऐसे हैं जिनके कारण विश्वामित्र ऐसे मुनि भी उनके वश में हो गये।

पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुखु न समाइं ॥
सुत हिय लाइ दुसह दुखु मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे ॥२॥

अर्थ : फिर दोनों भाइयों को दण्डवत् करते देखकर महाराज के हृदय में सुख नहीं समाता है। बेटों को हृदय में लगाकर दुःसह दुःख को मिटाया। जैसे मरे हुए शरीर में फिर से प्राण का सञ्चार हुआ हो।

व्याख्या : वहाँ : पितु आगमन सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनन्द अमाई। यहाँ देखि नृपति उर सुख न समाई। जिस राम और लक्ष्मण की कीर्ति और करणी को बार बार रनिवास में महाराज ने वर्णन किया था वे ही राम और लक्ष्मण ऐसी कीर्ति और करणी करके दण्डवत् कर रहे हैं। पर पूर्व जन्म में माँगा था : मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुमहि अधीना। सो पहिली दशा उपस्थित थी। बिना मणि के फणि : सर्प की भाँति महाराज रामजी की अनुपस्थिति में व्याकुल रहते थे। अवलम्ब इतना ही था कि उनके प्रतिनिधि रूप में मुनिजी साथ थे। महाराज ने लक्ष्मण को सुपुर्द करते समय कह दिया ही था : तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ। सो पुत्र को हृदय में लगाने के सुख से दुःख को मिटा रहे हैं। जैसे मृतक शरीर में पुनः प्राण का सञ्चार हो रहा हो।

पुनि वसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाये। प्रेम मुदित मुनिवर उर लाये ॥
विप्र वृंद वंदे दोउ भाई। मन भावतीं असीसैं पाई ॥३॥

अर्थ : फिर उन्होंने वसिष्ठजी के चरणों में सिर झुकाया। प्रेम से प्रसन्न होकर मुनिश्रेष्ठ ने उन्हें हृदय से लगा लिया। दोनों भाइयों ने ब्राह्मणवृन्द की वन्दना की और वाञ्छित आशीर्वाद पाया।

व्याख्या : वसिष्ठजी को सिर नवाना दूसरी बार का प्रणाम है। पहिले दण्डवत् में पिता के हृदय लगाने से वह केवल उन्हीं के लिए प्रणाम समझा गया। इसलिए गुरुजी को पुनः प्रणाम किया। इष्टलाभ से वसिष्ठजी मुदित हैं। हृदय लगाना ही इष्टलाभ है। प्रेमातिशय से न चक्रवर्तीजी आशीर्वाद दे सके न वसिष्ठजी दे सके।

गुरुजी के प्रणाम के बाद श्रुतिछन्दरूप विप्रवृन्द को प्रणाम किया। एक आशीर्वाद नहीं पृथक् पृथक् आशीर्वाद विप्रवृन्द ने दिया। इसलिए कवि ने बहुवचन का प्रयोग किया है। किसी ने कहा : पूर्णाः सन्तु मनोरथाः। किसी ने धर्मसमृद्धिरस्तु। किसी ने शास्त्रसमृद्धिरस्तु। इत्यादि असीसें दीं। दोनों भाइयों का साथ ही प्रणाम है।

भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिए उठाइ लाइ उर रामा॥
हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम परिपूरित गाता॥४॥

अर्थ : भरतजी ने छोटे भाई के साथ प्रणाम किया। रामजी ने उठाकर छाती से लगा लिया। दोनों भाइयों को देखकर लक्ष्मणजी हर्षित हुए और प्रेम से भरे हुए शरीर द्वारा उनसे मिले।

व्याख्या : उठा लिया कहने से भरतजी का दण्डवत् प्रणाम करना सूचित होता है। भरतजी ने शत्रुघ्न के साथ प्रणाम किया था। यहाँ चारों भाइयों का मिलना है। यह रामचरित सरयू की जल माधुरी है। यथा : अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास। भायप भलि चहु बंधु की जलमाधुरी सुवास। अति उत्कण्ठा में नियमभङ्ग स्वाभाविक है। भरतजी ने शत्रुघ्न के साथ प्रणाम किया और रामजी ने हृदय से लगा लिया। यहाँ तक नियम ठीक रहा।

भरत शत्रुघ्न जब रामजी को दण्वडत् करते थे तभी उनको देखकर लक्ष्मणजी हर्षित हुए। रामजी से मिलकर भरतजी के अलग होते ही उनसे लिपट गये। प्रणाम न कर सके। इसी भाँति शत्रुघ्नजी को तुरन्त गले से लगा लिया। प्रणाम करने का अवसर भी लक्ष्मणजी ने न दिया।

दो. पुरजन परिजन जाति जन, जाचक मंत्री मीत।
मिले जथाबिधि सबहिं प्रभु, परम कृपाल बिनीत॥३०८॥

अर्थ : पुर के लोग, मुसाहिब लोग, जाति के लोग, मन्त्री लोग और मित्र, इन सबसे परम कृपालु और विनीत रामजी मिले।

व्याख्या : श्रीरामजी की यही विशेषता है। सबसे तो मिले ही। याचकों से भी मिले। यह भानुकुल केतु की बानात है। इनके यहाँ मंगन को 'नहीं' नहीं

मिलता। पहिला दायज भी इन्हीं के हाथ लगा। अब इससे बढ़कर क्या होगा कि परम कृपालु विनीत रामजी इनसे मिल रहे हैं। एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई। अब सबसे मिलने की विधि कहते हैं। जो जिस योग्य था उससे वैसे मिले। किसी का चरण ग्रहण किया। किसी को प्रणाम किया। किसी का आलिङ्गन किया। किसी को करकमल से स्पर्श किया। किसी को स्मितावलोकन से अनुगृहीत किया। किसीसे कुशल प्रश्न किया।

रामहिं देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥
नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनुधारी॥१॥

अर्थ : रामजी को देखकर बारात शीतल हुई। प्रीति की रीति बखानते नहीं बनती। महाराज के पास चारों बेटे ऐसे शोभित हैं। मानो धन अर्थ धर्मादि चारों पुरुषार्थ शरीर धारण किये हुए हैं।

व्याख्या : बारात में सबको बड़ी उत्सुकता है कि राम और लक्ष्मर्ण दोनों वीरों को कब देखेंगे? यथा : कबहिं देखिबे नयन भरि राम लखन दोउ वीर। सो आँख भर के देखा। इससे हृदय शीतल हुआ। जो हृदय सुरपुर भोग विलास से शीतल होनेवाला नहीं था वह रामजी के दर्शन से शीतल हुआ। शीतल वस्तु के स्पर्श से जुड़ाने : शीतल होने की विधि है। देखने से नहीं। पर प्रीति ही दूसरी है। उसमें देखने से शीतलता आती है। लोकरीति से विलक्षण होने से अवर्णनीय है। यथा : सब विधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंद निहारी।

बारात की महफिल लगी हुई है। महाराज की गद्दी के दक्षिण पार्श्व में चारों राजकुमार शोभायमान हैं। रामजी के दाहिने भरतजी। उनके दाहिने लक्ष्मणजी और लक्ष्मण के दाहिने शत्रुघ्नजी शोभित हैं। छोटे भाई दक्षिण भुजा स्थानीय हैं। अतः उनका स्थान दक्षिण भुजा के सन्निकट है। यथा : राम वाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर। ऐसी शोभा हो रही है मानो अर्थ धर्म काम और मोक्ष शरीर धारण करके बैठे हुए हैं। धन और धर्म साधन कोटि में और काम तथा मोक्ष सिद्धिकोटि में है। इसी से ऐसा क्रम रक्खा गया। कवि उस सभा में दूर सामने खड़े हैं। अतः अर्थ पर ही पहिले दृष्टि जाती है। उसी क्रम से उल्लेख है। यथा : शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और रामजी। राजाओं की पूरी शोभा चारों फलों से युक्त होने में है। यहाँ मोक्ष से अभिप्राय जीवन्मुक्ति से है।

सुतन्ह समेत दसरथहिं देखी। मुदित नगर नर नारि बिसेखी॥
सुमन बरहिं सुर हनहि निसाना। नाकनटी नाचहिं करि गाना॥२॥

अर्थ : बेटों के सहित चक्रवर्तीजी को देखकर बाराती मुदित हैं। पर जनकपुर के नर नारी विशेष मुदित हैं। फूलों की वर्षा करके देवता दुन्दुभी बजा रहे हैं और अप्सराएँ गान कर रही हैं।

व्याख्या : जनकपुर के नर नारी बेटों के साथ महाराज दशरथ को देखकर

विशेष आनन्दित हैं। क्योंकि बारातियों ने तो पहिले भी ऐसी झाँकी देखी है। परन्तु जनकपुर के लोगों के लिए यह पहिला अवसर है। अथवा महापुण्यवान महाराज दशरथ को देखकर मुदित थे। अब वे बेटों के सहित उन्हें देखकर विशेष मुदित हुए। ऐसे गुणवान चार कुमारों के होने से महाराज के महापुण्य का अनुमान करते हैं : यह जनकपुर निवासियों की मुदितता है।

मिलने के समय से ही देवताओं का डंका बज रहा है। पर कवि को लिखने का अवसर अब मिला है। महाराज दशरथ की सभा में वेश्या का नृत्य और गान नहीं हैं। विवाह चाहे सात सौ हों पर एक वेश्या का नृत्य न होने पावे : यह गोस्वामीजी का सुधार है। देवताओं के डङ्का बजाने के उल्लेख से यह पता चलता है कि अप्सराओं का गान और नृत्य आकाश मण्डल में हो रहा है। भूमण्डल में नहीं।

सतानंदु अरु बिप्र सचिव गन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना॥३॥

अर्थ : शतानन्द, ब्राह्मण, मन्त्रीगण, मागध, सूत, पण्डित और वन्दीजनों ने बारात के सहित महाराज का सम्मान किया और आज्ञा माँगकर अगवानी करनेवाले लोग लौटे।

व्याख्या : बारात की अगवानी में तथा सत्कार में स्वयं समधी के न जाने की चाल है। अतः महाराज जनक स्वयं उपस्थित न थे। अगवानी में जो लोग गये थे और जो लोग बारात को जनवासे में लाये थे उनमें से पुरोहित शतानन्दजी, ब्राह्मण, मन्त्रीगण, मागध, सूत, पण्डित और वन्दीजनों ने बारात के सत्कार की व्यवस्था की। जब सब व्यवस्था हो चुकी तब अगवानियों ने वापस जाने की आज्ञा चाही और पाने पर लौट आये।

प्रथम बरात लगन ते आई। ताते पुर प्रमोद अधिकाई॥
ब्रह्मानंद लोगु सब लहहीं। बढ़उ दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥४॥

अर्थ : पहिले बारात लग्न से आई। इससे नगर में आनन्द बढ़ गया। लोग ब्रह्मसुख प्राप्त कर रहे हैं। ब्रह्मदेव से कह रहे हैं कि दिन और रात बढ़े।

व्याख्या : गुरुजी की आज्ञा का यह प्रभाव है कि बिना लग्न देखे बारात चली परन्तु लग्न से पहुँची। अर्थात् अच्छे लग्न में जनकपुर में[1] प्रवेश किया। प्रथम बारात कहने का भाव यह कि विवाह के लिए राजद्वार पर लगने के लिए दूसरी बारात निकलेगी। पहिली बारात जो बिना दूल्हा के अयोध्या से आई है। उसने जनकपुर में शुभलग्न से प्रवेश किया। जनकपुर में ज्योतिष का बड़ा आदर है। लग्न पर बड़ा विश्वास है। लग्न से बारात के आने से भावी मंगल की सूचना मिली। प्रजा

---

[1] १. धन तेरस को बारात जनकपुर पहुँची।

राजा में अनुरक्त है। उनके मंगल से अपना मंगल मानती है। अतः बारात के लग्न से आने में सबको अधिक आनन्द हुआ।

जन्मोत्सव के समय अयोध्यावासियों ने ब्रह्मानन्द का सुख लिया। यथा : ब्रह्मानन्द मगन सब लोगू। इस समय जनकपुरवासी भी वही सुख ले रहे हैं। जन्मोत्सव में : मास दिवस कर दिवस भा। एक दिन महीने भर का हो गया था। इसलिए अवधवासियों ने दिवस निसि के बढ़ने की प्रार्थना विधि से नहीं की थी। इस समय ऐसा नहीं हुआ। लोग इस आनन्द से अभी तृप्त नहीं हुए हैं। अतः विधि से दिन रात के बढ़ने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

दो. राम सीय सोभा अवधि, सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस, मिलि नर नारि समाज ॥३०९॥

अर्थ : राम और सीता शोभा की सीमा हैं और पुण्य की सीमा दोनों राजा हैं। यही बात जहाँ तहाँ नगर निवासी नरनारि समाज में मिलकर कह रहे हैं।

व्याख्या : न तो राम और सीता सी सुन्दरता ही संसार में कहीं है और न महाराज दशरथ और जनक सा पुण्यात्मा कोई है। यही भाव जो नगरवासी बारात तथा जनवास देखकर लौटते हैं उनके हृदय में उठ रहा है। और यही चरचा वे परस्पर कर रहे हैं। पुरवासी घर लौटकर जो कुछ नरसमाज में कहते हैं और नारियाँ घर लौटकर नारीसमाज में जो कहती हैं उसका सारांश इतना ही है : राम सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज।

जनक सुकृत मूरति वैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरें देही ॥
इन सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे ॥१॥

अर्थ : राजा जनक के पुण्य की मूर्ति सीताजी हैं और राजा दशरथ के पुण्य ने रामजी का देह धारण कर रक्खा है। इनके समान तो किसी ने न शिवजी की आराधना की और न किसी ने इनके समान फल प्राप्त किया।

व्याख्या : पहिले केवल रामजी की छवि की चरचा नगर में थी। यथा : वरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू। अब रामजी की छवि और दोनों राजाओं के पुण्य का वर्णन हो रहा है। मिथिला कर्मठ देश है। स्वयं जनकजी ज्ञानी होते हुए भी बड़े याज्ञिक थे। अतः सबका ध्यान उन कर्मों पर गया जिनका यह फल है। कोई कहता है कि राजा के किये हुए पुण्य की मूर्ति वैदेही हैं और राजा दशरथ के पुण्य की मूर्ति रामजी हैं। क्योंकि अति उग्र पुण्य पाप का यहीं फल मिल जाता है। यथा : अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते।

कोई पुण्य का विवरण कर रहा है : इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साधे। सो इन दोनों राजाओं ने शङ्कर की अतीव आराधना की है। तभी सब प्रकार से सम्पन्न हैं। यथा : स्यंदन गयंद वाजि राजि भले भले भट धन धाम निकर करनिहू न पूजे क्वै। वनिता विनीत पूत पावन

सोहावन औ विनय विवेक विद्या सुभग सरीर ज्वै। इहाँ ऐसो सुख परलोक सिवलोक ओक ताको फल तुलसी सों सुनो सावधान ह्वै। जाने बिनु जाने कै रिसाने केलि कबहुँक सिवहि चढ़ाये ह्वै हैं बेल के पतौवा द्वै।

इन्ह सम कोउ न भयउ जगमांहीं। हैं नहिं कतहूँ होनेउ नांहीं।।
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भए जग जनमि जनकपुर वासी।।२।।

अर्थ : इनके समान संसार में न कोई हुआ, न है, न होगा। हम सब भी सकल पुण्य के राशि संसार में जन्म लेकर जनकपुरवासो होने से हुए।

व्याख्या : कोई कहता है कि तीन काल में इनके समान कोई नहीं हुआ। वसिष्ठजी का भी यही मत है। यथा : सुकृती तुम समान जगमांहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नांही। महाराज जनक इन्हीं के समकक्ष हैं। यथा : सम समधी देखा हम आजू। अतः इनके समान भी न कोई था, न है, न होगा। कोई कहते हैं कि जनकजी की प्रजा होने से हम भी पुण्य की राशि हो गये। यथा राजा तथा प्रजा। राजा पुण्य की सीमा है हमलोग राशि हैं। पुण्य की सीमा होने का फल राजा को मिल रहा है और राशि होने का फल प्रजा को मिल रहा है। अथवा जनकपुर महा पुण्यतीर्थ है। इसके सेवन से हमलोग पुण्य की राशि हो गये। पुण्यराशि होने का फल कहते हैं :

जिन्ह जानकी राम छवि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी।।
पुनि देखब रघुवीर बिवाहू। लेब भली विधि लोचन लाहू।।३।।

अर्थ : जिन्होंने जानकी और राम की छवि देखी है। हमारे सदृश विशेष पुण्यात्मा कौन है। फिर रघुवीर का विवाह देखेंगे और भली प्रकार से लोचन का लाभ लेंगे।

व्याख्या : राम जानकी की छवि देखना सकल पुण्य की राशि हुए बिना सम्भव नहीं। यह विशेष सुकृत का फल है। क्योंकि पुण्य का फल तो स्वर्ग है। परन्तु यह दर्शन तो इतना दुर्लभ है कि सरभङ्ग मुनि ब्रह्मलोक जा रहे थे सो इस दर्शन के लिए रुक गये। यथा : जात रह्यों बिरंचि के धामा। सुनेउ श्रवन वन अइहैं रामा। चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।

इतना ही नहीं और देखना है। रघुवीर विवाह देखना है। जो ब्रह्मलोक की रानी शारदा को भी सुलभ नहीं। यथा : राजत राम जानकी जोरी। स्याम सरोज जलद सुंदर वर दुलहिन तडित वरन तन गोरी। व्याह समय सोहति वितानतर उपमा कहुँ न लहत मति मोरी। मनहु मदन मंजुल मंडप मँह छवि सिंगार शोभा इक ठौरी। मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूंदरी पीत पिछौरी। कनक कलस कहँ देत भांवरी देखि प्रीति सारद भइ भोरी। इस प्रकार जहाँ चार आदमी इकट्ठे हैं वहीं ऐसी बातें हो रही हैं। अतः चार पुरुषों का संवाद कहा।

कहहिं परसपर कोकिलवयनी । येहि विवाह बड़ लाभु सुनयनी ॥
बड़े भाग विधि बात बनाई । नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई ॥४॥

अर्थ : कोकिलवयनी आपस में कहती हैं कि हे सुनयनी ! इस विवाह में बड़ा लाभ है। बड़े भाग से ब्रह्मदेव ने बात बनाई है। दोनों भाई आकर आँखों के मेहमान : अतिथि होंगे।

व्याख्या : कहने और सुननेवाली दोनों कोकिलवयनी और सुनयनी हैं। नरसमाज का हाल कहकर अब नारीसमाज का हाल कहते हैं। यद्यपि रामजी के नगरदर्शन के समय सभी घरों की स्त्रियों ने रामजी के रूप की प्रशंसा की। यथा : हिय हरखहिं वरखहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि वृंद। जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद। तथापि संवाद अष्ट सखियों का ही लिखा गया। इसी भाँति यहाँ भी अष्ट सखियों का संवाद कहते हैं। इसी संवाद में सब नारियों के कथन का अन्तर्भाव है। १. जिस सखी ने कहा था कि : जेहि विरंचि रचि सीय सँवारी। सोइ स्यामल वर रचेउ विचारी। वही कहती हैं : एहि विवाह बड़ लाभ सुनयनी। दूसरे विवाह में अनुरूप जोड़ी हो जाती। सबसे बड़ा लाभ है कि अनुरूप जोड़ी मिली। इससे दम्पति का लाभ, दोनों पक्ष का लाभ, सब लाभ ही लाभ है।

२. जिसने कहा था : संकर चाप कठोरा। ये स्यामल मृदु गात किसोरा। सब असमंजस अहै सयानी। वह कह रही है : बड़े भाग विधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहैं दोउ भाई। अब ये दोनों भाई कभी कभी दर्शन देते रहेंगे। राजा के अतिथि होंगे और हमलोगों के नयनों के अतिथि होंगे।

दो. बारहिं बार सनेह बस, जनक बोलाउब सीय।
लेन आइहहिं बंधु दोउ, कोटि काम कमनीय ॥३१०॥

अर्थ : जनकजी बार बार स्नेहवश होकर सीताजी को बुलायेंगे। करोड़ों कामों से भी सुन्दर दोनों भाई लेने आवेंगे।

व्याख्या : ३. जिसने कहा था : नाहि त हम कहँ सुनहु सखि इनकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि। वही कह रही है कि पुण्य पुराकृत उदय हुआ। इनका दर्शन अब दुर्लभ न होगा। जनकजी बड़े दुहितृ-वत्सल हैं। बेटी के लिए इतना बड़ा स्वयंवर रचा। बारात के सत्कार के लिए इतना कर रहे हैं। ये स्नेह के वश बारबार सीताजी को बुलावेंगे। तब विदा कराने के लिए बारम्बार दोनों भाइयों को आना पड़ेगा। बिना पत्ति के विदा कराने आये स्त्रियों का सम्मान नहीं होता। अतः विदा कराने पति को जाना पड़ता है। अतः ये लोग बारबार आवेंगे और हमलोग दर्शन पावेंगे।

विविध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥
तब तब राम लखनहिं निहारी। होइहहिं सब पुर लोग सुखारी ॥१॥

अर्थ : अनेक प्रकार से आतिथ्य सत्कार होगा। हे माई ! ऐसी ससुराल किसे प्रिय न होगी। तब तब राम लखन को देखकर सब पुर के लोग सुखी होंगे।

व्याख्या : ४. जिसने कहा था : कोउ कह ये भूपति पहिचाने। मुनि समेत सादर सनमाने। वही कहती है कि बिना सम्बन्ध ही इतना सत्कार हुआ था। अब तो घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। विविध प्रकार से सत्कार तो दामाद का सामान्य लोग करते हैं। महाराज जनक के सत्कार का कहना ही क्या है ? ऐसी ससुराल स्वभाव से रामजी को प्रिय होगी। अतः अवश्य आना जाना लगा रहेगा।

सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा ॥
स्याम गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं देखि जे आए ॥२॥

अर्थ : हे सखि ! जैसा राम लक्ष्मण का जोड़ा है वैसे ही राजा के संग दो लड़के हैं। श्याम गौर सब अङ्ग सुन्दर हैं। वे सब कहते हैं जो देख आये हैं।

व्याख्या : ५. जिसने कहा था : ए दोऊ दशरथ के ढोटा। बाल मरालन्ह के कल जोटा। वही कह रही है : सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसई भूप संग दुइ ढोटा। पहिले भी इसने अपने पति से सुनकर कहा था। यथा : जो मैं सुना सो सुनहु सयानी। इस बार भी उन्हीं से सुनकर कहती है कि वे लोग बतलाते हैं जो देखकर आये हैं। पति की कही हुई बातों को सङ्कोच से स्त्रियाँ इसी प्रकार से कहती हैं। पति से उसने सुन रक्खा है। महाराज दशरथ के दो लड़के हैं जो ठीक राम लक्ष्मण से हैं। राम लक्ष्मण की भाँति वे दोनों भी श्याम गौर और सुन्दर हैं।

कहा एक मैं आजु निहारे। जनु विरंचि निज हाथ सँवारे ॥
भरतु रामही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥३॥

अर्थ : एक ने कहा मैंने तो आज ही देखा है। मानो ब्रह्मदेव ने अपने हाथ से सँवारा है। भरत तो रामजी जैसे हैं। एकाएक कोई पहचान नहीं सकता।

व्याख्या : ६. जिसने कहा था : कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह येह रूप निहारी। वह कहती है कि मैं तो आज अपनी आँखों से देखती चली आरही हूँ। पहली सखी की बात की पुष्टि करती है। भाव यह कि बनानेवाले सबके ब्रह्मा हैं। पर अपने हाथ से किसी को नहीं बनाते। स्वयं ऐसा यन्त्र बना दिया है कि आप से आप सृष्टि होती रहती है। उन्हें अपने हाथों कुछ नहीं करना पड़ता। पर इनके बनाने में तो मानो उन्होंने स्वयं परिश्रम किया है। यथा : जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रकटि देखाई। ७. नाम का भी पता लगा लाई है। कहती है कि भरत और राम में ऐसा सादृश्य है कि एकाएक यह पहिचानना कठिन हो जाता है कि कौन राम हैं और कौन भरत हैं। नर के लखने में धोखा हो। पर नारियों के लखने में धोखा नहीं होता। पर राम और भरत का सादृश्य ऐसा है कि नारी को भी धोखा हो सकता है।

लखनु सत्रुसूदनु एकरूपा । नख सिख ते सब अंग अनूपा ॥
मन भावहिं मुख वरनि न जांहीं । उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नांहीं ॥३॥

अर्थ : लक्ष्मण और शत्रुघ्न एक रूप के हैं। नख से शिख तक सब अङ्ग अनूप हैं। मनमें अच्छे लगते हैं। मुख से कहे नहीं जा सकते। उपमा के लिए त्रिभुवन में कोई नहीं है।

व्याख्या : दो भाई एक रंग के और दो भाई दूसरे रंग के हैं। रामजी और भरतजी को कह चुकी। अब लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी को कहती है। ये दोनों भी एक रूप के हैं। इनका भी भेद लखना कठिन है। सुन्दरता का वर्णन करती है कि मन को तो प्यारे लगते हैं। परन्तु मुख से कोई वर्णन करना चाहे तो कर नहीं सकता। क्योंकि नख से शिख तक सब अङ्ग अनूप हैं। एक वस्तु को दूसरे से मिलान करके ही वर्णन हो सकता है। वैसी दूसरी वस्तु संसार में नहीं जिसका पटतर दिया जा सके। ८. यह कहती है कि मनमें अच्छे लगते हैं मुख से वर्णन नहीं हो सकता। यहाँ पर इसी सखी के पूर्वकथन का अनुवर्तन करना पड़ेगा। यथा : विष्णु चारि भुज विधि मुख चारी। इत्यादि। इस भाँति उन्हीं आठों सखियों का संवाद है। जिन्हें अपरा प्रकृति रूप से वर्णन किया जा चुका है। भेद क्रम का है। यहाँ सबसे पिछली सखी पहिले बोली। उनकी पहिले के कही हुई बातें ऐसी सम्बद्ध हैं कि लाचार होकर मानना पड़ता है कि वे ही सखियाँ हैं।

छं. उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कवि कोविद कहैं।
बल विनय विद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एहैं अहैं ॥
पुर नारि सकल पसारि अंचल विधिहि वचन सुनावहीं।
व्याहिअहुँ चारिउ भाइ इहि पुर हम सुमंगल गावहीं ॥

अर्थ : तुलसीदासजी कहते हैं कि कविकोविदों का यह कथन है कि इनकी उपमा कहीं भी नहीं है। बल, विद्या, विनय, शील और शोभा के समुद्र में अपने ऐसे आप ही हैं। सब पुरनारियाँ आँचल पसारकर ब्रह्मदेव से माँगती हैं कि चारों भाइयों का व्याह इसी नगर में हो और हम मंगल गायें।

व्याख्या : सन्देह उठता है कि कुलवधू होकर इसने ऐसा कैसे कह दिया कि तीनों लोक में कोई नहीं है ? क्या इसने सूर्पणखा की भाँति तीनों लोक में विचरण किया है। यथा : मम अनुरूप पुरुष जग नाहीं। देख्यौं खोजि लोक तिहुँ मांहीं। अत: इसके कहने का क्या प्रमाण ? इसलिए श्री गोस्वामीजी कहते हैं कि पण्डित कवि लोग कहते हैं कि इनकी उपमा कहीं नहीं है। अतः पण्डित कवियों के कहने से उसका दुर्बल कथन भी पुष्ट हो गया। जिसे बल होता है। उसे विद्या नहीं। जिसे दोनों होता है उसे अभिमान हो जाता है। अतः उसमें विनय का अभाव होता है। जिसमें तीनों हों उसमें सदाचार का भी होना दुर्लभ है। चारों हुए तो अच्छा

रूप नहीं होता। यहाँ एक एक पाँचों गुणों के समुद्र है। समुद्र चार हैं और वे भी चार हैं। अतः इनके समान ये ही हैं। यथा : सागरः सागरोपमः। इस भाँति स्त्रियाँ विधि से प्रार्थना करती हैं। पुरुष करसम्पुट करके प्रार्थना करते हैं। पर स्त्रियाँ आँचल पसारकर माँगती हैं। आँचल पसारकर ब्रह्मदेव से चारों भाइयों का जनकपुर में ही व्याह होना माँगतीं हैं। इनके लिए कह आये हैं : कहहिं परसपर कोकिल वयनी। एहि विवाह बड़ लाभ सुनयनी। इन्हीं कोकिलवयनी और सुनयनियों ने धनुषभङ्ग होने पर जयमाल पड़ने के समय गान किया था। यथा : जूथजूथ मिलि सुमुखि सुनयनीं। करहिं गान कल कोकिल वयनी। सो इन्हें चारों भाइयों के व्याह में मङ्गलगान करने की अभिलाषा है। इस पुर में व्याह हो तो हम मङ्गल गावें।

सो. कहहिं परस्पर नारि, वारि विलोचन पुलक तन।
सखि सब करव पुरारि, पुन्य पयोनिधि भूप दोउ ॥३११॥

अर्थ : स्त्रियाँ आँखों में आँसू भरकर और पुलकित शरीर होकर आपस में कहती हैं कि सखि! सब पुरारि पूरा करेंगे। क्योंकि दोनों राजा पुण्य के समुद्र हैं।

व्याख्या : अति उत्कण्ठा के कारण इन स्त्रियों को सात्त्विक भाव हुआ। आँखों में आँसू आगया। शरीर पुलकित हो उठा। कहने लगीं कि सखी यह सब वही महादेव करेंगे जिनके ये दोनों राजा आराधना करनेवाले हैं। यथा : इन सम कोउ नहिं सिव अवराधे। कोउ नहिं इन समान फल लाधे। और दूसरी बात यह भी है कि ये दोनों राजा केवल भक्त ही नहीं बड़े पुण्यात्मा हैं। इन्हें पुण्यपयोनिधि कहिये। सो इनके पुण्य का फल भी महादेव देंगे। यथा : क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। सुकृति अवध दोउ राज : यह कहना नरनारिसमाज का सिद्ध हुआ।

येहि विधि सकल मनोरथ करहीं। आनद उमगि उमगि उर भरहीं॥
जे नृप सीय स्वयंवर आए। देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाए ॥१॥

अर्थ : इस विधि से सब मनोरथ कर रहे हैं। आनन्द को उमग उमगकर हृदय में भर रहे हैं। जो राजा सीताजी के स्वयंवर में आये थे। सब भाइयों को देखकर उन लोगों ने सुख पाया।

व्याख्या : ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़उ दिवस निसि विधि सन कहहीं से उपक्रम करके : व्याहिअहुँ चारिउ भाई इहि पुर हम सुमंगल गावहिं से उपसंहार किया। यह तो एक समाज का मनोरथ था। मनोरथ सभी पुरवासी कर रहे थे। सबके मनोरथ कहाँ तक लिखे जाँय। एक समाज का वृत्तान्त लिखकर दिखलाया कि मनोरथ की विधि सर्वत्र यही थी। मनोरथ से ही आनन्द उमग रहा है। उसे हृदय में भर रहे हैं। दूसरे विचार के लिए स्थान नहीं है।

जनकपुर वासियों की गतिविधि कहकर अब बाहरी लोग जो जनकपुर में आये हैं उनका हाल कहते हैं। पुर बाहिर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ विपुल महीपा। जो राजा बाहर से सीताजी के स्वयंवर में आये थे उनमें से कुटिल राजा तो पहिले ही चलते बने थे। यथा : अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवँहि पराने। साधु राजा बारात देखने के लिए ठहर गये थे। उन्हें रामजी के दर्शन से सुख मिलता था। यथा : जगत पिता रघुपतिहि विचारी। भरि लोचन छवि लेहु निहारी। अब चारों भाइयों के दर्शन से तृप्त हो गये।

कहत राम जसु विसद विसाला। निज निज भवन गये महिपाला॥
गये बीति कछु दिन येहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती॥२॥

अर्थ : निर्मल और विशाल रामयश कहते हुए राजा लोग अपने अपने घर गये। कुछ दिन इस भाँति बीत गये। पुरजन और बाराती आनन्दित थे।

व्याख्या : बारात आजाने पर ठहरना ठीक नहीं। क्योंकि किसी ओर से निमन्त्रित नहीं हैं। इसलिए अपने अपने घर गये। साधु हैं : इसलिए रामजी के जगद्-व्यापी यश का वर्णन करते घर गये। रामयश के वर्णन का सामर्थ्य साधु को ही होता है। कुटिल के मुख से रामयश नहीं निकलता। यथा : वर्षहि राम सुयस वरवारी। मधुर मनोहर मंगलकारी। ये साधु राजा धनुष के पास भी नहीं गये थे। यथा : जिनके कछु विचार मन मांहीं। चाप समीप महीप न जांहीं। अतः इनकी हार भी नहीं हुई थी। इन्हें रामयश वर्णन में उत्साह था और जो : कीरति विजय वीरता भारी। चले चापकर बरबस हारी। उनके मुख से रामयश नहीं निकल सका। वे चुपके से पहिले ही चले गये थे।

राजाओं का जाना कहकर अब फिर जनकपुर का हाल कहने लगे कि पुरवासी तो व्याह देखने के मनोरथ से आनन्दित हैं। सभी बाराती लोग आतिथ्य सत्कार तथा रामजी के दर्शन से आनन्दित हैं। इस भाँति कुछ दिन बीत गये। भाव यह कि बारात पहुँचने के कुछ दिनों बाद ही लग्न दिन की सम्भावना थी। शरद् ऋतु में व्याह का लग्न नहीं होता। कार्तिक शुक्ल एकादशी हरिप्रबोधिनी है। हरि के शयनकाल में मंगलकार्य स्थगित रहते हैं। इस बीच में सांकाश्यापुरी से महाराज जनक के भाई राजा कुशकेतु भी आगये।

मंगल मूल लगन दिनु आवा। हिम रितु अगहन मासु सुहावा॥
ग्रह तिथि नखतु जोगु वर वारू। लगन सोधि विधि कीन्ह विचारू॥३॥

अर्थ : मंगल का मूल लग्न का दिन आगया। हिमऋतु और सुन्दर अगहन का महीना। ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, श्रेष्ठ दिन और लग्न को शोध करके ब्रह्मदेव ने विचार किया।

व्याख्या : मंगल का मूल हिमऋतु : हेमन्त है। उसी में विवाह के लग्न देखे जाते हैं। उसमें भी अगहन का महीना शोभन है। पूस में तो खरवाँस : खरमास

लग जाता है। उसमें कोई मंगलकार्य नहीं होता। इसलिए सोहावा मास अगहन ही है। भगवान् भी कहते हैं : मासानां मार्गशीर्षोऽहम्। अतः इसी महीने में विवाह के लग्न देखे जाते हैं।

अतः अगहन के महीने के आजाने पर स्वयं ब्रह्मदेव ने विवाह का लग्न निश्चय किया। क्योंकि आचार्यों ने लग्न की ही प्रशंसा की है। यथा : लग्नमेव प्रशंसन्ति भृगुनारदकश्यपाः। ब्रह्मदेव ने लग्न के साथ ही साथ ग्रह, तिथि, नक्षत्र योग और वार का भी विचार किया।

पठै दीन्ह नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई॥
सुनी सकल लोगन्ह यह बाता। कहहिं जोतिषी आहि बिधाता॥४॥

अर्थ : उसे नारद के हाथ भेज दिया। वही राजा जनक के ज्योतिषियों ने भी निश्चय किया था। लोगों ने भी यह बात सुनी। कहने लगे कि ज्योतिषी क्या हैं ब्रह्मा हैं।

व्याख्या : अगहन सुदी पञ्चमी को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में व्याह का लग्न ठीक करके लग्नपत्री नारदजी के हाथ भेज दी। यहाँ जनकजी के ज्योतिषियों ने भी विचार करके वही लग्न स्थिर कर रक्खा था। जब लग्नपत्री बाँची गई तो उसमें भी वही लग्न निकला। बात फैल गई। लोग कहने लगे कि हमारे यहाँ के ज्योतिषी विधाता हैं। क्योंकि उनका विचार ब्रह्मदेव के विचार से कम नहीं प्रमाणित हुआ : इस भाँति मिथिला के ज्योतिषियों की प्रशंसा हुई। नारदजी के लग्नपत्री लाने और ब्रह्मदेव के लग्न विचारने की बात ऐसे महत्त्व की थी कि इसकी चर्चा नगर भर में फैल गई। ब्रह्मदेव जानते थे कि वसिष्ठजी लग्न न देखेंगे। उनका मत है : तुम कहँ सर्वकाल कल्याना। अतः स्वयं उन्होंने देखा क्योंकि जगत् का मंगल इस विवाह पर निर्भर था। यथा : तेहि अवसर रावन नगर असगुन असुभ अपार। होहिं हानि भय मरन दुख सूचक बारहिं बार।

दो. धेनुधूरि बेला बिमल, सकल सुमंगल मूल।
बिप्रन कहेउ बिदेह सन, जानि सगुन अनुकूल॥३१२॥

अर्थ : निर्मल गोधूलि वेला को निर्मल कहते हैं। यह सब सुमङ्गल का मूल है। अनुकूल शकुन देखकर ब्राह्मणों ने राजा से कहा।

व्याख्या : गोधूलि वेला को निर्मल कहते हैं। यह सब सुमङ्गल का मूल है। इस समय भगवान् भूतनाथ अपने गणों के साथ जगत् में विचरण करते हैं। इसके सामने लग्न की भी कोई गिनती नहीं है। यथा : नास्यामृक्षं न तिथिकरणं नैव लग्नस्य चिन्ता। नो वा वारो न च लवविधिर्नो मुहूर्तस्य चर्चा। नो वायोगो न मृतिभवनं नैव जामित्रदोषः। गोधूलिः सा मुनिभिरुदिता सर्वकार्येषु शस्ता। मु. चि.। तिसपर ब्राह्मणों ने स्वरशास्त्र से शकुन भी देख लिया। स्वरशास्त्र से मेल खाने से ही ज्योतिष का फल मिलता है। यथा : स्वरहीनस्तु दैवज्ञो नाथहीनो यथा गृहः।

शकुन कार्यारम्भकाल का ही लिया जाता है। अतः यहाँ शकुन से स्वरशास्त्र का शकुन अभिप्रेत है। तब ब्राह्मणों ने राजा विदेह से कहा। भाव यह कि विलम्ब करने से गोधूलि न सधेगी।

उपरोहितहिं कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारनु काहा॥
सतानंद तब सचिव बोलाए। मंगल सकल साजि सब लाए॥१॥

अर्थ : उपरोहित सतानन्दजी से तब राजा ने कहा कि अब देर का कारण क्या है। तब सतानन्दजी ने मन्त्रियों को बुलाया। वे सब मङ्गल साजकर ले आये।

व्याख्या : ब्रह्मा जी का दिया हुआ लग्न है। ब्राह्मण लोग भी अनुकूल समय कहते हैं। विलम्ब करने से गोधूलि भी नहीं सधेगी। अतः विलम्ब करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। पुरोहित पर पूरा राज्य का भार रहता है और विशेषतः धर्म का भार तो सभी उसी पर रहता है। इसलिए राजा ने उपरोहित से कहा। राजाज्ञा सर्वोपरि है। समय आने पर वह सब पर चली है। स्वयं वसिष्ठजी पर राजाज्ञा चलती देखी जायगी। यथा : तब नरनाह वसिष्ठ बोलाए। रामधाम सिख देन पठाए। अब देर का क्या कारण है? यह कहकर राजा कारण नहीं पूछते जल्दी करने को कहते हैं। पुरोहित की आज्ञा मन्त्री पर भी चलती है। अतः पुरोहितजी ने मन्त्रियों को बुलवाया। जो आज्ञा पुरोहितजी देनेवाले थे उसे मन्त्रियों ने पहिले से ही ठीक कर रक्खा था। उनके बुलाने पर सब मङ्गल साज जिसे लेकर बारात बुलाने के लिए जाना है साजकर लें आये। मङ्गल साज का विवरण करते हैं :

संख निसान पनव बहु बाजे। मंगल कलस सगुन सुभ साजे॥
सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेद धुनि बिप्र पुनीता॥२॥

अर्थ : शंख, नगाड़े और मृदङ्ग बहुत से बजने लगे। मङ्गलघट शुभ शकुन सब साजे गये। सुन्दर सुहागिनियाँ गीत गाने लगीं और ब्राह्मण लोग वेदों की पवित्र ध्वनि करने लगे।

व्याख्या : सबके आगे शंख, नगाड़ा आदि बाजे बजते चले। उनके पीछें पल्लवादि से संयुक्त मङ्गल घट आदि लेकर गीत गाती हुई सुन्दर सुहागिनियाँ चलीं। उनके पीछे वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मण लोग चले। उनके पीछे स्वागत करके बारात को बुलानेवाले सरदार लोग चले।

लेन चले सादर येहि भाँति। गये जहाँ जनवास बराती॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिं सुरराजू॥३॥

अर्थ : आदर के साथ इस भाँति लेने चले और जनवासे में बारातियों के पास गये। कोसलाधीश का साज समाज देखकर उन्हें इन्द्र भी अत्यन्त छोटे जान पड़े।

व्याख्या : इस भाँति पुरोहित मन्त्री आदि जनवासे में बारातियों के पास गये। भाव यह कि बारातियों का सत्कार पहिले और महाराज का पीछे। वहाँ कोसलाधीश का समाज देखा। स्वयं महाराज दशरथ को देखा। जबतक रामजी उनके पास नहीं थे तबतक तो महारांज समाजसहित इन्द्र से जान पड़ते थे। पर आज रामजी के आजाने से महाराज दशरथ के सामने इन्द्र और उनका समाज भी बहुत फीका जँचता है।

भयेउ समउ अब धारिअ पाऊ। यह सुनि परा निसानहि घाऊ॥
गुरहिं पूछि करि कुल विधि राजा। चले संग मुनि साधु समाजा ॥४॥

अर्थ : उन्होंने निवेदन किया कि समय हो गया अब पधारा जाय। यह सुनते ही डङ्कों पर चोट पड़ी। गुरुजी से पूछा। कुलधर्मानुसार कुलविधि करके मुनि साधुसमाज के साथ महाराज चल पड़े।

व्याख्या : यहाँ भी शङ्ख निशान और पणव के शब्द सुनकर बारात की सब तैयारी ठीक है। उधर महाराज से प्रार्थना हुई कि समय हो गया। पधारना चाहिए। इधर डंके पर चोट पड़ी : इससे व्यवस्था की सुन्दरता कही। महाराज गुरुआज्ञा पुरःसरही सब कार्य करते हैं। अतः गुरुजी से पूछा। वरयात्रा के समय रामजी मिथिला में थे। अतः पूरी कुलविधि न हो सकी। कुछ छूट गई। अतः उसे इस समय गुरुजी से पूछकर पूरा कर रहे हैं। गुरुजी कुलविधि सब जानते हैं रघुवंश मात्र के पुरोहित हैं। कितने राजा रघुवंश में हो गये पर गुरुजी वही हैं। उन्होंने विधि बतलायी। महाराज उस कृत्य को पूरा करके मुनि साधु समाज के साथ चले। गुरु विप्र धेनु सुर सेवी हैं। अतः समधी बनकर चलने के समय में भी मुनि और साधु समाज साथ है।

दो. भाग्य विभव अवधेस कर, देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहस मुख, जानि जनम निज वादि ॥३१३॥

अर्थ : अवधेश का भाग्य और ऐश्वर्य देखकर ब्रह्मा आदि देवगण अपना जन्म व्यर्थ समझते हुए हजारों मुख से प्रशंसा करने लगे।

व्याख्या : न ऐसा विभव ब्रह्मलोक में है और न ऐसा भाग्य ब्रह्मदेव का है। श्रीरामजी की बारात है। अतः इसके ऐश्वर्य के सामने दूसरा ऐश्वर्य जँच नहीं सकता। अवधेश का यह भाग्य है कि जासु सनेह सकोच वस राम प्रगट भये आय। यह भाग्य किसी देवता का नहीं है। यथा : जिनहि विरचि बड़ भयउ विधाता। महिमा अवधि राम पितु माता। अतः सहस्रमुख से प्रशंसा करने लगे। अर्थात् प्रशंसा करने में थक नहीं रहे हैं। अपने जन्म को व्यर्थं मानते हैं। चक्रवर्तीजी के जन्म को सफल मानते हैं।

सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना। वरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥
सिव ब्रह्मादिक विबुध वरूथा। चढ़े विमानन्हि नाना जूथा ॥१॥

अर्थ : देवताओं ने सुमङ्गल का अवसर जाना। डङ्का बजाकर फूल बरस रहे हैं। शिव ब्रह्मादि देवगण झुण्ड के झुण्ड विमान पर चढ़े हुए हैं।

व्याख्या : देवताओं ने सुमङ्गल का अवसर अर्थात् बारात के चलने का समय जाना। इधर बारात में पहिले से ही डङ्का बज रहा था। सो महाराज के चलते ही उधर आकाश से देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और डङ्का बजाया। जिनके भाग्य में आवश्यकता पड़ने पर जलवर्षा भी सुलभ नहीं है। उन्हें पुष्पवर्षा का असम्भव मालूम पड़ना ठीक़ ही है।

इधर महाराज गजारूढ़ हुए। उधर आकाश में शिव ब्रह्मादि त्रिदेव तथा लोकपालों का समाज तथा गण देवता : वसुगण रुद्रगण आदित्यगण विमानों पर चढ़े।

प्रेम पुलक तन हृहय उछाहू। चले विलोकन राम विआहू ॥
देखि जनकपुरु सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहिं लघु लागे ॥२॥

अर्थ : प्रेम से शरीर में पुलक है और हृदय में उछाह है। रामजी का विवाह देखने चले। जनकपुर को देखकर देवताओं को अनुराग हुआ। अपने अपने लोक सबको छोटे जँचने लगे।

व्याख्या : हृदय में उछाह होने से सात्त्विक भाव हुआ। रोमाञ्च हो आया। रामजी का विवाह देखने आकाशमार्ग से चले। इस भाँति दो बारात चलीं। नीचे धरती पर मनुष्यों की। ऊपर आकाश में देवताओं की। बाराती रामजी का विवाह करने चले और देवता देखने चले।

राजा विदेह की महाजनों को आज्ञा हुई थी : नगर सँवारहु चारिहु पासा। सो उन लोगों ने नगर को ऐसा सजाया कि देवताओं को अपना अपना लोक हलका जँचने लगा। यथा : जेहि तेरहुत तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगहि भुवन दसचारी।

चितवहिं चकित विचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना ॥
नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥३॥

अर्थ : चकित होकर विचित्र मण्डप देखने लगे। नाना प्रकार की सब रचनाएँ अलौकिक थीं। नगर के स्त्री पुरुष रूप के निधान, सुघर, सुधर्म, सुशील और सुजान थे।

व्याख्या : देवता लोग आकाश में हैं। अतः इन्हें वितान भी दिखाई पड़ है। ऐसा विचित्र वितान है कि उसे देखकर वे लोग भी चकित हैं। महाराज जनक की आज्ञा थी : रचहु विचित्र वितान बनाई। सो ऐसा विचित्र बनाया कि उसे देखकर ब्रह्मदेव का मन भूल जाय। अतः देवता लोग चकित होकर उस विचित्र वितान को देख रहे हैं। नाना प्रकार की अलौकिक रचनाएँ हैं। कहना कठिन है कि ये सब नकली हैं या असली। नगरवासी सभी स्वरूपवान्, मनोहर, धर्मशील, सुशील और सुजान हैं। यह भी अपूर्वता है।

तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी । भये नखत जनु विधि उँजियारी ॥
विधिहि भयउ आचरजु विसेखी । निज करनी कछु कतहुँ न देखी ॥४॥

अर्थ : उन्हें देखकर सब देव और देवियाँ चन्द्रमा के उँजेले में नक्षत्र की भाँति हो गई। ब्रह्मदेव को विशेष आश्चर्य हुआ। उन्हें अपनी करणी कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ी।

व्याख्या : देवता लोग ऊपर से देखते हैं तो जनकपुर उन तेजस्वियों के कारण चन्द्रविम्ब सा दिखाई पड़ा और ये लोग तारा की भाँति हतप्रभ मालूम होने लगे। चन्द्र के उँजेले के सामने तारागण दब जाते हैं। रूप में, सुखरता में, धर्म में, सुजनता में, किसी में उनके जोड़ के नहीं हैं।

विधि प्रपञ्च गुन अवगुन साना है। शुद्ध गुण या शुद्ध दोष विधि प्रपञ्च में है नहीं और यहाँ कोई दोष कहीं से लखाई नहीं पड़ता है। इसलिए ब्रह्मदेव को बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि मेरी करणी तो यहाँ कुछ दिखाई ही नहीं पड़ती है।

दो. सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु ।
हृदय विचारहु धीर धरि, सिय रघुवीर विआहु ॥३१४॥

अर्थ : शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि आश्चर्य में न भूल जाओ। हृदय में धीर धरके विचारो तो कि यह सीताजी और रघुवीर का विवाह है।

व्याख्या : ब्रह्मदेव ही गड़बड़ में पड़ गये। तब कौन समझावे। तब शिवजी ने समझाया कि आश्चर्य में ऐसे मग्न न हो कि मुख्य बात ही भूल जाय। धैर्य धारण करके विचार करो कि यह विवाह किसका है? परम पुरुष और आदिशक्ति का सम्मिलन है। वह सर्वाश्चर्यमय हैं तो यह अघटित घटना पटीयसी हैं। इनके विवाह में आश्चर्यमय बातों का न होना ही आश्चर्य है।

जिन्हकर नाम लेत जगमांहीं । सकल अमंगल मूल नसांहीं ॥
करतल होंहि पदारथ चारी । तेइ सिय रामु कहेउ कामारी ॥१॥

अर्थ : शिवजी ने कहा कि जिनका नाम लेते ही संसार में सब अमङ्गल का मूल नष्ट हो जाता है। चार पदार्थ हाथ में आजाते हैं। वही सीताराम हैं।

व्याख्या : नामी की महत्ता से ही नाम की महिमा है। अतः नाम की महत्ता कहकर नामी की महिमा सूचित करते हैं। अन्य स्थानों पर राम नाम की महिमा कहा है। यहाँ सीताराम नाम की महिमा कहते हैं कि सीताराम ऐसा उच्चारण करने से अमङ्गल मूल ही नष्ट हो जाता है। फिर अमङ्गल हो तो कैसे हो? सीताराम नाम केवल दोषापनयन ही नहीं करता गुणाधान भी करता है। इसके उच्चारण से धर्मार्थ काम मोक्ष हाथ तले आजाता है। इन्हीं नामों के नामी सीताराम हैं। उनके विवाह में दोष की उपस्थिति कैसे सम्भव है? तुम लोगों को यही सन्देह है कि दोषरहित पदार्थ ब्रह्मा की सृष्टि में कहाँ से आये? सो आये कहीं से नहीं। पदार्थ वे ही हैं। पर उनमें दोषापनयन और गुणाधान हो गया है।

एहि विधि संभु सुरन्ह समुझावा । पुनि आगे बरबसहु चलावा ॥
देवन्ह देखे दसरथु जाता । महामोद मन पुलकित गाता ॥२॥

अर्थ : इस भाँति शिवजी ने देवताओं को समझाया और फिर श्रेष्ठ बैल : नन्दी को आगे बढ़ाया। देवताओं ने दशरथ को जाते देखा। उनके मन में बड़ा आनन्द था और रोमाञ्च हो रहा था।

व्याख्या : शिवजी के समझाने की विधि कही। उनके समझाने से सबका सन्देह दूर हुआ। यथा : सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम तम रविकर वचन सम। देव समाज में प्रथम महादेव सबके आगे हैं। समझाने के समय बैल को रोक दिया था। सबकी शंका का समाधान करके उसे आगे बढ़ाया।

समाधान हो जाने पर फिर बारात की ओर ध्यान गया। सब मुदित हैं पर चक्रवर्तीजी को महामोद और शरीर में पुलक है। सात्त्विक भाव में डूबाडूब हैं। रोमाञ्च हो रहा है।

साधु समाज संग महिदेवा । जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा ॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी । जनु अपवरग सकल तनुधारी ॥३॥

अर्थ : साधु मण्डली और ब्राह्मण साथ में हैं। मानो शरीर धारण करके सुख सेवा कर रहे हैं। चारों सुन्दर लड़के साथ में हैं। मानों मोक्ष के चारों प्रकार शरीर धारण किये हुए हैं।

व्याख्या : मुनि साधु समाज के साथ महाराज चले हैं। अतः मुनि साधु समाज से घिरे हुए चले जा रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि मुनि साधु के व्याज से मानो सब सुख शरीरधारी होकर महाराज की सेवा कर रहे हैं। मुनि साधु का संग ही सत्संग है। कहेंगे : सात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग। अतः विप्र साधु समाज से घिरे हुए पुरुष के लिए यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि सम्पूर्ण सुख उसकी सेवा कर रहे हैं।

इतना ही नहीं चारों सुन्दर बेटे भी साथ में शोभायमान हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि मानो सालोक्य, सामीप्य, सारूप तथा सार्ष्टि ये चारों मोक्ष शरीरधारी होकर साथ हैं। जब चाहें जिससे काम लें।

मरकत कनक वरन वर जोरी । देखि सुरन्ह भै प्रीति न थोरी ॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरखे । नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरखे ॥४॥

अर्थ : नीलमणि और सोने की श्रेष्ठ जोड़ी देखकर देवताओं की थोड़ी प्रीति नहीं हुई। फिर रामजी को देखकर हृदय से हर्षित हुए। राजा की प्रशंसा करके फूलों की वर्षा की।

व्याख्या : रामजी और भरतजी नीलमणि के समान श्याम लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी स्वर्ण के समान गौर हैं। इन्हीं चारों भाइयों को 'मरकत कनक वरन

वर जोरी' कहते हैं। राम और भरतजी आगे हैं और लक्ष्मण शत्रुघ्न पीछे हैं। इन जोड़ियों को देखकर देवताओं को बड़ी प्रीति हुई।

फिर चित्त आकर रामजी पर ठहर गया। क्योंकि : चारिउ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा। यही बात सर्वत्र पाई जाती है। परशुराम जी ने भी : दीन्ह असीस देखि भल जोटा। पर पीछे से : रामहिं चितइ रहे भरि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन। इसी भाँति यहाँ भी देवता लोग रामजी को देखकर हर्षित हुए। राजा के पुण्य की प्रशंसा करके पुष्पवृष्टि करने लगे। बारात चलते समय वर्षा की थी। अब रामजी को देखकर पुनः पुष्पवृष्टि की।

दो. राम रूप नख सिख सुभग, बारहिं बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल, उमा समेत पुरारि ॥३१५॥

अर्थ : नख से शिख तक रामजी के सुन्दर रूप को बार बार देखकर उमा और पुरारि को पुलक हो उठा और आँखों में आँसू आगये।

व्याख्या : उमा के सहित शङ्करजी बार बार रामजी के सुन्दर रूप को देख रहे हैं। नख से शिख तक सुन्दरता की छटा है। ये रामजी के दर्शन से अघाते नहीं। इस समय तो व्याह विभूषण वसन बनाये दूल्हा के वेष में हैं। अतः इस समय की अनोखी शोभा है। जिसे देखकर उमा सहित शिवजी को पुलक हो उठा। और नेत्रों में आनन्दाश्रु आगये।

केकि कंठ दुति स्यामल अंगा। तड़ित विनिंदक वसन सुरंगा॥
व्याह विभूषन विविध बनाए। मंगल सब सब भाँति सुहाए ॥१॥

अर्थ : मोर के कण्ठ की भाँति श्याम अङ्ग है। बिजली की निन्दा करनेवाले रंगीन कपड़े हैं। नाना भाँति के व्याह के गहने सजे हुए हैं जो मङ्गलमय सब भाँति से सुन्दर हैं।

व्याख्या : निकट से देखने पर रामजी की श्यामता की उपमा ग्रन्थकार नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर आदि की श्यामता से देते हैं। परन्तु जब दूर से दर्शन मिलता है तो मोर के कण्ठ की श्यामता से देते हैं। बारात के मध्य में रामजी हैं। वड़ी भारी बारात है। कवि दूर से देखते हैं। इसलिए मोरकण्ठ की श्यामता से उपमा दे रहे हैं। रामजी लङ्का जीतकर विमान से अयोध्या जब जायेंगे तब भी यही उपमा देवेंगे। यथा : केकीकंठाभनीलं उरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं। रामजी विमान पर आकाश में हैं। ग्रन्थकार नीचे से देख रहे हैं। अतः रामजी की श्यामता उन्हें मोर के कण्ठ की श्यामता सी ही दिखाई पड़ रही है। रंग विरंगे कपड़े बिजली की भाँति चमक रहे हैं। पहिले कुण्डल और कण्ठा का वर्णन मिलता है। क्योंकि वीरों का अधिक शृङ्गार नहीं होता। व्याह की बात दूसरी है। उसमें गरीब मँगनी लेकर गहने पहनते हैं। ये तो चक्रवर्ती के राजकुमार हैं। अतः इन्हें व्याह में पहने जानेवाले सभी गहने पहनाये गये। सब मङ्गलमय हैं। सुन्दर होने से इन्हें सोहाये कहा।

सरद विमल विधु वदन सुहावन । नयन नवल राजीव लजावन ॥
सकल अलौकिक सुन्दरताई । कहि न जाइ मन ही मन भाई ॥२॥

अर्थ : शरत्काल के निर्मल चन्द्र के ऐसा सुन्दर मुख है। नेत्र नये कमल को लजानेवाले हैं। सब सुन्दरता लोकोत्तर है। वर्णन करते नहीं बनता। मन ही मन अच्छी लगती है।

व्याख्या : शरत् पूर्णिमा के निष्कलङ्क चन्द्र के समान सुन्दर मुख है। नेत्रों के देखने से नये खिले हुए कमल लज्जित हो जाँय। दूर से जितना देखा जाना सम्भव है उतना ही वर्णन करते नहीं बनता। क्योंकि लोकोत्तर सुन्दरता है। उसकी उपमा इस लोक में है ही नहीं। क्या कहकर वर्णन किया जाय? अतः यही कहते हैं कि छवि मन को अच्छी लगती है और वह मन में ही रह गई। प्रकाश नहीं कर सके। अन्य स्थानों पर कुछ वर्णन भी किया। पर दूल्हे के वेष में जो सुन्दरता है वह तो सर्वथा वर्णनातीत है। केकि कंठ द्युति। तड़ित विनिन्दक वसन। सरद विमल विधु वदन। राजीव लजावन नयन। ये सब अलौकिक हैं।

बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा ॥
राज कुँअर वर बाजि देखावहिं। वंस प्रसंसक विरद सुनावहिं ॥३॥

अर्थ : मन के हरण करनेवाले भाई साथ में शोभायमान हैं। चञ्चल घोड़ों को नचाते चले जाते हैं। राजकुमार श्रेष्ठ घोड़ों को दिखला रहे हैं। मागध लोग विरद बोल रहे हैं।

व्याख्या : आप तो मनोहर मूर्ति हैं ही और साथ में भाई हैं। वे भी मनोहर हैं। इस समय महाराज की सवारी हाथी पर है। हाथी के आगे चारों भाई घोड़ों पर हैं। घोड़ों को नचाते हुए चले जाते हैं। नहीं तो वे घोड़े बड़े चञ्चल हैं। हाथी का और उनका साथ निभ नहीं सकता। उनके लिए कह चुके हैं : अय इव जरत धरत पग धरनी। घोड़ों को नचाना ही उनका दिखलाना है। अद्भुत शोभा है। महाराज हाथीपर हैं। चवँर चल रहा है। सामने राजकुमार घोड़े नचाते चल रहे हैं। वंश प्रशंसक विरुद बोलते जा रहे हैं। यथा : मागधा वंशशंसिनः।

जेहि तुरंग पर रामु विराजे। गति विलोकि खगनायकु लाजे ॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। वाजि वेषु जनु काम बनावा ॥४॥

अर्थ : जिस घोड़े पर रामजी विराजमान थे उसकी गति देखकर गरुड़ को लज्जा होती थी। वह सब भाँति से सुन्दर था। उसकी सुन्दरता कहते नहीं बनती। मानो कामदेव ने ही घोड़े का वेष बना रक्खा है।

व्याख्या : यहाँ सभी घोड़ों की यह गतिविधि है कि हवा से बाजी लगाने वाले हैं। यथा : निदरि पवन जिमि चहत उड़ाने। परन्तु जिस घोड़े पर रामजी सवार हैं। उसकी गति देखकर पक्षिराज गरुड़जी संकुचित होते हैं। और वह ऐसा सुन्दर

है कि कहते नहीं बनता। मालूम होता है कि स्वयं कामदेव ने ही घोड़े का वेष बना रक्खा है। खगनायक की गति स्तोभ : सामध्वनि के अनुसार होती है। यथा : सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनः परमेष्ठिनः। उसी भाँति इस घोड़े की गति भी स्तोभानुसार ही है। अन्य घोड़ों की गति के विषय में कह चुके हैं : नागर नट चितवहिं चकित डगइ न ताल बँधान। परन्तु रामजी का घोड़ा लौकिक गीत के ताल का अनुसरण नहीं करता। वह वैदिक गान के स्तोभ का अनुसरण करनेवाला है। नहीं तो महाराज के हाथी के साथ जब चल रहा है तब खगनायक की उपमा देने का कोई कारण नहीं है। खगनायक कहकर बल और गति दोनों कहा। सब भाँति सुहावा कहकर वय और गुण कहा। काम के सदृश कहकर रूप कहा।

छं. जनु वाजि वेषु बनाइ मनसिजु रामहित अति सोहई।
आपने वयबल रूप गुन गति सकल भुवन विमोहई॥
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगामु ललित विलोकि सुर नर मुनि ठगे॥

अर्थ : मानो साक्षात् कामदेव रामजी के लिए घोड़े का वेष बनाकर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। अपने १. वय २. बल ३. रूप ४. गुण और ५. गति से सम्पूर्ण भुवन को मोहित कर रहा है। जड़ाऊ जीन जगमगा रही थी। जिसमें सुन्दर मोतियाँ मणि और माणिक्य टँके हुए थे। सुन्दर घुँघुरू और सुन्दर लगाम देखकर देवता मनुष्य और मुनि मोहित होते थे।

व्याख्या : घोड़े की सुन्दरता वर्णन करते हुए कहते हैं कि रामजी के लिए मानो कामदेव ने ही घोड़े का वेष धारण कर रक्खा है। कामदेव तो अपने पाँच बाणों : सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा। स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः से सम्पूर्ण भुवन को मोहित करता है और यह घोड़ा भी अपने पाँच गुणों : वय, बल, रूप, गुण और गति से सारे जगत् को मोहित कर रहा है। उसके ऊपर ऐसी सुन्दर जड़ाऊ जीन कसी हुई है जिसमें मणि माणिक्य मुक्ता लगे हुए हैं। घुँघुरू टँके हैं। लगाम ऐसी सुन्दर थी कि सुर नर मुनि आये थे तो वारात देखने इधर मन ही चोरी चला गया।

दो. प्रभु मनसहिं लयलीन मनु, चलत वाजि छवि पाव।
भूषित उड़गन तड़ित धनु, जनु बर बराहि नचाव॥३१६॥

अर्थ : प्रभु के मन से मन मिलाये हुए वह घोड़ा चलते हुए शोभा पाता था। यथा तारागण तथा विजली से भूषित मेघ सुन्दर मोर को नचा रहा हो।

व्याख्या : यह घोड़े का अनूठापन है कि वह प्रभु के मनमें अपना मन मिलाकर चल रहा है। इसीलिए उसके चलने की छवि अनोखी है। प्रभु के मनमें मन मिलाने का ऐसा महत्त्व है कि एक पशु की इतनी वड़ी शोभा हो रही है। मेघ तो सदा मोर को नचाया करते हैं। पर जब मेघ आते हैं तो तारागण लापता हो

जाते हैं। बिजली भी निमेष मात्र से अधिक नहीं ठहरती। परन्तु रामघनश्याम तो आभूषणरूपी ताराओं से और वस्त्ररूपी बिजली से भूषित होकर आज मोररूपी घोड़े को नचा रहे हैं। अतः अभूत शोभा हो रही है।

जेहि वर वाजि रामु असवारा। तेहि सारदउ न बरनै पारा ॥
संकरु राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे ॥१॥

अर्थ : जिस श्रेष्ठ घोड़े पर रामजी सवार हुए उसका वर्णन तो सरस्वतीजी भी नहीं कर सकतीं। शङ्कर भगवान् रामरूप के प्रेम में आगये उन्हें पन्द्रहों आँखें बड़ी प्यारी लगीं।

व्याख्या : देवता के वाहन भी उनके रूप से पृथक् नहीं होते। इसलिए कहते हैं कि उसे शारदा भी नहीं वर्णन कर सकती। जितने वर्णन करनेवाले हैं उनके हृदय में अवस्थान करके वस्तुतः शारदा ही वर्णन करतीं हैं। यथा : कवि उर अजिर नचावहिं वानी। जब वही नहीं वर्णन कर सकतीं तब दूसरा कौन वर्णन कर सकता है। रामजी के सवार होने से घोड़े में इतना उत्कर्ष हो गया।

पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि : से प्रसङ्ग छोड़ा था। सो फिर वहीं से उठाते हैं। शङ्कर भगवान् रामरूप के बड़े अनुरागी हैं। कभी दर्शन से अघाते नहीं। आज वरवेष में रामजी को देखकर उन्हें अपनी पन्द्रह आँखें बड़ी प्रिय लगीं। पाँचों सिरों की तीसरी आँखें खुली हुई हैं। जिनमें से एक के खुलने से प्रलय उपस्थित हो जाता है। यथा : तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा। परन्तु आज उन आँखों के खुलने से संसार में कोई विकार नहीं हो रहा है क्योंकि वे रामजी में लगीं हुई हैं। दूसरी बात यह है कि राममुखचन्द्र की अमृतस्रावी चन्द्रिका से संसार प्लावित हो रहा है। अतः पाँच पाँच संहारकारिणी दृष्टियों के पड़ने पर भी उसका कोई अनिष्ट नहीं हो रहा है। आँखें तो सबको प्रिय होती हैं परन्तु आज उनके कारण पन्द्रह द्वार से रामजी का दर्शन हो रहा है। अतः अति प्रिय लग रही हैं।

हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ॥
निरखि राम छवि विधि हरखाने। आठै नयन जानि पछिताने ॥२॥

अर्थ : विष्णु ने जब प्रेमसहित रामजी को देखा तो रमापति रमा के सहित मोहित हो गये। रामजी की छवि देखकर ब्रह्मदेव प्रसन्न हो उठे। पर सिर में आठ ही आँख होने से पछताने लगे।

व्याख्या : हित के सहित देखना विष्णु का ही कहा और उन्हीं का मोहित होना भी कहते हैं। अपनी आत्मा सबको प्रिय है और सबको उसमें मोह होता है। नवा अरे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। पति के लिए पति प्रिय नहीं होता। आत्मा के लिए पति प्रिय होता है। रामजी को बार बार हरि कहकर विष्णु से अभेद सम्पूर्ण ग्रन्थ में निरूपण किया है। अतः अपना रूप देखकर आप ही मोहित हो रहे हैं। अतः दो ही आँख के लिए पछताना नहीं कहेंगे।

छवि देखकर हर्षित होने की विधि है। इसलिए विरञ्चि न कहकर विधि कहा। सो विधि रामजी की छवि देखकर हर्षित तो हुए पर आँखों की संख्या कम होने से पछताये। यदि मुझे भी शिवजी की भाँति तीन तीन आँखें होतीं तो भी बारह आँखों से देखता। अथवा यदि आज मेरा पाँचवाँ सिर होता तो भी दस आँखों से देखता। अतः उन्हें पछताने का यथेष्ट कारण था।

सुर सेनप उर बहुत उछाहू। विधि ते डेवढ़ लोचन लाहू॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥३॥

अर्थ : देवताओं के सेनापति के हृदय में बड़ा उछाह था। क्योंकि उन्हें ब्रह्मदेव के नेत्रों से डेवढ़े नेत्रों का लाभ था। सुजान देवराज रामजी को देखते थे। उन्होंने गौतम ऋषि के शाप को परम हित माना।

व्याख्या : भगवान् स्वामी कार्त्तिकेयजी को अधिक उछाह था। क्योंकि इस समय उन्होंने ब्रह्मदेव से भी बाजी मार ली। उनका नम्बर ब्रह्मदेव के बाद है। आगे शिवजी की सवारी है। उसके बाद विष्णु की। उसके बाद ब्रह्मदेव की और उनके भी बाद षडानन : भगवान् कार्तिकेय की। परन्तु दर्शन लाभ में वे ब्रह्मा से डेवढ़े : निकले। ब्रह्मदेव को चार मुख हैं अतः आठ आँखें हुईं। षडाननजी को छः मुख होने से बारह आँखें हुईं। आठ का डेवढ़ा बारह होता है। अतः प्रधानतम लाभ में अर्थात् रामजी के दर्शन में सुरसेनप ब्रह्मदेव से डेवढ़े बढ़ गये।

स्वामी कार्तिकेय के बाद देवराज थे। इन्हें सहस्र नेत्र थे। अतः सहस्र नेत्र से रामजी की शोभा देख रहे थे। जिसे सहस्र नेत्र हों वह रामजी के दर्शन के साथ ही साथ बहुत सी बातें देख सकता है परन्तु भगवान् इन्द्र केवल रामजी को अशेष नेत्रों से देख रहे थे। अतः ग्रन्थकार इन्हें सुजान कहते हैं। क्योंकि नेत्रों का साफल्य भगवद्दर्शन से है। यथा : होइहैं सुफल आजु मम लोचन। निरखि वदन पंकज भवमोचन। दूसरा भाव यह कि उन्होंने गौतम महर्षि के शाप को अपने लिए परम हित माना। इस गुणग्राहकता के लिए सुजान कहा।

देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥
मुदित देवगन रामहि देखी। नृपसमाज दुहु हरषु विसेखी॥४॥

अर्थ : सब देवता देवराज से ईर्ष्या कर रहे हैं कि आज इन्द्र के समान कोई नहीं है। देवगण रामजी को देखकर आनन्दित हैं। दोनों राजसमाज में विशेष हर्ष है।

व्याख्या : इन्द्र देवराज हैं। सभी देवताओं से ऐश्वर्य में अधिक हैं। फिर भी देवता उनसे ईर्ष्या नहीं करते। उन्हें राजा मानते हैं। आज रामजी के दर्शन में ईर्ष्या करने लगे कि इस सुख में तो ये सबसे पाँच सौ गुना अधिक बढ़ गये। अतः कहते हैं कि आज इन्द्र के समान हमलोगों में कोई नहीं है। आज तो ये त्रिदेव से भी बढ़ गये।

पुनि रामहिं विलोकि हिय हरखे : से उपक्रम करके मुदित देवगन रामहिं देखी से इस प्रसङ्ग का उपसंहार करते हैं। रामजी को व्याहने चल रहे हैं। इस कारण से अवध समाज में विशेष हर्ष है। इसी भाँति जामाता रूप से रामजी की प्राप्ति से मिथिला समाज में भी बड़ा हर्ष है।

छं. अति हरषु राजसमाजु दुँहु दिसि, दुंदुभीं बार्जाहं घनी।
वरषहिं सुमन सुर हरषि कहि, जय जयति जय रघुकुलमनी ॥
एहि भाँति जानि बरात आवत, बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन, हेतु मंगल साजहीं ॥

अर्थ : रामसमाज में अत्यन्त हर्ष है। दोनों ओर से दुन्दुभियाँ बड़े जोरों से बज रही हैं और देवता लोग हर्षित होकर रघुकुलमणि की जय हो, जय हो, जय हो कहकर फूल बरसा रहे हैं। इस भाँति बारात को आते हुए जानकर : कन्या पक्ष से बहुत से बाजे बजने लगे और रानियाँ सुहागिनी स्त्रियों को बुलाकर परिछन के लिए मङ्गल साज रही हैं।

व्याख्या : उत्साह के तारतम्यानुसार बाजाओं की तुमुलध्वनि में भी तारतम्य होता है। बड़ा उत्साह है। इसलिए दुन्दुभी बड़ी जोर से बजाई जा रही हैं। कन्या पक्ष के लोग जो बारात लेने गये थे वे भी बाजे गाजे के साथ बारात के सङ्ग चल रहे हैं। यथा : संख निसान पनव बहु बाजे। उन लोगों ने भी जोरों से दुन्दुभी बजाई। इस उत्साह को देखकर देवता लोग भी खिल उठे। लगे जय जयकार करके फूल बरसाने। रघुकुलमणि कहने से महाराज दशरथ तथा रामजी दोनों व्यक्तियों का बोध होता है। यथा : रघुकुलमणि दसरथ के जाये। तथा : विद्यमान रघुकुलमनि जानी। अतः नाम निर्देश न करके देवता लोग रघुकुलमणि की जय कह रहे हैं। जब बाजे के शब्द को सन्निकट आते सुना तो महाराज जनक के यहाँ भी अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे। मङ्गल कार्य में सम्मिलित होने के लिए सोहागिनी स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं। बाजे के शब्द से रानियों ने जाना कि बारात आया चाहती है। अतः सोहागिनियों को बुलाकर रानियाँ मङ्गल साज परिछन के लिए सजाने लगीं।

दो. सजि आरती अनेक विधि, मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछनि करन, गज गामिनि वर नारि ॥३१७॥

अर्थ : अनेक प्रकार की आरती साजकर और सब मङ्गल सँवारकर प्रसन्न होती हुई गजगामिनि श्रेष्ठ स्त्रियाँ चलीं।

व्याख्या : वर के आते ही परिछन की चाल मिथिला में है। सब स्त्रियाँ आरती सजा रक्खी हैं। किसी ने चौमुख दीप सजा रक्खा है। किसी ने हजार बत्ती की आरती साज रक्खी है। कोई आरती साजे हुए है। इसलिए विविध विधि कहा।

मङ्गल सकल से धान पान दधि आदि अभिप्रेत हैं। परिछन करने की बड़ी लालसा है। अतः प्रसन्न होकर चलीं। चाल की सुन्दरता द्योतित करने के लिए 'गजगामिनी' विशेषण दे रहे हैं।

विधुवदनीं सब सब मृगलोचनि। सब निज तन छवि रति मद मोचनि ॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥१॥

अर्थ : सभी चन्द्रवदनी थीं। सभी मृगनयनी थीं। सभी अपने शरीर की छवि से रति का मानमर्दन करनेवाली थीं। सबों ने रङ्ग बिरङ्गी साड़ियाँ पहन रक्खी थीं। और शरीर पर सब प्रकार के भूषणों को साज रक्खा था।

व्याख्या : अब परिछन के कार्य में सम्मिलित होनेवाली स्त्रियों की शोभा कहते हैं। जूथजूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिल बयनी। यह वर्णन तो सामान्य स्त्रियों का था। यहाँ तो परिछन के लिए प्रधान प्रधान चलीं। अतः विधुवदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज तन छवि रति मदमोचनि। कहकर नखशिख वर्णन करते हैं। रति अति दुखित अतन पति जानी। ये तो अति हर्षित हैं। अतः रति मदमोचनी हैं। स्त्रियों की शोभा रङ्ग बिरङ्गी साड़ियों में ही है। पलटन की वर्दी की भाँति एक रङ्ग की पोशाक में शोभा नहीं है। बत्तीसों आभरणों से सुशोभित हैं। घर से ही यह अभिलाषा मन में रखकर चली हैं कि रामजी का परिछन करना है।

सकल सुमंगल अंग बनाए। करहिं गान कलकंठ लजाए ॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं ॥२॥

अर्थ : सभी सुमङ्गल अङ्गों में बनाये हुए हैं। ऐसा गान कर रही हैं कि कोकिल लज्जित हो जायँ, कंकण, किंकिणि और नूपुर बज रहे हैं। उनकी गति देखकर हस्ती रूपधारी काम लज्जित हो जाय।

व्याख्या : पहिले आभरण कहा था। अब शृङ्गार कह रहे हैं। सिर में सिन्दूर, पैर में जावक (महावर) हाथों में मेहँदी आदि सोलहों शृङ्गार किये हुए हैं। इस भाँति शरीर की शोभा, गहने की शोभा तथा शृङ्गार की शोभा कहकर अब सुस्वरता का वर्णन करते हैं। सामान्य स्त्रियों के लिए कल कोकिल बयनो कहा था। पर ये तो ऐसी प्रवीण थीं कि इनके गान के सामने कोयल को लजाना पड़ा। ये सब गज गामिनी हैं। अतः भूषणों की झनकार कहते हैं। फुलवारी में ऐसी झनकार हुई थी। यथा : कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। यहाँ कंकण, करधनी और नूपुर का बजना कहते हैं। भाव यह कि दूर से ध्वनि सुनी जाती है। निकट से बजना कहते हैं। सामान्य स्त्रियों को गजगामिनी बर नारि कहा था। इन्हें कामगज लाजहिं कह रहे हैं।

बाजहिं बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगल चारा ॥
सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥३॥

अर्थ : अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। आकाश और नगर में मङ्गलाचार हो रहा था। इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी और भवानी जो देवाङ्गनाएँ शुचि और स्वभावतः सयानी थीं।

व्याख्या : विवाह की शोभा विविध प्रकार के बाजे से बढ़ती है। नहीं तो शंखध्वनि और शहनाई का कौन साथ है? इस उत्सव पर सब वाद्यों को मिलकर एक तुमुल ध्वनि होनी चाहिए। ऐसा मङ्गलाचार में ही नहीं ऊपर आकाश में देवों द्वारा भी हो रहा था।

सुरेश्वरी इन्द्राणी आदि देवियों, त्रिदेवों को शक्तियाँ, शुचि कहकर अप्सराओं का व्यावर्तन कहा। ये सहज सयानी हैं। परिछन करने का अवसर इन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया। बारात के समय पतियों के साथ थीं। बारात पहुँचते ही उनका साथ छोड़ा। अधिक आनन्द के लिए राजमहल में प्रवेश कर गईं।

कपट नारिबर बेष बनाई। मिलीं सकल रनवासहिं जाई॥
करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी॥४॥

अर्थ : कपट से स्त्री का वेष बनाकर सब रनिवास में जाकर मिल गईं। सुन्दर मङ्गल वाणी से गान कर रही हैं। सब हर्ष के वश थीं। अतः किसी ने उन्हें जाना नहीं।

व्याख्या : माया से देवियाँ नारी रूप हो गईं। सहज सयानी हैं अतः रनिवास में जाकर मिल गईं। मालूम होता था कि ये भी रानियाँ हैं। रामजी के परिछन का सौभाग्य लूटने के लिए चली आईं। उधर रानियाँ हर्ष में विभोर थीं। कोई यह पूछनेवाला नहीं कि ये रानियाँ कहाँ से नेवते में आई हैं। उनकी वाणी मङ्गलमय है, उससे गान कर रही हैं। रामजी का व्याह है इसमें इन्द्राणी, ब्रह्माणी, रुद्राणी आदि का गान होना ही चाहिए। अतः रानियों से मिलकर गान में सम्मिलित हो गईं।

छं. को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्म बरु परिछन चलीं।
कलगान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भलीं॥
आनंद कंद बिलोकि दूलहु सकल हियँ हरषित भईं।
अंभोज अंबक अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छईं॥

अर्थ : कौन किसे जानता है। सब आनन्द में विभोर होकर ब्रह्मवर को परिछन करने चलीं। सुन्दर गान हो रहा है। मधुर निशान बज रहा है। देवता फूल बरसा रहे हैं। बड़ी अच्छी शोभा थी। आनन्दकन्द दूलह को देखकर सब हृदय से आनन्दित हो उठीं। कमल से नेत्रों में आँसू उमड़ आये और सुन्दर अंगों में रोमाञ्च हो गया।

व्याख्या : ब्रह्मवर के परिछन में ब्रह्मानन्द है। अतः अन्य विषयों का ज्ञान किसी को नहीं। सबका चित्त आनन्द से निमग्न है। अतः किसी ने नहीं जाना। बारात द्वार पर लग गई। मधुर गान सुनकर डंका का शब्द धीमा हो गया। अब वह भी मधुर बजने लगा। गान में विक्षेप न होकर सहायक हो इसलिए डंका बजानेवालों

ने पण्डिताई दिखाई। उधर देवताओं ने फूल बरसाये। कवि कहते हैं कि भली शोभा हुई। आनन्दित वारिवाह दूलह को देखकर सब हर्षित हो गईं। उमगा आनन्दाश्रु और छागई पुलकावली।

दो. जो सुख भा सिय मातु मन, देखि राम वर भेषु।
सो न सकहिं कहि कलप सत, सहस सारदा सेषु ॥३१८॥

अर्थ : रामजी को दूल्हा के वेष में देखकर सीताजी की माता के मन में जो सुख हुआ उसे सहस्र सरस्वती और शेष नहीं कह सकते।

व्याख्या : पहिले कहा था : सहित विदेह विलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी। वहाँ तो शिशु सम प्रीति की उपमा मिली। यहाँ नहीं मिलती। इसलिए कहते हैं कि रामजी को दूलह वेष में देखने का सुख जो सास को हुआ उसे शारदा शेष नहीं कह सकते। क्योंकि उन्हें इस सुख का अनुभव नहीं। मृत्युलोक का उदाहरण नहीं दिया। यहाँ तो सुनयना जी अनुभव कर ही रही हैं। भाव यह कि मर्त्यलोक में भी सुकृती को ब्रह्मलोक दुर्लभ सुख का अनुभव होता है।

नयन नीर हठि मंगल जानी। परिछन करहिं मुदित मन रानी॥
वेद विहित अरु कुल व्यवहारू। कीन्ह भली विधि सब व्यवहारू॥१॥

अर्थ : मङ्गल का अवसर जानकर रानियाँ आँसू रोककर प्रसन्न मन से परिछन कर रही हैं। वेदोक्त व्यवहार तथा कुल व्यवहार एवं सभी व्यवहार को भली प्रकार से किया।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं कि कमल ऐसी आँखों में आँसू उमग आये। यथा : अंभोज अंबक अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छई। आँसू गिरा चाहते हैं। मङ्गल का अवसर जानकर उन्हें रोका। मङ्गल के समय आँसू गिराना अशुभ है। यद्यपि परिछन के लिए बहुत सी स्त्रियाँ चलीं। पर वे परिछन के गान में ही सम्मिलित रहीं। नियमानुसार परिछन सीताजी की माता कर रही हैं। इसलिए कहते हैं : परछन करहिं मुदित मनरानी। वेद विहित व्यवहार देवपूजन, वरपूजन आदि कुल व्यवहार आदि तथा सब व्यवहार अर्थात् देश व्यवहार जो और कहीं नहीं केवल मिथिला में ही प्रचलित हैं। ऐसे अवसर पर कन्या की माता का अञ्चल से पान द्वारा वर की नासिका को पकड़े हुए [illegible] ले जाना आदि सभी व्यवहारों को भली भाँति किया।

पंच सवद धुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं विधि नाना॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा। राम गवनु मंडप तब कीन्हा॥२॥

अर्थ : पाँच प्रकार के बाजों के शब्दों की ध्वनि और मङ्गल गान हो रहे हैं। नाना प्रकार के कपड़ों के पाँवड़े पड़ रहे हैं। उन्होंने आरती करके अर्घ्य दिया। तब रामजी मण्डप में गये।

व्याख्या : तन्त्री तार सुझांझ पुनि जानु नगारा चार। पंचम फूँके ते बजै सब्द सुपाँच प्रकार। सो पाँचों प्रकार के बाजे बजे। इसलिए ध्वनि कहा। बाजे के

शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं। ये मङ्गलगान के साथ साथ बज रहे हैं। क्योंकि सीताजी की माता रामजी को लिवाये हुए मण्डप की ओर जा रही हैं। मण्डप के पास पहुँचने पर आरती हुई। अर्घ्य दिया गया। तब रामजी ने मण्डप में प्रवेश किया। महाराज चक्रवर्तीजी बाहर ही रुके हैं।

दसरथ सहित समाज विराजे। विभव विलोकि लोकपति लाजे ॥
समय समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हि महिसुर अनुकूला ॥३॥

अर्थ : महाराज दशरथ समाज के सहित विराजमान हुए। विभव देखकर लोकपाल लज्जित हो गये। समय समय पर देवता फूल बरसाते हैं और ब्राह्मण अनुकूल होकर शान्तिपाठ कर रहे हैं।

व्याख्या : श्रीरामजी मण्डप में चले गये। पर महाराज दशरथ बाहर ठहर गये। वहीं दरबार लग गया। पहिले कह आये हैं : कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लोग तिनहि सुर राजू। उसी समाज के साथ आज महाराज जनक के द्वारपर दरबार लगा है। उस विभव को देखकर लोकपाल सङ्कुचित हो गये। क्योंकि यह वैभव उन्हें प्राप्त नहीं है। महाराज का ठहरना कहकर फिर कवि जल्दी से मण्डप में पहुँच गये और वहाँ की गतिविधि का वर्णन करने लगे। रामजी के मण्डप तक पहुँचने में ऐसे अनेक अवसर आये जब कि देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर शान्तिपाठ किया।

नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपन पर कछु सुनै न कोई ॥
एहि विधि राम मंडपहि आये। अरघु देइ आसन बैठाये ॥४॥

अर्थ : आकाश में और नगर में कोलाहल हो रहा है। अपना पराया कोई सुन नहीं पाता है। इस विधि से रामजी मण्डप में आये। अर्घ्य देकर आसन पर बिठाया।

व्याख्या : जहाँ जनसमुदाय उत्साह से भरा एकत्रित होता है वहाँ कोलाहल होता ही है। आकाश में तैंतीस कोटि देवता जय जयकार कर रहे हैं। नीचे घराती और बाराती दोनों समाज आनन्द से उमगे हुए एकत्रित हैं। अतः पृथ्वी से आकाश तक तुमुलध्वनि भर गई। अपना कहा हुआ अपने को ही नहीं सुनाई देता दूसरे की कौन सुनता है। इस विधि से अर्थात् बाहर तो महाकोलाहल हो रहा है और भीतर शब्द धुनि मंगल गान और शान्ति पाठ हो रहा है। रामजी के मण्डल में आने पर फिर अर्घ्य दिया गया और तब आसन पर बिठलाया।

छं. बैठारि आसन आरती करि, निरखि वरु सुख पावहीं।
मनि वसन भूषन भूरि वारहिं, नारि मंगल गावहीं ॥
ब्रह्मादि सुरवर विप्र भेष, बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल कमल रवि छवि, सुफल जीवन लेखहीं ॥

अर्थं : आसन पर बिठाकर आरती करके दूल्हे को देखकर सुख पा रही हैं। मणि, वसन, भूषण का खूब निछावर हो रहा है। स्त्रियाँ मङ्गल गा रही हैं। ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देव ब्राह्मणों का वेष धारण किये हुए कौतुक देख रहे हैं। रघुकुलकमल के सूर्यं की छवि को देखकर जीवन को सुफल कर रहे।

व्याख्या : पहिले अर्घ्यं पीछे आसन तत्पश्चात् आरती हो रही है। अवकाश पाकर वर का आनन्द से दर्शन कर रही हैं। अब न्योछावर होने लगी। मणि, वसन, भूषण, निछावर करके दिया जाने लगा। मङ्गल गान होता चला जाता है। स्त्रियाँ रामजी को दूल्हे के वेष में देखकर सुख पा रही हैं। अभी तक वहाँ ब्राह्मणेतर का प्रवेश नहीं है। बाराती भी महाराज के साथ ही आवेंगे। देवता ब्राह्मण का वेष धारण करके ही पृथ्वी पर विचरते हैं। सो ब्रह्मादिक देवताओं ने कौतुक देखने के लिए ब्राह्मण का रूप धारण किया। शची, उमा, रमा और ब्रह्माणी तो चतुराई करके रानियों सा वेष बनाये हुए रानियों में मिलकर आनन्द ले रही हैं। अतः कौतुक देखने के लिए पीछे पीछे से देवों ने ब्राह्मणों का वेष धारण किया। अपने वेष में आते तो यह आनन्द न मिलता। स्वाभाविकता न रह जाती। देवताओं के जन्म का साफल्य भी श्रीरामजी के दर्शन में है। किंपुनः दूल्हे के वेष में दर्शन तो अतीव दुर्लभ है।

दो. नाऊ बारी भाट नट, राम निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर, हरषु न हृदय समाइ ॥३१९॥

अर्थं : नाऊ बारी भाट और नट रामजी का निछावर पाकर मुदित होकर सिर नवाकर आशीर्वाद देते हैं। उनके हृदय में हर्ष नहीं समाता।

व्याख्या : इस निछावर के अधिकारी नाऊ बारी भाट और नट हैं। अतः निछावर पाकर प्रणाम भी करते हैं और आशीर्वाद भी देते हैं। केवल आशीर्वाद के ये अधिकारी नहीं हैं। अब भी यही प्रथा है। यहाँ तक कृत्य स्त्रियों द्वारा सम्पन्न हुआ। मिथिला में विधिकरी ही बहुत कुछ विवाहविधि करा लेती हैं।

मिले जनकु दसरथु अति प्रीती। करि वैदिक लौकिक सब रीती॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कवि लाजे ॥१॥

अर्थ : वैदिक और लौकिक सब रीतियों का सम्पादन करके महाराज जनक और दशरथ अत्यन्त प्रीति से मिले। उपमा खोज खोजकर कवियों को लज्जित होना पड़ा।

व्याख्या : मधुमाधव दशरथ जनक मिलब राज रितुराज। अति प्रीति में भेद नहीं रह जाता। चैत्र और वैशाख मिलकर एक हुए तो वसन्तऋतु हुआ। यथा : बरनव राम विवाह समाजू। सो मुद मंगलमय रितु राजू। मेल की दृढ़ता के लिए लौकिक और वैदिक रीति का सम्पादन किया। इसके पहिले मिलने की रीति नहीं हैं। इसी से महाराज जनक अगवानी आदि में सम्मिलित नहीं हुए थे।

वर्णन करने में कवि उपमा देते हैं। यहाँ मिलने के समय दोनों महाराजाओं की उपमा देने के लिए कवि प्रयत्न करने लगे तो उन्हें कहीं उपमा ही न मिली। अतः सङ्कुचित हो गये। मधुमाधव की उपमा तो मिलने मात्र के लिए दी गई। दोनों महाराजाओं की उपमा नहीं है। कवि लोग उपमा देने के लिए पूर्व के हुए विवाहों पर निगाह दौड़ाये तो सबसे अच्छा विवाह महादेवजी का हुआ था। यथा : सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु। जिन नयनन्हि देखा चहैं नाथ तुम्हार विवाहु। सो उसमें : पहिलेहि पँवरि सुसामध भा सुखदायक। इत विधि उत हिमवान सरिस सब लायक। पर हिमवान तो विधि के सृष्ट पदार्थ हैं। अतः ब्रह्मदेव के जोड़ के नहीं थे। दूसरा कोई विवाह ऐसा नहीं हुआ था। इसलिए उपमा नहीं मिली।

लही न कतहुँ हारि हियँ मानी। इन सम एइ उपमा उर आनी ॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जसु गावन लागे ॥२॥

अर्थ : जब कहीं उपमा न मिली तो हृदय से हार गये। तब इनके समान ये ही हैं। यह उपमा निश्चय की। समधियों का मिलना देखकर देवता प्रेम के वश हुए। वे फूलों की वर्षा करके यशगान करने लगे।

व्याख्या : कहीं ऐसे समान समधी ही नहीं मिले तो कवि लोग हृदय से तो तो हार गये। पर कवि ही ठहरे। बात बना ली। उनकी उनसे ही उपमा दे डाली और उसका नाम अनन्वयालङ्कार रख दिया। समधियों के मिलने की जो रसम है उसे सामध कहते हैं। कवि तो उपमा के फेर में पड़ गये। पर देववृन्द प्रेम में आगये। पुष्पों की वर्षा की : जो समधियों तक पहुँची और यशोगान करने लगे जो सब ने सुना।

जगु बिरंचि उपजावा जब तें। देखे सुने ब्याह बहु तब तें ॥
सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥३॥

अर्थ : जब से ब्रह्मदेव ने संसार रचा तब से बहुत से व्याह देखे और सुने। पर सब भाँति सब समाज और समान समधी तो आज ही देख पड़े।

व्याख्या : ब्रह्मदेव कल्प के आरम्भ में सृष्टि रचते हैं और कल्पान्त में उसका संहार हो जाता है। एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। सो इन्द्रादि देवताओं की आयु कल्पस्थायिनी नहीं होती। इस भाँति एक कल्प में चौदह इन्द्र क्रम से होते हैं। रामावतार वैवस्वत मन्वन्तर में होता है। यह विवाह भी इसी मन्वन्तर में सम्पन्न हुआ। सो इस मन्वन्तर के देवता कहते हैं कि इस मन्वन्तर के सब विवाह हमने देखे हैं। क्योंकि सभी विवाहों में इनका आवाहन होता है और पहले के छः मन्वन्तरों के प्रधान विवाहों की कथा सुन रक्खी है। पर सब समाज और समधी समान तो आज ही देखे। महादेवजी का विवाह सर्वोत्तम हुआ पर सब समाज समान नहीं था। यथा : सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह अनुरूपा। देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिन जग नाहीं। तथा : जो जियत

रहिहि बरात देखत पुण्य बड़ तेहिकर सही। देखिहि जो उमा विवाह घर घर बात अस लरिकन कही। पर इस विवाह की बात ही और है। सब समाज समान है। यथा : इधर : देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहिं लघु लागे। उधर : दसरथ सहित समाज विराजे। विभव बिलोकि लोकपति लाजे। वर दुलहिन भी समान : मथि माखन सिय राम संवारेउ सकल भुवन छवि छांछ महीरी। समधी भी समान : सखि सब करव पुरारि पुन्य पयोनिधि भूप दोउ।

देव गिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ॥
देत पाँवड़े अरघु सुहाये। सादर जनकु मंडपहिं ल्याये ॥४॥

अर्थ : देवताओं की सुन्दर और सच्ची बात सुनकर दोनों ओर अलौकिक आनन्द मच गया। सुन्दर पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए आदर के सहित जनकजी मण्डप में ले आये।

व्याख्या : सदा साँची गिरा सुन्दर नहीं होती और सुन्दर गिरा साँची नहीं होती। पर यह वाणी सुन्दर और साँची दोनों थी। यहाँ साँची से अभिप्राय प्रामाणिक गिरा से है। जब देवताओं ने कह दिया तो साँची होने में सन्देह क्या? एक पक्ष दूसरे पक्ष की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न है। अब जनकजी चक्रवर्तीजी को मण्डप में लिवा ले चले। सो पाँवड़े पड़ने लगे। एक एक पाँवड़े के बाद अर्घ्य दिया जाता है। इस आदर के साथ मण्डप में ले गये।

छं. मंडपु बिलोकि विचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहुँ आनि सिंघासन धरे ॥
कुल इष्ट सरिस वसिष्ठ पूजे विनय करि आसिष लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही ॥

अर्थ : मण्डप की विचित्र रचना देखा कि इसकी सुन्दरता मुनियों के मनको हरण करनेवाली है। अपने हाथों सुजान जनकजी ने सब के लिए ला लाकर सिंहासन रक्खा। कुल इष्टदेव की भाँति वसिष्ठजी की पूजा की और विनय करके आशीर्वाद लिया। विश्वामित्रजी के पूजने में प्रीति की रीत्ति कुछ कही नहीं जाती।

व्याख्या : मण्डप की विचित्र रचना देखी कि इसकी सुन्दरता तो मुनियों के मन को हरण करनेवाली है। यथा : रचना देखि विचित्र अति मन विरंचिकर भूल। इससे महाराज जनक का ऐश्वर्य कहा और सिंहासनयोग्य अति पूज्यों के लिए अपने हाथ से लाकर सिंहासन रख रहे हैं। इससे जनकजी का सत्कार कहा। जैसे कुल के इष्टदेव की। पूजा बड़ी श्रद्धा और सावधानी से की जाती है। वैसे ही वसिष्ठजी की पूजा की। क्योंकि महाराज दशरथ के कुलगुरु हैं। यथा : तुम सुरतरु रघुवंस के देत अभिमत माँगे। पूजन के बाद ऐसी स्तुति की कि गुरुजी ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। इससे राजा जनक का विनय कहा। तत्पश्चात् विश्वामित्र

जी की पूजा की जिनकी कृपा से यह दिन देखने में आया। बड़ा भारी उपकार विश्वामित्रजी का था। अतः परम प्रीति से पूजा की। प्रीति की रीति अलौकिक होती है। अतः कही नहीं जा सकती। भाव यह कि न तो इधर स्तुति के लिए शब्द मिलते हैं और न उधर आशीर्वाद के लिए कण्ठ खुलता है। इससे जनकजी की प्रीति कही। राजगुरु होने से वसिष्ठ तथा विश्वामित्रजी को भी सिंहासन दिया गया।

दो. वामदेव आदिक रिषय, पूजे मुदित महीस।
दिए दिव्य आसन सबहिं, सब सन लही असीस ॥३२०॥

अर्थ : वामदेवादि ऋषियों को आनन्दित होकर राजा ने पूजा। सबको दिव्य आसन दिया और सबसे आशीर्वाद पाया।

व्याख्या आसन का विधान कहते हैं। राजा तथा राजगुरुओं को सिंहासन, ऋषियों को दिव्यासन, बारातियों को उचित आसन, देवताओं को सुआसन दिया। ऋषियों की पूजा राजा ने प्रसन्न होकर की। ऋषियों के आगमन से राजा को हर्ष है। अतः वामदेवादि ऋषियों को दिव्यासन पर बिठाकर पूजा की। सबने आशीर्वाद दिया।

बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाउ न दूजा॥
कींन्ह जोरि कर विनय बड़ाई। कहि निज भाग्य विभव बहुताई ॥१॥

अर्थ : फिर कोसलपति की पूजा उन्हें शिवजी के समान जानकर की। कोई दूसरा भाव : उनके मनमें नहीं था। हाथ जोड़कर विनती और स्तुति की। अपने भाग्य के विभव की बहुतायत कही।

व्याख्या : कुल के इष्टदेव की भाँति वसिष्ठजी की पूजा की और अभीष्टदाता शङ्कर की भाँति दशरथजी की पूजा की। दूसरा भाव अर्थात् समधी का भाव मनमें आने नहीं दिया। राजा जनक ने महाराज दशरथ को साक्षात् शङ्कर रूप माना। क्योंकि शङ्करजी के लिए कहा गया है कि : इप्सित फल विनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोगजप साधे। और दशरथजी के लिए स्वयं वसिष्ठजी कहते हैं : राजन राउर नाम जस सब अभिमत दातार। अतः गुणग्राहक राजा जनक ने उन्हें शङ्कर के समान ही माना और आराधना भी उनकी शङ्कर के समान ही की। दूसरा भाव आने से फिर वैसी पूजा नहीं हो सकती थी। पूजन के बाद विनय और स्तुति का विधान है। सो वह भी उसी भाँति किया जैसा शिवजी का किया जाता है। उनके पधारने से अपने भाग्य के विभव की महिमा का वर्णन किया। ऐसे अवसरों पर अपने भाग्य की सराहना की जाती है।

पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहहुँ कहा मुख एक उछाहू ॥२॥

अर्थ : समधी के समान सब भाँति से आदर के साथ राजा ने सब बारातियों

की पूजा की और सबको उचित आसन दिया। एक मुख से उस उत्साह का क्या वर्णन करूँ।

व्याख्या : समधी की पूजा शिवजी के समान की और सब बारातियों की पूजा समधी के समान की। यथा : दान मान विनती वर वानी। जिस आदर से जिस प्रकार से समधी की पूजा होती है उसी आदर भाव से सभी बारातियों की पूजा स्वयं की। क्योंकि समधी की पूजा प्रतिनिधि द्वारा नहीं होती। उत्तम मध्यम नीच और लघु को उचित आसन दिया। ऋषियों को दिव्यासन दिया था। अव बारातियों को उचित आसन दे रहे हैं। यह महाराज की श्रद्धा और सावधानी है। ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि इस उत्साह का वर्णन करने के लिए चतुर्मुख पञ्चमुख अथवा सहस्रमुख की आवश्यकता है। मैं एक मुखवाला उस उत्साह का क्या वर्णन करूँ। मेरे लिए सर्वथा वर्णनातीत है।

सकल बरात जनक सनमानी। दान मान विनती वर वानी ॥
विधि हरि हरु दिसिपति दिनराऊ। जे जानहि रघुबीर प्रभाऊ ॥३॥

अर्थ : सब बारात का जनकजी ने सम्मान, दान, मान, विनती औ श्रेष्ठ वाणी द्वारा किया। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दिक्पाल और सूर्य जो रघुवीर के प्रभाव को जाननेवाले थे।

व्याख्या : उपर्युक्त सादर सब भाँती : की व्याख्या करते हैं। समधी की भाँति उनको द्रव्य दिया। सम्मान किया। उनकी विनती की और श्रेष्ठ वाणी सत्कार सूचक बोले। अथवा ब्राह्मण को दान दिया। क्षत्रिय का सम्मान किया। वैश्य की विनती की और शूद्र से आदरसूचक वचन बोले।

अन्य देवता तो अपने अपने विमानों पर आकाश में ही रहे। परन्तु त्रिदेव दिक्पाल तथा सूर्य ने जो रामजी के प्रभाव के जाननेवाले गिने गिनाये देवता थे उन्होंने ऐसे अवसर पर अपनी उपस्थिति सर्वथा उचित समझी।

कपट विप्र वर वेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए ॥
पूजे जनक देव सम जाने। दिए सुआसन बिनु पहिचाने ॥४॥

अर्थ : माया से श्रेष्ठ ब्राह्मण का वेष बनाये हुए अत्यन्त सुख पाते हुए कौतुक देख रहे थे। उनको देवता के समान जानकर जनकजी ने पूजन किया और बिना पहिचाने ही उन्हें सुन्दर आसन दिया।

व्याख्या : ये ब्रह्मादिक देवता जब रामजी मण्डप में आये तभी से विप्र वेष बनाए कौतुक देख रहे हैं। यथा : ब्रह्मादि सुरवर विप्र वेष बनाइ कौतुक देखहीं। ये पहिले से ही आये हुए हैं। अतः वाराती नहीं हैं। फिर कौन हैं ? इस पहिचान की आवश्यकता थी। परन्तु राजा जनक ने बिना पहिचाने ही उन्हें देवता के समान जाना : दर्जा समझ लिया। यह राजा की सुजानता है। रामजी को भी इन्होंने बिना पहिचाने अन्दाज कर लिया। कहने लगे : ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।

उभय वेष धरि सोइ कि आवा। इसी भाँति यहाँ भी कपट वेष में रहने पर भी देवताओं को देवता समान जानकर पूजन किया और सुआसन दिया।

छं. पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंद कंदु बिलोकि दूलहु उभय दिसि आनँदमई ॥
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।
अवलोकि सीलु सुभाउ प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भए ॥

अर्थ : कौन किसे जाने पहिचाने। सबको अपनी ही सुधि भूली हुई थी। आनन्दकन्द दूल्हे को देखकर दोनों पक्ष आनन्दमय हो रहे थे। रामसुजान ने देवताओं को लखा। तो पूजा की और मानसिक आसन दिया। प्रभु के शील और स्वभाव को देखकर देवता हृदय से आनन्दित हो उठे।

व्याख्या : जनकजी ने बिना पहिचाने दर्जा का अन्दाज कर लिया और विप्रवेषधारी देवगणों को सुआसन दिया। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि इतनी बड़ी बारात में पहिचान पहिचान कर कौन जान सकता है? अन्दाज से ही काम चलाया जाता है। तिस पर यहाँ तो किसी को अपनी ही सुधि नहीं है। आनन्दकन्द दूल्हे को देखकर दोनों पक्षों में आनन्द मचा हुआ है। आनन्द का मेघ दोनों ओर आनन्द की वर्षा कर रहा है। सुजान रामजी ने देवताओं को लख लिया कि उधर से तो इनकी पूजा हुई। पर मेरी ओर से पूजा नहीं हुई और मैं ऐसी स्थिति में हूँ कि स्वयं कुछ कर नहीं सकता। अतः सबकी मानसिक पूजा की और मानसिक आसन दिया। देवताओं ने प्रभु की दी हुई पूजा और आसन को ग्रहण किया और प्रभु के ऐसे शील स्वभाव को देखकर कि स्वयं दूल्हा बने हैं सङ्कोचवश सत्कार नहीं कर सकते तो मानसिक सत्कार कर रहे हैं। देवता लोग मुदित हो गये।

दो. रामचंद्र मुख चंद्र छवि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोदु न थोर ॥३२१॥

अर्थ : रामचन्द्र के मुखचन्द्र की छवि को सुन्दर चकोररूपी लोचनों से आदर के साथ सब पान कर रहे हैं। किसी में प्रेम और प्रमोद थोड़ा नहीं है।

व्याख्या : सबको इष्ट भोग हो रहा है। अतः कहते हैं कि प्रेम प्रमोद थोड़ा नहीं है। मुख की उपमा चन्द्र से छवि की उपमा किरण से और सबके लोचनों की चकोर से दी गई। सब लोग स्वस्थ होकर बैठ गये। सब रामजी के मुख की शोभा देखकर मुग्ध हैं। चन्द्र का पृष्ठ भाग कोई देख नहीं सकता। इस भाँति रामजी सबको सम्मुख दिखाई पड़ रहे हैं। यथा : मुनि समाज मह बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद चंद तन चितवत मानहु निकर चकोर।

समउ बिलोकि बसिष्ठ बुलाए। सादर सतानंद मुनि आए ॥
बेगि कुँअरि अब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयसु पाई ॥१॥

अर्थ : समय देखकर वसिष्ठजी ने आदरपूर्वक बुलाया। सुनकर सतानन्दजी आये। कहा कि : अब राजकुमारी को जल्द ले आइये। मुनिजी की आज्ञा पाकर प्रसन्न होकर चले।

व्याख्या : व्याह की लग्न गोधूलि निश्चित हुई है। गोधूलि सधना कठिन कार्य है। वारात लाने में बड़ी जल्दी करने से गोधूलि सधती है। इसी से ब्राह्मणों ने शीघ्रता की। यथा : धेनु धूरि वेला विमल सकल सुमंगल मूल। विप्रन्ह कहेउ 'विदेह सन जानि सगुन अनूकूल। राजा ने भी शीघ्रता की। सतानन्दजी से कहा : अब विलंब कर कारण काहा। यहाँ भी गोधूलि सन्निकट देखकर वसिष्ठजी शीघ्रता कर रहे हैं। सतानन्दजी को आदर के साथ बुलाकर कहते हैं कि राजकुमारी को जल्दी लाइये। सतानन्दजी चिरकारी मालूम होते हैं। गौतमजी के चिरकारी पुत्र की कथा महाभारत में है। वे भी कामों में देर लगाते थे। विचार करने लग जाते थे। उनके स्वभाव की जानकारी होने से ही बार बार उन्हें शीघ्रता के लिए कहा जाता है। यहाँ शीघ्रता करने के लिए वसिष्ठजी के कहने से यही ध्वनित होता है कि विचार करने में देर न लगाइये जल्दी कीजिए। इसीलिए कहा जाता है कि आज्ञा पाकर सतानन्दजी प्रसन्न होकर चले। भाव यह कि वसिष्ठजी ने आज्ञा दे दी। विचार करने की अब आवश्यकता न रह गई। अतः मुदित मन चले। नहीं तो स्वभावानुकूल इसपर भी कुछ विचार करके तब बुलाते। अथवा इस व्याह उछाह में जिस किसी कार्य को जिससे कहा जाता है वह उसे आनन्दित होकर करता है।

रानी सुनि उपरोहित वानी। प्रमुदित सखिन समेत सयानी ॥
विप्र वधू कुलवृद्ध बोलाई। करि कुल रीति सुमंगल गाई ॥२॥

अर्थ : सयानी रानी पुरोहितजी की वाणी सुनकर सखियों सहित प्रसन्न हुई। ब्राह्मणों की स्त्रियों तथा कुल की वृद्धाओं को : बड़ी बूढ़ियों को बुलाकर मङ्गलगान किया।

व्याख्या : शतानन्दजी ने अन्तःपुर में जाकर आवाज दी। मङ्गल समय अत्यन्त निकट जानकर रानी सखियों के सहित हर्षित हुईं। रानी सयानी हैं। सब कार्यों में ब्राह्मणियों तथा कुल की बड़ी बूढ़ियों को सम्मिलित कर लेती हैं। उन्हें बुलवाया। उनके आदेशनुसार कुल की रीति : लौकिक व्यवहार सम्पादन करके मङ्गलगान किया। स्त्रियों में लौकिक व्यवहार का वैदिक व्यवहार से कम आदर नहीं है और न मङ्गलगान का वेदमन्त्र से कम आदर है। जो गीत जिस अवसर पर गान करना चाहिए उसमें से कोई छूट नहीं सकता। अतः अधिक शीघ्रता होने पर भी कुलरीति या मङ्गलगान में संक्षेप नहीं हुआ।

नारि वेष जे सुर वर वामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥
तिन्हहिं देखि सुखु पावहिं नारी। बिनु पहिचानि प्रानहु तें प्यारी ॥३॥

अर्थ : नारी के वेष में जो श्रेष्ठ देवों की शक्तियाँ थीं वे सब स्वभाव से ही सुन्दरी और श्यामा थीं। उन्हें देखकर नारियों को सुख होता था। बिना पहिचाने ही प्राणों से प्यारी लगती थीं।

व्याख्या : पहिले कह आये हैं : सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी। कपट नारिवर वेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई। वे स्वभाव से ही सुन्दरी थीं। उन्हें बहुत श्रृङ्गार की आवश्यकता न थी और सदा षोडशवार्षिकी बनी रहती थीं और मधुरभाषिणी थीं। यथा : श्यामा भवति श्यामाङ्गी श्यामा षोडशवार्षिकी। अप्रसूता भवेच्छ्यामा श्यामा मधुरभाषिणी। उनके दर्शन से स्त्रियों को सुख मिलता था और सबको प्राणों से प्यारी मालूम पड़ती थीं। क्योंकि वे सबकी आत्मस्वरूपा थीं। यथा : स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु। और अपनी आत्मा सबको प्रिय है।

बार बार सनमानहिं रानी। उमा रमा सारद सम जानी॥
सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहिं चलीं लेवाई॥४॥

अर्थ : उमा रमा और शारदा के समान जानकर उनका सम्मान बारम्बार रानी करती हैं। सीताजी को सँवारकर और समाज बनाकर आनन्दित हो मण्डप में लिवा चलीं।

व्याख्या : रानी सुनयना महाराज जनकजी की प्रिया हैं। वैसी ही पहिचान इन्हें भी है। उधर : पूजे जनक देव सब जाने। इधर : बार बार सनमानहिं रानी। उमा रमा सारदा सब जानी। जो जैसी थीं उन्हें उन्हीं के समान समझा। पहिचानने में इतना ही भेद रह गया। अलंकृत कन्या का दान लिखा है। अतः भूषण वसन से सजाकर तथा सीताजी की सखियों को साथ लेकर अपना समाज बनाकर : घेरकर मण्डल में लिवा ले चलीं।

छं. चलि ल्याइ सीतहिं सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसप्त साजे सुंदरी, सब मत्त कुंजर गामिनी॥
कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन, ताल गति वर बाजहीं॥

अर्थ : सुमङ्गल साजकर सुन्दर सखियाँ आदर के साथ सीताजी को ले चलीं। वे सुन्दरियाँ सोलहों श्रृङ्गार किये हुए थीं और मतवाले हाथी की सी चाल वाली थीं। उनका सुन्दर गान सुनकर मुनि लोगों का ध्यान छूटता था और कामरूपी कोकिल भी लज्जित होता था। करधनी नूपुर और सुन्दर कङ्कण गति के तालपर बज रहे थे।

व्याख्या : ऊपर की अर्धाली में : मुदित मंडपहिं चली लेवाई : कहा कर्त्ता न कहा। अतः सखी ने सादर कहकर कर्त्ता बतला दिया। आगे करके ले चलने को

सादर ले चलना कहते हैं। सखियों का सोलह श्रृङ्गार हुआ है। सोलह श्रृङ्गार का वर्णन पहिले हो चुका है। केवल सखियाँ ही नहीं भामिनी कहकर देवियों का भी साथ होना लक्षित किया। वहाँ चलीं मुदित परिछन करन गजगामिनी वर नारि कहा था। यहाँ मत्त कुंजर गामिनी कहते हैं। यहाँ देवियाँ गान कर रही हैं। अतः कलकंठ लजाहीं न कहकर काम कोकिल लाजहीं कहा। वहाँ केवल कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं कहा था। यहाँ तालगति वर बाजहीं कहते हैं। गान हो रहा है। अतः ताल की आवश्यकता है।

दो. सोहति वनिता वृंद महुँ, सहज सुहावनि सीय।
छबि ललना गन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय ॥३२२॥

अर्थ : स्वभाव से ही शोभायमान सीताजी स्त्रीसमूह में ऐसी सुशोभित हैं जैसी छविरूपी स्त्रियों के बीच परमा शोभारूप स्त्री सुशोभित हो।

व्याख्या : वनितावृन्द ने सोलहों श्रृङ्गार कर रक्खा है। पर सीताजी तो स्वभाव से ही सुन्दरी हैं : सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसी। छविगन मध्य महा छवि जैसी। कन्यादान के समय सोलहों श्रृङ्गार का विधान नहीं है। केवल अलंकृता कन्या होनी चाहिए। अतः वस्त्रालङ्कार से सुसज्जित किया। सोलहों श्रृङ्गार नहीं किया। इसलिए सहज सुहावनि कहते हैं।

सिय सुंदरता वरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई ॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूप रासि सब भाँति पुनीता ॥१॥

अर्थ : सीताजी की सुन्दरता वर्णन करते नहीं बनती। मेरी बुद्धि छोटी है और सौन्दर्य बहुत है। बारातियों ने रूप की राशि और सब भाँति से पवित्र सीताजी को आते हुए देखा।

व्याख्या : श्री ग्रन्थकार कहते हैं कि सीताजी का सौन्दर्य वर्णनातीत है। वह सौन्दर्य लघुमति में सामनेवाली वस्तु ही नहीं है। यथा : सीय वरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाई अजस को लेई। अवर्णनीय को अवर्णनीय कह देने में ही कुशल है। वर्णन करते तो बनेगा ही नहीं। केवल अपयश होगा कि वर्णन करने तो चले सो तो बना नहीं उलटा बिगाड़ दिया। सीताजी अन्तःपुर से मण्डप में आरही हैं। अतः पहिले बारातियों की निगाह पड़ी। देखा कि सब भाँति पवित्र रूप की राशि चली आ रही हैं। रूप रासि सब भाँति पुनीता। कहकर रामजी के योग्या कहा। यथा : रूप रासि नृप अजिर विहारी। राम पुनीत विषय रस रूखे। क्योंकि इधर रामजी भी रूपराशि सब भाँति पुनीत हैं।

सबहिं मनहिं मन किए प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा ॥
हरषे दसरथ सुतन समेता। कहि न जाइ उर आनँदु जेता ॥२॥

अर्थ : सबने मन ही मन प्रणाम किया। रामजी देखकर सफल मनोरथ हुए।

पुत्रों के सहित दशरथ जी प्रसन्न हो गये। उनके हृदय में जैसा आनन्द हुआ सो कहा नहीं जा सकता।

व्याख्या : सब बारातियों को पवित्र रूपराशि के देखने से जगदम्बिका की भावना हुई। अतः सबने मन ही मन प्रणाम किया। ऐसे अवसर पर प्रत्यक्ष प्रणाम करना रीति के विरुद्ध है। पार्वतीजी के व्याह में ऐसा ही हुआ। यथा : जगदम्बिका जानि भव वामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा। विश्वामित्रजी ने जो आशीर्वाद दिया था : सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे। उसी का साफल्य दिखलाते हैं कि सीताजी को देखकर रामजी पूर्णकाम हुए। नहीं तो राम तो सदा पूर्णकाम हैं और सीताजी उन्हें सदा ही प्राप्त हैं। दिखलाया जा चुका है कि जब लौकिक दृष्टि में सीताहरण हुआ था उस समय भी रामजी से वास्तविक वियोग नहीं था। यथा : सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता। पुनि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुंदर वेषा। अतः लौकिक व्यवहार दिखलाते हुए पूर्णकाम कहते हैं। पुत्र के योग्य पुत्रवधू देखकर चक्रवर्तीजी को हर्ष है और भाई के योग्य भ्रातृवधू देखकर भरतादि भाइयों को हर्ष है और इतना हर्ष है कि वे स्वयं उसके प्रकाश करने में असमर्थ हैं।

सुर प्रनामु करि बरिसहिं फूला। मुनि असीस धुनि मंगल मूला॥
गान निसान कोलाहलु भारी। प्रेम प्रमोद मगन नर नारी॥३॥

अर्थ : देवता लोग प्रणाम करके फूल बरसा रहे हैं। मुनियों के आशीर्वाद की मङ्गलमूल ध्वनि हो रही है। गान हो रहा है। डङ्के बज रहे हैं। भारी कोलाहल हो रहा है। नर नारी सब प्रेम और प्रमोद : इष्ट भोग में मग्न हो रहे हैं।

व्याख्या : समय समय सुर बर्षहिं फूला। अतः इस समय तो पुष्पवर्षा की बड़ी ही आश्यकता है और माँ के चरणों में पुष्पाञ्जलि दी जा सकती है। सो मातृभाव से प्रणाम करके देवता फूल बरसा रहे हैं। मुनि की असीसधुनि को मङ्गलमूल कहते हैं। यथा : मंगलमूल विप्र परितोषू। इस समय आनन्द प्राप्ति से आशीर्वाद है। प्रणाम के उत्तर में नहीं। इधर गान हो रहा हैं। उधर निशान बज रहा है। सब मिलकर भारी कोलाहल हो रहा है। नरनारी सब प्रेम और प्रमोद में मग्न हैं। क्योंकि उनकी लालसा पूर्ण हो रही है। यथा : येहि लालसा मगन सब लोगू। वर साँवरो जानकी जोगू।

येहि बिधि सीय मंडपहिं आई। प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥
तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहु कुलगुरु सब कीन्ह अचारू॥४॥

अर्थ : इस विधि से सीताजी मण्डप में आईं। मुनिराज प्रमुदित होकर शान्ति पाठ करने लगे। उस समय की वैदिक विधि और लौकिक व्यवहार और आचार दोनों ओर के कुल गुरुओं ने सम्पादन किये।

व्याख्या : दो अर्धालियों में ग्रन्थकार ने रामजी के मण्डप में आने का वर्णन

किया है। यथा : समय समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महि सुर अनुकूला। नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपन पर कछु सुनै न कोई। येहि विधि राम मण्डपहिं आये। अब दो ही अर्धालियों में सीताजी के मण्डप में आने का वर्णन करते हैं। कन्या के मण्डप में आते ही शान्ति पाठ का विधान हैं। अतः मुनीश्वर लोगों ने शान्तिपाठ प्रारम्भ किया और बड़े आनन्द से पाठ कर रहे हैं। उस अवसर पर जो वैदिक विधि और लोक व्यवहार आचार प्राप्त था सो दोनों ओर के कुलगुरुओं ने अर्थात् वसिष्ठजी तथा सतानन्दजी ने सम्पादन किया। शान्ति पाठ में मुनीश्वर लोग सम्मिलित थे। पर कर्मकाण्ड में पुरोहित ही अग्रगण्य हैं।

छं. आचारु करि गुर गौरि गनपति मुदित विप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं॥
मधुपर्क मंगल द्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहै।
भरे कनक कोपर कलस सो तब लिये परिचारक रहैं॥१॥
कुल रीति प्रीति समेत रवि कहि देत सबु सादर किये।
येहि भाँति देव पुजाई सीतहिं सुभग सिंहासनु दिये॥
सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि वर वानी अगोचर प्रगट कवि कैसे करै॥

अर्थ : आचार करके ब्राह्मण लोग प्रसन्न होकर गुरु गौरी और गणपति की पूजा करा रहे हैं। देवता लोग प्रकट होकर पूजा ले रहे हैं। आशीर्वाद दे रहे हैं। उन्हें अत्यन्त सुख की प्राप्ति हो रही है। मधुपर्क आदि मङ्गल द्रव्य जो कुछ मुनिजी जिस समय मन से चाहते हैं उन्हें उन वस्तुओं को सोने के कोपर : पूजन पात्र या कलश में भरे हुए कार्यकर्ता लोग प्रस्तुत कर देते हैं। स्वयं सूर्यनारायण कुल की रीति बतला रहे हैं और उसे आदर के साथ किया जा रहा है। इस भाँति देवताओं की पूजा कराके सीताजी को सुन्दर सिंहासन दिया। सीताजी और रामजी का देखना और परस्पर का प्रेम किसी को लखाई नहीं पड़ता। जो बात मन वुद्धि और श्रेष्ठवाणी के अगोचर है उसे कवि कैसे प्रकट करे।

व्याख्या : सबसे पहिले पूजा गुरु की तब गौरी गणपति की : यह रघुकुल का नियम है। शिवजी के व्याह में कोई कुलगुरु नहीं रहा। अतः मुनि अनुसासन गनपतिहिं पूजे संभु भवानि। यहाँ वसिष्ठ का पूजन होने के बाद विवाह कार्य आरम्भ हुआ। तब राम जानकी ने गौरी गणपति का पूजन किया। जिस बात को संक्षेप में : दुहु कुल गुरु सब कीन्ह अचारू कहा था। उसी का विस्तार कर रहे हैं। वरुणादि देवताओं का पूजन हुआ। पूजन करनेवाले राम जानकी और पूजा करानेवाले वसिष्ठादि महर्षि हैं। फिर उनके आवाहन पर देवता क्यों न प्रत्यक्ष हों? महाराज दशरथजी के पुत्रेष्टीयाग में अग्निदेव सर्वजन प्रत्यक्ष हुए थे।

यथा : प्रगटे अगिन चरु कर लीन्हें। तब अदृस्य पावक भए सकल सभहिं समुझाइ। यहाँ भी पूजा लेने के लिए प्रकट हुए। देवता लोगों को राम जानकी के हाथों की पूजा ग्रहण करने में बड़ा आनन्द है। अतः आशीर्वाद देते हैं। परिचारकों की ऐसी पण्डिताई है कि वे जानते हैं कि इस कर्म के बाद यह कर्म होगा और उसमें अमुक द्रव्यों की आवश्यकता पड़ेगी। अतः उन द्रव्यों को यदि वे कठिन द्रव्य हैं तो कनक के कोपर में यदि द्रव है तो कनक कलश में भरे हुए प्रस्तुत हैं। अतः मुनिजी को कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कहने के पहिले ही मन में चाहते ही उक्त द्रव्य को उपस्थित कर देते थे।

वहाँ माया से विप्ररूप बनाये सूर्यदेव भी थे। यथा : विधि हरि हर दिसि पति दिन राऊ। जे जानहिं रघुवीर प्रभाऊ। कपट विप्र वर वेष बनाये। कौतुक देखहिं अति सचु पाये। कपट विप्र के वेष में न होते तो रात का दिन हो जाता। वे अपने कुल की रीति बतलाते चलते थे। वे ही रघुकुल के मूलपुरुष थे और उनके कहे अनुसार सब बातें की गईं। यह सब हो चुकने के बाद सीताजी को सुन्दर सिंहासन पर बिठलाया। सीताजी का और रामजी का परस्पर देखना ऐसी पण्डिताई के साथ होता है कि उसे कोई देख नहीं सकता और न प्रेम लखाई पड़ता है। वह प्रेम मन, बुद्धि और वाणी से अगोचर है। यथा : तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा। सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। दूसरा कोई जानता नहीं। कहे तो क्या कहे?

दो. होम समय तनु धरि अनलु, अति सुख आहुति लेहिं।
विप्र वेष धरि वेद सब, कहि विवाह विधि देहिं ॥३२३॥

अर्थ : होम के समय शरीर धारण करके अग्नि अत्यन्त प्रेम से आहुति ग्रहण करते हैं। ब्राह्मण के वेष में वेद लोग विवाह की विधि कह देते हैं।

व्याख्या : नाम ही अनल है। न+अलम्=अनलम्। अर्थात् जहाँ बस नहीं होता। जो डालिये भस्म होता चला जाय। यही अग्नि यावद् गृहस्थाश्रम बराबर बनी रहेगी। इसी में अग्निहोत्र होगा। अतः शरीरधारी अग्नि भगवान् प्रकट हुए। उन्हें रामजानकी की दी हुई आहुति के ग्रहण में बड़ा सुख है। वेद लोग भी ब्राह्मण के वेष में उपस्थित हैं। वे विवाह की विधि बोलते जाते हैं। सर्वज्ञ वसिष्ठ मुनि यद्यपि सब कुछ जानते हैं फिर भी वेद लोग अपनी सेवा निवेदन कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि वसिष्ठजी भी तो विधि के जानकार वेद द्वारा ही हुए। अतः कर्म को अभ्रान्त करने के लिए स्वयं वेद विधि बतला रहे हैं।

जनक पाटमहिषी जग जानी। सीय मातु किमि जाइ बखानी॥
सुजसु सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि विधि रची बनाई ॥१॥

अर्थ : सीताजी की माता महाराज जनक की पटरानी को संसार जानता है। उनकी प्रशंसा कैसे की जा सकती है। सुयश, पुण्य और सब सुन्दरता को समेटकर ब्रह्मदेव ने उन्हें सँवारकर रचा है।

व्याख्या : जनकजी की चार रानियों में जो पट्टाभिषिक्ता महिषी थीं अर्थात् जिनके साथ महाराज जनक का राज्याभिषेक हुआ था वही सीताजी की माता थीं। उनका बखान कोई कैसे करे ? उन्हें संसार जानता है। जगजानी से सुयश कहा। जनक पाटमहिषी कहकर सुख कहा। सीय मातु कहकर उनका पुण्य कहा। किमि जाइ बखानी कहकर वर्णनातीत कहा। सब समेटि कहकर उनके शरीर का अलौकिक होना कहा। और विधि रची बनाई कहकर सौन्दर्यातिशय कहा।

समय जानि मुनिबरन्ह बुलाई। सुनत सुआसिनि सादर ल्याई ॥
जनक बाम दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना ॥२॥

अर्थ : समय जानकर मुनियों ने बुलाया। सुनते ही सुहागिनी स्त्रियाँ उन्हें आदर के साथ लिवा लाईं। जनकजी के वाम भाग में रानी सुनयना ऐसी शोभित हुईं जैसे हिमालय के साथ मयना की शोभा हुई थी।

व्याख्या : दोनों ओर के मुनियों ने सुहागिनियों से कहा कि अब महारानी के आने की आवश्यकता है। वे सब तुरन्त मण्डप में ले आईं। महोत्सव के समय परदा का विधान नहीं है। नहीं तो राजा की स्त्रियों को सूर्य नहीं देखते। असूर्यपश्या हि राजदाराः। सुहागिनी लोग पहिले से ही खड़ी थीं कि जब मुनि लोग कहें तब महारानी को ले आवें।

यहाँ पर ग्रन्थकार ने महारानी का नाम दे देना उचित समझा। इसलिए कहते हैं कि रानी सुनयना आकर महाराज जनक के वाम भाग में सुशोभित हुईं। दानचन्द्रिका का वचन है : कन्या पुत्र के विवाह में, गोदान में, व्रतबन्ध में, आशीर्वाद के समय तथा अभिषेक में पत्नी वाम भाग में रहे। पर कन्यादान में वृषोत्सर्ग में, यज्ञ में और सोम दर्शन में पत्नी को दक्षिण भाग में रक्खे और स्थानों में वाम भाग ही शुभ है। यथा : कन्यापुत्रविवाहे च गोदाने व्रतबन्धने। आशीर्वादेऽभिषेके च पत्नी उत्तरतो भवेत्। कन्यादाने वृषोत्सर्गे अध्वरे सोमदर्शने। पत्नीं दक्षिणतः कुर्यादन्यथा वामतः शुभा। कन्या का विवाह उपस्थित है। इसलिए महारानी वामभाग में सुशोभित हैं। क्योंकि केवल कन्यादान के समय दक्षिण भाग में रहने का विधान है। उस समय की उपमा कवि कहते हैं कि जैसे पार्वतीजी के विवाह के समय हिमालय के साथ मयना की शोभा हुई थी।

कनक कलस मनि कोपर रूरे। सुचि सुगंध मंगल जल पूरे ॥
निजकर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी ॥३॥

अर्थ : सोने के कलश मणि के सुन्दर कोपर, पवित्र और सुगन्धित मङ्गल जल से भरे हुए प्रसन्न होकर राजा और रानी ने लाकर रामजी के आगे रक्खा।

व्याख्या : सोने का कलश पहिले से ही पवित्र और तीर्थ के जल से भरा हुआ रक्खा था। उसे राजा ने और मणि के कोपर जिनमें पैर धोये जायँगे उन्हें महारानी ने लाकर रामजी के आगे पादप्रक्षालन के लिए रक्खा। यहाँ कोपर

बहुवचन है। क्योंकि जिसमें एक पैर धोया गया उसी में दूसरा पैर नहीं धोया जायगा :

पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥
बर बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे ॥४॥

अर्थ : मुनि लोग मङ्गल वाणी से वेद पढ़ने लगे। आकाश से अवसर जानकर फूलों की झड़ी लग गई। वर को देखकर राजा और रानी को प्रेम उमग आया। पवित्र चरणों का प्रक्षालन करने लगे।

व्याख्या : राजा और रानी में बड़ी श्रद्धा है। अपने हाथ से कनक कलश और मणि कोपर ले आये। उसी समय मुनियों ने स्वस्त्ययन किया। मङ्गलवाणी से वेदमन्त्रों का उच्चारण किया। यही पुष्पवर्षा का ठीक अवसर है। यह समझकर देवों ने पुष्पवर्षा की झड़ी लगा दी। इस समय दोनों प्राणी दूल्हे के वेष में रामजी का दर्शन करके प्रेम से उमड़ पड़े। चरण कमल स्वयं पवित्र हैं प्रक्षालन की आवश्यकता नहीं। फिर भी विधि के पालन के लिए अपने को कृतार्थ करने के लिए पादप्रक्षालन करने लगे।

छं. लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तनु पुलकावली।
नभ नगर गान निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली ॥
जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकलकलि मल भाजहीं ॥
जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंदु जिनको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई ॥
करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्यभाजनु जनकु जय जय सब कहैं ॥
बर कुँअरि करतल जोरि साखोचारु दोउ कुलगुरु करैं।
भयो पानि गहनु बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनँद भरैं ॥
सुख मूल दूलहु देखि दंपति पुलक तनु हुलसेउ हियो।
करि लोक बेद बिधान कन्या दान नृप भूषन कियो ॥
हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई ॥
क्यों करै बिनय बिदेह कियो बिदेह मूरति साँवरी।
करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी ॥

अर्थ : चरण कमल धोने लगे। प्रेम से शरीर में पुलकावली हुई। आकाश में

और नगर में गान और नगाड़ा तथा जयकारे की ध्वनि उमगकर मानो चारों दिशाओं में चली। जो पद कमल काम के शत्रु शिवजी के मानससर में सदा विराजते हैं। जिनके एक बार के स्मरण से मन विमल हो जाता है और सब कलियुग के मल दूर होते हैं। जिन्हें स्पर्श करके मुनि की स्त्री : अहल्या ने गति प्राप्त की जो पापमयी थी। शिवजी के सिरपर धारण करने के कारण जिसके रस के लिए देवता वर्णन करते हैं कि पवित्रता की सीमा है और मुनिलोग मन को भौंरा बनाकर और योगी लोग जिन : चरणों की सेवा करके चाही हुई गति को प्राप्त होते हैं। उन चरणों को भाग्यवान् जनकजी धोते हैं और सब लोग जय जय करते हैं।

वर और दुलहिन की हथेलियों को मिलाकर दोनों कुलगुरु शाखोच्चार करते हैं। पाणिग्रहण हुआ देखकर ब्रह्मा देवता मनुष्य और मुनि आनन्द से भर उठते हैं। सुखमूल दूल्हे को देखकर राजा और रानी के शरीर में रोमाञ्च हुआ और हृदय में उल्लास हुआ। लोक वेद विधि करके राजाओं के भूषण जनकजी ने कन्यादान कर दिया।

हिमवान् ने जैसे पार्वती शङ्करजी को दी और समुद्र ने लक्ष्मी हरि को दी उसी भाँति जनकजी ने रामजी को सीता समर्पण कर दी। संसार में उनकी अपूर्व सुन्दर क़ीर्ति हुई। राजा विदेह कैसे विनय करें। साँवली मूर्ति ने तो उन्हें विदेह कर दिया। होम करके विधि के साथ ग्रन्थि बन्धन हुआ और भाँवरी होने लगी।

व्याख्या : महाराज जनक बड़े भाव से चरण धो रहे हैं। जैसे कोई हलके हाथ से फूले हुए कमल का प्रक्षालन करे और इस भाँति प्रक्षालन में ब्रह्मसंस्पर्शसुख का अनुभव कर रहे हैं। ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। राजा और रानी को सात्त्विक भाव हो गया। सम्पूर्ण शरीर में पुलकावली हो गई। उसी समय स्त्रियाँ गान करने लगीं। आकाश में देवियों ने गान किया। ऊपर देवताओं ने और नीचे मनुष्यों ने नगाड़े बजाये। सब लोगों ने जय जयकार किया। सब मिलकर ऐसी ध्वनि हुई कि अन्तराल में मानों यथेष्ट स्थान न रह गया। इसलिए उमगकर चारों ओर इस भाँति फैल रही है जिस भाँति किसी छोटे पात्र में बहुत सा जल डाल दिया जाय और वह चारों ओर से बह चले। जो चरणकमल कामारि शङ्करजी के मन रूपी सरोवर में सदा विराजमान रहता है। किसकी सामर्थ्य जो वहाँ तक पहुँच सके। वहाँ तक पहुँचने का सामर्थ्य मन से उत्पन्न मनोज : काम को भी नहीं है। क्योंकि शिवजी कामारि हैं और जिस चरणकमल को एक बार स्मरण करने से मन निर्मल हो जाता है। सम्पूर्ण कलि का कल्मष नष्ट हो जाता है। जो चरण ब्रह्मशाप से विनिर्मुक्ति देनेवाले हैं। जिनके स्पर्श से पातकमयी अहल्या का उद्धार हुआ। जिन चरणकमलों का मकरन्द : गंगा शिवजी के सिर पर विराजमान है। जिसे देवता लोग पवित्रता को परमावधि रूप से वर्णन करते हैं। भाव यह कि ब्रह्मशाप से दग्ध सगर के पुत्रों का उद्धार गौतमशाप से जड़ीभूत अहल्या का उद्धार जिन चरणकमलों से ही सम्भव हुआ और किसी उपाय से उनका उद्धार असम्भव था।

जिन चरणकमलों के लिए मुनि लोग अपने मन को भ्रमर बना देते हैं। सदा उसी का रस लिया करते हैं। योगी लोग जिनके सेवन से जैसी गति चाहते हैं उसीको प्राप्त होते हैं। उन्हीं चरणों को आज भाग्यवान् राजा जनक धो रहे हैं। इसीलिए सबने जयजयकार किया।

चरणप्रक्षालन के बाद कन्यादान का विधान हुआ। कन्यादान के समय कन्या की हथेली को वर की हथेली पर रखकर दाता दोनों को सँभाले रहता है। इसी भाँति श्रीरामजी की हथेली पर सीताजी की हथेली रखकर राजा जनक अपनी हथेली से दोनों को जोड़े हुए हैं। यही समय शाखोच्चार का है सो वसिष्ठ वर पक्ष की ओर से और सतानन्दजी कन्या पक्ष की ओर से वंशवर्णन कर रहे हैं। यथा : इत वसिष्ठ मुनि उतै सतानंद वंस वखान करत दुहु ओरी। इत अवधेस उतहिं मिथिलापत्ति भरत अंक सुख सिंधु हिंलोरी। इस रीति से पाणिग्रहण हुआ। देखकर ब्रह्मदेव, देवता, मनुष्य और मुनि अपने मन को आनन्द से भर रहे हैं। अथवा विधि शब्द को विलोकि क्रिया का कर्म माना जाय तो यह अर्थ होगा कि कन्यादान की विधि देखकर देवता मनुष्य और मुनि मनमें आनन्द भर रहे हैं और महाराज जनक की गोद में जानकीजी हैं। अतः दम्पति केवल रामजी का ही दर्शन कर रहे हैं। उनके विषय में कवि कहते हैं कि सुखमूल दूल्हे को देखकर उन्हें पुलक हो रहा है। हृदय में उल्लास हो रहा। यह दूल्हा ही ऐसा है। जिसके जन्म से चराचर हर्षित हो उठे थे। क्योंकि वह सुखमूल है। यथा : चर अरु अचर हरख युत रामजनम सुखमूल। लोकविधान भी वेदविधान के साथ ही साथ चलता है। यथा : कन्या का भाई संकल्प के समय जल देता है। सो साक्षात् मङ्गल देव भाई का कृत्य करने के लिए आगये। यथा : सिय भ्राता के समय भौम तहँ आयउ। इस भाँति लोकविधान और वेदविधान दोनों करके नृपभूषण ने कन्यादान किया। अथवा सीताजी के साथ ही पृथ्वी से पुत्र की भी प्राप्ति जनकजी को हुई थी। भूमि से उत्पन्न होने के कारण उनकी भी भौम संज्ञा थी। यहाँ पर कवि उपमा देते हैं कि जैसे हिमालय ने पार्वती शिवजी को, क्षीरसागर ने लक्ष्मी विष्णु को दी थी उसी भाँति जनकजी ने भी जानकी रामजी को दी। भाव यह कि जानकीजी सदा से ही रामजी की शक्ति हैं। जनकजी ने अपने को इनके संयोग का निमित्त मात्र जाना।

राजा विदेह देहाध्यासन रहित होने पर भी उत्तम ज्ञानी होने के कारण सभी व्यवहार में बड़े पटु हैं। पर साँवली मूर्ति ने इस पटुता को भी समाप्त कर दिया। महाराज को व्यवहार ज्ञान भी नहीं रह गया। पूरे विदेह हो गये। क्योंकि कन्यादान के बाद वर से विनय करना चाहिए। पर जनकजी विनय करने में असमर्थ रहे। गला भर आया। विनय न कर सके। अथवा प्रेम में ऐसे मग्न थे कि विनय का ध्यान भी न रहा। लाजाहवन होने लगा। विधि के साथ गाँठ जोड़ी गई और अग्नि की परिक्रमा वर वधू करने लगे। यथा : राजत राम जानकी जोरी। स्याम सरोज जलद सुंदर वर दुलहिन तड़ित वरन तन गोरी। व्याह समय सोहत वितान नर

उपमा कहुँ न लहत मति भोरो। मनहुँ मदन मंजुल मण्डप महँ छबि सिंगार सोभा इक ठौरी। मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूनरी पीत पिछौरी। कनक कलस कहँ देत भाँवरी निरखि रूप सारद भइ भोरी। मुदित जनक रनिवास रहस बस चतुर नारि चितवहिं तृन तोरी।

दो. जय धुनि वंदी वेद धुनि, मंगल गान निसान।
सुनि हरषहिं वरषहिं विबुध, सुरतरु सुमन सुजान॥३२४॥

अर्थ : जय की ध्वनि वन्दीजन और वेद की ध्वनि मङ्गलगान और नगाड़े की ध्वनि हो रही है। देवगण हर्षित होकर कल्पवृक्ष के फूल वरसाते हैं।

व्याख्या : भाँवरी प्रारम्भ होते ही जयजयकार हुआ। वन्दियों ने विरद कहा। स्त्रियों ने मङ्गलगान किया। नगाड़े बज उठे। इस तुमुल ध्वनि को सुनकर देवतालोग हर्षित हुए। सुजान हैं : समय जानकर कल्पवृक्ष के फूलों की वर्षा की। यथा : गान निसान वेद धुनि सुनि सुर वरषत सुमन हरष कहै कोरी। नयनन को फल पाइ प्रेमवस सकल असीसत ईसनिहोरी। तुलसी जेहि आनंद मगन मन क्यों रसना वरनै सुख सोरी।

कुँअरु कुँअरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं॥
'जाइ न वरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी॥१॥

अर्थ : कुँवर और कुँवरि सुन्दर भाँवर फिर रहे हैं और सब लोग आदर के साथ नेत्रों का लाभ ले रहे हैं। मन हरण करनेवाली जोड़ी का वर्णन नहीं किया जा सकता। जो ही उपमा दी जाय वही थोड़ी पड़ती है।

व्याख्या : सुन्दर कुँअर और सुन्दरी कुँवरि की भाँवरी की भी बड़ी शोभा है। नेत्र होने का लाभ इस भाँवरी के दर्शन में ही है। सो सब लोग आदर के साथ ले रहे हैं। सब : कहने का भाव यह है कि विवाह बैठकर हो रहा था। मण्डप प्रधान प्रधान व्यक्तियों से घिरा था। अतः सब लोग नयन लाभ नहीं ले सकते थे। अब खड़े होकर परिक्रमा करने में पुरवासी नर नारी तथा रनिवास भी लेने लगीं। अतः सब शब्द से स्त्री और पुरुष दोनों परिगृहीत हैं। कोष्ठान्तर्गत अर्धालियाँ काशिराज की प्रति में नहीं हैं और न श्रावणकुञ्ज की प्रति में हैं। श्रावणकुञ्ज की प्रति के हाशिये पर लिखी हुई हैं। रचना सुन्दर होने पर भी सुसंगत नहीं हैं। मेरी समझ में ये क्षेपक हैं। पर साधारणतः परिगृहीत हैं। इसलिए इनका अर्थ कर दिया गया। इन अर्धालियों को मूल मानने से ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। मानो कवि राम सीता की जोड़ी का वर्णन करने लगे और कहते हैं कि मुझसे वर्णन करते नहीं बनता। क्योंकि जो उपमाएँ हैं वे इन जोड़ियों से न्यून हैं।

राम सीय सुंदर परिछाहीं। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीं॥'
मनहु मदन रति धरि वहु रूपा। देखत राम विआहु अनूपा॥२॥

अर्थ : रामजी और सीताजी का सुन्दर प्रतिबिम्ब मणि के खम्भों में जगमगा रहा है। मानो कामदेव और रति अनेक रूप धारण करके रामजी के अनूप विवाह को देख रहे हैं।

व्याख्या : राम सीता के प्रतिबिम्ब के जगमगाने के लिए मणि के खम्मे मानने पड़े। पर गोस्वामीजी कनक के खम्भों की रचना का वर्णन पहिले कर आये हैं। यथा : विरचे कनक कदलि के खम्भा। ऐसी त्रुटि गोस्वामीजी से होती कहीं देखी नहीं गई है। पर इस अर्धाली को मूल में मानने से ऐसा अर्थ करना पड़ेगा कि कवि मनोहर जोड़ी के वर्णन में अपने को असमर्थ पाकर उसके प्रतिबिम्ब का वर्णन करने लगे और उस प्रतिबिम्ब की उपमा देते हैं कि मानो अनेक रूप धारण करके काम और रति रामजी का अनूप विवाह देखते हैं। परन्तु वस्तुतः इसका सम्बन्ध : नयन लाभ सब सादर लेहीं से है। नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना। तिन्हहिं देखि सब सुर नर नारी। भये नखत जनु विधु उजियारी। ऐसे नगर नरनारियों की उपमा काम और रति से है। राम कामसतकोटि सुभग तन। रामजी तो शतकोटि काम से भी अधिक सुन्दर हैं और सीताजी पर शतकोटि रति बलिहारी जाती है। यथा : रति सतकोटि तासु बलिहारी। प्रतिबिम्ब भी बिम्ब के समान होते हैं। अतः विवाह के समय काम रति से उपमा देना उनकी शोभा को घटाना है। मैं इस अर्धाली को कवि कृत मानने को तैयार नहीं हूँ। यहाँ यही अर्थ करने में शोभा है कि सब नर नारी इस समय सरकार की शोभा देख रहे हैं। मानो इस अनूप शोभा को देखने के लिए काम और रति ने अनेक रूप धारण किये हैं।

दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥३॥

अर्थ : उन्हें दर्शन की लालसा भी है और सङ्कोच भी थोड़ा नहीं है। इससे प्रकट होना और छिपना बार बार हो रहा है। सब देखनेवाले मग्न और जनक की भाँति अपनी सुधबुध भूल गये।

व्याख्या : यह अर्धाली प्रधानरूपेण नारी समाज के लिए ही कही गई है। क्योंकि दर्शन की लालसा और सङ्कोच से उन्हीं का प्रकट होना और छिपना बनता है। यथा : प्रकटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि। और पिछली अर्धाली पुरुषों के लिए कही गई है। देखनहारियों का हाल कहकर देखनहारों का हाल कहते हैं। इन्हें कोई सङ्कोच नहीं था। इसलिए देखने में ऐसे मग्न हुए कि अपनी ही सुधि नहीं रह गई। प्रतिबिम्ब के पक्ष में यह अर्थ करना होगा कि जिस खम्भे के सामने होकर यह जोड़ी निकल जाती है उसमें प्रतिबिम्ब पड़कर लुप्त हो जाता है और फिर प्रतिबिम्ब दूसरे खम्भे पर पड़ जाता है। इस भाँति प्रकट होना और छिपना प्रतिबिम्ब पक्ष में भी बन जाता है।

प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेगसहित सब रीति निवेरी॥
राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जात विधि केहीं॥४॥

अर्थ : अतिप्रसन्न होकर मुनियों ने भाँवरी घुमाई और नेग सहित सब रीतियाँ पूरी कीं। रामजी सीताकी के. सिर में सिन्दूर दे रहे हैं। वह शोभा किसी प्रकार से कही नहीं जा सकती।

व्याख्या : चार अर्धालियाँ कहकर चार बार भाँवर फिरना कहा। पाँचवीं अर्धाली में भाँवरी की समाप्ति कहते हैं। यहाँ पर नेग होता है। मङ्गलकार्य में पदे पदे नेग होता है। उस दिन पारिश्रमिक : मेहनताना देने से काम नहीं चलता। नेगी को प्रसन्न करना पड़ता है। दर्जी कपड़ा लाया है। बढ़ई पादुका लाया है। भगिनी हवन के लिए अग्नि लाई है। पुरोहितजी ने कर्मकाण्ड कराया है। तो उनके परिश्रम के अनुसार द्रव्य देने से काम न चलेगा। उस दिन तो कपड़ा हाथ में हैं। पर बिना दर्जी की आज्ञा से पहना नहीं जा सकता। पादुका पास रक्खी है। पर बिना बढ़ई को राजी किये आप आरोहण नहीं कर सकते। भगिनी ने अग्नि दे दी पर उसे द्रव्यदान से प्रसन्न कर लीजिये तब हवन में हाथ लगाइये। पुरोहितजी कर्मकाण्ड करा चुके पर दक्षिणा से प्रसन्न कर लीजिये तब भाँवर फिरेगी। मङ्गलोत्सव में नीच ऊँच सभी का सत्कार करना पड़ता है। यह भारत की सभ्यता है। अतः कहते हैं कि रसम : रीति नेग के सहित पूरी की गई। मुनिलोगों का भी यथेष्ट सत्कार किया गया। अतः कहते हैं कि प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी।

और शोभा तो किसी भाँति कही भी जा सकती है। पर श्रीरामजी सीताजी के सिर में सिन्दूर दे रहे हैं। इस सिन्दूरदान की शोभा तो सर्वथा वर्णनातीत है।

अरुन[1] पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥
बहुरि वसिष्ठ दीन्ह अनुसासन। वर दुलहिन बैठे एक आसन॥५॥

अर्थ : मानो कमल में लाल पराग अच्छी तरह से भरकर अमृत के लोभ से सर्प चन्द्रमा को भूषित करता है। फिर वसिष्ठजी ने आज्ञा दी वर और दुलहिन एक आसन पर बैठें।

व्याख्या : यहाँ उपमेय के न कहने से अतिशयोक्ति अलङ्कार हुआ और तद्रूप वर्णन करने से रूपक अलङ्कार हुआ। अरुण पराग सिन्दूर हुआ। सीताजी का मुख चन्द्रमा हुआ। अहि रामजी की भुजा हुई। भावार्थ यह कि हाथ में भली भाँति से सिन्दूर लेकर रामजी सीताजी के सिर में दे रहे हैं। जैसे सर्प कमल में अरुण पराग भरकर चन्द्रमा को भूषित करता हो। चन्द्रमा से सर्प को अमृतप्राप्ति का लोभ है। आशा करता है कि भूषित चन्द्र प्रसन्न होकर अमृत देगा। आगे चलकर चन्द्र द्वारा सर्प को अमृतदान भी दिखलावेंगे। यथा : लहकौरि गौरि

---

[1] यहाँ अतिशयोक्ति : रूपक है।

सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहै। लहकौरि के रसम में भुज रूपी सर्प को अधरामृत के स्पर्श का अवसर मिलेगा।

छ. बैठे वरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथु भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत सुरतरु फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाहु राम विआहु भा सबही कहा।
केहि भाँति वरनि सिरात रसना एकु यहु मंगल महा॥
तब जनक पाइ वसिष्ठ आयसु व्याह साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतिकीरति उरमिला कुँअरि लई हँकारि कै॥
कुसकेतु कन्या प्रथम जो गुन सील सुख सोभामई।
सब रीति प्रीति समेत करि सो व्याहि नृप भरतहिं दई॥
जानकी लघु भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही व्याहि लषनहिं सकल विधि सनमानि कै॥
जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी।
सो दई रिपुसूदनहिं भूपति रूप सील उजागरी॥
अनुरूप वर दुलहिन परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुन्दरता सराहहिं सुमन सुर गन वरषहीं॥
सुंदरी सुंदर वरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था विभुन सहित विराजहीं॥

अर्थ : राम जानकी श्रेष्ठ आसन पर बैठे। राजा दशरथ के मन में मोद हुआ। अपने पुण्यरूप कल्पवृक्ष में नया फल देखकर बार बार रोमाञ्च होने लगा। भुवन में उछाह भर गया। सब कोई कहने लगे कि रामजी का व्याह हो गया। कैसे वर्णन करते बने। जिह्वा तो एक ही है और यह मङ्गल बड़ा भारी है। तब जनकजी ने वसिष्ठ मुनि की आज्ञा पाकर व्याह का साज सँवारकर माण्डवी श्रुतिकीर्ति और उर्मिला कुँअरि को बुला लिया। कुशकेतु राजा की बड़ी लड़की जो गुणशीलशोभामयी थी उसका व्याह सब रीतियों को प्रीति के समेत करके राजा ने भरतजी से कर दिया। जानकीजी की छोटी बहन को सब सुन्दरियों की शिरोमणि जानकर उस कन्या का व्याह लक्ष्मणजी के साथ सब प्रकार से सम्मान करके कर दिया। जिसका नाम श्रुतिकीर्ति था जो सुलोचनी, सुमुखी और सब गुणों में निपुण थी उस रूप शील उजागरी को राजा ने शत्रुघ्नजी को दिया। सब दूल्हे और दुलहिन एक दूसरे के अनुरूप थे। वे एक दूसरे को देखकर सङ्कुचित होते थे और हृदय में हर्षित होते थे। सबलोग मुदित होकर सुन्दरता की प्रशंसा

करते थे और देवता पुष्पों की वर्षा करते थे। सुन्दरियाँ सुन्दर वरों के साथ एक मण्डप में शोभा देती हैं। मानो जीव के उर में चारों अवस्थाएँ अपने अपने विभुओं के साथ विराजमान हैं।

व्याख्या : वरासन पर बैठने से विवाह की समाप्ति द्योतित होती है। सो वरासन पर राम जानकी को बैठे देखकर महाराज दशरथ को बड़ा मोद हुआ। इष्टदर्शन से जो आनन्द होता है उसे मोद कहते हैं। इस मोद से महाराज को बारबार रोमाञ्च हो रहा है। जनक सुकृत मूरति वैदेही। दसरथ सुकृत राम धरे देही। इन सम कोउ नहिं सिव अवराधे। कोउ नहिं इन समान फल लाधे। सो वैदेही दशरथजी को पुत्रवधू के रूप से प्राप्त हुईं। इसलिए अपने पुण्यरूपी कल्पवृक्ष में यह नया फल देखकर मुदित हो रहे हैं। दुष्ट राजाओं ने कहा था : तोरेउ धनुष ब्याह अवगाहा। सो रामजी का व्याह हो गया। उन सबों का किया कुछ न हो सका। अथवा लोगों को बड़ी उत्सुकता थी। यथा : जौ विधिवस अस बनै संजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू। कि रामजी का व्याह हो जाय सो हो गया। अतः सबलोग कहने लगे कि रामजी का व्याह हो गया। अथवा इस विवाह में साधारण विघ्न नहीं उपस्थित हुए। पहिले धनुषभङ्ग ही असाधारण व्यापार था। किसी भाँति वह टूटा तो सब राजा बिगड़ गये। यथा : लेहु छुड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ। सबसे महा विघ्न यह उपस्थित हुआ कि परशुरामजी आपड़े और धनुषभङ्ग करनेवाले को वध करने के लिए खोजने लगे। यथा : कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। वेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू। सो रामजी का व्याह निर्विघ्न समाप्त हो जाय इस बात की बड़ी लालसा थी। व्याह हो जाने पर उछाह बढ़ गया। सब कहने लगे कि रामजी का व्याह हो गया। यह महामङ्गल है जिसमें असंख्य नरनारी आनन्द मना रहे हैं। एक मङ्गलक्रिया के बाद ही दूसरा मङ्गल आरम्भ हो जाता है। एक मङ्गलाचार का वर्णन समाप्त होने ही नहीं पाता तब से दूसरा मङ्गल प्रारम्भ हो जाता है। अतः एक रसना नहीं कह सकती। एक रसना से एक रसास्वादन करते ही करते कितने रस छूट जाते हैं। इसलिए कवि कहते हैं कि यह महामङ्गल एक रसना से कहा नहीं जा सकता।

अब शेष तीनों भाइयों का व्याह वसिष्ठजी की आज्ञा से हो रहा है और वसिष्ठजी को महाराज जनक कुलदेव की दृष्टि से देखते हैं। यथा : कुल इष्ट सरिस वसिष्ठ पूजे। अतः वसिष्ठजी की सम्मति को महाराज जनक कुलदेव की आज्ञा में महाराज दशरथ की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। सो वसिष्ठजी की आज्ञा हुई और राजा जनक ने तुरन्त व्याह साज को सँवारकर : क्योंकि पहिले से बात तय नहीं हुई थी : तीनों कुमारियों को बुलवा लिया।

राजा जनक दो भाई थे। सीरध्वज और कुशध्वज। सीरध्वज ही बड़े थे। ये ही मिथिला के राजा थे और जनक कहलाते थे। छोटे भाई कुशध्वज को जनकजी ने संकाश्यापुरी को जीतकर वहाँ का राजा बना दिया था। सीरध्वज को

दो कन्यायें थीं। सीता और उर्मिला एवं कुशध्वज को भी दो कन्यायें थीं माण्डवी और श्रुतिकीर्ति। धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि सहोदर भाइयों का सहोदर बहिनों से व्याह नहीं हो सकता। यहाँ लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी सहोदर भाई थे और माण्डवी और श्रुतिकीर्ति सहोदर बहनें थीं। इसी कारण से माण्डवी का व्याह भरतजी के साथ और श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्नजी के साथ हुआ।

भरतजी के चार गुण : बल, शील, गुण और भक्ति। यथा : भरत बाहु बल सीलगुन प्रभु पद प्रीति अपार। मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवन कुमार। और भगवती माण्डवी में भी चार गुण दिखलाये गये हैं : गुण, शील, सुख और शोभा। अतः वर दुलहिन अनुरूप भी हैं। सब वैदिक और लौकिक रीति करके इसी प्रीति के साथ जिस भाँति जानकीजी का व्याह किया था उसी भाँति माण्डवी का व्याह भरतलाल के साथ हुआ।

लक्ष्मणजी तेज निधान हैं। यथा : राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे। भगवती उर्मिला सकल सुन्दरी शिरोमणि हैं। अतः यह वर दुलहिन भी अनुरूप हैं। कुशकेतु कन्या प्रथम कहने से श्रुतिकीर्ति का द्वितीय कन्या होना कहा। शेष रहीं उर्मिला वही जानकीजी की दूसरी बहन हैं।

भगवती श्रुतिकीर्ति के तीन गुण कहे गये : रूप, शील और निपुणता। यथा : सब गुन आगरी रूप शील उजागरी। इसी भाँति शत्रुघ्नजी के भी तीन गुण कहे गये हैं : शूर, सुशील, भरत अनुगामी। अतः यह वर दुलहिन भी अनुरूप हैं। व्याह हो जाने पर माण्डवी और भरतजी एक आसन पर विराजमान हुए। उर्मिला और लक्ष्मणजी एक ही आसन पर विराजमान हैं तथा भगवती श्रुतिकीर्ति और शत्रुघ्नजी एक आसन पर विराजमान हैं। इस भाँति बैठने में इनको गुरुजनों का सङ्कोच है और मनोवाञ्छित जोड़ी की प्राप्ति से मन में हर्ष है। इन जोड़ियों की ऐसी शोभा हुई कि सब लोग सुन्दरता की सराहना करने लगे। देवताओं की सराहना भी पुष्पवर्षा से अनुमित हुई।

इस समय चारों सुन्दरियाँ अपने अपने सुन्दर वरों के साथ एक ही मण्डप में शोभायमान हैं। इस शोभा की उपमा देते हुए कवि कहते हैं कि जैसे जीव के हृदय में चारों अवस्थाएँ अपने अपने विभु के साथ विराजमान हों। यहाँ जनकपुर है। अतः प्रधानता सुन्दरियों की है। उन्हीं की अपने अपने वरों के साथ सुशोभित होने की उपमा दी जा रही है।

अवस्थाएँ चार हैं : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इनके विभु क्रम से विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और ब्रह्म हैं। यहाँ तुरीयावस्था सीताजी हैं और उनके विभु ब्रह्म राम हैं। यथा : तमेकमद्भुतं प्रभुं तुरीयमेव केवलम्। रामजी के सदृश भरतजी हैं। यथा : भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी। और तुरीय के सदृश ही सुषुप्ति हैं। अतः सुषुप्ति के विभु माण्डवीपति भरतजी हैं। तुरीय और सुषुप्ति अवस्था भी ऐसी मिलती जुलती हैं कि सहसा साधक को लखाई नहीं पड़ती कि उसे सुषुप्ति हो गई या समाधि लग गई तथा सहसा ब्रह्म और ईश्वर में

भेद लखाई नहीं पड़ता। सुषुप्ति और स्वप्न का साथ है। इसी भाँति उनके विभुओं का भी साथ है। वहाँ स्वप्न के विभु की उपमा शत्रुघ्नजी के साथ ठीक बैठती है। क्योंकि उनका साथ भरतजी से है। यथा : भरत शत्रुहन दूनों भाई। प्रभु सेवक जिमि प्रीति बढ़ाई। और स्वप्न तथा जाग्रत् में अत्यन्त साहृश्य है। स्वप्न देखता हुआ पुरुष अपने को जागता हुआ ही उस समय मानता है। एवं उनके विभुओं में भी साहृश्य है। हिरण्यगर्भ और विराट् एक रूप हैं। इस भाँति शत्रुघ्न और लक्ष्मण में साहृश्य है। यथा : लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा। अतः परिशेष न्याय से लक्ष्मणजी की उपमा जाग्रत के विभु से ठीक बैठती है। दूसरी बात यह है कि जाग्रत् और तुरीय का साथ है। तुरीय की प्राप्ति जाग्रत् से ही सम्भव है। सुषुप्ति या स्वप्न से कोई तुरीयावस्था को नहीं प्राप्त कर सकता। इसी भाँति इनके विभुओं का भी साथ हुआ। यथा भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जिमि प्रीति बड़ाई। अतः जाग्रत् के विभु की उपमा लक्ष्मणजी के साथ है। तुरीय और सुषुप्ति अव्यक्तावस्था हैं। अतः इनके विभुओं : राम और भरत का रङ्ग श्याम है और जाग्रत् तथा स्वप्न व्यक्तावस्था है। अतः इनके विभुओं लक्ष्मण और शत्रुघ्न का रंग गौर है। जाग्रत् का संस्कार ही स्वप्न है। अतः जाग्रत् अवस्था ही ज्येष्ठ है सो उसके विभु लक्ष्मणजी शत्रुघ्नजी से ज्येष्ठ हैं।

जीव का हृदय ही एक ऐसा स्थल है जहाँ सब कुछ सम्भव है। वहीं चारों अवस्थाएँ एकत्र रह सकती हैं। अतः जनकजी के मण्डप की उपमा जीव के हृदय से दी।

दो. मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फलचारि ॥३२५॥

अर्थ : सब बेटों को बहुओं के साथ देखकर अयोध्याधिपति मुदित हैं। मानों भूपालमणि ने क्रियाओं के सहित चारों फल प्राप्त कर लिये।

व्याख्या : एक बेटे को बहू के साथ देखना दुर्लभ था। क्योंकि रामजी विषयरस से रूखे थे। यथा : राम पुनीत विषय रस रूखे। लोलुप भूप भोग के भूखे। सो आज चारों बेटों को बहुओं के साथ देख रहे हैं। अतः मुदित हैं। पहिले ही कह आये हैं : नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धर्मादिक तनु धारी : अब वे ही वधुओं के सहित हैं। इसीलिए क्रियांओं के सहित चारों फलों की प्राप्ति कहते हैं। धर्म की क्रिया सुकृति है। अर्थ की क्रिया व्यापृति उद्योग है। काम की क्रिया रति और मोक्ष की क्रिया भक्ति है। फलरूप होने से मोक्ष और काम क्रम से रामजी और भरतजी की उपमाएँ हैं तथा साधनरूप होने से धर्म और अर्थ लक्ष्मण और शत्रुघ्न की उपमाएँ हैं।

जसि रघुवीर व्याह विधि वरनी। सकल कुँअर व्याहे तेहि करनी ॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनक मनि मंडप पूरी ॥१॥

अर्थ : जैसी रामजी के व्याह की विधि वर्णन की गई है उसी विधि से सब राजकुमारों को व्याहा। दायज इतना दिया गया कि कहा नहीं जा सकता। सोने और मणियों से मण्डप भर उठा।

व्याख्या : महाराज ने भरतजी को आज्ञा दी : चलहु वेगि रघुवीर बराता। सो बारात रामजी के व्याह के लिए चली। स्त्रियों ने गीत भी सीताजो और रामजी का नाम लेकर गाया था। भरत शत्रुघ्न तो बारात में आये थे। किसी को पता भी नहीं कि इन लोगों का भी व्याह होगा। सो रामजी का व्याह हो गया। वसिष्ठजी की आज्ञा शेष तीनों कुँअरियों के व्याह देने के लिए हुई। जनकजी ने उसी करणी से तीनों का व्याह किया। श्रद्धा या दायज में कोई त्रुटि नहीं हुई। सुवर्ण और मणि से मण्डप भर उठा। यह महाराज जनक की अलौकिक श्रद्धा और ऐश्वर्य का परिचायक है।

कंबल वसन विचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहु मोल न थोरे ॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी ॥२॥

अर्थ : अनेक प्रकार के बड़े मूल्यवान् और ढेर के ढेर ऊनी सूती और रेशमी कपड़े, हाथी, रथ दास, दासी, अलंकृत गायें कामधेनु-सी।

व्याख्या : यह सब दायज वर पूजन और कन्यादान में मिला है। महाराज जनक ने जिस भाँति यज्ञ में चाँदी निन्दित है : क्योंकि वह रुद्र के रोने से उत्पन्न हुई कही जाती है। सोरोदीत् उसी भाँति उसे समझकर चाँदी से काम न लिया। सब प्रकार के वस्त्र दिये। हाथी, घोड़े, रथ, दास. दासी और गायें दीं।

वस्तु अनेक करिअ किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा ॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सबु सुखु माने ॥३॥

अर्थ : अनेक वस्तुएँ जिनका क्या लेखा किया जाय? वे ही जान सकते हैं जिन्होंने देखा है। परन्तु कही नहीं जा सकती। जिन्हें देखकर लोकपाल सिहाते हैं। अयोध्यानाथ ने सबको सुखपूर्वक स्वीकार किया।

व्याख्या : राजोपचार से वरपूजन हुआ। ऊनी, सूती, और रेशमी वस्त्र, वस्त्रोपवस्त्र के लिए दिये। चतुरंगिणो सेना के लिए गजरथ तुरग दिये गये। पैदल नहीं दिये जा सकते। अतः दास दासी दिये गये। हवि के लिए गायें दी गईं : शास्त्रदृष्टि से गौ का कोई मूल्य नहीं है। छत्रचामरादि समस्त राजोपचार दिये गये। जिन्हें देखकर लोकपाल सिहाते हैं। अतः कवि कहते हैं कि मैंने वैसी वस्तुएँ देखी ही नहीं हैं। वर्णन क्या करूँ। मैं तो जानता ही नहों। जिन्होंने देखा है वे ही जानते हैं। जो दायज वर को दिया जाता है वह सब उसके पिता की सम्पत्ति मानी जाती है। सो महाराज दशरथ ने जनकजी के प्रीत्यर्थ उन्हें आदर के साथ ग्रहण किया। परन्तु क्षत्रिय की प्रीति प्रतिग्रह में नहीं होती। अतः

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा । उबरा सो जनवासेहिं आवा ।।
तब कर जोरि जनकु मृदु बानी । बोले सब बरात सनमानी ।।४।।

अर्थ : जो जिसे अच्छा लगा उसे वही दिया । इस भाँति याचकों को दे दिया । जो देने से बचा वह जनवास में आया । तब जनकजी हाथ जोड़कर सब बारात का सम्मान करते हुए बोले ।

व्याख्या : फिर दायज मिलते ही महाराज दशरथ की आज्ञा से याचकगण विवाहमण्डप में बुलाये गये । आज्ञा हुई कि जिसे जो पसन्द हो चुन ले । दसरथ सहित समाजु विराजे । विभव विलोकि लोकपति लाजे । ऐसे महाराज को लौकिक दायज क्या जँचेगा । इसलिए राजा जनक ने ऐसा दायज दिया जिसे देखकर लोकपाल सिहरने लगे : स्वर्ग के दुःखों में डाह भी एक प्रधान दुःख है कि ऐसी वस्तुएँ मेरे पास नहीं हैं । सो ऐसी वस्तुएँ याचकों में बाँटी जा रही हैं । पहिले ही याचक बहुत पा चुके हैं । यथा : भइ बकसीस याचकन्हि दीन्हा । इसलिए सन्तुष्ट हैं । उनके लेने पर भी बहुत कुछ सामान बच गया । वही जनवास में आया । इससे महाराज दशरथकी निःस्पृहता दानशीलता और दीनबन्धुता कही ।

चारों कुँअरों के व्याह के बाद याचकों के सन्तोष के बाद महाराज जनक ने पहिले बारात का सम्मान करना उचित समझा । अतः हाथ जोड़कर मृदुवाणी सब बारात का सम्मान करते हुए बोले । करजोरि कर्मणा सनमानी मनसा तथा मृदुवाणी बोले वाचा सत्कार किया ।

छ. सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइकै ।
प्रमुदित महामुनि वृंद बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै ।।
सिरनाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किए ।
सुर साधु चाहत भाव सिंधुकि तोष जल अंजलि दिए ।।
करजोरि जनकु बहोरि वंधु समेत कोसल राय सों ।
बोले मनोहर वयन सानि सनेह सील सुभाय सों ।।
सनवंध राजन रावरे हम बड़े अब सब विधि भये ।
एहि राज साज समेत सेवकु जानवोबिनु गथ लये ।।
ए दारिका परिचारिका करि पालवी करुना नई ।
अपराधु छमिओ बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यौ कई ।।
पुनि भानुकुल भूषन सकल सनमान निधि समधी किये ।
कहि जात नहिं विनती परसपर प्रेम परिपूरन हिये ।।
वृंदारकागन सुमन वरषहिं राउ जनवासहिं चले ।
दुन्दुभी जयधुनि वेद धुनि नभ नगर कौतूहल भले ।।

तब सखी मंगल गान करत मुनीस आयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहवर ल्याइ कै ॥

अर्थ : आदरदान विनय और बड़ाई करके पूरी बारात का सम्मान किया। प्रमुदित होकर महामुनियों के समूह की पूजा प्रेम को उडेल करके की और वन्दना की। सिर नवाकर देवों को मनाया। हाथ जोड़े हुए सबसे कहने लगे कि देवता और साधु तो भाव चाहते हैं। नहीं तो क्या समुद्र का तोष जलाञ्जलि देने से होता है।

फिर जनकजी भाई सहित हाथ ज़ोड़कर कोसलपति से स्नेह शील और सुन्दर भाव से सनी हुई मनोहर वाणी बोले। हे राजन्! आपके सम्बन्ध से हम अब सब प्रकार से बड़े हुए। इस राजपाट के समेत हमें बिना राम का सेवक जानना। इन कन्याओं को टहलनी जानकर अपनी अपूर्व करुणा से पालन कीजियेगा। मेरे अपराध को क्षमा कीजियेगा। मैंने बड़ी ढिठाई की है जो आपको बुलवा भेजा है। फिर सूर्यकुल के भूषण महाराज दशरथ ने समधी को सभी सम्मान का भाजन बनाया। परस्पर की विनती कही नहीं जा सकती। प्रेम से हृदय परिपूर्ण था।

देवताओं ने पुष्पवृष्टि की। महाराज जनवासे चले। नगाड़े बजे। जय जयकार हुआ। वेदध्वनि हुई। आकाश में और नगर में बड़ा कौतूहल मचा। तब मुनिजी की आज्ञा पाकर सुन्दरी सखियाँ मङ्गलगान करती हुई दुलहिनों के सहित दुलहों को कोहवर : कौतुकागार में लिवा ले चलीं।

व्याख्या : इस समय सभी बारात दान की पात्र है। महाराज जनक का दिया हुआ सब लेवेंगे। दानों में सबसे बड़ा दान सम्मान है। यथा : तुलसी कहत पुकारि के सुनौ सकल दै कान। हेम दान गज दान ते बड़ो दान सनमान। अतः महाराज जनक ने दान और सनमान दोनों से काम लिया। आदर के सहित दान भी किया। विनय और स्तुति भी की। आदर पहिले दान पीछे। दान के स्वीकार के लिए विनय किया। यहाँ रघुवंशियों का समाज जुटा हुआ है। जो सभी स्वयं दानी हैं यथा : दातुं मतुं मद्विधा राजपुत्री। मंगन लहै न जिनके नहीं। अतः प्रतिग्रह की रुचि नहीं है। उसे स्वीकार करने के लिए विनय किया। स्वीकार कर लेने पर स्तुति की। सब बारात के सम्मान के बाद महामुनिवृन्द की वन्दना की और पूजा में तो प्रेम बह चला। महाराज बड़े प्रेमी हैं। प्रेम को योग भोग में छिपाये रहते हैं। इस समय छिपा न सके। सो प्रेम मानो प्रकट होकर बह चला। उत्तरोत्तर अन्तरङ्ग की पूजा कर रहे हैं। देवताओं की पूजा पहिले बिना जाने ही की थी। यथा : पूजे जनक देव सम जाने। दियो सुआसन बिन पहिचाने। अतः देवताओं को मनाया। अथवा पूजन में आवाहित देवताओं का विसर्जन किया और फिर आने के लिए प्रार्थना की : पुनरागमनाय च। सो मनुष्य मुनि और देवता सबसे विनय हो रही है। उत्तम लोग मान चाहते हैं। मध्यम लोग धन और मान दोनों की इच्छा रखते हैं। केवल धन की इच्छा रखनेवाले तो निकृष्ट कोटि में हैं। यथा : उत्तमा मानमिच्छन्ति

धनं मानञ्च मध्यमा: । अधमा : धनमिच्छन्ति । लोगों को यह भावना न हो कि जनक राजा ने हम लोगों को मध्यम कोटि में गिन लिया। इसलिए कहते हैं कि मेरा दान समुद्र को जलाञ्जलि दान के तुल्य है। समुद्र से ही जल लेकर उन्हीं को जलाञ्जलि दो जाती है। इससे दान कुछ भी न हुआ केवल भक्ति का प्रदर्शन : सत्कार मात्र है। स्वल्प दान भी मान अंग है। उसकी दान में गिनती नहीं है।

सबसे पीछे खास समधी से विनय करते हैं। महाराज दशरथ दोनों भाइयों के समधी हैं। राजा कुशध्वज सर्वात्मना अपने बड़े भाई महाराज सीरध्वज जनक की आज्ञा में हैं। जो करते हैं जनकजी करते हैं। माण्डवी श्रुतिकीर्ति का विवाह कर दिया। राजा कुशध्वज की सम्मति की भी आवश्यकता न समझी। कुशध्वज राजा कुछ नहीं बोलते। केवल समधी से विनय करने के समय हाथ जोड़ने में सम्मिलित हो गये। मनसा वाचा कर्मणा विनती की। सानि सनेह सील सुभाय सों। मनसा : बोले मनोहर वयन। वाचा : करजोरि। कर्मणा कहने लगे : प्रभु प्रसाद जस जाति सकल सुख पायेउँ। आपके प्रसाद से अब हम सब भाँति बड़े हुए। थे नहीं। बड़े के सम्बन्ध से साधारण पुरुष की सब भाँति प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। फिर सब प्रजावर्ग को ओर से बोले कि सम्बन्ध से हम आपके बराबर नहीं हुए। क्योंकि समधो शब्द की व्युत्पत्ति है : समाना धीर्यस्य स समधी। केवल सेवकसेव्यभाव स्थापित हुआ। हमलोग प्रजावर्ग के साथ अक्रीतदास हो गये। यहाँ दशरथजी को कोसलराज कहा। जनकजी को मिथिलाधिपति नहीं कहा : क्योंकि राजा जनक इस समय ऐसा बोल रहे हैं जैसे कोई साधारण पुरुष महाराज से बोले। अत: ये कुमारियाँ परिचारिका हुईं। अभी अत्यन्त छोटी हैं। बड़े लाड़ प्यार से पाली गई हैं। इन्हें अपनी अपूर्व करुणा से पालियेगा। जो पुत्री न हो उसपर पुत्रीवत् करुणा अपूर्व करुणा है।

ब्राह्मविवाह में बुलाकर कन्यादान की विधि है। फिर भी महाराज जनक बुला भेजने को ढिठाई मान रहे हैं। समझते हैं : टूटत ही धनु भयउ विवाहू। बिना बुलाये भी काम चल सकता था। सो हमने बुलवा भेजा। यह बड़ो ढिठाई हुई। इसलिए क्षमा प्रार्थना करते हैं।

महाराज दशरथ भानुकुलभूषण हैं। चिट्ठी का सम्मान करनेवाले हैं। जब कोई सम्बन्ध नहीं था उस समय राजा जनक की चिट्ठी को अभ्युत्थान पूर्वक लिया था। अब तो समधी का सम्बन्ध हो गया है। अतः उन्हें सम्मान की निधि बनाया। अर्थात् यह माना कि जिसे आप सम्मान दें वह सम्मान पावे। परस्पर विनय में यदि प्रेमपूर्णहृदय हो तो वचनअगोचर सुख होता है। यथा : मुनि रघुवीर परसपर नवहीं। वचन अगोचर सुख अनुभवहीं।

आज तक यह रसम चली आती है कि पण्डित लोग व्याह के बाद अपने यजमान की ओर से परस्पर विनती और बड़ाई के श्लोक पढ़ते हैं। अब विवाह हो गया। समधी की विनती हो गई। महाराज जनवासे को चले। राजा चले कहने का भाव यही है कि अपने साज समाज के साथ चले। राजायं गच्छति : का ऐसा ही अर्थं किया जाता हैं। सो महाराज के चलते समय नगाड़े बजे। चारों ओर से जय

जयकार हुआ। मङ्गल के लिए ब्राह्मणों ने वेदध्वनि की। आकाश और नगर में महाराज की सवारी देखने की बड़ी उत्सुकता है।

महाराज के चले जाने के बाद वसिष्ठजी से सखियों ने कुँवरों को कौतुकागार में ले जाने की आज्ञा माँगी। महाराज के बाद वसिष्ठजी ठहर गये थे। क्योंकि चारों कुमार वहीं थे। वसिष्ठजी ने आज्ञा दे दी। चारों कुमारियों की सखियाँ अलग अलग हैं। वे कुमार कुमारियों को लेकर चलीं।

मण्डप में : सुंदरी सुंदर वरन्ह संग कहकर सुन्दरियों की प्रधानता कही थी। शोभित कुमारियाँ हैं। वर उनके साथ हैं। क्योंकि बारातियों के लिए वधुओं का दर्शन नई बात थी। यहाँ वरों की प्रधानता है क्योंकि वे मेहमान : पहुना हैं।

दो. पुनि पुनि रामहिं चितव सिय, सकुचति मनु सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छवि, प्रेम पियासे नैन ॥३२६॥

अर्थ : बार बार रामजी को सीताजी देखती हैं और संकुचित होती हैं। पर मन नहीं सकुचता। प्रेम के प्यासे नेत्र मनोहर मीन की छवि को हरण करते हैं।

व्याख्या : धनुषयज्ञ के समय : प्रभुहि चितय पुनि चितव महि राजत लोचन लोल। खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधुमंडल डोल। प्रभु को स्पष्ट देख रही थीं। अतः मनसिज मीन जुग : का खेलना कहा। यहाँ तो स्पष्ट देख भी नहीं सकतीं और मन संकुचित नहीं होता। इसलिए मन छटपटा रहा है। आँखों को प्रेम की प्यास है। क्योंकि खेलने के लिए यथेष्ट स्थान चाहिए। यहाँ स्थान अत्यन्त संकुचित है।

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन ॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए ॥१॥

अर्थ : श्याम शरीर स्वभाव से ही सोहावना है। उसकी शोभा कोटिन कामदेव को लज्जित करनेवाली है। चरण कमल में महावर की शोभा है। जिन पर मुनियों के कमलरूपी भौंरे मँडराया करते हैं।

व्याख्या : प्रभु की श्याम शरीर की शोभा बिना शृङ्गार ही अपूर्व है। श्यामता भयावनी होती है। यथा : सहित प्रान कज्जल गिरि जैसे। परन्तु यह श्यामता ही विचित्र है। नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर : की शोभा है। कामदेव का भी श्यामवर्ण कहा गया है। पर इस श्यामता की शोभा के सामने वह कुछ भी नहीं है। राम स्याम सतकोटि सुभग तन। निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुताल है।

चरण कमल तो आप हो सुन्दर हैं : करि मधुप मुनि मन जोगि जन जेहि सेइ अभिमत गति लहैं। सो जावकयुत पदकमल को छोड़कर तो गति भी नहीं चाहते। उसी का आनन्द लिया करते हैं। नख शिख वर्णन हो रहा है। इससे पहिले चरणों का ही वर्णन किया। माधुर्य की पराकाष्ठा है। व्याह है। इसलिए ऐसे चरणों में भी महावर लगा है।

पीत पुनीत मनोहर धोती। हरत बाल रवि दामिनि जोती ॥
कल किंकिनि कटि सूत्रु मनोहर। बाहु विसाल विभूषन सुंदर ॥२॥

अर्थ : पीली पवित्र सुन्दर धोती थी जो कि प्रभातकाल के सूर्य और विजली की प्रभा को हरण करती थी। कमर में सुन्दर करधनी और मनोहर करधन था। विशाल भुजाओं पर सुन्दर गहने थे।

व्याख्या : पीत रङ्ग हलदी का है। इससे उसे पुनीत कहा। अथवा पीत पुनीत धोती से पीताम्बर लक्षित किया जो पहनने में पवित्र और देखने में मनोहर है। बालरवि लाल होते हैं। पर उनकी ज्योति पीली होती है।

धोती के ऊपर किंकिणी है। कटिसूत्र धोती के भीतर है। पर यह कटिसूत्र व्याह में पहिनाया गया है इसलिए ऊपर है। विभूषण की शोभा विशाल बाहु पर ही है। अथवा विशाल बाहु वीरतासूचक और विभूषण मङ्गल सूचक है।

पीत जनेउ महाछवि देई। करमुद्रिका चोर चितु लेई ॥
सोहत व्याह साज सब साजे। उर आयत उरभूषन राजे ॥३॥

अर्थ : पीला जनेव बड़ी शोभा दे रहा है। हाथ की अँगूठी तो चित्त को चुराए लेती है। व्याह का सब साज सजे हुए शोभा पा रहे हैं। चौड़ी छाती पर उर के सुन्दर आभूषण शोभायमान हैं।

व्याख्या : जनेव भी विवाह में मिला है। इसलिए कपड़ों के ऊपर पहने हुए हैं। हाथ में अँगूठी ऐसी है कि जिसने उसे देख लिया वह उसे भूल ही नहीं सकता। यथा : चकित चितव मुँदरी पहिचानी। माया से अस रची न जाई। व्याह के वस्त्रादि सब पहने हैं। मौर भी अभी नहीं उतरा है। आयत उर न हो तो मालाएँ एक में मिल जाती हैं। शोभा नहीं होती। आयत उर होने से सब मालाएँ पृथक् पृथक् शोभा देती हैं।

पिअर उपरना काँखासोंती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥
नयन कमल कल कुंडल काना। वदनु सकल सौंदर्ज निधाना ॥४॥

अर्थ : पीले रंग के दुपट्टे की काँखासोती : पहिने हैं। जिसके दोनों अञ्चलों में मणि और मोतियाँ टँकी हैं। कमल ऐसे नेत्र हैं। कानों में सुन्दर कुण्डल हैं और सुन्दर मुख तो सुन्दरता का निधान ही है।

व्याख्या : युगपत् सव्यापसव्य ढंग से दुपट्टा धारण करने को काँखासोती

कहते हैं। दुपट्टे में जरी का काम है। अतः अञ्चलों में मणि टँके हैं और मोतियों की झालर है। अथवा यथास्थान मणि और मोतियाँ दोनों टँकी हुई हैं। नेत्र कमलों की भाँति विकसित हैं। कानों में सुन्दर कुण्डल झलक रहे हैं। केवल हाथ पैर और मुख ये तीन खुले हैं। शेष सब अंग भूषण वसन से ढके हैं। मुख की शोभा से ही सब शोभा है। अतः सकल सौन्दर्य निधान कहा।

सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाँथे॥५॥

अर्थ : भौंहें सुन्दर और नाक मनोहर थी। माथे पर तिलक तो रुचिरता का निवास था। मस्तक पर मोती और रत्नों से गुथा हुआ मनोहर मौर शोभायमान था।

व्याख्या : विवाह का मङ्गलमय समय है। इसलिए कवि ने विकट भ्रुकुटि या भृकुटि मनोज चाप छवि हारी नहीं कहा और न नासिका की उपमा शुकतुण्ड ही से दी। केवल सुन्दर कह दिया। ऊर्ध्वपुण्ड्र का आकार घर का सा होता है। अतः उसे रुचिरता का निवासस्थान बतलाया।

विवाह का प्रधान चिन्ह मौर है। अतः उसे मङ्गलमय बतलाया। काम परे कछु और है काम सरे कछु और। तुलसी भाँवर के फिरे नदी सिरावत मौर। इसी समय तक मौर की शोभा है। क्योंकि कोहबर में जाकर मौर उतर जायगा।

छ. गाथें महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुर नारि सुर सुंदरी वरहिं विलोकि सब तिन तोरहीं॥
मनि वसन भूषन वारि आरति करहिं मंगल गावहीं।
सुर सुमन वरिसहिं सूत मागध वंदि सुजस सुनावहीं॥
कोहबरहिं आने कुंअर कुंअरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।
रनिवासु हास विलास रस वस जनम को फल सब लहै॥
निज पानि मनि महुँ देखि पति मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजवल्ली विलोकनि विरह भय वस जानकी॥
कौतुक विनोद प्रमोदु प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।
वर कुँवरि सुंदरि सकल सखी लेवाइ जनवासेहि चली॥
तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनंदु महा।
चिर जिअहु जोरी चारु चारयौ मुदित मन सबही कहा॥

जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी ।
चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी ॥

अर्थ : सुन्दर मौर में महामणि लगे हुए थे । सब अङ्ग चित्त को चुराते थे । पुर की स्त्रियाँ और सुरसुन्दरियाँ वर को देखकर तृण तोड़ रही थीं । मणि वस्त्र अलङ्कार निछावर करके मङ्गलगान करती थीं । आरती करती थीं । देवता लोग फूल बरसाते थे । सूत, मागध और वन्दी सुयश सुनाते थे ।

सुहागिनें सुख पाकर कुँअर और कुँअरियों को कौतुकागार में ले गईं और अति प्रीति के साथ मङ्गल गान करके लौकिक रीति करने लगीं । लहकौरि में गौरी रामजी को सिखाती हैं और सीताजी से शारदा कहती हैं । रनिवास हास विलास के आनन्द वश में होकर सब जन्म के फल को ले रही हैं ।

अपने हाथ की मणि में स्वरूपनिधान : रामजी की मूर्ति देखकर विरह के भय से जानकी बाहुलता से दृष्टि नहीं हटातीं । कौतूहल हँसी दिलग्गी आनन्द और प्रेम कहा नहीं जा सकता । उसे सखियाँ जानती हैं । वर और दुलहिन को सखियाँ लिवाकर जनवासे चलीं । उस समय नगर में और आकाश में जहाँ देखिये तहाँ आशीर्वाद सुना जा रहा है । महा आनन्द है । सबने प्रसन्न होकर कहा कि यह सुन्दर चारों जोड़ियाँ चिरञ्जीवी हों । योगीन्द्र सिद्ध मुनीन्द्र और देवताओं ने प्रभु को देखकर दुन्दुभी बजाई और अपने अपने लोक को जय जय जय कहकर और फूल की वर्षा करके हर्षित हो चले ।

व्याख्या : अन्य भूषणों में मणि लगे हैं । पर मौर में तो महामणि गूँथे गये हैं । अवयव संस्थान ऐसा रमणीय है मानो चित्त को चुराये लेता है । पुर नरनारि और सुरसुन्दरियाँ प्रभु का दर्शन कर रही हैं । इसीलिए नखशिख वर्णन किया । दर्शन करते समय तृण तोड़ती हैं । जिसमें अपनी कुदृष्टि न लग जाय । शची शारदा रमा भवानी आदि सुरसुन्दरी वहाँ उपस्थित हैं । पहिले निछावर हुई । तब आरती हुई । आरती में मङ्गलगान हुआ । बाहर देवता लोग पुष्पवृष्टि कर रहे हैं और वन्दी मागध सूत सुयश सुना रहे हैं ।

कोहवर में लानेवाली सुहागिनी स्त्रियाँ प्रभु का दर्शन पाकर सुखी हो रही हैं । विवाह का सब कार्य सुहागिनों द्वारा सम्पन्न होता है । कोहवर में लौकिक रीति होती है । वैदिक रीति तो मण्डप में हो चुकी । लौकिक रीतियाँ मङ्गलगान के साथ सम्पन्न की जाती हैं । लहकौरि का रसम कोहवर में होता है । उसमें वर दुलहिन दोनों को सिखानेवाली स्त्रियाँ होती हैं । वे वर के हाथ से दुलहिन के मुख में और दुलहिन के हाथ से वर के मुख में दही और मिष्टान्न का प्राशन कराती हैं । इसमें खासी हँसी होती है । गौरी की उपासना सीताजी की है । यथा : बोली गौरि हरख उर भरेऊ । वे रामजी को सिखला रही हैं कि वधू के मुख में दही और मिष्टान्न दें । इधर सरस्वती की उपासना रामजी की है । यथा : गुरु प्रसाद सब

विद्या पाई। सो सरस्वतीजी ऐसी ही बात सीताजी को सिखला रही हैं। इस रसम[1] को दहीगुड़ का रसम भी कहते हैं।

यहाँ भगवती को प्रभु के दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ। प्रेमपियासे नयन हाथ की मणि में प्रभु का प्रतिबिम्ब देखने लगे। अतः वे थिर हो गये। विरह के भय से जानकी ने उस मणि से दृष्टि नहीं हटाई। दहीगुड़ का कौतुक, देवपूजन : सील का बट्टा रखकर उसे इष्टदेव बता बताकर स्त्रियाँ वर से पूजन कराना चाहती हैं। विनोद बत्ती मिलाने : वर से दीप की दो बत्तियों को स्त्रियाँ मिलवाती हैं का प्रमोद। और मौर उतरवाने : यह रसम सास को करनी पड़ती है का प्रेम कहने में नीरस हो जाता है। उन्हें सखियाँ ही जानती हैं। इस भाँति कोहवर का कार्य समाप्त हुआ। अतः वरों और दुलहिनों को लिवाकर जनवासे की ओर चलीं।

मार्ग में चारों ओर से आशीर्वाद सुनाई पड़ रहा है। नगर और नभ के निवासी दर्शन प्राप्ति से महा आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। योगीन्द्र सिद्ध मुनीश और देवता आकाश में हैं। इसके लिए दुन्दुभी बजाने का प्रयोग आया है। यद्यपि दुन्दुभी देवताओं ने ही बजायी। परन्तु छत्रिणो गच्छन्ति की भाँति बजाना क्रिया के कर्त्ता सब कहे गये। यथा : हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई। इस अर्धाली में सीय लोनाई। का हृदय में वर्णन रामचन्द्र के प्रति ही बनता है। फिर भी साथ होने से दोउ भाई को कर्त्ता कहा गया। देवता लोग जय जयकार करके और फूल बरसा के अपने अपने लोक गये। क्योंकि बारात अभी अधिक दिनों तक ठहरेगी। व्याह कृत्य समाप्त हुआ।

दो. सहित वधूटिन कुँअर सब, तब आए पितु पास।
सोभा मंगल मोद भरि, उमगेउ जनु जनवास ॥३२७॥

अर्थ : श्रेष्ठ कुँअर लोग बहुओं के साथ पिता के पास आये। जनवास में शोभा, मङ्गल, मोद भरकर उमड़ चला।

व्याख्या : पिता के पास राजकुमार आये इसलिए दुलहिनों को वधूटी कहा। इस समय जनवास छोटा पड़ गया। शोभा मङ्गल मोद के समाने के लिए यथेष्ट स्थान नहीं है। अतः मानों बाहर उमड़ चला। तब से भाव यह कि देवताओं के जाने के बाद। अर्थात् जनवासे तक देवताओं ने पहुँचाया।

---

१. करन लगे राम सिया गुर बानी।
हँसि हँसि गौरि सिखावत रामहिं सियहिं सिखावति हैं ब्रह्मानी।
गुड़ सों रस दधि से नहि उबिठै प्रेम अटूट निसानी।
मुदित होहिं गुन शक्ति देवता यह रहस्य पहिचानी। देवस्वामी

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठए जनक बोलाइ बराती ॥
परत पाँवड़े[1] बसन अनूपा। सुतन समेत गवन कियो भूपा ॥१॥

अर्थ : फिर बहुत प्रकार से जेवनार हुई। राजा जनक ने बारातियों को बुला भेजा। बेटों के सहित महाराज दशरथ भी गये। अनूप वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते थे।

व्याख्या : दूसरे दिन का कृत्य कहते हैं। पहिले दिन भी जेवनार बनी थी। गोधूलि की लग्न थी। इससे विवाह के पीछे जेवनार का विचार था। परन्तु वसिष्ठजी की आज्ञा से क्रमशः तीन व्याह और हुए। तत्पश्चात् कोहवर की रसम। फिर जनवासे भेजना। अर्धरात्रि के बाद भोजन निषिद्ध है। अतः उस दिन जेवनार न हो सकी। उमा के व्याह में लग्न पिछले पहर थी। इसलिए जेवनार पहिले हुई थी। यहाँ दूसरे दिन फिर से बहुत भाँति जेवनार बनी। कह चुके हैं : अपराध छमिवो बोलि पठयो बहुत हौं ढीठ्यौ कई। अतः बारातियों को बुला भेजा।

चक्रवर्तीजी जनकजी की विनय समझ गये। स्वयं पुत्रों के साथ चल पड़े। पहिले सोहाये वसन पाँवड़े पड़े थे : चलने के समय वस्त्र बिछाने को पाँवड़ा पड़ना कहते हैं। जिसमें धरती पर पैर न पड़े। वस्त्र पर ही पैर पड़ते जायँ। आज अनुपम वस्त्र पाँवड़े पड़ रहे हैं। आतिथ्य सत्कार बढ़ता जा रहा है। जनवासे से ही पाँवड़े पड़ने लगे।

सादर सबके पाय पखारे। जथाजोगु पीठन बैठारे ॥
धोये जनक अवधपति चरना। सीलु सनेहु जाइ नहिं बरना ॥२॥

अर्थ : आदर के सहित सबके पाँव धोये गये और यथा योग्य पीढ़ों पर बिठलाया। जनकजी ने अयोध्याधिपति के पैर धोये। शील और स्नेह का वर्णन नहीं किया जा सकता।

व्याख्या : बारातियों में से किसी को अपने पाँव अपने हाथ से न धोने पड़े। घरातियों ने यथायोग्य सब बारातियों के पैर धोये। भोजन में पीढ़ों के व्यतिरिक्त अन्य आसन विहित नहीं है। अतः सबको पीढ़ा दिया गया और जो जिस योग्य था उसे वहाँ बिठाया। चक्रवर्तीजी के पैर स्वयं राजा जनक ने धोये। जनक का शील स्नेह और सुन्दर भाव केवल वचन में ही नहीं है। यथा : बोले मनोहर वैन सानि सनेह सील सुभाव सों। क्रिया में तो इतना शील स्नेह है जिसका वर्णन नहीं हो सकता।

बहुरि राम पद पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महँ गोए ॥
तीनिउ भाइ राम सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी ॥३॥

---

[1] पाँवड़ा : संस्कृत में पादपतनम् शब्द है। उसी का तद्भवरूप पाअवड़णं जिसे पाँवड़ा कहा गया है। वे कपड़े जो पैर रखने के लिए बिछाये जाते हैं।

अर्थ : फिर श्रीरामजी के चरणकमल धोये। जिन्हें शिवजी अपने हृदय कमल में छिपाये रहते हैं। तीनों भाइयों के पैर जनकजी ने रामजी के समान जानकर अपने हाथ से धोये।

व्याख्या : श्री रामजी के चरणकमल सदा शिवजी के हृदय में विराजमान रहते हैं। यथा : जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव विराजहीं। उनमें महावर लगने से तो मुनियों के मन भौंरों के झुण्ड की भाँति उन पर गिरे पड़ते थे। जावक जुत पद कमल सुहाये मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाये। इसलिए शङ्करजी ने अपने हृत्कमल में छिपा रक्खा था उन्हें जनकजी ने अपने हाथ से धोया।

जनकजी के ज्ञान में बाध नहीं है। तीनों भाई रामजी के समान थे। यथा : राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु। अतः जनकजी का बर्ताव भी समान है। समान करणी से चारों भाइयों का व्याह किया। आज समान श्रद्धा से चारों भाइयों के पैर धो रहे हैं।

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे ॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे ॥४॥

अर्थ : राजा जनक ने सबको उचित आसन दिया। सब रसोईदारों को बुलवाया। आदर के साथ पत्तल पड़ने लगे। मणि के पत्तों की पत्तलें बनी थीं और वे पत्ते सोने की कील से जोड़े गये थे।

व्याख्या : आसन भी राजा जनक ने स्वयं दिया। पहिले भी : निज पानि जनक सुजान सब कहि आनि सिंहासन धरे कहा था। बारात बड़ी है और एक साथ खिलाना है। अतः सब रसोईदार बुलाये गये और परोसने के काम में लगा दिये गये। ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है। बड़ी बहुमूल्य कारीगरी है। अचिन्त्य ऐश्वर्य को साधारण रूप दिया जा रहा है। देखने में पत्तल हैं। परन्तु वस्तुतस्तु वे मणि के पात्र हैं। जिनमें बारातियों को परोसा जायगा।

दो. सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत।
छन महुँ सबके परुसिगे, चतुर सुआर विनीत ॥३२८॥

अर्थ : सुन्दर स्वादिष्ट और पवित्र दाल भात और गाय का घी क्षण भर में चतुर और विनीत रसोईदार सबको परोस गये।

व्याख्या : रसोईदार बड़े सिद्धहस्त हैं। रसोई परोसने में बड़ी चतुराई से काम लेना पड़ता है। जिसमें स्पर्शास्पर्श के नियम में कोई बाधा न पड़े। सो रसोईदार क्षणभर में सबको परोस गये। परोसने में बड़ी त्वरा से काम लिया और किसी का अनादर न हो पाया। दाल भात और गाय का घी ही ऐसा भोजन है। जिससे कभी मन नहीं ऊबता। इसलिए सुन्दर स्वाद कहा और सात्त्विक भोजन है। इसलिए पुनीत कहा। पञ्चाग्निहोत्र में पहिले आये हुए पदार्थ से ही पाँच ग्रास पहिले लिया जाता है और उसमें भी गोघृत और ओदन ही प्रशस्त है। सो तुरन्त

परोसा गया। जिसमें जब से पञ्च ग्रास ग्रहण करें तब से शेष सामान परोस दिया जाय।

पंच कवलि करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे ॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने ॥१॥

अर्थ : पञ्च प्राण के लिए पाँच आहुति देकर भोजन करने लगे। गाली का गाना सुनकर अत्यन्त अनुराग युक्त हुए। अनेक प्रकार के पक्वान्न परोसे जाने लगे। वे अमृत के सदृश थे। उनका बखान नहीं हो सकता।

व्याख्या : पद पाताल सीस अजधामा का ध्यान करके पाँच आहुति प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँचों प्राणों को देना और तत्पश्चात् मौन होकर भोजन करने का विधान है। भोजन के प्रारम्भ में और अन्त में मन्त्रपूर्वक आचमन करना होता है। यह वैश्वानर विद्या है। तदनुसार भोजन प्रारम्भ हुआ। फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि। सबको मन हर्षित करै ज्यौं विवाह में गारि। वस्तु कोई भी बुरी नहीं है। उसका उचित रीति से उचित समय से उचित मात्रा में प्रयोग होना चाहिए। महात्माओं ने आनन्द में विभोर होकर उस समय के गालीगान की कल्पना की है। यथा : दसरथ गोर कौसिला गोरी तुम साँवर केहि घर से। इत्यादि। जिस गाली से प्रेम उत्पन्न हो वह गाली नहीं है। वह सर्वथा स्तुत्य है और जो बुरी लगे वह सर्वथा तिरस्करणीय है। भोजन आरम्भ होने के बाद पक्वान्न परोसे गये। वे प्रकार में अनेक थे। गुण में सुधा सदृश थे। स्वाद में अवर्णनीय थे।

परुसन लगे सुआर सुजाना। विंजन विविध नाम को जाना ॥
चारि भाँति भोजन विधि गाई। एक एक विधि बरनि न जाई ॥२॥

अर्थ : सुजान रसोईदार परोसने लगे। अनेक प्रकार के व्यञ्जन बने थे। उनका नाम कौन जानता है। चार भाँति की भोजन विधि कही गई है। एक एक विधि का वर्णन नहीं हो सकता।

व्याख्या : रसोईदार बड़े सुजान हैं। अनेक प्रकार के व्यञ्जन जिनका नाम जानना कठिन है परोस रहे हैं और ऐसी व्यवस्था से कि किसी का किसी से मिश्रण नहीं होता और न कोई व्यञ्जन परोसने में छूटता है।

लेह्य, पेय, चव्य, चोष्य ये चार प्रकार पाक शास्त्र में कहे गये हैं। इसलिए विधि गाई कहा है। उनमें से एक एक की अनेक विधि हैं। जो वर्णनातीत हैं।

छ रस रुचिर विंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥
जेवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥३॥

अर्थ : छवों रसों के सुन्दर व्यञ्जन बहुत भाँति के बने थे और एक एक रस के असंख्य प्रकार थे। खाते समय मधुर ध्वनि से पुरुष और नारियों का नाम ले लेकर गाली देती थीं।

व्याख्या : रस छः संख्या में रुचिर देखने में बहुत भाँति गुणों के तारतम्य से। फिर रसों के संमिश्रण से असंख्य प्रकार के पक्वान्न बने थे। प्रेम की गाली की ध्वनि भी मधुर होती है। क्रोध में प्रशंसा के शब्दों की भी ध्वनि कठोर होती है। अवध की स्त्रियों का नाम नहीं मालूम है। इसलिए पुरुषों का नाम साथ में जोड़कर गाली देती हैं। अथवा पुरुष और स्त्रियों का नाम ले लेकर गाली देती हैं। क्योंकि जिसका नाम गाली में छूट जायगा वही समझेगा कि मेरा सम्मान नहीं हुआ।

समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥
येहि विधि सबहीं भोजनु कीन्हा। आदर सहित आचमनु दीन्हा ॥४॥

अर्थ : सुहावन समय पर गाली शोभित हुई। महाराज समाज सहित सुनसुनकर हँस रहे हैं। इस विधि से सबने भोजन किया और आदर के सहित आचमन लिया।

व्याख्या : अति आनन्द के समय सभ्यता का बन्धन कुछ ढीला पड़ जाता है। उस समय सभी समाज में सभ्यता की मर्यादा का उल्लंघन स्वभाव से ही हो जाता है। उस समय का व्यङ्ग्य अतिप्रिय होता है। यथा : गारी मधुर सुर देहिं सुन्दरि व्यंग वचन सुनावहीं। भोजन करहि सुर अति विलंब विनोद सुनिसुख पावहीं। इसीलिए कहते हैं कि इस मङ्गल समय में गाली की भी शोभा हुई। क्योंकि इससे आनन्द की मात्रा बढ़ गई। प्रेम की गाली सुनकर अवध नरेश समाज के सहित हँस रहे हैं। इस विधि से सबने भोजन किया। परन्तु भोजन समाप्त होने पर सावधान हो गये। आदर के सहित आचमन लिया। आचमन का मन्त्र है। उसे मनमें उच्चारण करके आचमन लिया जाता है। गाली इत्यादि हँसी होती रही। परन्तु यथाशास्त्र भोजन विधि में अन्तर नहीं हुआ। यह पञ्चाग्निहोत्र है। इस भोजन का अग्निहोत्र के समान फल है।

दो. देइ पान पूजे जनक, दसरथ सहित समाज।
जनवासेहि गवने मुदित, सकल भूप सिरताज ॥३२९॥

अर्थ : पान देकर राजा जनक ने महाराज दशरथ का समाज के सहित पूजन किया। सब राजाओं के शिरोमणि प्रसन्न होकर जनवासे गये।

व्याख्या : पान स्वयं जनकजी ने दिया। तत्पश्चात् गन्धाक्षतादि से पूजन किया। अभी भोजन के समय के विनोद का रस बना है। अतः भूपशिरोमणि मुदित जनवासे गये। आये थे बेटों के सहित। यथा : सुनत समेत गवन कियो भूपा। परन्तु जाने के समय बेटे साथ नहीं है। कुँवर लोग ससुराल में ही रोक लिये गये।

नित नूतन मंगल पुर मांहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जांहीं ॥
बड़े भोर भूपतिमनि जागे। जाचक गुन गन गावन लागे ॥१॥

अर्थ : नित्य नया मङ्गल पुर में होने लगा। रात और दिन पल के समान बीतने लगे। बड़े सवेरे महाराज जागे। याचक लोग गुणगण का गान करने लगे।

व्याख्या : किसी दिन गोदान है। किसी दिन चतुर्थीकर्म है। किसी दिन पुजाई है। किसी दिन मनौती है। किसी दिन कथा है। मिथिला में नित्य मङ्गल है। जबतक चक्रवर्तीजी मिथिला में ठहरे तबतक नित्य मङ्गल होता रहा। जहाँ स्वयं रघुनाथजी दूल्हा होकर आये हैं। वहाँ नित्य नया मङ्गल होना आश्चर्य नहीं। यथा : सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन राम भगति के पाये। निति नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू। किसी महात्मा का यह मत भी है : भरत सरिस वय राजकुमारा। जो बारात में आये थे उनके भी विवाह मिथिला में हुए। अतः नित नूतन मङ्गल लिखना सार्थक है। सुख के दिन रात बीतते मालूम नहीं पड़ते। इसलिए कहते हैं कि रात और दिन पलक के समान बीतते हैं।

विवाह कृत्य समाप्त होते ही कवि ने यह कह देना उचित समझा कि जब तक बारात टिकी रही नित्य नये मङ्गल जनकपुर में होते रहे। इसके बाद फिर वहीं से कथा उठायी जहाँ से छोड़ी थी। अर्थात् महाराज के जनवासे आने के बाद से कथा प्रारम्भ की।

यद्यपि वहुत रात जाने पर सोयें थे। फिर भी बड़े भोर जग गये। यथा : पहिले पहर भूप निज जागा। नीतिशास्त्र भी यह कहता है : चिरं केशेषु दन्तेषु चिरं मूत्रपुरीषयोः। अचिरं कुरु राजेन्द्र भोजने शयने रणे। दाँत और बालों की शुद्धि में तथा शौचादि में देर लगानी चाहिए। परन्तु हे राजेन्द्र! भोजन शयन और रण में त्वरा से काम लेना चाहिए। उदार के घर पर याचकों की भीड़ रहती है। महाराज दशरथ के आगमन तथा उनकी उदारता की कीर्ति सुनकर याचक लोग जुट गये थे। उन्होंने गुणगान करना आरम्भ कर दिया।

देखि कुँअर वर वधुन समेता। किमि कहि जात मोदु मन जेता॥
प्रातक्रिया करि गे गुरु पांहीं। महाप्रमोदु प्रेमु मन मांहीं॥२॥

अर्थ : श्रेष्ठ कुँअरों को बहुओं के समेत देखकर कितना आनन्द हुआ। वह कैसे कहा जा सकता है। प्रातःकाल का नित्य कृत्य करके महाराज गुरुजी के पास गये। उनके मनमें महा प्रमोद और प्रेम था।

व्याख्या : अहोरा बहोरा के लिए फिर बहुएँ वरों के साथ थोड़ी देर के लिए जनवासे भेज दी गईं। पहिली बार : सहित वधूटिन्ह कुँवर वर पुनि आये पितु पास। इसी भाँति आज भी बड़े प्रातःकाल आये। वहाँ रातभर रतजगा होता रहा। सवेरा होते ही अहोरा बहोरा का रसम किया गया। माता लोग वहाँ न थीं। अतः महाराज के ही पास आईं। इष्ट दर्शन से महाराज को प्रातःकाल ही महामोद हुआ।

प्रातः क्रिया के विषय में पहिले कह आये हैं : सकल सौच करि जाइ

नहाए। नित्य निवाहि मुनिहिं सिरनाए। महाराज के नित्यकृत्य में काल व्यतिक्रम नहीं होने पाता था। जहाँ कोई नया काम करना हुआ महाराज गुरुजी की आज्ञा ले लेते थे। अतः गुरुजी के पास गये। पुत्रों और पुत्रवधुओं के देखने से महाप्रमोद और गुरुजी के चरणों में प्रेम था। इसलिए महा प्रमोद प्रेम मन-मांही कहा।

करि प्रनामु पूजा कर जोरी। बोले गिरा आमिअ जनु बोरी ॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयउँ आज मैं पूरनकाजा ॥३॥

अर्थ : प्रणाम करके पूजा की और हाथ जोड़कर ऐसी वाणी बोले मानों अमृत में डुबाई हुई है। हे मुनिराज ! सुनिये। आपकी कृपा से आज मेरा मनोरथ सफल हुआ।

व्याख्या : प्रणाम करके पुत्र विवाह के उपलक्ष्य में गुरुजी की पूजा की। मण्डप में जनकजी की ओर से गुरुजी की पूजा हुई थी। यहाँ महाराज की ओर से पूजा हो रही है। पूजनोपरान्त मधुर और तोषकारिणी वाणी गुरुजी से हाथ जोड़ कर बोले। आज मैं पूर्णकाम हुआ : कहने का यह भाव है कि जब मैं पूर्ण काम नहीं था तभी आज्ञा हुई थी। जिमि सरिता सागर महु जांही। यद्यपि ताहि कामना नांही। तिमि सुख संपति विनहि बोलाए। धर्म सील पहिं जाहि सुभाए : आपके वचन अमोघ हैं। उन्होंने आज मुझे पूर्णकाम बना दिया : इस वाक्य में कितना माधुर्य और विनय है। इसलिए अमिअ जनु बोरी : कहा।

अब सब विप्र बुलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाई ॥
सुनि गुर करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठए मुनि वृंद बोलाई ॥४॥

अर्थ : हे गोस्वामिन् ! अब सब ब्राह्मणों को बुलाकर सब प्रकार से अलंकृत करके गायें दीजिये। सुनकर मुनिजी ने राजा की बड़ाई की और तब मुनिवृन्द को बुला भेजा।

व्याख्या : महाराज मैं दान दूँगा : ऐसा नहीं कहते। आप दीजिये : ऐसा कहते हैं। आप गोसाईं हैं : मालिक हैं। आपकी आज्ञा से ही दान हो सकता है। सब भाँति बनाई : से ताम्रपृष्ठ, रौप्यखुर, स्वर्णश्रृङ्ग, मुक्तापुच्छ, कांस्यदोहिनी आदि से युक्त करके दीजिये।

सुनकर मुनिजी ने महाराज की प्रशंसा की। धेनु ऋषियों को बड़ी प्रिय हैं। ऋषि लोग व्याह में आये हैं। उन्हें धेनु के सिवा और क्या दिया जा सकता है ? अतः महाराज की बुद्धिमत्ता और धर्मबुद्धि की प्रशंसा करते हैं। सौभरि[1] ऋषि ने महाराज रघु से कहा कि मेरा मूल्य इन धीवरों को चुका दो। महाराज रघु आधा राज्य देने को तैयार हुए। ऋषिजी बिगड़ गये कि क्या मेरा मूल्य तेरा आधा राज्य ही है। तब पूरा राज्य देने को तैयार हुए। पर ऋषिजी ने उसे

---

[1] कही कहीं ऋषि का नाम दूसरा प्राप्त होता है।

भी कम समझा। तब गुरु वसिष्ठजी के पास जाकर सब समाचार कहा। गुरुजी ने कहा कि दूसरे वियान की सुन्दर गाय सुसज्जित करके दो। इसपर ऋषिजी प्रसन्न होकर नृत्य करने लगे कि वसिष्ठजी ने मेरा मूल्य इतना अधिक आँका इससे मैं धन्य हुआ। संक्षेपतः ऋषियों को गोधन बड़ा प्रिय है। अतः वसिष्ठजी ने राजा की बुद्धिमत्ता की और धर्मबुद्धि की प्रशंसा की।

दो. वामदेउ अरु देवरिषि, वालमीकि जाबालि।
आए मुनिवर निकर तब, कौसिकादि तपसालि॥३३०॥

अर्थ : वामदेव, नारद, वाल्मीकि, जाबालि आदि मुनि समूह तथा विश्वामित्र आदि महातपस्वी आये।

व्याख्या : वामदेव, नारद, वाल्मीकि, जावाल आदि को मुनि कहा। क्योंकि ये लोग स्थितप्रज्ञ हैं। जिन्हें दुःख में उद्विग्नता और सुख की स्पृहा नहीं। जो राग भय और क्रोध से रहित हैं। ऐसे स्थितप्रज्ञ को मुनि कहते हैं। इन्हें किसी वस्तु की स्पृहा नहीं फिर भी गोदान लेने आये। विश्वामित्र आदि को तपसालि कहा। इनको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यथा : तप ते अगम न कछु संसारा। ये लोग भी आये। इनका आना वसिष्ठजी के बुलावे पर दाता को अनुगृहीत करने के लिए हुआ : गोदान के देने और लेने दोनों में पुण्य है।

दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे॥
चारि लच्छ वर धेनु मँगाई। कामसुरभि सम सील सोहाई॥१॥

अर्थ : राजा ने सबको दण्डवत् प्रणाम किया। प्रेम के साथ पूजन करके श्रेष्ठ आसन दिया। चार लाख श्रेष्ठ गौ जो कामधेनु सी सीधी और सुन्दर थीं मँगाई।

व्याख्या : राजा की श्रद्धा कहते हैं। जो जो ऋषि आते जाते हैं उनमें से प्रत्येक को दण्डवत् प्रणाम करते हैं। सबकी प्रेम सहित पूजा करते हैं। तब श्रेष्ठ आसन पर गोदान के लिए बिठाते हैं। हिन्दुओं में परिगृहीता की पूजा होती है। क्योंकि उसने कृपा करके दान लेना स्वीकार किया है। प्रतिग्रह का बड़ा दोष हिन्दू शास्त्र में कहा गया है और साथ ही साथ दान का वड़ा माहात्म्य भी वर्णित है। इसी में शोभा भी है कि दाता देना चाहे और प्रतिगृहीता लेना न चाहे। क्योंकि दाता को तो पुण्य होता है और प्रतिगृहीता का पुण्यक्षय प्रतिग्रह से होता है। एक पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में एक लक्ष गोदान के विचार से चार लक्ष गौ मँगायी। अधिक संख्या में दान करने में गायों के लक्षणादि पर विचार नहीं किया जा सकता। पर महाराज के यहाँ सब वातों का विचार किया गया। कामसुरभि से उपमा देकर उन गायों को दुधार कहा गया। शील से सीधी होना और सुहाई से सुन्दर कहा।

सब विधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन दीन्ही॥
करत विनय बहु विधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन लाहू॥२॥

अर्थ : सब प्रकार से सबको अलंकृत करके प्रसन्न होकर महाराज ने पृथ्वी के देवताओं को दिया। राजा ने बहुत प्रकार से विनय की कि आज मुझे संसार में शरीर धारण का लाभ हुआ।

व्याख्या : गाय को दान के पहिले अलंकृत करने की शास्त्रों में आज्ञा है। सो जैसा अलंकृत करने का विधान है उस विधान से चारों लाख गायें अलंकृत की गईं। दान देनेवालों को दान देने के समय अत्यन्त आनन्द होना चाहिए कि मेरा बड़ा भाग्य है जो दान कर रहा हूँ। यथा : रामहिं सुमिरत रनभिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय। दोहावली ४२। अतः लिखते हैं कि महाराज को दान देने में बड़ी प्रसन्नता है। ब्राह्मणों की मनुष्यों में गणना नहीं हैं। ये पृथ्वी के देवता हैं। तप, श्रुति और योनि ब्राह्मणत्व में कारण है। ब्राह्मण वही है जो ब्राह्मणी से उत्पन्न हो। वेद का ज्ञाता और तपस्वी हो। जिनमें तपश्रुत नहीं है वे जाति ब्राह्मण हैं। ये मुनिगण ब्राह्मण के सब लक्षणों से सम्पन्न हैं। ये दान के सर्वोत्तम पात्र हैं। क्योंकि दान में पात्रनिर्णय बड़ा कठिन है। कहीं दान से नरक प्राप्ति भी सुनी गई है। अपात्र को दान देने से पुण्य के स्थान में पाप होता हैं। अतः बड़े भाग्य से सुपात्र दान के लिए मिलते हैं। क्योंकि सुपात्र अपने पुण्य के क्षय के भय से प्रतिग्रह से बचते हैं। महाराज दशरथ को ऐसे सुपात्र दान के लिए मिले जिनमें थोड़ा सा भी दान अक्षय हो जाता है। गोदान को पृथ्वीदान के समान कहा गया है। अतः दान और प्रतिगृहीता दोनों उत्तम कोटि के होने से महाराज कह रहे हैं कि आज मुझे शरीर धारण का फल मिला है। प्रतिग्रह स्वीकार किया। इसलिए विनय करते हैं।

पाइ असीस महीसु अनंदा। लिये बोलि पुनि जातक वृंदा॥
कनक वसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रविकुलनंदन॥३॥

अर्थ : आशीर्वाद पाकर राजा आनन्दित हुए। तब जाचक वृन्द को बुलवाया। सोना, वस्त्र, मणि, घोड़ा, हाथी, रथ उनकी पसन्द पूछकर उनको : सूर्यकुल को आनन्द देनेवाले : राजा दशरथ ने दिये।

व्याख्या : प्रतिग्रह करने पर स्वस्ति कहने का विधान है। सो इतने बड़े बड़े महर्षियों ने जिनका वचन अमोघ है स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। इससे राजा को बड़ा आनन्द हुआ। राजा दान करने से अघाते नहीं हैं। तब निम्न कोटि के पात्र दीन और अनाथों को बुलाया। इन्हें भी दान दिया जाने लगा। योग्यतानुसार नहीं, रुचि के अनुसार। उनसे पूछ लिया जाता था कि तुम्हें क्या चाहिए? देय का विवरण करते हैं : सोना, कपड़ा, मणि, घोड़ा, हाथी और रथ। इनमें जो जिसे पसन्द हो दिया जाय। रविकुलनंदन कहने का भाव यह कि : मंगन लहैं न जिन के नाहीं। अथवा क्षत्रिय का जन्म दान के लिए है। यथा : दातुं मतुं मद्विधा राजपुत्रि। सो महाराज तो क्षत्रियों में श्रेष्ठ कुलनन्दन हैं।

चले पढ़त गावत गुन गाथा। जय जय जय दिनकर कुल नाथा ॥
एहि विधि राम विआह उछाहू। सकै न वरनि सहस मुख जाहू ॥४॥

अर्थ : महाराज का विरुद पढ़ते और गुणगाथा को गाते रघुकुलनाथ का जय जयकार मनाते चले। इस विधि से रामजी के व्याह में उछाह हुआ। इसका वर्णन तो वह भी नहीं कर सकते जिन्हें सहस्रमुख हैं।

व्याख्या : यह राम विवाह के उछाह का वर्णन नहीं है। केवल विधि का दिग्दर्शन है। इसका वर्णन सहस्रमुख से नहीं हो सकता। नित्य नया मङ्गल है। लाखों बातें एक साथ होती हैं और होती चली जा रही हैं। वैखरी वाणी से एक का भी वर्णन कठिन है। इसलिए कहते हैं कि सहस्र मुखवाले भी नहीं कह सकते।

दो. बार बार कौसिक चरन, सीसु नाइ कह राउ।
यह सबु सुख मुनिराज तव, कृपा कटाच्छ पसाउ ॥३३१॥

अर्थ : बार बार विश्वामित्रजी के चरणों में महाराज सिर नवाकर कहते हैं कि हे मुनिराज ! यह सब सुख आपके कृपाकटाक्ष के प्रसाद का फल है।

व्याख्या : महाराज तो पुत्र के देने से मुकुर गये थे। विश्वामित्रजी ने कहा था : धर्म सुजस प्रभु तुम कहँ इन्ह कहँ अति कल्याण। सो बलपूर्वक कल्याण कराया। आज उस कठोरता को राजा परम हित मान रहे हैं। उस समय तो कह बैठे थे : विप्र वचन नहिं कहेउ विचारी। सब सुत मोहि प्रिय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनै गोसाईं। पर विश्वामित्रजी अड़ गये। अन्त में राजा को देना पड़ा। इस प्रकार हठ करके राजा का परम कल्याण किया। अतः कौशिक के चरण में बार बार सिर नवाते हैं कि ऐसा बलपूर्वक कल्याण करनेवाला कौन है ?

जनक सनेहु सीलु करतूती। नृप सब भाँति सराह बिभूती ॥
दिन उठि विदा अवधपति माँगा। राखहि जनकु सहित अनुरागा ॥१॥

अर्थ : जनकजी के स्नेह, शील, करणी तथा विभूति की राजा सब भाँति से सराहना करते थे। अयोध्यानाथ नित्य उठकर विदा माँगते थे। परन्तु जनकजी उन्हें प्रेम से रख लेते थे।

व्याख्या : सब लोग तो जनकजी की प्रशंसा करते ही थे। स्वयं महाराज दशरथ जनकजी के १. स्नेह २. शील ३. करतूत और ४. विभव की सराहना सब भाँति से करने लगे।

१. जनकजी का स्नेह। यथा : राखहिं जनक सहित अनुरागा। इत्यादि।
२. जनकजी का शील। यथा : धोए जनक अवधपति चरना।
निज पानि जनक सुजान सब कह आनि सिंहासन धरे।
३. जनकजी की करतूत। यथा : कहि न जाय कछु दायज भूरी।
रहा कनक मनि मंडप पूरी।

४. जनकजी का विभव। यथा : जो संपदा नीच गृह्र सोहा।
सो विलोकि सुर नायक मोहा।
विधिहि भयेउ आचरज विसेखी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी।
सब समाज सजि सिधि पल मांहीं।
जो सुख सुरपुर सपनेहु नांहीं।
लिए संपदा सकल सुख सुरपुर भोग विलास। इत्यादि।
अतः कहते हैं। नृप सब भाँति सराह विभूती।

बुलाने से आये हैं। विदा माँगकर जायँगे। सवेरे उठते ही विदा माँगना यह चक्रवर्तीजी का शील है। व्यर्थ का बोझा नहीं देना चाहते। अवधपति हैं। अतः अवध की चिन्ता है। परन्तु प्रेम का बन्धन बड़ा प्रबल होता है। यथा : बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोपि षडंघ्रिः निष्क्रियो भवति पङ्कजकोषे। जनकजी के प्रेम से बँधे हुए हैं और वे जाने देने को राजी नहीं होते।

नित नूतन आदरु अधिकाई। दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई ॥
नित नव नगर अनंद उछाहू। दसरथ गवनु सोहाइ न काहू ॥२॥

अर्थ : नित्य नया आदर बढ़ता जाता है। नित्य सहस्रों प्रकार से आतिथ्य सत्कार होता है। नगर में नित्य नया आनन्द और उछाह है। दशरथजी का जाना किसी को सोहाता नहीं।

व्याख्या : अतिपरिचयादवज्ञा। सो यहाँ नहीं है। नित्य नया आदर है और मात्रा भी अधिक होती जाती है। जनकजी की तो बड़ाई हुई है। पर महाराज दशरथ भी ऐसे गुणी हैं कि जितना परिचय होता जाता है उतनो ही उनके प्रति श्रद्धा भी बढ़ती जाती है। अतः सत्कार सहस्रों भाँति अधिक होता जाता है : आजकल भी बारात के सत्कार में इतना तो कर ही देते हैं कि भोजन के पदार्थों की भाँति के कुछ न कुछ नित्य बढ़ा देते हैं और अन्तिम दिन की जेवनार जिसे बड़हार कहते हैं उसमें पूरी शक्ति लगा देते हैं।

नित नूतन मंगल पुर मांही से उपक्रम करके : नित नव नगर आनंद उछाहू से उपसंहार करते हैं। महाराज दशरथ का जाना राजा जनक को क्या किसी को भी नहीं सोहाता। चक्रवर्तीजी का स्वभाव ऐसा प्रजारञ्जक है कि सब प्रजा चक्रवर्तीजी से प्रेम करने लगी। अथवा रामजी के विरह के भय से दशरथजी का जाना नहीं अच्छा लगता।

बहुत दिवस बीते एहि भाँति। जनु सनेह रजु गँथे बराती ॥
कौसिक सतानंद तब जाई। कहा विदेह नृपहिं समुझाई ॥३॥

अर्थ : इस प्रकार से बहुत दिन बीत गये। मानो बाराती स्नेह की रस्सी

में बँध गये हैं। विश्वामित्रजी तथा सतानन्दजी ने जाकर विदेहराज को समझाकर कहा।

व्याख्या : तीन महीने से ऊपर इस भाँति बीत गये। चक्रवर्तीजी के विदा माँगते और जनकजी को रोक रखते : इतने दिन बीते। बाराती भी नहीं ऊबते। वे भी प्रेम बन्धन में बँध गये हैं। तब विश्वामित्रजी तथा सतानन्दजी दोनों मुनि राजा जनक को समझाने गये। जिससे राजा को यह मालूम हो कि दोनों ओर के हितचिन्तकों की सम्मति विदाई के पक्ष में है। मालूम होता है कि पहिले सतानन्दजी को बुलाकर विदाई की आवश्यकता दिखलाकर राजी कर लिया गया। तब उन्हें साथ लेकर स्वयं विश्वामित्रजी गये और विदेहराज को समझाया। यथा :

दो. रहति बरात जितेक दिन, बीते मास तितेक।
दिन बीतेहू घटिहि नहिं, प्रीति विचारहु नेक॥
सहिवो ही है एक दिन, सुता विरह की पीर।
क्यों न सहै सो आजही, तुम सो पंडित धीर॥
प्रजा पालिवे ते अधिक, नृपहिं धर्म नहिं आन।
विदा करहु दशरथ नृपहिं, अस मन समुझि सुजान॥

अब दसरथ कहँ आयसु देहु। जद्यपि छाड़ि न सकहु सनेहू॥
भलेहिं नाथ कहि सचिव बोलाए। कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए॥४॥

अर्थ : यद्यपि प्रेम छोड़े नहीं छूटता। फिर भी अब दशरथजी को आज्ञा दीजिये। राजा ने कहा अच्छी बात है। नाथ और मन्त्रियों को बुलवाया। उन्होंने जयजीव कहकर सिर झुकाया।

व्याख्या : विश्वामित्रजी ने कहा कि अब दशरथ को आज्ञा दो। सिवा उनके महाराज का नाम लेकर इस भाँति कौन कहे। भाव यह कि आप को अप्रसन्न करके चक्रवर्तीजी नहीं जायँगे। अब बहुत हो गया। उन्हें आज्ञा दीजिये और प्रेम बनाये रखिये। आग्रह किसी बात का न करना यही बुद्धि का फल है। विदेहराज ने बात मान ली। भारी व्यवस्था करनी है। इसलिए मन्त्रियों को बुलवाया। प्राचीन परिपाटी थी कि मन्त्री राजा का अभिनन्दन जयजीव कहकर करते थे। अर्थ यह है कि आप चिरञ्जीव हों और आप की जय हो। ऐसा कहकर उनलोगों ने प्रणाम किया'

दो. अवधनाथु चाहत चलन, भीतर करहु जनाउ।
भए प्रेमवस सचिव सुनि, विप्र सभासद राउ॥३३२॥

अर्थ : अयोध्यानाथ जाना चाहते हैं। सो भीतर समाचार पहुँचा दो। यह सुनकर मन्त्री, ब्राह्मण सभासद और राजा प्रेम के वश हो गये।

व्याख्या : महाराज जनक ने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि भीतर रनिवास में

समाचार जाकर दो कि अयोध्यानाथ जाना चाहते हैं। मैं तो अब भी नहीं चाहता। पर वे अब अधिक नहीं रुक सकते। भाव यह कि विदाई की तैयारी के लिए अन्तःपुर में जाकर कहो। दसरथ गवन सोहाइ न काहू : का साफल्य दिखलाते हैं कि इतना सुनते ही मन्त्री, ब्राह्मण और सभासद प्रेमवश हो गये और कहते कहते राजा जनक प्रेम के वश हो गये। अथवा यहाँ राउ से राजा कुशध्वज का अभिप्राय है। वे भी राजा जनक की आज्ञा सुनकर प्रेमवश हो गये।

पुरवासी सुनि चलिहि बराता। बूझत विकल परसपर बाता ॥
सत्य गवनु सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥१॥

अर्थ : बारात जायगी यह बात पुरवासियों ने सुनी। एक दूसरे से विकल हो पूछने लगे। जाने की बात ठीक है सुनकर सब बिलखने लगे। जैसे सायंकाल के समय कमल संकुचित हो जाते हैं।

व्याख्या : बारात आने पर सबको बड़ा हर्ष हुआ था। यथा : प्रथम बरात लगन ते आई। ताते पुर प्रमोद अधिकाई। ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़हु दिवस निसि विधिसन कहहीं। इसलिए बारात की विदाई में विषाद हुआ। बात फैल गई। अप्रिय समाचार को शीघ्र हृदय ग्रहण नहीं करता और उनकी समझ में अभी बारात का और ठहरना उचित था। अतः समाचार की सत्यता निश्चय करने के लिए एक दूसरे से पूछते हैं। विकल हैं। अतः परस्पर पूछते हैं। नहीं तो पूछनेवाले से पूछना नहीं बनता।

जिसे समाचार ज्ञात था उसने कहा बात सच्ची है। सुनते ही सबको शोक हुआ। पहिले कमल की भाँति विकसित थे। अब सङ्कुचित हो गये। दिनकर कुलभूषण का वियोग है। इसलिए सायंकाल के समय कमलवन के सकुचने से उपमा दिया।

जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती ॥
विविध भाँति मेवा पकवाना। भोजन साजु न जाइ बखाना ॥२॥

अर्थ : जहाँ जहाँ आते समय बाराती टिके थे तहाँ तहाँ बहुत प्रकार की रसद सामग्री चली। अनेक प्रकार के मेवा पक्वान्न और भोजन की सामग्री जिनका बखान नहीं हो सकता।

व्याख्या : बीच बीच बरवास बनाये। सुरपुर सरिस सम्पदा छाये। वहीं आते हुए बाराती टिके थे। उन्हीं निवास स्थानों पर कच्चा सामान भेजा जाने लगा। जिस क्रम से आये थे उसी क्रम से जावेंगे। मेवा जलपान के लिए पक्वान्न भोजन के लिए और भी भोजन का साज पीढ़ा, पत्तल, चटनी, अँचार आदि भेजे गये।

भरि भरि बसह अपार कँहारा। पठई जनक अनेक सुसारा ॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा ॥३॥

अर्थ : बैलों पर लाद करके और असंख्य कहारों को महाराज जनक ने सुन्दर मलाई, दही, छेना आदि लेकर भेजा। एक लाख घोड़े और पचीस सहस्र रथ सबको सिर से पैर तक सँवार कर भेजा।

व्याख्या : वेसर ऊँट पर नहीं भेजे गये। निन्दित वाहनों पर पक्वान्न नहीं भेजा। कँहारों पर बहँगी : काँवर द्वारा दधि चिउरा उपहार चला। सार का अर्थ है मलाई, दही, छेना आदि। कहीं सुसारा के स्थान पर सुआरा पाठ है। वहाँ यह अर्थ करना होगा कि सूपकारों को भी महाराज जनक ने भेजा कच्ची रसोई बनाने के लिए। रचिरुचि जोन तुरग तिन साजे। वरन वरन वर वाजि बिराजे। ऐसे एक लाख घोड़े। रथ सारथिन्ह विचित्र बनाये। ऐसे पचीस सहस्र रथ। सिर से पैर तक सबका शृङ्गार हुआ। एक लाख घोड़े, रथ के घोड़ों को छोड़कर।

मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहि देखि दिसि कुंजर लाजे॥
कनक वसन मनि भरि भरि जाना। महिषी धेनु वस्तु विधि नाना॥४॥

अर्थ : सजे हुए दसहजार मतवाले हाथी। जिन्हें देखकर दिग्गज लज्जित हो जायँ तथा सोना वस्त्र और मणि गाड़ियों में भर भरकर तथा भैंसे, गाय तथा अन्य नाना प्रकार की वस्तु।

व्याख्या : कलित करिवरन्ह परी अँबारी। कहि न जात जेहि भाँति सवारो। ऐसे दस सहस्र हाथी। जिन्हें देखकर दिग्गज लोग लज्जित हों। जनकपुर के निकट ही जङ्गल है। जिसमें हाथी होते हैं। अत: बड़े डील डौल के मतवाले हाथी चुन चुनकर भेजे गये। निसि कुंजर लाजे : कहने का भाव ही यही है कि यहाँ के हाथी अयोध्या के हाथियों से भारी हैं।

सोना वसन और मणि तो गाड़ियों पर लादे गये। दायज में भैंस गाय भी दी जाती हैं। इसकी गिनती नहीं लिखी। क्योंकि ये गिनकर भेजी ही नहीं गईं और भी अनेक प्रकार की वस्तुएँ जिनका नाम कवि नहीं गिना सके।

दो. दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्हि विदेह बहोरि।
जो अवलोकत लोकपति, लोक संपदा थोरि॥३३३॥

अर्थ : फिर महाराज जनक ने अपरिमित दायज दिया। जो कहा नहीं जा सकता। जिसे देखकर लोकपति के लोकों की सम्पदा थोड़ी मालूम पड़ी।

व्याख्या : पहिले दायज दिया था। उसका परिमाण रहा यथा : रहा कनक मनि मंडप पूरी। पर इस समय जो दे रहे हैं उसका परिमाण नहीं है। पहिले जो दिया था उसे लोकपाल अवलोकि सिहाने कहा था। इस समय इतना दिया कि उनके लोकों की सम्पदा थोड़ी जँच रही है। पहिले दायज में उत्कर्ष का आधिक्य कहा। इस दायज में उत्कर्षाधिक्य तथा परिमाणाधिक्य कह रहे हैं।

सबु समाजु येहि भाँति बनाई। जनक अवधपुर दीन्ह पठाई॥
चलिहि बरात सुनत सब रानी। विकल मीन गन जनु लघु पानी॥१॥

अर्थ : सब समाज इस भाँति से सजाकर जनकजी ने अवधपुर भेजवा दिया। बारात चलेगी। यह सुनकर सब रानियाँ ऐसी विकल हुई जैसे मछली थोड़े पानी में विकल हो।

व्याख्या : पहिले घोड़े तब हाथी और तब रथ। बीच में कनक वसन और मणि के यान। पीछे महिषी धेनु तथा बरतन सामान। इस भाँति से रक्षित करके महाराज जनक ने अवधपुर बारात चलने के पहिले ही भिजवा दिये। महाराज दशरथ के साथ भेजने से अवधपुर पहुँचना कठिन हो जायगा। रास्ते में ही महाराज दशरथ दे डालेंगे और दायज का अवधपुर पहुँचना परम आवश्यक है। यदि वहाँ तक न पहुँचा तो लोग क्या कहेंगे। इसलिए सीधे अवध भेज दिया। दूसरी बात यह है कि इन वस्तुओं के लिवा जाने की व्यवस्था का भार महाराज दशरथ पर न पड़े। अतः अपनी व्यवस्था से सब वस्तुएँ समधियाने भेजवा दीं।

महाराज जनक ने कहा था : अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ। सो मन्त्रियों ने अन्तःपुर में खबर दी। समाचार सुनते ही रानियाँ विकल हो उठीं। केवल सीताजी की ही माता नहीं। चारों रानियाँ ऐसी विकल हुईं जैसे मछलियाँ थोड़े पानी में विकल हों। नीच कीच विच विकल जिमि मीनहि सलिल सकोच। जब समाचार सुनकर पुनवासो विकल हो गये तब माताओं का ऐसा विकल होना आश्चर्य की बात नहीं है।

पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावनु देहीं॥
होयेहु संतत पिअहि पिआरी। चिर अहिवातु असीस हमारी॥२॥

अर्थ : बारबार सीताजी को गोद में ले लेती हैं और आशीर्वाद देकर शिक्षा दे रही हैं कि सदा पति की प्यारी हो। तुम्हारा सौभाग्य सदा बना रहे यह हमलोगों का आशीर्वाद है।

व्याख्या : पहिले आशीर्वाद देती हैं। दोनों आशीर्वाद सोहाग सम्बन्धी हैं। पति का बना रहना सोहाग है और पति का प्यार बना रहना भी सोहाग है। यथा : मानहु मुख देखरावनी दुलहिन करि अनुराग। सास सदन मन ललनहू सौतिन्ह दियो सोहाग। राजा लोग कई व्याह करते हैं। अतः यह असीस परमावश्यक है। तत्पश्चात् पति के बने रहने का आशीर्वाद देती हैं। भारतवर्ष में स्त्रियों के लिए इससे बढ़कर आशीर्वाद नहीं है। यथा : जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते।

सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥
अति सनेह बस सखी सयानी। नारि धरमु सिखवहिं मृदुबानी॥३॥

अर्थ : सास ससुर और गुरु की सेवा करना। पति का रुख देखकर आज्ञानुसार कार्य करना। अत्यन्त स्नेहवश सयानी सखियाँ मृदुवाणी से नारीधर्म की शिक्षा दे रही हैं।

व्याख्या : पहिला काम सास से पड़ेगा। सो उनकी सेवा करना। उसके वाद ससुर गुरुजन से काम तो कभी कदाचित् पड़ेगा। सो सबकी सेवा करना। आज्ञा मानना ही सच्ची सेवा है। यथा : आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो पति के लिए आज्ञा का वाट न जोहना। बड़ा परिवार है। वे सङ्कोच से आज्ञा न दे सकेंगे। उनका रुख देखकर काम करना। इसका साफल्य भी उत्तरकाण्ड में दिखलाया है। यथा : कौसल्यादि सास गृह मांहीं। सेवइ सबनहिं मान मद नांहीं। निजकर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई। इत्यादि : जेहि विधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ।

माताओं ने जो शिक्षा सूत्ररूप में दी सखियाँ उसीकी व्याख्या करके समझाती हैं। सयानी हैं। व्याहो हुई हैं। गार्हस्थ्य धर्म में चतुर हैं। व्याह होते ही स्त्रियों के कर्तव्य में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। पिता माता की प्रधानता हटकर सास ससुर में आजाती है धर्म भी दूसरा हो जाता है। यथा : एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा। अतः ससुराल जाकर कैसा वर्ताव करना चाहिए सो सयानी सखियाँ सिखाती हैं।

सादर सकल कुँअरि समुझाई। रानिन्ह वार बार उर लाई॥
बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी। कहहिं विरंचि रची कत नारी॥४॥

अर्थ : जिस भाँति सीताजी को समझाया। उसी भाँति आदर के साथ राजकुमारी माण्डवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति को भी समझाया और रानियों ने उन्हें बार बार हृदय से लगाया। माँ बार बार उनसे मिल रही हैं। कहती हैं कि ब्रह्मदेव ने स्त्रियों को क्यों वनाया ?

व्याख्या : सब कुँअरियों को पृथक् पृथक् समझाने का कारण था। क्योंकि सबके लिए पृथक् पृथक् उपदेश थे। बहिन होने के व्यतिरिक्त जेठानी देवरानी होने का भी नाता आपड़ा। जेठ देवर के वर्ताव का भी उपदेश दिया। अपनी सास और सौतेली सासों के साथ बर्ताव की भी शिक्षा दी। अति प्रेम से हृदय लगाकर शिक्षा देने का प्रभाव बड़ा भारी होता है। यथा :

अवध रानि की लालसा पूर करहु तुम जाय।
'उनकी आज्ञा ते पृथक् भूलि धरेउ जनि पाय॥१॥
बहिन बहिन की प्रीति जस तैसइ रहै उदार।
पै जेठानि देवरानि को सधै सकल व्यवहार॥२॥
जेठमान पितु के सरिस सुत सम देवर मानि।
मातु सुता के सरिस ही त्यौ जेठानि देवरानि॥३॥
अपने सासुन ते अधिक आन सास को मान।
जे प्रिय भूपति को अधिक अधिक तासु सनमान॥४॥
विनय गहनि सवकी सहनि रहनि विगत अभिमान।
दासी हू को आदरेहु यह कुलवधू विधान॥५॥

माता में अधिक प्रेम है। अतः बार बार भेटती हैं। कत विधि सृजी नारि जगमांही। पराधीन सपनेहु सुख नांही। ऐसा कहकर कन्या के विरह में ब्रह्मदेव को उपालम्भ देती हैं : पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रास्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। स्त्रियों में स्वातन्त्र्य की योग्यता ही नहीं है : कि ब्रह्मदेव ने उनको ऐसी क्यों बनाया ?

दो. तेहि अवसर भाइन्ह सहित, रामु भानुकुल केतु।
चले जनक मंदिर मुदित, विदा करावन हेतु ॥२३४॥

अर्थ : उसी अवसर पर सूर्यकुल के पताका श्रीरामजी भाइयों सहित जनकजी के महल : अन्तःपुर में प्रसन्न होकर विदा कराने चले।

व्याख्या : जिस समय माताएँ कन्याओं को समझा बुझा रही थीं उसी समय रामजी विदा कराने के लिए भाइयों के सहित चले। लौकिक लीला का अनुसरण दिखलाते हैं कि सब भाई मुदित हैं क्योंकि विदा कराने जा रहे हैं। मुनि कौशिक तथा सतानन्दजी ने जाकर कहा कि महाराज दशरथ ने मान लिया। तब चारों भाइयों के लिए आज्ञा हुई कि विदा कराने जाओ। अतः प्रसन्न होकर चले।

चारिउ भाइ सुभाय सुहाए। नगर नारि नर देखन धाए ॥
कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह विदेह विदा कर साजू ॥१॥

अर्थ : चारों भाई स्वभाव से ही सुन्दर हैं। नगर के नर और नारी उन्हें देखने के लिए दौड़े। कोई कहता है कि आज ही जाना चाहते हैं। विदेह ने विदा की तैयारी कर दी है।

व्याख्या : चारों भाई स्वभाव से ही सुन्दर हैं। कहने का भाव यह है कि उनकी सुन्दरता को अधिक करने के लिए किसी बनावट की अपेक्षा नहीं है। उनके दर्शन के लिए नगर की नारियाँ और नर विदाई का समाचार पाकर दौड़ पड़े। प्रभु के चलते ही खबर तुरन्त फैल जाती है। यथा : देखन नगर भूप सुत आये। समाचार पुरवासिन्ह पाये। तथा : रंगभूमि आये दोउ भाई। अस सुधि सब पुरवासिन्ह पाई। विदा होनें का समाचार फैल गया। लोग दौड़े कि उनके पहुँचने के पहिले कहीं अन्तःपुर में न चले जाँय।

एकाएक जाने की बात ठहर गई। आज ही जानेवाले हैं। प्रमाण यह है कि राजा विदेह ने विदाई की व्यवस्था कर दी है। हाथी घोड़े आदि रवना हो गये। राजा विदेह ही तो ठहरा। उसने विदा का साज सज दिया। जिसने कहा था : यह विवाह बड़ लाभ सुनयनी। वह कहती है : चलन चहत हैं आजू। बड़ी हानि हुआ चाहती है।

लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप सुत चारी ॥
को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे विधि आनी ॥२॥

अर्थ : आँख भर के रूप देख लो। राजा के चारों कुमार प्रिय पाहुने हैं। हे सयानी ! किस पुण्य से ब्रह्मदेव ने लाकर इन्हें आँखों का मेहमान बनाया है।

व्याख्या : उन्हीं आठों सखियों का सम्वाद जो दो बार हो चुका है अब तीसरी बार हो रहा है। बोलने का क्रम वही नहीं है। परन्तु वाक्य सन्दर्भ से जान पड़ता है कि कौन सखी क्या कह रही है। यथा : एक सखी जिसने कहा था : यहि विवाह बड़ लाभ सुनयनी। वही कहती है : कोउ कह चलन चहत हैं आजू : इससे हानि कही।

दूसरी : बड़े भाग विधि बात बनाई : कीन्ह विदेह विदा कर साजू : अभाग्य।
तीसरी : नयन अतिथि होइहैं दोउ भाई : लेहु नयन भरि रूप निहारी : सौभाग्य।
चौथी : लेन आइहैं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय : प्रिय पाहुने भूप सुत चारी : मनोरथ पूर्ति।

पाँचवी जिसने कहा था : विविध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई। वही कहती है कि याद तो नहीं पड़ता कि मैंने कोई ऐसा पुण्य किया हो कि इनके दर्शन मिलें। विधि है सञ्चित में से कोई पुण्य खोज निकाला हो। को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें विधि आनी। इससे पुण्योदय कहा।

छठीसखी जिसने कहा था : तब तब राम लखनहि निहारी। होइहि सब पुरलोग सुखारी। वही कहती हैं यथा :

मरनसीलु जिमि पाव पिऊखा। सुरतरु लहै जनम कर भूखा ॥
पाव नारकी हरिपदु जैसे। इन्हकर दरसनु हम कहुँ तैसे ॥३॥

अर्थ : मरनेवाला प्राणी जिस भाँति अमृत पावे और जन्म के भुक्खड़ को जैसे कल्पवृक्ष मिले। नारकी को जैसे विष्णुपद की प्राप्ति हो जाय। हमको तो इनका दर्शन उसी भाँति दुर्लभ है।

व्याख्या : वह कहती है कि दर्शन में महासुख है। इनका दर्शन प्राणद है। तुष्टि देनेवाला है और परम गति विधायक है। हमें तो ऐसा सुखद जान पड़ता है जैसे मरणशील को अमृत मिल जाय। जन्म के भूखे को कल्पवृक्ष मिल जाय। जो जो वह चाहे वह सब पदार्थ उसे सुलभ हो जाय। नरक वेदना भोगनेवाले को जैसे विष्णुपद : परमानन्द की प्राप्ति हो। भाव यह कि हमें तो इनके दर्शन में ही लोक और परलोक के सब सुख केन्द्रीभूत मालूम पड़ते हैं।

निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन फनि मूरति मनि करहू ॥
येहि विधि सबहि नयन फलु देता। गये कुंअर सब राज निकेता ॥४॥

अर्थ : रामजी की शोभा को देखकर हृदय में धारण करो। अपने मनरूपी सर्प के लिए मूर्ति को मणिरूप बनाओ। इस भाँति सबको नेत्रों का फल देते हुए सब कुँअर राजभवन में पहुँचे।

व्याख्या : सातवीं सखी जिसने कहा था : स्याम गौर सब अंग सुहाए। वह कहती है : निरख राम सोभा उर धरहू। इससे शोभा कही।

आठवीं : उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं। निजमन फनि मूरति मनि करहू। इससे प्रीति कही।

वहाँ कहा था : एहि विधि सकल मनोरथ करहीं। सो मनोरथ की पूर्ति हो गई। अतः कहते हैं : एहि विधि सबहि नयन फल देता। चले जनक मन्दिर मुदित विदा करावन हेतु से उपक्रम करके मार्ग की कथा का : गये कुँवर वर राजनिकेता से उपसंहार करते हैं।

दो. रूप सिंधु सब बंधु लखि, हरखि उठी रनिवासु।
करहिं निछावरि आरती, महा मुदित मन सासु ॥२३५॥

अर्थ : शोभा के सिन्धु चारों भाइयों को देखकर रनिवास हर्षित हो उठा और सास लोग परम प्रसन्न होकर निछावर और आरती करने लगीं।

व्याख्या : चारों भाई रूप के समुद्र हैं। चार कहने का भाव यह कि पृथ्वी में चार ही समुद्र हैं और सब जलाशय उन्हीं के उपजीवी हैं। इसी भाँति पृथ्वी तल में ये ही चार भाई सुन्दरता की सीमा हैं। और सबकी सुन्दरता सर, सरि, कूप, तड़ाग के समान है। सास हैं। परम सुन्दर जामाताओं को देखकर सब दुःख भूल गईं। हर्षित हो उठीं। ये लोग मुदित थे। पर सास तो महामुदित हो गईं। हर्षित तो सम्पूर्ण अन्तःपुर हो उठा। पर सास महा मुदित मन होकर निछावर और आरती करने लगी। करि आरती निछावरि करहीं : क्रम तो यह है। प्रस्तु परम आनन्द में क्रम का निर्वाह न हुआ। पहिले निछावर ही करने लगीं। आरती पीछे से की।

देखि राम छवि अति अनुरागीं। प्रेम विवस पुनि पुनि पद लागीं॥
रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेहु बरनि किमि जाई॥१॥

अर्थ : रामजी की छवि देखकर अत्यन्त अनुरक्त हुईं। प्रेम के विवश होकर बार बार चरणों में गिरीं। प्रीति हृदय में छा गई। इसलिए सङ्कोच छूट गया। स्वाभाविक स्नेह का कैसे वर्णन किया जाय।

व्याख्या : चारों भाइयों को देखकर अनुराग हुआ। पर रामजी को देखकर अत्यन्त अनुराग हुआ। क्योंकि प्रभु अधिक सुख सागर हैं। यथा : चारिउ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा। अतः प्रेम के विवश हो गईं। बार बार चरणों में गिर रही हैं। दामाद से भी सास आरम्भ में कुछ सङ्कोच करती हैं। कोहवर में भी नहीं बोलीं। परन्तु आज प्रीति के बाहुल्य से सङ्कोच जाता रहा। एक भाव के उदारावस्था में आजाने से अन्य भाव प्रसुप्त अथवा विच्छिन्नावस्था को प्राप्त होते हैं। इस समय प्रीति का परम उत्कर्ष है। अतः सङ्कोचादि भाव तिरोहित हो गये। रामजी पर स्वाभाविक प्रेम है। जैसा माता

का अपने शिशु बालक पर होता है। यथा : सहित विदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी।

भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए ॥
बोले राम सुअवसर जानी। सील सनेह सकुचमय बानी ॥२॥

अर्थ : भाइयों के सहित उबटन लगाकर नहलाया और अत्यन्त प्रेम से षट्रस भोजन कराया। रामजी अवसर पाकर शील स्नेह तथा सङ्कोचमय वाणी बोले।

व्याख्या : शिशु के समान प्रीति होने से अपने हाथों उबटन लगाया और उसके बाद स्नान कराया। नित्य क्रिया करके आये हैं। उबटन के बाद स्नान काम्य स्नान है। अतः इसके बाद अत्यन्त प्रेम से षट्रस भोजन का जिमाना कहते हैं। जब तक उबटन स्नान और भोजन होता रहा तब तक कुछ कहने का अवसर नहीं समझा। जब सब हो चुकने के बाद सास स्वस्थ होकर बैठीं खातिरी हो चुकी तब बड़े होने के कारण रामजी बोले। चक्रवर्तीजी ने विदा कराने के लिए भेजा था। सो विदा करने के लिए कहने में शील, स्नेह और सङ्कोच तीनों बाधक थे। अतः ऐसी वाणी बोले जिसमें तीनों बना रहे।

राउ अवधपुर चहत सिधाए। विदा होन हम इहाँ पठाए ॥
मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू ॥३॥

अर्थ : महाराज अयोध्यापुरी जाना चाहते हैं। विदा होने के लिए हमें यहाँ भेजा है। मातः ! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये और बालक जानकर सदा प्रेम बनाये रहियेगा।

व्याख्या : शिशु सम प्रेम अपने ऊपर देखकर माँ ऐसा सम्बोधन करते हैं। जब आये थे तब विषाद में देखा था और जानते थे कि कन्या की विदाई में दुःख होता है। अतः कहते हैं प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिए। विदा करने को नहीं कहते अपने विदा होने को कहते हैं। महाराज अयोध्या जाना चाहते हैं। हमारा भी साथ जाना आवश्यक है। आप माता हैं। ऐसा ही प्रेम बनाये रखियेगा। यथा : को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनि हारा। स्वयं अयोध्या जाने की इच्छा है। उसे नहीं कहते हैं। यह प्रभु का शील है। माता सम्बोधन करते हैं। यह प्रभु का स्नेह है। विदा करने को न कहकर अपने विदाई की आज्ञा माँगते हैं। यह प्रभु का सङ्कोच है।

मुदित मन आयसु देहू : इसमें मुदित मन कहने से कन्या की विदाई ध्वनित है। अतः

सुनत वचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेमबस सासू ॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्ही। पतिन्ह सौंपि विनती अति कीन्ही ॥४॥

अर्थ : वचन सुनते ही रनिवास विलखने लगा। सास प्रेम के वश कुछ बोल न सकीं। सब कुँअरियों को हृदय से लगा लिया और उनके पतियों को सौंपकर अति विनती की।

व्याख्या : अत्यन्त प्यारी होने से हृदय से लगाया। अथवा अपनी प्रीति को व्यक्त किया कि यह मुझे प्राण सी प्यारो है। जिस कुँवरि के जो पति रहे उन्हें उसे सौंपा। महाराज ने कन्यादान मात्र किया। परन्तु देय वस्तु सौंपी नहीं गयी। अब महारानी उन्हें सौंप रही हैं। एक दूसरे को पहिचाने रहें इसलिए भी सौंपना आवश्यक था। सदा रक्षा के लिए अति विनय किया। कन्यादान ही ऐसा दान है जिसमें दाता का देय से सम्बन्धविच्छेद नहीं होता। पुत्रित्व बना रहता है। इसीलिए कन्यादान में न मम : मेरी नहीं है ऐसा नहीं कहते।

[1]छं. करि विनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ विदित गति सबकी अहै॥
परिवारु पुरजन मोहि राजहिं प्रानप्रिय सिय जानवी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानवी॥

अर्थ : विनती करके रामजी को सीता समर्पण की और हाथ जोड़कर बार बार कहा कि हे तात! मैं बलि जाती हूँ। आप सुजान हैं। आपको सबकी गति विदित है। परिवार पुरजन मुझे और राजा को सीता प्राण के समान प्यारी है। यह जानकर और इसके शील और स्नेह को लखकर : तुलसीदासजी कहते हैं : इसे अपनी दासी की भाँति मानना।

व्याख्या : राम से ही कृत्य का प्रारम्भ और राम से ही समाप्ति चाहती हैं। कन्यादान का आरम्भ रामजी से ही हुआ। अतः सौंपने की समाप्ति भी उन्हीं में जाकर की। सौंपने में उलटा क्रम होने का यही कारण है। सीताजी में सबसे अधिक प्रीति है। इसलिए सौंपने के पहिले भी विनय किया और सौंपने के बाद भी विनती करती हैं। रामजी ने माता कहा था इसलिए तात कहती हैं। तुम ते कछु न छिपी करुनानिधि तुम ही अन्तरजामी। अतः अन्तर्यामी कहती हैं। सुजान कहती हैं। सबकी गति को स्पष्ट करते हुए बतलाती हैं कि परिवार को पुरजन को मुझको राजा को सब बेटियाँ प्रिय हैं पर सीता प्राणप्रिय है। सब इसके सुख से सुखी और दुःख से दुःखी हैं। सम्पूर्ण राज्य का सुख इसी के सुखी रहने पर अवलम्बित है। माता है : पुत्री के स्नेह को पहिचानती है। अतः कहती है कि आप भी इस बात का ध्यान रखना कि इसका कितना प्रेम आप पर है और यह कैसी सुशील है। इसे निज दासी अर्थात् अनन्य गति समझकर मानना। यथा : तेहि ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।

---

१. यह हरिगीतिका छन्द है।

दो. तुम्ह परिपूरन काम, जान सिरोमनि भावप्रिय।
जन गुन गाहक राम, दोष दलन करुनायतन ॥३३६॥

अर्थ : आप परिपूर्णकाम हैं। सुजानों के शिरोमणि हैं और भाव आपको प्यारा है। हे रामजी ! आप भक्तों के गुणग्राहक हैं। दोष के नाश करनेवाले तथा करुणा के घर हैं।

व्याख्या : यदि कहिये कि ऐसी सुन्दरी का कौन आदर नहीं करेगा। इस पर कहती हैं कि आप परिपूर्णकाम हैं। यथा : सब्र प्रकार प्रभु पूरन कामा। सुजान शिरोमणि हैं। यथा : जानि सिरोमनि कोसल राऊ। आप भावप्रिय हैं। यथा : रीझत राम सनेह निसोते। आप जनगुनग्राहक हैं। यथा : देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने। दोषदलन हैं। यथा : कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भै भूषन सरिस सुजस चारु चहुँओर। और करुणायतन हैं। यथा : करुनामय रघुनाथ सुभाऊ। यह गुणग्राम पाँचवाँ मृगशिरा नक्षत्र है। इसमें तीन तारे चमकते हैं। आकार मृगमुख सा है। यह सुनयनाकृत स्तुति है। इसमें १. जानकीजी का समर्पण २. हाथ जोड़कर विनय और ३. चरण ग्रहण : ये ही तीन तारे चमकते हैं। प्रेम पंक जनु गिरा समानी : कहकर मृगमुखाकार कहा। क्योंकि बोल नहीं सकती। सनेहसानी होने से सियराम प्रेम की जननी कहा।

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेम पंक जनु गिरा समानी॥
सुनि सनेहसानी वर बानी। बहुविधि राम सासु सनमानी ॥१॥

अर्थ : ऐसा कहकर रानी चरण पकड़े रह गई। मानो प्रेम के दलदल में वाणी समा गई। स्नेह से सनी हुई श्रेष्ठ वाणी सुनकर बहुत विधि से रामजी ने सास का सम्मान किया।

व्याख्या : चरण पकड़े रह जाने का भाव यह कि यही वर लूँगी। यथा : अस वर माँगि चरन गहि रहेऊ। आगे कुछ न कह सकीं। दलदल में जो डूब जाता है वह फिर नहीं निकल पाता। पानी में डूबे हुए को तो जल कई बार ऊपर फेंकता है। अतः रानी की वाणी को दलदल में डूबने की उपमा दी। फिर रानी के मुख से वाणी नहीं निकली।

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जाननिहारा। सो स्नेह से सानी हुई वाणी सुनकर रामजी द्रवीभूत हो गये। सास से एवमस्तु नहीं कह सकते। अतः उनका सम्मान करना ही एवमस्तु कहना है। आप माता हैं। हम लोग आज्ञाकारी हैं। आपकी आज्ञा हम लोग नहीं हटा सकते। आप व्यर्थ की चिन्ता क्यों करती हैं इत्यादि वाक्यों से समझाना ही बहुत विधि से सम्मान करना है। चरण पकड़े रह गईं। अतः बहुत विधि से सम्मान करके उन्हें तुष्ट किया।

राम बिदा माँगत कर जोरी। कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी ॥
पाइ असीस बहुरि सिरु नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥२॥

अर्थ : रामजी ने हाथ जोड़कर विदा माँगा और बारबार प्रणाम किया। आशीर्वाद पाने पर फिर प्रणाम करके भाइयों के सहित रामजी चले।

व्याख्या : सब भाइयों की ओर से रामजी ही विदा माँगते हैं। बड़े विनय से हाथ जोड़कर विदा माँगा। सास ने हाथ जोड़कर बातें कही थीं। यथा : जोरि कर पुनि पुनि कहै। सो रामजी भी हाथ जोड़कर ही विदा माँगते हैं। सास प्रेम के वश होकर बार बार चरणों में गिरी थीं। यथा : प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी। अतः सरकार भी बारबार प्रणाम करते हैं। अच्छा जाओ : इस भाँति कहकर तो सास विदा करेंगी ही नहीं। अतः आशीर्वाद देना ही विदा करना है। जबतक आशीर्वाद नहीं मिलता तबतक विदाई की स्वीकृति नहीं हुई। जब आशीर्वाद मिला तो उसे विदाई की स्वीकृति मानकर पुनः प्रणाम किया और भाइयों के साथ चले। तेहि अवसर भाइन्ह सहित राम भानुकुल केतु। चले जनक मन्दिर मुदित बिदा करावन हेतु। भाइयों के साथ आना कहा था। अब भाइयों के साथ जाना कह रहे हैं।

मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह सिथिल सब रानी ॥
पुनि धीरजु धरि कुँअरि हँकारी। बार बार भेटहिं महतारी ॥३॥

अर्थ : सुन्दर मधुर मूर्ति हृदय में लाकर सब रानी स्नेह से शिथिल हो गईं। फिर धैर्य धारण करके कुँअरियों को बुलाया और माँ बार बार मिलने लगीं।

व्याख्या : रघुनन्दन की मूर्ति ही ऐसी सुन्दर और मधुर है कि दर्शन करने वाले को कभी तृप्ति ही नहीं होती और उस मूर्ति के बिना कल नहीं पड़ता। अतः रघुनन्दन की मनोमयी मूर्ति को अपने हृत्कमल में स्थापन करके स्नेह से सब रानियाँ शिथिल हो गईं।

चारों भाइयों को जाते देखकर और विदाई का यही अवसर जानकर धैर्य धारण किया। कुँअरियों को बुलाया और बार बार माताएँ भेंटने मिलने लगीं। विदाई की भेंट और माता का स्नेह ही ऐसा होता है कि एक बार के मिलने से सन्तोष नहीं होता।

पहुँचावहि फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परसपर प्रीति न थोरी ॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥४॥

अर्थ : पहुँचाती हैं और फिर लौटकर मिलती हैं। दोनों ओर परस्पर बड़ी प्रीति बढ़ी। बार बार मिलते हुए सखियों ने अलग किया। जिस भाँति नयी व्यायी हुई गाय के छोटे बच्चे को कोई अलग कर दे।

व्याख्या : माँ मिलकर बेटियों को पहुँचाने चलीं। कर्त्तव्य से प्रेरित होकर

पहुँचाने चलती हैं और स्नेह से लौटकर फिर मिलती हैं। इस भाँति माँ बेटी का प्रेम वियोग के समय और बढ़ने लगा। सखियों ने देखा कि इससे कोई लाभ नहीं है। केवल वियोग की व्यथा ही बढ़ रही है। अतः उन लोगों ने माँ बेटियों को अलग कर दिया। यहाँ पर कवि व्यायी गाय की छोटे बच्चे से अलग होने की उपमा देते हैं। अर्थात् दोनों बाँ बाँ करती परवश एक दूसरे से दूर चली जाती हैं। इससे दोनों ओर का रुदन कहा।

दो. प्रेमबिबस नर नारि सब, सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना बिरहँ निवासु ॥३३७॥

अर्थ : सब स्त्री पुरुष और सखियों के सहित सब रनिवास प्रेम के विवश हो गये। मानो विदेह राजा के नगर में करुणा और विरह ने डेरा डाल दिया है।

व्याख्या : भावार्थ यह कि बड़ा रोना गाना मचा। मङ्गल के समय कवि रोने का शब्द नहीं कहना चाहते। इतना ही कहते हैं कि स्त्री पुरुष सखियाँ रानियाँ कोई अपने वश में नहीं हैं। सब प्रेम के वश हैं। यहाँ स्त्री पुरुष से प्रजा वर्ग से भी अभिप्राय है। इसलिए सम्पूर्ण नगर में करुणा विरह का डेरा डालना कह रहे हैं।

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरै न केही ॥१॥

अर्थ : जानकीजी ने तोता मैना पाले थे। सोने के पिंजड़ों में रखकर उन्हें पढ़ाया था। वे व्याकुल होकर कह रहे हैं कि वैदेही कहाँ है। यह सुनकर किसका धैर्य नहीं छूटता ?

व्याख्या : सुनकर मनुष्य की बोली का अनुकरण करनेवाले पक्षी भारतवर्ष में दो हैं : एक तोता दूसरे मैना। यथा : साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी। ये पालकर पढ़ाये जाते हैं। कहने का भाव यह कि किसी समय भारत में तोता मैना के पढ़ाने में कुछ उठा नहीं रक्खा जाता था। जानकीजी ने भी तोता मैना पाल रक्खे थे। उनका आदर इतना था कि वे सोने के पिंजड़ों में रक्खे गये थे। स्वयं भगवती जनकनन्दिनी उन्हें खिलाती पिलाती और पढ़ाती थीं। इसका प्रभाव इतना पड़ा कि वे मानुषी भाषा में हृद्गत भावों के व्यक्त करने में समर्थ हो गये थे। वे जब जानकीजी की विदाई के समय व्याकुल होकर बोलने लगे कि वैदेही कहाँ हैं ? तो सुननेवालों का धैर्य और भी छूट गया।

भये बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसे कहि जाती॥
बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए ॥२॥

अर्थ : जब पशु पक्षी इस प्रकार विकल हुए तो मनुष्य की दशा कैसे कही जाय। भाई के सहित तब जनकजी आये। प्रेम के उमड़ने से उनकी आँखें अश्रु से परिप्लुत थीं।

व्याख्या : जिस भाँति तोता मैना विकल थे उसी भाँति वहाँ के सब पशु पक्षी विकल थे। वे बोल नहीं सकते थे। परन्तु उनकी दशा देखने से विकलता स्पष्ट व्यक्त थी। कवि कहते हैं कि इस भाँति जानकी सबको प्यारी थीं। मनुष्य में तो चेतना का विकास अधिक है। अतः उनकी दशा अकथनीय हो गयी। इससे सम्पूर्ण जनकपुर के शोकाकुल हो उठने का वर्णन किया।

भाई कुशध्वज के साथ जनकजी : सीरध्वज आये। यहाँ पर कवि ने विदेह न कहकर जनक कहा। जनक शब्द का अर्थ ही पिता है। भाव यह कि पितृभाव से परिपूर्ण होकर आये। भीतर से प्रेम उमगा हुआ है। बाहर आँखों में आँसू भरा हुआ है। भीतर बाहर प्रेममय हो रहे हैं। परन्तु धैर्य धारण किये हुए थे। अपने धैर्य से सबको धैर्य प्रदान करते थे। बड़े भाई का कितना प्रश्रय : अदब था। कुशध्वज भी स्वयं संकाश्यापुरी के राजा हैं। परन्तु जनकजी के सामने मानो उनका अस्तित्व ही नहीं है। जो जनकजी कहें करें वही ठीक। ये किसी बात में कुछ बोलते ही नहीं। एक बार समधी से विनती करने में साथ थे। इस समय विदाई में बड़े भाई के साथ आये हैं। फिर भी कहना सुनना कुछ नहीं। ज्येष्ठोभ्राता पितुःसमः जेठा भाई बाप के तुल्य है। उसके रहते छोटा अपने को सब प्रातिभाव्यों से विनिर्मुक्त मानता था।

सीय विलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम विरागी॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यान की॥३॥

अर्थ : सीताजी को देखकर धैर्य भाग गया। जनकजी को सब लोग परम विरागी कहते थे। राजा ने जानकी को हृदय से लगा लिया। आज ज्ञान की महामर्यादा मिट गयी।

व्याख्या : महाराज विदेह धैर्य को छोड़ना नहीं चाहते थे। परन्तु सीताजी के देखते ही धैर्य उन्हें छोड़कर भाग गया। अर्थात् स्वयं महाराज विदेह रो पड़े। वे अपने को भी विरागी मानते थे। यथा : सहज विराग रूप मन मोरा। और लोग भी उनको परम विरागी कहते थे। यथा : मुनि गन गुरु धुर धरी जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से। जे विरंचि निरलेप उपाये। पद्म पत्र जिमि जग जल जाये। इसलिए कवि कहते हैं कि लोग कहते थे और ये स्वयं परम विरागी कहलाते थे। सो प्रेम ने ज्ञान पर विजय पायी। ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब मांहीं। यह ज्ञान की महामर्यादा है और जनक सा कोई ज्ञानी भी नहीं। यथा : जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। वचन किरिन मुनि कमल विकासा। उन्हें न कोई द्वेष्य है न प्रिय है। उन्होंने बेटी को कलेजे से लपटा लिया। अब ज्ञान की महामर्यादा कहाँ रही? भाव यह कि यह प्रेम की ज्ञान पर विजय है मोह की नहीं। यथा : तेहि कि मोहममता नियराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई।

समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह विचारु अनवसरु जाने॥
बारहिं बार सुता उर लाई। सजि सुंदर पालकी मँगाई॥४॥

अर्थ : सयाने मन्त्री समझा रहे हैं। तब विचार किया कि यह प्रेमप्रकाश का अवसर नहीं है। सो बार बार बेटी को हृदय से लगाकर सजी हुई सुन्दर पालकी मँगायी।

व्याख्या : अब महाराज जनक को कौन समझावे ? तो सयाने मन्त्री समझाने लगे। यथा : कवित्त

महाराज ! मनहिं सँभारिये समय को देखि पेखि परिवार सबै धीरज धराइये।
वारी सुकुमारी ये कुमारी करुना की भीर धीर धरि भूपति सुतान समुझाइये।
ज्ञान को विधान मुनि करत बखान जस जाहिर जहान मान मन में न लाइये।
जोग करि थपति विचार के पहारन ते पाटि महिपाल प्रेम वारिधि बँधाइये।

दो. प्रेम विबस परिवार सबु, जानि सुलगन नरेस।
कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह, सुमिरे सिद्धि गनेस ।।३३८।।

अर्थ : सब परिवार प्रेम के विवश था। अच्छी लग्न जानकर राजा ने कुँअरियों को पालकियों पर चढ़ाया और सिद्धिदायक गणेश का स्मरण किया।

व्याख्या : पुरजन रानी और राजा का हाल कहकर अब परिवार का हाल कहते हैं कि सब परिवार प्रेम के वश में है। कोई अपने काबू में नहीं। यह काम परिवार का था कि राजकुमारियों को पालकी पर चढ़ावें। पर किसी का इस ओर ध्यान नहीं है। इस बात को राजा ने जानकर और यह समझकर कि अच्छी लग्न आगयी है। नरेश हैं : इस बात का ख्याल किया कि जितनी देर होगी उतनी ही पीड़ा सबकी बढ़ेगी राजकुमारियों को पालकियों पर चढ़ाया। सिद्धिदायक गणेश का स्मरण किया। यथा : जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिबर बदन। करहु अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ गुन सदन।

बहुविधि भूप सुता समुझाई। नारिधरमु कुलरीति सिखाई।।
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे ।।१।।

अर्थ : बहुत प्रकार से राजा ने बेटियों को समझाया। स्त्रीधर्म और कुलरीति सिखायी और दास दासी बहुत से शुचि सेवक जो सीताजी को प्रिय थे उन्हें दिये।

व्याख्या : राजा विदेह ने स्वयं पालकी पर चढ़ने के बाद बेटियों को समझाया। यथा :

दो. सखी जायँगी संग सब, तव प्रिय दासी दास।
सब सुपास सब भाँति जनि मनको करो उदास ।।१।।
मिथिला से पश्चिम अवध मिले जुले दोउ देश।
समाचार सब दिन सुलभ, प्रेम अवधि अवधेश ।।२।।
गुरु गृहवास पुनीत जस, तियहिं ससुर गृहवास।
गृह कारज निज कर करन, अगिन उपासन खास ।।३।।

इष्टदेव पतिदेव इक, सोई मन धन प्रान।
ताके नाते सकल प्रिय, सबही को सनमान ।।४।।

अवध जाइ तस आचरेउ, जस लखाइ तहँ रीति।
पालन पति कुल रीति को, यही सनातन नीति ।।५।।

इस भाँति नारिधर्मं कुलरीति सिखाकर समझा बुझाकर विदा किया। जानकी जी प्रधान हैं। अतः उन्हीं का नाम लेते हैं। यहाँ जानकी शब्द उपलक्षण है उससे सब बेटियों का ग्रहण है। तुरंग रथ गज वाजि आदि पहिले भेज चुके हैं। अब बेटियों के साथ दासी दास और शुचि सेवक : जिन सपनेहु निज धर्म न डोले। जो उन लोगों को प्रिय थे उनके साथ भेज दिये। जे प्रिय सिय केरे में शुकसारिका भी आगई।

सीय चलत व्याकुल पुरवासी। होहिं सगुन सुभ मंगल रासी ।।
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा ।।२।।

अर्थ : सीताजी के चलते पुरवासी व्याकुल हो उठे। शुभमङ्गल की राशि शकुन हो रहे हैं। ब्राह्मण मन्त्री और समाज समेत महाराज पहुँचाने चले।

व्याख्या : जब पालकियाँ चलीं साथ में शुचिसेवक दास दासियाँ चले तो देखकर पुरवासी विकल हो उठे। इतना प्रेम पुरवासियों का सीताजी पर है। वे जानते हैं कि जब से जानकी का जन्म हुआ तब से राजा का अभ्युदय होता ही चला जाता है। यथा : तब ते दिन दिन उदय जनक को जब ते जानकि जाई। इस विचार से भी अधिक प्रेम है।

बेटियों के आदर के लिए स्वयं महाराज जनक ब्राह्मण मन्त्रिमण्डल तथा समाज समेत पहुँचाने चले। जिस बनाव के साथ विश्वामित्रजी की अगवानी की थी। यथा : संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर वरगुरु ग्याति। उसी बनाव के साथ पहुँचाने भी जा रहे हैं। वधुओं का अयोध्या को प्रस्थान है। अतः मङ्गलमय कल्याणमय अभिमतफलदातार सगुन हो रहे हैं।

समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ गज बाजि बरातिन्ह साजे ।।
दसरथ विप्र बोलि सब लीन्हे। दान मान परिपूरन कीन्हे ।।३।।

अर्थ : समय देखकर बाजे बजने लगे। बारातियों ने रथ हाथी घोड़े सजाये। महाराज दशरथ ने सब ब्राह्मणों को बुलाया और दान मान से उन्हें परिपूर्ण कर दिया।

व्याख्या : पालकी के साथ राजा जनक को पहुँचाने जाते देखकर बारात की ओर से बाजा बजा। बारातियों ने साथ जाने के लिए हाथी घोड़े और रथ सजाये। यही समय है डोला के साथ बारात के हो जाने का। इधर महाराज दशरथ ने सारे मैथिल ब्राह्मणों को बुलाया और दान तथा सम्मान से उन्हें परिपूर्ण किया।

दान के साथ सम्मान परम आवश्यक है। क्योंकि असत्कृत और अवज्ञात दान तामस हो जाता है। यथा : असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् । गी. ।

चरन सरोज धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा ॥
सुमिरि गजाननु कीन्ह पयाना। मंगलमूल सगुन भये नाना ॥४॥

अर्थ : ब्राह्मणों के चरणकमलों की धूलि सिर पर रक्खी और आशीर्वाद पाकर प्रसन्न हो गये। तब गजानन का स्मरण करके प्रयाण किया : रवाना हुए। नाना प्रकार के मङ्गलमूल सगुन हुए।

व्याख्या : ब्राह्मणों के चरणों की धूलि विपत्तिरूपो घने अन्धकार के लिए सहस्र सूर्यों के समान है। चाहे हुए पदार्थ के देने के लिए तो साक्षात् कामधेनु हैं। अपार संसार समुद्र का तो मानो सेतु ही है। ऐसी ब्राह्मण चरणों की धूलि मुझे पवित्र करे : विपद्घनध्वान्तसहस्रभानवः समीहितार्थार्पणकामधेनवः। अपारसंसार-समुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणपादरेणवः। इस मन्त्र से ब्राह्मण पाद धूरि धारण की जाती है। महाराज ने विधान के साथ ब्राह्मणों की चरण धूलि सिर पर चढ़ायी और आशीर्वाद पाकर प्रसन्न हुए। तब भगवान् गजानन का स्मरण करके प्रयाण किया। क्योंकि गजानन विघ्नहर्त्ता मङ्गलकर्त्ता तथा प्रथम पूज्य हैं। प्रयाण करते ही नाना मङ्गल मूल शकुन हुए। यथा : जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती।

दो. सुर प्रसून बरषहिं हरखि, करहिं अपछरा गान।
चले अवध पति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान ॥३३९॥

अर्थ : देवता हर्षित होकर पुष्पवृष्टि करने लगे। अप्सराएँ गान करने लगीं। अयोध्याधिपति अयोध्या को डङ्का देकर चले।

व्याख्या : बारात आने पर : सुमन वरखि सुर हनहिं निसाना। नाक नटी नाचहिं करि गाना : कहा था। अब बारात चलते समय हर्षित होकर देवताओं का फूल बरसाना और अप्सराओं का गान कहते हैं। महाराज अयोध्याधिपति जनकपुर चलते समय शंख बजाकर चले थे। यथा : चले महीपति संख बजाई। अपने पुर चलते समय डङ्का देकर जाते हैं।

नृप करि विनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥
भूषन वसन वाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥१॥

अर्थ : महाराज ने विनय करके महाजनों को लौटाया और आदर के साथ सब मंगनों को बुलवाया। उन्हें अलङ्कार, वस्त्र, घोड़े और हाथी दिये और प्रेम से परिपुष्ट करके : अपने पैरों पर खड़ा कर दिया।

व्याख्या : महाजन का अर्थ जनसमुदाय भी है और प्रतिष्ठित पुरुष भी है। यहाँ पर जनसमुदाय के अर्थ में ही महाजन शब्द प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है।

क्योंकि पहले कह आये हैं कि : दसरथ गवन सोहाय न काहू। महाराज दशरथ से सब प्रीति करने लग गये थे। उनका प्रस्थान सुनकर जनसमुदाय इकट्ठा हो गया। प्रतिष्ठित जन का महाराज जनक के समाज के साथ रहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सो महाराज दशरथ ने सबसे विनय करके उनको लौटाया। परम उदार के यहाँ ही याचक का सत्कार सम्भव है। नहीं तो याचक का सत्कार कौन करता है ? यथा : दीनदयाल दिवोइअ भावै जाचक सदा सोहाहीं। सो महाराज दशरथ ने सत्कार के साथ याचकों को बुलवाया। महाराज पहिले ब्राह्मणों को दान देते हैं तत्पश्चात् याचकों का सत्कार करते हैं। अत: उन्हें कपड़े, गहने, घोड़े, हाथी दिये और प्रेम से उन्हें पुष्ट किया। जिस वस्तु का उन्हें अभाव था उसकी पूर्ति की। उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें। स्वयं अपना काम चला लें। याचकवृत्ति छोड़ दें।

बार बार विरदावलि भाखी। फिरे सकल रामहि उर राखी ॥
बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनक प्रेमवस फिरै न चहहीं ॥२॥

अर्थ : बार बार स्तुतियाँ करते हुए रामजी को हृदय में रखकर सब फिरे। बार बार कोसलपति कह रहे हैं। पर प्रेमवश महाराज जनक लौटना नहीं चाहते।

व्याख्या : गद्यपद्यमयीराजस्तुतिर्विरुदमुच्यते। गद्यपद्यमयी वाणी में राजा की स्तुति को विरुद कहते हैं। सो याचकों ने कृतज्ञता प्रकाश के लिए की। बार बार गद्यपद्यमयी वाणी में राजा की स्तुति करके और रामजी को हृदय में रखकर सब लौटे। याचक लोग दीन हैं। रामजी दीनबन्धु हैं। यथा : जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवौ सो श्री भगवाना। वे उन्हें प्यारे हैं। अथवा उनके वे प्यारे हैं। अतः उनके हृदय में रह गये। मंगनों के दोनों लोकों का अभाव पूरा हुआ। भूषन वसन बाजि गज से इस लोक का अभाव और रामजी के हृदय में रखने से परलोक का अभाव पूरा हुआ।

महाराज दशरथ का एक बार कहना यथेष्ट है। पर यहाँ एक बार कहते ही मान लेने से श्रद्धा में न्यूनता सूचित होती है। एक बार कहने से सेवा वही छोड़ सकता है जो अनिच्छापूर्वक सेवा करता हो। यथा : बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही। रघुवर जाइ सयन तब कीन्ही। जनकजी प्रेम के वश में हैं। आज्ञा नहीं मानते चले ही जा रहे हैं। नियम का निर्वाह नहीं है। उनका जी फिरने को नहीं चाहता।

पुनि कह भूपति वचन सुहाए। फिरिअ महीस दूरि बड़ि आये ॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेम प्रवाह विलोचन बाढ़े ॥३॥

अर्थ : फिर राजा दशरथ ने सुहावने वचन कहे : राजन्! आप बहुत दूर आगये अब लौट जाइये। फिर महाराज दशरथ सवारी से : उतरकर खड़े हो गये। प्रेम का स्रोत नेत्रों में बढ़ आया।

व्याख्या : राजा जनक को लौटते न देखकर चक्रवर्तीजो ने ऐसे वचन कहे

जिसमें लौट जांय। भाव यह कि ग्राम की सीमा तक ही पहुँचाने का नियम है। आप तो बहुत दूर चले आये। यह कहने पर भी जब जनकजी न लौटे तो चक्रवर्तीजी सवारी से नीचे उतर पड़े। उनसे इतना आदर सह्य न हुआ। उतरने का भाव यह कि आप लौटिये तो हम आगे बढ़ें। बारात रुक गई। सब लोग सवारी से नीचे उतर पड़े। चक्रवर्तीजी के आँखों में आँसू आगया। मानो प्रेम ही उठकर आँख तक आगया।

तब विदेह बोले कर जोरी। वचन सनेह सुधा जनु बोरी॥
करौं कवन विधि विनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई॥४॥

अर्थ : तब विदेह ने हाथ जोड़कर मानो स्नेहामृत से डुबाये हुए वचन बोले। मैं बनाकर किस विधि से विनय करूँ। महाराज ने मुझे बड़ाई दी।

व्याख्या : चक्रवर्तीजी के खड़े हो जाने से यह निश्चय हो गया कि अब अधिक दूर तक पहुँचाना सम्भव नहीं। अतः विदाई का समय है। उस समय कन्यापक्ष से विनय प्राप्त है। अतः जनकजी ऐसा वचन बोले जिससे स्नेह टपका पड़ता था। जनकजी ने कहा : विनय सँवारकर किया जाता है। पर मुझे विनय के लिए शब्द नहीं मिलते जिससे विनय को सँवारूँ। इतना ही कह सकता हूँ कि महाराज ने मुझसे यह सम्बन्ध नहीं किया मुझे बड़ाई दी है। जिसने बड़ाई दी उससे किस भाँति विनय करें। विनय करने में भेद को स्थान देना पड़ता है।

दो. कोसलपति समधी सजन, सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर विनय अति, प्रीति न हृदय समाति॥३४०॥

अर्थ : कोसलेश ने अपने सजन समधी का सब भाँति से सनमान किया। परस्पर मिले। एक ने दूसरे से अत्यन्त विनय किया। क्योंकि प्रीति हृदय में समाती नहीं थी।

व्याख्या : सजन शब्द स्वजन या सज्जन शब्द का तद्भव रूप है। आज भी इसका प्रयोग समधी या उनके बराबरी भाई या प्रेमी के लिए होता है। सो कोशलपति ने अपने समधी सजन के भाव से मनसा वाचा कर्मणा सम्मान किया। परस्पर मिलना शरीर से अति विनय वाणी से और अति प्रेम हृदय से हुआ।

मुनि मंडलिहि जनक सिरु नावा। आसिरबाद सबहिं सन पावा॥
सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप सील गुननिधि सब भ्राता॥१॥

अर्थ : मुनिमण्डली को जनकजी ने सिर नवाया। सबसे आशीर्वाद पाया। आदर के सहित दामादों से मिले। सब भाई रूप शील और गुण के निधान थे।

व्याख्या : मुनिमण्डली सदा चक्रवर्तीजी के साथ रहती थी। यथा : साधु समाज संग महिदेवा। राजा जनक ने चक्रवर्तीजी से मिलने के बाद मुनिमण्डली का प्रणाम किया। प्रत्येक मुनि ने उनको आशीर्वाद दिया। इसके बाद आदर के सहित

चारों जामाताओं से मिले। कवि जानकी का भाग्य कहते हैं कि चारों भाई रूप शील और गुण के निधान थे : चारिउ रूप सील गुन धामा। कहउ तात केहि भाँति कोउ करै बड़ाई तासु। रामलखन तुम सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु।

जोरि पंकरुह पानि सुहाए। बोले वचन प्रेम जनु जाए ॥
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा ॥२॥

अर्थ: सुन्दर करकमलों को जोड़कर ऐसे वचन बोले मानो वे प्रेम से उत्पन्न हैं। हे राम ! तुम्हारी प्रशंसा किस प्रकार से करूँ। तुम मुनि और महेश के मनमानस के हंस हो।

व्याख्या : चक्रवर्तीजी से विनय करना प्राप्त था। इसलिए : करहुँ कवन विधि विनय बड़ाई कहा था। रामजी जामाता हैं। इनकी प्रशंसा करना प्राप्त है। पर न तो चक्रवर्तीजी के विनय की विधि मिल सकी और न राम की प्रशंसा करने की विधि मिल रही है। कारण कहते हैं कि सबसे बड़े दो हैं : गुरु याज्ञवल्क्य और इष्टदेव महेशजी। सो उन दोनों के ही मनमानस के तुम हंस हो। तुम्हारी बड़ाई कैसे करें। यथा : जय महेस मनमानस हंसा। तथा : मुनिमन मानस हंस निरंतर। हंस कहने का भाव यह है कि प्रधान निवासी हो। दूसरे पक्षी तो अन्यत्र भी मिलते हैं। पर मराल तो मानस में ही मिलते हैं। यथा : जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।

करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मद त्यागी ॥
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अविनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥३॥

अर्थ : जिसके लिए क्रोध मोह ममता और मद त्याग करके योगी लोग योग करते हैं। जो व्यापक ब्रह्म, अलख, अविनाशी, चिदानन्द, निर्गुण और गुणराशि हैं।

व्याख्या : चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते हैं। उसका फल द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान है। यथा : योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽत्रस्थानम्। अतः द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान के लिए ही योगी योग करते हैं और द्रष्टा रामजी हैं। यथा : नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। उनसे अन्य न कोई द्रष्टा है न श्रोता है न विज्ञाता है। योग करने में क्रोध, मोह, ममता और मद का त्याग करना पड़ता है। क्योंकि इनके रहते चित्तवृत्ति का निरोध नहीं हो सकता। क्रोध से द्वेष, मोह से अविद्या, ममता से रोग और मद से अस्मिता कहा। इस भाँति पञ्चपर्वा अविद्या के चार पर्व कहे। अभिनिवेश नहीं कहा। क्योंकि अभिनिवेश का न होना तो फल कोटि में है। जिसे अभिनिवेश नहीं उसे योग की आवश्यकता ही क्या है।

अब रामजी का स्वरूप कहते हैं। व्यापक कहने से ही व्यापक व्याप्य और व्याप्ति की त्रिपुटी आँख के सामने आ खड़ी होती है। जगत् व्याप्य है। रामजी

व्यापक हैं। सन्देह उठता है कि व्यापक की इयत्ता भी कम से कम व्याप्त के परिमाण इतनी होगी। इसलिए ब्रह्म कहा। अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। वह जगत् से भी बड़ा है। ह्म का अर्थ ही बड़ा है। वह विज्ञाता है। ज्ञेय नहीं है। इसलिए अलख है। क्योंकि विज्ञाता को कोई कैसे जाने : विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्। इसी बात को गोस्वामीजी ने दोहावली में कहा है : अलख अलख सब कोउ कहै अलखहि लखा न कोइ। अलख लखा तिन सब लखा लखा अलख नहिं होइ। अब उनका स्वरूप कहते हैं। अविनाशी कहकर सत् कहा। तत्पश्चात् चिदानन्द कहते हैं। यथा : राम सच्चिदानंद दिनेसा। निर्गुण कहकर निर्विशेष कहा और गुणराशि कहकर जगन्मय कहा। यथा : निर्गुण सगुण विषम समरूपं। तथा : विस्वरूप रघुवंसमनि करहु वचन विस्वासु। लोक कल्पना वेद कर अंग अंग प्रति जासु।

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहहीं। जो तिहुँ काल एकरस रहहीं॥४॥

अर्थ : मन के साथ जिसे वाणी नहीं जानती और सभी अनुमान करनेवाले जिसपर तर्क नहीं कर सकते। जिसकी महिमा को निगम नेति कहकर निरूपण करता है और जो तीनों काल में एकरस रहता है।

व्याख्या : गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई। जहाँ तक मन की दौड़ है वहाँ तक तो माया है। अतः मन उसे नहीं जान सकता। जिस बात को मन चिन्तन करता है उसी को वाणी भी कहती है। अतः जहाँ मन की पहुँच नहीं है वहाँ वाणी की पहुँच भी नहीं हो सकती। इसीलिए : मन समेत जेहि जान न बानी कहा। अनुमान करनेवाले तर्क नहीं कर सकते : कहने का भाव यह कि वह बुद्धि का विषय भी नहीं है। क्योंकि परिच्छिन्न पदार्थ ही बुद्धिगम्य हो सकता है। अनादि अनन्त में बुद्धि काम नहीं करती। यथा : न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः। जिसे वेद भी नेति कहकर कहता है इदमित्थम् रूप से कुछ नहीं कहता। यथा : अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। अथवा नेति नेति : न स्थूल न सूक्ष्म कहकर बतलाता है। एक रस से वस्तुतः परिच्छेदशून्य कहा। तिहुकाल एक रस से कालतः परिच्छेदशून्य कहा और अहई से देशतः परिच्छेदशून्य कहा।

दो. नयन विषय मोकहुँ भयेउ, सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ, भये ईसु अनुकूल॥३४१॥

अर्थ : वही सब सुखों का मूल मेरे नयन का विषय हुआ है। शिवजी की अनुकूलता से जीव को सब कुछ सुलभ हो जाता है।

व्याख्या : वह विषयी नयन का विषय हुआ। यह अघटित घटना उस अघटित घटना पटीयसी माया की करामात है। यथा : सो अवतरिहि मोरि यह

माया। तथा : मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ। वह सुखमूल है। विषयानन्द का भी मूलभूत वही ब्रह्मानन्द है। माया प्रेरक शिव की कृपा से जीव को सब कुछ सुलभ हो जाता है। यथा : इन सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे। भावार्थ यह कि शिवजी की कृपा से मुझे तुम्हारा दर्शन मिला। नहीं तो ब्रह्मदर्शन और किसी प्रकार से सम्भव नहीं। यथा : कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे।

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होइ सहस दस सारद सेखा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥१॥

अर्थ : सब प्रकार से मुझे बड़ाई दी। अपना भक्त जानकर अपना कर लिया। यदि दस सहस्र सारद शेष हों और करोड़ कल्प तक लेखा करें।

व्याख्या : जनकजी ने चक्रवर्तीजी से कहा : महाराज मोहि दीन्ह बड़ाई। क्योंकि चक्रवर्तीजी से बराबर का सम्बन्ध हुआ। परन्तु रामजी के साथ तो बड़े का सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसलिए उनसे कहते हैं : सबहि भाँति मोहि दीन्ह बड़ाई। मुझे अपना बड़ा बना लिया। तुम सदा दासों को बड़ाई देते हो। यथा : संतत दासन्ह देहु बड़ाई। सो मुझे भी भक्त जानकर इस सम्बन्ध से अपना कर लिया। श्वसुर दामाद का सम्बन्ध दृढ़ स्थापित हो गया।

सारदा ऊर्ध्वस्थित लोक की वक्ता और शेष अध:स्थित लोक के वक्ता हैं। स्वर्ग में महासुख है। पाताल बिलस्वर्ग है। इसमें वहाँ से भी अधिक भोग है। मर्त्यलोक में ऐसा सुख कहाँ? अत: सुख की दृष्टि से स्वर्ग और पाताल में भाग्यवानों का निवास है। अत: वहीं के वक्ताओं को कहा। सो सारद और शेष एक ही एक हैं। यदि उनकी संख्या दस सहस्र हो अथवा ऊर्जित सुख के जानकार अत्युत्तम कोटि के वक्ताओं की संख्या भी अत्यधिक हो और वे कोटि कल्प लेखा करें। सारदा और शेष की आयु तीन लाख साठ हजार कल्प है। सो इनकी इतनी आयु बढ़े कि कोटि कल्प की हो जाय और वे यावज्जीवन लेखा करते ही रहें अर्थात् अत्यधिक समय तक लेखा करते रहें।

मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहहुँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥२॥

अर्थ : मेरे भाग्य की और आप के गुणों की गाथा कहने से समाप्त नहीं हो सकती। मैं कुछ कहता हूँ मुझे एक बल है कि तुम अत्यन्त थोड़े से प्रेम पर रीझ जाते हो।

व्याख्या : फिर भी मेरे भाग्य की लेखा नहीं कर सकते और न आपकी गुणगाथा की लेखा हो सके। क्योंकि आपकी कृपा से ही मेरा भाग्य ऐसा हुआ। भाव यह कि सरकार की स्वरूपज्ञान होने से अपने भाग्य की बड़ाई की कल्पना कर रहे हैं। जलसीकर महिरज गनि जाँहीं। रघुपति गुन नहिं बरनि सिराहीं।

जिसने सगुण मूर्तिरूपी दूरवीक्षण यन्त्र से सरकार के स्वरूप का दर्शन किया है वही उनके गुणगण के आनन्त्य को समझ सकता है। राजा जनक कहते हैं कि योगादि यत्न का भरोसा नहीं। यथा : मुनि त्यागत योग भरोस सदा। बहुत थोड़े से स्नेह पर तुम्हारे रीझनेवाले स्वभाव का भरोसा है। इसीलिए मैं कुछ कहता हूँ। नहीं तो तुम्हारी महिमा को कहना ही उसे परिच्छिन्न करना है।

बार बार माँगउँ कर जोरे। मनु परिहरइ चरन जनि भोरे ॥
सुनि वर वचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे ॥३॥

अर्थ : बार बार हाथ जोड़कर वर माँगता हूँ कि मेरा मन चरणों को भूलकर भी न छोड़े। प्रेम से पोषे हुए वर वचनों को सुनकर पूर्णकाम राम सन्तुष्ट हुए।

व्याख्या : मन परिहरै चरन जनि भोरे। यह बात क्रियासाध्य नहीं है। यह तो कृपासाध्य है। क्योंकि प्रेरयिता मन के तो तुम्हीं हो। यथा : केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत् वाचो ह वाच सॐ उ प्राणस्य प्राणः। तुम्हीं प्राण के प्राण हो। यथा : प्राण प्राण के जीवन जोके। तुम्हारी ही प्रेरणा से मन मनन करता है। अतः यही वर हाथ जोड़कर बार बार माँगता हूँ कि मन को ऐसी प्रेरणा कीजिये कि वह आपके चरणों को न छोड़े। पहिले प्रेम जनु जाये वचन कहा था। अब प्रेम जनु पोषे कहते हैं। पूर्णकाम का परितोष केवल प्रेम से होता है। सो सरकार परितुष्ट हुए। इससे वरदान देना कहा।

यह छठा गुणग्राम आर्द्रा नक्षत्र है। इसमें एक तारा चमकता है। आकार मणि सा है। यह जनककृत स्तुति है। फल है : जनक सिय राम प्रेम के। इसमें एक तारा ईश की अनुकूलता चमक रही है। यही चिन्तामणि है। इसी से सब सुलभ हुआ। बोले वचन प्रेम जनु जाये कहकर इस स्तुति का सियराम प्रेम का जनक होना सूचित कर दिया।

करि वरविनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक वसिष्ठ सम जाने ॥
विनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेम मुनि आसिष दीन्ही ॥४॥

अर्थ : श्रेष्ठ विनय करके श्वसुर का सम्मान किया। उन्हें पिता दशरथ तथा गुरु कौशिक और वसिष्ठ के समान जाना। फिर भरतजी से राजा ने बहुत विनती की और प्रेम से मिलकर आशीर्वाद दिया।

व्याख्या : एवमस्तु नहीं कहा। बड़े के वरदान माँगने पर सरकार एवमस्तु नहीं कहते। विनय और सम्मान से अपना परितोष व्यक्त कर देते हैं। यहाँ ससुर सनमाने कहने का भाव यह कि जैसे दामाद श्वसुर का सम्मान करता है उसी भाँति सम्मान और विनय किया। सीताजी के पिता होने से पितासम महाविद्या सीताजी के दान देने से कौसिकसम। जिसका सहज विराग रूप मन हो उसके राज्य ग्रहण अथवा दारा ग्रहण का कोई कारण नहीं है। जामाता रूप में रामजी की प्राप्ति की आशा से राज्य ग्रहण किया। जिस भाँति वसिष्ठजी ने यजमान रूप

से रामजी की प्राप्ति की आशा से पौरोहित्य स्वीकार किया था इसलिए : वसिष्ठ सम जाना। अथवा उनकी कन्या को ग्रहण किया है इस सम्बन्ध से वे गुरु हैं। इसलिए : कौसिक वसिष्ठ सम जाना।

फिर कुशध्वज के बड़े जामाता होने से भरतजी की बड़ी विनती की। भगवती माण्डवी सीताजी से छोटी तथा उर्मिला से बड़ी थीं। इधर भरतजी रामजी से छोटे तथा लक्ष्मणजी से बड़े थे। इसलिए रामजी के बाद भरतजी से मिले और आशीर्वाद दिया। सुषुप्ति से जगत् का आरम्भ है और भरतजी सुषुप्ति के विभु हैं। अतः व्यवहार से काम लिया। रामजी में ब्रह्मभाव होने से उन्हें आशीर्वाद नहीं दिया था : इन्हें दिया।

दो. मिले लखन रिपुसूदनहि, दीन्हि असीस महीस।
भए परसपर प्रेम बस, फिरि फिरि नावहिं सीस ॥३४२॥

अर्थ : लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी से मिले और राजा ने आशीर्वाद दिया। परस्पर प्रेमवश हो गये। घूम घूमकर सिर नवा रहे हैं।

व्याख्या : लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी से प्रेम से मिलकर राजा ने आशीर्वाद दिये। जाग्रत् और स्वप्न में स्पष्ट जगत् का भान होने से उनके विभुओं के साथ केवल व्यवहार से काम लिया। जनकजी प्रेमवश उन्हें देखते हैं और वे प्रेमवश घूम घूमकर उन्हें प्रणाम करते हैं। अथवा फिरि फिरि का अर्थ बार बार है। प्रेमवश उन्हें बार बार प्रणाम करते हैं।

बार बार करि विनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई ॥
जनक गहे कौसिक पद जाई। चरन रेनु सिर नयनन्हि लाई ॥१॥

अर्थ : बार बार विनय और बड़ाई करके रामजी सब भाइयों के साथ चले। जनकजी ने जाकर विश्वामित्र का चरण पकड़ा और चरण की धूलि को सिर और आँखों में लगाया।

व्याख्या : बार बार जनकजी ने हाथ जोड़े थे। यथा : बार बार माँगउ करजोरे। अतः बारबार विनय और स्तुति करके रामजी सब भाइयों के साथ चले। भाव यह कि चक्रवर्तीजी के सवारी से उतरने पर रामजी भाइयों के सहित सवारी पर से उतरकर वहाँ आगये थे। अब भाइयों सहित सवारी पर सवार होने के लिए चले। सास से विदा होने पर भाइन्ह सहित चले रघुराई लिखा था। अब श्वसुर से विदा होने पर भी वही लिखते हैं : रघुपति चले संग सब भाई।

महाराज के ठहर जाने पर मुनिमण्डली वहाँ आगई। चारों भाई रामजी आदि आगये। पर विश्वामित्रजी नहीं आये। जानते थे कि जनक कृतज्ञता प्रकाश करेंगे। पर यह वे नहीं चाहते थे। कोप प्रकाश करते हुए कृपा करने का उनका स्वभाव है। जिसमें कोई यह न कहे कि विश्वामित्रजी की कृपा से कल्याण हुआ। देखने में विश्व के अमित्र पर वास्तव में विश्व के मित्र थे। पर कृतज्ञ हृदय अपने

कल्याण करनेवाले को खोज लेता है। जनकजी ने जाकर उनके चरण पकड़ लिये। जामाताओं की प्राप्ति इन्हीं चरणों के कारण हुई। अत: चरणरेणु को माथे पर रक्खा और समस्त सुख मूल रामजी उनके नयन विषय भी उसी चरणरेणु के प्रसाद से हुए थे। इसलिए उसे आँखों में लगाया।

सुनु मुनीस वर दरसन तोरे। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरे ॥
जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥२॥

अर्थ : हे मुनीश्वर ! सुनिये। आपके दर्शन से कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यह मेरा विश्वास है। जिस सुख और सुयश को लोकपाल चाहते हैं और मनोरथ करते समय उन्हें सङ्कोच होता है।

व्याख्या : जब से विश्वामित्रजी का आगमन हुआ है। तभी से सब कार्य सिद्धि हो रही है। जनकराज को इसका अनुभव है। पहले भी कहा था : यह सब सुख मुनिराज तव कृपा कटाक्ष प्रभाउ। आज भी कह रहे हैं : नयन विषय मोकहँ भयउ सो समस्त सुखमूल। इसलिए कहते हैं कि आपके दर्शन देने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। ब्रह्मदर्शन भी सुलभ हुआ और दुर्लभ सुख सुयश भी सुलभ हुआ। सुख यथा : इनहि विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा। सुयश यथा : सो पद पखारत भाग्य भाजन जनक जय जय सब कहैं। यह सुख और यश लोकपति को प्राप्त नहीं। उन्हें इस सुख और सुयश का मनोरथ करने में सङ्कोच होता है कि मेरा इतना भाग्य कहाँ कि यह सुख और सुयश मुझे प्राप्त हो। प्रकाश भी नहीं करते कि लोग हँसेंगे कि किस करणी पर यह ऐसा मनोरथ करते हैं।

सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी ॥
कीन्ह विनय पुनि पुनि सिरु नाई। फिरे महीसु आसिषा पाई ॥३॥

अर्थ : हे स्वामी ! जो सुख और सुयश मुझे सुलभ हुआ। ये सब सिद्धि आपके दर्शन की अनुगामिनी हैं। बार बार सिर नवाकर विनय किया और आशीर्वाद पाकर राजा लौटे।

व्याख्या : इस सुख, सुयश और ब्रह्मदर्शनरूपी सिद्धियों के लिए : जिनके प्राप्त्यर्थ लोकपाल तरसते हैं मुझे कुछ करना न पड़ा। आपके दर्शन के पीछे पीछे चली आईं। इस प्रकार से बार बार चरणों में सिर नवाकर विनय किया। तब मुनिजी ने अनेक आशीर्वाद दिये। यहाँ आशिषा बहुवचन है। उन्हें पाकर राजा जनक लौट गये।

चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥
रामहि निरखि ग्राम नर नारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी ॥४॥

अर्थ : डङ्का देकर बारात चली। छोटे बड़े सब समाज का समाज मुदित था। रामजी को देखकर नर नारी नेत्रों का फल पाकर सुखी होते थे।

व्याख्या : चक्रवर्तीजी के रुक जाने से सारी बारात रुक गई। डङ्का बजना बन्द हो गया। महाराज जनक के लौटने पर ही चक्रवर्तीजी सवार हुए। बारात चल पड़ी। डङ्का बजने लगा। जनकजी के विनय पर सारी बारात प्रसन्न है। अथवा सबको घर चलने की खुशी है। बारात आगे बढ़ी। नगर छूट गया। ग्राम मिले। विश्वामित्रजी ने कहा था : करहु सफल सबके नयन सुंदर वदन देखाय। सो नगरवासियों के तो नयन सुफल हो चुके। अब ग्रामवासियों के हो रहे हैं।

दो. बीच बीच वर वास करि, मग लोगन्ह सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन, पहुँची आइ जनेत ॥२४३॥

अर्थ : बीच बीच में सुन्दर पड़ाव करती हुई और रास्ते के लोगों को सुख देती हुई बारात अयोध्या के समीप पुनीत दिन में जा पहुँची।

व्याख्या : बीच बीच बरवास बनाए। सुरपुर सरिस संपदा छाए। उन सुन्दर पड़ावों पर टिकती हुई मार्ग के निवासियों को नयनफल रूपी सुख देती हुई अवध के समीप पहुँची। अयोध्या से चलकर बारात शुभ लग्न में जनकपुर पहुँची थी। यथा : प्रथम बरात लगन ते आई। ताते पुर प्रमोद अधिकाई। और अब जनकपुर लौटकर अयोध्या के समीप भी शुभ दिन को पहुँची।

हने निसान पनव वर बाजे। भेरि संख धुनि हय गय गाजे॥
झाँझि बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥१॥

अर्थ : डङ्के पर चोट पड़ी। श्रेष्ठ ढोल बजने लगे। भेरी और शंख की ध्वनि हुई। घोड़े हाथी गरजने लगे। झाँझ, वीरव, सुन्दर डिंडिमी और शहनाई सरस राग से बजने लगे।

व्याख्या : नगर के सन्निकट आते ही बारात का उत्साह बढ़ा। अतः सब बाजे बज उठे। इस समय बाजा बजना नगरवासियों को सचेत करना है कि बारात आगई। हने निसान : निसान के लिए चोट पड़ना लिखते हैं। यथा : परा निसानन्हि घाऊ। डङ्के पर बलपूर्वक प्रहार किया जाता है। तभी वह बजता है और ध्वनि भी उसकी बड़ी गम्भीर और दूर तक पहुँचानेवाली होती है। सो निशान पणव भेरी और शंख बजे। ये चार बाजे बारात के आगे बज रहे थे। बारात के नगर निकट आने से सब बाजों का बजना कहते हैं। नहीं तो रास्ते भर केवल डङ्का बज रहा था। यथा : चले बजाइ निसान। शङ्ख के शब्द से बजानेवाले की पहिचान होती है। यथा : शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक्। शंख तो स्वयं राजा तथा प्रधान वीरलोग समय विशेष पर बजाते हैं। किन्तु और बाजे बजनिये बजाते हैं। महाराज तथा सरदार लोग हाथी पर हैं। अतः शङ्ख का बजना हाथी घोड़ों के आगे ही लिखते हैं। बाजे के शब्द सुनकर हाथी गरजे, घोड़े हिनहिनाने लगे। घोड़े, हाथी और रथ के बाद झाँझ, विरव और डिंडिमी का शब्द कहते हैं। डिंडिमी और विरव कौन सा बाजा है इसे अब लोग नहीं जानते। सम्भवतः डिंडिमी

डमरू और विरव नरसिंहा को कहते हैं। क्योंकि नरसिंहा में विशेष रव होता है। ये तीन बाजे ब्राह्मणों और वन्दीजन के आगे बज रहे हैं। शहनाई नववधुओं के डोला के आगे बज रही है। चलते समय बाजों के नाम और क्रम नहीं कहे। क्योंकि पुर और व्योम दोनों जगह बज रहे थे। व्योम के बाजाओं का नाम नहीं मालूम। अतः पुर के बाजाओं के भी नाम नहीं दिये।

पुर जन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥
निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे ॥२॥

अर्थ : पुरजन बारात का आना सुनकर ऐसे प्रसन्न हुए कि उन लोगों को पुलक होने लगा। उन्होंने अपने अपने सुन्दर घरों को सजा डाला। तत्पश्चात् बाजार, मार्ग, चौराहों और पुरद्वार को सजाया।

व्याख्या : बाजा सुनकर तथा शंखध्वनियों को पहिचान कर बारात का आना जान लिया। सब प्रसन्न हो उठे। इससे प्रजा का राजा पर अनुराग कहा। सात्त्विक भाव से पुलकावली हो उठी। अथवा भीतर मोद है। बाहर पुलकावली है। यथा : देखन हेतु राम वैदेही। कहहु लालसा होइ न केही। पहिले सबों ने अपना अपना घर साजा। तब बाजार साजा गया। तब सड़क। तब चौमुहानियाँ सजायी गई और तब पुरद्वार सजाया जाने लगा। यह स्वाभाविक क्रम है। दिखौवा उत्साह के पहिले फाटक ही सजाया जाता है और सजावट बाजार तक ही रह जाती है। घर तक पहुँचती ही नहीं।

गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ तहँ चौकें चारु पुराई ॥
बना बजारु न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥३॥

अर्थ : सब गलियों में अरगजा का छिड़काव हुआ। सब घरों में चौकें पूरे गये। बाजार ऐसा सजाया गया कि उसका बखान नहीं हो सकता। तोरण बाँधे गये। ध्वजा, पताका लगाये गये। मण्डप सजाया गया।

व्याख्या : अयोध्या में गलियाँ सदा सुगन्ध से सींची जाती थीं। यथा : संतत रहहि सुगंध सिंचाई। सो आज अरगजा से सींची गईं। इस भाँति रास्ते सँवारे गये। मकान के दरवाजों पर चौक पूरे गये। अतः जहँ तहँ लिखते हैं। इस भाँति घर सजाये गये। बाजार में ध्वजा पताकाएँ लगायी गईं। वह सब सजावट कही नहीं जाती। क्योंकि ऐसे वितान बनाये कि बारात उसके नीचे से जाय। जाड़ा बिताकर बारात आ रही है। धूप से बचाव के लिए तथा बहुओं की अगवानी के लिए बाजार और चौराहों में वितान तने हुए हैं।

सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कल करनी ॥४॥

अर्थ : फल सहित सुपारी, केला, आम, मौलसरी, कदम्ब और तमाल के

पेड़ लगाये गये। वे लगे हुए सुन्दर वृक्ष धरती को छू रहे थे। उनके थाले मणिमय सुन्दर कारीगरी से बनाये गये थे।

व्याख्या : पूगफल, रसाल, बकुल, तमाल ये रोपे नहीं जा सकते। अतः सिद्ध है कि ये सब भी जनकपुर में कदली खम्भ की भाँति बनावटी थे। फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ। कारीगरी की महीनकारी कहते हैं कि वृक्षों में फल लगाये गये और पेड़ों को ऐसा बनाया मानो वे फल के बोझ से झुके पड़ते हैं। जब आलबाल की बनावट मणिमय थी तब वृक्षों के मणिमय होने में सन्देह ही क्या है ? देहलीदीपकन्याय से मणिमय शब्द का प्रयोग है। उसका अन्वय सुभगतरु के साथ तथा आलबाल के साथ भी होगा।

दो. विविध भाँति मंगल कलस, गृह गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब, रघुवर पुरी निहारि ॥३४४॥

अर्थ : अनेक प्रकार के मङ्गल कलश घर घर सँवारकर रचे थे रामजी की पुरी देखकर ब्रह्मादि देवता सिहाने लगे।

व्याख्या : घर घर मङ्गल कलश भी रचे गये। जनकपुर में तो मन विरंचि कर भूल। पर यहाँ तो सिहाने लगे। सुरराज तो सदा से सिहाते थे। यथा : अवधराज सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं। आज ब्रह्मदेव भी सिहाने लगे कि ऐसी रचना मेरे लोक में भी नहीं है। जनकपुर में देवताओं को शिवजी ने समझाया था : जनि आचरज भुलाहु। हृदय विचारहु धीर धरि सिय रघुवीर विआहु। यह अयोध्या तो रामजी की पुरी है। यथा : पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरखे नगर विलोकि सुहावन। यहाँ का क्या कहना है ?

इसी से भरद्वाज मुनि ने भरतजी के सत्कार में : विधि विस्मयदायक विभव मुनिवर तपबल कीन्ह। वे समझते थे कि इतना सुख तो भरत के घर ही था। उतना विना हुए भरत की मेहमानदारी कैसे होगी। अस कहि रचे रुचिर गृह नाना। जो विलोकि विलखाहिं विमाना। भोग विभूति भूति भरि राखे। देखत जिन्हहिं अमर अभिलाषे। परन्तु इससे भरत को अभिलाषा नहीं हो सकती।

भूप भवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा ॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई ॥१॥

अर्थ : राजगृह भी उस समय ऐसा शोभित हुआ कि उसकी रचना देखकर कामदेव का मन मोहित होता था। मङ्गल, सगुन, सुन्दरता, ऋद्धि सिद्धि, सुख और सुहाई सम्पदा :

व्याख्या : नृप भवन में सबसे बड़ी तैयारी है। कामदेव मोह गये कि यहीं रह जाऊँ। जनकपुर में : वसंत ऋतु रह्यौ लोभाई। यहाँ स्वयं काम मोहित होकर ठहरे हुए हैं। काम को देखकर सब मोहित होते हैं। काम किसी को देखकर मोहित नहीं होता। परन्तु : भूप भवन किमि जाइ बखाना। विस्व विमोहन रचेउ विताना।

सो यहाँ विश्व तो मोहित होता ही था। काम भी मोहित हुए। १. मङ्गल। यथा : हने निसान पनव वर बाजे। सरस राग बाजहिं सहनाई। २. सगुन। यथा : मुदित सकल पुलकावलि गाता। मन का प्रसन्न होना सगुन है। यथा : होंहि सगुन सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर। ३. मनोहरताई। यथा : निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट वाट चौहट पुरद्वारे। ४. ऋद्धि। यथा : गली सकल अरगजा सिंचाई। ५. सिद्धि। यथा : सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब रघुवरपुरी निहारि। ६. सुख। ७. संपदा आगे कहेंगे।

जनु उछाह सब सहज सुहाए। तनु धरि धरि दसरथ गृह आए ॥
देखन हेतु राम वैदेही। कहहु लालसा होहि न केही ॥२॥

अर्थ : मानों सहज सुन्दर उत्साह शरीर धारण करके दशरथजी के घर आये हैं। रामजी और वैदेहीजी को देखने के लिए कहो किसे लालसा नहीं होती.

व्याख्या : उछाहों को शरीर नहीं है। यदि वे शरीर धारण करें तो ये ही सात शरीर धारण कर सकते हैं। बरनव राम विवाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू। लोगों को तो उमंग उठा ही था। उछाहों को भी उठा। मानों सब शरीर धारण करके दशरथ के घर आगये। आने का कारण कहते हैं कि उछाहों को भी राम वैदेही के दर्शन की लालसा हुई। रामजी की शोभा देखी थी। सीताजी की सुनी थी। सो युगलमूर्ति की शोभा देखने आये। जब सभी को दर्शन की लालसा है तो उछाहों को भी क्यों न हो।

जूथ जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छवि निदरहिं मदन विलासिनि ॥
सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिं जनु बहु वेष भारती ॥३॥

अर्थ : झुण्ड की झुण्ड सुहागिनी स्त्रियाँ मिलकर चलीं। अपनी छवि से काम की स्त्री रति का निरादर करती थीं। सब सुमङ्गल आरती सजे हुए थीं और मङ्गलगान करती थीं। जैसे अनेक रूप में सरस्वती हों।

व्याख्या : जनकपुर की स्त्रियाँ निज सरूप रति मान विमोचनि थीं। उनसे रति का मान टूटता था। इनकी शोभा से रति का निरादर हो रहा है। वे करहिं गान कलकंठ लजाहीं और ये तो ऐसा गान करती हैं मानो भगवती सरस्वती साक्षात् अनेक वेषों को धारण करके गान करती हों। इससे रूप और सङ्गीत नैपुण्य का अत्यन्त उत्कर्ष कहा। श्रीरामजानकी के लिए आरती सजे हुए हैं।

भूपति भवन कोलाहलु होई। जाइ न वरनि समउ सुख सोई ॥
कौसल्यादि राम महतारी। प्रेम विवस तनु दसा बिसारी ॥४॥

अर्थ : राजगृह में कोलाहल हो रहा है। उस समय का सुख वर्णन नहीं हो सकता। कौसल्या आदि रामजी की माताएँ प्रेम के वश में होकर शरीर की सुध बुध भूली हुई हैं।

व्याख्या : नदी के उमंग के समय बड़ा शब्द होता है। यहाँ उछाह की नदी बढ़ाव पर है। इसलिए कोलाहल हो रहा है। इस समय का सुख वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए : सोइ सुभ उमंग सुखद सब काहू कहा।

कौसल्यादि राम महतारी : कहने का भाव है कि सब माताएँ रामजी के लिए कौसल्याजी के समान ही हैं। किसी को विमाता होने की भावना भी नहीं है। यथा : कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाव पियारी। उन लोगों को ऐसा प्रेम उमगा है कि हर्ष के वश शरीर की दशा भूली हुई हैं।

दो. दिए दान विप्रन्ह विपुल, पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु, पाइ पदारथ चारि ॥३४५॥

अर्थ : गणेशजी और महादेवजी की पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत दान दिया और ऐसी प्रसन्न हैं जैसे परम दरिद्र चारों पदार्थों को पाकर प्रसन्न हों।

व्याख्या : इस कुल में दान देने से कोई अघाता नहीं। वहाँ विवाह के समय गौरी गणपति की पूजा हुई। यथा : आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित विप्र पुजावहीं। यहाँ बारात के आने का समाचार पाकर गणेश पुरारि की पूजा हो रही है। व्याह निश्चय का समाचार पाकर : रानिन्ह सब महिदेव बोलाये। दिये दान आनंद समेता। व्याह हो जाने और बारात लौटने के समाचार पर : दिये दान विप्रन विपुल। लोग मुदित हैं। माताएँ प्रमुदित हैं। चारों भाइयों के व्याह का समाचार लग चुका है। परम दरिद्र कहने का भाव यह कि इस बात की आशा ही नहीं थी कि रामजी के अनुरूप बहू मिल सकेगी। सो सुना है कि चारों बेटों के अनुरूप बहुएँ मिली हैं। यथा : अनुरूप वर दुलहिन परसपर लखि मुदित हिय हरखहीं। अतः मोद प्रमोद की सीमा नहीं है। इसीलिए कवि ने परम दरिद्र के चार पदार्थ की प्राप्ति के प्रमोद से उपमा दी है।

मोद प्रमोद विवस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ॥
राम दरस हित अति अनुरागीं। परिछन साजु सजन सब लागीं ॥१॥

अर्थ : सब माताएँ मोद प्रमोद के विवश हैं। शरीर शिथिल हो गया है। पैर चलते नहीं। रामजी के दर्शन के लिए अति अनुराग है। सब परिछन का सामान साजने लगीं।

व्याख्या : इष्टदर्शन को मोद और इष्टभोग को प्रमोद कहते हैं। पहिले कहा था : प्रेम विवस तनु दसा विसारी। स्मरण आने पर बहुत दान दिया। फिर भी मोद प्रमोद विवश हैं। अतः शरीर शिथिल हो गया। चलना चाहती है। पैर काम नहीं देते। पहिले ज्ञानेन्द्रियों का अपाटव कहा था। अब कर्मेन्द्रियों का अपाटव कह रहे हैं। फिर भी रामजी के दर्शन के लिए अत्यन्त अनुराग है। शरीर और मन की ऐसी अवस्था में भी स्वयं परिछन का साज सजने लगीं। सास का परिछन हो चुका है।

माता का परिछन बाकी है। बारात विदा करते समय भी परिछन नहीं कर सकी थीं। रामजी थे ही नहीं। शेष तीनों बेटों के व्याह का कोई पता ही नहीं था।

विविध विधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे ॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला ॥२॥

अर्थ : अनेक प्रकार के बाजे वजे। सुमित्राजी ने प्रसन्न होकर मङ्गल साजा। हल्दी, दूर्वा, दधि, पल्लव, फूल, पान, सुपारी मङ्गलमूल द्रव्य।

व्याख्या : इधर घरपर भी बाजे बजने लगे। किसी की आज्ञा की आवश्यकता नहीं। बजनिया आपही समय देखकर बाजे बजाने लगे। प्रसन्न होकर महारानी सुमित्रा मङ्गल साज सजने लगीं। यहाँ चौदह मङ्गल द्रव्य गिनाये गये हैं। इसमें से पहिले सप्तक का मङ्गलमूल कहा। महारानी सुमित्रा मङ्गल साज में बड़ी सावधान हैं। पहिले भी : चौके चारु सुमित्रा पूरी।

अक्षत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा ॥
छुहे पुरट घट सहज सुहाए। मदन सकुचि जनु नीड़ बनाए ॥३॥

अर्थ : अक्षत, अँखुए, गोरोचन, लावा, सुन्दर मञ्जरी और तुलसी शोभित हुई। सोने के घड़े रँगे हुए ऐसी शोभा दे रहे थे मानो कामरूपी पक्षी ने संकुचित होकर घोंसले बनाये हों।

व्याख्या : दूसरे द्रव्य सप्तक को शोभायमान कहते हैं। सोने के घड़े स्वभाव से ही सुन्दर हैं। तिसपर वे रंग दिये गये हैं : उनकी शोभा ऐसी हो रही है मानो कामदेव रूपी पक्षी का घोंसला है। रचना देखकर कामदेव के मन का मोहना कहा है। परन्तु उसके रहने के लिए स्थान नहीं है। वह अपमान सहकर भी रहना चाहता है। बारात में मानो वह रामजी के घोड़े के वेष में था। यथा : जनु वाजि वेष बनाइ मनसिज राम हित अति सोहई। फिर परिछन में गति रूप से था। यथा : चाल विलोकि कामगज लाजहिं। विवाह के समय मानो नर रूप हो गया। यथा : मनंहु मदन रति धरि बहुरूपा। देखहिं राम विवाह अनूपा। अब यहाँ स्थिर उत्सव होगा। अतः वसना चाहता है। सो मानो छुहे पुरट घट ही उसके घोंसले हैं। वह सङ्कोच से अपने रूप से नहीं रहना चाहता और अन्तःपुर में रहना ठहरा। इसलिए मानो उसने पक्षी का रूप धारण कर लिया। इसलिए घोंसले की आवश्यकता पड़ गई। घोंसला : नीड़ कहने से ही काम का पक्षी रूप धारण करना लक्षित होता है।

सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी ॥
रची आरती बहुत विधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना ॥४॥

अर्थ : और सगुन सुगन्धित द्रव्य जिनका वर्णन नहीं हो सकता। सब रानियाँ मङ्गल सजने लगी। बहुत विधान से आरती की रचना करती थीं और प्रसन्न होकर मङ्गल गान करती थीं।

व्याख्या : अब चौदहवाँ मङ्गल द्रव्य कहते हैं। सगुन सुगन्ध अर्थात् कस्तूरी चन्दन आदि। सुगन्धित तैल भी होते हैं। पर वे शुभ नहीं है। इस प्रकार महारानी सुमित्रा ने मङ्गल साज सजा। इन्हें मङ्गल साज करते देखकर महारानी कौसल्या तथा महारानी कैकेयी भी मङ्गल साज साजने लगी। आरती के साजने के बहुत विधान हैं। सो सब विधान कर रही हैं और प्रसन्नता से सुन्दर गान भी करती जाती हैं।

दो. कनक थार भरि मंगलन्हि, कमल करन्हि लिएँ मात।
चलीं मुदित परिछनि करन, पुलक पल्लवित गात ॥३४६॥

अर्थ : मङ्गल द्रव्यों से सोने के थालों को भरकर माताओं ने करकमलों में लिया और प्रसन्न होकर परिछन करने चलीं। उनके शरीर में पुलकावली छा गई थी।

व्याख्या : कमल ऐसे सुन्दर कोमल हाथों में सोने के भारी थार स्वर्णकलश सहित मङ्गल द्रव्य से भरे लिये हुए माताएँ चलीं। उन्हें आनन्द के वेग में वे थार भारी नहीं मालूम पड़ते। थकती नहीं हैं। मुदित हैं। इस भाँति परिछन करने चलीं। पुत्रों का पुत्रवधुओं के सहित परिछन करना है। इस आनन्द के कारण पुलकावली से शरीर पल्लवित हो रहा है।

धूप धूम नभु मेचक भयऊ। सावन घन घमंडु जनु ठयऊ॥
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं ॥१॥

अर्थ : धूप के धूएँ से आकाश काला पड़ गया। मानो सावन के मेघों की घटा घिर आई। कल्पवृक्ष के फूलों की माला की वर्षा देवताओं ने की। मानो बकपंक्ति मन को खैंचे लेती है।

व्याख्या : मानस उमगा तो कविता नदी चली। राम विवाह में वही नदी उमगी। परन्तु जबतक ऊपर से आमद न हो तबतक उस उमग की शोभा पूरी नहीं। रामचरित्र मात्र में जहाँ जहाँ उमंग है वह इसी उमंग का अंश है। अब ऊपर की आमद कहते हैं। जन्मकाल में धूप धूम से अँधियारी छा गई थी। इस समय धूपधूम के बादल छा गये। सो भी सावन के। सावन के बादल बड़े सोहावने होते हैं। प्रवेश के समय बादल घिर आये थे। उसमें जाकर जो धूप धूम मिला तो घनघमण्ड सा प्रतीत होने लगा।

इस समय देवता सुरतरु सुमन नहीं बरसाते। सुरतरु सुमन की मालाओं की वर्षा कर रहे हैं। वे मालाएँ जब आकाश से छूटीं तो बकपंक्ति सी मालूम होने लगीं। बादल की श्यामता में श्वेत बकपंक्तियों की बड़ी शोभा होती है। वैसी ही शोभा सुरतरु सुमन के मालाओं की हुई।

मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पग भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ॥२॥

अर्थ : सुन्दर मणियों के वन्दनवार मानो इन्द्रधनुष सँवारे गये हैं। अटारियों पर सुन्दर और चपल स्त्रियाँ प्रकट होती हैं और छिप जाती हैं। मानो बिजली चमक रही है।

व्याख्या : इस समय की उपमा कवि पावस से दे रहे हैं। बादल कहा। बकपंक्ति कहा। अब इन्द्रधनुष कह रहे हैं कि मणिमय वन्दनवार जो नगर में बाँधे गये हैं वे इन्द्रधनुष की शोभा दे रहे हैं। द्वार के ऊपर छोटे छोटे वन्दनवार नहीं हैं। सतमहले के ऊपर बड़े भारी भारी मणि के वन्दनवार बाँधे गये हैं।

अटारियों के ऊपर भामिनीगण बारात की शोभा देखने के लिए चढ़ गई हैं। सो प्रकट हो जाती हैं। परिचित को देखकर शीघ्रता से छिप जाती हैं। भामिनी हैं। उनका वर्ण ही चमकीला है। उनकी चपलता की दामिनी के दमकने से उपमा दी। सावन का मेघ है। बिजली चारों ओर चमक रही है।

दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा॥
सुर सुगंध सुचि वरषहिं वारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी॥३॥

अर्थ : दुन्दुभी की ध्वनि मेघ का घोर गर्जन है। याचक पपीहा मेढक और मोर हैं। देवता शुद्ध सुगन्धित जल बरसा रहे हैं। पुर के नर नारी धान की भाँति सुखी हैं।

व्याख्या : डङ्का का घोर शब्द हो रहा है। वही मानो मेघ का घोर गर्जन है। याचक लोग चातक दादुर और मोर हैं। उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन प्रकार के याचक हैं। उत्तम तो चातक से हैं। जो रामजी की निछावर लेते हैं। सो भी जो महाराज या महारानियों के हाथ से मिले। धरती पर जो गिरा उसे नहीं लेते। यथा : राम निछावर लेन को हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेहि देखिये मानहु धनधारी। दूसरे मध्य कोटि के दादुर हैं। इनकी जीविका ही याचना है। ये धरती पर गिरा भी लेते हैं। यथा : वगरे नगर निछावर मनिगन ज्यौ जुवार जवधान। तीसरे निकृष्ट मनमलिन याचक हैं। यथा : मुख मीठे मानसमलिन कोकिल मोर चकोर। सुजस धवल चातक नवल रह्यौ भुवनभरि तोर। इस समय तीनों प्रसन्न होकर बोल रहे हैं। पावस में इन तीनों का बोलना वर्णन किया जाता है। सचमुच जल भी बरस रहा है। इसे पुरजन रूपी धान सुख मान रहे हैं।

समय जानि गुर आयसु दीन्हा। पुर प्रवेसु रघुकुलमनि कीन्हा॥
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा॥४॥

अर्थ : समय जानकर मुनिजी ने आज्ञा दी। तब रघुकुलमणि ने शिव पार्वती और गणेश का स्मरण करके समाज सहित प्रसन्न होकर पुर में प्रवेश किया।

व्याख्या : भाव यह कि बारात ठहर गई थी। तैयारी के साथ पुर में प्रवेश करना है। अतः उसके लिए समय चाहिए। तब से शुभ लग्न भी आगई। वसिष्ठजी

ने शुभ समय जानकर प्रवेश की आज्ञा दी। व्याह के बाद दस दिन के भीतर वधूप्रवेश के लिए मुहूर्त नहीं देखा जाता। यहाँ तो कितने दिन बारात जनकपुर में ही ठहरी रही। अतः वधूप्रवेश के लिए मुहूर्त की आवश्यकता पड़ी। समयानुकूल महाराज दशरथ ने पुत्र कलत्र सहित शिवजी का स्मरण किया और गुरुजी की आज्ञा पाकर हर्षित हो पुर में प्रवेश किया।

दो. होंहिं सगुन बरषहिं सुमन, सुर दुंदुभी बजाइ।
विबुध वधू नाचहिं मुदित, मंजुल मंगल गाइ ॥३४७॥

अर्थ : सगुन हो रहा है। देवता दुन्दुभी बजाकर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। देवताओं की बहुएँ प्रसन्न होकर सुमङ्गल गान करके नृत्य कर रही हैं।

व्याख्या : फिर सगुन सब नाचे। यथा : सुनि असि व्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हे विरंचि हम साँचे। महाराज के चाहते ही आकाश से सुमनवृष्टि और देववधुओं का नाचना गाना कहते हैं। देवता लोग दुन्दुभी बजाकर सुमनवृष्टि करते हैं। पुर में वधू प्रवेश है। वहाँ सुरतरुसुमनमाल की वर्षा हो रही है। जयमाल के समय : नाचहिं गावहिं विबुध वधूटी। अब वधूप्रवेश का समय है तो विबुध वधू कहते हैं। वे वधूटियों से बड़ी हैं।

मागध सूत वंदि नट नागर। गावहिं जसु तिहुँ लोक उजागर ॥
जय धुनि विमल वेद वर वानी। दस दिसि सुनिय सुमंगल सानी ॥१॥

अर्थ : तीनों लोक में प्रकाशित यश का गान मागध सूत वन्दो और नागर नट कर रहे हैं। जयध्वनि और वेद की निर्मल वाणी मङ्गल से सनी हुई दशों दिशाओं में सुनाई देती है।

व्याख्या : क्षत्रिय यशोधन होते हैं। महाराज दशरथ का यश तीनों लोक में प्रकाशित है। अतः वे क्षत्रियों में बड़े धनी हैं। उनका यशोगान मागध सूत वन्दो और नागरनट कर रहे हैं। पर इन लोगों के गान में बड़ा भेद है। मागध वंशप्रशंसक हैं। वंश की प्रशंसा करना ही इनका गान है। सूत पौराणिक हैं। वे पुराण की गाथा से राजाओं के पूर्व पुरुषों के चरित कहते हैं। उनका पुराण के वचनों का पठन ही गान है। वन्दीजन प्रस्ताव के सदृश उक्ति करनेवाले प्रशस्ति का पाठ करते हैं। उनका प्रशस्ति पाठन ही गान है। पर नागरनट का गान ही सङ्गीत शास्त्र के अनुसार होता है। सङ्गीत में गान, वाद्य और नृत्य तीनों का अन्तर्भाव है। इसलिए उनका नृत्यसमाज रहता है। वे जो कुछ गान करते हैं वह सुर, लय, ताल, मूर्छना से युक्त होता है। अतः इन सबका गान एक साथ नहीं हो सकता। ये सब लोग अलग अलग गान कर रहे हैं। कौन कहाँ गान कर रहा है यह आगे कहा जायगा। यहाँ बारात का कोलाहल वर्णन के लिए जितने प्रकार के शब्द होते थे सबको एक साथ गिंना दिया।

प्रजावर्ग की ओर से महाराज के प्रवेश के समय जय जयकार हुआ। जिस

क्रम से बारात चलीं थी उस क्रम से नगर में प्रवेश नहीं हो रहा है। प्रवेश में ब्राह्मणसमाज के आगे आगे वेदध्वनि करता जा रहा है। जो ब्राह्मण बारात में नहीं गये थे। उन्होंने घर पर जहाँ थे वहीं से स्वस्त्ययन आरम्भ कर दिया। ऊपर से देवताओं ने जय जयकार तथा देवर्षियों ने आशीर्वादात्मक मन्त्र पढ़े। इसलिए कहते हैं कि सुमङ्गल सानी वेद वाणी और जय ध्वनि दशों दिशाओं से सुनाई पड़ रही है।

विपुल बाजने बाजन लागे। नभ सुर नगर लोग अनुरागे ॥
बने बराती बरनि न जाहीं। महा मुदित मन सुख न समाहीं ॥२॥

अर्थ : बहुत से बाजे बजने लगे। आकाश में देवता और नगर में लोग प्रेम में मग्न हो गये। बाराती ऐसे बने ठने हैं कि वर्णन नहीं हो सकता। वे ऐसे प्रसन्न हैं कि सुख समा नहीं रहा है।

व्याख्या : अन्तःपुर के द्वार पर अलग बाजे बज रहे हैं। बारात में अलग बाजे बज रहे हैं। प्रजाओं की ओर से भी बाजों की व्यवस्था है। ऊपर से देवताओं ने बाजे बजाये। क्योंकि आकाश में देवताओं को अनुराग है और नगर में लोगों को अनुराग है।

नियम यह है कि बाराती बारात में तो बन ठनकर जाते हैं। पर घर लौटते समय सामान्य वेष में ही रहते हैं। परन्तु यहाँ तो महाराज के साथ नगर प्रवेश करना है। अतः सब लोग बने ठने हैं। छरे छबीले छैल लोग हैं। उनका वर्णन नहीं हो सकता। श्रीरामजी की बारात करके लौट रहे हैं। अतः बड़े प्रसन्न हैं। सुख समा नहीं रहा है। रघुवंशियों की बारात है। अतः इनके आगे मागध वंशप्रशंसक वंश की प्रशंसा करते चल रहे हैं।

पुरबासिन तब राय जोहारे। देखत रामहि भये सुखारे ॥
करहिं निछावरि मनिगन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा ॥३॥

अर्थ : पुरवासियों ने तब महाराज का जोहार किया। रामजी को देखकर सुखी हुए। मणिगण और कपड़े निछावर कर रहे हैं। उनके आँखों में आँसू और शरीर में पुलक है।

व्याख्या : राजाओं को जो दोनों हाथ उठाकर प्रणाम किया जाता है उसे जोहार कहते हैं। बारात के पीछे महाराज की सवारी है। दोनों ओर से पुरवासी जोहार कर रहे हैं। इनके आगे सूत लोग सूर्यवंश की कीर्ति जो पुराणों में है उसका गान करते चलते हैं। सब लोग सुखी तो रामजी को देखकर हुए। यथा : सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद मुखचंद निहारी। अर्थात् महाराज की सवारी के पीछे चारों भाइयों की सवारी है। इनके आगे वन्दी प्रस्ताव सदृश उक्ति करनेवाले समयानुकूल बिरद बोलते चल रहे हैं। रामजी व्याह करके घर लौट रहे हैं। इसलिए लोग मणि और वस्त्र निछावर कर रहे हैं और निछावर करते समय प्रेम के कारण उनकी आँखों में जल और शरीर में पुलक हो रहा है।

आरति करहि मुदित पुर नारी । हरखहिं निरखि कुँअर वर चारी ।।
सिविका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहि सुखारी ।।४।।

अर्थ : पुरनारियाँ हर्षित होकर आरती करती हैं और चारों श्रेष्ठ कुँअरों को देखकर हर्षित होती हैं। सुन्दर पालकियों के ओहार : अवधार को हटाकर दुलहिनों को देख देख सुखी होती हैं।

व्याख्या : पहिले से ही पुरनारियाँ आरती सजे खड़ी हैं। सो चारों दूल्हों को देखते ही आरती करती हैं और दर्शन करके प्रसन्न होती हैं। दूल्हे के रूप में चारों सरकारों की विचित्र झाँकी है। नर निछावर करते हैं। स्त्रियाँ आरती करती हैं। चारों भाइयों को इस वेष में देखकर हर्षित होती हैं। बहुत दिनों पर आज दर्शन हुआ है।

चारों भाइयों की सवारी के पीछे बहुओं के डोले हैं। इनके आगे सरस राग से शहनाई बज रही है। साथ ही साथ नागर नटों का गान हो रहा है। स्त्रियाँ अपने विशेष अधिकार से काम ले रही हैं। ओहार हटाकर नववधुओं को देखती हैं। डोला के क्रम से निर्णय करके वधुओं का मिलान उनके वरों से करती हैं और उनके अनुरूप पाकर सुखी होती हैं।

दो. येहि विधि सबही देत सुख, आए राजदुआर।
मुदित मातु परिछन करहिं, वधुन्ह समेत कुमार ।।३४८।।

अर्थ : इस भाँति सबको सुख देते राजद्वार आये। माताएँ मुदित होकर बहुओं के साथ कुमारों का परिछन करती हैं।

व्याख्या : धीरे धीरे बारात अवध में घूमती हुई राजद्वार आई। परिछन के पहिले ही वर दुलहिन एक पालकी में कर दिये गये। सखियों का डोला तथा दासियाँ साथ हैं। उन सबों ने तुरन्त व्यवस्था कर दी। अब माताएँ वधुओं के साथ कुमारों का परिछन कर रही हैं।

करहिं आरती बारहिं बारा । प्रेमु प्रमोदु कहै को पारा ।।
भूषन मनि पट नाना जाती । करहिं निछावरि अगनित भाँती ।।१।।

अर्थ : बार बार आरती करती हैं। प्रेम और प्रमोद को कौन कह सकता ह ? नाना जाति के और अगणित भाँति के गहने कपड़े और मणियों की निछावरि करती हैं।

व्याख्या : बहुत विधान की आरती माताओं ने पहिले से ही रच रक्खी है। उन सब विधानों की आरती क्रम से हो रही है। यथा : रची आरती बहुत विधाना। इष्टदर्शन से प्रेम इष्टप्राप्ति से मोद और इष्टभोग से प्रमोद होता है। यहाँ प्रेम और प्रमोद के कहने से मोद का आपही आप अन्तर्भाव हो गया। इस प्रेम मोद और प्रमोद को कौन कह सकता है ? कवि की ललकार है : जो कहने में समर्थ हो वह सामने आवे।

नगरवासियों ने मणिगण और चीर निछावर किया था। यहाँ तो माता लोग नेछावर के लिए खड़ी हुई हैं। अतः नाना जाति के भूषण, वसन और मणिगन निछावर करती हैं। जाति के अन्तर्गत अगणित भाँति होती है। सो निछावर के समय यह भी ध्यान दिया जा रहा है कि कोई भाँति छूटती तो नहीं है।

वधुन समेत देखि सुत चारी। परमानंद मगन महतारी ॥
पुनि पुनि सीय राम छवि देखी। मुदित सफल जग जीवन लेखी ॥२॥

अर्थ : बहुओं के सहित चारों बेटों को देखकर माता लोग परम आनन्द में मग्न हैं। बार बार सीताजी और रामजी की छवि देखकर संसार में अपने जीवन को सफल माना।

व्याख्या : नगर नरनारी तो देखि दुलहिनिन्हि होहिं सुखारी। वर के अनुरूप अनुमान करके : यहाँ तो माता लोग प्रत्यक्ष चारों जोड़ियों का दर्शन कर रही हैं और चारों को अपना पुत्र पुत्रवधू मान रही हैं। अतः माताएँ परमानन्द में मग्न हैं। छवि अधिक होने से श्रीसीतारामजी का बार बार निरीक्षण करती हैं। जग जीवन का साफल्य रामजी और सीताजी का दर्शन है। अथवा जौ विधि जनम देइ करि छोहू। होहु राम सिय पूत पतोहू। अतः रामसिय को पूत पतोहू देखकर जन्म को सफल माना।

सखी सीय मुख पुनि पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही ॥
बरषहिं सुमन छनहिं छन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा ॥३॥

अर्थ : सखियाँ सीताजी का मुख बार बार देखकर गान करती हैं और अपने पुण्य की प्रशंसा करती हैं। देवता लोग क्षण क्षण पर पुष्पवृष्टि करते हैं। नाचते हैं गाते हैं और अपनी अपनी सेवा का प्रयोग करते हैं।

व्याख्या : सासों का प्रेम देखकर सखी बार बार सीताजी का मुख देखती हैं। अथवा प्रत्येक आरती और निछावर के समय सीताजी का मुख देखती हैं : वे सीताजी की सखी हैं। उनके मनमें सीताजी की प्रधानता है। उन्हीं के नाते से सब है : कि इनके हृदय में कैसा प्रभाव पड़ रहा है। तो मुखमण्डल की शोभा अपूर्व देखी। अतः फिर फिर देखती हैं और अपने पुण्य की प्रशंसा करती हैं कि किसी जनकपुरवासी ने सीयराम के साथ परिछन की शोभा नहीं देखी। मिथिला भाषा में उन्होंने गाना प्रारम्भ कर दिया। देखा कि इधर गीत बन्द हो गये। सब प्रेम प्रमोद में विभोर हैं। आरती साजने के समय मङ्गलगान किया। आरती के समय कुछ नहीं। अतः इस समय आरती और निछावर के अवसर पर अवध में मिथिला भाषा के गीत हो रहे हैं।

आनन्द की पराकाष्ठा हो गई। देवताओं में लास्य तो पहिले से ही हो रहा था। अब ताण्डव भी हो रहा है। सिवा सेवा के पूर्णकाम का हित कोई कैसे कर सकता है। अथवा यौं कहिए कि बिना सेवा के अपने जन्म के साफल्य का उपाय क्या है ? सो आकाश में देववाणी में गान हो रहा है।

देखि मनोहर चारिउ जोरी। सारद उपमा सकल ढँढोरी ॥
देत न बनहि निपट लघु लागी। एकटक रही रूप अनुरागी ॥४॥

अर्थ : चारों मनोहर जोड़ियों को देखकर शारदा ने सब उपमाएँ ढूँढ़ डाली। परन्तु देते नहीं बनता। क्योंकि अत्यन्त तुच्छ जचीं। सो वह भी रूप में अनुरक्त होकर एकटक सी देखती हो रह गईं।

व्याख्या : महाराज दशरथ के पास सब चारों भाई बैठे थे तो कवियों ने उपमा खोज निकाली थी। यथा : नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धर्मादिक तनु धारी। पर यहाँ अन्तःपुर में तो कवियों की पहुँच नहीं है। उन्होंने चारों जोड़ियों का दर्शन ही नहीं पाया उपमा कहाँ से दें। पर कोई चिन्ता की बात नहीं थी। कविकुल की आराध्य देवता शारदा वहाँ थीं। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया। सब उपमाओं को ढूँढ़ डाला। उनसे कोई उपमा छिपी नहीं है। हीनोपमा भी दी ही जाती है। पर उन्हें सभी उपमाएँ ऐसी तुच्छ जँची कि देने योग्य कोई न ठहरी। वे भी रूप देखते मुग्ध हो गईं। एकटक दर्शन करती ही रह गईं।

दो. निगम नीति कुल रीति करि, अरघ पाँवड़े देत।
वधुन्ह सहित सुत परिछि सब, चलीं लिवाइ निकेत ॥३४९॥

अर्थ : वेद की नीति और कुल की रीति करके अर्घ और पाँवड़े देते हुए बहुओं को बेटे के सहित घर ले चलीं।

व्याख्या : यह प्रभु के चरित की कविता नदी लौकिक और वैदिक कूलों के बीच से बहती है। यथा : लोक वेद विधि मंजुल कूला। अतः सब कार्यों में वैदिक और लौकिक रीति करके ही कोई कार्य होता है। सो लोक वेद का निर्वाह करके तब वधुओं को बेटों के साथ घर में लिवा ले चलीं। वधूप्रवेश के समय वधू को आगे करके और वर को पीछे करके लिवा जाने की रीति है। इसलिये कवि वधुओं का लिवा जाना कहते है। वर तो उनके साथ हैं।

चारि सिंघासन सहज सुहाए। जनु मनोज निज हाथ बनाए ॥
तिन्ह पर कुँअरि कुँअर बैठारे। सादर पाय पुनीत पखारे ॥१॥

अर्थ : चार सिंहासन जो बड़े सुन्दर बने हुए थे। मानो कामदेव ने उन्हें अपने हाथ से रचा है। उनपर कुँअर और कुँअरियों को बिठाया और आदर से पाँव धोये।

व्याख्या : सिंहासनों को सहज सोहाए कहा। क्योंकि उनकी बनावट ही इतनी सुन्दर थी कि उन्हें यदि साजा भी न जाय तो भी सुन्दर मालूम हों। उनका शिल्प मानुषी और दैवी शिल्प से भी उत्कृष्ट है। अतः उसे कहते हैं कि मानो कामदेव ने अपने हाथों बनाया है।

अब वरवधू का पञ्चोपचार पूजन कहते हैं। पहिले आसन के लिए चार

सिंहासन रक्खे गये थे। एक पर रामजानकी को बिठाया। दूसरे पर भरत माण्डवी को। तीसरे पर लक्ष्मण उर्मिला को और चौथे पर शत्रुघ्न श्रुतिकीर्ति को। आसन के बाद पाद्य का विधान है। इसलिए आदर के साथ पुनीत चरणों को धोया।

धूप दीप नैवेद वेद विधि। पूजे वर दुलहिनि मंगलनिधि॥
बारहि बार आरती करहीं। व्यजन चारु चामर सिर ढरहीं॥२॥

अर्थ : धूप दीप नैवेद्य द्वारा मङ्गलनिधि वर दुलहिन का पूजन किया गया। बारबार आरतो करती हैं। पंखा चल रहा है और सुन्दर चँवर ढुर रहे हैं।

व्याख्या : तीसरा धूप, चौथा दीप, पाँचवाँ नैवेद्य इस भाँति पञ्चोपचार हुआ। मङ्गल के निधि : भण्डार ये वरदुलहिन हैं। इनकी पूजा पञ्चोपचार से वैदिक मन्त्रों द्वारा की गयी। ये मङ्गलनिधि हैं। अतः इनके विवाह में मङ्गलमय, कल्याणमय, अभिमतफलदातार सगुन हुए। यथा : मङ्गलमय कल्याणमय अभिमतफलदातार। जनु सब साँचे होन हित भये सगुन एक बार। अति उत्साह के कारण बार बार आरती करती हैं। पंखा झला जा रहा है। यह कहकर ग्रन्थकार ने दिखला दिया कि बारात तीन चार महीने जनकपुर में रह गई। शरद्पूर्णिमा के लगभग धनुषभंग हुआ। कार्तिक में बारात गई और लौटने के दिन पंखा का काम पड़ा। राजोपचार से पूजा हो रही है। इसलिए चमर ढुर रहा है।

वस्तु अनेक निछावरि होहीं। भरी प्रमोद मातु सब सोहीं॥
पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥३॥

अर्थ : अनेक वस्तुएँ निछावर हो रही हैं। आनन्द से भरी माताएँ शोभित हो रही हैं। जैसे १. योगी को परम तत्त्व की प्राप्ति हो गई हो। २. और जन्म के रोगी को जैसे अमृत मिल गया हो।

व्याख्या : यह पूजाङ्ग निछावर है। प्रमोद से भरी माताएँ शोभित हैं। सात सौ रानियाँ घेरे खड़ी हैं। प्रत्येक की निछावर अलग हो रही है। अनेक वस्तुएँ निछावर हो रही हैं। रानियों के प्रमोद की उपमाएँ ग्रन्थकार ने दी हैं। क्योंकि उन्हें छः बात की खुशी हुई है। १. पहिली बड़ी भारी खुशी तो यह है कि रामजी की प्राप्ति हुई। महाराज दशरथ ने ऋषिजी को यज्ञ की रखवारी के लिए दे दिया था। जिस पर माता कहती हैं : रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी। सिरस सुमन सुकुमार कुँअर दोउ सूर सरोष सुरारी। पठए विनहि सहाय पयादेहि केलि बान धनुधारी। ऐसे दुष्कर कार्य के लिए महाराज ने ऋषिजी के साथ भेज दिया था। इनकी प्राप्ति महा कठिन थी। इनकी प्राप्ति परम तत्त्व की प्राप्ति के समान दुर्लभ थी और थे भी ये साक्षात् परम तत्त्व ही। यथा : योगिन परम तत्त्वमय भासा। सो दोनों भाइयों ने मख रखवारी की। छवों बातों को आगे चलकर गिनाया है। यहाँ केवल खुशियों का वर्णन है। पर बिना उन छवों बातों के जाने यह न मालूम होगा कि किस बात पर कैसी खुशी हुई। अतः उनका उल्लेख किये देता हूँ। १. मख

रखवारी करि दोउ भाई। २. गुरु प्रसाद सब विद्या पाई। ३. मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरिपूरी। ४. कमठ पीठ पवि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिवधनु तोरा। ५. विस्व विजय जसु जानकि पाई। ६. आए भवन ब्याहि सब भाई। सो पहिली बात की खुशी का वर्णन तो ऊपर किया जा चुका है। २. दूसरी बात है : गुरु प्रसाद सब विद्या पाई। यथा : जाते लाग न छुधा पियासा। अतुलित बल तन तेज प्रकासा। बेटों के सिरिस सुमन की भाँति सुकुमार होने से माता सदा डरा करती थीं। सो उनके इस विद्या की प्राप्ति से वह भय जाता रहा। इसलिए ऐसी प्रसन्नता हुई : अमृत लहेउ जनु संतत रोगी।

जनम रंकु जनु पारस पावा। अंधेहि लोचन लाभु सुहावा ॥
मूक बदन जनु सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई ॥४॥

अर्थ : ३. जन्म के दरिद्र को जैसे पारस मिला हो। ४. अन्धे को सुन्दर नेत्रों का लाभ हुआ हो। ५. गूँगे के मुख में जैसे सरस्वती बस गई हों। ६. जैसे समर में शूर को जयलाभ हुआ हो।

व्याख्या : ३. मुनि तिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी। पुत्र के चरणरेणु की ऐसी कीर्ति फैली कि भुवन भर उठा। इस बात से ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे जन्मरङ्क को पारस मिलने से होती है। यशोधन हैं। कीर्ति की बड़ी कामना है। सो पुत्र के चरणरज से मिलती रहेगी। इसीलिए ऐसी प्रसन्नता हुई। ४. कमठपीठ पवि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिवधनु तोरा। इस बात से ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे अन्धे को आँख मिले। रानी सोचती हैं कि मैं तो जन्म की अन्धी थी : मुझे नहीं मालूम कि इतना सामर्थ्य है। मैं तो सिरिस सुमन सा सुकुमार ही समझती थी। अतः धनु तोड़ना सुनने से ऐसी प्रसन्नता हुई। ५. विस्व विजय जस जानकी पाई। माताएँ मूक सी थीं। घर सकुशल लौटना कठिन समझती थीं। यथा : जे कहिहैं आये राम लखन घर करि मुनि मख रखवारी। ते तुलसी प्रिय मोहि लागिहैं ज्यौं सुभाय सुत चारी। वादि वीर जननी जीवन जग छत्रि जाति गति भारी। सो विश्व विजय पाया। जानकी पाई। अतः ऐसी खुशी हुई कि जैसे मूक के मुख में सरस्वती के डेरा लेने से होती है : जानकीजी महाविद्या हैं। ६. मानहु समर सूर जय पाई। शूर जय के लिए सुखेन प्राण समर्पण करता है। सब भाई ब्याह के घर आये। यह बात प्राण से भी अधिक प्यारी है। इसलिए शूर के समर में जय पाने के समान प्रसन्नता हुई।

दो. इहि सुख तें सत कोटि गुन, पावहिं मातु अनंदु।
भाइन सहित बिआहि घर, आये रघुकुलचंदु ॥३५०॥ क

अर्थ : इस प्रकार के सुखों से सौगुना आनन्द माताएँ पा रही हैं। भाइयों के सहित ब्याह करके रघुकुलचन्द घर आये हैं।

व्याख्या : छः सुख गिनाकर केवल सुख का प्रकार कहा। उत्कर्ष न कहा।

अतः कहते हैं कि रामजी के व्याह के घर आने से इन सुखों से कोटि गुन अधिक सुख हुआ। व्याहकर भाइयों सहित घर आने के सुख में शेष पाँचों प्रकार के सुखों का अन्तर्भाव है।

दो. लोक रीति जननी करहिं, वर दुलहिन सकुचाहिं।
मोद विनोद विलोकि बड़, राम मनहि मुसुकाहिं ॥३५०॥ ख

अर्थ : माताएँ लोकरीति कर रही हैं। वर दुलहिन सकुचते हैं। इस पर मोद विनोद बहुत बढ़ रहा है। रामजी मन में मुसकराते हैं।

व्याख्या : दधि मिष्टान्न प्राशनादि लोकरीति माताएँ कर रही हैं। यह पहिले भी कोहवर में हो चुका है। पर यहाँ माँ द्वारा हो रहा है। अतः वर दुलहिन को सङ्कोच हो रहा है। इनके सङ्कोच पर मोद है तथा ऐसे अवसर पर स्त्रियाँ विनोद भी करती हैं। इस मोद विनोद पर रामजी मन ही मन मुसकरा रहे है। यथा : मन मुसुकाहिं भानुकुल भानू। राम सहज आनंद निधानू। रामजी पर इस मोद प्रमोद विनोदादि का कोई प्रभाव नहीं है। वे अपने सहज आनन्द में ही निमग्न हैं। उसी आनन्द में मनही मन मुसकरा रहे हैं। यह सब कौतुक भी देख रहे हैं।

देव पितर पूजे विधि नीकी। पूजी सकल वासना जी की ॥
सबहि वंदि माँगहि वरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥१॥

अर्थ : देवता और पितरों की पूजा भलीभाँति से की। जी की सब वासनाएँ पूरी हुईं। सबकी वन्दना करके वरदान माँगते हैं कि भाइयों के सहित रामजी का कल्याण हो।

व्याख्या : देवलोक और पितृलोक का इस लोक से बड़ा घना सम्बन्ध है। देवता और पितर पूजित होकर इष्टभोग दिया करते हैं। यथा : इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः। उनके दिये हुए भोगों को तो भोगे और उन्हें न दे। ऐसे पुरुष को शास्त्रों में चोर बतलाया है। अतः मङ्गल का समय उपस्थित होने पर देवता और पितरों की विशेष रूप से पूजा की जाती है। इस समय सबके जी की सब वासनाएँ पूर्ण हुई हैं। इसलिए भलीभाँति से देवताओं और पितरों की पूजा की। पूजनोपरान्त यही वरदान माँगती हैं कि भाइयों के सहित रामजी का कल्याण हो। यही एक मात्र सबका ध्येय है। भक्तों का समाज है। सब ओर से ममता खिंचकर श्रीरामजी के चरणों में बँधी हुई है। अंशों के सहित उन्हीं का कल्याण मनाते हैं।

अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान वसन मनि भूषन दीन्हे ॥२॥

अर्थ : अन्तर्धान रहकर देवता लोग आशीर्वाद देते हैं। प्रसन्न होकर माताएँ अञ्चल भरकर लेती हैं। महाराज ने बारातियों को बुलाया। उन्हें सवारी, कपड़े, मणि और आभूषण दिये।

व्याख्या : आवाहन करने से देवता लोग आते हैं। पर स्थूलदृष्टि से उनका दर्शन नहीं होता। वे पूजा पाकर आशीर्वाद देते हैं। पर स्थूल श्रोत्र उन्हें सुन नहीं सकते। यही साधारण नियम है। उनका प्रत्यक्ष हो जाना और उनके आशीर्वाद का सुनाई पड़ना उनके बड़े भारी अनुग्रह का द्योतक है। विवाह के समय दोनों बातें हुई थीं। यथा : सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं। अब तो व्याह हो गया है। समाप्ति का पूजन हो रहा है। अतः दृष्टिगोचर तो नहीं हो रहे हैं। पर आशीर्वाद श्रवणगोचर हो रहा है। अथवा स्वयं राम जानकी के हाथ का पूजन ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद दिया। माताओं के पूजन में अन्तर्हित रहते हुए आशीर्वाद देते हैं। स्त्रियाँ अञ्चल पसारकर माँगती हैं और पुरुष अञ्जलि बाँधकर माँगते हैं। सो माताएँ भाइयों सहित रामजी का कल्याण माँगती हैं। देवता लोग तथास्तु कहते हैं जो सुनाई पड़ता है। माता लोग उसे मिला हुआ मानकर अञ्चल में इस भाँति प्रेम से ले रही हैं जिस भाँति उन्हें कोई भौतिक वस्तु मिली हो।

पहिला कार्य महाराज ने यह उचित समझा कि बारातियों की विदाई की जाय। अतः उन्हें बुलवाया। जिस भाँति बारात में सबसे पहिले सजधजकर छरे छबीले छैल लोग आये थे उसी भाँति यहाँ भी वे ही पहिले आये। उन्हें महाराज की ओर से रथ बखसा गया। अर्थात् उन्हें रथी का पद मिला। बारात के क्रम के अनुसार ही उनके बाद रथी लोग आये। उन्हें वस्त्र अर्थात् सिरोपाव देकर आदर किया गया। उसके बाद वैदिक ब्राह्मण तथा वन्दीजन आये। उन्हें मणि भूषण दिये गये। अथवा सबको सब दिया गया।

आयसु पाइ राखि उर रामहिं। मुदित गए सब निज निज धामहि॥
पुर नर नारि सकल पहिराए। घर घर बाजन लगे बधाए॥३॥

अर्थ : आज्ञा पाकर और रामजी को हृदय में रखकर प्रसन्न हो सब अपने अपने घर गये। पुर नर नारि सभी को पहिरावन मिला। घर घर बधाये बजने लगे।

व्याख्या : आज्ञा पाकर आये थे। आज्ञा पाकर जा रहे हैं। महीनों बाद घर जा रहे हैं। इसलिए मुदित हैं। अथवा विदाई पाकर मुदित हैं। फिर भी रामजी सबको इतने प्रिय हैं कि इन्हें छोड़ते नहीं बनता। अतः उन्हें हृदय में रखकर जा रहे हैं। वाहरी वारातियों के विदा करने के वाद महाराज की आज्ञा हुई कि सभी प्रजा को पहिरावा मिलना चाहिए। अतः पुर नरनारियों के यहाँ पहिरावा भेजा गया। महाराज के यहाँ से पहिरावा आया है। इस उत्सव में घर घर बधाये बजने लगे।

जाचक जन जाचहि जोइ जोई। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई॥
सेवक सकल बजनिआ नाना। पूरन किये दान सनमाना॥४॥

अर्थ : याचक लोग जो जो माँगते हैं। प्रसन्न होकर राजा वही वही वस्तु

दे रहे हैं। सब सेवकों और नाना प्रकार के वाजे बजानेवालों को दान और सम्मान से सन्तुष्ट कर दिया।

व्याख्या : इस घर से याचकों की भी बिदाई होती है। और लोगों की विदाई तो महाराज ने अपनी रुचि से की। पर याचकों से उनकी चाही हुई वस्तु उनसे पूछ पूछ कर दी जा रही है। राजा शङ्कररूप है। इसे याचक सदा अच्छे लगते हैं। उन्हें ईप्सित पदार्थ देते हैं। अब सेवक और वाजा बजानेवालों की पारी आयी। उन्हें इनाम दिया गया। उनका सत्कार किया गया। नाना शब्द में विदूषक का नागर नट आदि का भी ग्रहण है। सबको सन्तुष्ट किया गया। व्याह ही एक ऐसा अवसर है जिसमें सभी गृहस्थ यथाशक्ति सबको सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है और सभी लोग उससे सत्कार पाने की आशा करते हैं।

दो. देहिं असीस जोहारि सब, गावहिं गुन गन गाथ।
तब गुरु भूसुर सहित गृह, गवनु कीन्ह नरनाथ ॥३५१॥

अर्थ : सब जोहार करके आशीर्वाद देने और गुणगाथा गाने लगे। तब गुरु और ब्राह्मणों के साथ नरनाथ दशरथजी घर गये।

व्याख्या : सेवक और बजनियाँ आदि जोहार करके आशीर्वाद देते हैं। महाराज की गाथा का सभी गान कर रहे हैं। क्योंकि सबको सन्तुष्ट किया है। जितने लोग बारात में आये थे उन सबको सत्कार करके घर भेजकर तब आप घर चले। घर जाने में भी गुरुजी तथा ब्राह्मणों को साथ लेकर अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं। इनसे परदा नहीं है। नरनाथ हैं : मनुष्य मात्र के कल्याण पर दृष्टि है।

जो वसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक वेद विधि सादर कीन्ही ॥
भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥१॥

अर्थ : जो वसिष्ठजी ने लोकविधि और वेदविधि के लिए आज्ञा दी उसे आदर के साथ किया। ब्राह्मणों की भीड़ देखकर रानियाँ बड़ा भाग्य जानकर आदर के साथ उठीं।

व्याख्या : मुनि का अनुशासन सर्वथा ग्राह्य है। मुनि के अनुशासन से ही शिवजी ने गणपति का : पुत्रका पूजन किया। वह अनुशासन अविचारणीय है। तदनुसार लोकविधि मण्डपग्रन्थिनिर्मोकादि तथा वेदविधि देवपितृविसर्जनादि श्रद्धा के साथ किया। क्योंकि बिना श्रद्धा से जो कुछ किया जाता है वह सब असत् हो जाता है। यथा : अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।

विप्रसङ्कीर्ण मन्दिर बड़े भाग्य से होता है। सो रानियों ने आँगन में ब्राह्मणों की भीड़ देखी। सो आदर के साथ उठीं। अपना बड़ा भाग्य माना। महाराज वैदिक लौकिक कृत्य कर रहे हैं तबसे ब्राह्मणों का सत्कार होना चाहिए।

पाय पखारि सकल अन्हवाये। पूजि भली विधि भूप जेवाये ॥
आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे ॥२॥

अर्थ : सबको पाँव धोकर नहलाया। राजा ने भलीभाँति पूजन करके भोजन करवाया। आदर दान और प्रेम से परिपुष्ट होनेपर मन से सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देते चले।

व्याख्या : महारानियों ने पाद प्रक्षालन पूर्वक सबको स्नान कराया। तव तक महाराज कृत्य से खाली हो गये। पूजन उन्होंने विधान से किया। तत्पश्चात् सबको भोजन कराया। आदर पूर्वक दक्षिणा दी। ताम्बूल दिया। प्रेम से परिक्रमा की। चरणस्पर्श किये। ब्राह्मण सव प्रकार से पूजित होकर सन्तुष्ट हुए और आशीर्वाद देते चले। परोक्ष में रास्ते चलते आशीर्वाद देते जा रहे हैं।

बहु विधि कीन्ह गाधिसुत पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्ह प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी ॥३॥

अर्थ : वहुत प्रकार से विश्वामित्रजी की पूजा की। कहा कि नाथ! मेरे समान कोई धन्य नहीं है। राजा ने वड़ी प्रशंसा की और रानियों के सहित चरणों की धूलि ली।

व्याख्या : जब सव ब्राह्मणों की पूजा की. उस समय गाधि के पुत्र विश्वामित्र की पूजा नहीं की। क्योंकि इनकी पूजा वहुत विधान से करनी थी। उस समय पूजा करने से पंक्तिभेद हो जाता। गाधिसुत करने से विश्वामित्रजी का अलौकिक पुरुषार्थ द्योतन किया जो अपनी तपस्या के बल द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। पूजनोपरान्त स्तुति की और कहा कि मेरे समान धन्य कोई नहीं। किसके बेटे के व्याह में आप वारात गये थे? मुझपर आपकी इतनी कृपा है। अत: मेरा बड़ा पुण्य है। पुण्यात्मा को ही धन्य कहते हैं। यथा : सुकृती पुण्यवान् धन्यः। इसी रीति से महाराज ने उनकी वड़ी प्रशंसा की। सुनकर महारानियों को भी वड़ी श्रद्धा हुई और उन लोगों ने भी महाराज के साथ ही उनकी चरणधूलि को सिर पर रक्खा।

भीतर भवन दीन्ह वर वासू। मनु जोगवत रह नृपु रनिवासू ॥
पूजे गुरु पद कमल बहोरी। कीन्हि विनय उर प्रीति न थोरी ॥४॥

अर्थ : उनको अन्त:पुर के भीतर ही श्रेष्ठ निवास स्थान दिया। राजा स्वयं रनिवास के साथ उनका मन देखा करते थे। फिर राजा ने गुरु : वसिष्ठजी के चरणकमलों की पूजा की। उनके हृदय में वड़ी प्रीति थी। तदनुसार विनती की।

व्याख्या : विश्वामित्रजी को अन्त:पुर में ही निवास देने का यह भाव कि जिसमें महाराज को महारानियों के साथ स्वयं सेवा करने का सुयोग मिल सके। जो सेवा कराता है वही सेवा करना जानता है। संसार राजा की सेवा के लिए

उत्सुक रहता है। अतः राजा जानता है कि सेवा कैसे की जाती है। अत्यन्त आदर के लिए स्वयं भी सेवा करना चाहते हैं। रानियों की भी सेवा करने की अतिश्रद्धा है। विश्वामित्रजी को आज्ञा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका रुख देखकर ही महाराज तथा महारानियाँ सब काम कर देती हैं। अयोध्या की सभ्यता इतनी बढ़ी चढ़ी है कि वहाँ अधिकांश कार्य रुख देखकर ही हुआ करता है। अङ्गों की पूजा पहिले और प्रधान की पूजा अन्त में होती है। इसी क्रम से गुरु वसिष्ठजी की पूजा सबके पीछे हुई। महाराज की गुरुचरणों में बड़ी प्रीति है। अतः पूजनोपरान्त विनय किया।

दो. वधुन समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस।
पुनि पुनि वंदत गुरु चरन, देत असीस मुनीस ॥३५२॥

अर्थ : बहुओं के साथ सब कुमार और रानियों के सहित राजा बार बार गुरुचरणों की वन्दना करते हैं और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं।

व्याख्या : वधुओं को मैके से शिक्षा मिली है : सास ससुर गुर सेवा करेहू पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू। सो वे सास ससुर पति सबको गुरुजी के पादाक्रान्त देखती हैं। अतः वधुओं की भी बड़ी श्रद्धा है। सव लोग बार बार श्रद्धातिरेक से गुरुचरणों की वन्दना कर रहे हैं और गुरुजी सबको आशीर्वाद देते हैं। गुरु और पुरोहित घर के प्राणी हो जाते हैं। उनसे न कोई सङ्कोच रहता है न परदा रहता है और न कोई बात छिपी रहती है। यहाँ गुरुजी बीच में आसीन है। महाराज दशरथ, रानियों, बेटों और पतोहुओं को लिये हुए सपरिवार पूजन कर रहे हैं। सब प्रेम से बारबार प्रणाम कर रहे हैं और वृद्ध वसिष्ठ सबके बीच में बैठे आशीर्वाद दे रहे हैं।

विनय कीन्हि उर अति अनुरागे। सुत संपदा राखि नृप आगे॥
नेग माँगि मुनि नायक लीन्हा। आसिरवादु बहुत विधि दीन्हा ॥१॥

अर्थ : अत्यन्त प्रेम से पुत्र और सम्पदा सामने रखकर विनय किया। मुनिनायक ने नेग माँगकर लिया और बहुत विधि से आशीर्वाद दिया।

व्याख्या : महादानी राजा हैं गुरु की विदाई क्या करें। सो सारी सम्पदा सामने रक्खी और बेटों को भी रख दिया। जिनके लिए कहा था कि : सब सुत मोहि प्रिय प्रान की नांई। राम देत नहिं बनै गोसांईं। उन्हें भी सामने रखकर विनय करते हैं कि आप स्वीकार कर लीजिये। मुनिजी लेना भी नहीं चाहते और प्रेम का अनादर करना भी नहीं चाहते। अतः अपना नेग माँगा कि हमारा नेग इतना होता है। सो मुहमाँगा नेग पाने पर जिस भाँति तुष्ट होकर पुरोहित आशीर्वाद दिया करते हैं उसी भाँति बहुत प्रकार से आशीर्वाद दिया।

उर धरि रामहि सीय समेता। हरषि कीन्ह गुर गवनु निकेता॥
विप्रवधू सब भूप बोलाईं। चैल चारु भूषन पहिराई ॥२॥

अर्थ : हृदय में सीताजी के सहित रामजी को रखकर हर्षित हो गुरुजी घर गये। राजा ने विप्रवधुओं को वुलाया। सुन्दर कपड़े और गहने पहिनाये।

व्याख्या : सर्वोत्तम वस्तु गुरुजी ने चुन ली। रामजी को सीता सहित देखकर युगलमानसी मूर्ति को हृदय में रख लिया और हर्षित होकर घर गये। अब विवाहपद्धति के अनुसार विप्रवधू और सुआसिनों का सत्कार शेष है। सो राजा ने उन्हें भी वुलवाया। पुर नर नारियों को पहिले ही पहिरावा मिल चुका है। विप्रवधुओं को नहीं मिला है। इनका विशेष सत्कार होगा। इसलिए सबके साथ इनका सत्कार नहीं हुआ था। अतः उन्हें कपड़े और गहने पहिनाये।

बहुरि बुलाइ सुआसनि लीन्हीं। रुचि विचारि पहिरावनि दीन्ही ॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि अनुरूप भूपमनि देहीं ॥३॥

अर्थ : फिर सुहागिनों को वुला लिया। रुचि का विचारकर पहिरावा दिया। नेगी लोग नेग जोग ले रहे हैं। जिसको जो रुचि है उसे वही भूपमणि दे रहे हैं।

व्याख्या : विप्रवधुओं के सम्मान के बाद सुहागिनी स्त्रियों का सम्मान आरम्भ हुआ। वे सौभाग्यवती हैं। लज्जा से अपनी अभिरुचि व्यक्त न करेंगी। अतः स्वयं उनकी रुचि का विचार उनके वेषभूषा से करके उनको पहिरावा दिया। नेगियों को नेग जोग देना शेष है। वे तो झगड़ कर लेते हैं। उन्हें माँगने में सङ्कोच नहीं है। अतः स्पष्ट रुचि जानकर देते हैं। भूपमणि हैं : देने से अघाते नहीं।

प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने ॥
देव देखि रघुबीर विवाहू। बरषि प्रसून प्रसंसि उछाहू ॥४॥

अर्थ : जिन प्रिय पाहुनों को पूज्य समझा राजा ने उनका भलीभाँति से सम्मान किया। देवताओं ने रघुवीर का विवाह देखकर पुष्पों की वृष्टि करके और उछाह का वर्णन करके :

व्याख्या : प्रिय पाहुने दो प्रकार के होते हैं। एक पूज्य यथा : बहनोई, दामाद इत्यादि और दूसरे पूजक : जैसे साले इत्यादि। इनमें से पूजकों का तो केवल सम्मान किया जाता है। क्योंकि वे दिया हुआ कुछ ग्रहण न करेंगे। परन्तु पूज्यों का वस्त्रालङ्कारादि से भलीभाँति सम्मान किया जाता है। तदनुसार उनका वैसा ही सम्मान किया गया।

देवविसर्जन हो गया था। यथा : जो वसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक वेद विधि सादर कीन्ही। अतः अब ठहरने की आवश्यकता न रह गई। व्याहकार्य भी समाप्त हो गया। अतः चलने के समय फिर पुष्पवृष्टि की और उछाह की प्रशंसा की। जिसे देखकर वे क्षण क्षण पर पुष्पवर्षा करते थे और स्वयं उस रस में लीन होकर नाचने गाने लगे थे। यथा : वरखहिं सुमन छनहि छन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा।

दो. चले निसान बजाइ सुर, निज निज पुर सुख पाइ।
कहत परसपर राम जसु, प्रेमु न हृदय समाइ ॥३५३॥

अर्थ : देवता लोग डङ्का बजाकर और सुख पाकर अपने अपने लोकों को चले। आपस में रामजी का यश कहते जाते थे। प्रेम हृदय में नहीं समाता था।

व्याख्या : विवाह हो जाने से निर्भय हैं। जानते हैं कि जानकीहरण से रावणवध होगा। विवाह होने से विधि बैठ जायगी। अतः सुख पाकर अथवा इस विवाह के देखने से लोचन का फल पाकर सुखी हुए और डङ्का बजाकर चले। सबके लोक दूर दूर और पृथक् दिशाओं में हैं। अतः उन उन दिशाओं में चले। ईशानकोण की ओर शिव चले। इन्द्र पूर्व की ओर चले। अग्नि अग्निकोण की ओर, धर्म दक्षिण की ओर, निऋति नैर्ऋत्य कोण की ओर, वरुण पश्चिम की ओर, वायु वायव्यकोण की ओर और कुबेरजी उत्तर की ओर चले। इस भाँति देवता लोग अपने अपने निवासस्थान को चले। अपने अपने समाज में रामजी के सुबाहुवध, धनुषभङ्ग, परशुरामपराजय आदि यश का वर्णन करते जाते थे। क्योंकि हर्ष उनके हृदय में समाता न था। जिसमें इतना पराक्रम है उसी के हाथ से रावणवध सम्भव है।

सब विधि सबहि समदि नर नाहू। रहा हृदय भरिपूरि उछाहू ॥
जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे। सहित वधूटिन कुँअर निहारे ॥१॥

अर्थ : सब भाँति सबका सत्कार करके महाराज के हृदय में उछाह उमड़ा हुआ था। जहाँ रनिवास था वहाँ पधारे तो बहुओं के साथ कुँअरों को देखा।

व्याख्या : नरनाथ हैं। उन्हें सत्कार करने में भी बड़ा हर्ष का अनुभव होता था। सबका यथोचित सत्कार किया। अतः सबके सत्कार को पृथक् विधि कवि ने लिखी। देवता लोग प्रिय पाहुने पूज्य के सत्कार के समय गये। क्योंकि उन्हीं की अन्तिम विदाई थी।

सब बारातियों को घर भेजकर तब अन्तःपुर में गये : अभी तक धर्मकृत्य में साथ देने के लिए रानियाँ मण्डप में आई थीं। वहाँ पर जाकर चार सिंहासनों पर बहुओं के साथ बैठे हुए कुँअरों को देखा। चमर चल रहा है। पंखे झले जा रहे हैं। रानियाँ घेरे हुए हैं। आमोद प्रमोद हो रहा है इत्यादि।

लिये गोद करि मोद समेता। को कहि सकै भयेउ सुखु जेता ॥
वधू सप्रेम गोद बैठारी। बार बार हिय हरखि दुलारी ॥२॥

अर्थ : आनन्द से गोद में ले लिया। जैसा सुख हुआ सो कहा नहीं जा सकता। बहुओं को प्रेम से गोद में बिठलाया। बार बार हृदय में हर्षित होकर उनका दुलार किया।

व्याख्या : कई बार वधुओं के साथ कुँअरों को देख चुके हैं। पर अवसर न होने से गोद में नहीं लिया था। सो पहिले कुँअरों को गोद में बिठाकर अवर्णनीय

सुख का अनुभव किया। फिर बहुओं को गोद में लिया। अभी सबकी सब अल्पवयस्का हैं। पिता के गोद में बैठने का समय बीता नहीं है। अत: गोद में बैठाकर दुलार करते हैं। मानो पितृवियोगजनित पीड़ा का मार्जन कर रहे हैं। जनकजी की विनती का पूरा ध्यान है। यथा : ये दारिका परिचारिका करि पालवी करुना नई।

देखि समाज मुदित रनिवासू। सबके उर अनंदु कियो वासू॥
कहेउ भूप जिमि भयेउ विवाहू। सुनि सुनि हरषु होत सब काहू॥३॥

अर्थ : वह दृश्य देखकर रनिवास प्रसन्न था। सबके हृदय में आनन्द ने निवास किया। महाराज ने कह सुनाया कि किस भाँति विवाह हुआ। सुन सुनकर सबके हृदय में हर्ष होता था।

व्याख्या : कौटुम्बिक सुख की पराकाष्ठा है। आनन्द से पूर्ण पति बैठे हुए हैं। चारों बेटों और बहुओं का लाड़ प्यार हो रहा है। वे व्याहकर अभी आये हैं। पतिसुख पुत्रसुख, पुत्रवधूसुख, राज्यसुख, कीर्तिसुख, सभी सुख प्राप्त हैं। हृदय में सब रानियों को स्थायी सुख हुआ। इसलिए कवि कहते हैं : सबके उर अनंद कियो वासू।

रानियों ने विवाह नहीं देखा। प्रिय समाचार महाराज के मुख से सुनने के लिए उत्सुक हैं। जिस विवाहसम्बन्धी पत्र को छाती से लगाकर छाती ठण्ढी करती थीं उस विवाह के वर्णन के सुनने में भी उन्हें बड़ा सुख था। महाराज ने सब वर्णन किया। समधियाने का समाचार सुनकर सब हर्षित हो रही हैं।

जनक राज गुन सीलु बड़ाई। प्रीति रीति संपदा सुहाई॥
बहुविधि भूप भाट जिमि वरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी॥४॥

अर्थ : राजा जनक का गुण, शील, बड़ाई, प्रीति की रीति और सुन्दर सम्पदा का वर्णन राजा ने अनेक प्रकार से वंदीजनों की भाँति किया। करणी सुनकर सब रानियाँ प्रमुदित हुईं।

व्याख्या : राजा लोग मितभाषी होते हैं। उनके एक एक शब्दों का मूल्य होता है। जिसकी प्रशंसा का एक शब्द उनके मुख से निकल गया उसका महाभाग्य माना जाता था। सो महाराज दशरथ जनकराज के : १. गुण २. शील ३. बड़ाई ४. प्रीति की रीति और ५. सुन्दर सम्पदा से ऐसे प्रभावित हैं कि उनके वर्णन में अघाते नहीं हैं।

१. गुण। यथा : सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महामुनिवृन्द वंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै।
कुल इष्ट सरिस वसिष्ठ पूजे विनय करि आसिस लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति पै न परै कही।
बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाव न दूजा॥
पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती॥
इत्यादि।

२. शील। यथा : सिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किये।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।

३. बड़ाई। यथा : ये दारिका परिचारिका करि पालवी करुना नई।
अपराध छमिवो वोलि पठयों नहुत हौं ढीठ्यौ कई। इत्यादि।

जनक़ जी की बड़ाई है। नहीं तो लड़केवाले बारात लेकर आते ही हैं। इसमें विशेषता क्या है। पर यह जनकराज की बड़ाई है कि बुला भेजने को भी वे अपनी ढिठाई समझ रहे हैं।

४. प्रीति की रीति। यथा : बार बार कोसलपति कहहीं।
जनक प्रेमवस फिरन न चहहीं॥
दिन प्रति विदा अवधपति माँगा।
राखहिं जनक सहित अनुरागा॥
दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई। इत्यादि।

५. सुहाई सम्पदा। यथा : जेहि अवलोक लोकपति लोक संपदा थोरि।
जो संपदा नीचगृह सोहा।
सो विलोकि सुरनायक मोहा। इत्यादि।

अथवा बहुओं की प्रसन्नता के लिए सविस्तार वर्णन करना महाराज ने उचित समझा। स्त्रियाँ करणी से प्रसन्न होती हैं। व्याह में करणी प्रभूत दायज देने को कहा जाता है। अतः राजा के दायज देने का हाल सुनकर रानियाँ बड़ी प्रसन्न हैं। मिले हुए दायज में कुछ अंश बाँटा जाता है। उसके बहुतायत से उन्हें बाँटने में बड़ा आनन्द होता है।

दो. सुतन समेत नहाइ नृप, बोलि विप्र गुरु ज्ञाति।
भोजन कीन्ह अनेक विधि, घरी पंच गइ राति॥३५४॥

अर्थ : पुत्रों के सहित स्नान करके राजा ने ब्राह्मण बड़े बूढ़े जातिवालों को वुलाकर अनेक विधि से भोजन किया। रात की पाँच घड़ियाँ बीत गईं।

व्याख्या : यह महाराज का काम्यस्नान श्रमापनोदन के लिए है। इष्टजनैः सह भुक्तं भुक्तम्। भोजन तो वही है जो इष्ट मित्र के साथ किया जाय। ब्राह्मण भोजन तो पहिले ही हो चुका है। इस समय तो अन्तरङ्ग मण्डली जुटी हुई है। ब्राह्मण भी जो अन्तरङ्ग हैं तथा भाई विरादरियों में प्रतिष्ठित बड़े बूढ़े हैं उन्हें बुला करके महाराज ने भोजन किया। छः रस, चार विधि, छप्पन प्रकार का भोजन वना था। भोजन करते कराते दो घण्टा रात बीत गई।

मंगलगान करहिं वर भामिनि। भै सुखमूल मनोहर जामिनि॥
अँचै पान सब काहू पाए। स्रक् सुगंध भूषित छवि छाए॥१॥

अर्थ : सुन्दर स्त्रियाँ मङ्गलगान कर रही हैं। सुन्दर रात्रि सुख की मूल हुई।

हाथ मुँह धोकर सबने पान पाये। माला और सुगन्ध से भूषित होकर सुशोभित हुए।

व्याख्या : भोजन में स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अनुभव होता है। केवल शब्द का नहीं होता। अतः सुन्दर स्त्रियाँ मङ्गलगान करने लगीं। पञ्चेन्द्रिय तर्पण के सुख का अनुभव सबने किया। समधियाना नहीं है। इसलिए गालीगान नहीं हो रहा है। चैत्र की चाँदनी बड़ी मनोहर होती है। अतः वह रात्रि स्वभाव से सुन्दर होते हुए भी सुख की मूल हुई। यथा : जव ते राम व्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये।

स्रक् सुगन्ध का विधान केवल गृहस्थ को है। इससे मालूम हुआ कि इस जेवनार में केवल गृहस्थ ही सम्मिलित हुए। विरक्त को रात्रिभोजन का विधान नहीं है।

रामहि देखि रजायसु पाई। निज निज भवन चले सिर नाई ॥
प्रेम प्रमोद विनोद बड़ाई। समउ समाज मनोहरताई ॥२॥

अर्थ : रामजी को देखकर और राजा की आज्ञा पाकर सब अपने अपने घर प्रणाम करके चले। प्रेम, प्रमोद, विनोद, बड़ाई, समय, समाज की मनोहरता :

व्याख्या : चलते समय सबने रामजी का दर्शन किया : ध्यान बने रहने के लिए। फिर महाराज से आज्ञा माँग माँगकर घर गये। १. प्रेम २. प्रमोद ३. विनोद . बड़ाई ५. समय ६. समाज मनोहरताई। यथा :

प्रेम : सुतन्ह समेत नहाइ नृप बोलि विप्र गुरु ज्ञाति।
प्रमोद : भोजन कीन्ह अनेक विधि।
विनोद : मंगलगान करहिं सब भामिनि।
बड़ाई : अँचइ पान सब्र काहू पाये। राजा के यहाँ से पान मिलना बड़ाई है।
समय : भइ सुखमूल मनोहर जामिनि।
समाज मनोहरता : स्रग सुगंध भूषित छवि छाये।
इन छः बातों का वर्णन :

कहि न सकहिं सब सारद सेसू। वेद विरंचि महेस गनेसू ॥
सो मैं कहौं कवन विधि वरनी। भूमिनागु सिर धरइ कि धरनी ॥३॥

अर्थ : सौ शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मदेव, महेश और गणेश नहीं कह सकते। उसे मैं किस विधि से वर्णन करूँ, केचुआ क्या सिर पर पृथ्वी उठा सकता है।

व्याख्या : ये ही छः बड़े वर्णन करनेवाले हैं। वे भी इन छः विषयों का वर्णन नहीं कर सकते :

१. शारदा : यह बड़ी प्रेमी हैं। यथा : भगत हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवत धाई। सो भी इस प्रेम का वर्णन नहीं कर सकतीं।

२. शेष : ये पाताललोक के वक्ता हैं। वहाँ भोग अत्यधिक है। सो इस इष्टभोग : प्रमोद का वर्णन नहीं कर सकते।

३. वेद : ये रघुपतियशवर्णन में नहीं थकते। यथा : जिनहि न सपनेहु खेद वरतन रघुवर विसद जस। सो विनोद का वर्णन नहीं कर सकते।

४. विरंचि : सबसे बड़े हैं। नाम ही पितामह है। सो बड़ाई का वर्णन नहीं कर सकते।

५. महेश : ये काल के भी काल हैं। सो इस काल का वर्णन नहीं कर सकते।

६. गणेश : ये मङ्गलमूर्ति हैं। सो इस समाज की मनोहरता का वर्णन नहीं कर सकते।

मैं असमर्थ और अकेला इनका वर्णन कैसे कर सकता हूँ। पृथ्वी को शेष ही धारण कर सकते हैं। दिव्य नाग तक्षक वासुकी आदि की भी धारण करने की सामर्थ्य नहीं। लौकिक नाग तो धरणी में ही बिलों में पड़े रहते हैं। वे क्या धारण कर सकेंगे। केचुए का तो नाम मात्र ही भूमिनाग है। उसकी सामर्थ्य लौकिक नागों के सामने भी कुछ नहीं है। उसके धरणी के उठाने की कथा ही क्या है। सो यह षड्गुणवती पृथ्वी ऐसी है कि उसे शेष भी नहीं धारण कर सकते। भावार्थ यह कि जिसे शारदादि वर्णन नहीं कर सकते उसे मैं जिसकी गणना प्राकृत कवियों के सामने कुछ नहीं है क्या वर्णन कर सकता हूँ।

नृप सब भाँति सबहिं सनमानी। कहि मृदु वचन बोलाई रानी॥
बधू लरकिनि पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥४॥

अर्थ : राजा ने इस भाँति का सम्मान करके कोमल वचनों से रानियों को बुलाया। बहू अभी बच्ची हैं। पराये घर आई हैं। इन्हें इस भाँति रखना जिस भाँति पलक नयन की रक्षा करता है।

व्याख्या : राजा से विधि का पालन होता है। भाव का पालन तो प्रेमपूर्वक कहने से ही होता है। इसलिए मृदु वचन से रानियों को बुलाया और समझाया कि बहुएँ अभी बच्ची हैं। अपना घर नहीं पहचान सकतीं। अभी इसे पराया घर समझ रही हैं। सो इनकी रखवारी इस भाँति करना जैसे पलकें आँखों की करती हैं। कोई कष्ट किसी प्रकार का न होने पावे। पलक को नेत्र के कहने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उसे स्वयं सावधान होकर सर्वदा आँखों का पालन करना पड़ता है। थोड़े दिन की बात है। बड़ी होने पर घर पहिचान लेंगी। तब इतनी सावधानता की आवश्यकता न होगी। इनके साथ ऐसा व्यवहार हो जैसा माता का बेटी के साथ होता है। जनकजी की विनती स्मरण है। अतः महाराज सहेजते हैं। मैं इनकी देखरेख नहीं कर सकता। रानियों ने भी वैसा ही व्यवहार किया।

वनगमन के समय कौसल्याजी कहेंगी : नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउं प्रान जानकिहि लाई।

दो. लरिका श्रमित उनींद वस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे विश्रामगृह, रामचरन चितु लाइ ॥३५५॥

अर्थ : लड़के थके हैं। उनींदे हो रहे हैं। इन्हें ले जाकर सुलाओ। ऐसा कहकर और रामजी के चरणों में चित्त लगाकर शयनगृह में गये।

व्याख्या : लड़के हैं इसलिए थक गये हैं। उनींदवश हो रहे हैं। यथा : उठीं सखी हँसि मिसकरि कहि मृदु वैन। सिय रघुवर के भये उनींदे नैन। लरिका शब्द में वधू लरिकनी का भी अन्तर्भाव है। यद्यपि आज रतजगा है पर तुम लोग जाकर सुला दो। महाराज के यहाँ सब कार्यों के लिए पृथक् पृथक् गृह हैं। महारानियों को सहेजकर चक्रवर्तीजी रामजी के चरण में चित्त लगाकर शयनगृह गये। जितने लोग गये सबने रामजी को हृदय में रक्खा। यथा :

जनकपुर के याचक : बार बार विरदावलि भाखी।
फिरे सकल रामहि उर राखी॥
बाराती : आयसु पाइ राखि उर रामहि।
मुदित गये सब निज निज धामहि॥
गुरुजी : उर धरि रामहि सीय समेता।
हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता॥
देवता : कहत परसपर राम जस हरख न हृदय समाइ।
विप्र गुरु ज्ञाति : रामहि देखि रजायसु पाई।
निज निज भवन गये सुख पाइ॥
स्वयं महाराज : गे विश्राम गृह राम चरन चित लाइ।

भूप वचन सुनि सहज सुहाए। जरित कनक मनि पलँग डसाए॥
सुभग सुरभि पय फेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥१॥

अर्थ : राजा के स्वभाव से ही सुन्दर वचन सुनकर स्वर्ण और मणि जड़े हुए पलङ्ग बिछाये। सुन्दर दूध के फेन के समान कोमल अनेक प्रकार के तोशक बिछाये गये।

व्याख्या : उनींदे बालकों को शयन कराने की आज्ञा स्वभाव से ही सुन्दर है। महाराजों की पलङ्ग भी ठोस सोने की नहीं होती पलङ्ग के लिए हलका सोना अत्यन्त आवश्यक है। अतः वे ठोस सोने की नहीं थीं। स्वर्ण और मणि उनमें जड़े हुए थे। ऐसी पलङ्गें बिछायी गईं। उन पर तोशक बिछाई गईं जो कि गोदुग्ध के फेन सी श्वेत और कोमल थीं : भैंस के दुग्ध का फेन उतना कोमल नहीं होता। इसलिए निमिश भैंस के दूध के फेन का ही बनता है। अति कोमल होने से गाय के दूध के

फेन का नहीं बन सकता। अत्यन्त कोमल होने से एक एक पलङ्ग पर कई तोशकें बिछायी गईं : महारानियाँ स्वयं काम में लग गईं।

उपवरहन वर बरनि न जांहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर मांहीं॥
रतनदीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा॥२॥

अर्थ : अच्छे अच्छे तकिये जिनका वर्णन नहीं हो सकता। मणि के मन्दिर में फूल की मालाओं की सुगन्ध थी। रत्न के दीप और सुन्दर चँदोए कहते नहीं बनते। वे ही जानते हैं जिन्होंने देखा है।

व्याख्या : बरनि न जांही कहकर तकियों का बहुत्व सूचित किया। प्राचीन रीति थी कि पतले पतले पचासों तकिये रक्खे जाते थे। जिसमें सोनेवाला अपने सुभीते के अनुसार उनकी ऊँचाई निचाई घटा बढ़ा सके। मणि जटित मन्दिर स्वभाव से शीतल थे। उनमें रत्न के दीप रक्खे गये। जिनमें ऐसी ठण्ढी रोशनी निकलती थी जिसमें सोने में आँख न चमके। फूल की मालाओं से काम लिया गया। जिसमें भीनी भीनी सुगन्धि कमरे में भरी रहे।

जीवजन्तु का प्रवेश न हो सके इसलिए पलङ्गों के ऊपर चँदोए थे। जिनमें परदे लटक रहे थे। आजकल उसे मसहरी कहते हैं। वे सबके सब ऐसे सुन्दर थे जिनका वर्णन नहीं हो सकता था देखते ही बनता था।

सेज रुचिर रचि राम उठाए। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाए॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही॥३॥

अर्थ : सुन्दर सेज रचकर रामजी को उठाया और प्रेम समेत पलङ्गपर पौढ़ाया। रामजी ने बार बार आज्ञा भाइयों को दी। तब वे लोग भी अपने पलंगों पर जाकर सोये।

व्याख्या : रामजी के सामने महाराज ने आज्ञा नहीं दी थी। माँ के बिठाये जानकीजी के साथ सिंहासन पर बैठे थे। माँकी आज्ञा हो तो उठें। इसलिए माँ ने वहाँ से उठाया और प्रेम के साथ लिवा लाईं और पलंग पर लिटा दिया। रामजी के साथ सब भाई चले आये परन्तु विनय के कारण सो नहीं रहे हैं। जब रामजी ने बार बार आज्ञा दी तब वे लोग भी अपने पलङ्गों पर गये और सोये।

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़िका मारी॥४॥

अर्थ : सुन्दर श्याम कोमलगात देखकर सब माताएँ प्रेम से कहती हैं कि रास्ते में जाते हुए भारी भयावनी ताड़का को बेटा तुमने कैसे मारा ?

व्याख्या : रामजी के रूप में अलौकिक सुन्दरता है। अद्भुत श्यामता है और अतीव कोमलता है। इसे देखकर माताओं को ताड़का का भयानक रूप अत्यन्त उग्रता और अलौकिक पराक्रम जो सुन रक्खा था उसी की याद आई।

मनमें कोई विधि ही नहीं बैठती जिससे इस कोमल शरीर द्वारा उसका वध हो सके। अतः स्वयं रामजी से ही विधि पूछती हैं। माता का वात्सल्य इनके अद्भुत पुरुषार्थ की महिमा को हृदय में स्थान नहीं देने देता।

दो. घोर निसाचर विकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ : भयानक रांक्षस, बड़े विकट योद्धा, युद्ध में किसी को गिननेवाले नहीं ऐसे मारीच और सुबाहु खल को सेना सहित कैसे मारा ?

व्याख्या : घोर निशाचर कहकर सुबाहु मारीच को अत्युत्कट मायावी कहा। विकट भट कहकर उनका महाबल और युद्धकौशल कहा। समर गनै नहि काहु कहकर उनका महापराक्रम कहा। खल कहकर उनका युद्ध में समरधर्मोल्लंघन कहा। सहित सहाय कहकर उनका सेना सहित होना ख्यापन किया। स्वयं असहाय रहते हुए ऐसों को सेना सहित कैसे मारा ? क्रम से घटनाओं के विषय में माताएँ प्रश्न करती हैं। इस व्याज से स्तुति भी कर रही हैं।

मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥
मख रखवारी करि दुहु भाई। गुरु प्रसाद सब विद्या पाई ॥१॥

अर्थ : मैं बलिहारी जाती हूँ। मुनि के प्रसाद से हे तात ! महादेव ने तुम्हारे अनेक अनिष्टयोग दूर किये। दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा की। गुरु के प्रसाद से सब विद्या पाई।

व्याख्या : रामजी के मुख से कोई उत्तर न पाकर स्वयं ही शङ्काओं का समाधान करती हैं। मुनि जी की कृपा से महादेवजी ने ये अरिष्ट योग हटाये। कोई भारी अरिष्ट योग था जो इन राक्षसों का सामना पड़ गया। महादेवजी संहारकर्त्ता हैं। उन्हीं के प्रभाव से ये मारे गये। समाचार सविस्तार पा चुकी हैं। उन्हीं का सामञ्जस्य बिठाती है। इस भाँति दोनों भाइयों ने मिलकर मुनि के यज्ञ की रखवारी कर ली। भावार्थ यह कि तुमने मारीच सुबाहु को मारा और लक्ष्मण ने सारी निसाचरी सेना मारी। गुरु प्रसाद से बला अतिबला तथा सम्पूर्ण अस्त्र-विद्या की भी प्राप्ति हुई।

मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥
कमठ पीठि पवि कूट कठोरा। नृप समाज महुँ सिव धनु तोरा ॥२॥

अर्थ : चरण की धूलि लगने से मुनि की स्त्री तर गई। इसकी कीर्ति सारे भुवन में व्याप्त हो गई। कछुए की पीठ, वज्र और निहाई से भी कठिन शिवजी के धनुष को राजसमाज में तोड़ डाला।

व्याख्या : तप ते अगम न कछु संसारा। सो तप से अहल्या न तर सकी। चरणधूलि से घोर ब्रह्मशाप मिट गया। अहल्या तर गई। जितनी ही अद्भुत बात

होती हैं उतनी ही शीघ्र और दूर तक वह फैल जाती हैं। अतः यश भुवन में छा गया। दूसरी कीर्ति भी बड़ी भारी हुई। शिवजी की भुजा का तान सहनेवाले धनुष के सामने कमठपीठ, वज्र और निहाई की कठोरता क्या है ? जिसे देखकर रावण बाणासुर धीरे से खिसक गये। उसे राजसमाज के बीच तोड़ डाला। नृप समाज कहने का भाव यह कि द्वीप द्वीप के राजा आये थे। अतः यह कीर्ति द्वीप द्वीप में अनायास फैल गई।

विस्व विजय जसु जानकि पाई। आए भवन व्याहि सब भाई ।।
सकल अमानुस करमु तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ।।३।।

अर्थ : विश्वविजय का यश और जानकी प्राप्त की और सब भाई व्याह कर घर आये। ये सब तुम्हारे अमानुष कर्म केवल विश्वामित्रजी की कृपा से वन गये।

व्याख्या : जनकजी ने कहा था : कुँअरि मनोहरि विजय बड़ि। सो दोनों की प्राप्ति हुई। चिट्ठी एक व्याह के लिए आई सो चारों भाई व्याह करके आये। ये छवों कर्म तुम्हारे अमानुष हैं। ये छवों भग : ऐश्वर्य : हैं भगवान् में रहते हैं। १. शरीर की परवाह न करके यज्ञरक्षा की यह वैराग्य है २. विद्या प्राप्ति की यह ज्ञान है ३. अहल्यासन्तरण यह धर्म है। ४. ईश्वर के धनुष का तोड़ना यह ऐश्वर्य है ५. जानकी की प्राप्ति यह यश है ६. व्याह कर श्री को घर में लाये : यह श्री है। सो यह सब बातें जो तुमसे हुईं वह केवल विश्वामित्रजी की कृपा से ही सम्भव हुईं। उन्होंने पहिले ही कहा था इन कर अति कल्यान सोई हुआ।

आजु सुफल जग जनम हमारे। देखि तात विधुवदन तुम्हारे ।।
जे दिन गए तुमहिं बिनु देखें। ते विरंचि जनि पारहिं लेखे ।।४।।

अर्थ : हे तात ! आज तुम्हारा मुखचन्द्र देखने से हमारा जन्म सुफल हुआ। जितने दिन तुम्हारे बिना देखे बीते हैं ब्रह्मदेव उन्हें लेखे में न डालें।

व्याख्या : इन विपत्तियों को पार करके सब भाँति से तुम्हें कृतकार्य हुए देखकर हमारा जन्म सफल हुआ। लेखे में डालने से फिर उससे काम पड़ता है। अतः जो दिन तुम्हें बिना देखे बीते हैं उन दिनों के कष्ट को ब्रह्मदेव फिर न दिखावें। यथा :

रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी।
कुलगुर सचिव निपुन नेवनि अवरेव न समुझि सुधारी ।।
सिरिस सुमन सुकुमार कुँअर दोउ सूर सरोष सुरारी।
पठए विनहि सहाय पयादहिं केलि वान धनुधारी ।।
अतिसनेह कातरि माता कहैं, सुनि सखि वचन दुखारी।
वादि वीर जननी जीवन जग छत्रि जाति गति भारी ।।
जो कहिहैं फिरे राम लषन घर करि मुनि मख रखवारी।
सो तुलसी प्रिय मोहि लागि हैं ज्यों सुभाय सुत चारी ।।

जबते लै मुनि संग सिधाये।
रामलषन के समाचार सखि तबते कछुअ न पाये॥
बिनु पानही गमन फल भोजन भूमि सयन तरु छांहीं।
सरसरिता जलपान, सिसुन के संग सुसेवक नांहीं॥

दो. राम प्रतोषीं मातु सब, कहि विनीत वर बैन।
सुमिरि संभु गुर विप्रपद, किए नीदवस नैन ॥३५७॥

अर्थ : रामजी ने विनीत मृदु वचन कहकर सब माताओं को परितुष्ट किया और शम्भु गुरु और ब्राह्मण के चरणों का स्मरण करके आँखों को नींद के वश कर दिया।

व्याख्या : ऐसे समय में लोग अपने पराक्रम का वर्णन करते हैं। रामजी ने विनीत मृदु वचन कहकर माता का परितोष किया। विनीत और मृदु वचन से ही परितोष होता है। यथा : माता, पिता, गुरु तीन ही देवता हैं। इन्हीं की कृपा से सब कल्याण है। आपके चरणों के तथा गुरुचरणों के प्रभाव से सब हुआ इत्यादि। शिवजी ही गुरु और ब्राह्मण रूप हैं। शिवजी ही सुषुप्ति के प्रभु हैं। अतः सुषुप्ति के प्रारम्भ में इन्हीं का स्मरण किया।

नींदउ वदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥
घर घर करहिं जागरन नारी। देहि परसपर मंगल गारी ॥१॥

अर्थ : अत्यन्त लावण्यमय मुख नींद में भी शोभा देता था जैसे लाल कमल सन्ध्या को भी शोभा देता है। घर घर स्त्रियाँ जागरण करती थीं और एक दूसरे को मङ्गल गालियाँ देती थीं।

व्याख्या : अद्भुत लावण्य है जो सोने में भी वैसा ही बना रहता है जैसा जागने में। यथा : साँवर कुँवर सखी सुठिलोना। जिस भाँति लाल कमल की शोभा सन्ध्या के समय भी बनी रहती है। सन्ध्या के समय कमल सकुच जाते हैं। अस्त होते हुए सूर्य की लाल किरणों से उनका रंग फीका पड़ जाता है। पर लाल कमल का रंग फीका नहीं पड़ता।

महाराज के अन्तःपुर में रतजगा है। अतः नगर भर में स्त्रियाँ जागरण करती हैं। रतजगा के दिन स्त्रियाँ ही रात को गाना बजाना करके जागती हैं। मर्द लोग नहीं जागते। इसीलिए स्त्रियों का ही जागरण लिखते हैं। वे उस समय एक दूसरे को मङ्गल गाली भी देती हैं। वैर की गाली अमङ्गल रूप है। उत्साह में प्रेम की गाली मङ्गलरूप मानी जाती है। यथा : सुधा सनेही गारि। अर्थात् घर घर उत्सव इस भाँति मनाया जाता है मानो स्वयं उन घरों में ब्याह पड़ा हो। इससे प्रजावर्ग की अद्भुत सहानुभूति कही।

पुरी [१]विराजति राजति रजनी । रानी कहहिं विलोकहु सजनी ।।
सुंदरि वधुन सासु लइ सोई । फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई ।।२।।

अर्थ : रानी कहती हैं कि सखी ! देखो पुरी विराजमान है । रात शोभा पा रही है । सुन्दर बहुओं को सास गोद में लेकर सोईं । जैसे सर्प सिर की मणि हृदय में छिपाये हो ।

व्याख्या : रानियाँ रात को अटारी पर से पुर की शोभा देखती हैं और सखी को दिखलाती हैं । महाराज कुमारों का व्याह करके लौटे हैं । इस आनन्द में रोशनी हुई है । अतः कहती हैं कि पुरी विराजमान है गान और दीपमाला से तथा चाँदनी रात से शोभित है । राम विना सब सूना था ।

इधर सुन्दर बहुओं को लेकर सास लोग सोईं । वे रतजगा में सम्मिलित नहीं हुईं । महाराज की आज्ञा से वधुओं को छोड़ना नहीं चाहतीं । कवि उपमा देते हैं कि जैसे सर्प अपने सिर की मणि अपने कलेजे के तले दाबकर सोया हो । किसकी सामर्थ्य कि निकट जा सके । इसी भाँति रानियाँ बेटी की भाँति वधुओं को कलेजे से लगाकर सोई हैं । जिनमें उन्हें माँ का स्मरण न हो । सर्प की मणि उनके सिर में रहती हैं । वह उसीसे उत्पन्न होती है और उसे बहुत प्यारी है । इसीलिए सिरमनि उर गोई : से उपमा देते हैं ।

प्रात पुनीत काल प्रभु जागे । अरुनचूड वर बोलन लागे ।।
वंदि मागधिन्ह गुन गन गाए । पुरजन द्वार जोहारन आए ।।३।।

अर्थ : प्रभात के पुण्यकाल के समय में प्रभु जग गये । मुर्गे बोलने लगे । वन्दी मागधों ने गुणगण का गान किया । पुर के लोग जोहार करने आये ।

व्याख्या : प्रभात में भी उषाकाल अति पवित्र है उसी समय प्रभु जाग गये । चारों भाइयों का जागने में, सोने में, भोजन में, खेलने में कभी साथ नहीं छूटता । यथा : सिसुपन ते परिहरेउ न संगू । प्रभु के जागने के बाद मुर्गे बोलने लगे । राजाओं के जागने के लिए वन्दो मागध गुणगान करते हैं । वे मुर्गा बोलने के बाद गुणगान करने लगे और भली भाँति सवेरा होने पर पुरजन राजद्वार पंर जोहार करने के लिए आये ।

वंदि विप्र सुर गुरु पितु माता । पाइ असीस मुदित सब भ्राता ।।
जननिन्ह सादर वदन निहारे । भूपति संग द्वार पगु धारे ।।४।।

अर्थ : ब्राह्मण, देवता, गुरु, पिता और माता की वन्दना कर और आशीर्वाद पाकर सब भाई प्रसन्न हुए । माँ ने आदर के साथ मुख देखा और राजा के साथ दरवाज़े पर पधारे ।

---

[१] दीपकावृत्ति : तृतीय : है ।

व्याख्या : प्रातःकाल उठकर ब्राह्मण, देवता, गुरु, पिता और माता पाँचों की वन्दना करनी चाहिए। इनमें से कौन पहिले मिलेगा कौन पीछे मिलेगा इसका ठीक नहीं हैं। इसीलिए यहाँ क्रम नहीं दिया। परन्तु चारों भाई इन पाँचों को वन्दना प्रातःकाल करते थे। इतने दिन माता की वन्दना नहीं हो सकी थी। आशीर्वाद माता से नहीं मिला था। आज पाँचों से आशीर्वाद मिला है। इससे सब भाई बड़े प्रसन्न हैं। माताओं ने भी आदर के साथ पुत्रमुखावलोकन प्रातःकाल ही किया। ऐसा संयोग महीनों से इधर नहीं हुआ था। महाराज जब द्वारा पर जाने लगे तो चारों भाई साथ गये। रात्रि तीन प्रहर की मानी जाती है। इसलिए सोने के समय तीन का स्मरण किया। यथा : वंदि संभु गुरु विप्र पद किये नीद वस नैन। दिन पाँच प्रहर का माना जाता है। इसलिए जागकर पाँचकी वन्दना की।

दो. कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ।
प्रात क्रिया करि तात पहि, आये चारिउ भाइ ॥३५८॥

अर्थ : स्वभाव से ही पवित्र चारों भाइयों ने शौच से निवृत्त होकर पवित्र नदी में स्नान किया और प्रातःकाल का नित्य कृत्य करके पिता के पास चारों भाई गये।

व्याख्या : चारों भाई स्वभाव से ही शुचि अर्थात् पवित्र हैं। क्योंकि उनका संकल्पमय शरीर है भौतिक नहीं है। यथा : इच्छामय नर देह सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। फिर भी मर्यादा पालन के लिए जल मृत्तिकादि से शौच करते हैं। तत्पश्चात् पुण्य नदी सरयू में अवगाह : स्नान किया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्य किया। तब चारों भाई पिता के पास गये। यह संसार को उपदेश है कि देवतादि का स्मरण करके सोना और जागकर माता, पिता, गुरु, देवता ब्राह्मणादि की वन्दना करना फिर शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर घर के बाहर जाकर अवगाह : स्नान तथा सन्ध्यावन्दनादि करके तब व्यवहार में प्रवृत्त होना चाहिए। श्रीरामजी के आचरण का अनुकरण ही सब कल्याणों का मूल है।

भूप विलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई ।।
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन लाभ अवधि अनुमानी ॥१॥

अर्थ : राजा ने देखकर हृदय से लगा लिया। राजाज्ञा पाकर प्रसन्न होकर बैठे। श्रीरामजी को देखकर सम्पूर्ण सभा का हृदय शीतल हो उठा। सबने यही अनुमान किया कि यही आँखों के लाभ की परा सीमा है।

व्याख्या : महाराज ने आँखों से प्रियदर्शन पुत्रों की शोभा देखी। देखकर हर्षित हुए। प्रेम उमगा तो हृदय से लगाया। पर ये लोग प्रश्रय : अदब से खड़े रहे। जब महाराज की आज्ञा हुई तब अपने अपने आसनों पर विराजमान हुए। राज सभा में सबके आसन नियत रहते हैं। वहीं उसे बैठना पड़ता है। प्रातःकाल

जब उठे थे तब प्रणाम करने पर आशीर्वाद पाकर हर्ष हुआ। इस समय महाराज के हृदय लगाकर सत्कार करने से हर्षित हैं। जब चारों भाई गये उस समय महाराज सभा में आगये थे। सभा लगी हुई थी। राज्यभार महाराज पर है। अतः वे शीघ्रता से सब कृत्यों से निवृत्त होकर सभा में आगये थे। कई महीनों पर आज राजसभा लगी है।

महाराज को तो रामजी को देखकर हर्ष हुआ ही सम्पूर्ण सभा का हृदय शीतल हो गया। भाव यह कि रामजी की अनुपस्थिति में सभासद भी विरहव्यथा का अनुभव करते थे। आज वह व्यथा दूर हुई। पहिले भी रामजी का समाचार सुनकर सभा हर्षित हुई थी। यथा : हरषी सभा बात सुनि साँची। आज दर्शन से तो अत्यन्त तृप्ति हुई। अनुमान किया कि इतना ही नेत्रों के मिलने का परम फल है। यं लब्ध्वा नापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

पुनि वसिष्ठ मुनि कौसिक आए। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाए ॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि राम दोउ गुर अनुरागे ॥२॥

अर्थ : तब वसिष्ठ और विश्वामित्रजी आये। सुन्दर आसनों पर मुनियों को बिठाया। बेटों के सहित पूजन किया। पैर पर गिरे। रामजी को देखकर दोनों गुरु अनुराग में आगये।

व्याख्या : तब वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी आये। दोनों महात्मा साथ ही आये। बड़ा प्रेम है। आने के समय वसिष्ठजी उन्हें साथ लेते आये। महाराज ने दोनों महात्माओं को सिंहासन दिया। उस समय सभाभवन में तीन सिंहासन लगे थे। तीनों पर चँवर हो रहा था। महाराज ने पुत्रों के सहित पूजा की। रानियाँ ऊपर बैठी हैं। भरी सभा होने से नहीं आईं। रामजी को देखकर दोनों गुरु अनुराग में आगये। जनकपुर में सखी ने ठीक कहा था कि : कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी। कवि तो कहते हैं कि : ठगि सी रही जो न ठगे धिक से।

कहहिं वसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीस सहित रनिवासा ॥
मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित वसिष्ठ विपुल विधि बरनी ॥३॥

अर्थ : वसिष्ठजी धर्म के इतिहास कहते हैं और राजा रनिवास के साथ सुनते हैं। गाधि के पुत्र की करणी मुनियों को भी मन से अगम थी। उसे आनन्दित होकर अनेक विधि से वर्णन किया।

व्याख्या : इतने दिनों पर राजसभा लगी है फिर भी कोई व्यवहार : मुकदमा नहीं है। यहाँ व्यवस्था ऐसी थी कि सभा नित्य लगती थी पर व्यवहार : मुकदमा एक भी नहीं। कारागार बने हैं पर कैदी एक भी नहीं। जब तक ऐसी व्यवस्था न हो तब तक राज्य की व्यवस्था ठीक नहीं। कारण यह था कि : राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः। राजा के धर्मात्मा होने से प्रजा आप से आप धर्मिष्ठ हो जाती है। राजा के पाप होने से सब

रहती है। राजा के पापी होने से पापी होती है। प्रजा राजा को ही आदर्श मानकर चलती है। जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। प्रजा का आदर्श राजा है। सो यहाँ कोई व्यवहार देखना न रहा। वसिष्ठजी धर्मेतिहास सुनाते थे। रनिवास के सहित महाराज सुनते थे। सारी प्रजा ने वही रास्ता पकड़ रक्खा था। सब धर्मेतिहास सुनते हैं। उसी का संस्कार दृढ़ रहता है। पापाचरण होता ही नहीं। मुकदमा क्यों होगा। राज्य व्यवस्था चलाने का प्रधान कार्य धर्मेतिहास श्रवण है। वही हो रहा है। स्वयं ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी वक्ता हैं। पुत्र दारा सभासद के सहित राजर्षि दशरथ श्रोता हैं। सभा में धर्मेतिहास हो रहा है। आज विश्वामित्रजी का इतिहास वसिष्ठ जी वर्णन करने लगे। 'गाधिसुत' कहने का भाव यह कि विश्वामित्रजी राजा गाधि के पुत्र थे। सो ऐसी तपस्या की कि उसके बल से क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। जैसी तपस्या उन्होंने की उसे मुनि लोग मन से भी नहीं सोच सकते। महात्मा दूसरे के पुण्य में बड़े आनन्दित होते हैं। अतः इनकी करणी वर्णन करने में मुनिजी को मोद है। जिसके सौ पुत्रों को विश्वामित्रजी ने शाप देकर मारा था और तप बल के सामने सौ ब्रह्महत्या उनकी कुछ न कर सकी उस विश्वामित्र की अद्भुत तपस्या के वर्णन में : अपने शिष्यसमाज के सामने वसिष्ठजी को बड़ा हर्ष हो रहा है। यह मुदित का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। वसिष्ठजी की कितनी महत्ता विश्वामित्रजी के महत्ता-वर्णन से बढ़ गई। इसका सहृदय व्यक्ति ही अनुमान कर सकता है।

बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची ॥
सुनि आनंदु भयउ सब काहू। राम लखन उर अधिक उछाहू ॥४॥

अर्थ : वामदेवजी ने कहा कि यह सब सच्ची बात है। इनकी सुन्दर कीर्ति तीनों लोक में व्याप्त है। सुनकर सबको आनन्द हुआ। पर राम लक्ष्मण के हृदय में बड़ा उछाह हुआ।

व्याख्या : वसिष्ठजी के वर्णन के उपरान्त महर्षि वामदेव ने उसका अनुमोदन किया। कहा कि यह सब सत्य घटना है। इसमें अर्थवाद नहीं है। बात को मन में बिठाने के लिए उसे बड़े आरोप से कहा जाता है। ऐसे आरोप को असत्य नहीं माना जाता। क्योंकि उससे सत्य संस्कार ही मन में बैठता है। सो इनकी अद्भुत तपस्या के वर्णन में अर्थवाद का किसी को भ्रम न हो इसलिए वामदेवजी ने अनुमोदन करते हुए कहा कि इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। यथार्थ घटना का वर्णन वसिष्ठजी ने किया है। सभा में सब सज्जन लोग हैं। सभी सुनकर मुदित हुए। राम लक्ष्मण के तो ये गुरु ही ठहरे। अतः गुरुजी की पुण्य कीर्ति सुनकर उनके हृदय में अत्यन्त उछाह हुआ।

दो. मंगल मोद उछाहु नित, जाहि दिवस एहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति ॥३५९॥

अर्थ : नित्य मङ्गलमोद और उछाह है। इस भाँति दिन बीत रहा है। आनन्द भरकर अयोध्या उमग पड़ी। सो दिन दिन अधिक होती जा रही है।

व्याख्या : नित नव मंगल कोसलपूरी। हरषित रहहिं लोग सब कूरी। मङ्गल होने से मोद है और मोद से नित्य नया उत्साह है। इस भाँति दिन बीत रहे हैं। यथा : यथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं। अवध में आनन्द भरा हुआ है। सभी अवधवास चाहते हैं। अवध में चले आरहे हैं एवं अवध का विस्तार दिन दिन बढ़ रहा है।

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद विनोद न थोरे॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहि विधि पाही॥१॥

अर्थ : अच्छा दिन देखकर सुन्दर कंगन छोरे गये। मङ्गल मोद और विनोद थोड़ा नहीं हुआ। नित्य नया सुख देखकर देवगण सिहाते हैं और अवध में जन्म पाने के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना करते हैं।

व्याख्या : अभी तक कंगन नहीं छूटा है। उसके लिए सुदिन देखा गया। मङ्गलगान से मोद और कंगन के जूआ में हार जीत होती है। उसमें बड़ा विनोद होता है। यथा : जुआ खेलावन कौतुक कीन्ह सयानिन्ह। जीत हार मिस देहिं गारि दोउ रानिन्ह। मनुष्य लोग तो अवध में जाकर वस भी जाते हैं। देवता तो इस तरह वस नहीं सकते। उनके सुरलोक में वही प्राचीन सुख है। वहाँ सुख में नवीनता नहीं। सुरस्त्रीगण पार्वतीजी के शाप से वन्ध्या हैं। अतः गृहस्थी के सुख में नवीनता नहीं है। इसलिए अवध का सुख देखकर सिहाते हैं। ब्रह्मदेव से माँगते हैं कि आपने जन्म वन्दर भालू में दे दिया। अभी दश सहस्र वर्ष राज्य करेंगे। इस बीच में यदि अवध में जन्म मिल जाता तो यह नित्य नवीन सुख हम भी भोग लेते।

विस्वामित्र चलन नित चहहीं। राम सप्रेम विनय वस रहहीं॥
दिन दिन सय गुन भूपति भाऊ। देखि सराह महामुनिराऊ॥२॥

अर्थ : विश्वामित्रजी नित्य ही जाना चाहते हैं। पर रामजी के स्नेह और विनय के वश होकर रह जाते हैं। दिन पर दिन राजा का सौगुना भाव देखकर महामुनियों के राजा विश्वामित्रजी प्रशंसा करने लगे।

व्याख्या : जिस तप के प्रभाव से ये दिन देखने को आये उसे छोड़ना नहीं चाहते। रामजी का दर्शन उसी तप का फल है। अतः तपःसाधन के लिए जाना चाहते हैं। नित्य छुट्टी माँगते हैं। पर रामजी का स्नेह और विनय ऐसा है कि रह जाते हैं। राजा का भाव वृद्धिक्रम पर है जिस भाँति जनकजी का था। यथा : नित नव सहस भाँति पहुनाई। विश्वामित्रजी समझते हैं कि यह क्रम कितना कठिन है। संसार में तो ठीक इसके विपरीत दिखाई पड़ता है। यथा : चार दिना को पाहुनो काढ़ खियावै सोन। तुलसी नित को कठिन है दैवो लीटी नोन। अतः महाराज दशरथ के भावभक्ति की विश्वामित्रजी प्रशंसा करते हैं।

माँगत विदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी॥३॥

अर्थ : विदा माँगते समय चक्रवर्तीजी अनुराग में आगये। बेटों के सहित आगे खड़े हो गये और कहा कि नाथ यह सब सम्पदा तुम्हारी है। मैं तो स्त्री पुत्र समेत आपका सेवक हूँ।

व्याख्या : देख लिया कि रामजी नहीं छुट्टी देंगे। अतः महाराज से विदा माँगते हैं। महाराज विदाई देते समय बेटों को लेकर आगे खड़े हो गये। भाव यह कि अभी कुछ कृत्य शेष है।

बारात में विश्वामित्रजी ने राजा को हृदय से लगाकर अपना छोह दिखलाया था। यथा : कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई। अतः राजा को उनके प्रति अनुराग हो गया था। सो विदाई के समय उमड़ पड़ा। परम कृतज्ञ राजा हैं। पहिले ही कहा था : माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्वस देहुँ आज सहरोसा। देह प्रानते प्रिय कछु नाहीं। सो मुनि दउँ निमिष एक माहीं। रास्ता रोककर खड़े हो गये कि सब सम्पदा तुम्हारी है। मैं पुत्रदारादि के सहित सेवक हूँ। सो इसका जैसा जब आवश्यक हो उपयोग कीजियेगा।

करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसनु देत रहब मुनि मोहू॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी॥४॥

अर्थ : सदा बच्चों पर छोह रखियेगा। मुझे भी दर्शन देते रहियेगा। ऐसा कहकर कुमारों और रानियों के सहित चरणों में गिरे। उनके मुख से वाणी नहीं निकलती थी।

व्याख्या : लड़कों पर सदा छोह बनाये रखने की प्रार्थना करते हैं। आपके छोह से ही इनका कल्याण हुआ और होता रहेगा। मेरा सब कल्याण इन्हीं में केन्द्रीभूत है। मुझे कभी कभी दर्शन दे दीजियेगा। मैं आप तक न पहुँच सकूँगा। राजकार्य से अवकाश कम रहता है। सपरिवार चरणों में पड़े। सभी प्रेम से मुग्ध हैं। सबका कण्ठ गद्‌गद हो रहा है।

दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती॥
राम सप्रेम संग सब भाई। आयसु पाइ फिरे पहुँचाई॥५॥

अर्थ : ब्राह्मण देवता ने बहुत भाँति से आशीर्वाद दिया और चले। प्रीति की रीति कही नहीं जाती। रामजी प्रेम के साथ सब भाइयों को संग लिये हुए पहुँचाने चले और आज्ञा पाकर लौट आये।

व्याख्या : जब पहिले पहल आये थे राजा के दण्डवत् पर आशीर्वाद नहीं दिया था। अब उस घाटे को पूरा कर रहे हैं। अनेक भाँति से आशीर्वाद दे रहे हैं। अनेक भाँति आशीर्वाद तो ब्राह्मण ही देते हैं।

स्वामीजी को ॐनमो नारायणाय कहिये तो नारायण कह देते हैं। बाबाजी को दण्डवत् कीजिये तो जय रामजी की कहेंगे : प्रीति की रीति अनुभव की वस्तु है कहने की नहीं। सो बिछुरने में बड़ा ही कष्ट होता है। यथा : बिछुरत एक प्रान हरि

लेहीं। यहाँ मङ्गल के समय कवि ने इतना ही कहा। मुनिजी को पहुँचाने भाइयों के साथ स्वयं सरकार चले। मुनिजी से सद्यः उपकार चारों भाइयों का हुआ है। अतः प्रेम के साथ पहुँचाने जाते हैं। फिरने के लिए मुनिजी की आज्ञा हुई तब लौटे।

दो. रामरूप भूपति भगति, व्याहु उछाहु अनंद।
जात सराहत मनहि मन, मुदित गाधिकुल चंद ॥३६०॥

अर्थ : रामजी के रूप महाराज की भक्ति और व्याह के उछाह और आनन्द की प्रशंसा गाधिकुलचन्द विश्वामित्रजी प्रसन्न होकर मन ही मन करते जाते थे।

व्याख्या : अकेले ही मुनिजी चले। गाधिकुलचन्द हैं। राजा रह चुके हैं। अनेक व्याह उछाह और आनन्द देखा है। पर ऐसा योग तो नहीं देखा : राम सरिस वर दुलहिन सीता। समधी दसरथ जनक पुनीता। न ऐसी भक्ति किसी राजा में देखी। यथा : दिन दिन सौगुन भूपति भाऊ और न ऐसा उछाह और आनन्द देखा। यथा : उमगी अवध अनंद भरि अधिक अधिक अधिकाति। अतः मन ही मन सराहते जाते हैं। दूसरा भाव मन में उदय नहीं हो रहा है। ब्राह्मण हैं। इसलिए चन्द्र से उपमा दी। चन्द्र ब्राह्मणों के राजा हैं। यथा : सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।

वामदेव रघुकुल गुर ज्ञानी। बहुरि गाधि सुत कथा बखानी ॥
सुनि मुनि सुजसु मनहिं मन राऊ। वरनत आपन पुन्य प्रभाऊ ॥१॥

अर्थ : ज्ञानी वामदेव रघुकुल के गुरु ने बार बार गाधिसुत की कथा बखान कर कही। मुनिजी का सुयश सुनकर मन ही मन राजा अपने पुण्य का वर्णन करने लगे।

व्याख्या : विश्वामित्रजी के चरित्र का वर्णन जो उनके सामने कहा गया था उसी का वर्णन फिर वामदेव और वसिष्ठजी ने किया। इस बार वामदेवजी ने वर्णन किया और वसिष्ठजी ने अनुमोदन किया। मुहदेखी न समझा जाय। इसलिए उनके सामने प्रशंसा पूरी तरह से नहीं कर पाये थे। अतः अब उनके परोक्ष में सब कथा बखान कर कही। इस समय सभा की सभा चारों भाइयों के साथ विश्वामित्रजी को पहुँचाने गई हैं। इसलिए मुनि का सुयश सुनकर राजा मन ही मन अपने पुण्य के प्रभाव का वर्णन करने लगे। किसी के आगमन में अपने पुण्य के प्रभाव वर्णन से आनेवाले की ही महत्ता द्योतित होती है।

बहुरे लोग रजायसु भयऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गएऊ ॥
जहँ तहँ राम व्याह सबु गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा ॥२॥

अर्थ : राजाज्ञा हुई लोग लौट गये। बेटों के साथ महाराज घर गये। जहाँ तहाँ रामजी के व्याह का सब गान कर रहे थे। पवित्र सुयश तीनों लोकों में छा गया।

व्याख्या : सब लोग विश्वामित्र को पहुँचाकर सभा में आ रहे थे। पर राजाज्ञा लौट जाने के लिए हुई और स्वयं महाराज बेटों के साथ अन्त.पुर में चले गये। भाव यह कि सभा समाप्त हो गई।

रामजी का विवाह ऐसे धूम धाम से और ऐसे आनन्द से हुआ कि तीनों-लोकों में इसकी चरचा फैल गई। इस सुयश के गान से तीनों लोक पवित्र हुए और इस समय भी उसके गान से लोग पवित्र होते हैं। अतः उस सुयश को पुनीत कहा गया।

आये व्याहि राम घर जबतें। बसे अनंद अवध सब तबतें॥
प्रभु विवाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न वरनि गिरा अहिनाहू॥३॥

अर्थ : जब से राम व्याह करके घर आये तब से सब आनन्द अवध में बस गये। प्रभु के विवाह में जैसा उछाह हुआ उसे सरस्वती और शेष नहीं कह सकते।

व्याख्या : पहिले आनन्द सबके हृदय में बसे थे। यथा : सबके उर अनंद कियो बासू। अब तो अवध में बस गये। अथवा सब आनन्द एक जगह नहीं ठहर सकते थे। कभी जनकपुर में जगदम्बा के पास चले जाते थे। कभी अवध में लौट आते थे। अब तो जगदम्बा यहीं आकर रहने लगीं। अतः सब आनन्द यहीं : अवध में बस गये।

प्रभु के विवाह में जैसा उछाह हुआ वैसा न कभी स्वर्ग में हुआ न पाताल में हुआ। उस समय मर्त्यलोक ही सबसे ऊपर हो गया था। इसीलिए कहते हैं कि सरस्वती शेष नहीं कह सकते। अथवा वाणी की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती हैं और दो सहस्र जिह्वावाले शेष हैं। उनके सामर्थ्य के बाहर की बात है कि उसका वर्णन कर सकें।

कविकुल जीवनु पावन जानी। राम सीय जसु मंगल खानी॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥४॥

अर्थ : राम सीता के यश को कविकुल का जीवन और पवित्र तथा मङ्गल-खानि जानकर अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए मैंने थोड़ा सा बखान कर कहा।

व्याख्या : रामयश का वर्णन करने के लिए ही ब्रह्मदेव की प्रेरणा से पद्य का प्रादुर्भाव वाल्मीकिजी के हृदय से हुआ। वे आदिकवि हुए। शेष सभी कवि उन्हीं का अनुसरण करते हैं। अतः राम सीय यश ही सब कवियों का जीवन है। जेहि सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई। अतः पावन है। यथा : एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्। एक अच्छर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन। भक्त माला और मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। अतः मंगलखानी कहा। इसे पूरा तो कोई भी नहीं कह सकता। अतः सभी कुछ ही कह पाते हैं। इसलिए मैंने भी कुछ बखानकर कहा है। हमारी वाणी परअपवादादि दोषों से दूषित है। अतः उसके पवित्र करने के लिए थोड़ा सा कहा।

छँ. निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसी कह्यौ ।
रघुवीर चरित अपार वारिधि पार कवि कवन लह्यौ ॥
उपवीत व्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्वदा सुखु पावहीं ॥

अर्थ : अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए तुलसीदास ने रामयश कहा है। रामचरित्र अपार समुद्र है। इसका पार किस कवि ने पाया। जनेउ और व्याह का उछाह मङ्गल है। इसे सुनकर जो आदर के साथ गावेंगे वे वैदेही और रामजी की कृपा से सदा सुख पावेंगे।

व्याख्या : वाणी ही व्यवहार का मूल है। इसकी पवित्रता पर सबकी पवित्रता निर्भर है। सो परापवाद और विवाद आदि से दूषित हो गई है। यथा : पर अपवाद विवाद विदूषित वानिहि। उसे पवित्र करने के लिए तुलसीदास : श्रीग्रन्थकार ने रामयश कहा है। उसे कह डालने के विचार से नहीं कहा है नहीं तो रामचरित तो अपार समुद्र है। इसका पार किसी कवि ने नहीं पाया। समुद्रावगाहन अपनी पवित्रता के लिए किया जाता है पार पाने के लिए नहीं। इसलिए सभी वक्ताओं ने इसे अपनी मति के अनुसार ही वर्णन किया है। सबने यथार्थ वर्णन में अपनी असमर्थता प्रकट की है।

शिवजी ने कहा : गिरिजा सुनहु विसद यह कथा। मैं सब कही मोरमति जथा। रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा। राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी। इत्यादि। भुसुण्डिजी कहते हैं : नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ। चरित सिंधु रघुनायक थाह कि पावै कोइ। याज्ञवल्क्यजी कहते हैं : रघुपतिकृपा यथामति गावा। मैं यह पावन चरित सोहावा।

अत: यह ठीक है कि किसी कवि ने पार न पाया। तब ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि मैं किस गिनती में हूँ मुझे भी पार नहीं मिला।

जन्म मङ्गलगान का फल कह चुके हैं। यथा : यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा। अब अवशिष्ट यज्ञोपवीत और विवाह के उछाहवाला मङ्गल गुरुमुख से सुनकर जो लोग आदर के साथ गावेंगे उन पर वैदेही और रामजी की कृपा होगी। वे सदा सुख पावेंगे। जन्म मङ्गल में केवल रामयश रहा। अतः उसका पार लौकिक फल है। विवाह मङ्गल में दोनों सरकार : रामजानकी का यश है। अतः इसके गान करनेवाले सदा सुख पावेंगे।

सो. सिय रघुवीर विवाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिनकहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जसु ॥३६१॥

अर्थ : सीता रामजी का ब्याह जो लोग प्रेम से गाते और सुनते हैं उनको सदा ही उछाह बना रहता है। क्योंकि रामयश मङ्गल का घर है।

व्याख्या : अब केवल विवाह प्रकरण की फलश्रुति कहते हैं। आदर से प्रेम बड़ा है। अतः जो प्रेम से सुनेगा उसके फल में भी उत्कर्ष है। उसको सदा उछाह रहेगा। सुख से आधिक्य में उछाह होता है। कारण कहते हैं कि रामजी का यश मङ्गल का घर है। यहीं मङ्गल निवास करता है। रामजी के नाम में कल्याण का निवास है। नाम राम को कल्पतरु कलि कल्यान निवास और। उनके चरित में मङ्गल का निवास है : यथा : मंगलायतन रामजसु।

यह काण्ड सोरठा से प्रारम्भ करके सोरठा से समाप्त होता है। सोरठा में वृद्धिक्रम है। इस काण्ड की फलश्रुति भी वृद्धिपरक है।

हरिः ॐ तत्सत्

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः

अर्थ : यह सकल कलि कलुष के नाश करनेवाले श्रीरामचरितमानस की पहिली सीढ़ी समाप्त हुई।

व्याख्या : श्रीरामचरितमानस कलियुग के दोषों को दूर करनेवाला है। कलियुग सब मलों का मूल है। यथा : जुग कलिजुग मल मूल। इसे नाश करने में मुनि भावन पावन रामचरित्र ही समर्थ है। यथा : कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन। इस सर में यह चमत्कार है कि सब सीढ़ियों से जल मिलता है।

साम्बसदाशिव साम्बसदाशिव साम्बसदाशिव साम्बशिव

रामचरित तुलसी कथित प्रथित प्रथम सोपान।
औरन को आधार यह जानत सकल सुजान ॥१॥
गुण रत्नाङ्क शशाङ्क शिवरात्रि सदाशिव ध्याइ।
विजयाख्या टीका रची विजयानंद सुख पाइ ॥२॥
जननि जनक गुरु की कृपा टीका लिखी सुछंद।
पढ़त सुनत कल्याण मुद पावै विजयानन्द ॥३॥
शर नभ नभचख रामसिय व्याह दिवस अनुकूल।
करि सुधार फिर से लिखी टीका मंगलमूल ॥४॥

जय हनुमान ज्ञान गुनसागर। जय कपीस त्रयलोक उजागर ॥

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी